महाभारत

(खण्ड)

[भीष्मपर्व]

(अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

[उद्योगपर्व और भीष्मपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १२॥) साढ़े बारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

उद्योगपर्व

(सैन्यनिर्याणपर्व)

(उलूकदूतागमनपर्व)

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

(अम्बोपाख्यानपर्व)

चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)

॥ श्रीहरिः ॥

भीष्मपर्व

(भीष्मवधपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

विराटकी राजसभामें श्रीकृष्णका भाषण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

(सेनोद्योगपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः ।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः ॥ १ ॥
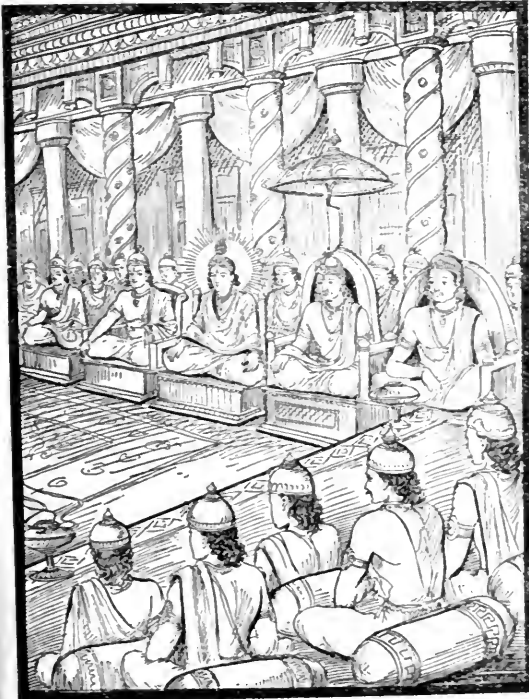
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव-पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए । रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए ॥ १ ॥

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः ॥ २ ॥

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धिशालिनी थी । उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि) की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं । उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि) की पच्चीकारी की गयी थी । इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी । वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए ॥ २ ॥

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च ॥ ३ ॥

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे । तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः ।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च ॥ ४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे ॥ ४ ॥

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च ।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥ ५ ॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव ।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥ ६ ॥

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे । द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे । वे सबके सब शूरवीर थे ॥ ५-६ ॥

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥ ७ ॥

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी; मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ॥७॥

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः ।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं । फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ॥ ८ ॥

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः ।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यशृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था । जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम् ।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥ १० ॥

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण ! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है । उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ॥ १० ॥

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत् ।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥ ११ ॥

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं । सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है । इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ॥ ११ ॥

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽयं
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे ।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ॥ १२ ॥

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ॥

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम् ।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३ ॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥ १४ ॥

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है । ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें । आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो । धर्मराज युधिष्ठिर यदि

धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ॥ १३-१४ ॥

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत्।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ॥ १५ ॥

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है॥१५॥

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम्।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ॥ १६ ॥

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ॥ १६ ॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम्।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ॥ १७ ॥
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ॥ १८ ॥
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत्।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ॥

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ॥ १९ ॥
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ॥ २० ॥

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ॥ १९-२० ॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान्।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ॥ २१ ॥

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ॥ २१ ॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ॥ २२ ॥

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि, दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? ॥ २३ ॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा

निश्चय कैसे कर सकते हैं ? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ॥ २४ ॥

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ॥ २४½ ॥

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितकी यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिर-का भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ॥ १ ॥

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ॥ २ ॥

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ॥

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरके संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवों-में शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ॥ ४ ॥

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं
वैचित्रवीर्यं च महानुभावम्।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं चससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्र पुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, उन सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े-बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ॥५-७॥

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः।

प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्युते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ॥ ८ ॥

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम्।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ॥ ९–१०½ ॥

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रक्खा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ॥ ११½ ॥

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ॥ १२½ ॥

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः॥ १४ ॥

कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकाङ्क्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनि-वंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! मनुष्यका जैसा

हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं ॥ १ ॥

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ॥ २ ॥

संसारमें शूर-वीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं ॥२॥

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ३ ॥

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली ॥ ३ ॥

नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ॥ ४ ॥

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुल-रत्न! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हीं-को मैं दोषी मानता हूँ ॥ ४ ॥

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ॥ ५ ॥

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्म-राज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है ? ॥ ५ ॥

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ॥ ६ ॥

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है ? ॥ ६ ॥

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत्।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा ॥ ७ ॥
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ॥ ८ ॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है ? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें—क्यों प्रणाम अथवा विनय करें ? ॥ ७-८ ॥

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्।
यद्ययं परवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम्।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं ॥ ९½ ॥

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं ॥ १०½ ॥

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पांण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका

निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ॥ ११½ ॥

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ॥१२½॥

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ॥ १३½ ॥

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ॥ १४½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ॥ १५ ॥
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है ? ॥ १५-१६½ ॥

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥ १७ ॥
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्ति बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डवकुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं । महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है । गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है ? ॥ १७-१८½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ॥ १९½ ॥

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं है । शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ॥ २०½ ॥

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥ २३ ॥

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें । धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें । अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ॥ २१—२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ ॥ २ ॥

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो ! तुम्हारा कहना ठीक है । इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा । अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे । भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा

कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ॥ १-२ ॥

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता। मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है। मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ॥ ३-४ ॥

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत्।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥ ५ ॥

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ॥ ५ ॥

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम्।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ॥ ६ ॥

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये। हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ॥ ७ ॥

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥

भगवन्! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकयराजकुमारोंके पास जायँ ॥ ८ ॥

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा। श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ॥

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥ १० ॥

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो। मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ॥ १० ॥

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः।
भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ॥ ११ ॥

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शीघ्र दूत भेजे जायँ। पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके पास भी दूत भेजना चाहिये ॥ ११ ॥

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च।
दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ॥ १२ ॥

भगवन्! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके पास भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ॥ १२ ॥

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः।
सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ॥ १३ ॥
बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च।
सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ॥ १४ ॥
शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान्।
दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ॥ १६ ॥
आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः।
भूतितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ॥ १७ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान्।
काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ॥ १८ ॥
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान्।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरंजयः।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥

बृहन्तको भी बुलाया जाय। राजा सेनाबिन्दु, सेनजित्, प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुञ्जकेश, चैद्यराज सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज तथा दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये। सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, राजा

पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूष-देशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, यौतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्वपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिङ्गराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ॥ १३–२४ ॥

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

मत्स्यराज ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ॥ २५ ॥

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

दुर्योधनसे क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है ? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है ? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है ? यह सब उन्हें समझा दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरसे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः॥ १ ॥

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो ! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमिततेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः॥ २ ॥

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ॥ २ ॥

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथा-योग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ॥ ३ ॥

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान्।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ४ ॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे ॥ ४ ॥

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ॥ ५ ॥

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ॥ ६ ॥

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ७ ॥

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्यसिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगों-का निश्चित मत होगा ॥ ७ ॥

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्दवश महान् संहार न होगा ॥ ८ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥ ९ ॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ॥ ९ ॥

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्द-बुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुल-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये विदा किया ॥ ११ ॥

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ॥ १२ ॥

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः ।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिलकर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते ।
समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट तथा पाञ्चालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम् ।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है; यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुलाना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात् ।
तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ॥ १६ ॥
संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता ।

राजन् ! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्यसे दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे । इनकी चतुरङ्गिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी जान पड़ने लगी ॥ १६½ ॥

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ॥ १७ ॥
चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम् ।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, वे पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी कर रहे थे ॥ १७½ ॥

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम् ।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर पाञ्चालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहित-प्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी ! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं । प्राणधारियोंमें भी बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं । बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १ ॥

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सिद्धान्तके ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष तथा उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः ।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥ ३ ॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं । आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ॥ ३ ॥

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च ।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है । दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ॥ ४ ॥

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है । धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ॥ ५ ॥

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते ।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ॥ ६ ॥
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम् ।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं । शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ॥ ६½ ॥

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम् ।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है । अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ॥ ७½ ॥

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ॥ ८ ॥
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति ।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ॥ ८½ ॥

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ॥ ९ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति ।

विदुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ॥ ९½ ॥

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ॥ १० ॥
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति ।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा—पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ॥ ११ ॥
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम् ।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ॥ ११½ ॥

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ॥ १२ ॥
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः ।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसंदेह वे सैन्य-संग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ॥ १२½ ॥

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ॥ १३ ॥
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव ।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधानरूपसे दिखायी देता है । यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें ॥

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ॥ १४ ॥
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन् ।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः ।

आप धर्मपरायण तो हैं ही; वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा । इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ॥ १४-१५½ ॥

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ॥
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ॥ १६½ ॥

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥ १७ ॥

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार सम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ॥ १९ ॥

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम्।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जयमेजय! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ॥ २

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम्।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ॥ ३-४ ॥

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥ ५ ॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५ ॥

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दनः।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रखे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम्।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार
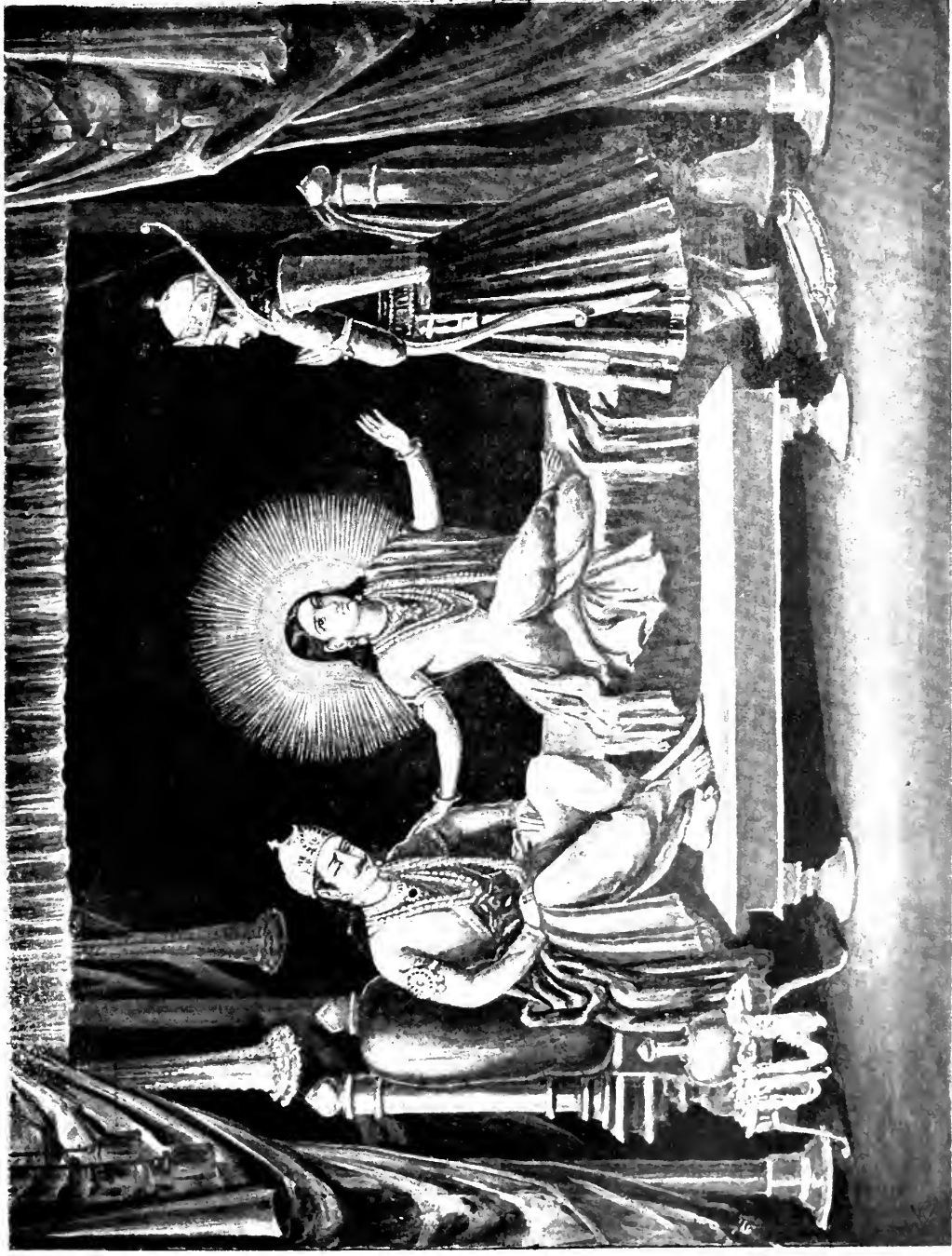
दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना

करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुए-से कहा—॥ १०-११ ॥

विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति ।
समं हि भवतः सख्यं मम नैवार्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव ।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ॥ १३ ॥
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन ।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ॥ १४ ॥

'माधव ! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें। आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन ! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं। जनार्दन ! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' १२-१४ ॥

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः ।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ॥ १५ ॥

तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥

सुयोधन ! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ॥ १६ ॥

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं ॥

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सबके सब मेरे-जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ॥ १८ ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ॥ १९ ॥

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम् ।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥

अर्जुन ! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु ।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २१-२२ ॥

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा ।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम् ।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ॥ २४ ॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलः ।

सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत्।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः॥ २५॥

जनमेजय! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी। उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका बल भयंकर था। वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजीके पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया। तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया॥ २३–२५॥

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा॥ २६॥

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा॥ २६॥

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः॥ २७॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम्॥ २८॥

कुरुनन्दन! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है। राजन्! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्णको जँची नहीं और मैं श्रीकृष्णको छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता॥ २७-२८॥

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह॥ २९॥

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही॥ २९॥

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ॥ ३०॥

पुरुषरत्न! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरतवंशमें उत्पन्न हुए हो। जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो॥ ३०॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम्।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम्॥ ३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्णको ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित विजय समझ ली॥ ३१॥

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा॥ ३२॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके पास गया। कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी॥ ३२॥

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन्॥ ३३॥

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गया॥ ३३॥

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत्।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया॥ ३४॥

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं; फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है?'॥ ३४॥

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ॥ ३५॥

अर्जुन बोले—भगवन्! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। पुरुषोत्तम! (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हूँ॥ ३५॥

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः॥ ३६॥

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, वह यश आपका ही अनुसरण करेगा। मुझे भी यशकी इच्छा है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है॥ ३६॥

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति॥ ३७॥

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आपके हाथोंमें सौंप दूँ। मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको आप पूर्ण करें॥ ३७॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव॥ ३८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! तुम जो (शत्रुओं-

पर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है । मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा । तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः ।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ॥ १ ॥

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ॥ २ ॥

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

राजन् ! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे । सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे । वे सब-के-सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे । उन सबके अङ्गोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे । सभीके रथ और वाहन विचित्र थे । सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं । सबके वस्त्र और अलङ्कार अद्भुत दिखायी देते थे । उन सबने अपने-अपने देशकी वेष-भूषा धारण कर रक्खी थी ॥

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ॥ ६ ॥

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानोंपर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये; जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे । उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ॥ ८ ॥

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीडा-विहारके स्थान बनाये थे । वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी गयी थीं ॥ ९ ॥

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं । बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी॥ १०॥

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः ।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥ ११ ॥

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओंकी भाँति पूजित होते थे ॥ ११ ॥

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा—॥ १३ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ॥ १४ ॥

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ॥ १५ ॥

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहार-का अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ॥ १५ ॥

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले)प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् ।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् ।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव ! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ॥१८॥

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम् ।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ॥

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो ! मैं आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव ।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ॥)

शल्यने कहा—महाराज ! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक बनूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति ।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली। अब और कौन-सा कार्य करूँ ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ॥ २० ॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन ! अब तुम अपने नगर-को जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ॥२०॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! पृथ्वीपते ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये। राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ॥ २२ ॥

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ॥ २३ ॥

शल्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने नगरको जाओ। मैं शीघ्र आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ॥ २३ ॥

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम्।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी वह करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ॥ २४ ॥

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहाँ उन सब पाण्डवोंसे मिले ॥ २५ ॥

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्त्रीयौ च यमावुभौ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ॥ २७½ ॥

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ॥
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत्।

भारत ! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आपका स्वागत है। इस आसनपर विराजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ॥
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशल-समाचार पूछा। उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २८ ॥

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशलसे तो हो न ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ॥ २९ ॥

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥ ३० ॥

'राजन् ! तुमने अपने भाइयों तथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ॥ ३० ॥

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम्।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंने और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है। जो अपने राज्यसे वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ॥ ३२ ॥

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥

'महाराज ! नरेश्वर ! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात ! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है॥ ३३ ॥

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर॥ ३४ ॥

'भारत ! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर ! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो॥ ३४ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः॥ ३५ ॥

'राजा युधिष्ठिर ! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः॥ ३६ ॥

'महाराज ! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं॥ ३६ ॥

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ॥ ३७ ॥

'तात ! परंतप ! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश ! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३७ ॥

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम्।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन् ! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ॥ ४० ॥

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम॥ ४१॥
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि॥ ४२ ॥

परंतु पृथ्वीपते ! आपका कल्याण हो । मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ । साधुशिरोमणे ! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर ! सुनिये; मैं वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज ! आप इस भूतलपर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने गये हैं ॥ ४१-४२ ॥

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः॥ ४३ ॥

नृपशिरोमणे ! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल।

राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहें । वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी ! मेरेलिये यह न करनेयोग्य कार्य भी करें ॥ ४४½ ॥

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते॥ ४६ ॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो ! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है । यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ॥ ४५-४६ ॥
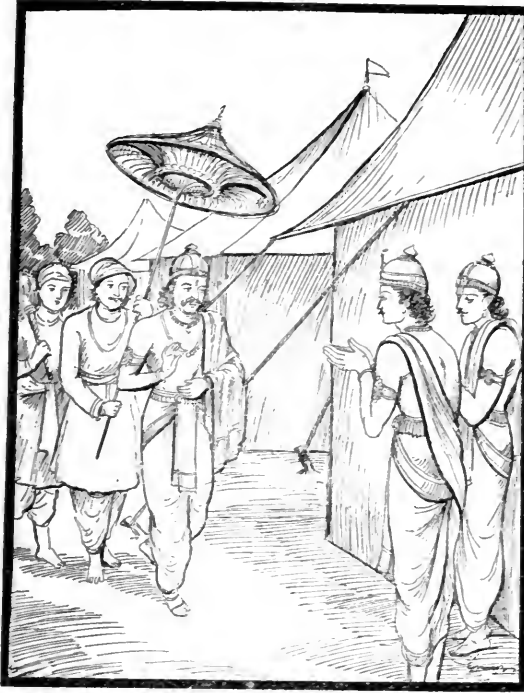
तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन ! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ।४७-४८।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम्।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥४९॥

तात ! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा, इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ४९ ॥

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ॥ ५० ॥
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ॥ ५१ ॥
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर ! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ५०—५२ ॥

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर ! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं । पृथ्वीपते ! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ॥ ५३ ॥

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ॥ ५४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ॥ २ ॥

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश ! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ॥ ३ ॥

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओंमें

श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे। कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिरवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप। वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ॥४॥

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत्।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ॥ ५ ॥

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥

शत्रुदमन! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था। उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥ ६ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ॥ ७ ॥

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो; क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।८।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओंको आज्ञा दी— ॥ ९ ॥

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम्।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥

'अप्सराओ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो। जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ॥ १० ॥

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ॥ १२ ॥

'सुन्दरियो! तुम सब शृङ्गारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो। वराङ्गनाओ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ! तुम मेरे इस अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ॥ ११-१२ ॥

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ॥ १३ ॥

अप्सराएँ बोलीं—शक्र! बलनिषूदन! हमलोग विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उनकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम्।

देव! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं। वहाँ उन्हें वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम पूर्ण प्रयत्न करेंगी ॥ १४½ ॥

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम्।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम्।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः।

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं। वहाँ उन
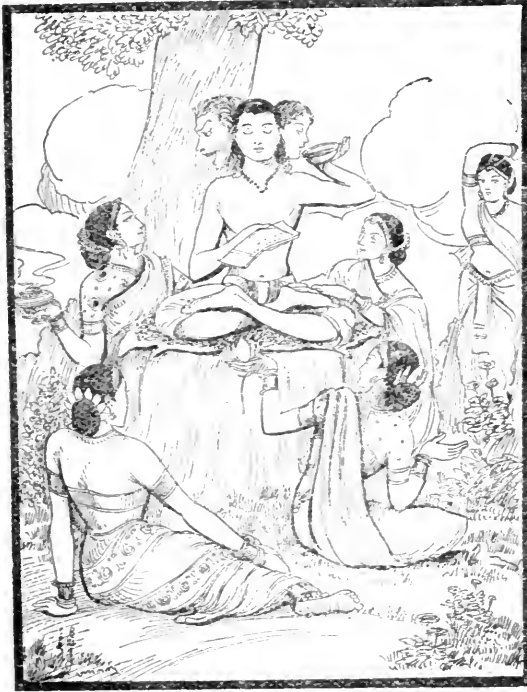
सुन्दरियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अङ्गोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया। तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ॥ १५-१६½ ॥

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन्।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम्।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता। महाभाग! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ॥ १७-१८½ ॥

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ॥ १९½ ॥

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत्।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ २०½ ॥

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा; जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा। बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम्।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया। उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ॥ २२—२४ ॥

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम्।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली। वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ॥ २५ ॥

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ॥ २६ ॥

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे। युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन्।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ॥ २७ ॥

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये। इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ॥ २७ ॥

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ॥ २८ ॥
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ॥ २९ ॥

महाराज! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था। डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा। देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई! तू शीघ्र इस शवके तीनों

मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ॥ २८-२९ ॥

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम् ॥ ३० ॥

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं। मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषों-द्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तू भय न कर। शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर। मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ॥ ३१ ॥

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ३२ ॥

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करने-वाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ। यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३२ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर। इस विषयमें कुछ विचार न कर ॥ ३३ ॥

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥

बढ़ईने कहा—देवराज! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं है? ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम्।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है। इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥

बढ़ई! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभीतक मुझे इसका भय बना हुआ है। तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ॥॥३६॥

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे। बढ़ई! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है। अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ॥ ३७ ॥

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा॥ ३८ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी बाहर निकले, कपिञ्जल, तीतर और गौरैये ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः॥४०॥

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिञ्जल पक्षी बाहर निकले थे ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव॥४१॥

युधिष्ठिर! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर पक्षी निकले ॥ ४१ ॥

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ॥ ४२ ॥

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ ॥ ४३ ॥

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी। वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ॥ ४३ ॥

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित्।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ॥
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ॥
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ॥
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ॥
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ॥)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्ष-तक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर ! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए ॥

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ॥ ४४½ ॥

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ॥ ४५ ॥

त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्र-ने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ॥ ४५ ॥

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्या-का महान् बल देखें ॥ ४६ ॥

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ॥ ४८ ॥

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्र-

शत्रो ! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा' ॥ ४७-४८ ॥
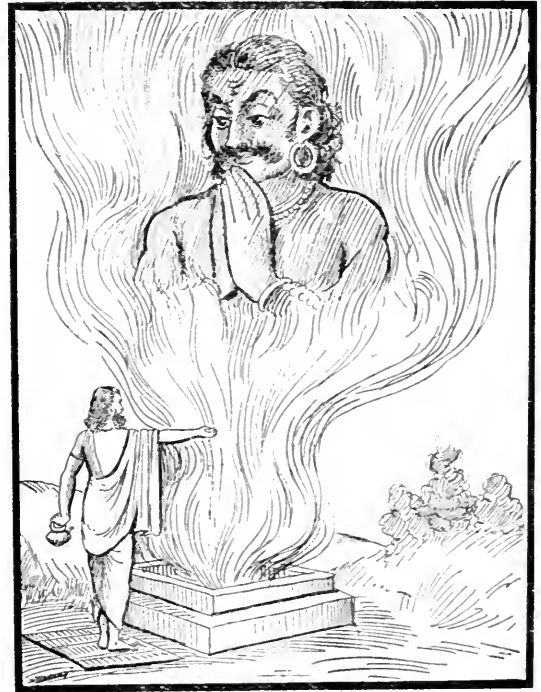
सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—'पिताजी ! मैं क्या करूँ ?' ॥४९॥

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तब त्वष्टाने कहा—'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे । उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा । तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया । वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये ॥ ५१-५२ ॥

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम् ।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः ।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी । जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अङ्गोंको समेटकर बाहर निकल आये । तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया ॥ ५३-५४ ॥

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम् ।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा ॥ ५५ ॥

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५६ ॥
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका वह भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा । वृत्रासुर त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलशाली हो बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये । इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ५६-५७ ॥

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः ।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५८ ॥
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
उपविष्टा मन्दराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः ॥ ५९ ॥

भारत ! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता देवराज इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिये ? राजन् ! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये ॥ ५८-५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम् ।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत्॥ १ ॥

इन्द्र बोले—देवताओ ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है । इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके ॥ १ ॥

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम् ।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः ॥ २ ॥

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ । आपलोगोंका कल्याण हो । बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये ? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः ।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ ३ ॥

वह तेजस्वी और महाकाय है । युद्धमें उसके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है । वह चाहे तो देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है ॥ ३ ॥

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः ।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना ।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः ॥ ४ ॥

अतः देवताओ ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो । हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम्॥ ५॥

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये॥ ५॥

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा॥ ६॥

वे सबके सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लिया था॥६॥

अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे।
बलिं बद्‌ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः॥ ७॥

'विष्णो! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया॥ ७॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम्।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः॥ ८॥

'आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिल-विश्ववन्दित देवता हैं॥ ८॥

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन॥ ९॥

सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्‌को आक्रान्त कर लिया है॥ ९॥

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम्।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति॥ १०॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा॥ १०॥

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक्।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ॥ ११॥

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो, तभी उसे जीत सकोगे॥ ११॥

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे॥ १२॥

देवताओ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा॥ १२॥

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम्॥ १३॥

देवेश्वरगण! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो॥ १३॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम्॥ १४॥

शल्य कहते हैं—राजन्! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये॥ १४॥

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश॥ १५॥
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः॥ १६॥

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा॥

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर ! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १७ ॥

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर ।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र ! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते । तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ॥ १८ ॥

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है । अतः वृत्रासुर ! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ॥ १९ ॥

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान् ।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः ।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः ।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा ।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ ! महर्षियो तथा गन्धर्वो ! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया । निष्पाप देवगण ! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें । मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी ? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा ?' ॥ २०—२२ ॥

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव ।
नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये । साधु पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा । साधु पुरुषोंके सङ्गकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । अतः संतोंका सङ्ग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ॥ २३ ॥

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु वीरः ।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥

सज्जनोंका सङ्ग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है । धीर संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं । साधु पुरुषोंका सङ्ग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है । अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनोंको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ॥ २४ ॥

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं । महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं । वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं ॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो जाय । इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो । तुम्हें इसके विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि ।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

'देवताओ ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ॥

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा ।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

'विप्रवरो ! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे, न गीली वस्तुसे, न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ । इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ॥ २९-३० ॥

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा। इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायानन्वचिन्तयत् ॥ ३२ ॥

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ॥ ३२ ॥

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट्।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ॥ ३३ ॥

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे। एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ॥ ३३ ॥

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ॥ ३४ ॥
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ॥ ३५ ॥
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम्।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था। भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है, अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है। यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ॥ ३४–३६ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन्।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे। इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ॥ ३७ ॥

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा।
एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ॥ ३८ ॥

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र, अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ ३८ ॥

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान्।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ॥ ३९ ॥

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित

फेनका प्रहार किया। उस समय भगवान् विष्णुने उस
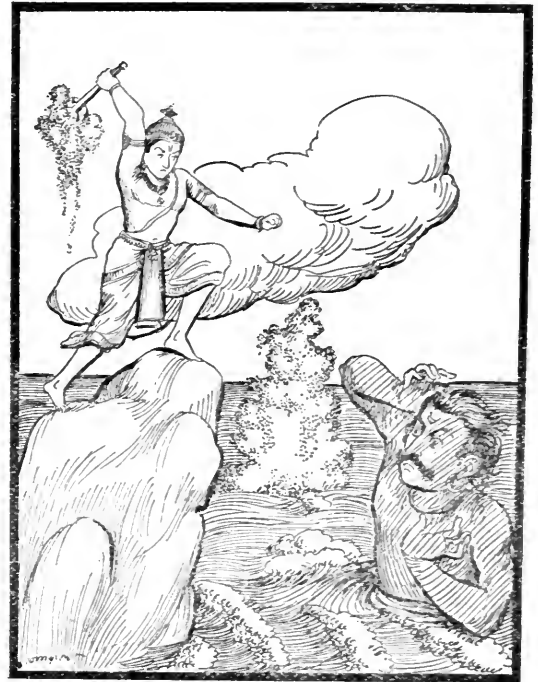
फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन्।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ॥ ४० ॥

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ॥ ४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ ४१ ॥

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत्।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया। समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ॥ ४२ ॥

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित्।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्य-देव भगवान् विष्णुका पूजन किया। इस प्रकार देवताओं-

को भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वास-घातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही मन बहुत दुखी हो गये । त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रक्खा था ॥ ४३-४४ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥ ४५ ॥

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे । वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ॥ ४५ ॥

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे । ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी । यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ॥ ४६-४७ ॥

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया । देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवः ।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण जगत्में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे । स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता तथा देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा ?' देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—'ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं' ॥ १½ ॥

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ॥ ३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—'पृथिवीपते ! आप हमारे राजा होइये'—राजन् ! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा—॥ २-३ ॥
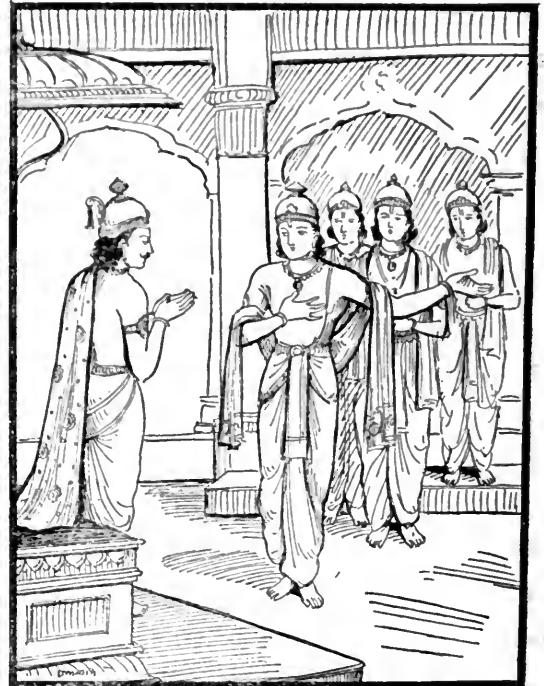
दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ॥ ४ ॥

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। बलवान् पुरुष ही राजा होता है। इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है' ॥ ४ ॥

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ॥ ५ ॥
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे ॥ ६ ॥

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र ! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये। हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है। अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये ॥ ५-६ ॥

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम् ॥ ७ ॥
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव ॥ ८ ॥

'देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे, अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये ॥ ७-८ ॥

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

'आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये।' युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ ॥ ९ ॥

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत्।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ॥ १० ॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये। वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी कामभोगमें आसक्त हो गये ॥ १०½ ॥

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च ॥ ११ ॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च ॥ १२ ॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा ॥ १३ ॥
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम् ॥ १४ ॥

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे ॥ ११-१४ ॥

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः ॥ १५ ॥

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं ॥ १५ ॥

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया।

उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे। इस प्रकार क्रीडा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी ॥ १६½ ॥

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः ॥ १७ ॥
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः ॥ १८ ॥
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम्।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—'इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं ? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ। अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें' ॥ १७-१८½ ॥

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह ॥ १९ ॥
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे ॥ २० ॥
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम्।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम् ॥ २१ ॥

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुखी हुई और बृहस्पतिसे बोलीं—'ब्रह्मन् ! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर ! आप मुझसे कहा

करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ॥ १९–२१ ॥

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम्।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ॥ २२ ॥
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम।

'भगवन्! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, अपनी उन वाणियोंको सत्य कीजिये। देवगुरो! आपके मुखसे पहले कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, अतः द्विजश्रेष्ठ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये' ॥ २२½ ॥

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥ २३ ॥
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम्।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा—'देवि! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी। नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा' ॥ २३–२५ ॥

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम्।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणी-भयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये। उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। देवताओं तथा ऋषियोंने कहा—॥ १ ॥

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥

'देवराज! आप क्रोध छोड़ें। प्रभो! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किन्नर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ॥ २ ॥

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'साधो! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं। अतः प्रसन्न होइये। सुरेश्वर! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ॥ ३ ॥

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात्।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है। उससे मनको हटा लीजिये। आप देवताओंके राजा हैं। आपका कल्याण हो। आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः ॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी। उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः ॥ ६ ॥

'देवताओ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं रोका? ॥ ६ ॥

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः ॥ ७ ॥

'प्राचीन कालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं। अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल कपट उनके द्वारा हुए हैं। उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था? ॥ ७ ॥

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम्।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति ॥ ८ ॥

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों। इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर ॥ ९ ॥

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे। आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः ॥ १० ॥

शल्यने कहा—युधिष्ठिर! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये ॥ १० ॥

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर! विप्रेन्द्र! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं। आपने उन्हें अभय-दान दे रक्खा है ॥ ११ ॥

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम् ॥ १२ ॥

'महाद्युते! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये ॥ १२ ॥

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी ॥ १३ ॥

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं। सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें' ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम्।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः ॥ १४ ॥

'देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीनभावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं—॥ १४ ॥

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात् ॥ १५ ॥

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ। आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये' ॥ १५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते ॥ १६ ॥

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। अनिन्दिते! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा ॥ १६ ॥

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम् ॥ १७ ॥
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम् ॥ १८ ॥

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता। मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है। शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा! सुरश्रेष्ठगण! आपलोग लौट जायँ। इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये ॥ १७-१८ ॥

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन् ॥ १९ ॥

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥ २० ॥

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवतालोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ॥२०॥

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१ ॥

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ॥ २१ ॥

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम्।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं; उन्हीं इन शचीदेवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत्।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम्॥ २३ ॥

श्रेष्ठ देवताओ ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ॥ २४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते ! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा ?' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ॥ २५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण ! शुभलक्षणा शची देवी नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका और हमारा भी हित होगा ॥ २५ ॥

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति।
गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ॥ २६ ॥

देवताओ ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा होता है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बलवान् और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गालमें पहुँचा देगा ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन्।
ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! उनके इस प्रकार सलाह देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें सम्पूर्ण देवताओंका हित है ॥ २७ ॥

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम्।
ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इसी बातके लिये शचीदेवीको राजी कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्राणीके पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे इस प्रकार बोले ॥ २८ ॥

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम्।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९ ॥
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत्।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥

देवता बोले—देवि ! यह समस्त चराचर जगत् तुमने ही धारण कर रक्खा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और सत्यपरायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवेश्वरि ! तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र नष्ट हो जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको प्राप्त कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इन्द्राणी

भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी॥

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम्।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः॥ ३२॥

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ। कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते॥ १॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ। उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी! तुम मुझे अपना पति बना लो'॥ १½॥

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता॥ २॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः॥ ३॥
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम्।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर॥ ४॥

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं। उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ॥ २–४॥

न हि विज्ञायते शक्रः किं वा प्राप्तः क्व वा गतः।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो॥ ५॥
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत्॥ ६॥

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं? अथवा कहाँ चले गये हैं? प्रभो! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ!' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ५-६॥

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः॥ ७॥

नहुष बोले—सुन्दरी! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो। इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना॥ ७॥

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी॥ ८॥

नहुषसे बिदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी॥ ८॥

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम॥ ९॥

नृपश्रेष्ठ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपसमें विचार करने लगे॥ ९॥

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः॥ १०॥

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १०॥

ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः ।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ॥ ११ ॥

'देवेश्वर! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं। भगवन्! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्के पूर्वज तथा प्रभु हैं ॥ ११ ॥

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है। यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है। सुरगण-श्रेष्ठ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ॥१२½॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः ।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा। पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा। देवताओ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो'।१३—१५½॥

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम्॥१६॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ॥ १६-१७ ॥

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः ।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करने-वाला था ॥ १८ ॥

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री-समुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ॥ १९ ॥

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २० ॥

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ॥ २० ॥

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र जब अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, तब उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टि-मात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है। यह देखकर वे काँप उठे ॥ २१ ॥

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ॥ २२ ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ॥ २२ ॥

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुखी हो 'हा इन्द्र! हा इन्द्र' कहती हुई विलाप करने लगीं ॥ २३ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि ।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रक्खा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे।२४।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आ रही है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ, मेरा मनोरथ सफल हो' ॥ २५ ॥

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ॥ २६ ॥
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यते ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की। पतिव्रता तथा सत्यपरा-

यणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन किया और उनसे कहा—'देवि ! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये । सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है' ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणीं साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः ।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत् ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं । नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया । उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि ! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं ?' ॥ १-२ ॥

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता ।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥

उपश्रुति बोलीं—देवि ! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ । भामिनि ! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ ३ ॥

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ॥ ४ ॥

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम् ।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥

तुम्हारा कल्याण हो । तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ । तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे । ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ॥ ५ ॥

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः ।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम् ।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुत-से पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुचीं । तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ॥ ८ ॥

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे । वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ॥ ८ ॥

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत ।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ॥ ९ ॥

भारत ! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे । उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ९ ॥

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा ।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ॥ १० ॥

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रक्खा था ॥ १० ॥

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया ।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ॥ ११ ॥

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणीसहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम् ।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ॥ १२ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इन्द्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ॥ १२ ॥

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः ।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ॥ १३ ॥

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया । अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा—॥ १३ ॥

किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम् ।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ॥ १४ ॥

'देवि ! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कैसे मेरा पता लगा है ?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टाका वर्णन किया ॥ १४ ॥

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः ।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ॥ १५ ॥
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम ।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ॥ १६ ॥

'शतक्रतो ! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है। उस दुष्टात्माने मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो। उस क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है। प्रभो ! यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अपने वशमें कर लेगा ॥ १५-१६ ॥

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम् ।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ॥ १७ ॥

'महाबाहु इन्द्र ! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके निकट आयी हूँ। पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहुषको आप मार डालिये ॥ १७ ॥

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

'दैत्यदानवसूदन प्रभो ! अब आप अपने आपको प्रकाशमें लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके राज्यका शासन अपने हाथमें लीजिये' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रकी स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि ! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है। आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ॥ १ ॥

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'भामिनि ! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है। अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा। देवि ! तुम उसी नीतिका पालन करो ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥

'शुभे ! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है। कहीं (भी इसे) प्रकट न करना। सुमध्यमे ! तुम एकान्तमें नहुषके पास जाकर कहो, जगत्पते ! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर मेरे पास आइये। ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वशमें हो जाऊँगी' ॥ ३-४ ॥

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ॥ ५ ॥

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है । शुचिस्मिते ! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? ॥ ६ ॥

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥

'कल्याणि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो । मनस्विनि ! तुम क्या चाहती हो ? सुमध्यमे ! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ॥ ७ ॥

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये । मुझपर विश्वास करो । देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ॥ ८ ॥

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते ! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ । सुरेश्वर ! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ॥ ९ ॥

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।

देवराज ! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये । राजन् ! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ॥ १०½ ॥

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥

सुरेश्वर ! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है । वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ॥ ११-१२ ॥

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥

प्रभो ! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें । राजन् ! यही मुझे अच्छा लगता है ॥

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं । देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है । कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो; आपके सामने ठहर नहीं सकता है ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

नहुषने कहा—सुन्दरि ! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया । देवि ! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है । सुमुखि ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है । मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंका स्वामी हूँ ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा । मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है । शुचिस्मिते ! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँगा तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं । मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ॥

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ॥ २० ॥

अतः देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है । सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी

ढोयेंगे। वरवर्णिनि ! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ २० ॥

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्।
विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान् ॥ २१ ॥
अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च।
कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन् ॥ २२ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया ॥ २१-२२ ॥

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत्।
समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः ॥ २३ ॥

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो ! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है ॥

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम्।
बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम् ॥ २४ ॥

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः।
न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः ॥ २५ ॥

'देवि ! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो ॥ २५ ॥

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे।
इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः ॥ २६ ॥
शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते।

'शुभे ! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २६½ ॥

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः ॥ २७ ॥
बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये।
हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति ॥ २८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन् ! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये' ॥

तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट होकर अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९ ॥

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ॥ ३० ॥

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये ॥

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित्।
आपः शेषाः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ॥ ३१ ॥

अग्निदेव बोले—बृहस्पते ! मैं देवराजको तो इस संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ; केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा

दूसरा कौन कार्य मैं करूँ ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते ! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ॥ ३२ ॥

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ॥ ३३ ॥

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा। महातेजस्वी बृहस्पते ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो) ॥ ३३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है। परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं। आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं। फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं। हुताशन ! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्॥ ३ ॥

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय सुख लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

अग्ने ! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं। आप ही उत्कृष्ट हवि हैं। याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें अवान्तर सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा॥ ५ ॥

हव्यवाहन ! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं ! अग्ने ! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ॥ ५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव ! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं। आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक ! आपमें ही सारा जल संचित है। आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं। अतः आप भी निःशङ्क होकर जलमें प्रवेश कीजिये। मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम् ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन् ! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निदेवने छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे॥ १०॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम्॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालेमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम्॥ १२॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनालका आश्रय लेकर रहते हैं॥ १२॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः।
पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम्॥ १३॥

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की—॥ १३॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ॥ १४॥

'इन्द्र ! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचिनामक महान् असुरको मार गिराया है। शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला॥१४॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान्॥ १५॥

'शतक्रतो! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये। इन्द्रदेव! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये॥ १५॥

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम्।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते॥ १६॥

'प्रभो महेन्द्र ! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है। जगदीश्वर देवराज ! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया॥ १६॥

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम्।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ॥ १७॥

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं। आपकी समानता करनेवाला जगत्में दूसरा कोई प्राणी नहीं है। शक्र! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है॥ १७॥

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः॥ १८॥

'महेन्द्र ! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज इन्द्र धीरे-धीरे बढ़ने लगे॥ १८॥

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम्॥ १९॥

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये। तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पतिसे कहा—॥ १९॥

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः।
वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत्॥ २०॥

'ब्रह्मन् ! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरेद्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ?'॥२०॥

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम्॥ २१॥

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र ! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पा गया है, जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है॥ २१॥

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम्।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते॥ २२॥
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान्।)

इन्द्र बोले—बृहस्पते ! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया? वह किस तपस्यासे संयुक्त है? अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है? ये सारी बातें आप सब लोग मुझे बताइये॥ २२॥

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत्।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे॥ २३॥

गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता।
तानब्रवीन्नहुषो नास्ति शक्त
आप्याययध्वं तपसा तेजसा माम्॥ २४॥

शक्र ! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे। तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये। शक्र ! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै
राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा॥२५॥

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया। फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया। इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित्।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः ॥ २६ ॥

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है। उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है। वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है। तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं। सब देवता भी अत्यन्त पीडित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! अङ्गिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—'शक्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया। हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है' ॥ २८ ॥

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण ॥ २९ ॥

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा— ॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है। उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर ! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है। उसकी दृष्टिमें विष है। अतः हमलोग उससे डरते हैं ॥ ३० ॥

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम् ॥ ३१ ॥
सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम्।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये।
तमाह शक्रो भविताग्ने तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ ॥ ३२ ॥

'शक्र ! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव ! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों। देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे। तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा—'प्रभो ! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी

सहायता करूँगा।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'अग्निदेव ! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ॥ ३१-३२ ॥

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितॄणां च वरुणं चाप्यपां तथा।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका स्वामित्व प्रदान किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च।
दिष्ट्याद्य नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये। उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं। बलसूदन पुरंदर ! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये। बलसूदन ! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ ॥ १–३ ॥

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—महर्षे ! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है। आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम्।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जब पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा—'भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान्।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥

अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र ! बलके घमंडमें भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ॥ ७ ॥

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम्।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र ! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानके कारण
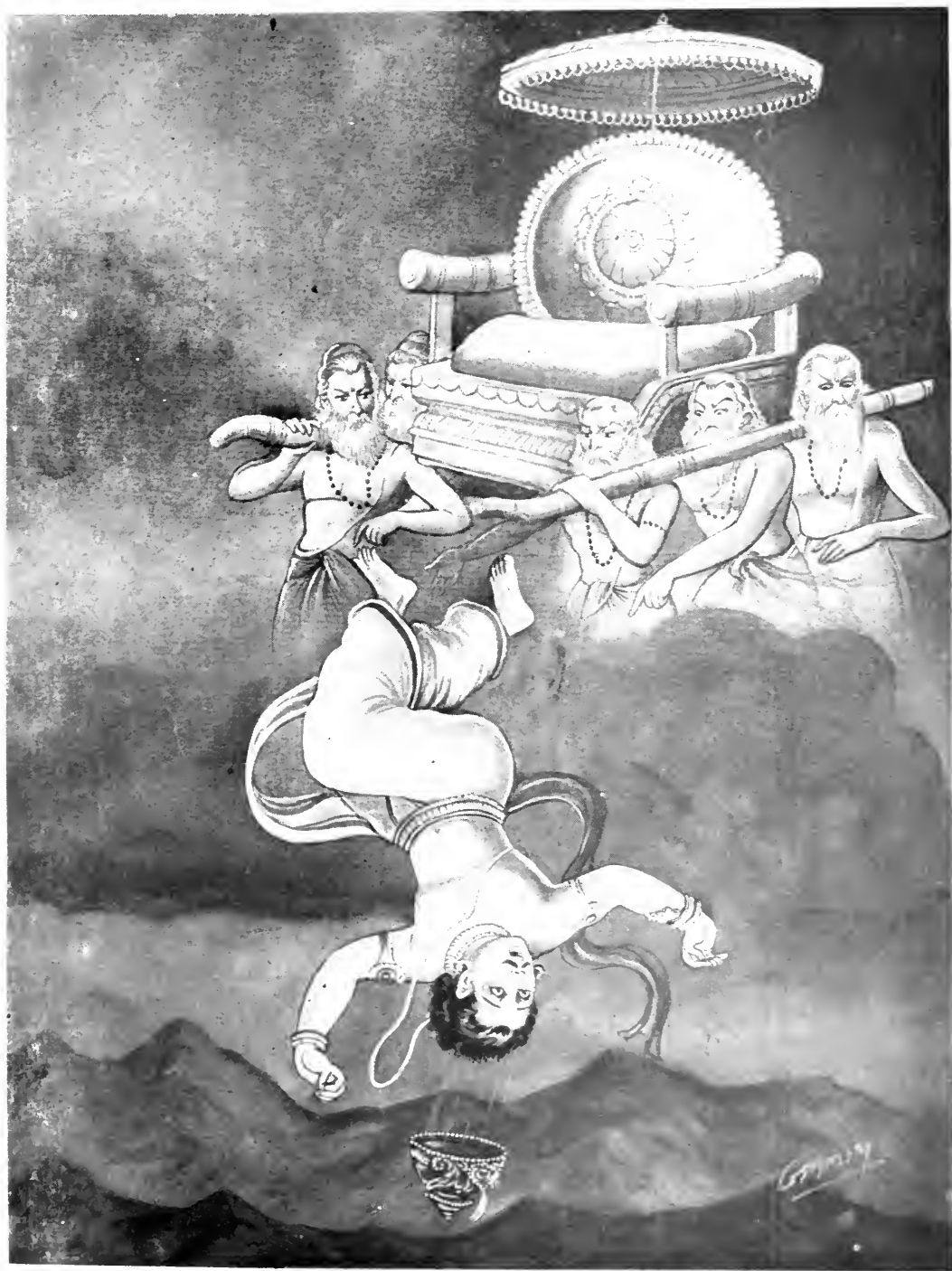
नहुषका स्वर्गसे पतन

किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता'।९-१०।

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः॥ ११॥

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है॥ ११॥

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः॥ १२॥

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया॥ १२॥

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम्॥ १३॥

इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा॥ १४॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्॥ १५॥
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले॥ १६॥

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो॥ १४—१६॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि॥ १७॥

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे'॥ १७॥

एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः॥ १८॥

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है॥ १८॥

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः॥ १९॥

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें॥ १९॥

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा॥ २०॥
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते॥ २१॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए॥ २०-२१॥

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन्।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले॥ २२॥

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—'शत्रुहन्!

आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है। बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये बड़े हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसङ्गमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं--युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्गलोकको चले।१-३।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वहाँ भगवान् अङ्गिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ॥ ५ ॥

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ॥ ६ ॥

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वाङ्गिरसको यह वर दिया—॥ ६ ॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वाङ्गिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा। इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा' ।७।

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ॥ ८ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वाङ्गिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया।८।

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान्।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ॥ ९ ॥

राजन् ! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ॥ ९ ॥

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया ॥

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ॥ १२ ॥

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ॥ १२ ॥

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीःसमाः ॥ १३ ॥
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षोंके लिये

नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ॥ १३-१४ ॥

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम् ।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ॥ १५ ॥

वीर ! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे ॥

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम् ।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह 'इन्द्रविजय' नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर ।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें यह 'इन्द्र-विजय' नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम् ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १८ ॥

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत् ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजयनामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ॥ १९ ॥

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः ।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति ।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ॥ २० ॥

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता, उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले— ॥ २२ ॥

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः ।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवैः ॥ २३ ॥

'मामाजी ! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे ।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

शल्य बोले— राजन् ! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— शत्रुदमन जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः ।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि ।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग[1], धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी ॥ ३-४ ॥

तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो ॥ ५ ॥

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम् ।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो ॥ ६ ॥

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली ।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये ॥ ७ ॥

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे ॥ ८ ॥

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः ।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे ।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा ॥ १० ॥

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी ॥ १० ॥

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः ।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ॥ ११ ॥

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी ॥ ११ ॥

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे ॥ १२ ॥

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन् ।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं ॥ १३½ ॥

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

---

[1] 'खड्ग' दुधारी तलवारको कहते हैं।

भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ॥ १५ ॥
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की । सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५½ ॥

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक् ।

कुरुनन्दन ! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ॥ १६½ ॥

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धककुकुरैः सह ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत् ।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ॥ १७½ ॥

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ॥ १८ ॥
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः ।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीडापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ॥ १८½ ॥

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ॥ १९ ॥
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ॥

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ॥ २० ॥
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः ।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ॥ २०½ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते ।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ॥ २२ ॥
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा ।

राजन् ! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया । उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था । वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया ॥

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ॥ २३½ ॥

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ॥ २४½ ॥

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ॥ २६½ ॥

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः ।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ॥ २७½ ॥

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।

राजन् ! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ॥ २८½ ॥

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥

इसलिये भारत ! पञ्चनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजाङ्गल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ॥

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः ।

तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ॥ ३३ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सेनाके जमावको देखा ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ॥ १ ॥

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम्।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशल-समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं। जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं। पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ? ॥ ४-५ ॥

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ॥ ६ ॥

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणान्तकारी उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया; परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके ॥ ७ ॥

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनिसहित क्षुद्र धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका हरण कर लिया ॥ ८ ॥

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक*निवास करनेके लिये विवश हुए ॥ ९ ॥

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम्।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः॥ १० ॥

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ॥ १० ॥

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए पापियोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् क्लेश सहन करना पड़ा है ॥ ११ ॥

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास दोनों मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये।

ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम्।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः॥ १२॥

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं॥ १२॥

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः॥ १३॥

'पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें॥ १३॥

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम्॥ १४॥

'वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं॥१४॥

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते॥ १५॥

'दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं॥ १५॥

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम्॥ १६॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं॥ १६॥

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ॥ १७॥

'इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं॥ १७॥

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः॥ १८॥

'ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी[1] महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं॥१८॥

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः॥ १९॥

'जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं॥ १९॥

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः॥ २०॥

'युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है?॥ २०॥

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम्॥ २१॥

'अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये। कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय'॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०॥

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहितकी

[1] यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे। द्रोणपर्वके ८९ वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो। तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत्॥
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे। पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः॥

महाराज! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे। वे बार-बार 'अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है? अर्जुन वह खड़ा है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे। इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे। उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे।

यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समयके अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है । उनके बहुतसे सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं, यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है ॥ २ ॥

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ ३ ॥

'कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है । वे अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है ॥ ३ ॥

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं; इसमें संशय नहीं है । परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं । यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वे पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥

'निःसंदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है । उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है ।५।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं । कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके ? ॥ ६ ॥

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं' ॥ ७ ॥

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधनकी ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही—॥८॥

न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, वह किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार उसपर भाषण देनेसे क्या लाभ है ? ॥ ९ ॥

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीडामें परास्त किया था और वे उस जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे ॥ १० ॥

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत् ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है । वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य लेना चाहते हैं ॥ ११ ॥

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥

'विद्वन् ! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका आधा कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मानुसार तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं ॥ १२ ॥

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥

यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ॥ १३ ॥

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें।१४।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः ।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥

यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि ।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ॥ १६ ॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा ? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा। इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तद-नुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डु-नन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है । इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्‌का भी हित है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा । आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें' ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान् ।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा ।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनह्य स्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं । तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो । अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतदर्हान् निरुष्य ।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्मासु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥

संजय ! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधुपुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है॥ २॥

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं काञ्चन जात्वपश्यम्।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव॥ ३॥

संजय ! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी॥ ३॥

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान्।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात्॥ ४॥

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—काम-भोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं॥ ४॥

धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम्।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः॥ ५॥

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा-तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं॥ ५॥

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे॥ ६॥
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात्।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम्॥)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः॥ ७॥

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्द-बुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय ! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवों-के स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महामना पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं॥ ६-७॥

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत्।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः
शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम्॥ ८॥

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पलकर बड़ा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है॥ ८॥

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम्॥ ९॥

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृञ्जयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देनेमें भलाई है॥ ९॥

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा॥ १०॥
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान्॥ ११॥

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र सर्वश्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाण-समूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है ?॥ १०-११॥

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय ।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ॥१२॥

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे । उन्होंने द्रविडोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था ॥ १२ ॥

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान् ।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ॥१३॥

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था ॥

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य ।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ॥१४॥

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है । रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली हैं ॥ १४ ॥

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान् ।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ॥१५॥

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है । वे बड़े वेगशाली वीर हैं । उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रक्खा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे । साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन ।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥१६॥

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं । अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है । स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है । जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं । इसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते ॥ १६ ॥

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं
यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ॥१७॥
सहामात्यः सोमकानां प्रबर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥१८॥

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है । पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है । मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है । जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है ? ॥ १७-१८ ॥

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ॥१९॥

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं । मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं । कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है । अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ॥२०॥

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं । वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं ॥ २० ॥

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान् ।

शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संश्रितान् धर्मराजम् ॥२१॥

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सब-के-सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ॥ २१ ॥

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ॥२२॥

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ॥ २२ ॥

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥२३॥

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ॥ २३ ॥

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ॥२४॥

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ॥ २४ ॥

उपाश्रिताश्चेदिकरूपकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ॥२५॥
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम्।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ॥२६॥

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें) चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह सब समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके सम्पूर्ण उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ॥ २५-२६ ॥

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ॥२७॥

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला ॥

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम्।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ॥२८॥

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे भूपाल उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही जंगलके क्षुद्र पशु भाग जाते हैं॥ २८ ॥

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
दाशंसमानो द्वैरथे वासुदेवम्।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥२९॥

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ॥ २९ ॥

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम् ॥३०॥

संजय ! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके उस पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे ! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३० ॥

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ३१ ॥

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता । श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है ॥

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे ।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ॥ ३२ ॥

संजय ! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है । अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं ॥

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः ।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान् ।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ॥३४॥
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव ।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ॥ ३५ ॥

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णि-वीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं । कुन्तीनन्दन-पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं । वे लज्जाशील और बलशाली हैं । उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है । नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रों-को जलाकर भस्म कर देते । संजय ! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे । उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा ॥ ३३–३५ ॥

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः ।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ३६ ॥
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम् ।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ॥ ३७ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः ।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ॥ ३८ ॥

संजय ! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ । मेरेद्वारा भेजे हुए तुम

रथपर बैठकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मङ्गल पूछना । तात ! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं । सूत ! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कोई भी बात टाल नहीं सकते ॥

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः ।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं। श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियोंसे और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना। राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ावे तथा युद्धका कारण बने ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ॥ १ ॥

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की ।२।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ॥ ३ ॥

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकोंके साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? ॥४॥

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-
मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदकुमारी राजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक है न? भारत! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट-भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वन्! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरादिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥

सूत! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर और प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है।७।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥

तात! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंके ज्ञानसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलसे

हैं न ? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् घना हुआ है न ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र॥ ९ ॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥ १० ॥

तात ! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ? ॥ १० ॥

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृता मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

संजय ! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भूमण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥

तात ! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महा-धनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं ? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं ? ॥ १२ ॥

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ॥ १३ ॥

तात ! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं ? संजय ! मूढ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न ? ॥ १३ ॥

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः॥ १४ ॥

सूत ! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपटभावसे रहते हैं न ? ॥ १४ ॥

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ॥ १५ ॥

तात ! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है ? संजय ! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है ? ॥ १५ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है। यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रक्खा है। यदि मन्द-बुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविकावृत्तिके अपहरण-रूप दोषको काबूमें नहीं रक्खेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ १७ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाह-के योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-

निर्वाह करना चाहते हों) । वे सुहृद्के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित् ॥ १९ ॥

तात संजय ! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव ।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः ॥ २० ॥

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं ? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं ? ॥ २० ॥

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन ।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति ॥ २१ ॥

संजय ! प्रत्यञ्चाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न ? ॥ २१ ॥

न चापश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन ।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः ॥ २२ ॥

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ॥ २२ ॥

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके ।
नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २३ ॥

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडोंसे भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वेगशाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमुदायको कम्पित करते हुए विचरण करते हैं । क्या कौरवलोग उन्हें भी कभी याद करते हैं ? ॥ २३ ॥

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे ।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २४ ॥

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, उस भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और बायें हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये आये हुए कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था । क्या इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं ? ॥ २४ ॥

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते ।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २५ ॥

संजय ! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही शिबि और त्रिगर्त देशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुलको भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको जीतकर मेरे अधीन कर दिया । क्या कौरव इस वीर माद्रीकुमारका भी स्मरण करते हैं ? ॥ २५ ॥

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम् ।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च ॥ २६ ॥

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे सभी मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे । उस समय भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था ।२६।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २७ ॥

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर यत्नके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था । गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार गिराया था और स्वयं सकुशल लौट आये थे । क्या कौरव कभी उनकी याद करते हैं ? ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

संजय! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥ १ ॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये। तात! कुन्तीनन्दन! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ १ ॥

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

पाण्डव! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं। आप इस बातको सत्य समझें। दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है? ॥ २ ॥

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः ॥ ३ ॥

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रक्खा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है। आप-जैसे साधु-स्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ॥ ३ ॥

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो।
शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥

अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं? क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः।
समुत्क्रुष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

नरदेव! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं। युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शङ्खकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ॥ ५ ॥

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है; जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ॥ ६ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम्।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम्।

त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये । अजातशत्रो ! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं
पाण्डोः सुताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो
समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च
ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः ।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं । वे किसी भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते । अतः अजातशत्रो ! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरेश, जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हों ॥

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके समय मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ॥ ९-१० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः ।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय ! यहाँ पाण्डव, सृंजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं । राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च ।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम् ।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पाञ्चालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ । मैं कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस वाणीको आप सब लोग सुनें ॥ २-३ ॥

शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे ।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥

संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय॥४॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन ।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ ५ ॥

कुन्तीके पुत्रो ! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं ॥ ५ ॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः ।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः ॥ ६ ॥

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो ! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता) ॥ ६ ॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः ।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च ॥ ७ ॥

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा ? ॥ ७ ॥

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च ।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात् ॥ ८ ॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो ॥ ८ ॥

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य ।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा ॥ ९ ॥

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान् ।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान् ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा ? ॥ १० ॥

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च ।
रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है ? ॥ ११ ॥

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः ।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित् ॥ १२ ॥

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके ? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ ॥ १२ ॥

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् ॥ १३ ॥
कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम् ।

न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ॥ १४ ॥

भला ! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा सृंजय-वंशका कल्याण कैसे हो ? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ॥ १३-१४ ॥

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि ।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है ? विद्वान् राजा युधिष्ठिर ! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको भी यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि ।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा ? ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत् ।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥

संजय ! यदि कर्म न करनेपर पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम् ।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा ? किसे देवताओंने शाप दे रक्खा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा ? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे सब लोगोंका भला होता हो ॥ ३ ॥

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं
य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति करानेवाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे ही साध्य है ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम् ।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥
कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः ।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है। जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है॥ ५½॥

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः॥ ६॥

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है। परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती)॥ ६॥

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि॥ ७॥
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति॥ ८॥

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्राममें विजयी नहीं होता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता। यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हमलोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते? तथापि यह भोगतृष्णा अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरणको पीड़ा देती रहती है॥ ७-८॥

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु॥ ९॥

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें॥ ९॥

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये॥ १०॥
प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु॥ ११॥

संजय! जैसे कोई मनुष्य शिशिर ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किस लिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं?॥ १०-११॥

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव॥ १२॥

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वसनीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं॥ १२॥

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम्।
स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात्॥ १३॥

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया॥ १३॥

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्ष्योः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य॥ १४॥
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानः प्राजहाद् धर्मकामौ॥ १५॥

संजय! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले

राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ॥ १४-१५ ॥

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ॥ १६ ॥

संजय ! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्तियुक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई । तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ॥ १६ ॥

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ॥ १७ ॥

सूत ! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही । जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ॥ १७ ॥

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत ।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ॥ १८ ॥

गवल्गणपुत्र संजय ! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो । दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं । उसका मोह तो देखो ॥ १८ ॥

सोऽहं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम् ।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ॥ १९ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥ २० ॥

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो । धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं । ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ॥ १९-२० ॥

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै ।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ॥ २१ ॥

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये हुए अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है । पहले भी तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं । उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका ? ॥ २१ ॥

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च ।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ॥ २२ ॥

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ॥ २२ ॥

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ॥ २३ ॥

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, अपितु छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ॥ २३ ॥

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम् ।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ॥ २४ ॥

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है ? इसके लिये उसे उन किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं ॥ २४ ॥

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते ।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभी-तक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे ॥

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने ।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ॥ २६ ॥

तात संजय ! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

स चेदेतां प्रतिपद्येते बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत ।
एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः ॥ २७ ॥

सूत ! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समराङ्गणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे ॥ २७ ॥

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं
त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम् ।
यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं
या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥

संजय ! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ । दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः ॥ २९ ॥

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है । जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा । परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १ ॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन ! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है । कुन्तीकुमार ! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है । यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है । पाण्डव ! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें ॥ १ ॥

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥

अजातशत्रो ! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ, परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता ॥

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च ।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है । इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं । यह सदा दुःखमय और चञ्चल है । अतः पाण्डुनन्दन ! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये । वह आपके सुयश-के अनुरूप नहीं है ॥ ३ ॥

कामा मनुष्यं प्रसृजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र ।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्नन्
लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम् ॥ ४ ॥

नरेन्द्र ! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्योंको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ॥ ४ ॥

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव ।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति ।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ॥ ६ ॥

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम् ।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्टान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ॥ ७ ॥

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म ।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि) का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वञ्चित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ॥

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम् ।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ॥ ९ ॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम् ।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ॥ १० ॥

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ॥ १० ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम् ।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ॥ ११ ॥

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त, सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ॥ ११ ॥

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किंचित् क्रियते प्रेत्य कार्यम् ।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस शरीरके रहते हुए ही कोई भी सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १२ ॥

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि ।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किंचि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ॥ १३ ॥

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, बुढ़ापा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है। परलोकमें इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है * ॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण ।

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नवीन कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। पाण्डुनन्दन ! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ (अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ॥ १४ ॥

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें। अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें; परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ॥ १५ ॥

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें। पाण्डवो ! वह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ॥ १६ ॥

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत्।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ॥ १७ ॥

पहले (द्यूतक्रीडाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ॥ १७ ॥

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः।
राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ॥ १८ ॥

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत-से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सब-के-सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ॥ १८ ॥

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम्।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ॥ १९ ॥

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे। समराङ्गणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ॥ १९ ॥

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्शयित्वा सहायान्।
निरुष्य कस्मात् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया ? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया ? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है ? ॥ २० ॥

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संरम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति ॥ २१ ॥

पाण्डुकुमार ! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २१ ॥

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम्।
अद्धा किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पाप कर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥

महाराज ! जो बिना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कड़ुआ है; जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ॥ २३ ॥

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा ? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ॥ २४ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ॥ २५ ॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥

राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते । आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ॥ २६ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ॥ २७ ॥

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है । यह जो तुमने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ॥ १ ॥

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः ।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ २ ॥

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है । विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ॥ २ ॥

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम् ।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिङ्ग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है । इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म

सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं। प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये)। संजय ! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ॥ ३ ॥

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः।
प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ॥ ४ ॥

प्रकृति (जीविकाके साधन) का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे। संजय ! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है। इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ॥ ४ ॥

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम्॥ ५ ॥

सूत ! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो। फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ॥ ५ ॥

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है। परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ६ ॥

तदध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ॥ ७ ॥

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे चलते आये हैं। मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ॥ ७ ॥

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत्।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ॥ ८ ॥

संजय ! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ।८।

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ॥ ९ ॥
यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम्।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १० ॥

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मण-भक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं। यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लङ्घन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ॥ ९-१० ॥

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ ११ ॥

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ॥ ११ ॥

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च
महाबला यादवा भोगवन्तः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम्।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ॥ १३ ॥

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवाञ्छित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ॥ १३ ॥

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम्।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ॥ १४ ॥

तात संजय! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं। ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं। ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं। मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ॥ १ ॥

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥ २ ॥

सूत! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे। 'कुन्तीकुमारो! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ। राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ॥ २ ॥

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ॥ ३ ॥

आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

संजय ! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा ? ॥ ३ ॥

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च ।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ॥ ४ ॥
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥ ५ ॥

संजय ! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है ? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ॥ ४-५ ॥

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके ।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥ ६ ॥

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि लाभ होनेकी बात बताते हैं, *दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं।

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता; अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजन करनेका विधान है। ६ ।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम् ।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः॥ ७ ॥

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ७ ॥

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म ।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥ ८ ॥

संजय ! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ॥ ८ ॥

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ॥ ९ ॥

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥ १० ॥

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं।१०।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम् ॥ १२ ॥

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बल-सूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ॥ १२ ॥

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की । उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था । इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरु-का सम्मानित पद प्राप्त किया है । आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १३—१५ ॥

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ॥ १६ ॥

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करने-वाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥

संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकों-के इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? ॥ १७ ॥

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ॥ १८-१९ ॥

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
यदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥ २० ॥

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ॥ २० ॥

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।

अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ॥ २१ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशाम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥

संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो । फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ॥ २२ ॥

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव ।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ॥ २३ ॥

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित् ।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे । किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे । वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा ।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥ २४ ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे । इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २४½ ॥

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥ २५ ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे । ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ २५½ ॥

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥ २६ ॥

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे । उसके लिये यज्ञका भी निषेध है । वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥ २६ ॥

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे ।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥ २७ ॥

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे । वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ॥२७॥

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः ॥ २८ ॥

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ॥ २८ ॥

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः ।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ २९ ॥

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे

(परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ ३० ॥

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है॥ ३० ॥

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥ ३१ ॥

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है । संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते ॥ ३१ ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं ॥३२॥

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ ३३ ॥

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं । संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ?॥३३॥

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ ३४ ॥

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है । संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् ।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥ ३५ ॥

सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है । बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ॥ ३५ ॥

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः ।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ॥ ३६ ॥

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम् ।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥ ३७ ॥

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ॥ ३७ ॥

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥ ३८ ॥

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ॥ ३८ ॥

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम् ।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर कातर-

भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली; परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ॥ ३९ ॥

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम्॥ ४० ॥

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके। एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ॥ ४० ॥

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम्।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात्।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

संजय ! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो। द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है। उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि ! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे। भाविनि ! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ॥ ४१—४३ ॥

यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ॥ ४४ ॥

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचन-रूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था। वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया। तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है) ॥ ४४ ॥

कृष्णाजिनानि परिधित्समाना-
न्दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत्।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ॥ ४५ ॥

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्णमृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ॥ ४५ ॥

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम्।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ॥ ४६ ॥

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है ? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ॥ ४६ ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम्।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥ ४७ ॥

संजय ! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं, तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ ४८ ॥

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ॥ ४८ ॥

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम्।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ ४९ ॥

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ?

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥ ५० ॥

संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ॥ ५० ॥

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥ ५१ ॥

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ॥ ५१ ॥

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥५२॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ॥५२॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ॥ ५३ ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥ ५४ ॥

संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता, उस वनका उच्छेद न करो ॥ ५४ ॥

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥ ५५ ॥

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ॥ ५५ ॥

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ५६ ॥

संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ॥ ५६ ॥

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ ५७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ॥ ५७ ॥

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधाःसमर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥ ५८ ॥

विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात् ॥ १ ॥

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन ! आपका कल्याण हो । अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ । कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो ? ॥ १ ॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ । आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो । राजाओ ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ । तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम जाओ । विद्वन् ! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो । इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं ॥ ३ ॥

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ॥ ४ ॥

संजय ! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो । तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं । तुम शीलवान् और संतोषी हो । तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो ॥ ४ ॥

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम् ।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत ॥ ५ ॥

सूत ! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो । तुम नीरस और अप्रासङ्गिक बात भी नहीं बोलते । हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है ॥ ५ ॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः ।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि ॥ ६ ॥

संजय ! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो । जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं । पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो ॥ ६ ॥

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः ।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ॥ ७ ॥

संजय ! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्यपालन-पूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्मसम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना ॥ ७ ॥

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु ।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः ॥ ८ ॥

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ८ ॥

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-
स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य ।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ॥ ९ ॥

तात ! संजय ! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम

(हमारी ओरसे) कुशल-मङ्गलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ॥ ९ ॥

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना ॥

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात ! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगोंके प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना । तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ १०½ ॥

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ॥ ११ ॥
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः) ।

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओंका पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ११ ॥

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ॥ १२ ॥

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्यका पालन किया । तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की; वे सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ॥ १२ ॥

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ १३ ॥

शारद्वतस्यावसथं स गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥

संजय ! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्यके घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ॥ १४ ॥

यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥ १५ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥

संजय ! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥

तात संजय ! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीमें फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ १७ ॥

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥

तात संजय ! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ॥ १८ ॥

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥

संजय ! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लिकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ॥ २० ॥

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ २१ ॥

संजय ! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं । वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं । रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है । वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं । तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ २१ ॥

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ॥ २२ ॥

संजय ! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डव-लोग स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ २२ ॥

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित्
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ॥ २३ ॥
प्राच्योदीच्या दक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पर्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ॥ २४ ॥

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है । वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं । वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २३-२४ ॥

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ॥ २५ ॥

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ॥ २५ ॥

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ॥ २६ ॥

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं, उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ २६ ॥

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं
महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ॥ २७ ॥

तात ! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान् ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न है, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २७ ॥

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ॥ २८ ॥

तात ! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीड़ामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ॥ २८ ॥

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ॥ २९ ॥

तात संजय ! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधनका सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ॥ २९ ॥

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ ३० ॥

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ॥ ३० ॥

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ॥ ३१ ॥

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं ! संजय ! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३१ ॥

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ॥ ३२ ॥

संजय ! राजघरानेमें जो सद्गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं । उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ॥ ३२ ॥

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ॥ ३३ ॥

संजय ! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना—'माताओ ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न ? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है ? उन सबके दीर्घायु पुत्र हो गये हैं न ?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ॥ ३३ ॥

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ॥ ३४ ॥
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ॥ ३५ ॥

तात संजय ! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो । उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो ? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध आदि प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न ? तुम घरमें प्रमादशून्य होकर रहती हो न ? भद्र महिलाओ ! क्या तुम अपने श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो ? ॥ ३४-३५ ॥

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ॥ ३६ ॥

संजय ! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं । वहाँ जाकर उनसे कहना, 'बहुओ ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगोंका कुशल-समाचार पूछते थे' ॥ ३६ ॥

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ॥ ३७ ॥

संजय ! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो ! तुम्हें कल्याणकारी पति प्राप्त हों और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें । साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ॥ ३७ ॥

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥

तात संजय ! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृङ्गार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ॥ ३८ ॥

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुतसे कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३९ ॥

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति ।
अङ्गहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ॥ ४० ॥

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अङ्गहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है ? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है ? ॥ ४० ॥

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव
हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥

हस्तिनापुरमें जो बहुत-से हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ॥ ४१ ॥

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना । तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना । निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है । मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ॥ ४२ ॥

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति ।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रक्खी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं ! मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युक्त देखना चाहता हूँ । तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत्‌रूपसे पालन होने लगा है ॥ ४३ ॥

ये चानाथा दुर्बलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः ।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव
ह्यस्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ॥ ४४ ॥

संजय ! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ४४ ॥

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र ।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ॥ ४५ ॥

सूतपुत्र ! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंमें आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं । उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ॥

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान् ।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मङ्गल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ॥ ४६ ॥

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः ।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ ४७ ॥

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ॥ ४७ ॥

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः ।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ॥ ४८ ॥
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते ।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥ ४९ ॥

संजय ! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—'तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ामात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय ।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ॥ १ ॥

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् ।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २ ॥

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वान्‌को मूर्ख बना देता है ॥ २ ॥

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम् ।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ॥ ३ ॥

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ॥ ३ ॥

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ ४ ॥

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् ।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन् ! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ॥ ५ ॥

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम ।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ॥

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित् ।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥

संजय ! उन्हें यह भी बताना कि 'तात ! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ॥७॥

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शन्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी ! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा काम

कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ॥ ८–१० ॥

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥

संजय ! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना— 'सौम्य ! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ॥ ११ ॥

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना—॥ १२ ॥

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥

'तुमने द्रौपदीको बिना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १३ ॥

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः ।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः॥ १४ ॥

इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ॥ १४ ॥

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

सौम्य ! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १५ ॥

यद् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥

तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ॥ १६ ॥

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥

परंतप ! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ॥ १७ ॥

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है । हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ॥ १८ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १९ ॥

अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो । इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी॥

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥

'सुयोधन ! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो ।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ॥ २० ॥

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'भाई भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले । पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें । मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पाञ्चालोंको अक्षतशरीर देखूँ । तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ॥ २१-२२ ॥

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

संजय ! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी । धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है । मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः ।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा ।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय ॥
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम् ॥
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः ।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत ॥
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः ।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम् ॥

अर्जुन बोले—संजय ! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधुदेशीय वीरोंको बुला रक्खा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना । तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः ।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी ॥

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः ।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम् ॥)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया । तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्तीकुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी ॥

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ १ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महामना राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा—॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मां चिरं कृथाः ॥ ३ ॥

'द्वारपाल ! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है ।' विलम्ब न करो ॥ ३ ॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम ॥ ४ ॥

'द्वारपाल ! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना । उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा । मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है ।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला ॥

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽथ भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ॥ ५ ॥

द्वारपालने कहा—महाराज ! आपको नमस्कार है । पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छासे

द्वारपर खड़े हैं। राजन्! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें?॥ ५॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः॥ ६॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल! संजयका स्वागत है। उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ। उसे भीतर ले आओ। उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती। फिर वह दरवाजेपर सटकर क्यों खड़ा है?॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम्।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा॥ ७॥

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान्।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत्॥ ८॥

संजय बोला—भूपाल! आपको नमस्कार है। नरदेव! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ। उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है॥ ८॥

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च॥ ९॥

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है। राजन्! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न?॥ ९॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम्।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम्॥ १०॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं?॥ १०॥

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत्।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च॥ ११॥

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं। वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं॥ ११॥

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः॥ १२॥

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है। वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्म-पालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है॥ १२॥

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात्॥ १३॥

महाराज! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है॥ १३॥

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम्।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम्॥ १४॥

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अवर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है ॥ १४ ॥

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम्।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ॥ १५ ॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें टहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम् ।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥ १६ ॥

महाराज ! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये । धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन् ! इसीके कारण इस लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा ॥ १६ ॥

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य ॥ १७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः ॥ १८ ॥

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक बैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं ॥ १८ ॥

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभीष्ट गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं भी बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचितरूपसे प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप युक्त हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरतापूर्ण कार्य कैसे कर सकते हैं ? ॥ २० ॥

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य
समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता मन्त्री कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्होंने (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लिया है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण बन गया है ॥ २१ ॥

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥

राजन् ! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दोषी ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों) का भार डालकर (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा कर लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसारमें केवल आपकी निन्दा फैल जाय ॥ २२ ॥

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स्म द्रष्टुम्।
अत्यक्रामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकारसे बाहर हो ? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिलकर

एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने॥ २४ ॥

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव) के सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात्॥ २५ ॥

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ॥ २५ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत्।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ॥ २६ ॥

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ॥ २६ ॥

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ॥ २७ ॥

राजन् ! इस जगत्में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम्॥ २८ ॥

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डव-विरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ॥ २८ ॥

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ॥ २९ ॥

राजन् ! महाराज ! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ॥ २९ ॥

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन्।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥

नरेन्द्र ! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि) को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों) को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुल-नन्दन ! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस समय रथके वेगसे हिलने-डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातः-काल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम्॥ ३२॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो। सवेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ। उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ'॥ १॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत्।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति॥ २॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम्।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय॥ ३॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो'॥ ३॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात्।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम्॥ ४॥

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय?॥ ४॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने॥ ५॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है॥ ५॥

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम्॥ ६॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये। महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम्॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले—॥ ७॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात्।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम्॥ ८॥

'महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये'॥ ८॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति॥ ९॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है। कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा॥ ९॥

* इस ३३ वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४० वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है।

विदुर और धृतराष्ट्र

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम्॥ १०॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अङ्गोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रक्खा है॥ १०॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि॥ ११॥

तात! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो॥ ११॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता॥ १२॥

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है॥ १२॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः॥ १३॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिसका बलवान्‌के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती॥ १३॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे॥ १४॥

नरेन्द्र! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं?॥ १४॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः॥ १५॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंशमें केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो॥ १५॥

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र! श्रेष्ठ लक्षणोंसे

सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः॥

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकर होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते॥

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि॥

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं?॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्॥ १६॥

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १९ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है । उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २३ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतकुलभूषण ! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ॥ २५ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके ह्रद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ॥ २९ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ॥ ३० ॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है ॥ ३१ ॥

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्‌के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं ॥ ३२ ॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३३ ॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ़ है ॥ ३४ ॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ३६ ॥

मूढ़ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर चला आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है ॥ ३६ ॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ३७ ॥

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है ॥ ३७ ॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ३८ ॥

जो अपने बलको न समझकर बिना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने योग्य वस्तुकी इच्छा करता है, वह पुरुष इस संसारमें मूढ़बुद्धि कहलाता है ॥ ३८ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते[1] ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

राजन्! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३९ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ४० ॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है ॥ ४० ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा? ॥ ४१ ॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥

मनुष्य अकेला पाप कर (के धन कमा) ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है ॥ ४२ ॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३ ॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है ॥ ४३ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥

एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वशमें कीजिये। पाँच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये ॥ ४४ ॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

---

१. यहाँ 'उपास्ते'के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ।

विषका रस एक (पीनेवाले) को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ॥ ४५ ॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४६ ॥

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ॥ ४६ ॥

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

राजन्! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ४७ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

इस जगत्‌में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे? ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ॥ ५२ ॥

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ॥)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ॥ ५३ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंका करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ॥ ५४ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलने-वाले होते हैं ॥ ५५ ॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ॥ ५६ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमें लगा हुआ संन्यासी ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

राजन्! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ॥ ५८ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ॥ ५९ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ॥ ६० ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ॥ ६१ ॥

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ६२ ॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥

राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रय एवाधुना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ॥ ६४ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ६५ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ ६६ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

भारत ! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ॥ ६७ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ६८ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ॥ ६९ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्‌के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ॥ ७० ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७१ ॥

महाराज ! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये— ॥ ७१ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ॥ ७३ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४॥

भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५॥

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ॥

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६॥

राजन् ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ॥ ७६ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष) युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ॥ ७७ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८॥

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत) इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८०॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ॥ ७९-८० ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१॥

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८१ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२॥

राजन् ! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ॥ ८२ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३॥

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य) को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८३ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८४॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५॥

निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८६॥

मुहूर्तभर[1] भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ॥८६॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८॥

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ॥ ८७-८८ ॥

---

१. 'मुहूर्त' शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है। एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

राजन्! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुखी रहते हैं ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढमूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ ९५ ॥

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९३—९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ ९६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

भारत! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जन-समाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ ९६—९८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ १०० ॥

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजेवाले तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच (ज्ञानेन्द्रिय-रूप) साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ १०१ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०२ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो। नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं। अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ॥ १०१-१०२ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था। नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०३ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्रको धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (के व्यवहार और वचनों) को सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०४ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम्।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥१०५॥

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है ॥१०५॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम्।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१०६॥

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ॥ १०६ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥१०७॥

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं ॥ १०७ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम्।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥१०८॥

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान— इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है ॥१०८॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥१०९॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥११०॥

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ॥१०९-११०॥

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ॥ १११ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ॥ ११३ ॥

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है। वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूह-पर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ॥ ११४ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम्।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

जो दान, होम, देवपूजन, माङ्गलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जाने-योग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ ११६ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं; और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ नीति है ॥ ११७ ॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥११८॥

जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥११९॥

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ॥११९॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२० ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥१२२॥

अम्बिकानन्दन! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२३॥

तात! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये। नरेन्द्र! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्य-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करनेयोग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ १ ॥

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम्॥ २ ॥

उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो। जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ ॥ २ ॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विद्वन् ! मेरे मनमें अनिष्टकी आशङ्का बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल-हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे ॥ ४ ॥

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

इसलिये राजन् ! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा । मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें ॥ ५ ॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

भारत ! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं द्यूत) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये ॥ ६ ॥

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये । खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥८॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे ॥ ९ ॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता ॥ १० ॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझकर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये । उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा ॥१२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी

काँटीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न हो अर्थात्) जो खाने योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने) पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ॥ १७ ॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले । कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ॥ १८ ॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करने योग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो) । यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे । कच्चा (कम शक्तिवाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न) की भाँति अपनेको प्रकट करे । ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥ २५ ॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ॥ २६ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २७ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती है ॥

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ॥ २९ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ॥ ३० ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ॥ ३१ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाजका एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

राजन् ! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते । जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ॥ ३६ ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्‌के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्‌के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचार-से कुलकी रक्षा होती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ॥ ४२ ॥

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥ ४३ ॥

न करने योग्य काम करनेसे, करने योग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है । ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं ॥ ४४ ॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं ॥ ४५ ॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥ ४६ ॥

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते ॥ ४६ ॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकाङ्क्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है ॥ ४७ ॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥ ४८ ॥

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है ॥ ४९ ॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ५० ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥

राजन् ! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥ ५१ ॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥ ५२ ॥

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥

यों तो (मादक वस्तुओंके)पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता ॥ ५३ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं ॥ ५५ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं ॥ ५६ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है ॥ ५७ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

राजन् ! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं । इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ॥ ६२ ॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीन कर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है । वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

राजन् ! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जो इस जगत्में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोगविलासोंसे बँधे रहते हैं ॥ ६९ ॥

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ॥ ७१ ॥

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ७५ ॥

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्नर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है। अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे ॥ ८० ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ॥ ८३ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होने योग्य है ॥ ८४ ॥

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति॥ ८६ ॥

राजेन्द्र ! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो । इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती । इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

विभो ! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये । ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् आप स्वर्गलोकमें जायँगे ॥ ३ ॥

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर सभामें उपस्थित हुई ॥ ६ ॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया । तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।
अथ केन स पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य ? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे ? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ ?॥ ८ ॥

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

विरोचनने कहा—केशिनी ! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं । यह सारा संसार हमलोगोंका ही है । हमारे सामने देवता क्या हैं ? और ब्राह्मण कौन चीज हैं ? ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! इसी जगह हम दोनों

प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ॥ ११ ॥

विरोचन बोला—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु ! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ॥ १२ ॥

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्रादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनीके पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्रादे ते वरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन ! मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ, तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

विरोचनने कहा—सुधन्वन् ! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठने योग्य हो ही नहीं ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्याावितरेतरम् ॥ १६ ॥

सुधन्वाने कहा—विरोचन ! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

विरोचन बोला—सुधन्वन् ! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

सुधन्वा बोला—विरोचन ! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे ? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्रादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्रादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो? पहले तो तुम दोनों कभी एक साथ नहीं चलते थे ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—पिताजी! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाते आ रहे हैं। मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ। मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लादने कहा—सेवको! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ। [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन्! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रक्खी है ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः॥२७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है। तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन? ॥ २७ ॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है? ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—मतिमन्! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर देना ही चाहिये ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत्॥३०॥

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन्! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है? ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ॥ ३१ ॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओं-को देखता है ॥ ३२ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलने-से पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ॥ ३४ ॥

प्रह्लादजीका न्याय

आत्रेय मुनि और साध्यगण

प्रह्राद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥ ३५॥

प्रह्लादने कहा—विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा

मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये॥ ३५॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥ ३६॥

विरोचन! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन्! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ॥ ३६॥

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्राद दुर्लभम्॥ ३७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्राद! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ॥ ३७॥

एष प्रह्राद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम॥ ३८॥

प्रह्राद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे॥ ३८॥

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन्॥ ३९॥

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें। बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ॥ ३९॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ ४०॥

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं॥ ४०॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः॥ ४१॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ ४१॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले॥ ४२॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी) को त्याग देते हैं॥ ४२॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः॥ ४३॥

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं॥ ४३॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त॥ ४४॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे॥ ४४॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि॥ ४५॥

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—

ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ४७ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः॥ ४८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह काँव-काँव करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य[1], क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सब-के-सब ब्रह्म-हत्यारोंके समान हैं ॥ ४६–४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी; भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ॥ ५२ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति॥ ५३ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणों-पर हठात् अधिकार जमा लेता है । जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

राजन् ! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं; और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ॥ ५७ ॥

---

१. यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीत-हीन—ये तीन प्रकारके 'व्रात्य' कहे गये हैं ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं ॥ ५९ ॥

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ ६० ॥

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है ॥ ६० ॥

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है ॥ ६१ ॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है ॥ ६२ ॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है। इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे ॥ ६३ ॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन् ॥ ६४ ॥

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करनेवाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है ॥ ६५ ॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्‌बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ६६ ॥

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके ॥ ६७ ॥

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके ॥ ६८ ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलङ्क) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है ॥ ७० ॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं ॥ ७१ ॥

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ॥ ७२ ॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

राजन्! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

भारत! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जङ्घासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ॥ ७५ ॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

राजन्! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं?॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिये ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादका उल्लेख करके महाकुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम्।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

प्राचीन कालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस) रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम्।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

साध्य बोले—महर्षे! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते। हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं

बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीः पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

इस जगत्में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ ८ ॥

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरकी सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादये-
द्योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है। (सत्य और) प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्मसम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ १२ ॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलङ्कित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंकेद्वारा किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ॥ १८ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २० ॥

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एव बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं ? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं ॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उलङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

भारत ! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रक्खी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥ २९ ॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है । धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो । इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत् ।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी-कमी नहीं होती ॥३४॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ राजन् ! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

नृपवर ! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते । इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है । मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३८ ॥

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ॥ ४३ ॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति॥ ४४॥

संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः॥ ४५ ॥

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत्॥४७॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

महामते! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ॥ ५० ॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१ ॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्तिका उपाय मैं नहीं देखता ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ॥ ५२ ॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्काम-भावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं॥ ५३॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

राजन् ! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते । वे सुख भी नहीं पाते । उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती । उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती । राजन् ! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जातिबन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ॥ ५८ ॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत-वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं । इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

धृतराष्ट्र ! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ॥ ६१ ॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ॥ ६२ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालावमें कमल ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

महाराज ! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ॥ ६९ ॥

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ॥ ६९ ॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

राजन् ! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ॥ ७० ॥

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये। क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें। सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है। तात ! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ॥ ७३ ॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

कुरुराज ! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओं-को आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले। नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र ! विचित्रवीर्यनन्दन ! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आने-वाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले

बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ॥ १-२ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥
वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादाका उल्लङ्घन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहने योग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वसुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है', ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ॥ ३—६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है । कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपका कल्याण हो । अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं । ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ॥ १०-११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्र स्त्रीके साथ विवाह करता है; शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजनेवाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका सङ्ग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ॥ १२-१३ ॥

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १५ ॥

राजन् ! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १५ ॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ॥ १६ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥

प्रतीपनन्दन ! विचित्रवीर्यकुमार ! राजन् ! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥ २१ ॥

नरेन्द्र ! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥

तात ! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वञ्चित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ॥ २३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे; क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ॥ २४ ॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥ २५ ॥

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये ॥ २५ ॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६ ॥

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ॥ २८ ॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ॥

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है ! राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान) उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं ॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥ ३४ ॥

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नाङ्कित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ॥ ३४ ॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ॥ ३५ ॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

बहुत दुखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये ॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले--इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥३८॥

. धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे । तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूल मन्त्र है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥ ४२ ॥

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा । इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतत् खे ॥४३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज ! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव--ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ४५

राजन् ! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं । आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ॥ ४५ ॥

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

जिसका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये । जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ॥ ४८ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उस सबको जान लिया है ॥ ४९ ॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ ५० ॥

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं; और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ॥ ५२—५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पढ़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ॥ ५८ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई माङ्गलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ॥ ५८ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काष्ठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ १॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है॥ १॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः॥ २॥

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे॥ २॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः॥ ३॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है॥ ३॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः॥ ४॥

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं॥ ४॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च॥ ५॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं॥ ५॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः॥ ६॥

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट[1], पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है॥ ६॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरंधरः पुण्यकृदेष तापसः॥ ७॥

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इङ्गुदीफल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है॥ ७॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः॥ ८॥

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ। बुद्धिमान्की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है॥ ८॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥ ९॥

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे। विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है॥ ९॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत्॥ १०॥

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ

---

१. मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ लोंदेको 'लोष्ट' कहते हैं।

तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥११॥

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं । ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे । इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२½ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्॥ १३ ॥
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है । इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ॥ १३½ ॥

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ॥ १४½ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ १५½ ॥

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे । ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ॥ १६½ ॥

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १७½ ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत ! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ॥ १८½ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये विना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है । जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासद्गण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है । अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निःसंदेह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९–२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २२ ॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जैसे वेदोंको पढ़े विना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने विना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

राजन् ! जो सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक

कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र'के धारणसे संतुष्ट रहे। सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ॥ २८ ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९ ॥

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ॥ २९ ॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ॥ ३० ॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है। संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरेलोग नहीं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥

भारत ! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ॥ ३४ ॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ॥ ३५ ॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ॥ ३७ ॥

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देने योग्य है ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

भारत ! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योग-क्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ॥४२॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

भारत! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ॥ ४४ ॥

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ॥ ४५॥

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

भारत! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ॥ ४६ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रक्खा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ॥

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—भारत! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि) के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ॥ ४ ॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

राजन्! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें। इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर

करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत्॥ ७ ॥

महाराज ! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय ॥ ७ ॥

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र ! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे। जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं। यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता ॥

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम्।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम्॥ १२ ॥

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है ॥ ११-१२ ॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ॥ १३ ॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत्।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम्।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये। सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है ॥ १४½ ॥

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है। उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत्।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले सङ्गपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे ॥ १६½ ॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है ॥ १७½ ॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर।

राजेन्द्र ! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जातिभाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें ॥ १८½ ॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम्॥१९॥

राजन् ! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है ॥ १९ ॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये। फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ २० ॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥ २१ ॥

राजन् ! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा। तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये। आप मुझे अपना हितैषी समझें। तात ! शुभ चाहनेवालेको अपने जातिभाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम्।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस जगत्में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! आप पाण्डवोंके प्रति सद्व्यवहार करें। मानद ! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पापका भागी वह धनी होता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लङ्घन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ॥ ३० ॥

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम्।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलङ्क धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है; वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत्।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ ३६ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम्।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रक्खे— मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी

न रखना, अपने नेत्र-मुख आदिका विकार, दुष्ट मन्त्रियोंपर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

राजन्! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ३९ ॥

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४० ॥

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ॥ ४० ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

राजन्! नाना प्रकारके परिच्छेद[1], माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ४४ ॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम्।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

१. हाथी, घोड़े रथ, आदि।

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥ ४६ ॥

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ॥ ४६ ॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्त गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥ ४८ ॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ॥ ४९ ॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५० ॥

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिल्कुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्लोग कहते हैं ॥

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमान-कालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ॥ ५५ ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषोंका बारंबार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं ॥ ५६ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है। इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता है ॥ ५७ ॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५८ ॥

तात ! समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ॥ ५९ ॥

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम्।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम्।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव, शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ॥ ६३ ॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च।
नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६४ ॥

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास। यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है। उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ॥ ६५ ॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६६ ॥

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ॥ ६६ ॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६७ ॥

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्व-सम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूलमन्त्र समझिये ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम्।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ६९ ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ॥ ७० ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे। थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है। इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ॥ ७१ ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥ ७२ ॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठपर सत्यसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७३ ॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥ ७४ ॥

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ॥ ७४ ॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७५ ॥

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लङ्घन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ॥ ७५ ॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम्।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वञ्चित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है, और वचनरूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम्।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलख-बुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीडा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रक्खे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ॥ ८१ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ॥ ८२ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ॥ ८३ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ॥ ८४ ॥

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ

हैं, वे सब-के-सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥ ८५ ॥

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियोंके लिये सदा ही दोष माने गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥ ६ ॥

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

भारत ! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शङ्ख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

तात ! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं । जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है । आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ॥ १२-१३ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम्।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥

राजन् ! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं । पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है । यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

तात ! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है । इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक और परलोकमें ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है । वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है । राजन् ! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ॥ १९ ॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥

भारत ! यह जीवात्मा एक नदी है । इसमें पुण्य ही तीर्थ है । सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है । धैर्य ही इसके किनारे हैं । दया इसकी लहरें हैं । पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २१ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे

पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ॥ २२ ॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित्॥२३॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥२३॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे, अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे। इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ॥ २४ ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥ २५ ॥

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों[1] अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है ॥२७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥ २९ ॥

महाराज! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये। आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम्॥३०॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

प्रारब्धका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है। मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

[1] गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है ॥१॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र ! कुमार 'सनत्सुजात' नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं' ॥

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

महाराज ! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ ॥५॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता । इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ ! भला इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया । उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ८ ॥

स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया । इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा—॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'भगवन् ! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है । आप ही इस विषयका निरूपण करने योग्य हैं ॥ १० ॥

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥ ११ ॥
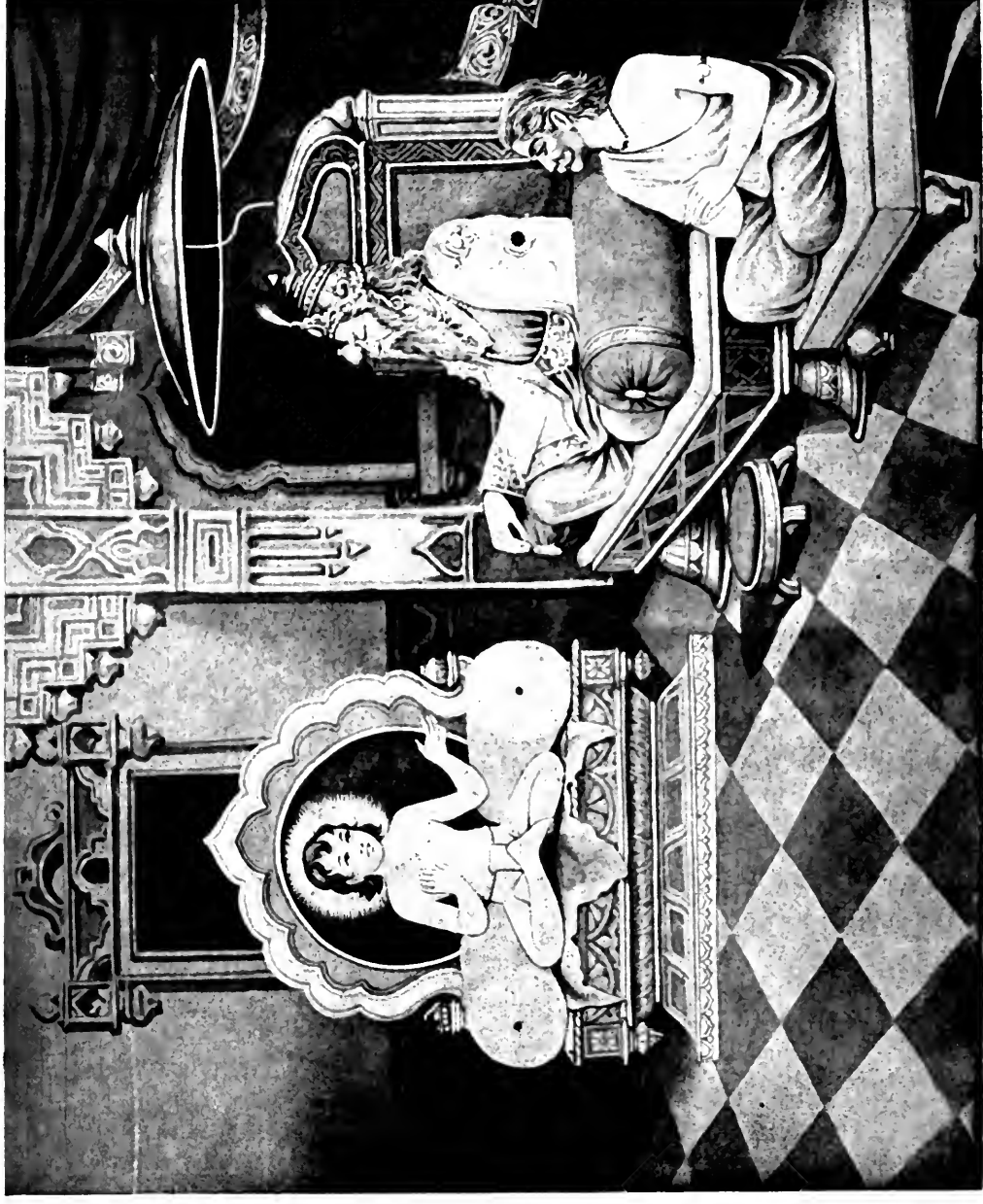
श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम्।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था। इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है? ॥ २ ॥

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ॥ ३ ॥

उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

क्षत्रिय! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो। कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ॥ ४ ॥

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६॥

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं । यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओंके लिये मङ्गलमय और पापियोंके लिये अमङ्गलमय हैं ॥ ६ ॥

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है । अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते हैं । मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं । शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ॥

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ॥ ९ ॥

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०॥

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ॥ १० ॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है । इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है । इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्योंको मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥१२॥

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले । इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥१३॥

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥ १४ ॥

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है । जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः॥१५॥

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? इसलिये राजन् ! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरण-धर्मा मनुष्य ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म॥१७॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न ले ॥१७॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं, परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है।

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत्॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है ? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है ?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है। अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है । ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं । वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है । महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥२३॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ॥ २३ ॥

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ॥ २४ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥२५॥

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है । इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान् ।
तेषां क्रमात् कथय ततोऽपि चान्यान्
नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता ।

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ॥ २७ ॥

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं॥

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकामभावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम् ।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये । जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षाऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे । भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ॥ २९-३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ॥ ३१ ॥

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३२ ॥

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ॥ ३२ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ॥ ३३ ॥

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणोंको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४ ॥

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा ? ॥ ३५ ॥

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ॥ ३६ ॥

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन वितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ३७ ॥

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है; आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३७ ॥

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३८॥

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ॥ ३८ ॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥३९॥

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते । उन्हें ब्रह्मकी साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ४० ॥

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ॥ ४० ॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ॥ ४१ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ॥ ४१ ॥

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ४२ ॥

जगत्में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं॥ ४२ ॥

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥ ४३ ॥

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते ॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥ ४४ ॥

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें । ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४५ ॥

राजन् । लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि ।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥ ४६ ॥

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है । उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यह मौन किसका नाम है ? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है ? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये । क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है ? मुने ! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं ? ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है । वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते । जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है ? ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव ! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्की प्रतीति होती है । यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं । किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है । इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है । फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ

---

* 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं ।

और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं) । इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी ! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है ? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है । इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता । इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा चढ़ा होता है ॥ १२ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम जिस (तपस्या) के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना । अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं । मन्वादि-शास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं, महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पापकर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥ १९ ॥

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ॥ १९ ॥

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ २० ॥

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मणके बारह व्रत हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ॥२१॥

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ २२ ॥

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृतका वास है। जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ॥ २२ ॥

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ॥ २३ ॥
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥ २४ ॥
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ॥ २५ ॥

दम अठारह गुणोंवाला है। (निम्नाङ्कित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)–कर्तव्य-अकर्तव्य-के विषयमें विपरीत धारणा, असत्यभाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं ॥२३–२५॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं। त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है। कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ॥ २६-२७ ॥

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः॥ २९ ॥

राजेन्द्र! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं, लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना–यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ॥ २८-२९ ॥

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती। अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ॥ ३० ॥

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत्।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ॥ ३१ ॥

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है)। अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥३२॥

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत्।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है)। इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय

गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३३-३४ ॥

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ ३५ ॥

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥

भारत ! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ॥ ३६ ॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ॥ ३७ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है। मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चाहिये। ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन् ! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३८–४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने ! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[1] कहलाते हैं। इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ ? ॥ ४२ ॥

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई विरला ही स्थित होता है ॥ ४३ ॥

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ॥ ४४ ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ॥ ४५ ॥

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है। फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ॥ ४५ ॥

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत्।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह

[1] १. जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं।

दीक्षित नाम 'दीक्ष व्रतादेशे' इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है ॥ ४७ ॥

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये) बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ॥ ४९ ॥

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

राजन् ! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्वकालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं ॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं। इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई विरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ॥ ५२ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ५३ ॥

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जानने योग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्म-विधायक वेदको जानता है, वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ॥ ५३ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ५४ ॥

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जानने योग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले) को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ॥ ५४ ॥

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ५५ ॥

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ॥ ५६ ॥

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ॥ ५६ ॥

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन ॥ ५७ ॥

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है ? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५७ ॥

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं; वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ॥ ५८ ॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे। राजन्! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ॥ ५९ ॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ६० ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ॥ ६२ ॥

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ॥ ६२ ॥

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

राजन्! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम्।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्याको यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो

मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन् ! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥ ६ ॥

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह-त्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

इस जगत्में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ॥ ७ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥ ८ ॥

भारत ! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये। यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ॥ १३ ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १५ ॥

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ॥ १५ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १६ ॥

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत् ।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ १८ ॥

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचार-को प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ॥ १८ ॥

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम् ।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ १९ ॥

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ॥ १९ ॥

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ २० ॥

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ॥ २० ॥

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥ २१ ॥

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥ २३ ॥

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना देता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

राजन्! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं, किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है॥

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम्॥ २५॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है?॥ २५॥

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति॥ २६॥

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता॥ २६॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये॥ २७॥

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता॥ २७॥

नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत्॥ २८॥

राजन्! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है॥ २८॥

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः॥ २९॥

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है)॥ २९॥

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि॥ ३०॥

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं॥ ३०॥

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ३१॥

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारणस्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता॥ १॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ,

काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ॥ १½ ॥

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़-बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ॥ २ ॥

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वावदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ॥ ३ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ॥ ४ ॥

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम्।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सच्ची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण, ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम्।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियोंको कष्ट पहुँचाना, ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव। इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः
प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात्।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्च दारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ॥ १२ ॥

सौहार्द (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं। सुहृद्का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं। तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके

माँगनेपर दे डाले। मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्के माँगनेपर वह शुद्ध भावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है ॥ १२ ॥

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च ॥ १३ ॥

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है। अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अवलम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है ॥ १३ ॥

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ॥ १४ ॥

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है ॥ १४ ॥

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम्।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ॥ १५ ॥

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं]॥१५॥

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात्।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥ १६ ॥

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है। किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है ॥ १६ ॥

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो ॥ १७ ॥

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १८ ॥

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये। परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ॥ १९ ॥

राजन्! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती ॥ १९ ॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ २० ॥

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे ॥ २० ॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

राजन्! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्वन्! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १ ॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ १॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ २॥

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ २॥

अपोऽथ अद्‌भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ३॥

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ३॥

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च
दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ४॥

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ४॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ५॥

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं *॥ ५॥

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ६॥

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता, उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं†॥ ६॥

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम्।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ७॥

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषयरूप मधुर जलको देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ७॥

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ८॥

* प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्‌के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

† इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्‌में मिलता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है । परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रखी है । उस सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ ८ ॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ होकर पंख-हीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे ।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है । उस सनातन परमात्माका योगी लोग साक्षात्कार करते हैं ॥१०॥

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सामश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है । उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ॥११॥

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं । तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है । उस सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १२ ॥

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्) को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय । उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

हृदयदेशमें स्थित वह अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है । उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्व-समर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है । वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है । अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं, (दूसरे

नहीं)। उसी सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम्।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं। राजन्! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ १७ ॥

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है। इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है]। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १८ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत्।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १९ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २० ॥

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं। जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २१ ॥

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं। जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्नचामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात्।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

राजन्! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता! न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ]। सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं। एकमात्र मैं ही सत् और असत्की उत्पत्तिका स्थान हूँ। मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २२ ॥

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु।

समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधु कर्मसे। यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है। ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २३ ॥

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम् ।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते। 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं। ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषय-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे ? ॥ २५ ॥

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौहृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता। वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है। जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्र ! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ। जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

भारत ! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ। तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ॥२९॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है। मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ। मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ। मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे खुले केशोंकी बात याद रखनेका अनुरोध

(यानसंधिपर्व)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँसे लौटे हुए संजयका कौरवसभामें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार महर्षि सनत्सुजात और बुद्धिमान् विदुरजीके साथ बातचीत करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी सारी रात बीत गयी ॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ॥ २ ॥

वह रात बीतनेपर जब प्रभातकाल आया, तब सब राजालोग सूतपुत्र संजयको देखनेके लिये बड़े हर्षके साथ सभामें आये ॥ २ ॥

शुश्रूषमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम् ॥ ३ ॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम्।
चन्द्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चन्दनवारिणा ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र आदि समस्त कौरवोंने भी पाण्डवोंकी धर्मार्थयुक्त बातें सुननेकी इच्छासे उस सुन्दर एवं विशाल राजसभामें प्रवेश किया, जो चूनेसे पुती होनेके कारण अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी। सुवर्णमय प्राङ्गण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह सभा चन्द्रमाकी श्वेत रश्मियोंके समान प्रकाशित हो रही थी। वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर थी और उसके भीतर चन्दनमिश्रित जलसे छिड़काव किया गया था ॥ ३-४ ॥

रुचिरैरासनैस्तीर्णा काञ्चनैर्दारवैरपि।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः ॥ ५ ॥

उस राजसभामें सुवर्ण, काष्ठ, मणि तथा हाथीदाँतके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आसन सुरुचिपूर्ण ढंगसे बिछे हुए थे और उनके ऊपर चादरें फैला दी गयी थीं ॥ ५ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ ६ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः।
सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम्।

भरतश्रेष्ठ ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, परम बुद्धिमान् विदुर, महारथी युयुत्सु तथा अन्य सभी शूरवीर नरेश धृतराष्ट्रको आगे करके उस सुन्दर सभामें एक साथ प्रविष्ट हुए ॥ ६-७½ ॥

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ८ ॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ९ ॥
विविशुस्तां सभां राजन् सुराः शक्रसदो यथा।

राजन् ! दुःशासन, चित्रसेन, सुबलपुत्र शकुनि, दुर्मुख, दुःसह, कर्ण, उलूक और विविंशति—**इन सबने** अमर्षमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको आगे करके उस राजसभामें ठीक वैसे ही प्रवेश किया, जैसे देवतालोग इन्द्रकी सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ८-९½ ॥

आविशद्भिस्तदा राजञ्शूरैः परिघबाहुभिः ॥ १० ॥
शुशुभे सा सभा राजन् सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जनमेजय ! उस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीर नरेशोंके प्रवेश करनेसे वह सभा उसी प्रकार शोभा पाने लगी, जैसे सिंहोंके प्रवेश करनेसे पर्वतकी कन्दरा सुशोभित होती है ॥ १०½ ॥

ते प्रविश्य महेष्वासाः सभां सर्वे महौजसः ॥ ११ ॥
आसनानि विचित्राणि भेजिरे सूर्यवर्चसः।

महान् धनुष धारण करनेवाले तथा सूर्यके समान कान्तिमान् उन समस्त महातेजस्वी नरेशोंने सभामें प्रवेश करके वहाँ बिछे हुए विचित्र आसनोंको सुशोभित किया ॥ ११½ ॥
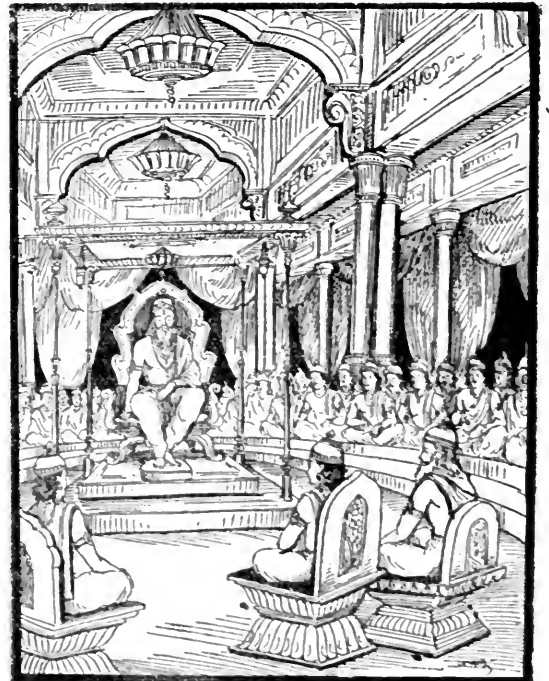
आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ॥ १२ ॥
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ।
अयं स रथ आयाति योऽयासीत् पाण्डवान् प्रति ॥ १३॥
दूतो नस्तूर्णमायातः सैन्धवैः साधुवाहिभिः ।

भारत ! जब वे सब राजा आकर यथायोग्य आसनों-पर बैठ गये, तब द्वारपालने सूचना दी कि संजय राजसभा-के द्वारपर उपस्थित हैं । यह वही रथ आ रहा है, जो पाण्डवोंके पास भेजा गया था । रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले सिन्धुदेशीय घोड़ोंसे जुते हुए इस रथपर हमारे दूत संजय शीघ्र आ पहुँचे हैं ॥ १२-१३½ ॥

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

द्वारपालके इतना कहते ही कानोंमें कुण्डल धारण किये संजय रथसे नीचे उतरकर राजसभाके निकट आया और महामना महीपालोंसे भरी हुई उस सभाके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ १४ ॥

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः ।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ॥ १५॥

संजयने कहा—कौरवो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटा हूँ । पाण्डवलोग अवस्थाक्रमके अनुसार सभी कौरवोंका अभिनन्दन करते हैं ॥

अभिवादयन्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् ।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ॥ १६ ॥

उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम कहलाया है । जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित बर्तावका संदेश दिया है तथा नवयुवकोंको भी उनकी अवस्थाके अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालापकी इच्छा प्रकट की है ॥ १६ ॥

यथाहं धृतराष्ट्रेण शिष्टः पूर्वमितो गतः ।
अब्रवं पाण्डवान् गत्वा तन्निबोधत पार्थिवाः ॥ १७ ॥
(अब्रूतां तत्र धर्मेण वासुदेवधनंजयौ ।)

पहले यहाँसे जाते समय महाराज धृतराष्ट्रने मुझे जैसा उपदेश दिया था, पाण्डवोंके पास जाकर मैंने वैसी ही बातें कही हैं । राजाओ ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो धर्मके अनुकूल उत्तर दिया है, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयप्रत्यागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

संजयका कौरवसभामें अर्जुनका संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः ।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मैं इन राजाओंके बीच तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धोंके संचालक तथा दुरात्माओंके जीवनका नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुनने हमारे लिये कौन-सा संदेश भेजा है ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥

संजय बोला—राजन् ! युधिष्ठिरकी आज्ञासे युद्धके लिये उद्यत हुए महात्मा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते-सुनते जो बात कही है, उसे दुर्योधन सुनें ॥ २ ॥
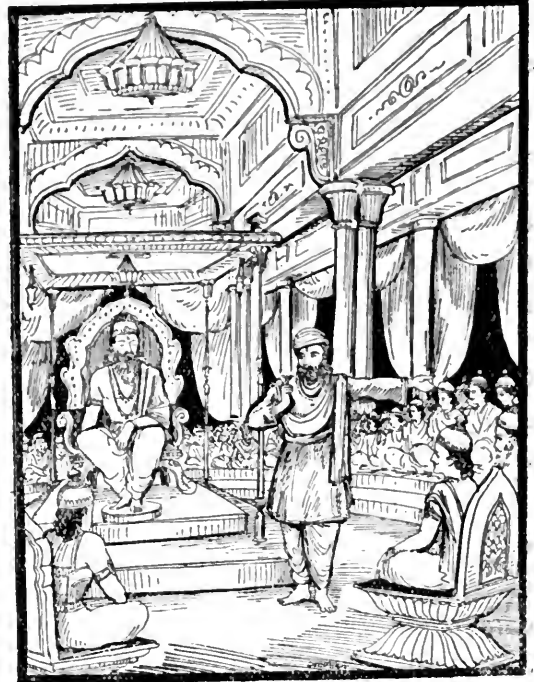
अव्यत्रस्तो बाहुवीर्यं विद्वान्
उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी
मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम्॥ ३ ॥
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै
दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत।
यो योद्धुमाशंसति मा सदैव
मन्दप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः॥ ४ ॥
ये वै राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं
सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत्॥ ५ ॥

अपने बाहुबलको अच्छी तरह जाननेवाले धीर-वीर किरीटधारी अर्जुनने भावी युद्धके लिये उद्यत हो भगवान् श्रीकृष्णके समीप मुझसे इस प्रकार कहा है—'संजय! जो कालके गालमें जानेवाला, मन्दबुद्धि एवं महामूर्ख सदा मेरे साथ युद्ध करनेके लिये डींग हाँकता रहता है, उस कटुभाषी दुरात्मा सूतपुत्र कर्णको सुनाकर तथा और भी जो-जो राजालोग पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये बुलाये गये हैं, उन सबको सुनाते हुए तुम कौरवोंकी मण्डलीमें मेरेद्वारा कही हुई सारी बातें मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहना, जिससे वह अच्छी तरह सुन ले'—॥ ३–५ ॥

यथा नूनं देवराजस्य देवाः
शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे।
तथाशृण्वन् पाण्डवाः सृंजयाश्च
किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम्॥ ६ ॥

जैसे सब देवता वज्रधारी देवराज इन्द्रकी बातें सुनना चाहते हैं, निश्चय ही उसी प्रकार समस्त सृंजय और पाण्डव अर्जुनकी मुझसे कही हुई ओजभरी बातें सुन रहे थे॥ ६॥

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो
गाण्डीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः।
न चेद् राज्यं मुञ्चति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः॥ ७ ॥
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः।

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन युद्धके लिये उत्सुक जान पड़ते थे। उनके कमलसदृश नेत्र लाल हो गये थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'यदि दुर्योधन अजमीढकुल-नन्दन महाराज युधिष्ठिरका राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना है॥ ७½ ॥

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां
तथाश्विभ्यां वासुदेवेन चैव॥ ८ ॥
शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन
धृष्टद्युम्नेनाथ शिखण्डिना च।
युधिष्ठिरेणेन्द्रकल्पेन चैव
योऽपध्यानान्निर्दहेद् गां दिवं च॥ ९ ॥

'तभी तो उनका भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी उन महाराज युधिष्ठिरके साथ युद्ध होनेवाला है, जो अनिष्टचिन्तन करते ही पृथ्वी तथा स्वर्गलोकको भी भस्म कर सकते हैं॥ ८-९ ॥

तैश्चेद् योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो
निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पाण्डवानाम्।
मा तत् कार्षीः पाण्डवस्यार्थहेतो-
रुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम्॥ १० ॥

'यदि दुर्योधन चाहता है कि इन सब वीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध हो तो ठीक है, इससे पाण्डवोंका सारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। तुम केवल पाण्डवोंके लाभके लिये संधि कराने या आधा राज्य दिलानेकी चेष्टा न करना। उस दशामें यदि ठीक समझो तो उससे कह देना—'दुर्योधन! तुम युद्धभूमिमें ही उतरो'॥ १०॥

यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्
प्रव्राजितः पाण्डवो धर्मचारी।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्था-
मन्त्यां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः॥ ११ ॥

'धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वनमें निर्वासित होकर जिस दुःखशय्यापर शयन किया है, दुर्योधन अपने प्राणोंका त्याग करके उससे भी अधिक दुःखदायिनी और अनर्थकारिणी मृत्युकी अन्तिम शय्याको ग्रहण करे॥ ११॥

ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन
शौर्येणाथो धर्मगुप्त्या धनेन।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेया-
नध्यातिष्ठेद् धार्तराष्ट्रो दुरात्मा॥ १२ ॥

'अन्यायपूर्ण बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दुर्योधनको उचित है कि वह लज्जा, ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियसंयम, शौर्य, धर्मरक्षा आदि गुणों तथा धनके द्वारा कौरव-पाण्डवोंपर अधिकार प्राप्त करे (सद्गुणोंद्वारा सबके हृदयको जीते, अन्यायसे शासन करना असम्भव है)॥ १२॥

मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां
तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन।
सत्यं ब्रुवन् प्रतिपन्नो नृपो न-
स्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम्॥ १३॥

'हमारे महाराज युधिष्ठिर नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रिय-संयम, धर्मरक्षा और बल—इन सभी गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे बहुत दिनोंसे अनेक प्रकारके क्लेश उठाते हुए भी सदा सत्य ही बोलते हैं तथा कौरवोंके कपटपूर्ण व्यवहारों तथा वचनोंको सहन करते रहते हैं ॥ १३ ॥

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम्।
अवस्रष्टा कुरुपूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥

'परंतु अपने मनको शुभ एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जिस समय उत्तेजित हो अनेक वर्षोंसे दबे हुए अपने अत्यन्त भयंकर क्रोधको कौरवोंपर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधनको पछताना पड़ेगा ॥ १४ ॥

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सब ओरसे धधक उठती और घास-फूस एवं जंगलोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधसे तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधनकी सेनाको अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर देंगे ॥ १५ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम्।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १६ ॥

'जिस समय दुर्योधन हाथमें गदा लिये रथपर बैठे हुए भयानक वेगवाले अमर्षशील पाण्डुनन्दन भीमसेनको क्रोध-रूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्धके परिणामको सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं
स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम्।
घ्नन्तं चमूमन्तकसंनिकाशं
तदा स्मर्ता वचनस्यातिमानी ॥ १७ ॥

'जब भीमसेन कवच धारण करके शत्रुपक्षके वीरोंका नाश करते हुए अपने पक्षके लोगोंके लिये भी अलक्षित हो सेनाके आगे-आगे तीव्र वेगसे बढ़ेंगे और यमराजके समान विपक्षी सेनाका संहार करने लगेंगे, उस समय अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको मेरी ये बातें याद आयेंगी ॥ १७ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान्
निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान्।
कुम्भैरिवासृग्वमतो भिन्नकुम्भां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥

'जब भीमसेन पर्वताकार प्रतीत होनेवाले बड़े-बड़े गज-राजोंको गदाके आघातसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण करके मार गिरायेंगे और वे मानो घड़ोंसे खून उँड़ेल रहे हों, इस प्रकार मस्तकसे रक्तकी धारा बहाने लगेंगे, उस समय दुर्योधन जब यह दृश्य देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा भारी पश्चात्ताप होगा ॥ १८ ॥

महासिंहो गाव इव प्रविश्य
गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहन्ता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १९ ॥

'जब भयंकर रूपधारी भीमसेन हाथमें गदा लिये तुम्हारी सेनामें घुसकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके पास जाकर उनका उसी प्रकार संहार करने लगेंगे, जैसे महान् सिंह गौओंके झुंडमें घुसकर उन्हें दबोच लेता है, तब दुर्योधनको युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ १९ ॥

महाभये वीतभयः कृतास्त्रः
समागमे शत्रुबलावमर्दी।
सकृद् रथेनाप्रतिमान् रथौघान्
पदातिसंघान् गदयाभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
शैक्येन नागांस्तरसा विगृह्णन्
यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम्।
छिन्दन् वनं परशुनेव शूर-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ २१ ॥

'जो भारी-से-भारी भय आनेपर भी निर्भय रहते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है तथा जो संग्रामभूमिमें शत्रुसेनाको रौंद डालते हैं, वे ही शूरवीर भीम-सेन जब एकमात्र रथपर आरूढ़ हो गदाके आघातसे असंख्य रथसमूहों तथा पैदल सैनिकोंको मौतके घाट उतारते और छींकोंके समान फंदोंमें बड़े-बड़े नागोंको फँसाकर मरे हुए बछड़ोंके समान उन्हें बलपूर्वक घसीटते हुए दुर्योधनकी सेनाको वैसे ही छिन्न-भिन्न करने लगेंगे, जैसे कोई फरसेसे जंगल काट रहा हो, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र मन-ही-मन यह सोचकर पछतायेगा कि मैंने युद्ध छेड़कर बड़ी भारी भूल की है ॥ २०-२१ ॥

तृणप्रशयं ज्वलनेनेव दग्धं
ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं
परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥

हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं
पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम्।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥

'जब दुर्योधन यह देखेगा कि जैसे घास-फूसके झोपड़ोंका गाँव आगसे जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र-के अन्य सभी पुत्र भीमसेनकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, मेरी विशाल वाहिनी विजलीकी आगसे जली हुई पकी खेतीके समान नष्ट हो गयी, उसके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये, सैनिकोंने पीठ दिखा दी, सभी भयसे पीड़ित हो रणभूमिसे भाग निकले, प्रायः समस्त योद्धा साहस अथवा धृष्टता खो बैठे तथा भीमसेनके अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे सब कुछ स्वाहा हो गया; उस समय उसे युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ २२-२३ ॥

उपासंगानाचरेद् दक्षिणेन
वराङ्गानां नकुलश्चित्रयोधी।
यदा रथाग्र्यो रथिनः प्रणेता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २४ ॥

'रथियोंमें श्रेष्ठ और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुल जब दाहिने हाथमें लिये हुए खड्गसे तुम्हारे सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर धरतीपर उनके ढेर लगाने लगेंगे और रथी योद्धाओंको यमलोक भेजना प्रारम्भ करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ २४ ॥

सुखोचितो दुःखशय्यां वनेषु
दीर्घं कालं नकुलो यामशेत।
आशीविषः क्रुद्ध इवोद्वमन् विषं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २५ ॥

'सुख भोगनेके योग्य वीरवर नकुलने दीर्घकालतक वनोंमें रहकर जिस दुःख-शय्यापर शयन किया है, उसका स्मरण करके जब वह क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पकी भाँति विष उगलने लगेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको युद्ध छेड़ने-के कारण पछताना पड़ेगा ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ॥ २६ ॥

'संजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा युद्धके लिये आदेश पाकर उनके लिये प्राण देनेको उद्यत रहनेवाले भूमण्डलके नरेश जब तेजस्वी रथोंपर आरूढ़ होकर कौरव-सेनापर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधनको युद्धके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

शिशून् कृतास्त्रानशिशुप्रकाशान्
यदा द्रष्टा कौरवः पञ्च शूरान्।
त्यक्त्वा प्राणान् कौरवानाद्रवन्त-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २७ ॥

'जो अवस्थामें बालक होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा पाकर युद्धमें नवयुवकोंके समान पराक्रम प्रकाशित करते हैं, द्रौपदीके वे पाँचों शूरवीर पुत्र प्राणोंका मोह छोड़-कर जब कौरव-सेनापर टूट पड़ेंगे और कुरुराज दुर्योधन जब उन्हें उस अवस्थामें देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूल-के कारण भारी पश्चात्ताप होगा ॥ २७ ॥

यदा गतोद्वाहमकूजनाक्षं
सुवर्णतारं रथमुत्तमाश्वैः।
दान्तैर्युक्तं सहदेवोऽधिरूढः
शिरांसि राज्ञां क्षेप्स्यते मार्गणौघैः ॥ २८ ॥
महाभये सम्प्रवृत्ते रथस्थं
विवर्तमानं समरे कृतास्त्रम्।
सर्वा दिशः सम्पतन्तं समीक्ष्य
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २९ ॥

'जब सहदेव उत्तम जातिके सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अपनी इच्छाके अनुकूल चलनेवाले तथा पहियोंकी धुरीसे तनिक भी आवाज न करनेवाले रथपर, जो अलातचक्रकी भाँति घूमनेके कारण सोनेके गोलाकार तारके समान प्रतीत होता है, आरूढ़ हो अपने बाणसमूहोंद्वारा विपक्षी राजाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगेंगे और इस प्रकार महान्

भयका वातावरण छा जानेपर रथपर बैठे हुए अस्त्रवेत्ता सहदेव समरभूमिमें डटे रहकर जब सभी दिशाओंमें शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस दशामें उन्हें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके मनमें युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप होगा ॥ २८-२९ ॥

ह्रीनिषेवो निपुणः सत्यवादी
महाबलः सर्वधर्मोपपन्नः।
गान्धारिमार्च्छंस्तुमुले क्षिप्रकारी
क्षेता जनान् सहदेवस्तरस्वी ॥ ३० ॥
यदा द्रष्टा द्रौपदेयान् महेषून्
शूरान् कृतास्त्रान् रथयुद्धकोविदान्।
आशीविषान् घोरविषानिवायत-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३१॥

'लज्जाशील, युद्धकुशल, सत्यवादी, महाबली, सर्वधर्म-सम्पन्न, वेगवान् तथा शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले सहदेव जब घमासान युद्धमें शकुनिपर आक्रमण करके शत्रुओंके सैनिकोंका संहार करने लगेंगे तथा जब दुर्योधन महाधनुर्धर शूरवीर अस्त्रविद्यामें निपुण तथा रथयुद्धकी कलामें कुशल द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भयंकर विषवाले विषधर सर्पोंकी भाँति आक्रमण करते देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलपर भारी पश्चात्ताप होगा ॥ ३०-३१ ॥

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन्।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२॥

'अभिमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी तथा अस्त्रविद्यामें निपुण है, वह शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेमें समर्थ है। जिस समय वह मेघके समान बाणोंकी बौछार करता हुआ शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये मन-ही-मन बहुत ही संतप्त होगा ॥ ३२ ॥

यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं
द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतन्तम्।
सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३॥

'सुभद्राकुमार अवस्थामें यद्यपि बालक है, तथापि उसका पराक्रम युवकोंके समान है। वह इन्द्रके समान शक्ति-शाली तथा अस्त्रविद्यामें पारङ्गत है। जिस समय वह शत्रु-सेनापर विकराल कालके समान आक्रमण करेगा, उस समय उसे देखकर दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ३३ ॥

प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो
विशारदाः सिंहसमानवीर्याः।
यदा क्षेतारो धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४॥

'अस्त्र-संचालनमें शीघ्रता दिखानेवाले, युद्धविशारद तथा सिंहके समान पराक्रमी प्रभद्रकदेशीय नवयुवक जब सेनासहित धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार भगायेंगे, उस समय दुर्योधनको यह सोचकर बड़ा पश्चात्ताप होगा कि मैंने क्यों युद्ध छेड़ा ? ॥ ३४ ॥

वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ
पृथक् चमूभ्यामभिवर्तमानौ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५॥

'जिस समय वृद्ध महारथी राजा विराट और द्रुपद अपनी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ आक्रमण करके सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंपर दृष्टि डालेंगे, उस समय दुर्योधनको युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ ३५ ॥

यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन्
शिरांसि यूनां समरे रथस्थः।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६॥

'जब अस्त्रविद्यामें निपुण राजा द्रुपद कुपित हो रथपर बैठकर समरभूमिमें अपने धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा विपक्षी युवकोंके मस्तकोंको चुन-चुनकर काटने लगेंगे, उस समय दुर्योधनको इस युद्धके कारण भारी पछतावा होगा ॥ ३६ ॥

यदा विराटः परवीरघाती
रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७॥

'जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा विराट सौम्य स्वरूपवाले मत्स्यदेशीय योद्धाओंको साथ लेकर रणभूमिमें शत्रु-सेनाके भीतर प्रवेश करेंगे, उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़नेका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ ३७ ॥

ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं
विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात्।
यदा द्रष्टा दंशितं पाण्डवार्थे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८॥

'सौम्य तथा श्रेष्ठ स्वरूपवाले राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र मत्स्यदेशीय महारथी श्वेतको जब दुर्योधन पाण्डवोंके हितके लिये कवच धारण किये देखेगा, तब उसे युद्धका परिणाम सोचकर मन-ही-मन बड़ा कष्ट होगा ॥ ३८ ॥

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे
शिखण्डिना सत्तमे शान्तनूजे।
न जातु नः शत्रवो धारयेयु-
रसंशयं सत्यमेतद् ब्रवीमि ॥ ३९ ॥

'कौरववंशके प्रमुख वीर शान्तनुनन्दन साधुशिरोमणि भीष्मजी जब युद्धमें शिखण्डीके हाथसे मार दिये जायँगे, उस समय हमारे शत्रु कौरव कभी हमलोगोंका वेग नहीं सह सकेंगे, यह मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

यदा शिखण्डी रथिनः प्रचिन्वन्
भीष्मं रथेनाभियाता वरूथी।
दिव्यैर्हयैरवमृद्नन् रथौघां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥४०॥

'जब शिखण्डी अपने रथकी रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न हो रथियोंको चुन-चुनकर मारता तथा दिव्य अश्वोंद्वारा रथसमूहों-को रौंदता हुआ रथारूढ़ हो भीष्मपर आक्रमण करेगा, उस समय दुर्योधनको युद्ध छिड़ जानेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ४० ॥

यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके
धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम्।
अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्
द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः॥ ४१ ॥

'जिसे परम बुद्धिमान् आचार्य द्रोणने अस्त्रविद्याके गोपनीय रहस्यकी भी शिक्षा दी है, वह धृष्टद्युम्न जब सृंजय-वंशी वीरोंकी सेनाके अग्रभागमें प्रकाशित होगा और उसे उस दशामें दुर्योधन देखेगा, तब वह अत्यन्त संतप्त हो उठेगा ॥ ४१ ॥

यदा स सेनापतिरप्रमेयः
परामृद्नन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान्।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ ४२॥

'जब शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ अपरिमित शक्ति-शाली सेनापति धृष्टद्युम्न अपने बाणोंद्वारा धृतराष्ट्रपुत्रोंको कुचलता हुआ आचार्य द्रोणपर आक्रमण करेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर दुर्योधन बहुत पछतायेगा ॥४२॥

ह्रीमान् मनीषी बलवान् मनस्वी
स लक्ष्मीवान् सोमकानां प्रबर्हः।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः॥ ४३ ॥

'सोमकवंशका वह प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न लज्जाशील, बलवान्, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा वीरोचित शोभासे सम्पन्न है। इसी प्रकार वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी वीरवर सात्यकि जिनके अगुआ हैं, उनके वेगको दूसरे शत्रु कदापि नहीं सह सकते ॥ ४३ ॥

इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके
युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम्।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं
महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम्॥ ४४ ॥

'तुम दुर्योधनसे यह भी कह देना कि अब संसारमें जीवित रहकर तुम राज्य भोगनेकी इच्छा न करो। हमने युद्धके लिये अद्वितीय वीर, महान् बलवान्, निर्भय तथा अस्त्रविद्यामें निपुण शिनिपौत्र रथारूढ़ सात्यकिको अपना सहायक चुन लिया है ॥ ४४ ॥

महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी
युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं
महारथो वीतभयः कृतास्त्रः॥ ४५ ॥

'शिनिके पौत्र महारथी सात्यकि चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं। उनकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी हैं। वे अद्वितीय वीर हैं और युद्धमें शत्रुओंको मथ डालते हैं। उन्हें उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान है। वे निर्भय तथा अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ४५ ॥

यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः
शरैः परान् मेघ इव प्रवर्षन्।
प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥४६॥

'जब मेरे कहनेसे शिनिप्रवर शत्रुमर्दन सात्यकि शत्रुओंपर मेघकी भाँति बाणोंकी झड़ी लगाते हुए मुख्य-मुख्य योद्धाओं-को आच्छादित कर देंगे, उस समय दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर बहुत पछतायेगा ॥ ४६ ॥

यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा।
सिंहस्येव गन्धमाघ्राय गावः
संवेपन्ते शत्रवोऽस्माद् रणाग्रे॥ ४७॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले दीर्घबाहु महामना सात्यकि जब युद्धके लिये उत्सुक हो समरभूमिमें डट जाते हैं, उस समय जैसे सिंहकी गन्ध पाकर गौएँ इधर-उधर भगने लगती हैं, उसी प्रकार शत्रु युद्धके मुहानेपर इनके पास आकर तुरंत भाग खड़े होते हैं ॥ ४७ ॥

स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा
भिन्द्याद् गिरीन् संहरेत् सर्वलोकान्।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो
दिवि स्थितः सूर्य इवाभिभाति ॥ ४८ ॥

'विशालबाहु, दृढ़ धनुर्धर, युद्धकुशल और हाथोंकी फुर्ती दिखानेवाले अस्त्रवेत्ता सात्यकि पर्वतोंको विदीर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। वे आकाशमें विद्यमान सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित होते हैं ॥४८॥

चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य
अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान्।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं
सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९॥

'युद्धनिपुण वीर पुरुष जैसे-जैसे अस्त्रोंके उपलब्धिको प्रशंसाके योग्य मानते हैं, उन सबसे तथा समस्त वीरोचित गुणोंसे वृष्णिसिंह सात्यकि सम्पन्न हैं। उन यदुकुलतिलकको बहुतसे उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त है। उनका वह अस्त्रयोग विचित्र, सूक्ष्म और भलीभाँति अभ्यासमें लाया हुआ है ॥ ४९ ॥

हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भि-
र्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्र-
स्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥ ५० ॥

'जब युद्धमें मधुवंशी सात्यकिके चार श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथको पापात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब उसे अवश्य संताप होगा ॥ ५० ॥

यदा रथं हेममणिप्रकाशं
श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम्।
द्रष्टा ममाप्यास्थितं केशवेन
तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥५१ ॥

'जब सुवर्ण और मणियोंसे प्रकाशित होनेवाले मेरे भयंकर रथको जिसमें चार श्वेत अश्व जुते होंगे, जिसपर वानरध्वजा फहरा रही होगी तथा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर बैठकर सारथिका कार्य सँभालते होंगे, अकृतात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब मन-ही-मन संतप्त हो उठेगा ॥ ५१ ॥

यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं
महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम्।
विधूयमानस्य महारणे मया
स गाण्डिवस्य श्रोष्यति मन्दबुद्धिः॥५२॥
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्र-
स्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षान्धकारे
प्रभज्यन्तं गोकुलवद् रणाग्रे ॥ ५३ ॥

'महान् संग्रामके समय जब मैं गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचूँगा, उस समय मेरे हाथोंकी रगड़से वज्रपातके समान अत्यन्त भयंकर आवाज होगी, मन्दबुद्धि दुर्योधन जब गाण्डीवकी उस उग्र टंकारको सुनेगा तथा रणस्थलीके अग्रभागमें मेरी बाणवर्षासे फैले हुए अन्धकारमें इधर-उधर भागती हुई गौओंकी भाँति अपनी सेनाको युद्धसे पलायन करती देखेगा, तब दुष्ट सहायकोंसे युक्त उस दुर्बुद्धि एवं मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें बड़ा संताप होगा ॥ ५२-५३ ॥

बलाहकादुच्चरतः सुभीमान्
विद्युत्स्फुलिङ्गानिव घोररूपान्।
सहस्रघ्नान् द्विषतां सङ्गरेषु
अस्थिच्छिदो मर्मभिदः सुपुङ्खान्॥५४॥
यदा द्रष्टा ज्यामुखाद् बाणसंघान्
गाण्डीवमुक्तानापततः शिताग्रान्।
हयान् गजान् वर्मिणश्चाददानां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५५॥

'मेरे गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए तीखी धारवाले सुन्दर पंखोंसे युक्त भयंकर बाणसमूह मेघसे निकली हुई अत्यन्त भयानक विद्युत्की चिनगारियोंके समान जब युद्धभूमिमें शत्रुओंपर पड़ेंगे और उनकी हड्डियोंको काटते तथा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करते हुए सहस्र-सहस्र सैनिकोंको मौतके घाट उतारने लगेंगे, साथ ही कितने ही घोड़ों, हाथियों तथा कवचधारी योद्धाओंके प्राण लेना प्रारम्भ करेंगे, उस समय जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन यह सब देखेगा, तब युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण वह बहुत पछतायेगा ॥ ५४-५५ ॥

यदा मन्दः परबाणान् विमुक्तान्
ममेषुभिर्ह्रियमाणान् प्रतीपम्।
तिर्यग्विध्याच्छिद्यमानान् पृषत्कै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५६॥

'युद्धमें दूसरे योद्धा जो बाण चलायेंगे, उन्हें मेरे बाण टक्कर लेकर पीछे लौटा देंगे। साथ ही मेरे दूसरे बाण शत्रुओंके शरसमूहको तिर्यग्भावसे विद्ध करके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जब मन्दबुद्धि दुर्योधन यह सब देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५६ ॥

यदा विपाठा मद्भुजविप्रमुक्ता
द्विजाः फलानीव महीरुहाग्रात्।
प्रचेतार उत्तमाङ्गानि यूनां
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५७॥

'जब मेरे बाहुबलसे छूटे हुए विपाठ नामक बाण युवक योद्धाओंके मस्तकोंको उसी प्रकार काट-काटकर ढेर लगाने लगेंगे, जैसे पक्षी वृक्षोंके अग्रभागसे फल गिराकर उनके ढेर लगा देते हैं, उस समय यह सब देखकर दुर्योधनको बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५७ ॥

यदा द्रष्टा पततः स्यन्दनेभ्यो
महागजेभ्योऽश्वगतान् सुयोधनान्।
शरैर्हतान् पातितांश्चैव रङ्गे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५८॥

'जब दुर्योधन देखेगा कि उसके रथोंसे, बड़े-बड़े गजोंसे और घोड़ोंकी पीठपरसे भी असंख्य योद्धा मेरे बाणोंद्वारा मारे जाकर समराङ्गणमें गिरते चले जा रहे हैं, तब उसे युद्धके लिये भारी पछतावा होगा ॥ ५८ ॥

असम्प्राप्तानस्त्रपथं परस्य
तदा द्रष्टा नश्यतो धार्तराष्ट्रान् ।
अकुर्वतः कर्म युद्धे समन्तात्
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५९॥

दुर्योधनको जब यह दिखायी देगा कि उसके दूसरे भाई शत्रुओंकी बाणवर्षाके निकट न जाकर उसे दूरसे देखकर ही अदृश्य हो रहे हैं, युद्धमें कोई पराक्रम नहीं कर पा रहे हैं; तब वह लड़ाई छेड़नेके कारण मन-ही-मन बहुत पछतायेगा ॥ ५९ ॥

पदातिसंघान् रथसंघान् समन्ताद्
व्यात्ताननः काल इवाततेषुः ।
प्रणोत्स्यामि ज्वलितैर्बाणवर्षैः
शत्रूंस्तदा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६० ॥

'जब मैं सायकोंकी अविच्छिन्न वर्षा करते हुए मुख फैलाये खड़े हुए कालकी भाँति अपने प्रज्वलित बाणोंकी बौछारोंसे शत्रुपक्षके झुंडके झुंड पैदलों तथा रथियोंके समूहोंको छिन्न-भिन्न करने लगूँगा, उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ ६० ॥

सर्वा दिशः सम्पतता रथेन
रजोध्वस्तं गाण्डिवेन प्रकृत्तम् ।
यदा द्रष्टा स्वबलं सम्प्रमूढं
तदा पश्चात् तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥६१॥

'मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र जब यह देखेगा कि सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़नेवाले मेरे रथके द्वारा उड़ायी हुई धूलिसे आच्छादित हो उसकी सारी सेना धराशायी हो रही है और मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उसके समस्त सैनिक छिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं, तब उसे बड़ा पछतावा होगा ॥ ६१ ॥

कान्दिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं
दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
हताश्ववीराग्र्यनरेन्द्रनागं
पिपासितं श्रान्तपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च
विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिश्चितं
तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६३ ॥

'दुर्योधन अपनी आँखों यह देखेगा कि उसकी सारी सेना (भयसे भागने लगी है और उस) को यह भी नहीं सूझता है कि किस दिशाकी ओर जाऊँ ? कितने ही योद्धाओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं। समस्त सैनिक अचेत हो रहे हैं। हाथी, घोड़े तथा वीराग्रगण्य नरेश मार डाले गये हैं। सारे वाहन थक गये हैं और सभी योद्धा प्यास तथा भयसे पीड़ित हो रहे हैं। बहुतेरे सैनिक आर्त स्वरसे रो रहे हैं, कितने ही मारे गये और मारे जा रहे हैं। बहुतोंके केश, अस्थि तथा कपालसमूह सब ओर बिखरे पड़े हैं। मानो विधाताका यथार्थ निश्चित विधान हो, इस प्रकार यह सब कुछ होकर ही रहेगा। यह सब देखकर उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६२-६३ ॥

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शङ्खं पाञ्चजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥६४॥

'जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन रथपर मेरे गाण्डीव धनुषको, सारथि भगवान् श्रीकृष्णको, उनके दिव्य पाञ्चजन्य शङ्खको, रथमें जुते हुए दिव्य घोड़ोंको, बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तूणीरोंको, मेरे देवदत्त नामक शंखको और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर उसे बड़ा संताप होगा ॥ ६४ ॥

उद्वर्तयन् दस्युसङ्घान् समेतान्
प्रवर्तयन् युगमन्यद् युगान्ते ।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत् कौरवेयां-
स्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥

'जिस समय युद्धके लिये एकत्र हुए इन डाकुओंके दलोंका संहार करके प्रलयकालके पश्चात् युगान्तर उपस्थित करता हुआ मैं अग्निके समान प्रज्वलित होकर कौरवोंको भस्म करने लगूँगा, उस समय पुत्रोंसहित महाराज धृतराष्ट्रको बड़ा संताप होगा ॥ ६५ ॥

सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो
भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
दर्पस्यान्ते निहतो वेपमानः
पश्चान्मन्दस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥

'सदा क्रोधके वशमें रहनेवाला अल्पबुद्धि मूढ़ दुर्योधन जब भाई, भृत्यगण तथा सेनाओंसहित ऐश्वर्यसे भ्रष्ट एवं आहत होकर काँपने लगेगा, उस समय सारा घमंड चूर-चूर हो जानेपर उसे (अपने कुकृत्योंके लिये) बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६६ ॥

पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्
विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम् ।

कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ
योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥६७॥
इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्रहस्तः
पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन्।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते
पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

'एक दिनकी बात है, मैं पूर्वाह्णकालमें संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजप करके आचमनके पश्चात् बैठा हुआ था, उस समय एक ब्राह्मणने आकर एकान्तमें मुझसे यह मधुर

वचन कहा—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है। सव्यसाचिन् ! तुम्हें अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करना होगा। बोलो, क्या चाहते हो ? इन्द्र उच्चैःश्रवा घोड़ेपर बैठकर वज्र हाथमें लिये तुम्हारे आगे आगे समरभूमिमें शत्रुओंका नाश करते हुए चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए रथपर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें' ॥ ६७-६८ ॥

वव्रे चाहं वज्रहस्तान्महेन्द्रा-
दस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम्।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो
मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर्मे ॥ ६९ ॥

'उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्रको छोड़कर इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक चुना था, इस प्रकार इन डाकुओंके वधके लिये मुझे श्रीकृष्ण मिल गये हैं। मालूम होता है, देवताओंने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है ॥ ६९ ॥

अयुद्ध्यमानो मनसापि यस्य
जयं कृष्णः पुरुषस्याभिनन्देत्।
एवं सर्वान् स व्यतीयादमित्रान्
सेन्द्रान् देवान् मानुषे नास्ति चिन्ता॥ ७०॥

'भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध न करके मनसे भी जिस पुरुषकी विजयका अभिनन्दन करेंगे, वह अपने समस्त शत्रुओंको, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है, फिर मनुष्य-शत्रुके लिये तो चिन्ता ही क्या है ? ॥

स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षे-
न्महोदधिं सलिलस्याप्रमेयम्।
तेजस्विनं कृष्णमत्यन्तशूरं
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥

'जो युद्धके द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको जीतनेकी इच्छा करता है, वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्रको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करना चाहता है ॥ ७१ ॥

गिरिं य इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं
शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम्।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्ये-
न्न चापि किंचित् स गिरेस्तु कुर्यात् ॥७२॥

'जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण श्वेत कैलास-पर्वतको हथेलीसे मारकर विदीर्ण करना चाहता है, उस मनुष्यका नखसहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह उस पर्वतका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

अग्निं समिद्धं शमयेद् भुजाभ्यां
चन्द्रं च सूर्यं च निवारयेत।
हरेद् देवानाममृतं प्रसह्य
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥

'जो युद्धके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको जीतना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्निको दोनों हाथोंसे बुझानेकी चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोकना चाहता है तथा हठपूर्वक देवताओंका अमृत हर लानेका प्रयत्न करता है ॥ ७३ ॥

यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजा-
नुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं
यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा ॥ ७४ ॥

'जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धमें भोजवंशी राजाओंको बलपूर्वक पराजित करके (रूप, सौन्दर्य और) सुयशके द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणी-

को पत्नीरूपसे ग्रहण किया, जिसके गर्भसे महामना प्रद्युम्न-का जन्म हुआ है ॥ ७४ ॥

अयं गान्धारांस्तरसा सम्प्रमथ्य
जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान्।
बद्धं मुमोच विनदन्तं प्रसह्य
सुदर्शनं वै देवतानां ललामम्॥ ७५ ॥

'इन श्रीकृष्णने ही गान्धारदेशीय योद्धाओंको अपने वेगसे कुचलकर राजा नग्नजित्के समस्त पुत्रोंको पराजित किया और वहाँ कैदमें पड़कर क्रन्दन करते हुए राजा सुदर्शनको, जो देवताओंके भी आदरणीय हैं, बन्धन-मुक्त किया ॥ ७५ ॥

अयं कपाटेन जघान पाण्ड्यं
तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द।
अनेन दग्धा वर्षपूगान् विनाथा
वाराणसी नगरी सम्बभूव ॥ ७६ ॥

'इन्होंने पाण्ड्यनरेशको किंवाड़के पल्लेसे मार डाला, भयंकर युद्धमें कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको कुचल डाला तथा इन्होंने ही काशीपुरीको इस प्रकार जलाया था कि वह बहुत वर्षोंतक अनाथ पड़ी रही ॥ ७६ ॥

अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं
तमेकलव्यं नाम निषादराजम्।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जम्भः
शेते स कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥

'ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषादराज एकलव्यको सदा युद्धके लिये ललकारा करते थे; जो दूसरोंके लिये अजेय था; परंतु वह श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये रणशय्यामें सो रहा है, ठीक उसी तरह, जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वतपर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रामें निमग्न हो गया था ॥ ७७ ॥

तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं
वृष्ण्यन्धकानां मध्यगतं सभास्थम्।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो
हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम्॥ ७८॥

'उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुष्ट था। वह जबभरी सभामें वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके बीचमें बैठा हुआ था, श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंसका वध करके इन्होंने मथुराका राज्य उग्रसेनको दे दिया ॥ ७८ ॥

अयं सौभं योधयामास खस्थं
विभीषणं मायया शाल्वराजम्।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं
दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः॥ ७९ ॥

'इन्होंने सौभ नामक विमानपर बैठे हुए तथा मायाके द्वारा अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके आये हुए आकाशमें स्थित शाल्वराजके साथ युद्ध किया और सौभ विमानके द्वार-पर लगी हुई शतघ्नीको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया था। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥ ७९ ॥

प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं
पुरं घोरमसुराणामसह्यम्।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो
जहारादित्या मणिकुण्डले शुभे ॥ ८० ॥

'असुरोंका प्राग्ज्योतिषपुर नामसे प्रसिद्ध एक भयंकर किला था, जो शत्रुओंके लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमि-पुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था, जिसने देवमाता अदितिके सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे ॥ ८० ॥

न तं देवाः सह शक्रेण शेकुः
समागता युधि मृत्योरभीताः।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य
बलं तथैवास्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
जानन्तोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य
न्ययोजयन् दस्युवधाय कृष्णम्।
स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्कर-
मैश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेवः॥ ८२ ॥

'मृत्युके भयसे रहित देवता इन्द्रके साथ उसका सामना करनेके लिये आये; परंतु नरकासुरको युद्धमें पराजित न कर सके। तब देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णके अनिवार्य बल, पराक्रम और अस्त्रको देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृतिको जानकर इन्हींसे पूर्वोक्त डाकू नरकासुरका वध करनेकी प्रार्थना की, तब समस्त कार्योंकी सिद्धिमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया ॥ ८१-८२ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा
संछिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान्।
मुरं हत्वा विनिहत्यौघरक्षो
निर्मोचनं चापि जगाम वीरः ॥ ८३ ॥

'फिर वीरवर श्रीकृष्णने निर्मोचन नगरकी सीमापर जाकर सहसा छः हजार लोहमय पाश काट दिये, जो तीखी धारवाले थे। फिर मुर दैत्यका वध और राक्षससमूहका नाश करके निर्मोचन नगरमें प्रवेश किया ॥ ८३ ॥

तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धं
महाबलेनातिबलस्य विष्णोः।
शेते स कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ ८४ ॥

'वहीं उस महाबली नरकासुरके साथ अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध हुआ। श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर वह प्राणोंसे हाथ धो बैठा और आँधीके उखाड़े हुए कनेर वृक्षकी भाँति सदाके लिये रणभूमिमें सो गया ॥८४॥

आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते
हत्वा च भौमं नरकं मुरं च।
श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान्
प्रत्याजगामाप्रतिमप्रभावः ॥ ८५ ॥

'इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् श्रीकृष्ण भूमि-पुत्र नरकासुर तथा मुरका वध करके देवी अदितिके वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँसे लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यशसे सुशोभित हो अपनी पुरीमें लौट आये ॥८५॥

अस्मै वराण्यददंस्तत्र देवा
दृष्ट्वा भीमं कर्म कृतं रणे तत्।
श्रमश्च ते युध्यमानस्य न स्या-
दाकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात् ॥८६॥
शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेर-
न्नित्येव कृष्णश्च ततः कृतार्थः।
एवंरूपे वासुदेवेऽप्रमेये
महाबले गुणसम्पत् सदैव ॥ ८७ ॥

'युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओंने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये—'केशव ! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जलमें भी आप अप्रतिहत गतिसे विचरें और आपके अङ्गोंमें कोई भी अस्त्र-शस्त्र चोट न पहुँचा सके।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये हैं। इन असीम शक्तिशाली महाबली वासुदेवमें समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है ॥ ८६-८७ ॥

तमसह्यं विष्णुमनन्तवीर्य-
माशंसते धार्तराष्ट्रो विजेतुम्।
सदा ह्येनं तर्कयते दुरात्मा
तच्चाप्ययं सहतेऽस्मान् समीक्ष्य॥८८॥

'ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय श्रीकृष्णको धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन जीत लेनेकी आशा करता है। वह दुरात्मा सदैव इनका अनिष्ट करनेके विषयमें सोचता रहता है, परंतु हमलोगोंकी ओर देखकर उसके इस अपराधको भी ये भगवान् सहते चले जा रहे हैं ॥ ८८ ॥

पर्यागतं मम कृष्णस्य चैव
यो मन्यते कलहं सम्प्रसह्य।
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वं
तद् वेदिता संयुगं तत्र गत्वा ॥ ८९ ॥

'दुर्योधन मानता है कि मुझमें और श्रीकृष्णमें हठात् कलह करा दिया जा सकता है। पाण्डवोंका श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व (अपनापन) है, उसे मिटा दिया जा सकता है; परंतु कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें पहुँचनेपर उसे इन सब बातोंका ठीक-ठीक पता चल जायगा ॥ ८९ ॥

नमस्कृत्वा शान्तनवाय राज्ञे
द्रोणायाथो सहपुत्राय चैव।
शारद्वतायाप्रतिद्वन्द्विने च
योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः॥ ९० ॥

'मैं शान्तनुनन्दन महाराज भीष्मको, आचार्य द्रोणको, गुरुभाई अश्वत्थामाको और जिनका सामना कोई नहीं कर सकता, उन वीरवर कृपाचार्यको भी प्रणाम करके राज्य पानेकी इच्छा लेकर अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ९० ॥

धर्मेणात्तं निधनं तस्य मन्ये
यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः।
मिथ्या ग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः
संवत्सरान् वै द्वादश राजपुत्राः॥९१॥

'जो पापबुद्धि मानव पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा, धर्मकी दृष्टिसे उसकी मृत्यु निकट आ गयी है, ऐसा मेरा विश्वास है। कारण कि इन क्रूर स्वभाववाले कौरवोंने हम सब लोगों-को कपटद्यूतमें जीतकर बारह वर्षोंके लिये वनमें निर्वासित कर दिया था; यद्यपि हम भी राजाके ही पुत्र थे ॥ ९१ ॥

वासः कृच्छ्रो विहितश्चाप्यरण्ये
दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम्।
ते हि कस्माज्जीवतां पाण्डवानां
नन्दिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥

'हम वनमें दीर्घकालतक बड़े कष्ट सहकर रहे हैं और एक वर्षतक हमें अज्ञातवास करना पड़ा है। ऐसी दशामें पाण्डवोंके जीते-जी वे कौरव अपने पदोंपर प्रतिष्ठित रहकर कैसे आनन्द भोगते रहेंगे ? ॥ ९२ ॥

ते चेदस्मान् युध्यमानाञ्जयेयु-
र्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयां-
स्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु॥ ९३॥

'यदि इन्द्र आदि देवताओंकी सहायता पाकर भी धृतराष्ट्र-पुत्र हमें युद्धमें जीत लेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मकी अपेक्षा पापाचारका ही महत्त्व अधिक है और संसारसे पुण्य-कर्मका अस्तित्व निश्चय ही उठ गया ॥ ९३ ॥

न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं
न चेदस्मान् मन्यतेऽसौ विशिष्टान्।

आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो
दुर्योधनं सानुबन्धं निहन्तुम् ॥ ९४ ॥

'यदि दुर्योधन मनुष्यको कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ नहीं मानता है अथवा यदि वह हमलोगोंको अपनेसे श्रेष्ठ तथा प्रबल नहीं समझता है, तो भी मैं यह आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक बनाकर मैं दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ॥ ९४ ॥

न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वन्ध्यं
न चेद् भवेत् सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाभिसमीक्ष्य नूनं
पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥

'राजन् ! यदि मनुष्यका किया हुआ यह पापकर्म निष्फल नहीं होता अथवा पुण्यकर्मोंका फल मिले बिना नहीं रहता तो मैं दुर्योधनके वर्तमान और पहलेके किये हुए पापकर्मका विचार करके निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि धृतराष्ट्रपुत्रकी पराजय अनिवार्य है और इसीमें जगत्‌की भलाई है ॥ ९५ ॥

प्रत्यक्षं वः कुरवो यद् ब्रवीमि
युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।
अन्यत्र युद्धात् कुरवो यदि स्यु-
र्न युद्धे वै शेष इहास्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥

'कौरवो ! मैं तुमलोगोंके समक्ष यह स्पष्टरूपसे बता देना चाहता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र यदि युद्धभूमिमें उतरे तो जीवित नहीं बचेंगे । कौरवोंके जीवनकी रक्षा तभी हो सकती है, जब वे युद्धसे दूर रहें । युद्ध छिड़ जानेपर तो उनमेंसे कोई भी यहाँ शेष नहीं रहेगा ॥ ९६ ॥

हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान् सकर्णान्
राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद् वः कार्यं तत् कुरुध्वं यथास्व-
मिष्टान् दारानात्मभोगान् भजध्वम् ॥ ९७ ॥

'मैं कर्णसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करके कुरुदेशका सम्पूर्ण राज्य जीत लूँगा, अतः तुम्हारा जो-जो कर्तव्य शेष हो, उसे पूरा कर लो । अपने वैभवके अनुसार प्रियतमा पत्नियोंके साथ सुख भोग लो और अपने शरीरके लिये भी जो अभीष्ट भोग हों, उनका उपभोग कर लो ॥ ९७ ॥

अप्येवं नो ब्राह्मणाः सन्ति वृद्धा
बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः ।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाभियुक्ता
नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥

'हमारे पास कितने ही ऐसे वृद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं, जो अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सुशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न, वर्षके शुभाशुभ फलोंको जाननेवाले, ज्योतिषशास्त्रके मर्मज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रोंके योगफलका निश्चितरूपसे ज्ञान रखनेवाले हैं ॥ ९८ ॥

उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं
दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महान्तं कुरुसृंजयानां
निवेदयन्ते पाण्डवानां जयं च ॥ ९९ ॥

'वे दैवसम्बन्धी उन्नति एवं अवनतिके फलदायक रहस्य बता सकते हैं । प्रश्नोंके अलौकिक ढंगसे उत्तर देते हैं, जिससे भविष्य घटनाओंका ज्ञान हो जाता है । वे शुभाशुभ फलोंका वर्णन करनेके लिये सर्वतोभद्र आदि चक्रोंका भी अनुसंधान करते हैं और मुहूर्तशास्त्रके तो वे पण्डित ही हैं । वे सब लोग निश्चितरूपसे यह निवेदन करते हैं कि कौरवों और सृंजयवंशके लोगोंका बड़ा भारी संहार होनेवाला है और इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय होगी ॥ ९९ ॥

यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः
संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाप्यपरोक्षविद्यो
न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ॥ १०० ॥

'अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर मानते हैं, मैं अपने शत्रुओंका दमन करनेमें निश्चय सफल होऊँगा । वृष्णिवंशके पराक्रमी वीर भगवान् श्रीकृष्णको भी सारी विद्याओंका अपरोक्ष ज्ञान है । वे भी हमारे इस मनोरथके सिद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं देखते हैं ॥ १०० ॥

अहं तथैवं खलु भाविरूपं
पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी
संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ॥ १०१ ॥

'मैं भी स्वयं प्रमादशून्य होकर अपनी बुद्धिसे भावीका ऐसा ही स्वरूप देखता हूँ । मेरी चिरंतन दृष्टि कभी तिरोहित नहीं होती । उसके अनुसार मैं यह निश्चितरूपसे कह सकता हूँ कि युद्धभूमिमें उतरनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र जीवित नहीं रह सकते ॥ १०१ ॥

अनालब्धं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ॥ १०२ ॥

'गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुषकी डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकससे निकलकर शत्रुओंकी ओर जानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ १०२ ॥

खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो
हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम्।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति
कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन्॥१०३॥

'चमचमाती हुई तलवार म्यानसे इस प्रकार निकल रही है, मानो सर्प अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर चमकने लगा हो तथा मेरी ध्वजापर यह भयंकर वाणी गूँजती रहती है कि अर्जुन ! तुम्हारा रथ युद्धके लिये कब जोता जायगा ॥१०३॥

गोमायुसंघाश्च नदन्ति रात्रौ
रक्षांस्यथो निष्पतन्त्यन्तरिक्षात्।
मृगाः शृगालाः शितिकण्ठाश्च काका
गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च ॥१०४॥

'रातमें गीदड़ोंके दल कोलाहल मचाते हैं, राक्षस आकाशसे पृथिवीपर टूटे पड़ते हैं तथा हिरण, सियार, मोर, कौआ, गीध, बगुला और चीते मेरे रथके समीप दौड़े आते हैं ॥

सुवर्णपत्राश्च पतन्ति पश्चाद्
दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम्।
अहं ह्येकः पार्थिवान् सर्वयोधान्
शरान् वर्षन् मृत्युलोकं नयेयम्॥१०५॥

'श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए मेरे रथको देखकर सुवर्णपत्र नामक पक्षी पीछेसे टूटे पड़ते हैं। इससे जान पड़ता है, मैं अकेला बाणोंकी वर्षा करके समस्त राजाओं और योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ १०५ ॥

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्
यथाग्निरिद्धो गहनं निदाघे।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं
ब्राह्मं चास्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे॥१०६॥

वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्
नाहं प्रजाः किंचिदिहावशिष्ये।
शान्तिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः
स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान्॥१०७॥

'जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई आग जब वनको जलाने लगती है, तब किसी भी वृक्षको बाकी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मैं शत्रुओंके वधके लिये सुसज्जित हो अस्त्रसंचालनकी विभिन्न रीतियोंका आश्रय ले स्थूणाकर्ण, महान् पाशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र तथा जिसे इन्द्रने मुझे दिया था उस इन्द्रास्त्रका भी प्रयोग करूँगा और वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके इस युद्धमें किसीको भी जीवित नहीं छोड़ूँगा। ऐसा करनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी। संजय ! तुम उनसे स्पष्ट कह देना कि मेरा यह दृढ़ और उत्तम निश्चय है ॥ १०६-१०७ ॥

ये वैजय्याः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान्।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥१०८॥

'सूत ! जो पाण्डव समरभूमिमें इन्द्र आदि समस्त देवताओंको भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवोंके साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो ॥ १०८ ॥

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान्।
एते सर्वे यद् वदन्ते तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे ॥१०९॥

'फिर भी मैं चाहता हूँ कि बूढ़े पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो। समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें' ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें अर्जुनवाक्यनिवेदनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना एवं कर्णपर आक्षेप करना, कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसका पुनः उपहास एवं द्रोणाचार्यद्वारा भीष्मजीके कथनका अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १ ॥

बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण वसवश्चाग्निना सह॥ २ ॥

आदित्याश्चैव साध्याश्च ये च सप्तर्षयो दिवि ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः शुभाश्चाप्सरसां गणाः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, बृहस्पति और शुक्राचार्य ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए । उनके साथ इन्द्रसहित मरुद्गण, अग्नि, वसुगण, आदित्य, साध्य, सप्तर्षि, विश्वावसु गन्धर्व और श्रेष्ठ अप्सराएँ भी वहाँ मौजूद थीं ॥ २-३ ॥

नमस्कृत्योपजग्मुस्ते लोकवृद्धं पितामहम् ।
परिवार्य च विश्वेशं पर्यासत दिवौकसः ॥ ४ ॥

ये सब देवता संसारके बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् उन लोकेश्वरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ४ ॥

तेषां मनश्च तेजश्चाप्याददानाविवौजसा ।
पूर्वदेवौ व्यतिक्रान्तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओजसे उन सबके चित्त और तेजका अपहरण-सा करते हुए उस स्थानको लाँघकर चले गये ॥ ५ ॥

बृहस्पतिस्तु पप्रच्छ ब्रह्माणं काविमाविति ।
भवन्तं नोपतिष्ठेते तौ नः शंस पितामह ॥ ६ ॥

यह देख बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'पितामह ! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया । हमें इनका परिचय दीजिये' ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ ॥ ७ ॥
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—बृहस्पते ! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए हमलोगोंका अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं । ये अपने तेजसे प्रज्वलित और कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं । इनका धैर्य और पराक्रम महान् है । ये अपनी तपस्यासे अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं ॥ ७-८ ॥

एतौ हि कर्मणा लोकं नन्दयामासतुर्ध्रुवम् ।
द्विधाभूतौ महाप्राज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परंतपौ ।
असुराणां विनाशाय देवगन्धर्वपूजितौ ॥ ९ ॥

इन्होंने अपने सत्कर्मोंसे निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंका आनन्द बढ़ाया है । ब्रह्मन् ! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं । इन्होंने एक होते हुए भी असुरोंका विनाश करनेके लिये दो शरीर धारण किये हैं । देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

जगाम शक्रस्तच्छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस्तपः ।
सार्धं देवगणैः सर्वैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्र बृहस्पति आदि सब देवताओंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ उन दोनों ऋषियोंने तपस्या की थी ॥ १० ॥

तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् ।
अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ॥ ११ ॥

उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओंको महान् भय प्राप्त हुआ था; अतः उन्होंने उन दोनों महात्मा नर-नारायणसे वरदान माँगा ॥ ११ ॥

तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप हमारी सहायता करें' ॥ १२ ॥

ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥

तब नर-नारायण ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह हम करेंगे ।' फिर उन दोनोंको साथ लेकर इन्द्रने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी ॥ १३ ॥

नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परंतपः।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ १४ ॥

एक समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरस्वरूप अर्जुनने युद्धमें इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखञ्ज नामक दानवोंका संहार किया ॥ १४ ॥

एष भ्रान्ते रथे तिष्ठन् भल्लेनापाहरच्छिरः।
जम्भस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ॥ १५ ॥

उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथपर बैठे हुए थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ नामक असुरका मस्तक अपने एक भल्लसे काट गिराया ॥ १५ ॥

एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत्।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे ॥ १६ ॥

इन्होंने ही संग्राममें साठ हजार निवातकवचोंको पराजित करके समुद्रके उस पार बसे हुए दैत्योंके हिरण्यपुर नामक नगरको तहस-नहस कर डाला ॥ १६ ॥

एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनो जातवेदसम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाले इन महाबाहु अर्जुनने खाण्डवदाहके समय इन्द्रसहित समस्त देवताओंको जीतकर अग्निदेवको पूर्णतः तृप्त किया था ॥ १७ ॥

नारायणस्तथैवात्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ॥ १८ ॥

इसी प्रकार नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी खाण्डवदाहके समय दूसरे बहुत-से हिंसक प्राणियोंको यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान् पराक्रमी हैं। दुर्योधन! इस समय ये दोनों एक-दूसरेसे मिल गये हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह देख और समझ लो ॥ १८ ॥

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥ १९ ॥

परस्पर मिले हुए महारथी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं; यह बात विख्यात है ॥ १९ ॥

अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥

इस मनुष्यलोकमें इन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं। परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान्।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनः पुनः ॥ २१ ॥

ये दोनों अपने सत्कर्मके प्रभावसे अक्षय एवं ध्रुवलोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

तस्मात् कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः।
एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥

दुष्टोंका दमन करके साधु पुरुषों एवं धर्मका संरक्षण ही इनका कर्तव्य है—ये सारी बातें वेदोंके ज्ञाता नारदजीने समस्त वृष्णिवंशियोंके सम्मुख कही थीं ॥ २२ ॥

शङ्खचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम्।
पर्याददानं चास्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्तासि वचनं मम ॥ २४ ॥

वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथपर बैठे हैं, श्रीकृष्णके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकारके अस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २३-२४ ॥

नोचेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥

यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझ लो, कौरवोंका विनाश अवश्य ही उपस्थित हो जायगा। तात! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनोंसे भ्रष्ट हो गयी है ॥ २५ ॥

न चेद् ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोतासि सुबहून् हतान्।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥

यदि मेरा कहना नहीं मानोगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत-से सगे-सम्बन्धी मार डाले गये; क्योंकि सब कौरव तुम्हारे ही मतका अनुसरण करते हैं ॥ २६ ॥

त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! एक तुम्हीं ऐसे हो, जो कि परशुरामजीके द्वारा अभिशप्त खोटी जातिवाले सूतपुत्र कर्ण एवं सुबलपुत्र शकुनि तथा अपने नीच एवं पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनोंके मतका अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो ॥ २७-२८ ॥

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—पितामह ! आपने मेरे प्रति जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप-जैसे वृद्ध पुरुषको ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं क्षत्रियधर्ममें स्थित हूँ और अपने धर्मसे कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ ॥ २९ ॥

किं चान्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे।
न हि मे वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रा विदुः कचित् ॥ ३० ॥
नाचरं वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः।

मुझमें कौन-सा ऐसा दुराचार है जिसके कारण आप मेरी निन्दा करते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कभी मेरा कोई पापाचार देखा या जाना हो ऐसी बात नहीं है। मैंने दुर्योधनका कभी कोई अनिष्ट नहीं किया है ॥ ३०½ ॥

अहं हि पाण्डवान् सर्वान् हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः।

मैं युद्धभूमिमें खड़े होनेपर समस्त पाण्डवोंको अवश्य मार डालूँगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः संधि कैसे की जा सकती है ? ॥ ३१½ ॥

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥

मुझे जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्रका समस्त प्रिय कार्य करना चाहिये, उसी प्रकार दुर्योधनका भी करना उचित है; क्योंकि अब वे ही राज्यपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने राजा धृतराष्ट्र-को सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा— ॥ ३३ ॥

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ३४ ॥

'राजन् ! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग हाँका करता है कि मैं पाण्डवोंको मार डालूँगा, वह व्यर्थ है। मेरी रायमें यह महात्मा पाण्डवोंकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ॥ ३४ ॥

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम्।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारे दुरात्मा पुत्रोंपर अन्यायके फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णकी ही करतूत समझो ॥ ३५ ॥

एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिंदमान् ॥ ३६ ॥

'तुम्हारे मन्दबुद्धि पुत्र दुर्योधनने इसीका सहारा लेकर शत्रुओंका दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवोंका अपमान किया है ॥ ३६ ॥

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम्।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ॥ ३७ ॥

'आजसे पहले समस्त पाण्डवोंने मिलकर अथवा उनमेंसे एक-एकने अलग-अलग जैसे-जैसे दुष्कर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा कठिन पुरुषार्थ इस सूतपुत्रने पहले कभी किया है ? ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम्।
धनंजयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ॥ ३८ ॥

'जब विराटनगरमें अर्जुनने अपना पराक्रम दिखाते हुए इसके सामने ही इसके प्यारे भाईको मार डाला था, तब इसने सब कुछ अपनी आँखोंसे देखकर भी अर्जुनका क्या बिगाड़ लिया ? ॥ ३८ ॥

सहितान् हि कुरून् सर्वानभियातो धनंजयः।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ॥ ३९ ॥

'जब धनंजयने अकेले ही समस्त कौरवोंपर आक्रमण किया और सबको मूर्छित करके उनके वस्त्र छीन लिये थे, उस समय यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था? ॥ ३९ ॥

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव।
क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ॥ ४० ॥

'घोषयात्राके समय जब गन्धर्वलोग तुम्हारे पुत्रको कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था ? जो इस समय साँड़की तरह डँकार रहा है ॥ ४० ॥

ननु तत्रापि भीमेन पार्थेन च महात्मना ।
यमाभ्यामेव संगम्य गन्धर्वास्ते पराजिताः ॥ ४१ ॥

'वहाँ भी तो महात्मा भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवने ही मिलकर उन गन्धर्वोंको परास्त किया था ॥४१॥

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ ।
विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ॥ ४२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । यह कर्ण व्यर्थ ही शेखी बघारता रहता है । इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी तरह झूठी हैं । यह तो धर्म और अर्थ—दोनोंका ही लोप करनेवाला है' ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य तु वचः श्रुत्वा भारद्वाजो महामनाः ।
धृतराष्ट्रमुवाचेदं राजमध्येऽभिपूजयन् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर महामना द्रोणाचार्यने समस्त राजाओंके मध्यमें उनकी प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप ।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर ! भरतकुलतिलक भीष्मजीने जो कहा है, वही कीजिये । जो लोग अर्थ और कामके लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिये ॥ ४४ ॥

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम् ।
यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।

'मैं तो युद्धसे पहले पाण्डवोंके साथ संधि करना ही अच्छा समझता हूँ । अर्जुनने जो बात कही है और संजयने उनका जो संदेश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ । पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे॥४५½॥

न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥

'तीनों लोकोंमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर नहीं है'।४६।

अनादृत्य तु तद् वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मकी बातें सार्थक और सारगर्भित थीं; तथापि उनकी अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजयसे पाण्डवोंका समाचार पूछने लगे ॥ ४७ ॥

तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणाचार्यसे भी अच्छी तरह वार्तालाप नहीं किया, तभी समस्त कौरव अपने जीवन-से निराश हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें भीष्मद्रोणवचनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा युधिष्ठिरके प्रधान सहायकोंका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

किमसौ पाण्डवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं नः समागताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! हमारी प्रसन्नता और सहायताके लिये यहाँ हस्तिनापुरमें बहुत-सी सेना एकत्र हो गयी है, यह समाचार सुनकर पाण्डवराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्या कहा ? ॥ १ ॥

किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वास्य भ्रातृपुत्राणां पश्यन्त्याज्ञेप्सवो मुखम्॥ २ ॥

सूत ! भविष्यमें होनेवाले युद्धके लिये उद्यत होकर राजा युधिष्ठिर कैसी तैयारी कर रहे हैं ? उनके भाइयों और पुत्रोंमेंसे कौन-कौन-से लोग उनसे किसी कार्यके लिये आज्ञा पानेकी इच्छासे उनका मुँह जोहते रहते हैं ? ॥ २ ॥

के स्विदेनं वारयन्ति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।
निकृत्या कोपितं मन्दैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता हैं और धर्मके आचरणमें सदा तत्पर रहते हैं । मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंने अपने कपटपूर्ण बर्तावसे उन्हें कुपित कर दिया है । वहाँ कौन-कौन ऐसे हैं, जो उन्हें बारंबार शान्त रहनेकी सलाह देकर युद्धसे रोकते हैं ?

संजय उवाच

राज्ञो मुखमुदीक्षन्ते पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो । पाञ्चाल और पाण्डव सभी राजा युधिष्ठिरके मुखकी ओर देखते रहते हैं और वे उन सबको विभिन्न कार्योंके लिये आज्ञा देते हैं ॥ ४ ॥

पृथग्भूताः पाण्डवानां पञ्चालानां रथव्रजाः ।
आयान्तमभिनन्दन्ति कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

जब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सामने आते हैं, तब पाण्डवों तथा पाञ्चालोंके रथसमूह पृथक्-पृथक् श्रेणियोंमें खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते हैं ॥ ५ ॥

नभः सूर्यमिवोद्यन्तं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पञ्चालाः प्रतिनन्दन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥

जैसे आकाश उदयकालमें उद्दीप्त तेजस्वी सूर्यदेवका अभिनन्दन करता है, उसी प्रकार, मानो तेजके पुञ्जका उदय होता हो इस तरह दिखायी देनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरका समस्त पाञ्चालगण अभिनन्दन करते हैं ॥ ६ ॥

आगोपालाविपालाश्च नन्दमाना युधिष्ठिरम् ।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः प्रतिनन्दन्ति पाण्डवम् ॥ ७ ॥

ग्वालिये और गड़रियोंसे लेकर पाञ्चाल, केकय और मत्स्यदेशोंके राजवंशतक सभी लोग पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका सम्मान करते हैं ॥ ७ ॥

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायान्ति पार्थं संनद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी कन्याएँ भी खेलती-खेलती युद्धके लिये सुसज्जित युधिष्ठिरको देखनेके लिये उनके पास आ जाती हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! बताओ, पाण्डवलोग धृष्टद्युम्नकी सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियोंकी विशाल वाहिनीके सिवा और किस-किसकी सहायता पाकर हमलोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हुए हैं ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

गावल्गणिस्तु तत्पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिन्तयन्निव ॥ १० ॥
तत्रानिमित्ततो दैवात् सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥
संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवोंकी सभामें राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजय बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए दीर्घकालतक गहरी चिन्तामें निमग्न-से हो गये और सहसा बिना किसी विशेष कारणके ही वे मूर्छित होकर गिर पड़े । तब विदुरजीने उस राजसभामें धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! ये संजय मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े हैं । उनकी बुद्धि और चेतना लुप्त-सी हो रही है, अतः अभी कुछ बोल नहीं सकते' ॥ १०–१२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अपश्यत् संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—निश्चय ही संजयने महारथी कुन्तीपुत्रोंको देखा है । जान पड़ता है, उन पुरुषसिंह पाण्डवोंने इसके मनको अत्यन्त उद्विग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनेमें ही संजयको चेत हो आया और वे आश्वस्त होकर कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले ॥ १४ ॥

संजय उवाच

दृष्टवानस्मि राजेन्द्र कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनावकर्शितान् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! मैंने महारथी कुन्तीपुत्रोंका दर्शन किया है । वे अज्ञातवासके समय मत्स्यनरेश विराटके घरमें छिपकर रहनेके कारण अत्यन्त दुबले हो गये हैं ॥ १५ ॥

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ १६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने जिन लोगोंकी सहायता पाकर युद्धके लिये तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ, सुनिये । पहली बात यह है कि उन्हें वीरवर धृष्टद्युम्नका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवोंने आपलोगोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी की है ॥ १६ ॥

यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाद् धर्मात्मा सत्यं जह्यात् कदाचन ॥ १७ ॥
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ १८ ॥

महाराज ! जो धर्मात्मा न रोषसे, न भयसे, न लोभसे, न अर्थके लिये और न बहाना बनाकर ही कभी सत्यका परित्याग कर सकते हैं, जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं और धर्मके विषयमें प्रमाण माने जाते हैं, उन अजातशत्रुके प्रभावसे पाण्डवोंने युद्धकी तैयारी की है ॥ १७-१८ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान् महीपालान् वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ॥ १९ ॥
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।

बाहुबलमें जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है, जिन्होंने केवल धनुष धारण करके युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध और कलिङ्ग आदि देशोंके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया था, उन भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया है ॥ १९½ ॥

यस्य वीर्येण सहसा चत्वारो भुवि पाण्डवाः ॥ २० ॥
निःसृत्य जतुगेहाद् वै हिडिम्बात् पुरुषादकात्।
यश्चैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २१ ॥
याज्ञसेनीमथो यत्र सिन्धुराजोऽपकृष्टवान्।
तत्रैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २२ ॥
यश्च तान् संगतान् सर्वान् पाण्डवान् वारणावते।
दह्यतो मोचयामास तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ २३ ॥

जिनके बल और पराक्रमसे चारों पाण्डव सहसा लाक्षाभवनसे निकलकर इस पृथ्वीपर जीवित बच गये, जिन्होंने मनुष्यभक्षी राक्षस हिडिम्बसे अपने भाइयोंकी रक्षा की, उस संकटके समय जो कुन्तीकुमार भीम इन पाण्डवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हो गये, जब सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी जिन कुन्तीकुमार वृकोदरने उन सबको द्वीपकी भाँति आश्रय दिया था तथा जिन्होंने वारणावत नगरमें एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंको लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बचा लिया था, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंके साथ युद्धकी तैयारी की है ॥ २०-२३ ॥

कृष्णायां चरता प्रीतिं येन क्रोधवशा हताः।
प्रविश्य विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २४ ॥
यस्य नागायुतैर्वीर्यं भुजयोः सारमर्पितम्।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २५ ॥

जिन्होंने द्रौपदीपर अपना प्रेम जताते हुए अत्यन्त दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतकी भूमिमें प्रवेश करके क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मार डाला, जिनकी दोनों भुजाओंमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणका उद्योग किया है ॥ २४-२५ ॥

कृष्णद्वितीयो विक्रम्य तुष्ट्यर्थं जातवेदसः।
अजयद् यः पुरा वीरो युध्यमानं पुरंदरम् ॥ २६ ॥
यः स साक्षान्महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम्।
तोषयामास युद्धेन देवदेवमुमापतिम् ॥ २७ ॥
यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः।
तेन वो विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २८ ॥

जिन वीरशिरोमणिने पहले केवल भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाकर अग्निदेवकी तृप्तिके लिये पराक्रम करके अपने साथ युद्ध करनेवाले देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया, जिन्होंने युद्धके द्वारा पर्वतपर शयन करनेवाले तथा हाथोंमें त्रिशूल लिये रहनेवाले साक्षात् देवाधिदेव महादेव उमापतिको भी संतुष्ट किया था तथा जिन धनुर्धर वीरने समस्त लोकपालोंको भी हराकर अपने वशमें कर लिया, उन्हीं अर्जुनके बलपर पाण्डवलोग युद्धमें आपलोगोंसे भिड़नेको तैयार हैं ॥ २६-२८ ॥

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम्।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तेन वो दर्शनीयेन वीरेणातिधनुर्भृता।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छोंसे भरी हुई पश्चिम दिशाको जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेमें कुशल योद्धा नकुल उधरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं। माद्रीकुमार नकुल महान् धनुर्धर और अत्यन्त दर्शनीय वीर हैं। उनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणकी तैयारी की है ॥ २९-३० ॥

यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत्।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३१ ॥

जिन्होंने युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध तथा कलिङ्गदेशके राजाओंको पराजित किया है, उन वीरवर सहदेवके बलसे पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेके लिये तैयार हुए हैं ॥ ३१ ॥

यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन् महात्ययम्।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनन्दिकरेण च ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस भूमण्डलमें अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी तथा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही बल और पराक्रममें जिनकी समानता कर सकते हैं, जो माद्रीको आनन्द प्रदान करनेवाले तथा पाण्डवोंमें सबसे छोटे हैं, उन नरश्रेष्ठ वीर सहदेवके साथ आपलोगोंका महान् विनाशकारी युद्ध होनेवाला है ॥

तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती।
भीष्मस्य वधमिच्छन्ती प्रेत्यापि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
पाञ्चालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान्।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्र यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें काशिराजकी जिस सती-साध्वी कन्या अम्बाने भीष्मजीके वधकी इच्छासे घोर तपस्याकी थी, वही मृत्युके पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपदकी पुत्री होकर उत्पन्न हुई, परंतु दैववश वह फिर पुरुष हो गयी। वह वीर पाञ्चालकुमार स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण और अवगुणको जानता है ॥ ३४-३५ ॥

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ॥ ३६ ॥

कौरवो ! वह द्रुपदकुमार युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसीने कलिङ्गदेशीय क्षत्रियोंको पराजित किया था। उस अस्त्रवेत्ता वीरका नाम शिखण्डी है, जिसके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३६ ॥

यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया।
महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३७ ॥

जिसे स्थूणाकर्ण यक्षने पुरुष बना दिया था, भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले उस भयंकर एवं महाधनुर्धर शिखण्डीके बलपर पाण्डव आपसे युद्ध करनेको तैयार हैं ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ३८ ॥

केकयदेशके पाँच राजकुमार जो परस्पर भाई हैं, सदा कवच बाँधे युद्धके लिये उद्यत रहते हैं। वे महान् धनुर्धर शूरवीर हैं। उनके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३८ ॥

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रतासे अस्त्र-संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्यपराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकिके साथ आपलोगोंका संग्राम होनेवाला है ॥

य आसीच्छरणं काले पाण्डवानां महात्मनाम्।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥

जो अज्ञातवासके समय महात्मा पाण्डवोंके आश्रयदाता थे, उन राजा विराटके साथ भी आपलोगोंका युद्ध होगा ॥

यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः।
स तेषामभवद् योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४१ ॥

काशिदेशके अधिपति महारथी नरेश जो वाराणसीपुरीमें रहते हैं, पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करनेको तैयार हैं। उनको साथ लेकर पाण्डव आपलोगोंपर आक्रमण करनेके लिये तैयार हैं ॥ ४१ ॥

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४२ ॥

द्रौपदीके महामना पुत्र देखनेमें बालक होनेपर भी समर-भूमिमें दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पोंको छू लेनेके समान है। उनके बलपर भी पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेकी तैयारी कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४३ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्णके समान और इन्द्रिय-संयममें युधिष्ठिरके तुल्य हैं, उन अभिमन्युको साथ लेकर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ४३ ॥

यश्चैवाप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
तेन वश्चेदिराजेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत।
अक्षौहिण्या परिवृतः पाण्डवान् योऽभिसंश्रितः॥ ४५ ॥

जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, शिशुपालका वह महारथी पुत्र महायशस्वी धृष्टकेतु समरभूमिमें कुपित होनेपर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठता है। उस चेदिराजके साथ पाण्डवलोग आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं। उसने एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आकर पाण्डवोंका पक्ष ग्रहण किया है ॥ ४४-४५ ॥

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४६ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवोंको शरण देनेवाले हैं, उन भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवोंने आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी की है ॥ ४६ ॥

तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ।
करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! चेदिराजके भाई शरभ (अपने अनुज) करकर्षके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं। उन दोनोंको साथ लेकर उन्होंने आपसे युद्ध करनेका उद्योग किया है ॥

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ।
युद्धेऽप्रतिरथौ वीरौ पाण्डवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥

जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन दोनों युद्धमें अपना सानी नहीं रखते हैं। वे दोनों मागध वीर पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर डटे हुए हैं ॥ ४८ ॥

द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः।
त्यक्तात्मा पाण्डवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः॥ ४९ ॥

महातेजस्वी राजा द्रुपद विशाल सेनाके साथ आये हैं और पाण्डवोंके लिये अपने शरीर और प्राणोंकी परवा न करके युद्ध करनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४९ ॥

एते चान्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर दिशाओंमें रहनेवाले नरेश सैकड़ोंकी संख्यामें आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्धके लिये तैयार हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके पराक्रमसे डरे हुए धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः ।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने जिन लोगोंके नाम बताये हैं, ये सभी बड़े उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक ओर और भीमसेन एक ओर ॥

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत् ।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः ॥ २ ॥

तात ! मुझे क्रोधमें भरे हुए अमर्षशील भीमसेनसे बड़ा डर लगता है; ठीक उसी तरह, जैसे महान् मृगको किसी व्याघ्रसे सदा भय बना रहता है ॥ २ ॥

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः ॥ ३ ॥

वत्स ! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लंबी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ ॥ ३ ॥

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः ।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥ ४ ॥

महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेनामें किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो भीमका सामना कर सके—युद्धमें इसके वेगको सह सके ॥ ४ ॥

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः ।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः ॥ ५ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेवाला है। उसकी की हुई हँसी भी हँसीके लिये नहीं होती, वह उसे सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाहसे देखता और बड़े जोरसे गर्जना करता है ॥ ५ ॥

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ६ ॥

वह महान् वेगशाली, अत्यन्त उत्साही, विशालबाहु और महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंको अवश्य मार डालेगा ॥ ६ ॥

ऊरुग्राहगृहीतानां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
कुरूणामृषभो युद्धे दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ७ ॥

मेरे पुत्र भी बड़े दुराग्रही हैं; अतः हाथमें गदा लिये कुरुश्रेष्ठ वृकोदर भीम दण्डपाणि यमराजकी भाँति युद्धमें इनका निश्चय ही वध कर डालेगा ॥ ७ ॥

अष्टास्रिमायसीं घोरां गदां काञ्चनभूषणाम् ।
मनसाहं प्रपश्यामि ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ ८ ॥

मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, भीमसेनकी स्वर्णभूषित भयंकर गदा, जो लोहेकी बनी हुई और आठ कोनोंसे युक्त है, ब्रह्मदण्डके समान उठी हुई है ॥ ८ ॥

यथा मृगाणां यूथेषु सिंहो जातबलश्चरेत् ।
मामकेषु तथा भीमो बलेषु विचरिष्यति ॥ ९ ॥

जैसे बलवान् सिंह मृगोंके यूथोंमें निःशङ्क विचरण करता है, उसी प्रकार भीमसेन मेरी विशाल वाहिनियोंमें बेखटके विचरेगा ॥ ९ ॥

सर्वेषां मम पुत्राणां स एकः क्रूरविक्रमः ।
बह्वाशी विप्रतीपश्च बाल्येऽपि रभसः सदा ॥ १० ॥

बाल्यकालमें भी मेरे सब पुत्रोंमें एकमात्र वह भीमसेन ही क्रूर पराक्रमी, बहुत अधिक खानेवाला, सबके प्रतिकूल चलनेवाला तथा सदा अत्यन्त वेगशाली था ॥ १० ॥

उद्वेपते मे हृदयं ये मे दुर्योधनादयः ।
बाल्येऽपि तेन युध्यन्तो वारणेनेव मर्दिताः ॥ ११ ॥

उसकी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है। मेरे दुर्योधन आदि पुत्र बचपनमें भी जब उसके साथ खेल-कूदमें लड़ते थे, तब वह गजराजकी भाँति इन सबको मसल देता था ॥

तस्य वीर्येण संक्लिष्टा नित्यमेव सुता मम।
स एव हेतुर्भेदस्य भीमो भीमपराक्रमः ॥ १२॥

मेरे पुत्र उसके बल-पराक्रमसे सदा ही कष्टमें पड़े रहते थे। भयंकर पराक्रमी भीमसेन ही इस फूटकी जड़ है ॥१२॥

ग्रसमानमनीकानि नरवारणवाजिनाम्।
पश्यामीवाग्रतो भीमं क्रोधमूर्च्छितमाहवे ॥ १३ ॥

मुझे अपने सामने दीख-सा रहा है कि भीमसेन युद्धमें क्रोधसे मूर्छित हो मनुष्य, हाथी और घोड़ोंकी (समस्त) सेनाओंको कालका ग्रास बनाता जा रहा है ॥ १३ ॥

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ॥ १४ ॥

वह अस्त्रविद्यामें द्रोणाचार्य तथा अर्जुनके समान है, वेगमें वायुकी समानता करता है एवं क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है ? ॥ १४ ॥

संजयाचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम्।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत् तेन रिपुघातिना॥ १५ ॥
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना ।

संजय ! मुझे अमर्षमें भरे हुए शूरवीर भीमसेनका समाचार सुनाओ। मैं तो यही सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ कि उस शत्रुघाती मनस्वी वीरने (जब द्यूतक्रीड़ा हो रही थी) उसी समय मेरे सब पुत्रोंको नहीं मार डाला ॥ १५½ ॥

येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः ॥ १६ ॥
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति।

जिसने पूर्वकालमें भयंकर बलशाली यक्षों तथा राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सह सकेगा ?॥१६½ ॥

न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ॥ १७॥
किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः सम्प्रति पाण्डवः ।

संजय ! पाण्डुकुमार भीमसेन बचपनमें भी कभी मेरे वशमें नहीं रहा; फिर जब मेरे दुष्ट पुत्रोंने उसे बार-बार कष्ट दिया है, तब वह इस समय मेरे वशमें कैसे हो सकता है ?॥१७½

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत्।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः॥ १८ ॥

वह क्रूर और क्रोधी है। टूट भले ही जाय, पर झुक नहीं सकेगा। सदा टेढ़ी निगाहसे ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोधके कारण परस्पर गुँथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा ? ॥ १८ ॥

शूरस्तथाप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः।
प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात् ॥ १९ ॥

गोरे रंगका वह शूरवीर भीमसेन ताड़के समान ऊँचा है। ऊँचाईमें वह अर्जुनसे एक बित्ता अधिक है, बलमें उसकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १९ ॥

जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनात्येति कुञ्जरान्।
अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २० ॥

वह स्पष्ट नहीं बोलता। उसकी आँखें सदा मधुके समान पिङ्गल वर्णकी दिखायी देती हैं। वह महाबली मध्यम पाण्डव अपने वेगसे घोड़ोंको भी लाँघ सकता है और बलसे हाथियों-को भी पराजित कर सकता है ॥ २० ॥

इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात् पुरा।
रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पाण्डवः ॥ २१ ॥

मैंने बाल्यकालमें ही व्यासजीके मुखसे पहले इस पाण्डुपुत्रके अद्भुत रूप और पराक्रमका यथार्थ वर्णन सुना था ॥ २१ ॥

आयसेन स दण्डेन रथान् नागान् नरान् हयान्।
हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः ॥ २२ ॥

निष्ठुर पराक्रम प्रकट करनेवाला यह भयंकर भीमसेन समरभूमिमें कुपित होकर लौहदंडसे मेरे रथों, हाथियों, पैदल मनुष्यों और घोड़ोंका भी संहार कर डालेगा ॥ २२ ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः।
मया तात प्रतीपानि कुर्वन् पूर्वं विमानितः ॥ २३ ॥

तात संजय ! सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला अमर्षशील भीमसेन प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सबसे श्रेष्ठ है। मेरे पुत्रोंके प्रतिकूल आचरण करते समय मैंने पहले कई बार उसका अपमान किया है ॥ २३ ॥

निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां काञ्चनीं गदाम्।
शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥२४॥

उसकी लोहेकी गदा सीधी, मोटी, सुन्दर पार्श्वभागवाली और सुवर्णसे विभूषित है, वह शत-शत वज्रपातके समान बड़े जोरसे आवाज करती और एक ही चोटमें सैकड़ोंको मार डालती है। मेरे बेटे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥२४॥

अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेगिनम्।
भीमसेनमयं दुर्गं तात मन्दास्तितीर्षवः॥ २५ ॥

तात ! भीमसेन एक दुर्गम अपार समुद्र है, इसे पार करनेके लिये न तो कोई नौका है और न इसकी कहीं थाह ही है; बाण ही इसका वेग है, मेरे मूर्ख पुत्र इस भीमसेन-मय दुर्गम समुद्रको पार करना चाहते हैं ॥२५ ॥

क्रोशतो मे न शृण्वन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
विषमं न हि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः ॥२६॥

मैं चीखता-चिल्लाता रह जाता हूँ, परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख पुत्र मेरी बात नहीं सुनते हैं। ये केवल

वृक्षकी ऊँची शाखामें लगे हुए शहदको देखते हैं, वहाँसे गिरनेका जो भयानक खटका है, उसकी ओर इनका ध्यान नहीं है ॥ २६ ॥

संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना ।
नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥

जैसे महान् मृग सिंहसे भिड़ जायँ, उसी प्रकार जो लोग उस मनुष्यरूपी यमराजके साथ लड़नेके लिये युद्धभूमिमें उतरेंगे, उन्हें विधाताने ही मृत्युके लिये प्रेरित करके भेजा है, ऐसा मानना चाहिये ॥ २७ ॥

शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम् ।
प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥ २८॥

तात संजय ! भीमसेनकी गदा छींकेपर रखने योग्य, चार हाथ लंबी और छः कोणोंसे विभूषित है । उस अत्यन्त तेजस्विनी गदाका स्पर्श भी दुःखदायक है । जब भीम उसे मेरे पुत्रोंपर चलायेगा, तब वे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥ २८ ॥

गदां भ्रामयतस्तस्य भिन्दतो हस्तिमस्तकान् ।
सृक्किणी लेलिहानस्य बाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
उद्दिश्य नागान् पततः कुर्वतो भैरवान् रवान् ।
प्रतीपं पततो मत्तान् कुञ्जरान् प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥

भीमसेन जब क्रोधजनित आँसू बहाता और बारंबार अपने ओष्ठप्रान्तको चाटता हुआ गदा घुमा-घुमाकर हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करने लगेगा, सामने भयंकर गर्जना करनेवाले गजराजोंको लक्ष्य करके उनकी ओर दौड़ेगा, प्रतिकूल दिशाकी ओर भागनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंकी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी सिंहनाद करेगा और मेरे रथियोंकी सेनाओंमें घुसकर श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारने लगेगा, उस समय अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले भीमके हाथसे मेरे पुत्र कैसे जीवित बचेंगे ? ॥ २९–३१ ॥

वीथीं कुर्वन् महाबाहुर्द्रावयन् मम वाहिनीम् ।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगान्तं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥

महाबाहु भीम मेरी सेनामें घुसकर अपने रथके लिये रास्ता बनाता, मेरी विशाल वाहिनीको खदेड़ता और हाथमें गदा लिये नृत्य-सा करता हुआ जब आगे बढ़ेगा, तब प्रलयकालका दृश्य उपस्थित कर देगा ॥ ३२ ॥

प्रभिन्न इव मातङ्गः प्रभञ्जन् पुष्पितान् द्रुमान् ।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी फूले हुए वृक्षोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन समरभूमिमें मेरे पुत्रोंकी सेनाके भीतर प्रवेश करेगा ॥ ३३ ॥

कुर्वन् रथान् विपुरुषान् विसारथिहयध्वजान् ।
आरुजन् पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४ ॥
गङ्गावेग इवानूपांस्तीरजान् विविधान् द्रुमान् ।
प्रभङ्क्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! वह पुरुषसिंह भीम रथोंको रथी, सारथि, अश्व तथा ध्वजाओंसे शून्य कर देगा एवं रथियों और घुड़सवारोंके अङ्ग-भङ्ग कर डालेगा । जैसे गङ्गाजीका बढ़ता हुआ वेग जलमय प्रदेशमें स्थित हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम युद्धभूमिमें आकर मेरे पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ३४-३५ ॥

दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥

संजय ! निश्चय ही भीमसेनके भयसे पीडित हो मेरे पुत्र, सेवक तथा सहायक नरेश विभिन्न दिशाओंमें भाग जायँगे ॥ ३६ ॥

येन राजा महावीर्यः प्रविश्यान्तःपुरं पुरा ।
वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।
मागधेन्द्रेण बलिना वशे कृत्वा प्रतापिता ॥ ३८ ॥

परम बुद्धिमान् और बलवान् महाबली मगधराज जरासंधने यह सारी पृथिवी अपने वशमें करके इसे पीड़ा देना प्रारम्भ किया था, परंतु भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसके अन्तःपुरमें जाकर उस महापराक्रमी नरेशको मार गिराया ॥ ३७-३८ ॥

भीष्मप्रतापात् कुरवो नयेनान्धकवृष्णयः ।
यन्न तस्य वशे जग्मुः केवलं दैवमेव तत् ॥ ३९ ॥

भीष्मजीके प्रतापसे कुरुवंशी और नीतिबलसे अंधक-वृष्णिवंशके लोग जो जरासंधके वशमें नहीं पड़े, वह केवल दैवयोग था ॥ ३९ ॥

स गत्वा पाण्डुपुत्रेण तरसा बाहुशालिना ।
अनायुधेन वीरेण निहतः किं ततोऽधिकम् ॥ ४० ॥

परंतु अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वीर पाण्डुपुत्र भीमने वेगपूर्वक वहाँ जाकर बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके ही उस जरासंधको यमलोक पहुँचा दिया, इससे बढ़कर पराक्रम और क्या होगा ? ॥ ४० ॥

दीर्घकालसमासक्तं विषमाशीविषो यथा ।
स मोक्ष्यति रणे तेजः पुत्रेषु मम संजय ॥ ४१ ॥

संजय ! जैसे विषधर सर्प बहुत दिनोंसे संचित किये हुए विषको किसीपर उगलता है, उसी प्रकार भीमसेन भी

धृतराष्ट्रकी सभामें संजय पाण्डवोंका संदेश सुना रहे हैं
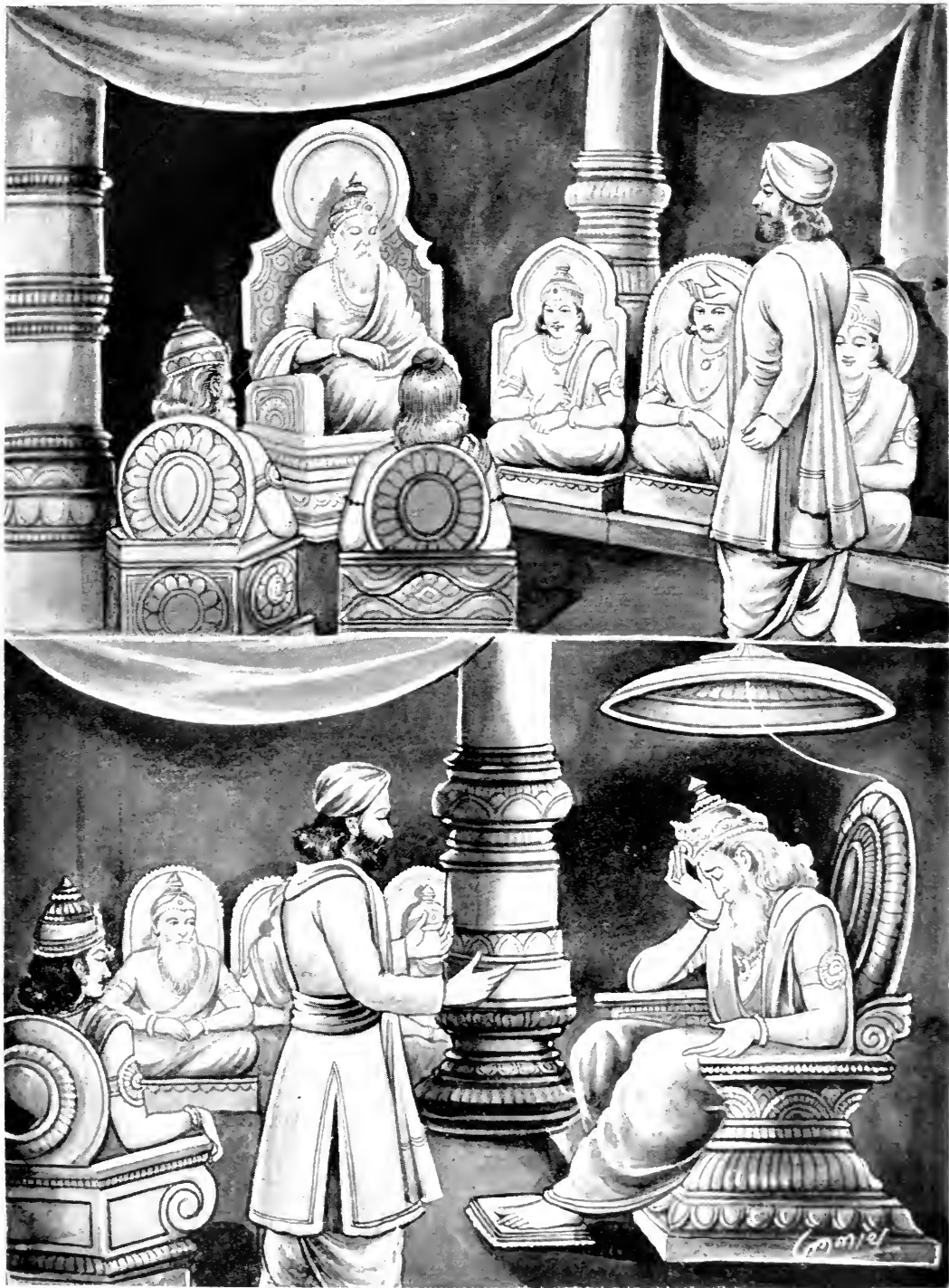
भीमसेनका बल बखानते हुए धृतराष्ट्रका विलाप

दीर्घकालसे संचित अपने तेजको रणभूमिमें मेरे पुत्रोंपर छोड़ेगा ॥ ४१ ॥

महेन्द्र इव वज्रेण दानवान् देवसत्तमः।
भीमसेनो गदापाणिः सूदयिष्यति मे सुतान् ॥ ४२ ॥

जैसे देवश्रेष्ठ इन्द्र वज्रसे दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार हाथमें गदा लिये भीमसेन मेरे पुत्रोंका संहार कर डालेगा ॥ ४२ ॥

अविषह्यमनावार्यं तीव्रवेगपराक्रमम्।
पश्यामीवातिताम्राक्षमापतन्तं वृकोदरम् ॥ ४३ ॥

उसका आक्रमण दुःसह है। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। उसका वेग और पराक्रम तीव्र है। मैं प्रत्यक्ष देख-सा रहा हूँ कि वह भीम क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें किये इधर ही दौड़ा आ रहा है ॥ ४३ ॥

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः।
बाहुभ्यां युद्ध्यमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ॥ ४४ ॥

यदि वह गदा, धनुष, रथ और कवचको छोड़कर केवल दोनों भुजाओंसे युद्ध करे तो भी उसके सामने कौन पुरुष ठहर सकता है? ॥ ४४ ॥

भीष्मो द्रोणश्च विप्रोऽयं कृपः शारद्वतस्तथा।
जानन्त्येते यथैवाहं वीर्यज्ञस्तस्य धीमतः ॥ ४५ ॥

उस बुद्धिमान् भीमके बल और पराक्रमको जैसे मैं जानता हूँ, उसी प्रकार ये भीष्म, विप्रवर द्रोणाचार्य तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृप भी जानते हैं ॥ ४५ ॥

आर्यव्रतं तु जानन्तः संगरान्तं विधित्सवः।
सेनामुखेषु स्थास्यन्ति मामकानां नरर्षभाः ॥ ४६ ॥

तथापि ये नरश्रेष्ठ शिष्ट पुरुषोंके व्रतको जानते हैं, इसलिये युद्धमें प्राणत्याग करनेकी इच्छासे मेरे पुत्रोंकी सेनाके अग्र-भागमें डटे रहेंगे ॥ ४६ ॥

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत् सुतान् ॥ ४७ ॥

पुरुषका भाग्य ही सबसे विशेष प्रबल है; क्योंकि मैं पाण्डवोंकी विजय समझकर भी अपने पुत्रोंको रोक नहीं पाता हूँ॥

ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः।
त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः॥ ४८ ॥

वे महाधनुर्धर भीष्म आदि पुरातन स्वर्गीय मार्गका आश्रय ले पार्थिव यशकी रक्षा करते हुए घमासान युद्धमें अपने प्राण त्याग देंगे ॥ ४८ ॥

यथैषां मामकास्तात तथैषां पाण्डवा अपि।
पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥

तात! इनके लिये जैसे मेरे पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं। दोनों ही भीष्मके पौत्र तथा द्रोण और कृपके शिष्य हैं॥

यदस्मदाश्रयं किंचिद् दत्तमिष्टं च संजय।
तस्यापचितिमार्यत्वात् कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥

संजय! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य—ये तीनों वृद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारे आश्रयमें रहकर इन्होंने जो कुछ भी दान यज्ञ आदि किया है, ये उसका बदला चुकायेंगे (युद्धमें दुर्योधनका ही साथ देंगे) ॥ ५० ॥

आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः।
निधनं क्षत्रियस्याजौ वरमेवाहुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो अस्त्र-शस्त्र धारण करके क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहता है, उस क्षत्रियके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्युको ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है ॥ ५१ ॥

स वै शोचामि सर्वान् वै ये युयुत्सन्ति पाण्डवैः।
विक्रुष्टं विदुरेणादौ तदेतद् भयमागतम् ॥ ५२ ॥

जो लोग पाण्डवोंसे युद्ध करना चाहते हैं, उन सबके लिये मुझे बड़ा शोक हो रहा है। विदुरने पहले ही उच्च स्वरसे जिसकी घोषणा की थी, वही यह भय आज आ पहुँचा है॥

न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय।
भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥

संजय! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान दुःखका नाश नहीं कर सकता; अपितु प्रबल दुःख ही ज्ञानका भी नाश करनेवाला बन जाता है ॥ ५३ ॥

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान्।
सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त महर्षि भी लोकव्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर सुखके साधनोंसे सुखी और दुःखसे दुखी होते हैं ॥ ५४ ॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा।
पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बन्धुषु ॥ ५५ ॥

फिर जो पुत्र, राज्य, पत्नी, पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंमें जहाँ-तहाँ सहस्रों प्रकारसे मोहवश आसक्त हो रहा है, उसकी तो बात ही क्या है? ॥ ५५ ॥

संशये तु महत्यस्मिन् किं नु मे क्षममुत्तरम्।
विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिन्तयन् ॥ ५६ ॥

इस महान् संकटके विषयमें मैं क्या उचित प्रतीकार कर सकता हूँ? मुझे तो बार-बार विचार करनेपर कौरवोंका विनाश ही दिखायी पड़ता है ॥ ५६ ॥

द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत्।
मन्देनैश्वर्यकामेन लोभात् पापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥

द्यूतक्रीड़ा आदिकी घटनाएँ ही कौरवोंपर भारी विपत्ति लानेका कारण प्रतीत होती हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले मूर्ख दुर्योधनने लोभवश यह पाप किया है ॥ ५७ ॥

मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्यात्यन्तगामिनः।
चक्रे प्रधिरिवासक्तो नास्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥

मैं समझता हूँ कि अत्यन्त तीव्र गतिसे चलनेवाले कालका ही यह क्रमशः प्राप्त होनेवाला नियम है। इस कालचक्रमें उसकी नेमिके समान मैं जुड़ा हुआ हूँ, अतः मेरे लिये इससे दूर भागना सम्भव नहीं है ॥ ५८ ॥

किंनु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥

संजय ! क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव कालके वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं ॥ ५९ ॥

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥

तात ! मेरे सौ पुत्र यदि युद्धमें मारे गये, तब विवश होकर मैं इनकी अनाथ स्त्रियोंका करुण क्रन्दन सुनूँगा। हाय ! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है ? ॥ ६० ॥

यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो
दहेत् कक्षं वायुना चोद्यमानः।
गदाहस्तः पाण्डवो वै तथैव
हन्ता मदीयान् सहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई अग्नि हवाका सहारा पाकर घास-फूस एवं जंगलको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनसहित पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर मेरे सब पुत्रोंको मार डालेगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा अर्जुनसे प्राप्त होनेवाले भयका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जिनके मुँहसे कभी कोई झूठ बात निकलती हमने नहीं सुनी है तथा जिनके पक्षमें धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरको (भूमण्डलका कौन कहे,) तीनों लोकोंका राज्य भी प्राप्त हो सकता है ॥ १ ॥

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ॥ २ ॥

मैं निरन्तर सोचने विचारनेपर भी युद्धमें गाण्डीवधारी अर्जुनका ही सामना करनेवाले किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो रथपर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके ॥ २ ॥

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः ॥ ३ ॥

जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते हैं, उन गाण्डीवधन्वा अर्जुनका युद्धमें सामना करनेवाला कोई भी समकक्ष योद्धा नहीं है ॥ ३ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
महान् स्यात् संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥

यदि बलवानोंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् तथा युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले, मनुष्योंमें अग्रगण्य वीरवर द्रोणाचार्य और कर्ण अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ें तो भी मुझे अर्जुनपर विजय प्राप्त होनेमें महान् संदेह रहेगा। मैं तो देखता हूँ मेरी विजय होगी ही नहीं, क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और आचार्य द्रोण वृद्ध होनेके साथ ही अर्जुनके गुरु हैं ॥ ४-५ ॥

समर्थो बलवान् पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः।
भवेत् सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन समर्थ और बलवान् हैं। उनका धनुष भी सुदृढ़ है। वे आलस्य और थकावटको जीत चुके हैं, अतः उनके साथ जो अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ेगा, उसमें सब प्रकारसे उनकी ही विजय होगी ॥ ६ ॥

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥

समस्त पाण्डव अस्त्रविद्याके ज्ञाता, शूरवीर तथा महान् यशको प्राप्त हैं। वे समस्त देवताओंका ऐश्वर्य छोड़ सकते हैं, परंतु अपनी विजयसे मुँह नहीं मोड़ेंगे ॥ ७ ॥

वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च।
न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता चास्य न विद्यते ॥ ८ ॥
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति य उत्थितः।

निश्चय ही द्रोणाचार्य और कर्णका वध हो जानेपर

हमारे पक्षके लोग शान्त हो जायँगे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर पाण्डव शान्त हो बैठेंगे, परंतु अर्जुनका वध करनेवाला तो कोई है ही नहीं, उन्हें जीतनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनके हृदयमें जो क्रोध जाग उठा है, वह कैसे शान्त होगा ? ॥ ८½ ॥

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च ॥ ९ ॥
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य ह ।

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं; परंतु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते भी हैं। केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है ॥ ९½ ॥

त्रयस्त्रिंशत् समाहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १० ॥
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ।

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने (मुख्य-मुख्य) तैंतीस* देवताओंको युद्धके लिये ललकारकर अग्निदेवको तृप्त किया और सभी देवताओंको जीत लिया । उनकी कभी पराजय हुई हो, इसका पता हमें आजतक नहीं लगा ॥ १०½ ॥

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि ॥ ११ ॥
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा ।

तात ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका स्वभाव और आचार-व्यवहार भी अर्जुनके ही समान है, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्रकी विजयकी भाँति उनकी भी विजय निश्चित है ॥ ११½ ॥

कृष्णावेकरथे यत्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः ॥ १२ ॥
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुम ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर उपस्थित हैं और गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १२½ ॥

नैवास्ति नो धनुस्तादृङ् न योद्धा न च सारथिः ॥ १३ ॥
तच्च मन्दा न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ।

हमलोगोंके यहाँ न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा है और न श्रीकृष्णके समान सारथि ही है, परंतु दुर्योधनके वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बातको नहीं समझ पाते ॥ १३½ ॥

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय ॥ १४ ॥
न तु शेषं शरास्तात कुर्युरस्ताः किरीटिना ।

तात संजय ! अपने तेजसे जलता हुआ वज्र किसीके मस्तकपर पड़कर सम्भव है, उसके जीवनको बचा दे, परंतु किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण जिसे लग जायँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ १४½ ॥

अपि चास्यन्निवाभाति निघ्नन्निव धनंजयः ॥ १५ ॥
उद्धरन्निव कायेभ्यः शिरांसि शरवृष्टिभिः ।

मुझे तो वीर धनंजय युद्धमें बाणोंको चलाते, योद्धाओंके प्राण लेते और अपनी बाणवर्षाद्वारा उनके शरीरोंसे मस्तकोंको काटते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥
गाण्डीवोत्थं दहेताजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

क्या गाण्डीव धनुषसे प्रकट हुआ बाणमय तेज सब ओर प्रज्वलित-सा होकर मेरे पुत्रोंकी (विशाल) वाहिनीको युद्धमें जलाकर भस्म कर डालेगा ? ॥ १६½ ॥

अपि सारथ्यघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ॥ १७ ॥
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके रथ-संचालनकी आवाज सुनकर भरतवंशियोंकी यह सेना सव्यसाची अर्जुनके भयसे पीड़ित और नाना प्रकारसे आतङ्कित हो जायगी ॥ १७½ ॥

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत् सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद् धक्ष्यति मामकान् ॥ १८ ॥

जैसे वायुके वेगसे बढ़ी हुई आग सब ओर फैलकर प्रचण्ड लपटोंसे युक्त हो घास-फूस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे पुत्रोंको दग्ध कर डालेंगे ॥ १८ ॥

यदोद्वमन् निशितान् बाणसंघा-
स्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
यथा भवेत् तद्वदपारणीयः ॥ १९ ॥

जिस समय शस्त्रपाणि किरीटधारी अर्जुन समरभूमिमें रोषपूर्वक पैने बाणसमूहोंकी वर्षा करेंगे, उस समय विधाताके रचे हुए सर्वसंहारक कालके समान उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा ॥ १९ ॥

तदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून् प्रकारान्
श्रोतास्मि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समन्ताच्च तथा रणाग्रे
क्षयः किलायं भरतानुपैति ॥ २० ॥

* कुछ विद्वान् 'त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय' ऐसा पाठ मानकर आर्ष संधिकी कल्पना करके यह अर्थ करते हैं कि 'तैंतीस वर्षकी अवस्था बीत जानेपर अर्जुनने अग्निदेवको खाण्डववनमें बुलाकर तृप्त किया था ।'

उस समय मैं महलोंमें बैठा हुआ बार-बार कौरवोंकी विविध अवस्थाओंकी कथा सुनता रहूँगा। अहो! युद्धके मुहानेपर निश्चय ही सब ओरसे यह भरतवंशका विनाश आ पहुँचा है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सभामें धृतराष्ट्रका युद्धसे भय दिखाकर शान्तिके लिये प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः।
तथैवाभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जैसे समस्त पाण्डव पराक्रमी और विजयके अभिलाषी हैं, उसी प्रकार उनके सहायक भी विजयके लिये कटिबद्ध तथा उनके लिये अपने प्राण निछावर करनेको तैयार हैं॥ १॥

त्वमेव हि पराक्रान्तानाचक्षीथाः परान् मम।
पञ्चालान् केकयान् मत्स्यान् मागधान् वत्सभूमिपान्॥

तुमने ही मेरे निकट पराक्रमशाली पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मागध तथा वत्सदेशीय उत्कृष्ट भूमिपालोंके नाम लिये हैं—(ये सभी पाण्डवोंकी विजय चाहते हैं)॥ २॥

यश्च सेन्द्रानिमाँल्लोकानिच्छन् कुर्याद् वशे बली।
स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः॥३॥

इनके सिवा जो इच्छा करते ही इन्द्र आदि देवताओं-सहित इन सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें कर सकते हैं, वे जगत्स्रष्टा महाबली भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं॥ ३॥

समस्तामर्जुनाद् विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमाप्तवान्।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान्॥४॥

शिनिके पौत्र सात्यकिने थोड़े ही समयमें अर्जुनसे उनकी सारी अस्त्रविद्या सीख ली थी। इस युद्धमें वे भी बीजकी भाँति बाणोंको बोते हुए पाण्डवपक्षकी ओरसे खड़े होंगे॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः क्रूरकर्मा महारथः।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित्॥ ५॥

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता और क्रूरतापूर्ण पराक्रम प्रकट करनेवाला पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न भी मेरी सेनाओंमें घुसकर युद्ध करेगा॥ ५॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात्।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते॥ ६॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा।
न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि संजय॥ ७॥

तात संजय! मुझे युधिष्ठिरके क्रोधसे, अर्जुनके पराक्रमसे, दोनों भाई नकुल और सहदेवसे तथा भीमसेनसे बड़ा भय लगता है। संजय! इन नरेशोंके द्वारा मेरी सेनाके भीतर जब अलौकिक अस्त्रोंका जाल-सा बिछा दिया जायगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे; इसीलिये मैं बिलख रहा हूँ॥ ६-७॥

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः॥ ८॥
मित्रामात्यैः सुसम्पन्नः सम्पन्नो युद्धयोजकैः।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः॥ ९॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान् सत्यपराक्रमः॥ १०॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
तं सर्वगुणसम्पन्नं समिद्धमिव पावकम्॥ ११॥
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत्।
पाण्डवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः॥ १२॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियोंके समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित बुद्धिसे युक्त, धर्मात्मा, मित्रों तथा मन्त्रियोंसे सम्पन्न, युद्धके लिये उद्योग-शील सैनिकोंसे संयुक्त, महारथी भाइयों और वीरशिरोमणि श्वशुरोंसे सुरक्षित, धैर्यवान्, मन्त्रणाको गुप्त रखनेवाले, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, दयालु, उदार, लज्जाशील, यथार्थ पराक्रमसे सम्पन्न, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, मनको वशमें रखनेवाले, वृद्धसेवी तथा जितेन्द्रिय हैं। इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न और प्रज्वलित अग्निके समान ताप देनेवाले उन युधिष्ठिरके सम्मुख युद्ध करनेके लिये कौन मूर्ख जा सकेगा? कौन अचेत एवं मरणासन्न मनुष्य पतंगोंकी भाँति दुर्निवार पाण्डवरूपी अग्निमें जान-बूझकर गिरेगा?॥ ८—१२॥

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ १३॥

राजा युधिष्ठिर सूक्ष्म और एक स्थानमें अवरुद्ध अग्निके समान हैं। मैंने मिथ्या व्यवहारसे उनका तिरस्कार किया है, अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका अवश्य विनाश कर डालेंगे॥ १३॥

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत।

युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम्॥ १४॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ॥ १५ ॥

कौरवो ! मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध न होना ही अच्छा मानता हूँ। तुमलोग इसे अच्छी तरह समझ लो। यदि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। मेरी बुद्धिका यही सर्वोत्तम निश्चय है। इसीसे मेरे मनको शान्ति मिलती है। यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्तिके लिये प्रयत्न करें ॥ १४-१५ ॥

न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर हमें (युद्धकी चर्चासे) क्लेशमें पड़े देख हमारी उपेक्षा नहीं करते। वे तो मुझे ही अधर्मपूर्वक कलह बढ़ानेमें कारण मानकर मेरी निन्दा करते हैं (फिर मेरे ही द्वारा शान्तिप्रस्ताव उपस्थित किये जानेपर वे क्यों नहीं सहमत होंगे ?) ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उनके दोष बताते हुए दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह देना

संजय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आप जैसा कह रहे हैं, वही ठीक है। भारत ! युद्धमें तो गाण्डीव धनुषके द्वारा क्षत्रिय-समुदायका विनाश ही दिखायी देता है ॥ १ ॥

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

परंतु सदासे बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्धमें मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप सव्यसाची अर्जुनके बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानते हुए भी क्यों अपने पुत्रोंके अधीन हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज ! आप (स्वभावसे ही) पाण्डवोंका अपराध करनेवाले हैं। इस कारण इस समय आपके द्वारा जो विचार व्यक्त किया गया है, यह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। आपने आरम्भसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ कपटपूर्वक वर्ताव किया है ॥ ३ ॥

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान्।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ॥ ४॥

जो पिताके पदपर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है और मनमें भलीभाँति सावधानी रखनेवाला है, उसे अपने आश्रितोंका हित-साधन ही करना चाहिये। द्रोह रखनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरुजन नहीं कहला सकता ॥ ४ ॥

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान्।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ॥ ५ ॥

महाराज ! द्यूतक्रीड़ाके समय जब आप अपने पुत्रोंके मुखसे सुनते कि यह जीता, यह पाया तथा पाण्डवोंकी पराजय हो रही है, तब आप बालकोंकी तरह मुसकरा उठते थे ॥ ५ ॥

परुषाण्युच्यमानांश्च पुरा पार्थानुपेक्षसे।
कृत्स्नं राज्यं जयन्तीति प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ६ ॥

उस समय पाण्डवोंके प्रति कितनी ही कठोर बातें कही जा रही थीं, परंतु मेरे पुत्र सारा राज्य जीतते चले जा रहे हैं, यह जानकर आप उनकी उपेक्षा करते जाते थे। यह सब इनके भावी विनाश या पतनका कारण होगा, इसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं जाती थी ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजाङ्गलाः।
अथ वीरैर्जितामुर्वीमखिलां प्रत्यपद्यथाः ॥ ७ ॥

महाराज ! कुरुजांगल देश ही आपका पैतृक राज्य है; किंतु शेष सारी पृथ्वी उन वीर पाण्डवोंने ही जीती है, जिसे आप पा गये हैं ॥ ७ ॥

बाहुवीर्यार्जिता भूमिस्तव पार्थैर्निवेदिता।
मयेदं कृतमित्येव मन्यसे राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कुन्तीपुत्रोंने अपने बाहुबलसे जीतकर यह भूमि आपकी सेवामें समर्पित की है, परंतु आप उसे अपनी जीती मानते हैं ॥ ८ ॥

ग्रस्तान् गन्धर्वराजेन मज्जतो ह्यप्लवेऽम्भसि।
आनिनाय पुनः पार्थः पुत्रांस्ते राजसत्तम ॥ ९ ॥

राजशिरोमणे ! (घोषयात्राके समय) गन्धर्वराज चित्रसेनने

आपके पुत्रोंको कैद कर लिया था। वे सब-के-सब बिना नावके पानीमें डूब रहे थे, उस समय उन्हें अर्जुन ही पुनः छुड़ाकर ले आये थे ॥ ९ ॥

कुमारवच्च स्मयसे द्यूते विनिकृतेषु यत्।
पाण्डवेषु वने राजन् प्रव्रजत्सु पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन्! पाण्डवलोग जब द्यूतक्रीड़ामें चले गये और हारकर वनमें जाने लगे, उस समय आप बच्चोंकी तरह बारंबार मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे ॥ १० ॥

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्य शितान् बहून्।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ॥ ११ ॥

जब अर्जुन असंख्य तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगेंगे, उस समय समुद्र भी सूख जा सकते हैं, फिर हाड़-मांसके शरीरोंसे पैदा हुए प्राणियोंकी तो बात ही क्या है?॥

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम्।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः।

बाण चलानेवाले वीरोंमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं धनुषोंमें गाण्डीव उत्तम है, समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, आयुधोंमें सुदर्शन चक्र श्रेष्ठ है और पताकावाले ध्वजोंमें वानरसे उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है॥१२½॥

एवमेतानि स रथे वहञ्छ्वेतहयो रणे ॥ १३ ॥
क्षपयिष्यति नो राजन् कालचक्रमिवोद्यतम्।

राजन्! इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठतम वस्तुओंको अपने साथ लिये हुए जब श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें उपस्थित होंगे, उस समय ऊपर उठे हुए काल-चक्रके समान वे हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे ॥१३½॥

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम।

राजाओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण महाराज! अब तो यह सारी पृथ्वी उसीके अधिकारमें रहेगी, जिसकी ओरसे भीमसेन और अर्जुन-जैसे योद्धा लड़नेवाले होंगे। वही राजा होगा॥१४½॥

तथा भीमहतप्रायां मज्जन्तीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।

आपकी सेनाके अधिकांश वीर भीमसेनके हाथों मारे जायँगे और दुर्योधन आदि कौरव विपत्तिके समुद्रमें डूबती हुई इस सेनाको देखते-देखते स्वयं भी नष्ट हो जायँगे।१५½।

न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यन्ते विजयं विभो ॥ १६ ॥
तव पुत्रा महाराज राजानश्चानुसारिणः।

प्रभो! महाराज! आपके पुत्र तथा इनका साथ देनेवाले नरेश भीमसेन और अर्जुनसे भयभीत होकर कभी विजय नहीं पा सकेंगे॥ १६½ ॥

मत्स्यास्त्वामद्य नार्चन्ति पञ्चालाश्च सकेकयाः॥१७॥
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

मत्स्यदेशके क्षत्रिय अब आपका आदर नहीं करते हैं। पाञ्चाल, केकय, शाल्व तथा शूरसेन देशोंके सभी राजा एवं राजकुमार आपकी अवहेलना करते हैं। वे सब परम बुद्धिमान् अर्जुनके पराक्रमको जानते हैं, अतः उन्हींके पक्षमें मिल गये हैं॥ १७-१८ ॥

भक्त्या ह्यस्य विरुध्यन्ते तव पुत्रैः सदैव ते।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान् विकर्मणा ॥ १९ ॥
योऽक्लेशयत् पाण्डुपुत्रान् यो विद्वेष्ट्यधुनापि वै।
सर्वोपायैर्नियन्तव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
तव पुत्रो महाराज नानुशोचितुमर्हसि।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेके कारण वे सब सदा ही आपके पुत्रोंके साथ विरोध रखते हैं। महाराज! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेके कारण वध (और क्लेश पाने) के कदापि योग्य नहीं थे, उन पाण्डुपुत्रोंको जिसने सदा विपरीत बर्तावसे कष्ट पहुँचाया है और जो इस समय भी उनके प्रति द्वेषभाव ही रखता है, आपके उस पापी पुत्र दुर्योधनको ही सभी उपायोंसे साथियोंसहित काबूमें रखना चाहिये। आप बारंबार इस तरह शोक न करें। द्यूतक्रीड़ाके समय मैंने तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने भी आपको यही सलाह दी थी, (परंतु आपने ध्यान नहीं दिया)॥ १९—२१ ॥

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ २२ ॥

राजेन्द्र! आपने जो पाण्डवोंके बल-पराक्रमकी चर्चा करके असमर्थकी भाँति विलाप किया है, यह सब व्यर्थ है॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको धैर्य देते हुए दुर्योधनद्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवोंके अपकर्षका वर्णन

दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—महाराज ! आप डरें नहीं; आपके द्वारा हम लोग शोक करने योग्य नहीं हैं। प्रभो ! हम बलवान् और शक्तिशाली हैं तथा समरभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १ ॥

वने प्रव्राजितान् पार्थान् यदाऽऽयान्मधुसूदनः।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ॥ २ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
राजानश्चान्वयुः पार्थान् बहवोऽन्येऽनुयायिनः॥ ३ ॥

पाण्डवोंको जब हमने वनमें भेज दिया, उस समय शत्रुओंके राष्ट्रोंको धूलमें मिला देनेवाले विशाल सैन्यसमूहके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये थे। उनके साथ केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा और भी बहुत-से नरेश, जो पाण्डवोंके अनुयायी हैं, यहाँतक पधारे थे ॥ २-३ ॥

इन्द्रप्रस्थस्य चादूरात् समाजग्मुर्महारथाः।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवन्तं कुरुभिः सह ॥ ४ ॥

वे सभी महारथी इन्द्रप्रस्थके निकटतक आये और परस्पर मिलकर समस्त कौरवोंसहित आपकी निन्दा करने लगे ॥ ४ ॥

ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम्।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासन्त भारत ॥ ५ ॥
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः।
भवतः सानुबन्धस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ॥ ६ ॥

भारत ! वे नरेश श्रीकृष्णकी प्रधानतामें संगठित हो वनमें विराजमान मृगचर्मधारी युधिष्ठिरके समीप जाकर बैठे और सगे-सम्बन्धियोंसहित आपका मूलोच्छेद कर डालनेकी इच्छा रखकर कहने लगे—'धृतराष्ट्रके हाथसे राज्यको लौटा लेना ही कर्तव्य है' ॥ ५-६ ॥

श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा।
ज्ञातिक्षयभयाद् राजन् भीतेन भरतर्षभ ॥ ७ ॥
न ते स्थास्यन्ति समये पाण्डवा इति मे मतिः।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उनके इस निश्चयको सुनकर मैंने कुटुम्बी-जनोंके वधकी आशङ्कासे भयभीत हो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे इस प्रकार निवेदन किया—'तात ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवलोग अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहेंगे; क्योंकि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हम सब लोगोंका पूर्णतः विनाश कर डालना चाहते हैं ॥ ७-८ ॥

ऋते च विदुरात् सर्वे यूयं वध्या मता मम।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ॥ ९ ॥

'केवल विदुरजीको छोड़कर आप सब लोग मार डालनेके योग्य समझे गये हैं, यह बात मुझे मालूम हुई है। कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र धर्मज्ञ हैं, यह सोचकर उनका भी वध नहीं किया जायगा ॥ ९ ॥

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः।
एकराज्यं कुरूणां स चिकीर्षति युधिष्ठिरे ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्ण हमारा सर्वनाश करके कौरवोंका एक राज्य बनाकर उसे युधिष्ठिरको सौंपना चाहते हैं ॥ १० ॥

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम्।
प्राणान् वा सम्परित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान् ॥ ११ ॥

'ऐसी अवस्थामें इस समय हमारा क्या कर्तव्य है ? हम उनके चरणोंपर गिरें, पीठ दिखाकर भाग जायँ अथवा प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंका सामना करें ॥ ११ ॥

प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ॥ १२ ॥
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ॥ १३ ॥

'उनके साथ युद्ध होनेपर हमारी पराजय निश्चित है, क्योंकि इस समय समस्त भूपाल राजा युधिष्ठिरके अधीन हैं। इस राज्यमें रहनेवाले सब लोग हमसे घृणा करते हैं। हमारे मित्र भी कुपित हो गये हैं। सम्पूर्ण नरेश और आत्मीयजन सभी हमें धिक्कार रहे हैं॥ १२-१३॥

प्रणिपाते न दोषोऽस्ति सन्धिर्नः शाश्वतीः समाः।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम्॥ १४॥

'(मैं समझता हूँ,) इस समय नतमस्तक हो जानेमें कोई दोष नहीं है। इससे हमलोगोंमें सदाके लिये शान्ति हो जायगी, केवल अपने प्रज्ञाचक्षु पिता महाराज धृतराष्ट्रके लिये ही शोक हो रहा है॥ १४॥

मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनन्तकम्।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम्।
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद् विदितं ते नरोत्तम॥ १५॥

'उन्होंने मेरे लिये अनन्त क्लेश और दुःख सहन किये है।' नरश्रेष्ठ पिताजी! आपके पुत्रों तथा मेरे भाइयोंने केवल मेरी प्रसन्नताके लिये शत्रुओंको सदा ही सताया है; ये सब बातें आप पहलेसे ही जानते हैं॥ १५॥

ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः।
वैरं प्रतिकरिष्यन्ति कुलोच्छेदेन पाण्डवाः॥ १६॥

'इसलिये वे महारथी पाण्डव मन्त्रियोंसहित महाराज धृतराष्ट्रके कुलका समूलोच्छेद करके अपने वैरका बदला लेंगे'॥ १६॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत।
मत्वा मां महतीं चिन्तामास्थितं व्यथितेन्द्रियम्॥ १७॥
अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान् युधि समास्थितान्॥ १८॥

भारत! मेरी यह बात सुनकर आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे व्यथित हुआ जान आश्वासन देते हुए कहा—'परंतप! यदि शत्रुपक्षके लोग हमसे द्रोह रखते हैं तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये। शत्रुलोग युद्धमें उपस्थित होनेपर हमें जीतनेमें असमर्थ हैं॥ १७-१८॥

एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान्।
आगच्छन्तु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः॥ १९॥

'हममेंसे एक-एक वीर भी समस्त राजाओंको जीतनेकी शक्ति रखता है। शत्रुलोग आवें तो सही, हम अपने पैने बाणोंसे उनका घमंड चूर-चूर कर देंगे'॥ १९॥

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत॥ २०॥

भारत! पहलेकी बात है, अपने पिता शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मजीने किसी समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एकमात्र रथकी सहायतासे अकेले ही सब राजाओंको जीत लिया था॥ २०॥

जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात्॥ २१॥

रोषमें भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने जब उनमेंसे बहुत-से राजाओंको मार डाला, तब वे डरके मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म) की शरणमें आये॥ २१॥

स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्धमें शत्रुओंको जीतनेके लिये हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिये॥ २२॥

इत्येषां निश्चयो ह्यासीत् तत्कालेऽमिततेजसाम्।
पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नाऽऽसीद् वशवर्तिनी॥ २३॥
अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतुमाहवे।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः॥ २४॥

इन अमिततेजस्वी भीष्म आदिने उसी समय युद्धमें हमारा साथ देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। पहले यह सारी पृथ्वी हमारे शत्रुओंके काबूमें थी, किंतु अब हमारे हाथमें आ गयी है। हमारे ये शत्रु अब हमें युद्धमें जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। सहायकोंके अभावमें पाण्डव पंख कटे हुए पक्षीके समान असहाय एवं पराक्रमशून्य हो गये हैं॥ २३-२४॥

अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः॥ २५॥

भरतश्रेष्ठ! इस समय यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें है। हमने जिन राजाओंको यहाँ बुलाया है, ये सब सुख और दुःखमें भी हमारे साथ एक-सा प्रयोजन रखते हैं—हमारे सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानते हैं॥ २५॥

अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम॥ २६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुरुश्रेष्ठ! निश्चित मानिये, ये सब समागत नरेश मेरे लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं और समुद्रमें भी कूद सकते हैं॥ २६॥

उन्मत्तमिव चापि त्वां प्रहसन्तीह दुःखितम्।
विलपन्तं बहुविधं भीतं परविकत्थने॥ २७॥

इतनेपर भी आप शत्रुओंकी मिथ्या प्रशंसा सुनकर पागल-से हो उठे हैं और दुखी एवं भयभीत होकर नाना प्रकारसे विलाप कर रहे हैं। यह सब देखकर ये राजालोग यहाँ हँस रहे हैं॥ २७॥

एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पाण्डवान् प्रति ।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम् ॥ २८ ॥

इन राजाओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ मानता है; अतः आपके मनमें जो भय आ गया है, वह निकल जाना चाहिये ॥ २८ ॥

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात् ।
हन्तुमक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः ॥ २९ ॥

मेरी सम्पूर्ण सेनाको इन्द्र भी नहीं जीत सकते । स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका नाश नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्च ग्रामान् स याचति ।
भीतो हि मामकात् सैन्यात् प्रभावाच्चैव मे विभो ॥३०॥

प्रभो ! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभावसे इतने डर गये हैं कि राजधानी या नगर लेनेकी बात छोड़कर अब पाँच गाँव माँगने लगे हैं ॥ ३० ॥

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! आप जो कुन्तीकुमार भीमको बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि आप मेरे प्रभावको पूर्णरूपसे नहीं जानते हैं ॥ ३१ ॥

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन ॥ ३२ ॥

गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला इस पृथ्वीपर न तो कोई है, न भूतकालमें कोई हुआ था और न भविष्यमें ही कोई होगा ॥ ३२ ॥

युक्तो दुःखोषितश्चाहं विद्यापारगतस्तथा ।
तस्मान्न भीमान्नान्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित् ॥ ३३ ॥

गदायुद्धका मेरा अभ्यास बहुत अच्छा है । मैंने गुरुके समीप क्लेशसहनपूर्वक रहकर अस्त्रविद्या सीखी है और उसमें मैं पारङ्गत हो गया हूँ । अतः भीमसेनसे या दूसरे योद्धाओंसे मुझे कभी कोई भय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत् तदैनमुपावसम् ॥ ३४ ॥

आपका कल्याण हो । बलरामजीका भी यही निश्चय है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है । यह बात उन्होंने उस समय कही थी, जब मैं उनके पास रहकर गदाकी शिक्षा ले रहा था ॥ ३४ ॥

युद्धे संकर्षणसमो बलेनाभ्यधिको भुवि ।
गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद् युधि ॥ ३५ ॥

मैं युद्धमें बलरामजीके समान हूँ और बलमें इस भूतलपर सबसे बढ़कर हूँ । युद्धमें भीमसेन मेरी गदाका प्रहार कभी नहीं सह सकते ॥ ३५ ॥

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप ।
स एवैनं नयेद् घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ॥ ३६ ॥

महाराज ! मैं रोषमें भरकर भीमसेनपर गदाका जो एक बार प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उन्हें शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देगा ॥ ३६ ॥

इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम् ।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः ॥ ३७ ॥

राजन् ! मैं चाहता हूँ कि युद्धमें गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको अपने सामने देखूँ । मैंने दीर्घकालसे अपने मनमें सदा इसी मनोरथके सिद्ध होनेकी इच्छा रखी है ॥ ३७ ॥

गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः ।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति ॥ ३८ ॥

युद्धमें मेरी गदासे आहत हुए कुन्तीपुत्र भीमसेनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और वे प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ जायँगे ॥ ३८ ॥

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः ।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ॥ ३९ ॥

यदि मैं एक बार अपनी गदाका आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी लाखों टुकड़ोंमें विदीर्ण हो जायगा ॥ ३९ ॥

स चाप्येतद् विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ॥ ४० ॥

भीमसेन भी इस बातको जानते हैं । श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी यह ज्ञात है । यह निश्चित है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ४० ॥

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे ।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! भीमसेनसे जो आपको भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिये । मैं महायुद्धमें उन्हें मार गिराऊँगा । इसलिये आप मनमें खेद न करें ॥ ४१ ॥

तस्मिन् मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः ।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यन्ति भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरेद्वारा भीमसेनके मारे जानेपर (हमारे पक्षके) बहुत-से रथी जो अर्जुनके समान या उनसे भी बढ़कर हैं, उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे ॥ ४२ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिन्धुराजो जयद्रथः ॥ ४३ ॥
एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान् ।

समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ।

भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, मद्रराज शल्य तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इनमेंसे एक-एक वीर समस्त पाण्डवोंको मारनेकी शक्ति रखता है । यदि ये सब एक साथ मिल जायँ तो क्षण-भरमें उन सबको यमलोक पहुँचा देंगे ॥ ४३½ ॥

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ॥ ४४ ॥
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।

राजाओंकी समस्त सेना एकमात्र अर्जुनको परास्त करनेमें असमर्थ कैसे होगी ? इसके लिये कोई कारण नहीं है ॥ ४४½ ॥

शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ॥ ४५ ॥
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गन्ता पार्थो यमक्षयम् ।

भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके चलाये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंसे विद्ध होकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको विवशतापूर्वक यमलोकमें जाना पड़ेगा ॥ ४५½ ॥

पितामहोऽपि गाङ्गेयः शान्तनोरधि भारत ॥ ४६ ॥
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।

भरतनन्दन ! हमारे पितामह गङ्गापुत्र भीष्मजी तो अपने पिता शान्तनुसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं । ये ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए हैं । इनका वेग देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह है ॥ ४६½ ॥

न हन्ता विद्यते चापि राजन् भीष्मस्य कश्चन ॥ ४७ ॥
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाकामस्त्वं मरिष्यसि ।

राजन् ! भीष्मजीको मारनेवाला तो कोई है ही नहीं; क्योंकि उनके पिताने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया है कि तुम अपनी इच्छाके बिना नहीं मरोगे ॥ ४७½ ॥

ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ॥ ४८ ॥
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।

दूसरे वीर आचार्य द्रोण हैं, जो ब्रह्मर्षि भरद्वाजके वीर्यसे कलशमें उत्पन्न हुए हैं । महाराज ! इन्हीं आचार्य द्रोणसे वीर अश्वत्थामाकी उत्पत्ति हुई है, जो अस्त्रविद्याके बहुत बड़े पण्डित हैं ॥ ४८½ ॥

कृपश्चाचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ॥ ४९ ॥
शरस्तम्बोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।

आचार्योंमें प्रधान कृप भी महर्षि गौतमके अंशसे सरकण्डोंके समूहमें उत्पन्न हुए हैं । ये श्रीमान् आचार्यपाद अवध्य हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९½ ॥

अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ॥ ५० ॥
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्व एते महाराज देवकल्पा महारथाः ॥ ५१ ॥

महाराज ! अश्वत्थामाके ये पिता, माता और मामा तीनों ही अयोनिज हैं । अश्वत्थामा भी शूरवीर एवं मेरे पक्षमें स्थित हैं । राजन् ! ये सभी योद्धा देवताओंके समान पराक्रमी एवं महारथी हैं ॥ ५०-५१ ॥

शक्रस्यापि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रति वीक्षितुम् ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये चारों वीर युद्धमें देवराज इन्द्रको भी पीड़ा दे सकते हैं । अर्जुन तो इनमेंसे किसी एककी ओर भी आँख उठाकर देख नहीं सकते ॥ ५२ ॥

सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यन्ति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ॥ ५३ ॥

ये नरश्रेष्ठ जब एक साथ होकर युद्ध करेंगे, तब अर्जुनको अवश्य मार डालेंगे । भीष्म, द्रोण और कृप—इन तीनोंके समान पराक्रमी तो अकेला कर्ण ही है, यह मेरी मान्यता है ॥ ५३ ॥

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुण्डले रुचिरे चास्तां कर्णस्य सहजे शुभे ॥ ५४ ॥

भारत ! परशुरामजीने कर्णको (शिक्षा देनेके पश्चात् घर लौटनेकी) आज्ञा देते हुए यह कहा था कि तुम (अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें) मेरे समान हो । इसके सिवा कर्णको जन्मके साथ ही दो सुन्दर और कल्याणकारी कुण्डल प्राप्त हुए थे ।५४।

ते शच्यर्थे महेन्द्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ॥ ५५ ॥

परंतु देवराज इन्द्रने शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर कर्णसे शचीके लिये वे दोनों कुण्डल माँग लिये ! महाराज ! कर्णने बदलेमें अत्यन्त भयंकर एवं अमोघ शक्ति लेकर वे कुण्डल दिये थे ॥ ५५ ॥

तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद् धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन् फलं पाणाविवाहितम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार उस अमोघ शक्तिसे सुरक्षित कर्णके सामने युद्धके लिये आकर अर्जुन कैसे जीवित रह सकते हैं ? राजन् ! हाथपर रखे हुए फलकी भाँति विजयकी प्राप्ति तो मुझे अवश्य ही होगी ॥ ५६ ॥

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! इस पृथ्वीपर मेरे शत्रुओंकी पूर्णतः पराजय तो इसीसे स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस हजार विपक्षी योद्धाओंका संहार करेंगे ॥ ५७ ॥

तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृन्दानि क्षत्रियाणां परंतप ॥ ५८ ॥
अर्जुनं वयमस्मान् वा निहन्याद्‌ कपिकेतनः ।

तं चालमिति मन्यन्ते सव्यसाचिवधे धृताः ॥ ५९ ॥
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद् व्यथते कथम्।

परंतप ! द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी उन्हींके समान महाधनुर्धर हैं । इनके सिवा 'संशप्तक' नामक क्षत्रियोंके समूह भी मेरे ही पक्षमें हैं; जो यह कहते हैं कि या तो हमलोग अर्जुनको मार डालेंगे या कपिध्वज अर्जुन ही हमें मार डालेंगे, तभी हमारे उनके युद्धकी समाप्ति होगी। वे सब नरेश अर्जुनके वधका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं और उसके लिये अपनेको पर्याप्त समझते हैं । ऐसी दशामें आप उन पाण्डवोंसे भयभीत हो अकस्मात् व्यथित क्यों हो उठते हैं ? ॥ ५८-५९½ ॥

भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ॥ ६० ॥
परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतनन्दन ! अर्जुन और भीमसेनके मारे जानेपर शत्रुओंके दलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध कर सकेगा ? यदि आप किसीको जानते हों तो बताइये ॥ ६०½ ॥

पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ॥ ६१ ॥
परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम्।

राजन् ! पाँचों भाई पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि—ये कुल सात योद्धा ही शत्रु-पक्षके सारभूत बल माने जाते हैं।६१½॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ६२ ॥
द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः॥ ६३ ॥
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते ।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ ६४ ॥
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।

प्रजानाथ ! हमलोगोंके पक्षमें जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनकी संख्या अधिक है; यथा—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि; अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, शल्य, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जयद्रथ, दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा तथा आपका पुत्र विकर्ण । (इस प्रकार अपने पक्षके प्रमुख वीरोंकी संख्या शत्रुओंके प्रमुख वीरोंसे तीन गुनी अधिक है)॥६२-६४½॥

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ॥६५॥

महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परंतु शत्रुओंके पक्षमें हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है ?।६५।

बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ॥ ६६ ॥

राजन् ! बृहस्पतिका कथन है कि शत्रुओंकी सेना अपनेसे एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिये । परंतु मेरी यह सेना तो शत्रुओंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिये यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेनाकी एक तिहाईसे भी अधिक है ॥ ६६ ॥

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥ ६७ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओंका बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकारसे गुणहीन (न्यूनतम) है, परंतु मेरा अपना बल सब प्रकारसे बहुत अधिक एवं गुणशाली है ॥ ६७ ॥

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत ।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

भरतनन्दन ! इन सभी दृष्टियोंसे मेरा बल अधिक है और पाण्डवोंका बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ॥ ६८ ॥

इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
विवित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ॥ ६९ ॥

जनमेजय ! ऐसा कहकर शत्रुनगरविजयी दुर्योधनने शत्रुओंकी स्थिति जान लेनेके पश्चात् समयोचित कर्तव्योंकी जानकारीके लिये पुनः संजयसे प्रश्न किया ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा अर्जुनके ध्वज एवं अश्वोंका तथा युधिष्ठिर आदिके घोड़ोंका वर्णन

दुर्योधन उवाच

अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय ।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—संजय ! यह तो बताओ, सात अक्षौहिणी सेना पाकर राजाओंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे अब कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

अतीव मुदितो राजन् युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! युधिष्ठिर युद्धकी अभिलाषा लेकर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं। भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों भाई नकुल-सहदेव भी भयभीत नहीं हैं॥ २॥

रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन् दिशः।
मन्त्रं जिज्ञासमानः सन् बीभत्सुः समयोजयत्॥ ३॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने तो अस्त्रप्रयोगसम्बन्धी मन्त्रकी परीक्षाके लिये अपने दिव्य रथकी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसे जोत रक्खा था॥ ३॥

तमपश्याम संनद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा।
समन्तात् समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत॥ ४॥

उस समय स्वर्णमय कवच धारण किये अर्जुन हमें बिजलीके प्रकाशसे सुशोभित मेघके समान दिखायी दे रहे थे। उन्होंने सब ओरसे उन मन्त्रोंका सम्यक् चिन्तन करके हर्षसे उल्लसित होकर मुझसे कहा—॥ ४॥

पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथावैम्यहमप्युत॥ ५॥

'संजय! हमलोग युद्धमें अवश्य विजयी होंगे। उस विजयका यह पूर्वचिह्न अभीसे प्रकट हो रहा है। तुम भी देख लो।' राजन्! अर्जुनने मुझसे जैसा कहा था, वैसा ही मैं भी समझता हूँ॥ ५॥

दुर्योधन उवाच

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान्।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः॥ ६॥

दुर्योधन बोला—संजय! तुम तो जूएमें हारे हुए कुन्तीपुत्रोंका अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। बताओ तो सही, अर्जुनके रथमें कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं?॥ ६॥

संजय उवाच

भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशाम्पते।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो॥ ७॥

संजयने कहा—प्रजानाथ! विश्वकर्मा त्वष्टा तथा प्रजापतिने इन्द्रके साथ मिलकर अर्जुनके रथकी ध्वजामें अनेक प्रकारके रूपोंकी रचना की है॥ ७॥

ध्वजे हि तस्मिन् रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया।
महाधनानि दिव्यानि महान्ति च लघूनि च॥ ८॥

उन तीनोंने देवमायाके द्वारा उस ध्वजमें छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी बहुमूल्य एवं दिव्य मूर्तियोंका निर्माण किया है॥ ८॥

भीमसेनानुरोधाय हनूमान् मारुतात्मजः।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति॥ ९॥

भीमसेनके अनुरोधकी रक्षाके लिये पवननन्दन हनुमान्‌जी उस ध्वजमें युद्धके समय अपने स्वरूपको स्थापित करेंगे।९।

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तरं
सतिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि
तथा हि माया विहिता भौमनेन॥ १०॥

उस ध्वजने एक योजनतक सम्पूर्ण दिशाओं तथा अगल-बगल एवं ऊपरके अवकाशको व्याप्त कर रक्खा था। विश्वकर्माने ऐसी माया रच रक्खी है कि वह ध्वज वृक्षोंसे आवृत अथवा अवरुद्ध होनेपर भी कहीं अटकता नहीं है।१०।

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्म किं नु तत्।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
बह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य॥ ११॥

जैसे आकाशमें बहुरंगा इन्द्रधनुष प्रकाशित होता है और यह समझमें नहीं आता कि वह क्या है? ठीक ऐसा ही विश्वकर्माका बनाया हुआ वह रंग-बिरंगा ध्वज है। उसका रूप अनेक प्रकारका दिखायी देता है॥ ११॥

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा
वर्णान् बिभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान्।

तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
न चेद् भारो भविता नोत रोधः ॥ १२ ॥

जैसे अग्निसहित धूम विचित्र तेजोमय आकार और रंग धारण करके सब ओर फैलकर ऊपर आकाशकी ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार विश्वकर्माने उस ध्वजका निर्माण किया है। उसके कारण रथपर कोई भार नहीं बढ़ता है और न उसकी गतिमें कहीं कोई रुकावट ही पैदा होती है ॥ १२ ॥

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा
दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं
हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ॥ १३ ॥

अर्जुनके उस रथमें वायुके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जातिके श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथने दिया था। नरेन्द्र! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थानमें उन अश्वोंकी पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है। उस रथमें पूरे सौ घोड़े सदा जुते रहते हैं। उनमेंसे यदि कोई मारा जाता है तो पहलेके दिये हुए वरके प्रभावसे नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थानकी पूर्ति कर देता है ॥ १३ ॥

तथा राज्ञो दन्तवर्णा बृहन्तो
रथे युक्ता भान्ति तद्वीर्यतुल्याः ।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा
रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरके रथमें भी वैसे ही शक्तिशाली श्वेतवर्णके विशाल अश्व जुते हुए हैं, जो अत्यन्त सुशोभित होते हैं। भीमसेनके घोड़ोंका रंग रीछके समान काला है। वे उनके रथमें जोते जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलते हैं ॥ १४ ॥

कल्माषाङ्गास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा
भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन ।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरङ्गैर्विशिष्टा
मुदा युक्ताः सहदेवं वहन्ति ॥ १५ ॥

अर्जुनने प्रसन्न होकर अपने छोटे भाई सहदेवको जो अश्व प्रदान किये थे, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग विचित्र रंगके हैं और पृष्ठभाग भी तीतर पक्षीके समान चितकबरे प्रतीत होते हैं तथा जो वीर भाई अर्जुनके अपने अश्वोंकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट हैं, ऐसे सुन्दर अश्व बड़ी प्रसन्नताके साथ सहदेवके रथका भार वहन करते हैं ॥ १५ ॥

माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ
महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः ।
समा वायोर्बलवन्तस्तरस्विनो
वहन्ति वीरं वृत्रशत्रुं यथेन्द्रम् ॥ १६ ॥

अजमीढकुलनन्दन! देवराज इन्द्रके दिये हुए हरे रंगके उत्तम घोड़े, जो वायुके समान बलवान् तथा वेगवान् हैं, माद्रीकुमार वीर नकुलके रथका भार वहन करते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे पहले वे वृत्रशत्रु देवेन्द्रका भार वहन किया करते थे ॥ १६ ॥

तुल्याश्चैभिर्वयसा विक्रमेण
महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः ।
सौभद्रादीन् द्रौपदेयान् कुमारान्
वहन्त्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ॥ १७ ॥

अवस्था और बल-पराक्रममें पूर्वोक्त अश्वोंके ही समान महान् वेगशाली, विचित्र रूप-रंगवाले उत्तम जातिके अश्व सुभद्रानन्दन अभिमन्युसहित द्रौपदीके पुत्रोंका भार वहन करते हैं। वे विशाल अश्व भी देवताओंके दिये हुए हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा पाण्डवोंकी युद्धविषयक तैयारीका वर्णन, धृतराष्ट्रका विलाप, दुर्योधनद्वारा अपनी प्रबलताका प्रतिपादन, धृतराष्ट्रका उसपर अविश्वास तथा संजयद्वारा धृष्टद्युम्नकी शक्ति एवं संदेशका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

कांस्तत्र संजयापश्यः प्रीत्यर्थेन समागतान् ।
ये योत्स्यन्ते पाण्डवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! तुमने वहाँ युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये आये हुए किन-किन राजाओंको देखा था, जो पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पुत्रकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे? ॥ १ ॥

संजय उवाच

मुख्यमन्धकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम्।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वहाँ देखा कि वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं। वहाँ चेकितान और युयुधान सात्यकि भी उपस्थित हैं ॥ २ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पाण्डवानभिसंश्रितौ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ ॥ ३ ॥

अपनेको पौरुषशाली वीर माननेवाले वे दोनों विख्यात महारथी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं ॥ ३ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो दशभिस्तनयैर्वृतः।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ४ ॥
द्रुपदो वर्धयन् मानं शिखण्डिपरिपालितः।
उपायात् सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपुः ॥ ५ ॥

पाञ्चालनरेश द्रुपद धृष्टद्युम्न और सत्यजित् आदि दस वीर पुत्रोंके साथ शिखण्डीद्वारा सुरक्षित हो कवच आदिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके शरीरोंको आच्छादित करके उन सबकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युधिष्ठिरका मान बढ़ानेके लिये वहाँ आये हुए हैं ॥ ४-५ ॥

विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च।
सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः ॥ ६ ॥
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः ॥ ७ ॥

राजा विराट अपने दो पुत्रों शङ्ख और उत्तरको साथ लिये, सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर भ्राताओं और अन्य पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी सहायताके लिये उपस्थित हैं ॥ ६-७ ॥

जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट्।
पृथक् पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ ॥ ८ ॥

जरासंधकुमार मगधनरेश सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु—ये दोनों भी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च सर्वे लोहितकध्वजाः।
अक्षौहिणीपरिवृताः पाण्डवानभिसंश्रिताः ॥ ९ ॥

लाल रंगकी ध्वजावाले जो पाँचों भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सेवामें उपस्थित हुए हैं ॥ ९ ॥

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान्।
ये पाण्डवार्थे योत्स्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्॥ १० ॥

मैंने इन सबको इतनी सेनाओंके साथ वहाँ आया हुआ देखा है। ये लोग पाण्डवोंके हितके लिये दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ॥ १० ॥

यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ ११ ॥

जो मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरोंकी भी व्यूह-रचना-प्रणालीको जानते हैं, वे महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवपक्षकी सेनाके अग्रभागमें (सेनापति होकर) रहेंगे ॥ ११ ॥

भीष्मः शान्तनवो राजन् भागः क्लृप्तः शिखण्डिनः।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः ॥ १२॥

राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्मजीके वधका कार्य शिखण्डीको सौंपा गया है। राजा विराट मत्स्यदेशीय योद्धाओंके साथ शिखण्डीकी सहायताके लिये उसका अनुसरण करेंगे ॥

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली।
तौ तु तत्राब्रुवन् केचिद् विषमौ नो मताविति॥ १३ ॥

बलवान् मद्रनरेश ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके हिस्सेमें पड़े हैं—युधिष्ठिर ही उनके साथ युद्ध करेंगे। परंतु यह बँटवारा सुनकर कुछ लोग वहाँ बोल उठे थे कि ये दोनों तो हमें परस्पर समान शक्तिशाली नहीं जान पड़ते ॥ १३ ॥

दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः॥ १४ ॥

अपने सौ भाइयों तथा पुत्रोंसहित दुर्योधन और पूर्व एवं दक्षिण दिशाके कौरवसैनिक भीमसेनका भाग नियत किये गये हैं ॥ १४ ॥

अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ १५ ॥

वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और सिंधुराज जयद्रथ—ये सब अर्जुनके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १५ ॥

अशक्याश्चैव ये केचिद् पृथिव्यां शूरमानिनः।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः ॥ १६ ॥

इनके सिवा और भी अपनेको शूरवीर माननेवाले जो कोई नरेश इस भूमण्डलमें अजेय माने जाते हैं, उन सबको कुन्तीकुमार अर्जुनने अपना भाग निश्चित किया है ॥ १६ ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यन्ति संयुगे ॥ १७ ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार भी महान् धनुर्धर हैं। वे समराङ्गणमें अपने विरोधी केकयदेशीय योद्धाओंको ही अपना भाग (वध्य वैरी) मानकर युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति ॥ १८ ॥

मालव, शाल्व तथा त्रिगर्तदेशके सैनिक और संशप्तक—सेनाके दो प्रमुख वीर भी उन केकयराजकुमारोंके ही भाग नियत किये गये हैं ॥ १८ ॥

दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १९ ॥

दुर्योधन तथा दुःशासनके सभी पुत्र और राजा बृहद्बल सुभद्रानन्दन अभिमन्युके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १९ ॥

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यन्ति भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे युक्त महाधनुर्धर द्रौपदीपुत्र भी धृष्टद्युम्नके साथ द्रोणपर आक्रमण करेंगे ॥२०॥

चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ॥ २१ ॥

चेकितान द्वैरथ-संग्राममें सोमदत्तके साथ युद्ध करना चाहते हैं । सात्यकि भोजवंशी कृतवर्माके साथ युद्ध करनेको उत्सुक हैं ॥ २१ ॥

सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रन्दनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुबलात्मजम् ॥ २२ ॥

महाराज ! युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी शूरवीर माद्रीनन्दन सहदेवने आपके साले सुबलपुत्र शकुनिको अपना भाग निश्चित किया है ॥ २२ ॥

उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ॥ २३ ॥

उस धूर्त जुआरी शकुनिका पुत्र जो उलूक है तथा जो सारस्वतप्रदेशके सैनिक हैं, उन सबको माद्रीकुमार नकुलने अपना भाग नियत किया है ॥ २३ ॥

ये चान्ये पार्थिवा राजन् प्रत्युद्यास्यन्ति सङ्गरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पाण्डुपुत्रा अकल्पयन् ॥ २४ ॥

राजन् ! दूसरे भी जो-जो नरेश (आपकी ओरसे) युद्धमें पदार्पण करेंगे, उन सबका भी नाम ले-लेकर पाण्डवोंने उन्हें अपना भाग निश्चित किया है ॥ २४ ॥

एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत् ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार पाण्डवोंकी सेनाएँ पृथक्-पृथक् भागोंमें बँटी हुई हैं । अब पुत्रोंसहित आपका जो कर्तव्य हो, उसे अविलम्ब पूरा करें ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न सन्ति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! समरभूमिके प्रमुख भागमें बलवान् भीमसेनके साथ जिनका युद्ध होनेवाला है, वे कपट-पूर्ण जूआ खेलनेवाले मेरे सभी मूर्ख पुत्र अब नहींके बराबर हैं ॥ २६ ॥

राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

भूमण्डलके समस्त राजाओंका वध करनेके लिये मानो कालधर्मा यमराजने उनका प्रोक्षण (संस्कार) किया है; अतः जैसे पतंग आगमें गिरते हैं, वैसे ही ये सब नरेश गाण्डीव धनुषकी आगमें समा जायँगे ॥ २७ ॥

विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यन्ति प्रभग्नां पाण्डवैर्युधि ॥ २८ ॥

मैं तो समझता हूँ; जिनका हमलोगोंके साथ वैर ठन गया है, वे महात्मा पाण्डव समराङ्गणमें हमारी विशाल सेनाको अवश्य मार भगायेंगे । उनके द्वारा खदेड़ी हुई उस सेनाका अनुसरण अथवा सहयोग कौन कर सकेंगे ? ॥ २८ ॥

सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमन्तः प्रतापिनः ।
सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिंजयाः ॥ २९ ॥

समस्त पाण्डव अतिरथी शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी, युद्धविजयी तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥२९॥

येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पाण्डवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ॥ ३० ॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ३१ ॥
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखण्डी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ॥ ३२ ॥
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
येषामिन्द्रोऽप्यकामानां न हरेत् पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिन्द्युः पर्वतानपि ॥ ३४ ॥
तान् सर्वगुणसम्पन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, भगवान् मधुसूदन जिनके रक्षक हैं, पाण्डुपुत्र वीरवर अर्जुन और भीमसेन जिनके प्रमुख योद्धा हैं, नकुल, सहदेव, पृषत्वंशी धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रुपद, धृष्टकेतु, सुकेतु, पाञ्चालदेशीय उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराटकुमार उत्तर, काशि, चेदि तथा मत्स्यदेशके सैनिक, सृंजयवंशी क्षत्रिय, विराटकुमार बभ्रु तथा पाञ्चालदेशीय प्रभद्रकगण जिनके पक्षमें युद्धके लिये उद्यत हैं, जिनकी इच्छाके बिना देवराज इन्द्र भी इस पृथ्वीका अपहरण नहीं कर सकते, जो वीर तथा रणधीर हैं, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका

प्रताप देवताओंके समान है तथा जो समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन्हीं पाण्डवोंके साथ मेरा दुष्ट पुत्र दुर्योधन मेरे चीखते-चिल्लाते हुए भी युद्ध करना चाहता है ॥ ३०—३५ ॥

दुर्योधन उवाच

उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ।
अथ कस्मात् पाण्डवानामेकतो मन्यसे जयम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! हम कौरव तथा पाण्डव दोनों एक ही जातिके हैं और दोनों इसी भूमिपर रहते हैं। फिर एकमात्र पाण्डवोंकी ही विजय होगी, यह धारणा आपने कैसे बना ली ? ॥ ३६ ॥

पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम्।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ॥ ३७ ॥
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः।
अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पाण्डवाः ॥ ३८ ॥

तात ! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्जय वीर कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त तथा अश्वत्थामा ये सभी उत्तम तेजस्वी और महान् धनुर्धर हैं। देवताओंसहित इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३७-३८ ॥

सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पाण्डवान्।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ॥ ३९ ॥

तात ! ये सभी भूपाल श्रेष्ठ, शस्त्रधारी और शूरवीर होनेके साथ ही मेरे लिये पाण्डवोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥

न मामकान् पाण्डवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम्।
पराक्रान्तो ह्यहं पाण्डून् सपुत्रान् योद्धुमाहवे ॥ ४० ॥

पाण्डव मेरे पक्षके इन वीरोंकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। पुत्रोंसहित पाण्डवोंके साथ मैं अकेला ही समराङ्गणमें युद्ध करनेकी शक्ति रखता हूँ ॥४०॥

मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षन्ति भारत।
ते तानावारयिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! जो भूपाल मेरा प्रिय करना चाहते हैं, वे सब उन पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे उसी प्रकार रोक देंगे, जैसे फंदेसे हिरनके बच्चोंको रोका जाता है ॥ ४१ ॥

महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः।
अभिद्रुता भविष्यन्ति पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ४२ ॥

मेरे पक्षकी विशाल रथसेना तथा मेरे सैनिकोंके बाण-समूहोंसे आहत होकर पाञ्चाल और पाण्डव भाग खड़े होंगे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरा यह पुत्र पागलके समान प्रलाप कर रहा है। यह युद्धमें धर्मराज युधिष्ठिरको कभी जीत नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जानाति हि यथा भीष्मः पाण्डवानां यशस्विनाम्।
बलवत्तां सपुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥
यतो नारोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः।

पुत्रोंसहित धर्मज्ञ एवं यशस्वी महात्मा पाण्डव कितने बलशाली हैं, इस बातको भीष्मजी अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये उन्हें उन महात्माओंके साथ युद्ध छेड़नेकी बात पसंद नहीं आयी ॥ ४४½ ॥

किं तु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पाण्डवान्।
अर्चिष्मतो महेष्वासान् हविषा पावकानिव ॥ ४६ ॥

संजय ! तुम पुनः मेरे सामने पाण्डवोंकी चेष्टाका वर्णन करो। कौन ऐसा वीर है, जो वेगशाली और तेजस्वी महाधनुर्धर पाण्डवोंको बार-बार उसी प्रकार उत्तेजित किया करता है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नः सदैवैनान् संदीपयति भारत।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद् भरतसत्तमाः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—भारत ! धृष्टद्युम्न सदा ही इन पाण्डवोंको उत्तेजित करते रहते हैं। वे कहते हैं—'भरतकुल-भूषण पाण्डवो ! आपलोग युद्ध करें, उससे तनिक भी भयभीत न हों ॥ ४७ ॥

ये केचित् पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः।
युद्धे समागमिष्यन्ति तुमुले शस्त्रसंकुले ॥ ४८ ॥
तान् सर्वानाहवे क्रुद्धान् सानुबन्धान् समागतान्।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवौदकान् ॥ ४९ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके द्वारा एकत्र किये हुए जो जो नरेश अस्त्र-शस्त्रोंकी मारकाटसे व्याप्त हुए भयानक संग्राममें मेरे सामने आयेंगे, वे कितने ही क्रोधमें भरे हुए क्यों न हों, सगे सम्बन्धियोंसहित रणभूमिमें आये हुए उन सभी राजाओंको मैं अकेला ही उसी प्रकार वशमें कर लूँगा, जैसे तिमि नामक महामत्स्य जलकी दूसरी मछलियोंको निगल जाता है ॥ ४८-४९ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम्।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य तथा दुर्योधन—इन सबको मैं उसी भाँति आगे बढ़नेसे रोक दूँगा, जैसे किनारा समुद्रको रोके रखता है' ॥ ५० ॥

तथा ब्रुवन्तं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः।
तव धैर्यं च वीर्यं च पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ५१ ॥
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ५२ ॥
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार बोलते हुए धृष्टद्युम्नसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने कहा—'महाबाहो ! पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल वीर तुम्हारे धैर्य और पराक्रमका ही आश्रय लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, इसलिये तुम्हीं इस संग्रामसे हमलोगोंका उद्धार करो। मैं जानता हूँ कि तुम क्षत्रियधर्ममें प्रतिष्ठित हो और युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए समस्त कौरवोंको अकेले ही कैद कर लेनेकी पूरी शक्ति रखते हो ॥ ५१-५३ ॥

भवता यद् विधातव्यं तन्नः श्रेयः परंतप।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ॥ ५४ ॥
पौरुषं दर्शयञ्छूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान्।
क्रीणीयात् तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

'परंतप ! तुम जो कुछ करोगे, वही हमारे लिये मङ्गलकारी होगा। जो वीर पुरुष अपना पौरुष प्रकट करते हुए युद्धभूमिसे पराजित होकर भागे हुए शरणार्थी सैनिकोंके सामने खड़ा होता (और उनके भयका निवारण करता) है, उसे सहस्रोंकी सम्पत्ति देकर भी खरीद ले (अपने पक्षमें कर ले); यही नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ ५४-५५ ॥

स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रान्तश्च नरर्षभ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ॥ ५६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इसमें संदेह नहीं कि तुम शूर, वीर और पराक्रमी हो तथा युद्धमें भयसे पीड़ित हुए सैनिकोंकी रक्षा कर सकते हो' ॥ ५६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम्।
सर्वाञ्जनपदान् सूत योधा दुर्योधनस्य ये ॥ ५७ ॥
सबाह्लिकान् कुरून् ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्शरद्वतः।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ॥ ५८ ॥
दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम्।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ॥ ५९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय धृष्टद्युम्नने मुझसे भयरहित यह वचन कहा—'सूत ! वहाँ दुर्योधनके जितने योद्धा हैं, उनसे, समस्त देशवासियोंसे, बाह्लीक आदि प्रतीपवंशी कौरवोंसे, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यसे, सूतपुत्र कर्णसे, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामासे तथा जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, राजा दुर्योधन और भीष्मसे भी शीघ्र जाकर मेरा यह संदेश कहो। अभी जाओ, विलम्ब मत करो ॥ ५७–५९ ॥

युधिष्ठिरः साधुनैवाभ्युपेयो
मा वो वधीदर्जुनो देवगुप्तः।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं
याचध्वं वै पाण्डवं लोकवीरम् ॥ ६० ॥

(वह संदेश इस प्रकार है–) 'कौरवो ! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहारसे ही वशमें किये जा सकते हैं (युद्धसे नहीं)। ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओंद्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन तुमलोगोंका वध कर डालें। धर्मराज युधिष्ठिरको शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्षमा-याचना करो ॥ ६० ॥

नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन।
यथाविधः सव्यसाची पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ६१ ॥

'सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे सत्यपराक्रमी हैं, वैसा योद्धा इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ६१ ॥

देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृध्वं मनो युधि ॥ ६२ ॥

'गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनका दिव्य रथ देवताओंद्वारा सुरक्षित है। कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुमलोग अपने मनको युद्धकी ओर न जाने दो' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना, दुर्योधनका अहंकारपूर्वक पाण्डवोंसे युद्ध करनेका ही निश्चय तथा धृतराष्ट्रका अन्य योद्धाओंको युद्धसे भय दिखाना

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पाण्डवः।
तेन संयुगमेष्यन्ति मन्दा विलपतो मम ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर क्षात्र तेजसे सम्पन्न हैं। उन्होंने कुमारावस्थासे ही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, परंतु मेरे ये मूर्ख पुत्र मेरे विलापकी ओर

ध्यान न देकर उन्हीं युधिष्ठिरके साथ युद्ध छेड़नेवाले हैं ॥ १ ॥

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिंदम ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण शत्रुदमन दुर्योधन ! तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशामें युद्धकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! तुम पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग दे दो । बेटा ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है ॥ ३ ॥

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्मसंहितम् ।
यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः॥ ४ ॥

समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवोंके साथ (संधि करके आपसमें) शान्ति बनाये रखनेकी बात स्वीकार कर लो ॥ ४ ॥

अङ्गेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एव तवाभावस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ॥ ५ ॥

वत्स ! तुम इस अपनी ही सेनाकी ओर दृष्टिपात करो । यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, परंतु तुम मोहवश इस बातको समझ नहीं रहे हो ॥ ५ ॥

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः॥ ६ ॥
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ॥ ७ ॥

देखो, न तो मैं युद्ध करना चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं और न भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, संजय, सोमदत्त, शल तथा कृपाचार्य ही युद्ध करना चाहते हैं । सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय और भूरिश्रवा भी युद्धके पक्षमें नहीं हैं ॥ ६–७ ॥

येषु सम्प्रति तिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।
ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम्॥ ८ ॥

शत्रुओंसे पीड़ित होनेपर कौरवसैनिक जिनके आश्रयमें खड़े हो सकते हैं, वे ही लोग युद्धका अनुमोदन नहीं कर रहे हैं । तात ! उनके इस विचारको तुम्हें भी पसंद करना चाहिये ॥ ८ ॥

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ९ ॥

(मैं जानता हूँ,) तुम अपनी इच्छासे युद्ध नहीं कर रहे हो; अपितु पापात्मा दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।
न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ १० ॥
सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।
अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥ ११ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने आप, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, काम्बोजनरेश, कृपाचार्य, बाह्लीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओंपर सारा बोझ रखकर पाण्डवोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं किया है ॥ १०-११ ॥

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! मैंने तथा कर्णने रणयज्ञका विस्तार करके युधिष्ठिरको बलिपशु बनाकर उस यज्ञकी दीक्षा ले ली है ॥ १२ ॥

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥ १३ ॥

इसमें रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथका भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं, और यश ही हविष्य है ॥ १३ ॥

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! हम दोनों समराङ्गणमें अपने इस यज्ञके द्वारा यमराजका यजन करके शत्रुओंको मारकर विजयी हो विजयलक्ष्मीसे शोभा पाते हुए पुनः राजधानीमें लौटेंगे ॥ १४ ॥

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ॥ १५ ॥

तात ! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन–हम तीन ही समरभूमिमें पाण्डवोंका संहार कर डालेंगे ॥ १५ ॥

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम्।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम्॥ १६॥

या तो मैं ही पाण्डवोंको मारकर इस पृथ्वीका शासन करूँगा या पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डलका राज्य भोगेंगे ॥ १६ ॥

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १७ ॥

राज्यच्युत न होनेवाले महाराज ! मैं जीवन, राज्य,

धन—सब कुछ छोड़ सकता हूँ, परंतु पाण्डवोंके साथ मिलकर कदापि नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ १८ ॥

पूज्य पिताजी ! तीखी सूईके अग्रभागसे जितनी भूमि बिंध सकती है, उतनी भी मैं पाण्डवोंको नहीं दे सकता ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले— तात कौरवगण ! दुर्योधनको तो मैंने त्याग दिया। यमलोकको जाते हुए उस मूर्खका तुम लोगोंमेंसे जो अनुसरण करेंगे मैं उन सभी लोगोंके लिये शोकमें पड़ा हूँ ॥

रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ॥ २० ॥

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगोंके झुंडोंमें, घुसकर बड़ों-बड़ोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार योद्धाओंमें अग्रगण्य पाण्डव युद्धमें एकत्र होकर कौरवोंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वध कर डालेंगे ॥ २० ॥

प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती।
व्यस्ता सीमन्तिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ २१ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पुरुषसे तिरस्कृत हुई नारीकी भाँति इस भरतवंशियोंकी सेनाको विशाल बाँहोंवाले वीर सात्यकिने अपने अधिकारमें करके रौंद डाला है और वह अब विपरीत दिशाकी ओर अस्त-व्यस्त दशामें भागी जा रही है ॥ २१ ॥

सम्पूर्णं पूरयन् भूयो धनं पार्थस्य माधवः।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान् ॥ २२ ॥

मधुवंशी सात्यकि युधिष्ठिरके भरे-पूरे बल वैभवको और भी बढ़ाते हुए, जैसे किसान खेतोंमें बीज बोता है; उसी प्रकार समर-भूमिमें बाण बिखेरते हुए खड़े होंगे ॥ २२ ॥

सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति।
तं सर्वे संश्रयिष्यन्ति प्राकारमकुतोभयम् ॥ २३ ॥

सेनामें समस्त पाण्डव योद्धाओंके आगे भीमसेन खड़े होंगे और समस्त योद्धा उन्हें भयरहित प्राकार (चहारदीवारी) के समान मानकर उन्हींका आश्रय लेंगे ॥ २३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरान् विनिपातितान्।
विशीर्णदन्तान् गिर्याभान् भिन्नकुम्भान् सशोणितान् ॥
तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान्।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात् स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २५ ॥

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने पर्वताकार गजराजोंके दाँत तोड़ एवं कुम्भस्थल विदीर्ण करके उन्हें रक्तरञ्जित दशामें धराशायी कर दिया है और वे रणभूमिमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब उन सबपर दृष्टिपात करके भीमसेनके स्पर्शसे भी भयभीत होकर मेरी कही हुई बातोंको याद करोगे ॥ २४-२५ ॥

निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम्।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २६ ॥

भीमसेन जब घोड़े, रथ और हाथियोंसे भरी हुई सारी कौरवसेनाको अपनी क्रोधाग्निसे दग्ध करने लगेंगे, उस समय अग्निके समान उनका प्रबल वेग देखकर तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २६ ॥

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ॥ २७ ॥

तुमलोगोंपर बहुत बड़ा भय आनेवाला है। मैं नहीं चाहता कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारा युद्ध हो । यदि हो गया तो तुमलोग भीमसेनकी गदासे मारे जाकर सदाके लिये शान्त हो जाओगे ॥ २७ ॥

महावनमिवच्छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम्।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥ २८ ॥

काटकर गिराये हुए विशाल वनकी भाँति जब तुम कौरवसेनाको भीमसेनके द्वारा मार गिरायी हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरे वचनोंका स्मरण हो आयेगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान् पृथिवीपतीन्।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने वहाँ बैठे हुए समस्त भूपालोंसे उपर्युक्त बातें कहकर उन्हें समझा-बुझाकर पुनः संजयसे पूछा ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अन्तःपुरमें कहे हुए संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

यद्ब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाप्राज्ञ संजय ! महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ कहा हो, वह मुझे बताओ; मैं तुम्हारे मुखसे उनके संदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा दृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ।
ऊचतुश्चापि यद् वीरौ तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ २ ॥

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! सुनिये। मैंने वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनको जैसे देखा है और उन्होंने जो संदेश दिया है, वह आपको बता रहा हूँ ॥ २ ॥

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः ॥ ३ ॥

राजन् ! मैं नरदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे आपका संदेश सुनानेके लिये मनको पूर्णतः संयममें रखकर अपने पैरोंकी अङ्गुलियोंपर ही दृष्टि लगाये और हाथ जोड़े हुए उनके अन्तःपुरमें गया ॥ ३ ॥

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी ॥ ४ ॥

जहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं, उस स्थानमें कुमार अभिमन्यु तथा नकुल सहदेव भी नहीं जा सकते थे ॥ ४ ॥

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ ॥ ५ ॥

वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्दविभोर हो रहे थे। उन दोनोंके श्रीअङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

नैकरत्नविचित्रं तु काञ्चनं महदासनम्।
विविधास्तरणाकीर्णं यत्रासातामरिंदमौ ॥ ६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर जिस विशाल आसनपर बैठे थे, वह सोनेका बना हुआ था। उसमें अनेक प्रकारके रत्न जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसपर भाँति-भाँतिके सुन्दर बिछौने बिछे हुए थे ॥ ६ ॥

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः ॥ ७ ॥

मैंने देखा, श्रीकृष्णके दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें थे और महात्मा अर्जुनका एक पैर द्रौपदीकी तथा दूसरा सत्यभामाकी गोदमें था ॥ ७ ॥

काञ्चनं पादपीठं तु पार्थो मे प्रादिशत् तदा।
तदहं पाणिना स्पृष्ट्वा ततो भूमावुपाविशम् ॥ ८ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय मुझे बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े) की ओर संकेत कर दिया, परंतु मैं हाथसे उसका स्पर्शमात्र करके पृथ्वीपर ही बैठ गया ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वरेखातलौ पादौ पार्थस्य शुभलक्षणौ।
पादपीठादपहृतौ तत्रापश्यमहं शुभौ ॥ ९ ॥

बैठ जानेपर वहाँ मैंने पादपीठसे हटाये हुए अर्जुनके दोनों सुन्दर चरणोंको (ध्यानपूर्वक) देखा, उनके तलुओंमें ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और वे दोनों पैर शुभसूचक विविध लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ९ ॥

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों श्यामवर्ण, बड़े डील-डौलवाले, तरुण तथा शालवृक्षके स्कन्धोंके समान उन्नत हैं। उन दोनोंको एक आसनपर बैठे देख मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ १० ॥

इन्द्रविष्णुसमावेतौ मन्दात्मा नावबुद्ध्यते ।
संश्रयाद् द्रोणभीष्माभ्यां कर्णस्य च विकत्थनात् ॥ ११ ॥

मैंने सोचा, इन्द्र और विष्णुके समान अचिन्त्य शक्तिशाली इन दोनों वीरोंको मन्दबुद्धि दुर्योधन नहीं समझ पाता है। यह द्रोणाचार्य और भीष्मका भरोसा करके तथा कर्णकी डींग-भरी बातें सुनकर मोहित हो रहा है ॥ ११ ॥

निदेशस्थाविमौ यस्य मानसस्तस्य सेत्स्यते ।
संकल्पो धर्मराजस्य निश्चयो मे तदाभवत् ॥ १२ ॥

ये दोनों महात्मा जिनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरका मानसिक संकल्प अवश्य सिद्ध होगा; यही उस समय मेरा निश्चय हुआ था ॥

सत्कृतश्चान्नपानाभ्यामासीनो लब्धसत्क्रियः ।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय तौ संदेशमचोदयम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् अन्न और जलके द्वारा मेरा सत्कार किया गया। यथोचित आदर-सत्कार पाकर जब मैं बैठा, तब माथे-पर अञ्जलि जोड़कर मैंने उन दोनोंसे आपका संदेश कह सुनाया ॥ १३ ॥

धनुर्गुणकिणाङ्केन पाणिना शुभलक्षणम् ।
पादमानमयन् पार्थः केशवं समचोदयत् ॥ १४ ॥

तब अर्जुनने जिसमें धनुषकी डोरीकी रगड़से चिह्न बन गया था, उस हाथसे भगवान् श्रीकृष्णके शुभसूचक लक्षणोंसे युक्त चरणको धीरे-धीरे दबाते हुए उन्हें मुझको उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ १४ ॥

इन्द्रकेतुरिवोत्थाय सर्वाभरणभूषितः ।
इन्द्रवीर्योपमः कृष्णः संविष्टो माभ्यभाषत ॥ १५ ॥
वाचं स वदतां श्रेष्ठो ह्लादिनीं वचनक्षमाम् ।
त्रासिनीं धार्तराष्ट्राणां मृदुपूर्वां सुदारुणाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन्द्रध्वजके समान उठ बैठे और मुझसे पहले तो मृदुल एवं मनको आह्लाद प्रदान करने-वाली प्रवचनयोग्य वाणी बोले। फिर वह वाणी अत्यन्त दारुणरूपमें प्रकट हुई, जो आपके पुत्रोंके लिये भय उपस्थित करनेवाली थी ॥ १५-१६ ॥

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम् ।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको मोह लेनेवाली थी ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय ! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना ॥ १८ ॥

आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन् ।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम् ॥ १९ ॥

सूत ! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना। इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना—॥ १९ ॥

यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्त दक्षिणाः ।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम् ॥ २० ॥

'कौरवो ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है ॥ २० ॥

अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान् ।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये ॥ २१ ॥

'तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छा-के अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ २१ ॥

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥ २२ ॥

'जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है ! (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥ २३ ॥

'जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है ॥ २३ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः ॥ २४ ॥

'जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन

पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ ॥ २४ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ २५ ॥

'जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ २५ ॥

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे ॥ २६ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके ॥ २६ ॥

यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २७ ॥

'विराटनगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ २७ ॥

एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २८ ॥

'जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है ॥

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते ॥ २९ ॥

'बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं' ॥ २९ ॥

इत्यब्रवीद्धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन् गिरा ।
गर्जन् समयवर्षीव गगने पाकशासनः ॥ ३० ॥

जैसे इन्द्र आकाशमें गर्जता हुआ समयपर वर्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपनी वाणीसे आनन्दित करते हुए उपर्युक्त बात कही ॥ ३० ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद् वाक्यमब्रवीद् रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर किरीटधारी श्वेतवाहन अर्जुनने भी उसी रोमाञ्चकारी महावाक्यको दुहरा दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयद्वारा श्रीकृष्णके संदेशका कथनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका तुलनात्मक वर्णन

वैशम्पायन उवाच

संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयकी बात सुनकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने उसके वचनके गुण-दोषका विवेचन आरम्भ किया ॥ १ ॥

प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान् विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान् प्रति ॥ २ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
(यदा तु मेने भूयिष्ठं तद्वचो गुणदोषतः ।
पुनरेव कुरूणां च पाण्डवानां च बुद्धिमान् ॥)
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ॥ ३ ॥

अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बुद्धितत्त्वके द्वारा उक्त वचनके सूक्ष्मसे सूक्ष्म गुण-दोषोंकी यथावत् समीक्षा करके दोनों पक्षोंकी प्रबलता एवं निर्बलताका यथार्थरूपसे निश्चय कर लिया। तत्पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि गुण-दोषकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका कथन सर्वोत्कृष्ट है, तब उन बुद्धिमान् नरेशने पुनः कौरवों और पाण्डवोंकी शक्तिपर विचार करना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पाण्डवान् ।
कुरून् शक्त्याल्पतरया दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंमें दैवी शक्ति, मानवी शक्ति तथा तेज—इन सभी दृष्टियोंसे उत्कृष्टता प्रतीत हुई और कौरव-पक्षकी शक्ति अल्प जान पड़ी; इस प्रकार विचार करके धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४ ॥

दुर्योधनेयं चिन्ता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नानुमानतः ॥ ५ ॥

'वत्स दुर्योधन ! मेरी यह चिन्ता कभी दूर नहीं होती है,

क्योंकि तुम्हारा पक्ष दुर्बल है। मैं यह बात अनुमानसे नहीं कहता हूँ; प्रत्यक्ष देख रहा हूँ; अतः इसीको सत्य मानता हूँ॥

(ईदृशेऽभिनिविष्टस्य पृथिवीक्षयकारके।
अधर्म्ये चायशस्ये वा कार्ये महति दारुणे॥
पाण्डवैर्विग्रहस्तात सर्वथा मे न रोचते॥)

'तुम ऐसे कार्यके लिये दुराग्रह करते हो, जो समस्त भूमण्डलका विनाश करनेवाला है। यह अधर्मकारक तो है ही, अपयशकी भी वृद्धि करनेवाला है; इसके सिवा यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म है। तात! तुम्हारा पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ना मुझे किसी भी तरह अच्छा नहीं लग रहा है॥

आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते।
प्रियाणि चैषां कुर्वन्ति यथाशक्ति हितानि च॥ ६॥

'संसारके समस्त प्राणी अपने पुत्रोंपर अत्यन्त स्नेह करते हैं तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रिय एवं हितसाधन करते हैं॥ ६॥

एवमेवोपकर्तृणां प्रायशो लक्षयामहे।
इच्छन्ति बहुलं सन्तः प्रतिकर्तुं महत् प्रियम्॥ ७॥

'इसी प्रकार प्रायः यह भी देखता हूँ कि साधु पुरुष उपकारी मनुष्योंके उपकारका बदला चुकानेके लिये उनका बारंबार महान् प्रिय कार्य करना चाहते हैं॥ ७॥

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात् खाण्डवे तत्कृतं स्मरन्।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन् कुरुपाण्डुसमागमे॥ ८॥

'कौरव-पाण्डवोंके इस भयंकर संग्राममें अग्निदेव भी खाण्डववनमें अर्जुनके किये हुए उपकारको याद करके उनकी सहायता अवश्य करेंगे॥ ८॥

जातिगृद्ध्याभिपन्नाश्च पाण्डवानामनेकशः।
धर्मादयः समेष्यन्ति समाहूता दिवौकसः॥ ९॥

'इसके सिवा पाण्डवोंका जन्म अनेक देवताओंसे हुआ है, इसलिये वे धर्म आदि देवता युधिष्ठिर आदिके बुलानेपर उनकी सहायताके लिये अवश्य पधारेंगे॥ ९॥

भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसंनिभम्।
रिरक्षिषन्तः संरम्भं गमिष्यन्तीति मे मतिः॥ १०॥

'भीष्म, द्रोण और कृप आदिके भयसे पाण्डवोंकी रक्षा चाहते हुए देवतालोग भीष्म आदिपर वज्रके समान भयंकर क्रोध करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १०॥

ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम्।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवन्तोऽस्त्रपारगाः॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डव अस्त्रविद्याके पारङ्गत और पराक्रमी तो हैं ही, देवताओंका सहयोग भी प्राप्त कर चुके हैं; अतः कोई मनुष्य उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता॥

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम्।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी॥ १२॥
वानरश्च ध्वजो दिव्यो निःसङ्गो धूमवद्गतिः।
रथश्च चतुरन्तायां यस्य नास्ति समः क्षितौ॥ १३॥
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः॥ १४॥
यं चाति मानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे॥ १५॥
शतानि पञ्च चैवेषून् यो गृह्णन् नैव दृश्यते।
निमेषान्तरमात्रेण मुञ्चन् दूरं च पातयन्॥ १६॥
यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः॥ १७॥
युद्धायावस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम्॥ १८॥
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पाण्डवम्॥ १९॥
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेन्द्रविक्रमम्।
निघ्नन्तमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन् महाहवे॥ २०॥

'जिसके पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुणके दिये हुए बाणोंसे भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं, जिसका दिव्य वानर-ध्वज कहीं भी अटकता नहीं है—धूमकी भाँति अप्रतिहत गतिसे सर्वत्र जा सकता है, समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीपर जिसके रथकी समानता करनेवाला दूसरा कोई रथ नहीं है, जिसके रथका घर्घर शब्द सब लोगोंको महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता है तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शत्रुसैनिकोंके मनमें भयका संचार कर देता है, जिसे सब लोग अलौकिक पराक्रमी मानते हैं, समस्त राजा भी जिसे युद्धमें देवताओंतकको पराजित करनेमें समर्थ समझते हैं; जो पलक मारते-मारते पाँच सौ बाणोंको हाथमें लेता, छोड़ता और दूरस्थ लक्ष्योंको भी मार गिराता है; किंतु यह सब करते समय कोई भी जिसे देख नहीं पाता है; जिसके विषयमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य तथा तटस्थ मनुष्य भी ऐसा कहते हैं कि युद्धके लिये खड़े हुए शत्रुदमन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पराजित करना अमानुषिक शक्ति रखनेवाले भूमिपालोंके लिये भी असम्भव है। जो एक वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है तथा जो बाहुबलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी उस महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन अर्जुनको मैं इस महासमरमें शत्रु-सेनाओंका संहार करता हुआ-सा देख रहा हूँ॥ १२—२०॥

इत्येवं चिन्तयन् कृत्स्नमहोरात्राणि भारत।
अनिद्रो निःसुखश्चास्मि कुरूणां शमचिन्तया॥ २१॥

'भारत! मैं दिन-रात यही सब सोचते-सोचते नींद नहीं ले पाता हूँ। कुरुवंशियोंमें कैसे शान्ति बनी रहे?—इस

चिन्तासे मेरा सारा सुख छिन गया है ॥ २१ ॥

क्षयोदयोऽयं सुमहान् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अस्य चेत् कलहस्यान्तः शमादन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥२३॥

कौरवोंके लिये यह महान् विनाशका अवसर उपस्थित हुआ है । तात ! यदि इस कलहका अन्त करनेके लिये संधिके सिवा और कोई उपाय नहीं है तो मुझे सदा संधिकी ही बात अच्छी लगती है; कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्ध छेड़ना ठीक नहीं है। मैं सदा पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक शक्तिशाली मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका विवेचनसम्बन्धी साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा आत्मप्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिताकी यह बात सुनकर अत्यन्त असहिष्णु दुर्योधनने भीतर-ही-भीतर भारी क्रोध करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद् भवान् ।
मन्यते तद् भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ ! आप जो ऐसा मानते हैं कि कुन्तीके पुत्रोंको जीतना असम्भव है, क्योंकि देवता उनके सहायक हैं,यह ठीक नहीं है । आपके मनमें यह भय निकल जाना चाहिये ॥ २ ॥

अकामद्वेषसंयोगलोभद्रोहाच्च भारत ।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन ! काम (राग),द्वेष, संयोग (ममता),लोभ और द्रोह (क्रोध) रूपी दोषोंसे रहित होनेके कारण तथा दूषित भावोंकी उपेक्षा कर देनेके कारण ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः ।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत् पुरा ॥ ४ ॥

'यह बात पूर्वकालमें द्वैपायन व्यासजी, महातपस्वी नारदजी तथा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने हमलोगोंको बतायी थी ॥ ४ ॥

नैव मानुषवद् देवाः प्रवर्तन्ते कदाचन ।
कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! देवता मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ और द्वेषभावसे किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इन्द्रोऽश्विनावपि ।
कामयोगात् प्रवर्तेरन् न पार्था दुःखमाप्नुयुः॥ ६ ॥

'यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार भी कामनाके वशीभूत होकर सब कार्योंमें प्रवृत्त होने लग जाते तब तो कुन्तीपुत्रोंको कभी दुःख उठाना ही नहीं पड़ता ॥६॥

तस्मान्न भवता चिन्ता कार्यैषा स्यात् कथंचन ।
दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद् भावेषु भारत ॥ ७ ॥

'अतः भरतनन्दन ! आप किसी प्रकार भी ऐसी चिन्ता न करें; क्योंकि देवता सदा दिव्यभाव—शम आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरभावोंकी नहीं ॥७॥

अथ चेत् कामसंयोगाद् द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते ।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद् विक्रमिष्यति ॥ ८ ॥

'तथापि यदि देवताओंमें कामनावश द्वेष और लोभ लक्षित होता है तो (उनमें देवत्वका अभाव हो जानेके कारण) उनकी वह शक्ति हमलोगोंपर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकेगी क्योंकि देवोंमें देवभावकी प्रधानता है ॥ ८ ॥

मयाभिमन्त्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति ।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान् परिक्षिप्य समन्ततः ॥ ९ ॥

'(वैसे तो मुझमें भी दैवबल है ही;) यदि मैं अभिमन्त्रित कर दूँ तो सदा सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुई आग भी सब ओरसे सिमटकर बुझ जायगी ॥ ९ ॥

यद् वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः ।
ममाप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ॥ १० ॥

'भारत ! यदि कोई ऐसा उत्कृष्ट तेज है, जिससे देवता युक्त हैं तो मुझे भी देवताओंसे ही अनुपम तेज प्राप्त हुआ है, यह आप अच्छी तरह जान लें ॥ १० ॥

विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च ।
लोकस्य पश्यतो राजन् स्थापयाम्यभिमन्त्रणात्॥ ११॥

'राजन् ! मैं सब लोगोंके देखते-देखते विदीर्ण होती हुई

पृथ्वी तथा टूटकर गिरते हुए पर्वत-शिखरोंको भी मन्त्रबलसे अभिमन्त्रित करके पहलेकी भाँति स्थापित कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

चेतनाचेतनस्यास्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ॥ १२ ॥
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकम्पया ॥ १३ ॥

'इस चेतन-अचेतन और स्थावर-जङ्गम जगत्‌के विनाशके लिये प्रकट हुई महान् कोलाहलकारी भयंकर शिलावृष्टि अथवा आँधीको भी मैं सदा समस्त प्राणियोंपर दया करके सबके देखते-देखते यहीं शान्त कर सकता हूँ ॥ १२-१३ ॥

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥ १४ ॥

'मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जलके ऊपर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं । एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियोंको प्रकट करनेमें समर्थ हूँ ॥ १४ ॥

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राश्वा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ॥ १५ ॥

'मैं किसी कार्यके उद्देश्यसे जिन-जिन देशोंमें अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर जाता हूँ, उनमें जहाँ-जहाँ मेरी इच्छा होती है, उन सभी स्थानोंमें मेरे घोड़े (अप्रतिहत गतिसे) विचरते हैं ॥ १५ ॥

भयानकानि विषये व्यालादीनि न सन्ति मे ।
मन्त्रगुप्तानि भूतानि न हिंसन्ति भयंकराः ॥ १६ ॥

'मेरे राज्यमें सर्प आदि भयंकर जीव-जन्तु नहीं हैं । यदि कोई भयंकर प्राणी हों तो भी वे मेरे मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित जीव-जन्तुओंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

निकामवर्षी पर्जन्यो राजन् विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न सन्ति मे ॥ १७ ॥

'महाराज ! मेरे राज्यमें रहनेवाली प्रजाओंके लिये बादल प्रचुर जल बरसाता है, सम्पूर्ण प्रजाएँ धर्ममें तत्पर रहती हैं तथा मेरे राष्ट्रमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि आदि किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं है ॥ १७ ॥

अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान् नोत्सहन्तेऽभिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

'जिनसे मैं द्वेष रखता हूँ, उनकी रक्षाका साहस अश्विनीकुमार, वायु, अग्नि, मरुद्गणोंसहित इन्द्र तथा धर्ममें भी नहीं है॥

यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्द्विषस्त्रातुमञ्जसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ॥ १९ ॥

'यदि ये लोग अनायास ही मेरे शत्रुओंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते तो कुन्तीके पुत्र तेरह वर्षोंतक कष्ट नहीं भोगते ॥

नैव देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

'पिताजी ! मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी मेरे शत्रुकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
नैतद् विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ॥ २१ ॥

'मैं अपने मित्रों और शत्रुओं—दोनोंके विषयमें शुभ या अशुभ जैसा भी चिन्तन करता हूँ, वह पहले कभी निष्फल नहीं हुआ है ॥ २१ ॥

भविष्यतीदमिति वा यद् ब्रवीमि परंतप ।
नान्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ॥ २२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! मैं जो बात मुँहसे कह देता हूँ कि यह इसी प्रकार होगा, मेरा वह कथन पहले कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है । इसीलिये लोग मुझे सत्यवादी मानते हैं ॥ २२ ॥

लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ॥ २३ ॥

'राजन् ! मेरा यह माहात्म्य सब लोगोंकी आँखोंके समक्ष है; सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रसिद्ध है । मैंने आपके आश्वासनके लिये ही इसकी यहाँ चर्चा की है, आत्मप्रशंसा करनेके लिये नहीं ॥ २३ ॥

न ह्यहं श्लाघनो राजन् भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद् यदात्मानं प्रशंसति ॥ २४ ॥

'महाराज ! आजसे पहले मैंने कभी भी आत्मप्रशंसा नहीं की है; क्योंकि मनुष्य जो अपनी प्रशंसा करता है, यह अच्छे पुरुषोंका कार्य नहीं है ॥ २४ ॥

पाण्डवांश्चैव मत्स्यांश्च पञ्चालान् केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोतासि विजितान् मया ॥ २५ ॥

'आप किसी दिन सुनेंगे कि मैंने पाण्डवोंको, मत्स्यदेशके योद्धाओंको, केकयोंसहित पाञ्चालोंको तथा सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी जीत लिया है ॥ २५ ॥

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः ।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ॥ २६ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर सब प्रकारसे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे पास आनेपर अपने कुल-परिवारसहित नष्ट हो जायँगे ।२६।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥ २७ ॥

'मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है । ये सारी वस्तुएँ पाण्डवोंकी अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ॥ २७ ॥

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा ।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ॥ २८ ॥

'पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्याके विषयमें जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है' ॥ २८ ॥

इत्युक्ते संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारतः ।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भरतनन्दन धृतराष्ट्रने युद्धकी इच्छा रखनेवाले दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर पुनः संजयसे समयोचित प्रश्न किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसपर आक्षेप, कर्णका सभा त्यागकर जाना और भीष्मका उसके प्रति पुनः आक्षेपयुक्त वचन कहना

वैशम्पायन उवाच

तथा तु पृच्छन्तमतीव पार्थं
वैचित्रवीर्यं तमचिन्तयित्वा ।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं
प्रहर्षयन् संसदि कौरवाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विचित्रवीर्य-नन्दन धृतराष्ट्रको पहलेकी ही भाँति कुन्तीकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार प्रश्न करते देख उनकी कोई परवा न करके कर्णने कौरव-सभामें दुर्योधनको हर्षित करते हुए कहा—॥ १ ॥

मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रामात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात् ।
विज्ञाय तेनास्मि तदैवमुक्त-
स्ते नान्तकाले प्रतिभास्यतीति ॥ २ ॥

'राजन् ! मैंने पूर्वकालमें झूठे ही अपनेको ब्राह्मण बताकर परशुरामजीसे जब ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर ली, तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझसे इस प्रकार कहा—'कर्ण ! अन्त समय आनेपर तुम्हें इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ २ ॥

महापराधे ह्यपि यन्न तेन
महर्षिणाहं गुरुणा च शप्तः ।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः
ससागरामप्यवनिं महर्षिः ॥ ३ ॥

'यद्यपि मेरे द्वारा उन महर्षिका महान् अपराध हुआ था, तथापि उन गुरुदेवने जो मुझे शाप नहीं दिया, यह उनका मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह है । अन्यथा वे प्रचण्ड तेजस्वी महामुनि समुद्रसहित सारी पृथ्वीको भी दग्ध कर सकते हैं । ३ ।

प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभू-
च्छुश्रूषया स्वेन स पौरुषेण ।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं
तस्मात् समर्थोऽस्मि ममैष भारः ॥ ४ ॥

'मैंने अपने पुरुषार्थ तथा सेवा-शुश्रूषासे उनके मनको प्रसन्न कर लिया था । वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है । मेरी आयु भी अभी शेष है; अतः मैं पाण्डवोंको जीतनेमें समर्थ हूँ । यह सारा भार मुझपर छोड़ दिया जाय ॥ ४ ॥

निमेषमात्रात् तमृषेः प्रसाद-
मवाप्य पाञ्चालकरूषमत्स्यान् ।
निहत्य पार्थान् सह पुत्रपौत्रै-
र्लोकानहं शस्त्रजितान् प्रपत्स्ये ॥ ५ ॥

'महर्षि परशुरामका कृपाप्रसाद पाकर मैं पलक मारते-मारते पाञ्चाल, करूष तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओं और कुन्ती-कुमारोंको पुत्र-पौत्रोंसहित मारकर शस्त्रद्वारा जीते हुए पुण्य-लोकोंमें जाऊँगा ॥ ५ ॥

पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे
द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः ।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा
पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः ॥ ६ ॥

'पितामह भीष्म आपके ही पास रहें, आचार्य द्रोण तथा समस्त मुख्य-मुख्य भूपाल भी आपके ही समीप रहें । मैं अपनी प्रधान सेनाके साथ जाकर अकेले ही सब कुन्तीकुमारों-को मार डालूँगा इसका सारा भार मुझपर रहा' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः
किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे ।

न कर्ण जानासि यथा प्रधाने
हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ॥ ७ ॥

कर्णको ऐसी बातें करते देख भीष्मजीने उससे कहा— 'कर्ण ! क्यों अपनी वीरताकी डींग हाँक रहा है ? जान पड़ता है, कालने तेरी बुद्धिको ग्रस लिया है । क्या तू नहीं जानता कि युद्धमें तुझ प्रधान वीरके मारे जानेपर सारे धृतराष्ट्रपुत्र ही मृतप्राय हो जायँगे ॥ ७ ॥

यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि
कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत् कर्म नियन्तुमात्मा
युक्तस्त्वया वै सहबान्धवेन ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्णसहित अर्जुनने खाण्डववनका दाह करते समय जो पराक्रम किया था, उसे सुनकर ही बान्धवोंसहित तुझे अपने मनपर काबू रखना उचित था ॥ ८ ॥

यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते
ददौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां
चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ॥ ९ ॥

'देवेश्वर महात्मा भगवान् महेन्द्रने तुझे जो शक्ति प्रदान की है, वह भगवान् केशवके चलाये हुए चक्रसे आहत हो समरभूमिमें छिन्न-भिन्न एवं दग्ध हो जायगी । इसे तू अपनी आँखों देख लेगा ॥ ९ ॥

यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति
सदाग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पाण्डुपुत्राभिहतः शरौघैः
सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ॥ १० ॥

'तेरे पास जो सर्पमुख बाण प्रकाशित होता है और तू प्रयत्नपूर्वक सदा ही पुष्पमाला आदि श्रेष्ठ उपचारोंद्वारा जिसकी पूजा किया करता है, वह पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाण-समूहोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरे साथ ही नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता
किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च
हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ॥ ११ ॥

'कर्ण ! बाणासुर और भौमासुरका वध करनेवाले वे वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनकी रक्षा करते हैं, जो तेरे-जैसे तथा तुझसे भी प्रबल शत्रुओंका भयंकर संग्राममें विनाश कर सकते हैं ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच

असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्त-
स्तथा च भूयांश्च महात्मा ततो ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित्
पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ॥ १२ ॥

कर्ण बोला—इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिकुलके स्वामी महात्मा श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव बताया गया है, वे वैसे ही हैं । बल्कि उससे भी बढ़कर हैं । परंतु मेरे प्रति जो किञ्चित् कटुवचनका प्रयोग किया गया है; उसका परिणाम

क्या होगा ? यह पितामह भीष्म मुझसे सुन लें ॥ १२ ॥

न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये
पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं
द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः ॥ १३ ॥

मैं अपने अस्त्र-शस्त्र रख देता हूँ । अब कभी पितामह मुझे इस सभामें अथवा युद्धभूमिमें नहीं देखेंगे । भीष्म ! आपके शान्त हो जानेपर ही समस्त भूपाल रणभूमिमें मेरा प्रभाव देखेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्
हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्
मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाधनुर्धर कर्ण सभा त्यागकर अपने घर चला गया । उस समय भीष्मने कौरवसभामें उसकी हँसी उड़ाते हुए दुर्योधनसे कहा— ॥ १४ ॥

सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्र-
स्तथा स भारं विषहेत कस्मात्।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा
लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात्॥ १५॥

'सूतपुत्र कर्ण कैसा सत्यप्रतिज्ञ निकला (पहले पाण्डवों-को जीतनेकी प्रतिज्ञा करके अब युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गया); भला वैसा महान् भार वह कैसे सँभाल सकता था ? अब तुमलोग पाण्डवसेनाके व्यूहका सामना करनेके लिये अपनी सेनाका भी व्यूह बनाकर युद्ध करो और परस्पर एक दूसरेके मस्तक काटकर भीमसेनके हाथों सारे संसारका संहार देखो ॥ १५ ॥

आवन्त्यकालिङ्गजयद्रथेषु
चेदिध्वजे तिष्ठति बाह्लिके च।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां
सहस्रशश्चायुतशश्च योधान्॥ १६॥

(कर्ण कहता था)—अवन्तीनरेश, कलिङ्गराज, जयद्रथ, चेदिश्रेष्ठ वीर तथा बाह्लिकके रहते हुए भी मैं सदा अकेला ही शत्रुओंके सहस्र-सहस्र एवं अयुत-अयुत योद्धाओंका संहार कर डालूँगा ॥ १६ ॥

यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये
ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम्।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं
वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य ॥ १७॥

'जिस समय अनिन्दनीय भगवान् परशुरामजीके समीप कर्णने अपनेको ब्राह्मण बताकर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा ली, उसी समय उस नराधम सूतपुत्रके धर्म और तपका नाश हो गया' ॥ १७ ॥

तथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे
निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धि-
र्दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे॥ १८॥

जनमेजय ! जब भीष्मजीने ऐसी बात कही और कर्ण हथियार फेंककर चला गया, उस समय मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें कर्ण और भीष्मके वचनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा अपने पक्षकी प्रबलताका वर्णन करना और विदुरका दमकी महिमा बताना

दुर्योधन उवाच

सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम्।
कथमेकान्ततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम्॥ १॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! मनुष्योंमें हम और पाण्डव शिक्षाकी दृष्टिसे समान हैं, हमारा जन्म भी एक ही कुलमें हुआ है; फिर आप यह कैसे मानते हैं कि युद्धमें एकमात्र कुन्तीकुमारोंकी ही विजय होगी ॥ १ ॥

वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च॥ २॥

बल, पराक्रम, समवयस्कता, प्रतिभा और शास्त्रज्ञान—इन सभी दृष्टियोंसे हमलोग और पाण्डव समान ही हैं॥ २॥

अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः॥ ३॥

अस्त्र-बल, योद्धाओंके संग्रह, हाथोंकी फुर्ती तथा युद्ध-कौशलमें भी हम और वे एक-से ही हैं, सभी समान जातिके हैं और सबके सब मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न हुए हैं॥ ३॥

पितामह विजानीष पार्थेषु विजयं कथम्।

नाहं भवति न द्रोणे न कृपे न च बाह्लिके ॥ ४ ॥
अन्येषु च नरेन्द्रेषु पराक्रम्य समारभे।

दादाजी ! ऐसी दशामें भी आप कैसे जानते हैं कि विजय कुन्तीपुत्रोंकी ही होगी। मैं आप, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लिक तथा अन्य राजाओंके पराक्रमका भरोसा करके युद्धका आरम्भ नहीं कर रहा हूँ ॥ ४½ ॥

अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ५ ॥
पाण्डवान् समरे पञ्च हनिष्यामः शितैः शरैः।

मैं, विकर्तनपुत्र कर्ण तथा मेरा भाई दुःशासन—हम तीन ही मिलकर युद्धभूमिमें पाँचों पाण्डवोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मार डालेंगे ॥ ५½ ॥

ततो राजन् महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च।

राजन् ! तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाले विविध महायज्ञोंका अनुष्ठान करके गायें, घोड़े और धन दानमें देकर ब्राह्मणोंको तृप्त करूँगा ॥ ६½ ॥

यदा परिकरिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ॥ ७ ॥
पश्यन्तस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान्।
तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ॥ ८ ॥

जैसे व्याध हरिणके बच्चोंको जाल या फंदेमें फँसाकर खींचते हैं और जैसे जलका प्रवाह कर्णधाररहित नौकारोहियोंको भँवरमें डुबो देता है, उसी प्रकार जब मेरे सैनिक अपने बाहुबलसे पाण्डवोंको पीड़ित करेंगे, उस समय रथ और हाथीसवारोंसे भरी हुई मेरी विशाल वाहिनीकी ओर देखते हुए वे पाण्डव और वह श्रीकृष्ण सब अपना अहंकार त्याग देंगे ॥ ७-८ ॥

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

विदुरने कहा—सिद्धान्तके जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसारमें दम ही कल्याणका परम साधन है। ब्राह्मणके लिये तो विशेषरूपसे है। वही सनातनधर्म है ॥ ९ ॥

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥ १० ॥

जो दमरूपी गुणसे युक्त है, उसीको दान, क्षमा और सिद्धिका यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्यायका सम्पादन करता है ॥ १० ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम्।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥ ११ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है। दमसे निष्पाप एवं बढ़े हुए तेजसे सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम्।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

जैसे मांसभोजी हिंसक पशुओंसे सब जीव डरते रहते हैं, उसी प्रकार अदान्त (असंयमी) पुरुषोंसे सभी प्राणियोंको सदा भय बना रहता है, जिनको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे रोकनेके लिये ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ १२ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।
तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १३ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। यह दम जिन पुरुषोंके अभ्यासमें आकर उनके अभ्युदयका कारण बन जाता है, उनमें प्रकट होनेवाले चिह्नोंका मैं वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १४ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! जिस पुरुषमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रियसंयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष दान्त (इन्द्रियविजयी) माना गया है ॥१४-१५॥

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम्।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥ १६ ॥

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक–इन दुर्गुणोंको अपने पास नहीं फटकने देता ! कुटिलता और शठताका अभाव तथा आत्मशुद्धि यह दमयुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ १६ ॥

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥

जो निर्लोभ, कम-से-कम चाहनेवाला, भोगोंके चिन्तनसे दूर रहनेवाला तथा समुद्रके समान गम्भीर है, उस पुरुषको दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है ॥ १७ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ १८ ॥

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है वह इस जगत्में सम्मान पाकर मृत्युके पश्चात् उत्तम गतिका भागी होता है ॥ १८ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ १९ ॥

जिसे समस्त प्राणियोंसे निर्भयता प्राप्त हो गयी हो तथा जिससे सभी प्राणियोंका भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ १९ ॥

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी पुरुषको उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्रके समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त है, वही परम शान्तिका भागी होता है ॥ २० ॥

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत्।
तदेवास्थाय मोदन्ते नान्ताः शमपरायणाः ॥ २१ ॥

जो कर्तव्य कर्मोंद्वारा आचरित है तथा पहलेके साधुपुरुषों-के द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपनाकर शम-दमसे सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं ॥ २१ ॥

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः।
कालाकाङ्क्षी चरँल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥

अथवा जो ज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय पुरुष नैष्कर्म्यका आश्रय लेकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ अनासक्तभावसे लोकमें विचरता रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

शकुनीनामिवाकाशे पदं नैवोपलभ्यते।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ॥ २३ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके चरणचिह्न नहीं दिखायी देते हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दसे तृप्त मुनिका मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् समझमें नहीं आता है ॥ २३ ॥

उत्सृज्यैव गृहान् यस्तु मोक्षमेवाभिमन्यते।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वता दिवि॥ २४ ॥

जो गृहस्थाश्रमको त्यागकर मोक्षको ही आदर देता है, उसके लिये द्युलोकमें तेजोमय सनातन स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विदुरका कौटुम्बिक कलहसे हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको संधिकी सलाह देना

विदुर उवाच

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत्।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—तात! हमने पूर्वपुरुषोंके मुखसे सुन रक्खा है कि किसी समय एक चिड़ीमारने चिड़ियोंको फँसानेके लिये पृथ्वीपर एक जाल फैलाया ॥ १ ॥

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥ २ ॥

उस जालमें दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे। वे दोनों पक्षी उस समय उस जालको लेकर आकाशमें उड़ चले ॥ २ ॥

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ॥ ३ ॥

चिड़ीमार उन दोनोंको आकाशमें उड़ते देखकर भी खिन्न या हताश नहीं हुआ। वे जिधर-जिधर गये, उधर-उधर ही वह उनके पीछे दौड़ता रहा ॥ ३ ॥

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम्।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः॥ ४ ॥

उन दिनों उस वनमें कोई मुनि रहते थे, जो उस समय संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके आश्रममें ही बैठे हुए थे। उन्होंने पक्षियोंको पकड़नेके लिये उनका पीछा करते हुए उस व्याधको देखा ॥ ४ ॥

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम्।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन! उन आकाशचारी पक्षियोंके पीछे-पीछे भूमि-पर पैदल दौड़नेवाले उस व्याधसे मुनिने निम्नाङ्कित श्लोकके अनुसार प्रश्न किया—॥ ५ ॥

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥ ६ ॥

'अरे व्याध! मुझे यह बात बड़ी विचित्र और आश्चर्य-जनक जान पड़ती है कि तू आकाशमें उड़ते हुए इन दोनों पक्षियोंके पीछे पृथ्वीपर पैदल दौड़ रहा है' ॥ ६ ॥

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥ ७ ॥

व्याध बोला—मुने! ये दोनों पक्षी आपसमें मिल

गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जालको लिये जा रहे हैं। अब ये जहाँ-कहीं एक दूसरेसे झगड़ेंगे, वहीं मेरे वशमें आ जायँगे ॥

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः ॥ ८ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुछ ही देरमें कालके वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपसमें झगड़ने लगे और लड़ते-लड़ते पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८ ॥

तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा ॥ ९ ॥

जब मौतके फंदेमें फँसे हुए वे पक्षी अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेसे लड़ रहे थे, उसी समय व्याधने चुपचाप उनके पास आकर उन दोनोंको पकड़ लिया ॥ ९ ॥

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम् ।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात् ॥ १० ॥

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्तिके लिये आपसमें कलह करते हैं, वे युद्ध करके उन्हीं दोनों पक्षियोंकी भाँति शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं ॥ १० ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः ।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ ११ ॥

साथ बैठकर भोजन करना, आपसमें प्रेमसे वार्तालाप करना, एक दूसरेके सुख-दुःखको पूछना और सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओंके काम हैं; परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है ॥ ११ ॥

ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते ।
सिंहगुप्तमिवारण्यमप्रधृष्या भवन्ति ते ॥ १२ ॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी सेवा एवं सङ्ग करते रहते हैं, वे सिंहसे सुरक्षित वनके समान दूसरोंके लिये दुर्धर्ष हो जाते हैं (शत्रु उनके पास आनेका साहस नहीं करते हैं) ॥ १२ ॥

येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते ।
श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो धनको पाकर भी सदा दीनोंके समान तृष्णासे पीड़ित रहते हैं, वे (आपसमें कलह करके) अपनी सम्पत्ति शत्रुओंको दे डालते हैं ॥ १३ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतकुलभूषण धृतराष्ट्र! जैसे जलते हुए काष्ठ अलग-अलग कर दिये जानेपर जल नहीं पाते, केवल धुआँ देते हैं और परस्पर मिल जानेपर प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन आपसी फूटके कारण अलग-अलग रहनेपर अशक्त हो जाते हैं तथा परस्पर संगठित होनेपर बलवान् एवं तेजस्वी होते हैं ॥ १४ ॥

इदमन्यत् प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया ।
श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु ॥ १५ ॥

कौरवनन्दन! पूर्वकालमें किसी पर्वतपर मैंने जैसा देखा था, उसके अनुसार यह एक दूसरी बात बता रहा हूँ। इसे भी सुनकर आपको जिसमें अपनी भलाई जान पड़े, वही कीजिये ॥ १५ ॥

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम् ।
ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजम्भकवार्तिकैः ॥ १६ ॥

एक समयकी बात है, हम बहुत-से भीलों और देवोपम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर दिशामें गन्धमादन पर्वतपर गये थे। हमारे साथ जो ब्राह्मण थे, उन्हें मन्त्र-यन्त्रादिरूप विद्या और ओषधियोंके साधन आदिकी बातें बहुत प्रिय थीं ॥ १६ ॥

कुञ्जभूतं गिरिं सर्वमभितो गन्धमादनम् ।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगन्धर्वसेवितम् ॥ १७ ॥

समस्त गन्धमादन पर्वत सब ओरसे कुञ्ज-सा जान पड़ता था। वहाँ दिव्य ओषधियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सिद्ध और गन्धर्व उस पर्वतपर निवास करते थे ॥ १७ ॥

तत्रापश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम् ।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसम्मितम् ॥ १८ ॥

वहाँ हम सब लोगोंने देखा, पर्वतकी एक दुर्गम गुफामें जहाँसे कोई कूल-किनारा न होनेके कारण गिरनेकी ही अधिक

सम्भावना रहती है, एक मधुकोष है। वह मक्खियोंका तैयार किया हुआ नहीं था। उसका रंग सुवर्णके समान पीला था और वह देखनेमें घड़ेके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

आशीविषै रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम्।
यत् प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥ १९ ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भसाधकाः ॥ २० ॥

भयंकर विषधर सर्प उस मधुकी रक्षा करते थे। कुबेरको वह मधु अत्यन्त प्रिय था। हमारे साथी औषध-साधक ब्राह्मण-लोग यह बता रहे थे कि इस मधुको पाकर मरणधर्मा मनुष्य भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसको पीनेसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ॥

ततः किरातास्तद् दृष्ट्वा प्रार्थयन्तो महीपते।
विनेशुर्विषमे तस्मिन् ससर्पे गिरिगह्वरे ॥ २१ ॥

महाराज! उस समय उस मधुका अद्भुत गुण सुनकर और उसे प्रत्यक्ष देखकर भीलोंने उसे पानेकी चेष्टा की; परंतु सर्पोंसे भरी हुई उस दुर्गम पर्वतगुहामें जाकर वे सब-के-सब नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति।
मधु पश्यति सम्मोहात् प्रपातं नानुपश्यति ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आपका यह पुत्र दुर्योधन अकेला ही सारी पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है। यह मोहवश केवल मधुको ही देखता है, भावी पतन या विनाशकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ २२ ॥

दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम्॥ २३ ॥

दुर्योधन समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी बात सोचता है, परंतु मैं इसके भीतर अर्जुनके समान तेज या पराक्रम नहीं देखता ॥ २३ ॥

एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ॥ २४ ॥
विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम्।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ॥ २५ ॥

जिस वीरने अकेले ही रथपर बैठकर सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, विराटनगरपर चढ़ाई करने गये हुए भीष्म और द्रोण-जैसे महान् योद्धाओंको भी जिसने भयभीत करके भगा दिया है, उसके सामने आपका पुत्र क्या पराक्रम कर सकता है? यह आप ही देखिये। आज भी वह वीर आपकी मैत्रीपूर्ण दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहा है और आपकी आज्ञासे वह कौरवोंका सारा अपराध क्षमा कर सकता है ॥ २४-२५ ॥

द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः।
न शेषयेयुः समरे वायुयुक्ता इवाग्नयः ॥ २६ ॥

राजा द्रुपद, मत्स्यनरेश विराट और क्रोधमें भरा हुआ अर्जुन—ये तीनों वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुई त्रिविध अग्नियोंके समान जब युद्धभूमिमें आक्रमण करेंगे, तब किसीको जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम्।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ॥ २७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! आप राजा युधिष्ठिरको अपनी गोदमें बैठा लीजिये; क्योंकि जब दोनों पक्षोंमें युद्ध छिड़ जायगा, तब विजय किसकी होगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि **विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान बटोहीके समान कुमार्गको भी सुमार्ग समझ रहे हो ॥ १ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि।
पञ्चानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ॥ २ ॥

यही कारण है कि तुम सम्पूर्ण लोगोंके आधारस्वरूप पाँच महाभूतोंके समान पाँचों पाण्डवोंके तेजका अपहरण करनेकी इच्छा कर रहे हो ॥ २ ॥

युधिष्ठिरं हि कौन्तेयं परं धर्ममिहास्थितम्।
परां गतिमसम्प्रेत्य न त्वं जेतुमिहार्हसि ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर यहाँ उत्तम धर्मका आश्रय लेकर रहते हैं। तुम मृत्युको प्राप्त हुए बिना उन्हें जीत लोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

भीमसेनं च कौन्तेयं यस्य नास्ति समो बले ।
रणान्तकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ॥ ४ ॥

जैसे वृक्ष प्रचण्ड आँधीको डाँट बतावे, उसी प्रकार तुम समराङ्गणमें कालके समान विचरनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनको जिसके समान बलवान् इस भूतलपर दूसरा कोई नहीं है, डराने-धमकानेका साहस करते हो ॥ ४ ॥

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव ।
युधि गाण्डीवधन्वानं को नु युध्येत बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शस्त्रधारियोंमें गाण्डीवधारी अर्जुन श्रेष्ठ है । भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य रणभूमिमें उसके साथ जूझनेका साहस करेगा ? ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः कमिवाद्य न शातयेत् ।
शत्रुमध्ये शरान् मुञ्चन् देवराडशनीमिव ॥ ६ ॥

जैसे देवराज इन्द्र वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न शत्रुओंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करता है । वह अब किसे छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा ? ॥ ६ ॥

सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः सम्मतोऽन्धकवृष्णिषु ।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पाण्डवेयहिते रतः ॥ ७ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशका सम्माननीय योद्धा सात्यकि भी दुर्धर्ष वीर है । वह सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है । (युद्ध छिड़नेपर) वह तुम्हारी समस्त सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ७ ॥

यः पुनः प्रतिमानेन त्रीँल्लोकानतिरिच्यते ।
तं कृष्णं पुण्डरीकाक्षं को नु युद्ध्येत बुद्धिमान् ॥ ८ ॥

जो तुलनामें तीनों लोकोंसे भी बढ़कर हैं, उन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके साथ कौन समझदार मनुष्य युद्ध करेगा ?

एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबान्धवाः ।
आत्मा च पृथिवी चेयमेकतश्च धनंजयः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके लिये एक ओर स्त्री, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु अपना शरीर और यह सारा भूमण्डल है, तो दूसरी ओर अकेला अर्जुन है (अर्थात् वे अर्जुनके लिये इन सबका त्याग कर सकते हैं ।) ॥ ९ ॥

वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पाण्डवः ।
अविषह्यं पृथिव्यापि तद् बलं यत्र केशवः ॥ १० ॥

जहाँ अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन है, वहीं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भी रहते हैं और जिस सेनामें साक्षात् श्रीकृष्ण विराज रहे हों, उसका वेग समस्त भूमण्डलके लिये भी असह्य हो जाता है ॥ १० ॥

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम् ।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥ ११ ॥

तात ! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनानुसार कार्य करो । वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं । तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ॥

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम् ।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १२ ॥
एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा ।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥ १३ ॥

मैं भी कौरवोंके हितकी ही बात सोचता हूँ; अतः मेरी भी सुनो । आचार्य द्रोण, कृप, विकर्ण और महाराज बाह्लीक— ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं; अतः तुम्हें मेरे ही समान इनका भी समादर करना चाहिये । भरतनन्दन ! ये सब लोग धर्मके ज्ञाता हैं और दोनों पक्षके लोगोंपर समानभावसे स्नेह रखते हैं ॥ १२-१३ ॥

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः ।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥ १४ ॥
यच्चैव नगरे तस्मिञ्छ्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥

विराटनगरमें तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्धके लिये गयी थी, वह वहाँकी समस्त गौओंको छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी । उस नगरमें जो एक (अर्जुन) का बहुतोंके साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है; वह एक ही दृष्टान्त (उसकी प्रबलता और अजेयताके लिये) पर्याप्त है ॥ १४-१५ ॥

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते ।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ॥ १६ ॥

देखो, जब अकेले अर्जुनने इतना अद्भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? अतः तुम पाण्डवोंको अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको अर्जुनका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम्।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महाभाग धृतराष्ट्रने संजयसे पुनः प्रश्न किया—॥ १ ॥

ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनन्तरम्।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥

'संजय ! बताओ, भगवान् श्रीकृष्णके पश्चात् अर्जुनने जो अन्तिम संदेश दिया था, उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है' ॥ २ ॥

संजय उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—महाराज ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी बात सुनकर दुर्धर्ष वीर कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके सुनते-सुनते यह समयोचित बात कही—॥ ३ ॥

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ ४ ॥
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम्।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम् ॥ ५ ॥
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम्॥ ६ ॥
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च।
भगदत्तं च राजानं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं
समागताः कौरवाणां प्रियार्थम्।
मुमूर्षवः पाण्डवाग्नौ प्रदीप्ते
समानीता धार्तराष्ट्रेण होतुम् ॥ ८ ॥
यथान्यायं कौशलं वन्दनं च
समागता मद्वचनेन वाच्याः।
इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये
सुयोधनं पापकृतां प्रधानम् ॥ ९ ॥
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं
पापात्मानं धार्तराष्ट्रं सुलुब्धम्।
सर्वं ममैतद् वचनं समग्रं
सहामात्यं संजय श्रावयेथाः ॥ १० ॥

'संजय ! तुम शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, महाराज बाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, शल, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, राजा जयत्सेन, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, कौरवयोद्धा दुर्मुख, सिंधुराज जयद्रथ, दुःसह, भूरिश्रवा, राजा भगदत्त, भूपाल जलसन्ध तथा अन्य जो-जो नरेश कौरवोंका प्रिय करनेके लिये युद्धके उद्देश्यसे वहाँ एकत्र हुए हैं, जिनकी मृत्यु बहुत ही निकट है; जिन्हें दुर्योधनने पाण्डवरूपी प्रज्वलित अग्निमें होमनेके लिये बुलाया है, उन सबसे मिलकर मेरी ओरसे यथायोग्य प्रणाम आदि कहकर उनका कुशल-मङ्गल पूछना। संजय ! तत्पश्चात् उन राजाओंके समुदायमें ही पापात्माओंमें प्रधान असहिष्णु, दुर्बुद्धि, पापाचारी और अत्यन्त लोभी राजकुमार दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी कही हुई ये सारी बातें सुनाना' ॥ ४—१० ॥

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चापि वाक्यम्।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य
पार्थो धीमाँल्लोहितान्तायताक्षः ॥ ११ ॥

इस प्रकार मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति देकर, जिनके विशाल नेत्रोंका कोना कुछ लाल रंगका है, उन परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहा—॥ ११ ॥

यथा श्रुतं ते वदतो महात्मनो
मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम्।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः
समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः ॥ १२ ॥

'संजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर महात्मा श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर जो बात कही है और तुमने इसे जैसा सुना है, वह सब ज्यों-का-त्यों सुना देना। फिर समस्त समागत भूपालोंकी मण्डलीमें मेरी यह बात कहना—॥ १२ ॥

शराग्निधूमे रथनेमिनादिते
धनुःस्रुवेणास्त्रबलप्रसारिणा।
यथा न होमः क्रियते महामृधे
समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः ॥ १३ ॥

'राजाओ ! महान् युद्धरूपी यज्ञमें जहाँ बाणोंके टकरानेसे पैदा होनेवाली आगका धुआँ फैलता रहता है, रथोंकी घर्घराहट ही वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका काम देती है, (शास्त्रबलसे सम्पादित होनेवाले यज्ञकी भाँति) अस्त्रबलसे ही फैलनेवाले धनुषरूपी स्रुवाके द्वारा मुझे जिस प्रकार कौरवसैन्यरूपी हविष्यकी आहुति न देनी पड़े, उसके लिये तुम सब लोग सादर प्रयत्न करो ॥ १३ ॥

न चेत् प्रयच्छध्वममित्रघातिनो
युधिष्ठिरस्य समभीप्सितं स्वकम्।
नयामि वः साश्वपदातिकुञ्जरान्
दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ॥ १४ ॥

'यदि तुमलोग शत्रुघाती महाराज युधिष्ठिरका अपना अभीष्ट राज्यभाग नहीं लौटाओगे तो मैं तुम्हें अपने तीखे बाणोंद्वारा घोड़े, पैदल तथा हाथीसवारोंसहित यमलोककी अमङ्गलमयी दिशामें भेज दूँगा' ॥ १४ ॥

ततोऽहमामन्त्र्य तदा धनंजयं
चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः।
जवेन सम्प्राप्त इहामरद्युते
तवान्तिकं प्रापयितुं वचो महत् ॥ १५ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी महाराज ! इसके बाद मैं अर्जुनसे विदा ले चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके उनका वह महत्त्वपूर्ण संदेश आपके पास पहुँचानेके लिये बड़े वेगसे तुरंत यहाँ चला आया हूँ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पास व्यास और गान्धारीका आगमन तथा व्यासजीका संजयको श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनके उस कथनका कुछ भी आदर नहीं किया और सब लोग चुप्पी साधकर रह गये, तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँसे उठकर चले गये ॥ १ ॥

उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ २ ॥
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः।
आत्मनश्च परेषां च पाण्डवानां च निश्चयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! भूमण्डलके सब राजा जब सभाभवनसे उठ गये, तब अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले तथा उन्हींके वशमें रहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने वहाँ एकान्तमें अपनी, दूसरों-की और पाण्डवोंकी जय-पराजयके विषयमें संजयका निश्चित मत जाननेके लिये उनसे कुछ और बातें पूछनी प्रारम्भ की ॥ २-३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु
स्वसेनायां यावदिहास्ति किंचित्।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं
किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—गवल्गणपुत्र संजय ! यहाँ अपनी सेनामें जो कुछ भी प्रबलता या दुर्बलता है, उसका हमसे वर्णन करो। इसी प्रकार पाण्डवोंकी भी सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते हो, अतः बताओ; ये किन बातोंमें बढ़े-चढ़े हैं और उनमें कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? ॥ ४ ॥

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी
धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं
युध्यमानाः कतरेऽस्मिन् न सन्ति ॥ ५ ॥

संजय ! तुम इन दोनों पक्षोंके बलाबलको जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण तथा निश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता हो; अतः मेरे पूछनेपर सब बातें साफ-साफ कहो। युद्धमें प्रवृत्त होनेपर किस पक्षके लोग इस लोकमें जीवित नहीं रह सकते ? ॥ ५ ॥

संजय उवाच

न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचि-
दसूया हि त्वां प्रविशेत राजन्।
आनयस्व पितरं महाव्रतं
गान्धारीं च महिषीमाजमीढ ॥ ६ ॥

संजयने कहा—राजन् ! एकान्तमें तो मैं आपसे कभी कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि इससे आपके हृदयमें

दोषदर्शनकी भावना उत्पन्न होगी । अजमीढनन्दन ! आप अपने महान् व्रतधारी पिता व्यासजी और महारानी गान्धारी-को भी यहाँ बुलवा लीजिये ॥ ६ ॥

तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेन्द्र
धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ ।
तयोस्तु त्वां संनिधौ तद् वदेयं
कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! वे दोनों धर्मके ज्ञाता, विचारकुशल तथा सिद्धान्तको समझनेवाले हैं; अतः वे आपकी दोषदृष्टिका निवारण करेंगे । उन दोनोंके समीप मैं आपको श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो विचार है, वह पूरा-पूरा बता दूँगा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेन च गान्धारी व्यासश्चात्राजगाम ह ।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयके ऐसा कहनेपर (धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे) गान्धारी तथा महर्षि व्यास वहाँ आये । विदुरजी उन्हें यहाँ बुलाकर ले आये और सभा-भवनमें शीघ्र ही उनका प्रवेश कराया ॥ ८ ॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्यात्मजस्य च ।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर परम ज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सभाभवनमें पहुँचकर संजय तथा अपने पुत्र धृतराष्ट्रके उस विचारको जानकर इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

व्यास उवाच

सम्पृच्छते धृतराष्ट्राय संजय
आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुङ्क्ते ।
सर्वं यावद् वेत्थ तस्मिन् यथावद्
याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ॥ १० ॥

व्यासजीने कहा—संजय ! धृतराष्ट्र तुमसे जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब इन्हें बताओ । ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके विषयमें जो कुछ पूछते हैं, वह सब, जितना तुम जानते हो, उसके अनुसार यथार्थरूपसे कहो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगान्धार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें व्यास और गान्धारीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बतलाना

संजय उवाच

अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ ।
कामादन्यत्र सम्भूतौ सर्वभावाय सम्मितौ ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों बड़े सम्मानित धनुर्धर हैं । वे (यद्यपि सदा साथ रहनेवाले नर और नारायण हैं, तथापि) लोककल्याणकी कामनासे पृथक्-पृथक् प्रकट हुए हैं और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

व्यामान्तरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः ।
चक्रं तद् वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ॥ २ ॥

प्रभो ! उदारचेता भगवान् वासुदेवका सुदर्शन नामक चक्र उनकी मायासे अलक्षित होकर उनके पास रहता है ! उसके मध्यभागका विस्तार लगभग साढ़े तीन हाथका है । वह भगवान्‌के संकल्पके अनुसार (विशाल एवं तेजस्वी रूप धारण करके शत्रुसंहारके लिये) प्रयुक्त होता है ॥ २ ॥

सापह्नवं कौरवेषु पाण्डवानां सुसम्मतम् ।
सारासारबलं ज्ञातुं तेजःपुञ्जावभासितम् ॥ ३ ॥

कौरवोंपर उसका प्रभाव प्रकट नहीं है। पाण्डवोंको वह अत्यन्त प्रिय है। वह सबके सार-असारभूत बलको जाननेमें समर्थ और तेजःपुञ्जसे प्रकाशित होनेवाला है ॥ ३ ॥

नरकं शम्बरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः।
जितवान् घोरसंकाशान् क्रीडन्निव महाबलः ॥ ४ ॥

महाबली भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले नरकासुर, शम्बरासुर, कंस तथा शिशुपालको भी खेल-ही-खेलमें जीत लिया ॥ ४ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ॥ ५ ॥

पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मनके संकल्पमात्रसे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकको भी अपने अधीन कर सकते हैं ॥ ५ ॥

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु ॥ ६ ॥

राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये ॥ ६ ॥

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ॥ ७ ॥

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥

जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ भगवान श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ ९ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयन्ति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं ॥ १० ॥

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥ ११ ॥

वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥

ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं ॥ १२ ॥

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं ॥

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥

महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं ॥ १४ ॥

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णप्राप्ति एवं तत्त्वज्ञानका साधन बताना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम्।
कथमेनं न वेदाहं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मधुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण

समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं; इस बातको तुम कैसे जानते हो ? और मैं इन्हें इस रूपमें क्यों नहीं जानता ? इसका रहस्य मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती है। जो मनुष्य तत्त्वज्ञानसे शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकारसे विनष्ट हो चुकी है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ॥ २ ॥

विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ३ ॥

तात ! मैं ज्ञानदृष्टिसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनको, जो सबके कर्ता हैं, परंतु किसीके कार्य नहीं हैं, जानता हूँ ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्या जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भगवान् श्रीकृष्णमें जो तुम्हारी नित्य भक्ति है, उसका स्वरूप क्या है ? जिससे तुम त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनके तत्त्वको जानते हो ॥

संजय उवाच

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट) का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्‌की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ॥ ६ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—बेटा दुर्योधन ! संजय हमलोगोंका विश्वासपात्र है। इसकी बातोंपर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय लो; उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ६ ॥

दुर्योधन उवाच

भगवान् देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम् ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! माना कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकोंका संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपनेको अर्जुनका मित्र बताते हैं; अतः अब मैं उनकी शरणमें नहीं जाऊँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ॥ ८ ॥

तब धृतराष्ट्रने गान्धारीसे कहा—गान्धारी ! तुम्हारा दुर्बुद्धि, दुरात्मा, ईर्ष्यालु और अभिमानी पुत्र श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके नरककी ओर जा रहा है ॥ ८ ॥

गान्धार्युवाच

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ॥ ९ ॥
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः ॥ १० ॥

गान्धारी बोली—दुष्टात्मा दुर्योधन ! तू ऐश्वर्यकी इच्छा रखकर अपने बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है ! अरे मूर्ख ! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माताको भी त्यागकर शत्रुओंकी प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेनके हाथों मारा जायगा, उस समय तुझे पिताकी बातें याद आयेंगी ॥ ९-१० ॥

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ॥ ११ ॥

तदनन्तर व्यासजीने कहा—राजा धृतराष्ट्र ! मेरी बातोंपर ध्यान दो। वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो, तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा ॥ ११ ॥

जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात् ॥ १२ ॥

यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परमतत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है। यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा ॥ १२ ॥

वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ १३ ॥
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः ।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः ॥ १४ ॥

विचित्रवीर्यकुमार ! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं हैं और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष

और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके वशमें आते हैं ॥ १३-१४ ॥

एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ॥ १५ ॥

यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं, उस मार्गको देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसारमें आसक्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अङ्ग संजय मे शंस पन्थानमकुतोभयम् ।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वत्स संजय ! तुम मुझे वह निर्भय मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी परम मोक्षस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकूँ ॥ १६ ॥

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—महाराज ! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कभी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें किये बिना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ १८ ॥

विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोगकामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः ।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ॥ १९ ॥

राजन् ! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो ॥ १९ ॥

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ॥ २० ॥

इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये । विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं । यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिससे मनीषी पुरुष चलते हैं ॥ २० ॥

अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥ २१ ॥

राजन् ! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये बिना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते । जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, वही तत्त्वज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न नामोंकी व्युत्पत्तियोंका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भूयो मे पुण्डरीकाक्षं संजयाचक्ष्व पृच्छतः ।
नामकर्मार्थवित् तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम भगवान् श्रीकृष्णके नाम और कर्मोंका अभिप्राय जानते हो, अतः मेरे प्रश्नके अनुसार एक बार पुनः कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रक्खी है, उसमें जितना मुझे स्मरण है, उतना बता रहा हूँ । वास्तवमें तो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं ॥ २ ॥

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है । अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, ऐसा जानना चाहिये । बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं ॥ ३ ॥

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।

सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥ ४ ॥

भारत ! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें ! मधु शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है ॥ ४ ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥ ५ ॥

'कृष्' धातु सत्ता अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थका बोध कराता है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम्।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥

नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम पुण्डरीक है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा पुण्डरीक—कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीडा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं॥ ६ ॥

यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥

वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' हैं। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है । आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार वृषभेक्षण नामकी सिद्धि होती है) ॥ ७ ॥

न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित्।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः॥ ८ ॥

शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं ॥८॥

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ॥ ९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं॥ १० ॥

पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते।

वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं ॥ ११½ ॥

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।

श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है ॥ १२½ ॥

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।

विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं ॥ १३½ ॥

अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं॥१४॥

एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ॥ १५ ॥

निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा भगवद्गुणगान

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जो लोग परम उत्तम श्रीअङ्गोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ ॥ १ ॥

ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शङ्करीं सृंजयानाम्।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम् ॥ २ ॥

भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी ॥ २ ॥

समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम्।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुष्णन्तं च द्विषतां वै यशांसि ॥ ३ ॥

संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे) ॥ ३ ॥

द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम्।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान् ॥ ४ ॥

महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करनेयोग्य वे वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजाओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे ॥ ४ ॥

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥ ५ ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पङ्खोंसे युक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्‌के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(भगवद्यानपर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे अपना अभिप्राय निवेदन करना, श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरव-सभामें जानेके लिये उद्यत होना और इस विषयमें उन दोनोंका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
(अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च भारत ।
विराटद्रुपदौ चैव केकयानां महारथान् ॥
अब्रवीदुपसङ्गम्य शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
अभियाचामहे गत्वा प्रयातुं कुरुसंसदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकयदेशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—'हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरव-सभामें जानेके लिये प्रार्थना करें ॥

यथा भीष्मेण द्रोणेन बाह्लीकेन च धीमता ॥
अन्यैश्च कुरुभिः सार्धं न युध्येमहि संयुगे ।

'वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े ॥

एष नः प्रथमः कल्प एतन्नः श्रेय उत्तमम् ॥
एवमुक्ताः सुमनसस्तेऽभिजग्मुर्जनार्दनम् ।

'यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याणकी बात है।' राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये ॥

पाण्डवैः सह राजानो मरुत्वन्तमिवामराः ॥
तदा च दुःसहाः सर्वे सदस्यास्ते नरर्षभाः ।

उस समय शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ सभासद् भूपालगण पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णके निकट उसी प्रकार गये, जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं ॥

जनार्दनं समासाद्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥)
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ॥ १ ॥

समस्त यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन जनार्दन श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत् ॥ २ ॥

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण ! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे ॥ २ ॥

त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम् ।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुङ्क्ष्महे ॥ ३ ॥

'आप माधवकी शरणमें आकर हम सब लोग निर्भय हो गये हैं और व्यर्थ ही घमंड दिखानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्रियोंको हम स्वयं युद्धके लिये ललकार रहे हैं ॥ ३ ॥

यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम ।
तथा ते पाण्डवा रक्ष्याः पाह्यस्मान् महतो भयात् ॥ ४ ॥

'शत्रुदमन ! जैसे आप वृष्णिवंशियोंकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपको पाण्डवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। प्रभो ! इस महान् भयसे आप हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यत् त्वं वक्ष्यसि भारत ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! यह मैं आपकी सेवाके लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ । आप जो कुछ कहना चाहते हों, कहें । भारत ! आप जो-जो कहेंगे, वह सब कार्य मैं निश्चय ही पूर्ण करूँगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ॥ ६ ॥
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया । संजयने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्रका ही मत है । संजय धृतराष्ट्रका अभिन्नस्वरूप होकर आया था । उसने उन्हींके मनोभावको प्रकाशित किया है । दूत संजय स्वामीकी कही हुई बातको ही दुहराया है; क्योंकि यदि वह उसके विपरीत कुछ कहता तो वधके योग्य माना जाता ॥ ६-७ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ८ ॥

राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है । उनके मनमें पाप बस गया है । अतः वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ॥ ८ ॥

यत् तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु ह्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ॥ १० ॥

प्रभो ! हम तो यही समझकर कि धृतराष्ट्र अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहेंगे, उन्हींकी आज्ञासे बारह वर्ष वनमें रहे और एक वर्ष अज्ञातवास किया । श्रीकृष्ण ! हमने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की है; इस बातको हमारे साथ रहनेवाले सभी ब्राह्मण जानते हैं ॥ ९-१० ॥

गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति ।
वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ॥ ११ ॥

परंतु राजा धृतराष्ट्र तो लोभमें डूबे हुए हैं । वे अपने धर्मकी ओर नहीं देखते हैं । पुत्रोंमें आसक्त होकर सदा उन्हींके अधीन रहनेके कारण वे अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ॥ १२ ॥

जनार्दन ! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधनकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा मित्रोंका भी अच्छी तरह भरण-पोषणतक नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

काशिभिश्चेदिपञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥ १४ ॥

मधुसूदन ! यद्यपि काशी, चेदि, पाञ्चाल और मत्स्यदेशके वीर हमारे सहायक हैं और आप हमलोगोंके रक्षक और स्वामी हैं; (आपलोगोंकी सहायतासे हम सारा राज्य ले सकते हैं) तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे ॥ १४ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कञ्चिदेवात्र पञ्चमम् ॥ १५ ॥
पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! मैंने धृतराष्ट्रसे यही कहा था कि तात ! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें । इस प्रकार हमारे लिये पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १५-१६ ॥

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥ १७ ॥

परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है । इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १७ ॥

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ॥ १८ ॥

मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर और वृद्ध होनेपर भी यदि दूसरोंके धनको लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्तिको नष्ट कर देता है । विचारशक्ति नष्ट होनेपर उसकी लज्जाको भी नष्ट कर देती है ॥ १८ ॥

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ॥ १९ ॥

नष्ट हुई लज्जा धर्मको नष्ट कर देती है। नष्ट हुआ धर्म मनुष्यकी सम्पत्तिका नाश कर देता है और नष्ट हुई सम्पत्ति उस मनुष्यका विनाश कर देती है, क्योंकि धनका अभाव ही मनुष्यका वध है ॥ १९ ॥

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्रिणः॥ २० ॥

श्रीकृष्ण! धनहीन पुरुषसे उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मणलोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प और फलसे हीन वृक्षको छोड़कर उड़ जाते हैं ॥ २० ॥

एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव ।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवासवः ॥ २१ ॥

तात ! जैसे पतित मनुष्यके निकटसे लोग दूर भागते हैं और जैसे मृत शरीरसे प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कुटुम्बीजन भी जो मुझसे मुँह मोड़ रहे हैं, यही मेरे लिये मरण है ॥ २१ ॥

नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥

जहाँ आज और कल सबेरेके लिये भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रतासे बढ़कर दूसरी कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं है; यह शम्बरका कथन है ॥ २२ ॥

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३ ॥

धनको उत्तम धर्मका साधक बताया गया है। धनमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसारमें धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं। जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुएके ही समान हैं।२३।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः ।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम् ॥ २४ ॥

जो लोग अपने बलमें स्थित होकर किसी मनुष्यको धनसे वञ्चित कर देते हैं, वे उसके धर्म, अर्थ और कामको तो नष्ट करते ही हैं, उस मनुष्यको भी नष्ट कर देते हैं ॥ २४ ॥

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः ।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ २५ ॥

इस निर्धन अवस्थाको पाकर कितने ही मनुष्योंने मृत्युका वरण किया है। कुछ लोग गाँव छोड़कर दूसरे गाँवमें जा बसे हैं, कितने ही जंगलोंमें चले गये हैं और कितने ही मनुष्य प्राण देनेके लिये घरसे निकल पड़े हैं ॥ २५ ॥

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।
दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ॥ २६ ॥

कितने लोग पागल हो जाते हैं, बहुत-से शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं और कितने ही मनुष्य धनके लिये दूसरोंकी दासता स्वीकार कर लेते हैं ॥ २६ ॥

आपदेवास्य मरणात् पुरुषस्य गरीयसी ।
श्रियो विनाशस्तद्ध्यस्य निमित्तं धर्मकामयोः ॥ २७ ॥

धन-सम्पत्तिका नाश मनुष्यके लिये भारी विपत्ति ही है। वह मृत्युसे भी बढ़कर है, क्योंकि सम्पत्ति ही मनुष्यके धर्म और कामकी सिद्धिका कारण है ॥ २७ ॥

यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत्।
समन्तात् सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ॥ २८ ॥

मनुष्यकी जो धर्मानुकूल मृत्यु है, वह परलोकके लिये सनातन मार्ग है। सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे कोई भी उस मृत्युका सब ओरसे उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जन्मसे ही निर्धन रहा है, उसे उस दरिद्रताके कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्तिको पाकर सुखमें ही पले हुए पुरुषको उस सम्पत्तिसे वञ्चित होनेपर होता है ॥ २९ ॥

स तदाऽऽत्मापराधेन सम्प्राप्तो व्यसनं महत्।
सेन्द्रान् गर्हयते देवान् नात्मानं च कथञ्चन॥ ३० ॥

यद्यपि वह मनुष्य उस समय अपने ही अपराधसे भारी संकटमें पड़ता है, तथापि वह इसके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी ही निन्दा करता है; अपनेको किसी प्रकार भी दोष नहीं देता है ॥ ३० ॥

न चास्य सर्वशास्त्राणि प्रभवन्ति निबर्हणे।
सोऽभिक्रुध्यति भृत्यानां सुहृदश्चाभ्यसूयति ॥ ३१ ॥

उस समय सम्पूर्ण शास्त्र भी उसके इस संकटको टालनेमें समर्थ नहीं होते। वह सेवकोंपर कुपित होता और सगे-सम्बन्धियोंके दोष देखने लगता है ॥ ३१ ॥

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥ ३२ ॥

निर्धन अवस्थामें मनुष्यको केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाच्छन्न हो जाता—विवेकशक्ति खो बैठता है। मोहके वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ ३२ ॥

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण वह वर्णसंकर संतानोंका पोषक होता है और वर्णसंकर केवल नरककी ही प्राप्ति कराता है। पापियोंकी यही अन्तिम गति है ॥३३॥

न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि उसे फिरसे कर्तव्यका बोध नहीं होता, तो वह नरककी दिशामें ही बढ़ता जाता है। कर्तव्यका बोध करानेवाली प्रज्ञा ही है। जिसे प्रज्ञारूपी नेत्र प्राप्त हैं, वह निश्चय ही संकटसे पार हो जायगा ॥ ३४ ॥

प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवान्ववेक्षते।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते।
श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ॥३६॥

प्रज्ञाकी प्राप्ति होनेपर पुरुष केवल शास्त्रवचनोंपर ही दृष्टि रखता है। शास्त्रमें निष्ठा होनेपर वह पुनः धर्म करता है। धर्मका उत्तम अङ्ग है लज्जा, जो धर्मके साथ ही आ जाती है। लज्जाशील मनुष्य पापसे द्वेष रखकर उससे दूर हो जाता है। अतः उसकी धन-सम्पत्ति बढ़ने लगती है। जो जितना ही श्रीसम्पन्न है, वह उतना ही पुरुष माना जाता है ॥ ३५-३६ ॥

धर्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्ययोगवहः सदा।
नाधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष शान्तचित्त होकर नित्य-निरन्तर सत्कर्मोंमें लगा रहता है। वह कभी अधर्ममें मन नहीं लगाता और न पापमें ही प्रवृत्त होता है ॥ ३७ ॥

अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान्।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥३८॥

जो निर्लज्ज अथवा मूर्ख है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही है। उसका धर्म-कर्ममें अधिकार नहीं है। वह शूद्रके समान है ॥ ३८ ॥

ह्रीमानवति देवांश्च पितॄनात्मानमेव च।
तेनामृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥

लज्जाशील पुरुष देवताओंकी, पितरोंकी तथा अपनी भी रक्षा करता है। इससे वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। वही पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है ॥ ३९ ॥

तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन।
यथा राज्यात् परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ॥ ४०॥

मधुसूदन ! यह सब आपने मुझमें प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ और कितने कष्टके साथ इन दिनों रह रहा हूँ ॥ ४० ॥

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित्।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥ ४१ ॥

अतः हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करने योग्य नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है ॥ ४१ ॥

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव।
प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ ४२ ॥

माधव ! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभावसे रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें ॥ ४२ ॥

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः॥४३ ॥

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवोंको मारकर सारा राज्य अपने अधिकारमें कर लें; परंतु यह भयंकर क्रूरतापूर्ण कर्मकी पराकाष्ठा होगी (क्योंकि इस दशामें कितने ही निरपराध मनुष्योंका संहार करनेके पश्चात् हमारी विजय होगी)॥ ४३ ॥

ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो तथा जो सर्वथा नीच एवं शत्रुभाव रखनेवाले हों, उनका भी वध करना उचित नहीं है। फिर जो सगे-सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद् हैं, ऐसे लोगोंका वध कैसे उचित हो सकता है ? ॥

ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः।
तेषां वधोऽतिपापीयान् किं नो युद्धेऽस्ति शोभनम् ॥

हमारे विरोधियोंमें अधिकांश हमारे भाई-बन्धु, सहायक और गुरुजन हैं। उनका वध तो बहुत बड़ा पाप है। युद्धमें अच्छी बात क्या है ! (कुछ नहीं) ॥ ४५ ॥

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबन्धवः।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ॥ ४६ ॥

क्षत्रियोंका यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है। हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः वह हमारा स्वधर्म पाप होनेपर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्तिको अपनाना भी निन्दाकी बात होगी ॥ ४६ ॥

शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः।
वयं वधेन जीवामः कपालं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ ४७ ॥

शूद्र सेवाका कार्य करता है, वैश्य व्यापारसे जीविका चलाते हैं, हम क्षत्रिय युद्धमें दूसरोंका वध करके जीवन-निर्वाह करते हैं और ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये भिक्षापात्र चुन लिया है ॥ ४७ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः॥४८॥

क्षत्रिय क्षत्रियको मारता है, मछली मछलीको खाकर

जीती है और कुत्ता कुत्तेको काटता है। दशार्हनन्दन! देखिये; यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ॥ ४८ ॥

युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदन्ति संयुगे।
बलं तु नीतिमाधाय युध्ये जयपराजयौ ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण! युद्धमें सदा कलह ही होता है और उसीके कारण प्राणोंका नाश होता है। मैं तो नीतिबलका ही आश्रय लेकर युद्ध करूँगा। फिर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार जय हो या पराजय ॥ ४९ ॥

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा।
नाप्यकाले सुखं प्राप्यं दुःखं वापि यदूत्तम ॥ ५० ॥

प्राणियोंके जीवन और मरण अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होते हैं (यही दशा जय और पराजयकी भी है)! यदुश्रेष्ठ! किसीको सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति भी असमयमें नहीं होती है ॥ ५० ॥

एको ह्यपि बहून् हन्ति घ्नन्त्येकं बहवोऽप्युत।
शूरं कापुरुषो हन्ति अयशस्वी यशस्विनम् ॥ ५१ ॥

युद्धमें एक योद्धा भी बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डालता है तथा बहुत-से योद्धा मिलकर भी किसी एकको ही मार पाते हैं। कभी कायर शूरवीरको मार देता है और अयशस्वी पुरुष यशस्वी वीरको पराजित कर देता है ॥ ५१ ॥

जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः।
तथैवापचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ ॥ ५२ ॥

न तो कहीं दोनों पक्षोंकी विजय होती देखी गयी है और न दोनोंकी पराजय ही दृष्टिगोचर हुई है। हाँ, दोनोंके धन-वैभवका नाश अवश्य देखा गया है। यदि कोई पक्ष पीठ दिखाकर भाग जाय तो उसे भी धन और जन दोनोंकी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५२ ॥

सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन् न प्रतिहन्यते।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ ॥ ५३ ॥

इससे सिद्ध होता है कि युद्ध सर्वथा पापरूप ही है। दूसरोंको मारनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो बदलेमें स्वयं भी मारा न जाता हो? हृषीकेश! जो युद्धमें मारा गया, उसके लिये तो विजय और पराजय दोनों समान हैं ॥ ५३ ॥

पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते।
यस्य स्याद् विजयः कृष्ण तस्याप्यपचयो ध्रुवम्॥५४॥

श्रीकृष्ण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पराजय मृत्युसे अच्छी वस्तु नहीं है। जिसकी विजय होती है, उसे भी निश्चय ही धन-जनकी भारी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५४ ॥

अन्ततो दयितं घ्नन्ति केचिदप्यपरे जनाः।
तस्याङ्ग बलहीनस्य पुत्रान् भ्रातॄनपश्यतः ॥ ५५ ॥
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते।

युद्ध समाप्त होनेतक कितने ही विपक्षी सैनिक विजयी योद्धाके अनेक प्रियजनोंको मार डालते हैं। जो विजय पाता है, वह भी (कुटुम्ब और धनसम्बन्धी) बलसे शून्य हो जाता है। और कृष्ण! जब वह युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों और भाइयोंको नहीं देखता है, तो वह सब ओरसे विरक्त हो जाता है; उसे अपने जीवनसे भी वैराग्य हो जाता है ॥ ५५½ ॥

ये ह्येव धीरा ह्रीमन्त आर्याः करुणवेदिनः ॥ ५६ ॥
त एव युद्धे हन्यन्ते यवीयान् मुच्यते जनः।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन ॥ ५७ ॥

जो लोग धीर-वीर, लज्जाशील, श्रेष्ठ और दयालु हैं, वे ही प्रायः युद्धमें मारे जाते हैं और अधम श्रेणीके मनुष्य जीवित बच जाते हैं। जनार्दन! शत्रुओंको मारनेपर भी उनके लिये सदा मनमें पश्चात्ताप बना रहता है ॥ ५६-५७ ॥

अनुबन्धश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत् ॥ ५८ ॥
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यान्तविधित्सया।

भागे हुए शत्रुका पीछा करना अनुबन्ध कहलाता है, यह भी पापपूर्ण कार्य है। मारे जानेवाले शत्रुओंमेंसे कोई-कोई बचा रह जाता है। वह अवशिष्ट शत्रु शक्तिका संचय करके विजेताके पक्षमें जो लोग बचे हैं, उनमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ना चाहता। वह शत्रुका अन्त कर डालनेकी इच्छासे विरोधी दलको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देनेका प्रयत्न करता है ॥ ५८½ ॥

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ॥ ५९ ॥
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयौ।

विजयकी प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुताकी सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःखसे समय बिताता है। जो किसीसे शत्रुता न रखकर शान्तिका आश्रय लेता है, वह जय-पराजयकी चिन्ता छोड़कर सुखसे सोता है ॥ ५९½ ॥

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ॥ ६० ॥
अनिवृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि।

किसीसे वैर बाँधनेवाला पुरुष सर्पयुक्त गृहमें रहनेवालेकी भाँति उद्विग्नचित्त होकर सदा दुःखकी नींद सोता है ॥

उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते ॥ ६१ ॥
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं सोऽधिगच्छति।

जो शत्रुके कुलमें आबालवृद्ध सभी पुरुषोंका उच्छेद कर डालता है, वह वीरोचित यशसे वञ्चित हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंमें सदा बनी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा) का भागी होता है ॥ ६१½ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि ॥ ६२ ॥
आख्यातारश्च विद्यन्ते पुमांश्चेद् विद्यते कुले।

दीर्घकालतक मनमें दबाये रखनेपर भी वैरकी आग सर्वथा बुझ नहीं पाती; क्योंकि यदि कोई उस कुलमें विद्यमान है, तो उससे पूर्वघटित वैर बढ़ानेवाली घटनाओंको बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं ॥ ६२½ ॥

न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ॥ ६३ ॥
हविषाग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते ।

केशव ! जैसे घी डालनेपर आग बुझनेके बजाय और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैर करनेसे वैरकी आग शान्त नहीं होती, अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ ६३½ ॥

अतोऽन्यथा नास्ति शान्तिर्नित्यमन्तरमन्ततः ॥ ६४ ॥
अन्तरं लिप्समानानामयं दोषो निरन्तरः ।

(क्योंकि दोनों पक्षोंमें सदा कोई-न-कोई छिद्र मिलनेकी सम्भावना रहती है) इसलिये दोनों पक्षोंमेंसे एकका सर्वथा नाश हुए बिना पूर्णतः शान्ति नहीं प्राप्त होता है । जो लोग छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, उनके सामने यह दोष निरन्तर प्रस्तुत रहता है ॥ ६४½ ॥

पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ।
तस्य त्यागेन वा शान्तिर्मरणेनापि वा भवेत् ॥ ६५ ॥

यदि अपनेमें पुरुषार्थ है, तो पूर्व वैरको याद करके जो हृदयको पीड़ा देनेवाली प्रबल चिन्ता सदा बनी रहती है, उसे वैराग्यपूर्वक त्याग देनेसे ही शान्ति मिल सकती है; अथवा मर जानेसे ही उस चिन्ताका निवारण हो सकता है ॥ ६५ ॥

अथवा मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात् तन्नृशंसतरं भवेत् ॥ ६६ ॥

अथवा शत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेसे ही अभीष्ट फलकी सिद्धि हो सकती है । परंतु मधुसूदन ! यह बड़ी क्रूरताका कार्य होगा ॥ ६६ ॥

या तु त्यागेन शान्तिः स्यात् तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ॥ ६७ ॥

राज्यको त्याग देनेसे उसके बिना जो शान्ति मिलती है, वह भी वधके ही समान है । क्योंकि उस दशामें शत्रुओंसे सदा यह संदेह बना रहता है कि ये अवसर देखकर प्रहार करेंगे और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित होनेके कारण अपने विनाशकी सम्भावना भी रहती ही है ॥ ६७ ॥

न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ॥ ६८ ॥

अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं । यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकाङ्क्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ॥ ६९ ॥

यद्यपि हम युद्धकी इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायोंसे राज्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा; हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते ॥

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥

जब शान्तिके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, तब भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है । पण्डितोंने इस युद्धकी उपमा कुत्तोंके कलहसे दी है ॥ ७० ॥

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गरजते हैं । तत्पश्चात् एक-दूसरेके निकट पहुँचते हैं । फिर दाँत दिखाना और भूकना आरम्भ करते हैं । तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है ॥ ७१ ॥

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण ! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांसको खाता है, जिसके लिये कि उनमें लड़ाई हुई थी । यही दशा मनुष्योंकी है । इनमें कोई विशेषता नहीं है* ॥ ७२ ॥

सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरोऽविरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ॥ ७३ ॥

यह सर्वथा उचित है कि बलवानोंकी दुर्बलोंके प्रति आदरबुद्धि न हो । वे उसका विरोध भी नहीं करते । दुर्बल वही है, जो सदा झुकनेके लिये तैयार रहे ॥ ७३ ॥

पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ ७४ ॥

जनार्दन ! पिता, राजा और वृद्ध सर्वथा समादरके ही योग्य हैं । अतः धृतराष्ट्र हमारे लिये सदा माननीय एवं पूजनीय हैं ॥ ७४ ॥

---

*कुत्तोंके दुम हिलानेके समान राजाओंका ध्वज कम्पन है, उनके गुर्रानेकी जगह उनका सिंहनाद है । कुत्ते जो एक-दूसरेको देखकर गर्जते हैं, उसी प्रकार दो विरोधी क्षत्रिय एक दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आक्षेपजनक बातें कहते हैं । एक-दूसरेके निकट जाना दोनोंमें समानरूपसे होता है । राजालोग क्रोधमें आकर जो दाँतोंसे होठ चबाते हैं, यही कुत्तोंके समान उनका दाँत दिखाना है । विकट गर्जन-तर्जन भूकना है और युद्ध करना ही कुत्तोंके समान लड़ना है । राज्यकी प्राप्ति ही वह मांसका टुकड़ा है, जिसके लिये उनमें लड़ाई होती है ।

पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ ७५ ॥

माधव ! धृतराष्ट्रमें अपने पुत्रके प्रति प्रबल आसक्ति है। वे पुत्रके वशमें होनेके कारण कभी झुकना नहीं स्वीकार करेंगे ॥ ७५ ॥

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम्।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ ७६ ॥

माधव श्रीकृष्ण ! ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं ? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वञ्चित न होना पड़े ॥ ७६ ॥

ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ ७७ ॥

पुरुषोत्तम मधुसूदन ! ऐसे महान् संकटके समय हम आपको छोड़कर और किससे सलाह ले सकते हैं ॥ ७७ ॥

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥

श्रीकृष्ण ! आपके समान हमारा प्रिय, हितैषी, समस्त कर्मोंके परिणामको जाननेवाला और सभी बातोंमें एक निश्चित सिद्धान्त रखनेवाला सुहृद् कौन है ? ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ ७९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन् ! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ॥ ७९ ॥

शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन्।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥ ८० ॥

'वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया ॥ ८० ॥

मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसृंजयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥ ८१ ॥

ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, सृंजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा' ॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा ॥ ८२ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम्।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ॥ ८३ ॥

इसके सिवा इस समय दुर्योधनके वशमें रहनेवाले भू-मण्डलके सभी क्षत्रिय वहाँ एकत्र हुए हैं । उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ८३ ॥

न हि नः प्रीणयेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥ ८४ ॥

माधव ! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥ ८४ ॥

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम्।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥ ८५ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ । तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे ॥ ८५ ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ८६ ॥

(मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किञ्चिदसाम्प्रतम्।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ८७ ॥

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥ ८८ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान्।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये। आपका कल्याण हो। आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये। आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा॥

विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरतांश्छमय प्रभो।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः॥ ९०॥

विष्वक्सेन प्रभो ! आप कुरुदेशमें जाकर भरतवंशियोंको शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदयसे प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें॥ ९०॥

भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः।
सौहृदेनाविशङ्क्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये॥ ९१॥

आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं। अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं। आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये। आपका कल्याण हो॥ ९१॥

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम्।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः॥९२॥

श्रीकृष्ण ! आप हमको जानते हैं, कौरवोंको भी जानते हैं, हम दोनोंके स्वार्थोंसे भी आप अपरिचित नहीं हैं और बातचीत कैसे करनी चाहिये, यह भी आपको अच्छी तरह ज्ञात है। अतः जिस-जिस बातसे हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधनको बतावें॥ ९२॥

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत्॥९३॥

केशव ! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें॥९३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृतकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णको प्रेरणाविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहन देना

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैंने संजयकी और आपकी भी बातें सुनी हैं। कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ॥ १॥

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत्॥ २॥

आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुताका आश्रय ले रक्खा है। आप तो बिना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे॥ २॥

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत्॥ ३॥

परंतु महाराज ! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है। सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये॥ ३॥

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते॥ ४॥

उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रियका स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है॥ ४॥

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप॥ ५॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती। शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओंका संहार कीजिये॥५॥

अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप॥ ६॥

परंतप ! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं। इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है। (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया॥ ६॥

न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः॥ ७॥

अतः प्रजानाथ ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (सन्धि) स्थापित करें। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं॥

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम ॥ ८ ॥

अतः शत्रुदमन राजन् ! जबतक आप इनके साथ नर्मीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे ॥ ८ ॥

नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुमर्दन नरेश ! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे ॥ ९ ॥

एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि ।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! कौरवोंके सन्धि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया ॥

पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च ॥ ११ ॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम् ॥ १२ ॥
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा ।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥

राजन् ! आप दानशील, कोमलस्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है ॥

तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें । भारत ! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते ॥ १५ ॥
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ॥ १६ ॥

(क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी । वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है । केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा ॥ १५-१६ ॥

कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि ॥ १७ ॥

'दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी । इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे' ॥ १७ ॥

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ॥ १८ ॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ॥ १९ ॥

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा ॥

भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥

यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया, इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके ॥ २० ॥

एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स्म त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ २१ ॥

जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा ॥ २१ ॥

ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा ॥ २२ ॥

जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते हुए रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे ॥ २२ ॥

न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणोंसहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा

नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे ॥ २३ ॥

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है, निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है ॥ २४ ॥

तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ॥ २५ ॥

महाराज! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी ॥ २५ ॥

ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम्।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥

जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है ॥

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः ॥ २७ ॥

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें ॥२७॥

सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ ॥ २८ ॥

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ॥ २९ ॥

राजन्! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुविधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा ॥

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥ ३० ॥

मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्घाटन करूँगा ॥ ३० ॥

ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥ ३१ ॥

त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ॥ ३२ ॥

मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है ॥ ३१-३२ ॥

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥ ३३ ॥

मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा ॥ ३३ ॥

शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥ ३४ ॥

वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे ॥ ३४ ॥

तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ॥ ३५ ॥

सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है? जिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३५ ॥

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन्।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे सन्धि-स्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रक्खूँगा ॥ ३६ ॥

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम्।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥ ३७ ॥

भारत! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा ॥

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३८ ॥

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना हो रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु।

घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान्॥ ३९ ॥

मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोष-कालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं। इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों) को धारण करते हैं ॥ ३९ ॥

मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात्।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥ ४० ॥
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥ ४१ ॥

यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं। अतः नरेन्द्र ! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों, एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें। इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये ॥ ४०-४१ ॥

दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित्।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवप्रवर ! नरेश्वर ! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका शान्तिविषयक प्रस्ताव

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—मधुसूदन ! आप कौरवोंके बीचमें वैसी ही बातें कहें, जिससे हमलोगोंमें शान्ति स्थापित हो सके। युद्धकी बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजियेगा ॥ १ ॥

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ॥ २ ॥

दुर्योधन असहनशील, क्रोधमें भरा रहनेवाला, श्रेयका विरोधी और मनमें बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है। अतः उसके प्रति कठोर बात न कहियेगा, उसे सामनीतिके द्वारा ही समझानेका प्रयत्न कीजियेगा ॥ २ ॥

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः ॥ ३ ॥

दुर्योधन स्वभावसे ही पापात्मा है। उसके हृदयमें डाकुओंके समान क्रूरता भरी रहती है। वह ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गया है और पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता है ॥ ३ ॥

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः ॥ ४ ॥

वह अदूरदर्शी, निष्ठुर वचन बोलनेवाला, परनिन्दक, क्रूर पराक्रमी, दीर्घकालतक क्रोधको मनमें संचित रखनेवाला, शिक्षा देने या सन्मार्गपर ले जाये जानेकी योग्यतासे रहित, पापात्मा तथा शठतासे प्रेम रखनेवाला है ॥ ४ ॥

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम्।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! वह मर जायगा, किंतु झुक न सकेगा। अपनी टेक नहीं छोड़ेगा। मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्यके साथ संधि स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सुहृदामप्यवाचीनस्त्यक्तधर्मा प्रियानृतः।
प्रतिहन्त्येव सुहृदां वाचश्चैव मनांसि च ॥ ६ ॥

दुर्योधन हितैषी सुहृदोंके भी विपरीत आचरण करनेवाला है। उसने धर्मको तो त्याग ही दिया है, झूठको भी प्रिय मानकर अपना लिया है। वह मित्रोंकी भी बातोंका खण्डन करता है और उनके हृदयको चोट पहुँचाता है ॥ ६ ॥

स मन्युवशमापन्नः स्वभावं दुष्टमास्थितः।
स्वभावात् पापमभ्येति तृणैश्छन्न इवोरगः ॥ ७ ॥

उसने क्रोधके वशीभूत होकर दुष्ट स्वभावका आश्रय ले रक्खा है। वह तिनकोंमें छिपे सर्पकी भाँति स्वभावतः दूसरोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥

दुर्योधनो हि यत्सेनः सर्वथा विदितस्तव ।
यच्छीलो यत्स्वभावश्च यद्बलो यत्पराक्रमः ॥ ८ ॥

भगवन् ! दुर्योधनकी सेना जैसी है, उसका शील और स्वभाव जैसा है, उसका बल और पराक्रम जिस प्रकारका है, वह सब कुछ आपको सब प्रकारसे ज्ञात है ॥ ८ ॥

पुरा प्रसन्नाः कुरवः सहपुत्रास्तथा वयम् ।
इन्द्रज्येष्ठा इवाभूम मोदमानाः सबान्धवाः ॥ ९ ॥

पूर्वकालमें पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित कौरव और हम-लोग इन्द्र आदि देवताओंकी भाँति परस्पर मिलकर बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ रहते थे ॥ ९ ॥

दुर्योधनस्य क्रोधेन भरता मधुसूदन ।
धक्ष्यन्ते शिशिरापाये वनानीव हुताशनैः ॥ १० ॥

परंतु मधुसूदन ! जैसे शिशिरके अन्तमें (ग्रीष्मकाल आनेपर) वन दावानलसे जलने लगते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भरतवंशी इस समय दुर्योधनकी क्रोधाग्निसे जलने-वाले हैं ॥ १० ॥

अष्टादशेमे राजानः प्रख्याता मधुसूदन ।
ये समुच्चिच्छिदुर्ज्ञातीन् सुहृदश्च सबान्धवान् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! आगे बताये जानेवाले ये अठारह विख्यात नरेश हैं, जिन्होंने बन्धु-बान्धवोंसहित कुटुम्बीजनों तथा हितैषी सुहृदोंका संहार कर डाला था ॥ ११ ॥

असुराणां समृद्धानां ज्वलतामिव तेजसा ।
पर्यायकाले धर्मस्य प्राप्ते कलिरजायत ॥ १२ ॥
हैहयानां मुदावर्तो नीपानां जनमेजयः ।
बहुलस्तालजंघानां कृमीणामुद्धतो वसुः ॥ १३ ॥
अजबिन्दुः सुवीराणां सुराष्ट्राणां रुषर्द्धिकः ।
अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौतमूलकः ॥ १४ ॥
हयग्रीवो विदेहानां वरयुश्च महौजसाम् ।
बाहुः सुन्दरवंशानां दीप्ताक्षाणां पुरूरवाः ॥ १५ ॥
सहजश्चेदिमत्स्यानां प्रवीराणां वृषध्वजः ।
धारणश्चन्द्रवत्सानां मुकुटानां विगाहनः ॥ १६ ॥
शमश्च नन्दिवेगानामित्येते कुलपांसनाः ।
युगान्ते कृष्ण सम्भूताः कुले कुपुरुषाधमाः ॥ १७ ॥

जैसे धर्मके विप्लवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे प्रज्वलित होनेवाले समृद्धिशाली असुरोंमें भयंकर कलह उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार हैहयवंशमें मुदावर्त, नीपकुलमें जनमेजय, तालजंघोंके वंशमें बहुल, कृमिकुलमें उद्दण्ड वसु, सुवीरोंके वंशमें अजबिंदु, सुराष्ट्रकुलमें रुषर्द्धिक, बलीहवंशमें अर्कज, चीनोंके कुलमें धौतमूलक, विदेहवंशमें हयग्रीव, महौजा नामक क्षत्रियोंके कुलमें वरयु, सुन्दरवंशी क्षत्रियोंमें बाहु, दीप्ताक्ष-कुलमें पुरूरवा, चेदि और मत्स्यदेशमें सहज, प्रवीरवंशमें वृषध्वज, चन्द्रवत्सकुलमें धारण, मुकुटवंशमें विगाहन तथा नन्दिवेगकुलमें शम—ये सभी कुलाङ्गार एवं नराधम क्षत्रिय युगान्तकाल आनेपर ऊपर बताये अनुसार भिन्न-भिन्न कुलोंमें प्रकट हुए थे ॥ १२–१७ ॥

अप्ययं नः कुरूणां स्याद् युगान्ते कालसम्भृतः ।
दुर्योधनः कुलाङ्गारो जघन्यः पापपूरुषः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त (अठारह) राजाओंकी भाँति यह कुलाङ्गार, नीच एवं पापपुरुष दुर्योधन भी इस द्वापर युगके अन्तमें कालसे प्रेरित हो हमारे कुरुकुलके विनाशका कारण होकर उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम् ।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ॥ १९ ॥

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण ! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें । आपका कथन धर्म एवं अर्थसे युक्त तथा हितकर हो । उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे । साथ ही इसका भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों ॥ १९ ॥

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।
नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरता नशन् ॥ २० ॥

भगवन् ! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधनका अनुसरण करते रहेंगे; परंतु हमारे कारणसे भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ २० ॥

अप्युदासीनवृत्तिः स्याद् यथा नः कुरुभिः सह ।
वासुदेव तथा कार्यं न कुरूननयः स्पृशेत् ॥ २१ ॥

वासुदेव ! हमारा कौरवोंके साथ उदासीनभाव एवं तटस्थताका बर्ताव भी जैसे बना रहे, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये । किसी प्रकार भी कौरवोंको अन्यायका स्पर्श नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः ।
भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण ! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिये ही कहें, जिससे सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय ॥ २२ ॥

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ॥ २३ ॥

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनके लिये कह रहा हूँ । राजा युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनमें बहुत अधिक दया भरी हुई है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको उत्तेजित करना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः॥ १॥
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम्॥ २॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम्।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनके मुखसे यह अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। जैसे पर्वतमें लघुता आ जाय और अग्निमें शीतलता प्रकट हो जाय, उसी प्रकार उनमें यह नम्रताका प्रादुर्भाव हुआ था। यह सोचकर शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले रामानुज श्रीकृष्ण अपने पास बैठे हुए वृकोदर भीमसेनको, जो उस समय दयासे द्रवित हो रहे थे, अपने वचनोंद्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले, मानो वायु अग्निको उद्दीप्त कर रही हो॥ १—३॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः॥ ४॥

श्रीभगवान् बोले—भैया भीमसेन! आजके सिवा और दिन तो तुम हिंसासे ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मसल डालनेकी इच्छा मनमें लेकर सदा युद्धकी ही प्रशंसा किया करते थे॥ ४॥

न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप।
घोरामशान्तां रुशतीं सदा वाचं प्रभाषसे॥ ५॥

परंतप! (इन्हीं विचारोंमें डूबे रहनेके कारण) तुम रातमें सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुँह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुँहसे निकलती थीं॥ ५॥

निःश्वसन्नग्निवत् तेन संतप्तः स्वेन मन्युना।
अप्रशान्तमना भीम सधूम इव पावकः॥ ६॥

भीम! तुम बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने ही क्रोधसे उसी प्रकार संतप्त होते थे, जैसे आग अपने ही तेजसे तपी रहती है। धुएँसे व्याप्त हुई अग्निकी भाँति तुम्हारे नित्य-निरन्तर अशान्ति छायी रहती थी॥ ६॥

एकान्ते निःश्वसञ्छेषे भारार्त इव दुर्बलः।
अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यन्तेऽतद्विदो जनाः॥ ७॥

भारी बोझसे पीड़ित दुर्बल मनुष्यकी भाँति तुम एकान्तमें बैठकर जोर-जोरसे साँस खींचते रहते थे। इसीलिये तुम्हें कुछ लोग, जो इस बातको नहीं जानते हैं, पागल मानते हैं॥ ७॥

आरुज्य वृक्षान् निर्मूलान् गजः परिरुजन्निव।
निघ्नन् पद्भिः क्षितिं भीम निष्टनन् परिधावसि॥ ८॥

भीम! जैसे हाथी वृक्षोंको जड़-मूलसहित उखाड़कर उन्हें पैरोंकी ठोकरोंसे टूक-टूक कर डालता है, उसी प्रकार तुम भी पैरोंसे पृथ्वीपर आघात करते हुए जोर जोरसे गर्जते और चारों ओर दौड़ते थे॥ ८॥

नास्मिञ्जनेऽभिरमसे रहः क्षिपसि पाण्डव।
नान्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनन्दसि॥ ९॥

पाण्डुनन्दन! तुम कभी इस जनसमुदायमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करते थे; सदा एकान्तमें ही बैठकर कालक्षेप करते थे। दिन हो या रात, तुम कभी किसी दूसरेका अभिनन्दन नहीं करते थे॥ ९॥

अकस्मात् स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः॥ १०॥

कभी सहसा हँस पड़ते और कभी एकान्त स्थानमें रोते हुए-से प्रतीत होते थे और कभी घुटनोंपर मस्तक रखकर दीर्घकालतक नेत्र बंद किये बैठे रहते थे॥ १०॥

भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम्॥ ११॥

भीमसेन! मैंने बार-बार तुम्हें भौंहें टेढ़ी करके दोनों ओठोंको चबाते हुए-से देखा है। यह सब तुम्हारे क्रोधकी करतूत है॥ ११॥

यथा पुरस्तात् सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन्।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान्॥ १२॥
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः।
हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम्॥ १३॥
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनालभसे गदाम्।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्ध्रियतेऽद्य परंतप॥ १४॥

तुम अपने भाइयोंके बीचमें सत्यकी शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—'जैसे सूर्यदेव पूर्वदिशामें उदित होते हुए अपने तेजोमण्डलको प्रकट करते दिखायी देते हैं और पश्चिम दिशामें वे ही अंशुमाली अस्ताचलको जाकर निश्चितरूपसे मेरुपर्वतकी परिक्रमा करते हैं, उनके इस नियममें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं यह सत्य कहता हूँ कि अमर्षशील दुर्योधनके पास जाकर अपनी गदासे उसके प्राण ले लूँगा। मेरे इस कथनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।' परंतप! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम जैसे वीरशिरोमणिकी बुद्धि आज शान्ति-स्थापनमें लग रही है, (यह आश्चर्यकी बात है!)॥ १२–१४॥

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति॥ १५॥

अहो! युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहलेसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंके विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन! जान पड़ता है, इसीलिये तुम्हें भी युद्धसे भय होने लगा है॥ १५॥

अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि।
स्वप्नान्ते जागरान्ते च तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १६॥

कुन्तीनन्दन! बड़े विस्मयकी बात है कि तुम्हें सोते और जागतेमें उलटे परिणामकी सूचना देनेवाले अपशकुन दिखायी देते हैं। इसीसे तुम शान्तिकी इच्छा प्रकट कर रहे हो॥

अहो नाशंससे किञ्चित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः॥ १७॥

अहो! कायर और नपुंसककी भाँति इस समय तुम अपनेमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते। तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, जिससे तुम्हारी मानसिक दशा बिगड़ गयी है॥ १७॥

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १८॥

जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय काँपता है, मन शिथिल होता जाता है, तुम्हारी जाँघें मानो अकड़ गयी हैं; इसीलिये तुम शान्ति चाहते हो॥ १८॥

अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम्।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव॥ १९॥

पार्थ! कहते हैं कि मनुष्यका चित्त सदा एक निश्चयपर अटल नहीं रहता। वह हवाके वेगसे हिलती हुई सेमलके फलकी गाँठके समान डाँवाडोल रहता है॥ १९॥

तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी।
मनांसि पाण्डुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव॥ २०॥

यदि गौएँ मनुष्योंकी बोली बोलें, तो वह जैसे बिगड़ी हुई होगी, उसी प्रकार तुम्हारी यह बुद्धि विकृत होकर अगाध समुद्रमें नावके बिना डूबनेवाले मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके मनको चिन्तामग्न किये देती है॥ २०॥

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम्।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः॥ २१॥

भीमसेन! तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है। जैसे पर्वतका चलना आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्यमें डाल रहा है॥ २१॥

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव॥ २२॥

भारत! तुम अपने कर्मोंकी ओर देखकर और जिस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर भी दृष्टिपात करके खड़े हो जाओ। वीरवर! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्मपर डट जाओ॥ २२॥

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिंदम।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते॥ २३॥

शत्रुदमन! तुम्हारे चित्तमें जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, यह तुम्हारे-जैसे शूरवीरके योग्य कदापि नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रमसे प्राप्त नहीं करता, उसे अपने उपभोगमें नहीं लाता है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः।
सदश्ववत् समाधावद् बभाषे तदनन्तरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सदा क्रोध और अमर्षमें भरे रहनेवाले भीमसेन पहले सुशिक्षित घोड़ेकी भाँति सरपट भागने लगे (जल्दी-जल्दी बोलने लगे); फिर धीरे-धीरे बोले॥ १॥

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत।
प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम्॥ २॥
वेत्सि दाशार्ह सत्त्वं मे दीर्घकालं सहोषितः।

भीमसेनने कहा—अच्युत! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परंतु आप समझ कुछ और ही रहे हैं। दशार्हनन्दन! आप दीर्घकालतक मेरे साथ रहे हैं। अतः मेरे विषयमें यह सच्ची जानकारी रखते ही होंगे कि मेरा युद्धमें अत्यन्त अनुराग है और मेरा पराक्रम भी मिथ्या नहीं है॥ २½॥

उत वा मां न जानासि प्लवन् ह्रद इवाप्लवे॥ ३॥
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि।

अथवा यह भी सम्भव है कि बिना नौकाके अगाध सरोवरमें तैरनेवाले पुरुषको जैसे उसकी गहराईका पता नहीं चलता, उसी तरह आप मुझे अच्छी तरह न जानते हों। इसीलिये आप अनुचित वचनोंद्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं॥ ३½॥

कथं हि भीमसेनं मां जानन् कश्चन माधव॥ ४॥
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि।

माधव! मुझ भीमसेनको अच्छी तरह जाननेवाला कोई भी मनुष्य मेरे प्रति ऐसे अयोग्य वचन, जैसे आप कह रहे हैं, कैसे कह सकता है?॥ ४½॥

तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनन्दन॥ ५॥
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः।

वृष्णिकुलनन्दन! इसीलिये मैं आपसे अपने उस पौरुष तथा बलका वर्णन करना चाहता हूँ, जिसकी समानता दूसरे लोग नहीं कर सकते॥ ५½॥

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः॥ ६॥
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः।

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना सर्वथा नीच पुरुषोंका ही कार्य है, तथापि आपने जो मेरे सम्मानके विपरीत बातें कहकर मेरा तिरस्कार किया है, उससे पीड़ित होकर मैं अपने बलका बखान करता हूँ॥ ६½॥

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः॥ ७॥
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ।

श्रीकृष्ण! आप इस भूतल और स्वर्गलोकपर दृष्टिपात करें। इन्हीं दोनोंके भीतर ये समस्त प्रजाजन निवास करते हैं। ये दोनों सबके माता-पिता हैं। इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है। ये दूसरोंके आधार होते हुए भी स्वयं आधार-शून्य हैं॥ ७½॥

यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव॥ ८॥
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे।

यदि ये दोनों लोक सहसा कुपित होकर दो शिलाओंकी भाँति परस्पर टकराने लगें, तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओंसे रोक सकता हूँ॥ ८½॥

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव॥ ९॥
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम्।

लोहेके विशाल परिघोंकी भाँति मेरी इन मोटी भुजाओं-का मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिये। मैं ऐसे किसी वीर पुरुषको नहीं देखता, जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाय॥ ९½॥

हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित् स्वयम्॥ १०॥
मयाभिपन्नं त्रायेरन् बलमास्थाय न त्रयः।

जो मेरी पकड़में आ जायगा, उसे हिमालय पर्वत, विशाल महासागर तथा बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले साक्षात् वज्रधारी इन्द्र—ये तीनों अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बचा नहीं सकते॥ १०½॥

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः॥ ११॥
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले।

पाण्डवोंके प्रति आततायी बने हुए इन समस्त क्षत्रियों-को, जो युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, मैं नीचे पृथ्वीपर गिरा-कर पैरोंतले रौंद डालूँगा॥ ११½॥

न हि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत॥ १२॥
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः।

अच्युत! मैंने राजाओंको जिस प्रकार युद्धमें जीतकर अपने अधीन किया था, मेरे उस पराक्रमसे आप अपरिचित नहीं हैं॥ १२½॥

अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम्॥ १३॥
विगाढे युधि सम्बाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन।

जनार्दन ! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रमको न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते हुए सूर्यकी प्रभाके समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे ॥ १३½ ॥

परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन्॥ १४॥

पके हुए घावको चाकूसे चीरने या उकसानेवाले पुरुषके समान आप मुझे अपने कठोर वचनोंद्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे हैं ? ॥ १४ ॥

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि॥ १५॥

मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, उससे भी बढ़-चढ़कर मुझे समझें। जिस समय योद्धाओंसे खचाखच भरे हुए युद्धमें भयानक मार-काट मचेगी, उस दिन मुझे देखियेगा ॥ १५ ॥

मया प्रणुन्नान् मातङ्गान् रथिनः सादिनस्तथा।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नन्तं क्षत्रियर्षभान्॥ १६॥
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षन्तं वरान् वरान्।

जब (घमासान युद्धमें) मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारोंको धराशायी करना और फेंकना आरम्भ करूँगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रियवीरोंका वध करने लगूँगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान वीरोंका संहार कर रहा हूँ ॥ १६½ ॥

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः॥ १७॥
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन्॥ १८॥

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है। मधुसूदन ! यदि समस्त संसार अत्यन्त कुपित होकर मुझपर आक्रमण करे, तो भी उससे मुझे भय नहीं है; किंतु मैंने जो शान्तिका प्रस्ताव किया है, वह तो केवल मेरा सौहार्द ही है। मैं दयावश सारे क्लेश सह लेनेको तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमसेनवाक्यसम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको आश्वासन देना

श्रीभगवानुवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम्।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—भीमसेन ! मैंने तो तुम्हारा मनोभाव जाननेके लिये ही प्रेमसे ये बातें कही हैं, तुमपर आक्षेप करने, पण्डिताई दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देनेकी इच्छासे कुछ नहीं कहा है ॥ १ ॥

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद् बलम्।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम्॥ २॥

मैं तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूँ। तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी परिचित हूँ और तुमने जो बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं; अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ॥ २ ॥

यथा चात्मनि कल्याणं सम्भावयसि पाण्डव।
सहस्रगुणमप्येतत् त्वयि सम्भावयाम्यहम्॥ ३॥

पाण्डुनन्दन ! तुम अपनेमें जैसे कल्याणकारी गुणकी सम्भावना करते हो, उससे भी सहस्रगुने सद्गुणोंकी सम्भावना तुममें मैं करता हूँ ॥ ३ ॥

यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः॥ ४॥

भीमसेन ! समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित जैसे प्रतिष्ठित कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने बन्धुओं और सुहृदोंसहित तुम वैसी ही प्रतिष्ठाके योग्य हो ॥ ४ ॥

जिज्ञासन्तो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर।
पर्यायं नाध्यवस्यन्ति दैवमानुषयोर्जनाः॥ ५॥

वृकोदर ! दैवधर्म (प्रारब्ध) और मानुष धर्म (पुरुषार्थ) का स्वरूप संदिग्ध है। लोग दैव और पुरुषार्थ दोनोंके परिणामको जानना चाहते हैं, परंतु किसी निश्चय-तक पहुँच नहीं पाते ॥ ५ ॥

स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्यार्थसिद्धिषु।
विनाशेऽपि स एवास्य संदिग्धं कर्म पौरुषम्॥ ६॥

क्योंकि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही कभी पुरुषकी कार्य-सिद्धिमें

कारण बनकर कभी विनाशका भी हेतु बन जाता है । इस प्रकार जैसे दैवका फल संदिग्ध है, वैसे ही पुरुषार्थका भी फल संदिग्ध है ॥ ६ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ७ ॥

दोषदर्शी विद्वानोंद्वारा अन्य रूपमें देखे या विचारे हुए कर्म वायुके वेगोंकी भाँति बदलकर किसी दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सुमन्त्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम् ।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ॥ ८ ॥

अच्छी तरह विचारपूर्वक निश्चित किये हुए, उत्तम नीतिसे युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थसाध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धिमें विघ्न पड़ जाता है ॥ ८ ॥

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते ।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! दैवकृत कार्य भी समाप्त होनेसे पहले पुरुषार्थ-द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । जैसे शीतका निवारण वस्त्रसे, गर्मीका व्यजनसे, वर्षाका छत्रसे और भूख-प्यासका निवारण अन्न और जलसे हो जाता है ॥ ९ ॥

यदन्यद् दिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयंकृतम् ।
तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥

प्रारब्धके अतिरिक्त जो पुरुषका स्वयं अपना किया हुआ कर्म है, उससे भी फलकी सिद्धि होती है। इस विषयमें यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं ॥ १० ॥

लोकस्य नान्यतो वृत्तिः पाण्डवान्यत्र कर्मणः ।
एवंबुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुरुषार्थको छोड़कर दूसरे किसी साधनसे—केवल दैवसे मनुष्यका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता । ऐसा विचारकर उसे कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये । फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंके सम्बन्धसे फलकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते ।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥

जो अपनी बुद्धिमें ऐसा निश्चय करके कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, वह फलकी सिद्धि न होनेपर दुखी नहीं होता और फलकी प्राप्ति होनेपर भी हर्षका अनुभव नहीं करता ॥१२॥

तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता ।
नैकान्तसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥

भीमसेन ! मुझे इस विषयमें अपना यह निश्चय बताना अभीष्ट है कि युद्धमें शत्रुओंके साथ भिड़नेपर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

नातिप्रहीणरश्मिः स्यात् तथा भावविपर्यये ।
विषादमर्च्छेद् ग्लानिं वाप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

मनोभाव बदल जाय अथवा प्रारब्धके अनुसार कोई विपरीत घटना घटित हो जाय, तो भी सहसा अपने तेज और उत्साहको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये । विषाद एवं ग्लानिका अनुभव नहीं करना चाहिये—यह बात भी मैंने तुम्हें आवश्यक समझकर बतायी है ॥ १४ ॥

श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पाण्डव ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! कल सबेरे मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप जाकर तुमलोगोंके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी बाधा न पहुँचाते हुए दोनों पक्षोंमें संधि करानेका प्रयत्न करूँगा ॥

शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशो मम ।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥

यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अक्षय यशकी प्राप्ति होगी । तुमलोगोंका मनोरथ भी पूर्ण होगा और कौरवोंका भी परम कल्याण होगा ॥ १६ ॥

ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः ।
कुरवो युद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥

यदि वे कौरव युद्धका ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे संधि विषयक प्रस्तावको ठुकरा देंगे, तब यहाँ युद्ध ही होगा, जो भयंकर कर्म है ॥ १७ ॥

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः ।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद् वोढव्य इतरो जनः ॥१८॥

भीमसेन ! इस युद्धमें सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रक्खा जायगा एवं अर्जुन इस भारको धारण करेगा । अन्य लोगों-का भार भी तुम्हीं दोनोंको ढोना है ॥ १८ ॥

अहं हि यन्ता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति ।
धनंजयस्यैष कामो न हि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

युद्ध आरम्भ होनेपर मैं अर्जुनका सारथि बनूँगा । यही अर्जुनकी इच्छा है । तुम यह न समझो कि मैं युद्ध होने देना नहीं चाहता ॥ १९ ॥

तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव ।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! इसीलिये जब तुम कायरतापूर्ण वचनोंद्वारा शान्तिका प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्धविषयक विचारके बदल जानेका संदेह हुआ, जिसके कारण पूर्वोक्त बातें कहकर मैंने तुम्हारे तेजको उद्दीप्त किया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका कथन

अर्जुन उवाच

उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद् वाच्यं जनार्दन।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशमम‍त्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो।
लोभाद् वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद् वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥

तदनन्तर अर्जुनने कहा--जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, वह सब तो महाराज युधिष्ठिरने ही कह दिया। शत्रुओंको संतप्त करनेवाले प्रभो ! आपकी बात सुनकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप धृतराष्ट्रके लोभ तथा हमारी प्रस्तुत दीनताके कारण संधि करानेका कार्य सरल नहीं समझ रहे हैं ॥ १-२ ॥

अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम्।
न चान्तरेण कर्माणि पौरुषेण फलोदयः ॥ ३ ॥

अथवा आप मनुष्यके पराक्रमको निष्फल मानते हैं; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म (प्रारब्ध) के बिना केवल पुरुषार्थसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत्।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥

आपने जो बात कही है, वह ठीक है; परंतु सदा वैसा ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी कार्यको असाध्य नहीं समझना चाहिये ॥ ४ ॥

किं चैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम्।
कुर्वन्ति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥

आप ऐसा मानते हैं कि हमारा यह वर्तमान कष्ट ही हमें पीडित करनेवाला है; परंतु वास्तवमें हमारे शत्रुओंके किये हुए वे कार्य ही हमें कष्ट दे रहे हैं, जिनका उनके लिये भी कोई विशेष फल नहीं है ॥ ५ ॥

सम्पाद्यमानं सम्यक् च स्यात् कर्म सफलं प्रभो।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत् परैः ॥ ६ ॥

प्रभो ! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है। श्रीकृष्ण ! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय ॥ ६ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च भवान् नः प्रथमः सुहृत्।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ॥ ७ ॥

वीरवर ! जैसे प्रजापति ब्रह्माजी देवताओं तथा असुरोंके भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा कौरवोंके भी प्रधान सुहृद् हैं ॥ ७ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम्।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ॥ ८ ॥

इसलिये आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे कौरवों तथा पाण्डवोंके भी दुःखका निवारण हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे लिये हितकर कार्य करना आपके लिये दुष्कर नहीं है ॥ ८ ॥

एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ॥ ९ ॥

जनार्दन ! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। प्रभो ! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे ॥ ९ ॥

चिकीर्षितमथान्यत् ते तस्मिन् वीर दुरात्मनि।
भविष्यति च तत् सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ॥ १० ॥

वीर ! उस दुरात्मा दुर्योधनके प्रति आपको कुछ और करना अभीष्ट हो, तो जैसी आपकी इच्छा होगी, वह सब कार्य उसी रूपमें सम्पन्न होगा ॥ १० ॥

शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम्।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः।
न स नार्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबान्धवः ॥ ११ ॥
येन धर्मसुते दृष्ट्वा न सा श्रीरुपमर्षिता।
यच्चाप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ॥ १२ ॥
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना।

श्रीकृष्ण ! कौरवोंके साथ हमारी संधि हो अथवा आप जो कुछ करना चाहते हों, वही हो। विचार करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आपकी जो इच्छा हो, वही हमारे लिये गौरव तथा समादरकी वस्तु है। वह दुष्टात्मा दुर्योधन अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित वधके

ही योग्य है, जो धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास आयी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन न कर सका। इतना ही नहीं, जब कपटद्यूतका आश्रय लेनेवाले उस क्रूरात्माने किसी धर्मसम्मत उपाय युद्ध आदिको अपने लिये सफलता देनेवाला नहीं देखा, तब कपटपूर्ण उपायसे उस सम्पत्तिका अपहरण कर लिया ॥ ११-१२½ ॥

कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ॥ १३ ॥
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी धनुर्धर पुरुष किसीके द्वारा युद्धके लिये आमन्त्रित होनेपर कैसे पीछे हट सकता है ? भले ही वैसा करनेपर उसके लिये प्राण-त्यागका संकट भी उपस्थित हो जाय ॥ १३½॥

अधर्मेण जितान् दृष्ट्वा वने प्रव्रजितांस्तथा ॥ १४ ॥
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः ।

वृष्णिकुलनन्दन ! हमलोग अधर्मपूर्वक जूएमें पराजित किये गये और वनमें भेज दिये गये । यह सब देखकर मैंने मन-ही-मन पूर्णरूपसे निश्चय कर लिया था कि दुर्योधन मेरे द्वारा वधके योग्य है ॥ १४½ ॥

न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि ।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना चेतरेण वा ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! आप मित्रोंके हितके लिये जो कुछ करना चाहते हैं, वह आपके लिये अद्भुत नहीं है। मृदु अथवा कठोर, जिस उपायसे भी सम्भव है, किसी तरह अपना मुख्य कार्य सफल होना चाहिये ॥ १५ ॥

अथवा मन्यसे ज्यायान् वधस्तेषामनन्तरम् ।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ॥ १६ ॥

अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय । फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये ॥

जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ॥ १७ ॥

आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था ॥

स नाम सम्यग् वर्तेत पाण्डवेष्विति माधव ।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ॥ १८ ॥

माधव ! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है। उसके साथ संधिका सारा प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है ॥ १८ ॥

तस्माद् यन्मन्यसे युक्तं पाण्डवानां हितं च यत् ।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनन्तरम् ॥ १९ ॥

अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण ! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करने योग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको उत्तर देना

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है। मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव – दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें ॥ १ ॥

सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥ २ ॥
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम् ।

अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि (इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है) कुन्तीनन्दन ! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके बिना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता ॥ २½ ॥

तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ॥ ३ ॥
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।

जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है] ॥ ३½ ॥

तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥ ४ ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धिद्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ॥ ४½ ॥

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥ ५ ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।

मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है, उतना संधिस्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥ ५½ ॥

स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥ ६ ॥
न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।

दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता ॥ ६½ ॥

तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ॥ ७ ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।

इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं ॥ ७½ ॥

स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥ ८ ॥
अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः ।

कुन्तीनन्दन ! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जबतक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा ॥ ८½ ॥

न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं। उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगनेपर भी राज्य नहीं देगा ॥ ९ ॥

न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिरशासनम् ।
उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ॥ १० ॥
तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः ।
तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुल-कलंक पापात्मा उन सब बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा । हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्‌में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा ॥ १०-११ ॥

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥ १२ ॥
विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।
न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

भारत ! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं, जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है ॥ १२-१३ ॥

असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।
न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है ॥ १४ ॥

जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥ १५ ॥

महाबाहो ! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ॥ १६ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजानकी भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो ? ॥ १६ ॥

यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार ! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो। फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है ? ॥

यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी ॥ १८ ॥

कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥ १९ ॥

विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवासका वर्ष पूरा हो चुका था। उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे

याचना की कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य देकर उनसे मेल कर लो, परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की ॥ १९ ॥

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ॥ २० ॥

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये। परंतु दुर्योधन तुमलोगोंपर क्षणभरके लिये किञ्चिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है ॥ २० ॥

सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम्।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

मुझे वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है। यदि यह सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना होगा कि दुरात्मा दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड कैसे दिया जाय ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

नकुलका निवेदन

नकुल उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत् त्वया ॥ १ ॥

नकुल बोले—माधव ! धर्मज्ञ और उदार धर्मराजने बहुत-सी बातें कही हैं और आपने उन्हें सुना है ॥ १ ॥

मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवात्मनः ॥ २ ॥

यदुकुलभूषण ! राजाका मत जानकर भाई भीमसेनने भी पहले संधिस्थापनकी, फिर अपने बाहुबलकी बात बतायी है ॥ २ ॥

तथैव फाल्गुनेनापि यदुक्तं तत् त्वया श्रुतम्।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवतासकृत् ॥ ३ ॥

वीर ! इसी प्रकार अर्जुनने भी जो कुछ कहा है, वह भी आपने सुन ही लिया है। आपका जो अपना मत है, उसे भी आपने अनेक बार प्रकट किया है ॥ ३ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान्।
यत् प्राप्तकालं मन्येथास्तत् कुर्याः पुरुषोत्तम ॥ ४ ॥

परंतु पुरुषोत्तम ! इन सब बातोंको पीछे छोड़कर और विपक्षियोंके मतको अच्छी तरह सुनकर आपको समयके अनुसार जो कर्तव्य उचित जान पड़े, वही कीजियेगा ॥ ४ ॥

तस्मिंस्तस्मिन् निमित्ते हि मतं भवति केशव।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले केशव ! भिन्न-भिन्न कारण उपस्थित होनेपर मनुष्योंके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं; अतः मनुष्यको वही कार्य करना चाहिये, जो उसके योग्य और समयोचित हो ॥ ५ ॥

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! किसी वस्तुके विषयमें सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और ही जाता है। संसारके मनुष्य स्थिर विचारवाले नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण ! जब हम वनमें निवास करते थे, उस समय हमारे विचार कुछ और ही थे, अज्ञातवासके समय वे बदलकर कुछ और हो गये और उस अवधिको पूर्ण करके जब हम सबके सामने प्रकट हुए हैं, तबसे हमलोगोंका विचार कुछ और हो गया है ॥ ७ ॥

अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

वृष्णिनन्दन ! वनमें विचरते समय राज्यके विषयमें हमारा वैसा आकर्षण नहीं था, जैसा इस समय है ॥ ८ ॥

निवृत्तवनवासान् नः श्रुत्वा वीर समागताः।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ९ ॥

वीर जनार्दन ! हमलोग वनवासकी अवधि पूरी करके आ गये हैं; यह सुनकर आपकी कृपासे ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं ॥ ९ ॥

इमान् हि पुरुषव्याघ्रानचिन्त्यबलपौरुषान्।
आत्तशस्त्रान् रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ॥ १० ॥

यहाँ जो पुरुषसिंह वीर उपस्थित हैं, इनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं। रणभूमिमें इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित देखकर किस पुरुषका हृदय भयभीत न हो उठेगा ? ॥१०॥

स भवान् कुरुमध्ये तं सान्त्वपूर्वं भयोत्तरम्।
ब्रूयाद् वाक्यं यथा मन्दो न व्यथेत सुयोधनः ॥ ११ ॥

आप कौरवोंके बीचमें उससे पहले सान्त्वनापूर्ण बातें कहियेगा और अन्तमें युद्धका भय भी दिखाइयेगा, जिससे मूर्ख दुर्योधनके मनमें व्यथा न हो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चापराजितम्।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव ॥ १२ ॥
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम्।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव ॥ १३ ॥
काशिराजं च विक्रान्तं धृष्टकेतुं च चेदिपम्।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुध्येत को युधि ॥ १४ ॥

केशव ! अपने शरीरमें मांस और रक्तका बोझ बढ़ानेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें युधिष्ठिर, भीमसेन, किसीसे पराजित न होनेवाले अर्जुन, सहदेव, बलराम, महापराक्रमी सात्यकि, पुत्रोंसहित विराट, मन्त्रियोंसहित द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पराक्रमी काशिराज, चेदिनरेश धृष्टकेतु तथा आपका और मेरा सामना कर सके ? ॥ १२-१४ ॥

स भवान् गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम्।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम् ॥ १५ ॥

महाबाहो ! आप वहाँ केवल जानेमात्रसे धर्मराजके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर देंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयानघ ॥ १६ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा बाह्लीक—ये आपके बतानेपर कल्याणकारी मार्गको समझनेमें समर्थ हैं ॥ १६ ॥

ते चैनमनुनेष्यन्ति धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम् ॥ १७ ॥

ये लोग राजा धृतराष्ट्र तथा मन्त्रियोंसहित पापाचारी दुर्योधनको (समझा-बुझाकर) राहपर लायेंगे ॥ १७ ॥

श्रोता चार्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जहाँ विदुरजी किसी प्रयोजनको सुनें और आप उसका प्रतिपादन करें, वहाँ आप दोनों मिलकर किस बिगड़ते हुए कार्यको सिद्धिके मार्गपर नहीं ला देंगे ? ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें नकुलवाक्यविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युद्धके लिये सहदेव तथा सात्यकिकी सम्मति और समस्त योद्धाओंका समर्थन

सहदेव उवाच

यदेतत् कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः।
यथा च युद्धमेव स्यात् तथा कार्यमरिंदम ॥ १ ॥

सहदेव बोले—शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! महाराज युधिष्ठिरने यहाँ जो कुछ कहा है, यह सनातन धर्म है; परंतु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे युद्ध होकर ही रहे ॥ १ ॥

यदि प्रशममिच्छेयुः कुरवः पाण्डवैः सह।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः ॥ २ ॥

दशार्हनन्दन ! यदि कौरव पाण्डवोंके साथ संधि करना चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्धकी ही योजना बनाइयेगा ॥ २ ॥

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम्।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण ! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है ? ॥ ३ ॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि भीमसेन, अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका ही अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्मको छोड़कर रणभूमिमें दुर्योधनके साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

सात्यकिरुवाच

सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः।
दुर्योधनवधे शान्तिस्तस्य कोपस्य मे भवेत् ॥ ५ ॥

सात्यकिने कहा—महाबाहो ! परम बुद्धिमान् सहदेव ठीक कहते हैं। दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसके वधसे ही शान्त होगा ॥ ५ ॥

न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान् वने।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान् प्रेक्ष्य पाण्डवान् ॥ ६ ॥

क्या आप भूल गये हैं; जब कि वनमें वल्कल और

मृगचर्म धारण करके दुखी हुए पाण्डवोंको देखकर आपका भी क्रोध उमड़ आया था ? ॥ ६ ॥

तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ॥ ७ ॥

अतः पुरुषोत्तम ! युद्धमें कठोरता दिखानेवाले माद्रीनन्दन शूरवीर सहदेवने जो बात कही है, वही हम सम्पूर्ण योद्धाओंका मत है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद् योधानां तत्र सर्वशः॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! परम बुद्धिमान् सात्यकिके ऐसा कहते ही वहाँ सब ओरसे समस्त योद्धाओंका अत्यन्त भयंकर सिंहनाद शुरू हो गया ॥ ८ ॥

सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन्।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयन्तो युयुत्सवः ॥ ९ ॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन सभी वीरोंने साधु-साधु कहकर सात्यकिका हर्ष बढ़ाते हुए उनके वचनकी सर्वथा भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें सहदेव-सात्यकिवाक्यविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे अपना दुःख सुनाना और श्रीकृष्णका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम्।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ॥ १ ॥
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा।
सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सिरपर अत्यन्त काले और लम्बे केश धारण करनेवाली द्रुपदराजकुमारी कृष्णा राजा युधिष्ठिरके धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शोकसे कातर हो उठी और महारथी सात्यकि तथा सहदेवकी प्रशंसा करके वहाँ बैठे हुए दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णसे कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ १-२ ॥

भीमसेनं च संशान्तं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ॥ ३ ॥

भीमसेनको अत्यन्त शान्त देख मनस्विनी द्रौपदीके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोली—॥ ३ ॥

विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पाण्डवाः सुखात् ॥४॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन।
यथा च संजयो राज्ञा मन्त्रं रहसि श्रावितः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ ६ ॥

'धर्मके ज्ञाता महाबाहु मधुसूदन ! आपको तो मालूम ही है कि मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने किस प्रकार शठताका आश्रय लेकर पाण्डवोंको सुखसे वञ्चित कर दिया। दशार्हनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहनेके लिये संजयको एकान्तमें जो मन्त्र (अपना विचार) सुनाकर यहाँ भेजा था, वह भी आपको ज्ञात ही है तथा धर्मराजने संजयसे जैसी बातें कही थीं, उन सबको भी आपने सुन ही लिया है ॥ ४—६ ॥

पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा इति महाद्युते।
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ॥ ७ ॥
अवसानं महाबाहो कञ्चिदेकं च पञ्चमम्।
इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चास्य केशव ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी केशव ! (इन्होंने संजयसे इस प्रकार कहा था —) 'संजय ! तुम दुर्योधन और उसके सुहृदोंके सामने मेरी यह माँग रख देना—'तात ! तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अन्तिम पाँचवाँ कोई एक गाँव—इन पाँच गाँवोंको ही दे दो' ॥ ७-८ ॥

न चापि ह्यकरोद् वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह ह्रीमतः संधिमिच्छतः॥ ९ ॥

'दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण ! संधिकी इच्छा रखनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिरका यह (नम्रतापूर्ण) वचन सुनकर भी उसे दुर्योधनने स्वीकार नहीं किया ॥ ९ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ॥ १० ॥

'भगवन् ! आपके वहाँ जानेपर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा ॥ १० ॥

शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः सृंजयैः सह।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ॥ ११ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग सृञ्जय वीरोंके साथ क्रोधमें भरी हुई दुर्योधनकी भयंकर सेनाका अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ॥ ११ ॥

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ॥ १२ ॥

मधुसूदन ! कौरवोंके प्रति साम और दाननीतिका प्रयोग करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतः उनपर आपको कभी कृपा नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः ।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनकी रक्षा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि जो शत्रु साम और दानसे शान्त न हों, उनपर दण्डका प्रयोग करे ॥ १३ ॥

तस्मात् तेषु महादण्डः क्षेतव्यः क्षिप्रमच्युत ।
त्वया चैव महाबाहो पाण्डवैः सह सृंजयैः ॥ १४ ॥

अतः महाबाहु अच्युत ! आपको तथा सृञ्जयोंसहित पाण्डवोंको उचित है कि वे उन शत्रुओंको शीघ्र ही महान् दण्ड दें ॥ १४ ॥

एतत् समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम् ।
क्रियमाणं भवेत् कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ॥ १५ ॥

यही कुन्तीकुमारोंके योग्य कार्य है । श्रीकृष्ण ! यदि यह किया जाय तो आपके भी यशका विस्तार होगा और समस्त क्षत्रिय-समुदायको भी सुख मिलेगा ॥ १५ ॥

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः ।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ १६ ॥

दशार्हनन्दन ! अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रियको चाहिये कि वह लोभका आश्रय लेनेवाले मनुष्यको भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले ॥ १६ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणात् तात सर्वपापेष्ववस्थितात्।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ १७ ॥

तात ! ब्राह्मणोंके सिवा दूसरे वर्णोंपर ही यह नियम लागू होता है । ब्राह्मण सब पापोंमें डूबा हो; तब भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु तथा दानमें दी हुई वस्तुओंका सर्वप्रथम भोक्ता है अर्थात् पहला पात्र है ॥ १७ ॥

यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन ।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जैसे अवध्यका वध करनेपर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्यका वध न करनेसे भी दोषकी प्राप्ति होती है । यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १८ ॥

यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु ।
पाण्डवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ! आप सैनिकोंसहित सृञ्जयों, पाण्डवों तथा यादवोंके साथ ऐसा प्रयत्न कीजिये; जिससे आपको यह दोष न छू सके ॥ १९ ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन ।
का तु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥ २० ॥

जनार्दन ! आपपर अत्यन्त विश्वास होनेके कारण मैं अपनी कही हुई बातको पुनः दुहराती हूँ । केशव ! इस पृथ्वीपर मेरे समान स्त्री कौन होगी ? ॥ २० ॥

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥ २१ ॥

मैं महाराज द्रुपदकी पुत्री हूँ । यज्ञवेदीके मध्यभागसे मेरा जन्म हुआ है । श्रीकृष्ण ! मैं वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी प्रिय सखी हूँ ॥ २१ ॥

आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ॥ २२ ॥

मैं परम प्रतिष्ठित अजमीढकुलमें व्याहकर आयी हूँ । महात्मा राजा पाण्डुकी पुत्रवधू तथा पाँच इन्द्रोंके समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी पटरानी हूँ ॥ २२ ॥

सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः ।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥ २३ ॥

पाँच वीर पतियोंसे मैंने पाँच महारथी पुत्रोंको जन्म दिया है । श्रीकृष्ण ! जैसे अभिमन्यु आपका भानजा है, उसी प्रकार मेरे पुत्र भी धर्मतः आपके भानजे ही हैं ॥ २३ ॥

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता ।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥ २४ ॥

केशव ! इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होनेपर भी मैं पाण्डवोंके देखते-देखते और आपके जीते-जी केश पकड़कर सभामें लायी गयी और मेरा बारंबार अपमान किया गया एवं मुझे क्लेश दिया गया ॥ २४ ॥

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥

पाण्डवों, पाञ्चालों और यदुवंशियोंके जीते-जी मैं पापी कौरवोंकी दासी बनी और उसी रूपमें सभाके बीच मुझे उपस्थित होना पड़ा ॥ २५ ॥

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे॥ २६ ॥

पाण्डव यह सब कुछ देख रहे थे, तो भी न तो इनका

क्रोध ही जागा और न इन्होंने मुझे उनके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा ही की। उस समय मैंने (अत्यन्त असहाय होकर) मन-ही-मन आपका चिन्तन किया और कहा—'गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये' (प्रभो! तब आपने ही कृपा करके मेरी लाज बचायी)॥

यत्र मां भगवान् राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत्।
वरं वृणीष्व पाञ्चालि वरार्हासि मता मम॥ २७॥

उस सभामें मेरे ऐश्वर्यशाली श्वशुर राजा धृतराष्ट्रने मुझे (आदर देते हुए) कहा—'पाञ्चालराजकुमारी! मैं तुम्हें अपनी ओरसे मनोवाञ्छित वर पानेके योग्य मानता हूँ। तुम कोई वर माँगो'॥ २७॥

अदासाः पाण्डवाः सन्तु सरथाः सायुधा इति।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव॥ २८॥

तब मैंने उनसे कहा—'पाण्डव रथ और आयुधोंसहित दासभावसे मुक्त हो जायँ।' केशव! मेरे इतना कहनेपर ये लोग वनवासका कष्ट भोगनेके लिये दासभावसे मुक्त हुए थे॥

एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन।
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबान्धवान्॥ २९॥

जनार्दन! हमलोगोंपर ऐसे-ऐसे महान् दुःख आते रहे हैं, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। कमलनयन! पति, कुटुम्बी तथा बान्धवजनोंसहित हमलोगोंकी आप रक्षा करें॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात्॥ ३०॥

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया॥ ३०॥

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग् बलम्।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति॥ ३१॥

भगवन्! ऐसी दशामें यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुनके धनुषधारण और भीमसेनके बलको धिक्कार है॥ ३१॥

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम्॥ ३२॥

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझ-पर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पूर्णरूपसे क्रोध कीजिये॥ ३२॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम्।
सुनीलमसितापाङ्गी सर्वगन्धाधिवासितम्॥ ३३॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम्।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना॥ ३४॥
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सुन्दर अङ्गोंवाली, श्यामलोचना, कमलनयनी एवं गजगामिनी द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने उन केशोंको, जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, घुँघराले, अत्यन्त काले, एकत्र आबद्ध होनेपर भी कोमल, सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित, सभी शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा विशाल सर्पके समान कान्तिमान् थे, बायें हाथमें लेकर कमलनयन श्रीकृष्णके पास गयी और नेत्रोंमें आँसू भरकर इस प्रकार बोली—॥ ३३—३५॥

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता॥ ३६॥

'कमललोचन श्रीकृष्ण! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन केशोंको याद रक्खें॥ ३६॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः॥ ३७॥

'श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों-के साथ संधिकी कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रोंके साथ शत्रुओंसे युद्ध करेंगे॥ ३७॥

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह॥ ३८॥

'मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्यु-को प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे॥ ३८॥

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥

'यदि मैं दुःशासनकी साँवली भुजाको कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥३९॥

त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे।
विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥

'प्रज्वलित अग्निके समान इस प्रचण्ड क्रोधको हृदयमें रखकर प्रतीक्षा करते मुझे तेरह वर्ष बीत गये हैं ॥ ४० ॥

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्छल्यपीडितम्।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ॥ ४१ ॥

'आज भीमसेनके संधिके लिये कहे गये वचन मेरे हृदयमें बाणके समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हाय ! ये महाबाहु आज (मेरे अपमानको भुलाकर) केवल धर्मका ही ध्यान धर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥४२॥
स्तनौ पीनायतश्रोणी सहितावभिवर्षती।
द्रवीभूतमिवात्युष्णं मुञ्चन्ती वारि नेत्रजम् ॥ ४३ ॥

इतना कहनेके बाद पीन एवं विशाल नितम्बोंवाली विशाललोचना द्रुपदकुमारी कृष्णाका कण्ठ आँसुओंसे रुँध गया। वह काँपती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें फूट-फूटकर रोने लगी। उसके परस्पर सटे हुए स्तनोंपर नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी वर्षा होने लगी; मानो वह अपने भीतरकी द्रवीभूत क्रोधाग्निको ही उन बाष्पबिन्दुओंके रूपमें बिखेर रही हो ॥

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥ ४४ ॥

तब महाबाहु केशवने उसे सान्त्वना देते हुए कहा— 'कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी ॥ ४४ ॥

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥ ४५ ॥

'भामिनी ! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी ॥ ४५ ॥

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ ४६ ॥

'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है ॥ ४६ ॥

धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥ ४७ ॥

'यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे ॥ ४७ ॥

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ४८ ॥

'हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

सत्यं ते प्रति जानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥४९॥

'कृष्णे ! अपने आँसुओंको रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं' ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें द्रौपदी-कृष्णसंवादविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थान, युधिष्ठिरका माता कुन्ती एवं कौरवोंके लिये संदेश तथा श्रीकृष्णको मार्गमें दिव्य महर्षियोंका दर्शन

अर्जुन उवाच

कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृदनुत्तमः।
सम्बन्धी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! आजकल आप ही समस्त कौरवोंके सर्वोत्तम सुहृद् तथा दोनों पक्षोंके नित्य प्रिय सम्बन्धी हैं ॥ १ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम्।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ॥ २ ॥

केशव ! पाण्डवोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका मङ्गल सम्पादन करना आपका कर्तव्य है। आप उभयपक्षमें संधि करानेकी शक्ति भी रखते हैं ॥ २ ॥

त्वमितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम् ।
शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद् वाच्यममित्रहन् ॥ ३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप यहाँसे जाकर हमारे अमर्षशील भ्राता दुर्योधनसे ऐसी बातें करें, जो शान्तिस्थापनमें सहायक हों ॥ ३ ॥

त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम् ।
हितं नादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ ४ ॥

यदि वह मूर्ख आपकी कही हुई धर्म और अर्थसे युक्त, संतापनाशक, कल्याणकारी एवं हितकर बातें नहीं मानेगा तो अवश्य ही उसे कालके गालमें जाना पड़ेगा ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम् ।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! जो धर्मसंगत, हमलोगोंके लिये हितकर तथा कौरवोंके लिये भी मङ्गलकारक हो, वही कार्य करनेके लिये मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप यात्रा करूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते ।
मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे ॥ ६ ॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्यः सत्त्ववतां वरः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब रात्रिका अन्धकार दूर हुआ और निर्मल आकाशमें सूर्यदेवके उदित होनेपर उनकी कोमल किरणें सब ओर फैल गयीं । कार्तिक मासके रेवती नक्षत्रमें 'मैत्र' नामक मुहूर्त उपस्थित होनेपर सत्त्वगुणी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं समर्थ श्रीकृष्णने यात्रा आरम्भ की । उन दिनों शरद्‌ऋतुका अन्त और हेमन्तका आरम्भ हो रहा था । सब ओर खूब उपजी हुई खेती लहलहा रही थी ॥ ६-७ ॥

मङ्गल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः ।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः ॥ ८ ॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ॥ ९ ॥
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन् कल्याणमग्रतः ॥ १० ॥
तत् प्रतिज्ञाय वचनं पाण्डवस्य जनार्दनः ।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम् ॥ ११ ॥

भगवान् जनार्दनने सबसे पहले प्रातःकाल ऋषियोंके मुखसे मङ्गलपाठ सुननेवाले देवराज इन्द्रकी भाँति विश्वस्त ब्राह्मणोंके मुखसे परम मधुर मङ्गलकारक पुण्याहवाचन सुनते हुए स्नान किया । फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो संध्यावन्दन, सूर्योपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्णकृत्य सम्पन्न किये । इसके बाद बैलकी पीठ छूकर ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और अग्निकी परिक्रमा करके अपने सामने प्रस्तुत की हुई कल्याणकारक वस्तुओंका दर्शन किया । तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी बातोंपर विचार करके जनार्दनने अपने पास बैठे हुए शिनिपौत्र सात्यकिसे इस प्रकार कहा— ॥ ८–११ ॥

रथ आरोप्यतां शङ्खश्चक्रं च गदया सह ।
उपासङ्गाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहरणानि च ॥ १२ ॥

'युयुधान ! मेरे रथपर शङ्ख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति तथा अन्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लाकर रख दो ॥ १२ ॥

दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ १३ ॥

'कोई अत्यन्त बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; (उससे सतर्क रहना चाहिये ।) फिर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तो दुष्टात्मा ही हैं । उनसे तो सावधान रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता है॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः ।
प्रसस्रुर्योजयिष्यन्तो रथं चक्रगदाभृतः ॥ १४ ॥

तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर उनके आगे चलनेवाले सेवक रथ जोतनेके लिये दौड़ पड़े ॥ १४ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाशुगम् ।
सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम् ॥ १५ ॥

वह रथ प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान्, विमानके सदृश शीघ्रगामी तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी दो गोलाकार चक्रोंसे सुशोभित था ॥ १५ ॥

अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः ।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः ॥ १६ ॥

अर्धचन्द्र, चन्द्र, मत्स्य, मृग, पक्षी, नाना प्रकारके पुष्प तथा सभी तरहके मणि-रत्नोंसे चित्रित एवं जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तरुणादित्यसंकाशं बृहन्तं चारुदर्शनम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं सुध्वजं सुपताकिनम् ॥ १७ ॥

वह तरुण सूर्यके समान प्रकाशमान, विशाल तथा देखनेमें मनोहर था । उसके सभी भागोंमें मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए थे । उस रथकी ध्वजा बहुत ही सुन्दर थी और उसपर उत्तम पताका फहरा रही थी ॥ १७ ॥

सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नन्दिवर्धनम् ॥ १८ ॥

उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी। उसपर व्याघ्रचर्मका आवरण (पर्दा) शोभा पाता था। वह रथ शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष तथा उनके सुयशका नाश करनेवाला था। साथ ही उससे यदुवंशियोंके आनन्दकी वृद्धि होती थी ॥ १८ ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।
स्नातैः सम्पादयामासुः सम्पन्नैः सर्वसम्पदा ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके सेवकोंने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामवाले चारों घोड़ोंको नहला-धुलाकर सब प्रकारके बहुमूल्य आभूषणोंद्वारा सुसज्जित करके उस रथमें जोत दिया ॥ १९ ॥

महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाभिवर्धयन्।
सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ॥ २० ॥

इस प्रकार वह रथ श्रीकृष्णकी महत्ताको और अधिक बढ़ाता हुआ गरुड़चिह्नित ध्वजसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहा था। चलते समय उसके पहियोंसे गम्भीर ध्वनि होती थी ॥ २० ॥

तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुन्दुभिनिस्वनम्।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥ २१ ॥

मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति सुनहरी प्रभासे सुशोभित तथा मेघ और दुन्दुभियोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस रथपर, जो इच्छानुसार चलनेवाले विमानके समान प्रतीत होता था, भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हुए ॥ २१ ॥

ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ २२ ॥

तदनन्तर सात्यकिको भी उसी रथपर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत।
शिवश्चानुववौ वायुः प्रशान्तमभवद् रजः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उस समय क्षणभरमें ही आकाशमें घिरे हुए बादल छिन्न-भिन्न हो अदृश्य हो गये। शीतल, सुखद एवं अनुकूल वायु चलने लगी तथा धूलका उड़ना बंद हो गया ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणानुलोमाश्च मङ्गल्या मृगपक्षिणः।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ॥ २४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी उस यात्राके समय मङ्गलसूचक मृग और पक्षी उनके दाहिने तथा अनुकूल दिशामें जाते हुए उनका अनुसरण करने लगे ॥ २४ ॥

मङ्गलार्थपदैः शब्दैरन्ववर्तन्त सर्वशः।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

सारस, शतपत्र तथा हंस पक्षी सब ओरसे मङ्गलसूचक शब्द करते हुए मधुसूदन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ २५ ॥

मन्त्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ २६ ॥

मन्त्रपाठपूर्वक दी जानेवाली आहुतियोंसे युक्त बड़े-बड़े होमयज्ञोंद्वारा हविष्य पाकर अग्निदेव प्रदक्षिणक्रमसे उठनेवाली लपटोंके साथ प्रज्वलित हो धूमरहित हो गये ॥ २६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुत्तः कुशिको भृगुः ॥ २७ ॥
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम्।
प्रदक्षिणमवर्तन्त सहिता वासवानुजम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि, मरुत्त, कुशिक तथा भृगु आदि देवर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंने एक साथ आकर यदुलोकको सुख देनेवाले इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णकी दक्षिणावर्त-परिक्रमा की ॥ २७-२८ ॥

एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः।
पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इस प्रकार इन महाभाग महर्षियों तथा साधु-महात्माओंसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने कुरुकुलकी राजधानी हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

तं प्रयान्तमनुप्रायात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥
चेकितानश्च विक्रान्तो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखण्डी च महारथः ॥ ३१ ॥
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ३२ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! श्रीकृष्णके जाते समय उन्हें पहुँचानेके लिये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनके पीछे-पीछे चले। साथ ही भीमसेन, अर्जुन, माद्रीके दोनों पुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, द्रुपद, काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, पुत्रों और केकयोंसहित राजा विराट—ये सभी क्षत्रिय अभीष्ट कार्यकी सिद्धि एवं शिष्टाचारका पालन करनेके लिये उनके पीछे गये ॥ ३०—३२ ॥

ततोऽनुव्रज्य गोविन्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार गोविन्दके पीछे कुछ दूर जाकर तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राजाओंके समीप उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ ३३ ॥

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥ ३४ ॥

धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥ ३५ ॥

जो कभी कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनके कारण भी अन्यायका अनुसरण नहीं कर सकते, जिनकी बुद्धि स्थिर है, जो लोभरहित, धर्मज्ञ, धैर्यवान्, विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर विराजमान हैं, वे भगवान् केशव देवताओंके भी देवता, सनातन परमेश्वर तथा समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं ॥ ३४-३५ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
सम्परिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

उन्हीं सर्वगुणसम्पन्न श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने निम्नाङ्कित संदेश देना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

या सा बाल्यात् प्रभृत्यस्मान् पर्यवर्धयताबला ।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ॥ ३७ ॥
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता ।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियास्माकं जनार्दन ॥ ३८ ॥
सुयोधनभयाद् या नोऽत्रायतामित्रकर्शन ।
महतो मृत्युसम्बाधादुद्द्ध्रे नौरिवार्णवात् ॥ ३९ ॥
अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव ।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंका संहार करनेवाले जनार्दन ! अबला होकर भी जिसने बाल्यकालसे ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया है, उपवास और तपस्यामें संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है, जो सदा कल्याणसाधनमें ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियोंकी पूजामें तथा गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिसका अटूट अनुराग है, जो पुत्रवत्सला एवं पुत्रोंको प्यार करनेवाली है, जिसके प्रति हम पाँचों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम है, जिसने दुर्योधनके भयसे हमारी रक्षा की है, जैसे नौका मनुष्यको समुद्रमें डूबनेसे बचाती है, उसी प्रकार जिसने मृत्युके महान् संकटसे हमारा उद्धार किया है और माधव ! जिसने हमलोगोंके कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगनेके योग्य हमारी माता कुन्तीसे मिलकर आप उसका कुशल-समाचार अवश्य पूछें ॥ ३७–४० ॥

भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम् ।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पाण्डवान् परिकीर्तयन् ॥४१॥

आप हम पाण्डवोंका समाचार बताते हुए हमारी माँसे मिलियेगा और प्रणाम करके पुत्रशोकसे पीड़ित हुई उस देवीको बहुत-बहुत आश्वासन दीजियेगा ॥ ४१ ॥

ऊढात् प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम ।
निकारानतदर्हा च पश्यन्ती दुःखमश्नुते ॥ ४२ ॥

शत्रुदमन ! उसने विवाह करनेसे लेकर ही अपने श्वशुरके घरमें आकर नाना प्रकारके दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं और इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है ॥ ४२ ॥

अपि जातु स कालः स्यात् कृष्ण दुःखविपर्ययः ।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ॥ ४३ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! क्या कभी वह समय भी आयेगा, जब हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे और हमलोग दुःखमें पड़ी हुई अपनी माताको सुख दे सकेंगे ? ॥ ४३ ॥

प्रव्रजन्तोऽनुधावन्तीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
रुदतीमपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ॥ ४४ ॥

जब हम वनको जा रहे थे, उस समय पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो वह कातरभावसे रोती हुई हमारे पीछे-पीछे दौड़ी आ रही थी, परंतु हमलोग उसे वहीं छोड़कर वनमें चले गये ॥ ४४ ॥

न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव ।
तथा पुत्राधिभिर्गाढमार्ता ह्यानर्तसत्कृत ॥ ४५ ॥

आनर्तदेशके सम्मानित वीर केशव ! यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य दुःखोंसे घबराकर मर ही जाता हो । इसलिये कदाचित् वह जीवित हो, तो भी पुत्रोंकी चिन्तासे अत्यन्त पीड़ित ही होगी ॥ ४५ ॥

हस्तिनापुरके मार्गमें ऋषियोंका आकर श्रीकृष्णसे मिलना

अभिवाद्याथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद् विभो।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोऽधिकाः ॥ ४६ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम् ।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान् प्रति ॥ ४७ ॥
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अगाधबुद्धिं धर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ॥ ४८ ॥

प्रभो ! मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आप माताको प्रणाम करके मेरे कथनानुसार धृतराष्ट्र, दुर्योधन, अन्यान्य वयोवृद्ध नरेश, भीष्म, द्रोण, कृप, महाराज बाह्लीक, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, समस्त भरतवंशी क्षत्रियवृन्द तथा कौरवोंके मन्त्रकी रक्षा करनेवाले; मर्मवेत्ता, अगाधबुद्धि एवं महाज्ञानी विदुरके पास जाकर इन सबको हृदयसे लगाइयेगा ४६—४८

इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः ।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४९ ॥

राजाओंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर उनकी परिक्रमा करके आज्ञा ले लौट पड़े ॥ ४९ ॥

व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ॥ ५० ॥

परंतु अर्जुनने पीछे-पीछे जाते हुए ही शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अपराजित नरश्रेष्ठ अपने सखा दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णसे कहा—॥ ५० ॥

यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मन्त्रनिश्चये ।
अर्धराज्यस्य गोविन्द विदितं सर्वराजसु ॥ ५१ ॥

'गोविन्द ! पहले जब हमलोगोंमें गुप्त मन्त्रणा हुई थी, उस समय एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचकर हमने आधा राज्य लेकर ही संधि करनेका निर्णय किया था; इस बातको सभी राजा जानते हैं ॥ ५१ ॥

तच्चेद् दद्यादसंगेन सत्कृत्यानवमन्य च ।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन् महतो भयात् ॥ ५२ ॥

'महाबाहो ! यदि दुर्योधन लोभ छोड़कर अनादर न करके सत्कारपूर्वक हमें आधा राज्य लौटा दे तो मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तथा समस्त कौरव महान् भयसे छुटकारा पा जायँ ॥ ५२ ॥

अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित् ।
अन्तं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ॥ ५३ ॥

'जनार्दन ! यदि समुचित उपायको न जाननेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इसके विपरीत आचरण करेगा तो मैं निश्चय ही उसके पक्षमें आये हुए समस्त क्षत्रियोंका संहार कर डालूँगा' ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते पाण्डवेन समहृष्यद् वृकोदरः ।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात् प्रावेपत च पाण्डवः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर पाण्डव भीमसेनको बड़ा हर्ष हुआ । वे क्रोधवश बारंबार काँपने लगे ॥ ५४ ॥

वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान् ।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ॥ ५५ ॥

काँपते-काँपते ही कुन्तीकुमार भीमसेन बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे । अर्जुनकी पूर्वोक्त बातें सुनकर उनका हृदय अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गया था ॥ ५५ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा सम्प्रावेपन्त धन्विनः ।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ॥ ५६ ॥

उनका वह सिंहनाद सुनकर समस्त धनुर्धर भयके मारे थरथर काँपने लगे । उनके सभी वाहनोंने मल-मूत्र कर दिये ॥ ५६ ॥

इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम् ।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके उन्हें अपना निश्चय बता गले मिलकर अर्जुन श्रीकृष्णसे आज्ञा ले लौट आये ॥ ५७ ॥

तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः ।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ ५८ ॥

उन सब राजाओंके लौट जानेपर शैब्य और सुग्रीव आदिसे युक्त रथपर चलनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण बड़े हर्षके साथ तीव्र गतिसे आगे बढ़े ॥ ५८ ॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ।
पन्थानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवाम्बरम् ॥ ५९ ॥

दारुकके हाँकनेपर भगवान् वासुदेवके वे अश्व इतने वेगसे चलने लगे, मानो समस्त मार्गको पी रहे हों और आकाशको ग्रस लेना चाहते हों ॥ ५९ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वनि केशवः ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानान् स्थितानुभयतः पथि ॥ ६० ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें कुछ महर्षियोंको उपस्थित देखा, जो रास्तेके दोनों ओर खड़े थे और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६० ॥

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः ।
यथावृत्तानृषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥ ६१ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही रथसे उतर पड़े और

पूर्वोक्तरूपसे खड़े हुए उन समस्त महर्षियोंको प्रणाम करके उनका समादर करते हुए बोले—॥ ६१ ॥

कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने ॥६२॥
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता।)

'महात्माओ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न ? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है ? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न ? क्या पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है ?' ॥ ६२ ॥

तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ॥ ६३ ॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा—'महात्माओ ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है ? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है ? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है ? भगवन् ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं ?' ॥ ६३-६४ ॥

(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम् ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोर व्रत धारण करनेवाले नारद आदि सब महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे ॥

अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः।
अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको बली ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा।
आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥
दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः ॥
शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः।
श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः ॥)

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, बली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिरा, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम ॥

तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम्।
परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा ॥ ६५ ॥

उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा—॥ ६५ ॥

देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ॥ ६६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ॥ ६७ ॥
एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ॥ ६८ ॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप।

महामते केशव ! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालोंको तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं। इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुरमें चल रहे हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव ! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं ॥ ६६—६८½ ॥

भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ॥ ६९ ॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ।

'यदुकुलसिंह ! वहाँ कौरव-सभामें भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे ॥ ६९½ ॥

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव ॥ ७० ॥
श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च ।

'गोविन्द ! माधव ! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ ७०½ ॥

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ ७१ ॥
याह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ॥ ७२ ॥

'महाबाहो ! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे। वीर ! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो। जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअङ्गोंका हम पुनः दर्शन करेंगे' ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णप्रस्थानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

मार्गके शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन तथा मार्गमें लोगोंद्वारा सत्कार पाते हुए श्रीकृष्णका वृकस्थल पहुँचकर वहाँ विश्राम करना

वैशम्पायन उवाच

प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ १ ॥
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाबाहु श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय विपक्षी वीरोंपर विजय पानेवाले शस्त्रधारी दस महारथी, एक हजार पैदल योद्धा, एक हजार घुड़सवार, प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा दूसरे सैकड़ों सेवक उनके साथ गये ॥ १-२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—दशार्हकुलतिलक महात्मा मधुसूदनने किस प्रकार यात्रा की ? उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके जाते समय कौन-कौन-से भले-बुरे शकुन प्रकट हुए थे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महात्मा श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय जो दिव्य शकुन और उत्पातसूचक अपशकुन प्रकट हुए थे, मुझसे उन सबका वर्णन सुनो ॥ ४ ॥

अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युत् समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद् विघने भृशम् ॥ ५ ॥

बिना बादलके ही आकाशमें बिजलीसहित वज्रकी गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी। उसके साथ ही पर्जन्यदेवताने मेघोंकी घटा न होनेपर भी प्रचुर जलकी वर्षा की ॥ ५ ॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिन्धुसत्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

पूर्वकी ओर बहनेवाली सिन्धु आदि बड़ी-बड़ी नदियोंका प्रवाह उलटकर पश्चिमकी ओर हो गया। सारी दिशाएँ विपरीत प्रतीत होने लगीं। कुछ भी समझमें नहीं आता था ॥ ६ ॥
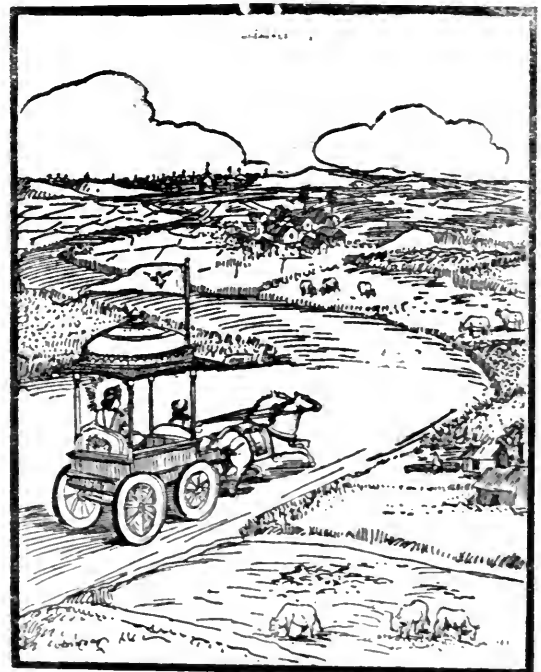
प्राज्वलन्नग्नयो राजन् पृथिवी समकम्पत ।
उदपानाश्च कुम्भाश्च प्रासिञ्चञ्छतशो जलम् ॥ ७ ॥

राजन्! सब ओर आग जलने लगी। धरती डोलने लगी। सैकड़ों जलाशय और कलश छलक-छलककर जल गिराने लगे ॥ ७ ॥

तमःसंवृतमप्यासीत् सर्वं जगदिदं तथा।
न दिशो नादिशो राजन् प्रज्ञायन्ते स्म रेणुना॥ ८ ॥

राजन्! यह सारा संसार धूलके कारण अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया। कौन दिशा है, कौन दिशा नहीं है—इसका ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

प्रादुरासीन्महाञ्छब्दः खे शरीरमदृश्यत।
सर्वेषु राजन् देशेषु तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

महाराज! फिर बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा। आकाशमें सब ओर मनुष्यकी-सी आकृति दिखायी देने लगी। सम्पूर्ण देशोंमें यह अद्भुत-सी बात दिखायी दी ॥ ९ ॥

प्रामथ्नाद्धास्तिनपुरं वातो दक्षिणपश्चिमः।
आरुजन् गणशो वृक्षान् परुषोऽशनिनिस्वनः॥ १० ॥

दक्षिण पश्चिमसे आँधी उठी और हस्तिनापुरको मथने लगी। उसने झुंड-के-झुंड वृक्षोंको तोड़-उखाड़कर धराशायी कर दिया। वज्रपात-सा कठोर शब्द होने लगा (इस प्रकारके उत्पात हस्तिनापुरके आस-पास घटित होते थे)॥ १० ॥

यत्र यत्र च वार्ष्णेयो वर्तते पथि भारत।
तत्र तत्र सुखो वायुः सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम्॥ ११ ॥

भारत! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण मार्गमें जहाँ-जहाँ रहते थे, वहाँ-वहाँ सुखदायिनी वायु चलती थी और सभी शुभ शकुन उनके दाहिने भागमें प्रकट होते थे ॥ ११ ॥

ववर्ष पुष्पवर्षं च कमलानि च भूरिशः।
समश्च पन्था निर्दुःखो व्यपेतकुशकण्टकः ॥ १२ ॥

उनपर फूलोंकी और बहुत-से खिले हुए कमलोंकी भी वृष्टि होती तथा सारा मार्ग कुश-कण्टकसे शून्य और समतल होकर क्लेश और दुःखसे रहित हो जाता था ॥१२॥

संस्तुतो ब्राह्मणैर्गीर्भिस्तत्र तत्र सहस्रशः।
अर्च्यते मधुपर्कैश्च वसुभिश्च वसुप्रदः ॥ १३ ॥

सहस्रों ब्राह्मण विभिन्न स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते तथा मधुपर्कद्वारा उनकी पूजा करते थे। धनदाता भगवान्‌ने भी उन सबको यथेष्ट धन दिया ॥ १३ ॥

तं किरन्ति महात्मानं वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः।
स्त्रियः पथि समागम्य सर्वभूतहिते रतम् ॥ १४ ॥

मार्गमें कितनी ही स्त्रियाँ आकर सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले उन महात्मा श्रीकृष्णके ऊपर वनके सुगन्धित फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥ १४ ॥

स शालिभवनं रम्यं सर्वसस्यसमाचितम्।
सुखं परमधर्मिष्ठमभ्यगाद् भरतर्षभ ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मकार्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा सम्पूर्ण सस्य-सम्पत्तिसे भरे हुए अगहनी धानके मनोहर खेत देखते हुए भगवान् बड़े सुखसे यात्रा कर रहे थे ॥ १५ ॥

पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदयतोषणान्।
पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च ॥ १६॥

रास्तेमें कितने ही ऐसे गाँव मिलते, जिनमें बहुत-से पशुओंका पालन-पोषण होता था। वे देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और मनको संतोष देनेवाले थे। उन सबको देखते और अनेकानेक नगरों एवं राष्ट्रोंको लाँघते हुए वे आगे बढ़ते चले गये ॥ १६ ॥

नित्यं हृष्टाः सुमनसो भारतैरभिरक्षिताः।
नोद्विग्नाः परचक्राणां व्यसनानामकोविदाः ॥ १७ ॥
उपप्लव्यादथायान्तं जनाः पुरनिवासिनः।
पथ्यतिष्ठन्त सहिता विष्वक्सेनदिदृक्षया ॥ १८ ॥

इधर उपप्लव्य नगरसे आते हुए भगवान् श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे अनेक नागरिक रास्तेमें एक साथ खड़े थे। भरतवंशियोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे सदा हर्ष एवं उल्लाससे भरे रहते थे। उनका मन बहुत प्रसन्न था। उन्हें शत्रुओंकी सेनाओंसे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता था। दुःख और संकट कैसा होता है, इसको वे जानते ही नहीं थे ॥ १७-१८ ॥

ते तु सर्वे समायान्तमग्निमिद्धमिव प्रभुम्।
अर्चयामासुरर्चार्हं देशातिथिमुपस्थितम् ॥ १९ ॥

उन सबने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और अपने देशके पूजनीय अतिथि भगवान् श्रीकृष्णको समीप आते देख निकट जाकर उनका यथावत् पूजन किया ॥ १९ ॥

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति ॥ २० ॥
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह ॥ २१ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृकस्थलमें पहुँचे, उस समय नाना किरणोंसे मण्डित सूर्य अस्त होने लगे और पश्चिमके आकाशमें लाली छा गयी। तब भगवान्‌ने शीघ्र ही रथसे उतरकर उसे खोलनेकी आज्ञा दी और विधिपूर्वक शौच-स्नान करके वे संध्योपासना करने लगे ॥ २०-२१ ॥

दारुकोऽपि हयान् मुक्त्वा परिचर्य च शास्त्रतः।
मुमोच सर्वयोक्त्रादि मुक्त्वा चैतानवासृजत् ॥ २२ ॥

दारुकने भी घोड़ोंको खोलकर शास्त्रविधिके अनुसार उनकी परिचर्या की और उनका सारा साज-बाज उतार दिया तथा उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ दिया ॥ २२ ॥

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम् ॥ २३ ॥

संध्या-वन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्णने कहा—'युधिष्ठिरका कार्य सिद्ध करनेके लिये आज रातमें हमलोग यहीं रहेंगे' ॥ २३ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावसथं नराः।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन् ॥ २४ ॥

उनका यह विचार जानकर सेवकोंने वहीं डेरा डाल दिये। क्षणभरमें उन्होंने खाने-पीनेके उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २४ ॥

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः ॥ २५ ॥

राजन्! उस गाँवमें जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील और ब्राह्मणोचित वृत्तिका पालन करनेवाले थे ॥ २५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिंदमम्।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम् ॥ २६ ॥

उन्होंने शत्रुदमन महात्मा हृषीकेशके पास जाकर आशीर्वाद तथा मङ्गलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन किया ॥ २६ ॥

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम्।
न्यवेदयन्त वेश्मानि रत्नवन्ति महात्मने ॥ २७ ॥

सर्वलोकपूजित दशार्हनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करके

उन्होंने उन महात्माको अपने रत्नसम्पन्न गृह समर्पित कर दिये अर्थात् अपने-अपने घरोंमें ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की। २७।

तान् प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात् सहैव तैः ॥ २८ ॥

तब भगवान्‌ने यह कहकर कि यहाँ ठहरनेके लिये पर्याप्त स्थान है, उनका यथायोग्य सत्कार किया और (उनके संतोषके लिये) उन सबके घरोंपर जाकर पुनः उनके साथ ही लौट आये ॥ २८ ॥

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् केशवने वहीं उन ब्राह्मणोंको सुस्वादु अन्न भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके उन सबके साथ उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्र आदिकी अनुमतिसे श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये मार्गमें विश्रामस्थान बनवाना

वैशम्पायन उवाच

तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम्।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम् ॥ १ ॥
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम्।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाब्रवीदिदम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दूतोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनके आगमनका समाचार जानकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, संजय तथा परम बुद्धिमान् विदुरका यथावत् सत्कार करके मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे ॥ ३ ॥
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥

'कुरुनन्दन ! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है । घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं । जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बातको कहते हैं । चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है ॥ ३-४ ॥

उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ॥ ५ ॥

'वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे । वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं । उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज सब कुछ है ॥ ६ ॥

स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ॥ ७ ॥

'उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं । सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक होंगे और सम्मानित न होनेपर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे ॥ ७ ॥

स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः ।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ८ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो जायँगे, तब हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ॥ ८ ॥

तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः ॥ ९ ॥

'परंतप ! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो । मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोऽनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो ॥ ९ ॥

यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गान्धारे कथं वा भीष्म मन्यसे ॥ १० ॥

'महाबाहु गान्धारीनन्दन ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे श्रीकृष्णके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय । अथवा भीष्मजी ! इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?' ॥ १० ॥

ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयन्तोऽस्य तद् वचः ॥ ११ ॥

तब भीष्म आदि सब लोगोंने उस प्रस्तावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'बहुत उत्तम बात है' ॥ ११ ॥

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥

उन सबकी अनुमति जानकर राजा दुर्योधनने उस समय जगह-जगह सुन्दर सभामण्डप तथा विश्रामस्थान बनवानेके लिये आदेश जारी किया ॥ १२ ॥

ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ॥ १३ ॥

तब कारीगरोंने विभिन्न रमणीय प्रदेशोंमें अलग-अलग सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अनेक विश्रामस्थान बनाये ॥ १३ ॥

आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गन्धानलंकारान् सूक्ष्माणि वसनानि च ॥ १४ ॥
गुणवन्त्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगन्धीनि तानि राजा ददौ ततः ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके गुणोंसे युक्त विचित्र आसन, स्त्रियाँ, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, महीन वस्त्र, गुणकारक अन्न और पेय पदार्थ, भाँति-भाँतिके भोजन तथा सुगन्धित पुष्पमालाएँ आदि वस्तुओंको राजा दुर्योधनने उन स्थानोंमें रखवाया ॥ १४-१५ ॥

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ॥ १६ ॥

विशेषतः वृकस्थलनामक ग्राममें निवास करनेके लिये कुरुराज दुर्योधनने जो विश्रामस्थान बनवाया था, वह बड़ा मनोरम तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न था ॥ १६ ॥

एतद् विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ॥ १७ ॥

मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ यह सब देवोचित व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रको इसकी सूचना दे दी ॥ १७ ॥

ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात् कुरुसद्म तत् ॥ १८ ॥

परंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण उन विश्रामस्थानों तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी ओर दृष्टिपाततक न करके कौरवोंके निवासस्थान हस्तिनापुरकी ओर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मार्गमें विश्रामस्थलनिर्माणविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी करके उन्हें भेंट देने एवं दुःशासनके महलमें ठहरानेका विचार प्रकट करना

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! मुझे सूचना मिली है कि भगवान् श्रीकृष्ण उपप्लव्यसे यहाँके लिये प्रस्थित हो गये हैं, आज वृकस्थलमें ठहरे हैं तथा कल सवेरे ही इस नगरमें पहुँच जायँगे ॥ १ ॥

आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम्।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः ॥ २ ॥

भगवान् जनार्दन आहुकवंशी क्षत्रियोंके अधिपति तथा समस्त सात्वतों (यादवों) के अगुआ हैं। उनका हृदय महान् है, पराक्रम भी महान् है तथा वे महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ॥ ३ ॥

वे भगवान् माधव समृद्धिशाली यादव गणराष्ट्रके पोषक तथा संरक्षक हैं। पितामहके भी जनक होनेके कारण वे तीनों लोकोंके प्रपितामह हैं ॥ ३ ॥

वृष्ण्यन्धकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः ॥ ४ ॥

जैसे आदित्य वसु तथा रुद्रगण बृहस्पतिकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णकी ही बुद्धिके आश्रित रहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ विदुर ! मैं तुम्हारे सामने ही उन महात्मा श्रीकृष्णको जो पूजा दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

एकवर्णैः सुकृताङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ॥६॥

एक रंगके, सुदृढ़ अङ्गोंवाले तथा बाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए उत्तम जातिके चार-चार घोड़ोंसे जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्णको भेंट करूँगा ॥ ६ ॥

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन ! इनके सिवा मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तकोंसे सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्डके समान प्रतीत होते हैं तथा जो शत्रुओंपर प्रहार करनेमें कुशल हैं और जिन आठों गजराजोंमेंसे प्रत्येकके साथ आठ-आठ सेवक हैं ॥ ७ ॥

दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम्।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ ८ ॥

साथ ही मैं उन्हें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली परम सुन्दरी सौ ऐसी दासियाँ दूँगा, जिनसे किसी संतानकी उत्पत्ति नहीं हुई है। दासियोंके ही बराबर दास भी दूँगा ॥ ८ ॥

आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम्।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाष्ट च ॥ ९ ॥

मेरे यहाँ पर्वतीयोंसे भेंटमें मिले हुए भेड़के ऊनसे बने हुए (असंख्य) कम्बल हैं, जो स्पर्श करनेपर बड़े मुलायम जान पड़ते हैं; उनमेंसे अठारह हजार कम्बल भी मैं श्रीकृष्णको उपहारमें दूँगा ॥ ९ ॥

अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ॥ १० ॥

चीनदेशमें उत्पन्न हुए सहस्रों मृगचर्म मेरे भण्डारमें सुरक्षित हैं; उनमेंसे श्रीकृष्ण जितने लेना चाहेंगे, उतने सबके सब उन्हें अर्पित कर दूँगा ॥ १० ॥

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥ ११ ॥

मेरे पास यह एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है, जो दिन तथा रातमें भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्णको ही दूँगा; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ ११ ॥

एकेनाभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ॥ १२ ॥

मेरे पास खचरियोंसे युक्त एक रथ है, जो एक दिनमें चौदह योजनतक चला जाता है, वह भी मैं उन्हींको अर्पित करूँगा ॥ १२ ॥

यावन्ति वाहनान्यस्य यावन्तः पुरुषाश्च ते।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके साथ जितने वाहन और जितने सेवक आयँगे उन सबको औसतसे आठगुना भोजन मैं प्रत्येक समय देता रहूँगा ॥ १३ ॥

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥ १४ ॥

दुर्योधनके सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो स्वच्छ-सुन्दर रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये जायँगे ॥ १४ ॥

स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यन्ति केशवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों सुन्दरी वाराङ्गनाएँ सुन्दर वेषभूषासे सज-धजकर महाभाग केशवकी अगवानीके लिये पैदल ही जायँगी ॥ १५ ॥

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम् ।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः ॥ १६ ॥

जनार्दनका दर्शन करनेके लिये इस नगरसे जो भी कोई पर्दा न रखनेवाली कल्याणमयी कन्याएँ जाना चाहेंगी, वे जा सकेंगी ॥ १६ ॥

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम् ।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमन्तमिव प्रजाः ॥ १७ ॥

जैसे प्रजा सूर्यदेवका दर्शन करती है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष और बालकोंसहित यह सारा नगर महात्मा मधुसूदनका दर्शन करे ॥ १७ ॥

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतो दिशः ।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ॥ १८ ॥

'नगरमें चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जायँ और श्रीकृष्ण जिसपर आ रहे हों, उस राजपथपर जलका छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाय, इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने आदेश दिया ॥ १८ ॥

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम् ।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ॥ १९ ॥

इतना कहकर वे फिर बोले—दुःशासनका महल दुर्योधनके राजभवनसे भी श्रेष्ठ है । उसीको आज झाड़-पोंछकर सब प्रकारसे सुसज्जित कर दिया जाय ॥ १९ ॥

एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम् ।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तुसुमहाधनम् ॥ २० ॥

यह महल सुन्दर आकारवाले भवनोंसे सुशोभित, कल्याणकारी, रमणीय, सभी ऋतुओंके वैभवसे सम्पन्न तथा अनन्त धनराशिसे समृद्ध है ॥ २० ॥

सर्वमस्मिन् गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च ।
यद् यदर्हति वार्ष्णेयस्तत् तद् देयमसंशयम् ॥ २१ ॥

मेरे और दुर्योधनके पास जो भी रत्न हैं, वे सब इसी घरमें रक्खे हैं । भगवान् श्रीकृष्ण उनमेंसे जो-जो रत्न लेना चाहें, वे सब उन्हें निःसंदेह दे दिये जायँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समझाना

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः ।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप तीनों लोकोंके श्रेष्ठतम पुरुष हैं और सर्वत्र आपका बहुत सम्मान होता है । भारत ! इस लोकमें भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान है ॥ १ ॥

यत् त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः ।
शास्त्राद् वा सुप्रतर्काद् वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि ॥ २ ॥

इस समय आप अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे) में स्थित हैं । ऐसी स्थितिमें आप जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसे अथवा लौकिक युक्तिसे भी ठीक ही है । इस सुस्थिर विचारके कारण ही आप वास्तवमें स्थविर (वृद्ध) हैं ॥ २ ॥

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे ।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥ ३ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रमामें कला है, सूर्यमें प्रभा है और समुद्रमें उत्ताल तरंगें हैं, उसी प्रकार आपमें धर्मकी स्थिति है । यह समस्त प्रजा निश्चितरूपसे जानती है ॥ ३ ॥

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव ।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥ ४ ॥

भूपाल ! आपके सद्गुणसमूहसे सदा ही इस जगत्की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है । अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्गुणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न कीजिये ॥ ४ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहु नीनशः ।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥ ५ ॥

राजन् ! आप सरलताको अपनाइये । मूर्खतावश कुटिलताका आश्रय ले अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रों, पौत्रों तथा सुहृदोंका महान् सर्वनाश न कीजिये ॥ ५ ॥

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्णको अतिथिरूपमें पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समूची पृथ्वीके भी पानेके अधिकारी हैं ॥ ६ ॥

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद् दित्ससि कृष्णाय सत्येनात्मानमालभे ॥ ७ ॥

मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने शरीरको छूकर कहता हूँ कि आप धर्मपालनके उद्देश्यसे अथवा श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये उन्हें वे सब वस्तुएँ नहीं देना चाहते हैं ॥ ७ ॥

मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद् भूरिदक्षिण ।
जानामि त्वन्मतं राजन् गूढं बाह्येन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले महाराज ! मैं सच कहता हूँ । यह सब आपकी माया और प्रवञ्चनामात्र है । आपके इन बाह्यव्यवहारोंमें छिपा हुआ जो आपका वास्तविक अभिप्राय है, उसे मैं समझता हूँ ॥ ८ ॥

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं; परंतु आप उन्हें वे गाँव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि आप (सन्धिद्वारा) शान्ति-स्थापन नहीं करेंगे ॥ ९ ॥

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो विभेत्स्यसि ॥ १० ॥

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लाना चाहते हैं और इस उपायसे आप यह आशा रखते हैं कि आप उन्हें पाण्डवोंकी ओरसे फोड़ लेंगे ॥ १० ॥

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनंजयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

परंतु मैं आपको असली बात बताये देता हूँ; आप धन देकर अथवा दूसरा कोई उद्योग या निन्दा करके श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक् नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदास्य दृढभक्तिताम् ।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनंजयम् ॥ १२ ॥

मैं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानता हूँ । श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी जो सुदृढ़ भक्ति है, उससे भी परिचित हूँ । अतः मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूँ कि श्रीकृष्ण अपने प्राणोंके समान प्रिय सखा अर्जुनको कभी त्याग नहीं सकते ॥ १२ ॥

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात् ।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ॥ १३ ॥

इसलिये आपकी दी हुई वस्तुओंमेंसे जलसे भरे हुए कलश, पैर धोनेके लिये जल और कुशल-प्रश्नको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको श्रीकृष्ण नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १३ ॥

यत् त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः ।
तदस्मै क्रियतां राजन् मानार्होऽसौ जनार्दनः ॥ १४ ॥

राजन् ! सम्माननीय महात्मा श्रीकृष्णका जो परम प्रिय आतिथ्य है, वह तो कीजिये ही; क्योंकि वे भगवान् जनार्दन सबके द्वारा सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ १४ ॥

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥ १५ ॥

महाराज ! भगवान् केशव उभयपक्षके कल्याणकी इच्छा लेकर जिस प्रयोजनसे इस कुरुदेशमें आ रहे हैं, वही उन्हें उपहारमें दीजिये ॥ १५ ॥

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवोंमें संधि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं । अतः उनके इस कथनका पालन कीजिये (इसीसे वे संतुष्ट होंगे) ॥ १६ ॥

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥ १७ ॥

महाराज ! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं । आप वृद्ध हैं और वे शिशु हैं । आप उनके प्रति पिताके समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये । वे आपके प्रति सदा ही पुत्रोंकी भाँति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका श्रीकृष्णके विषयमें अपने विचार कहना एवं उसकी कुमन्त्रणासे कुपित हो भीष्मजीका सभासे उठ जाना

दुर्योधन उवाच

यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णके सम्बन्धमें विदुरजी जो कुछ कहते हैं, वह सब कुछ ठीक है । जनार्दन श्रीकृष्णका कुन्तीके

पुत्रोंके प्रति अटूट अनुराग है; अतः उन्हें उनकी ओरसे फोड़ा नहीं जा सकता ॥ १ ॥

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! आप जो जनार्दनको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह कदापि उन्हें न दें ॥ २ ॥

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ॥ ३ ॥

मैं इसलिये नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं; अपितु इस दृष्टिसे मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल इस योग्य नहीं है कि उनका विशेष सत्कार किया जाय । राजन् ! इस समय तो श्रीकृष्ण यही समझेंगे कि यह डरके मारे मेरी पूजा कर रहा है ॥ ३ ॥

अवमानश्च यत्र स्यात् क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत् कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! जहाँ क्षत्रियका अपमान होता हो, वहाँ समझदार क्षत्रियको वैसा कार्य नहीं करना चाहिये । यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ४ ॥

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ॥ ५ ॥

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोकमें ही नहीं, तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकारसे विदित है ॥ ५ ॥

न तु तस्मै प्रदेयं स्यात् तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ॥ ६ ॥

प्रभो ! तथापि मेरा मत है कि इस समय उन्हें कुछ नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसी ही कार्यप्रणाली प्राप्त है । जब कलह आरम्भ हो गया है, तब अतिथिसत्कारद्वारा प्रेम दिखानेमात्रसे उसकी शान्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म विचित्रवीर्य-कुमार राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्ध्येत जनार्दनः ।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥ ८ ॥

'राजन् ! श्रीकृष्णका कोई सत्कार करे या न करे, इससे वे कुपित नहीं होंगे । परंतु वे अवहेलनाके योग्य कदापि नहीं हैं; अतः कोई भी उनका अपमान या अवहेलना नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

यत् तु कार्यं महाबाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित् कर्तुमन्यथा ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! श्रीकृष्ण जिस कार्यको करनेकी बात अपने मनमें ठान लेते हैं, उसे कोई सारे उपाय करके भी उलट नहीं सकता ॥ ९ ॥

स यद् ब्रूयान्महाबाहुस्तत् कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ॥ १० ॥

'अतः महाबाहु श्रीकृष्ण जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर तुम शीघ्र ही पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १० ॥

धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह ॥ ११ ॥

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे, वह निश्चय ही धर्म और अर्थके अनुकूल होगा । अतः तुम्हें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उनसे प्रिय वचन ही बोलना चाहिये' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

न पर्यायोऽस्ति यद् राजञ्छ्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! नरेश्वर ! अब इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि मैं जीवनभर पाण्डवोंके साथ मिलकर इस सारी सम्पत्तिका उपभोग करूँ ॥ १२ ॥

इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥ १३ ॥

इस समय मैंने जो यह महान् कार्य करनेका निश्चय किया है, उसे सुनिये । पाण्डवोंके सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्णको यहाँ आनेपर मैं कैद कर लूँगा ॥ १३ ॥

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥ १४ ॥

उनके कैद हो जानेपर समस्त यदुवंशी, इस भूमण्डलका राज्य तथा पाण्डव भी मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे । श्रीकृष्ण कल सबेरे यहाँ आ ही जायँगे ॥ १४ ॥

अत्रोपायान् यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चापायो भवेत् कश्चित् तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १५ ॥

अतः इस विषयमें जो अच्छे उपाय हों, जिनसे श्रीकृष्णको इन बातोंका पता न लगे और मेरे इस मन्तव्यमें कोई विघ्न न पड़ सके, उन्हें आप मुझे बताइये ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम्।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाभवत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णसे छल करनेके विषयमें दुर्योधनकी वह भयंकर बात सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियोंके साथ बहुत दुखी और उदास हो गये ॥१६॥

ततो दुर्योधनमिदं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—'प्रजापालक दुर्योधन! तुम ऐसी बात मुँहसे न निकालो। यह सनातन धर्म नहीं है ॥

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय और सम्बन्धी भी हैं तथा उन्होंने कौरवोंका कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी दशामें वे कैद करनेके योग्य कैसे हो सकते हैं?' ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥ १९ ॥

यह सुनकर भीष्मजीने कहा—धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र कालके वशमें हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदोंके कहने-समझानेपर भी अनर्थको ही अपना रहा है; अर्थको नहीं ॥ १९ ॥
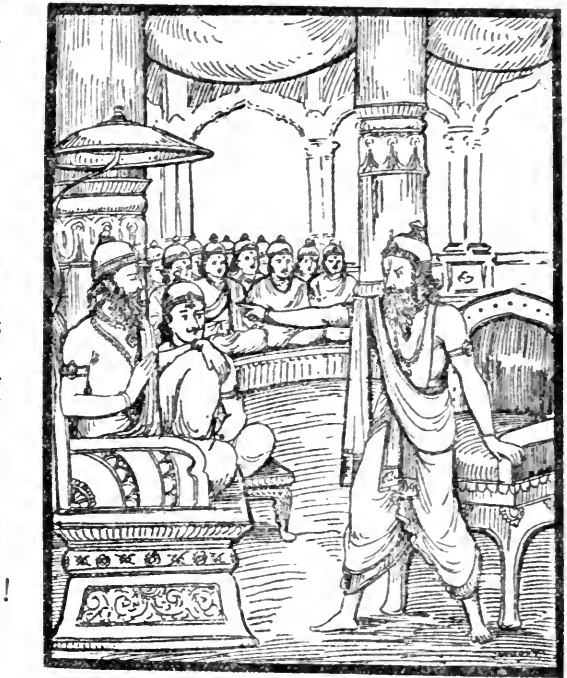
इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम्।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्यानुवर्तसे ॥ २० ॥

तुम भी सगे-सम्बन्धियोंकी बातें न मानकर कुमार्गपर चलनेवाले इस पापासक्त पापात्माका ही अनुसरण करते हो ॥

कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्यायं सुदुर्मतिः।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णसे भिड़कर तुम्हारा यह दुर्बुद्धि पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ २१ ॥

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथंचन ॥ २२ ॥

इसने धर्मका सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस दुर्बुद्धि, पापी एवं क्रूर दुर्योधनकी अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान्।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त कुपित हो उस सभाभवनसे उठकर चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्य अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका स्वागत, धृतराष्ट्र तथा विदुरके घरोंपर उनका आतिथ्य

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (उधर वृकस्थलमें) प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णने सारा नित्यकर्म पूर्ण किया। फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर वे हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम्।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः ॥ २ ॥

तब वहाँसे जाते हुए महाबाहु महाबली श्रीकृष्णकी आज्ञा ले सम्पूर्ण वृकस्थलनिवासी वहाँसे लौट गये ॥ २ ॥

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ३ ॥

दुर्योधनके सिवा धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हस्तिनापुरकी ओर आते हुए श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये गये ॥ ३ ॥

पौराश्च बहुला राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे ॥ ४ ॥

राजन्! श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बहुत-से नागरिक भी नाना प्रकारकी सवारियोंपर बैठकर तथा अन्य कुछ लोग पैदल ही चलकर गये ॥ ४ ॥

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥ ५ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे मार्गमें ही मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम्।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये हस्तिनापुरको खूब सजाया गया था। वहाँका राजमार्ग भी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित किया गया था ॥ ६ ॥

न च कश्चिद् गृहे राजंस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय भगवान् वासुदेवके दर्शनकी तीव्र इच्छाके कारण स्त्री, बालक अथवा वृद्ध कोई भी घरमें नहीं ठहर सका ॥ ७ ॥

राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने ॥ ८ ॥

महाराज! जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, तब राजमार्गमें भूमिपर खड़े हुए मनुष्य उनकी स्तुति करने लगे ॥

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ॥ ९ ॥

(भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये एकत्रित हुई) सुन्दरी स्त्रियोंसे भरे हुए बड़े-बड़े महल भी उनके भारसे इस भूतलपर विचलित होते-से दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः।
प्रणष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ॥ १० ॥

वहाँकी प्रधान सड़क लोगोंसे ऐसी खचाखच भर गयी थी कि श्रीकृष्णके वेगपूर्वक चलनेवाले घोड़ोंकी गति भी अवरुद्ध हो गयी ॥ १० ॥

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम् ॥ ११ ॥

शत्रुओंको क्षीण करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रके अट्टालिकाओंसे सुशोभित उज्ज्वल भवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

तिस्रः कक्ष्या व्यतिक्रम्य केशवो राजवेश्मनः।
वैचित्रवीर्यं राजानमभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १२ ॥

उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियोंको पार करके शत्रुसूदन केशव विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके समीप गये ॥ १२ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मजीके साथ ही अपने आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥ १३ ॥

कृपश्च सोमदत्तश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिक—ये सब लोग जनार्दनका सम्मान करते हुए अपने आसनोंसे उठ गये ॥

धृतराष्ट्रके द्वारा श्रीकृष्णका स्वागत

ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम् ।
स भीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भिरञ्जसा ॥ १५ ॥

तब वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णने यशस्वी राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर अपने उत्तम वचनोंद्वारा भीष्मजीका आदर किया ॥ १५ ॥

तेषु धर्मानुपूर्वीं तां प्रयुज्य मधुसूदनः ।
यथावयः समीयाय राजभिः सह माधवः ॥ १६ ॥

यदुकुलतिलक मधुसूदन उन सबकी धर्मानुकूल पूजा करके अवस्थाक्रमके अनुसार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंसे मिले ॥ १६ ॥

अथ द्रोणं सबाह्लीकं सपुत्रं च यशस्विनम् ।
कृपं च सोमदत्तं च समीयाय जनार्दनः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् जनार्दन पुत्रसहित यशस्वी द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा सोमदत्तसे मिले ॥ १७ ॥

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥ १८ ॥

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्णका विशाल सिंहासन रक्खा हुआ था । धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ १८ ॥

अथ गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ।
उपजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रपुरोहिताः ॥ १९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रके पुरोहितलोग भगवान् जनार्दनके आतिथ्यसत्कारके लिये उत्तम गौ, मधुपर्क तथा जल ले आये ॥

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून् ।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ॥ २० ॥

उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् गोविन्द हँसते हुए कौरवोंके साथ बैठ गये और सबसे अपने सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए कौरवोंसे घिरे हुए कुछ देर बैठे रहे ॥ २० ॥

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः ।
राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रसे पूजित एवं सम्मानित हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुज्ञा ले उस राजभवनसे बाहर निकले॥ २१॥

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि ।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ॥ २२ ॥

फिर कौरव-सभामें यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्णने विदुरजीके रमणीय गृहमें पदार्पण किया ॥ २२ ॥

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम् ।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ॥ २३ ॥

विदुरजीने अपने घर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके निकट जाकर समस्त मनोवाञ्छित भोगों तथा सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तुओंद्वारा उनका पूजन किया (और इस प्रकार कहा—) ॥ २३ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ २४ ॥

'कमलनयन ! आपके दर्शनसे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय; आप तो समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (आपसे क्या छिपा है ?) ' ॥

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके, तब सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने उनसे पाण्डवोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

प्रीयमाणस्य सुहृदो विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धर्मार्थनित्यस्य सतो गतरोषस्य धीमतः ॥ २६ ॥
तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २७ ॥

विदुरजी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ थे। सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, रोष-शून्य प्रेमी सुहृद् बुद्धिमान् विदुरसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनायीं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रगृहमें प्रवेशपूर्वक विदुरके गृहमें पदार्पणविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुन्तीके समीप जाना एवं युधिष्ठिरका कुशल-समाचार पूछकर अपने दुःखोंका स्मरण करके विलाप करती हुई कुन्तीको आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः ।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजीसे मिलनेके पश्चात् तीसरे पहरमें अपनी बुआ कुन्तीदेवीके पास गये ॥ १ ॥

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा ॥ २ ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गयीं और अपने पुत्रोंको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २ ॥

तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम् ।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं बाष्पमाहारयत् पृथा ॥ ३ ॥

अपने उन शक्तिशाली पुत्रोंके बीचमें रहकर उनके साथ विचरनेवाले वृष्णिकुलनन्दन गोविन्दको दीर्घकालके पश्चात् देखकर कुन्तीदेवी आँसुओंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३ ॥

साब्रवीत् कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम् ।
बाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ॥ ४ ॥

उन्होंने योद्धाओंके स्वामी श्रीकृष्णका अतिथि-सत्कार किया। जब वे आतिथ्य ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, तब सूखे मुँह और अश्रुगद्गद कण्ठसे कुन्तीदेवी इस प्रकार बोलीं—॥ ४ ॥

ये ते बाल्यात् प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः ।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः ।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ॥ ५ ॥

'वत्स ! मेरे पुत्र पाण्डव, जो बाल्यकालसे ही गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहते, परस्पर स्नेह रखते, सर्वत्र सम्मान पाते और मनमें सबके प्रति समानभाव रखते थे, शत्रुओंकी शठताके शिकार होकर राज्यसे हाथ धो बैठे और जनसमुदायमें रहनेयोग्य होकर भी निर्जन वनमें चले गये ॥ ५ ॥

विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ॥ ६ ॥

'मेरे बेटे हर्ष और क्रोधको जीत चुके थे। वे ब्राह्मणोंका हित साधन करनेवाले तथा सत्यवादी थे; तथापि (शत्रुओंके अन्यायसे विवश हो) प्रियजन एवं सुखभोगसे मुँह मोड़ मुझे रोती बिलखती छोड़कर वे वनकी ओर चल दिये ॥६॥

अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम ।
अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'केशव ! वन जाते समय महात्मा पाण्डव मेरे हृदयको जड़-मूलसहित खींचकर अपने साथ ले गये। वे वनवासके योग्य कदापि नहीं थे । फिर उन्हें यह कष्ट कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ ७ ॥

ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले ।
बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ॥ ८ ॥
अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने ।

'तात ! वे बचपनमें ही पिताके प्यारसे वञ्चित हो गये थे। मैंने ही सदा उनका लालन-पालन किया । मेरे पुत्र सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरे हुए उस विशाल वनमें कैसे रहे होंगे ? माता-पिताको न देखते हुए उन्होंने उस महान् वनमें किस प्रकार निवास किया होगा ? ॥ ८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिस्वनैः ॥ ९ ॥
पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात् प्रभृति केशव ।

'केशव ! बाल्यावस्थासे ही पाण्डव शङ्ख और दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे, मृदङ्गोंके मधुर नादसे तथा बाँसुरीकी सुरीली तानसे जगाये जाते थे ॥ ९½ ॥

ये स्म वारणशब्देन हयानां हेषितेन च ॥ १० ॥
रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे ।
शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ॥ ११ ॥

पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः।
वस्त्रै रत्नैरलंकारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ॥ १२ ॥
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ॥ १३ ॥
प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः।
क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ॥ १४ ॥
न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन।

'जब वे अपनी राजधानीमें ऊँची अट्टालिकाओंके भीतर रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए बिछौनोंसे युक्त सुकोमल शय्याओंपर शयन करते थे, उन दिनों हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने तथा रथके पहियोंके घर्घरानेसे उनकी निद्रा टूटती थी। शङ्ख और भेरीकी तुमुल ध्वनि तथा वेणु और वीणाके मधुर स्वरसे उन्हें जगाया जाता था। साथ ही ब्राह्मण-लोग पुण्याहवाचनके पवित्र घोषसे उनका समादर करते थे। वे महात्मा ब्राह्मणोंके मङ्गलमय आशीर्वाद सुनकर उठते थे। पूजित और पूजनीय पुरुष भी उनके गुण गा-गाकर अभि-नन्दन किया करते थे एवं उठकर वे रत्नों, वस्त्रों एवं अलंकारोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। जनार्दन! वे ही पाण्डव उस विशाल वनमें हिंसक जन्तुओंके क्रूरतापूर्ण शब्द सुनकर अच्छी तरह नींद भी नहीं ले पाते रहे होंगे, यद्यपि इस दुरवस्थाके योग्य वे कभी नहीं थे ॥१०—१४½॥

भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिस्वनैः ॥ १५ ॥
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन।
वन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ॥ १६ ॥
महावनेष्वबोध्यन्त श्वापदानां रुतेन च।

'मधुसूदन! जो भेरी एवं मृदङ्गके नादसे, शङ्ख एवं वेणुकी ध्वनिसे तथा स्त्रियोंके गीतोंके मधुर शब्द तथा सूत, मागध एवं बन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर जागते थे, वे ही बड़े-बड़े जंगलोंमें हिंसक जन्तुओंके कठोर शब्द सुनकर किस प्रकार नींद तोड़ते रहे होंगे? ॥ १५-१६½ ॥

ह्रीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामनुकम्पिता ॥ १७ ॥
कामद्वेषौ वशे कृत्वा सतां वर्त्मानुवर्तते।
अम्बरीषस्य मान्धातुर्ययातेर्नहुषस्य च ॥ १८ ॥
भरतस्य दिलीपस्य शिबेरौशीनरस्य च।
राजर्षीणां पुराणानां धुरं धत्ते दुरुद्वहाम् ॥ १९ ॥
शीलवृत्तोपसम्पन्नो धर्मज्ञः सत्यसंगरः।
राजा सर्वगुणोपेतस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ॥ २० ॥
अजातशत्रुर्धर्मात्मा शुद्धजाम्बूनदप्रभः।
श्रेष्ठः कुरुषु सर्वेषु धर्मतः श्रुतवृत्ततः।
प्रियदर्शो दीर्घभुजः कथं कृष्ण युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण! जो लज्जाशील, सत्यको धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सब प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं; जो काम (राग) एवं द्वेषको वशमें करके सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते हैं; जो अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, नहुष, भरत, दिलीप एवं उशीनरपुत्र शिबि आदि प्राचीन राजर्षियों-के सदाचारपालनरूप धारण करनेमें कठिन धर्मकी धुरीको धारण करते हैं; जिनमें शील और सदाचारकी सम्पत्ति भरी हुई है, जो धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण इस भूमण्डलके ही नहीं, तीनों लोकोंके भी राजा हो सकते हैं; जिनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है, जो धर्मशास्त्रज्ञान और सदाचार सभी दृष्टियोंसे समस्त कौरवोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; जिनकी अङ्गकान्ति शुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके समान गौर है, जो देखनेमें सभीको प्रिय लगते हैं; वे महाबाहु अजात-शत्रु युधिष्ठिर इस समय कैसे हैं? ॥ १७—२१ ॥

यः स नागायुतप्राणो वातरंहा महाबलः।
सामर्षः पाण्डवो नित्यं प्रियो भ्रातुः प्रियंकरः॥ २२ ॥
कीचकस्य तु सज्ञातेर्यो हन्ता मधुसूदन।
शूरः क्रोधवशानां च हिडिम्बस्य बकस्य च ॥ २३ ॥
पराक्रमे शक्रसमो मातरिश्वसमो बले।
महेश्वरसमः क्रोधे भीमः प्रहरतां वरः ॥ २४ ॥
क्रोधं बलममर्षं च यो निधाय परंतपः।
जितात्मा पाण्डवोऽमर्षी भ्रातुस्तिष्ठति शासने ॥ २५ ॥
तेजोराशिं महात्मानं वरिष्ठममितौजसम्।
भीमं प्रदर्शनेनापि भीमसेनं जनार्दन ॥ २६ ॥
तं ममाचक्ष्व वार्ष्णेय कथमद्य वृकोदरः।
आस्ते परिघबाहुः स मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २७ ॥

'मधुसूदन! जो पाण्डुनन्दन महाबली भीम दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली है, जिसका वेग वायुके समान है, जो असहिष्णु होते हुए भी अपने भाईको सदा ही प्रिय है और भाइयोंका प्रिय करनेमें ही लगा रहता है, जिसने भाई-बन्धुओंसहित कीचकका विनाश किया है, जिस शूर-वीरके हाथसे क्रोधवश नामक राक्षसोंका, हिडिम्बासुर तथा बकका भी संहार हुआ है, जो पराक्रममें इन्द्र, बलमें वायु-देव तथा क्रोधमें महेश्वरके समान है, जो प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सर्वश्रेष्ठ एवं भयंकर है, शत्रुओंको संताप देनेवाला जो पाण्डुपुत्र भीम अपने भीतर क्रोध, बल और अमर्षको रखते हुए भी मनको काबूमें रखकर सदा भाईकी आज्ञा-के अधीन रहता है, जो स्वभावतः अमर्षशील है, जिसमें तेजकी राशि संचित है, जो महात्मा, सर्वश्रेष्ठ, अमिततेजस्वी तथा देखनेमें भी भयंकर है, वृष्णिनन्दन जनार्दन! उस मेरे द्वितीय पुत्र भीमसेनका समाचार बताओ। इस समय परिघ-के समान सुदृढ़ भुजाओंवाला मेरा मँझला पुत्र पाण्डुकुमार भीमसेन कैसे है? ॥ २२—२७ ॥

अर्जुनेनार्जुनो यः स कृष्ण बाहुसहस्रिणा।
द्विबाहुः स्पर्धते नित्यमतीतेनापि केशव ॥ २८ ॥

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
इष्वस्त्रे सदृशो राज्ञः कार्तवीर्यस्य पाण्डवः॥ २९॥
तेजसाऽऽदित्यसदृशो महर्षिसदृशो दमे।
क्षमया पृथिवीतुल्यो महेन्द्रसमविक्रमः॥ ३०॥
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं मधुसूदन।
आहृतं येन वीर्येण कुरूणां सर्वराजसु॥ ३१॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः पर्युपासते।
स सर्वरथिनां श्रेष्ठः पाण्डवः सत्यविक्रमः॥ ३२॥
यं गत्वाभिमुखः संख्ये न जीवन् कश्चिदाव्रजेत्।
यो जेता सर्वभूतनामजेयो जिष्णुरच्युत॥ ३३॥
योऽपाश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
स ते भ्राता सखा चैव कथमद्य धनंजयः॥ ३४॥

'श्रीकृष्ण! जो अर्जुन दो भुजाओंसे युक्त होकर भी सदा प्राचीनकालके सहस्र भुजाधारी कार्तवीर्य अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता है; केशव! जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है, जो पाण्डव अर्जुन धनुर्विद्यामें राजा कार्तवीर्यके समान ही समझा जाता है, जिसका तेज सूर्यके समान है, इन्द्रियसंयममें महर्षियोंके, क्षमामें पृथ्वीके और पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान है; मधुसूदन! कौरवोंका यह विशाल साम्राज्य, जो सम्पूर्ण राजाओंमें प्रख्यात एवं प्रकाशित हो रहा है, जिसे अर्जुनने ही अपने पराक्रमसे बढ़ाया है; समस्त पाण्डव जिसके बाहुबलका भरोसा रखते हैं। जो सम्पूर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ तथा सत्यपराक्रमी है, संग्राममें जिसके सम्मुख जाकर कोई जीवित नहीं लौटता है, अच्युत! जो सम्पूर्ण भूतोंको जीतनेमें समर्थ, विजयशील एवं अजेय है तथा जैसे देवताओंके आश्रय इन्द्र हैं, उसी प्रकार जो समस्त पाण्डवोंका अवलम्ब है, वह तुम्हारा भाई और मित्र अर्जुन इस समय कैसे है?॥ २८—३४॥

दयावान् सर्वभूतेषु ह्रीनिषेवो महास्त्रवित्।
मृदुश्च सुकुमारश्च धार्मिकश्च प्रियश्च मे॥ ३५॥
सहदेवो महेष्वासः शूरः समितिशोभनः।
भ्रातॄणां कृष्ण शुश्रूषुर्धर्मार्थकुशलो युवा॥ ३६॥
सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः॥ ३७॥
ज्येष्ठापचायिनं वीरं सहदेवं युधां पतिम्।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे॥ ३८॥

'मधुसूदन श्रीकृष्ण! जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु लज्जाशील, महान् अस्त्रवेत्ता, कोमल, सुकुमार, धार्मिक तथा मुझे विशेष प्रिय है; जो महाधनुर्धर शूरवीर सहदेव रणभूमिमें शोभा पानेवाला, सभी भाइयोंका सेवक, धर्म और अर्थके विवेचनमें कुशल तथा युवावस्थासे युक्त है; कल्याणकारी आचारवाले जिस महात्मा सहदेवके आचार-व्यवहारकी सभी भाई प्रशंसा करते हैं, जो बड़े भाईके प्रति अनुरक्त, योद्धोंका नेता और मेरी सेवामें तत्पर रहनेवाला है; उस माद्रीकुमार वीर सहदेवका समाचार मुझे बताओ॥ ३५—३८॥

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः॥ ३९॥
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः।
कच्चित् स कुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः॥ ४०॥

'श्रीकृष्ण! जो सुकुमार, युवक, शौर्यसम्पन्न तथा दर्शनीय है, जो सभी भाइयोंके बाहर विचरनेवाला प्रिय प्राणस्वरूप है, जिसमें युद्धकी विचित्र कला शोभा पाती है, वह महान् धनुर्धर, महाबली एवं मुझसे पला हुआ मेरा पुत्र पाण्डुनन्दन नकुल सकुशल तो है न?॥ ३९-४०॥

सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम्।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः॥ ४१॥

'महाबाहो! क्या मैं सुख-भोगके योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य एवं सुकुमार महारथी नकुलको फिर कभी देख सकूँगी?॥

पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता।
न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम्॥ ४२॥

'वीर! आँखोंकी पलकें गिरनेमें जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुलसे अलग रहनेपर मैं धैर्य खो बैठती थी; परंतु अब इतने दिनोंसे उसे न देखकर भी जी रही हूँ। देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ॥ ४२॥

सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः॥ ४३॥

'जनार्दन! द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय है। वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है॥ ४३॥

पुत्रलोकात् पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते॥ ४४॥

'पुत्रलोकसे पतिलोकको श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रोंको भी त्यागकर पाण्डवोंका अनुसरण करती है॥ ४४॥

महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत॥ ४५॥

'अच्युत! मैंने सब प्रकारकी वस्तुएँ देकर जिसका समादर किया है, वह परम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई सर्वकल्याणी महारानी द्रौपदी इन दिनों कैसी दशामें है?॥

पतिभिः पञ्चभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी॥ ४६॥

'हाय! जो महाधनुर्धर, शूरवीर, युद्धकुशल तथा

अग्नितुल्य तेजस्वी पाँच पतियोंसे युक्त है, वह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी दुःखभागिनी हो गयी ॥ ४६ ॥

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नापश्यमरिंदम ।
पुत्राधिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम् ॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन ! यह चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। इतने दिनों-से मैंने पुत्रोंके विछोहसे संतप्त हुई सत्यवादिनी द्रौपदीको नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम् ।
द्रौपदी चेत् तथावृत्ता नाश्नुते सुखमव्ययम् ॥ ४८ ॥

'यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मोंसे युक्त द्रुपदकुमारी अक्षय सुख नहीं पा रही है, तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्यकर्मोंसे सुख नहीं पाता है ॥ ४८ ॥

न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः ।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम् ॥ ४९ ॥
न मे दुःखतरं किंचिद् भूतपूर्वं ततोऽधिकम् ।

'युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी मुझे द्रौपदीसे अधिक प्रिय नहीं हैं। उसी द्रौपदीको मैंने भरी सभामें लायी गयी देखा, उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था ॥ ४९½ ॥

स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम् ॥ ५० ॥
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना ।
सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम् ॥ ५१ ॥

'क्रोध और लोभके वशीभूत हुए दुष्ट दुर्योधनने रजस्वलावस्थामें एकवस्त्रधारिणी द्रौपदीको सभामें बुलवाया और उसे श्वशुरजनोंके समीप खड़ी कर दिया। उस समय सभी कौरवोंने उसे देखा था ॥ ५०-५१ ॥

तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः ।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा ॥ ५२ ॥

'वहीं राजा धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोम-दत्त तथा अन्यान्य कौरव खेदमें भरे हुए बैठे थे ॥ ५२ ॥

तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम् ।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ॥ ५३ ॥

'मैं तो उस कौरव-सभामें सबसे अधिक आदर विदुर-जीको देती हूँ, (जिन्होंने द्रौपदीके प्रति किये जानेवाले अन्यायका प्रकटरूपमें विरोध किया था।) मनुष्य अपने सदाचारसे ही श्रेष्ठ होता है, धन और विद्यासे नहीं। ५३।

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः ।
क्षत्तुः शीलमलंकारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ५४ ॥

'श्रीकृष्ण ! परम बुद्धिमान् गम्भीरस्वभाव महात्मा विदुरका शील ही आभूषण है, जो सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त (विख्यात) करके स्थित है' ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम् ।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवान्वकीर्तयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! श्रीकृष्णको आया हुआ देख कुन्तीदेवी शोकातुर तथा आनन्दित हो अपने ऊपर आये हुए नाना प्रकारके सम्पूर्ण दुःखोंका पुनः वर्णन करने लगीं—॥ ५५ ॥

पूर्वैराचरितं यत् तत् कुराजभिररिंदम ।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम् ॥ ५६ ॥

'शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! पहलेके दुष्ट राजाओंने जो जूआ और शिकारकी परिपाटी चला दी है, वह क्या इन सबके लिये सुखावह सिद्ध हुई है? (अपितु कदापि नहीं) ॥ ५६ ॥

तन्मां दहति यत् कृष्णा सभायां कुरुसंनिधौ ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा ॥ ५७ ॥

'सभामें कौरवोंके समीप धृतराष्ट्रके पुत्रोंने द्रौपदीको जो ऐसा कष्ट पहुँचाया है, जिससे किसीका मङ्गल नहीं हो सकता, वह अपमान मेरे हृदयको दग्ध करता रहता है ॥ ५७ ॥

निर्वासनं च नगरात् प्रव्रज्या च परंतप ।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञास्मि जनार्दन ॥ ५८ ॥

'परंतप जनार्दन ! पाण्डवोंका नगरसे निकाला जाना तथा उनका वनमें रहनेके लिये बाध्य होना आदि नाना प्रकारके दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ ॥ ५८ ॥

अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव ।
न मे क्लेशतमं तत् स्यात् पुत्रैः सह परंतप ॥ ५९ ॥

'परंतप माधव ! मेरे बालकोंको अज्ञातभावसे रहना पड़ा है और अब राज्य न मिलनेसे उनकी जीविकाका भी अवरोध हो गया है। पुत्रोंके साथ मुझे इतना महान् क्लेश नहीं प्राप्त होना चाहिये ॥ ५९ ॥

दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दशम् ।
दुःखादपि सुखं नः स्याद् यदि पुण्यफलक्षयः ॥ ६० ॥

'दुर्योधनने मेरे पुत्रोंको कपटद्यूतके द्वारा राज्यसे वञ्चित कर दिया। उन्हें इस दुरवस्थामें रहते आज चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। यदि सुख भोगनेका अर्थ है पुण्यके फलका क्षय होना, तब तो पापके फलस्वरूप दुःख भोग लेनेके कारण अब हमें भी दुःखके बाद सुख मिलना ही चाहिये ॥ ६० ॥

न मे विशेषो जात्वासीद् धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः ।
तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्रं श्रिया वृतम् ।
अस्माद् विमुक्तं संग्रामात् पश्येयं पाण्डवैः सह । ६१।

नैव शक्याः पराजेतुं सर्वं ह्येषां तथाविधम् ।

'श्रीकृष्ण ! मेरे मनमें पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति कभी भेदभाव नहीं था। इस सत्यके प्रभावसे निश्चय ही मैं देखूँगी कि तुम भावी संग्राममें शत्रुओंको मारकर पाण्डवों-सहित संकटसे मुक्त हो गये तथा राज्यलक्ष्मीने तुमलोगोंका ही वरण किया है ! पाण्डवोंमें ऐसे सभी गुण मौजूद हैं, जिनके ही कारण शत्रु इन्हें परास्त नहीं कर सकते॥ ६१½ ॥

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम् ॥ ६२ ॥
येनाहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता।

'मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपनेको दोष देती हूँ, न दुर्योधनको; अपितु पिताकी ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तिभोजके हाथमें उसी प्रकार दे दिया, जैसे विख्यात दानी पुरुष याचकको साधारण धन देते हैं ॥ ६२½ ॥

बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम् ।६३।
अदात् तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।

'मैं अभी बालिका थी, हाथमें गेंद लेकर खेलती फिरती थी; उसी अवस्थामें तुम्हारे पितामहने मित्रधर्मका पालन करते हुए अपने सखा महात्मा कुन्तिभोजके हाथमें मुझे दे दिया ॥ ६३½ ॥

साहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परंतप ।
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम ॥ ६४ ॥

'परंतप श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वशुरोंने भी मेरे साथ वञ्चनापूर्ण बर्ताव किया है। इससे मैं अत्यन्त दुखी हूँ। मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६४ ॥

यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः ।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्॥ ६५ ॥
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनंजयः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ ६६ ॥

'अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी, उस रात्रिमें आकाशवाणीने मुझसे यह कहा था—'भद्रे ! तेरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा। इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा। यह महान् संग्राममें कौरवोंका संहार करके राज्यपर अधिकार कर लेगा; फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा, ॥ ६५-६६ ॥

नाहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे ।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः ॥ ६७ ॥

'मैं इस आकाशवाणीको दोष नहीं देती, अपितु महाविष्णुस्वरूप धर्मको ही नमस्कार करती हूँ। वही इस जगत्का स्रष्टा है। धर्म ही सदा समस्त प्रजाको धारण करता है ॥ ६७ ॥

धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत ।
त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि॥ ६८॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि धर्म है तो तुम भी वह सब काम पूरा कर लोगे, जिसे उस समय आकाशवाणीने बताया था ॥ ६८ ॥

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता ।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः ॥ ६९ ॥

'माधव ! वैधव्य, धनका नाश तथा कुटुम्बीजनोंके साथ बढ़ा हुआ वैर-भाव इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रोंका विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है ॥६९॥

याहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
धनंजयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ७० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुनको जबतक मैं नहीं देख रही हूँ, तबतक मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥

इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नापश्यं युधिष्ठिरम् ।
धनंजयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

'गोविन्द ! चौदहवाँ वर्ष है, जबसे कि मैं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको नहीं देख पा रही हूँ ॥ ७१ ॥

जीवनाशं प्रणष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः ।
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाहं जनार्दन ॥ ७२ ॥

'जनार्दन ! जो लोग प्राणोंका नाश होनेसे अदृश्य होते हैं, उनके लिये मनुष्य श्राद्ध करते हैं। यदि मृत्युका अर्थ अदृश्य हो जाना ही है तो मेरे लिये पाण्डव मर गये हैं और मैं भी उनके लिये मर चुकी हूँ ॥ ७२ ॥

ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ७३ ॥

'माधव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा ! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो ॥ ७३ ॥

पराश्रया वासुदेव या जीवति धिगस्तु ताम् ।
वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी ॥ ७४ ॥

'वासुदेव ! जो स्त्री दूसरोंके आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करती है, उसे धिक्कार है। दीनतासे प्राप्त हुई जीविकाकी अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है ॥ ७४ ॥

अथो धनंजयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥ ७५ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है ॥ ७५ ॥

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति ।
लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ ॥ ७६ ॥
नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः ।
काले हि समनुप्राप्ते त्यक्तव्यमपि जीवनम् ॥ ७७ ॥

'यदि ऐसा समय आनेपर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा । तुमलोग इस जगत्के सम्मानित पुरुष हो । यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्मसे युक्त होनेके कारण मैं तुम्हें सदाके लिये त्याग दूँगी । पुत्रो ! तुम्हें तो समय आनेपर अपने प्राणोंको भी त्याग देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये ॥७६-७७॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतौ सदा ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ ७८ ॥

'गोविन्द ! तुम सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवसे भी कहना—'पुत्रो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना' ॥ ७८ ॥

विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ ७९ ॥

पुरुषोत्तम ! क्षत्रियधर्मसे जीवननिर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमसे प्राप्त हुआ धन ही सदा संतुष्ट रखता है ॥ ७९ ॥

गत्वा ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ ८० ॥

'महाबाहो ! तुम पाण्डवोंके पास जाकर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनसे कहना कि तुम द्रौपदीके बताये हुए मार्गपर चलो ॥ ८० ॥

विदितौ हि तवात्यन्तं क्रुद्धौ तौ तु यथान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ ८१ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम तो जानते ही हो; यदि भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त कुपित हो जायँ तो वे यमराजके समान होकर देवताओंको भी मृत्युके मुखमें पहुँचा सकते हैं ॥ ८१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभां गता ।
दुःशासनश्च कर्णश्च परुषाण्यभ्यभाषताम् ॥ ८२ ॥
दुर्योधनो भीमसेनमभ्यगच्छन्मनस्विनम् ।
पश्यतां कुरुमुख्यानां तस्य द्रक्ष्यति यत् फलम् । ८३ ।

'द्रौपदीको जो सभामें उपस्थित होना पड़ा तथा दुःशासन और कर्णने जो उसके प्रति कठोर बातें कहीं, यह सब भीमसेन और अर्जुनका ही अपमान है । दुर्योधनने प्रधान-प्रधान कौरवोंके सामने मनस्वी भीमसेनका अपमान किया है । इसका जो फल मिलेगा, उसे वह देखेगा ॥

न हि वैरं समासाद्य प्रशाम्यति वृकोदरः ।
सुचिरादपि भीमस्य न हि वैरं प्रशाम्यति ।
यावदन्तं न नयति शात्रवाञ्छत्रुकर्शनः ॥ ८४ ॥

'भीमसेन वैर हो जानेपर कभी शान्त नहीं होता । भीमसेनका वैर तबतक दीर्घकालके बाद भी समाप्त नहीं होता है, जबतक वह शत्रुपक्षका संहार नहीं कर डालता ॥८४॥

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः ।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ॥ ८५ ॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता ।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ॥ ८६ ॥

'राज्य छिन गया, यह कोई दुःखका कारण नहीं है । जूएमें हार जाना भी दुःखका कारण नहीं है । मेरे पुत्रोंको वनमें भेज दिया गया, इससे भी मुझे दुःख नहीं हुआ है; परंतु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधूको एक वस्त्र धारण किये जो सभामें जाना पड़ा और दुष्टोंकी कठोर बातें सुननी पड़ीं, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥८७॥

'सदा क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी बहू कृष्णा उस समय रजस्वला थी । वह सनाथ होती हुई भी वहाँ किसीको अपना नाथ (रक्षक) न पा सकी ॥८७॥

यस्या मम सपुत्रायास्त्वं नाथो मधुसूदन ।
रामश्च बलिनां श्रेष्ठः प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ८८ ॥
साहमेवंविधं दुःखं सहेऽद्य पुरुषोत्तम ।
भीमे जीवति दुर्धर्षे विजये चापलायिनि ॥ ८९ ॥

'पुरुषोत्तम ! मधुसूदन ! पुत्रोंसहित जिस कुन्तीके बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम, महारथी प्रद्युम्न तथा तुम रक्षक हो; युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले विजयी अर्जुन और दुर्धर्ष भीमसेन-सरीखे जिसके पुत्र जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख सह रही हूँ' ॥ ८८-८९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत आश्वासयामास पुत्राधिभिरभिप्लुताम् ।
पितृष्वसारं शोचन्तीं शौरिः पार्थसखः पृथाम् ॥९०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनके मित्र भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रोंकी चिन्ताओंमें डूबकर शोक करती हुई अपनी बुआ कुन्तीको इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ९० ॥

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः ।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥ ९१ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम राजा शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कुलमें ब्याहकर आयी हो ॥ ९१ ॥

महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवागता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ ९२ ॥

तुम एक उच्च कुलकी कन्या हो और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलिनी एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो। एक दिन तुम सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने सदा तुम्हारा विशेष सम्मान किया है ॥ ९२ ॥

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥ ९३ ॥

तुम वीरपत्नी, वीरजननी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। महाप्राज्ञे ! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये ॥ ९३ ॥

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥ ९४ ॥

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं ॥ ९४ ॥

त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ॥ ९५ ॥

तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है, वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है। वे महान् उत्साही और महाबली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते ॥

अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान् ॥ ९६ ॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ॥ ९७ ॥

धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं। ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं। वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं। महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है ॥ ९६-९७ ॥

अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ॥ ९८ ॥

बुआ ! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है ॥ ९८ ॥

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान्।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान् ॥ ९९ ॥

तुम शीघ्र ही देखोगी; पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्‌के शासकपदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ९९ ॥

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम्।
पुत्राधिभिरभिध्वस्ता निगृह्याबुद्धिजं तमः ॥ १०० ॥

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा ॥ १०० ॥

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥ १०१ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ॥ १०१ ॥

अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परंतप।
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण सत्यस्याभिजनस्य च ॥ १०२ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! धर्मका लोप न करते हुए, छल और कपटसे दूर रहकर समयोचित कार्य करना चाहिये । मैं तुम्हारी सत्यपरायणता और कुल-मर्यादाका भी प्रभाव जानती हूँ ॥ १०२ ॥

व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं तपो महत् ॥ १०३ ॥
त्वं त्राता त्वं महद् ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यथैवात्थ तथैवैतत् त्वयि सत्यं भविष्यति ॥ १०४ ॥

प्रत्येक कार्यकी व्यवस्थामें, मित्रोंके संग्रहमें तथा बुद्धि और पराक्रममें भी जो तुम्हारा अद्भुत प्रभाव है, उससे मैं परिचित हूँ। हमारे कुलमें तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं महान् तप हो, तुम्हीं रक्षक और तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो। सब कुछ तुममें ही प्रतिष्ठित है। तुम जो कुछ कहते हो, वह सब तुम्हारे संनिधानमें सत्य होकर ही रहेगा ॥ १०३-१०४ ॥

(कुरूणां पाण्डवानां च लोकानां चापराजित।
सर्वस्यैतस्य वार्ष्णेय गतिस्त्वमसि माधव ॥
प्रभावो बुद्धिवीर्यं च तादृशं तव केशव।)

किसीसे पराजित न होनेवाले वृष्णिनन्दन माधव ! कौरवोंके, पाण्डवोंके तथा इस सम्पूर्ण जगत्‌के तुम्हीं आश्रय

हो। केशव ! तुम्हारा प्रभाव तथा तुम्हारा बुद्धिबल भी तुम्हारे अनुरूप ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान् प्रति ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु गोविन्द कुन्तीदेवीकी परिक्रमा करके उनसे आज्ञा ले दुर्योधनके घरकी ओर चल दिये ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-कुन्ती-संवादविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १०६½ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनके घर जाना एवं उसके निमन्त्रणको अस्वीकार करके विदुरजीके घरपर भोजन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्तीकी परिक्रमा करके एवं उनकी आज्ञा ले दुर्योधनके घर गये ॥ १ ॥

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम्।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ॥ २ ॥

वह घर इन्द्रभवनके समान उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उसमें यथास्थान विचित्र आसन सजाकर रक्खे गये थे। श्रीकृष्णने उस गृहमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः।
ततोऽभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः।

द्वारपालोंने रोक-टोक नहीं की। उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके महायशस्वी श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रासादपर आरूढ़ हुए, जो आकाशमें छाये हुए शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत, पर्वतशिखरके समान ऊँचा तथा अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशमान था ॥ ३½ ॥

तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाभिसंवृतम् ॥ ४ ॥
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शासीनमासने।

वहाँ उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको देखा, जो सहस्रों राजाओं तथा कौरवोंसे घिरा हुआ था ॥ ४½ ॥

दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान् ददर्श सः।

दुर्योधनके पास ही दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये भी आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णने उनको भी देखा ॥ ५½ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ६ ॥
उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम्।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी दुर्योधन मधुसूदनका सम्मान करते हुए मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया ॥ ६½ ॥

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ॥ ७ ॥
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः।

मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे मिलकर वृष्णिकुलभूषण केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले। ७½ ॥

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ॥ ८ ॥
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः।

उस राजसभामें सुन्दर रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्क रक्खा हुआ था, जिसपर भाँति-भाँतिके बिछौने बिछे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ ८½ ॥

तस्मिन् गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ॥ ९ ॥
निवेदयामास तदा गृहान् राज्यं च कौरवः।

उस समय कुरुराजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया ॥ ९½ ॥

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।

उस पर्यङ्कपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उस समय राजाओंसहित समस्त कौरव उनके पास आकर बैठ गये ॥ १०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ॥ ११ ॥
न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णको भोजनके लिये निमन्त्रित किया; परंतु केशवने उस निमन्त्रणको स्वीकार नहीं किया ॥ ११½ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १२ ॥
मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।

तब कुरुराज दुर्योधनने कर्णसे सलाह लेकर कौरवसभामें श्रीकृष्णसे पूछा। पूछते समय उसकी वाणीमें पहले तो मृदुता थी, परंतु अन्तमें शठता प्रकट होने लगी थी ॥ १२½ ॥

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ॥ १३ ॥
त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ।

(दुर्योधन बोला—) जनार्दन ! आपके लिये अन्न, जल, वस्त्र और शय्या आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्हें आपने ग्रहण क्यों नहीं किया ? ॥ १३½ ॥

उभयोश्चाददाः साह्यमुभयोश्च हिते रतः ॥ १४ ॥
सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।
त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।
तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ॥ १५ ॥

आपने तो दोनों पक्षोंको ही सहायता दी है, आप उभयपक्षके हित-साधनमें तत्पर हैं। माधव ! महाराज धृतराष्ट्रके आप प्रिय सम्बन्धी भी हैं। चक्र और गदा धारण करनेवाले गोविन्द ! आपको धर्म और अर्थका सम्पूर्णरूपसे यथार्थ ज्ञान भी है; फिर मेरा आतिथ्य ग्रहण न करनेका क्या कारण है; यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ १६ ॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर राजा दुर्योधनको सजल जलधरके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित, प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता एवं संकीर्णता आदि दोषोंसे रहित था ॥ १६-१७ ॥

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ १८ ॥

'भारत ! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ॥ १९ ॥

यह सुनकर दुर्योधनने जनार्दनसे कहा—'आपको हमलोगोंके साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये।१९।

कृतार्थं चाकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ २० ॥

'दशार्हनन्दन मधुसूदन ! आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हमलोग तो आपके सम्मानका प्रयत्न करते ही हैं; किंतु हमें सफलता नहीं मिल रही है ॥ २० ॥

न च तत् कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥

'मधुदैत्यका विनाश करनेवाले पुरुषोत्तम ! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिसके होनेसे आप हमारी प्रेमपूर्वक अर्पित की हुई पूजा ग्रहण न कर सकें ॥ २१ ॥

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥

'गोविन्द ! आपके साथ हमलोगोंका न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है। इन सब बातोंका विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर दशार्हकुलभूषण जनार्दनने मन्त्रियोंसहित दुर्योधनकी ओर देखकर हँसते हुए-से उत्तर दिया ॥ २३ ॥

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥ २४ ॥

'राजन् ! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, बहानेबाजी अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥ २५ ॥

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर । नरेश्वर ! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं ॥ २५ ॥

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान् ।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः ॥ २६ ॥

'राजन् ! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं; तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो ॥ २६ ॥

अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते ।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति ॥ २७ ॥

'बिना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है । पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है ?॥२७॥

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥ २८ ॥

'जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है । तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो ॥ २८ ॥

कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति ।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ २९ ॥

'जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है ॥ २९ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते ।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम् ॥ ३० ॥

'जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह[1] और लोभ[2]की दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३१ ॥

'जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ३१ ॥

(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत् ।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः ॥)

'जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये । द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये । राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं ॥

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम् ।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ॥ ३२ ॥

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है । अतः मेरे भोजन करने योग्य नहीं है । मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खाने योग्य है । यह मेरी निश्चित धारणा है' ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम् ।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात् ॥ ३३ ॥

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे बाहर निकले ॥ ३३ ॥

निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः ।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥

वहाँसे निकलकर महामना महाबाहु भगवान् वासुदेव ठहरनेके लिये महात्मा विदुरके भवनमें गये ॥ ३४ ॥

तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः ।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम् ॥ ३५ ॥
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम् ।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम् ॥ ३६ ॥

उस समय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाह्लीक तथा अन्य कौरवोंने भी महाबाहु श्रीकृष्णका अनुसरण किया । विदुरके घरमें ठहरे हुए यदुवंशी वीर मधुसूदनसे वे सब कौरव बोले—'वृष्णिनन्दन ! हमलोग रत्न-धनसे सम्पन्न अपने घरोंको आपकी सेवामें समर्पित करते हैं' ॥ ३५-३६ ॥

तानुवाच महातेजाः कौरवान् मधुसूदनः ।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता ॥ ३७ ॥

तब महातेजस्वी मधुसूदनने कौरवोंसे कहा—'आप सब लोग अपने घरोंको जायँ; आपके द्वारा मेरा सारा सम्मान सम्पन्न हो गया' ॥ ३७ ॥

यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम् ।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान् ॥ ३८ ॥

कौरवोंके चले जानेपर विदुरजीने कभी पराजित न होनेवाले दशार्हनन्दन श्रीकृष्णको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुएँ समर्पित करके प्रयत्नपूर्वक उनका पूजन किया ॥ ३८ ॥

---

१. जो दुष्ट नहीं है, उसे भी दुष्ट समझना मोह है ।

२. दूसरेके धनको हर लेनेकी इच्छाका नाम लोभ है ।

ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन्होंने अनेक प्रकारके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अर्पित किये ॥ ३९ ॥

तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः परमद्रविणान्यपि ॥ ४० ॥

मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको तृप्त किया; फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दिया ॥ ४० ॥

ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित भगवान् श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण किये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णदुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-दुर्योधनसंवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको उनके कौरवसभामें जानेका अनौचित्य बतलाना

वैशम्पायन उवाच

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत्।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रातमें जब भगवान् श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे, उस समय विदुरजीने उनसे कहा—'केशव ! आपने जो यहाँ आनेका विचार किया, यह मेरी समझमें अच्छा नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥

'जनार्दन ! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनोंका उल्लङ्घन कर चुका है । वह क्रोधी, दूसरोंके सम्मानको नष्ट करनेवाला और स्वयं सम्मान चाहनेवाला है । उसने बड़े-बूढ़े गुरुजनोंके आदेशको भी ठुकरा दिया है ॥ २ ॥

धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ॥ ३ ॥

'प्रभो ! मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मशास्त्रोंकी भी आज्ञा नहीं मानता; सदा अपना ही हठ रखता है । उस दुरात्माको सन्मार्गपर ले आना असम्भव है ॥ ३ ॥

कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक् सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ॥ ४ ॥

'उसका मन भोगोंमें आसक्त है, वह अपनेको पण्डित मानता, मित्रोंके साथ द्रोह करता और सबको संदेहकी दृष्टिसे देखता है । वह स्वयं तो किसीका उपकार करता ही नहीं, दूसरोंके किये हुए उपकारको भी नहीं मानता । वह धर्मको त्यागकर असत्यसे ही प्रेम करने लगा है ॥ ४ ॥

मूढश्चाकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ॥ ५ ॥

'उसमें विवेकका सर्वथा अभाव है, उसकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर नहीं रहती तथा वह अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेमें असमर्थ है । वह अपनी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाला तथा सभी कार्योंमें अनिश्चित विचार रखनेवाला है ॥५॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।
त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से दोष उसमें भरे हुए हैं । आप उसे हितकी बात बतायेंगे, तो भी वह क्रोधवश उसे स्वीकार नहीं करेगा ॥ ६ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे ।
भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ॥ ७ ॥

'वह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा जयद्रथपर अधिक भरोसा रखता है; अतः उसके मनमें संधि करनेका विचार ही नहीं होता है ॥ ७ ॥

निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन ।
भीष्मद्रोणमुखान् पार्था न शक्ताः प्रतिवीक्षितुम् । ८ ।

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा कर्णकी यह निश्चित धारणा है कि कुन्तीके पुत्र भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि वीरोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ॥ ८ ॥

सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन ।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मूर्ख एवं बुद्धिहीन दुर्योधन राजाओंकी सेना एकत्र करके अपने-आपको कृतकृत्य मानता है ॥ ९ ॥

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम् ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥ १० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनको तो इस बातका भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ है; इसलिये वह कदापि संधि नहीं करेगा ॥ १० ॥

संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव ।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् ।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १२ ॥

'केशव ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंने यह पक्का विचार कर लिया है कि हमें पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग नहीं देना चाहिये। यही उनका दृढ़ निश्चय है। इधर आप संधिके लिये प्रयत्न करते हुए उनमें उत्तम भ्रातृभाव जगाना चाहते हैं; परंतु उन दुष्टोंके प्रति आप जो कुछ भी कहेंगे, वह सब व्यर्थ ही होगा ॥ ११-१२ ॥

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन ।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ १३ ॥

'मधुसूदन ! जहाँ अच्छी और बुरी बातोंका एक-सा ही परिणाम हो, वहाँ विद्वान् पुरुषको कुछ नहीं कहना चाहिये। वहाँ कोई बात कहना बहरोंके आगे राग अलापनेके समान व्यर्थ ही है ॥ १३ ॥

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव ।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा॥ १४॥

'माधव ! जैसे चाण्डालोंके बीचमें किसी विद्वान् ब्राह्मण-का उपदेश देना उचित नहीं है, उसी प्रकार उन मर्यादारहित मूर्ख और अज्ञानियोंके समीप आपका कुछ भी कहना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १४ ॥

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः ।
तस्मिन् निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥ १५ ॥

'मूढ़ दुर्योधन सैन्यसंग्रह करके अपनेको शक्तिशाली समझता है। वह आपकी बात नहीं मानेगा। उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा ॥ १५ ॥

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम् ।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥ १६ ॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण ! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं; अतः उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है। वे सब-के-सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं। उनकी संख्या भी बहुत है। श्रीकृष्ण ! आप उनके बीचमें जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें ; यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः ।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥ १८ ॥

'दुर्योधनने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है। वह राज्यलक्ष्मीके घमण्डसे मोहित है। इसके सिवा उसे अपनी युवावस्थापर भी गर्व है और वह पाण्डवोंके प्रति सदा अमर्ष-में भरा रहता है। अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा ॥ १८ ॥

बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव ।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ॥ १९ ॥

'माधव ! दुर्योधनके पास प्रबल सैन्यबल है। इसके सिवा आपपर उसे महान् संदेह है। अतः आप यदि उससे अच्छी बात कहेंगे, तो भी वह आपकी बात नहीं मानेगा ॥ १९ ॥

नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहामरैः ।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ॥ २० ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको यह दृढ़ विश्वास है कि देवताओंसहित इन्द्र भी इस समय युद्धके द्वारा हमारी इस सेनाको परास्त नहीं कर सकते ॥ २० ॥

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु ।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ॥ २१ ॥

'जो इस प्रकार निश्चय किये बैठे हैं और काम-क्रोधके ही पीछे चलनेवाले हैं, उनके प्रति आपका युक्तियुक्त एवं सार्थक वचन भी निरर्थक एवं असफल हो जायगा ॥ २१ ॥

मध्ये तिष्ठन् हस्त्यनीकस्य मन्दो
रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः ।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः
कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ॥ २२॥

'रथियों और घुड़सवारोंसे युक्त हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़ा होकर भयसे रहित हुआ मन्दबुद्धि मूढ़ दुर्योधन यह समझता है कि यह सारी पृथ्वी मैंने जीत ली ॥ २२ ॥

आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलो नोपलभ्यो
बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ॥ २३ ॥

'धृतराष्ट्रका वह ज्येष्ठ पुत्र भूमण्डलका शत्रुरहित साम्राज्य पानेकी आशा रखता है। वह मन-ही-मन यह संकल्प भी करता है कि जूएमें प्राप्त हुआ यह धन एवं राज्य अब मेरे ही अधिकारमें आबद्ध रहे; अतः उसके प्रति केवल संधिका प्रयत्न सफल न होगा ॥ २३ ॥

पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा
दुर्योधनार्थे पाण्डवान् योद्धुकामाः।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां
राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है, अब यह पृथ्वी कालसे परिपक्व होकर नष्ट होनेवाली है; क्योंकि राजाओंके साथ भूमण्डलके समस्त क्षत्रिय योद्धा दुर्योधनके लिये पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ २४ ॥

सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्
त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण।
तवोद्वेगात् संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण! ये सब-के-सब वे ही भूपाल हैं, जिन्होंने पहले आपके साथ वैर ठाना था और जिनका सार-सर्वस्व आपने हर लिया था। ये लोग आपके भयसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी शरणमें आये हैं तथा कर्णके साथ संगठित हो वीरता दिखानेको उद्यत हुए हैं ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन
हृष्टा योद्धुं पाण्डवान् सर्वयोधाः।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं
न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ॥ २६ ॥

'ये सब योद्धा दुर्योधनके साथ मिल गये हैं और अपने प्राणोंका मोह छोड़कर हर्ष एवं उत्साहके साथ पाण्डवोंसे युद्ध करनेको तैयार हैं। दशार्हवंशी वीर! ऐसे विरोधियोंके बीचमें यदि आप जानेको उद्यत हैं तो यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता॥

तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम्।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥ २८ ॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम्॥ २९ ॥

'शत्रुसूदन! जहाँ दुष्टतापूर्ण विचार लिये बहुसंख्यक शत्रु बैठे हों, वहाँ उनके बीच आप कैसे जाना चाहते हैं? शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी सर्वथा आपके सामने टिक नहीं सकते हैं तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ; तथापि माधव! पाण्डवोंपर जो मेरा प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है। अतः प्रेम, अधिक आदर और सौहार्दसे प्रेरित होकर मैं यह बात कह रहा हूँ ॥ २७–२९ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ ३० ॥

'कमलनयन! आपके दर्शनसे आपके प्रति मेरा जो प्रेम उमड़ आया है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय? आप समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अतः स्वयं ही सब कुछ देखते और जानते हैं)' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-विदुरसंवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२

त्रिनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरव-पाण्डवोंमें संधिस्थापनके प्रयत्नका औचित्य बताना

(वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा प्रश्रितं पुरुषोत्तमः।
इदं होवाच वचनं भगवान् मधुसूदनः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरका यह प्रेम और विनयसे युक्त वचन सुनकर पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ॥ १ ॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी! एक महान् बुद्धिमान्

पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृद्से जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है ॥ १-२ ॥

सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥ ३ ॥

आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है । तथापि विदुरजी ! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन्क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥ ४ ॥

विदुरजी ! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैर-भाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ ॥ ४ ॥

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् । ५ ।

अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है । जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६ ॥

मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है । इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन् ।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ ७ ॥

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया ।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम् ॥ ८ ॥

अतः विदुरजी ! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता ।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ ९ ॥

यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरव-पक्षमें ही हुआ है ॥ ९ ॥

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते ।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥ १० ॥

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं ॥ १० ॥

आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन् ।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् । ११ ।

जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ॥ ११ ॥

तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ॥ १२ ॥

अतः विदुरजी ! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये ॥ १२ ॥

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया ॥ १३ ॥

मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा ॥ १३ ॥

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि ।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ॥ १४ ॥

इस प्रकार हितसाधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शङ्का करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा ॥

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं ॥ १५ ॥

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) ॥ १६ ॥

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥ १७ ॥

मैं दोनों पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूरा प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा ॥ १७ ॥

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ १८ ॥

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा ॥ १८ ॥

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ १९ ॥

महात्मन्! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे ॥ १९ ॥

अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ २० ॥

मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्तिस्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे ॥ २० ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ २१ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो ये समस्त राजा लोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा ।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन एवं शकुनिके द्वारा बुलाये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णका रथपर बैठकर प्रस्थान एवं कौरवसभामें प्रवेश और स्वागतके पश्चात् आसनग्रहण

वैशम्पायन उवाच

तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा ।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा विदुरके इस प्रकार वार्तालाप करते हुए ही वह नक्षत्रोंसे सुशोभित मङ्गलमयी रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो चुकी थी ॥ १ ॥

धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः ।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ॥ २ ॥
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्यामिततेजसः ।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण धर्म, अर्थ और कामके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें कहते रहे। उनकी वाणीके पद, अर्थ और अक्षर बड़े विचित्र थे; अतः महात्मा विदुर भगवान्‌की कही हुई उन विविध वार्ताओंको प्रसन्नतापूर्वक सुनते रहे। इस प्रकार अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण और विदुर दोनों ही एक दूसरेकी मनोनुकूल कथावार्तामें इतने तन्मय थे कि बिना इच्छाके ही उनकी वह रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो गयी थी ॥ २-३ ॥

ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर मधुर स्वरसे युक्त बहुत-से सूत और मागध शङ्ख और दुन्दुभियोंके घोषसे भगवान् श्रीकृष्णको जगाने लगे ॥ ४ ॥

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम् ।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ॥ ५ ॥

तब समस्त यदुवंशियोंके शिरोमणि दशार्हनन्दन श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर प्रातःकालका समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ॥ ५ ॥

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥ ६ ॥

संध्या-तर्पण और जप करके अग्निहोत्र करनेके पश्चात् माधवने अलंकृत होकर उदयकालमें सूर्यका उपस्थान किया ॥ ६ ॥

अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
संध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ७ ॥
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥ ८ ॥
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
तावभ्यनन्दद् गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥

इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी संध्योपासनामें लगे हुए अपराजित वीर दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—'गोविन्द ! महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं। भीष्म आदि कौरव तथा अन्य समस्त भूपाल भी वहाँ उपस्थित हैं। जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रका आवाहन करते हैं, इसी प्रकार भीष्म आदि सब लोग आपसे वहाँ दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनद्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ ७–९ ॥

ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।
ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ॥ १० ॥
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर निर्मल सूर्यदेवका उदय हो जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् जनार्दनने ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र, गौ तथा घोड़े दान किये। अनेक प्रकारके रत्नोंका दान करके खड़े हुए उन अपराजित दाशार्ह वीरके पास जाकर सारथिने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १०-११ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥ १२ ॥

इसके बाद क्षुद्र घण्टिकाओंसे विभूषित और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए चमकीले विशाल रथके साथ दारुक शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

(तस्मै रथवरो युक्तः शुशुभे लोकविश्रुतः ।
वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ॥

भगवान्‌के लिये जोतकर खड़ा किया हुआ वह विश्वविख्यात श्रेष्ठ रथ बड़ी शोभा पा रहा था। उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे ॥

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवः किंशुकप्रभः ।
मेघपुष्पो मेघवर्णः पाण्डुरस्तु बलाहकः ॥

उनमेंसे शैब्यका रङ्ग तोतेकी पाँखके समान हरा था। सुग्रीव पलासके फूलकी भाँति लाल था। मेघपुष्पकी कान्ति मेघोंके ही समान थी और बलाहक सफेद था ॥

दक्षिणं चावहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽवहत् ।
पृष्ठवाहौ तयोरास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ॥

शैब्य दाहिने भागमें जुतकर उस रथका वहन करता था और सुग्रीव बाँयें भागमें। मेघपुष्प और बलाहक क्रमशः इनके पीछे जुते हुए थे ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभाकरमिव स्पृशन् ।
तस्य सत्त्ववतः केतौ भुजगारिरशोभत ॥

सत्त्वगुणके अधिष्ठानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके रथमें लगे हुए ध्वजदण्डकी उस पताकामें सूर्यका स्पर्श करते हुए-से सर्पशत्रु विनतानन्दन गरुड विराज रहे थे ॥

तस्य कीर्तिमतस्तेन भास्वरेण विराजता ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठः पतगेन्द्रेण केतुना ॥

कीर्तिमान् श्रीकृष्णका वह श्रेष्ठ रथ उस उज्ज्वल एवं प्रकाशमान गरुडध्वजके द्वारा बड़ी शोभा पा रहा था ॥

रुक्मजालैः पताकाभिः सौवर्णेन च केतुना ।
बभूव स रथश्रेष्ठः कालसूर्य इवोदितः ॥

सोनेकी जालियों, पताकाओं तथा सुवर्णमय ध्वजके द्वारा भगवान्‌का वह उत्तम रथ प्रलयकालमें उदित हुए सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था ॥

पक्षिध्वजवितानैश्च रुक्मजालकृतान्तरैः ।
दण्डमार्गविभागैश्च सुकृतैर्विश्वकर्मणा ॥
प्रवालमणिहेमैश्च मुक्तावैदूर्यभूषणैः ।
किङ्किणीशतसङ्घैश्च बालजालकृतान्तरैः ॥
कार्तस्वरमयीभिश्च पद्मिनीभिरलंकृतः ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठस्तापनीयैश्च पादपैः ॥
व्याघ्रसिंहवराहैश्च गोवृषैर्मृगपक्षिभिः ।
ताराभिर्भास्करैश्चापि वारणैश्च हिरण्मयैः ॥
वज्राङ्कुशविमानैश्च कूबरावृत्तसंधिषु ।)

उस रथके गरुडध्वज, चँदोवे, स्वर्णजालविभूषित मध्यभाग तथा पृथक्-पृथक् दण्डमार्गोंका विश्वकर्माने सुन्दर ढंगसे निर्माण किया था। प्रवाल (मूँगा), मणि, सुवर्ण, वैदूर्य, मुक्ता आदि विविध आभूषणों, शत-शत क्षुद्रघण्टिकाओं तथा बालमणिकी झालरोंसे उस रथके अन्तःप्रदेश सुसज्जित किये गये थे। सुवर्णमय कमलिनियों, तपाये हुए सुवर्णके ही वृक्षों तथा व्याघ्र, सिंह, वराह, वृषभ, मृग, पक्षी, तारा, सूर्य और हाथियोंकी स्वर्णमयी प्रतिमाओंसे उस

श्रेष्ठ रथकी अत्यन्त शोभा हो रही थी। कूवर (युगंधर) की गोलाकार संधियोंमें वज्र, अङ्कुश तथा विमानकी आकृतियों-से उस रथको विभूषित किया गया था॥

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम्॥ १३॥
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन्॥ १४॥
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभिरक्षितः।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः॥ १५॥

महान् सजल मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हुए उस दिव्य रथको उपस्थित जान अग्नि एवं ब्राह्मणोंको दाहिने करके, गलेमें कौस्तुभमणि डालकर, अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए, कौरवोंसे घिरकर एवं वृष्णिवंशी वीरोंसे सुरक्षित हो समस्त यादवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूर-नन्दन जनार्दन श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हुए॥१३-१५॥

अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित्।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम्॥ १६॥

समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण बुद्धिमानोंमें उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पश्चात् समस्त धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी भी उस रथपर जा बैठे॥ १६॥

ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम्॥ १७॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी दूसरे रथपर बैठकर चले॥ १७॥

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि॥ १८॥

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंशके दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये॥ १८॥

तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन् विरेजिरे॥ १९॥

राजन्! उन सबके जाते समय सोनेके आभूषणोंसे विभूषित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए एवं गम्भीर घोषयुक्त उनके विचित्र रथ बड़ी शोभा पा रहे थे॥ १९॥

सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम्।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन्॥२०॥

अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उस विशाल राजपथपर जा पहुँचे, जिसपर पूर्वकालके राजर्षि यात्रा करते थे। वहाँकी धूल झाड़ दी गयी थी और सर्वत्र जलसे छिड़काव किया गया था॥२०॥

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः।
शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च॥ २१॥

भगवान् श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर ढोल, शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे बाजे एक साथ बज उठे॥ २१॥

प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परंतपाः॥ २२॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले, सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण जगत्के प्रख्यात तरुण वीर भगवान् श्रीकृष्णके रथ-को घेरकर चलते थे॥ २२॥

ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्यासन् पुरःसराः॥ २३॥

श्रीकृष्णके आगे चलनेवाले सैनिकोंकी संख्या कई सहस्र थी। उन सबने विचित्र एवं अद्भुत वस्त्र धारण कर रक्खे थे। उनके हाथोंमें खड्ग और प्रास आदि आयुध शोभा पाते थे॥ २३॥

गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चासन् सहस्रशः।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम्॥ २४॥

किसीसे पराजित न होनेवाले दशार्हवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे उस यात्राके समय पाँच सौ हाथी और सहस्रों रथ जा रहे थे॥ २४॥

पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम्।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिंदम॥ २५॥
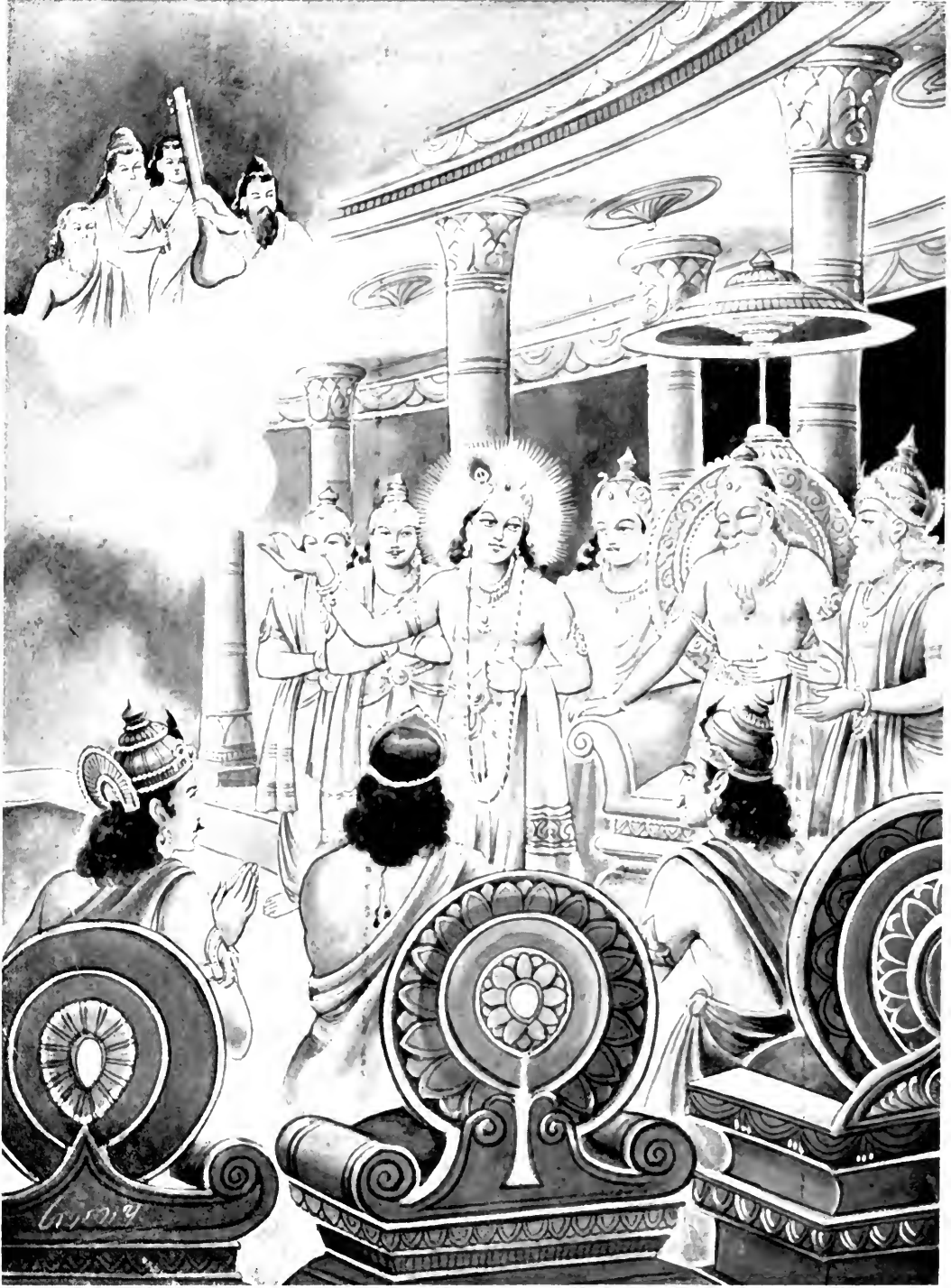
श्रीकृष्णका कौरव-सभामें प्रवेश

'शत्रुदमन जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंसहित कौरवोंका सारा नगर सड़कपर आ गया था ॥ २५ ॥

वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः ।
प्रचलन्तीव भारेण योषाद्भिर्भवनान्युत ॥ २६ ॥

छतोंके सड़ककी ओरवाले भागपर बैठी हुई झुंड-की-झुंड स्त्रियोंके भारसे मानो हस्तिनापुरके वे सारे भवन कम्पित-से हो रहे थे ॥ २६ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः संशृण्वन् मधुराः कथाः ।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन् प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंसे सम्मानित होते हुए, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए और यथायोग्य उनका भी सत्कार करते हुए धीरे-धीरे सबकी ओर देखते जा रहे थे ॥ २७ ॥

ततः सभां समासाद्य केशवस्यानुयायिनः ।
सशङ्खवेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ २८ ॥

कौरवसभाके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णके अनुगामी सेवकोंने शङ्ख और वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ॥ २८ ॥

ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम् ।
सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी राजाओंकी वह सारी सभा भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी आकाङ्क्षाके कारण हर्षोल्लास-से चञ्चल हो उठी ॥ २९ ॥

ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन् नराधिपाः ।
श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३० ॥
आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।
अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ ३१ ॥
नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णके निकट आनेपर उनके रथका मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष सुनकर सभी नरेश रोमाञ्चित हो उठे। सभाके द्वारपर पहुँचकर सर्वयादवशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण-ने कैलासशिखरके समान समुज्ज्वल रथसे नीचे उतरकर नूतन मेघके समान श्याम तथा तेजसे प्रज्वलित-सी होनेवाली इन्द्रभवनतुल्य उस कौरवसभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ३०–३२ ॥

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः ।
ज्योतींष्यादित्यवद् राजन् कुरून् प्राच्छादयञ्छ्रिया ॥

राजन् ! जैसे सूर्य अपनी प्रभासे आकाशके तारोंको तिरोहित कर देते हैं, उसी प्रकार महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य कान्तिसे कौरवोंको आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़े सभामें आये ॥ ३३ ॥

अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।
वृष्णयः कृतवर्मा चाप्यासन् कृष्णस्य पृष्ठतः ॥ ३४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके आगे आगे कर्ण और दुर्योधन थे और उनके पीछे कृतवर्मा तथा अन्य वृष्णिवंशी वीर थे ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः ।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ३५ ॥

उस समय भीष्म और द्रोणाचार्य आदि सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्रको आगे करके अपने आसनोंसे उठकर आगे बढ़े ॥ ३५ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ ३६ ॥

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ ही उठ गये थे ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे ।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ ३७ ॥

महाराज धृतराष्ट्रके उठनेपर वहाँ चारों ओर बैठे हुए सहस्रों नरेश उठकर खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये

सुवर्णभूषित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रक्खा गया था ॥ ३८ ॥

स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चान्यान् यथावयः ॥ ३९ ॥

उस समय धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अवस्थाके अनुसार अन्य राजाओंसे भी वार्तालाप किया ॥ ३९ ॥

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम् ।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ॥ ४० ॥

वहाँ सभामें पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका भूमण्डलके राजाओं तथा सभी कौरवोंने भलीभाँति पूजन किया ॥ ४० ॥

तत्र तिष्ठन् स दाशार्हो राजमध्ये परंतपः ।
अपश्यदन्तरिक्षस्थानृषीन् परपुरंजयः ॥
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ॥ ४१ ॥
अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः ।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥ ४२ ॥

राजाओंके बीचमें खड़े हुए शत्रुनगरविजयी परंतप श्रीकृष्णने देखा कि आकाशमें कुछ ऋषि-मुनि खड़े हैं। उन नारद आदि महर्षियोंको देखकर श्रीकृष्णने धीरे-से शान्तनुनन्दन भीष्मसे कहा—'नरेश्वर ! इस राज्यसभाको देखनेके लिये ऋषिगण पधारे हैं ॥ ४१–४२ ॥

निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥ ४३ ॥

'इन्हें अत्यन्त सत्कारपूर्वक आसन देकर निमन्त्रित किया जाय, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ऋषीञ्छान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान् ॥ ४४ ॥
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत् ।

'पवित्र अन्तःकरणवाले इन मुनियोंकी शीघ्र पूजा की जानी चाहिये।' शान्तनुनन्दन भीष्मने मुनियोंको देखकर सभाद्वारपर स्थित हुए राजकर्मचारियोंको बड़ी उतावलीके साथ आज्ञा दी—'अरे ! आसन लाओ' ॥ ४४½ ॥

आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च ॥ ४५ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः ।

तब सेवकोंने इधर-उधरसे मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए शुद्ध, विशाल एवं विस्तृत आसन लाकर रख दिये ॥ ४५½ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत ॥ ४६ ॥
निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ।

भारत ! अर्घ्य ग्रहण करके जब ऋषिलोग उन आसनोंपर बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओंने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया ॥ ४६½ ॥

दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे ।

दुःशासनने सात्यकिको उत्तम आसन दिया एवं विविंशतिने कृतवर्माको स्वर्णमय आसन प्रदान किया ॥ ४७½ ॥

अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ॥ ४८ ॥
एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ।

अमर्षमें भरे हुए महामना कर्ण और दुर्योधन दोनों एक आसनपर श्रीकृष्णके पास ही बैठे थे ॥ ४८½ ॥

गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः ॥ ४९ ॥
निषसादासने राजा सहपुत्रो विशाम्पते ।

जनमेजय ! गान्धारदेशीय सैनिकोंसे सुरक्षित पुत्रसहित गान्धारराज शकुनि भी एक आसनपर बैठा था ॥ ४९½ ॥

विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे ॥ ५० ॥
संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ।

परम बुद्धिमान् विदुर भगवान् श्रीकृष्णके आसनका स्पर्श करते हुए एक मणिमय चौकीपर, जिसके ऊपर श्वेत रङ्गका स्पृहणीय मृगचर्म बिछाया गया था, बैठे थे ॥ ५०½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते ॥ ५१ ॥
अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।

सब राजा दीर्घकालके पश्चात् दशार्हकुलभूषण भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हींकी ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, मानो अमृत पी रहे हों। इस प्रकार उन्हें तृप्ति ही नहीं होती थी ॥ ५१½ ॥

अतसीपुष्पसंकाशः पीतवासा जनार्दनः ॥ ५२ ॥
व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ॥ ५३ ॥

अलसीके फूलकी भाँति मनोहर श्याम कान्तिवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण उस सभाके मध्यभागमें स्वर्णपात्रमें रक्खी हुई नीलमणिके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगतमानसम् ।
न तत्र कश्चित् किंचिद् वा व्याजहार पुमान् क्वचित् ॥

उस समय वहाँ सबका मन भगवान् गोविन्दमें ही लगा हुआ था। अतः सभी चुपचाप बैठे थे। कोई मनुष्य कहीं कुछ भी बोल नहीं रहा था ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका सभामें प्रवेशविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसभामें श्रीकृष्णका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥ १ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब सुन्दर दन्तावलिसे सुशोभित तथा दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरवाले यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने बोलना आरम्भ किया। जैसे ग्रीष्मऋतुके अन्तमें बादल गर्जता है, उसी प्रकार उन्होंने गम्भीर गर्जनाके साथ सारी सभाको सुनाते हुए धृतराष्ट्रकी ओर देखकर इस प्रकार कहा ॥ १–२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय। ३।

राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम ॥ ४ ॥

शत्रुदमन नरेश! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं ॥ ४ ॥

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ५ ॥

भूपाल! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्रएवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है। यह कौरवकुल समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते॥ ६ ॥

भारत! कुरुवंशियोंमें कृपा[1], अनुकम्पा[2], करुणा[3], अनृशंसता[4], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ७ ॥

राजन्! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो वह ठीक नहीं है॥ ७ ॥

त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ॥ ८ ॥

तात कुरुश्रेष्ठ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्तरूपसे) मिथ्या आचरण (असद्व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं॥ ८ ॥

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं ॥ ९ ॥

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पुरुषरत्न! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टतापूर्ण बर्ताव करते हैं। लोभने इनके हृदयको ऐसा वशीभूत

---

१. दूसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम 'कृपा' है। २. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना 'अनुकम्पा' कहलाता है। ३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव 'करुणा' है। ४. क्रूरताका सर्वथा अभाव 'अनृशंसता' कहलाता है।

कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं ॥ १० ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलका विध्वस कर डालेगी ॥ ११ ॥

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भारत ! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ ॥ १२ ॥

त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान्॥ १३ ॥

प्रजापालक कौरवनरेश ! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रक्खूँगा॥ १३॥

आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ॥ १४॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है ॥ १४ ॥

तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम्।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ॥१५॥

राजन् ! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवोंका भी भला हो सकता है ॥ १५ ॥

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर ! ऐसा करनेसे भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे ॥ १६ ॥

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥ १७ ॥

राजन् ! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये। नरेन्द्र ! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते ॥ १७ ॥

न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ॥ १८ ॥

महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओंसहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, फिर दूसरे किसी राजाकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १९ ॥
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥ २० ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः।
को नु तान् विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है ?॥१९-२१॥

लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्।
प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे ॥ २२ ॥

तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल ! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे ॥ २३ ॥

स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम्॥ २४॥

इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे ॥ २४ ॥

एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते॥ २५ ॥

पृथ्वीपते ! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रक्खें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २५ ॥

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ॥ २६ ॥

भारत ! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रह-

कर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आपके सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि होगी ॥ २६ ॥

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ॥ २७ ॥

शत्रुसंतापी नरेश ! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों) से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ॥ २७ ॥

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥ २८ ॥

महाराज ! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन् ! इस प्रकार दोनों पक्षका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म देखते हैं ? ॥ २८ ॥

पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः।
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा ? यह बताइये ॥ २९ ॥

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥ ३० ॥

पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारङ्गत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे।
क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ॥ ३१ ॥

युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे ॥ ३१ ॥

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे ॥ ३२ ॥

त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश ! आप इस जगत्की रक्षा कीजिये; जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे ॥ ३३ ॥

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥

राजन् ! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३४ ॥

शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौटें ॥ ३५ ॥

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण ! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों ॥ ३६ ॥

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये ॥ ३७ ॥

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतर्षभ ! पाण्डव बाल्यावस्थामें ही पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये ॥ ३८ ॥

भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतभूषण ! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवों-से वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ ॥ ३९ ॥

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥ ४० ॥

राजन् ! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—'तात ! आपकी आज्ञासे अनुचरों-सहित हमने भारी दुःख सहन किया है ॥ ४० ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ ४१ ॥

बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है ॥ ४१ ॥

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥ ४२ ॥

'तात ! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं, अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)— ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं ॥ ४२ ॥

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ ४३ ॥

'भरतवंशशिरोमणे ! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहें । राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ्नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥ ४४ ॥
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

'आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । आपमें गुरुत्व देखकर— आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये ॥ ४४½ ॥

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ ४५ ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।

'भारत ! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं । आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये ॥ ४५½ ॥

पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥ ४६ ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

'हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्गमें स्थापित करें । इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्गपर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये' ॥ ४६½ ॥

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है— 'आप समस्त सभासद्गण धर्मके ज्ञाता हैं । आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है ॥ ४७½ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ ४८ ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

'जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं ॥ ४८½ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥ ५० ॥

'जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही विद्ध होते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है) । जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है' ॥ ४९-५० ॥

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसमें राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ ५१ ॥

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥ ५२ ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

जनेश्वर ! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है । इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं, वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं । पुरुषरत्न ! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये ॥ ५२-५३ ॥

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥ ५४ ॥
ततः सुपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

भरतश्रेष्ठ ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये । परंतप ! पाण्डवोंको यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवाञ्छित भोग भोगिये ॥ ५४½ ॥

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥ ५५ ॥
सुपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं । उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं ॥ ५५-५६ ॥

इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ।
स तत्र निवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान्॥ ५७ ॥
त्वन्मुखानकरोत् राजन् न च त्वामत्यवर्तत ।

पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकाल कर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया । वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया । राजन् ! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया ॥ ५७½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥ ५८ ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।

ऐसे साधु बर्ताववाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके बहाने अपना महान् कपटजाल फैलाया ॥ ५८½ ॥

स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम्॥ ५९॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ।

उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णा-को सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए ॥ ५९½ ॥

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥ ६० ॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥ ६१ ॥

भारत ! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ । राजन् ! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वञ्चित न कीजिये । इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं ॥ ६०-६१ ॥

लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ॥
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥ ६२ ॥

प्रजानाथ ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें काबूमें लाइये । राजन् ! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवाके लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं । परंतप ! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् ।
न तत्र कश्चिद् वक्तुं हि वाचं प्राकामदग्रतः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया । वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कौरवसभामें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

परशुरामजीका दम्भोद्भवकी कथाद्वारा नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णका महत्त्व वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना ।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर सम्पूर्ण सभासद् चकित हो गये । उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान् ।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ॥ २ ॥

वे सब भूपाल मन-ही-मन यह सोचने लगे कि भगवान्‌के इन वचनोंका उत्तर कोई भी मनुष्य नहीं दे सकता है ॥ २ ॥

तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंके मौन हो रह जानेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने कौरवसभामें इस प्रकार कहा—॥

इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः ।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे॥ ४ ॥

राजन् ! तुम निःशङ्क होकर मेरी यह उदाहरणयुक्त बात सुनो । सुनकर यदि इसे कल्याणकारी और उत्तम समझो तो स्वीकार करो ॥ ४ ॥

राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराभवत्।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम्॥ ५ ॥

'पूर्वकालकी बात है, दम्भोद्भव नामसे प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट् इस सम्पूर्ण अखण्ड भूमण्डलका राज्य भोगते थे; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ५ ॥

स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान्।
ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः ॥ ६ ॥

'वे महारथी और पराक्रमी नरेश प्रतिदिन रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे इस प्रकार पूछा करते थे— ॥ ६ ॥

अस्ति कश्चिद् विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद् युधि।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वापि शस्त्रभृत्॥ ७ ॥

'क्या इस जगत्में कोई ऐसा शस्त्रधारी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण है, जो युद्धमें मुझसे बढ़कर अथवा मेरे समान भी हो सके ?' ॥ ७ ॥

इति ब्रुवन्नन्वचरत् स राजा पृथिवीमिमाम्।
दर्पेण महता मत्तः कंचिदन्यमचिन्तयन् ॥ ८ ॥

'इसी प्रकार पूछते हुए वे राजा दम्भोद्भव महान् गर्वसे उन्मत्त हो दूसरे किसीको कुछ भी न समझते हुए इस पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'उस समय सर्वथा निर्भय, उदार एवं विद्वान् ब्राह्मणोंने बारंबार आत्मप्रशंसा करनेवाले उन नरेशको मना किया ॥

निषिध्यमानोऽप्यसकृत् पृच्छत्येव स वै द्विजान्।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा ॥ १० ॥
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः ॥ ११ ॥

उनके मना करनेपर भी वे ब्राह्मणोंसे बार-बार प्रश्न करते ही रहे। उनका अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे धन-वैभवके मदसे मतवाले हो गये थे। राजाको यही (बारंबार) प्रश्न दुहराते देख वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार करनेवाले महामना तपस्वी ब्राह्मण क्रोधसे तमतमा उठे और उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १०-११ ॥

अनेकजयिनौ संख्ये यौ वै पुरुषसत्तमौ।
तयोस्त्वं न समो राजन् भवितासि कदाचन ॥ १२ ॥

'राजन्! दो ऐसे पुरुषरत्न हैं, जिन्होंने युद्धमें अनेक योद्धाओंपर विजय पायी है। तुम भी उनके समान न हो सकोगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान् द्विजान्।
क्व तौ वीरौ क्व जन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ॥ १३ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर राजाने पुनः उन ब्राह्मणोंसे पूछा—'वे दोनों वीर कहाँ हैं ? उनका जन्म किस स्थानमें हुआ है ? उनके कर्म कौन-कौन-से हैं और उनके नाम क्या हैं ?' ॥ १३ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम्।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युध्यस्व पार्थिव ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोले—भूपाल! हमने सुना है कि वे नर-नारायण नामवाले तपस्वी हैं और इस समय मनुष्यलोकमें आये हैं। तुम उन्हीं दोनोंके साथ युद्ध करो ॥ १४ ॥

श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्येते गन्धमादने ॥ १५ ॥

सुना है, वे दोनों महात्मा नर और नारायण गन्धमादन पर्वतपर ऐसी घोर तपस्या कर रहे हैं, जिसका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम्।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद् यत्र तावपराजितौ ॥ १६ ॥

राजाको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने (रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, शकट और ऊँट—इन) छः अङ्गोंसे युक्त विशाल सेनाको सुसज्जित करके उस स्थानकी यात्रा की, जहाँ कभी पराजित न होनेवाले वे दोनों महात्मा विद्यमान थे ॥ १६ ॥

स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम्।
मार्गमाणोऽन्वगच्छत् तौ तापसौ वनमाश्रितौ॥ १७ ॥

राजा उनकी खोज करते हुए दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतपर गये और वनमें स्थित उन तपस्वी महात्माओंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसंततौ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ॥ १८ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न भूख-प्याससे दुर्बल हो गये थे। उनके सारे अङ्गोंमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। वे सर्दी-गर्मी और हवाका कष्ट सहते-सहते अत्यन्त कृशकाय हो रहे थे ॥ १८ ॥

अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ॥ १९ ॥
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवान्वकीर्तयत् ॥ २० ॥

निकट जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करके दम्भोद्भवने उन दोनोंका कुशल-समाचार पूछा। तब नर और नारायणने राजाका स्वागत-सत्कार करके आसन, जल और फल-मूल देकर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। तदनन्तर पूछा कि हम आपकी क्या सेवा करें ? यह सुनकर उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त पुनः अक्षरशः सुना दिया ॥ १९-२० ॥

बाहुभ्यां मे जिता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः।
भवद्भ्यां युद्धमाकाङ्क्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ॥ २१ ॥
आतिथ्यं दीयतामेतत् काङ्क्षितं मे चिरं प्रति।

और कहा—'मैंने अपने बाहुबलसे सारी पृथ्वीको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डाला है। अब आप दोनोंसे युद्ध करनेकी इच्छा लेकर इस पर्वतपर आया हूँ। यही मेरा चिरकालसे अभिलषित मनोरथ है। आप अतिथि-सत्कारके रूपमें इसे ही पूर्ण कर दीजिये ॥ २१½ ॥

नरनारायणावूचतुः

अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ॥ २२ ॥
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः।
अन्यत्र युद्धमाकाङ्क्ष बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ॥ २३ ॥

नर-नारायण बोले—नृपश्रेष्ठ ! हमारा यह आश्रम क्रोध और लोभसे रहित है। इस आश्रममें कभी युद्ध नहीं होता, फिर अस्त्र-शस्त्र और कुटिल मनोवृत्तिका मनुष्य यहाँ कैसे रह सकता है ? इस पृथ्वीपर बहुत-से क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर युद्धकी अभिलाषा पूर्ण कीजिये ॥ २२-२३ ॥

राम उवाच

उच्यमानस्तथापि स भूय एवाभ्यभाषत।
पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ॥ २४ ॥
दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ।

परशुरामजी कहते हैं—भारत ! उन दोनों महात्माओंने बारंबार ऐसा कहकर राजासे क्षमा माँगी और उन्हें विविध प्रकारसे सान्त्वना दी। तथापि दम्भोद्भव युद्धकी इच्छासे उन दोनों तापसोंको कहते और ललकारते ही रहे ॥ २४½ ॥

ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ॥ २५ ॥
अब्रवीदेहि युद्ध्यस्व युद्धकामुक क्षत्रिय।
सर्वशस्त्राणि चादत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ॥ २६ ॥
(संनह्यस्व च वर्माणि यानि चान्यानि सन्ति ते)
अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम्।
(यदाह्वयसि दर्पेण ब्राह्मणप्रमुखाञ्जनान् ॥)

भरतनन्दन ! तब महात्मा नरने हाथमें एक मुट्ठी सींक लेकर कहा—'युद्ध चाहनेवाले क्षत्रिय ! आ, युद्ध कर। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र ले ले। सारी सेनाको तैयार कर ले, कवच बाँध ले, तेरे पास और भी जितने साधन हों, उन सबसे सम्पन्न हो जा। तू बड़े घमंडमें आकर ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंको ललकारता फिरता है; इसलिये मैं आजसे तेरे युद्धविषयक निश्चयको दूर किये देता हूँ' ॥

दम्भोद्भव उवाच

यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ॥ २७ ॥
एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः।

दम्भोद्भवने कहा—तापस ! यदि आप यही अस्त्र हमारे लिये उपयुक्त मानते हैं तो मैं इसके होनेपर भी आपके साथ युद्ध अवश्य करूँगा; क्योंकि मैं युद्धके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ २७½ ॥

राम उवाच

इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ॥ २८ ॥
दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।

परशुरामजी कहते हैं—ऐसा कहकर सैनिकोंसहित दम्भोद्भवने तपस्वी नरको मार डालनेकी इच्छासे सब ओरसे उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २८½ ॥

तस्य तानस्यतो घोरानिषून् परतनुच्छिदः ॥ २९ ॥
कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

उनके भयंकर बाण शत्रुके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले थे; परंतु मुनिने उन बाणोंका प्रहार करनेवाले दम्भोद्भवकी कोई परवा न करके सींकोंसे ही उनको बींध डाला ॥ २९½ ॥

ततोऽस्मै प्रासृजद् घोरमैषीकमपराजितः ॥ ३० ॥
अस्त्रमप्रतिसंधेयं तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि नरने उनके ऊपर भयंकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया; जिसका निवारण करना असम्भव था । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ॥ ३१ ॥
निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

इस प्रकार लक्ष्यवेध करनेवाले नर मुनिने मायाद्वारा सींकके बाणोंसे ही दम्भोद्भवके सैनिकोंकी आँखों, कानों और नासिकाओंको बींध डाला ॥ ३१½ ॥

स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ॥ ३२ ॥
पादयोर्न्यपतद् राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

राजा दम्भोद्भव सींकोंसे भरे हुए समूचे आकाशको श्वेतवर्ण हुआ देखकर मुनिके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'भगवन् ! मेरा कल्याण हो' ॥ ३२½ ॥

तमब्रवीन्नरो राजञ्शरण्यः शरणैषिणाम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।

'राजन् ! शरण चाहनेवालोंको शरण देनेवाले भगवान् नरने उनसे कहा—'आजसे तुम ब्राह्मणहितैषी और धर्मात्मा बनो । फिर कभी ऐसा साहस न करना ॥ ३३½ ॥

नैतादृक् पुरुषो राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
मनसा नृपशार्दूल भवेत् परपुरंजयः ।

'नरेश्वर ! नृपश्रेष्ठ ! शत्रुनगरविजयी वीर पुरुष क्षत्रियधर्मको स्मरण रखते हुए कभी मनसे भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि तुमने किया है ॥ ३४½ ॥

मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथंचन ॥ ३५ ॥
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत् ते राजन् समाहितम् ।

'राजन् ! आजसे फिर कभी घमंडमें आकर अपनेसे बड़े या छोटे किन्हीं राजाओंपर किसी प्रकार भी आक्षेप न करना । इस बातके लिये मैंने तुम्हें सावधान कर दिया ॥

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहंकार आत्मवान् ॥ ३६ ॥
दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्यः प्रजाः पालय पार्थिव ।
मा स्म भूयः क्षिपेः कंचिदविदित्वा बलाबलम् ॥ ३७ ॥

'भूपाल ! तुम विनीतबुद्धि, लोभशून्य, अहंकाररहित, मनस्वी, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, कोमलस्वभाव और सौम्य होकर प्रजाका पालन करो । फिर कभी दूसरोंके बलाबलको जाने बिना किसीपर आक्षेप न करना ॥ ३६-३७ ॥

अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हारा कल्याण हो, जाओ । फिर ऐसा बर्ताव न करना । विशेषतः हम दोनोंके कहनेसे तुम ब्राह्मणोंसे उनका कुशल-समाचार पूछते रहना' ॥ ३८ ॥

ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाचरद् भृशम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा दम्भोद्भव उन दोनों महात्माओंके चरणोंमें प्रणाम करके अपनी राजधानीमें लौट आये और विशेषरूपसे धर्मका आचरण करने लगे ॥ ३९ ॥

सुमहच्चापि तत् कर्म तन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा नरने वह महान् कर्म किया था । उनसे भी बहुत गुणोंके कारण भगवान् नारायण श्रेष्ठ हैं ॥ ४० ॥

तस्माद् यावद् धनुःश्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत् त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन् धनंजयम् ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! जबतक श्रेष्ठ धनुष गाण्डीवपर (दिव्य) अस्त्रोंका संधान नहीं किया जाता, तबतक ही तुम अभिमान छोड़कर अर्जुनसे मिल जाओ ॥ ४१ ॥

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा ।
संतानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ॥ ४२ ॥

काकुदीक (प्रस्वापन), शुक (मोहन), नाक (उन्मादन), अक्षिसंतर्जन (त्रासन), संतान (दैवत), नर्तक (पैशाच), घोर (राक्षस) और आस्यमोदक (याम्य)*— ये आठ प्रकारके अस्त्र हैं ॥ ४२ ॥

---

* जिस अस्त्रसे अभिभूत होकर योद्धा रथ और हाथी आदिके ककुद् (पृष्ठभाग) पर ही सोते रह जाते हैं, उसका नाम काकुदीक एवं प्रस्वापन है । जैसे शुक पानीके ऊपर रक्खी हुई बाँसकी नलिकाको पकड़कर भयसे चिल्लाता रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भयके ही भय देखकर घोड़े और रथ आदिके पाँवोंसे चिपट जाते हैं; उस अस्त्रका नाम शुक अथवा

एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ॥ ४३ ॥
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेव उदाहृताः।

इन अस्त्रोंसे विद्ध होनेपर सभी मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य और अहंकार—ये क्रमशः आठ दोष बताये गये हैं, जिनके प्रतीक-स्वरूप उपर्युक्त आठ अस्त्र हैं ॥ ४३½ ॥

उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ ४४ ॥
स्वपन्ति च प्लवन्ते च छर्दयन्ति च मानवाः।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ४५ ॥

इन अस्त्रोंके प्रयोगसे कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं। कितनोंको सुध-बुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। कई मनुष्य सोने लगते हैं। कुछ उछलते-कूदते और छींकते हैं। कितने ही मल-मूत्र करने लग जाते हैं और कुछ लोग निरंतर रोते-हँसते रहते हैं ॥ ४४-४५ ॥

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित्।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ॥ ४६ ॥

राजन्! सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले ईश्वर एवं सब कर्मोंके ज्ञाता नारायण जिनके बन्धु (सहायक) हैं, वे नरस्वरूप अर्जुन युद्धमें दुःसह हैं (क्योंकि उन्हें उपर्युक्त सभी अस्त्रोंका अच्छा ज्ञान है) ॥ ४६ ॥

कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि॥ ४७॥

भारत! युद्धभूमिमें जिनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता, उन विजयशील वीर कपिध्वज अर्जुनको जीतनेका साहस तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है? ॥ ४७ ॥

असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ४८ ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥ ४९ ॥

महाराज! अर्जुनमें असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुनको अच्छी तरह जानते हो। जो दोनों महात्मा नर और नारायणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं ॥ ४८-४९ ॥

यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः॥ ५० ॥

भारत! यदि तुम इस बातको इस रूपमें जानते हो और मुझपर तुम्हें तनिक भी संदेह नहीं है तो मेरे कहनेसे श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥

अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हमलोगोंमें फूट न हो और इसीमें तुम अपना कल्याण समझो, तब तो संधि करके शान्त हो जाओ और युद्धमें मन न लगाओ ॥ ५१ ॥

भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि।
तत् तथैवास्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है। वह उसी प्रकार सम्मानित बना रहे और तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही चिन्तन करो॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दम्भोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दम्भोद्भवकी कथाविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

कण्व मुनिका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए मातलिका उपाख्यान आरम्भ करना

वैशम्पायन उवाच

जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जमदग्निनन्दन परशुरामका यह वचन सुनकर भगवान् कण्व मुनिने भी कौरवसभामें दुर्योधनसे यह बात कही ॥ १ ॥

मोहन है। जिस अस्त्रसे भ्रान्तचित्त होकर मनुष्यको नाक (स्वर्ग) लोक दिखायी देने लगे, वह नाक या उन्मादन कहलाता है। जिसके प्रहारसे विद्ध होकर लोग त्रासके कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह अक्षिसंतर्जन अथवा त्रासन नामक अस्त्र है। संतान अथवा दैवत अस्त्र वह है, जिसके प्रयोगसे अविच्छिन्नरूपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगती है। जिसके प्रयोगसे मनुष्य वेदनाके मारे नाँच उठता है, वह नर्तक या पैशाच अस्त्र है। भयानक संहारकारी अस्त्रको घोर अथवा राक्षस कहा गया है। जिससे आहत होकर लोग मुँहमें पत्थर रखकर मरनेके लिये निकल पड़ते हैं, वह आस्यमोदक अथवा याम्य नामक अस्त्र है। (भारतभावदीपटीका)

कण्व उवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ॥ २ ॥

कण्व बोले—राजन्! जैसे लोकपितामह ब्रह्मा अक्षय और अविनाशी हैं, उसी प्रकार वे दोनों भगवान् नर-नारायण ऋषि भी हैं ॥ २ ॥

आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ॥ ३ ॥

अदितिके सभी पुत्रोंमें अथवा सम्पूर्ण आदित्योंमें एकमात्र भगवान् विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य विद्यमान एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर हैं ॥ ३ ॥

निमित्तमरणाश्चान्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा॥ ४ ॥

अन्य सब लोग तो किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्युको प्राप्त होते ही हैं । चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र—ये सभी नाशवान् हैं ॥ ४ ॥

ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः॥ ५ ॥

जगत्का विनाश होनेके पश्चात् ये चन्द्र, सूर्य आदि तीनों लोकोंका सदाके लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं । फिर सृष्टिकालमें इन सबकी बारंबार सृष्टि होती है ॥ ५ ॥

मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्याश्च ये चान्ये जीवलोकचरास्तथा ॥ ६ ॥

इनके सिवा ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जीवलोकमें विचरनेवाले अन्यान्य तिर्यग्योनिके प्राणी हैं, वे अल्पकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं ॥ ६ ॥

भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ॥ ७ ॥

राजालोग भी प्रायः राजलक्ष्मीका उपभोग करके आयुकी समाप्ति होनेपर मृत्यु होनेके पश्चात् अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पुनः नूतन जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥

स भवान् धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहार्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुंधराम् ॥ ८ ॥

राजन्! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि कर लेनी चाहिये । मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वीका पालन करें ॥ ८ ॥

बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

पुरुषरत्न सुयोधन ! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ; क्योंकि संसारमें बलवानोंसे भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! बलवानोंके बीचमें सैनिकबलको बल नहीं समझा जाता है । समस्त पाण्डव देवताओंके समान पराक्रमी हैं; अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं ॥ १० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ॥ ११ ॥

इस प्रसङ्गमें कन्यादान करनेके लिये वर ढूँढ़नेवाले मातलिके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ११ ॥

मतस्त्रैलोक्यराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ॥ १२ ॥

त्रिलोकीनाथ इन्द्रके प्रिय सारथिका नाम मातलि है । उनके कुलमें उन्हींकी एक कन्या थी, जो अपने रूपके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात थी ॥ १२ ॥

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः सातिरिच्यते॥ १३॥

वह देवरूपिणी कन्या गुणकेशीके नामसे प्रसिद्ध थी । गुणकेशी अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीरकी दृष्टिसे उस समयकी सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ थी ॥ १३ ॥

तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ॥ १४ ॥

राजन् ! उसके विवाहका समय आया जान मातलिने एकाग्रचित्त हो उसीके विषयमें चिन्तन करते हुए अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया ॥ १४ ॥

धिक् खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्त्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ॥ १५ ॥

'जिनका शीलस्वभाव श्रेष्ठ है, जो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए यशस्वी तथा कोमल अन्तःकरणवाले हैं; ऐसे लोगोंके कुलमें कन्याका उत्पन्न होना दुःखकी ही बात है ॥ १५ ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम् ॥ १६ ॥

'कन्या मातृकुलको, पितृकुलको तथा जहाँ वह ब्याही जाती है, उस कुलको—सत्पुरुषोंके इन तीनों कुलोंको संशयमें डाल देती है ॥ १६ ॥

देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ॥ १७ ॥

'मैंने मानवदृष्टिके अनुसार देवलोक तथा मनुष्यलोक

दोनोंमें अच्छी तरह घूम-फिरकर कन्याके लिये वरका अन्वेषण किया है, पर वहाँ कोई भी वर मुझे पसंद नहीं आ रहा है' ॥

कण्व उवाच

न देवान् नैव दितिजान् न गन्धर्वान् न मानुषान्।
अरोचयद् वरकृते तथैव बहुलानृषीन् ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—मातलिने वरके लिये बहुत-से देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों तथा ऋषियोंको भी देखा; परंतु कोई उन्हें पसंद नहीं आया ॥ १८ ॥

भार्ययानु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम् ॥ १९ ॥

तब उन्होंने रातमें अपनी पत्नी सुधर्माके साथ सलाह करके नागलोकमें जानेका विचार किया ॥ १९ ॥

न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपनी पत्नीसे बोले—'देवि ! देवताओं और मनुष्योंमें तो गुणकेशीके योग्य कोई रूपवान् वर नहीं दिखायी देता। नागलोकमें कोई-न-कोई उसके योग्य वर अवश्य होगा' ॥ २० ॥

इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ॥ २१ ॥

सुधर्मासे ऐसी सलाह करके मातलिने इष्टदेवकी परिक्रमा की और कन्याका मस्तक सूँघकर रसातलमें प्रवेश किया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके वर खोजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

मातलिका अपनी पुत्रीके लिये वर खोजनेके निमित्त नारदजीके साथ वरुणलोकमें भ्रमण करते हुए अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखना

कण्व उवाच

मातलिस्तु व्रजन् मार्गे नारदेन महर्षिणा।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद् यदृच्छया ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! उसी समय महर्षि नारद वरुणदेवतासे मिलनेके लिये उधर जा रहे थे। नागलोकके मार्गमें जाते हुए मातलिकी नारदजीके साथ अकस्मात् भेंट हो गयी ॥ १ ॥

नारदोऽथाब्रवीदेनं क्व भवान् गन्तुमुद्यतः।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद् वा शतक्रतोः ॥ २ ॥

नारदजीने उनसे पूछा—देवसारथे ! तुम कहाँ जानेको उद्यत हुए हो ? तुम्हारी यह यात्रा किसी निजी कार्यसे अथवा देवेन्द्रके आदेशसे हुई है ? ॥ २ ॥

मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता।
यथावत् सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति ॥ ३ ॥

मार्गमें जाते हुए नारदजीके इस प्रकार पूछनेपर मातलिने उनसे अपना सारा कार्य यथावत्‌रूपसे बताया ॥

तमुवाचाथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिने मातलिसे कहा—'हम दोनों साथ-साथ चलें। मैं भी जलके स्वामी वरुणदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे देवलोकसे आ रहा हूँ ॥ ४ ॥

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन् वसुधातलम्।
दृष्ट्वा तत्र वरं कंचिद् रोचयिष्याव मातले ॥ ५ ॥

'मैं तुम्हें पृथ्वीके नीचेके लोकोंको दिखाते हुए वहाँकी सब वस्तुओंका परिचय दूँगा। मातले ! वहाँ हम दोनों किसी योग्य वरको देखकर पसंद करेंगे' ॥ ५ ॥

अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपांपतिम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मातलि और नारद दोनों महात्मा पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके जलके स्वामी लोकपाल वरुणके समीप गये ॥ ६ ॥

तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत ॥ ७ ॥

नारदजीको वहाँ देवर्षियोंके योग्य और मातलिको देवराज इन्द्रके समान आदर-सत्कार प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह।
वरुणेनाभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने प्रसन्नचित्त होकर वरुणदेवतासे अपना कार्य निवेदन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे नागलोकमें विचरने लगे ॥ ८ ॥

नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम्।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

नारदजी पाताललोकमें निवास करनेवाले सभी प्राणियोंको जानते थे। अतः उन्होंने इन्द्रसारथि मातलिको वहाँकी सब वस्तुओंके विषयमें विस्तारपूर्वक बताना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

नारद उवाच

दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—सूत ! तुमने पुत्रों और पौत्रोंसे घिरे हुए वरुणदेवताका दर्शन किया है। देखो, यह जलेश्वर वरुणका समृद्धिशाली निवासस्थान है। इसका नाम है, सर्वतोभद्र ॥ १० ॥

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ॥ ११ ॥

ये गोपति वरुणके परम बुद्धिमान् पुत्र हैं; जो अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और पवित्रताके कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ॥ ११ ॥

एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः।
रूपवान् दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ॥ १२ ॥

वरुणदेवके इन प्रिय पुत्रका नाम पुष्कर है। इनके नेत्र विकसित कमलके समान सुशोभित हैं। ये रूपवान् तथा दर्शनीय हैं। इसीलिये सोमकी पुत्रीने इनका पतिरूपसे वरण किया है ॥ १२ ॥

ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम्।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ॥ १३ ॥

सोमकी जो दूसरी पुत्री हैं, वे ज्योत्स्नाकालीके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं। उन्होंने अदितिदेवीके ज्येष्ठ पुत्र सूर्यदेवको अपना श्रेष्ठ पति बनाया एवं माना है ॥ १३ ॥

भवनं वारुणं पश्य यदेतत् सर्वकाञ्चनम्।
यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥ १४ ॥

महेन्द्रमित्र ! देखो, यह वरुणदेवताका भवन है, जो सब ओरसे सुवर्णका ही बना हुआ है। यहाँ पहुँचकर ही देवगण वास्तवमें देवत्वलाभ करते हैं ॥ १४ ॥

एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ॥ १५ ॥

मातले ! जिनके राज्य छीन लिये गये हैं, उन दैत्योंके ये दीप्यमान सम्पूर्ण आयुध दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ॥ १६ ॥

देवसारथे ! ये सारे अस्त्र-शस्त्र अक्षय हैं और प्रहार करनेपर शत्रुको आहत करके पुनः अपने स्वामीके हाथमें लौट आते हैं। पहले दैत्यलोग अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रयोग करते थे, परंतु अब देवताओंने इन्हें जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ १६ ॥

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले।
दिव्यप्रहरणाश्चासन् पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७ ॥

मातले ! इन स्थानोंमें राक्षस और दैत्यजातिके लोग रहते हैं। यहाँ दैत्योंके बनाये हुए बहुत-से दिव्यास्त्र भी रहे हैं ॥ १७ ॥

अग्निरेष महार्चिष्माञ्जागर्ति वारुणे ह्रदे।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ॥ १८ ॥

ये महातेजस्वी अग्निदेव वरुणदेवताके सरोवरमें प्रकाशित होते हैं। इन धूमरहित अग्निदेवने भगवान् विष्णुके सुदर्शन चक्रको भी अवरुद्ध कर दिया था ॥ १८ ॥

एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद् गाण्डिवं धनुः ॥ १९ ॥

वज्रकी गाँठको 'गाण्डी' कहा गया है। यह धनुष उसीका बना हुआ है, इसलिये गाण्डीव कहलाता है। जगत्का संहार करनेके लिये इसका निर्माण हुआ है। देवतालोग सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

एष कृत्ये समुत्पन्ने तत् तद् धारयते बलम्।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ॥ २० ॥

यह धनुष आवश्यकता पड़नेपर लाखगुनी शक्तिसे सम्पन्न हो वैसे-वैसे ही बलको भी धारण करता है और सदा अविचल बना रहता है ॥ २० ॥

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

ब्रह्मवादी ब्रह्माजीने पहले इस प्रचण्ड धनुषका निर्माण किया था। यह राक्षससदृश राजाओंमेंसे अदम्य नरेशोंका भी दमन कर डालता है ॥ २१ ॥

एतच्छस्त्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम्।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥

यह धनुष राजाओंके लिये एक महान् अस्त्र है और चक्रके समान उद्भासित होता रहता है। इस महान् अभ्युदयकारी धनुषको जलेश वरुणके पुत्र धारण करते हैं ॥ २२ ॥

एतत् सलिलराजस्यच्छत्रं छत्रगृहे स्थितम्।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥

और यह सलिलराज वरुणका छत्र है, जो छत्रगृहमें रक्खा हुआ है। यह छत्र मेघकी भाँति सब ओरसे शीतल जल बरसाता रहता है ॥ २३ ॥

एतच्छत्रात् परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम्।

तमसा मूर्छितं भाति येन नाच्छैति दर्शनम् ॥ २४ ॥

इस छत्रसे गिरा हुआ चन्द्रमाके समान निर्मल जल अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जिससे दृष्टिपथमें नहीं आता है ॥

बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यावरोधस्तु तस्माद् गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

मातले ! इस वरुणलोकमें देखने योग्य बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ हैं; परंतु सबको देखनेसे तुम्हारे कार्यमें रुकावट पड़ेगी इसलिये हमलोग शीघ्र ही यहाँसे नागलोकमें चलें ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पाताललोकका प्रदर्शन

नारद उवाच

एतत् तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद् भुवि जंगमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥

नारदजी बोले--मातले ! यह जो नागलोकके नाभिस्थान (मध्यभाग) में स्थित नगर दिखायी देता है, इसे पाताल कहते हैं । इस नगरमें दैत्य और दानव निवास करते हैं । यहाँ जो कोई भूतलके जङ्गम प्राणी जलके साथ बहकर आ जाते हैं, वे इस पातालमें पहुँचनेपर भयसे पीड़ित हो बड़े जोरसे चीत्कार करने लगते हैं ॥ १-२ ॥

अत्रासुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

यहाँ जलका ही आहार करनेवाली आसुर अग्नि सदा उद्दीप्त रहती है । उसे यत्नपूर्वक मर्यादामें स्थापित किया गया है । वह अग्नि अपने-आपको देवताओंद्वारा नियन्त्रित समझती है; इसलिये सब ओर फैल नहीं पाती ॥ ३ ॥

अत्रामृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहतारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥

देवताओंने अपने शत्रुओंका संहार करके अमृत पीकर उसका अवशिष्ट भाग यहीं रख दिया था । इसीलिये अमृतमय सोमकी हानि और वृद्धि देखी जाती है ॥ ४ ॥

अत्रादित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यो वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥

यहाँ अदितिनन्दन हयग्रीव विष्णु सुवर्णमय कान्ति धारण करके प्रत्येक पर्वपर वेदध्वनिके द्वारा जगत्को परिपूर्ण करते हुए ऊपरको उठते हैं ॥ ५ ॥

यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात् पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥

जलस्वरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब वहाँ पर्याप्तरूपसे गिरती हैं, इसलिये ('पतन्ति अलम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पात+अलम्–इन दोनों शब्दोंके योगसे) यह उत्तम नगर 'पाताल' कहलाता है ॥ ६ ॥

ऐरावणोऽस्मात् सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥

जगत्का हित करनेवाला और समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाकालीन वायु यहींसे शीतल जल लेकर मेघोंमें स्थापित करता है, जिसे देवराज इन्द्र भूतलपर बरसाते हैं ॥ ७ ॥

अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥

नाना प्रकारकी आकृति तथा भाँति-भाँतिके रूपवाले जलचारी तिमि (ह्वेल) मत्स्य चन्द्रमाकी किरणोंका पान करते हुए यहाँ जलमें निवास करते हैं ॥ ८ ॥

अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥

मातले ! ये पातालनिवासी जीव-जन्तु यहाँ दिनमें सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मृतप्राय अवस्थामें पहुँच जाते हैं; परंतु रात होनेपर अमृतमयी चन्द्ररश्मियोंके सम्पर्कसे पुनः जी उठते हैं ॥ ९ ॥

उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ॥ १० ॥

यहाँ प्रतिदिन उदय लेनेवाले चन्द्रमा अपनी किरणमयी भुजाओंसे अमृतका स्पर्श कराकर उसके द्वारा यहाँके मरणासन्न जीवोंको जीवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अत्र तेऽधर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥

इन्द्रने जिनकी सम्पत्ति हर ली है, वे अधर्मपरायण दैत्य कालसे बद्ध एवं पीड़ित होकर इसी स्थानमें निवास करते हैं ॥ ११ ॥

अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः।
भूतये सर्वभूतानामचरत् तप उत्तमम्॥ १२॥

सर्वभूतमहेश्वर भगवान् भूतनाथने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये यहाँ उत्तम तपस्या की थी॥ १२॥

अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः।
त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः॥ १३॥

वेदपाठसे दुर्बल हुए तथा प्राणोंकी परवा न करके तपस्याद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले गोव्रतधारी ब्राह्मण महर्षिगण यहाँ निवास करते हैं॥ १३॥

यत्रतत्रशयो नित्यं येन केनचिदाशितः।
येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते॥ १४॥

जो जहाँ कहीं भी सो लेता है, जिस किसी फल-मूल आदिसे भोजनका कार्य चला लेता है तथा वल्कल आदि जिस किसी वस्तुसे भी शरीरको ढक लेता है, वही यहाँ 'गो-व्रतधारी' कहलाता है॥ १४॥

ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः॥ १५॥

यहाँ नागराज ऐरावत, वामन, कुमुद और अञ्जन नामक श्रेष्ठ गज सुप्रतीकके वंशमें उत्पन्न हुए हैं॥ १५॥

पश्य यद्यत्र ते कश्चिद् रोचते गुणतो वरः।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले॥ १६॥

मातले! देखो, यदि, यहाँ तुम्हें कोई गुणवान् वर पसंद हो तो मैं चलकर यत्नपूर्वक उसका वरण करूँगा॥ १६॥

अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया।
आ प्रजानां निसर्गाद् वै नोद्भिद्यति न सर्पति॥ १७॥

जलके भीतर यह एक अण्डा रक्खा हुआ है, जो यहाँ अपनी प्रभासे उद्भासित-सा हो रहा है! जबसे प्रजाजनोंकी सृष्टि आरम्भ हुई है, तबसे लेकर अबतक यह अण्डा न तो फूटता है और न अपने स्थानसे इधर-उधर जाता ही है॥ १७॥

नास्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै।
पितरं मातरं चापि नास्य जानाति कश्चन॥ १८॥

इसकी जाति अथवा स्वभावके विषयमें कभी किसीको कुछ कहते नहीं सुना है। इसके पिता और माताको भी कोई नहीं जानता है॥ १८॥

अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ १९॥

मातले! कहते हैं, प्रलयकालमें इस अण्डेके भीतरसे बड़ी भारी आग प्रकट होगी, जो चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको भस्म कर डालेगी॥ १९॥

मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याथ भाषितम्।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज माचिरम्॥ २०॥

नारदजीका यह भाषण सुनकर मातलिने कहा—'यहाँ मुझे कोई भी वर पसंद नहीं आया; अतः शीघ्र ही अन्यत्र कहीं चलिये'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकोनशततमोऽध्यायः॥ ९९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९९॥

शततमोऽध्यायः

हिरण्यपुरका दिग्दर्शन और वर्णन

नारद उवाच

हिरण्यपुरमित्येतत् ख्यातं पुरवरं महत्।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम्॥ १॥

नारदजी कहते हैं—मातले! यह हिरण्यपुर नामक श्रेष्ठ एवं विशाल नगर है, जहाँ सैकड़ों मायाओंके साथ विचरनेवाले दैत्यों और दानवोंका निवासस्थान है॥ १॥

अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा।
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम्॥ २॥

असुरोंके विश्वकर्मा मयने अपने मानसिक संकल्पके अनुसार महान् प्रयत्न करके पाताललोकके भीतर इस नगरका निर्माण किया है॥ २॥

अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा॥ ३॥

यहाँ सहस्रों मायाओंका प्रयोग करनेवाले और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न वे शूरवीर दानव निवास करते हैं, जिन्हें पूर्वकालमें अवध्य होनेका वरदान प्राप्त हो चुका है॥ ३॥

नैते शक्रेण नान्येन यमेन वरुणेन वा।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च॥ ४॥

इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा और कोई देवता भी इन्हें वशमें नहीं कर सकता॥ ४॥

असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः।

नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ॥ ५ ॥
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ॥ ६ ॥

मातले ! भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न हुए कालखञ्ज नामक असुर तथा ब्रह्माजीके पैरोंसे प्रकट हुए बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले, भयंकर वेगसे युक्त, प्रगतिशील पवनके समान पराक्रमी एवं मायाबलसे सम्पन्न नैर्ऋत और यातुधान इस नगरमें निवास करते हैं ॥ ५-६ ॥

निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैताञ्शक्नोति बाधितुम् ॥७॥

यहीं निवातकवच नामक दानव निवास करते हैं, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते हैं। तुम तो जानते ही हो कि इन्द्र भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं ॥ ७ ॥

बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ॥ ८ ॥

मातले ! तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख तथा पुत्रसहित शचीपति देवराज इन्द्र अनेक बार इनके सामनेसे मैदान छोड़कर भाग चुके हैं ॥ ८ ॥

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ॥ ९ ॥

मातले ! देखो, इनके ये सोने और चाँदीके भवन कितनी शोभा पा रहे हैं। इनका निर्माण शिल्पशास्त्रीय विधानके अनुसार हुआ है तथा ये सभी महल एक दूसरेसे सटे हुए हैं ॥ ९ ॥

वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ॥ १० ॥

इन सबमें वैदूर्यमणि जड़ी हुई है, जिससे इनकी विचित्र शोभा हो रही है। स्थान-स्थानपर मूँगोंसे सुसज्जित होनेके कारण इनका सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है। आकके फूल और स्फटिकमणिके समान ये उज्ज्वल दिखायी देते हैं तथा उत्तम हीरोंसे जटित होनेके कारण उनकी दीप्ति अधिक बढ़ गयी है ॥ १० ॥

पार्थिवानीव चाभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाप्युत ॥ ११ ॥

इनमेंसे कुछ तो मिट्टीके बने हुए-से जान पड़ते हैं, कुछ पद्मरागमणिद्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं, कुछ मकान पत्थरोंके और कुछ लकड़ियोंके बने हुए-से दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

सूर्यरूपाणि चाभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ॥ १२ ॥

ये सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं । मणियोंकी झालरोंसे इनकी विचित्र छटा दृष्टिगोचर हो रही है । ये सभी भवन ऊँचे और घने हैं ॥ १२ ॥

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ॥ १३ ॥

हिरण्यपुरके ये भवन कितने सुन्दर हैं और किन-किन द्रव्योंसे बने हुए हैं, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अपने उत्तम गुणोंके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि है ! लम्बाई-चौड़ाई तथा सर्वगुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे ये सभी प्रशंसाके योग्य हैं ॥ १३ ॥

आक्रीडान् पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ॥ १४ ॥

देखो, दैत्योंके उद्यान एवं क्रीडास्थान कितने सुन्दर हैं ! इनकी शय्याएँ भी इनके अनुरूप ही हैं। इनके उपयोगमें आनेवाले पात्र और आसन भी रत्नजटित एवं बहुमूल्य हैं ॥ १४ ॥

जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान् कामचारिणः ॥ १५ ॥

यहाँके पर्वत मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते हैं। वहाँसे जलके झरने गिर रहे हैं। इन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करो, ये सभी इच्छानुसार फल और फूल देनेवाले तथा कामचारी हैं ॥ १५ ॥

मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवान्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यहाँ भी तुम्हें कोई सुन्दर वर प्राप्त हो सकता है। अथवा तुम्हारी राय हो, तो इस भूमिकी किसी दूसरी दिशाकी ओर चलें ॥ १६ ॥

मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ॥ १७ ॥

तब ऐसी बातें करनेवाले नारदजीसे मातलिने कहा— 'देवर्षे ! मुझे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो देवताओंको अप्रिय लगे ॥ १७ ॥

नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ॥ १८ ॥

यद्यपि देवता और दानव परस्पर भाई ही हैं, तथापि इनमें सदा वैरभाव बना रहता है । ऐसी दशामें मैं शत्रुपक्षके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध कैसे पसंद करूँगा ? ॥१८॥

अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नार्हामि दानवान् ।
जानामि तव चात्मानं हिंसात्मकमनं तथा ॥ १९ ॥

'इसलिये अच्छा यही होगा कि हमलोग किसी दूसरी जगह चलें। मैं दानवोंसे साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। मैं यह भी जानता हूँ कि आपके मनमें हिंसात्मक कार्य (युद्ध) का अवसर उपस्थित करनेकी प्रबल इच्छा रहती है' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़लोक तथा गरुड़की संतानोंका वर्णन

नारद उवाच

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम्।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले! यह सर्पभोजी गरुड़वंशी पक्षियोंका लोक है, जिन्हें पराक्रम प्रकट करने, दूरतक उड़ने और महान् भार ढोनेमें तनिक भी परिश्रम नहीं होता ॥ १ ॥

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम्।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ॥ २ ॥
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले।
वर्धितानि प्रसूत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ॥ ३ ॥
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ॥ ४ ॥

देवसारथि मातले! यहाँ विनतानन्दन गरुड़के छः पुत्रों-ने अपनी वंशपरम्पराका विस्तार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुच तथा पक्षिराज सुबल। विनताके वंशकी वृद्धि करनेवाले, कश्यप-कुलमें उत्पन्न हुए तथा ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाले इन छहों पक्षियोंने गरुड़-जातिकी सैकड़ों और सहस्रों शाखाओंका विस्तार किया है ॥ २-४ ॥

सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ॥ ५ ॥

ये सभी श्रीसम्पन्न तथा श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित हैं। सभी धन-सम्पत्तिकी कामना रखते हुए अपने भीतर अनन्त बल धारण करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद् ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर भी ये कर्मसे क्षत्रिय हैं। इनमें दया नहीं होती है। ये सर्पोंको ही अपना आहार बनाते हैं। इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं (नागों) का संहार करनेके कारण इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं है ॥ ६ ॥

नामानि चैषां वक्ष्यामि यथा प्राधान्यतः शृणु।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ॥ ७ ॥

मातले! अब मैं इनके कुछ प्रधान व्यक्तियोंके नाम बताऊँगा, तुम श्रवण करो। इनका कुल भगवान् विष्णुका पार्षद होनेके कारण प्रशंसनीय है ॥ ७ ॥

दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम्।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ॥ ८ ॥

भगवान् विष्णु ही इनके देवता हैं। वे ही इनके परम आश्रय हैं। भगवान् विष्णु इनके हृदयमें सदा विराजते हैं और वे विष्णु ही सदा इनकी गति हैं ॥ ८ ॥

सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः।
अनिलश्चानलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ॥ ९ ॥
पङ्कजिद् वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ॥ १० ॥
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ॥ ११ ॥
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथानघः।
मेषहृत् कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सहभोजनः ॥ १२ ॥
गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ॥ १३ ॥
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ॥ १४ ॥
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ॥ १५ ॥

सुवर्णचूड, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्डक, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पङ्कजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमेष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव, वाल्मीकि, द्वीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत्, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सहभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर तथा दिवाकर। इस प्रकार संक्षेपसे मैंने इन मुख्य-मुख्य गरुड़-संतानोंका वर्णन किया है। ये सभी यशस्वी तथा महाबली बताये गये हैं ॥९-१५॥

यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले।

गोमाता सुरभि

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वनाश
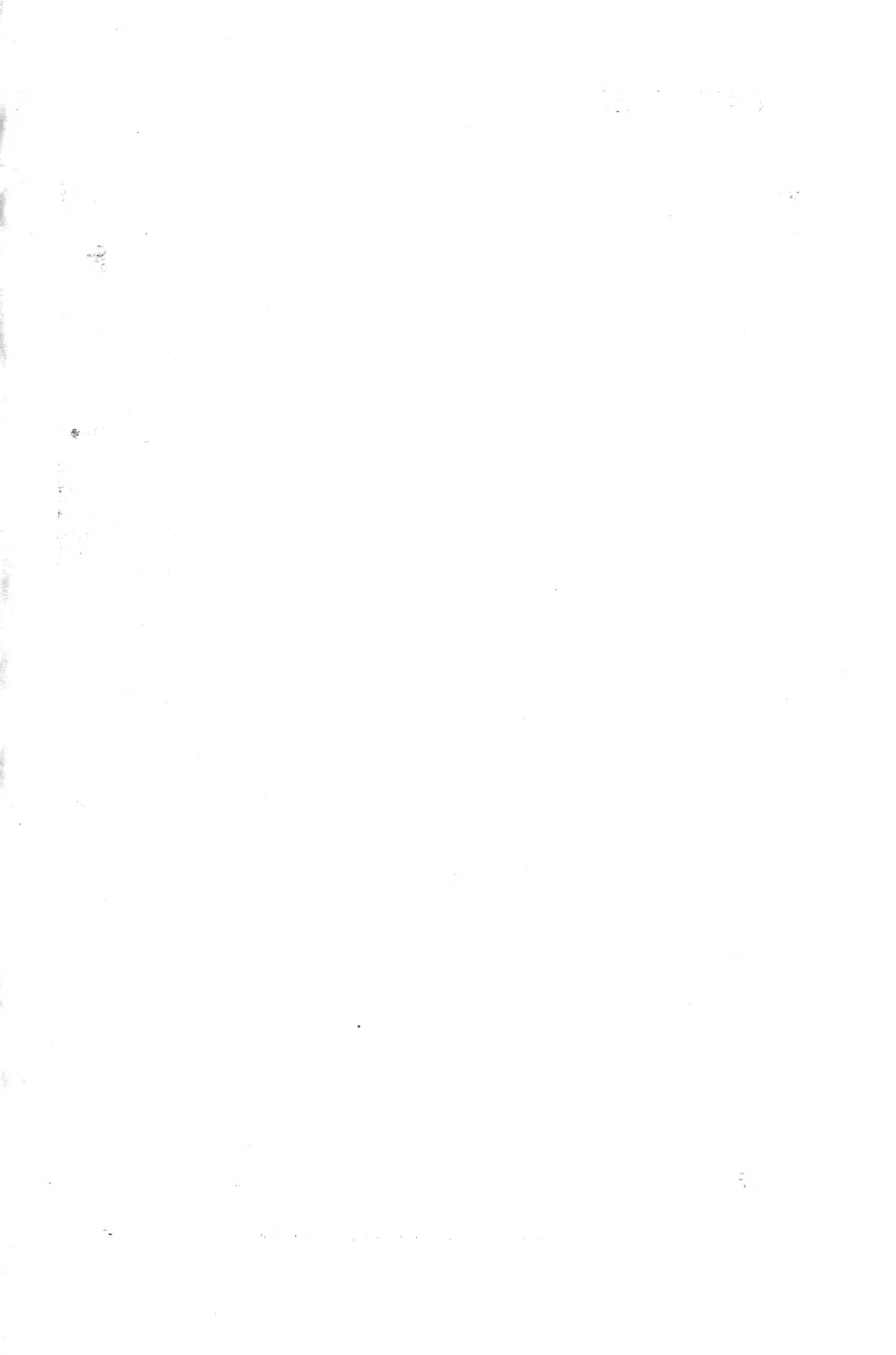
तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यदि इनमें तुम्हारी कोई रुचि न हो तो आओ, अन्यत्र चलें। अब मैं तुम्हें उस स्थानपर ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें कोई-न-कोई वर अवश्य मिल जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०१॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

सुरभि और उसकी संतानोंके साथ रसातलके सुखका वर्णन

नारद उवाच

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम्।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह पृथ्वीका सातवाँ तल है, जिसका नाम रसातल है। यहाँ अमृतसे उत्पन्न हुई गोमाता सुरभि निवास करती हैं ॥ १ ॥

क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम्।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ॥ २ ॥

ये सुरभि पृथ्वीके सारतत्त्वसे प्रकट, छः रसोंके सार-भागसे संयुक्त एवं सर्वोत्तम, अनिर्वचनीय एकरसरूप क्षीर-को सदा अपने स्तनोंसे प्रवाहित करती रहती हैं ॥ २ ॥

अमृतेनाभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें जब ब्रह्मा अमृतपान करके तृप्त हो उसका सारभाग अपने मुखसे निकाल रहे थे, उसी समय उनके मुखसे अनिन्दिता सुरभिका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ३ ॥

यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर निरन्तर गिरती हुई उस सुरभिके क्षीरकी धारासे एक अनन्त ह्रद बन गया, जिसे 'क्षीरसागर' कहते हैं। वह परम पवित्र है ॥ ४ ॥

पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम्।
पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ॥ ५ ॥

क्षीरसागरसे जो फेन उत्पन्न होता है, वह पुष्पके समान जान पड़ता है। वह फेन क्षीरसमुद्रके तटपर फैला रहता है, जिसे पीते हुए फेनपसंज्ञक बहुत-से मुनिश्रेष्ठ इस रसातलमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ॥ ६ ॥

मातले ! फेनका आहार करनेके कारण वे महर्षिगण 'फेनप' नामसे विख्यात हैं। वे बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनसे देवतालोग भी डरते हैं ॥ ६ ॥

अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले।
निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः स्म ताः॥७॥

मातले ! सुरभिकी पुत्रीस्वरूपा चार अन्य धेनुएँ हैं, जो सब दिशाओंमें निवास करती हैं। वे दिशाओंका धारण-पोषण करनेवाली हैं ॥ ७ ॥

पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी।
दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ॥ ८ ॥

सुरूपा नामवाली धेनु पूर्व दिशाको धारण करती है तथा उससे भिन्न दक्षिण दिशाका हंसिका नामवाली धेनु धारण-पोषण करती है ॥ ८ ॥

पश्चिमा वारुणी दिक् च धार्यते वै सुभद्रया।
महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ॥ ९ ॥

मातले ! महाप्रभावशालिनी विश्वरूपा सुभद्रा नामवाली सुरभिकन्याके द्वारा वरुणदेवकी पश्चिम दिशा धारण की जाती है ॥ ९ ॥

सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम्।
उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ॥ १० ॥

चौथी धेनुका नाम सर्वकामदुघा है। मातले ! वह धर्मयुक्त कुबेरसम्बन्धिनी उत्तर दिशाका धारण-पोषण करती है ॥ १० ॥

आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ॥ ११ ॥
उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले।
उच्चैःश्रवाश्चाश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ॥ १२ ॥

देवसारथे ! देवताओंने असुरोंसे मिलकर मन्दराचल-को मथानी बनाकर इन्हीं धेनुओंके दूधसे मिश्रित क्षीरसागर-की दुग्धराशिका मन्थन किया और उससे वारुणी, लक्ष्मी एवं अमृतको प्रकट किया। तत्पश्चात् उस समुद्रमन्थनसे अश्वराज उच्चैःश्रवा तथा मणिरत्न कौस्तुभका भी प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ११-१२ ॥

सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम्।
अमृतं चामृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ॥ १३ ॥

सुरभि अपने स्तनोंसे जो दूध बहाती है, वह सुधाभोजी

लोगोंके लिये सुधा, स्वधाभोजी पितरोंके लिये स्वधा तथा अमृतभोजी देवताओंके लिये अमृतरूप है ॥ १३ ॥

अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः ।
पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ॥ १४ ॥

यहाँ रसातलनिवासियोंने पूर्वकालमें जो पुरातन गाथा गायी थी, वह अब भी लोकमें सुनी जाती है और मनीषी पुरुष उसका गान करते हैं ॥ १४ ॥

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—'नागलोक, स्वर्गलोक तथा स्वर्गलोकके विमानमें निवास करना भी वैसा सुखदायक नहीं होता, जैसा रसातलमें रहनेसे सुख प्राप्त होता है' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

नागलोकके नागोंका वर्णन और मातलिका नागकुमार सुमुखके साथ अपनी कन्याको ब्याहनेका निश्चय

नारद उवाच

इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज वासुकिद्वारा सुरक्षित उनकी भोगवती नामक पुरी है । देवराज इन्द्रकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीकी तरह ही यह भी सुख-समृद्धिसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ॥ २ ॥

ये शेषनाग स्थित हैं, जो अपने लोकप्रसिद्ध तपोबलसे प्रभावसहित इस सारी पृथ्वीको सदा सिरपर धारण करते हैं ॥

श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः ।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः॥ ३ ॥

भगवान् शेषका शरीर कैलास पर्वतके समान श्वेत है । ये सहस्र मस्तक धारण करते हैं । इनकी जिह्वा अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती है । ये महाबली अनन्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होते हैं ॥ ३ ॥

इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः ।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४ ॥

यहाँ सुरसाके पुत्र नागगण शोक-संतापसे रहित होकर निवास करते हैं । इनके रूप-रंग और आभूषण अनेक प्रकारके हैं ॥ ४ ॥

मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः ।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ॥ ५ ॥

ये सभी नाग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँ रहते हैं । ये सब-के-सब अत्यन्त बलवान् तथा स्वभावसे ही भयंकर हैं । इनमेंसे किन्हींके शरीरमें मणिका, किन्हींके स्वस्तिकका, किन्हींके चक्रका और किन्हींके शरीरमें कमण्डलुका चिह्न है ॥ ५ ॥

सहस्रशिरसः केचित् केचित् पञ्चशताननाः ।
शतशीर्षास्तथा केचित् केचित् त्रिशिरसोऽपि च ॥

कुछ नागोंके एक सहस्र सिर होते हैं, किन्हींके पाँच सौ, किन्हींके एक सौ और किन्हींके तीन ही सिर होते हैं ॥ ६ ॥

द्विपञ्चशिरसः केचित् केचित् सप्तमुखास्तथा ।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ॥ ७ ॥

कोई दो सिरवाले, कोई पाँच सिरवाले और कोई सात मुखवाले होते हैं । किन्हींके बड़े-बड़े फन, किन्हींके दीर्घ शरीर और किन्हींके पर्वतके समान स्थूल शरीर होते हैं ॥ ७ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ॥ ८ ॥

यहाँ एक-एक वंशके नागोंकी कई हजार, कई लाख तथा कई अर्बुद संख्या है । मैं जेठे-छोटेके क्रमसे इनका संक्षिप्त परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
कालियो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥
बाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिञ्जरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः ।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥

करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ॥ १४ ॥
दिलीपः शङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ॥ १५ ॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा ॥ १६ ॥
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः ।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित् ते रोचते वरः॥ १७ ॥

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणिनाग, आपूरण, खग, वामन, एलपत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोतक, कैलासक, पिंजरक, ऐरावत, सुमनोमुख, दधिमुख, शंख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठूरिक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्यपिण्डक, पद्मनामक दो नाग, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत्त, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक, दिलीप, शंखशीर्ष, ज्योतिष्क, अपराजित, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस तथा सुरस–ये और दूसरे बहुत-से नाग कश्यपके वंशज हैं । मातले ! यदि यहाँ कोई वर तुम्हें पसंद हो तो देखो ॥ ९–१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं संनिरीक्ष्य वै ।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाभवत् ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तब मातलि स्थिरतापूर्वक एक नागका निरन्तर निरीक्षण करके प्रसन्न-से हो उठे और उन्होंने नारदजीसे पूछा ॥ १८ ॥

मातलिरुवाच

स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्यार्यकस्य तु ।
द्युतिमान् दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः ॥ १९ ॥

मातलिने कहा—देवर्षे ! यह जो कौरव्य और आर्यकके आगे कान्तिमान् और दर्शनीय नागकुमार खड़ा है, किसके कुलको आनन्दित करनेवाला है ? ॥ १९ ॥

कः पिता जननी चास्य कतमस्यैष भोगिनः ।
वंशस्य कस्यैष महान् केतुभूत इव स्थितः ॥ २० ॥

इसके पिता-माता कौन हैं ? यह किस नागका पौत्र है तथा किसके वंशकी महान् ध्वजके समान शोभा बढ़ा रहा है ? ॥ २० ॥

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे ।
मनःप्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः ॥ २१ ॥

देवर्षे ! यह अपनी एकाग्रता, धैर्य, रूप तथा तरुण अवस्थाके कारण मेरे मनमें समा गया है । यही गुणकेशीका श्रेष्ठ पति होनेके योग्य है ॥ २१ ॥

कण्व उवाच

मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात् ।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च ॥ २२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! मातलिको सुमुखके दर्शनसे प्रसन्नचित्त देखकर नारदजीने उस समय उस नागकुमारके जन्म, कर्म और महत्त्वका परिचय देना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

नारद उवाच

ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट् ।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च ॥ २३ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज सुमुख है, जो ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ है । यह आर्यकका पौत्र और वामनका दौहित्र है ॥ २३ ॥

एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले ।
नचिराद् वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः ॥ २४ ॥

सूत ! इसके पिता नागराज चिकुर थे, जिन्हें थोड़े ही दिन पहले गरुड़ने अपना ग्रास बना लिया है ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः ।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः ॥ २५ ॥

तब मातलिने प्रसन्नचित्त होकर नारदजीसे कहा—'तात ! यह श्रेष्ठ नाग मुझे अपना जामाता बनानेके योग्य जँच गया ॥ २५ ॥

क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै ।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने ॥ २६ ॥

'मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ । आप इसीके लिये यत्न कीजिये । मुने ! मैं इसी नागको अपनी प्यारी पुत्री देना चाहता हूँ' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका नागराज आर्यकके सम्मुख सुमुखके साथ मातलिकी कन्याके विवाहका प्रस्ताव एवं मातलिका नारदजी, सुमुख एवं आर्यकके साथ इन्द्रके पास आकर उनके द्वारा सुमुखको दीर्घायु प्रदान कराना तथा सुमुख-गुणकेशी-विवाह

(*कण्व उवाच*

मातलेर्वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः ।
अब्रवीन्नागराजानमार्यकं कुरुनन्दन ॥)

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन ! मातलिकी बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदने नागराज आर्यकसे कहा ॥

नारद उवाच

सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत् ।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान् बली ॥ १ ॥

नारदजी बोले—नागराज ! ये इन्द्रके प्रिय सखा और सारथि मातलि हैं। इनमें पवित्रता, सुशीलता और समस्त सद्गुण भरे हुए हैं। ये तेजस्वी होनेके साथ ही बल-पराक्रम-से सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

शक्रस्यायं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च ।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ॥ २ ॥

इन्द्रके मित्र, मन्त्री और सारथि सब कुछ यही हैं। प्रत्येक युद्धमें ये इन्द्रके साथ रहते हैं। इनका प्रभाव इन्द्रसे कुछ ही कम है ॥ २ ॥

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम् ।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ॥ ३ ॥

ये देवासुर-संग्राममें सहस्र घोड़ोंसे जुते हुए देवराजके विजयशील श्रेष्ठ रथका अपने मानसिक संकल्पसे ही (संचालन और) नियन्त्रण करते हैं ॥ ३ ॥

अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः ।
अनेन बलभित् पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ॥ ४ ॥

ये अपने अश्वोंद्वारा जिन शत्रुओंको जीत लेते हैं, उन्हींको देवराज इन्द्र अपने बाहुबलसे पराजित करते हैं। पहले इनके द्वारा प्रहार हो जानेपर ही बलनाशक इन्द्र शत्रुओंपर प्रहार करते हैं ॥ ४ ॥

अस्य कन्या वरारोहा रूपेणासदृशी भुवि ।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ॥ ५ ॥

इनके एक सुन्दरी कन्या है, जिसके रूपकी समानता भूमण्डलमें कहीं नहीं है। उसका नाम है गुणकेशी। वह सत्य, शील और सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

तस्यास्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते ।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ॥ ६ ॥

देवोपम कान्तिवाले नागराज ! ये मातलि बड़े प्रयत्नसे कन्याके लिये वर ढूँढ़नेके निमित्त तीनों लोकोंमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। आपका पौत्र सुमुख इन्हें अपनी कन्याका पति होने योग्य प्रतीत हुआ है; उसीको इन्होंने पसंद किया है ॥ ६ ॥

यदि ते रोचते सम्यग् भुजगोत्तम मा चिरम् ।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ॥ ७ ॥

नागप्रवर आर्यक ! यदि आपको भी यह सम्बन्ध भली-भाँति रुचिकर जान पड़े तो शीघ्र ही इनकी पुत्रीको ब्याह लानेका निश्चय कीजिये ॥ ७ ॥

यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः ।
कुले तव तथैवास्तु गुणकेशी सुमध्यमा ॥ ८ ॥

जैसे भगवान् विष्णुके घरमें लक्ष्मी और अग्निके घरमें स्वाहा शोभा पाती हैं, उसी प्रकार सुन्दरी गुणकेशी तुम्हारे कुलमें प्रतिष्ठित हो ॥ ८ ॥

पौत्रस्यार्थे भवांस्तस्माद् गुणकेशीं प्रतीच्छतु ।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ॥ ९ ॥

अतः आप अपने पौत्रके लिये गुणकेशीको स्वीकार करें। जैसे इन्द्रके अनुरूप शची हैं, उसी प्रकार आपके सुयोग्य पौत्रके योग्य गुणकेशी है ॥ ९ ॥

पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे ।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ॥ १० ॥
सुमुखस्य गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः ।

आपके और ऐरावतके प्रति हमारे हृदयमें विशेष सम्मान है और यह सुमुख भी शील, शौच और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये इसके पितृहीन होनेपर भी हम गुणोंके कारण इसका वरण करते हैं ॥ १०½ ॥

अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ॥ ११ ॥
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि ।

ये मातलि स्वयं चलकर कन्यादान करनेको उद्यत हैं। आपको भी इनका सम्मान करना चाहिये ॥ ११½ ॥

कण्व उवाच

स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ॥ १२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन! तब नागराज आर्यक प्रसन्न होकर दीनभावसे बोले—॥ १२ ॥

आर्यक उवाच

म्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ॥ १३ ॥

आर्यक पुनः बोले—'देवर्षे! मेरा पुत्र मारा गया और पौत्रका भी उसी प्रकार मृत्युने वरण किया है; अतः मैं गुणकेशीको बहू बनानेकी इच्छा कैसे करूँ? ॥ १३ ॥

न मे नैतद् बहुमतं महर्षे वचनं तव।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्यायं नेप्सितो भवेत्॥ १४ ॥

महर्षे! मेरी दृष्टिमें आपके इस वचनका कम आदर नहीं है और ये मातलि तो इन्द्रके साथ रहनेवाले उनके सखा हैं; अतः ये किसको प्रिय नहीं लगेंगे? ॥ १४ ॥

कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ॥ १५ ॥
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्तास्तेन वै वयम्।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता।
मासेनान्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ॥ १६ ॥
ध्रुवं तथा तद् भविता जानीमस्तस्य निश्चयम्।
तेन हर्षः प्रणष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ॥ १७ ॥

परंतु माननीय महामुने! कारणकी दुर्बलतासे मैं चिन्तामें पड़ा रहता हूँ। महाद्युते! इस बालकका पिता, जो मेरा पुत्र था, गरुड़का भोजन बन गया। इस दुःखसे हमलोग पीड़ित हैं। प्रभो! जब गरुड़ यहाँसे जाने लगे, तब पुनः यह कहते गये कि दूसरे महीनेमें मैं सुमुखको भी खा जाऊँगा। अवश्य ही ऐसा ही होगा; क्योंकि हम गरुड़के निश्चयको जानते हैं। गरुड़के उस कथनसे मेरी हँसी-खुशी नष्ट हो गयी है ॥ १५–१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मया।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलिने आर्यकसे कहा—'मैंने इस विषयमें एक विचार किया है। यह तो निश्चय ही है कि मैंने आपके पौत्रको जामाताके पदपर वरण कर लिया ॥ १८ ॥

सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः।
त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ॥ १९ ॥

'अतः यह नागकुमार मेरे और नारदजीके साथ त्रिलोकीनाथ देवराज इन्द्रके पास चलकर उनका दर्शन करे ॥ १९ ॥

शेषेणैवास्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः।
सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ॥ २० ॥

'साधुशिरोमणे! तदनन्तर मैं अवशिष्ट कार्यद्वारा इसकी आयुके विषयमें जानकारी प्राप्त करूँगा और इस बातकी भी चेष्टा करूँगा कि गरुड़ इसे न मार सकें ॥ २० ॥

सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु।
कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजंगम ॥ २१ ॥

'नागराज! आपका कल्याण हो। सुमुख अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ देवराज इन्द्रके पास चले' ॥ २१ ॥

ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः।
ददृशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन सभी महातेजस्वी सज्जनोंने सुमुखको साथ लेकर परम कान्तिमान् देवराज इन्द्रका दर्शन किया, जो स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ २२ ॥

संगत्या तत्र भगवान् विष्णुरासीच्चतुर्भुजः।
ततस्तत् सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ॥ २३ ॥

दैवयोगसे वहाँ चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी उपस्थित थे। तदनन्तर देवर्षि नारदने मातलिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पुरंदरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम्।
अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने लोकेश्वर इन्द्रसे कहा—'देवराज! तुम सुमुखको अमृत दे दो और इसे देवताओंके समान बना दो ॥ २४ ॥

मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव।
लभन्तां भवतः कामात् काममेतं यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

'वासव! इस प्रकार मातलि, नारद और सुमुख—ये सभी तुमसे इच्छानुसार अमृतका दान पाकर अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण कर लें' ॥ २५ ॥

पुरंदरोऽथ संचिन्त्य वैनतेयपराक्रमम्।
विष्णुमेवाब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ॥ २६ ॥

तब देवराज इन्द्रने गरुड़के पराक्रमका विचार करके भगवान् विष्णुसे कहा—'आप ही इसे उत्तम आयु प्रदान कीजिये'॥

विष्णुरुवाच

ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ॥ २७ ॥

भगवान् विष्णु बोले—प्रभो! तुम सम्पूर्ण जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर हो। तुम्हारी दी हुई आयुको बिना दी हुई करने (मिटाने) का साहस कौन कर सकता है? ॥ २७ ॥

प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायायुरुत्तमम्।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ॥ २८ ॥

तब इन्द्रने उस नागको अच्छी आयु प्रदान की, परंतु बलासुर और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने उसे अमृतभोजी नहीं बनाया ॥ २८ ॥

लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान् प्रति ॥ २९ ॥

इन्द्रका वर पाकर सुमुखका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वह विवाह करके इच्छानुसार अपने घरको चला गया ॥ २९ ॥

नारदस्त्वार्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ॥ ३० ॥

नारद और आर्यक दोनों ही कृतकृत्य हो महातेजस्वी देवराजकी अर्चना करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वभञ्जन तथा दुर्योधनद्वारा कण्व मुनिके उपदेशकी अवहेलना

कण्व उवाच

गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—भारत! महाबली गरुड़ने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुना कि इन्द्रने सुमुख नागको दीर्घायु प्रदान की है ॥ १ ॥

पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ॥ २ ॥

यह सुनते ही आकाशचारी गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे तीनों लोकोंको कम्पित करते हुए इन्द्रके समीप दौड़े आये ॥ २ ॥

गरुड उवाच

भगवन् किमवज्ञानाद् वृत्तिः प्रतिहता मम।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ॥ ३ ॥

गरुड़ बोले—भगवन्! आपने अवहेलना करके मेरी जीविकामें क्यों बाधा पहुँचायी है? एक बार मुझे इच्छानुसार कार्य करनेका वरदान देकर अब फिर उससे विचलित क्यों हुए हैं? ॥ ३ ॥

निसर्गात् सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ॥ ४ ॥

समस्त प्राणियोंके स्वामी विधाताने सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करते समय मेरा आहार निश्चित कर दिया था। फिर आप किसलिये उसमें बाधा उपस्थित करते हैं? ॥ ४ ॥

वृतश्चैष महानागः स्थापितः समयश्च मे।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ॥ ५ ॥

देव! मैंने उस महानागको अपने भोजनके लिये चुन लिया था। इसके लिये समय भी निश्चित कर दिया था और उसीके द्वारा मुझे अपने विशाल परिवारका भरण-पोषण करना था ॥ ५ ॥

एतस्मिंस्तु तथाभूते नान्यं हिंसितुमुत्सहे।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ॥ ६ ॥

वह नाग जब दीर्घायु हो गया, तब अब मैं उसके बदलेमें दूसरेकी हिंसा नहीं कर सकता। देवराज! आप स्वेच्छाचारको अपनाकर मनमाने खेल कर रहे हैं ॥ ६ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान् भव वासव ॥ ७ ॥

वासव! अब मैं प्राण त्याग दूँगा। मेरे परिवारमें तथा मेरे घरमें जो भरण-पोषण करनेयोग्य प्राणी हैं, वे भी भोजनके अभावमें प्राण दे देंगे। अब आप अकेले संतुष्ट होइये ॥ ७ ॥

एतच्चैवाहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन्।
त्रैलोक्यस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ॥ ८ ॥

बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज! मैं इसी व्यवहारके योग्य हूँ; क्योंकि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ होकर भी मैंने दूसरेकी सेवा स्वीकार की है ॥ ८ ॥

त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम।
त्रैलोक्यराज राज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम् ॥ ९ ॥

देवेश्वर! त्रिलोकीनाथ! आपके रहते भगवान् विष्णु भी मेरी जीविका रोकनेमें कारण नहीं हो सकते; क्योंकि वासव! तीनों लोकोंके राज्यका भार सदा आपके ही ऊपर है ॥ ९ ॥

ममापि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान् समन्ताद् वोढुमञ्जसा ॥ १० ॥

मेरी माता भी प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं । मेरे पिता भी महर्षि कश्यप ही हैं । मैं भी अनायास ही सम्पूर्ण लोकोंका भार वहन कर सकता हूँ ॥ १० ॥

असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत् कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ॥ ११ ॥

मुझमें भी वह विशाल बल है, जिसे समस्त प्राणी एक साथ मिलकर भी सह नहीं सकते । मैंने भी दैत्योंके साथ युद्ध छिड़नेपर महान् पराक्रम प्रकट किया है ॥ ११ ॥

श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान् रोचनामुखः ।
प्रसृतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ॥ १२ ॥

मैंने भी श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसृत और कालकाक्ष नामक दैत्योंको मारा है ॥ १२ ॥

यत् तु ध्वजस्थानगतो यत्नात् परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवानुजं ते तेन मामवमन्यसे ॥ १३ ॥

तथापि मैं जो रथकी ध्वजामें रहकर यत्नपूर्वक आपके छोटे भाई (विष्णु) की सेवा करता और उनको वहन करता हूँ, इसीसे आप मेरी अवहेलना करते हैं ॥ १३ ॥

कोऽन्यो भारसहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।
मया योऽहं विशिष्टः सन् वहामीमं सबान्धवम् ॥ १४ ॥

मेरे सिवा दूसरा कौन है, जो भगवान् विष्णुका महान् भार सह सके ? कौन मुझसे अधिक बलवान् है ? मैं सबसे विशिष्ट शक्तिशाली होकर भी बन्धु-बान्धवोंसहित इन विष्णुभगवान्का भार वहन करता हूँ ॥ १४ ॥

अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चास्माच्च वासव ॥ १५ ॥

वासव ! आपने मेरी अवज्ञा करके जो मेरा भोजन छीन लिया है, उसके कारण मेरा सारा गौरव नष्ट हो गया तथा इसमें कारण हुए हैं आप और ये श्रीहरि ॥ १५ ॥

अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ॥ १६ ॥

विष्णो ! अदितिके गर्भसे जो ये बल और पराक्रमसे सुशोभित देवता उत्पन्न हुए हैं, इन सबमें बलकी दृष्टिसे अधिक शक्तिशाली आप ही हैं ॥ १६ ॥

सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ॥ १७ ॥

तात ! आपको मैं अपनी पाँखके एक देशमें बिठाकर बिना किसी थकावटके ढोता रहता हूँ । धीरेसे आप ही विचार करें कि यहाँ कौन सबसे अधिक बलवान् है ? ॥ १७ ॥

कण्व उवाच

स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ॥ १८ ॥
गरुत्मन् मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।
अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ॥ १९ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! गरुड़की ये बातें भयंकर परिणाम उपस्थित करनेवाली थीं । उन्हें सुनकर रथाङ्गपाणि श्रीविष्णुने किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले पक्षिराजको क्षुब्ध करते हुए कहा—'गरुत्मन् ! तुम हो तो अत्यन्त दुर्बल, परंतु अपने आपको बड़ा भारी बलवान् मानते हो । अण्डज ! मेरे सामने फिर कभी अपनी प्रशंसा न करना ॥ १८-१९ ॥

त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवात्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ॥ २० ॥

'सारी त्रिलोकी मिलकर भी मेरे शरीरका भार वहन करनेमें असमर्थ है । मैं ही अपने द्वारा अपने आपको ढोता हूँ और तुमको भी धारण करता हूँ ॥ २० ॥

इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ॥ २१ ॥

'अच्छा, पहले तुम मेरी केवल दाहिनी भुजाका भार वहन करो । यदि इस एकको ही धारण कर लोगे तो तुम्हारी यह सारी आत्मप्रशंसा सफल समझी जायगी' ॥ २१ ॥

ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ॥ २२ ॥

इतना कहकर भगवान् विष्णुने गरुड़के कंधेपर अपनी दाहिनी बाँह रख दी । उसके बोझसे पीड़ित एवं विह्वल होकर गरुड़ गिर पड़े । उनकी चेतना भी नष्ट-सी हो गयी ।

यावान् हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद् भारममन्यत ॥ २३ ॥

पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जितना भार हो सकता है, उतना ही उस एक बाँहका भार है, यह गरुड़को अनुभव हुआ ॥ २३ ॥

न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलशाली भगवान् अच्युतने गरुड़को बलपूर्वक दबाया नहीं था; इसीलिये उनके जीवनका नाश नहीं हुआ ॥

व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ॥ २५ ॥

उस महान् भारसे अत्यन्त पीड़ित हो गरुड़ने मुँह बा दिया । उनका सारा शरीर शिथिल हो गया । उन्होंने अचेत और विह्वल होकर अपने पंख छोड़ दिये ॥ २५ ॥

स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः ।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर अचेत एवं विह्वल हुए विनतापुत्र पक्षिराज गरुड़ने भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणाम किया और दीनभावसे कुछ कहा—॥ २६ ॥

भगवल्लँोकसारस्य सदृशेन वपुष्मता ।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले ॥ २७ ॥

'भगवन् ! संसारके मूर्तिमान् सारतत्त्व-सदृश आपकी इस भुजाके द्वारा, जिसे आपने स्वाभाविक ही मेरे ऊपर रख दिया था, मैं पिसकर पृथ्वीपर गिर गया हूँ ॥ २७ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याल्पचेतसः ।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः ॥ २८ ॥

'देव ! मैं आपकी ध्वजामें रहनेवाला एक साधारण पक्षी हूँ । इस समय आपके बल और तेजसे दग्ध होकर व्याकुल और अचेत-सा हो गया हूँ । आप मेरे अपराधको क्षमा करें ॥ २८ ॥

न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो ।
तेन मन्ये ह्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः ॥ २९ ॥

'विभो ! मुझे आपके महान् बलका पता नहीं था । देव ! इसीसे मैं अपने बल और पराक्रमको दूसरोंके समान ही नहीं, उनसे बहुत बढ़-चढ़कर मानता था' ॥ २९ ॥

ततश्चक्रे स भगवान् प्रसादं वै गरुत्मतः ।
मैवं भूय इति स्नेहात् तदा चैनमुवाच ह ॥ ३० ॥

गरुड़के ऐसा कहनेपर भगवान्ने उनपर कृपादृष्टि की और उस समय स्नेहपूर्वक उनसे कहा—'फिर कभी इस प्रकार घमंड न करना ॥ ३० ॥

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि ।
ततःप्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् भगवान्ने अपने पैरके अंगूठेसे सुमुख नागको उठाकर गरुड़के वक्षःस्थलपर रख दिया । तभीसे गरुड़ उस सर्पको सदा साथ लिये रहते हैं ॥ ३१ ॥

एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः ।
गरुडो बलवान् राजन् वैनतेयो महयशाः ॥ ३२ ॥

राजन् ! इस प्रकार महायशस्वी बलवान् विनतानन्दन गरुड़ भगवान् विष्णुके बलसे आक्रान्त हो अपना अहंकार छोड़ बैठे ॥ ३२ ॥

कण्व उवाच

तथा त्वमपि गान्धारे यावत् पाण्डुसुतान् रणे ।
नासादयसि तान् वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक ॥ ३३ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—गान्धारीनन्दन वत्स दुर्योधन ! इसी तरह तुम भी जबतक रणभूमिमें उन वीर पाण्डवोंको अपने सामने नहीं पाते, तभीतक जीवन धारण करते हो ॥

भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः ।
धनंजयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे ॥ ३४ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाबली भीम वायुके पुत्र हैं । अर्जुन भी इन्द्रके पुत्र हैं । ये दोनों मिलकर युद्धमें किसे नहीं मार डालेंगे ? ॥ ३४ ॥

विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाश्विनावुभौ ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः ॥ ३५ ॥

धर्मस्वरूप विष्णु, वायु, इन्द्र और वे दोनों अश्विनीकुमार—इतने देवता तुम्हारे विरुद्ध हैं । तुम किस कारणसे इन देवताओंकी ओर देखनेका भी साहस कर सकते हो? ॥ ३५ ॥

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज ।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ॥ ३६ ॥

अतः राजकुमार ! इस विरोधसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है । पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । भगवान् श्रीकृष्णको सहायक बनाकर इनके द्वारा तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः ।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः ॥ ३७ ॥

इन महातपस्वी नारदजीने उस समय भगवान् विष्णुके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखा था । वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही ये 'श्रीकृष्ण' हैं ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन् भृकुटीमुखः ।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत् तदा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कण्वका वह कथन सुनकर दुर्योधनकी भौंहें तन गयीं । वह लम्बी साँस खींचता हुआ राधानन्दन कर्णकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ ३८ ॥

कदर्थीकृत्य तद् वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः ।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

उस दुर्बुद्धिने कण्व मुनिके वचनोंकी अवहेलना करके हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघपर हाथ पीटकर इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद् भावि या च मे गतिः ।

तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४० ॥

महर्षे ! मुझे ईश्वरने जैसा बनाया है, जो होनहार और जैसी मेरी अवस्था है, उसीके अनुसार मैं बर्ताव करता हूँ। आपलोगोंका यह प्रलाप क्या करेगा ?' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका दुर्योधनको समझाते हुए धर्मराजके द्वारा विश्वामित्रजीकी परीक्षा तथा गालवके विश्वामित्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये हठका वर्णन

जनमेजय उवाच

अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम्।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम्॥ १ ॥
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम्।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम्॥ २ ॥
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः।
सौहृदाद् वा सुहृत् स्निग्धो भगवान् वा पितामहः॥३॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! दुर्योधनका अनर्थकारी कार्योंमें ही अधिक आग्रह था। पराये धनके प्रति अधिक लोभ रखनेके कारण वह मोहित हो गया था। दुर्जनोंमें ही उसका अनुराग था। उसने मरनेका ही निश्चय कर लिया था। वह कुटुम्बीजनोंके लिये दुःखदायक और भाई-बन्धुओंके शोकको बढ़ानेवाला था। सुहृदोंको क्लेश पहुँचाता और शत्रुओंका हर्ष बढ़ाता था। ऐसे कुमार्गपर चलनेवाले इस दुर्योधनको उसके भाई-बन्धु रोकते क्यों नहीं थे ? कोई सुहृद्, स्नेही अथवा पितामह भगवान् व्यास उसे सौहार्दवश मना क्यों नहीं करते थे ? ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत् क्षमम्।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनापि तच्छृणु॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! भगवान् वेदव्यासने भी दुर्योधनसे उसके हितकी बात कही। भीष्मजीने भी जो उचित कर्तव्य था, वह बताया। इसके सिवा नारदजीने भी नाना प्रकारके उपदेश दिये। वह सब तुम सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
तिष्ठते हि सुहृद् यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—अकारण हित चाहनेवाले सुहृद्की बातोंको जो मन लगाकर सुने, ऐसा श्रोता दुर्लभ है। हितैषी सुहृद् भी दुर्लभ ही है; क्योंकि महान् संकटमें सुहृद् ही खड़ा हो सकता है, वहाँ भाई-बन्धु नहीं ठहर सकते ॥ ५ ॥

श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन।
न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैं देखता हूँ कि तुम्हें अपने सुहृदोंके उपदेशको सुननेकी विशेष आवश्यकता है; अतः तुम्हें किसी एक बातका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। दुराग्रहका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ॥ ६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः॥ ७ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महर्षि गालवने हठ या दुराग्रहके कारण पराजय प्राप्त की थी ॥७॥

विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा।
अभ्यगच्छत् स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः॥ ८ ॥

पहलेकी बात है, साक्षात् धर्मराज महर्षि भगवान् वसिष्ठका रूप धारण करके तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रके पास उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये ॥ ८ ॥

सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत।
बुभुक्षुः क्षुभितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु॥ ९ ॥

भारत ! धर्म सप्तर्षियोंमेंसे एक (वसिष्ठजी) का वेष धारण करके भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे विश्वामित्रके आश्रमपर आये ॥ ९ ॥

विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम्।
परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत्॥ १० ॥

विश्वामित्रजीने बड़ी उतावलीके साथ उनके लिये उत्तम भोजन देनेकी इच्छासे यत्नपूर्वक चरुपाक बनाना आरम्भ किया; परंतु ये अतिथिदेवता उनकी प्रतीक्षा न कर सके ॥ १० ॥

अन्नं तेन तदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः।
अथ गृह्यान्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत्॥ ११ ॥

उन्होंने जब दूसरे तपस्वी मुनियोंका दिया हुआ अन्न

खा लिया, तब विश्वामित्रजी भी अत्यन्त उष्ण भोजन लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ११ ॥

भुक्तं मे तिष्ठ तावत् त्वमित्युक्त्वा भगवान् ययौ।
विश्वामित्रस्ततो राजन् स्थित एव महाद्युतिः ॥ १२ ॥

उस समय भगवान् धर्म यह कहकर कि मैंने भोजन कर लिया, अब तुम रहने दो, वहाँसे चल दिये। राजन्! तब महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि वहाँ उसी अवस्थामें खड़े ही रह गये ॥ १२ ॥

भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः।
स्थितः स्थाणुरिवाभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ॥ १३ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले विश्वामित्रने दोनों हाथोंसे उस भोजनपात्रको थामकर माथेपर रख लिया और आश्रमके समीप ही ठूँठे पेड़की भाँति वे निश्चेष्ट खड़े रहे! उस अवस्थामें केवल वायु ही उनका आहार था ॥ १३ ॥

तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद् गालवो मुनिः।
गौरवाद् बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ॥ १४ ॥

उन दिनों उनके प्रति गौरवबुद्धि, विशेष आदर-सम्मानका भाव तथा प्रेम-भक्ति होनेके कारण उनकी प्रसन्नताके लिये गालवमुनि यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे ॥ १४ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत्।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ॥ १५ ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर पुनः धर्मदेव वसिष्ठ मुनिका वेष धारण करके भोजनकी इच्छासे विश्वामित्र मुनिके पास आये ॥ १५ ॥

स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम्।
भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि परम बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र केवल वायु पीकर रहते हुए सिरपर भोजनपात्र रक्खे खड़े हैं। यह देखकर धर्मने वह भोजन ले लिया। वह अन्न उसी प्रकार तुरंतकी तैयार की हुई रसोईके समान गरम था। उसे खाकर वे बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर मुनिवेषधारी धर्मदेव चले गये ॥ १६-१७ ॥

क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः।
धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस्तदा भवत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियत्वसे ऊँचे उठकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए विश्वामित्र-को धर्मके वचनसे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ॥ १९ ॥

वे अपने शिष्य तपस्वी गालव मुनिकी सेवा-शुश्रूषा तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर बोले—॥ १९ ॥

अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ॥ २० ॥
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम्।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ॥ २१ ॥

'वत्स गालव! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर गालवने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुर वाणीमें महातेजस्वी मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—'भगवन्! मैं आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें क्या दूँ?' ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ॥ २२ ॥

'मानद! दक्षिणायुक्त कर्म ही सफल होता है। दक्षिणा देनेवाले पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ॥ २३ ॥

'दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ही स्वर्गमें यज्ञका फल पाता है। वेदमें दक्षिणाको ही शान्तिप्रद बताया गया है। अतः पूज्य गुरुदेव! बतावें कि मैं क्या गुरुदक्षिणा ले आऊँ?' ॥ २३ ॥

जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै।
विश्वामित्रस्तमसकृद् गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ॥ २४ ॥

गालवकी सेवा-शुश्रूषासे भगवान् विश्वामित्र उनके वशमें हो गये थे। अतः उनके उपकारको समझते हुए विश्वामित्रने उनसे बार-बार कहा—'जाओ, जाओ' ॥ २४ ॥

असकृद् गच्छ गच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

उनके द्वारा बारंबार 'जाओ, जाओ' की आज्ञा मिलनेपर भी गालवने अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछा—'मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ॥ २५ ॥

निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः।
किंचिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥

तपस्वी गालवके बहुत आग्रह करनेपर विश्वामित्रको कुछ क्रोध आ गया; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।

अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम् ॥ २७ ॥

'गालव ! तुम मुझे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके हों। जाओ, देर न करो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गालवकी चिन्ता और गरुड़का आकर उन्हें आश्वासन देना

नारद उवाच

एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता।
नास्ते न शेते नाहारं कुरुते गालवस्तदा ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर गालव मुनि तबसे न कहीं बैठते, न सोते और न भोजन ही करते थे ॥ १ ॥

त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना।
गालवो दुःखितो दुःखाद् विललाप सुयोधन ॥ २ ॥

वे चिन्ता और शोकमें डूबे रहनेके कारण पाण्डुवर्णके हो गये। उनके शरीरमें अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह गये थे। सुयोधन ! अत्यन्त शोक करते और चिन्ताकी आगमें दग्ध होते हुए दुखी गालव मुनि दुःखसे विलाप करने लगे—॥ २ ॥

कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः संचयः कुतः।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ॥ ३ ॥

'मेरे ऐसे मित्र कहाँ, जो धनसे पुष्ट हों ? मुझे कहाँसे धन प्राप्त होगा ? कहाँ मेरे लिये धन संग्रह करके रक्खा हुआ है ? और कहाँसे मुझे चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले आठ सौ घोड़े प्राप्त होंगे ? ॥ ३ ॥

कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे ॥ ४ ॥

'ऐसी दशामें मुझे भोजनकी रुचि कहाँसे हो ? सुख भोगनेकी इच्छा कहाँसे हो ? और इस जीवनसे भी मुझे क्या प्रयोजन है ? इस जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये मेरा जो उत्साह था, वह भी नष्ट हो गया ॥ ४ ॥

अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परम्परात्।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे ॥ ५ ॥

'मैं समुद्रके उस पार अथवा पृथ्वीसे बहुत दूर जाकर इस शरीरको त्याग दूँगा। अब मेरे लिये जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ ५ ॥

अधनस्याकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ॥ ६ ॥

जो निर्धन है, जिसके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं हुई है तथा जो नाना प्रकारके शुभ कर्मफलोंसे वञ्चित होकर केवल ऋणका बोझ ढो रहा है, ऐसे मनुष्यको बिना उद्यमके जीवन धारण करनेसे क्या सुख होगा ? ॥ ६ ॥

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम्।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥ ७ ॥

'जो इच्छानुसार प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके सुहृदोंका धन भोगकर उनका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो, उसके जीनेसे मर जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ॥ ८ ॥

'जो 'करूँगा' ऐसा कहकर किसी कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, परंतु आगे चलकर उस कर्तव्यका पालन न कर सके, उस असत्यभाषणसे दग्ध हुए पुरुषके 'इष्ट' और 'आपूर्त' सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्यास्ति संततिः।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा ॥ ९ ॥

'सत्यसे शून्य मनुष्यका जीवन नहींके बराबर है। मिथ्यावादीको संतति नहीं प्राप्त होती। झूठेको प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ ९ ॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १० ॥

'कृतघ्न मनुष्यको सुयश कहाँ ? स्थान या प्रतिष्ठा कहाँ और सुख भी कहाँ है ? कृतघ्न मानव अविश्वसनीय होता है, उसका कभी उद्धार नहीं होता है ॥ १० ॥

न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम्।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन् कृतम् ॥ ११ ॥

'निर्धन एवं पापी मनुष्यका जीवन वास्तवमें जीवन नहीं है। पापी मनुष्य अपने कुटुम्बका पोषण भी कैसे कर सकता है ?

पापात्मा (निर्धन) पुरुष अपने पुण्य कर्मोंका नाश करता हुआ स्वयं भी निश्चय ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चानृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत् करोमि न भाषितम् ॥ १२ ॥

'मैं पापी, कृतघ्न, कृपण और मिथ्यावादी हूँ, जिसने गुरुसे तो अपना काम करा लिया, परंतु स्वयं जो उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम् ।
अर्थिता न मया काचित् कृतपूर्वा दिवौकसाम् ।
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ॥ १३ ॥

'अतः मैं कोई उत्तम प्रयत्न करके अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा । मैंने आजसे पहले देवताओंसे भी कभी कोई याचना नहीं की है । सब देवता यज्ञमें मेरा समादर करते हैं ॥ १३ ॥

अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम् ॥ १४ ॥

'अब मैं त्रिभुवनके स्वामी एवं जङ्गम जीवोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय सुरश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन भगवान् विष्णुकी शरणमें जाता हूँ ॥ १४ ॥

भोगा यस्मात् प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान् सुरासुरान् ।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ॥ १५ ॥

'जिनकी कृपासे समस्त देवताओं और असुरोंको भी यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अविनाशी योगी भगवान् विष्णुका मैं प्रणतभावसे दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ॥ १६ ॥

गालवके इस प्रकार कहनेपर उनके सखा विनतानन्दन गरुड़ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन्हें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुहृद् भवान् मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।
ईप्सितेनाभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ॥ १७ ॥

'गालव ! तुम मेरे प्रिय सुहृद् हो और मेरे सुहृदोंके भी प्रिय सुहृद् हो । सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि यदि उनके पास धन-वैभव हो तो वे उसका अपने सुहृद्का अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उपयोग करें ॥ १७ ॥

विभवश्चास्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे सबसे बड़े वैभव हैं इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु । मैंने पहले तुम्हारे लिये उनसे निवेदन किया था और उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार करके मेरा मनोरथ पूर्ण किया था ॥ १८ ॥

स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ॥ १९ ॥

'अतः आओ' हम दोनों चलें । गालव ! मैं तुम्हें सुखपूर्वक ऐसे देशमें पहुँचा दूँगा, जो पृथ्वीके अन्तर्गत तथा समुद्रके उस पार है । चलो, विलम्ब न करो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़का गालवसे पूर्व दिशाका वर्णन करना

सुपर्ण उवाच

अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालवाज्ञातयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ॥ १ ॥

गरुड़ने कहा—गालव ! अनादिदेव भगवान् विष्णुने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ । अतः तुम अपनी इच्छाके अनुसार बताओ कि मैं सबसे पहले किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ १ ॥

पूर्वां वा दक्षिणां वाहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! बोलो, मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम अथवा उत्तरमेंसे किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ २ ॥

यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र संध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ॥ ३ ॥
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्र चैष प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
हुतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतोदिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाध्वनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! जिस दिशामें सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न एवं प्रभावित करनेवाले भगवान् सूर्य प्रथम उदित होते हैं, जिस दिशामें संध्याके समय साध्यगण तपस्या करते हैं, जिस दिशामें (गायत्रीजपके द्वारा) पहले वह बुद्धि प्राप्त हुई है, जिसने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, धर्मके युगल-

नेत्रस्वरूप चन्द्रमा और सूर्य पहले जिस दिशामें उदित होते हैं और (प्रायः पूर्वाभिमुख होकर धर्मानुष्ठान किये जानेके कारण) जहाँ धर्म प्रतिष्ठित हुआ है तथा जिस दिशामें पवित्र हविष्यका हवन करनेपर वह आहुति सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाती है, वही यह पूर्वदिशा दिन एवं सूर्यमार्गका द्वार है ॥३–५॥

अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः ।
यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥ ६ ॥

इसी दिशामें प्रजापति दक्षकी अदिति आदि कन्याओंने सबसे पहले प्रजावर्गको उत्पन्न किया था और इसीमें प्रजापति कश्यपकी संतानें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥ ६ ॥

अतोमूला सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत ।
सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चात्र तपश्चितम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षे ! देवताओंकी लक्ष्मीका मूलस्थान पूर्व दिशा ही है। इसीमें इन्द्रका देवसम्राट्‌के पदपर प्रथम अभिषेक हुआ है और इसी दिशामें देवताओंने तपस्या की है ॥ ७ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् पूर्वेत्येषा दिगुच्यते।
यस्मात् पूर्वतरे काले पूर्वमेवावृता सुरैः ॥ ८ ॥
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते ।

ब्रह्मन् ! इन्हीं सब कारणोंसे इस दिशाको 'पूर्वा' कहते हैं; क्योंकि अत्यन्त पूर्वकालमें पहले यही दिशा देवताओंसे आवृत हुई थी; अतएव इसे सबकी आदि दिशा कहते हैं ॥ ८½ ॥

पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ॥ ९ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंको देवसम्बन्धी सारे कार्य पहले इसी दिशामें करने चाहिये ॥ ९ ॥

अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ॥१०॥

लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने पहले इसी दिशामें वेदोंका गान किया था और सविता देवताने ब्रह्मवादी मुनियोंको यहीं सावित्रीमन्त्रका उपदेश किया था ॥ १० ॥

अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम ।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें सूर्यदेवने महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र दिये थे और इसी दिशामें देवतालोग यज्ञोंमें उस सोमरसका पान करते हैं, जो उन्हें वरदानमें प्राप्त हो चुका है ॥ ११ ॥

अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते ।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ॥ १२ ॥

इसी दिशामें यज्ञोंद्वारा तृप्त हुए अग्निगण अपने योनिस्वरूप जलका उपभोग करते हैं । यहीं वरुणने पातालका आश्रय लेकर लक्ष्मीको प्राप्त किया था ॥ १२ ॥

अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें पुरातन महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है । यहीं उन्हें प्रतिष्ठा (सप्तर्षियोंमें स्थान) की प्राप्ति हुई है और इसी दिशामें उन्हें निमिके शापसे देहत्याग करना पड़ा है ॥ १३ ॥

ओङ्कारस्यात्र जायन्ते सूतयो दशतीर्दश ।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ॥ १४ ॥

इसी दिशामें प्रणव अर्थात् वेदकी सहस्रों शाखाएँ प्रकट हुई हैं और उसीमें धूमपायी महर्षिगण हविष्यके धूमका पान करते हैं ॥ १४ ॥

प्रोक्षिता यत्र बहवो वाराहाद्या मृगा वने ।
शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने यज्ञभागकी सिद्धिके लिये वनमें जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंको प्रोक्षित करके देवताओंको सौंपा था ॥ १५ ॥

अत्राहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चासुराश्च ये ।
उदयंस्तान् हि सर्वान् वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः ॥१६॥

इस दिशामें उदित होनेवाले भगवान् सूर्य जो दूसरोंका अहित करनेवाले एवं कृतघ्न मनुष्य और असुर होते हैं, उन सबका क्रोधपूर्वक विनाश करते (उनकी आयु क्षीण कर देते) हैं ॥ १६ ॥

एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च ।
एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ॥ १७ ॥

गालव ! यह पूर्व दिग्विभाग ही त्रिलोकीका, स्वर्गका और सुखका भी द्वार है । तुम्हारी इच्छा हो तो हम दोनों इसमें प्रवेश करें ॥ १७ ॥

प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्यास्मि वचने स्थितः ।
ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाप्यपरां दिशम् ॥ १८ ॥

मैं जिनकी आज्ञाके अधीन हूँ, उन भगवान् विष्णुका प्रिय कार्य मुझे अवश्य करना है; अतः गालव ! बताओ, क्या मैं पूर्व दिशामें चलूँ अथवा दूसरी दिशाका भी वर्णन सुन लो।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दक्षिण दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक्॥ १॥

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें भगवान् सूर्यने वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञ करके आचार्य कश्यपको दक्षिणारूपसे इस दिशाका दान किया था, इसीलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं॥ १॥

अत्र लोकत्रयस्यास्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज॥ २॥

ब्रह्मन्! तीनों लोकोंके पितृगण इसी दिशामें प्रतिष्ठित हैं तथा 'ऊष्मप' नामक देवताओंका निवास भी इसी दिशामें सुना जाता है॥ २॥

अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम्॥ ३॥

पितरोंके साथ विश्वेदेवगण सदा दक्षिण दिशामें ही वास करते हैं। वे समस्त लोकोंमें पूजित हो श्राद्धमें पितरोंके समान ही भाग प्राप्त करते हैं॥ ३॥

एतद् द्वितीयं देवस्य द्वारमाचक्षते द्विज।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः॥ ४॥

विप्रवर! विद्वान् पुरुष इस दक्षिण दिशाको धर्मदेवताका दूसरा द्वार कहते हैं। यहीं (चित्रगुप्त आदिके द्वारा) 'त्रुटि' और 'लव' आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालांशोंपर दृष्टि रखते हुए प्राणियोंकी आयुकी निश्चित गणना की जाती है॥ ४॥

अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः॥ ५॥

देवर्षि, पितृलोकके ऋषि तथा समस्त राजर्षिगण दुःखरहित हो सदा इसी दिशामें निवास करते हैं॥ ५॥

अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चात्र निगद्यते।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम्॥ ६॥

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें (रहकर चित्रगुप्त आदिके द्वारा धर्मराजके निकट प्राणियोंके) धर्म, सत्य तथा साधारण कर्मोंके विषयमें कहा जाता है। मृत प्राणी तथा उनके कर्म इसी दिशाका आश्रय लेते हैं॥ ६॥

एषा दिक् सा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते।
वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते॥ ७॥

विप्रवर! यह वह दिशा है, जिसमें मृत्युके पश्चात् सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है। यह सदा अज्ञानान्धकारसे आवृत रहती है, इसलिये इसमें सुखपूर्वक यात्रा सम्भव नहीं हो पाती है॥ ७॥

नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः॥ ८॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने इस दिशामें प्रतिकूल स्वभाव एवं आचरणवाले सहस्रों राक्षसोंकी सृष्टि की है, जिनका दर्शन अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको ही होता है॥ ८॥

अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज॥ ९॥

ब्रह्मन्! इसी दिशामें गन्धर्वगण मन्दराचलके कुञ्जों और ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें मन और बुद्धिको आकर्षित करनेवाली गाथाओंका गान करते हैं॥ ९॥

अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः॥ १०॥

पूर्वकालमें यहीं राजा रैवत गाथाओंके रूपमें सामगान सुनते-सुनते अपनी स्त्री, मन्त्री तथा राज्यसे भी वियुक्त हो वनमें चले गये थे*॥ १०॥

अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन् यां सूर्यो नातिवर्तते॥ ११॥

ब्रह्मन्! इस दिशामें सावर्णि मनु तथा यवक्रीतके पुत्रने सूर्यकी गतिके लिये मर्यादा (सीमा) स्थापित की थी, जिसका सूर्यदेव कभी उल्लङ्घन नहीं करते हैं॥ ११॥

अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता॥ १२॥

पुलस्त्यवंशी राक्षसराज महामना रावणने इसी दिशामें तपस्या करके देवताओंसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त किया था॥ १२॥

---

* एक समय राजा रैवत अपनी पुत्रीके साथ उसके लिये वरका अनुसंधान करने ब्रह्माजीके पास गये थे। वहाँसे लौटते समय उन्होंने मन्दराचलके पुण्य प्रदेशोंमें गन्धर्वोंका सामगान सुना और कुछ देर ठहर गये। वहाँका थोड़ा-सा भी समय मनुष्यलोकके महान् कालके बराबर होता है। राजा जब लौटकर राजधानीमें आये, तब सत्ययुग और त्रेता बीतकर द्वापरका अन्तिम भाग व्यतीत हो रहा था। मन्त्री और परिवारके सभी लोग कालके गालमें जा चुके थे। उन दिनों उनकी राजधानी कुशस्थलीके स्थानपर दिव्य द्वारकापुरीका निर्माण हो चुका था। राजाने अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीसे कर दिया और स्वयं वे वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये।

अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान् ।
अत्र सर्वासवः प्राप्ताः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ॥ १३ ॥

इसी दिशामें घटित हुई घटनाके कारण वृत्रासुर देवराज इन्द्रका शत्रु बन बैठा था। दक्षिण दिशामें ही आकर सबके प्राण पुनः (प्राण-अपान आदिके भेदसे) पाँच भागोंमें बँट जाते हैं (अर्थात् प्राणी नूतन देह धारण करते हैं) ॥ १३ ॥

अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव ।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ॥ १४ ॥

गालव ! इसी दिशामें पापाचारी मनुष्य नरकोंकी आगमें पकाये जाते हैं । दक्षिणमें ही वह वैतरणी नदी है, जो वैतरणी नरकके अधिकारी पापियोंसे घिरी रहती है ॥ १४ ॥

अत्र गत्वा सुखस्यान्तं दुःखस्यान्तं प्रपद्यते ।
अत्रावृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ॥ १५ ॥
काष्ठां चासाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः ।

मनुष्य इसी दिशामें जाकर सुख और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है । इसी दक्षिण दिशामें लौटनेपर (अर्थात् उत्तरायणके अन्तिम भागमें पहुँचकर दक्षिणायनके आरम्भमें आनेपर जब कि वर्षाऋतु रहती है,) सूर्यदेव सुस्वादु जलकी वर्षा करते हैं । फिर वसिष्ठ मुनिके द्वारा सेवित उत्तर दिशामें पहुँचकर (अर्थात् उत्तरायणके प्रारम्भमें जब कि शिशिर ऋतु रहती है,) वे ओले गिराते हैं ॥ १५½ ॥

अत्राहं गालव पुरा क्षुधार्तः परिचिन्तयन् ॥ १६ ॥
लब्धवान् युध्यमानौ द्वौ बृहन्तौ गजकच्छपौ ।

गालव ! पूर्वकालकी बात है, मैं भूखसे पीड़ित होकर भारी चिन्तामें पड़ गया था, परंतु इसी दिशामें आनेपर दो विशाल प्राणी—हाथी और कछुआ मेरे हाथ लग गये, जो आपसमें लड़ रहे थे ॥ १६½ ॥

अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ॥ १७ ॥
विदुर्यं कपिलं देवं येनार्ताः सगरात्मजाः ।

सूर्यके समान तेजस्वी महर्षि कर्दमसे उत्पन्न हुए 'चक्रधनु' नामक महर्षि इसी दिशामें रहते थे, जिन्हें सब लोग 'कपिलदेव'के नामसे जानते हैं । उन्होंने ही सगरके पुत्रोंको भस्म कर दिया था ॥ १७½ ॥

अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अधीत्य सकलान् वेदाँल्लेभिरे मोक्षमक्षयम् ।

इसी दिशामें 'शिव' नामसे प्रसिद्ध कुछ सिद्ध ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारंगत पण्डित थे । उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके (तत्त्वज्ञानद्वारा) अक्षय मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ १८½ ॥

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ॥ १९ ॥
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ।

दक्षिणमें ही वासुकिद्वारा पालित तथा तक्षक एवं ऐरावत नागद्वारा सुरक्षित भोगवती नामक पुरी है ॥ १९½ ॥

अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ॥ २० ॥
अभेद्यं भास्करेणापि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना ।

मृत्युके पश्चात् इस दिशामें जानेवाले प्राणीको ऐसे घोर अन्धकारका सामना करना पड़ता है, जो साक्षात् अग्नि एवं सूर्यके लिये भी अभेद्य है ॥ २०½ ॥

एष तस्यापि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव ।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं शृणु चापरम् ॥ २१ ॥

गालव ! तुम मेरे द्वारा परिचर्या पाने (सेवा ग्रहण करने) के योग्य हो, अतः तुम्हें यह दक्षिण मार्ग बताया है; यदि इस दिशामें चलना हो तो मुझसे कहो अथवा अब तीसरी पश्चिम दिशाका वर्णन सुनो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

पश्चिम दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं दिग् दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चादिरेव च ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! यह जो सामनेकी दिशा है, जलके स्वामी दिक्पाल राजा वरुणको सदा ही अत्यन्त प्रिय है । यही उनका आश्रय और उत्पत्तिस्थान है ॥ १ ॥

अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम् ।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! दिनके पश्चात् सूर्यदेव इसी दिशामें स्वयं अपनी किरणोंका विसर्जन करते हैं, इसलिये यह 'पश्चिम' के नामसे विख्यात है ॥ २ ॥

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ।

कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् कश्यपदेवने जलजन्तुओंका आधिपत्य और जलकी रक्षा करनेके लिये इसी दिशामें वरुणका अभिषेक किया था ॥ ३ ॥

अत्र पीत्वा समस्तान् वै वरुणस्य रसांस्तु षट्।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्यादौ तमिस्रहा ॥ ४ ॥

अन्धकारका नाश करनेवाले चन्द्रमा वरुणके निकट रहकर छः प्रकारके सम्पूर्ण रसोंका पान करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको इसी दिशामें नूतनताको प्राप्त होकर उदित होते हैं ॥ ४ ॥

अत्र पश्चात् कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्वकालमें वायुदेवने अपने महान् वेगसे यहाँ युद्धमें दैत्योंको पराङ्मुख, आबद्ध और पीड़ित किया था, जिससे वे लम्बी साँस छोड़ते हुए धराशायी हो गये थे ॥ ५ ॥

अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः संध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ॥ ६ ॥

इसी दिशामें अस्ताचल है, जो अपने प्रीतिपात्र सूर्यदेवको प्रतिदिन ग्रहण करता है । वहींसे पश्चिम संध्याका प्रसार होता है ॥ ६ ॥

अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवायुषः ॥ ७ ॥

इसी दिशासे दिनके अन्तमें मानो जीव-जगत्की आधी आयु हर लेनेके लिये रात्रि एवं निद्राका प्राकट्य होता है ॥ ७ ॥

अत्र देवीं दितिं सुप्तामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ॥ ८ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने सोयी हुई गर्भवती दिति-देवीके (उदरमें प्रवेश करके उसके) गर्भका उच्छेद किया था, जिससे मरुद्गणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते ॥ ९ ॥

इसी दिशामें हिमालयका मूलभाग सदा मन्दराचलतक फैलकर उसका स्पर्श करता है । सहस्रों वर्षोंमें भी इसका अन्त पाना असम्भव है ॥ ९ ॥

अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ॥ १० ॥

इसी दिशामें सुवर्णमय पर्वत मन्दराचल तथा स्वर्णमय कमलोंसे सुशोभित क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर सुरभिदेवी अपने दूधका निर्झर बहाती हैं ॥ १० ॥

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ॥ ११ ॥

पश्चिम दिशामें ही समुद्रके भीतर सूर्यके समान तेजस्वी उस राहुका कबन्ध (धड़) दिखायी देता है, जो सूर्य और चन्द्रमाको मार डालनेकी इच्छा रखता है ॥ ११ ॥

सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ॥ १२ ॥

इसी दिशामें पिङ्गलवर्णके केशोंसे सुशोभित, अप्रमेय प्रभावशाली एवं अदृश्यमूर्ति मुनिवर सुवर्णशिरा सामगान करते हैं । उनके उस गीतकी विपुल ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है ॥ १२ ॥

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ १३ ॥

इसी दिशामें हरिमेधा मुनिकी कुमारी कन्या ध्वजवती निवास करती है, जो सूर्यदेवकी 'ठहरो' 'ठहरो' इस आज्ञासे आकाशमें स्थित है ॥ १३ ॥

अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ॥ १४ ॥

गालव ! वायु, अग्नि, जल और आकाश— ये सब इस दिशामें रात्रि और दिनके दुःखदायी स्पर्शका परित्याग करते हैं (अर्थात् यहाँ इनका स्पर्श सदा सुखद ही होता है) ॥१४॥

अतःप्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः ।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ १५ ॥

इसी दिशासे सूर्यदेव तिरछी गतिसे चक्कर लगाना आरम्भ करते हैं । यहीं सम्पूर्ण ज्योतियाँ सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं ॥ १५ ॥

अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात् सोमसंयोगयोगतः ॥ १६ ॥

अभिजित्सहित अट्ठाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक अट्ठाईसवें दिन सूर्यके साथ विचरण करके अमावस्याके बाद फिर सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जाता है ॥ १६ ॥

अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणालये ॥ १७ ॥

इसी दिशासे उन अधिकांश नदियोंका प्राकट्य हुआ है, जिनके जलसे समुद्रकी पूर्ति होती रहती है । यहींके वरुणालयमें त्रिभुवनके लिये उपयोगी जलराशि संचित है ॥ १७ ॥

अत्र पन्नगराजस्याप्यनन्तस्य निवेशनम् ।

अनादिनिधनस्यात्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

यहीं नागराज अनन्तका निवास तथा आदि-अन्तसे रहित भगवान् विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ १८ ॥

अत्रानलसखस्यापि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

इसी दिशामें अग्निदेवके सखा वायुदेवका भवन तथा मरीचिनन्दन महर्षि कश्यपका आश्रम है ॥ १९ ॥

एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे पश्चिम-का मार्ग बताया है । अब बताओ, तुम्हारा क्या विचार है ? हम दोनों किस दिशाकी ओर चलें ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरितविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

उत्तर दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

यस्मादुत्तार्यते पापाद् यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! इस मार्गसे जानेपर मनुष्य-का पापसे उद्धार हो जाता है और वह कल्याणमय स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करता है; अतः इस उत्तारण (संसारसागरसे पाप उतारने) के बलसे इस दिशाको उत्तरदिशा कहते हैं ॥ १ ॥

उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ॥ २ ॥

गालव ! यह उत्तर दिशा उत्कृष्ट सुवर्ण आदि निधियोंकी अधिष्ठान है (इसलिये भी इसका नाम उत्तर है) । यह उत्तर मार्ग पश्चिम और पूर्व दिशाओंका मध्यवर्ती बताया गया है ॥

अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नासौम्यो नाविधेयात्मा नाधर्मो वसते जनः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस गौरवशालिनी दिशामें ऐसे लोगोंका वास नहीं है, जो सौम्य स्वभावके न हों, जिन्होंने अपने मनको वशमें न किया हो तथा जो धर्मका पालन न करते हों ॥ ३ ॥

अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ॥ ४ ॥

इसी दिशामें बदरिकाश्रमतीर्थ है, जहाँ सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीनारायण, विजयशील नरश्रेष्ठ नर और सनातन ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ४ ॥

अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५ ॥

उत्तरमें ही हिमालयके शिखरपर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी अन्तर्यामी भगवान् महेश्वर भगवती उमाके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ ५ ॥

न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ॥ ६ ॥

वे भगवान् नर और नारायणके सिवा और किसीकी दृष्टिमें नहीं आते । समस्त मुनिगण, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध अथवा देवताओंसहित इन्द्र भी उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ ६ ॥

अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ॥ ७ ॥

यहाँ सहस्रों नेत्रों, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकोंवाले एकमात्र अविनाशी श्रीमान् भगवान् विष्णु ही उन मायाविशिष्ट महेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ॥ ८ ॥
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।

उत्तर दिशामें ही चन्द्रमाका द्विजराजके पदपर अभिषेक हुआ था । वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गालव ! यहीं आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको महादेवजीने अपने मस्तकपर धारण किया और उन्हें मनुष्यलोकमें छोड़ दिया ॥ ८½ ॥

अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ॥ ९ ॥
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।

यहीं पार्वतीदेवीने भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये कठोर तपस्या की थी और इसी दिशामें महादेवजीको मोहित करनेके लिये काम प्रकट हुआ । फिर उसके ऊपर भगवान् शंकरका क्रोध हुआ । उस अवसरपर गिरिराज हिमालय और उमा भी वहाँ विद्यमान थीं (इस प्रकार ये सब लोग वहाँ एक ही समयमें प्रकाशित हुए) ॥

अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ॥ १० ॥

आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः ।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ॥ ११ ॥

गालव ! इसी दिशामें कैलास पर्वतपर राक्षस, यक्ष और गन्धर्वोंका आधिपत्य करनेके लिये धनदाता कुबेरका अभिषेक हुआ था। उत्तर दिशामें ही रमणीय चैत्ररथवन और वैखानस ऋषियोंका आश्रम है ॥ १०-११ ॥

अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यहीं मन्दाकिनी नदी और मन्दराचल हैं। इसी दिशामें राक्षसगण सौगन्धिकवनकी रक्षा करते हैं॥१२॥

शाड्वलं कदलीस्कन्धमत्र संतानका नगाः ।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ॥ १३ ॥
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव ।

यहीं हरी-हरी घासोंसे सुशोभित कदलीवन है और यहीं कल्पवृक्ष शोभा पाते हैं। गालव ! इसी दिशामें सदा संयम-नियमका पालन करनेवाले स्वच्छन्दचारी सिद्धोंके इच्छानुसार भोगोंसे सम्पन्न एवं मनोनुकूल विमान विचरते हैं ॥ १३½ ॥

अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ॥ १४ ॥
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्रास्या उदयः स्मृतः ।

इसी दिशामें अरुन्धतीदेवी और सप्तर्षि प्रकाशित होते हैं। इसीमें स्वाती नक्षत्रका निवास है और यहीं उसका उदय होता है ॥ १४½ ॥

अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ॥ १५ ॥
ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः ।

इसी दिशामें ब्रह्माजी यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होकर नियमित-रूपसे निवास करते हैं। नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य भी सदा इसीमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १५½ ॥

अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ॥ १६ ॥
धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः ।
न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाकृतिर्न तपश्चितम् ॥ १७ ॥
परिवर्तसहस्राणि कामभोज्यानि गालव ।

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें धाम नामसे प्रसिद्ध सत्यवादी महात्मा मुनि श्रीगङ्गामहाद्वारकी रक्षा करते हैं। उनकी मूर्ति, आकृति तथा संचित तपस्याका परिमाण किसीको ज्ञात नहीं होता है। गालव ! वे सहस्रों युगान्तकालतककी आयु इच्छानुसार भोगते हैं ॥ १६-१७½ ॥

यथा यथा प्रविशति तस्मात् परतरं नरः ॥ १८ ॥
तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव ।
नैतत् केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ॥ १९ ॥
ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम् ।
अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्य ज्यों-ज्यों गङ्गामहाद्वारसे आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे वहाँकी हिमराशिमें गलता जाता है। विप्रवर गालव ! साक्षात् भगवान् नारायण तथा विजयशील अविनाशी महात्मा नरको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य पहले कभी गङ्गामहाद्वारसे आगे नहीं गया है। इसी दिशामें कैलास-पर्वत है, जो कुबेरका स्थान बताया गया है ॥ १८–२० ॥

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश ।
अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ॥ २१ ॥
त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम् ।
अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः ।

यहीं विद्युत्प्रभा नामसे प्रसिद्ध दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं। ब्रह्मन् ! त्रिलोकीको नापते समय भगवान् विष्णुने इसी दिशामें अपना चरण रक्खा था। उत्तर दिशामें भगवान् विष्णुका वह चरणचिह्न (हरिकी पैंड़ी) आज भी मौजूद है। द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मर्षे ! उत्तर दिशाके ही उशीरबीज नामक स्थानमें, जहाँ सुवर्णमय सरोवर है, राजा मरुत्तने यज्ञ किया था ॥ २१-२२½ ॥

जीमूतस्यात्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ॥ २३ ॥
साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः ।

इसी दिशामें ब्रह्मर्षि महात्मा जीमूतके समक्ष हिमालयकी पवित्र एवं निर्मल स्वर्णनिधि (सोनेकी खान) प्रकट हुई थी॥

ब्राह्मणेषु च यत् कृत्स्नं स्वन्तं कृत्वा धनं महत् ॥ २४॥
वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद् धनं ततः ।

उस सम्पूर्ण विशाल धनराशिको उन्होंने ब्राह्मणोंमें बाँट-कर उसका सदुपयोग किया और ब्राह्मणोंसे यह वर माँगा कि यह धन मेरे नामसे प्रसिद्ध हो। इस कारण वह धन 'जैमूत' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४½ ॥

अत्र नित्यं दिशाम्पालाः सायम्प्रातर्द्विजर्षभ ॥ २५ ॥
कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव ।

विप्रवर गालव ! यहाँ प्रतिदिन सबेरे और सन्ध्याके समय सभी दिक्पाल एकत्र हो उच्च स्वरसे यह पूछते हैं कि किसको क्या काम है ? ॥ २५½ ॥

एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ॥ २६ ॥
उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा ।

द्विजश्रेष्ठ ! इन सब कारणोंसे तथा अन्यान्य गुणोंके कारण यह दिशा उत्कृष्ट है और समस्त शुभ कर्मोंके लिये भी यही उत्तम मानी गयी है। इसलिये इसे उत्तर कहते हैं ॥ २६½॥

एता विस्तरशस्तात तव संकीर्तिता दिशः ॥ २७ ॥
चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि ।

तात ! इस प्रकार मैंने क्रमशः चारों दिशाओंका तुम्हारे सामने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कहो, किस दिशामें चलना चाहते हो? ॥ २७½ ॥

उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः।
पृथिवीं चाखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण पृथ्वी तथा समस्त दिशाओंका दर्शन करानेके लिये उद्यत हूँ; अतः तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़की पीठपर बैठकर पूर्व दिशाकी ओर जाते हुए गालवका उनके वेगसे व्याकुल होना

गालव उवाच

गरुत्मन् भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ॥ १ ॥

गालवने कहा—गरुत्मन् ! भुजगराजशत्रो ! सुपर्ण ! विनतानन्दन ! तार्क्ष्य ! तुम मुझे पूर्व दिशाकी ओर ले चलो, जहाँ धर्मके नेत्रस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं ॥

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता।
देवतानां हि सांनिध्यमत्र कीर्तितवानसि ॥ २ ॥
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक् प्रकीर्तितः।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्दैवतैरहम्।
भूयश्च तान् सुरान् द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ॥ ३ ॥

जिस दिशाका तुमने सबसे पहले वर्णन किया है, उसी दिशाकी ओर पहले चलो; क्योंकि उस दिशामें तुमने देवताओंका सांनिध्य बताया है तथा वहीं सत्य और धर्मकी स्थितिका भी भलीभाँति प्रतिपादन किया है। अरुणके छोटे भाई गरुड़ ! मैं सम्पूर्ण देवताओंसे मिलना और पुनः उन सबका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम्।
आरुरोहाथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ॥ ४ ॥

नारदजी कहते हैं—तब विनतानन्दन गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'तुम मेरे ऊपर चढ़ जाओ।' तब गालवमुनि गरुड़की पीठपर जा बैठे ॥ ४ ॥

गालव उवाच

क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ५ ॥

गालवने कहा—सर्पभोजी गरुड़ ! पूर्वाह्णकालमें सहस्र किरणोंसे सुशोभित भुवनभास्कर सूर्यका स्वरूप जैसा दिखायी देता है, आकाशमें उड़ते समय तुम्हारा स्वरूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ५ ॥

पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम्।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ॥ ६ ॥

खेचर ! तुम्हारे पङ्खोंकी हवासे उखड़कर ये वृक्ष पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। मैं इनकी भी ऐसी तीव्र गति देख रहा हूँ, मानो ये भी हमलोगोंके साथ चलनेके लिये प्रस्थित हुए हों ॥ ६ ॥

ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम्।
आकर्षन्निव चाभासि पक्षवातेन खेचर ॥ ७ ॥

आकाशचारी गरुड़ ! तुम अपने पङ्खोंके वेगसे उठी हुई वायुद्वारा समुद्रकी जलराशि, पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी ओर खींचते-से जान पड़ते हो ॥ ७ ॥

समीननागनक्रं च खमिवारोप्यते जलम्।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चानिशम् ॥ ८ ॥

पाँखोंके हिलानेसे निरन्तर उठती हुई प्रचण्ड वायुके वेगसे मत्स्य, जलहस्ती तथा मगरोंसहित समुद्रका जल तुम्हारे द्वारा मानो आकाशमें उछाल दिया जाता है ॥ ८ ॥

तुल्यरूपाननान् मत्स्यांस्तथा तिमितिमिंगिलान्।
नागांश्च नरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ॥ ९ ॥

जिनके आकार और मुख एक-से हैं ऐसे मत्स्योंको, तिमि और तिमिंगिलोंको तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समान मुखवाले जल-जन्तुओंको मैं उन्मथित हुए-से देखता हूँ ॥

महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते।
न शृणोमि न पश्यामि नात्मनो वेद्मि कारणम् ॥ १० ॥

महासागरकी इन भीषण गर्जनाओंने मेरे कान बहरे कर दिये हैं। मैं न तो सुन पाता हूँ, न देख पाता हूँ और न अपने बचावका कोई उपाय ही समझ पाता हूँ ॥ १० ॥

शनैः स तु भवान् यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन्।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ॥ ११ ॥

तात गरुड़ ! तुमसे कहीं ब्रह्महत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखते हुए धीरे-धीरे चलो। मुझे इस समय न तो सूर्य

दिखायी देते हैं, न दिशाएँ सूझती हैं और न आकाश ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ११ ॥

तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये ।
मणीव जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ॥ १२ ॥

मुझे केवल अन्धकार ही दिखायी देता है । मैं तुम्हारे शरीरको नहीं देख पाता हूँ । अण्डज ! तुम्हारी दोनों आँखें मुझे उत्तम जातिकी दो मणियोंके समान चमकती दिखायी देती हैं ॥

शरीरं तु न पश्यामि तव चैवात्मनश्च ह ।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ॥ १३ ॥

मैं न तो तुम्हारे शरीरको देखता हूँ और न अपने शरीरको । मुझे पग-पगपर तुम्हारे अङ्गोंसे आगकी लपटें उठती दिखायी देती हैं ॥ १३ ॥

स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्य ते पुनः ।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ॥ १४ ॥

विनतानन्दन ! तुम उस आगको सहसा बुझाकर पुनः अपने दोनों नेत्रोंको भी शान्त करो और तुम्हारी गतिमें जो इतना महान् वेग है, इसे रोको ॥ १४ ॥

न मे प्रयोजनं किंचिद् गमने पन्नगाशन ।
संनिवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ॥ १५ ॥

गरुड़ ! इस यात्रासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अतः लौट चलो । महाभाग ! मैं तुम्हारे वेगको नहीं सह सकता ॥

गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १६ ॥

मैंने गुरुको ऐसे आठ सौ घोड़े देनेकी प्रतिज्ञा की है, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हों और जिनके कान एक ओरसे श्याम रंगके हों ॥ १६ ॥

तेषां चैवापवर्गाय मार्गं पश्यामि नाण्डज ।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः ॥ १७ ॥

किंतु अण्डज ! उन घोड़ोंके दिये जानेका कोई मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता है । इसीलिये मैंने अपने जीवनके परित्यागका ही मार्ग चुना है ॥ १७ ॥

नैव मेऽस्ति धनं किंचिन्न धनेनान्वितः सुहृत् ।
न चार्थेनापि महता शक्यमेतद् व्यपोहितुम् ॥ १८ ॥

मेरे पास थोड़ा भी धन नहीं है, कोई धनी मित्र भी नहीं है और यह कार्य ऐसा है कि प्रचुर धनराशिका व्यय करनेसे भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

नारद उवाच

एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा ।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन् विनतात्मजः ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार बहुत दीन वचन बोलते हुए महर्षि गालवसे विनतानन्दन गरुड़ने चलते हुए ही हँसकर कहा—॥ १९ ॥

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्युक्तमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ २० ॥

'ब्रह्मर्षे ! यदि तुम अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हो तो विशेष बुद्धिमान् नहीं हो; क्योंकि मृत्यु कृत्रिम नहीं होती (उसका अपनी इच्छासे निर्माण नहीं किया जा सकता) । वह तो परमेश्वरका ही स्वरूप है ॥ २० ॥

किमहं पूर्वमेवेह भवता नाभिचोदितः ।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

'तुमने पहले ही मुझसे यह बात क्यों नहीं कह दी ? मेरी दृष्टिमें एक महान् उपाय है, जिससे यह कार्य सिद्ध हो सकता है ॥ २१ ॥

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके ।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ॥ २२ ॥

'गालव ! समुद्रके निकट यह ऋषभ नामक पर्वत है, जहाँ विश्राम और भोजन करके हम दोनों लौट चलेंगे' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभ पर्वतके शिखरपर महर्षि गालव और गरुड़की तपस्विनी शाण्डिलीसे भेंट तथा गरुड़ और गालवका गुरुदक्षिणा चुकानेके विषयमें परस्पर विचार

नारद उवाच

ऋषभस्य ततः शृङ्गं निपत्य द्विजपक्षिणौ ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोऽन्विताम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर गालव और गरुड़ने ऋषभ पर्वतके शिखरपर उतरकर वहाँ तपस्विनी शाण्डिली ब्राह्मणीको देखा ॥ १ ॥

अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाभिपूज्य ताम् ।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे संनिषीदतुः ॥ २ ॥

गरुड़ने उसे प्रणाम किया और गालवने उसका आदर-सम्मान किया। तदनन्तर उसने भी उन दोनोंका स्वागत करके उन्हें आसनपर बैठनेके लिये कहा। उसकी आज्ञा पाकर वे दोनों वहाँ आसनपर बैठ गये ॥ २ ॥

सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम्।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ॥ ३ ॥

तपस्विनीने उन्हें बलिवैश्वदेवसे बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण किया। उसे खाकर वे दोनों तृप्त हो गये और भूमिपर ही सो गये। तत्पश्चात् निद्राने उन्हें अचेत कर दिया ॥ ३ ॥

मुहूर्तात् प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ॥ ४ ॥

दो ही घड़ीके बाद मनमें वहाँसे जानेकी इच्छा लेकर गरुड़ जाग उठे। उठनेपर उन्होंने अपने शरीरको दोनों पंखोंसे रहित देखा ॥ ४ ॥

मांसपिण्डोपमोऽभूत् स मुखपादान्वितः खगः।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ॥ ५ ॥

आकाशचारी गरुड़ मुख और हाथोंसे युक्त होते हुए भी उन पंखोंके बिना मांसके लौंदे-से हो गये। उन्हें उस दशामें देखकर गालवका मन उदास हो गया और उन्होंने पूछा—॥

किमिदं भवता प्राप्तमिहागमनजं फलम्।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ॥ ६ ॥

'सखे! तुम्हें यहाँ आनेका यह क्या फल मिला? इस अवस्थामें हम दोनोंको यहाँ कितने समयतक रहना पड़ेगा? ॥ ६ ॥

किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ॥ ७ ॥

'तुमने अपने मनमें कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्मको दूषित करनेवाला रहा है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे द्वारा यहाँ कोई थोड़ा धर्मविरुद्ध कार्य नहीं हुआ होगा' ॥७॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥ ८ ॥
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥ ९ ॥

तब गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'ब्रह्मन्! मैंने तो अपने मनमें यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनीको वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेवजी हैं, जहाँ सनातन भगवान् विष्णु हैं तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वहीं इसे निवास करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥ १० ॥

'अतः मैं भगवती शाण्डिलीके चरणोंमें पड़कर यह प्रार्थना करता हूँ कि मैंने अपने चिन्तनशील मनके द्वारा आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही यह बात सोची है ॥ १० ॥

तदेवं बहुमानात् ते मयेहानीप्सितं कृतम्।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात् क्षन्तुमर्हसि॥ ११ ॥

'आपके प्रति विशेष आदरका भाव होनेसे ही मैंने इस स्थानपर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है। मेरे द्वारा यह पुण्य हुआ हो या पाप, अपने ही माहात्म्यसे आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥११॥

सा तौ तदाब्रवीत् तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ॥ १२ ॥

यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुई। उसने उस समय पक्षिराज गरुड़ और विप्रवर गालवसे कहा—'सुपर्ण! तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायँगे; अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो ॥ १२ ॥

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत् ॥ १३ ॥

'वत्स! तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्य-लोकोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥

हीनया लक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया।
आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ॥ १४ ॥

'समस्त अशुभ लक्षणोंसे हीन और अनिन्दित रहकर सदाचारका पालन करते हुए ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ॥ १४ ॥

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

'आचार ही धर्मको सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचारसे मनुष्यको सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणोंका भी नाश कर देता है ॥ १५ ॥

तदायुष्मन् खगपते यथेष्टं गम्यतामितः।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ॥ १६ ॥

'अतः आयुष्मन् पक्षिराज! अब तुम यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको जाओ। आजसे तुम्हें मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मेरी ही क्यों, कहीं किसी भी स्त्रीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ॥ १६ ॥

भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमन्वितः।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥ १७ ॥

'अब तुम पहलेकी ही भाँति बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ।' शाण्डिलीके इतना कहते ही गरुड़की पाँखें पहलेसे भी अधिक शक्तिशाली हो गयीं ॥ १७ ॥

अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चासादयामास तथारूपांस्तुरंगमान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शाण्डिलीकी आज्ञा ले वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। वे गालवके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़े नहीं पा सके ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाध्वनि स्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य संनिधौ ॥ १९ ॥

इधर गालवको राहमें आते देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वामित्रजी खड़े हो गये और गरुड़के समीप उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यस्त्वया स्वयमेवार्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने स्वयं ही जिस धनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे देनेका समय आ गया है। फिर तुम जैसा ठीक समझो, करो ॥ २० ॥

प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिध्यते विप्र स मार्गस्तु निशाम्यताम् ॥ २१ ॥

मैं इतने ही समयतक और तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। ब्रह्मन् ! जिस प्रकार तुम्हें सफलता मिल सके, उस मार्गका विचार करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं खल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ॥ २२ ॥
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नादत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर दीन और अत्यन्त दुखी हुए गालव मुनिसे गरुड़ने कहा—'द्विजश्रेष्ठ गालव ! विश्वामित्रजीने मेरे सामने जो कुछ कहा है, आओ, उसके विषयमें हम दोनों सलाह करें। तुम्हें अपने गुरुको उनका सारा धन चुकाये बिना चुप नहीं बैठना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़ और गालवका राजा ययातिके यहाँ जाकर गुरुको देनेके लिये श्यामकर्ण घोड़ोंकी याचना करना

नारद उवाच

अथाह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने दीन-दुखी गालव मुनिसे इस प्रकार कहा—'पृथ्वीके भीतर जो उसका सारतत्त्व है उसे तपाकर अग्निने जिसका निर्माण किया है और उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वायुने जिसका शोधन किया है, उस सुवर्णको हिरण्य कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यप्रधान है; इसलिये भी उसे हिरण्य कहते हैं ॥ १ ॥

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ २ ॥

'वह इस जगत्‌को स्वयं तो धारण करता ही है, दूसरोंसे भी धारण कराता है। इस कारण उस सुवर्णका नाम धन है। यह धन तीनों लोकोंमें सदा स्थित रहता है ॥ २ ॥

नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ॥ ३ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलब्धव्यं द्विजर्षभ ॥
ऋते च धनमश्वानां नावाप्तिर्विद्यते तव ॥ ४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वभाद्रप्रद और उत्तरभाद्रपद इन दो नक्षत्रोंमेंसे किसी एकके साथ शुक्रवारका योग हो तो अग्निदेव कुबेरके लिये अपने संकल्पसे धनका निर्माण करके उसे मनुष्योंको दे देते हैं। पूर्वभाद्रपदके देवता अजैकपाद्, उत्तर-भाद्रपदके देवता अहिर्बुध्न्य और कुबेर—ये तीनों उस धनकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार किसीको भी ऐसा धन नहीं मिल सकता, जो प्रारब्धवश उसे मिलनेवाला न हो और धनके बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३-४ ॥

स त्वं याचात्र राजानं कंचिद् राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान् हि यो नौ कुर्यात् कृतार्थिनौ ॥ ५ ॥

'इसलिये मेरी राय यह है कि तुम राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए किसी ऐसे राजाके पास चलकर धनके लिये

याचना करो, जो पुरवासियोंको पीड़ा दिये बिना ही हम दोनोंको धन देकर कृतार्थ कर सके ॥ ५ ॥

अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा।
अभिगच्छावहे तं वै तस्यास्ति विभवो भुवि ॥ ६ ॥

'चन्द्रवंशमें उत्पन्न एक राजा हैं, जो मेरे मित्र हैं। हम दोनों उन्हींके पास चलें। इस भूतलपर उनके पास अवश्य ही धन है ॥ ६ ॥

ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चार्थितः स्वयम्॥ ७ ॥

'मेरे उन मित्रका नाम है राजर्षि ययाति, जो महाराज नहुषके पुत्र हैं। वे सत्यपराक्रमी वीर हैं। तुम्हारे माँगने और मेरे कहनेपर वे स्वयं ही तुम्हें धन देंगे ॥ ७ ॥

विभवश्चास्य सुमहानासीद् धनपतेरिव।
एवं गुरुधनं विद्वन् दानेनैव विशोधय ॥ ८ ॥

'उनके पास धनाध्यक्ष कुबेरकी भाँति महान् वैभव रहा है। विद्वन्! इस प्रकार दान लेकर ही तुम गुरुदक्षिणाका ऋण चुका दो' ॥ ८ ॥

तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत् क्षमम्।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ॥ ९ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और उचित कर्तव्यको मन-ही-मन सोचते हुए वे दोनों प्रतिष्ठानपुरमें राजा ययातिके दरबारमें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम्।
पृष्टश्चागमने हेतुमुवाच विनतासुतः ॥ १० ॥

राजाके द्वारा सत्कारपूर्वक दिये हुए श्रेष्ठ अर्घ्य-पाद्य आदि ग्रहण करके विनतानन्दन गरुड़ने उनके पूछनेपर अपने आगमनका प्रयोजन इस प्रकार बताया—॥ १० ॥

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद् वर्षाण्ययुतशो नृप ॥ ११ ॥

'नहुषनन्दन! ये तपोनिधि गालव मेरे मित्र हैं। राजन्! ये दस हजार वर्षोंतक महर्षि विश्वामित्रके शिष्य रहे हैं ॥ ११ ॥

सोऽयं तेनाभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः।
तमाह भगवन् किं ते ददानि गुरुदक्षिणाम् ॥ १२ ॥

'विश्वामित्रजीने (इनकी सेवाके बदले) इनका भी उपकार करनेकी इच्छासे इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। तब इन्होंने उनसे पूछा—'भगवन्! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ॥ १२ ॥

असकृत् तेन चोक्तेन किंचिदागतमन्युना।
अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम्।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १४ ॥
गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १५ ॥

'इनके बार-बार आग्रह करनेपर विश्वामित्रजीको कुछ क्रोध आ गया; अतः इनके पास धनका अभाव है, यह जानते हुए भी उन्होंने इनसे कहा—'लाओ, गुरुदक्षिणा दो। गालव! मुझे अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और कान एक ओरसे श्याम रंगके हों। गालव! यदि तुम मेरी बात मानो तो यही गुरुदक्षिणा ला दो।' तपोधन विश्वामित्रने यह बात कुपित होकर ही कही थी ॥ १३—१५ ॥

सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद् भवन्तं शरणं गतः ॥ १६ ॥

'अतः ये द्विजश्रेष्ठ गालव महान् शोकसे संतप्त हो गुरुदक्षिणा चुकानेमें असमर्थ हो गये हैं और इसीलिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः।
कृत्वापवर्गं गुरवे चरिष्यति महत् तपः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह! आपसे भिक्षा ग्रहण करके गुरुको पूर्वोक्त धन देकर ये क्लेशरहित हो महान् तपमें संलग्न हो जायँगे ॥ १७ ॥

तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ॥ १८ ॥

अपनी तपस्याके एक अंशसे ये आपको भी संयुक्त करेंगे। यद्यपि आप अपनी राजर्षिजनोचित तपस्यासे पूर्ण हैं, तथापि ये अपने ब्राह्म तपसे आपको और भी परिपूर्ण करेंगे ॥ १८ ॥

यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर।
तावन्तो वाजिनो लोकान् प्राप्नुवन्ति महीपते ॥ १९ ॥

'नरेश्वर! भूपाल! यहाँ (दान किये हुए) घोड़के शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, दान करनेवाले लोगोंको (परलोकमें) उतने ही घोड़े प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

पात्रं प्रतिग्रहस्यायं दातुं पात्रं तथा भवान्।
शङ्खे क्षीरमिवासिक्तं भवत्वेतत् तथोपमम् ॥ २० ॥

'ये गालव दान लेनेके सुयोग्य पात्र हैं और आप दान करनेके श्रेष्ठ अधिकारी हैं। जैसे शङ्खमें दूध रक्खा गया हो, उसी प्रकार इनके हाथमें दिये हुए आपके इस दानकी शोभा होगी' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिका गालवको अपनी कन्या देना और गालवका उसे लेकर अयोध्यानरेशके यहाँ जाना

नारद उवाच

एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
विमृश्यावहितो राजा निश्चित्य च पुनः पुनः ॥ १ ॥
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः ।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—गरुड़ने जब इस प्रकार यथार्थ और उत्तम बात कही, तब सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले दाता, दानपति, प्रभावशाली तथा राजोचित तेजसे प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण नरेशोंके स्वामी महाराज ययातिने सावधानीके साथ बारंबार विचार करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम् ।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम् ।३।
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥

राजाने पहले अपने प्रिय मित्र गरुड़ तथा तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप विप्रवर गालवको अपने यहाँ उपस्थित देख और उनकी बतायी हुई स्पृहणीय भिक्षाकी बात सुनकर मनमें इस प्रकार विचार किया—

'ये दोनों सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए दूसरे अनेक राजाओंको छोड़कर मेरे पास आये हैं।' ऐसा विचारकर वे बोले—॥३-४॥

अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ ॥ ५ ॥

'निष्पाप गरुड़ ! आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे कुलका उद्धार हो गया और आज आपने मेरे इस सम्पूर्ण देशको भी तार दिया ॥ ५ ॥

वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा ।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे ॥ ६ ॥

'सखे ! फिर भी मैं एक बात कहना चाहता हूँ । आप पहलेसे मुझे जैसा धनवान् समझते हैं; वैसा धनसम्पन्न अब मैं नहीं रह गया हूँ । मित्र ! मेरा वैभव इन दिनों क्षीण हो गया है॥

न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग ।
न चाशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे ॥ ७ ॥

'आकाशचारी गरुड़ ! इस दशामें भी मैं आपके आगमनको निष्फल करनेमें असमर्थ हूँ और इन ब्रह्मर्षिकी आशाको भी मैं विफल करना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

तत् तु दास्यामि यत् कार्यमिदं सम्पादयिष्यति ।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम् ॥ ८ ॥

'अतः मैं एक ऐसी वस्तु दूँगा, जो इस कार्यका सम्पादन कर देगी । अपने पास आकर कोई याचक हताश हो जाय तो वह लौटनेपर आशा भंग करनेवाले राजाके समूचे कुलको दग्ध कर देता है ॥ ८ ॥

नातः परं वैनतेय किंचित् पापिष्ठमुच्यते ।
यथाशानाशनाल्लोके देहि नास्तीति वा वचः ॥ ९ ॥

'विनतानन्दन ! लोकमें कोई 'दीजिये' कहकर कुछ माँगे और उससे यह कह दिया जाय कि 'जाओ मेरे पास नहीं है', इस प्रकार याचककी आशाको भंग करनेसे जितना पाप लगता है, इससे बढ़कर पापकी दूसरी कोई बात नहीं कही जाती है ॥ ९ ॥

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः ।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम् ॥ १० ॥

'कोई श्रेष्ठ मनुष्य जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल होता है, तब वह मरे हुएके समान हो जाता है और अपना हित न करनेवाले धनीके पुत्रों तथा पौत्रोंका नाश कर डालता है ॥ १० ॥

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम ।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी ॥ ११ ॥

'अतः मेरी जो यह पुत्री है, यह चार कुलोंकी स्थापना करनेवाली है । इसकी कान्ति देवकन्याके समान है । यह सम्पूर्ण धर्मोंकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ११ ॥

सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव ।
काङ्क्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

'गालव ! इसके रूप-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी लोग सदा इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं; अतः आप मेरी इस पुत्रीको ही ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम् ।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते ॥ १३ ॥

'इसके शुल्कके रूपमें राजालोग निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

स भवान् प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम् ।
अहं दौहित्रवान् स्यां वै वर एष मम प्रभो ॥ १४ ॥

'अतः प्रभो ! आप मेरी इस पुत्री माधवीको ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् (नातियोंसे युक्त) होऊँ' ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा ।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ॥ १५ ॥

तब गरुड़सहित गालवने उस कन्याको लेकर कहा—'अच्छा, हम फिर कभी मिलेंगे ।' राजासे ऐसा कहकर गालवमुनि कन्याके साथ वहाँसे चल दिये ॥ १५ ॥

उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाण्डजः ।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ॥१६॥

तदनन्तर गरुड़ भी यह कहकर कि अब तुम्हें घोड़ोंकी प्राप्तिका यह द्वार प्राप्त हो गया, गालवसे विदा ले अपने घरको चले गये ॥ १६ ॥

गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया ।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत्॥१७॥

पक्षिराज गरुड़के चले जानेपर गालव उस कन्याके साथ यह सोचते हुए चल दिये कि राजाओंमेंसे कौन ऐसा नरेश है, जो इस कन्याका शुल्क देनेमें समर्थ हो ॥ १७ ॥

सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम् ।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ १८ ॥

वे मन-ही-मन विचार करके अयोध्यामें इक्ष्वाकुवंशी नृपतिशिरोमणि महापराक्रमी हर्यश्वके पास गये, जो चतुरङ्गिणी सेनासे सम्पन्न थे ॥ १८ ॥

कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम् ।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ॥ १९ ॥

वे कोष, धन-धान्य और सैनिकबल—सबसे सम्पन्न थे । पुरवासी प्रजा उन्हें बहुत ही प्रिय थी । ब्राह्मणोंके प्रति उनका अधिक प्रेम था । वे प्रजावर्गके हितकी इच्छा रखते थे । उनका मन भोगोंसे विरक्त एवं शान्त था । वे उत्तम तपस्यामें लगे हुए थे ॥ १९ ॥

तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत् ।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ॥ २० ॥
इयं शुल्केन भार्यार्थे हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम्॥२१॥

राजा हर्यश्वके पास जाकर विप्रवर गालवने कहा—'राजेन्द्र ! मेरी यह कन्या अपनी संतानोंद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाली है । तुम शुल्क देकर इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ग्रहण करो । हर्यश्व ! मैं तुम्हें पहले इसका शुल्क बताऊँगा । उसे सुनकर तुम अपने कर्तव्यका निश्चय करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

हर्यश्वका दो सौ श्यामकर्ण घोड़े देकर ययातिकन्याके गर्भसे वसुमना नामक पुत्र उत्पन्न करना और गालवका इस कन्याके साथ वहाँसे प्रस्थान

नारद उवाच

हर्यश्वस्त्वब्रवीद् राजा विचिन्त्य बहुधा ततः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ॥ १ ॥
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु पञ्चसु ।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर नृपश्रेष्ठ राजा हर्यश्वने उस कन्याके विषयमें बहुत सोच-विचारकर संतानोत्पादनकी इच्छासे गरम-गरम लम्बी साँस खींचकर मुनिसे इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याके छः अङ्ग जो ऊँचे होने चाहिये, ऊँचे हैं । पाँच अङ्ग जो सूक्ष्म होने चाहिये, सूक्ष्म हैं । तीन अङ्ग जो गम्भीर होने चाहिये, गम्भीर हैं तथा इसके पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥ १-२ ॥

(श्रोण्यौ ललाटमूरू च घ्राणं चेति षडुन्नतम् ।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशरोमनखत्वचः ॥
स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रचक्षते ।
पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तौ च नखानि च ॥)

'दो नितम्ब, दो जाँघें, ललाट और नासिका—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं । अङ्गुलियोंके पर्व, केश, रोम, नख और त्वचा—ये पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं । स्वर, अन्तःकरण तथा नाभि—ये तीन गम्भीर कहे जा सकते हैं तथा हथेली, पैरोंके तलवे, दक्षिण नेत्रप्रान्त, वाम नेत्रप्रान्त तथा नख—ये पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥

बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना ।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ॥ ३ ॥

'यह बहुत-से देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दर्शनीय है। इसे गन्धर्वविद्या (संगीत) का भी अच्छा ज्ञान है । यह बहुत-से शुभ लक्षणोंद्वारा सुशोभित तथा अनेक संतानोंको जन्म देनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥

समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम्।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम ॥ ४ ॥

'विप्रवर! आपकी यह कन्या चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ है; अतः आप मेरे वैभवको देखते हुए इसके लिये समुचित शुल्क बताइये' ॥ ४ ॥

गालव उवाच

एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम् ॥ ५ ॥
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना ॥ ६ ॥

गालवने कहा—राजन्! आप मुझे अच्छे देश और अच्छी जातिमें उत्पन्न हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले आठ सौ ऐसे घोड़े प्रदान कीजिये, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे विभूषित हों तथा उनके कान एक ओरसे श्यामवर्णके हों। यह शुल्क चुका देनेपर मेरी यह विशाल नेत्रोंवाली शुभलक्षणा कन्या अग्नियोंको प्रकट करनेवाली अरणीकी भाँति आपके तेजस्वी पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ५-६ ॥

नारद उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम् ॥ ७ ॥

नारदजी कहते हैं—यह वचन सुनकर काममोहित हुए राजर्षि महाराज हर्यश्व मुनिश्रेष्ठ गालवसे अत्यन्त दीन होकर बोले—॥ ७॥

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! आपको जैसे घोड़े लेने अभीष्ट हैं, वैसे तो मेरे यहाँ इन दिनों दो ही सौ घोड़े मौजूद हैं; किंतु दूसरी जातिके कई सौ घोड़े यहाँ विचरते हैं ॥ ८ ॥

सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव।
अस्यामेतं भवान् कामं सम्पादयतु मे वरम् ॥ ९ ॥

'अतः गालव! मैं इस कन्यासे केवल एक संतान उत्पन्न करूँगा। आप मेरे इस श्रेष्ठ मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत्।
मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना ॥ १० ॥
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि।
स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर उस कन्याने महर्षि गालवसे कहा—'मुने! मुझे किन्हीं वेदवादी महात्माने यह एक वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसवके अन्तमें फिर कन्या ही हो जाओगी। अतः आप दो सौ उत्तम घोड़े लेकर मुझे राजाको सौंप दें ॥१०-११॥

नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च ॥ १२ ॥

'इस प्रकार चार राजाओंसे दो-दो सौ घोड़े लेनेपर आपके आठ सौ घोड़े पूरे हो जायँगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे ॥ १२ ॥

क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थं द्विजसत्तम।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज ॥ १३ ॥

'विप्रवर! इसी तरह आप गुरुदक्षिणाके लिये धनका संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

कन्याके ऐसा कहनेपर उस समय गालव मुनिने भूपाल हर्यश्वसे यह बात कही—॥ १४ ॥

इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम्।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ हर्यश्व! नियत शुल्कका चौथाई भाग देकर आप इस कन्याको ग्रहण करें और इसके गर्भसे केवल एक पुत्र उत्पन्न कर लें ॥ १५ ॥

प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च।
समये देशकाले च लब्धवान् सुतमीप्सितम् ॥ १६ ॥

तब राजाने गालव मुनिका अभिनन्दन करके उस कन्याको ग्रहण किया और उचित देश-कालमें उसके द्वारा एक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उनका वह पुत्र वसुमनाके नामसे विख्यात हुआ। वह वसुओंके समान कान्तिमान् तथा उनकी अपेक्षा भी अधिक धन-रत्नोंसे सम्पन्न और धनका खुले हाथ दान करनेवाला नरेश हुआ ॥ १७ ॥

अथ काले पुनर्धीमान् गालवः प्रत्युपस्थितः।
उपसंगम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उचित समयपर बुद्धिमान् गालव पुनः वहाँ उपस्थित हुए और प्रसन्नचित्त राजा हर्यश्वसे मिलकर इस प्रकार बोले—॥ १८ ॥

जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसंनिभः।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ नरेश! आपको यह सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गया। अब इस कन्याके साथ घोड़ोंकी याचना करनेके लिये दूसरे राजाके यहाँ जानेका अवसर उपस्थित हुआ है' ॥ १९ ॥

हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे ।
दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ॥ २० ॥

राजा हर्यश्व सत्य वचनपर दृढ़ रहनेवाले थे। उन्होंने पुरुषार्थमें समर्थ होकर भी छः सौ श्यामकर्ण घोड़े दुर्लभ होनेके कारण माधवीको पुनः लौटा दिया ॥ २० ॥

माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम् ।
कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ २१ ॥

माधवी पुनः इच्छानुसार कुमारी होकर अयोध्याकी उज्ज्वल राजलक्ष्मीका परित्याग करके गालव मुनिके पीछे-पीछे चली गयी ॥ २१ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान् द्विजः ।
प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ॥ २२ ॥

जाते समय ब्राह्मणने राजा हर्यश्वसे कहा—'महाराज! आपके दिये हुए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े अभी आपके ही पास धरोहरके रूपमें रहें।' ऐसा कहकर गालव मुनि उस राजकन्याके साथ राजा दिवोदासके यहाँ गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

दिवोदासका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे प्रतर्दन नामक पुत्र उत्पन्न करना

गालव उवाच

महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः ।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ १ ॥
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः ।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ॥ २ ॥

मार्गमें गालवने राजकन्या माधवीसे कहा—भद्रे! काशीके अधिपति भीमसेनकुमार शक्तिशाली राजा दिवोदास महापराक्रमी एवं विख्यात भूमिपाल हैं। उन्हींके पास हम दोनों चलें। तुम धीरे-धीरे चली आओ। मनमें किसी प्रकारका शोक न करो। राजा दिवोदास धर्मात्मा, संयमी तथा सत्यपरायण हैं ॥ १-२ ॥

नारद उवाच

तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः ।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजा दिवोदासके यहाँ जानेपर गालव मुनिका उनके द्वारा यथोचित सत्कार किया गया। तदनन्तर गालवने पूर्ववत् उन्हें भी शुल्क देकर उस कन्यासे एक संतान उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३ ॥

दिवोदास उवाच

श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज ।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

दिवोदास बोले—ब्रह्मन्! यह सब वृत्तान्त मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा है। अब इसे विस्तारपूर्वक कहनेकी क्या आवश्यकता है? द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रस्तावको सुनते ही मेरे मनमें यह पुत्रोत्पादनकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ४ ॥

एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान् ।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ॥ ५ ॥

यह मेरे लिये बड़े सम्मानकी बात है कि आप दूसरे राजाओंको छोड़कर मेरे पास इस रूपमें प्रार्थी होकर आये हैं। निःसंदेह ऐसा ही भावी है ॥ ५ ॥

स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव ।
अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ॥ ६ ॥

गालव! मेरे पास भी दो ही सौ श्यामकर्ण घोड़े हैं; अतः मैं भी इसके गर्भसे एक ही राजकुमारको उत्पन्न करूँगा ॥ ६ ॥

तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात् कन्यां महीपतेः ।
विधिपूर्वं च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ॥ ७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर गालवने वह कन्या राजाको दे दी। राजाने भी उसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ ७ ॥

रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः ।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ॥ ८ ॥
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः ।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्द्ध्यां धनेश्वरः ॥ ९ ॥
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः ।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ॥ १० ॥
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाक्षमालया ।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः संध्यया यथा ॥ ११ ॥
अगस्त्यश्चापि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान् यथा ।
यथा भृगुः पुलोमायामदित्यां कश्यपो यथा ॥ १२ ॥
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः ।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ॥ १३ ॥

यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः ।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः ॥ १४ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः ।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः ॥ १५ ॥
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया ।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया ॥ १६ ॥
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनंजयः ।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः ॥ १७ ॥
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः ।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम् ॥ १८ ॥

राजर्षि दिवोदास माधवीमें अनुरक्त होकर उसके साथ रमण करने लगे । जैसे सूर्य प्रभावतीके, अग्नि स्वाहाके, देवेन्द्र शचीके, चन्द्रमा रोहिणीके, यमराज धूमोर्णाके, वरुण गौरीके, कुबेर ऋद्धिके, नारायण लक्ष्मीके, समुद्र गङ्गाके, रुद्रदेव रुद्राणीके, पितामह ब्रह्मा वेदीके, वसिष्ठनन्दन शक्ति अदृश्यन्तीके, वसिष्ठ अक्षमाला (अरुन्धती) के, च्यवन सुकन्याके, पुलस्त्य संध्याके, अगस्त्य विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राके, सत्यवान् सावित्रीके, भृगु पुलोमाके, कश्यप अदितिके, जमदग्नि रेणुकाके, कुशिकवंशी विश्वामित्र हैमवतीके, बृहस्पति ताराके, शुक्र शतपर्वाके, भूमिपति भूमिके, पुरूरवा उर्वशीके, ऋचीक सत्यवतीके, मनु सरस्वतीके, दुष्यन्त शकुन्तलाके, सनातन धर्मदेव धृतिके, नल दमयन्तीके, नारद सत्यवतीके, जरत्कारु मुनि नागकन्या जरत्कारुके, पुलस्त्य प्रतीच्याके, ऊर्णायु मेनकाके, तुम्बुरु रम्भाके, वासुकि शतशीर्षाके, धनंजय कुमारीके, श्रीरामचन्द्रजी विदेहनन्दिनी सीताके तथा भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ रमण करते हैं, उसी प्रकार अपने साथ रमण करनेवाले राजा दिवोदासके वीर्यसे माधवीने प्रतर्दन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ८-१८ ॥

अथाजगाम भगवान् दिवोदासं स गालवः ।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर समय आनेपर भगवान् गालव मुनि पुनः दिवोदासके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः ।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते ॥ २० ॥

'पृथ्वीनाथ ! अब आप मुझे राजकन्याको लौटा दें । आपके दिये हुए घोड़े अभी आपके ही पास रहें । मैं इस समय शुल्क प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र जा रहा हूँ' ॥ २० ॥

दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम् ।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः ॥ २१ ॥

धर्मात्मा राजा दिवोदास अपनी की हुई सत्य प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले थे; अतः उन्होंने गालवको वह कन्या लौटा दी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उशीनरका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे शिबि नामक पुत्र उत्पन्न करना, गालवका उस कन्याको साथ लेकर जाना और मार्गमें गरुड़का दर्शन करना

नारद उवाच

तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी ।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसंगरा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर वह यशस्विनी राजकन्या माधवी सत्यके पालनमें तत्पर हो काशीनरेशकी उस राजलक्ष्मीको त्यागकर विप्रवर गालवके साथ चली गयी ॥ १ ॥

गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः ।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम् ॥ २ ॥

गालवका मन अपने कार्यकी सिद्धिके चिन्तनमें लगा था । उन्होंने मन-ही-मन कुछ सोचते हुए राजा उशीनरसे मिलनेके लिये भोजनगरकी यात्रा की ॥ २ ॥

तमुवाचाथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम् ।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ ॥ ३ ॥

उन सत्यपराक्रमी नरेशके पास जाकर गालवने उनसे कहा—'राजन् ! यह कन्या आपके लिये पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ दो पुत्र उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च ।
सोमार्कप्रतिसंकाशौ जनयित्वा सुतौ नृप ॥ ४ ॥

'नरेश्वर ! इसके गर्भसे सूर्य और चन्द्रमाके समान दो तेजस्वी पुत्र पैदा करके आप लोक और परलोकमें भी पूर्णकाम होंगे ॥ ४ ॥

शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम् ॥ ५ ॥

'समस्त धर्मोंके ज्ञाता भूपाल ! आप इस कन्याके शुल्कके रूपमें मुझे ऐसे चार सौ अश्व प्रदान करें, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित तथा एक ओरसे श्यामवर्ण-के कानोंवाले हों ॥ ५ ॥

गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ॥ ६ ॥

'मैंने गुरुदक्षिणा देनेके लिये यह उद्योग आरम्भ किया है अन्यथा मुझे इन घोड़ोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज ! यदि आपके लिये यह शुल्क देना सम्भव हो तो कोई अन्यथा विचार न करके यह कार्य सम्पन्न कीजिये ॥ ६ ॥

अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव।
पितॄन् पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ॥ ७ ॥

'राजर्षे ! पृथ्वीपते ! आप संतानहीन हैं। अतः इससे दो पुत्र उत्पन्न कीजिये और पुत्ररूपी नौकाद्वारा पितरोंका तथा अपना भी उद्धार कीजिये ॥ ७ ॥

न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥ ८ ॥

'राजर्षे ! पुत्रजनित पुण्यफलका उपभोग करनेवाला मनुष्य कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिराया जाता और संतान-हीन मनुष्य जिस प्रकार घोर नरकमें पड़ते हैं, उस प्रकार वह नहीं पड़ता' ॥ ८ ॥

एतच्चान्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम्।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ॥ ९ ॥

गालवकी कही हुई ये तथा और भी बहुत-सी बातें सुनकर राजा उशीनरने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव।
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् प्रवणं हि मनो मम ॥ १० ॥

'विप्रवर गालव ! आप जैसा कहते हैं, वे सब बातें मैंने सुन लीं ! परंतु विधाता प्रबल है। मेरा मन इससे संतान उत्पन्न करनेके लिये उत्सुक हो रहा है ॥ १० ॥

शते द्वे तु ममाश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आपको जिनकी आवश्यकता है, ऐसे अश्व तो मेरे पास दो ही सौ हैं। दूसरी जातिके तो कई सहस्र घोड़े मेरे यहाँ विचरते हैं ॥ ११ ॥

अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि गालव।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ॥ १२ ॥

'अतः ब्रह्मर्षि गालव ! मैं भी इस कन्याके गर्भसे एक ही पुत्र उत्पन्न करूँगा। दूसरे लोग जिस मार्गपर चले हैं, उसीपर मैं भी चलूँगा ॥ १२ ॥

मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विजसत्तम।
पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ॥ १३ ॥

'द्विजप्रवर ! मैं घोड़ोंका मूल्य देकर आपका सारा शुल्क चुका दूँ, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा धन पुरवा-सियों तथा जनपदनिवासियोंके लिये है, अपने उपभोगमें लानेके लिये नहीं ॥ १३ ॥

कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति।
न स धर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ॥ १४ ॥

'धर्मात्मन् ! जो राजा पराये धनको अपनी इच्छाके अनुसार दान करता है, उसे धर्म और यशकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १४ ॥

सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान् मम।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ॥ १५ ॥

'अतः आप देवकन्याके समान सुन्दरी इस राजकुमारी-को केवल एक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मुझे दें। मैं ग्रहण करूँगा' ॥ १५ ॥

तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम्।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी न्याययुक्त बातें कहनेवाले राजा उशीनरकी विप्रवर गालवने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम्।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ॥ १७ ॥

उशीनरको वह कन्या सौंपकर गालव मुनि वनको चले गये। जैसे पुण्यात्मा पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करे, उसी प्रकार उस राजकन्याको पाकर राजा उशीनर उसके साथ रमण करने लगे ॥ १७ ॥

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ॥ १८ ॥
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ॥ १९ ॥

उन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें, नदियोंके सुरम्य तटोंपर, झरनोंके आस-पास, विचित्र उद्यानोंमें, वनों और उपवनोंमें, रमणीय अट्टालिकाओंमें, प्रासादशिखरोंपर, वायुके मार्गसे उड़नेवाले विमानोंपर तथा पृथ्वीके भीतर बने हुए गर्भगृहों-में माधवीके साथ विहार किया ॥ १८-१९ ॥

ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः।
शिबिर्नाम्नाभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ॥ २० ॥

तदनन्तर यथासमय उसके गर्भसे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बालसूर्यके समान तेजस्वी था। वही बड़ा

होनेपर नृपश्रेष्ठ महाराज शिविके नामसे विख्यात हुआ ॥

उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन् दृष्टवान् विनतात्मजम् ॥ २१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् विप्रवर गालव राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और उस कन्याको वापस लेकर वहाँसे चल दिये ! मार्गमें उन्हें विनतानन्दन गरुड़ दिखायी दिये । २१ ।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गालवका छः सौ घोड़ोंके साथ माधवीको विश्वामित्रजीकी सेवामें देना और उनके द्वारा उसके गर्भसे अष्टक नामक पुत्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उस कन्याको ययातिके यहाँ लौटा देना

नारद उवाच

गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—उस समय विनतानन्दन गरुड़ने गालव मुनिसे हँसते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं तुम्हें यहाँ कृतकृत्य देख रहा हूँ' ॥ १ ॥

गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ॥ २ ॥

गरुड़की कही हुई यह बात सुनकर गालव बोले—'अभी गुरुदक्षिणाका एक चौथाई भाग बाकी रह गया है, जिसे शीघ्र पूरा करना है' ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ॥ ३ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ने गालवसे कहा—'अब तुम्हें इसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा ॥ ३ ॥

पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत् कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ॥ ४ ॥

'पूर्वकालकी बात है, कान्यकुब्जमें राजा गाधिकी कुमारी पुत्री सत्यवतीको अपनी पत्नी बनानेके लिये ऋचीक मुनिने राजासे उसे माँगा । तब राजाने ऋचीकसे कहा—॥४॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन् दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ॥ ५ ॥
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्यालयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान् पार्थिवाय वै ॥ ६ ॥

'भगवन् ! मुझे कन्याके शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हो तथा एक ओरसे उनके कान श्याम रंगके हों' गालव ! तब ऋचीक मुनि 'तथास्तु' कहकर वरुणके लोकमें गये और वहाँ अश्वतीर्थमें वैसे घोड़े प्राप्त करके उन्होंने राजा गाधिको दे दिये ॥ ५-६ ॥

इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा ॥ ७ ॥

'राजाने पुण्डरीक नामक यज्ञ करके वे सभी घोड़े ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बाँट दिये । तदनन्तर राजाओंने उनसे दो-दो सौ घोड़े खरीदकर अपने पास रख लिये ॥ ७ ॥

अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।
नीयमानानि संतारे हृतान्यासन् वितस्तया ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मार्गमें एक जगह नदीको पार करना पड़ा । इन छः सौ घोड़ोंके साथ चार सौ और थे । नदी पार करनेके लिये ले जाये जाते समय वे चार सौ घोड़े वितस्ता (झेलम) की प्रखर धारामें बह गये ॥ ८ ॥

एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ॥ ९ ॥
विश्वामित्राय धर्मात्मन् षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ॥ १० ॥

'गालव ! इस प्रकार इस देशमें इन छः सौ घोड़ोंके सिवा दूसरे घोड़े अप्राप्य हैं । अतः उन्हें कहीं भी पाना असम्भव है । मेरी राय यह है कि शेष दो सौ घोड़ोंके बदले यह कन्या ही विश्वामित्रजीको समर्पित कर दो । धर्मात्मन् ! इन छः सौ घोड़ोंके साथ विश्वामित्रजीकी सेवामें इस कन्याको ही दे दो । द्विजश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे तुम्हारी सारी घबराहट दूर हो जायगी और तुम सर्वथा कृतकृत्य हो जाओगे' ॥

गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत् ॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर गालव गरुड़के साथ वे (छः सौ) घोड़े और वह कन्या लेकर विश्वामित्रजीके पास आये॥

अश्वानां काङ्क्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

आकर उन्होंने कहा—'गुरुदेव ! आप जैसे चाहते थे, वैसे ही ये छः सौ घोड़े आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं और शेष दो सौके बदले आप इस कन्याको ग्रहण करें ॥ १२ ॥

अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ॥१३॥

'राजर्षियोंने इसके गर्भसे तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न किये हैं। अब आप भी एक नरश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिये, जिसकी संख्या चौथी होगी ॥ १३ ॥

पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते।
भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ॥ १४ ॥

'इस प्रकार आपके आठ सौ घोड़ोंकी संख्या पूरी हो जाय और मैं आपसे उऋण होकर सुखपूर्वक तपस्या करूँ, ऐसी कृपा कीजिये' ॥ १४ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

विश्वामित्रने गरुड़सहित गालवकी ओर देखकर इस परम सुन्दरी कन्यापर भी दृष्टिपात किया और इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ॥ १६ ॥

'गालव ! तुमने पहले ही इसे यहीं क्यों नहीं दे दिया, जिससे मुझे ही वंशप्रवर्तक चार पुत्र प्राप्त हो जाते ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै।
अश्वाश्चाश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ॥ १७ ॥

'अच्छा, अब मैं एक पुत्ररूपी फलकी प्राप्तिके लिये तुमसे इस कन्याको ग्रहण करता हूँ। ये घोड़े मेरे आश्रममें आकर सब ओर चरें' ॥ १७ ॥

स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी विश्वामित्र मुनिने उसके साथ रमण करते हुए यथासमय उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया। माधवीके उस पुत्रका नाम अष्टक था ॥ १८ ॥

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः।
संयोज्यार्थैस्तथा धर्मैरश्वैस्तैः समयोजयत् ॥ १९ ॥

पुत्रके उत्पन्न होते ही महामुनि विश्वामित्रने उसे धर्म, अर्थ तथा उन अश्वोंसे सम्पन्न कर दिया ॥ १९ ॥

अथाष्टकः पुरं प्रायात् तदा सोमपुरप्रभम्।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ।२०।

तदनन्तर अष्टक चन्द्रपुरीके समान प्रकाशित होनेवाली विश्वामित्रजीकी राजधानीमें गया और विश्वामित्र भी अपने शिष्य गालवको वह कन्या लौटाकर वनमें चले गये ॥ २० ॥

गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम्।
मनसातिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ॥ २१ ॥
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथापरः।
सत्यधर्मरतश्चान्यो यज्वा चापि तथापरः ॥ २२ ॥
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे ॥ २३ ॥

गरुड़सहित गालव भी गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो राजकन्या माधवीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारा पहला पुत्र दानपति, दूसरा शूरवीर, तीसरा सत्यधर्मपरायण और चौथा यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा। सुमध्यमे ! तुमने इन पुत्रोंके द्वारा अपने पिताको तो तारा ही है, उन चार राजाओंका भी उद्धार कर दिया है। अतः अब हमारे साथ आओ' ॥ २१–२३ ॥

गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम्।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर सर्पभोजी गरुड़से आज्ञा ले उस राजकन्याको पुनः उसके पिता ययातिके यहाँ लौटाकर गालव वनमें ही चले गये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

माधवीका वनमें जाकर तप करना तथा ययातिका स्वर्गमें जाकर सुखभोगके पश्चात् मोहवश तेजोहीन होना

नारद उवाच

स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम्।
उपगम्याश्रमपदं गङ्गायमुनसंगमे ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर राजा ययाति पुनः माधवीके स्वयंवरका विचार करके गङ्गा-यमुनाके संगमपर बने हुए अपने आश्रममें जाकर रहने लगे ॥ १ ॥

गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम्।
पूरुर्यदुश्च भगिनीमाश्रमे पर्यधावताम्॥ २ ॥

फिर हाथमें हार लिये बहिन माधवीको रथपर बिठाकर पूरु और यदु—ये दोनों भाई आश्रमपर गये ॥ २ ॥

नागयक्षमनुष्याणां गन्धर्वमृगपक्षिणाम्।
शैलद्रुमवनौकानामासीत् तत्र समागमः॥ ३ ॥

उस स्वयंवरमें नाग, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व, पशु, पक्षी तथा पर्वत, वृक्ष और वनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका शुभागमन हुआ ॥ ३ ॥

नानापुरुषदेश्यानामीश्वरैश्च समाकुलम्।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च समन्तादावृतं वनम्॥ ४ ॥

प्रयागका वह वन अनेक जनपदोंके राजाओंसे व्याप्त हो गया और ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंने उस स्थानको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

निर्दिश्यमानेषु तु सा वरेषु वरवर्णिनी।
वरानुत्क्रम्य सर्वांस्तान् वरं वृतवती वनम्॥ ५ ॥

उस समय जब माधवीको वहाँ आये हुए वरोंका परिचय दिया जाने लगा, तब उस वरवर्णिनी कन्याने सारे वरोंको छोड़कर तपोवनका ही वररूपमें वरण कर लिया ॥ ५ ॥

अवतीर्य रथात् कन्या नमस्कृत्य च बन्धुषु।
उपगम्य वनं पुण्यं तपस्तेपे ययातिजा॥ ६ ॥

ययातिनन्दिनी कुमारी माधवी रथसे उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंको नमस्कार करके पुण्य तपोवनमें चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी ॥ ६ ॥

उपवासैश्च विविधैर्दीक्षाभिर्नियमैस्तथा।
आत्मनो लघुतां कृत्वा बभूव मृगचारिणी॥ ७ ॥

वह उपवासपूर्वक विविध प्रकारकी दीक्षाओं तथा नियमोंका पालन करती हुई अपने मनको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित करके वनमें मृगीके समान विचरने लगी ॥ ७ ॥

वैदूर्याङ्कुरकल्पानि मृदूनि हरितानि च।
चरन्ती श्लक्ष्णशष्पाणि तिक्तानि मधुराणि च॥ ८ ॥

स्रवन्तीनां च पुण्यानां सुरसानि शुचीनि च।
पिबन्ती वारिमुख्यानि शीतानि विमलानि च॥ ९ ॥

वनेषु मृगराजेषु व्याघ्रविप्रोषितेषु च।
दावाग्निविप्रयुक्तेषु शून्येषु गहनेषु च॥ १० ॥

चरन्ती हरिणैः सार्धं मृगीव वनचारिणी।
चचार विपुलं धर्मं ब्रह्मचर्येण संवृतम्॥ ११ ॥

इस क्रमसे माधवी वैदूर्यमणिके अङ्कुरोंके समान सुशोभित, कोमल, चिकनी, तिक्त, मधुर एवं हरी-हरी घास चरती, पवित्र नदियोंके शुद्ध, शीतल, निर्मल एवं सुस्वादु जल पीती और मृगोंके आवासभूत, व्याघ्ररहित एवं दावानलशून्य निर्जन वनोंमें मृगोंके साथ वनचारिणी मृगीकी भाँति विचरण करती थी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्मका आचरण किया ॥ ८—११ ॥

ययातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः।
बहुवर्षसहस्रायुर्युयुजे कालधर्मणा॥ १२ ॥

राजा ययाति भी पूर्ववर्ती राजाओंके सदाचारका पालन करते हुए अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु पूरी करके मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

पूरुर्यदुश्च द्वौ वंशे वर्धमानौ नरोत्तमौ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः॥ १३ ॥

उनके (पुत्रोंमेंसे) दो पुत्र नरश्रेष्ठ पूरु और यदु उस कुलमें अभ्युदयशील थे। उन्हीं दोनोंसे नहुषपुत्र ययाति इस लोक और परलोकमें भी प्रतिष्ठित हुए ॥ १३ ॥

महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग् विभुः॥ १४ ॥

राजन्! महाराज ययाति महर्षियोंके समान पुण्यात्मा एवं तपस्वी थे। वे स्वर्गमें जाकर वहाँके श्रेष्ठ फलका उपभोग करने लगे ॥ १४ ॥

बहुवर्षसहस्राख्ये काले बहुगुणे गते।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीयस्सु महर्षिषु॥ १५ ॥

अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः॥ १६ ॥

इस प्रकार वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त कई हजार वर्षोंका समय व्यतीत हो गया। ययातिका चित्त अपना स्वर्गीय वैभव देखकर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठा। उनकी बुद्धिपर मोह छा गया और वे महान् समृद्धिशाली महत्तम राजर्षियोंके अपने समीप बैठे होनेपर भी सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंकी भी अवहेलना करने लगे ॥ १५-१६ ॥

ततस्तं बुबुधे देवः शक्रो बलनिषूदनः।
ते च राजर्षयः सर्वे धिग्धिगित्येवमब्रुवन्॥ १७ ॥

तदनन्तर बलसूदन इन्द्रदेवको ययातिकी इस अवस्थाका पता लग गया। वे सम्पूर्ण राजर्षिगण भी उस समय ययातिको धिक्कारने लगे ॥ १७ ॥

विचारश्च समुत्पन्नो निरीक्ष्य नहुषात्मजम्।
को न्वयं कस्य वा राज्ञः कथं वा स्वर्गमागतः॥ १८ ॥

नहुषपुत्र ययातिको देखकर स्वर्गवासियोंमें यह विचार खड़ा हो गया—'यह कौन है? किस राजाका पुत्र है? और कैसे स्वर्गमें आ गया है?' ॥ १८ ॥

कर्मणा केन सिद्धोऽयं क वानेन तपश्चितम्।
कथं वा ज्ञायते स्वर्गे केन वा ज्ञायतेऽप्युत॥ १९ ॥

'इसे किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त हुई है ? इसने कहाँ तपस्या की है ? स्वर्गमें किस प्रकार इसे जाना जाय अथवा कौन यहाँ इसको जानता है ?' ॥ १९ ॥

एवं विचारयन्तस्ते राजानं स्वर्गवासिनः।
दृष्ट्वा पप्रच्छुरन्योन्यं ययातिं नृपतिं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए स्वर्गवासी ययातिके विषयमें एक दूसरेकी ओर देखकर प्रश्न करने लगे ॥ २० ॥

विमानपालाः शतशः स्वर्गद्वाराभिरक्षिणः।
पृष्टा आसनपालाश्च न जानीमेत्यथाब्रुवन् ॥ २१ ॥

सैकड़ों विमानरक्षकों, स्वर्गके द्वारपालों तथा सिंहासनके रक्षकोंसे पूछा गया; किंतु सबने यही उत्तर दिया—'हम इन्हें नहीं जानते' ॥ २१ ॥

सर्वे ते ह्यावृतज्ञाना नाभ्यजानन्त तं नृपम्।
स मुहूर्तादथ नृपो हतौजाश्चाभवत् तदा ॥ २२ ॥

उन सबके ज्ञानपर पर्दा पड़ गया था; अतः वे उन राजाको नहीं पहचान सके। फिर तो दो ही घड़ीमें राजा ययातिका तेज नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिमोहे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसङ्गमें ययातिमोहविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गलोकसे पतन और उनके दौहित्रों, पुत्री तथा गालव मुनिका उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये अपना-अपना पुण्य देनेके लिये उद्यत होना

नारद उवाच

अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः।
कम्पितेनेव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् ययाति अपने सिंहासनसे गिरकर उस स्वर्गीय स्थानसे भी विचलित हो गये। उनका हृदय काँप-सा उठा और शोकाग्नि उन्हें दग्ध करने लगी ॥ १ ॥

म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः।
विघूर्णन् स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ॥ २ ॥

उन्होंने जो दिव्य कुसुमोंकी माला पहन रक्खी थी, वह मुरझा गयी। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त होने लगी। मुकुट और बाजूबन्द शरीरसे अलग हो गये। उन्हें चक्कर आने लगा। उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वस्त्र तथा आभूषण भी खिसक-खिसककर गिरने लगे ॥ २ ॥

अदृश्यमानस्तान् पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन् महीतलम् ॥ ३ ॥
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
येनाहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥

वे अन्धकारसे आवृत होनेके कारण स्वयं स्वर्गवासियोंको नहीं दिखायी देते थे; परंतु वे उन्हें बार-बार देखते और कभी नहीं भी देख पाते थे। पृथ्वीपर गिरनेसे पहले शून्य-से होकर शून्य हृदयसे राजा यह चिन्ता करने लगे कि मैंने अपने मनसे किस धर्मदूषक अशुभ वस्तुका चिन्तन किया है, जिसके कारण मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ॥ ५ ॥

स्वर्गके राजर्षि, सिद्ध और अप्सरा—सभीने स्वर्गसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य हुए राजा ययातिको देखा ॥ ५ ॥

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजन्! इतनेमें ही पुण्यरहित पुरुषोंको स्वर्गसे नीचे गिरानेवाला कोई पुरुष देवराजकी आज्ञासे वहाँ आकर ययातिसे इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

अतीव मदमत्तस्त्वं न कंचिन्नावमन्यसे।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

'राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त हो और कोई भी ऐसा महान् पुरुष यहाँ नहीं है, जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इस मानके कारण ही तुम अपने स्थानसे गिर रहे हो। अब तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत्।
पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ॥ ८ ॥

'तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता है; अतः जाओ, नीचे गिरो।' जब उसने ऐसा कहा, तब नहुषपुत्र ययाति तीन बार ऐसा कहकर नीचे जाने लगे कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ ॥ ८ ॥

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः।
एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ॥ ९ ॥
चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह।

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ ययाति गिरते समय अपनी गतिके विषयमें चिन्ता कर रहे थे। इसी समय उन्होंने नैमिषारण्यमें चार श्रेष्ठ राजाओंको देखा और उन्हींके बीचमें वे गिरने लगे ॥ ९½ ॥

प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ॥ १० ॥
वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम्।

वहाँ प्रतर्दन, वसुमना, औशीनर शिबि तथा अष्टक—ये चार नरेश वाजपेययज्ञके द्वारा देवेश्वर श्रीहरिको तृप्त करते थे ॥ १०½ ॥

तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ययातिरुपजिघ्रन् वै निपपात महीं प्रति।

उनके यज्ञका धूम मानो स्वर्गका द्वार बनकर उपस्थित हुआ था। ययाति उसीको सूँघते हुए पृथ्वीकी ओर गिर रहे थे ॥ ११½ ॥

भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव।
गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ॥ १२ ॥
श्रीमत्स्ववभृथाग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु।
मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ॥ १३ ॥

भूतलसे स्वर्गतक धूममयी नदी-सी प्रवाहित हो रही थी, मानो आकाशगङ्गा भूमिपर जा रही हों। भूपाल ययाति उसी धूमलेखाका अवलम्बन करके लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा अवभृथ स्नानसे पवित्र अपने चारों सम्बन्धियोंके बीचमें गिरे ॥ १२-१३ ॥

चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु।
पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ॥ १४ ॥

वे चारों श्रेष्ठ राजा उन चार विशाल अग्नियोंके समान तेजस्वी थे, जो हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हो रहे हों। राजर्षि ययाति अपना पुण्य क्षीण होनेपर उन्हींके मध्यभागमें गिरे ॥ १४ ॥

तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया।
को भवान् कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ॥ १५ ॥
यक्षो वाप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा।
न हि मानुषरूपोऽसि को वार्थः काङ्क्ष्यते त्वया ॥ १६ ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित होनेवाले उन महाराजसे सभी भूपालोंने पूछा—'आप कौन हैं? किसके भाई-बन्धु हैं तथा किस देश और नगरमें आपका निवासस्थान है? आप यक्ष हैं या देवता? गन्धर्व हैं या राक्षस? आपका स्वरूप मनुष्यों-जैसा नहीं है। बताइये, आप कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं' ॥ १५-१६ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन् भवत्सु पतितस्ततः ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—मैं राजर्षि ययाति हूँ। अपना पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गया हूँ। गिरते समय मेरे मनमें यह चिन्तन चल रहा था कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ। अतः आपलोगोंके बीचमें आ पड़ा हूँ ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

सत्यमेतद् भवतु ते काङ्क्षितं पुरुषर्षभ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—पुरुषशिरोमणे! आपका यह मनोरथ सफल हो। आप हम सब लोगोंके यज्ञोंका फल और धर्म ग्रहण करें ॥ १८ ॥

ययातिरुवाच

नाहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम्।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ॥ १९ ॥

ययातिने कहा—प्रतिग्रह ही जिसका धन है, वह ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। मैं तो क्षत्रिय हूँ। अतः मेरी बुद्धि पराये पुण्यका (ग्रहण करके उनका पुण्य) क्षय करनेके लिये उद्यत नहीं है ॥ १९ ॥

नारद उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम्।
माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ॥ २० ॥
किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव।
आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ॥ २१ ॥

नारदजी कहते हैं—इसी समय उन राजाओंने अपनी माता माधवीको देखा, जो मृगोंकी भाँति उन्हींके साथ विचरती हुई क्रमशः वहाँ आ पहुँची थी। उसे प्रणाम करके राजाओंने इस प्रकार पूछा—'तपोधने! यहाँ आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है? हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें? हम सभी आपके पुत्र हैं; अतः हमें आप योग्य सेवाके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ २०-२१ ॥

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा।
पितरं समुपागच्छद् ययातिं सा ववन्द च ॥ २२ ॥

उनकी ये बातें सुनकर माधवीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने पिता ययातिके पास गयी और उसने उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥

स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान् पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत्।
दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ॥ २३ ॥

तदनन्तर तपस्विनी माधवीने उन पुत्रोंके सिरपर हाथ

रखकर अपने पितासे कहा—'राजेन्द्र ! ये सभी आपके दौहित्र (नाती) और मेरे पुत्र हैं, पराये नहीं हैं ॥ २३ ॥

इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने।
अहं ते दुहिता राजन् माधवी मृगचारिणी ॥ २४ ॥

'ये आपको तार देंगे। दौहित्रोंके द्वारा मातामह (नाना) का यह उद्धार पुरातन वेद-शास्त्रमें स्पष्ट देखा गया है। राजन् ! मैं आपकी पुत्री माधवी हूँ और इस तपोवनमें मृगोंके समान जीवनचर्या बनाकर विचरती हूँ ॥ २४ ॥

मयाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम्।
यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ॥ २५ ॥
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप।

'पृथ्वीनाथ ! मैंने भी महान् धर्मका संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें। राजन् ! सब मनुष्य अपनी संतानोंके किये हुए सत्कर्मोंके फलके भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रोंकी इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी' ॥ २५½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ॥ २६ ॥
अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाब्रुवन्।
उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ॥ २७ ॥
मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम्।

तब उन सभी राजाओंने अपनी माताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और स्वर्गभ्रष्ट नानाको भी नमस्कार करके अपने उच्च, अनुपम और स्नेहपूर्ण स्वरसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए उन्हें तारनेके उद्देश्यसे उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ २६-२७½ ॥

अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम्।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ॥ २८ ॥

इसी बीचमें उस वनसे गालव मुनि भी वहाँ आ पहुँचे तथा राजासे इस प्रकार बोले—'महाराज ! आप मेरी तपस्याका आठवाँ भाग लेकर उसके बलसे स्वर्गलोकमें पहुँच जायँ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गलोकसे पतन-विषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्संग एवं दौहित्रोंके पुण्यदानसे ययातिका पुनः स्वर्गारोहण

नारद उवाच

प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन् वसुधातलम्।
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ॥ १ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत् पदा ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—उन सत्पुरुषोंके द्वारा पहचाने जानेमात्रसे नरश्रेष्ठ राजा ययाति पृथ्वीतलका स्पर्श न करते हुए ऊपरकी ओर उठने लगे। उस समय उनकी आकृति दिव्य हो गयी थी। वे शोक और चिन्तासे रहित थे। उन्होंने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वे दिव्य सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे। वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे ॥ १-२ ॥

ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन् वचः।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ॥ ३ ॥

तदनन्तर लोकमें दानपतिके नामसे विख्यात राजा वसुमना पहले उच्च स्वरसे शब्दोंका उच्चारण करते हुए महाराज ययातिसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ४ ॥

'मैंने जगत्‌में सभी वर्णोंकी निन्दासे दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ। आप उस पुण्यसे संयुक्त हों ॥ ४ ॥

यत् फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत् फलम्।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ५ ॥

'दानशील पुरुषको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, क्षमाशील मनुष्यको जो फल मिलता है तथा अग्निस्थापन आदि वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे मुझे जिस फलकी प्राप्ति होनेवाली है, उन सभी प्रकारके पुण्यफलोंसे आप सम्पन्न हों' ॥ ५ ॥

ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः।
यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ॥ ६ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः।
वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्षत्रियशिरोमणि प्रतर्दनने यह बात कही—'मैं जिस प्रकार सदा धर्ममें तत्पर रहा हूँ, सर्वदा न्याययुक्त युद्धमें संलग्न होता आया हूँ तथा संसारमें मैंने जो क्षत्रिय-वंशके अनुरूप यश एवं वीर शब्दके योग्य पुण्यफलका अर्जन किया है, उससे आप संयुक्त हों' ॥ ६-७ ॥

शिविरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम्।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ॥ ८ ॥
संगरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ॥ ९ ॥
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ॥ १० ॥
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उशीनरपुत्र बुद्धिमान् शिविने मधुर वाणीमें कहा—'मैंने बालकोंमें, स्त्रियोंमें, हास परिहासके योग्य सम्बन्धियोंमें, युद्धमें, आपत्तियोंमें तथा सङ्कटोंमें भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया है। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। राजन्! मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवाञ्छित सुखभोगको भी त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको नहीं छोड़ सकता। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। यदि मेरे सत्यसे धर्मदेव संतुष्ट हैं, यदि मेरे सत्यसे अग्निदेव प्रसन्न हैं तथा यदि मेरे सत्यभाषणसे देवराज इन्द्र भी तृप्त हुए हैं तो उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ ८—११ ॥

अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ॥ १२ ॥

इसके बाद माधवीके छोटे पुत्र कुशिकवंशी धर्मज्ञ राजर्षि अष्टकने कई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले नहुषनन्दन ययातिके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ॥ १३ ॥
न मे रत्नानि न धनं न तथान्ये परिच्छदाः।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ॥ १४ ॥

'प्रभो! मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप उन सबका फल प्राप्त करें। मेरे पास कोई भी रत्न, धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं है, जिसका मैंने यज्ञोंमें उपयोग न किया हो। इस सत्य कर्मके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ १३-१४ ॥

यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम्।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ॥ १५ ॥

ययातिके दौहित्र जैसे-जैसे उनके प्रति उपर्युक्त बातें कहते थे, वैसे-ही-वैसे वे महाराज इस भूतलको छोड़ते हुए स्वर्गलोककी ओर बढ़ते चले गये थे ॥ १५ ॥

एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा।
ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण सत्कर्मोंके द्वारा उन सब राजाओंने स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिको अनायास ही तार दिया ॥ १६ ॥

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै।
चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः।
मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ॥ १७ ॥

अपने वंशकी वृद्धि करनेवाले ययातिके वे चारों दौहित्र चार राजवंशोंमें उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने यज्ञ-दानादिजनित धर्मसे उन महाप्राज्ञ मातामह ययातिको स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः।
दौहित्रास्ते वयं राजन् दिवमारोह पार्थिव ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—राजन्! पृथ्वीपते! हम राजधर्म तथा राजोचित गुणोंसे युक्त, सम्पूर्ण धर्मों तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न आपके दौहित्र हैं। आप हमारे पुण्य लेकर स्वर्गलोकपर आरूढ़ होइये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गारोहणविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्गलोकमें ययातिका स्वागत, ययातिके पूछनेपर ब्रह्माजीका अभिमानको ही पतनका कारण बताना तथा नारदजीका दुर्योधनको समझाना

नारद उवाच

सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान् ययातिर्दिवमास्थितः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उन श्रेष्ठ राजाओंने राजा ययातिको स्वर्गपर आरूढ़ कर दिया। राजा ययाति अपने उन दौहित्रोंको विदा देकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना।

ययातिका स्वर्गारोहण

परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ उनके ऊपर नाना प्रकारके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा हुई। पवित्र सौरभसे सुवासित पावन समीर उनका सब ओरसे आलिङ्गन कर रहा था ॥ २ ॥

अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम्।
कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ॥ ३ ॥

दौहित्रोंके पुण्यफलसे प्राप्त हुए अविचल स्थानको पाकर अपने सत्कर्मोंसे बढ़े हुए राजा ययाति उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होने लगे ॥ ३ ॥

उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायोंने 'उनके सुयशका' गान करते हुए उनके समीप नृत्य करके उन्हें प्रसन्न किया। स्वर्गलोकमें दुन्दुभि आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको अपनाया गया ॥ ४ ॥

अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः।
अर्चितश्चोत्तमार्घ्येण दैवतैरभिनन्दितः ॥ ५ ॥

नाना प्रकारके देवर्षियों, राजर्षियों तथा चारणोंने उनका स्तवन किया। देवताओंने उत्तम अर्घ्य निवेदन करके उनका पूजन और अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ॥ ६ ॥

इस प्रकार ययातिने उत्तम स्वर्गफल पाया तदनन्तर संतुष्ट एवं शान्तचित्त हुए ययातिको अपने मधुर वचनोंद्वारा पूर्णतः तृप्त करते हुए-से पितामह ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ ६ ॥

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाक्षया दिवि ॥ ७ ॥

'राजन्! तुमने लोकहितकारी सत्कर्मद्वारा चारों चरणोंसे युक्त धर्मका संग्रह किया; अतः तुम्हें यह अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त हुआ और स्वर्गमें तुम्हारी क्षीण न होनेवाली कीर्ति फैल गयी ॥ ७ ॥

पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम्।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ॥ ८ ॥
येन त्वां नाभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः।
प्रीत्यैव चासि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहागतः ॥ ९ ॥

'राजर्षे! फिर तुम्हींने 'अभिमानपूर्ण बर्तावसे' अपने पुण्यका नाश किया था। उस समय समस्त स्वर्गवासियोंका चित्त तमोगुणसे व्याप्त हो गया था, जिससे वे तुम्हें नहीं जानते या नहीं पहचानते थे; अतः सबके लिये अज्ञात होनेके कारण तुम स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। फिर तुम्हारे दौहित्रोंने प्रेमपूर्वक तुम्हें तार दिया है, जिससे तुम पुनः यहाँ आ गये हो ॥ ८-९ ॥

स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम्।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ॥ १० ॥

'अब तुमने अपने (दौहित्रोंद्वारा प्राप्त) कर्मसे जीते हुए अविचल, शाश्वत, पुण्यमय, उत्तम, ध्रुव तथा अविनाशी स्थान प्राप्त किया है' ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति कश्चित् तं छेत्तुमर्हसि।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ॥ ११ ॥

ययाति बोले—भगवन्! मेरे मनमें कोई संदेह है, जिसका निवारण आप ही कर सकते हैं। लोकपितामह! मैं इस प्रश्नको और किसीके सामने रखना उचित नहीं समझता ॥ ११ ॥

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत् फलम् ॥ १२ ॥
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनास्मि पातितः।
भगवन् वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान् मम निर्मितान्।
कथं नु मम तत् सर्वं विप्रणष्टं महाद्युते ॥ १३ ॥

मैंने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस महान् पुण्यफलका उपार्जन किया था और जिसे प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ाया था, वह सब थोड़े ही समयमें नष्ट कैसे हो गया? जिससे मैं यहाँसे नीचे गिरा दिया गया। भगवन्! महाद्युते! मुझे मेरे सत्कर्मोंद्वारा जो सनातन लोक प्राप्त हुए थे, उन्हें आप जानते हैं। मेरा वह सारा पुण्य सहसा नष्ट कैसे हो गया? ॥

पितामह उवाच

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम् ॥ १४ ॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजी बोले—राजेन्द्र! तुमने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस पुण्यफलका उपार्जन किया और प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाया, वह सब इस अभिमानरूपी दोषके कारण ही नष्ट हो गया था, जिससे तुम नीचे गिराये गये। तुम्हारे अभिमानके ही कारण स्वर्गलोकके निवासियोंने तुम्हें धिक्कार दिया था ॥ १४-१५ ॥

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ॥ १६ ॥

राजर्षे ! यह पुण्यलोक न अभिमानसे, न बलसे, न हिंसासे, न शठतासे और न भाँति-भाँतिकी मायाओंसे ही सुस्थिर होता है ॥ १६ ॥

नावमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।
न हि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ॥ १७ ॥

राजन् ! तुम्हें ऊँचे, नीचे एवं मध्यम वर्गके लोगोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। जो लोग अभिमानकी आगमें जल रहे हैं, उनके उस संतापको शान्त करनेका कहीं कोई उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य तुम्हारे स्वर्गसे गिरने और पुनः आरूढ़ होनेके इस वृत्तान्तको आपसमें कहें-सुनेंगे, वे संकटमें पड़नेपर भी उससे पार हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥१८॥

नारद उवाच

एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बन्धतातिमात्रं च गालवेन महीपते ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूर्वकालमें राजा ययाति अपने अभिमानके कारण संकटमें पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह एवं हठके कारण महर्षि गालवको भी महान् क्लेश सहन करना पड़ा था ॥ १९ ॥

श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः ॥ २० ॥

अतः तुम्हें तुम्हारे हितकी इच्छा रखनेवाले सुहृदोंकी बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह विनाशके पथपर ले जानेवाला है ॥ २० ॥

तस्मात् त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
संधत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ॥ २१ ॥

अतः गान्धारीनन्दन ! तुम भी अभिमान और क्रोधको त्याग दो। वीर नरेश ! तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो और क्रोधके आवेशको सदाके लिये छोड़ दो ॥ २१ ॥

(स भवान् सुहृदां पथ्यं वचो गृह्णातु मानृतम्।
समर्थैर्विग्रहं कृत्वा विषमस्थो भविष्यसि ॥)

तुम अपने सुहृदोंके हितकर वचन मान लो। असत्य आचरणको न अपनाओ, अन्यथा शक्तिशाली पाण्डवोंके साथ युद्ध ठानकर तुम बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥

ददाति यत् पार्थिव यत् करोति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो
नान्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ॥ २२ ॥

भूपाल ! मनुष्य जो दान देता है, जो कर्म करता है, जो तपस्यामें प्रवृत्त होता है और जो होम-यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसके इस कर्मका न तो नाश होता है और न उसमें कोई कमी ही होती है। उसके कर्मको दूसरा कोई नहीं भोगता। कर्ता स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है ॥ २२ ॥

इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं
बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं
त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ॥ २३ ॥

यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उन महापुरुषोंका है, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा रोष और रागसे रहित थे। यह सबके लिये परम उत्तम और हितकर है। लोकमें इसपर नाना प्रकारसे विचार करके निश्चित किये हुए सिद्धान्तको अपनाकर धर्म, अर्थ और कामपर दृष्टि रखनेवाला पुरुष इस पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नेवमेवैतद् यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् नारद ! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। मैं भी यही चाहता हूँ; परंतु मेरा कोई वश नहीं चलता है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नारदजीसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! आपने मुझसे जो बात कही है, इहलोक और स्वर्गलोकमें

हितकर, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ २ ॥

न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम्।
(न मंस्यन्ते दुरात्मानः पुत्रा मम जनार्दन।)
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ॥ ३ ॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम।

'तात ! जनार्दन ! मैं अपने वशमें नहीं हूँ। जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है। किंतु क्या कहूँ ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे। प्रिय श्रीकृष्ण ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ३½ ॥

न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥ ४ ॥
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ॥ ५ ॥

'महाबाहु हृषीकेश ! यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बातें नहीं सुनता है। गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंकी भी बातें नहीं सुनता है ॥ ४-५ ॥

स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम्।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ॥ ६ ॥
सुहृत्कार्यं तु सुमहत् कृतं ते स्याज्जनार्दन।

'जनार्दन ! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है। यह पापका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और विवेक-शून्य है। आप ही इसे समझाइये। यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ॥ ६½ ॥

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित्।

तब सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णि-नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर मधुर वाणीमें उससे बोले—॥ ७½ ॥

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥ ८ ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत।

'कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो। भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ ॥ ८½ ॥

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः।

'तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो। स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो। तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं; अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये ॥ ९½ ॥

दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥ १० ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे।

'तात ! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं ॥ १०½ ॥

धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥ ११ ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ।

'भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है ॥ ११½ ॥

विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥ १२ ॥
अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान्।
अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥ १३ ॥

'तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बार-बार देखनेमें आती है। भारत ! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है। उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है। यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है। तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि।
भ्रातॄणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ॥ १४ ॥

'परंतप ! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रोंका भी महान् हित-साधन करोगे ॥ १४ ॥

अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥ १५ ॥
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ।

'ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति करानेवाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा। अतः भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १५½ ॥

तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ॥ १७ ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ॥ १८ ॥

'यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है। परंतप ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक,

अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बीजनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है ॥ १६–१८ ॥

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान्।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

'तात ! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्‌का भला हो सकता है। तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो ॥ १९ ॥

एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥ २० ॥

'भारत ! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं। भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं ॥ २० ॥

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ २१ ॥

'तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है। कुरुश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ २२ ॥

यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ २३ ॥

'जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है ॥ २३ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥ २४ ॥

'जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण करता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है ॥ २४ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ २५ ॥

'जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्‌के वचनोंको मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता है और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है ॥ २५ ॥

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ॥ २६ ॥

'जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लङ्घन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं ॥ २६ ॥

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य यो निहीनान् निषेवते।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥ २७ ॥

'जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है ॥ २७ ॥

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम्।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ २८ ॥

'भारत ! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ॥ २८ ॥

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो ॥ २९ ॥

को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान्।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ ३० ॥

'इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा ? ॥ ३० ॥

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥

'तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ॥ ३१ ॥

मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥ ३२ ॥

'तात महाबाहो ! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है, तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं ॥ ३२ ॥

त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये । तुम क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ ३३ ॥

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ॥ ३४ ॥

भरतभूषण ! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं॥ ३४॥

पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते ॥ ३५ ॥

पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः ।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ॥ ३६ ॥

जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभवश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ॥ ३७ ॥

जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है ॥ ३७ ॥

उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते ।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है ॥ ३८ ॥

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ ३९ ॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो ॥ ३९ ॥

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ॥ ४० ॥

राजन् ! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है ॥ ४० ॥

न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः ।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ४१ ॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान् ।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः ॥ ४२ ॥

'मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे । जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन ! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे, फिर हम श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमानकी तो बात ही क्या है ? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता ॥ ४१-४२ ॥

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम् ॥ ४३ ॥

'भरतनन्दन ! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात ! किसी दुष्ट मनुष्यका साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है ॥ ४३ ॥

तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि ।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ॥ ४४ ॥
पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः ।

'पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात् उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो ॥ ४४½ ॥

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ॥ ४५ ॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।

'भारत ! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि-इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो ? ॥ ४५½ ॥

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ॥ ४६ ॥
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ।

'भरतनन्दन ! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति

करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं ॥ ४६½ ॥

न ह्यीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥ ४७ ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।

'तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं ॥ ४७½ ॥

इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥ ४८ ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥ ४९ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।

'तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८-४९½ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ५० ॥

'सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्धका विचार मत करो ॥ ५० ॥

दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ॥ ५१ ॥

'राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके ? ॥ ५१ ॥

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ।५२।

'भरतश्रेष्ठ ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उस अर्जुनपर विजय पा सके; जिसके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय ॥ ५२ ॥

यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ॥ ५३ ॥

'जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? ॥ ५३ ॥

तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥

'इसके सिवा विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है ॥ ५४ ॥

युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥ ५५ ॥

'जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! ॥ ५५ ॥

मद् द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ॥ ५६ ॥

'फिर मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा ? ॥ ५६ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ५७ ॥

'जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ ५७ ॥

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ ५८ ॥

'दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो । ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ ॥ ५८ ॥

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ ५९ ॥

'नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ ॥ ५९ ॥

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ६० ॥

'महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रक्खेंगे ॥ ६० ॥

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ६१ ॥

'तात ! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो ॥ ६१ ॥

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६२½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम्।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने ईर्ष्या और क्रोधमें भरे रहनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २ ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्णने सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ २ ॥

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

तात ! महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याण नहीं पा सकोगे ॥ ३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन् नीनशः प्रजाः ॥ ४ ॥

'वत्स ! महाबाहु केशवने तुमसे धर्म और अर्थके अनुकूल ही बात कही है। राजन् ! तुम उसे स्वीकार कर लो, प्रजाका विनाश न करो ॥ ४ ॥

ज्वलितां त्वमिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद् भ्रंशयिष्यसि ॥ ५ ॥

'बेटा ! यह भरतवंशकी राजलक्ष्मी समस्त राजाओंमें प्रकाशित हो रही है; किंतु मैं देखता हूँ कि तुम अपनी दुष्टताके कारण इसे धृतराष्ट्रके जीते-जी ही नष्ट कर दोगे ॥५॥

आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम्।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद् भ्रंशयिष्यसि॥ ६ ॥

'शीघ्र ही अपनी इस अहंकारयुक्त बुद्धिके कारण तुम पुत्र, भाई, बान्धवजन तथा मन्त्रियोंसहित अपने आपको भी जीवनसे वञ्चित कर दोगे ॥ ६ ॥

अतिक्रामन् केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत्।
पितुश्च भरतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ केशवका वचन सत्य और सार्थक है। तुम उनके, अपने पिताके तथा बुद्धिमान् विदुरके वचनोंकी अवहेलना करके कुमार्गपर न चलो। कुलघाती, कुपुरुष और कुबुद्धिसे कलङ्कित न बनो तथा माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ' ॥ ७-८ ॥

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

तदनन्तर रोषके वशीभूत होकर बारंबार लम्बी साँस खींचनेवाले दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ॥ १० ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्ण और शान्तनुनन्दन भीष्मने धर्म और अर्थसे युक्त बात कही है। नरेश्वर ! तुम उसे स्वीकार करो ॥ १० ॥

प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ११ ॥

'राजन् ! ये दोनों महापुरुष विद्वान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, तुम्हारा भला चाहनेवाले और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्होंने तुमसे हितकी ही बात कही है, अतः तुम इसका सेवन करो ॥ ११ ॥

अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः।
(मा वचो लघुबुद्धीनां समास्थास्त्वं परंतप।)
माधवं बुद्धिमोहेन मावमंस्थाः परंतप ॥ १२ ॥

'महामते ! श्रीकृष्ण और भीष्मने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो। परंतप ! तुम तुच्छ बुद्धिवाले लोगोंकी बातपर आस्था मत रक्खो। शत्रुदमन ! अपनी बुद्धिके मोहसे माधवका तिरस्कार न करो ॥ १२ ॥

ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित्।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ॥ १३ ॥

'जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, ये कभी तुम्हारे काम नहीं आ सकते। ये युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरेके कंधेपर डाल देंगे ॥ १३ ॥

मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातृंस्तथैव च।
वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ॥ १४ ॥

'समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ। जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो ॥ १४ ॥

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ॥ १५ ॥

'तात! भरतनन्दन! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्मका यही यथार्थ मत है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे ॥ १५ ॥

यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः।
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ॥ १६ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु।
न हि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ॥ १७ ॥

'जमदग्निनन्दन परशुरामजीने जैसा बताया है, ये अर्जुन उससे भी महान् हैं और देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हें सुखद और प्रिय लगनेवाली अधिक बातें कहनेसे क्या लाभ? ये सब बातें जो हमें कहनी थीं, मैंने कह दीं। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। भरतवंशविभूषण! अब तुमसे और कुछ कहनेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है' ॥१६-१७॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत्।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब द्रोणाचार्य अपनी बात कह रहे थे, उसी समय विदुरजी भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी ओर देखकर बीचमें ही कहने लगे—॥ १८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ १९ ॥

'भरतभूषण दुर्योधन! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है ॥ १९ ॥

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ॥ २० ॥

'क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके मारे जानेपर पंख कटे हुए पक्षियोंकी भाँति अनाथ (असहाय) होकर विचरेंगे ॥ २० ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम्।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे-जैसे पापी और कुलघाती कुपुरुष पुत्रको जन्म देनेके कारण ये दोनों शोकमग्न हो भिक्षुककी भाँति इस पृथ्वीपर इधर-उधर भटकते फिरेंगे' ॥ २१ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रने राजाओंसे घिरकर भाइयोंके साथ बैठे हुए दुर्योधनसे कहा—॥ २२ ॥

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेमवदव्ययम् ॥ २३ ॥

'दुर्योधन! मेरी इस बातपर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह अत्यन्त कल्याणकारक, योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाली तथा दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली है; तुम इसे स्वीकार करो ॥ २३ ॥

अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ २४ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे हमलोग समस्त राजाओंमें सम्मानित रहकर अपने सभी अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २४ ॥

सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम्।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ॥ २५ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर तुम युधिष्ठिरके पास जाओ और पूर्णरूपसे मङ्गल सम्पादन करो, जिससे भरतवंशियोंको कोई क्षति न उठानी पड़े ॥ २५ ॥

वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशमम्।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ २६ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर अब शान्ति धारण करो। मैं तुम्हारे लिये यही समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन! तुम मेरी इस आज्ञाका उल्लङ्घन न करो ॥२६॥

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम्।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ॥ २७ ॥

'यदि तुम शान्तिके लिये प्रार्थना करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका जो तुम्हारे हितकी बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—इनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म आदिके वचनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रका कथन सुनकर युद्धमें जनसंहारकी सम्भावनासे समानरूपसे दुःखका अनुभव करनेवाले भीष्म और द्रोणाचार्यने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

यावत् कृष्णावसंनद्धौ यावत् तिष्ठति गाण्डिवम्।
यावद् धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम्॥२॥
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ३॥

'वत्स! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रक्खा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनापर क्रोधपूर्ण दृष्टि नहीं डालते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये॥

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ४॥

'जबतक कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर भीमसेन अपनी सेनाके अग्रभागमें खड़े नहीं दिखायी देते हैं, तभीतक यह मार-काटका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ४॥

यावन्न चरते मार्गान् पृतनामभिधर्षयन्।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः॥ ५॥

'दुर्योधन! जबतक हाथमें गदा लिये भीमसेन तुम्हारी सेनाका संहार करते हुए युद्धके विभिन्न मार्गोंमें विचरण नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो॥

यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम्।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः॥ ६॥
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक भीमसेन अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा समयानुसार पके हुए वृक्षके फलोंकी भाँति संग्रामभूमिमें गजारोही योद्धाओंके मस्तकोंको काट-काटकर नहीं गिरा रहे हैं, तभीतक तुम्हारा युद्धविषयक संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ६½॥

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः॥ ७॥
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम्॥ ८॥
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'नकुल, सहदेव, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी तथा शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु—ये अस्त्रविद्यामें निपुण महान् वीर कवच धारण करके महासागरमें घुसे हुए ग्राहोंकी भाँति तुम्हारी सेनाके भीतर जबतक प्रवेश नहीं करते हैं, तभीतक यह जनसंहारका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ७-८½॥

यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम्॥ ९॥
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक इन भूमिपालोंके सुकुमार शरीरोंपर गीधकी पाँखोंसे युक्त भयंकर बाण नहीं गिर रहे हैं, तभीतक युद्धका संकल्प शान्त हो जाय॥ ९½॥

चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च।
नोरःसु यावद् योधानां महेष्वासैर्महेषवः॥ १०॥
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ११॥

'सामने आते ही लक्ष्यको मार गिरानेवाले, शीघ्रतापूर्वक बाण चलाने और दूरतकका लक्ष्य बींधनेवाले, अस्त्रविद्याके पारंगत महाधनुर्धर विपक्षी वीर जबतक तुम्हारे योद्धाओंके चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा हार और निष्क धारण करनेवाले वक्षःस्थलोंपर विशाल बाणोंकी वर्षा नहीं करते, तभीतक तुम्हें युद्धका विचार त्याग देना चाहिये॥ १०-११॥

अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ १२॥

'हम चाहते हैं कि नृपश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख दोनों हाथोंसे पकड़ (कर हृदयसे लगा) लें॥ १२॥

ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! उत्तम दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ध्वजा, अंकुश और पताकाओंके चिह्नसे सुशोभित अपनी दाहिनी भुजाको जगत्‌में शान्ति स्थापित करनेके लिये तुम्हारे कंधेपर रक्खें॥ १३॥

रत्नौषधिसमेतेन रक्ताङ्गुलितलेन च।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु॥ १४॥

'तथा तुम्हें पास बिठाकर रत्न एवं ओषधियोंसे युक्त लाल हथेलीवाले हाथसे तुम्हारी पीठको धीरे-धीरे सहलायें॥

शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः।
साम्नाभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ॥ १५॥

'भरतभूषण! शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील-डौलवाले

महाबाहु भीमसेन भी शान्तिके लिये तुम्हें हृदयसे लगाकर तुमसे मीठी-मीठी बातें करें ॥ १५ ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः ।
मूर्ध्नि तान् समुपाघ्राय प्रेम्णाभिवद पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन् ! अर्जुन और नकुल-सहदेव—ये तीनों भाई तुम्हें प्रणाम करें और तुम उनके मस्तक सूँघकर उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करो ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह संगतम् ।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ॥ १७ ॥

'तुम्हें अपने वीर भाई पाण्डवोंके साथ मिला हुआ देख ये सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायें ॥ १७ ॥

घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम् ।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ॥ १८ ॥

'राजाओंकी सभी राजधानियोंमें यह घोषणा करा दी जाय कि कौरव-पाण्डवोंका सारा झगड़ा समाप्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक उनका समस्त कार्य सम्पन्न हो गया । फिर तुम और युधिष्ठिर परस्पर भ्रातृभाव रखते हुए इस राज्यका समानरूपसे उपभोग करो, तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँ' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म और द्रोणके वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णको दुर्योधनका उत्तर, उसका पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवसभामें यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधनने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥

'केशव ! आपको अच्छी तरह सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिये । आप तो विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन ।
भवान् गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ॥ ३ ॥

'मधुसूदन ! आप पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर जो अकारण ही सदा हमारी निन्दा करते रहते हैं, इसका क्या कारण है ? क्या आप हमलोगोंके बलाबलका विचार करके ऐसा करते हैं ? ॥ ३ ॥

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कंचन पार्थिवम् ॥ ४ ॥

'मैं देखता हूँ; आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्य अथवा पितामह भीष्म सभी लोग केवल मुझपर ही दोषारोपण करते हैं; दूसरे किसी राजापर नहीं ॥ ४ ॥

न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहात्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ५ ॥

'परंतु मुझे यहाँ अपना कोई दोष नहीं दिखायी देता है । इधर राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष रखने लगे हैं ॥ ५ ॥

न चाहं कंचिदत्यर्थमपराधमरिंदम ।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन केशव ! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६ ॥

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥७॥

'मधुसूदन ! पाण्डवोंको जूएका खेल बड़ा प्रिय था । इसीलिये वे उसमें प्रवृत्त हुए । फिर यदि मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया ? ॥

यत् पुनर्द्रविणं किंचित् तत्राजीयन्त पाण्डवाः ।
तेभ्य एवाभ्यनुज्ञातं तत् तदा मधुसूदन ॥ ८ ॥

'मधुसूदन ! उस जूएमें पाण्डवोंने जो कुछ भी धन हारा था, वह सब उसी समय उन्हींको लौटा दिया गया था ॥८॥

अपराधो न चास्माकं यत् ते द्यूते पराजिताः ।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! यदि अजेय पाण्डव जूएमें पुनः पराजित हो गये और वनमें जानेको विवश हुए तो यह हमलोगोंका अपराध नहीं है ॥ ९ ॥

केन वाप्यपराधेन विरुध्यन्त्यरिभिः सह ।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ॥ १० ॥

'कृष्ण ! हमारे किस अपराधसे असमर्थ पाण्डव शत्रुओंके साथ मिलकर हमारा विरोध करते हैं और ऐसा करके भी सहज शत्रुकी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १० ॥

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ॥ ११ ॥

'हमने उनका क्या बिगाड़ा है ? वे पाण्डव हमारे किस अपराधपर सृञ्जयोंके साथ मिलकर हम धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करना चाहते हैं ? ॥ ११ ॥

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ॥ १२ ॥

'हमलोग किसीके भयंकर कर्म अथवा भयानक वचनसे भयभीत हो क्षत्रियधर्मसे च्युत होकर साक्षात् इन्द्रके सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते ॥ १२ ॥

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम्।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ॥ १३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें हम सब लोगोंको जीतनेका साहस कर सके ॥ १३ ॥

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥ १४ ॥

'मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्णको तो देवता भी युद्धमें नहीं जीत सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे।
अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ॥ १५ ॥

'माधव ! अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए यदि हमलोग युद्धमें किसी समय अस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो वह भी हमारे लिये स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाली होगी॥

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥ १६ ॥

'जनार्दन ! हम क्षत्रियोंका यही प्रधान धर्म है कि संग्राममें हमें बाण-शय्यापर सोनेका अवसर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ॥ १७ ॥

'अतः माधव ! हम अपने शत्रुओंके सामने नतमस्तक न होकर यदि युद्धमें वीरशय्याको प्राप्त हों तो इससे हमारे भाई-बन्धुओंको संताप नहीं होगा ॥ १७ ॥

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन्।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्तिपर दृष्टि रखते हुए भी इस प्रकार भयके कारण कभी शत्रुके सामने मस्तक झुकायेगा ? ॥ १८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥ १९ ॥

'वीर पुरुषको चाहिये कि वह सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने नतमस्तक न हो; क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका कर्तव्य-पुरुषार्थ है। वीर पुरुष असमयमें ही नष्ट भले ही हो जाय, परंतु कभी शत्रुके सामने सिर न झुकावे' ॥ १९ ॥

इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥ २० ॥

'अपना हित चाहनेवाले मनुष्य मातङ्ग मुनिके उपर्युक्त वचनको ही ग्रहण करते हैं; अतः मेरे-जैसा पुरुष केवल धर्म तथा ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है (शत्रुओंको नहीं) ॥

अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाचरेत्।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥ २१ ॥

'वह दूसरे किसीको कुछ भी न समझकर जीवनभर ऐसा ही आचरण (उद्योग) करता रहे; यही क्षत्रियोंका धर्म है और सदाके लिये मेरा मत भी यही है ॥ २१ ॥

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत्।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥ २२ ॥

'केशव ! मेरे पिताजीने पूर्वकालमें जो राज्यभाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ॥ २२ ॥

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ॥ २३ ॥
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि बाले जनार्दन।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ॥ २४ ॥

'जनार्दन ! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये। वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! पहले भी जो पाण्डवोंको राज्यका अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था; परंतु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भयसे जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव पुनः नहीं पा सकते ॥ २३-२४ ॥

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ २५ ॥

'केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको भूमिका उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकता है' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और उसे कुपित होकर सभासे जाते देख उसे कैद करनेकी सलाह देना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे कुछ विचार करके कौरव-सभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ १॥

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान्॥ २॥

'दुर्योधन! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी। तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी। तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह। अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है॥ २॥

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः॥ ३॥

'मूढ! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ। राजाओ! आपलोग भी ध्यान देकर सुनें॥

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम्।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत॥ ४॥

'भारत! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय॥ ४॥

कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः॥ ५॥

'तात! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुम-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त द्यूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे?॥ ५॥

अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम्।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च॥ ६॥

'महामते! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं॥ ६॥

तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम्।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः॥ ७॥

'तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये द्यूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं॥ ७॥

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया॥ ८॥

'तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा। जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है॥ ८॥

कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया॥ ९॥

'द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीय उन सबकी महारानी है। तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया॥ ९॥

जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः॥ १०॥

'जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरव-सभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं॥ १०॥

सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम्॥ ११॥

'सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले लोभरहित सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा?॥ ११॥

नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम्।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम्॥ १२॥

'दुर्योधन! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं॥ १२॥

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव॥ १३॥

'तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था, परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका॥ १३॥

ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने॥ १४॥

'उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घकालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे॥ १४॥

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव॥ १५॥

'तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर इन सभी उपायोंद्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ॥ १५ ॥

एवं बुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १६ ॥

'ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है ॥ १६ ॥

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १७ ॥

'पापात्मन् ! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ १७ ॥

कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥ १८ ॥

'क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है ॥१८॥

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १९ ॥

'माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि तू संधि कर ले—शान्त हो जा, परंतु भूपाल ! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता ॥ १९ ॥

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ २० ॥

'राजन् ! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता । इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥

न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ २१ ॥

राजन् ! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा । भूपाल ! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासनने बीचमें ही अमर्षशील दुर्योधनसे कौरव-सभामें ही कहा—॥

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बद्ध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥२३॥

राजन् ! यदि आप अपनी इच्छासे पाण्डवोंके साथ संधि नहीं करेंगे तो जान पड़ता है, कौरवलोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके हाथमें सौंप देंगे ॥ २३ ॥

वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥२४॥

'नरश्रेष्ठ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्णको, आपको और मुझे—इन तीनोंको ही पाण्डवोंके अधिकारमें दे देंगे' ॥ २४ ॥

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥ २५ ॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम् ।
कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ॥ २६ ॥
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः ।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ॥ २७ ॥

भाईकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ वहाँसे उठकर चल दिया । वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्ट पुरुषोंकी भाँति मर्यादाशून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था । वह विदुर, धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, द्रोणाचार्य और भगवान् श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँसे चल पड़ा ॥ २५—२७ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ दुर्योधनको वहाँसे जाते देख उसके भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश सब-के-सब उठकर उसके साथ चल दिये ॥ २८ ॥

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनको भाइयोंसहित सभासे उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा—॥२९॥

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव ॥ ३० ॥

'जो धर्म और अर्थका परित्याग करके क्रोधका ही अनुसरण करता है, उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते हैं ॥ ३० ॥

दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्तराष्ट्रोऽनुपायकृत् ।
मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ॥ ३१ ॥

'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्यसिद्धिके उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके

वशीभूत रहनेवाला है। इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है॥ ३१॥

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः॥ ३२॥

'जनार्दन! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं। तभी तो ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधन-का अनुसरण करते हैं'॥ ३२॥

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान्॥ ३३॥

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुल-नन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३३॥

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम्॥ ३४॥

'कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़ों लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं॥ ३४॥

तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं शृणुतानघाः॥ ३५॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो! इस विषय-में मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा। वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें॥ ३५॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः॥ ३६॥

'मैं तो हितकी बात बताने जा रहा हूँ। उसका आप-लोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है। भरतवंशियो! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं॥ ३६॥

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान्।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः॥ ३७॥

'बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था। वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया॥ ३७॥

उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे॥ ३८॥

'समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला॥ ३८॥

आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः॥ ३९॥

'तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोजवंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया॥ ३९॥

कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः॥ ४०॥

'भरतनन्दन! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं॥ ४०॥

अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च॥ ४१॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः॥ ४२॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः॥ ४३॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम्॥ ४४॥

'राजन्! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये। एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ। देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे। सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे। सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था। भारत! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोक-भावन भगवान् ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्ध-में दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी। आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेका वध करेंगे॥ ४१—४४॥

इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान्॥ ४५॥

'यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँध-कर वरुणदेवको सौंप दो'॥ ४५॥

एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान्॥ ४६॥

'उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया॥४६॥

तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान्॥ ४७॥

'तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुण-

पाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं ॥ ४७ ॥

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ॥ ४८ ॥

'भरतवंशियो ! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें ॥ ४८ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ४९ ॥

'समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे ॥ ४९ ॥

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥५०॥

'राजन् ! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका गान्धारीको बुलाना और उसका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ १ ॥

गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम्।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ २ ॥

'तात ! जाओ, परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको यहाँ बुला लाओ। मैं उसीके साथ इस दुर्बुद्धिको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी चेष्टा करूँगा ॥ २ ॥

यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम्।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥ ३ ॥

'यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्माको शान्त कर सके तो हमलोग अपने सुहृद् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं॥

अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत्।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ॥ ४ ॥

'दुर्योधन लोभके अधीन हो रहा है। उसकी बुद्धि दूषित हो गयी है और उसके सहायक दुष्ट स्वभावके ही हैं। सम्भव है, गान्धारी शान्तिस्थापनके लिये कुछ कहकर उसे सन्मार्गका दर्शन करा सके ॥ ४ ॥

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत्।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ॥ ५ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो दुर्योधनके द्वारा उपस्थित किया हुआ हमारा महान् एवं भयंकर संकट दीर्घकालके लिये शान्त हो जायगा और चिरस्थायी योगक्षेमकी प्राप्ति सुलभ होगी' ॥ ५ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम्।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजाकी यह बात सुनकर विदुर धृतराष्ट्रके आदेशसे दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको वहाँ बुला ले आये ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि ! तुम्हारा वह दुरात्मा पुत्र गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है। वह ऐश्वर्यके लोभमें पड़कर राज्य और प्राण दोनों गँवा देगा ॥ ७ ॥

अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान्।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषकी भाँति हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाको ठुकराकर अपने पापी साथियोंके साथ सभासे बाहर निकल गया है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पतिका यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याणका अनुसंधान करती हुई इस प्रकार बोली ॥ ९ ॥

गान्धार्युवाच

आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम्।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा।

गान्धारीने कहा—महाराज ! राज्यकी कामनासे आतुर हुए अपने पुत्रको शीघ्र बुलवाइये। धर्म और अर्थका लोप करनेवाला कोई भी अशिष्ट पुरुष राज्य नहीं पा सकता, तथापि सर्वथा उद्दण्डताका परिचय देनेवाले उस दुष्टने राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १०½ ॥

त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे।

महाराज ! आपको अपना बेटा बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थितिके लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं; क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारोंको जानते हुए भी सदा उसीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ११½ ॥

स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात्।

राजन् ! इस दुर्योधनको काम और क्रोधने अपने वशमें कर लिया है, यह लोभमें फँस गया है; अतः आज आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है ॥ १२½ ॥

राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥
दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम्।

दुष्ट सहायकोंसे युक्त, मूढ, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्रको अपना राज्य सौंप देनेका फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं ॥ १३½ ॥

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ १४ ॥
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ॥ १५ ॥

कोई भी राजा स्वजनोंमें फैलती हुई फूटकी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? राजन् ! स्वजनोंमें फूट डालकर उनसे विलग होनेवाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे। महाराज ! जिस आपत्तिको साम अथवा भेदनीतिसे पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनोंपर दण्डका प्रयोग कौन करेगा ? ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम्।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिता धृतराष्ट्रके आदेश और माता गान्धारीकी आज्ञासे विदुर असहिष्णु दुर्योधनको पुनः सभामें बुला ले आये ॥ १६ ॥

स मातुर्वचनाकाङ्क्षी प्रविवेश पुनः सभाम्।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १७ ॥

दुर्योधनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ माताकी बात सुननेकी इच्छासे सभाभवनमें पुनः प्रविष्ट हुआ ॥ १७ ॥

तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम्।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अपने कुमार्गगामी पुत्रको पुनः सभाके भीतर आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्तिस्थापनके लिये इस प्रकार बोली—॥ १८ ॥

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ॥ १९ ॥

'बेटा दुर्योधन ! मेरी यह बात सुनो। जो सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे लिये हितकारक और भविष्यमें सुखकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ १९ ॥

दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ॥ २० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदोंकी वह बात मान लो ॥ २० ॥

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥ २१ ॥

'यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मकी, पिताजीकी, मेरी तथा द्रोण आदि अन्य हितैषी सुहृदोंकी भी पूजा सम्पन्न हो जायगी ॥ २१ ॥

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! महामते ! कोई भी अपनी इच्छामात्रसे राज्यकी प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम्।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥ २३ ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वह दीर्घकालतक राज्यका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मनको जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्यकी रक्षा कर सकता है ॥ २३ ॥

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः।
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥ २४ ॥

'काम और क्रोध मनुष्यको धनसे दूर खींच ले जाते हैं। उन दोनों शत्रुओंको जीत लेनेपर राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है ॥ २४ ॥

दुर्योधनको गान्धारीकी फटकार

लोकेश्वर प्रभुत्वं हि महदेतद् दुरात्मभिः ।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम् ॥ २५ ॥

'जनेश्वर ! यह महान् प्रभुत्व ही राज्य नामक अभीष्ट स्थान है । जिनकी अन्तरात्मा दूषित है, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥ २६ ॥

'महत्पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अर्थ और धर्ममें नियन्त्रित करे । इन्द्रियोंको जीत लेनेपर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ २६ ॥

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ २७ ॥

'जैसे उद्दण्ड घोड़े काबूमें न होनेपर मूर्ख सारथिको मार्गमें ही मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो ये मनुष्यका नाश करनेके लिये भी पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २८ ॥

'जो पहले अपने मनको न जीतकर मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है अथवा मन्त्रियोंको जीते बिना शत्रुओंको जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनोंसे वञ्चित हो जाता है ॥ २८ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ २९ ॥

'अतः पहले अपने मनको ही शत्रुके स्थानपर रखकर इसे जीते । तत्पश्चात् मन्त्रियों और शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा करे । ऐसा करनेसे उसकी विजय पानेकी अभिलाषा कभी व्यर्थ नहीं होती है ॥ २९ ॥

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ ३० ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, मन्त्रियोंपर विजय पा ली है तथा जो अपराधियोंको दण्ड प्रदान करता है, खूब सोच-समझकर कार्य करनेवाले उस धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ३० ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः ॥ ३१ ॥

'छोटे छिद्रवाले जालसे ढकी हुई दो मछलियोंकी भाँति ये काम और क्रोध भी शरीरके भीतर ही छिपे हुए हैं, जो मनुष्यके ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ ३१ ॥

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम् ।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ॥ ३२ ॥

'इन्हीं दोनों (काम और क्रोध) के द्वारा देवताओंने स्वर्गमें जानेवाले पुरुषके लिये उस लोकका दरवाजा बंद कर रक्खा है । वीतराग पुरुषसे डरकर ही देवताओंने स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक काम और क्रोधकी वृद्धि की है ॥ ३२ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः ।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥ ३३ ॥

'जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्पको अच्छी तरह जीतनेकी कला जानता है, वही इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३३ ॥

सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः ।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ॥ ३४ ॥

'अतः अर्थ, धर्म तथा शत्रुओंका पराभव चाहनेवाले राजाको सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ ३५ ॥

'जो राजा काम अथवा क्रोधसे अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरोंके प्रति मिथ्या बर्ताव (कपट एवं अन्याययुक्त आचरण) करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं ॥ ३५ ॥

एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः ।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ॥ ३६ ॥

'तात ! पाण्डव परस्पर संगठित होनेके कारण एकीभूत हो गये हैं । वे परम ज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहारमें समर्थ हैं । तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक इस पृथ्वीका राज्य भोग सकोगे ॥ ३६ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः ।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३७ ॥

'तात ! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है । वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं ॥ ३७ ॥

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥ ३८ ॥

'अतः अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लो; क्योंकि भगवान् केशव प्रसन्न होनेपर दोनों ही पक्षोंको सुखी बना सकते हैं ॥ ३८ ॥

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदोंके शासनमें नहीं रहता—उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलता, वह शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला होता है ॥ ३९ ॥

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ४० ॥

'तात ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है । उससे धर्म और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है ? युद्धमें सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ ॥ ४० ॥

भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च ।
दत्तोंऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद् भीतैररिंदम ॥ ४१ ॥

'शत्रुदमन ! महाप्राज्ञ ! आपसकी फूटके भयसे ही पितामह भीष्मने, तुम्हारे पिताने और महाराज बाह्लीकने भी पाण्डवोंको राज्यका भाग प्रदान किया है ॥ ४१ ॥

तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्यानुपश्यसि ।
यद् भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम्॥ ४२ ॥

'उसीके देनेका आज तुम यह प्रत्यक्ष फल देखते हो कि उन शूरवीर पाण्डवोंद्वारा निष्कण्टक बनायी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भोग रहे हो ॥ ४२ ॥

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥ ४३ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले पुत्र ! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंको उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो ॥ ४३ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ॥ ४४ ॥

'भारत ! भूमण्डलका आधा राज्य मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है । तुम सुहृदोंकी आज्ञाके अनुसार चलकर सुयश प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ॥ ४५ ॥

'तात ! श्रीमान्, मनस्वी, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय पाण्डवोंके साथ होनेवाला कलह तुम्हें महान् सुखसे वञ्चित कर देगा ॥ ४५ ॥

निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम् ।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंको उनका राज्यभाग देकर सुहृदोंके बढ़ते हुए क्रोधको शान्त कर दो और अपने राज्यका यथोचित रीतिसे शासन करते रहो ॥ ४६ ॥

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः ।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥ ४७ ॥

'बेटा ! पाण्डवोंको जो तेरह वर्षोंके लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है । महामते ! तुम्हारे काम और क्रोधसे इस अपकारकी और भी वृद्धि हुई है । अब तुम संधिके द्वारा इसे शान्त कर दो ॥ ४७ ॥

न चैष शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि ।
सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ॥ ४८ ॥

'तुम जो कुन्तीके पुत्रोंका धन हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करनेकी तुम्हारी शक्ति नहीं है । क्रोधको दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाला सूतपुत्र कर्ण तथा तुम्हारा भाई दुःशासन—ये दोनों भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनंजये ।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम्॥ ४९ ॥

'जिस समय भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न—ये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजाका विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ४९ ॥

अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः ।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत् त्वत्कृते वधम्॥ ५० ॥

'तात ! तुम क्रोधके वशीभूत होकर समस्त कौरवोंका वध न कराओ । तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश न हो ॥ ५० ॥

यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः ।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१ ॥

'मूढ़ ! तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओरसे युद्ध करेंगे, यह इस समय कदापि सम्भव नहीं है ॥ ५१ ॥

समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम् ।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥

'क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें इस राज्यका पाण्डवों अथवा तुमलोगोंके पास रहना समान ही है । इनके हृदयमें दोनोंके लिये एक-सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्यसे भी बढ़कर ये धर्मको महत्त्व देते हैं ॥ ५२ ॥

राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम् ।
न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥ ५३ ॥

'इस राज्यका इन्होंने जो अन्न खाया है, उसके भयसे यद्यपि ये तुम्हारी ओरसे लड़कर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिरकी ओर कभी वक्र दृष्टिसे नहीं देख सकेंगे ॥ ५३ ॥

न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते ।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

'तात भरतश्रेष्ठ ! इस संसारमें केवल लोभ करनेसे किसीको धनकी प्राप्ति होती नहीं दिखायी देती; अतः लोभसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है । तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके षड्यन्त्रका सात्यकिद्वारा भंडाफोड़, श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना तथा धृतराष्ट्र और विदुरका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके कहे हुए उस नीतियुक्त वचनका अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँसे उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियोंके पास चला गया ॥ १ ॥

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥

उस सभाभवनसे निकलकर दुर्योधनने द्यूतविद्याके जानकार सुबलपुत्र राजा शकुनिके साथ गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन—इन चारोंका निश्चय इस प्रकार हुआ ॥ ३ ॥

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ४ ॥
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ॥ ५ ॥

वे परस्पर कहने लगे—'शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक कार्य करनेवाले श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके साथ मिलकर जबतक हमें कैद करें, उसके पहले हमलोग ही बलपूर्वक इन पुरुषसिंह हृषीकेशको बन्दी बना लें । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रने विरोचनपुत्र बलिको बाँध लिया था ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्णको कैद हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पोंके समान अचेत और हतोत्साह हो जायँगे ॥ ६ ॥

अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।

'ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही समस्त पाण्डवोंके कल्याण-साधक और कवचकी भाँति रक्षा करनेवाले हैं । सम्पूर्ण यदुवंशियोंके शिरोमणि तथा वरदायक इस श्रीकृष्णके बन्दी बना लिये जानेपर सोमकोंसहित सब पाण्डव उद्योगशून्य हो जायँगे ॥ ७½ ॥

तस्माद् वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य बद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।

'इसलिये हम यहीं शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाले केशवको राजा धृतराष्ट्रके चीखने-चिल्लानेपर भी कैद करके शत्रुओंके साथ युद्ध करें' ॥ ८½ ॥

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ॥ ९ ॥
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।

विद्वान् सात्यकि इशारेसे ही दूसरोंके मनकी बात समझ लेनेवाले थे । वे उन दुष्टचित्त पापियोंके उस पापपूर्ण अभिप्रायको शीघ्र ही ताड़ गये ॥ ९½ ॥

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ॥ १० ॥
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ॥ ११ ॥
यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।

फिर उसके प्रतीकारके लिये वे सभासे बाहर निकलकर कृतवर्मासे मिले और इस प्रकार बोले—'तुम शीघ्र ही अपनी सेनाको तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेनाके साथ सभाभवनके द्वारपर डटे रहो । तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-को कौरवोंके षड्यन्त्रकी सूचना दिये देता हूँ' ॥१०-११½ ॥

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ॥ १२ ॥
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर वीर सात्यकिने सभामें प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वतकी कन्दरामें घुस रहा हो । वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशवसे कौरवोंका अभिप्राय बताया । फिर धृतराष्ट्र और विदुरको भी इसकी सूचना दी ॥ १२-१३ ॥

तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ॥ १४ ॥
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।

सात्यकिने किंचित् मुसकराते हुए-से उन कौरवोंके इस अभिप्रायको इस प्रकार बताया—'सभासदो ! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं, जो धर्म, अर्थ

और काम सभी दृष्टियोंसे साधुपुरुषोंद्वारा निन्दित है। यद्यपि इस कार्यमें उन्हें किसी प्रकार सफलता नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १४½ ॥

पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १५ ॥
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः।

'क्रोध और लोभके वशीभूत हो काम एवं रोषसे तिरस्कृत होकर कुछ पापात्मा एवं मूढ़ मानव यहाँ आकर भारी बखेड़ा पैदा करना चाहते हैं ॥ १५½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥ १६ ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः।

'जैसे बालक और जड़ बुद्धिवाले लोग जलती आगको कपड़ेमें बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्दबुद्धि कौरव इन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ कैद करना चाहते हैं' ॥ १६½ ॥

सात्यकेस्तद् वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत् कुरुसंसदि।
राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप ॥ १८ ॥
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः।

सात्यकिका यह वचन सुनकर दूरदर्शी विदुरने कौरव-सभामें महाबाहु धृतराष्ट्रसे कहा—'परंतप नरेश! जान पड़ता है, आपके सभी पुत्र सर्वथा कालके अधीन हो गये हैं। इसीलिये वे यह अकीर्तिकारक और असम्भव कर्म करनेको उतारू हुए हैं ॥ १७-१८½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ॥ १९ ॥
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम्।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम्।

'सुननेमें आया है कि वे सब संगठित होकर इन पुरुषसिंह कमलनयन श्रीकृष्णको तिरस्कृत करके हठपूर्वक कैद करना चाहते हैं! ये भगवान् कृष्ण इन्द्रके छोटे भाई और दुर्धर्ष वीर हैं। इन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इनके पास आकर सभी विरोधी जलती आगमें गिरनेवाले फतिंगोंके समान नष्ट हो जायँगे ॥ १९-२०½ ॥

अयमिच्छन् हि तान् सर्वान् युध्यमानाञ्जनार्दनः॥२१॥
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद् यमसादनम्।

'जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह हाथियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्ण यदि चाहें तो क्रुद्ध होनेपर समस्त विपक्षी योद्धाओंको यमलोक पहुँचा सकते हैं॥२१½॥

न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन ॥ २२ ॥
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः।

'परंतु ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पापकर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्मसे ही पीछे हट सकते हैं ॥ २२½ ॥

(यथा वाराणसी दग्धा साश्वा सरथकुंजरा।
सानुबन्धस्तु कृष्णेन काशीनामृषभो हतः ॥
तथा नागपुरं दग्ध्वा शङ्खचक्रगदाधरः।
स्वयं कालेश्वरो भूत्वा नाशयिष्यति कौरवान्॥

'श्रीकृष्णने जिस प्रकार घोड़े, रथ और हाथियोंसहित वाराणसी नगरी जला दी और काशिराजको उनके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डाला, उसी प्रकार ये शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कालेश्वर होकर हस्तिनापुरको दग्ध करके कौरवोंका नाश कर डालेंगे ॥

पारिजातहरं ह्येनमेकं यदुसुखावहम्।
नाभ्यवर्तत संरब्धो वृत्रहा वसुभिः सह ॥

'यदुकुलको सुख पहुँचानेवाले श्रीकृष्ण जब अकेले पारिजातका अपहरण करने लगे, उस समय अत्यन्त कोपमें भरे हुए इन्द्रने इनके ऊपर वसुओंके साथ आक्रमण किया। परंतु वे भी इन्हें पराजित न कर सके ॥

प्राप्य निर्मोचने पाशान् षट् सहस्रांस्तरस्विनः।
हतास्ते वासुदेवेन ह्युपसंक्रम्य मौरवान् ॥

'निर्मोचन नामक स्थानमें मुर दैत्यने छः हजार शक्तिशाली पाश लगा रखे थे, जिन्हें इन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने निकट जाकर काट डाला ॥

द्वारमासाद्य सौभस्य विधूय गदया गिरिम्।
द्युमत्सेनः सहामात्यः कृष्णेन विनिपातितः ॥

'इन्हीं श्रीकृष्णने सौभके द्वारपर पहुँचकर अपनी गदासे पर्वतको विदीर्ण करते हुए मन्त्रियोंसहित द्युमत्सेनको मार गिराया था ॥

शेषवत्त्वात् कुरूणां तु धर्मापेक्षी तथाच्युतः।
क्षमते पुण्डरीकाक्षः शक्तः सन् पापकर्मणाम् ॥
एते हि यदि गोविन्दमिच्छन्ति सह राजभिः।
अद्यैवातिथयः सर्वे भविष्यन्ति यमस्य ते ॥

'अभी कौरवोंकी आयु शेष है, इसीलिये सदा धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण इन पापाचारियोंको दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी अभी क्षमा करते जा रहे हैं। यदि ये कौरव अपने सहयोगी राजाओंके साथ गोविन्दको बन्दी बनाना चाहते हैं तो सब-के-सब आज ही यमराजके अतिथि हो जायँगे ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः।
तथा चक्रभृतः सर्वे वशमेष्यन्ति कौरवाः ॥)

'जैसे तिनकोंके अग्रभाग सदा महाबलवान् वायुके वशमें होते हैं, उसी प्रकार समस्त कौरव चक्रधारी श्रीकृष्णके अधीन हो जायँगे' ॥

विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥ २४ ॥
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।

विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंके सुनते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—'राजन् ! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये । फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ ॥ २३-२४½ ॥

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।

'यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता ॥ २५½ ॥

पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ॥ २६ ॥
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।

'आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा । यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया ॥ २६½ ॥

अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥ २७ ॥
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।

'भारत ! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा ? ॥ २७½ ॥

इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥ २८ ॥
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।

'परंतु भारत ! महाराज ! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा ॥ २८½ ॥

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ॥ २९ ॥
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

'नरेश्वर ! यह दुर्योधन जैसा चाहता है वैसा ही हो । मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ' ॥ २९½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥ ३० ॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधनको उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामी सेवकोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ । यदि पुनः उसे सन्मार्गपर उतार सकूँ तो अच्छा होगा' ॥ ३०-३१ ॥

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ३२ ॥

तब विदुरजी राजाओंसे घिरे हुए दुर्योधनको उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभामें ले आये ॥ ३२ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥ ३३ ॥

उस समय कर्ण, दुःशासन तथा अन्य राजाओंसे भी घिरे हुए दुर्योधनसे राजा धृतराष्ट्रने कहा— ॥ ३३ ॥

नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥

'नृशंस महापापी ! नीच कर्म करनेवाले ही तेरे सहायक हैं । तू उन पापी सहायकोंसे मिलकर पापकर्म ही करना चाहता है ॥

अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत् कुलपांसनः ॥ ३५ ॥

'वह कर्म ऐसा है, जिसकी साधु पुरुषोंने सदा निन्दा की है । वह अपयशकारक तो है ही, तू उसे कर भी नहीं सकता; परंतु तेरे-जैसा कुलाङ्गार और मूर्ख मनुष्य उसे करनेकी चेष्टा करता है ॥ ३५ ॥

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ ३६ ॥

'सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकोंसे मिलकर इन दुर्धर्ष एवं दुर्जय वीर कमलनयन श्रीकृष्णको कैद करना चाहता है ॥

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥ ३७ ॥

'ओ मूढ़ ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वशमें नहीं कर सकते, उन्हींको तू बंदी बनाना चाहता है । तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ना चाहता हो ॥ ३७ ॥

देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।
न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुद्ध्यसि केशवम् ॥ ३८ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्राम-भूमिमें जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्णको तू नहीं जानता ॥ ३८ ॥

दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ ३९ ॥

'जैसे वायुको हाथसे पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमाको हाथसे छूना कठिन है और पृथ्वीको सिरपर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है' ॥ ३९ ॥

इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेत्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर विदुरने भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम्।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम् ॥ ४१ ॥

विदुर बोले—दुर्योधन ! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो। सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया ॥ ४१ ॥

ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम्।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४१ ॥

वह पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहता था, परंतु इन्हें कभी पकड़ न सका। उन्हीं श्रीकृष्ण-को तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ! ॥ ४२ ॥

प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४३ ॥

पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बंदी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका। उन्हींको तुम बल-पूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ॥ ४३ ॥

अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि ॥ ४४ ॥

अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरका-सुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राज-कन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ४४ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४५ ॥

निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्ने पाशोंमें बाँध लिया। वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो ॥ ४५ ॥

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्होंने ही बाल्यावस्थामें शकुनी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया था ॥ ४६ ॥

अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन् ॥ ४७ ॥

अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहितके विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे ॥ ४७ ॥

जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान्।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः ॥ ४८ ॥

जरासंध, दंतवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है ॥ ४८ ॥

वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः ॥ ४९ ॥

अमित तेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है। इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजातहरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है ॥ ४९ ॥

एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः ॥ ५० ॥

इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था ॥ ५० ॥

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः ॥ ५१ ॥

ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है। सबके पुरुषार्थके कारण भी यही हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं ॥ ५१ ॥

तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम्।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम् ॥ ५२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है। तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते। ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं। ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं ॥ ५२ ॥

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि ॥ ५३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

पर्वणि

केषी
कृष्णके

४८॥
गुर भी
मोंका

॥४९॥
विस्र
है और
कको मैं

५०॥
कैटम
करके
रथ

१॥
है।
जो-
१॥

२॥
वान्
वहाँ
क

१॥
नद्
की
ल्ल

कौरव सभामें विराट् रूप

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १ ॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीके ऐसा कहनेपर शत्रुसमूहका संहार करनेवाले शक्तिशाली श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है ॥ १-२ ॥

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥ ३ ॥

'देख, सब पाण्डव यहीं हैं । अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं । आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियोंसहित वसुगण भी यहीं हैं' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
तस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत्॥ ५ ॥

ऐसा कहकर विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले भगवान् केशव उच्चस्वरसे अट्टहास करने लगे । हँसते समय उन महात्मा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें स्थित विद्युत्के समान कान्तिवाले तथा अँगूठेके बराबर छोटे शरीरवाले देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे । उनके ललाटमें ब्रह्मा और वक्षःस्थलमें रुद्रदेव विद्यमान थे ॥ ४-५ ॥

लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाश्विनावपि ॥६॥
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैव यक्षाश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ ७ ॥

समस्त लोकपाल उनकी भुजाओंमें स्थित थे । मुखसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं । आदित्य, साध्य, वसु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस भी उनके विभिन्न अङ्गोंमें प्रकट हो गये ॥ ६-७ ॥

प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां संकर्षणधनंजयौ ।
दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ॥ ८ ॥

उनकी दोनों भुजाओंसे बलराम और अर्जुनका प्रादुर्भाव हुआ । दाहिनी भुजामें धनुर्धर अर्जुन और बायींमें हलधर बलराम विद्यमान थे ॥ ८ ॥

भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।
अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ॥ ९ ॥
अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।

भीमसेन, युधिष्ठिर तथा माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव भगवान्के पृष्ठभागमें स्थित थे । प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथोंमें विशाल आयुध धारण किये भगवान्के अग्रभागमें प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ॥ १० ॥
अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।
नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ॥ ११ ॥

शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुए ही समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान दिखायी देते थे ॥ १०-११ ॥

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।
प्रादुरासन् महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

उनके नेत्रोंसे, नासिकाके छिद्रोंसे और दोनों कानोंसे सब ओर अत्यन्त भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें प्रकट हो रही थीं ॥ १२ ॥

रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।
तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्॥ १४ ॥
संजयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।
प्रादात् तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ॥१५॥

समस्त रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक रही थीं । महात्मा श्रीकृष्णके उस भयंकर स्वरूपको देखकर समस्त राजाओंके मनमें भय समा गया और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये । द्रोणाचार्य, भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, महाभाग संजय तथा तपस्याके धनी महर्षियोंको छोड़कर अन्य सब लोगोंकी आँखें बंद हो गयी थीं । इन द्रोण आदिको भगवान् जनार्दनने स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी (अतः वे आँख खोलकर उन्हें देखनेमें समर्थ हो सके) ॥ १३–१५ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ॥ १६ ॥

उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्णका वह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः।
तस्मात् त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—कमलनयन ! यदुकुल-तिलक श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण जगत्‌के हितैषी हैं, अतः मुझपर भी कृपा कीजिये ॥ १७ ॥

भगवन् मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नान्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥

भगवन् ! मेरे नेत्रोंका तिरोधान हो चुका है; परंतु आज मैं आपसे पुनः दोनों नेत्र माँगता हूँ । केवल आपका दर्शन करना चाहता हूँ; आपके सिवा और किसीको मैं नहीं देखना चाहता ॥ १८ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

तब महाबाहु जनार्दनने धृतराष्ट्रसे कहा—'कुरुनन्दन ! आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायँ' ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रस्य चक्षुषी।
लब्धवान् वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ॥ २० ॥

महाराज जनमेजय ! वहाँ यह अद्भुत बात हुई कि धृतराष्ट्रने भी भगवान् श्रीकृष्णसे उनके विश्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छासे दो नेत्र प्राप्त कर लिये ॥ २० ॥

लब्धचक्षुपमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ २१ ॥

सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त हो गये, यह जानकर ऋषियोंसहित सब नरेश आश्चर्यचकित हो मधुसूदनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, समुद्रमें खलबली पड़ गयी और समस्त भूपाल अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २२ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः संजहार वपुः स्वकम्।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिंदमः ॥ २३ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अपने इस स्वरूपको, उस दिव्य, अद्भुत एवं विचित्र ऐश्वर्यको समेट लिया ॥ २३ ॥

ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च।
ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे मधुसूदन ऋषियोंसे आज्ञा ले सात्यकि और कृतवर्माका हाथ पकड़े सभाभवनसे चल दिये ॥ २४ ॥

ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः।
तस्मिन् कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

उनके जाते ही नारद आदि महर्षि भी अदृश्य हो गये । वह सारा कोलाहल शान्त हो गया । यह सब एक अद्भुत-सी घटना हुई थी ॥ २५ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः।
अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ॥ २६ ॥

पुरुषसिंह श्रीकृष्णको जाते देख राजाओंसहित समस्त कौरव भी उनके पीछे-पीछे गये, मानो देवता देवराज इन्द्र-का अनुसरण कर रहे हों ॥ २६ ॥

अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद् राजमण्डलम्।
निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ॥ २७ ॥

परंतु अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस समस्त नरेश-मण्डलकी कोई परवा न करके धूमयुक्त अग्निकी भाँति सभाभवनसे बाहर निकल आये ॥ २७ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ॥ २८ ॥
सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २९ ॥

बाहर आते ही शैब्य और सुग्रीवनामक घोड़ोंसे जुते हुए परम उज्ज्वल एवं विशाल रथके साथ सारथि दारुक दिखायी दिया । उस रथमें बहुत-सी क्षुद्रघंटिकाएँ शोभा पाती थीं । सोनेकी जालियोंसे उसकी विचित्र छटा दिखायी देती थी । वह शीघ्रगामी रथ चलते समय मेघके समान गम्भीर रव प्रकट करता था । उसके भीतर सब आवश्यक सामग्रियाँ सुन्दर ढंगसे सजाकर रक्खी गयी थीं । उसके ऊपर व्याघ्र-चर्मका आवरण लगा हुआ था और रथकी रक्षाके अन्य आवश्यक प्रबन्ध भी किये गये थे ॥ २८-२९ ॥

तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः।
वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३० ॥

इसी प्रकार वृष्णिवंशके सम्मानित वीर हृदिकपुत्र महारथी कृतवर्मा भी एक दूसरे रथपर बैठे दिखायी दिये ॥ ३० ॥

उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिंदमम्।
धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णका रथ उपस्थित है और अब ये यहाँसे चले जायँगे; ऐसा जानकर महाराज धृतराष्ट्रने पुनः उनसे कहा—॥ ३१ ॥

यावद् बलं मे पुत्रेषु पश्यस्येतज्जनार्दन।
प्रत्यक्षं ते न ते किंचित् परोक्षं शत्रुकर्शन ॥ ३२ ॥

'शत्रुसूदन जनार्दन ! पुत्रोंपर मेरा बल कितना काम

करता है, यह आप देख ही रहे हैं। सब कुछ आपकी आँखोंके सामने है; आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ॥ ३२ ॥

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव।
विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ३३ ॥

'केशव ! मैं भी चाहता हूँ कि कौरव-पाण्डवोंमें संधि हो जाय और मैं इसके लिये प्रयत्न भी करता रहता हूँ; परंतु मेरी इस अवस्थाको समझकर आपको मेरे ऊपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ॥ ३४ ॥

'केशव ! पाण्डवोंके प्रति मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है। मैंने दुर्योधनसे जो हितकी बात बतायी है, वह आपको ज्ञात ही है ॥ ३४ ॥

जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ॥ ३५ ॥

'माधव ! मैं सब उपायोंसे शान्तिस्थापनके लिये प्रयत्नशील हूँ, इस बातको ये समस्त कौरव तथा बाहरसे आये हुए राजालोग भी जानते हैं' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, विदुर, बाह्लीक तथा कृपाचार्यसे कहा—॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ३७ ॥

'कौरव-सभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आप लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था ॥ ३७ ॥

वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ॥३८॥

'महाराज धृतराष्ट्र भी अपने आपको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा' ॥ ३८ ॥

आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ॥ ३९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! तत्पश्चात् रथपर बैठकर प्रस्थानके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पूछकर भरतवंशके महाधनुर्धर उत्कृष्ट वीर उनके पीछे कुछ दूरतक गये ॥ ३९ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ॥ ४० ॥

उन वीरोंके नाम इस प्रकार हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण और महारथी युयुत्सु ॥ ४० ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥ ४१ ॥

तदनन्तर किंकिणीविभूषित उस विशाल एवं उज्ज्वल रथके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके देखते-देखते अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विश्वरूपदर्शनविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके घरमें जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेपसे कह सुनाया ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम्।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान् ॥२॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—बूआजी ! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना ॥ २ ॥

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम्।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ॥३॥

जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व हो गया है। (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब मैं तुमसे

आज्ञा चाहता हूँ, यहाँसे शीघ्र ही पाण्डवोंके पास जाऊँगा ॥ ३ ॥

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥

महाप्राज्ञे ! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ । मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर इस प्रकार कहना—बेटा ! तुम्हारे प्रजापालनरूप धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उस धर्मपालनके अवसरको व्यर्थ न खोओ ॥ ५ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे वेदके अर्थको न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठीकी बुद्धि केवल वेदके मन्त्रोंकी आवृत्ति करनेमें ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठमात्र धर्मपर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्मको ही देखती है ॥ ६ ॥

अङ्गावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥ ७ ॥

बेटा ! ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये जैसे धर्मकी सृष्टि की है, उसीपर दृष्टिपात करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबलसे ही जीविका चलानेवाले होते हैं ॥ ७ ॥

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चात्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया॥ ८ ॥

वे युद्धरूपी कठोर कर्मके लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्ममें प्रवृत्त होते हैं । मैं इस विषयमें एक उदाहरण देती हूँ, जिसे मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे सुन रक्खा है ॥ ८ ॥

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान् ॥ ९ ॥

पूर्वकालकी बात है, धनाध्यक्ष कुबेर राजर्षि मुचुकुन्दपर प्रसन्न होकर उन्हें ये सारी पृथ्वी दे रहे थे; परंतु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया ॥ ९ ॥

बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ १० ॥

वे बोले—'देव ! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ।' इससे कुबेर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥ १० ॥

मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया ॥ ११ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ॥ १२ ॥

भारत ! राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजाको मिल जाता है ॥ १२ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ १३ ॥

यदि राजा धर्मका पालन करता है तो उसे देवत्वकी प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरकमें ही पड़ता है ॥ १३ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेण चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ १४ ॥

राजाकी दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्मके अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखती और अधर्मसे निवृत्त करती है ॥ १४ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ १५ ॥

यदि राजा दण्डनीतिके प्रयोगमें पूर्णतः न्यायसे काम लेता है तो जगत्में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आ जाता है ॥ १५ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ १६ ॥

राजाका कारण काल है या कालका कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मनमें नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है ॥ १६ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ १७ ॥

राजा ही सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका स्रष्टा है । चौथे युग कलिके प्रकट होनेमें भी वही कारण है ॥ १७ ॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा सत्ययुग उपस्थित करनेके कारण राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी प्रवृत्ति

करनेसे भी उसे स्वर्गकी ही प्राप्ति होती है, किंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ १८ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १९ ॥

द्वापर उपस्थित करनेसे उसे यथाभाग पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है; परंतु कलियुगकी प्रवृत्ति करनेसे राजाको अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है ॥ १९ ॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत् स्पृश्यते जगतः स च ॥ २० ॥

ऐसा करनेसे वह दुष्कर्मी राजा अनेक वर्षोंतक नरकमें ही निवास करता है । राजाका दोष जगत्‌को और जगत्‌का दोष राजाको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २१ ॥

बेटा ! तुम्हारे पिता-पितामहोंने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मोंकी ओर ही देखो । तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियोंका आचार अथवा राज-धर्म नहीं है ॥ २१ ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्ये व्यवस्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतं फलं किंचन लब्धवान् ॥ २२ ॥

जो सदा दयाभावमें ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुषने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफलको कभी नहीं प्राप्त किया है ॥ २२ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः ।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ २३ ॥

तुम जिस बुद्धिके सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डुने, न मैंने और न पितामहने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था (अर्थात् तुममें वैसी बुद्धि होनेकी कामना किसीने नहीं की थी) ॥ २३ ॥

यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ २४ ॥

मैं तो सदा यही मनाती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओजकी प्राप्ति हो ॥ २४ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः ॥ २५ ॥

कल्याणकारी ब्राह्मणोंकी भलीभाँति आराधना करनेपर वे भी सदा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, दीर्घायु, धन और पुत्रोंकी प्राप्तिके लिये ही आशीर्वाद देते थे ॥ २५ ॥

पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ॥ २६ ॥

देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजोंसे सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालनकी ही आशा रखते हैं ॥ २६ ॥

एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरा यह कथन धर्मसंगत है या अधर्मयुक्त, यह तुम स्वभावसे ही जानते हो । तात ! वे पाण्डव उत्तम कुलमें उत्पन्न और विद्वान् होकर भी इस समय जीविकाके अभावसे पीड़ित हैं ॥ २७ ॥

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ २८ ॥

भूतलपर विचरनेवाले भूखे मानव जहाँ दानपति, शूरवीर क्षत्रियके समीप पहुँचकर अन्न-पानसे पूर्णतः संतुष्ट हो अपने घरको जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है ? ॥ २८ ॥

दानेनान्यं बलेनान्यं तथा सूनृतया परम् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा पुरुष यहाँ राज्य पाकर किसीको दानसे, किसी-को बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा संतुष्ट करे । इस प्रकार सब ओरसे आये हुए लोगोंको दान, मान आदिसे संतुष्ट करके अपना ले ॥ २९ ॥

ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र उन तीनों वर्णोंकी सेवा करे ॥ ३० ॥

भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्तिका तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम तो दूसरोंको क्षतिसे त्राण देनेवाले क्षत्रिय हो । तुम्हें तो बाहुबलसे ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ३१ ॥

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओंके हाथमें पड़कर लुप्त हो गया है । तुम साम, दान, भेद अथवा दण्ड-नीतिसे पुनः उसका उद्धार करो ॥ ३२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वामित्रनन्दन ॥ ३३ ॥

शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव ! इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवोंसे हीन नारीकी भाँति जीविकाके लिये दूसरोंके दिये हुए अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ ॥ ३३ ॥

युद्धयस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥ ३४ ॥

अतः तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो । कायर बनकर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यसे वञ्चित होकर पापमयी गतिको न प्राप्त होओ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना

कुन्त्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण ! इस प्रसंगमें विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्रके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

अत्र श्रेयश्च भूयश्च यथावद् वक्तुमर्हसि ।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ॥ २ ॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता ॥ ३ ॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम् ।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ॥ ४ ॥

इस इतिहासमें जो कल्याणकारी उपदेश हो, उसे तुम युधिष्ठिरके सामने यथावत् रूपसे फिर कहना । विदुला नामसे प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रिय-धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं । राजाओंकी मण्डलीमें उनकी बड़ी ख्याति थी । वे अनेक शास्त्रोंको जाननेवाली और महापुरुषोंके उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाली थीं । एक समय उनका पुत्र सिन्धुराजसे पराजित हो अत्यन्त दीनभावसे घर आकर सो रहा था । राजरानी विदुलाने अपने उस औरस पुत्रको इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा की ॥ २–४ ॥

विदुलोवाच

अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन ।
न मया त्वं न पित्रा च जातः काभ्यागतो ह्यसि ॥ ५ ॥

विदुला बोली—अरे, तू मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है । तू तो शत्रुओंका ही हर्ष बढ़ानेवाला है, इसलिये अब मैं ऐसा समझने लगी हूँ कि तू मेरी कोखसे पैदा ही नहीं हुआ । तेरे पिताने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ-जैसा कायर कहाँसे आ गया ? ॥ ५ ॥

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः ।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ॥ ६ ॥

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियोंमें गणना करनेयोग्य नहीं है । तू नाममात्रका पुरुष है । तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकोंके समान हैं । क्या तू जीवनभरके लिये निराश हो गया ? अरे ! अब भी तो उठ और अपने कल्याणके लिये पुनः युद्धका भार वहन कर ॥ ६ ॥

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥ ७ ॥

अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर, इस आत्माका थोड़े धनसे भरण-पोषण न कर, मनको परम कल्याणमय बनाकर—उसे शुभ संकल्पोंसे सम्पन्न करके निडर हो जा, भयको सर्वथा त्याग दे ॥ ७ ॥

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः ।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः ॥ ८ ॥

ओ कायर ! उठ, खड़ा हो, इस तरह शत्रुसे पराजित होकर घरमें शयन न कर (उद्योगशून्य न हो जा)। ऐसा करके तो तू सब शत्रुओंको ही आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठासे वञ्चित होकर बन्धु-बान्धवोंको शोकमें डाल रहा है ॥ ८ ॥

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥ ९ ॥

जैसे छोटी नदी थोड़े जलसे अनायास ही भर जाती है और चूहेकी अञ्जलि थोड़े अन्नसे ही भर जाती है, उसी प्रकार कायरको संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह थोड़ेसे ही संतुष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥

तू शत्रुरूपी साँपके दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जा। प्राण जानेका संदेह हो तो भी शत्रुके साथ युद्धमें पराक्रम ही प्रकट कर ॥ १० ॥

अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन्।
विनदन् वाथवा तूष्णीं व्योम्नि वापरिशङ्कितः ॥ ११ ॥

आकाशमें निःशङ्क होकर उड़नेवाले बाज पक्षीकी भाँति रणभूमिमें निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा चुप रहकर शत्रुके छिद्र देखता रह ॥ ११ ॥

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥

कायर ! तू इस प्रकार बिजलीके मारे हुए मुर्देकी भाँति यहाँ क्यों निश्चेष्ट होकर पड़ा है ? बस, तू खड़ा हो जा, शत्रुओंसे पराजित होकर यहाँ पड़ा मत रह ॥ १२ ॥

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥ १३ ॥

तू दीन होकर अस्त न हो जा। अपने शौर्यपूर्ण कर्मसे प्रसिद्धि प्राप्त कर। तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्ट भावका आश्रय न ले, वरं युद्धभूमिमें सिंहनाद करके डट जा ॥ १३ ॥

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥

तू तिन्दुककी जलती हुई लकड़ीके समान दो घड़ीके लिये भी प्रज्वलित हो उठ (थोड़ी देरके ही लिये सही, शत्रुके सामने महान् पराक्रम प्रकट कर); परंतु जीनेकी इच्छासे भूसीकी ज्वालारहित आगके समान केवल धूआँ न कर (मन्द पराक्रमसे काम न ले) ॥ १४ ॥

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकालतक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजाके घरमें अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभावके पुरुषका जन्म न हो ॥ १५ ॥

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम्।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें जाकर यथाशक्ति उत्तम पुरुषार्थ प्रकट करके धर्मके ऋणसे उऋण होता है और अपनी निन्दा नहीं कराता है ॥ १६ ॥

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥ १७ ॥

विद्वान् पुरुषको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता। वह (अपनी पूरी शक्तिके अनुसार) प्राणपर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धनकी इच्छा नहीं करता ॥ १७ ॥

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥

बेटा ! धर्मको आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गतिको प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियोंके लिये निश्चित है, अन्यथा किसलिये जी रहा है ? ॥ १८ ॥

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १९ ॥

कायर ! तेरे इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूलमें मिल गयी और भोगका मूल साधन राज्य भी छिन गया, अब तू किसलिये जी रहा है ? ॥ १९ ॥

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथंचन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन्।

मनुष्य डूबते समय अथवा ऊँचेसे नीचे गिरते समय भी शत्रुकी टाँग अवश्य पकड़े और ऐसा करते समय यदि अपना मूलोच्छेद हो जाय तो भी किसी प्रकार विषाद न करे। अच्छी जातिके घोड़े न तो थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं। उनके इस कार्यको स्मरण करके अपने ऊपर रक्खे हुए युद्ध आदिके भारको उद्योगपूर्वक वहन करे ॥ २०½ ॥

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥ २१ ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि।

बेटा ! तू धैर्य और स्वाभिमानका अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थको जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंशका तू स्वयं ही उद्धार कर ॥ २१½ ॥

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ॥ २२ ॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान्।

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्रकी सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्याकी वृद्धिमात्र करनेवाला है। मेरी दृष्टिमें न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है ॥ २२½ ॥

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ॥ २३ ॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः।

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसके सुयशका सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माताका पुत्र नहीं, मलमूत्रमात्र ही है ॥ २३½ ॥

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा ॥ २४ ॥
जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान्।

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रमके द्वारा दूसरे लोगोंको पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्मके द्वारा पुरुष कहलाता है ॥ २४½ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ॥ २५ ॥
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ।

तुझे हिजड़ों, कापालिकों, क्रूर मनुष्यों तथा कायरोंके लिये उचित भिक्षा आदि निन्दनीय वृत्तिका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली और दुःखदायिनी होती है ॥ २५½ ॥

यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ॥ २६ ॥
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम् ।
अहोलाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ॥ २७ ॥
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते ।

जिस दुर्बल मनुष्यका शत्रुपक्षके लोग अभिनन्दन करते हों, जो सब लोगोंके द्वारा अपमानित होता हो, जिसके आसन और वस्त्र निकृष्ट श्रेणीके हों, जो थोड़े लाभसे ही संतुष्ट होकर विस्मय प्रकट करता हो, जो सब प्रकारसे हीन, क्षुद्र जीवन वितानेवाला और ओछे स्वभावका हो, ऐसे बन्धुको पाकर उसके भाई-बन्धु सुखी नहीं होते ॥ २६-२७½ ॥

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात् प्रवासिताः ॥ २८ ॥
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः ।

तेरी कायरताके कारण हमलोग इस राज्यसे निर्वासित होनेपर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित सुखोंसे हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिंचन हो जीविकाके अभावमें ही मर जायँगे ॥ २८½ ॥

अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ॥ २९ ॥
कलिं पुत्रप्रवादेन संजय त्वामजीजनम् ।

संजय ! तू सत्पुरुषोंके बीचमें अशोभन कार्य करनेवाला है, कुल और वंशकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाला है। जान पड़ता है, तेरे रूपमें पुत्रके नामपर मैंने कलि-पुरुषको ही जन्म दिया है ॥ २९½ ॥

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥ ३० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।

संसारकी कोई भी नारी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रमसे रहित तथा शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला हो ॥ ३०½ ॥

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥ ३१ ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ।

अरे ! धूमकी तरह न उठ। जोर-जोरसे प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षणके लिये भी वैरियोंके मस्तकपर जलती हुई आग बनकर छा जा ॥ ३१½ ॥

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२ ॥
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

जिस क्षत्रियके हृदयमें अमर्ष है और जो शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणोंके कारण वह पुरुष कहलाता है। जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है ॥ ३२½ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च ॥ ३३ ॥
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत् ।

संतोष, दया, उद्योगशून्यता और भय—ये सम्पत्तिका नाश करनेवाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता ॥ ३३½ ॥

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना ॥ ३४ ॥
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ।

पराजयके कारण जो लोकमें तेरी निन्दा और तिरस्कार हो रहे हैं, इन सब दोषोंसे तू स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर और अपने हृदयको लोहेके समान दृढ़ बनाकर पुनः अपने योग्य पद (राज्यवैभव) का अनुसंधान कर ॥ ३४½ ॥

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३५ ॥
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति ।

जो पर अर्थात् शत्रुका सामना करके उसके वेगको सह लेता है, वही उस पुरुषार्थके कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत्में स्त्रीकी भाँति भीरुतापूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है ॥ ३५½ ॥

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ॥ ३६ ॥
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा ।

यदि बढ़े हुए तेज और उत्साहवाला, शूरवीर एवं सिंहके समान पराक्रमी राजा युद्धमें दैववश वीरगतिको प्राप्त हो जाय तो भी उसके राज्यमें प्रजा सुखी ही रहती है ॥ ३६½ ॥

य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ॥ ३७ ॥
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८ ॥

जो अपने प्रिय और सुखका परित्याग करके सम्पत्तिका अन्वेषण करता है, वह शीघ्र ही अपने मन्त्रियोंका हर्ष बढ़ाता है ॥ ३७—३८ ॥

पुत्र उवाच

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३९ ॥

पुत्र बोला—माँ ! यदि तू मुझे न देखे तो यह सारी पृथ्वी मिल जानेपर भी तुझे क्या सुख मिलेगा ? मेरे न

रहनेपर तुझे आभूषणोंकी भी क्या आवश्यकता होगी ? भाँति-भाँतिके भोगों और जीवनसे भी तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ ३९ ॥

मातोवाच

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः ।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान् व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥

विदुला बोली—बेटा ! आज क्या भोजन होगा ? इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए दरिद्रोंके जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओंको प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंके जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें ॥

भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् ।
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥

संजय ! भृत्यहीन, दूसरोंके अन्नपर जीनेवाले, दीन-दुर्बल मनुष्योंकी वृत्तिका अनुसरण न कर ॥ ४१ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा ।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ ४२ ॥

तात ! जैसे सब प्राणियोंकी जीविका मेघके अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्रके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें ॥ ४२ ॥

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥

संजय ! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुषका आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसीका जीवन सार्थक है ॥ ४३ ॥

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम् ।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥

जैसे इन्द्रके पराक्रमसे सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुषके बल और पुरुषार्थसे उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसारमें उसीका जीवन श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः ।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य अपने बाहुबलका आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वही इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें शुभ गति पाता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना

विदुलोवाच

अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि ।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥

विदुला बोली—संजय ! यदि तू इस दशामें पौरुषको छोड़ देनेकी इच्छा करता है तो शीघ्र ही नीच पुरुषोंके मार्ग-पर जा पहुँचेगा ॥ १ ॥

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।
क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय अपने जीवनके लोभसे यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेजका परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं ॥ २ ॥

अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च ।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ॥ ३ ॥

जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई भी दवा लागू नहीं होती, उसी प्रकार ये युक्तियुक्त, गुणकारी और सार्थक वचन भी तेरे हृदयतक पहुँच नहीं पाते हैं (यह कितने दुःखकी बात है) ॥

सन्ति वै सिन्धुराजस्य संतुष्टा न तथा जनाः ।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥

देख, सिन्धुराजकी प्रजा उससे संतुष्ट नहीं है, तथापि तेरी दुर्बलताके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो उदासीन बैठी हुई है और सिन्धुराजपर विपत्तियोंके आनेकी बाट जोह रही है ॥

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः ।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥

दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधरसे विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनोंकी वृद्धि करके सिन्धुराजके शत्रु हो सकते हैं ॥ ५ ॥

तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर ।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन् नैवायमजरामरः ॥ ६ ॥

तू उन सबके साथ मैत्री करके यथासमय अपने शत्रु सिन्धु-राजपर विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतोंकी दुर्गम गुफामें विचरता रह; क्योंकि यह सिन्धुराज कोई अजर, अमर तो है नहीं ॥ ६ ॥

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ ७ ॥

तेरा नाम तो संजय है, परंतु तुझमें इस नामके अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। बेटा ! युद्धमें विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर ॥

सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
अयं प्राप्य महत् कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ८ ॥

जब तू बालक था, उस समय एक उत्तम दृष्टिवाले, परम बुद्धिमान् ब्राह्मणने तेरे विषयमें कहा था कि 'यह महान् संकटमें पड़कर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होगा' ॥ ८ ॥

तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।
तस्मात् तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

उस ब्राह्मणकी बातको याद करके मैं यह आशा करती हूँ कि तेरी विजय होगी । तात ! इसीलिये मैं बार-बार तुझसे कहती हूँ और कहती रहूँगी ॥ ९ ॥

यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्यार्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ॥ १० ॥

जिसके प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग भी संतुष्ट एवं उन्नतिको प्राप्त होते हैं, नीतिमार्गपर चलकर अर्थसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले उस पुरुषको निश्चय ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है ॥ १० ॥

समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम संजय ।
एवं विद्वान् युद्धमना भव मा प्रत्युपाहर ॥ ११ ॥

संजय ! युद्धसे हमारे पूर्वजोंका अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, ऐसा समझकर उसीमें मन लगा, युद्ध बंद न कर ॥ ११ ॥

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥

जहाँ आजके लिये और कल सबेरेके लिये भी भोजन दिखायी नहीं देता, उससे बढ़कर महान् पापपूर्ण कोई दूसरी अवस्था नहीं है, ऐसा शम्बरासुरका कथन है ॥ १२ ॥

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥

जिसका नाम दरिद्रता है, उसे पति और पुत्रके वधसे भी अधिक दुःखदायक बताया गया है । दरिद्रता मृत्युका समानार्थक शब्द है ॥ १३ ॥

अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥

मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हो हंसीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी और इस राज्यकी स्वामिनी, समस्त कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा पतिदेवके परम आदरकी पात्र हुई ॥ १४ ॥

महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा दृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत् सुदुर्गताम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरे सुहृदोंने जब मुझे सगे-सम्बन्धियोंके बीच बहुमूल्य हार एवं आभूषणोंसे विभूषित तथा परम सुन्दर स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित देखा; तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ १५ ॥

यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनार्थो भविता तव संजय ॥ १६ ॥

संजय ! अब जिस समय तू मुझे और अपनी पत्नीको चिन्ताके कारण अत्यन्त दुर्बल देखेगा, उस समय तुझे जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होगी ॥ १६ ॥

दासकर्मकरान् भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान् प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७ ॥

जब सेवाका काम करनेवाले दास, भरण-पोषण पानेवाले कुटुम्बी, आचार्य, ऋत्विक् और पुरोहित जीविकाके अभावमें हमें छोड़कर जाने लगेंगे, उस समय उन्हें देखकर तुझे जीवन-धारणका कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देगा ॥ १७ ॥

यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा ।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥

यदि पहलेके समान आज भी मैं तेरे यशकी वृद्धि करनेवाले प्रशंसनीय कर्मोंको नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ १८ ॥

नेति चेद् ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥

यदि किसी ब्राह्मणके माँगनेपर मैं उसकी अभीष्ट वस्तुके लिये 'नाहीं' कह दूँगी तो उसी समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा । आजतक मैंने या मेरे पतिदेवने किसी ब्राह्मणसे नाहीं नहीं की है ॥ १९ ॥

वयमाश्रयणीयाः स्म नाश्रितारः परस्य च ।
सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥

हम सदा लोगोंके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरोंके आश्रित कभी नहीं रहे; परंतु अब यदि दूसरेका आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवनका परित्याग ही कर दूँगी।

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान् संजीवयस्व नः ॥ २१ ॥

बेटा ! अपार समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको तू पार लगानेवाला हो । नौकाविहीन अगाध जलराशि (महान् संकट) में तू हमारे लिये नौका हो जा । हमारे लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा और हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन दान कर ॥ २१ ॥

सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमिच्छसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।

यदि तुझे जीवनके प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू अपने सभी शत्रुओंको परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरोंकी-सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविकाको त्याग देना चाहिये ॥ २२½ ॥

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च गृहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ॥ २४ ॥

एक शत्रुका वध करनेसे ही शूरवीर पुरुष सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात हो जाता है। देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुरका वध करके ही 'महेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हो गये। उन्हें रहनेके लिये इन्द्रभवन प्राप्त हुआ और वे तीनों लोकोंके अधीश्वर हो गये॥

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओंको ललकारकर, सेनाके अग्रभागको खदेड़कर अथवा शत्रुपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषका वध करके जभी उत्तम युद्धके द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं ॥२५-२६॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥

कायर मनुष्य विवश हो युद्धमें अपने शरीरका त्याग करके युद्धकुशल शूरवीरको सम्पूर्ण मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली अपनी समृद्धियोंके द्वारा तृप्त करते हैं ॥ २७ ॥

राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥

जिसका भयानक रूपसे पतन हुआ है, वह राज्य प्राप्त हो जाय या जीवन ही संकटमें पड़ जाय, किसी भी दशामें अपने हाथमें आये हुए शत्रुको श्रेष्ठ पुरुष शेष नहीं रहने देते हैं ॥

स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाप्यमृतोपमम् ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥ २९ ॥

युद्धको स्वर्गद्वारके सदृश उत्तम गति अथवा अमृतके सदृश राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़ ॥ २९ ॥

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वा दृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥

राजन्! तू युद्धमें शत्रुओंको मार और अपने धर्मका पालन कर। शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले तुझ वीर पुत्रको मैं अत्यन्त दीन या कायरके रूपमें न देखूँ ॥ ३० ॥

अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनाद् दीनमिव स्थितम् ॥ ३१ ॥

मैं तुझे दीनसे भी दीनके समान दयनीय अवस्थामें पड़ा हुआ तथा शोकमग्न हुए अपने पक्षके और गर्जन-तर्जन करते हुए शत्रुपक्षके लोगोंसे घिरा हुआ नहीं देखना चाहती ॥३१॥

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघस्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥

तू सौवीर देशकी कन्याओं (अपनी पत्नियों) के साथ हर्षका अनुभव कर। पहलेकी भाँति अपने धनकी अधिकताके लिये गर्व कर। विपत्तिमें पड़कर सिन्धुदेशीय (शत्रुदेशकी) कन्याओंके वशमें न हो जा ॥ ३२ ॥

युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाभिजनेन च ।
यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ॥ ३३ ॥
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।

तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनतासे सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोकमें विख्यात है। तुझ-जैसा वीर पुरुष यदि पराक्रमके अवसरपर डर जाय, भार ढोनेके समय बिना नथे हुए बैलके समान बैठ रहे या भाग जाय तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ ॥३३½ ॥

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रुसे मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे जाता है तो मेरे हृदयमें क्या शान्ति मिलेगी? ॥ ३४½ ॥

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः।३५।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।

इस कुलमें कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ, जो दूसरेके पीछे-पीछे चला हो। तात! तू दूसरेका सेवक होकर जीवित रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३५½ ॥

अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत् परिशाश्वतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

स्वयं विधाताने जिसकी सृष्टि की है, प्राचीन और अत्यन्त प्राचीन पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, परवर्ती और अतिपरवर्ती सत्पुरुष जिसका वर्णन करेंगे तथा जो चिरन्तन एवं अविनाशी है, उस सनातन और उत्तम क्षत्रिय-हृदयको मैं जानती हूँ ॥ ३६-३७ ॥

यो वै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित्।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित्॥ ३८ ॥

इस जगत्‌में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रियधर्मको जाननेवाला है; वह भयसे अथवा आजीविका-की ओर दृष्टि रखकर भी किसीके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता॥ ३८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥

सदा उद्यम करे, किसीके आगे सिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमयमें नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसीके आगे नतमस्तक न हो ॥ ३९ ॥

मातङ्गो मत्त इव च परीयात् सुमहामनाः।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ॥ ४० ॥

संजय! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथीके समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणोंको तथा धर्मको ही नमस्कार करे॥ ४० ॥

नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१ ॥

क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय, वह अन्य वर्णके लोगोंको काबूमें रखता और समस्त पापियोंको दण्ड देता हुआ जीवनभर वैसा ही उद्यमशील बना रहे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३४॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश

पुत्र उवाच

कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम्।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥

पुत्र बोला—माँ! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लोहपिण्डको ठोक-पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरोंके समान है और तू सदा अमर्षमें भरी रहती है ॥ १ ॥

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥ २ ॥

अहो! क्षत्रियोंका आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्धमें लगा रही है, मानो मैं दूसरेका बेटा होऊँ और तू दूसरेकी माँ हो ॥२॥

ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम्।
किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया॥ ३ ॥

मुझ इकलौते पुत्रसे तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है! मुझे न देखनेपर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा? ॥ ३ ॥

किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा।
मयि वा संगरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥

मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्धमें मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणोंसे, भोग-सामग्रियोंसे तथा अपने जीवनसे भी कौन-सा सुख प्राप्त होगा? ॥ ४ ॥

मातोवाच

सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात्।
तावेवाभिसमीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदम् ॥ ५ ॥

माता बोली—तात संजय! विद्वानोंकी सारी अवस्था भी धर्म और अर्थके निमित्त ही होती है। उन्हीं दोनोंकी ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्धके लिये प्रेरित किया है।५।

स समीक्ष्यक्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥ ६ ॥
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि।
तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ॥ ७ ॥
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम्।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ॥ ८ ॥

यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखानेका मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समयमें भी यदि तू अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा और तुझसे जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभावका परिचय देकर शत्रुओंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करेगा तो उस दशामें सब ओर तेरा अपयश फैल जायगा। संजय! ऐसे अवसरपर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदहीके स्नेहके समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा। अतः वत्स! साधु पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख मनुष्य ही जिसपर चलते हैं, उस मार्गको त्याग दे ॥ ६–८ ॥

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः।
तव स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ९ ॥

प्रजाने जिसका आश्रय ले रक्खा है, वह तो बड़ी भारी अविद्या ही है। तू तो मुझे तभी प्रिय हो सकता है, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य हो जाय ॥ ९ ॥

धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथंचन ।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और गुणोंसे युक्त, देवलोक तथा मनुष्य-लोकमें भी उपयोगी और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्कर्मसे ही तू मेरा प्रिय हो सकता है, इसके विपरीत असत्कर्मसे किसी प्रकार भी तू मुझे प्रिय नहीं हो सकता ॥१०॥

यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा ।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ॥ ११ ॥
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम् ।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ॥ १२ ॥
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ।

बेटा ! जो इस प्रकार विनयशून्य एवं अशिक्षित पौत्रसे हर्षको प्राप्त होता है तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत एवं दुर्बुद्धि पुत्रसे सुख मानता है, उसका संतानोत्पादन व्यर्थ है; क्योंकि वे अयोग्य पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो निन्दित कर्म ही करते हैं, इससे वे अधम मनुष्य न तो इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोकमें ही ॥ ११-१२½ ॥

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च ॥ १३ ॥
जयन् वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम्।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम्।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

संजय ! इस लोकमें युद्ध एवं विजयके लिये ही विधाताने क्षत्रियकी सृष्टि की है। वह विजय प्राप्त करे या युद्धमें मारा जाय, सभी दशाओंमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। पुण्यमय स्वर्गलोकके इन्द्रभवनमें भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओंको वशमें करके सानन्द अनुभव करता है ॥ १३-१४ ॥

मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना ।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून् प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥

अतएव जो मनस्वी क्षत्रिय अनेक बार पराजित हो क्रोधसे दग्ध हो रहा हो, वह अवश्य ही विजयकी इच्छासे शत्रुओंपर आक्रमण करे। फिर तो वह अपने शरीरका परित्याग करके अथवा शत्रुको मार गिराकर ही शान्ति लाभ करता है। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है ? ॥ १५-१६ ॥

इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्में अत्यन्त अल्पमात्रामें अप्रिय की इच्छा करता है। लोकमें जिसका प्रिय अल्प होता है, उसका अप्रिय भी निश्चय ही अल्प होगा ॥ १७ ॥

प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम्।
ध्रुवं चाभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ॥ १८ ॥

प्रियके अभावमें मनुष्यकी शोभा नहीं होती है। जैसे गङ्गा समुद्रमें जाकर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह अभावग्रस्त पुरुष भी निश्चय ही लुप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

पुत्र उवाच

नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः।
कारुण्यमेवात्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ॥ १९ ॥

पुत्रने कहा—माँ ! तुझे अपने मुखसे ऐसा विचार नहीं व्यक्त करना चाहिये, अतः तू जड और मूककी भाँति होकर मुझ अपने पुत्रको विशेषरूपसे करुणापूर्ण दृष्टिसे ही देखो ॥

मातोवाच

अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि ।
चोद्यं मां चोदयस्येतद् भृशं वै चोदयामि ते ॥ २० ॥

माता बोली—तेरे इस कथनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। तू इस प्रकार विचार तो करता है। मुझे मेरे कर्तव्य (पुत्रपर दयादृष्टि करने) की प्रेरणा दे रहा है, इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ ॥ २० ॥

अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान्।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ॥ २१ ॥

जब तू सिन्धुदेशके समस्त योद्धाओंको मारकर आयेगा; उस समय मैं तेरा स्वागत करूँगी। मुझे विश्वास है कि बड़े कष्टसे प्राप्त होनेवाली तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी ॥ २१॥

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम ।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ॥ २२॥
राज्याद् भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतः।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ॥ २३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरे पास न तो खजाना है और न

सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्टकी सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? अपनी इस दारुण अवस्थाके विषयमें स्वयं ही विचार करके मैंने राज्यकी ओरसे अपना अनुराग उसी प्रकार दूर हटा लिया है, जैसे स्वर्गकी ओरसे पापीका भाव हट जाता है। क्या तू ऐसा कोई उपाय देख रही है, जिससे मैं विजय पा सकूँ ॥ २२-२३ ॥

तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ २४ ॥

परिपक्व बुद्धिवाली माँ ! मेरे इस प्रश्नके अनुसार तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशोंका यथोचित्त रीतिसे पालन करूँगा ॥ २४ ॥

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥

माता बोली—बेटा ! पहलेकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है—यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिहीन पुरुषोंको ईर्ष्यावश ही धनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥

तात ! सभी कर्मोंके फलमें सदा अनित्यता रहती है—कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता है। इस अनित्यताको जानते हुए भी बुद्धिमान् पुरुष कर्म करते हैं और वे कभी असफल होते हैं, तो कभी सफल भी हो जाते हैं ॥ २६ ॥

अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।

परंतु जो कर्मोंका आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्टकी सिद्धिमें सफल नहीं होते, अतः कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठनेका यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्योंको कभी अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु कर्मोंमें उत्साहपूर्वक लगे रहनेपर तो दोनों प्रकारके परिणामोंकी सम्भावना रहती है—कर्मोंका वाञ्छनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी ॥ २७½ ॥

यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ॥ २८ ॥
नुदेद् वृद्ध्यसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।

राजकुमार ! जिसे पहलेसे ही सभी पदार्थोंकी अनित्यताका ज्ञान होता है, वह ज्ञानी पुरुष अपने प्रतिकूल शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनतिसे प्राप्त हुए दुःखका विचार द्वारा निवारण कर सकता है ॥ २८½ ॥

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥ २९ ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये ॥ २९½ ॥

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ॥ ३० ॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१ ॥

वत्स ! देवताओंसहित ब्राह्मणोंका पूजन तथा अन्यान्य माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करके प्रत्येक कार्यका आरम्भ करनेवाले बुद्धिमान् राजाकी शीघ्र उन्नति होती है। जैसे सूर्य अवश्य ही पूर्व दिशाका आश्रय ले उसे प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार राजलक्ष्मी पूर्वोक्त राजाको सब ओरसे प्राप्त होकर उसे यश एवं तेजसे सम्पन्न कर देती है ॥ ३०-३१ ॥

निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२ ॥

बेटा ! मैंने तुझे अनेक प्रकारके दृष्टान्त, बहुतसे उपाय और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोकवृत्तान्तका भी बारंबार दिग्दर्शन कराया है। अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगी ॥ ३२ ॥

पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि ।
क्रुद्धाँल्लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् ॥ ३३ ॥
स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ॥ ३४ ॥
महावेग इवोद्धूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।

तुझे यहाँ अभीष्ट पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। जो लोग सिन्धुराजपर कुपित हों, जिनके मनमें धनका लोभ हो, जो सिन्धुनरेशके आक्रमणसे सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिन्हें अपने बल और पौरुषपर गर्व हो तथा जो तेरे शत्रुओंद्वारा अपमानित हों उनसे बदला लेनेके लिये होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू सावधान होकर दान-मानके द्वारा अपने पक्षमें कर ले। इस प्रकार तू बड़े-से-बड़े समुदायको फोड़ लेगा। ठीक उसी तरह, जैसे महान् वेगशाली वायु वेगपूर्वक उठकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ३३-३४½ ॥

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः ॥ ३५ ॥
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ।

तू उन्हें अग्रिम वेतन दे दिया कर। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठ जा और सबके साथ प्रिय वचन बोल। ऐसा करनेसे वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अपना अगुआ बना लेंगे ॥ ३५½ ॥

यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम्।
तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥

शत्रुको ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिये तैयार है, तभी घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उसके भयसे वह उद्विग्न हो उठता है ॥ ३६ ॥

तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद् भविष्यति ॥ ३७ ॥

यदि शत्रुको पराक्रमसम्पन्न जानकर अपनी असमर्थताके कारण उसे वशमें न कर सके तो उसे विश्वसनीय दूतोंद्वारा साम एवं दान नीतिका प्रयोग करके अनुकूल बना ले (जिससे वह आक्रमण न करके शान्त बैठा रहे)। ऐसा करनेसे अन्ततोगत्वा उसका वशीकरण हो जायगा ॥ ३७॥

निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शत्रुको शान्त कर देनेसे निर्भय आश्रय प्राप्त होता है। उसे प्राप्त कर लेनेपर युद्ध आदिमें न फँसनेके कारण अपने धनकी वृद्धि होती है। फिर धनसम्पन्न राजाका बहुतसे मित्र आश्रय लेते और उसकी सेवा करते हैं ॥ ३८ ॥

स्खलितार्थं पुनस्तात संत्यजन्ति च बान्धवाः।
अप्यस्मिन् नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम्॥ ३९ ॥

इसके विपरीत जिसका धन नष्ट हो गया है, उसके मित्र और भाई-बन्धु भी उसे त्याग देते हैं। उसपर विश्वास नहीं करते हैं तथा उसके-जैसे लोगोंकी निन्दा भी करते रहते हैं ॥

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति।
स न सम्भाव्यमेवैतद् यद् राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

जो शत्रुको सहायक बनाकर उसका विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाको पुत्रका उपदेशविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना

मातोवाच

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्यांचिदापदि।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥

माता बोली—पुत्र! कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजाको कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिये। यदि वह डरा हुआ हो तो भी डरे हुएके समान कोई बर्ताव न करे ॥ १ ॥

दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक् कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥

राजाको भयभीत देखकर उसके पक्षके सभी लोग भयभीत हो जाते हैं। राज्यकी प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते हैं ॥ २ ॥

शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद् विमानिताः ॥ ३ ॥

उनमेंसे कुछ लोग तो उस राजाके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, दूसरे लोग उसका त्यागमात्र कर देते हैं और कुछ लोग जो पहले राजाद्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे उस अवस्थामें उसके ऊपर प्रहार करनेकी भी इच्छा कर लेते हैं ॥ ३ ॥

य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इडा इव ॥ ४ ॥

जो लोग अत्यन्त सुहृद् होते हैं, वे ही उस संकटके समय उस राजाके पास रह जाते हैं; परंतु वे भी असमर्थ होनेके कारण बँधे हुए बछड़ेवाली गायोंकी भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन-ही-मन उसकी मङ्गलकामना करते रहते हैं ॥ ४ ॥

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान्।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥

जो विपत्तिकी अवस्थामें शोक करते हुए राजाके साथ-साथ स्वयं भी वैसे ही शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके कोई सगे भाई-बन्धु विपन्न हो गये हों, क्या ऐसे ही लोगोंको तूने सुहृद् माना है? क्या तूने भी पहले ऐसे सुहृदोंका सम्मान किया है? ॥ ५ ॥

ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥

जो संकटमें पड़े हुए राजाके राज्यको अपना ही मानकर उसकी तथा राजाकी रक्षाके लिये कृतसंकल्प होते हैं, ऐसे सुहृदोंको तू कभी अपनेसे विलग न कर और वे भी भयभीत अवस्थामें तेरा परित्याग न करें ॥ ६ ॥

प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ॥ ७ ॥

मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धि-बलको जानना चाहती थी, अतः तुझे आश्वासन देते हुए तेरे तेज (उत्साह) की वृद्धिके लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ७ ॥

यदेतत् संविजानासि यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वासौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ॥ ८ ॥

संजय ! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातोंको ठीक समझ रहा है तो अपने आपको उग्र-सा बनाकर विजयके लिये उठ खड़ा हो ॥ ८ ॥

अस्ति नः कोशनिचयो महान् ह्यविदितस्तव ।
तमहं वेद नान्यस्तमुपसम्पादयामि ते ॥ ९ ॥

अभी हमलोगोंके पास बड़ा भारी खजाना है जिसका तुझे पता नहीं है, उसे मैं ही जानती हूँ, दूसरा नहीं। वह खजाना मैं तुझे सौंपती हूँ ॥ ९ ॥

सन्ति नैकतमा भूयः सुहृदस्तव संजय ।
सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ॥ १० ॥

वीर संजय ! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं। वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १० ॥

तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किंचित् सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! जो पुरुष अपनी उन्नति चाहता है और शत्रुके हाथसे अपनी अभीष्ट सम्पत्तिको हर लाना चाहता है उसके सहायक और मन्त्री पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सुहृद् हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

यस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वापि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत् तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ॥ १२ ॥

(कुन्ती बोली—) श्रीकृष्ण ! संजयका हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था तो भी विदुलाका वह विचित्र अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त वचन सुनकर उसका तमोगुणजनित भय और विषाद भाग गया ॥ १२ ॥

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ १३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जलमें डूब गया, है अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए अपने प्राणोंका विसर्जन कर देना है; जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुझ-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझमें ऐसा साहस होना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।
किंचित् किंचित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥

मैं बराबर तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता था। इसीलिये बारंबार बीच-बीचमें कुछ-कुछ बोलकर फिर मौन हो जाता था ॥ १४ ॥

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥ १५ ॥

तेरे ये अमृतके समान वचन बड़ी कठिनाईसे सुननेको मिले थे। उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था। यह देखो, अब मैं शत्रुओंका दमन और विजयकी प्राप्ति करनेके लिये बन्धु-बान्धवोंके साथ उद्योग कर रहा हूँ ॥ १५ ॥

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ १६ ॥

कुन्ती कहती हैं—श्रीकृष्ण ! माताके वाग्बाणोंसे बिंधकर और तिरस्कृत होकर चाबुककी मार खाये हुए अच्छे घोड़ेके समान संजयने माताके उस समस्त उपदेशका यथावत्‌रूपसे पालन किया ॥ १६ ॥

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७ ॥

यह उत्तम उपाख्यान वीरोंके लिये अत्यन्त उत्साहवर्धक और कायरोंके लिये भयंकर है। यदि कोई राजा शत्रुसे पीडित होकर दुखी एवं हताश हो रहा हो तो मन्त्रीको चाहिये कि उसे यह प्रसंग सुनाये ॥ १७ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८ ॥

यह जय नामक इतिहास है। विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये। इसे सुनकर युद्धमें जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओंको रौंद डालता है ॥ १८ ॥

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥

यह आख्यान पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है तथा साधारण पुरुषमें वीरभाव उत्पन्न करनेवाला है। यदि गर्भवती स्त्री इसे बारंबार सुने तो वह निश्चय ही वीर पुत्रको जन्म देती है ॥ १९ ॥

विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम्।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम्॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥

इसे सुनकर प्रत्येक क्षत्राणी विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तपस्वी, ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न, साधुवादके योग्य, तेजस्वी, बलवान्, परम सौभाग्यशाली, महारथी, धैर्यवान्, दुर्धर्ष विजयी, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक तथा सत्य-पराक्रमी वीर पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाके द्वारा पुत्रको दिये जानेवाले उपदेशकी समाप्तिविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना

कुन्त्युवाच

अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ॥ १ ॥
अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ॥ २ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम अर्जुनसे जाकर कहना, तुम्हारे जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारमें बैठी थी, उसी समय आकाशमें यह दिव्यरूपा मनोरम वाणी सुनायी दी-'कुन्ती ! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा ॥ १-२ ॥

एष जेष्यति संग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान्।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ॥ ३ ॥

'यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए समस्त कौरवोंको जीत लेगा और शत्रु-समुदायको व्याकुल कर देगा ॥ ३ ॥

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ॥ ४ ॥
पित्र्यमंशं प्रणष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥ ५ ॥

'तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा, इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह संग्राममें विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्य-भागका पुनरुद्धार करेगा। यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा' ॥ ४-५ ॥

स सत्यसंधो बीभत्सुः सव्यसाची यथाच्युत।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ॥ ६ ॥

अच्युत ! सव्यसाची अर्जुन जैसा सत्यप्रतिज्ञ है तथा उसमें जितना बल एवं दुर्जय शक्ति है, उसे तुम्हीं जानते हो ॥६॥

तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण ! आकाशवाणीने जैसा कहा है, वैसा ही हो, यही मेरी भी इच्छा है। वृष्णिनन्दन ! यदि धर्मकी सत्ता है तो वह सब उसी रूपमें सत्य होगा ॥ ७ ॥

त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि।
नाहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम स्वयं भी वह सब कुछ उसी रूपमें पूर्ण करोगे। आकाशवाणीने जैसा कहा है, उसमें मैं किसी दोषकी उद्भावना नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥ ९ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥ १० ॥

मैं तो उस महान् धर्मको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि धर्म ही समस्त प्रजाको धारण करता है। तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे भी जाकर कहना—'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसीसे वैर ठन जानेपर उत्साहहीन नहीं होते' ॥ ९-१० ॥

विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! तुम्हें भीमसेनका विचार तो सदासे ज्ञात ही है, वह जबतक शत्रुओंका अन्त नहीं कर लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा ॥ ११ ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ।१२।
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत् त्वमवर्तिथाः ॥ १३ ॥

माधव ! श्रीकृष्ण ! तुम सब धर्मोंको विशेषरूपसे जाननेवाली महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू कल्याणमयी, यशस्विनी द्रौपदीसे कहना–'बेटी ! तू परम सौभाग्यशाली यशस्वी कुलमें उत्पन्न हुई है। तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ जो धर्मानुसार यथोचित बर्ताव किया है, यह तेरे ही योग्य है' ॥ १२-१३ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ १४ ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीकुमारोंसे भी मेरा यह संदेश कहना—'वीरो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपने पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंका ही उपभोग करो। क्षत्रियधर्मसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमद्वारा प्राप्त किये हुए पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं ॥ १४-१५ ॥

यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम्।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'पाण्डवो ! सब प्रकारसे धर्मकी वृद्धि करनेवाले तुम सब लोगोंके देखते-देखते पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको जो कटुवचन सुनाये गये हैं, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है !' ॥ १६ ॥

न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ॥ १७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा।
अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! मुझे राज्यके छिन जानेका उतना दुःख नहीं है। जुएमें हारने और पुत्रोंके वनवास होनेका भी मेरे मनमें उतना महान् दुःख नहीं है, परंतु भरी सभामें मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदीने रोते हुए जो दुर्योधनके कटुवचन सुने थे, वही मेरे लिये महान् दुःखका कारण बन गया है ॥ ॥ १७-१८ ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा।
नाध्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती॥१९॥

क्षत्रियधर्ममें सदा तत्पर रहनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी सती-साध्वी बहू कृष्णा उन दिनों रजस्वलावस्थामें थी। वह सब प्रकारसे सनाथ थी, तो भी उस दिन कौरवसभामें उसे कोई रक्षक नहीं मिला (वह अनाथ-सी रोती हुई अपमान सह रही थी) ॥ १९ ॥

तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ २० ॥

महाबाहो ! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुनसे कहना कि 'तुम द्रौपदीके इच्छित पथपर चलो' ॥ २० ॥

विदितं हि तवात्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम तो अच्छी तरह जानते ही हो कि भीमसेन और अर्जुन कुपित हो जायँ तो वे यमराज तथा अन्तकके समान भयंकर हो जाते हैं और देवताओंको भी यमलोक पहुँचा सकते हैं ॥ २१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभागता।
दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ॥ २२ ॥
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः।

जुएके समय द्रौपदीको जो सभामें जाना पड़ा और कौरव वीरोंके सामने ही दुर्योधन और दुःशासनने जो उसे गालियाँ दीं, वह सब भीमसेन और अर्जुनका ही तिरस्कार है। मैं पुनः उसकी याद दिला देती हूँ ॥ २२½ ॥

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह।२३।
मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ॥ २४ ॥

जनार्दन ! तुम मेरी ओरसे द्रौपदी और पुत्रोंसहित पाण्डवोंसे कुशल पूछना और फिर मुझे भी सकुशल बताना। जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो, मेरे पुत्रोंकी रक्षा करना ॥ २३-२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा भी की और फिर सिंहके समान मस्तानी चालसे वहाँसे निकल गये॥२५॥

ततो विसर्जयामास भीष्मादीन् कुरुपुङ्गवान्।
आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ॥ २६ ॥

फिर भीष्म आदि प्रधान कुरुवंशियोंको उन्होंने विदा कर दिया और कर्णको रथपर बिठाकर सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः संगता मिथः ।
जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णके चले जानेपर सब कौरव आपसमें मिले और उनके अत्यन्त अद्भुत एवं महान् आश्चर्यजनक बल-वैभवकी चर्चा करने लगे ॥ २७ ॥

प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।
दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाब्रुवन् ॥ २८ ॥

वे बोले—'यह सारी पृथ्वी मृत्युपाशमें आबद्ध हो मोहाच्छन्न हो गयी है । जान पड़ता है, दुर्योधनकी मूर्खतासे इसका विनाश हो जायगा' ॥ २८ ॥

ततो निर्याय नगरात् प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥ २९ ॥

उधर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब नगरसे निकलकर उपप्लव्यकी ओर चले, तब उन्होंने दीर्घकालतक कर्णके साथ मन्त्रणा की ॥ २९ ॥

विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।
ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ॥ ३० ॥

फिर राधानन्दन कर्णको विदा करके सम्पूर्ण यदुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्णने तुरंत ही बड़े वेगसे अपने रथके घोड़े हँकवाये ॥ ३० ॥

ते पिबन्त इवाकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।
हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ॥ ३१ ॥

दारुकके हाँकनेपर वे महान् वेगशाली अश्व मन और वायुके समान तीव्र गतिसे आकाशको पीते हुए-से चले ॥ ३१ ॥

ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाशुगाः ।
उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ॥ ३२ ॥

उन्होंने शीघ्रगामी बाज पक्षीकी भाँति उस विशाल पथको तुरंत ही तै कर लिया और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको उपप्लव्य नगरमें पहुँचा दिया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीका कथन सुनकर महारथी भीष्म और द्रोणने अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य संनिधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ॥ २ ॥

'पुरुषसिंह ! कुन्तीने श्रीकृष्णके समीप जो अर्थयुक्त, धर्मसंगत, परम उत्तम एवं अत्यन्त भयंकर बात कही है, उसे तुमने भी सुना ही होगा ॥ २ ॥

तत् करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
न हि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! कुन्तीके पुत्र श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार वह सब कार्य करेंगे । अब राज्य लिये बिना वे कदापि शान्त नहीं रह सकते ॥ ३ ॥

क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।
सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ॥ ४ ॥

'तुमने द्यूतक्रीडाके समय धर्मके बन्धनमें बँधे हुए पाण्डवोंको तथा कौरवसभामें द्रौपदीको भी भारी क्लेश पहुँचाया था; किंतु उन्होंने तुम्हारा वह सब अपराध चुपचाप सह लिया ॥ ४ ॥

कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ॥ ५ ॥
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

'अब अस्त्रविद्यामें पारंगत अर्जुन और युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले भीमसेनको पाकर गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, दिव्य रथ और ध्वजको हस्तगत करके, बल और पराक्रमसे सम्पन्न नकुल और सहदेवको युद्धके लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी अपनी सहायताके रूपमें पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधोंको क्षमा नहीं करेंगे ॥ ५-६ ॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है, परम बुद्धिमान् अर्जुनने विराटनगरके युद्धमें हम सब लोगोंको परास्त कर दिया था और वह सब घटना तुम्हारी आँखोंके सामने घटित हुई थी ॥ ७ ॥

दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ॥ ८ ॥

'कपिध्वज अर्जुनने युद्धमें भयंकर कर्म करनेवाले निवात-कवच नामक दानवोंको रुद्रदेवतासम्बन्धी पाशुपत अस्त्र लेकर दग्ध कर डाला था ॥ ८ ॥

कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चापि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।

'घोषयात्राके समय ये कर्ण आदि योद्धा तुम्हारे साथ थे। तुम स्वयं भी रथ और कवच आदिसे सम्पन्न थे, तथापि अर्जुनने ही तुम्हें गन्धर्वोंके हाथसे छुड़ाया था। उनकी शक्तिको समझनेके लिये यही उदाहरण पर्याप्त होगा। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ ९½ ॥

रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गताम् ॥ १० ॥
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक् कविः ।
तं गच्छ पुरुषव्याघ्रं व्यपनीयेह किल्बिषम् ॥ ११ ॥

'यह सारी पृथ्वी मौतकी दाढ़ोंके बीचमें जा पहुँची है। तुम संधिके द्वारा इसकी रक्षा करो। तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर धर्मात्मा, दयालु, मधुरभाषी और विद्वान् हैं। तुम अपने मनका सारा कलुष यहीं धो-बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिरकी शरणमें जाओ ॥ १०-११ ॥

दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ।
प्रशान्तभ्रुकुटिः श्रीमान् कृता शान्तिः कुलस्य नः १२

'जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यह देख लेंगे कि तुमने धनुष उतार दिया है और तुम्हारी टेढ़ी भौंहें शान्त एवं सीधी हो गयी हैं तथा तुम क्रोध त्यागकर अपनी सहज शोभासे सम्पन्न हो रहे हो, तब हमें विश्वास हो जायगा कि तुमने हमारे कुल-में शान्ति स्थापित कर दी ॥ १२ ॥

तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ।
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिंदम ॥ १३ ॥

'शत्रुदमन ! तुम अपने मन्त्रियोंके साथ पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरके पास जाओ और पहलेहीकी भाँति उनके हृदयसे लगकर उन्हें प्रणाम करो ॥ १३ ॥

अभिवादयमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ।
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

'भीमके बड़े भाई कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हें प्रणाम करते देख सौहार्दवश अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लें ॥

सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ।
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ॥ १५ ॥

'जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी, गोलाकार तथा अधिक मोटी हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी तुम्हें अपनी दोनों भुजाओंमें भरकर छातीसे चिपका लें ॥ १५ ॥

कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ।
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १६ ॥

'शङ्खके समान ग्रीवा और कमलसदृश नेत्रोंवाले निद्रा-विजयी कुन्तीपुत्र धनंजय तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करें ॥

आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत् प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ।१७।

'इस भूतलपर जिनके रूपकी कहीं तुलना नहीं है, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव तुम्हारे प्रति गुरुजनोचित प्रेम और आदरका भाव लेकर तुम्हारी सेवामें उपस्थित हों ॥ १७ ॥

मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
संगच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं संत्यज्य पार्थिव ॥१८॥

'भूपाल ! तुम अभिमान छोड़कर अपने उन बिछुड़े हुए भाइयोंसे मिल जाओ और यह अपूर्व मिलन देखकर श्रीकृष्ण आदि सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहावें ॥

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर तुम अपने भाइयोंके साथ इस सारी पृथ्वीका शासन करो और ये राजा लोग एक दूसरेसे मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहाँसे पधारें ॥ १९ ॥

अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! इस युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हारे हितैषी सुहृद् जो तुम्हें युद्धसे रोकते हैं, उनकी वह बात सुनो और मानो; क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर क्षत्रियोंका निश्चय ही विनाश दिखायी दे रहा है ॥ २० ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ २१ ॥

'वीर ! ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हो रहे हैं। पशु और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं तथा नाना प्रकारके ऐसे उत्पात (अपशकुन) दिखायी देते हैं, जो क्षत्रियोंके विनाशकी सूचना देते हैं ॥ २१ ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि निवेशने ।
उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ॥ २२ ॥

'विशेषतः यहाँ हमारे घरमें बुरे निमित्त दृष्टिगोचर होते हैं। जलती हुई उल्काएँ गिरकर तुम्हारी सेनाको पीड़ित कर रही हैं ॥ २२ ॥

वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ॥ २३ ॥

'प्रजानाथ ! हमारे सारे वाहन अप्रसन्न एवं रोते-से

दिखायी देते हैं। गीध तुम्हारी सेनाओंको चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ॥ २३ ॥

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम्।
शिवाश्चाशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ॥२४॥

'इस नगर तथा राजभवनकी शोभा अब पहले-जैसी नहीं रही। सारी दिशाएँ जलती-सी प्रतीत होती हैं और उनमें अमङ्गलसूचक शब्द करती हुई गीदड़ियाँ फिर रही हैं ॥२४॥

कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम्।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च॥ २५ ॥

'महाबाहो ! तुम पिता, माता तथा हम हितैषियोंका कहना मानो। अब शान्तिस्थापन और युद्ध दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ २५ ॥

न चेत् करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन ! यदि तुम सुहृदोंकी बातें नहीं मानोगे तो अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होती देखकर पछताओगे ॥ २६ ॥

भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम्
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ॥ २७ ॥

'यदि हमारी ये बातें तुम्हें विपरीत जान पड़ती हैं तो जिस समय युद्धमें गर्जना करनेवाले महाबली भीमसेनका विकट सिंहनाद और अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनोगे, उस समय तुम्हें ये बातें याद आयेंगी' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोण-वाक्यविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः।
संहत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किंचिद् व्याजहार ह॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्म और द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर दुर्योधनका मन उदास हो गया। उसने टेढ़ी आँखोंसे देखकर और भौंहोंको बीचसे सिकोड़कर मुँह नीचा कर लिया। वह उन दोनोंसे कुछ बोला नहीं ॥ १ ॥

तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमन्तिकात्।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ॥ २ ॥

उसे उदास देख नरश्रेष्ठ भीष्म और द्रोण एक दूसरेकी ओर देखते हुए उसके निकट ही पुनः इस प्रकार बात करने लगे ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले—अहो ! जो गुरुजनोंकी सेवाके लिये उत्सुक, किसीके भी दोष न देखनेवाले, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी हैं, उन्हीं युधिष्ठिरसे हमें युद्ध करना पड़ेगा; इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी ? ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनंजये।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! मेरा अपने पुत्र अश्वत्थामाके प्रति जैसा आदर है, उससे भी अधिक अर्जुनके प्रति है। कपिध्वज अर्जुनमें मेरे प्रति बहुत विनयभाव है॥४॥

तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५ ॥

मेरे पुत्रसे भी बढ़कर प्रियतम उन्हीं अर्जुनसे मुझे क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर युद्ध करना पड़ेगा। क्षात्रवृत्तिको धिक्कार है ! ॥ ५ ॥

यस्य लोके समो नास्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः।
मत्प्रसादात् स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ॥ ६ ॥

मेरी ही कृपासे अर्जुन अन्य धनुर्धरोंसे श्रेष्ठ हो गये हैं। इस समय जगत्‌में उनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥

मित्रध्रुग् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथानृजुः शठः।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवागतः ॥ ७ ॥

जैसे यज्ञमें आया हुआ मूर्ख ब्राह्मण प्रतिष्ठा नहीं पाता, उसी प्रकार जो मित्रद्रोही, दुर्भावनायुक्त, नास्तिक, कुटिल और शठ है, वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है॥७॥

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥

पापात्मा मनुष्यको पापोंसे रोका जाय तो भी वह पाप ही करना चाहता है और जिसका हृदय शुभ संकल्पसे युक्त है, वह पुण्यात्मा पुरुष किसी पापीके द्वारा पापके लिये प्रेरित होनेपर भी शुभ कर्म करनेकी ही इच्छा रखता है॥८॥

मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनु प्रिये।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने पाण्डवोंके साथ सदा मिथ्या बर्ताव—छल-कपट ही किया है तो भी ये सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें ही लगे रहे हैं। अतः तुम्हारे ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष तुम्हारा ही अहित करनेवाले होंगे॥ ९॥

त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाभिमन्यसे॥ १०॥

कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीने, मैंने, विदुरजीने तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी तुमसे तुम्हारे कल्याणकी ही बात बतायी है; तथापि तुम उसे मान नहीं रहे हो॥ १०॥

अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे॥ ११॥

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य वर्षाकालमें बढ़े हुए ग्राह और मकर आदि जलजन्तुओंसे युक्त गङ्गाजीके वेगको दोनों बाहुओंसे तैरना चाहता हो, उसी प्रकार तुम मेरे पास बल है, ऐसा समझकर पाण्डव-सेनाको सहसा लाँघ जानेकी इच्छा रखते हो॥ ११॥

वास एव यथा त्यक्तं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद् यौधिष्ठिरीं श्रियम्॥ १२॥

जैसे कोई दूसरेका छोड़ा हुआ वस्त्र पहन ले और उसे अपना मानने लगे, उसी प्रकार तुम त्यागी हुई मालाकी भाँति युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीको पाकर अब उसे लोभवश अपनी समझते हो॥ १२॥

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम्।
वनस्थमपि राज्यस्थः पाण्डवं को विजेष्यति॥ १३॥

अपने अस्त्र-शस्त्रधारी भाइयोंसे घिरे हुए द्रौपदीसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वनमें रहें तो भी उन्हें राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ कौन नरेश युद्धमें जीत सकेगा ?॥ १३॥

निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत॥ १४॥

समस्त राजा जिनकी आज्ञामें किंकरकी भाँति खड़े रहते हैं, उन्हीं राजराज कुबेरसे मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर उनके साथ विराजमान हुए थे॥ १४॥

कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः॥ १५॥

कुबेरके भवनमें जाकर उनसे भाँति-भाँतिके रत्न लेकर अब पाण्डव तुम्हारे समृद्धिशाली राष्ट्रपर आक्रमण करके अपना राज्य वापस लेना चाहते हैं॥ १५॥

दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ॥ १६॥

हम दोनोंने तो दान, यज्ञ और स्वाध्याय कर लिये। धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर लिया। अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः हमें तो तुम कृतकृत्य ही समझो॥ १६॥

त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद् व्यसनमाप्स्यसि॥ १७॥

परंतु तुम पाण्डवोंसे युद्ध ठानकर सुख, राज्य, मित्र और धन सब कुछ खोकर बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे॥१७॥

द्रौपदी यस्य चाशास्ते विजयं सत्यवादिनी।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम्॥ १८॥

तपस्या एवं घोर व्रतका पालन करनेवाली सत्यवादिनी देवी द्रौपदी जिनकी विजयकी कामना करती है, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको तुम कैसे जीत सकोगे ?॥ १८॥

मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम्॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके मन्त्री और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन जिनके भाई हैं, उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको तुम कैसे जीतोगे ?॥ १९॥

सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम्॥ २०॥

धैर्यवान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन उग्र तपस्वी वीर पाण्डवको तुम कैसे जीत सकोगे ?॥ २०॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत् कार्यं भूतिमिच्छता।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे॥ २१॥

जिस समय अपने बहुत-से सुहृद् संकटके समुद्रमें डूब रहे हों, उस समय कल्याणकी इच्छा रखनेवाले एक सुहृद्का जो कर्तव्य है—उस अवसरपर उसे जैसी बात कहनी चाहिये, वह यद्यपि पहले कही जा चुकी है, तथापि मैं उसे दुबारा कहूँगा॥ २१॥

अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम्॥ २२॥

राजन् ! युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम कुरुकुलकी वृद्धिके लिये उन वीर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। पुत्रों, मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोणवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३९॥
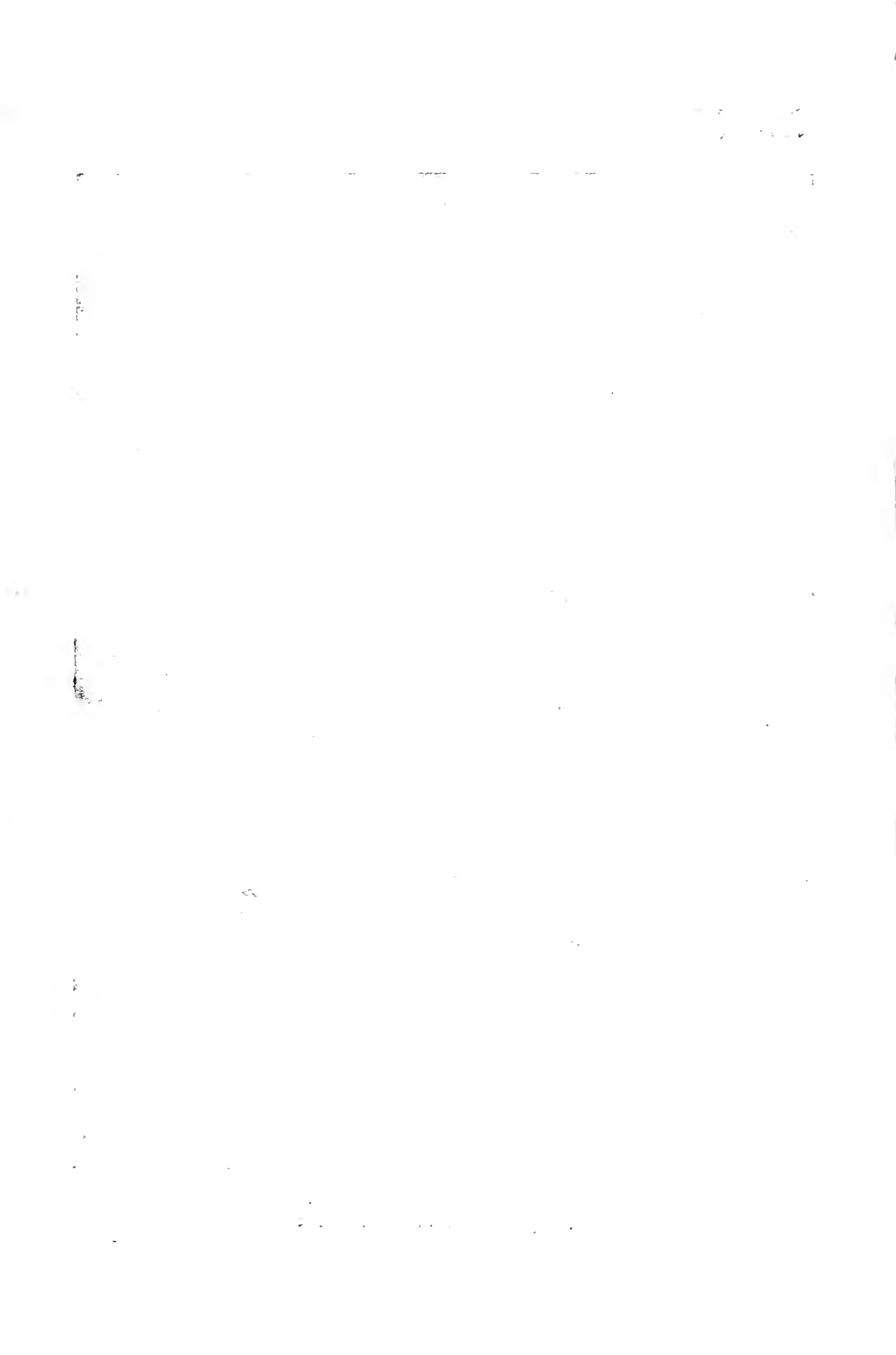
भगवान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च संजय।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः ॥ १ ॥
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! राजपुत्रों तथा सेवकोंसे घिरे हुए, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले, अप्रमेयस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण जब राधानन्दन कर्णको रथपर बिठाकर हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये, तब उन्होंने उससे क्या कहा ? गोविन्दने सूतपुत्र कर्णको क्या सान्त्वनाएँ दीं ? ॥ १-२ ॥

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत्।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३ ॥

संजय ! मेघके समान गम्भीर स्वरसे बोलनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कर्णसे जो मधुर अथवा कठोर वचन कहा हो—वह सब मुझे बताओ ॥ ३ ॥

संजय उवाच

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥ ४ ॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥ ५ ॥

संजय बोले—भारत ! अप्रमेयस्वरूप मधुसूदन श्रीकृष्णने राधानन्दन कर्णसे जो तीक्ष्ण, मधुर, प्रिय, धर्म-सम्मत, सत्य, हितकर एवं हृदयग्राह्य बातें क्रमशः कही थीं, उन सबको आप मुझसे सुनिये ॥ ४-५ ॥

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन ! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है। तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शङ्काएँ पूछी हैं ॥ ६ ॥

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ॥ ७ ॥

कर्ण ! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है ? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो ॥ ७ ॥

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ। (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है।) वैसे पुत्रकी माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है ॥ ८ ॥

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ॥ ९ ॥

कर्ण ! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए पुत्र हो;) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो। इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे ॥ ९ ॥

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं। पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो ॥ १० ॥

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥ ११ ॥

तात ! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है ॥ ११ ॥

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ॥ १२ ॥

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे ॥ १२ ॥

राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥ १३ ॥

इसके सिवा, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक होंगे ॥ १३ ॥

हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ॥ १४ ॥
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, औषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी ॥ १४-१५ ॥

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥ १६ ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी भी तुम्हारा राज्याभिषेक करें ॥ १६½ ॥

तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ १७ ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ॥ १८ ॥
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ १९ ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥ २० ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।

इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे ॥ १७—२०½ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ २१ ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥ २२ ॥

सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा ॥ २१-२२ ॥

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥ २३ ॥

नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पञ्चालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥

अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥ २४ ॥

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे । प्रजानाथ ! दशार्ह तथा दशार्णकुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे ॥ २४ ॥

भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥ २५ ॥

महाबाहो ! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ राज्य भोगो । जप, होम तथा नाना प्रकारके माङ्गलिक कर्मोंमें संलग्न रहो ॥ २५ ॥

पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥ २६ ॥

द्रविड़, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वेणुप देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों ॥ २६ ॥

स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः ।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥ २७ ॥

सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषेण कर्णकी विजय घोषित कर दें ॥ २७ ॥

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥ २८ ॥

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तुम अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन और कुन्तीको आनन्दित करो ॥ २८ ॥

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥ २९ ॥

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो । कर्ण ! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अच्छे बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ॥ १ ॥

कर्णने कहा—केशव ! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री और मेरे हितकी इच्छासे जो कुछ कहा है, वह निःसंदेह ठीक है ॥ १ ॥

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण ! जैसा कि आप मानते हैं, धर्मशास्त्रोंके निर्णयके अनुसार मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ । इन सब बातोंको मैं अच्छी तरह जानता और समझता हूँ ॥ २ ॥

कन्या गर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥

जनार्दन ! कुन्तीने कन्यावस्थामें भगवान् सूर्यके संयोगसे मुझे गर्भमें धारण किया था और मेरा जन्म हो जानेपर उन सूर्यदेवकी आज्ञासे ही मुझे जलमें विसर्जित कर दिया था ॥ ३ ॥

सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरा जन्म हुआ है । अतः मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ; परंतु कुन्तीदेवीने मुझे इस तरह त्याग दिया, जिससे मैं सकुशल नहीं रह सकता था ॥

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ॥ ५ ॥

मधुसूदन ! उसके बाद अधिरथ नामक सूत मुझे जलमें देखते ही निकालकर अपने घर ले आये और बड़े स्नेहसे मुझे अपनी पत्नी राधाकी गोदमें दे दिया ॥ ५ ॥

मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ॥ ६ ॥

उस समय मेरे प्रति अधिक स्नेहके कारण राधाके स्तनोंमें तत्काल दूध उतर आया । माधव ! उस अवस्थामें उसीने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया ॥ ६ ॥

तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद् धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ॥ ७ ॥

अतः सदा धर्मशास्त्रोंके श्रवणमें तत्पर रहनेवाला मुझ जैसा धर्मज्ञ पुरुष राधाके मुखका ग्रास कैसे छीन सकता है ? (उसका पालन-पोषण न करके उसे त्याग देनेकी क्रूरता कैसे कर सकता है ?) ॥ ७ ॥

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ॥ ८ ॥

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं और मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदासे अपना पिता ही मानता आया हूँ ॥ ८ ॥

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ॥ ९ ॥
नाम वै वसुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।

माधव ! उन्होंने मेरे जातकर्म आदि संस्कार करवाये तथा जनार्दन ! उन्होंने ही पुत्रप्रेमवश शास्त्रीय विधिसे ब्राह्मणोंद्वारा मेरा 'वसुषेण' नाम रखवाया ॥ ९½ ॥

भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ॥ १० ॥
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण संजातं कामबन्धनम् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरी युवावस्था होनेपर अधिरथने सूतजातिकी कई कन्याओंके साथ मेरा विवाह करवाया । अब उनसे मेरे पुत्र और पौत्र भी पैदा हो चुके हैं । जनार्दन ! उन स्त्रियोंमें मेरा हृदय कामभावसे आसक्त रहा है ॥ १०-११ ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥ १२ ॥

गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवीका राज्य पाकर, सुवर्णकी राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भयके कारण भी वह सब सम्बन्ध मिथ्या नहीं करना चाहता ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधनका सहारा पाकर धृतराष्ट्रके कुलमें रहते हुए तेरह वर्षोंतक अकण्टक राज्यका उपभोग किया है ॥ १३ ॥

इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयासकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ॥ १४ ॥

वहाँ मैंने सूतोंके साथ मिलकर बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा उन्हींके साथ रहकर अनेकानेक कुलधर्म एवं वैवाहिक कार्य सम्पन्न किये हैं ॥ १४ ॥

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ॥ १५ ॥

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवोंके साथ विग्रह करनेका साहस किया है॥१५॥

तस्माद् रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

अतः अच्युत ! मुझे द्वैरथ युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करनेके लिये उसने चुन लिया है ॥ १६ ॥

वधाद् बन्धाद् भयाद् वापि लोभाद् वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥

जनार्दन ! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभसे भी बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता ॥ १७ ॥

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

हृषीकेश ! अब यदि मैं अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्ध न

करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनोंके लिये अपयशकी बात होगी ॥ १८ ॥

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥१९॥

मधुसूदन ! इसमें संदेह नहीं कि आप मेरे हितके लिये ही ये सब बातें कहते हैं । पाण्डव आपके अधीन हैं; इसलिये आप उनसे जो कुछ भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं ॥ १९ ॥

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥

परंतु मधुसूदन ! मेरे और आपके बीचमें जो यह गुप्त परामर्श हुआ है, उसे आप यहीं तक सीमित रक्खें । यादवनन्दन ! ऐसा करनेमें ही मैं यहाँ सब प्रकारसे हित समझता हूँ ॥ २० ॥

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥ २१ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं (कर्ण) कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुदमन मधुसूदन ! उस दशामें मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्यको पाकर भी दुर्योधनको ही सौंप दूँगा ॥२२॥

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः ।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ॥ २३ ॥

मैं भी यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें ।२३।

पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ॥ २५ ॥
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चापराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ॥ २६ ॥
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ॥ २७ ॥

माधव ! जनार्दन ! जिनके सहायक महारथी भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, उत्तमौजा, युधामन्यु, सोमकवंशी सत्यधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, अपराजित वीर शिखण्डी, इन्द्रगोपके समान वर्णवाले पाँचों भाई केकय-राजकुमार, इन्द्रधनुषके समान रंगवाले महामना कुन्तिभोज, भीमसेनके मामा महारथी श्येनजित्, विराटपुत्र शंख तथा अक्षयनिधिके समान आप हैं, उन्हीं युधिष्ठिरके अधिकारमें यह सारा भूमण्डल तथा कौरव-राज्य रहेगा ॥ २४—२७ ॥

महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने यह क्षत्रियोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है तथा समस्त राजाओंमें विख्यात एवं उज्ज्वल यह कुरुदेशका राज्य भी उसे प्राप्त हो गया है ।२८।

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥ २९ ॥

जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! अब दुर्योधनके यहाँ एक शस्त्र-यज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे ॥ २९ ॥

आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति ।
होता चैवात्र बीभत्सुः संनद्धः स कपिध्वजः ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण ! इस यज्ञमें अध्वर्युका काम भी आपको ही करना होगा । कवच आदिसे सुसज्जित कपिध्वज अर्जुन इसमें होता बनेंगे ॥ ३० ॥

गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥

गाण्डीव धनुष स्रुवाका काम करेगा और विपक्षी वीरोंका पराक्रम ही हवनीय घृत होगा । माधव ! सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रयुक्त होनेवाले ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और स्थूणाकर्ण आदि अस्त्र ही वेद-मन्त्र होंगे ॥ ३१ ॥

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति ॥ ३२ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी अस्त्रविद्यामें अपने पिताका ही अनुसरण करनेवाला अथवा पराक्रममें उनसे भी बढ़कर है । वह इस शस्त्रयज्ञमें उत्तम स्तोत्रगान (उद्गातृकर्म) की पूर्ति करेगा ॥ ३२ ॥

उद्गातात्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद् रणे ॥ ३३ ॥

अभिमन्यु ही उद्गाता और महाबली नरश्रेष्ठ भीमसेन ही प्रस्तोता होंगे, जो रणभूमिमें गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके हाथियोंकी सेनाका विनाश कर डालेंगे ॥ ३३ ॥

स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद् राजा युधिष्ठिरः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ॥ ३४ ॥

वे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही सदा जप और होममें संलग्न रहकर उस यज्ञमें ब्रह्माका कार्य सम्पन्न करेंगे ॥ ३४ ॥

शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ॥ ३५ ॥

मधुसूदन ! शङ्ख, मुरज तथा भेरियोंके शब्द और उच्च स्वरसे किये हुए सिंहनाद ही सुब्रह्मण्यनाद होंगे ॥३५॥

नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः ॥ ३६ ॥

माद्रीके यशस्वी पुत्र महापराक्रमी नकुल-सहदेव उसमें भलीभाँति शामित्रकर्मका सम्पादन करेंगे ॥ ३६ ॥

कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन ॥ ३७ ॥

गोविन्द ! जनार्दन ! विचित्र ध्वजदण्डोंसे सुशोभित निर्मल रथ-पंक्तियाँ ही इस रणयज्ञमें यूपोंका काम करेंगी । ३७।

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ॥ ३८ ॥

कर्णि, नालीक, नाराच और वत्सदन्त आदि बाण उपबृंहण (सोमाहुतिके साधनभूत चमस आदि पात्र) होंगे । तोमर सोमकलशका और धनुष पवित्रीका काम करेंगे। ३८।

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।
हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण ! उस यज्ञमें खड्ग ही कपाल, शत्रुओंके मस्तक ही पुरोडाश तथा रुधिर ही हविष्य होंगे ॥ ३९ ॥

इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ ४० ॥

निर्मल शक्तियाँ और गदाएँ सब ओर बिखरी हुई समिधाएँ होंगी । द्रोण और कृपाचार्यके शिष्य ही सदस्यका कार्य करेंगे ॥ ४० ॥

इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ॥ ४१ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके छोड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एवं अन्य महारथियोंके चलाये हुए बाण यज्ञ-कुण्डके सब ओर बिछाये जानेवाले कुशोंका काम देंगे ॥४१॥

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ॥ ४२ ॥

सात्यकि प्रतिस्थाता (अध्वर्युके दूसरे सहयोगी) का कार्य करेंगे । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इस रणयज्ञकी दीक्षा लेगा और उसकी विशाल सेना ही यजमानपत्नीका काम करेगी॥

घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ ४३ ॥

महाबाहो ! इस महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ हो जानेपर उसके अतिरात्रयागमें (अथवा आधी रातके समय) महाबली घटोत्कच शामित्रकर्म करेगा ॥ ४३ ॥

दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यः कृष्ण पावकात् ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जो श्रौत यज्ञके आरम्भमें ही साक्षात् अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुआ था, वह प्रतापी वीर धृष्टद्युम्न इस यज्ञकी दक्षिणाका कार्य सम्पादन करेगा ॥ ४४ ॥

यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने जो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको बहुतसे कटुवचन सुनाये हैं, उस अयोग्य कर्मके कारण आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है ॥ ४५ ॥

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण ! जब आप सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मुझे मारा गया देखेंगे, उस समय इस यज्ञका पुनश्चिति-कर्म (यज्ञके अनन्तर किया जानेवाला चयनारम्भ) सम्पन्न होगा ४६

दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक् तदा सुत्यं भविष्यति ॥ ४७ ॥

जब पाण्डुनन्दन भीमसेन सिंहनाद करते हुए दुःशासनका रक्त पान करेंगे, उस समय इस यज्ञका सुत्य (सोमाभिषव) कर्म पूरा होगा ॥ ४७ ॥

यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः ।
तदा यज्ञावसानं तद् भविष्यति जनार्दन ॥ ४८ ॥

जनार्दन ! जब दोनों पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न और शिखण्डी द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिरायेंगे, उस समय इस रणयज्ञका अवसान (बीच-बीचमें होनेवाला विराम) कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४८ ॥

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ॥ ४९ ॥

माधव ! जब महाबली भीमसेन दुर्योधनका वध करेंगे उस समय धृतराष्ट्रपुत्रका प्रारम्भ किया हुआ यह यज्ञ समाप्त हो जायगा ॥ ४९ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ॥ ५० ॥
रुदत्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ॥ ५१ ॥

केशव ! जिनके पति, पुत्र और संरक्षक मार दिये गये होंगे, वे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पौत्रोंकी बहुएँ जब गान्धारीके साथ एकत्र होकर कुत्तों, गीधों और कुरर पक्षियोंसे भरे हुए समराङ्गणमें रोती हुई विचरेंगी, जनार्दन ! वही उस यज्ञका अवभृथस्नान होगा ॥ ५०-५१ ॥

विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ॥ ५२ ॥

क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन ! तुम्हारे इस शान्तिस्थापनके प्रयत्नसे कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्युको प्राप्त हों (युद्धमें शस्त्रोंसे होनेवाली मृत्युसे वञ्चित रह जायँ) ॥ ५२ ॥

शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्यापि केशव ॥ ५३ ॥

केशव ! कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंके लिये परम पुण्यतम तीर्थ है । यह समृद्धिशाली क्षत्रियसमुदाय वहीं जाकर शस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

तदत्र पुण्डरीकाक्ष विधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

कमलनयन वृष्णिनन्दन ! आप भी इसकी सिद्धिके लिये ही ऐसा मनोवाञ्छित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा-का-सारा क्षत्रियसमूह स्वर्गलोकमें पहुँच जाय ॥ ५४ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।
तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥ ५५ ॥

जनार्दन ! जबतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, तबतक इस युद्धकी कीर्ति-कथा अक्षय बनी रहेगी ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥ ५६ ॥

वार्ष्णेय ! ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके समाजमें इस महाभारतयुद्धका, जिसमें राजाओंके सुयशरूपी धनका संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे ॥ ५६ ॥

समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।
मन्त्रसंवरणं कुर्वन् नित्यमेव परंतप ॥ ५७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले केशव ! आप इस मन्त्रणाको सदा गुप्त रखते हुए ही कुन्तीकुमार अर्जुनको मेरे साथ युद्ध करनेके लिये ले आवें ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने निश्चित विचारका प्रतिपादनविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन् वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! विपक्षी वीरोंका वध करनेवाले भगवान् केशव कर्णकी उपर्युक्त बात सुनकर ठठाकर हँस पड़े और मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्ण ! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है । तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो ॥ २ ॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है । इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है । पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है ॥

दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ॥ ४ ॥

विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है । वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है । उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४ ॥

न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥ ५ ॥

कर्ण ! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लम्बा है । वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ५

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥ ६ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ७ ॥

कर्ण ! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आये हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय

तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा) ॥६-७॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम् ॥ ८ ॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ९ ॥

जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ८-९

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे ॥ १० ॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ११ ॥

जब तुम युद्धमें महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी।१०-११।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ १२ ॥
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १३ ॥

जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची अर्जुनने तुरंत उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्के-से रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा ॥ १२-१३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव ॥ १४ ॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १५ ॥

जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रुवीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा ॥ १४-१५ ॥

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ॥ १६ ॥

कर्ण ! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि 'यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है । इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं ॥ १६ ॥

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः ।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः ॥ १७ ॥

'सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गर्मी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्ष मास चल रहा है)

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ॥ १८ ॥

'आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी । उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय' ॥

तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः ।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना 'आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा' ॥ १९ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥ २० ॥

दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं, वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे।२०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे भगवद्वाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्रायनिवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन

संजय उवाच

केशवस्य तु तद् वाक्यं कर्णः श्रुत्वा हितं शुभम् ।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगवान् केशवका वह

हितकर एवं कल्याणकारी वचन सुनकर कर्ण मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कार्त्स्न्येन विनाशः समुपस्थितः ॥ २ ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

'महाबाहो ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालना चाहते हैं ! यह जो इस भूतलका पूर्णरूपसे विनाश उपस्थित हुआ है, उसमें मैं, शकुनि, दुःशासन तथा धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन निमित्तमात्र हुए हैं ॥ २-३ ॥

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसमें संदेह नहीं कि कौरवों और पाण्डवोंका यह बड़ा भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्तकी कीच मचा देनेवाला है ॥ ४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥ ५ ॥

'दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जो राजा और राजकुमार हैं, वे रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे जलकर निश्चय ही यमलोकमें जा पहुँचेंगे ॥ ५ ॥

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥ ६ ॥

'मधुसूदन ! मुझे बहुतसे भयंकर स्वप्न दिखायी देते हैं । घोर अपशकुन तथा अत्यन्त दारुण उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं ॥

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥ ७ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात मानो दुर्योधनकी पराजय और युधिष्ठिरकी विजय घोषित करते हैं ॥ ७ ॥

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी एवं तीक्ष्ण ग्रह शनैश्चर प्रजापतिसम्बन्धी रोहिणीनक्षत्रको पीड़ित करते हुए जगत्‌के प्राणियोंको अधिक-से-अधिक पीड़ा दे रहे हैं ॥ ८ ॥

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मंगल ग्रह ज्येष्ठाके निकटसे वक्रगतिका आश्रय ले अनुराधा नक्षत्रपर आना चाहते हैं । जो राज्यस्थ राजाके मित्रमण्डलका विनाश-सा सूचित कर रहे हैं ॥ ९ ॥

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ॥ १० ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! निश्चय ही कौरवोंपर महान् भय उपस्थित हुआ है । विशेषतः 'महापात' नामक ग्रह चित्राको पीड़ा दे रहा है (जो राजाओंके विनाशका सूचक है) ॥ १० ॥

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ॥ ११ ॥

'चन्द्रमाका कलंक (काला चिह्न) मिट-सा गया है, राहु सूर्यके समीप जा रहा है । आकाशसे ये उल्काएँ गिर रही हैं, वज्रपातके-से शब्द हो रहे हैं और धरती डोलती-सी जान पड़ती है ॥ ११ ॥

निष्टनन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाभिनन्दन्ति माधव ॥ १२ ॥

'माधव ! गजराज परस्पर टकराते और विकृत शब्द करते हैं । घोड़े नेत्रोंसे आँसू बहा रहे हैं । वे घास और पानी भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ॥ १३ ॥

'महाबाहो ! कहते हैं, इन निमित्तों (उत्पातसूचक लक्षणों) के प्रकट होनेपर प्राणियोंके विनाश करनेवाले दारुण भयकी उपस्थिति होती है ॥ १३ ॥

अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ॥ १४ ॥

'केशव ! हाथी, घोड़े तथा मनुष्य भोजन तो थोड़ा ही करते हैं; परंतु उनके पेटसे मल अधिक निकलता देखा जाता है ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।
पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधनकी समस्त सेनाओंमें ये बातें पायी जाती हैं । मनीषी पुरुष इन्हें पराजयका लक्षण कहते हैं ॥

प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत् तेषां जयलक्षणम् ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! पाण्डवोंके वाहन प्रसन्न बताये जाते हैं और मृग उनके दाहिनेसे जाते देखे जाते हैं; यह लक्षण उनकी विजयका सूचक है ॥ १६ ॥

अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम् ॥ १७ ॥

'केशव ! सभी मृग दुर्योधनके बाँयेंसे निकलते हैं और उसे प्रायः ऐसी वाणी सुनायी देती है, जिसके बोलनेवालेका शरीर नहीं दिखायी देता । यह उसकी पराजयका चिह्न है १७

मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवंजीवकसङ्घाश्चाप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ॥ १८ ॥

'मोर, शुभ शकुन सूचित करनेवाले मुर्गे, हंस, सारस, चातक तथा चकोरोंके समुदाय पाण्डवोंका अनुसरण करते हैं ॥

गृध्राः कङ्का बकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः।
मक्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान्॥ १९ ॥

'इसी प्रकार गीध, कङ्क, बक, श्येन (बाज), राक्षस, भेड़िये तथा मक्खियोंके समूह कौरवोंके पीछे दौड़ते हैं ॥१९॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः।
अनाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल ॥ २० ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें बजानेपर भी भेरियोंके शब्द प्रकट नहीं होते हैं और पाण्डवोंके डंके बिना बजाये ही बज उठते हैं ॥ २० ॥

उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत् पराभवलक्षणम् ॥ २१ ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें कुएँ आदि जलाशय गाय-बैलोंके समान शब्द करते हैं। यह उसकी पराजयका लक्षण है॥२१॥

मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत् समुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम्।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ २३ ॥

'माधव ! बादल आकाशसे मांस और रक्तकी वर्षा करते हैं। अन्तरिक्षमें चहारदिवारी, खाईं, वप्र और सुन्दर फाटकोंसहित सूर्ययुक्त गन्धर्वनगर प्रकट दिखायी देता है। वहाँ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर एक काला परिघ प्रकट होता है ॥ २२-२३ ॥

उदयास्तमने संध्ये वेदयन्ती महद्भयम्।
शिवा च वाशते घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २४ ॥

'सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों संध्याओंके समय एक गीदड़ी महान् भयकी सूचना देती हुई भयंकर आवाजमें रोती है। यह भी कौरवोंकी पराजयका लक्षण है ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन।
उत्सृजन्ति महद् घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २५ ॥

'मधुसूदन ! एक पाँख, एक आँख और एक पैरवाले पक्षी अत्यन्त भयंकर शब्द करते हैं। यह भी कौरवपक्षकी पराजयका ही लक्षण है ॥ २५ ॥

कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः।
संध्यामभिमुखा यान्ति तत् पराभवलक्षणम् ॥ २६ ॥

'संध्याकालमें काली ग्रीवा और लाल पैरवाले भयानक पक्षी सामने आ जाते हैं, वह भी पराजयका ही चिह्न है॥२६॥

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम् ॥ २७ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है; फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है २७

पूर्वा दिग् लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः ॥ २८ ॥

'श्रीकृष्ण ! पूर्व दिशा लाल, दक्षिण दिशा शस्त्रोंके समान रंगवाली (काली), पश्चिम दिशा मिट्टीके कच्चे बर्तनोंकी भाँति मटमैली तथा उत्तर दिशा शङ्खके समान श्वेत दिखायी देती है। इस प्रकार ये दिशाओंके पृथक्-पृथक् वर्ण बताये गये हैं ॥ २८ ॥

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव।
महद् भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥ २९ ॥

'माधव ! दुर्योधनको इन उत्पातोंका दर्शन तो होता ही है। उसके लिये सारी दिशाएँ भी प्रज्वलित-सी होकर महान् भयकी सूचना दे रही हैं ॥ २९ ॥

सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः।
अधिरोहन् मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत ॥ ३० ॥

'अच्युत ! मैंने स्वप्नके अन्तिम भागमें युधिष्ठिरको एक हजार खंभोंवाले महलपर भाइयोंसहित चढ़ते देखा है॥३०॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये ॥ ३१ ॥

'उन सबके सिरपर सफेद पगड़ी और अङ्गोंमें श्वेत वस्त्र शोभित दिखायी दिये हैं। मैंने उन सबके आसनोंको भी श्वेत वर्णका ही देखा है ॥ ३१ ॥

तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन ॥ ३२ ॥

'जनार्दन ! श्रीकृष्ण ! मैंने स्वप्नके अन्तमें आपकी इस पृथ्वीको भी रक्तसे मलिन और आँतसे लिपटी हुई देखा है३२

अस्थिसंचयमारूढश्चामितौजा युधिष्ठिरः।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान् घृतपायसम् ॥ ३३ ॥

'मैंने स्वप्नमें देखा, अमिततेजस्वी युधिष्ठिर सफेद हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए हैं और सोनेके पात्रमें रक्खी हुई घृतमिश्रित खीरको बड़ी प्रसन्नताके साथ खा रहे हैं ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम्।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम् ।३४।

'मैंने यह भी देखा कि युधिष्ठिर इस पृथ्वीको अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं; अतः यह निश्चित है कि आपकी दी हुई वसुन्धराका वे ही उपभोग करेंगे ॥ ३४ ॥

उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम् ॥ ३५ ॥

'भयंकर कर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन भी हाथमें गदा

लिये ऊँचे पर्वतपर आरूढ़ हो इस पृथ्वीको ग्रसते हुए-से स्वप्नमें दिखायी दिये हैं ॥ ३५ ॥

क्षपयिष्यति नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३६ ॥

अतः यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि वे इस महायुद्धमें हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे । हृषीकेश ! मुझे यह भी विदित है कि जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है ॥

पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनंजयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार गाण्डीवधारी धनंजय भी आपके साथ श्वेत गजराजपर आरूढ़ हो अपनी परम कान्तिसे प्रकाशित होते हुए मुझे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३७ ॥

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः ।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥ ३८ ॥

'अतः श्रीकृष्ण ! आप सब लोग इस युद्धमें दुर्योधन आदि समस्त राजाओंका वध कर डालेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ॥ ३९ ॥
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ॥ ४० ॥

'नकुल, सहदेव तथा महारथी सात्यकि—ये तीन नरश्रेष्ठ मुझे स्वप्नमें श्वेत भुजबन्द, श्वेत कण्ठहार, श्वेत वस्त्र और श्वेत मालाओंसे विभूषित हो उत्तम नरयान (पालकी) पर चढ़े दिखायी दिये हैं । ये तीनों ही श्वेत छत्र और श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥ ३९-४० ॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान् विजानीहि केशव ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे मुझे तीन ही व्यक्ति स्वप्नमें श्वेत पगड़ीसे सुशोभित दिखायी दिये हैं । केशव ! आप उनके नाम मुझसे जान लें । वे हैं—अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा । माधव ! अन्य सब नरेश मुझे लाल पगड़ी धारण किये दिखायी दिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ॥ ४३ ॥
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयातौ स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ॥ ४४ ॥

'महाबाहु जनार्दन ! मैंने स्वप्नमें देखा, भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी मेरे तथा दुर्योधनके साथ ऊँट जुते हुए रथपर आरूढ़ हो दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे । विभो ! इसका फल यह होगा कि हमलोग थोड़े ही दिनोंमें यमलोक पहुँच जायँगे ॥ ४३-४४ ॥

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः ॥ ४५ ॥

'मैं अन्यान्य नरेश तथा वह सारा क्षत्रियसमाज सब-के-सब गाण्डीवकी अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, इसमें संशय नहीं है' ॥

श्रीकृष्ण उवाच

उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण ! निश्चय ही अब इस पृथ्वीका विनाशकाल उपस्थित हो गया है ; इसीलिये मेरी बात तुम्हारे हृदयतक नहीं पहुँचती है ॥ ४६ ॥

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ४७ ॥

तात ! जब समस्त प्राणियोंका विनाश निकट आ जाता है, तब अन्याय भी न्यायके समान प्रतीत होकर हृदयसे निकल नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

कर्ण उवाच

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥ ४८ ॥

कर्ण बोला—महाबाहु श्रीकृष्ण ! वीर क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले इस महायुद्धसे पार होकर यदि हम जीवित बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे ॥ ४८ ॥

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ ॥ ४९ ॥

अथवा श्रीकृष्ण ! अब हमलोग स्वर्गमें ही मिलेंगे, यह निश्चित है । अनघ ! वहाँ आजकी ही भाँति पुनः आपसे हमारी भेंट होगी ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण भगवान् श्रीकृष्णका प्रगाढ़ आलिङ्गन करके उनसे विदा ले रथके पिछले भागसे उतर गया ॥ ५० ॥

ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहास्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर अपने सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो राधानन्दन कर्ण दीनचित्त होकर हमलोगोंके साथ लौट आया ॥

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः ।

पुनरुच्चारयन् वाणीं याहि याहीति सारथिम् ॥५२॥

तदनन्तर सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथिसे बार-बार 'चलो-चलो' ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्र गतिसे उपप्लव्य नगरकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्राय निवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब श्रीकृष्ण-का अनुनय असफल हो गया और वे कौरवोंके यहाँसे पाण्डवोंके पास चले गये, तब विदुरजी कुन्तीके पास जाकर शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥ २ ॥

'चिरंजीवी पुत्रोंको जन्म देनेवाली देवि ! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदासे यही रही है कि कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध न हो । इसके लिये मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया; परंतु दुर्योधन मेरी बात मानता ही नहीं है॥

उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ॥ ३ ॥

'राजा युधिष्ठिर चेदि, पाञ्चाल तथा केकयदेशके वीर सैनिकगण, भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा नकुल-सहदेव आदि श्रेष्ठ सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ३ ॥

उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
काङ्क्षते ज्ञातिसौहार्दाद् बलवान् दुर्बलो यथा ॥ ४ ॥

'वे युद्धके लिये उद्यत हो उपप्लव्य नगरमें छावनी डालकर बैठे हुए हैं, तथापि भाई-बन्धुओंके सौहार्दवश धर्मकी ही आकाङ्क्षा रखते हैं । बलवान् होकर भी दुर्बलकी भाँति संधि करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥ ५ ॥

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जानेपर भी शान्त नहीं हो रहे हैं । पुत्रोंके मदसे उन्मत्त हो अधर्मके मार्गपर ही चलते हैं ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते॥ ६ ॥

'जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी खोटी बुद्धिसे कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर फूट होकर ही रहेगी ॥ ६ ॥

अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वैकार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ॥ ७ ॥

'(कौरवोंने चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंको राज्य लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन नहीं किया ।) जिन्हें ऐसा अधर्मजनित कार्य भी, जो परस्पर बिगाड़ करनेवाला है, धर्मसंगत प्रतीत होता है, उनका यह विकृत धर्म सफल होकर ही रहेगा (अधर्मका फल है दुःख और विनाश । वह उन्हें प्राप्त होगा ही) ॥ ७ ॥

क्रियमाणे बलाद् धर्मे कुरुभिः को न संज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥

'कौरवोंके द्वारा धर्म मानकर किये जानेवाले इस बलात्कारसे किसको चिन्ता नहीं होगी । भगवान् श्रीकृष्ण संधिके प्रयत्नमें असफल होकर गये हैं; अतः पाण्डव भी अब युद्धके लिये महान् उद्योग करेंगे ॥ ८ ॥

ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन् न लभे निद्रामहःसु च निशासु च॥ ९ ॥

'इस प्रकार यह कौरवोंका अन्याय समस्त वीरोंका विनाश करनेवाला होगा । इन सब बातोंको सोचते हुए मुझे न तो दिनमें नींद आती है और न रातमें ही' ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥ १० ॥

विदुरजीने उभय पक्षके हितकी इच्छासे ही यह बात कही थी । इसे सुनकर कुन्ती दुःखसे आतुर हो उठी और लम्बी साँस खींचती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—॥ १० ॥

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ॥११॥

'अहो ! इस धनको धिक्कार है, जिसके लिये परस्पर बन्धु-बान्धवोंका यह महान् संहार किया जानेवाला है । इस युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका भी पराभव होगा ही ॥ ११ ॥

पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम्॥ १२॥

'पाण्डव, चेदि, पाञ्चाल और यादव एकत्र होकर भरतवंशियोंके साथ युद्ध करेंगे, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ?॥ १२ ॥

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथायुद्धे पराभवम्।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः ॥ १३ ॥

'युद्धमें निश्चय ही मुझे बड़ा भारी दोष दिखायी देता है; परंतु युद्ध न होनेपर भी पाण्डवोंका पराभव स्पष्ट है। निर्धन होकर मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है; परंतु बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके विजय पाना कदापि अच्छा नहीं है ॥ १३ ॥

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ॥ १४ ॥
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम।

'यह सब सोचकर मेरे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, योद्धाओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तथा कर्ण भी दुर्योधनके लिये ही युद्ध-भूमिमें उतरेंगे; अतः ये मेरे भयकी ही वृद्धि कर रहे हैं ॥ १४½ ॥

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्ध्येत जातुचित्॥१५
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः।

'आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हितकी इच्छा रखनेवाले हैं। वे अपने शिष्योंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार पितामह भीष्म भी पाण्डवोंके प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रक्खेंगे ?॥ १५½ ॥

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान्।

'परंतु यह एकमात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधनका ही अनुसरण करनेवाला है। इसीलिये यह पापात्मा सर्वदा पाण्डवोंसे द्वेष ही रखता है ॥ १६½ ॥

महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः ॥ १७ ॥
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति ॥१८॥
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम्।

'इसने सदा पाण्डवोंका बड़ा भारी अनर्थ करनेके लिये हठ ठान लिया है। साथ ही कर्ण अत्यन्त बलवान् भी है। यह बात इस समय मेरे हृदयको दग्ध किये देती है। अच्छा, आज मैं कर्णके मनको पाण्डवोंके प्रति प्रसन्न करनेके लिये उसके पास जाऊँगी और यथार्थ सम्बन्धका परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी ॥ १७-१८½ ॥

तोषितो भगवान् यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ ॥ १९ ॥
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि।
साहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तिभोजपुरस्कृता ॥ २० ॥
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम्॥ २१ ॥

'जब मैं पिताके घर रहती थी, उन्हीं दिनों अपनी सेवाओंद्वारा मैंने भगवान् दुर्वासाको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे यह वर दिया कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन करनेपर मैं किसी भी देवताको अपने पास बुला सकती हूँ। मेरे पिता कुन्तिभोज मेरा बड़ा आदर करते थे। मैं राजाके अन्तःपुरमें रहकर व्यथित हृदयसे मन्त्रोंके बलाबल और ब्राह्मणकी वाक्शक्तिके विषयमें अनेक प्रकारका विचार करने लगी ॥ १९-२१ ॥

स्त्रीभावाद् बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा ॥ २२ ॥

'स्त्री-स्वभाव और बाल्यावस्थाके कारण मैं बार-बार इस प्रश्नको लेकर चिन्तामग्न रहने लगी। उन दिनों एक विश्वस्त धाय मेरी रक्षा करती थी और सखियाँ मुझे सदा घेरे रहती थीं ॥ २२ ॥

दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्र्यरक्षिणी।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नापराधवती कथम् ॥ २३ ॥
भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च।
कौतूहलात् तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं तदा।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं ततः ॥ २४ ॥

'मैं अपने ऊपर आनेवाले सब प्रकारके दोषोंका निवारण करती हुई पिताकी दृष्टिमें अपने सदाचारकी रक्षा करती रहती थी। मैंने सोचा, क्या करूँ, जिससे मुझे पुण्य हो और मैं अपराधिनी न होऊँ। यह सोचकर मैंने मन-ही-मन उन ब्राह्मण-देवताको नमस्कार किया और उस मन्त्रको पाकर कौतूहल तथा अविवेकके कारण मैंने उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि कन्यावस्थामें ही मुझे भगवान् सूर्यदेवका संयोग प्राप्त हुआ ॥ २३-२४ ॥

योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत् परिरक्षितः।
कस्मान्न कुर्याद् वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा ॥ २५ ॥

'जो मेरा कानीन गर्भ है, इसे मैंने पुत्रकी भाँति अपने उदरमें पाला है। वह कर्ण अपने भाइयोंके हितके लिये कही हुई मेरी लाभदायक बात क्यों नहीं मानेगा ?' ॥ २५ ॥

इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम्।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ॥ २६ ॥

इस प्रकार उत्तम कर्तव्यका निश्चय करके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये एक निर्णयपर पहुँचकर कुन्ती भागीरथी गङ्गाके तटपर गयी ॥ २६ ॥

आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः।
गङ्गातीरे पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ २७ ॥

वहाँ गङ्गाके किनारे पहुँचकर कुन्तीने अपने दयालु और सत्यपरायण पुत्र कर्णके मुखसे वेदपाठकी गम्भीर ध्वनि सुनी ॥

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः ।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥ २८ ॥

वह अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था और तपस्विनी कुन्ती उसके जपकी समाप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछेकी ओर खड़ी रही ॥ २८ ॥

अतिष्ठत् सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि ।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥ २९ ॥

वृष्णिकुलनन्दिनी पाण्डुपत्नी कुन्ती वहाँ सूर्यदेवके तापसे पीड़ित हो कुम्हलाती हुई कमलमालाके समान कर्णके उत्तरीय वस्त्रकी छायामें खड़ी हो गयी ॥ २९ ॥

आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः ।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥

जबतक सूर्यदेव पीठकी ओर ताप न देने लगे (जबतक वे पूर्वसे पश्चिमकी ओर चले नहीं गये); तबतक जप करके नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला कर्ण जब पीछेकी ओर घूमा, तब कुन्तीको सामने पाकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया ॥ ३० ॥

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः ।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥ ३१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, अभिमानी और महातेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्तीको यथोचित रीतिसे प्रणाम करके मुसकराता हुआ बोला ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये ।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

कर्ण बोला—देवि ! मैं राधा तथा अधिरथका पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । आपने किस लिये यहाँतक आनेका कष्ट किया है ? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १ ॥

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ॥ २ ॥

कुन्तीने कहा—कर्ण ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो । तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुलमें नहीं उत्पन्न हुए हो । मेरी इस बातको ठीक मानो ॥ २ ॥

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः ।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥ ३ ॥

तुम कन्यावस्थामें मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो । महाराज कुन्तिभोजके घरमें रहते समय मैंने तुम्हें गर्भमें धारण किया था; अतः बेटा ! तुम पार्थ हो ॥ ३ ॥

प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः ।
अजीजनत् त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ॥ ४ ॥

कर्ण ! ये जो जगत्‌में प्रकाश और उष्णता प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्यदेव हैं, इन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम-जैसे वीर पुत्रको मेरे गर्भसे उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः ।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष पुत्र ! मैंने पिताके घरमें तुम्हें जन्म दिया था । तुम जन्मकालसे ही कुण्डल और कवच धारण किये देव-बालकके समान शोभासम्पन्न रहे हो ॥ ५ ॥

स त्वं भ्रातृनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे ।
धार्तराष्ट्रान् न तद् युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥ ६ ॥

बेटा ! तुम जो अपने भाइयोंसे अपरिचित रहकर मोहवश धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये ।
यत् तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ॥ ७ ॥

बेटा ! धर्मशास्त्रमें मनुष्योंके लिये यही धर्मका उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एक मात्र पुत्रपर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे संतुष्ट रहें ॥ ७ ॥

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः ।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने पूर्वकालमें जिसका उपार्जन किया था और दुष्टोंने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिरकी उस राज्य-लक्ष्मीको तुम धृतराष्ट्रपुत्रोंसे छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो ॥ ८ ॥

अद्य पश्यन्ति कुरवः कर्णार्जुनसमागमम् ।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ॥ ९ ॥

आज उत्तम बन्धुजनोचित स्नेहके साथ कर्ण और अर्जुनका मिलन कौरवलोग देखें और इसे देखकर दुष्टलोग नतमस्तक हों ॥ ९ ॥

कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं नु लोके स्याद् युवयोःसंहितात्मनोः॥ १० ॥

कर्ण और अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही बलशाली हैं जैसे बलराम और श्रीकृष्ण । बेटा ! तुम दोनों हृदयसे संगठित हो जाओ तो इस जगत्में तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य असाध्य होगा ? ॥ १० ॥

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥ ११ ॥

कर्ण ! जिस प्रकार महान् यज्ञकी वेदीपर देवगणोंसे घिरे हुए ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए तुम भी शोभा पाओगे ॥ ११ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥ १२ ॥

अपने श्रेष्ठ स्वभाववाले बन्धुओंके बीचमें तुम सर्वगुण-सम्पन्न ज्येष्ठ भ्राता परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो । तुम्हारे लिये सूतपुत्र शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये॥१२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटके प्रसङ्गमें एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद् भास्करेरिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सूर्यमण्डलसे एक वाणी प्रकट हुई, जो सूर्यदेवकी ही कही हुई थी । उसमें पिताके समान स्नेह भरा हुआ था और वह दुर्लङ्घ्य प्रतीत होती थी । कर्णने उसे सुना ॥ १ ॥

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ॥ २ ॥

(वह वाणी इस प्रकार थी—) 'नरश्रेष्ठ कर्ण ! कुन्ती सत्य कहती है । तुम माताकी आज्ञाका पालन करो । उसका पूर्णरूपसे पालन करनेपर तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता कुन्ती और पिता साक्षात् सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर भी उस समय सच्चे धैर्यवाले कर्णकी बुद्धि विचलित नहीं हुई ॥ ३ ॥

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ॥ ४ ॥

कर्ण बोला—राजपुत्रि ! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मेरी श्रद्धा नहीं होती । तुम्हारी इस आज्ञाका पालन करना मेरे लिये धर्मका द्वार है, इसपर भी मैं विश्वास नहीं करता ॥ ४ ॥

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद् यशःकीर्तिनाशनम् ॥५॥

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है । माता ! तुमने जो मुझे पानीमें फेंक दिया, वह मेरे लिये यश और कीर्तिका नाशक बन गया ॥ ५ ॥

अहं चेत् क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाहितम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था तो भी तुम्हारे कारण क्षत्रियोचित संस्कारसे वञ्चित रह गया । कोई शत्रु भी मेरा इससे बढ़कर कष्टदायक एवं अहितकारक कार्य और क्या कर सकता है ? ॥ ६ ॥

क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ॥ ७ ॥

जब मेरे लिये कुछ करनेका अवसर था, उस समय तो तुमने यह दया नहीं दिखायी और आज जब मेरे संस्कार-का समय बीत गया है, ऐसे समयमें तुम मुझे क्षात्रधर्मकी ओर प्रेरित करने चली हो ॥ ७ ॥

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥ ८ ॥

पूर्वकालमें तुमने माताके समान मेरे हितकी चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हितकी कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्यका उपदेश दे रही हो ॥ ८ ॥

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनंजयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितिं गतम् ॥

श्रीकृष्णके साथ मिले हुए अर्जुनसे आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता ? यदि इस समय मैं पाण्डवोंकी सभामें सम्मिलित हो जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा ? ॥ ९ ॥

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥

आजसे पहले मुझे कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवों-

का भाई हूँ । युद्धके समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकाशमें आया है । इस समय यदि पाण्डवोंसे मिल जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा ? ॥ १० ॥

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम् ।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मुझे सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दी हैं और मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है । उनके उस उपकारको मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते ।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ॥ १२ ॥
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम् ।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे वैर बाँधकर जो नित्य मेरी उपासना करते हैं तथा जैसे वसुगण इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार जो सदा मुझे मस्तक झुकाते हैं, मेरी ही प्राणशक्तिके भरोसे जो शत्रुओंके सामने डटकर खड़े होनेका साहस करते हैं और इसी आशासे जो मेरा आदर करते हैं, उनके मनोरथको मैं छिन्न-भिन्न कैसे करूँ ? ॥ १२-१३ ॥

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम् ।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥ १४ ॥

जो मुझको ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य समरसागरको पार करना चाहते हैं और मेरे ही भरोसे अपार संकटसे पार होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस संकट-के समयमें कैसे त्याग दूँ ? ॥ १४ ॥

अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम् ।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ १५ ॥

दुर्योधनके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेवालोंके लिये यही उपकारका बदला चुकानेके योग्य अवसर आया है । इस समय मुझे अपने प्राणोंकी रक्षा न करते हुए उनके ऋणसे उऋण होना है ॥ १५ ॥

कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते ।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ॥ १६ ॥
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम् ।
नैवायं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ॥ १७ ॥

जो किसीके द्वारा अच्छी तरह पालित-पोषित होकर कृतार्थ होते हैं; परंतु उस उपकारका बदला चुकाने योग्य समय आनेपर जो अस्थिरचित्त पापात्मा पुरुष पूर्वकृत उपकारोंको न देखकर बदल जाते हैं, वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले तथा उपकारी राजाके प्रति अपराधी हैं । उन पापाचारी कृतघ्नोंके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही ॥ १६-१७ ॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः ।
बलं च शक्तिं चास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥ १८ ॥

मैं तुमसे झूठ नहीं बोलता । धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये मैं अपनी शक्ति और बलके अनुसार तुम्हारे पुत्रोंके साथ युद्ध अवश्य करूँगा ॥ १८ ॥

आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितम् ।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ १९ ॥

परंतु उस दशामें भी दयालुता तथा सज्जनोचित सदाचार-की रक्षा करता रहूँगा । इसीलिये लाभदायक होते हुए भी तुम्हारे इस आदेशको आज मैं नहीं मानूँगा ॥ १९ ॥

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति ।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते ।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥ २१ ॥

परंतु मेरे पास आनेका जो कष्ट तुमने उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं होगा । संग्राममें तुम्हारे चार पुत्रोंको काबूके अंदर तथा वधके योग्य अवस्थामें पाकर भी मैं नहीं मारूँगा । वे चार हैं, अर्जुनको छोड़कर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव । युधिष्ठिरकी सेनामें अर्जुनके साथ ही मेरा युद्ध होगा ॥ २०-२१ ॥

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया ।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥ २२ ॥

अर्जुनको युद्धमें मार देनेपर मुझे संग्रामका फल प्राप्त हो जायगा अथवा स्वयं ही सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारा जाकर मैं यशका भागी बनूँगा ॥ २२ ॥

न ते जातु नशिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि ।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २३ ॥

यशस्विनि ! किसी भी दशामें तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे । यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे ॥२३॥

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती ।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ॥ २४ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर कुन्ती धैर्यसे विचलित न होने-वाले अपने पुत्र कर्णको हृदयसे लगाकर दुःखसे काँपती हुई बोली—॥ २४ ॥

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

'कर्ण ! दैव बड़ा बलवान् है । तुम जैसा कहते हो वैसा ही हो । इस युद्धके द्वारा कौरवोंका संहार होगा ॥ २५ ॥

त्वया चतुर्णां भ्रातृणामभयं शत्रुकर्शन ।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन ! तुमने अपने चार भाइयोंको अभयदान दिया है । युद्धमें उन्हें छोड़ देनेकी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहना ॥

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥

'तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो।' इस प्रकार जब कुन्तीने कर्णसे कहा, तब कर्णने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली । फिर वे दोनों पृथक्-पृथक् अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यमें आकर पाण्डवोंसे वहाँका सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥

सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ॥ २ ॥

दीर्घकालतक बातचीत करके बारंबार गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण विश्रामके लिये अपने वासस्थानको गये ॥ २ ॥

विसृज्य सर्वान् नृपतीन् विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ॥ ३ ॥
संध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर पाँचों भाई पाण्डव विराट आदि सब राजाओंको विदा करके संध्योपासना करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णमें ही मन लगाकर कुछ कालतक उन्हींका ध्यान करते रहे । फिर दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णको बुलाकर वे उनके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—कमलनयन ! आपने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे क्या कहा, यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैंने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यथार्थ लाभदायक और हितकर बात कही थी; परंतु वह दुर्बुद्धि उसे स्वीकार ही नहीं करता था ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान् हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—हृषीकेश ! दुर्योधनके कुमार्गका आश्रय लेनेपर कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने ईर्ष्या और अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे क्या कहा ? ॥ ७ ॥

आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ॥ ८ ॥

महाभाग ! भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोणने उस समय

क्या कहा ? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारीने भी दुर्योधनसे उस समय क्या बात कही ? ॥ ८ ॥

पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

हमारे छोटे चाचा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुरने भी, जो हम पुत्रोंके शोकसे सदा संतप्त रहते हैं, दुर्योधनसे क्या कहा ? ९

किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते।
उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ॥ १० ॥

जनार्दन ! इसके सिवा जो समस्त राजालोग सभामें बैठे थे, उन्होंने अपना विचार किस रूपमें प्रकट किया ? आप इन सब बातोंको ठीक-ठीक बताइये ॥ १०॥

उक्तवान् हि भवान् सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः।
धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ॥ ११ ॥
कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः।
अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ॥ १२ ॥

कृष्ण ! आपने कौरवसभामें निश्चय ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म और धृतराष्ट्रके समीप सब बातें कह दी थीं। परंतु आपकी और उनकी उन सब बातोंको मेरे लिये हितकर होनेके कारण अपने लिये अप्रिय मानकर सम्भवतः काम और लोभसे अभिभूत मूर्ख एवं पण्डितमानी दुर्योधन अपने हृदयमें स्थान नहीं देता ॥ ११-१२ ॥

तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो।
यथा च नाभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु।
भवान् हि नो गतिः कृष्ण भवान् नाथो भवान् गुरुः ॥

गोविन्द ! मैं उन सबकी कही हुई बातोंको सुनना चाहता हूँ। तात ! ऐसा कीजिये, जिससे हमलोगोंका समय व्यर्थ न बीते। श्रीकृष्ण ! आप ही हमलोगोंके आश्रय, आप ही रक्षक तथा आप ही गुरु हैं ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु राजन् यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः।
मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजेन्द्र ! मैंने कौरवसभामें राजा दुर्योधनसे जिस प्रकार बातें की हैं, वह बताता हूँ; सुनिये १४

मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः।
अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

मैंने जब अपनी बात दुर्योधनसे सुनायी, तब वह हँसने लगा। यह देख भीष्मजी अत्यन्त कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद् ब्रवीमि ते।
तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ॥ १६ ॥

'दुर्योधन ! मैं अपने कुलके हितके लिये तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। नृपश्रेष्ठ ! उसे सुनकर अपने कुलका हितसाधन करो ॥ १६ ॥

मम तात पिता राजन् शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
तस्याहमेक एवासं पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ १७ ॥

'तात ! मेरे पिता शान्तनु विश्वविख्यात नरेश थे, जो पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे। राजन् ! मैं उनका इकलौता पुत्र था ॥ १७ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात् कथं सुतः।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८ ॥

'अतः उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे दूसरा पुत्र कैसे हो ? क्योंकि मनीषी पुरुष एक पुत्रवालेको पुत्रहीन ही बताते हैं ॥ १८ ॥

न चोच्छेदं कुलं यायाद् विस्तीर्येच्च कथं यशः।
तस्याहमीप्सितं बुद्ध्वा कालीं मातरमावहम् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २० ॥

'किस प्रकार इस कुलका उच्छेद न हो और इसके यशका सदा विस्तार होता रहे'—उनकी आन्तरिक इच्छा जानकर मैं कुलकी भलाई और पिताकी प्रसन्नताके लिये राजा न होने और जीवनभर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहनेकी दुष्कर प्रतिज्ञा करके माता काली (सत्यवती) को ले आया। ये सारी बातें तुमको अच्छी तरह ज्ञात हैं। मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन करता हुआ सदा प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करता हूँ ॥ १९-२० ॥

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान् कुरुकुलोद्वहः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान् मम पार्थिव ॥ २१॥

'राजन् ! सत्यवतीके गर्भसे कुरुकुलका भार वहन करनेवाले धर्मात्मा महाबाहु श्रीमान् विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए, जो मेरे छोटे भाई थे ॥ २१ ॥

स्वर्याते ऽहं पितरि तं स्वराज्ये संन्यवेशयम्।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ॥ २२ ॥

'पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर मैंने अपने राज्यपर राजा विचित्रवीर्यको ही बिठाया और स्वयं उनका सेवक होकर राज्यसिंहासनसे नीचे खड़ा रहा ॥ २२ ॥

तस्याहं सदृशान् दारान् राजेन्द्र समुपाहरम्।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ॥ २३ ॥

'राजेन्द्र ! उनके लिये राजाओंके समूहको जीतकर मैंने योग्य पत्नियाँ ला दीं। यह वृत्तान्त भी तुमने बहुत बार सुना होगा ॥ २३ ॥

ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।
स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ॥ २४ ॥

'तदनन्तर एक समय मैं परशुरामजीके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिये समरभूमिमें उतरा । उन दिनों परशुरामजीके भयसे यहाँके नागरिकोंने राजा विचित्रवीर्यको इस नगरसे दूर हटा दिया था ॥ २४ ॥

दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाभ्यधावन् मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ॥ २५ ॥

'वे अपनी पत्नियोंमें अधिक आसक्त होनेके कारण राजयक्ष्माके रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये । तब बिना राजाके राज्यमें देवराज इन्द्रने वर्षा बंद कर दी, उस दशामें सारी प्रजा क्षुधाके भयसे पीड़ित हो मेरे ही पास दौड़ी आयी ॥'

प्रजा ऊचुः

उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ॥ २६ ॥

प्रजा बोली—शान्तनुके कुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! आपका कल्याण हो । राज्यकी सारी प्रजा क्षीण होती चली जा रही है । आप हमारे अभ्युदयके लिये राजा होना स्वीकार करें और अनावृष्टि आदि ईतियोंका भय दूर कर दें ॥ २६ ॥

पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ॥ २७ ॥

गङ्गानन्दन ! आपकी सारी प्रजा अत्यन्त भयंकर रोगोंसे पीडित है । प्रजाओंमेंसे बहुत थोड़े लोग जीवित बचे हैं । अतः आप उन सबकी रक्षा करें ॥ २७ ॥

व्याधीन् प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ॥ २८ ॥

वीर ! आप रोगोंको हटावें और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें । आपके जीते-जी इस राज्यका विनाश न हो जाय ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद् वृत्तं स्मरतस्तथा ॥ २९ ॥

भीष्म कहते हैं—प्रजाओंकी यह करुण पुकार सुनकर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा और सदाचारका स्मरण करके मेरा मन क्षुब्ध नहीं हुआ ॥ २९ ॥

ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ।
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसंतप्ता भव राजेति संततम् ॥ ३० ॥
प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर मेरी कल्याणमयी माता सत्यवती, पुरवासी, सेवक, पुरोहित, आचार्य और बहुश्रुत ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त हो मुझसे बार-बार कहने लगे—'तुम्हीं राजा होओ, नहीं तो महाराज प्रतीपके द्वारा सुरक्षित राष्ट्र तुम्हारे निकट पहुँचकर नष्ट हो जायगा । अतः महामते ! तुम हमारे हितके लिये राजा हो जाओ' ॥ ३०-३१ ॥

इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ॥ ३२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मैं अत्यन्त आतुर और दुखी हो गया और मैंने हाथ जोड़कर उन सबसे पिताके महत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर की हुई प्रतिज्ञाके विषयमें निवेदन किया ॥

ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्यार्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च धुरि मा मां नियोजय ॥ ३३ ॥

फिर माता सत्यवतीसे कहा—'माँ ! मैंने इस कुलकी वृद्धिके लिये और विशेषतः तुम्हें ही यहाँ ले आनेके लिये राजा न होने और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहनेकी बारंबार प्रतिज्ञा की है । अतः तुम इस राज्यका बोझ सँभालनेके लिये मुझे नियुक्त न करो' ॥ ३३ ॥

ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ॥ ३४ ॥
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन् पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ॥ ३५ ॥
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाद्य सुतवत्सले ।

राजन् ! तत्पश्चात् पुनः हाथ जोड़कर माताको प्रसन्न करनेके लिये मैंने विनयपूर्वक कहा—'अम्ब ! मैं राजा शान्तनुसे उत्पन्न होकर कौरववंशकी मर्यादाका वहन करता हूँ । अतः अपनी की हुई प्रतिज्ञाको झूठी नहीं कर सकता ।' यह बात मैंने बार-बार दुहरायी । इसके बाद फिर कहा—'पुत्रवत्सले ! विशेषतः तुम्हारे ही लिये मैंने यह प्रतिज्ञा की थी । मैं तुम्हारा सेवक और दास हूँ (मुझसे वह प्रतिज्ञा तोड़नेके लिये न कहो)' ॥ ३४-३५½ ॥

एवं तामनुनीयाहं मातरं जनमेव च ॥ ३६ ॥
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ॥ ३७ ॥
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन् स पुत्रानजनयत् तदा भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

महाराज ! इस प्रकार माता तथा अन्य लोगोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल करके माताके सहित मैंने महामुनि व्यासको प्रसन्न करके भाईकी स्त्रियोंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उनसे प्रार्थना की । भरतकुलभूषण ! महर्षिने कृपा की और उन स्त्रियोंसे तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३६–३८ ॥

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥ ३९ ॥

तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः नेत्रेन्द्रियसे हीन होनेके कारण राजा न हो सके। तब लोकविख्यात महामना पाण्डु इस देशके राजा हुए ॥ ३९ ॥

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्यार्धं प्रदीयताम् ॥ ४० ॥

पाण्डु राजा थे और उनके पुत्र पाण्डव पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं। अतः वत्स दुर्योधन! तुम कलह न करो। आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो ॥ ४० ॥

मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत् पुमानिह।
मावमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ॥ ४१ ॥

मेरे जीते-जी मेरी इच्छाके विरुद्ध दूसरा कौन पुरुष यहाँ राज्य-शासन कर सकता है? ऐसा समझकर मेरे कथनकी अवहेलना न करो। मैं सदा तुमलोगोंमें शान्ति बनी रहनेकी शुभ कामना करता हूँ ॥ ४१ ॥

न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव।
मतमेतत् पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ॥ ४२ ॥

राजन्! मेरे लिये तुममें और पाण्डवोंमें कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे पिताका, गान्धारीका और विदुरका भी यही मत है ॥ ४२ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाभिशङ्कीर्वचो मम।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ॥ ४३ ॥

तुम्हें बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुननी चाहिये। मेरी बातपर शङ्का न करो, नहीं तो तुम सबको, अपनेको और इस भूतलको भी नष्ट कर दोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन

वासुदेव उवाच

भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। भीष्मजीकी बात समाप्त होनेपर प्रवचन करनेमें समर्थ द्रोणाचार्यने राजाओंके बीचमें दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्यार्थे यथा स्थितः।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्यार्थे स्थितोऽभवत् ॥ २ ॥
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ॥ ३ ॥

'तात! जैसे प्रतीपपुत्र शान्तनु इस कुलकी भलाईमें ही लगे रहे, जैसे देवव्रत भीष्म इस कुलकी वृद्धिके लिये ही यहाँ स्थित हैं, उसी प्रकार सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय राजा पाण्डु भी रहे हैं। वे कुरुकुलके राजा होते हुए भी सदा धर्ममें ही मन लगाये रहते थे। वे उत्तम व्रतके पालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ॥ २-३ ॥

ज्येष्ठाय राज्यमददाद् धृतराष्ट्राय धीमते।
यवीयसे तथा क्षत्त्रे कुरूणां वंशवर्धनः ॥ ४ ॥

'कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले पाण्डुने अपने बड़े भाई बुद्धिमान् धृतराष्ट्रको तथा छोटे भाई विदुरको अपना राज्य धरोहररूपसे दिया ॥ ४ ॥

ततः सिंहासने राजन् स्थापयित्वैनमच्युतम्।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ॥ ५ ॥

'राजन्! कुरुकुलरत्न पाण्डुने अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले धृतराष्ट्रको सिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वनको प्रस्थान किया था ॥ ५ ॥

नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत्।
प्रेष्यवत् पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर पुरुषसिंह विदुर सेवककी भाँति नीचे खड़े होकर चँवर डुलाते हुए विनीतभावसे धृतराष्ट्रकी सेवामें रहने लगे ॥ ६ ॥

ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
अन्वपद्यन्त विधिवद् यथा पाण्डुं जनाधिपम् ॥ ७ ॥

'तात! तदनन्तर सारी प्रजा जैसे राजा पाण्डुके अनुगत रहती थी, उसी प्रकार विधिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रके अधीन रहने लगी ॥ ७ ॥

विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं सविदुराय च।
चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डु विदुरसहित धृतराष्ट्रको अपना राज्य सौंपकर सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

कोशसंवनने दाने भृत्यानां चान्ववेक्षणे।
भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ॥ ९ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ विदुर कोषको सँभालने, दान देने, भृत्यवर्गकी देख-भाल करने तथा सबके भरण-पोषणके कार्यमें संलग्न रहते थे ॥ ९ ॥

संधिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः।
अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥

'शत्रु-नगरीको जीतनेवाले महातेजस्वी भीष्म संधि-विग्रहके कार्यमें संयुक्त हो राजाओंसे सेवा और कर आदि लेनेका काम सँभालते थे ॥ १० ॥

सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः।
अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ॥ ११ ॥

'महाबली राजा धृतराष्ट्र केवल सिंहासनपर बैठे रहते और महात्मा विदुर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ११ ॥

कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि।
सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुङ्क्ष्व भोगान् जनाधिप॥ १२॥

'उन्हींके वंशमें उत्पन्न होकर तुम इस कुलमें फूट क्यों डालते हो ? राजन् ! भाइयोंके साथ मिलकर मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करो ॥ १२ ॥

ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नार्थहेतोः कथंचन।
भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ॥ १३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं दीनतासे या धन पानेके लिये किसी प्रकार कोई बात नहीं कहता हूँ। मैं भीष्मका दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं ॥ १३ ॥

नाहं त्वत्तोऽभिकाङ्क्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप।
यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद् भीष्मस्त्वाह तत् कुरु॥ १४॥

'जनेश्वर ! मैं तुमसे कोई जीविकाका साधन प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करूँगा। जहाँ भीष्म हैं, वहीं द्रोण हैं। जो भीष्म कहते हैं, उसका पालन करो ॥ १४ ॥

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन।
सममाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ॥ १५ ॥

'शत्रुसूदन ! तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। तात ! मेरा यह आचार्यत्व तुम्हारे और पाण्डवोंके लिये सदा समान है॥

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १६ ॥

'मेरे लिये जैसा अश्वत्थामा है वैसा ही श्वेत घोड़ोंवाला अर्जुन भी है। अधिक बकवाद करनेसे क्या लाभ ? जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय निश्चित है' ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते महाराज द्रोणेनामिततेजसा।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—महाराज ! अमिततेजस्वी द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर सत्यप्रतिज्ञ धर्मज्ञ विदुरने ज्येष्ठ पिता भीष्मकी ओर घूमकर उनके मुँहकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा ॥ १७ ॥

विदुर उवाच

देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः।
प्रणष्टः कौरवो वंशस्त्वयायं पुनरुद्धृतः ॥ १८ ॥

विदुर बोले—देवव्रतजी ! मेरी यह बात सुनिये। यह कौरववंश नष्ट हो चला था, जिसका आपने पुनः उद्धार किया था ॥ १८ ॥

तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन् कुलपांसनः ॥ १९ ॥
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे।
अनार्यस्याकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ॥ २० ॥

मैं भी उसी वंशकी रक्षाके लिये विलाप कर रहा हूँ; परंतु न जाने क्यों आप मेरे कथनकी उपेक्षा कर रहे हैं। मैं पूछता हूँ, यह कुलाङ्गार दुर्योधन इस कुलका कौन है ? जिसके लोभके वशीभूत होनेपर भी आप उसकी बुद्धिका अनुसरण कर रहे हैं। लोभने इसकी विवेकशक्ति हर ली है। इसकी बुद्धि दूषित हो गयी है तथा यह पूरा अनार्य बन गया है ॥ १९-२० ॥

अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ॥ २१ ॥

यह शास्त्रकी आज्ञाका तो उल्लङ्घन करता ही है। धर्म और अर्थपर दृष्टि रखनेवाले अपने पिताकी भी बात नहीं मानता है। निश्चय ही एकमात्र दुर्योधनके कारण ये समस्त कौरव नष्ट हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ॥ २२ ॥
चित्रकार इवालेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि।

महाराज ! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका नाश न हो। महामते ! जैसे चित्रकार किसी चित्रको बनाकर एक जगह रख देता है, उसी प्रकार आपने मुझको और धृतराष्ट्रको पहलेसे ही निकम्मा बनाकर रख दिया है ॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ॥ २३ ॥
नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम्।

महाबाहो ! जैसे प्रजापति प्रजाकी सृष्टि करके पुनः उसका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने कुलका विनाश देखकर उसकी उपेक्षा न कीजिये ॥ २३½ ॥

अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ २४ ॥
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह।

यदि इन दिनों विनाशकाल उपस्थित होनेके कारण आपकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो तो मेरे और धृतराष्ट्रके साथ वनमें पधारिये ॥ २४½ ॥

बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ २५ ॥

शाधीदं राज्यमद्याशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।

अथवा जिसकी बुद्धि सदा छल-कपटमें ही लगी रहती है उस परम दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको शीघ्र ही बाँधकर पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित इस राज्यका शासन कीजिये ॥२५½॥

प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विररामैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये । पाण्डवों, कौरवों तथा अमित-तेजस्वी राजाओंका महान् विनाश दृष्टिगोचर हो रहा है । ऐसा कहकर दीनचित्त विदुरजी चुप हो गये और विशेष चिन्तामें मग्न होकर उस समय बार-बार लंबी साँसें खींचने लगे ॥ २६-२७ ॥

ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री
धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं
राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ॥ २८ ॥

तदनन्तर राजा सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने कुलके विनाशसे भयभीत हो क्रूर स्वभाववाले पापबुद्धि पुत्र दुर्योधन-से समस्त राजाओंके समक्ष क्रोधपूर्वक यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोली—॥ २८ ॥

ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा
ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवापराधं
पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ॥ २९ ॥

'जो-जो राजा, ब्रह्मर्षि तथा अन्य सभासद् इस राजसभाके भीतर आये हैं, वे सब लोग मन्त्री और सेवकोंसहित तुझ पापी दुर्योधनके अपराधोंको सुनें । मैं वर्णन करती हूँ ॥

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं
क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्
राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि ॥ ३० ॥

'हमारे यहाँ परम्परासे चला आनेवाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व अधिकारीके क्रमसे उपभोगमें आवे (अर्थात् पहले पिताके अधिकारमें रहे, फिर पुत्रके, पिताके जीते-जी पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता); परंतु अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधन ! तू अपने अन्यायसे इस कौरवराज्यका विनाश कर रहा है ॥ ३० ॥

राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी
तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृपत्वं
दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ॥ ३१ ॥

'इस राज्यपर अधिकारीके रूपमें परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्र और उनके छोटे भाई दूरदर्शी विदुर स्थापित किये गये थे । दुर्योधन ! इन दोनोंका उल्लङ्घन करके तू आज मोहवश अपना प्रभुत्व कैसे जमाना चाहता है ॥ ३१ ॥

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ
भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा
न कामयेद् यो नृवरो नदीजः ॥ ३२ ॥

'राजा धृतराष्ट्र और विदुर—ये दोनों महानुभाव भी भीष्म-के जीते-जी पराधीन ही रहेंगे (भीष्मके रहते इन्हें राज्य लेनेका कोई अधिकार नहीं है); परंतु धर्मज्ञ होनेके कारण ये नरश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन राज्य लेनेकी इच्छा ही नहीं रखते हैं ॥ ३२ ॥

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं
तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां
पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥ ३३ ॥

'वास्तवमें यह दुर्धर्ष राज्य महाराज पाण्डुका है । उन्हींके पुत्र इसके अधिकारी हो सकते हैं, दूसरे नहीं । अतः यह सारा राज्य पाण्डवोंका है; क्योंकि बाप-दादोंका राज्य पुत्र-पौत्रोंके पास ही जाता है ॥ ३३ ॥

यद् वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा
देवव्रतः सत्यसंधो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं
राज्यं स्वधर्मान् परिपालयद्भिः॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्मका पालन करनेवाले हम सब लोगोंको बिना काट-छाँट किये पूर्णरूपसे मान लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

अनुज्ञया चाथ महाव्रतस्य
ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत् तत् सुहृद्भिर्नियोज्यं
धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ॥ ३५ ॥

'अथवा इन महान् व्रतधारी भीष्मजीकी आज्ञासे यह राजा धृतराष्ट्र तथा विदुर भी इस विषयमें कुछ कह सकते हैं और अन्य सुहृदोंको भी धर्मको सामने रखते हुए उसीका सुदीर्घ कालतक पालन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ॥ ३६ ॥

'कौरवोंके इस न्यायतः प्राप्त राज्यका धर्मपुत्र युधिष्ठिर ही शासन करें और वे राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मसे कर्तव्यकी शिक्षा लेते रहें' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु गान्धार्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! गान्धारीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने समस्त राजाओंके बीच दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
तथा तत् कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ॥ २ ॥

'बेटा दुर्योधन! मेरी यह बात सुन। तेरा कल्याण हो। यदि तेरे मनमें पिताके लिये कुछ भी गौरव है तो तुझसे जो कुछ कहूँ, उसका पालन कर ॥ २ ॥

सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः ।
सोमाद् बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ३ ॥

'सबसे पहले प्रजापति सोम हुए, जो कौरववंशकी वृद्धिके आदि कारण हैं। सोमसे छठी पीढ़ीमें नहुषपुत्र ययातिका जन्म हुआ ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत् प्रभुः ॥ ४ ॥
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः ।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ५ ॥

'ययातिके पाँच पुत्र हुए, जो सब-के-सब श्रेष्ठ राजर्षि थे। उनमें महातेजस्वी एवं शक्तिशाली ज्येष्ठ पुत्र यदु थे और सबसे छोटे पुत्रका नाम पूरु हुआ, जिन्होंने हमारे इस वंशकी वृद्धि की है। वे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥ ४-५ ॥

यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत् ।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्यामिततेजसः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! यदु देवयानीके पुत्र थे। तात! वे अमित तेजस्वी शुक्राचार्यके दौहित्र लगते थे ॥ ६ ॥

यादवानां कुलकरो बलवान् वीर्यसम्मतः ।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ॥ ७ ॥

'वे बलवान्, उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न एवं यादवोंके वंश-प्रवर्तक हुए थे। उनकी बुद्धि बड़ी मन्द थी और उन्होंने घमंडमें आकर समस्त क्षत्रियोंका अपमान किया था ॥ ७ ॥

न चातिष्ठत् पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातॄंश्चाप्यपराजितः ॥ ८ ॥

'बलके घमंडसे वे इतने मोहित हो रहे थे कि पिताके आदेशपर चलते ही नहीं थे। किसीसे पराजित न होनेवाले यदु अपने भाइयों और पिताका भी अपमान करते थे ॥ ८ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाभवद् बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन् न्यवसन्नागसाह्वये ॥ ९ ॥

'चारों समुद्र जिसके अन्तमें हैं, उस भूमण्डलमें यदु ही सबसे अधिक बलवान् थे। वे समस्त राजाओंको वशमें करके हस्तिनापुरमें निवास करते थे ॥ ९ ॥

तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ॥ १० ॥

'गान्धारीपुत्र! यदुके पिता नहुषनन्दन ययातिने अत्यन्त कुपित होकर यदुको शाप दे दिया और उन्हें राज्यसे भी उतार दिया ॥ १० ॥

ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ॥ ११ ॥

'अपने बलका घमंड रखनेवाले जिन-जिन भाइयोंने यदु-का अनुसरण किया, ययातिने कुपित होकर अपने उन पुत्रों-को भी शाप दे दिया ॥ ११ ॥

यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ॥ १२ ॥

'तदनन्तर अपने अधीन रहनेवाले आज्ञापालक छोटे पुत्र पूरुको नृपश्रेष्ठ ययातिने राज्यपर बिठाया ॥ १२ ॥

एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ॥ १३ ॥

'इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अहंकारी हो तो उसे राज्यकी प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे राज्य पानेके अधिकारी हो जाते हैं ॥

तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।
प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार मेरे पिताके पितामह राजा प्रतीप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ॥ १५ ॥

'धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए नृपप्रवर प्रतीपके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके समान तेजस्वी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ॥ १६ ॥

'तात ! उन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ थे देवापि । उनके बादवाले राजकुमारका नाम बाह्लीक था तथा प्रतीपके तीसरे पुत्र मेरे धैर्यवान् पितामह शान्तनु थे ॥ १६ ॥

देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥ १७ ॥
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयंगमः ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ देवापि महान् तेजस्वी होते हुए भी चर्मरोगसे पीड़ित थे । वे धार्मिक, सत्यवादी, पिताकी सेवामें तत्पर, साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा नगर एवं जनपद-निवासियोंके लिये आदरणीय थे । देवापिने बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था ॥ १७-१८ ॥

वदान्यः सत्यसंधश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥ १९ ॥

'वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे । पिता तथा ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार चलते थे ॥ १९ ॥

बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

'वे बाह्लीक तथा महात्मा शान्तनुके प्रिय बन्धु थे । परस्पर संगठित रहनेवाले उन तीनों महामना बन्धुओंका परस्पर अच्छे भाईका-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव था ॥ २० ॥

अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥ २१ ॥

'तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर बूढ़े नृपश्रेष्ठ प्रतीपने शास्त्रीय विधिके अनुसार राज्याभिषेकके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराया ॥

कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।

'उन्होंने देवापिके मङ्गलके लिये सभी आवश्यक कृत्य सम्पन्न कराये; परंतु उस समय सब ब्राह्मणों तथा वृद्ध पुरुषोंने नगर और जनपदके लोगोंके साथ आकर देवापिका राज्याभिषेक रोक दिया ॥ २२½ ॥

स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम् ॥ २३ ॥

'किंतु राज्याभिषेक रोकनेकी बात सुनकर राजा प्रतीपका गला भर आया और वे अपने पुत्रके लिये शोक करने लगे ॥

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसंधश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ॥ २४ ॥

'इस प्रकार यद्यपि देवापि उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाओंके प्रिय थे, तथापि पूर्वोक्त चर्मरोगके कारण दूषित मान लिये गये ॥ २४ ॥

हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ॥ २५ ॥

'जो किसी अङ्गसे हीन हो उस राजाका देवतालोग अभिनन्दन नहीं करते हैं; इसीलिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नृपप्रवर प्रतीपको देवापिका अभिषेक करनेसे मना कर दिया था ॥

ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥ २६ ॥

'इससे राजाको बड़ा कष्ट हुआ । वे पुत्रके लिये शोकमग्न हो गये । राजाको रोका गया देखकर देवापि वनमें चले गये ॥ २६ ॥

बाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन् परित्यज्य प्राप्तवान् परमर्द्धिमत् ॥ २७ ॥

'बाह्लीक परम समृद्धिशाली राज्य तथा पिता और भाइयोंको छोड़कर मामाके घर चले गये ॥ २७ ॥

बाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन् राजा राज्यमकारयत् ॥ २८ ॥

'राजन् ! तदनन्तर पिताकी मृत्यु होनेके पश्चात् बाह्लीककी आज्ञा लेकर लोकविख्यात राजा शान्तनुने राज्यका शासन किया ॥ २८ ॥

तथैवाहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ॥ २९ ॥

'भारत ! इसी प्रकार मैं भी अङ्गहीन था; इसलिये ज्येष्ठ होनेपर भी बुद्धिमान् पाण्डु एवं प्रजाजनोंके द्वारा खूब सोच-विचारकर राज्यसे वञ्चित कर दिया गया ॥ २९ ॥

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन् नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिंदम ॥ ३० ॥

'पाण्डुने अवस्थामें छोटे होनेपर भी राज्य प्राप्त किया और वे एक अच्छे राजा बनकर रहे हैं । शत्रुदमन दुर्योधन! पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्रोंका ही यह राज्य है ॥

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥ ३१ ॥

'मैं तो राज्यका अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य लेना चाहता है ? जो राजाका पुत्र नहीं है, वह उसके राज्यका स्वामी नहीं हो सकता । तू पराये धनका अपहरण करना चाहता है ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा
न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य।
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता
प्रशासिता चैव महानुभावः॥ ३२॥

'महात्मा युधिष्ठिर राजाके पुत्र हैं, अतः न्यायतः प्राप्त हुए इस राज्यपर उन्हींका अधिकार है। वे ही इस कौरव-कुलका भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी तथा इस राज्यके शासक हैं। उनका प्रभाव महान् है॥ ३२॥

स सत्यसंधः स तथाप्रमत्तः
शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी
जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता॥ ३३॥

'वे सत्यप्रतिज्ञ और प्रमादरहित हैं। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते और भाई-बन्धुओंपर सद्भाव रखते हैं। युधिष्ठिरपर प्रजावर्गका विशेष प्रेम है। वे अपने सुहृदोंपर कृपा करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सज्जनोंका पालन-पोषण करनेवाले हैं॥

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च
सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च
युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः॥ ३४॥

'क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम, सरलता, सत्य-परायणता, शास्त्रज्ञान, प्रमादशून्यता, समस्त प्राणियोंपर दयाभाव तथा गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना आदि समस्त राजोचित गुण युधिष्ठिरमें विद्यमान हैं॥ ३४॥

अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो
लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां
हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत॥ ३५॥

'तू राजाका पुत्र नहीं है। तेरा बर्ताव भी दुष्टोंके समान है। तू लोभी तो है ही, बन्धु-बान्धवोंके प्रति सदा पापपूर्ण विचार रखता है। दुर्विनीत! यह परम्परागत राज्य दूसरोंका है। तू कैसे इसका अपहरण कर सकेगा?॥ ३५॥

प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः
सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य
सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र॥ ३६॥

नरेन्द्र! तू मोह छोड़कर वाहनों और अन्यान्य सामग्रियों-सहित (कम-से-कम) आधा राज्य पाण्डवोंको दे दे। तभी अपने छोटे भाइयोंके साथ तेरा जीवन बचा रह सकता है'॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४९॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ॥ १॥

अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः॥ २॥

वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये॥

आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः॥ ३॥

ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओंको यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षेत्रको चलो। आज पुष्य नक्षत्र है॥ ३॥

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः॥ ४॥

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्मको सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकोंसहित वहाँसे चल दिये हैं॥ ४॥

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत॥ ५॥

कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। उन सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके साथ सुशोभित हो रहे हैं॥ ५॥

यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च॥ ६॥

गान्धार्या धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो । भारत ! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं । राजन् ! यही वहाँका वृत्तान्त है ॥ ६-७ ॥

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥ ८ ॥

राजन् ! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे ॥ ८ ॥

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥ ९ ॥

जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की) । पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया ॥ ९ ॥

यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥ १० ॥

जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया ॥ १० ॥

अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥ ११ ॥

भारत ! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया ॥ ११ ॥

निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत् ॥ १३ ॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥ १४ ॥

समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिको बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्त मन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय ॥ १२–१४ ॥

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥ १५ ॥
प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥ १६ ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥ १७ ॥

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं, तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं । वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें । राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही है, वैसा ही करो । सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे । तुम पाण्डवोंको पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवोंका भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है ॥ १५–१७ ॥

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥ १८ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया । अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोगकी ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है ॥ १८ ॥

निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १९ ॥

सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं । राजन् ! कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ १९ ॥

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे । उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

(सैन्यनिर्याणपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डव-सेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्ममें ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌के सामने ही अपने भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥ २ ॥

'कौरवसभामें जो कुछ हुआ है वह सब वृत्तान्त तुमलोगोंने सुन लिया । फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी तरह समझ लिया होगा ॥ २ ॥

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥ ३ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो ! अब तुमलोग भी अपनी सेनाका विभाग करो । ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी हैं, जो अवश्य ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ॥ ३ ॥

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ४ ॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥ ५ ॥

'इन सातों अक्षौहिणियोंके जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनो । द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन । ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीरका भी त्याग कर देनेको उद्यत हैं; अतः ये ही पाण्डवसेनाके संचालक होने योग्य हैं ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥

'ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं ॥ ६ ॥

इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ॥ ७ ॥
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ।
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥ ८ ॥

'इन सबने धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है तथा ये सब प्रकारके अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ हैं । अब यह विचार करना चाहिये कि इन सातोंका भी नेता कौन हो ? जो सभी सेना-विभागोंको अच्छी तरह जानता हो तथा युद्धमें बाणरूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भीष्मका आक्रमण सह सकता हो । पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव ! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो । हमारा प्रधान सेनापति होने योग्य कौन है ?' ॥ ७-८ ॥

सहदेव उवाच

संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥ १० ॥

सहदेव बोले—जो हमारे सम्बन्धी हैं, दुःखमें हमारे साथ एक होकर रहनेवाले और पराक्रमी भूपाल हैं, जिन धर्मज्ञ वीरका आश्रय लेकर हम अपना राज्यभाग प्राप्त कर सकते हैं तथा जो बलवान्, अस्त्रविद्यामें निपुण और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, वे मत्स्यनरेश विराट संग्रामभूमिमें भीष्म तथा अन्य महारथियोंका सामना अच्छी तरह सहन कर सकेंगे ॥ ९-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारदः ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार कहनेपर प्रवचनकुशल नकुलने उनके बाद यह बात कही—॥

वयसा शास्त्रतो धैर्यात् कुलेनाभिजनेन च ।
ह्रीमान् बलान्वितः श्रीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १२ ॥
वेद चास्त्रं भरद्वाजाद् दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ॥ १३ ॥
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।
पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ॥ १४ ॥
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ॥ १५ ॥
पितेवास्मान् समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ॥ १६ ॥
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद् राजा सखा चाङ्गिरसो नृपः ॥ १७ ॥

'जो अवस्था, शास्त्रज्ञान, धैर्य, कुल और स्वजनसमूह सभी दृष्टियोंसे बड़े हैं, जिनमें लज्जा, बल और श्री तीनों विद्यमान हैं, जो समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण हैं, जिन्हें महर्षि भरद्वाजसे अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त हुई है, जो सत्यप्रतिज्ञ एवं दुर्धर्ष योद्धा हैं, महाबली भीष्म और द्रोणाचार्यसे सदा स्पर्धा रखते हैं, जो समस्त राजाओंके समूहकी प्रशंसाके पात्र हैं और युद्धके मुहानेपर खड़े हो समस्त सेनाओंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, बहुत-से पुत्र-पौत्रोंद्वारा घिरे रहनेके कारण जिनकी सैकड़ों शाखाओंसे सम्पन्न वृक्षकी भाँति शोभा होती है, जिन महाराजने रोषपूर्वक द्रोणाचार्यके विनाशके लिये पत्नीसहित घोर तपस्या की है, जो संग्राममूमिमें सुशोभित होनेवाले शूरवीर हैं और हमलोगोंपर सदा ही पिताके समान स्नेह रखते हैं, वे हमारे श्वशुर भूपालशिरोमणि द्रुपद हमारी सेनाके प्रमुख भागका संचालन करें । मेरे विचारसे राजा द्रुपद ही युद्धके लिये सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्मपितामहका सामना कर सकते हैं; क्योंकि वे दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और द्रोणाचार्यके सखा हैं' ॥ १२–१७ ॥

माद्रीसुताभ्यामुक्ते तु स्वमते कुरुनन्दनः ।
वासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥

माद्रीकुमारोंके इस प्रकार अपना विचार प्रकट करनेपर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन्द्रके समान पराक्रमी, इन्द्रपुत्र सव्यसाची अर्जुनने इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

योऽयं तपःप्रभावेण ऋषिसंतोषणेन च ।
दिव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ॥ १९ ॥
धनुष्मान् कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः ।
दिव्यैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात् समुत्थितः ॥ २० ॥
गर्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान् ।
सिंहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥ २१ ॥
सिंहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः ।
सिंहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ॥ २२ ॥
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः ।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः ।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद् भीष्मस्य सायकान् ।
वज्राशनिसमस्पर्शान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ २५ ॥

'जो अग्निकी ज्वालाके समान कान्तिमान् महाबाहु वीर अपने पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा महर्षियोंके कृपा-प्रसाद-से उत्पन्न हुआ दिव्य पुरुष है, जो अग्निकुण्डसे कवच, धनुष और खड्ग धारण किये प्रकट हुआ और तत्काल ही दिव्य एवं उत्तम अश्वोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये सुसज्जित देखा गया था, जो पराक्रमी वीर अपने रथ-की घरघराहटसे गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ता है, जिसके शरीरकी गठन, पराक्रम, हृदय, वक्षःस्थल, बाहु, कंधे और गर्जना–ये सभी सिंहके समान हैं, जो महाबली, महा-तेजस्वी और महान् वीर है, जिसकी भौंहें, दन्तपंक्ति, ठोड़ी, भुजाएँ और मुख बहुत सुन्दर हैं, जो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट है, जिसके गलेकी हँसुली सुन्दर दिखायी देती है, जिसके बड़े-बड़े नेत्र और चरण परम सुन्दर हैं, जिसका किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं हो सकता, जो मदकी धारा बहानेवाले गज-राजके सदृश पराक्रमी वीर द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ है तथा जो सत्यवादी एवं जितेन्द्रिय है, उस धृष्टद्युम्नको ही मैं प्रधान सेनापति बनानेके योग्य मानता हूँ। पितामह भीष्मके बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान भयंकर हैं, उनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह है, वीर धृष्टद्युम्न ही उन बाणोंका आघात सह सकता है ॥ १९—२५ ॥

यमदूतसमान् वेगे निपाते पावकोपमान् ।
रामेणाजौ विषहितान् वज्रनिष्पेषदारुणान् ॥ २६ ॥
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥ २७ ॥

'पितामह भीष्मके बाण आघात करनेमें अग्निके समान तेजस्वी एवं यमदूतोंके समान प्राणोंका हरण करनेवाले हैं। वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उन बाणोंको पहले युद्धमें परशुरामजीने ही सहा था। राजन्! मैं धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्मका वेग सह सके। मेरा तो यही निश्चय है॥ २६-२७॥

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ॥ २८ ॥

'जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र पद्धतिसे युद्ध करनेमें कुशल, अभेद्य कवचसे सम्पन्न एवं यूथपति गजराजकी भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मतिमें वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होनेके योग्य है ॥'

(*वैशम्पायन उवाच*

अर्जुनेनैवमुक्ते तु भीमो वाक्यं समाददे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेनने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया ॥

भीमसेन उवाच

वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ॥ २९ ॥
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः ।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ॥ ३० ॥
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात् तु शिखण्डिनम् ।
शस्त्रेण समरे राजन् संनद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम् ।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ ॥

भीमसेनने कहा—राजेन्द्र ! द्रुपदकुमार शिखण्डी पितामह भीष्मका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह बात यहाँ पधारे हुए सिद्धों एवं महर्षियोंने बतायी है ! संग्रामभूमिमें जब वह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगोंको उसका स्वरूप महात्मा परशुरामके समान दिखायी देता है। मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें शिखण्डीको मार सके। राजन्! जब महाव्रती भीष्म रथपर बैठकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सामने आयेंगे, उस समय द्वैरथ युद्धमें शूरवीर शिखण्डीके सिवा दूसरा कोई योद्धा उन्हें नहीं मार सकता। अतः मेरे मतमें वही प्रधान सेनापति होनेके योग्य है ॥ २९—३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम् ।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के समस्त सारासार और बलाबलको जानते हैं तथा इस विषयमें इन सब राजाओंका क्या मत है—इससे भी ये पूर्ण परिचित हैं ॥ ३३ ॥

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥३४॥

अतः दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतावें, वही हमारी सेनाका प्रधान सेनापति हो । फिर वह अस्त्र-विद्यामें निपुण हो या न हो, वृद्ध हो या युवा हो (इसकी चिन्ता अपने लोगोंको नहीं करनी चाहिये) ॥ ३४ ॥

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।
अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे॥ ३५ ॥

तात ! ये भगवान् ही हमारी विजय अथवा पराजयके मूल कारण हैं । हमारे प्राण, राज्य, भाव, अभाव तथा सुख और दुःख इन्हींपर अवलम्बित हैं ॥ ३५ ॥

एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ॥ ३६ ॥

यही सबके कर्ता-धर्ता हैं । हमारे समस्त कार्योंकी सिद्धि इन्हींपर निर्भर करती है । अतः भगवान् श्रीकृष्ण जिसके लिये प्रस्ताव करें, वही हमारी विशाल वाहिनीका प्रधान अधिनायक हो ॥ ३६ ॥

ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ॥ ३७ ॥
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ॥ ३८ ॥

अतः वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करें। इस समय रात्रि है । हम अभी सेनापतिका निर्वाचन करके रात बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंका अधिवासन (गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन), कौतुक (रक्षाबन्धन आदि) तथा मङ्गलकृत्य (स्वस्तिवाचन आदि) करनेके अनन्तर श्रीकृष्ण-के अधीन हो समराङ्गणकी यात्रा करेंगे ॥ ३७-३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३९ ॥
ममाप्येते महाराज भवद्भिर्य उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज ! आपलोगोंने जिन-जिन वीरोंके नाम लिये हैं, ये सभी मेरी रायमें भी सेनापति होनेके योग्य हैं; क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा हैं ॥ ३९-४० ॥

सर्वे एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुम् ।
इन्द्रस्यापि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ॥ ४१ ॥
किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।

'आपके शत्रुओंको परास्त करनेकी शक्ति इन सबमें विद्यमान है । ये महान् संग्राममें इन्द्रके मनमें भी भय उत्पन्न कर सकते हैं; फिर पापात्मा और लोभी धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४१½ ॥

मयापि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ॥ ४२ ॥
कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ॥ ४३ ॥

'महाबाहु भरतनन्दन ! मैंने भी महान् युद्धकी सम्भावना देखकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये शान्ति-स्थापनके निमित्त महान् प्रयत्न किया था । इससे हमलोग धर्मके ऋणसे भी उऋण हो गये हैं । दूसरोंके दोष बतानेवाले लोग भी अब हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते ॥ ४२-४३ ॥

कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ॥ ४४ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये आतुर हो रहा है । वह मूर्ख और अयोग्य होकर भी अपनेको अस्त्रविद्यामें पारङ्गत मानता है और दुर्बल होकर भी अपनेको बलवान् समझता है ॥ ४४ ॥

युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनंजयम् ॥ ४५ ॥
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ ४६ ॥
अभिमन्युं द्रौपदेयान् विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चान्यान् नरेन्द्रान् भीमविक्रमान्॥४७॥

'अतः आप अपनी सेनाको युद्धके लिये अच्छी तरहसे सुसज्जित कीजिये; क्योंकि मेरे मतमें वे शत्रुवधसे ही वशीभूत हो सकते हैं । वीर अर्जुन, क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, यम-राजके समान नकुल-सहदेव, सात्यकिसहित अमर्षशील धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, विराट, द्रुपद तथा अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति अन्यान्य भयंकर पराक्रमी नरेशोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र रणभूमि-में टिक नहीं सकेंगे ॥ ४५—४७ ॥

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिंदम ।

'हमारी सेना अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम है । वह युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है । शत्रुदमन ! मैं धृष्टद्युम्नको ही प्रधान सेनापति होने योग्य मानता हूँ' ॥ ४८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ॥ ४९ ॥
तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।
योग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। फिर तो युद्धके लिये 'सुसज्जित हो जाओ, सुसजित हो जाओ' ऐसा कहते हुए समस्त सैनिक बड़ी उतावलीके साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंका महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा ॥ ४९-५० ॥

हयवारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ॥ ५१ ॥

सब ओर घोड़े, हाथी और रथोंका घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुन्दुभियोंकी भयानक ध्वनि गूँजने लगी॥

तदुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
रथपत्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाकुलम् ॥ ५२ ॥

रथ, पैदल और हाथियोंसे भरी हुई वह भयंकर सेना उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त महासागरके समान क्षुब्ध हो उठी॥

धावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
प्रयास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ॥ ५३ ॥
गङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।

रणयात्राके लिये उद्यत हुए पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधते दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जलसे परिपूर्ण गङ्गाके समान दुर्गम दिखायी देती थी ॥ ५३½ ॥

अग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ॥ ५४ ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
प्रभद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ॥ ५५ ॥

सेनाके आगे-आगे भीमसेन, कवचधारी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके सभी पुत्र, द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न, प्रभद्रकगण और पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय वीर चले। इन सबने भीमसेनको अपने आगे कर लिया था॥

ततः शब्दः समभवत् समुद्रस्येव पर्वणि ।
हृष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवास्पृशत् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्णिमाके दिन बढ़ते हुए समुद्रका कोलाहल सुनायी देता है, उसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धके लिये यात्रा करनेवाले उन सैनिकोंका महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोकतक जा पहुँचा ॥ ५६ ॥

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५७ ॥

हर्षमें भरे हुए और कवच आदिसे सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रु-सेनाको विदीर्ण करनेका उत्साह रखते थे। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकोंके बीचमें होकर चले॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥ ५८ ॥

सामान ढोनेवाली गाड़ी, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्रचालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले ॥ ५८ ॥

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम् ।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥ ५९ ॥

राजा युधिष्ठिरने जो कोई भी सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, सबको एवं अन्य परिचारकोंको उपप्लव्यमें एकत्र करके वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ५९ ॥

उपप्लव्ये तु पाञ्चाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सह स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ॥ ६० ॥

पाञ्चालराजकुमारी सत्यवादिनी द्रौपदी दास-दासियोंसे घिरी हुई कुछ दूरतक महाराजके साथ गयी। फिर सभी स्त्रियोंके साथ उपप्लव्य नगरमें लौट आयी ॥ ६० ॥

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ६१ ॥

पाण्डवलोग दुर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक स्थावर (परकोटे और खाई आदि) तथा जङ्गम (पहरेदार सैनिकोंकी नियुक्ति आदि) उपायोंद्वारा स्त्रियों और धन आदिकी सुरक्षाकी समुचित व्यवस्था करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए ॥ ६१ ॥

ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः ॥ ६२ ॥

राजन्! ब्राह्मणलोग चारों ओरसे घेरकर पाण्डवोंके गुण गाते और पाण्डवलोग उन्हें गौओं तथा सुवर्ण आदिका दान देते थे। इस प्रकार वे मणिभूषित रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे ॥ ६२ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च शिखण्डी चापराजितः ॥ ६३ ॥
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

(पाँचों भाई) केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजके पुत्र अभिभू, श्रेणिमान्, वसुदान और अपराजित वीर शिखण्डी—ये सब लोग आभूषण और कवच धारण करके हाथोंमें शस्त्र लिये हर्ष और उल्लासमें भरकर राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ जा रहे थे ॥ ६३-६४ ॥

जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सौमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ॥ ६५ ॥
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ॥ ६६ ॥

सेनाके पिछले आधे भागमें राजा विराट, सोमकवंशी द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्नके पुत्र जा रहे थे। इनके साथ चालीस हजार रथ, दो लाख घोड़े, चार लाख पैदल और साठ हजार हाथी थे।६५-६६।

अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनंजयौ ॥ ६७ ॥

अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको घेरकर चल रहे थे ॥ ६७॥

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥ ६८ ॥

इस प्रकार सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवसैनिक कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर साँड़ोंके समान गर्जन करते हुए दिखायी देने लगे ॥ ६८ ॥

तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान् दध्मुररिंदमाः।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनंजयौ ॥ ६९ ॥

उन शत्रुदमन वीरोंने कुरुक्षेत्रकी सीमामें पहुँचकर अपने-अपने शङ्ख बजाये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी शङ्खध्वनि की ॥ ६९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ॥ ७० ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर सब ओर फैले हुए समस्त पाण्डव-सैनिक हर्षसे उल्लसित एवं रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७० ॥

शङ्खदुन्दुभिसंसृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम्।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरांश्चान्वनादयत् ॥ ७१ ॥

शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिला हुआ वेगवान् वीरोंका सिंहनाद पृथ्वी, आकाश तथा समुद्रोंतक फैलकर उस सबको प्रतिध्वनित करने लगा ॥७१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेशविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें पाण्डवसेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने एक चिकने और समतल प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी अधिकता थी, अपनी सेनाका पड़ाव डाला ॥ १ ॥

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ॥ २ ॥
मधुरानूषरे देशे शुचौ पुण्ये महामतिः।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियोंके आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र—इन सबका परित्याग करके उन स्थानोंसे बहुत दूर ऊसररहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थानमें जाकर कुन्ती-पुत्र महामति युधिष्ठिरने अपनी सेनाको ठहराया ॥ २-३ ॥

ततश्च पुनरुत्थाय सुखी विश्रान्तवाहनः।
प्रययौ पृथिवीपालैर्वृतः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विद्राव्य शतशो गुल्मान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
पर्यक्रामत् समन्ताच्च पार्थेन सह केशवः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् समस्त वाहनोंके विश्राम कर लेनेपर स्वयं भी विश्राम-सुखका अनुभव करके भगवान् श्रीकृष्ण उठे और सैकड़ों-हजारों भूमिपालोंसे घिरकर कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ आगे बढ़े। उन्होंने दुर्योधनके सैकड़ों सैनिक दलोंको दूर भगाकर वहाँ सब ओर विचरण करना प्रारम्भ किया।४-५।

शिबिरं मापयामास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
सात्यकिश्च रथोदारो युयुधानः प्रतापवान् ॥ ६ ॥

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा प्रतापशाली एवं उदाररथी सत्यकपुत्र युयुधानने शिविर बनाने योग्य भूमि नापी ॥

आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम्।
सूपतीर्थां शुचिजलां शर्करापङ्कवर्जिताम् ॥ ७ ॥
खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत।
गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत् ॥ ८ ॥
विधिर्यः शिबिरस्यासीत् पाण्डवानां महात्मनाम्।
तद्विधानि नरेन्द्राणां कारयामास केशवः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन जनमेजय! कुरुक्षेत्रमें हिरण्वती नामक एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जलसे भरी है। उसके तटपर अनेक सुन्दर घाट हैं। उस नदीमें कंकड़, पत्थर और कीचड़का नाम नहीं है। उसके समीप पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने खाईं खुदवायी और उसकी रक्षाके लिये पहरेदारोंको नियुक्त करके वहीं सेनाको ठहराया। महात्मा पाण्डवोंके लिये शिविरका निर्माण जिस विधिसे किया गया था, उसी प्रकारके भगवान् केशवने अन्य राजाओंके लिये शिविर बनवाये ॥ ७–९ ॥

प्रभूततरकाष्ठानि दुराधर्षतराणि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥
शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ।
विमानानीव राजेन्द्र निविष्टानि महीतले ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! उस समय राजाओंके लिये सैकड़ों और हजारों-की संख्यामें दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिविर पृथक्-पृथक् बनवाये गये थे । उनके भीतर बहुत-से काष्ठ तथा प्रचुर मात्रामें भक्ष्य-भोज्य अन्न एवं पान-सामग्रीका संग्रह किया गया था । वे समस्त शिविर भूतलपर रहते हुए विमानोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०-११ ॥

तत्रासन्शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ १२ ॥

वहाँ सैकड़ों विद्वान् शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रक्खे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणोंके साथ वहाँ रहते थे ॥ १२ ॥

ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः ।
ससर्जरसपांसूनां राशयः पर्वतोपमाः ॥ १३ ॥

प्रत्येक शिविरमें प्रत्यञ्चा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा रालका चूरा—इन सबके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे ॥

बहूदकं सुयवसं तुषाङ्गारसमन्वितम् ।
शिबिरे शिबिरे राजा संचकार युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक शिविरमें प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्निका संग्रह करा रक्खा था ॥ १४ ॥

महायन्त्राणि नाराचास्तोमराणि परश्वधाः ।
धनूंषि कवचादीनि ऋष्टयस्तूणसंयुताः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस—ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिविरों-में संगृहीत थीं ॥ १५ ॥

गजाः कण्टकसंनाहा लोहवर्मोत्तरच्छदाः ।
दृश्यन्ते तत्र गिर्याभाः सहस्रशतयोधिनः ॥ १६ ॥

वहाँ लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ पर्वतोंके समान विशालकाय बहुत-से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहेके कवच तथा लोहेकी ही झूल धारण किये हुए थे ॥ १६ ॥

निविष्टान् पाण्डवांस्तत्र ज्ञात्वा मित्राणि भारत ।
अभिसस्रुर्यथादेशं सबलाः सहवाहनाः ॥ १७ ॥

भारत ! पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें जाकर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया है, यह जानकर उनसे मित्रता रखनेवाले बहुत-से राजा अपनी सेना और सवारियोंके साथ उनके पास, जहाँ वे ठहरे थे, आये ॥ १७ ॥

चरितब्रह्मचर्यास्ते सोमपा भूरिदक्षिणाः ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १८ ॥

जिन्होंने यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका पालन, यज्ञोंमें सोमरस-का पान तथा प्रचुर दक्षिणाओंका दान किया था, ऐसे भूपालगण पाण्डवोंकी विजयके लिये कुरुक्षेत्रमें पधारे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि शिबिरादिनिर्माणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें शिबिर आदिका निर्माणविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिबिर निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी

जनमेजय उवाच

युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
संनिविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ॥ १ ॥
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ॥ २ ॥
महेन्द्रमिव चादित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधनने जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे सेनाओंके साथ यात्रा करके भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हो कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये और वहाँ सेनाका पड़ाव डाले बैठे हैं, पुत्रोंसहित राजा विराट और द्रुपद भी उनके साथ हैं, केकयराजकुमार, वृष्णिवंशी योद्धा तथा सैकड़ों भूपाल उन्हें घेरे रहते हैं तथा वे आदित्योंसहित घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति अनेक महारथी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित हैं, तब उसने क्या किया ? ॥ १—३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन् यदासीत् कुरुजाङ्गले ॥ ४ ॥

महामते ! कुरुक्षेत्रके उस भयंकर समारोहमें जो कुछ हुआ हो वह सब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

व्यथयेयुरिमे देवान् सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।

युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ॥ ६॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कुरूणां पाण्डवानां च यद् यदासीद् विचेष्टितम् ॥७॥

तपोधन ! पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी युधामन्यु—ये सब तो संग्राममें एकत्र होनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी पीड़ित कर सकते हैं; अतः वहाँ कौरवों तथा पाण्डवोंने जो-जो कर्म किया था वह सब विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ५–७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः ।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

'श्रीकृष्ण यहाँसे कृतकार्य होकर नहीं गये हैं । इसके लिये वे क्रोधमें भरकर पाण्डवोंको निश्चय ही युद्धके लिये उत्तेजित करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ९ ॥

इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ॥ १० ॥

'वास्तवमें श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि पाण्डवोंके साथ मेरा युद्ध हो । भीमसेन और अर्जुन—ये दोनों भाई तो श्रीकृष्णके ही मतमें रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः ।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ॥ ११ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिर भी अधिकतर भीमसेनके वशमें रहा करते हैं । इसके सिवा मैंने पहले सब भाइयोंसहित उनका तिरस्कार भी किया है ॥ ११ ॥

विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह ।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ॥ १२ ॥

'विराट और द्रुपद तो मेरे साथ पहलेसे ही वैर रखते हैं । वे दोनों पाण्डव-सेनाके संचालक तथा श्रीकृष्णकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले हैं ॥ १२ ॥

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः ।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ १३ ॥

'अतः अब हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ होनेवाला यह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी होगा । इसलिये राजाओ ! आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्धकी सारी तैयारी करें ॥

शिबिराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः ।
सुपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ॥ १४ ॥
आसन्नजलकाष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छेद्याहारमार्गाणि वप्रोच्छ्रयचितानि च ॥ १५ ॥

'भूमिपालो ! आप कुरुक्षेत्रमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकता-के अनुसार पर्याप्त अवकाश हो तथा शत्रुलोग जिनपर अधिकार न कर सकें । उनमें पास ही जल और काष्ठ आदि मिलनेकी सुविधाएँ हों । उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्यसामग्री सुविधासे लायी जा सके और शत्रुलोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों तरफ किलेबन्दी कर देनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥

विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च ।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद् बहिः ॥ १६ ॥

'उन शिविरोंको नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रखना चाहिये । शिविरोंका जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरोंमें जानेके लिये बनाये जायँ ॥१६॥

प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम् ।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ॥ १७ ॥
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम् ।

'आज ही यह घोषणा करा दी जाय कि कल सवेरे ही युद्धके लिये प्रस्थान करना है । इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये । 'दुर्योधनका यह आदेश सुनकर 'बहुत अच्छा—ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके महामना कर्ण आदिने अत्यन्त प्रसन्न होकर सवेरा होते ही राजाओंके निवासके लिये शिविर बनवाने आरम्भ कर दिये ॥ १७½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ॥ १८ ॥
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः ।
बाहून् परिघसंकाशान् संस्पृशन्तः शनैः शनैः ॥ १९ ॥
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान् ।

तदनन्तर वहाँ आये हुए सब नरेश राजा दुर्योधनकी यह आज्ञा सुनकर रोषावेशसे परिपूर्ण हो चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा सोनेके भुजबंदोंसे प्रकाशित अपनी परिघके समान मोटी भुजाओंका धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए बहुमूल्य आसनों-से उठकर खड़े हो गये ॥ १८-१९½ ॥

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः ।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ॥ २० ॥

उन्होंने अपने कमलसदृश करोंसे मस्तकपर पगड़ी बाँध ली; फिर धोती, चादर और सब प्रकारके आभूषण धारण कर लिये ॥ २० ॥

ते रथान् रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ रथी अपने रथोंको, अश्वसंचालनकी कलामें कुशल योद्धा घोड़ोंको और हस्तिशिक्षामें निपुण सैनिक हाथियोंको सुसज्जित करने लगे ॥ २१ ॥

अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ॥ २२ ॥

उन्होंने सोनेके बने हुए बहुत-से विचित्र कवच तथा सब प्रकारके विभिन्न अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।२२।

पदातयश्च पुरुषाः शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजह्रुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ॥ २३ ॥

पैदल योद्धाओंने भी अपने अङ्गोंमें सुवर्णजटित कवच तथा भाँति-भाँतिके अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ॥२३॥

तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारतासीत् समाकुलम् ॥ २४ ॥

जनमेजय ! दुर्योधनका वह हस्तिनापुर नगर मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा हो, इस प्रकार समृद्ध और हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भर गया था, इससे वहाँ बड़ी हलचल मच गयी थी ॥ २४ ॥

जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसंचयरत्नवान् ॥ २५ ॥
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ॥ २६ ॥
योधचन्द्रोदयोद्भूतः कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजंश्चन्द्रोदय इवोदधिः ॥ २७ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदयकालमें समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधनरूपी महासागर सैनिक-समुदायरूपी चन्द्रमाके उदयसे अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा । सब ओर घूमता हुआ जनसमुदाय ही वहाँ जलमें उठनेवाली भँवरोंके समान जान पड़ता था । रथ, हाथी और घोड़े उसमें मछलीके समान प्रतीत होते थे । शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस कुरुराजरूपी समुद्रकी गर्जना थी । खजानोंका संग्रह ही रत्नराशिका प्रतिनिधित्व कर रहा था । योद्धाओंके विचित्र आभूषण और कवच ही उस समुद्रकी उठती हुई तरङ्गोंके समान जान पड़ते थे । चमकीले शस्त्र ही निर्मल फेन-से प्रतीत होते थे । महलोंकी पंक्तियाँ ही तटवर्ती पर्वत-सी जान पड़ती थीं । सड़कोंपर स्थित दूकानें ही मानो गुफाएँ थीं ॥ २५–२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें 'दुर्योधनका अपनी सेनाको सुसज्जित करना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५३॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवस्य तद् वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—'भगवन् ! मन्दबुद्धि दुर्योधनने क्यों ऐसी बात कही ? ॥ १ ॥

अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ॥ २ ॥

'अच्युत ! इस वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है ? हम कैसा बर्ताव करें ? जिससे अपने धर्मसे नीचे न गिरें ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ॥ ३ ॥

'वासुदेव ! दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके तथा भाइयों-सहित मेरे विचारोंको भी आप जानते हैं ॥ ३ ॥

विदुरस्यापि तद् वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कार्त्स्न्येन ते श्रुता ॥ ४ ॥

'विदुरने और भीष्मजीने भी जो बातें कही हैं, उन्हें भी आपने सुना है । विशालबुद्धे ! माता कुन्तीका विचार भी आपने पूर्णरूपसे सुन लिया है ॥ ४ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! इन सब विचारोंको लाँघकर स्वयं ही इस विषयपर बारंबार विचार करके हमारे लिये जो उचित हो, उसे निःसंकोच कहिये' ॥ ५ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

धर्मराजका यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरमें यह बात कही ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच

उक्तवानस्मि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है ॥ ७ ॥

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ॥ ८ ॥

खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है । वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥ ९ ॥

दुरात्मा दुर्योधन कर्णका आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है । इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है ॥ ९ ॥

बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥ १० ॥

पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने तो मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका ॥ १० ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥ ११ ॥

अच्युत ! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं । विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ॥ १२ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं ॥ १२ ॥

किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥ १३ ॥

उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है ? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है ॥ १३ ॥

पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥१४॥

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, जो पाप और अमङ्गलकारक भाव नहीं है, वह सब अकेले दुर्योधनमें विद्यमान है ॥ १४ ॥

न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥ १५ ॥

हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा नहीं रखते हैं । अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम् ।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर सब राजा कुछ न बोलते हुए केवल महाराज युधिष्ठिरके मुँहकी ओर देखने लगे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम् ।
योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने राजाओंका अभिप्राय समझकर भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके साथ उन्हें युद्धके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १७ ॥

ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह ।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ॥ १८ ॥

उस समय युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा मिलते ही समस्त योद्धा हर्षसे खिल उठे, फिर तो पाण्डवोंके सैनिक किलकारियाँ करने लगे ॥ १८ ॥

अवध्यानां वधं पश्यन् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निःश्वसन् भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर यह देखकर कि युद्ध छिड़नेपर अवध्य पुरुषोंका भी वध करना पड़ेगा, खेदसे लम्बी साँसें खींचते हुए भीमसेन और अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया ।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ॥ २० ॥

'जिससे बचनेके लिये मैंने वनवासका कष्ट स्वीकार किया और नाना प्रकारके दुःख सहन किये, वही महान् अनर्थ मेरे प्रयत्नसे भी टल न सका । वह हमलोगोंपर आना ही चाहता है ॥ २० ॥

तस्मिन् यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः ।
अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ॥ २१ ॥

'यद्यपि उसे टालनेके लिये हमारी ओरसे पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु हमारे प्रयाससे उसका निवारण नहीं हो सका और जिसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, वह महान् कलह स्वतः हमारे ऊपर आ गया ॥ २१ ॥

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ॥ २२ ॥

'जो लोग मारने योग्य नहीं हैं, उनके साथ युद्ध करना कैसे उचित होगा ? वृद्ध गुरुजनोंका वध करके हमें विजय किस प्रकार प्राप्त होगी ?' ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परंतपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद् वचः ॥ २३ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई बातोंको उनसे कह सुनाया ॥ २३ ॥

उक्तवान् देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत् त्वया राजन् निखिलेनावधारितम् ॥ २४ ॥

वे कहने लगे—'राजन् ! देवकीनन्दन श्रीकृष्णने माता कुन्ती तथा विदुरजीके कहे हुए जो वचन आपको सुनाये थे, उनपर आपने पूर्णरूपसे विचार किया होगा ॥ २४ ॥

न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नापि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ॥ २५ ॥

'मेरा तो यह निश्चित मत है कि वे दोनों अधर्मकी बात नहीं कहेंगे । कुन्तीनन्दन ! अब हमारे लिये युद्धसे निवृत्त हो जाना भी उचित नहीं है' ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद् वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ॥ २६ ॥

अर्जुनका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरसे मुसकराते हुए बोले—'हाँ, अर्जुन ठीक कहते हैं' ॥

ततस्ते धृतसंकल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! तदनन्तर योद्धाओंसहित पाण्डव युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब राजा दुर्योधनने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका विभाग किया ॥ १ ॥

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओंमेंसे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ॥ २ ॥

सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः ॥ ३ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः ॥ ४ ॥
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ॥ ५ ॥
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ६ ॥
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्राङ्कुशतोमराः ॥ ७ ॥
सकीलकवचाः सर्वे वासीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ॥ ८ ॥
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ॥ ९ ॥

वे सब वीर अनुकर्ष (रथकी मरम्मतके लिये उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ), तरकस, वरूथ (रथको ढकनेका बाघ आदिका चमड़ा), उपासङ्ग (जिन्हें हाथी या घोड़े उठा सकें, ऐसे तरकस), तोमर, शक्ति, निषङ्ग (पैदलों-द्वारा ले जाये जानेवाले तरकस), ऋष्टि (एक प्रकारकी लोहेकी लाठी), ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरहकी रस्सियाँ, पाश, बिस्तर, कचग्रह-विक्षेप (बाल पकड़कर गिरानेका यन्त्र), तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पोंके घड़े, रालका चूरा, घण्टफलक (घुँघुरुओंवाली ढाल), खड्गादि लोहेके शस्त्र, औंटा हुआ गुड़का पानी, ढेले, साल, भिन्दि-पाल (गोफियाँ), मोम चुपड़े हुए मुद्गर, काँटीदार लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दरात, अङ्कुश, तोमर, काँटेदार कवच, बसूले, आरे आदि, बाघ और गैंड़ेके चमड़ेसे मढ़े हुए रथ, ऋष्टि, सींग, प्रास, भाँति-भाँतिके आयुध, कुठार, कुदाल, तेलमें भीगे हुए रेशमी वस्त्र तथा घी लिये हुए थे ॥ ३–९ ॥

रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ॥ १० ॥

वे सभी सैनिक सोनेके जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हो समस्त सेनाको ही विचित्र शोभासे सम्पन्न करते हुए अपने सुन्दर शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १० ॥

तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेशिताः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार जो शस्त्र-विद्याका निश्चित ज्ञान रखनेवाले, कुलीन तथा घोड़ोंकी नस्लको पहचाननेवाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथिके कामपर नियुक्त किये गये थे ॥ ११ ॥

बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ॥ १२ ॥

उस सेनाके रथोंमें अमङ्गल-निवारणके लिये यन्त्र और ओषधियाँ बाँधी गयी थीं । वे रस्सियोंसे खूब कसे गये थे । उन रथोंपर बँधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी थीं और कँगूरे जोड़े गये थे । उन सबमें ढाल-तलवार और पट्टिश आबद्ध थे ॥ १२॥

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥ १३ ॥

उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे, वे सभी घोड़े अच्छी जातिके थे और सम्पूर्ण रथोंमें प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रक्खे गये थे ॥ १३ ॥

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ॥ १४ ॥
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन् रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ १५ ॥

प्रत्येक रथके दो-दो घोड़ोंपर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथके लिये दो चक्ररक्षक नियत किये गये थे। वे दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे तथा रथी भी अश्वसंचालनकी कलामें निपुण थे । सब ओर सुवर्णमालाओंसे अलंकृत हजारों रथ शोभा पाते थे । शत्रुओंके लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था । वे सब-के-सब नगरोंकी भाँति सुरक्षित थे ॥ १४-१५ ॥

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः ।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियोंको भी स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित किया गया था । उन सबको रस्सोंसे कसा गया था । उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए थे, जिससे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥१६॥

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ १७ ॥

राजन्! उनमेंसे दो पुरुष अङ्कुश लेकर महावतका काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लिये रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था ॥

गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सर्वमायुधकोशकैः ।
तद् बभूव बलं राजन् कौरव्यस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

राजन्! महामना दुर्योधनकी वह सारी सेना ही अस्त्र-शस्त्रोंके भण्डारसे युक्त मदमत्त गजराजोंसे व्याप्त हो रही थी ॥

आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलङ्कृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार कवचधारी, युद्धके लिये उद्यत, आभूषणोंसे विभूषित तथा पताकाधारी सवारोंसे युक्त हजारों-लाखों घोड़े उस सेनामें मौजूद थे ॥ १९ ॥

असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ॥ २० ॥

वे घोड़े उछल-कूद मचाने आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सदा अपने सवारोंके वशमें रहते थे । उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी । वे सुनहरे साजोंसे सुसज्जित थे । उनकी संख्या कई लाख थी ॥ २० ॥

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥ २१ ॥

उस सेनामें जो पैदल मनुष्य थे, वे भी सोनेके हारोंसे अलंकृत थे । उनके रूप-रंग, कवच और अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकारके दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्यासन् पादरक्षाः समन्ततः ॥ २२ ॥

एक-एक रथके पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथीके पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोड़ेके पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पादरक्षक नियुक्त किये गये थे ॥

रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्यासन् शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसंधानकारिणः ॥ २३ ॥

एक-एक रथके पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथीके पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़ेके साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्यसे संगठित किये गये थे कि वे समूहसे बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियोंको परस्पर मिला दें ॥

सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दशवाहिनी ॥ २४ ॥

पाँच सौ हाथियों और पाँच सौ रथोंकी एक सेना होती है । दस सेनाओंकी एक पृतना और दस पृतनाओंकी एक वाहिनी होती है ॥ २४ ॥

सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ॥ २५ ॥

इसके सिवा सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, वरूथिनी और अक्षौहिणी—इन पर्यायवाची (समानार्थक) नामोंद्वारा भी सेनाका वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ॥२६॥

इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने अपनी सेनाओंको व्यूहरचनापूर्वक संगठित किया था । कुरुक्षेत्रमें ग्यारह और सात मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं ॥

अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद् बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद् बलम् ॥ २७॥

पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी थीं ॥

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ॥ २८ ॥

पचपन पैदलोंकी एक टुकड़ीको पत्ति कहते हैं । तीन पत्तियाँ मिलकर एक सेनामुख कहलाती हैं । सेनामुखका ही दूसरा नाम गुल्म है ॥ २८ ॥

त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

तीन गुल्मोंका एक गण होता है । दुर्योधनकी सेनाओंमें युद्ध करनेवाले पैदल योद्धाओंके ऐसे-ऐसे गण दस हजारसे भी अधिक थे ॥ २९ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥ ३० ॥

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधनने अच्छी तरह सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषोंको सेनापति बनाया ॥

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान् ।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ॥ ३१ ॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥ ३२ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥ ३३ ॥

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा—इन श्रेष्ठ पुरुषोंको एवं मद्रराज शल्य, सिंधुराज जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा महाबली बाह्लीक—इन राजाओंको पहले अपने सामने बुलाकर उन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेनाका नायक निश्चित करके विधिपूर्वक उनका अभिषेक किया ॥३१–३३॥

दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

भारत ! दुर्योधन प्रतिदिन और प्रत्येक वेलामें उन सेनापतियोंका बारंबार विविध प्रकारसे प्रत्यक्ष पूजन करता था ॥

तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ॥ ३५ ॥

उनके जो अनुयायी थे, उनको भी उसी प्रकार यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया गया । वे राजाओंके सैनिक राजा दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें दुर्योधनकी सेनाका विभागविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ१५५

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओंके साथ शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥

'पितामह ! कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो ? किसी योग्य सेनापतिके बिना युद्धमें जाकर चींटियोंकी पंक्तिके समान छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ २ ॥

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ॥ ३ ॥

'दो पुरुषोंकी बुद्धि कभी समान नहीं होती । यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरेकी होड़में बढ़ता है ॥ ३ ॥

श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ॥ ४ ॥

'महामते ! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणोंने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुए पहले कभी अमिततेजस्वी हैहयवंशके क्षत्रियोंपर आक्रमण किया था ॥ ४ ॥

तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

'पितामह ! उस समय ब्राह्मणोंके साथ वैश्यों और शूद्रोंने भी उनपर धावा किया था। एक ओर तीनों वर्णके लोग थे और दूसरी ओर चुने हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय ॥ ५ ॥

ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब तीनों वर्णोंके लोग बारंबार पीठ दिखाकर भागने लगे। यद्यपि इनकी सेना अधिक थी तो भी क्षत्रियोंने एकमत होकर उनपर विजय पायी ॥ ६ ॥

ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः।
तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ॥ ७ ॥

'पितामह ! तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंसे ही पूछा—हमारी पराजयका क्या कारण है ? उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियोंने उनसे यथार्थ कारण बता दिया ॥ ७ ॥

वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे।
भवन्तस्तु पृथक् सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ॥ ८ ॥

'वे बोले—हमलोग एक परम बुद्धिमान् पुरुषको सेनापति बनाकर युद्धमें उसीका आदेश सुनते और मानते हैं। परंतु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी ही बुद्धिके अधीन हो मनमाना बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम्।
नये सुकुशलं शूरमजयन् क्षत्रियांस्ततः ॥ ९ ॥

'यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने एक शूरवीर एवं नीति-निपुण ब्राह्मणको सेनापति बनाया और क्षत्रियोंपर विजय प्राप्त की॥

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम्।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥ १० ॥

'इस प्रकार जो लोग किसी हितैषी, पापरहित तथा युद्ध-कुशल शूरवीरको सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राममें शत्रुओं-पर अवश्य विजय पाते हैं ॥ १० ॥

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ११ ॥

'आप सदा मेरा हित चाहनेवाले तथा नीतिमें शुक्राचार्य-के समान हैं। आपको आपकी इच्छाके बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्ममें ही स्थित रहते हैं, अतः हमारे प्रधान सेनापति हो जाइये ॥ ११ ॥

रश्मिवतामिवादित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ॥ १३ ॥

'जैसे किरणोंवाले तेजस्वी पदार्थोंके सूर्य, वृक्ष और ओषधियोंके चन्द्रमा, यक्षोंके कुबेर, देवताओंके इन्द्र, पर्वतोंके मेरु, पक्षियोंके गरुड़, समस्त देवयोनियोंके कार्तिकेय और वसुओंके अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक हैं (उसी प्रकार आप हमारी समस्त सेनाओंके अधिनायक और संरक्षक हों) ॥ १२-१३ ॥

भवता हि वयं गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके द्वारा सुरक्षित देवताओंकी भाँति आपके संरक्षणमें रहकर हमलोग निश्चय ही देवगणोंके लिये भी अजेय हो जायँगे॥

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥ १५ ॥

'जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे-आगे चलते हैं, वैसे ही आप हमारे अगुआ हों। जैसे बछड़े साँड़के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—भारत ! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव हैं ॥ १६ ॥

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! मैं पाण्डवोंको उनके पूछनेपर अवश्य ही हितकी बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात् कुन्तीपुत्राद् धनंजयात्॥ १८ ॥

मैं इस भूतलपर नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा दूसरे किसी योद्धाको अपने समान नहीं देखता हूँ ॥ १८ ॥

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युध्येत पाण्डवः ॥ १९ ॥

महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन अनेक दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं; परंतु वे मेरे सामने आकर प्रकट रूपमें कभी युद्ध नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत्।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ॥ २० ॥

अर्जुनकी ही भाँति मैं भी यदि चाहूँ तो अपने शस्त्रोंके बलसे देवता, मनुष्य, असुर तथा राक्षसोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्‌को क्षणभरमें निर्जीव बना दूँ ॥ २० ॥

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥ २१ ॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ २२ ॥

परंतु जनेश्वर ! मैं पाण्डुके पुत्रोंकी किसी तरह हत्या

नहीं करूँगा । कुरुनन्दन ! यदि पाण्डव इस युद्धमें मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा प्रतिदिन उनके पक्षके दस हजार योद्धाओंका वध करता रहूँगा, मैं इस प्रकार इनकी सेनाका संहार करूँगा ॥ २१-२२ ॥

सेनापतिस्त्वहं राजन् समये नापरेण ते ।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ॥ २३ ॥

राजन् ! मैं अपनी इच्छाके अनुसार एक शर्तपर तुम्हारा सेनापति होऊँगा । उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा । उस शर्तको तुम मुझसे यहाँ सुन लो ॥ २३ ॥

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ २४ ॥

पृथ्वीपते ! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं ही युद्ध करूँ; क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्धमें मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है ॥ २४ ॥

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथंचन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ॥ २५ ॥

कर्ण बोला—राजन् ! मैं गङ्गानन्दन भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । इनके मारे जानेपर ही गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ लड़ूँगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर विधिपूर्वक अभिषेक किया ।

अभिषेक हो जानेपर उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ २६ ॥

ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥ २७ ॥

तदनन्तर बाजा बजानेवालोंने राजाकी आज्ञासे निर्भय होकर सैकड़ों और हजारों भेरियों तथा शंखोंको बजाया ॥

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ॥ २८ ॥

उस समय वीरोंके सिंहनाद तथा वाहनोंके नाना प्रकारके शब्द सब ओर गूँज उठे । बिना बादलके ही आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गयी ॥ २८ ॥

निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ॥ २९ ॥

हाथियोंके चिग्घाड़नेके साथ ही बिजलीकी गड़गड़ाहट-के समान भयंकर शब्द होने लगे । धरती डोलने लगी । इन सब उत्पातोंने प्रकट होकर समस्त योद्धाओंके मानसिक उत्साहको दबा दिया ॥ २९ ॥

वाचश्चाप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ॥ ३० ॥

अशुभ आकाशवाणी सुनायी देने लगी, आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, भयकी सूचना देनेवाली सियारिनियाँ जोर-जोरसे अमङ्गलजनक शब्द करने लगीं ॥ ३० ॥

सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! राजा दुर्योधनने जब गङ्गानन्दन भीष्मको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया, उसी समय ये सैकड़ों भयानक उत्पात प्रकट हुए ॥ ३१ ॥

ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः॥ ३२ ॥
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ ३३ ॥
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले भीष्मको सेना-पति बनाकर दुर्योधनने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उन्हें गौओं तथा सुवर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणाएँ दीं । उस समय ब्राह्मणोंने विजयसूचक आशीर्वादोंद्वारा राजाका अभ्युदय मनाया और वह सैनिकोंसे घिरकर भीष्म-जीको आगे करके भाइयोंके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकला तथा विशाल तम्बू-शामियानोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया ३२—३४

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! कर्णके साथ कुरुक्षेत्रमें जाकर दुर्योधनने

एक समतल प्रदेशमें शिविरके लिये भूमिको नपवाया ॥ ३५ ॥

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ॥ ३६ ॥

ऊसररहित मनोहर प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी बहुतायत थी, दुर्योधनकी सेनाका शिविर हस्तिनापुरकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें भीष्मका सेनापतित्वविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ॥ १ ॥
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ॥ २ ॥
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ॥ ३ ॥
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भरतवंशियोंके पितामह गङ्गानन्दन महात्मा भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे । समस्त राजाओंमें ध्वजके समान उनका बहुत ऊँचा स्थान था । वे बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें पृथ्वी, गम्भीरतामें समुद्र, स्थिरतामें हिमवान्, उदारतामें प्रजापति और तेजमें भगवान् सूर्यके समान थे । वे अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा देवराज इन्द्रके समान शत्रुओंका विध्वंस करनेवाले थे । उस समय जो अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी रणयज्ञ आरम्भ हुआ था, उसमें उन्होंने जब दीर्घकालके लिये दीक्षा ले ली, तब इस समाचारको सुननेके पश्चात् सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिरने क्या कहा ? भीमसेन तथा अर्जुनने भी उसके बारेमें क्या कहा ? अथवा भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया ? ॥ १—५ ॥

वैशम्पायन उवाच

आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान् भ्रातॄन् समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! आपद्धर्मके विषयमें कुशल, वक्ताओंमें श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उस समय सम्पूर्ण भाइयों तथा सनातन भगवान् वासुदेवको बुलाकर सान्त्वनापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ ६½ ॥

पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिताः ॥ ७ ॥
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात् सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन् मम पश्यत ॥ ८ ॥

'तुम सब लोग सब ओर घूम-फिरकर अपनी सेनाओंका निरीक्षण करो और कवच आदिसे सुसज्जित होकर खड़े हो जाओ । सबसे पहले पितामह भीष्मसे तुम्हारा युद्ध होगा । इसलिये अपनी सात अक्षौहिणी सेनाओंके सेनापतियोंकी देखभाल कर लो' ॥ ७-८ ॥

कृष्ण उवाच

यथार्हति भवान् वक्तुमस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद् वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भरतकुलभूषण ! ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर आपको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही यह अर्थयुक्त बात आपने कही है ॥ ९ ॥

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ॥ १० ॥

महाबाहो ! मुझे आपकी बात ठीक लगती है; अतः इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है, उसका पालन कीजिये । अपनी सेनाके सात सेनापतियोंको यहाँ निश्चित कर लीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ११ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १२ ॥
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्चद् युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥ १३ ॥
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर
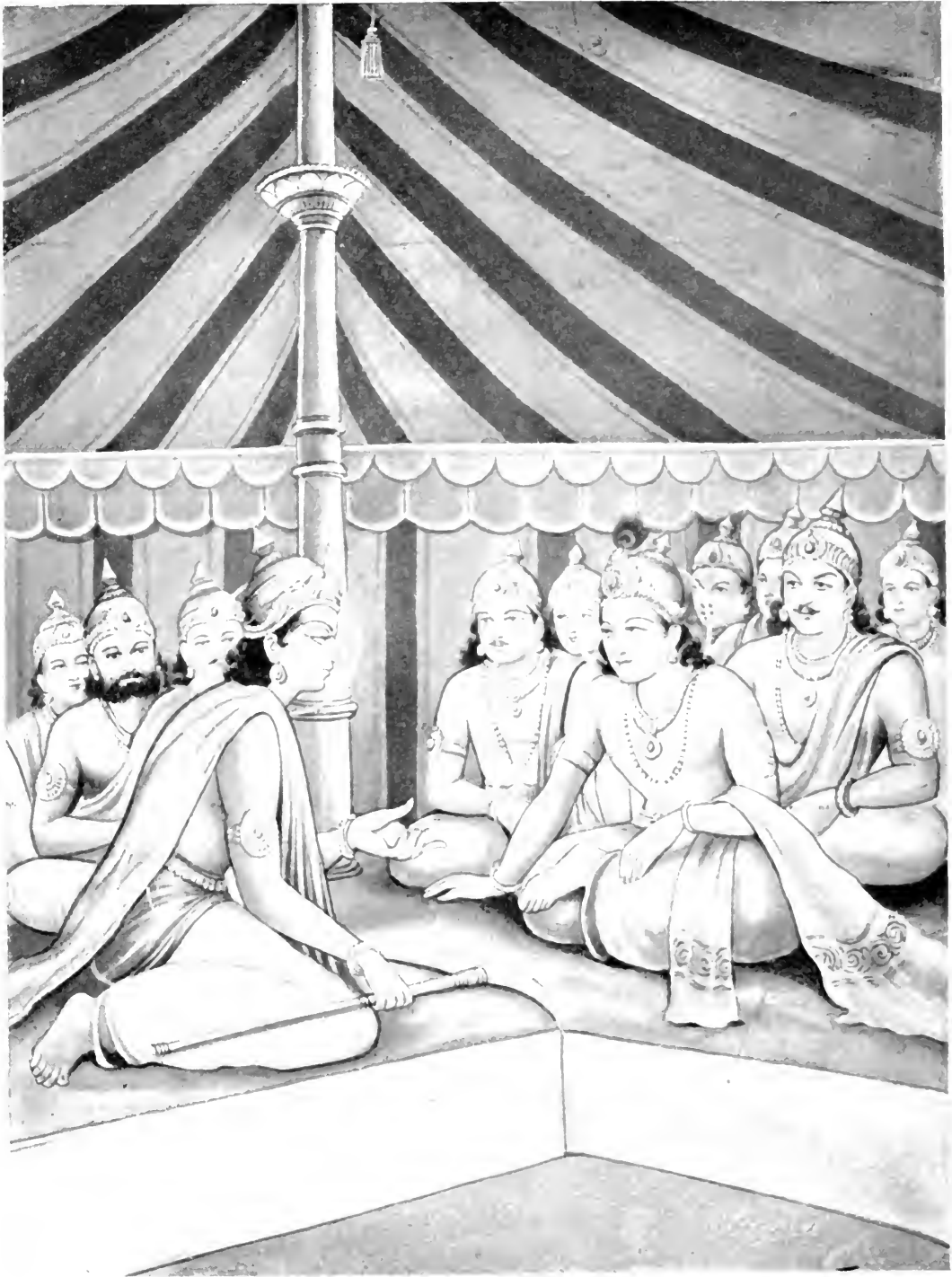
पाण्डवोंके डेरेमें बलरामजी

राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, पाञ्चालवीर शिखण्डी और मगधराज सहदेव—इन सात युद्धाभिलाषी महाभाग वीरोंको युधिष्ठिरने विधिपूर्वक सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्नको सम्पूर्ण सेनाओंका प्रधान सेनापति बना दिया, जो द्रोणाचार्यका अन्त करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे उत्पन्न हुए थे ॥ ११—१३½॥

सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ॥ १४ ॥
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।

तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी वीर धनंजयको उन समस्त महामना वीर सेनापतियोंका भी अधिपति बना दिया ॥ १४½ ॥

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ॥ १५ ॥
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

अर्जुनके भी नेता और उनके घोड़ोंके भी नियन्ता हुए बलरामजीके छोटे भाई परम बुद्धिमान् श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण ॥ १५½ ॥

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ॥ १६ ॥
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ १७ ॥
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ॥ १८ ॥
अभिगुप्तो महाबाहुर्मरुद्भिरिव वासवः ।
नीलकौशेयवसनः कैलासशिखरोपमः ॥ १९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान् मदरक्तान्तलोचनः ।

राजन् ! तदनन्तर उस महान् संहारकारी युद्धको अत्यन्त संनिकट और प्रायः उपस्थित हुआ देख नीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले हलधारी महाबाहु श्रीमान् बलरामजीने पाण्डवोंके शिविरमें सिंहके समान लीलापूर्वक गतिसे प्रवेश किया । उनके नेत्रोंके कोने मदसे अरुण हो रहे थे। उनके साथ अक्रूर आदि यदुवंशी तथा गद, साम्ब, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा आहुकपुत्र आदि प्रमुख वृष्णिवंशी भी जो सिंह और व्याघ्रोंके समान अत्यन्त उत्कट बलशाली थे, उन सबसे सुरक्षित बलरामजी वैसे ही सुशोभित हुए, मानो मरुद्गणोंके साथ महेन्द्र शोभा पा रहे हों। १६—१९½।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः ॥ २० ॥
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ॥ २१ ॥

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेन तथा अन्य जो कोई भी राजा वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये ॥ २०-२१ ॥

पूजयांचक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम् ।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ॥ २२ ॥

हलायुध बलरामजीको आया देख सबने उनका समादर किया । तदनन्तर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने हाथसे उनके हाथका स्पर्श किया ॥ २२ ॥

वासुदेवपुरोगास्तं सर्व एवाभ्यवादयन् ।
विराटद्रुपदौ वृद्धावभिवाद्य हलायुधः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरेण सहित उपाविशदरिंदमः ।

श्रीकृष्ण आदि सब लोगोंने उन्हें प्रणाम किया । तत्पश्चात् बूढ़े राजा विराट और द्रुपदको प्रणाम करके शत्रुदमन बलराम युधिष्ठिरके साथ बैठे ॥ २३½ ॥

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

फिर उन सब राजाओंके चारों ओर बैठ जानेपर रोहिणीनन्दन बलरामने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा—॥

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः ।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २५ ॥

'जान पड़ता है यह महाभयंकर और दारुण नरसंहार

होगा ही । प्रारब्धके इस विधानको मैं अटल मानता हूँ । अब इसे हटाया नहीं जा सकता ॥ २५ ॥

तस्माद् युद्धात् समुत्तीर्णानपि वः ससुहृज्जनान् ।
अरोगानक्षतैर्देहैर्द्रष्टास्मीति मतिर्मम ॥ २६ ॥

'इस युद्धसे पार हुए आप सब सुहृदोंको मैं अक्षत शरीरसे युक्त और नीरोग देखूँगा । ऐसा मेरा विश्वास है ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं कालपक्वमसंशयम् ।
विमर्दश्च महान् भावी मांसशोणितकर्दमः ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि यहाँ जो-जो क्षत्रिय नरेश एकत्र हुए हैं, उन सबको कालने अपना ग्रास बनानेके लिये पका दिया है। महान् जनसंहार होनेवाला है। इसमें रक्त और मांसकी कीच जम जायगी ॥ २७ ॥

उक्तो मया वासुदेवः पुनः पुनरुपह्वरे ।
सम्बन्धिषु समां वृत्तिं वर्तस्व मधुसूदन ॥ २८ ॥
पाण्डवा हि यथास्माकं तथा दुर्योधनो नृपः ।
तस्यापि क्रियतां साह्यं स पर्येति पुनःपुनः ॥ २९ ॥

'मैंने एकान्तमें श्रीकृष्णसे बार-बार कहा था कि मधुसूदन! अपने सभी सम्बन्धियोंके प्रति एक-सा बर्ताव करो; क्योंकि हमारे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही राजा दुर्योधन है। उसकी भी सहायता करो। वह बार-बार अपने यहाँ चक्कर लगाता है ॥ २८-२९ ॥

तच्च मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः ।
निर्विष्टः सर्वभावेन धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३० ॥

'परंतु युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये ही मधुसूदन श्रीकृष्णने मेरी उस बातको नहीं माना है। ये अर्जुनको देखकर सब प्रकारसे उसीपर निछावर हो रहे हैं ॥ ३० ॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥ ३१ ॥

'मेरा निश्चित विश्वास है कि इस युद्धमें पाण्डवोंकी अवश्य विजय होगी। भारत! श्रीकृष्णका भी ऐसा दृढ़ संकल्प है ॥ ३१ ॥

न चाहमुत्सहे कृष्णमृते लोकमुदीक्षितुम् ।
ततोऽहमनुवर्तामि केशवस्य चिकीर्षितम् ॥ ३२ ॥

'मैं तो श्रीकृष्णके बिना इस सम्पूर्ण जगत्की ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता; अतः ये केशव जो कुछ करना चाहते हैं, मैं उसीका अनुसरण करता हूँ ॥ ३२ ॥

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ॥ ३३ ॥

'भीमसेन और दुर्योधन ये दोनों ही वीर मेरे शिष्य एवं गदायुद्धमें कुशल हैं; अतः मैं इन दोनोंपर एक-सा स्नेह रखता हूँ ॥ ३३ ॥

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ॥ ३४ ॥

'इसलिये मैं सरस्वती नदीके तटवर्ती तीर्थोंका सेवन करनेके लिये जाऊँगा; क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवंशियोंको उस अवस्थामें देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँगा' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निवर्त्य मधुसूदनम् ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु बलरामजी पाण्डवोंसे विदा ले मधुसूदन श्रीकृष्णको संतुष्ट करके तीर्थयात्राके लिये चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि बलरामतीर्थयात्रागमने सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें बलरामजीके तीर्थयात्राके लिये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
हिरण्यरोम्णो नृपतेः साक्षादिन्द्रसखस्य वै ॥ १ ॥
आकृतीनामधिपतिर्भोजस्यातियशस्विनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय अति यशस्वी दाक्षिणात्य देशके अधिपति भोजवंशी तथा इन्द्रके सखा हिरण्यरोमा नामवाले संकल्पोंके स्वामी महामना भीष्मकका सगा पुत्र, सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात रुक्मी, पाण्डवोंके पास आया ॥ १-२ ॥

यः किंपुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

जिसने गन्धमादननिवासी किंपुरुषप्रवर द्रुमका शिष्य होकर चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी ॥

यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ॥ ४ ॥

जिस महाबाहुने गाण्डीवधनुषके तेजके समान ही तेजस्वी विजय नामक धनुष इन्द्रदेवतासे प्राप्त किया था। वह दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न धनुष शार्ङ्गधनुषकी समानता करता था ॥ ४ ॥

त्रीण्येवैतानि दिव्यानि धनूंषि दिविचारिणाम्।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः॥ ५॥

द्युलोकमें विचरनेवाले देवताओंके ये तीन ही धनुष दिव्य माने गये हैं। उनमेंसे गाण्डीव धनुष वरुणका, विजय देवराज इन्द्रका तथा शार्ङ्ग नामक दिव्य तेजस्वी धनुष भगवान् विष्णुका बताया गया है॥ ५॥

धारयामास तत् कृष्णः परसेनाभयावहम्।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः॥ ६॥

शत्रुसेनाको भयभीत करनेवाले उस शार्ङ्ग धनुषको भगवान् श्रीकृष्णने धारण किया और खाण्डवदाहके समय इन्द्रकुमार अर्जुनने साक्षात् अग्निदेवसे गाण्डीवधनुष प्राप्त किया था॥ ६॥

द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत।
संछिद्य मौरवान् पाशान् निहत्य मुरमोजसा॥ ७॥
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च॥ ८॥
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम्।

महातेजस्वी रुक्मीने द्रुमसे विजय नामक धनुष पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेज और बलसे मुर दैत्यके पाशोंका उच्छेद करके भूमिपुत्र नरकासुरको जीतकर जब उसके यहाँसे अदितिके मणिमय कुण्डल वापस ले लिये और सोलह हजार स्त्रियों तथा नाना प्रकारके रत्नोंको अपने अधिकारमें कर लिया, उसी समय उन्हें शार्ङ्ग नामक उत्तम धनुष भी प्राप्त हुआ था॥ ७-८½॥

रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम्॥ ९॥
विभीषयन्निव जगत् पाण्डवानभ्यवर्तत।

रुक्मी मेघकी गर्जनाके समान भयानक टंकार करनेवाले विजय नामक धनुषको पाकर सम्पूर्ण जगत्‌को भयभीत-सा करता हुआ पाण्डवोंके यहाँ आया॥ ९½॥

नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः॥ १०॥
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता।

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबलके घमंडमें आकर पहले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा किये गये रुक्मिणीके अपहरणको नहीं सह सका था॥ १०½॥

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम्॥ ११॥
ततोऽन्वधावद् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः।

वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने यह प्रतिज्ञा करके कि मैं वृष्णिवंशी श्रीकृष्णको मारे बिना अपने नगरको नहीं लौटूँगा, उनका पीछा किया था॥ ११½॥

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया॥ १२॥
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया।

उस समय उसके साथ विचित्र आयुधों और कवचोंसे सुशोभित, दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेमें समर्थ तथा बढ़ी हुई गङ्गाके समान विशाल चतुरंगिणी सेना थी॥ १२½॥

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम्॥ १३॥
व्यंसितो व्रीडितो राजन् नाजगाम स कुण्डिनम्।

राजन्! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचकर उनसे पराजित होनेके कारण लज्जित हो वह पुनः कुण्डिनपुरको नहीं लौटा॥ १३½॥

यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा॥ १४॥
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम्।

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ युद्धमें शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले रुक्मीको हराया था, वहीं रुक्मीने भोजकट नामक उत्तम नगर बसाया॥ १४½॥

सैन्येन महता तेन प्रभूतगजवाजिना॥ १५॥
पुरं तद् भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप।

राजन्! प्रचुर हाथी-घोड़ोंवाली विशाल सेनासे सम्पन्न वह भोजकट नामक नगर सम्पूर्ण भूमण्डलमें विख्यात है १५½

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः॥ १६॥
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत्।

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेनासे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवोंके पास आया।१६½।

ततः स कवची धन्वी तली खड्गी शरासनी॥ १७॥
ध्वजेनादित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम्।

उसने कवच, धनुष, दस्ताने, खड्ग और तरकस धारण किये सूर्यके समान तेजस्वी ध्वजके साथ पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश किया॥ १७½॥

विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया॥ १८॥
युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याभ्यपूजयत्।

वह वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे आया था। पाण्डवोंको उसके आगमनकी सूचना दी गयी, तब राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और उसका यथायोग्य आदर-सत्कार किया॥ १८½॥

स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः॥ १९॥
प्रतिगृह्य तु तान् सर्वान् विश्रान्तः सहसैनिकः।

पाण्डवोंने रुक्मीका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। रुक्मीने भी उन सबको प्रेमपूर्वक अपनाकर सैनिकोंसहित विश्राम किया॥ १९½॥

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम्॥ २०॥
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः॥ २१॥

तदनन्तर वीरोंके बीचमें बैठकर उसने कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—'पाण्डुनन्दन! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं

युद्धमें तुम्हारी सहायताके लिये आ पहुँचा हूँ । मैं इस महायुद्धमें तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओंके लिये असह्य हो उठेगी ॥ २०-२१ ॥

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ॥ २२ ॥

'इस जगत्‌में मेरे समान पराक्रमी दूसरा कोई पुरुष नहीं है। पाण्डुकुमार ! तुम शत्रुओंका जो भाग मुझे सौंप दोगे, मैं समरभूमिमें उसका संहार कर डालूँगा ॥ २२ ॥

अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।
अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ॥ २३ ॥
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।

'मेरे हिस्सेमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, किसीको जीवित नहीं छोड़ूँगा। अथवा यहाँ पधारे हुए ये सब राजा चुपचाप खड़े रहें। मैं अकेला ही समरभूमिमें तुम्हारे सारे शत्रुओंका वध करके तुम्हें पृथ्वीका राज्य अर्पित कर दूँगा' ॥ २३½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च संनिधौ ॥ २४ ॥
शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ २५ ॥
उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।

धर्मराज युधिष्ठिर तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप अन्य सब राजाओंके सुनते हुए रुक्मीके ऐसा कहनेपर परमबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए मित्रभावसे हँसकर कहा—॥ २४-२५½ ॥

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ॥ २६ ॥
द्रोणं व्यपदिशञ्छिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ॥ २७ ॥

'वीर ! मैं कौरवोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। विशेषतः महाराज पाण्डुका पुत्र हूँ। आचार्य द्रोणको अपना गुरु कहता हूँ और स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ। इसके सिवा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं और मैं अपने हाथमें गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ। ऐसी स्थितिमें मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ ? ॥२६-२७॥

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥ २८ ॥

'वीरवर ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायताके लिये आया था ? ॥ २८ ॥

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ २९ ॥

'खाण्डववनमें देवताओं और दानवोंसे परिपूर्ण भयंकर युद्धमें जब मैं अपने प्रतिपक्षियोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा कौन सहायक था ? ॥ २९ ॥

निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।
तत्र मे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३० ॥

'जब निवातकवच तथा कालकेय नामक दानवोंके साथ छिड़े हुए युद्धमें मैं अकेला ही लड़ रहा था, उस समय मेरी सहायताके लिये कौन आया था ? ॥ ३० ॥

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।
युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥ ३१ ॥

'इसी प्रकार विराटनगरमें जब कौरवोंके साथ होनेवाले संग्राममें मैं अकेला ही बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा सहायक कौन था ? ॥ ३१ ॥

उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ॥ ३२ ॥
धारयन् गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।
अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ॥ ३३ ॥
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥ ३४ ॥

'मैंने युद्धमें सफलताके लिये रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर, वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना की है। मैं तेजस्वी, दृढ़ एवं दिव्य गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ। मेरे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए तरकस मौजूद हैं और दिव्यास्त्रोंके ज्ञानसे मेरी शक्ति बढ़ी हुई है। नरश्रेष्ठ ! फिर मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्रके सामने भी 'मैं डरा हुआ हूँ' यह सुयशका नाश करनेवाला वचन कैसे कह सकता है ? ॥ ३२–३४ ॥

नास्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायककी भी आवश्यकता नहीं है। आप अपनी इच्छाके अनुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइये या यहीं रहिये' ॥ ३५॥

वैशम्पायन उवाच

(तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विजयस्य हि धीमतः ।)
विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उन परम बुद्धिमान् अर्जुनका यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र-सदृश विशाल सेनाको लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधनके पास गया ॥३६॥

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ॥ ३७ ॥

दुर्योधनसे मिलकर राजा रुक्मीने उससे भी वैसी ही

बातें कहीं। तब अपनेको शूरवीर माननेवाले दुर्योधनने भी उसकी सहायता लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ ३७ ॥

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥

महाराज! उस युद्धसे दो ही वीर अलग हो गये थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम और दूसरा राजा रुक्मी ॥ ३८ ॥

गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा।
उपाविशन् पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ॥ ३९ ॥

बलरामजीके तीर्थयात्रामें और भीष्मकपुत्र रुक्मीके अपने नगरको चले जानेपर पाण्डवोंने पुनः गुप्त मन्त्रणाके लिये बैठक की ॥ ३९ ॥

समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ॥ ४० ॥

भारत! राजाओंसे भरी हुई धर्मराजकी वह सभा तारों और चन्द्रमासे विचित्र शोभा धारण करनेवाले आकाशकी भाँति सुशोभित हुई ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें रुक्मीप्रत्याख्यानविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गयीं, तब कालप्रेरित कौरवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें व्यूहरचनापूर्वक डट गयीं, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—॥ २ ॥

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ३ ॥

'संजय! यहाँ आओ और कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके पड़ाव पड़ जानेपर वहाँ जो कुछ हुआ हो, वह सब मुझे पूर्णरूपसे बताओ ॥ ३ ॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम्।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान् क्षयोदयान् ॥ ४ ॥
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम्।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ॥ ५ ॥

'मैं तो समझता हूँ' दैव ही प्रबल है। उसके सामने पुरुषार्थ व्यर्थ है; क्योंकि मैं युद्धके दोषोंको अच्छी तरह जानता हूँ। वे दोष भयंकर संहार उपस्थित करनेवाले हैं, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि ठगविद्याके पण्डित तथा कपटद्यूत करनेवाले अपने पुत्रको न तो रोक सकता हूँ और न अपना हित-साधन ही कर सकता हूँ ॥ ४-५ ॥

भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ॥ ६ ॥

'सूत! मेरी बुद्धि उपर्युक्त दोषोंको बारंबार देखती और समझती है तो भी दुर्योधनसे मिलनेपर पुनः बदल जाती है ॥ ६ ॥

एवं गते वै यद् भावि तद् भविष्यति संजय।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ॥ ७ ॥

'संजय! ऐसी दशामें अब जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं, युद्धमें शरीरका त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रियधर्म है' ॥ ७ ॥

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ ८ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपने जो कुछ पूछा है और आप जैसा चाहते हैं, वह सब आपके योग्य है; परंतु आपको युद्धका दोष दुर्योधनके माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥

शृणुष्वानवशेषेण वदतो मम पार्थिव।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ॥ ९ ॥

भूपाल! मैं सारी बातें बता रहा हूँ, आप सुनिये। जो मनुष्य अपने बुरे आचरणसे अशुभ फल पाता है, वह काल अथवा देवताओंपर दोषारोपण करनेका अधिकारी नहीं है ॥

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ १० ॥

महाराज ! जो पुरुष दूसरे मनुष्योंके साथ सर्वथा निन्दनीय व्यवहार करता है, वह निन्दित आचरण करनेवाला पापात्मा सब लोगोंके लिये वध्य है ॥ १० ॥

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! जूएके समय जो बारंबार छल-कपट और अपमानके शिकार हुए थे, अपने मन्त्रियोंसहित उन पाण्डवोंने केवल आपका ही मुँह देखकर सब तरहके तिरस्कार सहन किये हैं ॥ ११ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
वैशसं समरे वृत्तं यत् तन्मे शृणु सर्वशः ॥ १२ ॥

इस समय युद्धके कारण घोड़ों, हाथियों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका जो विनाश प्राप्त हुआ है, उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझसे सुनिये ॥ १२ ॥

स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम् ।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ॥ १३ ॥

महामते ! इस महायुद्धमें सम्पूर्ण लोकोंके विनाशको सूचित करनेवाला जो-जो वृत्तान्त जैसे-जैसे घटित हुआ है, वह सब स्थिर होकर सुनिये और सुनकर एकचित्त बने रहिये (व्याकुल न होइये) ॥ १३ ॥

न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

क्योंकि मनुष्य पुण्य और पापके फलभोगकी प्रक्रियामें स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि मनुष्य प्रारब्धके अधीन है, उसे तो कठपुतलीकी भाँति उस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ता है ॥

केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया ।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत् प्रदृश्यते ।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ॥ १५ ॥

कोई ईश्वरकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, कुछ लोग आकस्मिक संयोगवश कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा दूसरे बहुत-से लोग अपने पूर्वकर्मोंकी प्रेरणासे कार्य करते हैं। इस प्रकार ये कार्यकी त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं, इसलिये इस महान् संकटमें पड़कर आप स्थिरभावसे (स्वस्थ चित्त होकर) सारा वृत्तान्त सुनिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि संजयवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें संजयवाक्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(उलूकदूतागमनपर्व)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! महात्मा पाण्डवोंने जब हिरण्वती नदीके तटपर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवोंने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थानपर अपनी छावनी डाली ॥

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्मानयित्वा नृपतीन् न्यस्य गुल्मांस्तथैव च ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने वहाँ अपनी शक्तिशालिनी सेना ठहराकर समस्त राजाओंका समादर करके उन सबकी रक्षाके लिये कई गुल्म सैनिकोंकी टुकड़ियोंको तैनात कर दिया ॥ २ ॥

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ३ ॥
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत ।

भारत ! इस प्रकार योद्धाओंके संरक्षणकी व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिको बुलाकर गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥ ३½ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ॥ ४ ॥
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ५ ॥
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! दुर्योधनने कर्ण, भाई दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिसे सम्भाषण एवं सलाह करके उलूकको एकान्तमें बुलाकर उसे इस प्रकार कहा—॥

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ॥ ६ ॥
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।
इदं तत् समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ॥ ७ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयंकरम् ।

द्यूतकुशल शकुनिके पुत्र उलूक ! तुम सोमकों और पाण्डवोंके पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर वासुदेव श्रीकृष्णके सामने ही उनसे मेरा यह संदेश कहो—'कितने ही वर्षोंसे जिसका विचार चल रहा था, वह सम्पूर्ण जगत्के लिये

अत्यन्त भयंकर कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अब सिरपर आ पहुँचा है ॥ ६-७½ ॥

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ॥ ८ ॥
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते ।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति ।

'कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णकी सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजयसे जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कही थीं और जिन्हें संजयने कौरवोंकी सभामें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखानेका यह अवसर आ गया है । तुमलोगोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन सबको पूर्ण करो' ॥ ८-९½ ॥

ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ॥ १० ॥

उलूक ! तुम मेरे कहनेसे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके सामने जाकर इस प्रकार कहना—॥ १० ॥

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः ।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥ ११ ॥

'राजन् ! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो । धर्मात्मा होकर अधर्ममें कैसे मन लगा रहे हो ? ॥ ११ ॥

य इच्छसि जगत् सर्वं नश्यमानं नृशंसवत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ॥ १२ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास था कि तुमने समस्त प्राणियोंको अभयदान दे दिया है; परंतु इस समय तुम एक निर्दय मनुष्यकी भाँति सम्पूर्ण जगत्का विनाश देखना चाहते हो॥

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो । सुना जाता है कि पूर्वकालमें जब देवताओंने प्रह्लादका राज्य छीन लिया था, तब उन्होंने इस श्लोकका गान किया था ॥ १३ ॥

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरा ध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद् व्रतम् ॥ १४ ॥

'देवताओ ! साधारण ध्वजकी भाँति जिसकी धर्ममयी ध्वजा सदा ऊँचेतक फहराती रहती है; परंतु जिसके द्वारा गुप्तरूपसे पाप भी होते रहते हैं, उसके उस व्रतको बिडालव्रत कहते हैं ॥ १४ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम् ।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! इस विषयमें तुम्हें यह उत्तम आख्यान सुना रहा हूँ, जिसे नारदजीने मेरे पिताजीसे कहा था ॥ १५ ॥

मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु ।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन् गङ्गातीरे कदाचन ॥ १६ ॥

'राजन् ! यह प्रसिद्ध है कि किसी समय एक दुष्ट बिलाव दोनों भुजाएँ ऊपर किये गङ्गाजीके तटपर खड़ा रहा । वह किसी भी कार्यके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करता था ॥ १६ ॥

स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम् ।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ॥ १७ ॥

'इस प्रकार समस्त देहधारियोंपर विश्वास जमानेके लिये वह सभी प्राणियोंसे यही कहा करता था कि अब मैं मानसिक शुद्धि करके—हिंसा छोड़कर धर्माचरण कर रहा हूँ ॥१७॥

तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः ।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ॥ १८ ॥

'राजन् ! दीर्घकालके पश्चात् धीरे-धीरे पक्षियोंने उसपर विश्वास कर लिया । अब वे उस बिलावके पास आकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः ।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ॥ १९ ॥

'पक्षियोंको अपना आहार बनानेवाला वह बिलाव जब उन समस्त पक्षियोंद्वारा अधिक आदर-सत्कार पाने लगा, तब उसने यह समझ लिया कि मेरा काम बन गया और मुझे धर्मानुष्ठानका भी अभीष्ट फल प्राप्त हो गया ॥ १९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः ।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ॥ २० ॥

'तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् उस स्थानमें चूहे भी गये । वहाँ जाकर उन्होंने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उस धर्मात्मा बिलावको देखा ॥ २० ॥

कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत ।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत् तत्र विनिश्चये ॥ २१ ॥

'भारत ! दम्भयुक्त महान् कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे हुए उस बिलावको देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ ॥

बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम् ।
रक्षां करोतु सततं वृद्धबालस्य सर्वशः ॥ २२ ॥

'हम सब लोगोंके बहुत-से मित्र हैं, अतः अब यह बिलाव भी हमारा मामा होकर रहे और हमारे यहाँ जो वृद्ध तथा बालक हैं, उन सबकी सदा रक्षा करता रहे ॥ २२ ॥

उपगम्य तु ते सर्वे बिडालमिदमब्रुवन् ।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ॥ २३ ॥
भवान् नो गतिरव्यग्रा भवान् नः परमः सुहृत् ।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ २४ ॥

'यह सोचकर वे सभी उस बिलावके पास गये और इस प्रकार बोले—'मामाजी ! हम सब लोग आपकी कृपासे सुख-

पूर्वक विचरना चाहते हैं। आप ही हमारे निर्भय आश्रय हैं और आप ही हमारे परम सुहृद् हैं। हम सब लोग एक साथ संगठित होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २३-२४ ॥

भवान् धर्मपरो नित्यं भवान् धर्मे व्यवस्थितः।
स नो रक्ष महाप्रज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ॥ २५ ॥

'आप सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और धर्ममें ही आपकी निष्ठा है। महामते ! जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमारा संरक्षण करें' ॥२५॥

एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते।
प्रत्युवाच ततः सर्वान् मूषिकान् मूषिकान्तकृत् ॥२६॥
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ॥ २७ ॥

'प्रजानाथ ! उन सम्पूर्ण चूहोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मूषकोंके लिये यमराजस्वरूप उस बिलावने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं तपस्या भी करूँ और तुम्हारी रक्षा भी—इन दोनों कार्योंका परस्पर सम्बन्ध मुझे दिखायी नहीं देता है—ये दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते हैं। तथापि मुझे तुमलोगोंके हितकी बात भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः।
तपसास्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ॥ २८ ॥
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित् पश्यामि चिन्तयन्।
सोऽस्मि नेयः सदा ताता नदीकूलमितः परम् ॥ २९ ॥

'तुम्हें भी प्रतिदिन मेरी एक आज्ञाका पालन करना होगा। मैं तपस्या करते-करते बहुत थक गया हूँ और दृढ़तापूर्वक संयम-नियमके पालनमें लगा रहता हूँ। बहुत सोचनेपर भी मुझे अपने भीतर चलने-फिरनेकी कोई शक्ति नहीं दिखायी देती; अतः तात ! तुम्हें सदा मुझे यहाँसे नदीके तटतक पहुँचाना पड़ेगा' ॥ २८-२९ ॥

तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ॥ ३० ॥

'भरतश्रेष्ठ ! 'बहुत अच्छा' कहकर चूहोंने बिलावकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हामी भर ली और वृद्ध तथा बालकोंसहित अपना सारा परिवार उस बिलावको सौंप दिया ॥

ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन्।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ॥ ३१ ॥

'फिर तो वह पापी एवं दुष्टात्मा बिलाव प्रतिदिन चूहोंको खा-खाकर मोटा और सुन्दर होने लगा। उसके अङ्गोंकी एक-एक जोड़ मजबूत हो गयी ॥ ३१ ॥

मूषिकाणां गणश्चात्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ॥ ३२ ॥

'इधर चूहोंकी संख्या बड़े वेगसे घटने लगी और वह बिलाव तेज और बलसे सम्पन्न हो प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्यान्योऽन्यमब्रुवन्।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ॥ ३३ ॥

'तब वे चूहे परस्पर मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—'क्यों जी ! क्या कारण है कि मामा तो नित्य मोटा-ताजा होता जा रहा है और हमारी संख्या बड़े वेगसे घटती चली जा रही है' ॥ ३३ ॥

ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः।
अब्रवीद् वचनं राजन् मूषिकाणां महागणम् ॥ ३४ ॥
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ॥ ३५ ॥

'राजन् ! उन चूहोंमें कोई डिंडिक नामवाला चूहा सबसे अधिक समझदार था। उसने मूषकोंके उस महान् समुदायसे इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग विशेषतः एक साथ नदीके तटपर जाओ। पीछेसे मैं भी मामाके साथ ही वहाँ जाऊँगा' ॥ ३४–३५ ॥

साधु साध्विति ते सर्वे पूजयांचक्रिरे तदा।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ॥ ३६ ॥

'तब 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उन सबने डिंडिककी बड़ी प्रशंसा की और यथोचितरूपसे उसके सार्थक वचनोंका पालन किया ॥ ३६ ॥

अविज्ञानात् ततः सोऽथ डिण्डिकं ह्युपभुक्तवान्।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ३७ ॥

'बिलावको चूहोंकी जागरूकताका कुछ पता नहीं था। अतः वह डिंडिकको भी खा गया। तदनन्तर एक दिन सब चूहे एक साथ मिलकर आपसमें सलाह करने लगे ॥ ३७ ॥

तत्र वृद्धतमः कश्चित् कोलिको नाम मूषिकः।
अब्रवीद् वचनं राजन् ज्ञातिमध्ये यथातथम् ॥ ३८ ॥

'उनमें कोलिक नामसे प्रसिद्ध कोई चूहा था, जो अपने भाई-बन्धुओंमें सबसे बूढ़ा था। उसने सब लोगोंको यथार्थ बात बतायी—॥ ३८ ॥

न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ॥ ३९ ॥

'भाइयो ! मामाको धर्माचरणकी रत्तीभर भी कामना नहीं है। उसने हम-जैसे लोगोंको धोखा देनेके लिये ही जटा बढ़ा रक्खी है। जो फल—मूल खानेवाला है, उसकी विष्ठामें बाल नहीं होते ॥ ३९ ॥

अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते।
अद्य सप्ताष्टदिवसान् डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ॥ ४० ॥

'उसके अङ्ग दिनों-दिन हृष्ट-पुष्ट होते जाते हैं और हमारा यह दल रोज-रोज घटता जा रहा है। आज सात-

आठ दिनोंसे डिंडिकका भी दर्शन नहीं हो रहा है' ॥ ४० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
बिडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ॥ ४१ ॥

'कोलिककी यह बात सुनकर सब चूहे भाग गये और वह दुष्टात्मा विलाव भी अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था, वैसे चला गया ॥ ४१ ॥

तथा त्वमपि दुष्टात्मन् बैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा बिडालो मूषिकेष्विव ॥ ४२ ॥

'दुष्टात्मन् ! तुमने भी इसी प्रकार बिडालव्रत धारण कर रक्खा है । जैसे चूहोंमें बिडालने धर्माचरणका ढोंग रच रक्खा था, उसी प्रकार तुम भी जाति-भाइयोंमें धर्माचारी बने फिरते हो ॥ ४२ ॥

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥

'तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं; परंतु कर्म कुछ और ही ढंगका दिखायी देता है । तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्त स्वभाव लोगोंको दिखानेके लिये पाखण्डमात्र है ॥४३॥

त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन् क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! यदि तुम धर्मनिष्ठ हो तो यह छल-छद्म छोड़कर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले उसीके अनुसार सब कार्य करो ॥ ४४ ॥

बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अपने बाहुबलसे इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त करके तुम ब्राह्मणोंको दान दो और पितरोंको उनका यथोचित भाग अर्पण करो ॥ ४५ ॥

क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥

'तुम्हारी माता वर्षोंसे कष्ट भोग रही है; अतः माताके हितमें तत्पर हो उसके आँसू पोंछो और युद्धमें विजय प्राप्त करके परम सम्मानके भागी बनो ॥ ४६ ॥

पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नास्माभिरपवर्जिताः ।
युध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

'तुमने केवल पाँच गाँव माँगे थे, परंतु हमने प्रयत्न-पूर्वक तुम्हारी वह माँग इसलिये ठुकरा दी है कि पाण्डवोंको किसी प्रकार कुपित करें, जिससे संग्राम-भूमिमें उनके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

त्वत्कृते दुष्टभावस्य संत्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥

'तुम्हारे लिये ही मैंने दुष्टात्मा विदुरका परित्याग कर दिया है । लाक्षागृहमें अपने जलाये जानेकी घटनाका स्मरण करो और अबसे भी मर्द बन जाओ ॥ ४८ ॥

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५० ॥

'तुमने कौरव-सभामें आये हुए श्रीकृष्णसे जो यह संदेश दिलाया था कि 'राजन् ! मैं शान्ति और युद्ध दोनों-के लिये तैयार हूँ ।' नरेश्वर ! उस समरका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । युधिष्ठिर ! इसीके लिये मैंने यह सब कुछ किया है ॥ ४९-५० ॥

किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

'भला, क्षत्रिय युद्धसे बढ़कर दूसरे किस लाभको महत्त्व देता है ? इसके सिवा, तुमने भी तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर इस पृथ्वीपर बड़ी ख्याति प्राप्त की है ॥ ५१ ॥

द्रोणादस्त्राणि संप्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या प्राप्त करके जाति और बलमें हमारे समान होते हुए भी तुमने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय ले रक्खा है (फिर तुम्हें युद्धसे क्यों डरना या पीछे हटना चाहिये ?)' ॥५२॥

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रति योधय ॥ ५३ ॥

उलूक ! तुम पाण्डवोंके समीप वासुदेव श्रीकृष्णसे भी कहना—'जनार्दन ! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परताके साथ अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो ॥

सभामध्ये च यद् रूपं मायया कृतवानसि ।
तत् तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥

'तुमने सभामें मायाद्वारा जो विकट रूप बना लिया था; उसे पुनः उसी रूपमें प्रकट करके अर्जुनके साथ मुझपर धावा बोल दो ॥ ५४ ॥

इन्द्रजालं च माया वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥

'इन्द्रजाल, माया अथवा भयानक कृत्या—ये युद्धमें हथियार उठाये हुए शूरवीरके क्रोध एवं सिंहनादको और भी बढ़ा देती हैं (उसे डरा नहीं सकतीं) ॥ ५५ ॥

वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥

'हम भी मायासे आकाशमें उड़ सकते हैं, अन्तरिक्षमें जा सकते हैं तथा रसातल या इन्द्रपुरीमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि ।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥

'इतना ही नहीं, हम अपने शरीरमें बहुत-से रूप भी प्रकट करके दिखा सकते हैं; परंतु इन सब प्रदर्शनोंसे न तो अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है और न अपना शत्रु ही मानवीय बुद्धि अर्थात् भयको प्राप्त हो सकता है ॥ ५७ ॥

मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे ।
यद् ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम् ।
आचचक्षे च मे सर्वं संजयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥

'एकमात्र विधाता ही अपने मानसिक संकल्पमात्रसे समस्त प्राणियोंको वशमें कर लेता है । वार्ष्णेय ! तुम जो यह कहा करते थे कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मरवाकर उनका सारा उत्तम राज्य कुन्तीके पुत्रोंको दे दूँगा । तुम्हारा वह सारा भाषण संजयने मुझे सुना दिया था ॥

मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना ।
स सत्यसंगरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

'तुमने यह भी कहा था कि 'कौरवो ! मैं जिनका सहायक हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ तुम्हारा वैर बढ़ रहा है', इत्यादि । अतः अब सत्यप्रतिज्ञ होकर पाण्डवोंके लिये पराक्रमी बनो ॥ ६० ॥

युध्यस्वाद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव ।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥
करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम् ।

'युद्धमें अब प्रयत्नपूर्वक डट जाओ । हम तुम्हारी राह देखते हैं । अपने पुरुषत्वका परिचय दो । जो पुरुष शत्रुको अच्छी तरह समझ-बूझकर विशुद्ध पुरुषार्थका आश्रय ले शत्रुओंको शोकमग्न कर देता है, वही श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है ॥ ६१½ ॥

अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद् यशः ॥ ६२ ॥
अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सश‍ृङ्गकाः ।

'श्रीकृष्ण ! मैं देखता हूँ संसारमें अकस्मात् ही तुम्हारा महान् यश फैल गया है; परंतु अब इस समय हमें मालूम हुआ है कि जो लोग तुम्हारे पूजक हैं, वे वास्तवमें पुरुषत्वका चिह्न धारण करनेवाले हिजड़े ही हैं ॥ ६२½ ॥

मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ॥ ६३ ॥
संनाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः ।

'मेरे-जैसे राजाको तुम्हारे साथ, विशेषतः कंसके एक सेवकके साथ लड़नेके लिये कवच धारण करके युद्धभूमिमें उतरना किसी तरह उचित नहीं है' ॥ ६३½ ॥

तं च तूबरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ॥ ६४ ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम् ।
विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ॥ ६५ ॥
बल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम् ।

'उलूक ! उस बिना मूँछोंके मर्द (अथवा बोझ ढोनेवाले बैल), अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीमसेनसे भी बारंबार मेरा यह संदेश कहना 'कुन्तीकुमार ! पहले विराटनगरमें जो तू रसोइया बनकर रहा और बल्लवके नामसे विख्यात हुआ, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ था ६४-६५½

प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ॥ ६६ ॥
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ।

'पहले कौरवसभामें तूने जो प्रतिज्ञा की थी, वह मिथ्या नहीं होनी चाहिये । यदि तुझमें शक्ति हो तो आकर दुःशासनका रक्त पी लेना ॥ ६६½ ॥

यद् ब्रवीषि च कौन्तेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ६७ ॥
निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः ।

'कुन्तीकुमार ! तुम जो कहा करते हो कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगपूर्वक मार डालूँगा, उसका यह समय आ गया है ॥ ६७½ ॥

त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ॥ ६८ ॥
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव ।

'भारत ! तुम निरे भोजनभट्ट हो । अतः अधिक खाने-पीनेमें पुरस्कार पानेके योग्य हो । किंतु कहाँ युद्ध और कहाँ भोजन ? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो ।६८½।

शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ॥ ६९ ॥
तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर ।

'भारत ! युद्धभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाकर तुम गदाको छातीसे लगाये सदाके लिये सो जाओगे । वृकोदर ! तुमने सभामें जाकर जो उछल-कूद मचायी थी, वह व्यर्थ ही है' ॥ ६९½ ॥

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ॥ ७० ॥
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम् ।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ॥ ७१ ॥

उलूक ! नकुलसे भी कहना—'भारत ! तुम मेरे कहनेसे अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो । हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे । तुम युधिष्ठिरके प्रति अपने अनुरागको, मेरे प्रति बढ़े हुए द्वेषको तथा द्रौपदीके क्लेशको भी इन दिनों अच्छी तरहसे याद कर लो' ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम ।
युद्धयेदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ॥ ७२ ॥

उलूक ! तुम राजाओंके बीच सहदेवसे भी मेरी यह बात कहना—'पाण्डुनन्दन ! पहलेके दिये हुए क्लेशोंको याद कर लो और अब तत्पर होकर समरभूमिमें युद्ध करो' ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः ॥ ७३ ॥
तथार्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चागतम् ॥ ७४ ॥

'तदनन्तर विराट और द्रुपदसे भी मेरी ओरसे कहना—'विधाताने जबसे प्रजाकी सृष्टि की है, तभीसे परम गुणवान् सेवकोंने भी अपने स्वामियोंकी अच्छी तरह परख नहीं की; उनके गुण-अवगुणको भलीभाँति नहीं पहिचाना । इसी प्रकार स्वामियोंने भी सेवकोंको ठीक-ठीक नहीं समझा । इसीलिये युधिष्ठिर श्रद्धाके योग्य नहीं हैं, तो भी तुम दोनों उन्हें अपना राजा मानकर उनकी ओरसे युद्धके लिये यहाँ आये हो ॥७३-७४॥

ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह ॥ ७५ ॥

'इसलिये तुम सब लोग संगठित होकर मेरे वधके लिये प्रयत्न करो । अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ७५ ॥

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः ॥ ७६ ॥

'फिर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको भी मेरा यह संदेश सुना देना—'राजकुमार ! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है । तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जायँगे ॥७६॥

द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम् ।
युध्यस्व ससुहृत् पापं कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ७७ ॥

'समरभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर ही तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारा उत्तम हित किस बातमें है । आओ, अपने सुहृदोंके साथ रहकर युद्ध करो और गुरुके वधका अत्यन्त दुष्कर पाप कर डालो' ॥ ७७ ॥

शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम ।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः ॥ ७८ ॥
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भयः ।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव ॥ ७९ ॥

'उलूक ! इसके बाद तुम शिखण्डीसे भी मेरी यह बात कहना—'धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गङ्गापुत्र कुरुवंशी महाबाहु भीष्म तुम्हें स्त्री समझकर नहीं मारेंगे; इसलिये तुम अब निर्भय होकर युद्ध करना और समरभूमिमें यत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करना । हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे' ॥ ७८-७९ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत् ।
धनंजयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ८० ॥

ऐसा कहते-कहते राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा । तत्पश्चात् उलूकसे पुनः इस प्रकार बोला—'उलूक ! तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे पुनः इस प्रकार कहना—॥ ८० ॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि ॥ ८१ ॥

'वीर धनंजय ! या तो तुम्हीं हमलोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे ही हाथोंसे मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जाओ ॥ ८१ ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ८२ ॥

'पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासित होने, वनमें निवास करने तथा द्रौपदीके अपमानित होनेके क्लेशोंको याद करके अब भी तो मर्द बनो ॥ ८२ ॥

यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम् ।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम् ॥ ८३ ॥
पौरुषं दर्शयन् युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ।

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र पैदा करती है, वह सब प्रयोजन सिद्ध करनेका यह समय आ गया है । तुम युद्धमें बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालनकी फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोधको (हमारे ऊपर प्रयोग करके) शान्त कर लो ॥ ८३½ ॥

परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च ।
हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च ॥ ८४ ॥

'जिसे नाना प्रकारका क्लेश दिया गया हो, दीर्घकालके लिये राज्यसे निर्वासित किया गया हो तथा जिसे राज्यसे वञ्चित होकर दीनभावसे जीवन बिताना पड़ा हो, ऐसे किस स्वाभिमानी पुरुषका हृदय विदीर्ण न हो जायगा ? ॥

कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृध्यतः ।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत् ॥ ८५ ॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूरवीर तथा पराये धनके प्रति लोभ न रखनेवाला हो, उसके राज्यको यदि कोई दबा बैठा हो तो वह किस वीरके क्रोधको उद्दीप्त न कर देगा ? ॥ ८५ ॥

यत् तदुक्तं महद् वाक्यं कर्मणा तद् विभाव्यताम् ।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः ॥ ८६ ॥

'तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें कही हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करके दिखाओ । जो क्रियाद्वारा कुछ न करके केवल मुँहसे बातें बनाता है, उसे सज्जन पुरुष कायर मानते हैं ॥

अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर ।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात् तत् कुरु पौरुषम् ॥ ८७ ॥

'तुम्हारा स्थान और राज्य शत्रुओंके हाथमें पड़ा है, उसका पुनरुद्धार करो । युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके ये दो ही प्रयोजन होते हैं; अतः उनकी सिद्धिके लिये पुरुषार्थ करो ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ८८ ॥

'तुम जूएमें पराजित हुए और तुम्हारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लाया गया । अपनेको पुरुष माननेवाले किसी भी मनुष्यको इन बातोंके लिये भारी अमर्ष हो सकता है ॥८८॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८९ ॥

'तुम बारह वर्षोंतक राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे हो और एक वर्षतक तुम्हें विराटका दास होकर रहना पड़ा है ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९० ॥

'पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासनका, वनवासका और द्रौपदीके अपमानका क्लेश याद करके तो मर्द बनो ॥ ९० ॥

अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ॥ ९१ ॥

'हमलोग बार-बार तुमलोगोंके प्रति अप्रिय वचन कहते हैं। तुम हमारे ऊपर अपना अमर्ष तो दिखाओ; क्योंकि अमर्ष ही पौरुष है ॥ ९१ ॥

क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम्।
इह ते दृश्यतां पार्थ युद्ध्यस्व पुरुषो भव ॥ ९२ ॥

'पार्थ ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलानेकी फुर्ती आदि गुणोंको देखें। युद्ध करो और अपने पुरुषत्वका परिचय दो ॥ ९२ ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम्।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युद्ध्यस्व सकेशवः॥९३॥

'अब लोहमय अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर तैयार करनेका कार्य पूरा हो चुका है। कुरुक्षेत्रकी कीच भी सूख गयी है। तुम्हारे घोड़े खूब हृष्ट-पुष्ट हैं और सैनिकोंका भी तुमने अच्छी तरह भरण-पोषण किया है; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ९३ ॥

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ९४ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव।

'अभी युद्धमें भीष्मजीके साथ मुठभेड़ किये बिना तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई शक्तिहीन एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़ना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी अपनी झूठी बड़ाई करते हो। मिथ्या आत्मप्रशंसा न करके पुरुष बनो ॥ ९४½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ ९५ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ ९६ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं बलवानोंमें अग्रगण्य द्रोणाचार्यको युद्धमें परास्त किये बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ ९५-९६ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ ९७ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ ९८ ॥

'कुन्तीपुत्र ! आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद इन दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। ये युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यभागमें विचरनेवाले तथा युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले हैं। इन महातेजस्वी द्रोणको जो तुम जीतनेकी इच्छा रखते हो, वह मिथ्या साहसमात्र है। वायुने सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया है (इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी आचार्यको जीतना असम्भव है) ॥ ९७-९८ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम्।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम्॥९९॥

'तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो जाय, तब तो हवा मेरुको उठा ले, स्वर्गलोक इस पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ ९९ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम्।
पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यः स्वस्ति गृहान् व्रजेत्।१००।

'अर्जुन हो या दूसरा कोई, जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें इन शत्रुदमन आचार्यके पास पहुँचकर कुशलपूर्वक घरको लौट सके ? ॥ १०० ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा।
रणे जीवन् प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥१०१॥

'ये दोनों द्रोण और भीष्म जिसे मारनेका निश्चय कर लें अथवा उनके भयानक अस्त्र आदिसे जिसके शरीरका स्पर्श हो जाय, ऐसा कोई भी भूतलनिवासी मरणधर्मा मनुष्य युद्धमें जीवित कैसे बच सकता है ? ॥ १०१ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम्।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥१०२॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥१०३॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी (समुद्रतुल्य) उस सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ १०२-१०३ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम्।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥१०४॥

'ओ अल्पबुद्धि मूढ़ अर्जुन ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना

असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ? ॥

अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम्।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ॥१०५॥

'भारत ! हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस हैं, अग्निदेवका दिया हुआ दिव्य रथ है और युद्धकालमें उसपर दिव्य ध्वजा फहराने लगती है ॥ १०५ ॥

अकत्थमानो युद्ध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥१०६॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो। बहुत शेखी क्यों बघारते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है। झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ १०६ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥१०७॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ?

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम्।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥१०८॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ १०८ ॥

न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः।
मनसैवानुकूलानि धातैव कुरुते वशे ॥१०९॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा सिद्धि नहीं पाता, केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ १०९ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ॥११०॥

'तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा। अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥११०॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥१११॥

'दास अर्जुन ! जब तुम जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ १११ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा फाल्गुनाद् वा सगाण्डिवात्।
न वै मोक्षस्तदाभूद् वो विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥११२॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ११२ ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोचयामास पार्षती।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥११३॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे। उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥ ११३ ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत्।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥११४॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था; वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ११४ ॥

सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे।
भीमसेनेन कौन्तेय यत् तु तन्मम पौरुषम् ॥११५॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ११५ ॥

एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥११६॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है। इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजाके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ११६ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥११७॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा। तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥११७॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥११८॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए वीरके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (उसे भयभीत नहीं कर सकतीं हैं) ॥ ११८ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥११९॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ॥

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम्।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥१२०॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो

या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥ १२० ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥१२१॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महान् सर्प है, बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले विशाल ज्वारके समान है, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें है ॥ १२१ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥१२२॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य क्रमशः मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥१२३॥

'दुःशासन उसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है ॥ १२३ ॥

शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥१२४॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं । यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है । इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ १२४ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥१२५॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है (क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है); उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीपर राज्यशासन करनेसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा । अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ । राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है । जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१६०।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना

संजय उवाच

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवेयैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जुआरी शकुनिका पुत्र उलूक पाण्डवोंकी छावनीमें जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोला—॥१॥

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥ २ ॥

'राजन् ! आप दूतके वचनोंका मर्म जाननेवाले हैं । दुर्योधनने जो संदेश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा । उसे सुनकर आपको मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये'।२।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—उलूक ! तुम्हें (तनिक भी) भय नहीं है । तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधनका अभिप्राय सुनाओ ॥ ३ ॥

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ॥ ५ ॥

(संजय कहते हैं—) तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृञ्जयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रों-सहित द्रुपद और विराटके समीप समस्त राजाओंके बीचमें उलूकने यह बात कही ॥ ४-५ ॥

उलूक उवाच

इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

उलूक बोला—महाराज युधिष्ठिर ! महामना धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने कौरववीरोंके समक्ष आपको यह संदेश कहलाया है, इसे सुनिये ॥ ६ ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ७ ॥

'तुम जूएमें हारे और तुम्हारी पत्नी द्रौपदीको सभामें

लाया गया। इस दशामें अपनेको पुरुष माननेवाला प्रत्येक मनुष्य क्रोध कर सकता है ॥ ७ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८ ॥

'बारह वर्षोंतक तुम राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे और एक वर्षतक तुम्हें राजा विराटका दास बनकर रहना पड़ा ॥

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९ ॥

'पाण्डुनन्दन! तुम अपने अमर्षको, राज्यके अपहरणको, वनवासको और द्रौपदीको दिये गये क्लेशको भी याद करके मर्द बनो ॥ ९ ॥

अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

'पाण्डुपुत्र! तुम्हारे भाई भीमसेनने उस समय कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण जो दुर्वचन कहा था, उसे याद करके वे आवें और यदि शक्ति हो, तो दुःशासनका रक्त पीयें ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम्।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः॥ ११॥

'लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर उन्हें तैयार करने आदिका कार्य पूरा हो गया है, कुरुक्षेत्रकी कीचड़ सूख गयी है, मार्ग बराबर हो गया है और तुम्हारे अश्व भी खूब पले हुए हैं; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो। ११।

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १२ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव।

'युद्धक्षेत्रमें भीष्मका सामना किये बिना ही तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो? कुन्तीनन्दन! जैसे कोई अशक्त एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करे, उसी प्रकार तुम भी अपने बारेमें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो! बातें न बनाओ; पुरुष बनो (पुरुषत्वका परिचय दो) ॥ १२½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ १३ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ १४ ॥

'पार्थ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें शचीपति इन्द्रके समान पराक्रमी महाबली द्रोणको युद्धमें जीते बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो? ॥ १३-१४ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ १५ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ १६ ॥

'आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। वे युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यमें विचरनेवाले तथा संग्रामभूमिसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं। पार्थ! तुम उन्हीं महातेजस्वी द्रोणको जो जीतनेकी इच्छा करते हो, वह व्यर्थ दुःसाहसमात्र है। वायुने कभी सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया ॥ १५-१६ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम्।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम्॥ १७ ॥

'तुम जैसा मुझसे कहते हो, वैसा ही यदि सम्भव हो जाय, तब तो वायु भी सुमेरु पर्वतको उठा ले, स्वर्गलोक पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ १७ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम्।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ॥ १८ ॥

'जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन ऐसा हाथीसवार, घुड़सवार अथवा रथी है, जो इन शत्रुमर्दन द्रोणसे भिड़कर कुशलपूर्वक अपने घरको लौट सके? ॥ १८ ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा।
रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १९ ॥

'भीष्म और द्रोणने जिसे मारनेका निश्चय कर लिया हो अथवा जो युद्धमें इनके भयंकर अस्त्रोंसे छू गया हो, ऐसा कौन भूतलनिवासी जीवित बच सकता है? ॥ १९ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम्।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ २० ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥ २१ ॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी उस (समुद्रतुल्य) सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते? ॥ २०-२१ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम्।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ २२ ॥

'अल्पबुद्धि मूढ़ युधिष्ठिर! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ

दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ?' । २२ ।

इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उलूक अर्जुनकी ओर मुड़ा और तत्पश्चात् उनसे भी इस प्रकार कहने लगा—॥ २३ ॥

अकत्थमानो युध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥ २४ ॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो । बहुत आत्म-प्रशंसा क्यों करते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है । झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ २४ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ २५ ॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ? । २५ ।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ २६ ॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लम्बा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ २६ ॥

न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।
मनसैवानुकूलानि विधाता कुरुते वशे ॥ २७ ॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा राज्य नहीं पाता; केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ २७ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ॥ २८ ॥

'तुम रोते-विलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा । अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥ २८ ॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासः पणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २९ ॥

'दास अर्जुन ! जब तुमलोग जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ २९ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा पार्थाद् वापि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥ ३० ॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ३० ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ३१ ॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे । उस समय उस द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ३२ ॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ३२ ॥

सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ॥ ३३ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ३३ ॥

एवमेतत् सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ३४ ॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है । इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजा विराटकी कन्याको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ३४ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥ ३५ ॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा । तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ३५ ॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ३६ ॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए मुझ दुर्योधनके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (मुझे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ३६ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ३७ ॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे । ३७ ।

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ ३८ ॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ ३९ ॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महासर्प है,

बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले महान् ज्वारके समान हैं, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें हैं ॥ ३९ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ ४० ॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें वड़वानल हैं ॥ ४० ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ ४१ ॥

'दुःशासन इसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है।४१।

शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ ४२ ॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ ४२ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥ ४३ ॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीके राज्य-शासनसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा । अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है' ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकवाक्यविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर

संजय उवाच

उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! उलूकने विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको अपने वाग्बाणोंसे और भी पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम् ।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनापि धर्षिताः ॥ २ ॥

उसकी बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ा रोष हुआ। एक तो वे पहलेसे ही अधिक क्रुद्ध थे, दूसरे जुआरी शकुनिके बेटेने भी उनका बड़ा तिरस्कार किया ॥ २ ॥

आसनेषूदतिष्ठन्त बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः ।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ३ ॥

वे आसनोंसे उठकर खड़े हो गये और अपनी भुजाओंको इस प्रकार हिलाने लगे, मानो प्रहार करनेके लिये उद्यत हों। वे विषैले सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम् ।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ॥ ४ ॥

भीमसेनने फुफकारते हुए विषधर नागकी भाँति लम्बी साँसें खींचते हुए सिर नीचे किये लाल नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखा ॥ ४ ॥

आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाभिहतं भृशम् ।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वायुपुत्र भीमको क्रोधसे अत्यन्त पीड़ित और आहत देख दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णने उलूकसे मुसकराते हुए-से कहा—।

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम् ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ॥ ६ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र उलूक ! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधनसे कह दे—'पाण्डवोंने तुम्हारा संदेश सुना और उसके अर्थको समझकर स्वीकार किया। युद्धके विषयमें जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम ।
पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाबाहु केशवने पुनः परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी ओर देखा ॥ ७ ॥

सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः ।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ॥ ८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान् सर्वान् यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

फिर उलूकने भी समस्त सृंजयवंशी क्षत्रियसमुदाय, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप सम्पूर्ण राजाओंकी मण्डलीमें शेष बातें कहीं । उसने विषधर सर्पके सदृश कुपित हुए अर्जुनको पुनः अपने वाग्बाणोंसे पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं । साथ ही श्रीकृष्ण आदि अन्य सब लोगोंसे कहनेके लिये भी उसने जो-जो संदेश दिये थे, उन्हें भी उन सबको यथावत्‌रूपसे सुना दिया ॥ ८–१० ॥

उलूकस्य तु तद् वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्यमार्जयत् ॥ ११ ॥

उलूकके कहे हुए उस पापपूर्ण दारुण वचनको सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने हाथसे ललाटका पसीना पोंछा ॥ ११ ॥

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर राजाओंकी वह समिति तथा पाण्डव महारथी सहन न कर सके ॥ १२ ॥

अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलुरच्युताः ॥ १३ ॥

राजन् ! महात्मा अर्जुन तथा श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर वे पुरुषसिंह शूरवीर क्रोधसे जल उठे ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ १४ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ १५ ॥
उत्पेतुरासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून् प्रगृह्य रुचिरान् रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ॥ १६ ॥
दन्तान् दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, पाँच भाई केकयराजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु, राजा धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन तथा महारथी नकुल-सहदेव—ये सबके सब क्रोधसे लाल आँखें किये अपने आसनोंसे उछलकर खड़े हो गये और अङ्गद, पारिहार्य (मोतियोंके गुच्छों) तथा केयूरोंसे विभूषित एवं लाल चन्दनसे चर्चित अपनी सुन्दर भुजाओंको थामकर दाँतोंपर दाँत रगड़ते हुए ओठोंके दोनों कोने चाटने लगे ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ १७ ॥
उदतिष्ठत् स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।
उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १८ ॥
हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।

उनकी आकृति और भावको जानकर कुन्तीपुत्र वृकोदर बड़े वेगसे उठे और क्रोधसे जलते हुएके समान सहसा आँखें फाड़-फाड़कर देखते, दाँत कटकटाते और हाथसे हाथ रगड़ते हुए उलूकसे इस प्रकार बोले—॥ १७-१८½ ॥

अशक्तानामिवास्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ॥ १९ ॥
श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

'ओ मूर्ख ! दुर्योधनने तुझसे जो कुछ कहा है, वह तेरा वचन हमने सुन लिया । मानो हम असमर्थ हों और तू हमें प्रोत्साहन देनेके निमित्त यह सब कुछ कह रहा हो ॥ १९½ ॥

तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम् ।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

'मूर्ख उलूक ! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन और समस्त राजाओंकी मण्डलीमें सूतपुत्र कर्ण और अपने दुरात्मा पिता शकुनिके सामने दुर्योधनको सुना देना—॥ २०-२१ ॥

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
मर्षितं ते दुराचार तत् त्वं न बहु मन्यसे ॥ २२ ॥

'दुराचारी दुर्योधन ! हमलोगोंने सदा अपने बड़े भाईको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे तेरे बहुत-से अत्याचारोंको चुपचाप सह लिया है; परंतु तू इन बातोंको अधिक महत्त्व नहीं दे रहा है ॥ २२ ॥

प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति ।
कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ २३ ॥

'बुद्धिमान् धर्मराजने कौरवकुलके हितकी इच्छासे शान्ति चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके पास भेजा था ॥

त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ॥ २४ ॥

'परंतु तू निश्चय ही कालसे प्रेरित हो यमलोकमें जाना चाहता है (इसीलिये संधिकी बात नहीं मान सका) । अच्छा, हमारे साथ युद्धमें चल । कल निश्चय ही युद्ध होगा ॥ २४ ॥

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥ २५ ॥

'पापात्मन् ! मैंने भी जो तेरे और तेरे भाइयोंके वधकी प्रतिज्ञा की है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी । इस विषयमें तुझे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ २६ ॥

'वरुणालय समुद्र शीघ्र ही अपनी सीमाका उल्लङ्घन कर जाय और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जायँ, परंतु मेरी कही हुई बात झूठी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चास्मि यथेप्सितम् ॥ २७ ॥

'दुर्बुद्धे ! तेरी सहायताके लिये यमराज, कुबेर अथवा

भगवान् रुद्र ही क्यों न आ जायँ, पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब कार्य अवश्य करेंगे। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दुःशासनका रक्त अवश्य पीऊँगा ॥ २७ ॥

यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माभियास्यति।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ॥ २८ ॥

'उस समय साक्षात् भीष्मको भी आगे करके जो कोई भी क्षत्रिय क्रोधपूर्वक मेरे ऊपर धावा करेगा, उसे उसी क्षण यमलोक पहुँचा दूँगा ॥२८॥

यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि।
यथैतद् भविता सत्यं तथैवात्मानमालभे ॥ २९ ॥

'मैंने क्षत्रियोंकी सभामें यह बात कही है, जो अवश्य सत्य होगी। यह मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहता हूँ' ॥२९॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ३० ॥

भीमसेनका वचन सुनकर सहदेवका भी अमर्ष जाग उठा। तब उन्होंने भी क्रोधसे आँखें लाल करके यह बात कही—॥

शौटीरशूरसदृशमनीकजनसंसदि।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ॥ ३१ ॥

'ओ पापी ! मैं इन वीर सैनिकोंकी सभामें गर्वीले शूरवीरके योग्य वचन बोल रहा हूँ। तू इसे सुन ले और अपने पिताके पास जाकर सुना दे ॥ ३१ ॥

नास्माकं भविता भेदः कदाचित् कुरुभिः सह।
धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात् त्वया सह ॥ ३२ ॥

'यदि धृतराष्ट्रका तेरे साथ सम्बन्ध न होता, तो कभी कौरवोंके साथ हमलोगोंकी फूट नहीं होती ॥३२॥

त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च।
उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ॥ ३३ ॥

'तू सम्पूर्ण जगत् तथा धृतराष्ट्रकुलके विनाशके लिये पापाचारी मूर्तिमान् वैरपुरुष होकर उत्पन्न हुआ है। तू अपने कुलका भी नाश करनेवाला है ॥३३॥

जन्मप्रभृति चास्माकं पिता ते पापपूरुषः।
अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ॥ ३४ ॥

'उलूक ! तेरा पापात्मा पिता जन्मसे ही हमलोगोंके प्रति प्रतिदिन क्रूरतापूर्ण अहितकर बर्ताव करना चाहता है ॥

तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम्।
अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्मि शकुनिं हन्ता मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'इसलिये मैं शकुनिके देखते देखते सबसे पहले तेरा वध करके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सामने शकुनिको भी मार डालूँगा और इस प्रकार अत्यन्त दुर्गम शत्रुतासे पार हो जाऊँगा' ॥ ३५½ ॥

भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ॥ ३६ ॥
उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव।
भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ३७ ॥
मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः।

भीमसेन और सहदेव दोनोंके वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनसे मुसकराते हुए कहा—'आर्य भीम ! जिनका आपके साथ वैर ठन गया है, वे घरमें बैठकर सुखका अनुभव करनेवाले मूर्ख कौरव कालके पाशमें बँध गये हैं (अर्थात् उनका जीवन नहींके बराबर है) ॥३६-३७½॥

उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम ॥ ३८ ॥
दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः।

'पुरुषोत्तम ! आपको इस उलूकसे कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिये। बेचारे दूतोंका क्या अपराध है ? वे तो कही हुई बातका अनुवादमात्र करनेवाले हैं' ॥३८½॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ३९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् सुहृदः समभाषत।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धृष्टद्युम्न आदि वीर सुहृदोंसे कहा—॥३९½॥

श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ॥ ४० ॥
कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४१ ॥

'बन्धुओ ! आपलोगोंने उस पापी दुर्योधनकी बात सुनी है न ? इसमें उसके द्वारा विशेषतः मेरी और भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की गयी है। आपलोग हमारे हितकी कामना रखते हैं, इसलिये इस निन्दाको सुनकर कुपित हो उठे हैं ॥४०-४१॥

प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ॥ ४२ ॥

'परंतु भगवान् वासुदेवके प्रभाव और आपलोगोंके प्रयत्नसे मैं इस समस्त भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ॥ ४२ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम्।
उलूके प्रापयिष्यामि यद् वक्ष्यति सुयोधनम् ॥ ४३ ॥

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस बातका उत्तर उलूकको दे दूँ, जिसे यह दुर्योधनको सुना देगा ॥४३॥

श्वोभूते कथितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे।
गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४४ ॥

'अथवा आपकी सम्मति हो, तो कल सबेरे सेनाके मुहानेपर उसकी इन शेखीभरी बातोंका ठीक-ठीक उत्तर गाण्डीव धनुषद्वारा दे दूँगा; क्योंकि केवल बातोंमें उत्तर देनेवाले तो नपुंसक होते हैं' ॥ ४४ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनंजयम्।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी इस प्रवचन-शैलीसे सभी श्रेष्ठ भूपाल आश्चर्यचकित हो उठे और वे सबके सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ४५ ॥

अनुनीय च तान् सर्वान् यथामान्यं यथावयः।

धर्मराजस्तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥

तदनन्तर धर्मराजने उन समस्त राजाओंको उनकी अवस्था और प्रतिष्ठाके अनुसार अनुनय-विनय करके शान्त किया और दुर्योधनको देने योग्य जो संदेश था, उसे इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

आत्मानमवमन्वानो न हि स्यात् पार्थिवोत्तमः ।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ॥ ४७ ॥

'उलूक ! कोई भी श्रेष्ठ राजा शान्त रहकर अपनी अवज्ञा सहन नहीं कर सकता। मैंने तुम्हारी बात ध्यान देकर सुनी है। अब मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ, उसे सुनो' ॥ ४७ ॥

उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम् ।
दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ॥ ४८ ॥
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४९ ॥
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार युधिष्ठिरने उलूकसे पहले मधुर वचन बोलकर फिर ओजस्वी शब्दोंमें उत्तर दिया। (उलूकके मुखसे) पहले दुर्योधनके पूर्वोक्त संदेशको सुनकर भरतकुलभूषण युधिष्ठिर रोषसे अत्यन्त लाल हुए नेत्रों-द्वारा देखते हुए विषधर सर्पके समान उच्छ्वास लेने लगे। फिर ओठोंके दोनों कोनोंको चाटते हुए वे श्रीकृष्ण तथा भाइयोंकी ओर देखकर बोलनेको प्रस्तुत हुए। वे अपनी विशाल भुजा ऊपर उठा धूर्त जुआरी शकुनिके पुत्र उलूकसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ४८—५० ॥

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम् ।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥ ५१ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र तात उलूक ! तुम जाओ और वैरके मूर्तिमान् स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि एवं कुलाङ्गार दुर्योधनसे इस प्रकार कह दो—॥५१॥

पाण्डवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तसे ।
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान् ।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥ ५२ ॥

'पापी दुर्योधन ! तू पाण्डवोंके साथ सदा कुटिल बर्ताव करता आ रहा है। पापात्मन् ! जो किसीसे भय-भीत न होकर अपने वचनोंका पालन करता है और अपने ही बाहुबलसे पराक्रम प्रकट करके शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है ॥ ५२ ॥

स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे ।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥ ५३ ॥

'कुलाधम ! तू पापी है ! देख, क्षत्रिय होकर और हमलोगोंको युद्धके लिये बुलाकर ऐसे लोगोंको आगे करके रणभूमिमें न आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों ॥५३॥

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव ।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ॥ ५४ ॥

'कुरुनन्दन ! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्गके बल और पराक्रमका आश्रय लेकर ही कुन्तीके पुत्रोंका युद्धके लिये आह्वान कर। सब प्रकारसे क्षत्रियत्वका परिचय दे ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥ ५५ ॥

'जो स्वयं सामना करनेमें असमर्थ होनेके कारण दूसरोंके पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको युद्धके लिये लल-कारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकताका ही सूचक है ॥

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे ।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ॥ ५६ ॥

'तू तो दूसरोंके ही बलसे अपने आपको बहुत अधिक शक्तिशाली मानता है; परंतु ऐसा असमर्थ होकर तू हमारे सामने गर्जना कैसे कर रहा है ?' ॥५६॥

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उलूक ! इसके बाद तू दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—'दुर्मते ! अब कल ही तू रणभूमिमें आ जा और अपने पुरुषत्वका परिचय दे ॥

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥ ५८ ॥

'मूढ ! तू जो यह समझता है कि कुन्तीके पुत्रोंने श्रीकृष्णसे सारथि बननेका अनुरोध किया है, अतः वे युद्ध नहीं करेंगे। सम्भवतः इसीलिये तू मुझसे डर नहीं रहा है ।५८।

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ॥ ५९ ॥

'परंतु याद रख, मैं चाहूँ, तो इन सम्पूर्ण नरेशोंको अपनी क्रोधाग्निसे उसी प्रकार भस्म कर सकता हूँ, जैसे आग घास-फूसको जला डालती है। किंतु युद्धके अन्त-तक मुझे ऐसा करनेका अवसर न मिले; यही मेरी इच्छा है ॥

युधिष्ठिरनियोगात् तु फाल्गुनस्य महात्मनः ।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः ॥ ६० ॥

'राजा युधिष्ठिरके अनुरोधसे मैं जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुन-के युद्ध करते समय उनके सारथिका काम अवश्य करूँगा ॥

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ॥ ६१ ॥

'अब तू यदि तीनों लोकोंसे ऊपर उड़ जाय अथवा धरती-में समा जाय, तो भी (तू जहाँ-जहाँ जायगा), वहाँ-वहाँ कल प्रातःकाल अर्जुनका रथ पहुँचा हुआ देखेगा ॥६१॥

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ॥ ६२ ॥

'इसके सिवा, तू जो भीमसेनकी कही हुई बातोंको व्यर्थ मानने लगा है, यह ठीक नहीं है। तू आज ही निश्चितरूपसे समझ ले कि भीमसेनने दुःशासनका रक्त पी लिया ॥ ६२ ॥

न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः।

न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम् ॥ ६३ ॥

'तू पाण्डवोंके विपरीत कटुभाषण करता जा रहा है, परंतु अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव तुझे कुछ भी नहीं समझते हैं' ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादिवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूताभिगमनपर्वमें श्रीकृष्ण आदिके वचनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६२॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेका आदेश देना

संजय उवाच

दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत ॥ १ ॥
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! दुर्योधनके पूर्वोक्त वचनको सुनकर महायशस्वी अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके शकुनिकुमार उलूककी ओर देखा। तत्पश्चात् अपनी विशाल भुजाको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा—॥ १-२ ॥

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ॥ ३ ॥

'जो अपने ही बल-पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको ललकारता है और उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ ३ ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ॥ ४ ॥

'जो दूसरेके बल-पराक्रमका आश्रय ले शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होनेके कारण लोकमें पुरुषाधम कहा गया है ॥ ४ ॥

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ॥ ५ ॥

'मूढ़ ! तू दूसरोंके पराक्रमसे ही अपनेको बल-पराक्रमसे सम्पन्न मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरोंपर आक्षेप करना चाहता है ॥ ५ ॥

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम्।
मरणाय महाप्राज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ॥ ६ ॥

'जो समस्त राजाओंमें वृद्ध, सबके प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामहको तू मरणके लिये रणकी दीक्षा दिलाकर अपनी बहादुरीकी बातें करता है ॥ ६ ॥

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ॥ ७ ॥

'खोटी बुद्धिवाले कुलाङ्गार ! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है। तू जानता है कि पाण्डवलोग दयावश गङ्गानन्दन भीष्मका वध नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ ८ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र ! तू जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्मको ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ ८ ॥

कैतव्य गत्वा भरतान् समेत्य
सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व।
तथेत्युवाचार्जुनः सव्यसाची
निशाव्यपाये भविता विमर्दः ॥ ९ ॥

'उलूक ! तू भरतवंशियोंके यहाँ जाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कह दे कि सव्यसाची अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर तेरी चुनौती स्वीकार कर ली है। आजकी रात बीतते ही युद्ध आरम्भ हो जायगा ॥ ९ ॥

यद् वाब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वो
मध्ये कुरून् हर्षयन् सत्यसंधः।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं
शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः ॥ १० ॥
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्य-
मापद्गताः पाण्डवाश्चेति भावः ॥ ११ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ और महान् शक्तिशाली भीष्मजीने कौरव-सैनिकोंके बीचमें उनका हर्ष बढ़ाते हुए जो यह कहा था कि मैं सृंजय वीरोंकी सेनाका तथा शाल्वदेशके सैनिकोंका भी संहार कर डालूँगा। इन सबके मारनेका भार मेरे ही ऊपर है। दुर्योधन ! मैं द्रोणाचार्यके बिना भी सम्पूर्ण जगत्‌का संहार कर सकता हूँ; अतः तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। भीष्मके इस वचनसे ही तूने अपने मनमें यह धारणा बना ली है कि राज्य मुझे ही प्राप्त होगा और पाण्डव भारी विपत्तिमें पड़ जायँगे ॥ १०-११ ॥

स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम्।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ॥ १२ ॥

'इसीलिये तू घमंडमें भरकर अपने ऊपर आये हुए

वर्तमान संकटको नहीं देख पाता है, अतः मैं सबसे पहले तेरे सेनासमूहमें प्रवेश करके कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मका ही तेरी आँखोंके सामने वध करूँगा ॥ १२ ॥

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य
ध्वजी रथी रक्ष तं सत्यसंधम्।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं रथात् पातयिष्यामि बाणैः॥१३॥

'तू सूर्योदयके समय सेनाको सुसज्जित करके ध्वज और रथसे सम्पन्न हो सब ओर दृष्टि रखते हुए सत्यप्रतिज्ञ भीष्मकी रक्षा कर। मैं तेरे सैनिकोंके देखते-देखते तेरे लिये आश्रय बने हुए इन भीष्मजीको बाणोंद्वारा मारकर रथसे नीचे गिरा दूँगा ॥ १३ ॥

श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ॥ १४ ॥

'कल सबेरे पितामहको मेरे द्वारा चलाये हुए बाणोंके समूहसे व्याप्त देखकर दुर्योधनको अपनी बढ़-बढ़कर कही हुई बातोंका परिणाम ज्ञात होगा ॥ १४ ॥

यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ॥ १५ ॥
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसकृत्।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ॥ १६ ॥

'सुयोधन! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उस क्षुद्र विचारवाले, अधर्मज्ञ, नित्य वैरी, पापबुद्धि और क्रूरकर्मा तेरे भाई दुःशासनके प्रति जो बात कही है, उस प्रतिज्ञाको तू शीघ्र ही सत्य हुई देखेगा ॥ १५-१६॥

अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा।
नैष्ठुर्यस्यावलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ॥ १७ ॥
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च।
अधर्मस्यातिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ॥ १८ ॥
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्यापनयस्य च।
द्रक्ष्यसि त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ॥ १९ ॥

'दुर्योधन! तू अभिमान, दर्प, क्रोध, कटुभाषण, निष्ठुरता, अहंकार, आत्मप्रशंसा, क्रूरता, तीक्ष्णता, धर्मविद्वेष, अधर्म, अतिवाद, वृद्ध पुरुषोंके अपमान तथा टेढ़ी आँखोंसे देखनेका और अपने समस्त अन्याय एवं अत्याचारोंका घोर फल शीघ्र ही देखेगा ॥ १७—१९ ॥

वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ॥ २० ॥

'मूढ़ नराधम! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मेरे कुपित होनेपर तू किस कारणसे जीवन तथा राज्यकी आशा करता है? ॥

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥ २१ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रोंकी रक्षाकी ओरसे निराश हो जायगा ॥ २१ ॥

भ्रातॄणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ॥ २२ ॥

'सुयोधन! तू अपने भाइयों और पुत्रोंका मरण सुनकर और भीमसेनके हाथसे स्वयं भी मारा जाकर अपने पापोंको याद करेगा ॥ २२ ॥

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत्।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ॥ २४ ॥

'शकुनिपुत्र! मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा करना नहीं जानता। तुझसे सच्ची बात कहता हूँ। यह सब कुछ सत्य होकर रहेगा।' तत्पश्चात् युधिष्ठिरने भी धूर्त जुआरीके पुत्र उलूकसे इस प्रकार कहा—'वत्स उलूक! तू दुर्योधनके पास जाकर मेरी यह बात कहना—॥ २३-२४ ॥

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ॥ २५ ॥

'सुयोधन! तुझे अपने आचरणके अनुसार ही मेरे आचरणको नहीं समझना चाहिये। मैं दोनोंके बर्तावका तथा सत्य और झूठका भी अन्तर समझता हूँ ॥ २५ ॥

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथंचन ॥ २६ ॥

'मैं तो कीड़ों और चींटियोंको भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता; फिर अपने भाई-बन्धुओं अथवा कुटुम्बीजनोंके वधकी कामना किसी प्रकार भी कैसे कर सकता हूँ? ॥ २६ ॥

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ॥ २७ ॥

'तात! इसीलिये पहले मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे। दुर्बुद्धे! मेरे ऐसा करनेका यही उद्देश्य था कि किसी तरह तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूँ ॥ २७ ॥

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ २८ ॥

'परंतु तेरा मन लोभ और तृष्णामें डूबा हुआ है। तू मूर्खताके कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है और भगवान् श्रीकृष्णके हितकारक वचनको भी नहीं मान रहा है ॥ २८॥

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः।

'अब इस समय अधिक कहनेसे क्या लाभ? तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ आकर युद्ध कर' ॥ २८½ ॥

मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ॥ २९ ॥
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत्।

'उलूक! तू मेरा अप्रिय करनेवाले दुर्योधनसे कहना—'तेरा संदेश सुना और उसका अभिप्राय समझ लिया। तेरी जैसी इच्छा है, वैसा ही हो' ॥ २९½ ॥

भीमसेनस्ततो वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ॥ ३० ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम्।

शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पुनः राजकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू दुर्बुद्धि, पापात्मा, शठ, कपटी, पापी तथा दुराचारी दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—॥

गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये ।
प्रतिज्ञातं मया तच्च सभामध्ये नराधम ॥ ३२ ॥
कर्ताहं तद् वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते ।

'नराधम ! तुझे या तो मरकर गीधके पेटमें निवास करना चाहिये या हस्तिनापुरमें जाकर छिप जाना चाहिये। मैंने सभामें जो प्रतिज्ञा की है, उसे अवश्य सत्य कर दिखाऊँगा । यह बात मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुझसे कहता हूँ ॥ ३२½ ॥

दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ॥ ३३ ॥
सक्थिनी तव भङ्क्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान् ।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ॥ ३४ ॥

'मैं युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रक्त पीऊँगा और तेरे सारे भाइयोंको मारकर तेरी जाँघें भी तोड़कर ही रहूँगा । सुयोधन ! मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंकी मृत्यु हूँ ॥

सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम् ।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ॥ ३५ ॥

'इसी प्रकार सारे राजकुमारोंकी मृत्युका कारण अभिमन्यु होगा, इसमें संशय नहीं है । मैं अपने पराक्रमद्वारा तुझे अवश्य संतुष्ट करूँगा । तू मेरी एक बात और सुन ले ॥

हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः ।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥

'सुयोधन ! तुझे समस्त भाइयोंसहित मारकर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते तेरे मस्तकको पैरसे कुचल दूँगा' ॥

नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते ।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३७ ॥
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम् ।
तथा कर्तास्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ॥ ३८ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् नकुलने भी इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू कुरुकुलकलंक धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कहना, तेरी कही हुई सारी बातें मैंने यथार्थरूपसे सुन लीं । कौरव ! तू मुझे जैसा उपदेश दे रहा है, उसके अनुसार ही मैं सब कुछ करूँगा' ॥ ३७-३८ ॥

सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत् ।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ॥ ३९ ॥
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः ।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत् त्वं विकत्थसे ॥ ४० ॥

राजन् ! तदनन्तर सहदेवने भी यह सार्थक वचन कहा—'महाराज दुर्योधन ! आज जो तेरी बुद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। इस समय हमारे इस महान् क्लेशका जो तू हर्षोत्फुल्ल होकर वर्णन कर रहा है, इसका फल यह होगा कि तू अपने पुत्र, कुटुम्बी तथा बन्धुजनोंसहित शोकमें डूब जायगा' ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः ।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा ।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर बूढ़े राजा विराट और द्रुपदने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू दुर्योधनसे कहना, राजन् ! हम दोनोंका विचार सदा यही रहता है कि हम साधु पुरुषोंके दास हो जायँ । वे दोनों हम विराट और द्रुपद दास हैं या अदास; इसका निर्णय युद्धमें जिसका जैसा पुरुषार्थ होगा, उसे देखकर किया जायगा' ॥ ४१ ॥

शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् शिखण्डीने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! सदा पापमें ही तत्पर रहनेवाले अपने राजाके पास जाकर तू इस प्रकार कहना—॥ ४२ ॥

पश्य त्वं मां रणे राजन् कुर्वाणं कर्म दारुणम् ।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ॥ ४३ ॥
तमहं पातयिष्यामि रथात् तव पितामहम् ।

'राजन् ! तुम संग्राममें मुझे भयानक कर्म करते हुए देखना । जिसके पराक्रमका भरोसा करके तुम युद्धमें अपनी विजय हुई मानते हो, तुम्हारे उस पितामहको मैं रथसे मार गिराऊँगा ॥ ४३½ ॥

अहं भीष्मवधात् सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ॥ ४४ ॥
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'निश्चय ही महामना विधाताने भीष्मके वधके लिये ही मेरी सृष्टि की है । अतः मैं समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भीष्मको मार डालूँगा' ॥ ४४½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः ।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ॥ ४६ ॥

इसके बाद धृष्टद्युम्नने भी कितवकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू राजपुत्र दुर्योधनसे मेरी यह बात कह देना, मैं द्रोणाचार्यको उनके गणों और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा ॥ ४५-४६ ॥

अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत् ।
कर्ता चाहं तथा कर्म यथा नान्यः करिष्यति ॥ ४७ ॥

'मुझे अपने पूर्वजोंके महान् चरित्रका अनुकरण अवश्य करना चाहिये । अतः मैं युद्धमें वह पराक्रम कर दिखाऊँगा, जैसा दूसरा कोई नहीं करेगा' ॥ ४७ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत् ।
नाहं ज्ञातिवधं राजन् कामयेयं कथंचन ॥ ४८ ॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने करुणावश फिर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'राजन् ! मैं किसी प्रकार भी अपने कुटुम्बियोंका वध नहीं कराना चाहता ॥ ४८ ॥

तवैव दोषाद् दुर्बुद्धे सर्वमेतत् त्वनावृतम् ।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ॥ ४९ ॥
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः ।

'किंतु दुर्बुद्धे ! यह सब कुछ तेरे ही दोषसे प्राप्त हुआ है । तात उलूक ! तेरी इच्छा हो, तो शीघ्र चला जा । अथवा तेरा कल्याण हो, तू यहीं रह; क्योंकि हम भी तेरे भाई-बन्धु ही हैं' ॥ ४९½ ॥

उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।

जनमेजय ! तदनन्तर उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे विदा ले जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ॥ ५०½ ॥

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ५१ ॥
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ॥ ५२ ॥

वहाँ आकर उलूकने अमर्षशील दुर्योधनको अर्जुनका सारा संदेश ज्यों-का-त्यों सुना दिया । इसी प्रकार उसने भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिरकी पुरुषार्थ-भरी बातोंका भी वर्णन किया ॥ ५१-५२ ॥

नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत ।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भारत ! फिर उसने नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके भी सारे वचनोंको ज्यों-का-त्यों कह दिया ॥ ५३ ॥

कैतव्यस्य तु तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ॥ ५४ ॥

भारत ! उलूकका वह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिसे कहा—॥ ५४ ॥

आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा ।
यथा प्रागुदयात् सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्वनीकिनः ॥ ५५ ॥

'बन्धुओ ! राजाओं तथा मित्रोंकी सेनाओंको आज्ञा दे दो, जिससे समस्त सैनिक कल सूर्योदयसे पूर्व ही तैयार होकर युद्धके मैदानमें डट जायँ' ॥ ५५ ॥

ततः कर्णसमादिष्टा दूताः संत्वरिता रथैः ।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ॥ ५६ ॥
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात् ।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् कर्णके भेजे हुए दूत बड़ी उतावलीके साथ रथों, ऊँट-ऊँटनियों तथा अत्यन्त वेगशाली अच्छे-अच्छे घोड़ोंपर सवार हो तीव्र गतिसे सम्पूर्ण सेनाओंमें गये और कर्णके आदेशके अनुसार सबको राजाकी यह आज्ञा सुनाने लगे कि कल सूर्योदयसे पहले ही युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकके लौट जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके मैदानमें जाना और धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने-अपने योग्य विपक्षियोंके साथ युद्ध करनेके लिये नियुक्ति

संजय उवाच

उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इधर उलूककी बातें सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्नके नेतृत्वमें अपनी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान कराया ॥ १ ॥

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम् ।
चतुर्विधबलां भीमामकम्प्यां पृथिवीमिव ॥ २ ॥

उसमें पैदल, हाथी, रथ और अश्वसमूह भी थे । इस प्रकार वह चतुरंगिणी सेना बड़ी भयंकर और पृथ्वीके समान अविचल थी ॥ २ ॥

भीमसेनादिभिर्गुप्तां सार्जुनैश्च महारथैः ।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुन और भीमसेन आदि महारथी उसकी रक्षा करते थे । वह दुर्गम सेना धृष्टद्युम्नके अधीन थी और प्रशान्त एवं स्थिर समुद्रके समान जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ॥ ४ ॥

उसके आगे-आगे रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोणसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे । वे सारी सेनाको अपने पीछे खींचे लिये जाते थे ॥ ४ ॥

यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत् ।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ॥ ५ ॥

उन्होंने जिस वीरका जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुए अपने रथियोंको योग्य प्रतिपक्षीके साथ युद्ध करनेका आदेश दिया। अर्जुनको सूतपुत्र कर्णका और भीम-

पाण्डवोंकी विशाल सेना

सेनको दुर्योधनका सामना करनेके लिये नियुक्त किया ॥५॥

धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम्।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैब्यं च कृतवर्मणे ॥ ६ ॥
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत्।
शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ॥ ७ ॥

धृष्टकेतुको शल्यसे, उत्तमौजाको कृपाचार्यसे, नकुलको अश्वत्थामासे, शैब्यको कृतवर्मासे, वृष्णिवंशी सात्यकिको सिन्धुराज जयद्रथसे और शिखण्डीको भीष्मसे मुख्यतः युद्ध करनेका आदेश दिया ॥ ६-७ ॥

सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै।
द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ॥ ८ ॥

सहदेवको शकुनिका, चेकितानको शलका और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको त्रिगर्तोंका सामना करनेके लिये नियत कर दिया ॥ ८ ॥

वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम्।
स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ॥ ९ ॥

कर्णपुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओंके साथ युद्ध करनेका काम सुभद्राकुमार अभिमन्युको सौंपा, क्योंकि वे उसे युद्धमें अर्जुनसे भी अधिक शक्तिशाली समझते थे ॥ ९ ॥

एवं विभज्य योधांस्तान् पृथक् च सह चैव ह।
ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः।

इस प्रकार समस्त योद्धाओंका पृथक्-पृथक् और एक साथ विभाजन करके सेनापतियोंके पति प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अपने हिस्सेमें रक्खा ॥ १०½ ॥

विधिवद् व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ॥ ११ ॥
यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत्।
जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ॥ १२ ॥

उनके मनमें युद्धके लिये दृढ निश्चय था। मेधावी धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंकी पूर्वोक्त सेनाओंकी विधिपूर्वक व्यूह-रचना करके उन सबको युद्धके लिये नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पाण्डवोंकी विजयके लिये संनद्ध होकर समराङ्गणमें खड़े हुए ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें सेनापतिके द्वारा सैनिकोंकी युद्धमें नियुक्तिविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब अर्जुनने युद्धभूमिमें भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ॥ २ ॥

अर्जुन सुदृढ़ धनुष धारण करते हैं। इसके सिवा भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं; अतः मैं रणभूमिमें अपने पिता गङ्गानन्दन भीष्मको उनके द्वारा मारा गया ही मानता हूँ ॥

स चापरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम्।
किमुक्तवान् महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ३ ॥

अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको सुनकर अमित बुद्धिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीष्मने क्या कहा ? ॥ ३ ॥

सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ४ ॥

कौरवकुलका भार वहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गङ्गापुत्र भीष्मने सेनापतिका पद प्राप्त करनेके पश्चात् युद्धके लिये कौन-सी चेष्टा की ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत् संजयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत्।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणामिततेजसा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर संजयने अमिततेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्मने जैसा कहा था, वह सब कुछ राजा धृतराष्ट्रको बताया ॥ ५ ॥

संजय उवाच

सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥ ६ ॥

संजय बोले—नरेश्वर ! सेनापतिका पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए-से उससे यह बात कही— ॥ ६ ॥

नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥ ७ ॥

'राजन् ! मैं हाथमें शक्ति धारण करनेवाले देवसेनापति कुमार कार्तिकेयको नमस्कार करके अब तुम्हारी सेनाका अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ॥ ८ ॥

'मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्मका ज्ञान है । मैं नाना प्रकारके व्यूहोंके निर्माणमें भी कुशल हूँ । तुम्हारी सेनामें जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेनेवाले मित्रसेनाके सैनिक हैं, उन सबसे यथायोग्य काम करा लेनेकी भी कला मुझे ज्ञात है ॥ ८ ॥

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥

'महाराज ! मैं युद्धके लिये यात्रा करने युद्ध करने, तथा विपक्षीके चलाये हुए अस्त्रोंका प्रतीकार करनेके विषयमें जैसा बृहस्पति जानते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातोंकी विशेष जानकारी रखता हूँ ॥ ९ ॥

व्यूहानां च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान् ।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥

'मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनोंकी ही व्यूहरचनाका ज्ञान है । उनके द्वारा मैं पाण्डवोंको मोहित कर दूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ १० ॥

सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधानके अनुसार यथार्थरूपसे पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जाय' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहु गङ्गानन्दन ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंसे भी कभी भय नहीं होता है ॥ १२ ॥

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥ १३ ॥

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापतिके पदपर स्थित हैं तथा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्य-जैसे योद्धा मेरे लिये युद्धभूमिमें उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है ? ॥ १३ ॥

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब आप दोनों पुरुषप्रवर वीर मेरी विजयके लिये यहाँ खड़े हैं, तब तो अवश्य ही मेरे लिये देवताओंका राज्य भी दुर्लभ नहीं है ॥ १४ ॥

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥ १५ ॥
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! आप शत्रुओंके तथा अपने पक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याको पूर्णरूपसे जानते हैं, अतः मैं भी आपसे इस विषयकी जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; क्योंकि पितामह शत्रुपक्ष तथा अपने पक्षकी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः मैं इन सब राजाओंके साथ आपके मुँहसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ ॥ १५-१६ ॥

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ॥ १७ ॥

भीष्म बोले—राजेन्द्र गान्धारीनन्दन ! तुम अपनी सेनाके रथियोंकी संख्या श्रवण करो । भूपाल ! तुम्हारी सेनामें जो रथी और अतिरथी हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ ।१७।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे शृणु ॥ १८ ॥

तुम्हारी सेनामें रथियोंकी संख्या अनेक सहस्र, लक्ष और अर्बुदों (करोड़ों) तक पहुँच जाती है; तथापि उनमें जो प्रधान-प्रधान हैं, उनके नाम मुझसे सुनो ॥ १८ ॥

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ॥ १९ ॥

सबसे पहले अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर भाइयोंके साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो ॥ १९ ॥

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।
रथोपस्थे गजस्कन्धे गदाप्रासासिचर्मणि ॥ २० ॥

तुम सब लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा छेदन-भेदनमें कुशल हो । रथपर और हाथीकी पीठपर बैठकर भी युद्ध कर सकते हो । गदा, प्रास तथा ढाल-तलवारके प्रयोगमें भी कुशल हो ॥

संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ २१ ॥

तुमलोग रथके संचालन और अस्त्रोंके प्रहारमें भी निपुण हो । अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा भार उठानेमें भी समर्थ हो । धनुष-बाणकी विद्यामें तो तुमलोग द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके सुयोग्य शिष्य हो ॥ २१ ॥

एते हनिष्यन्ति रणे पञ्चालान् युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रके ये सभी मनस्वी पुत्र पाण्डवोंके साथ वैर बाँधे हुए हैं; अतः युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पाञ्चाल योद्धाओंको ये समरभूमिमें मार डालेंगे ॥ २२ ॥

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाका प्रधान सेनापति ही हूँ; अतः पाण्डवोंको कष्ट देकर शत्रुसेनाके सैनिकोंका संहार करूँगा ॥ २३ ॥

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥ २४ ॥

भीष्म-दुर्योधन-संवाद

मैं अपने मुँहसे अपने ही गुणोंका बखान करना उचित नहीं समझता। तुम तो मुझे जानते ही हो। शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे दलमें अतिरथी वीर हैं।२४।

अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः॥ २५॥
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव।

ये युद्धमें तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करेंगे। इसमें संशय नहीं है। बड़े-बड़े शस्त्रवेत्ता भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते। इनके आयुध अत्यन्त दृढ़ हैं और ये दूरके लक्ष्यको भी मार गिरानेमें समर्थ हैं। जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार ये भी पाण्डवोंकी सेनाका विनाश करेंगे॥ २५½॥

मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः॥ २६॥
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको भी मैं अतिरथी मानता हूँ, जो प्रत्येक युद्धमें सदा भगवान् श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हैं॥ २६½॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः।
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान्॥ २७॥
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान्।

ये अपने सगे भानजों नकुल-सहदेवको छोड़कर अन्य सभी पाण्डव महारथियोंसे समरभूमिमें युद्ध करेंगे। तुम्हारी सेनाके इन वीरशिरोमणि शल्यको मैं अतिरथी ही समझता हूँ। ये समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंको डुबाते हुए-से युद्ध करेंगे॥ २७½॥

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत्॥ २८॥
सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति॥ २९॥

सोमदत्तके पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्रविद्याके पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहृद् हैं। ये रथियोंके यूथपतियोंके भी यूथपति हैं, अतः तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाका महान् संहार करेंगे॥ २८-२९॥

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः॥ ३०॥

महाराज! सिन्धुराज जयद्रथको मैं दो रथियोंके बराबर समझता हूँ। ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। राजन्! ये भी समराङ्गणमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करेंगे॥३०॥

द्रौपदीहरणे राजन् परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा॥ ३१॥

नरेश्वर! द्रौपदीहरणके समय पाण्डवोंने इन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। उस महान् क्लेशको याद करके शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले जयद्रथ अवश्य युद्ध करेंगे॥ ३१॥

एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम्।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान् योद्धुमाहवे॥ ३२॥

राजन्! उस समय इन्होंने कठोर तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंसे मुठभेड़ कर सकनेका अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त किया था॥ ३२॥

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ३३

तात! ये रथियोंमें श्रेष्ठ जयद्रथ युद्धमें उस पुराने वैरको याद करके अपने दुस्त्यज प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पाण्डवोंके साथ संग्राम करेंगे॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६५॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियोंका परिचय

भीष्म उवाच

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः।
तवार्थसिद्धिमाकाङ्क्षन् योत्स्यते समरे परैः॥ १॥

भीष्मने कहा—राजन्! काम्बोजदेशके राजा सुदक्षिण एक रथी माने गये हैं। ये तुम्हारे कार्यकी सिद्धि चाहते हुए समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे॥ १॥

एतस्य रथसिंहस्य तवार्थे राजसत्तम।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि॥ २॥

नृपश्रेष्ठ! रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी ये काम्बोजराज तुम्हारे लिये युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करेंगे और समस्त कौरव इनके पराक्रमको देखेंगे॥ २॥

एतस्य रथवंशे हि तिग्मवेगप्रहारिणः।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवायतिः॥ ३॥

महाराज! प्रचण्ड वेगसे प्रहार करनेवाले इन काम्बोजनरेशके रथियोंके समुदायमें काम्बोजदेशीय सैनिकोंकी श्रेणी टिड्डियोंके दल-सी दृष्टिगोचर होती है॥ ३॥

नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति॥ ४॥

माहिष्मतीपुरीके निवासी राजा नील भी तुम्हारे दलके एक रथी हैं। इन्होंने नीले रंगका कवच पहन रक्खा है। ये अपने रथसमूहद्वारा शत्रुओंका संहार कर डालेंगे॥ ४॥

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष।
योत्स्यते सततं राजंस्तवार्थे कुरुनन्दन॥ ५॥

कुरुनन्दन! पूर्वकालमें सहदेवके साथ इनकी शत्रुता हो गयी थी। राजन्! ये सदा तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ संमतौ रथसत्तमौ ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ॥ ६ ॥

अवन्तीदेशके दोनों वीर राजकुमार विन्द और अनुविन्द श्रेष्ठ रथी माने गये हैं। तात! वे युद्धकलाके पण्डित तथा सुदृढ़ बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः ।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ॥ ७ ॥

ये दोनों पुरुषसिंह अपने हाथसे छूटे हुए गदा, प्रास, खड्ग, नाराच तथा तोमरोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध कर डालेंगे ॥

युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ॥ ८ ॥

महाराज! जैसे दो यूथपति गजराज हाथियोंके झुंडमें खेल-सा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले विन्द और अनुविन्द समराङ्गणमें यमराजके समान विचरण करते हैं ॥ ८ ॥

त्रिगर्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम ।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ॥ ९ ॥

त्रिगर्तदेशीय पाँचों भ्राताओंको मैं उदार रथी मानता हूँ। विराटनगरमें दक्षिणगोग्रहके युद्धके समय चार पाण्डवोंके साथ इनका वैर बढ़ गया था ॥ ९ ॥

मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम् ।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ॥ १० ॥

राजेन्द्र! जैसे ग्राहगण उत्ताल तरङ्गोंवाली गङ्गाको मथ डालते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगर्तदेशीय पाँचों क्षत्रिय वीर पाण्डवोंकी सेनामें हलचल मचा देंगे ॥ १० ॥

ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम् ।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुराकृतम् ॥ ११ ॥
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह ।
दिशो विजयता राजन् श्वेतवाहेन भारत ॥ १२ ॥

महाराज! ये पाँचों भाई रथी हैं और सत्यरथ उनमें प्रधान है। भारत! भीमसेनके छोटे भाई श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने दिग्विजयके समय जो त्रिगर्तोंका अप्रिय किया था, उस पहलेके वैरको याद रखते हुए ये पाँचों वीर संग्रामभूमिमें मन लगाकर युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान् ।
वरान् वरान् महेष्वासान् क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ॥ १३ ॥

ये पाण्डवोंके बड़े-बड़े महारथियोंके पास जा उन महाधनुर्धर क्षत्रियशिरोमणि वीरोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च ।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ॥ १४ ॥

तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण और दुःशासनका पुत्र—ये दोनों पुरुषसिंह युद्धसे पलायन करनेवाले नहीं हैं ॥ १४ ॥

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ॥ १५ ॥

ये दोनों तरुण और सुकुमार राजपुत्र बड़े वेगशाली हैं, अनेक युद्धोंके विशेषज्ञ हैं और सब प्रकारसे सेनानायक होने योग्य हैं ॥ १५ ॥

रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! ये दोनों वीर रथी तो हैं ही, रथियोंमें श्रेष्ठ भी हैं। ये क्षत्रियधर्ममें तत्पर होकर युद्धमें महान् पराक्रम करेंगे ॥

दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ ।
योत्स्यते तव संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ॥ १७ ॥

महाराज! नरश्रेष्ठ! अपनी सेनामें दण्डधार भी एक रथी हैं, जो तुम्हारे लिये संग्राममें अपनी सेनासे सुरक्षित होकर लड़ेंगे ॥

बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः ।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ॥ १८ ॥

तात! महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न कोसलदेशके राजा बृहद्बल भी मेरी दृष्टिमें एक रथी हैं और रथियोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है ॥ १८ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे स्वान् बन्धून् सम्प्रहर्षयन् ।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ १९ ॥

ये धृतराष्ट्रपुत्रोंके हितमें तत्पर हो भयंकर अस्त्र-शस्त्र तथा महान् धनुष धारण किये अपने बन्धुओंका हर्ष बढ़ाते हुए समराङ्गणमें बड़े उत्साहसे युद्ध करेंगे ॥ १९ ॥

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ॥ २० ॥

राजन्! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथपतियोंके भी यूथपति हैं। ये अपने प्यारे प्राणोंकी परवा न करके तुम्हारे शत्रुओंको जला डालेंगे ॥ २० ॥

गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः ।
कार्तिकेय इवाजेयः शरस्तम्बात् सुतोऽभवत् ॥ २१ ॥

गौतमवंशी महर्षि आचार्य शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य कार्तिकेयकी भाँति सरकण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी भाँति अजेय भी हैं ॥ २१ ॥

एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ २२ ॥

तात! ये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष धारण करनेवाली बहुत-सी सेनाओंको अग्निके समान दग्ध करते हुए समरभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन

भीष्म उवाच

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः॥ १॥

भीष्मने कहा—नरेश्वर! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है। यह पाण्डवोंसे वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है॥ १॥

एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे॥ २॥

युद्धमें डटकर शत्रुओंका सामना करनेवाले इस शकुनिकी सेना दुर्धर्ष है। इसका वेग वायुके समान है तथा यह विविध आकारवाले अनेक आयुधोंसे विभूषित है॥ २॥

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः॥ ३॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरोंसे बढ़कर है। वह युद्धमें विचित्र ढंगसे शत्रुओंका सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रोंसे सम्पन्न तथा महारथी है॥ ३॥

एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः॥ ४॥

महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुनकी भाँति इसके धनुषसे एक साथ छूटे हुए बहुत-से बाण भी परस्पर सटे हुए ही लक्ष्यतक पहुँचते हैं॥ ४॥

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः॥ ५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ इस वीर पुरुषके महत्त्वकी गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे, तो तीनों लोकोंको दग्ध कर सकता है॥ ५॥

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम्।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः॥ ६॥

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियोंके योग्य तपस्या भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका ज्ञान देकर इसपर महान् अनुग्रह किया है॥ ६॥

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम॥ ७॥

किंतु भरतश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! इसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही॥ ७॥

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि॥ ८॥

इस ब्राह्मणको अपना जीवन बहुत प्रिय है, अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)। अन्यथा दोनों सेनाओंमें इसके समान शक्तिशाली कोई नहीं है॥ ८॥

हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम्।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान्॥ ९॥

यह एकमात्र रथका सहारा लेकर देवताओंकी सेनाका भी संहार कर सकता है। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं विशाल है। यह अपनी तालीकी आवाजसे पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है॥ ९॥

असंख्येयगुणो वीरः प्रहर्ता दारुणद्युतिः।
दण्डपाणिरिवासह्यः कालवत् प्रचरिष्यति॥ १०॥

इस वीरमें असंख्य गुण हैं। यह प्रहार करनेमें कुशल और भयंकर तेजसे सम्पन्न है; अतः दण्डधारी कालके समान असह्य होकर युद्धभूमिमें विचरण करेगा॥ १०॥

युगान्ताग्निसमः क्रोधात् सिंहग्रीवो महाद्युतिः।
एष भारतयुद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति॥ ११॥

क्रोधमें यह प्रलयकालकी अग्निके समान जान पड़ता है। इसकी ग्रीवा सिंहके समान है। यह महातेजस्वी अश्वत्थामा महाभारत-युद्धके शेषभागका शमन करेगा॥ ११॥

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः॥ १२॥

अश्वत्थामाके पिता द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी हैं। ये बूढ़े होनेपर भी नवयुवकोंसे अच्छे हैं। इस युद्धमें ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है॥ १२॥

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः॥ १३॥

समरभूमिमें डटे हुए द्रोणाचार्य अग्निके समान हैं। अस्त्रवेग-रूपी वायुका सहारा पाकर ये उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनोंको पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे। इस प्रकार ये प्रज्वलित होकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालेंगे॥ १३॥

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव॥ १४॥

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियोंके समुदायके भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे हितके लिये तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः।
गच्छेदन्तं सृंजयानां प्रियस्त्वस्य धनंजयः॥ १५॥

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियोंका विनाश कर डालेंगे; परंतु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय हैं॥ १५॥

नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम्।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम्॥ १६॥

महाधनुर्धर द्रोणाचार्यका समुज्ज्वल आचार्यभाव अर्जुनके गुणोंद्वारा जीत लिया गया है । उसका स्मरण करके ये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनको कदापि नहीं मारेंगे ॥ १६ ॥

श्लाघतेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः ।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥

वीर ! ये आचार्य द्रोण अर्जुनके गुणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए सदा उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें पुत्रसे भी अधिक प्रिय मानते हैं ॥ १७ ॥

हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान् ।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्य एकमात्र रथका ही आश्रय ले रणभूमिमें एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंको अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा नष्ट कर सकते हैं॥१८॥

पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन् महारथः ।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ॥ १९ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो नृपश्रेष्ठ पौरव हैं, वे मेरे मतमें रथियोंमें उदार महारथी हैं। वे विपक्षके वीर रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

स्वेन सैन्येन महता प्रतपन् शत्रुवाहिनीम् ।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान् कक्षमग्निगतिर्यथा ॥ २० ॥

राजा पौरव अपनी विशाल सेनाके द्वारा शत्रुवाहिनीको संतप्त करते हुए पाञ्चालोंको उसी प्रकार भस्म कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसको ॥ २० ॥

सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः ।
तव राजन् रिपुबले कालवत् प्रचरिष्यति ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकुमार बृहद्बल भी एक रथी हैं । संसारमें उनकी सच्ची कीर्तिका विस्तार हुआ है । वे तुम्हारे शत्रुओंकी सेनामें कालके समान विचरेंगे ॥ २१ ॥

एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः ।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! उनके सैनिक विचित्र कवच और अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुम्हारे शत्रुओंका संहार करते हुए संग्रामभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः ।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते बलं तु बलिनां वरः ॥ २३ ॥

कर्णका पुत्र वृषसेन भी तुम्हारी सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है । इसे महारथी भी कह सकते हैं । बलवानोंमें श्रेष्ठ वृषसेन तुम्हारे वैरियोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर डालेगा ॥२३॥

जलसंधो महातेजा राजन् रथवरस्तव ।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान् माधवः परवीरहा ॥ २४ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी महातेजस्वी जलसंध तुम्हारी सेनामें श्रेष्ठ रथी हैं । ये तुम्हारे लिये युद्धमें अपने प्राणतक दे डालेंगे ॥ २४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयन् शत्रुवाहिनीम् ॥ २५ ॥

महाबाहु जलसंध रथ अथवा हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें कुशल हैं। ये संग्राममें शत्रुसेनाका संहार करते हुए लड़ेंगे ॥ २५ ॥

रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम ।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान् सहसैन्यो महारणे ॥ २६ ॥

महाराज ! नृपश्रेष्ठ ! ये मेरे मतमें रथी ही हैं और इस महायुद्धमें तुम्हारे लिये अपनी सेनासहित प्राणत्याग करेंगे ॥

एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे ।
वीतभीश्चापि ते राजन् शत्रुभिः सह योत्स्यते ॥ २७ ॥

राजन् ! ये समराङ्गणमें महान् पराक्रम प्रकट करते हुए विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले हैं । ये तुम्हारे शत्रुओंके साथ निर्भय होकर युद्ध करेंगे ॥ २७ ॥

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः ।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ॥ २८ ॥

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं । ये युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं । राजन् ! मैं समरभूमिमें इन्हें यमराजके समान शूरवीर मानता हूँ ॥ २८ ॥

न ह्येष समरं प्राप्य निवर्तेत कथञ्चन ।
यथा सततगो राजन् स हि हन्यात् परान् रणे॥ २९ ॥

ये रणक्षेत्रमें पहुँचकर किसी तरह पीछे पैर नहीं हटा सकते । राजन् ! ये वायुके समान वेगसे रणभूमिमें शत्रुओंको मारेंगे ॥ २९ ॥

सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः ।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ॥ ३० ॥

महाराज ! रथारूढ हो युद्धमें अद्भुत पराक्रम दिखाने और शत्रुपक्षके रथियोंको मार भगानेवाले तुम्हारे सेनापति सत्यवान् भी महारथी हैं ॥ ३० ॥

एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथास्ति कथञ्चन ।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान् रथपथे स्थितान् ॥ ३१ ॥

युद्ध देखकर इनके मनमें किसी प्रकार भी भय एवं दुःख नहीं होता । ये रथके मार्गमें खड़े हुए शत्रुओंपर हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

एष चारिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम् ।
कर्ता विमर्दे सुमहत् त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ॥ ३२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ सत्यवान् शत्रुओंपर महान् पराक्रम दिखाते हैं । ये युद्धमें तुम्हारे लिये श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य महान् कर्म करेंगे ॥ ३२ ॥

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः ।
हनिष्यति परान् राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

क्रूरकर्मा राक्षसराज अलम्बुष भी महारथी है । राजन् ! यह पहलेके वैरको याद करके शत्रुओंका संहार करेगा ॥३३॥

एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः ।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ॥ ३४ ॥

मायावी, वैरभावको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखनेवाला तथा समस्त राक्षस सैनिकोंमें श्रेष्ठ रथी यह अलम्बुष संग्राम-भूमिमें (निर्भय होकर) विचरेगा ॥ ३४ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं। हाथमें अङ्कुश लेकर हाथियोंको काबूमें रखनेवाले वीरोंमें इनका सबसे ऊँचा स्थान है। ये रथयुद्धमें भी कुशल हैं॥ ३५॥

एतेन युद्धमभवत् पुरा गाण्डीवधन्वनः ।
दिवसान् सुबहून् राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ॥ ३६ ॥

राजन् ! पहले इनके साथ गाण्डीवधारी अर्जुनका युद्ध हुआ था। उस संग्राममें दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते हुए बहुत दिनोंतक लड़ते रहे ॥ ३६ ॥

ततः सखायं गान्धारे मानयन् पाकशासनम् ।
अकरोत् संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ३७ ॥

गान्धारीकुमार ! कुछ दिनों बाद भगदत्तने अपने सखा इन्द्रका सम्मान करते हुए महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ संधि कर ली थी ॥ ३७ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ॥ ३८ ॥

राजा भगदत्त हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हैं। ये ऐरावतपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान संग्राममें तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण

भीष्म उवाच

अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून् विध्वंसयिष्यतः ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—अचल और वृषक—ये साथ रहनेवाले दोनों भाई दुर्धर्ष रथी हैं, जो तुम्हारे शत्रुओंका विध्वंस कर डालेंगे ॥ १ ॥

बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ॥ २ ॥

गान्धारदेशके ये प्रधान वीर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, बलवान्, अत्यन्त क्रोधी, प्रहार करनेमें कुशल, तरुण, दर्शनीय एवं महाबली हैं ॥ २ ॥

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः ॥ ४ ॥

राजन् ! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवोंके साथ युद्धके लिये सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्रमें सदा अपनी क्रूरताका परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है। यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है। यह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है ॥ ३-४॥

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ॥ ५ ॥
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ॥ ६ ॥
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन् विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

यह कर्ण युद्धभूमिमें न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलोंसे हीन हो चुका है। यह दूसरोंके प्रति सदा घृणाका भाव रखता है। परशुरामजीके अभिशापसे, ब्राह्मणकी शापोक्तिसे तथा विजयसाधक उपर्युक्त उपकरणोंको खो देनेसे मेरी दृष्टिमें यह कर्ण अर्धरथी है। अर्जुनसे भिड़नेपर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता ॥ ५—७ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ॥ ८ ॥

यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—'आप जैसा कहते हैं, बिल्कुल ठीक है। आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है ॥ ८ ॥

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥ ९ ॥

'यह प्रत्येक युद्धमें घमंड तो बहुत दिखाता है; परंतु वहाँसे भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है। इसलिये मेरी रायमें भी यह अर्धरथी ही है' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ॥ १० ॥

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और अपने वचनरूपी चाबुकसे पीड़ा देता हुआ भीष्मसे बोला—॥ १० ॥

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥ ११ ॥

'पितामह ! यद्यपि मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी सदा मुझसे द्वेष रखनेके कारण तुम इसी प्रकार पग-पगपर मुझे अपने वाग्बाणोंद्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो ॥ ११ ॥

मर्षयामि च तत् सर्वं दुर्योधनकृतेन वै।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥१२॥

'मैं दुर्योधनके कारण यह सब कुछ चुपचाप सह लेता हूँ; परंतु तुम मुझे मूर्ख और कायरके समान समझते हो।१२।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ॥ १३ ॥

'तुम मेरे विषयमें जो अर्धरथी होनेका मत प्रकट कर रहे हो, इससे सम्पूर्ण जगत्को निःसंदेह ऐसा ही प्रतीत होने लगेगा; क्योंकि सब यही जानते हैं कि गङ्गानन्दन भीष्म झूठ नहीं बोलते ॥ १३ ॥

कुरूणामहितो नित्यं न च राजावबुध्यते।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ॥ १४ ॥
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ॥ १५ ॥

'तुम कौरवोंका सदा अहित करते हो; परंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझते हैं। तुम मेरे गुणोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण जिस प्रकार राजाओंकी मुझपर विरक्ति कराना चाहते हो, वैसा प्रयत्न तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कर सकता है ? इस समय युद्धका अवसर उपस्थित है और समान श्रेणीके उदारचरित राजा एकत्र हुए हैं; ऐसे अवसरपर आपसमें भेद (फूट) उत्पन्न करनेकी इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्षके योद्धाका इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा ? ॥१४-१५॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥ १६ ॥

'कौरव ! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धनका संग्रह कर लेने तथा बहुसंख्यक भाई-बन्धुओंके होनेसे ही किसी क्षत्रियको महारथी नहीं गिना जा सकता ॥ १६ ॥

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः ॥१७॥

'क्षत्रियजातिमें जो बलमें अधिक हो, वही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे, वैश्य अधिक धनसे और शूद्र अधिक आयु होनेसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ॥ १८ ॥

'तुम राग-द्वेषसे भरे हुए हो; अतः मोहवश मनमाने ढंगसे रथी-अतिरथियोंका विभाग कर रहे हो ॥ १८ ॥

दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम्।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत् तव ॥१९॥

'महाबाहु दुर्योधन ! तुम अच्छी तरह विचार करके देख लो। ये भीष्म दुर्भावसे दूषित होकर तुम्हारी बुराई कर रहे हैं। तुम इन्हें अभी त्याग दो ॥ १९ ॥

भिन्ना हि सेना नृपते दुःसंधेया भवत्युत।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नानासमुत्थिताः ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! एक बार सेनामें फूट पड़ जानेपर उसमें पुनः मेल कराना कठिन हो जाता है। उस दशामें मौलिक (पीढ़ियोंसे चले आनेवाले) सेवक भी हाथसे निकल जाते हैं। फिर जो भिन्न-भिन्न स्थानोंके लोग किसी एक कार्यके लिये उद्यत होकर एकत्र हुए हों, उनकी तो बात ही क्या है ? ॥ २० ॥

एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ॥ २१ ॥

'भारत ! इन योद्धाओंमें युद्धके अवसरपर दुविधा उत्पन्न हो गयी है। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, हमारे तेज और उत्साहकी विशेषरूपसे हत्या की जा रही है ॥ २१ ॥

रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २२ ॥

'कहाँ रथियोंको समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म ! मैं अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥

आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश।
पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ॥ २३ ॥

'मेरे बाण अमोघ हैं। मेरे सामने आकर पाण्डव और पाञ्चाल उसी प्रकार दसों दिशाओंमें भाग जायँगे, जैसे सिंहको देखकर बैल भागते हैं ॥ २३ ॥

क्व च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च।
क्व च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ॥ २४ ॥

'कहाँ युद्ध, मारकाट और गुप्त मन्त्रणामें अच्छी बातें बतानेका कार्य और कहाँ कालप्रेरित मन्दबुद्धि भीष्म, जिनकी आयु समाप्त हो चुकी है ॥ २४ ॥

एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह।
न चान्यं पुरुषं कंचिन्मन्यते मोघदर्शनः ॥ २५ ॥

'ये अकेले ही सदा सम्पूर्ण जगत्के साथ स्पर्धा रखते हैं और अपनी व्यर्थ दृष्टिके कारण दूसरे किसीको पुरुष ही नहीं समझते हैं ॥ २५ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥ २६ ॥

'वृद्धोंकी बातें सुननी चाहिये; यह शास्त्रका आदेश है। परंतु जो अत्यन्त बूढ़े हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे तो फिर बालकोंके ही समान माने गये हैं ॥ २६ ॥

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम्।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥ २७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं इस युद्धमें अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाका

विनाश करूँगा; परंतु सारा यश भीष्मको मिल जायगा ॥

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथंचन ॥ २८ ॥

'नरेश्वर ! तुमने इन भीष्मको ही सेनापति बनाया है। विजयका यश सेनापतिको ही प्राप्त होता है; योद्धाओंको किसी प्रकार नहीं मिलता ॥ २८ ॥

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथंचन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥ २९ ॥

'अतः राजन् ! मैं भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा; परंतु भीष्मके मारे जानेपर सम्पूर्ण महारथियोंके साथ टक्कर लूँगा' ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ॥ ३० ॥
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥ ३१ ॥

भीष्मने कहा—सूतपुत्र ! इस युद्धमें दुर्योधनका यह समुद्रके समान अत्यन्त गुरुतर भार मैंने अपने कंधोंपर उठाया है। जिसके लिये मैं बहुत वर्षोंसे चिन्तित हो रहा था, वह संतापदायक रोमाञ्चकारी समय अब आकर उपस्थित हो ही गया, ऐसे अवसरमें मुझे यह पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, इसीलिये तू अभीतक जी रहा है ॥३०-३१॥

न ह्यहं त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥ ३२ ॥

सूतकुमार ! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होनेपर भी पराक्रम करके आज तुझ बालककी युद्धविषयक श्रद्धा और जीवनकी आशाका एक ही साथ उच्छेद कर डालता ॥

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित् त्वं तु मे किं करिष्यसि ॥३३॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने मेरे ऊपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग किया था; परंतु वे भी मुझे कोई पीड़ा न दे सके। फिर तू तो मेरा कर ही क्या लेगा ? ॥ ३३ ॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां संतप्तो निहीनकुलपांसन ॥ ३४ ॥

नीचकुलाङ्गार ! साधु पुरुष अपने बलकी प्रशंसा करना कदापि अच्छा नहीं मानते हैं, तथापि तेरे व्यवहारसे संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसाकी बात भी कह रहा हूँ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ॥ ३५ ॥

काशिराजके यहाँ स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय-नरेश एकत्र हुए थे, परंतु मैंने केवल एक रथपर ही आरूढ़ होकर उन सबको जीतकर बलपूर्वक काशिराजकी कन्याओंका अपहरण किया था ॥ ३५ ॥

ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ॥ ३६ ॥

यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, ऐसे तथा इनसे भी बढ़-चढ़कर पराक्रमी हजारों नरेश वहाँ एकत्र थे; परंतु मैंने समराङ्गणमें अकेले ही उन सबको सेनाओंसहित परास्त कर दिया था ॥ ३६ ॥

त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।
उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ॥ ३७ ॥

तू वैरका मूर्तिमान् स्वरूप है । तेरा सहारा पाकर कुरुकुलके विनाशके लिये बहुत बड़ा अन्याय उपस्थित हो गया है। अब तू रक्षाका प्रबन्ध कर और पुरुषत्वका परिचय दे ॥

युद्ध्यस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते॥ ३८ ॥

दुर्मते ! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुनके साथ समरभूमिमें युद्ध कर। मैं देखूँगा कि तू इस संग्रामसे किस प्रकार बच पाता है ? ॥ ३८ ॥

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर प्रतापी राजा दुर्योधनने भीष्मजीसे कहा—'गङ्गानन्दन ! आप मेरी ओर देखिये; क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ३९ ॥

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ॥ ४० ॥

'आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याणकी बात सोचिये। आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे॥

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥ ४१ ॥

'अब मैं पुनः शत्रुपक्षके श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियोंका परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥ ४२ ॥

'कुरुनन्दन ! शत्रुओंके बलाबलको सुननेकी मेरी इच्छा है । आजकी रात बीतते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें भीष्मकर्णसंवादविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६८॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! ये तुम्हारे पक्षके रथी, अतिरथी और अर्धरथी बताये गये हैं । राजन् ! अब तुम पाण्डवपक्षके रथी आदिका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ २ ॥

नरेश ! अब यदि पाण्डवोंकी सेनाके विषयमें भी जानकारी करनेके लिये तुम्हारे मनमें कौतूहल हो तो इन भूमिपालोंके साथ तुम उनके रथियोंकी गणना सुनो ॥

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

तात ! कुन्तीका आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी (महारथी) हैं। वे समरभूमिमें अग्निके समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥३॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ॥ ४ ॥
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः।

राजेन्द्र ! भीमसेन तो अकेले आठ रथियोंके बराबर हैं। गदा और बाणोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है । उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। वे बड़े ही मानी तथा अलौकिक तेजसे सम्पन्न हैं ॥ ४½ ॥

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ॥ ५ ॥
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ।

माद्रीके दोनों पुत्र अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् और तेजस्वी हैं । वे दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं॥५½॥

एते चमूमुपगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम् ॥ ६ ॥
रुद्रवत् प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नास्ति संशयः।

ये चारों भाई महान् क्लेशोंका स्मरण करके तुम्हारी सेनामें घुसकर रुद्रदेवके समान संहार करते हुए विचरेंगे; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६½ ॥

सर्व एव महात्मानः शालस्तम्भा इवोद्गताः ॥ ७ ॥
प्रादेशेनाधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः।

ये सभी महामना पाण्डव शालवृक्षके स्तम्भोंके समान ऊँचे हैं । उनकी ऊँचाईका मान अन्य पुरुषोंसे एक बित्ता अधिक है ॥ ७½ ॥

सिंहसंहननाः सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबलाः ॥ ८ ॥
चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विनः।
ह्रीमन्तः पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

सभी पाण्डव सिंहके समान सुगठित शरीरवाले और महान् बलवान् हैं । तात ! उन सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव तपस्वी, लज्जाशील और व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली हैं ॥ ८-९ ॥

जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्व एवातिमानुषाः।
सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वेग, प्रहार और संघर्षमें अमानुषिक शक्तिसे सम्पन्न हैं। उन सबने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंपर विजय पायी है ॥ १० ॥

न चैषां पुरुषाः केचिदायुधानि गदाः शरान्।
विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव ॥ ११ ॥
उद्यन्तुं वा गदा गुर्वीः शरान् वा क्षेप्तुमाहवे।
जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ॥ १२ ॥
बालैरपि भवन्तस्तैः सर्व एव विशेषिताः।

कुरुनन्दन ! इनके आयुधों, गदाओं और बाणोंका आघात कोई भी नहीं सह सकते हैं । इसके सिवा न तो कोई इनके धनुषपर प्रत्यञ्चा ही चढ़ा पाते हैं, न युद्धमें इनकी भारी गदाको ही उठा सकते हैं और न इनके बाणोंका ही प्रयोग कर सकते हैं। वेगसे चलने, लक्ष्य-भेद करने, खाने-पीने तथा धूलि-क्रीड़ा करने आदिमें उन सबने बाल्यावस्थामें भी तुम्हें पराजित कर दिया था ॥ ११-१२½ ॥

एतत् सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटाः ॥१३॥
विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तैः सह सङ्गमः।

इस सेनामें आकर वे सभी उत्कट बलशाली हो गये हैं। युद्धमें आनेपर वे तुम्हारी सेनाका विध्वंस कर डालेंगे । मैं चाहता हूँ उनसे कहीं भी तुम्हारी मुठभेड़ न हो ॥ १३½ ॥

एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान् महीक्षितः ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाभवत्।

उनमेंसे एक-एकमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त राजाओं-का युद्धमें संहार कर सकते हैं । राजेन्द्र ! राजसूय-यज्ञमें जैसा जो कुछ हुआ था, वह सब तुमने अपनी आँखों देखा था॥

द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिरः ॥ १५ ॥
ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत्।

द्यूतक्रीड़ाके समय द्रौपदीको जो महान् क्लेश दिया गया और पाण्डवोंके प्रति कठोर बातें सुनायी गयीं, उन सबकी याद करके वे संग्रामभूमिमें रुद्रके समान विचरेंगे॥

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान् ॥१६॥
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः।

लाल नेत्रोंवाले निद्राविजयी अर्जुनके सखा और सहायक नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंमें अर्जुनके समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है ॥

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च ॥१७॥

राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु।
भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः॥ १८॥

समस्त देवताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षोंमें भी अर्जुनके समान कोई नहीं है; फिर मनुष्योंमें तो हो ही कैसे सकता है ? भूत या भविष्यमें भी कोई ऐसा रथी मेरे सुननेमें नहीं आया है॥ १७-१८॥

समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः।
वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनंजयः॥ १९॥

महाराज ! बुद्धिमान् अर्जुनका रथ जुता हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि और युद्धकुशल धनंजय रथी हैं॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाश्वा वातरंहसः।
अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी॥ २०॥

दिव्य गाण्डीव धनुष है, वायुके समान वेगशाली अश्व हैं, अभेद्य दिव्य कवच है तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो महान् तरकस हैं॥ २०॥

अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च।
याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः॥ २१॥

उस रथमें अस्त्रोंके समुदाय—महेन्द्र, रुद्र, कुबेर, यम एवं वरुणसम्बन्धी अस्त्र हैं, भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ हैं॥

वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च।
दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम्॥ २२॥
हतान्येकरथेनाजौ कस्तस्य सदृशो रथः।

वज्र आदि भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ आयुध भी उस रथमें विद्यमान हैं। अर्जुनने युद्धमें एकमात्र उस रथकी सहायतासे हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले सहस्रों दानवोंका संहार किया है। उसके समान दूसरा कौन रथ हो सकता है ?॥ २२½॥

एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान् सत्यविक्रमः॥ २३॥
तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन्।

वह बलवान्, सत्यपराक्रमी, महाबाहु अर्जुन क्रोधमें आकर तुम्हारी सेनाका संहार करेंगे और अपनी सेनाकी रक्षामें संलग्न रहेंगे॥ २३½॥

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनंजयम्॥ २४॥
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी॥ २५॥

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही धनंजयका सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र ! दोनों सेनाओंमें तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनके सामने जा सके॥

जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान्।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि॥ २६॥

ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें प्रचण्ड वायुसे प्रेरित महामेघकी भाँति श्रीकृष्णसहित अर्जुन युद्धके लिये तैयार है। वह अस्त्रोंका विद्वान् और तरुण भी है। इधर हम दोनों वृद्ध हो चले हैं॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः॥ २७॥
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम्।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात्॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनकर पाण्डवोंके पुरातन बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखने-की भाँति स्मरण करके राजाओंकी सुवर्णमय भुजबंदोंसे विभूषित चन्दनचर्चित स्थूल भुजाएँ एवं मन भी आवेगयुक्त होकर शिथिल हो गये॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पाण्डवरथातिरथसंख्यायां एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें पाण्डवपक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६९॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! द्रौपदीके जो पाँच पुत्र हैं, वे सबके सब महारथी हैं। विराटपुत्र उत्तरको मैं उदार रथी मानता हूँ॥ १॥

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा॥ २॥
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति॥ ३॥

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति है। वह शत्रुनाशक वीर समरभूमिमें अर्जुन और श्रीकृष्णके समान पराक्रमी है। उसने अस्त्रविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्धकी विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला और मनस्वी है। वह अपने पिताके क्लेशको याद करके अवश्य पराक्रम दिखायेगा॥ २-३॥

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः॥ ४॥

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियोंके भी यूथ-पति हैं। वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं। इन्होंने भयको जीत लिया है॥ ४॥

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम।

युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ ५ ॥

राजन् ! उत्तमौजाको भी मैं उदार रथी मानता हूँ । पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मतमें एक श्रेष्ठ रथी हैं ॥ ५ ॥

एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा ।
योत्स्यन्ते ते तनूंस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया॥ ६ ॥

इनके कई हजार रथ, हाथी और घोड़े हैं , जो कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने शरीरको निछावर करके युद्ध करेंगे ॥ ६ ॥

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत ।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ७ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! वे पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके एक-दूसरेका आह्वान करते हुए अग्नि और वायुकी भाँति विचरेंगे ॥ ७ ॥

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा ।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें अजेय हैं । इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंको मैं महारथी मानता हूँ ॥

वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ॥ ९ ॥

यद्यपि वे दोनों अवस्थाकी दृष्टिसे बहुत बूढ़े हैं, तथापि क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले वीरोंके मार्गमें स्थित हो अपनी शक्ति-भर युद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे ॥ ९ ॥

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात् ।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहपाशसितावुभौ ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे दोनों नरेश वीर्य और बलसे संयुक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके समान सदाचारी और महान् धनुर्धर हैं । पाण्डवोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे दोनों उनके स्नेह-बन्धनमें बँधे हुए हैं ॥ १० ॥

कारणं प्राप्य तु नराः सर्वे एव महाभुजाः ।
शूरा वा कातरा वापि भवन्ति कुरुपुङ्गव ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई कारण पाकर प्रायः सभी महाबाहु मानव शूर अथवा कायर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले राजा विराट और द्रुपद एकमात्र वीरपथका आश्रय ले चुके हैं । वे अपने प्राणोंका त्याग करके भी पूरी शक्तिसे तुम्हारी सेनाके साथ टक्कर लेंगे ॥ १२ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १३ ॥

वे दोनों युद्धमें बड़े भयंकर हैं, अतः अपने सम्बन्धकी रक्षा करते हुए पृथक्-पृथक् अक्षौहिणी सेना साथ लिये महान् पराक्रम करेंगे ॥ १३ ॥

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत ।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १४ ॥

भारत ! महान् धनुर्धर तथा जगत्के सुप्रसिद्ध वीर वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मानकी रक्षा करते हुए शरीरकी परवा न करके युद्धभूमिमें महान् पुरुषार्थ प्रकट करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन

भीष्म उवाच

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजयः ।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भरतनन्दन ! पाञ्चाल-राज द्रुपदका पुत्र शिखण्डी शत्रुओंकी नगरीपर विजय पाने-वाला है, मैं उसे युधिष्ठिरकी सेनाका एक प्रमुख रथी मानता हूँ॥

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम् ।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके अपने पूर्व अपयशका नाश तथा उत्तम सुयशका विस्तार करता हुआ बड़े उत्साहसे युद्ध करेगा ॥ २ ॥

एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ।
तेनासौ रथवंशेन महत् कर्म करिष्यति ॥ ३ ॥

उसके साथ पाञ्चालों और प्रभद्रकोंकी बहुत बड़ी सेना है । वह उन रथियोंके समूहद्वारा युद्धमें महान् कर्म कर दिखायेगा॥

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत ।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ४ ॥

भारत ! जो पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाका सेनापति है, वह द्रोणाचार्यका महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचारसे अतिरथी है ॥ ४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे ।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ॥ ५ ॥

जैसे प्रलयकालमें पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित होकर प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राममें शत्रुओंका संहार करता हुआ युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

एतस्य तद् रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः ।
बहुत्वात् सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ॥ ६ ॥

इसके पास रथियोंकी जो देवसेनाके समान विशाल सेना
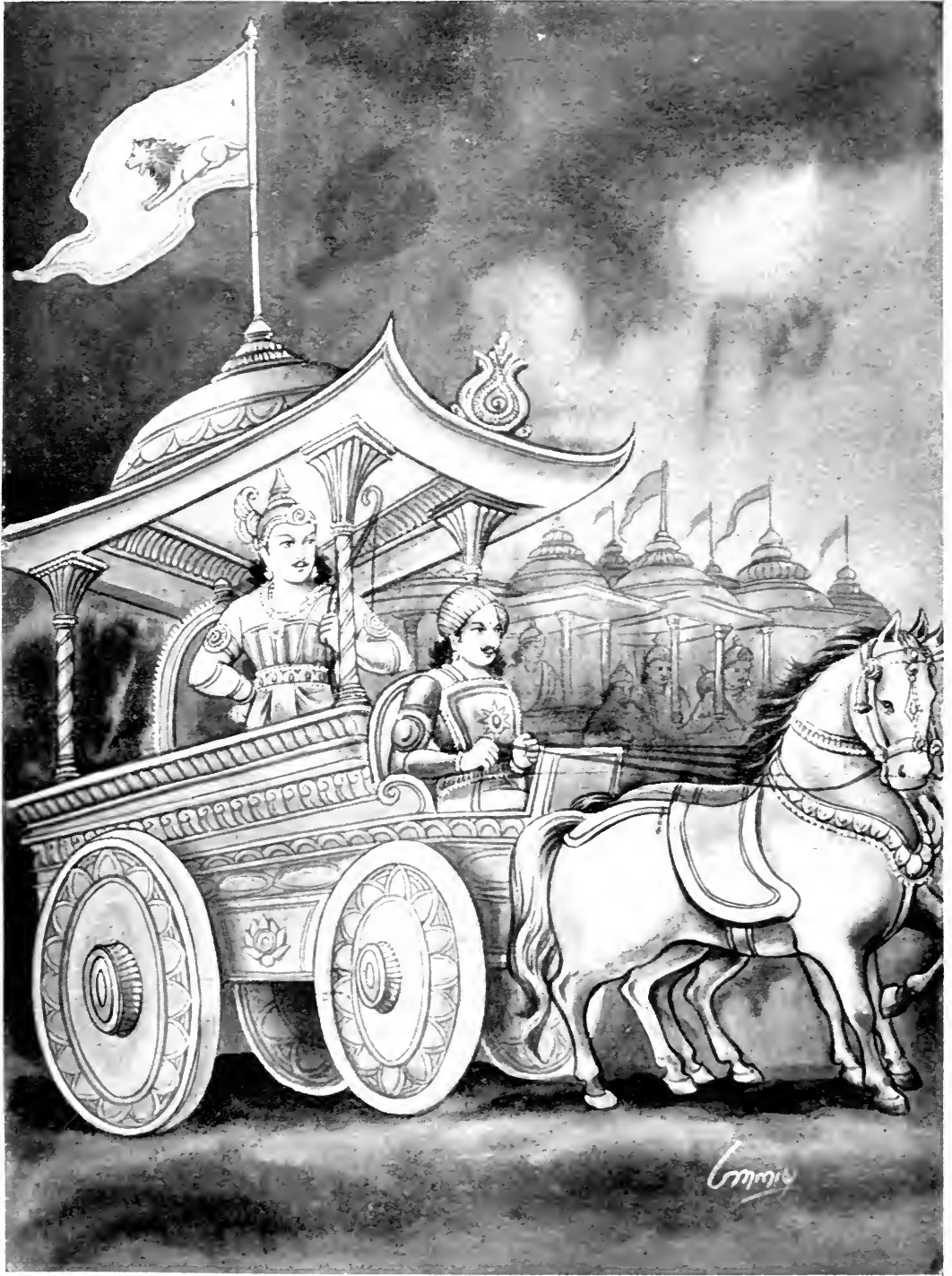
पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न
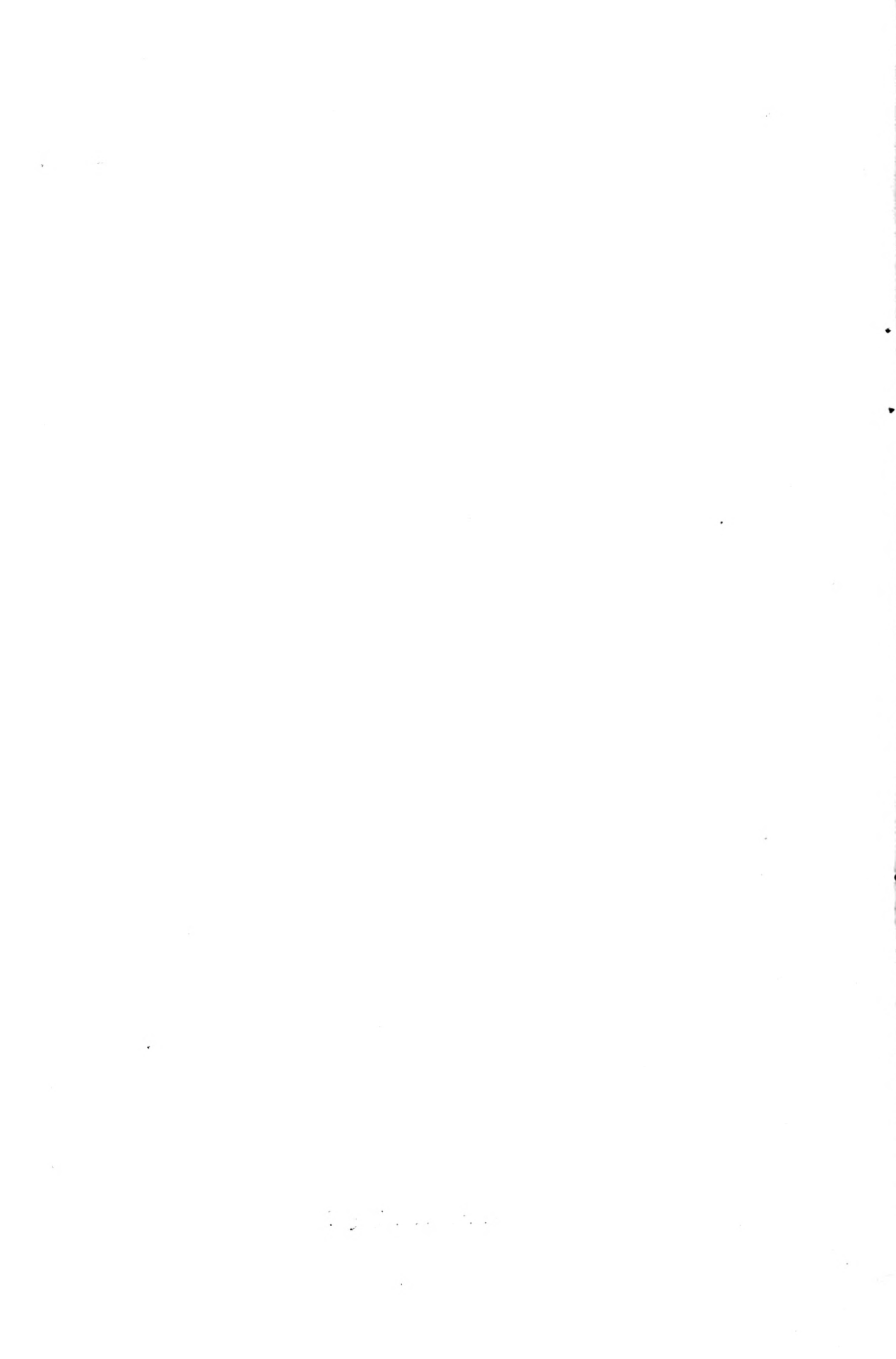
है, उसकी संख्या बहुत होनेके कारण युद्धप्रेमी सैनिक रण-क्षेत्रमें उसे समुद्रके समान बताते हैं ॥ ६ ॥

क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप ।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! धृष्टद्युम्नका पुत्र क्षत्रधर्मा मेरी समझमें अभी अर्धरथी है। बाल्यावस्था होनेके कारण उसने अस्त्र-विद्यामें अधिक परिश्रम नहीं किया है ॥ ७ ॥

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः ।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥ ८ ॥

शिशुपालका वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका सम्बन्धी एवं महारथी है ॥ ८ ॥

एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत ।
महारथानां सुकरं महत् कर्म करिष्यति ॥ ९ ॥

भारत ! यह शौर्यसम्पन्न चेदिराज अपने पुत्रके साथ आकर महारथियोंके लिये सहजसाध्य महान् पराक्रम कर दिखायेगा ॥

क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरंजयः ।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला क्षत्रिय-धर्मपरायण क्षत्रदेव मेरे मतमें पाण्डव-सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है ॥

जयन्तश्चामितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः ।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ॥ ११ ॥
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः ।

जयन्त, अमितौजा और महारथी सत्यजित्—ये सभी पाञ्चालशिरोमणि महामनस्वी वीर महारथी ही हैं। तात ! ये सबके सब क्रोधमें भरे हुए गजराजोंकी भाँति समरभूमिमें युद्ध करेंगे ॥ ११½ ॥

अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ॥ १२ ॥
योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः ।

पाण्डवोंके लिये महान् पराक्रम करनेवाले बलवान् शूर-वीर अज और भोज दोनों महारथी हैं। वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध करेंगे और अपने पुरुषार्थका परिचय देंगे ॥

शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ॥ १३ ॥
केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः ।
सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, विचित्र योद्धा, युद्धकलामें निपुण और दृढ़ पराक्रमी जो पाँच भाई केकय-राजकुमार हैं, वे सभी उदार रथी माने गये हैं। उन सबकी ध्वजा लाल रंगकी है ॥ १३-१४ ॥

काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चापरो नृप ।
सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ॥ १५ ॥
सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाहवलक्षणाः ।
सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ॥ १६ ॥

सुकुमार, काशिक, नील, सूर्यदत्त, शङ्ख और मदिराश्व नामक ये सभी योद्धा उदार रथी हैं। युद्ध ही इन सबका शौर्यसूचक चिह्न है। मैं इन सभीको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता और महामनस्वी मानता हूँ ॥ १५-१६ ॥

वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः ।
चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज ! वार्धक्षेमिको मैं महारथी मानता हूँ तथा राजा चित्रायुध मेरे विचारसे श्रेष्ठ रथी हैं ॥ १७ ॥

स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः ।
चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥ १८ ॥

चित्रायुध संग्राममें शोभा पानेवाले तथा अर्जुनके भक्त हैं। चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेनाके महारथी हैं। मैं इन्हें रथियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ १८ ॥

व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत ।
मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन—ये दो नरेश भी मेरे मतमें पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ रथी हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः ।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ॥ २० ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः ।

राजेन्द्र ! राजा सेनाबिन्दुका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है। प्रभो ! वे भगवान् कृष्ण तथा भीमसेनके समान पराक्रमी माने जाते हैं। वे समराङ्गणमें तुम्हारे सैनिकोंके साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ २०½ ॥

मां च द्रोणं कृपं चैव यथा सम्मन्यते भवान् ॥ २१ ॥
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः ।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥ २२ ॥

तुम मुझको, आचार्य द्रोणको तथा कृपाचार्यको जैसा समझते हो, युद्धमें दूसरे वीरोंसे स्पर्धा रखनेवाले तथा बहुत ही फुर्तीके साथ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नरश्रेष्ठ काशिराजको भी तुम्हें वैसा ही मानना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरंजयः ।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ॥ २३ ॥

मेरी दृष्टिमें शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले काशिराजको साधारण अवस्थामें एक रथी समझना चाहिये; परंतु जिस समय ये युद्धमें पराक्रम प्रकट करने लगते हैं उस समय इन्हें आठ रथियोंके बराबर मानना चाहिये ॥ २३ ॥

सत्यजित् समरश्लाघी द्रुपदस्यात्मजो युवा ।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ॥ २४ ॥
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति ।

द्रुपदका तरुण पुत्र सत्यजित् सदा युद्धकी स्पृहा रखने-वाला है। वह धृष्टद्युम्नके समान ही अतिरथीका पद प्राप्त

कर चुका है। वह पाण्डवोंके यशोविस्तारकी इच्छा रखकर युद्धमें महान् कर्म करेगा ॥ २४½ ॥

अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ॥ २५ ॥
पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरंधरः।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ॥ २६ ॥

पाण्डवपक्षके धुरंधर वीर महापराक्रमी पाण्ड्यराज भी एक अन्य महारथी हैं। ये पाण्डवोंके प्रति अनुराग रखनेवाले और शूरवीर हैं। इनका धनुष महान् और सुदृढ़ है। ये पाण्डवसेनाके सम्माननीय महारथी हैं ॥ २५-२६ ॥

श्रेणिमान् कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरंजयौ ॥ २७ ॥

कौरवश्रेष्ठ! राजा श्रेणिमान् और वसुदान—ये दोनों वीर अतिरथी माने गये हैं। ये शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेमें समर्थ हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका कथन

भीष्म उवाच

रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः।
योत्स्यतेऽमरवत् संख्ये परसैन्येषु भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! भारत! पाण्डवपक्षमें राजा रोचमान महारथी हैं। वे युद्धमें शत्रुसेनाके साथ देवताओंके समान पराक्रम दिखाते हुए युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ २ ॥

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेनके मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् हैं। मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ॥ २ ॥

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ॥ ३ ॥

इनका धनुष महान् है। ये अस्त्रविद्याके विद्वान् और युद्धकुशल हैं। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करनेवाले और शक्तिशाली हैं ॥ ३ ॥

स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः।
योधा ये चास्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र दानवोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे। उनके साथ जो सैनिक आये हैं, वे सभी युद्धकी कलामें निपुण और विख्यात वीर हैं ॥ ४ ॥

भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति संगरे।
सुमहत् कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ॥ ५ ॥

वीर पुरुजित् पाण्डवोंके प्रिय एवं हितमें तत्पर हो अपने भानजोंके लिये युद्धमें महान् कर्म करेंगे ॥ ५ ॥

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ ६ ॥

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है। वह मेरे मतमें रथयूथपतियोंका भी यूथपति है ॥ ६ ॥

योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः।
ये चास्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ॥ ७ ॥

उसको युद्ध करना बहुत प्रिय है। तात! वह मायावी राक्षस समरभूमिमें उत्साहपूर्वक युद्ध करेगा। उसके साथ जो वीर राक्षस एवं सचिव हैं, वे सब उसीके वशमें रहनेवाले हैं ॥

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ८ ॥

ये तथा और भी बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न जनपदोंके स्वामी हैं और जिनमें श्रीकृष्णका सबसे प्रधान स्थान है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके लिये यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ ८ ॥

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ॥ ९ ॥

राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके मुख्य-मुख्य रथी, अतिरथी और अर्धरथी यहाँ बताये गये हैं ॥ ९ ॥

नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ॥ १० ॥

नरेश्वर! देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी किरीटधारी वीरवर अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हुई युधिष्ठिरकी भयंकर सेनाका ये उपर्युक्त वीर समराङ्गणमें संचालन करेंगे ॥ १० ॥

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ॥ ११ ॥

वीर! मैं तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें उन मायावेत्ता और विजयाभिलाषी पाण्डव-वीरोंके साथ अपनी विजय अथवा मृत्युकी आकाङ्क्षा लेकर युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ।
संध्यागताविवार्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ॥ १२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन रथियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे क्रमशः सुदर्शन चक्र और गाण्डीव धनुष धारण करते हैं। वे संध्याकालीन सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति परस्पर मिलकर जब युद्धमें पधारेंगे, उस समय मैं उनका सामना करूँगा ॥

ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके और भी जो-जो श्रेष्ठ रथी सैनिक हैं, उनका और उनकी सेनाओंका मैं युद्धके मुहानेपर सामना करूँगा ॥

एते रथाश्चातिरथाश्च तुभ्यं
यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया।
तथापरे येऽर्धरथाश्च केचित्
तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ॥ १४ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे इन मुख्य-मुख्य रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है। इनके सिवा, जो कोई अर्धरथी हैं, उनका भी परिचय दिया है। कौरवेन्द्र! इसी प्रकार पाण्डवपक्षके भी रथी आदिका दिग्दर्शन कराया गया है॥

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत ॥१५॥

भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमेंसे जितनोंको देखूँगा, उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा॥

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥ १६ ॥

परंतु महाबाहो! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीको धनुषपर बाण चढ़ाये युद्धमें अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा॥ १६ ॥

लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

सारा जगत् यह जानता है कि मैं मिले हुए राज्यको पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ठुकराकर ब्रह्मचर्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लग गया॥ १७ ॥

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम्।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ १८ ॥

माता सत्यवतीके ज्येष्ठ पुत्र चित्राङ्गदको कौरवोंके राज्यपर और बालक विचित्रवीर्यको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया था॥ १८ ॥

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण भूमण्डलमें समस्त राजाओंके यहाँ अपने देवव्रतस्वरूपकी ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी नहीं मार सकता॥१९॥

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥ २० ॥

राजन्! शायद तुम्हारे सुननेमें आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्रीरूप' में ही उत्पन्न हुआ था; भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था; इसीलिये मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा॥ २० ॥

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ।
यान् समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान् नृप ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओंको, जिन्हें युद्धमें पाऊँगा, मारूँगा; परंतु कुन्तीके पुत्रोंका वध कदापि नहीं करूँगा॥२१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७२ ॥

(अम्बोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण

दुर्योधन उवाच

किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुष-बाण उठाये समरमें आततायीकी भाँति आपको मारने आयेगा, उस समय उसे इस रूपमें देखकर भी आप क्यों नहीं मारेंगे?

पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान् सह सोमकैः।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

महाबाहु गङ्गानन्दन! पितामह! आप पहले तो यह कह चुके हैं कि 'मैं सोमकोंसहित पञ्चालोंका वध करूँगा' (फिर आप शिखण्डीको छोड़ क्यों रहे हैं?) यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—दुर्योधन! मैं जिस कारणसे समराङ्गणमें प्रहार करते देखकर भी शिखण्डीको नहीं मारूँगा, उसकी कथा कहता हूँ, इन भूमिपालोंके साथ सुनो॥ ३ ॥

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ॥ ४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन्।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! मेरे धर्मात्मा पिता लोकविख्यात महाराज शान्तनुका जब निधन हो गया, उस समय अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए मैंने भाई चित्राङ्गदको इस महान् राज्यपर अभिषिक्त कर दिया॥ ४-५ ॥

तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ॥ ६ ॥

तदनन्तर जब चित्राङ्गदकी भी मृत्यु हो गयी, तब माता सत्यवतीकी सम्मतिसे मैंने विधिपूर्वक विचित्रवीर्यको राजाके पदपर अभिषेक किया॥ ६ ॥

मयाभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! छोटे होनेपर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर धर्मात्मा विचित्रवीर्य धर्मतः मेरी ही ओर देखा करते थे अर्थात् मेरी सम्मतिसे ही सारा राजकार्य करते थे ॥ ७ ॥

तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमच्युत।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ॥ ८ ॥

तात ! तब मैंने अपने योग्य कुलसे कन्या लाकर उनका विवाह करनेका निश्चय किया ॥ ८ ॥

तथाश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः।
रूपेणाप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा।
अम्बां चैवाम्बिकां चैव तथैवाम्बालिकामपि ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराजकी तीन कन्याएँ हैं, जो सब-की-सब अप्रतिम रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित हैं और वे स्वयंवर-सभामें स्वयं ही पतिका चुनाव करनेवाली हैं। उनके नाम हैं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका ॥९॥

राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ।
अम्बा ज्येष्ठाभवत् तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ॥ १० ॥
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! उन तीनोंके स्वयंवरके लिये भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गये थे। उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मझली थी और राजकन्या अम्बालिका सबसे छोटी थी। स्वयंवरका समाचार पाकर मैं एक ही रथके द्वारा काशिराजके नगरमें गया ॥ १०-११ ॥

अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलंकृताः।
राज्ञश्चैव समाहूतान् पार्थिवान् पृथिवीपते ॥ १२ ॥

महाबाहो ! वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई उन तीनों कन्याओंको देखा। पृथ्वीपते ! वहाँ उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओंपर भी मेरी दृष्टि पड़ी॥

ततोऽहं तान् नृपान् सर्वानाहूय समरे स्थितान्।
रथमारोपयांचक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने युद्धके लिये खड़े हुए उन समस्त राजाओंको ललकारकर उन तीनों कन्याओंको अपने रथपर बैठा लिया ॥ १३ ॥

वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा।
अवोचं पार्थिवान् सर्वानहं तत्र समागतान्।
भीष्मः शान्तनवः कन्या हरतीति पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ॥ १५ ॥

पराक्रम ही इन कन्याओंका शुल्क है, यह जानकर उन्हें रथपर चढ़ा लेनेके पश्चात् मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ राजाओ ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओंका अपहरण कर रहा है, तुम सब लोग पूरी शक्ति लगाकर इन्हें छुड़ानेका प्रयत्न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे देखते-देखते बलपूर्वक इन्हें लिये जाता हूँ'; इस बातको मैंने बारंबार दुहराया ॥ १४-१५ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ॥ १६ ॥

फिर तो वे महीपाल कुपित हो हाथमें हथियार लिये टूट पड़े और अपने सारथियोंको 'रथ तैयार करो, रथ तैयार करो' इस प्रकार आदेश देने लगे ॥ १६ ॥

ते रथैर्गजसंकाशैर्गजैश्च गजयोधिनः।
पुष्टैश्चाश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ॥ १७ ॥

वे राजा हाथियोंके समान विशाल रथों, हाथियों और हृष्ट-पुष्ट अश्वोंपर सवार हो अस्त्र-शस्त्र लिये मुझपर आक्रमण करने लगे। उनमेंसे कितने ही हाथियोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले थे ॥ १७ ॥

ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर उन सब नरेशोंने विशाल रथ-समूहद्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ॥ १८ ॥

तानहं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयम्।
सर्वान् नृपांश्चाप्यजयं देवराडिव दानवान् ॥ १९ ॥

तब मैंने भी बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे उनकी प्रगति रोक दी और जैसे देवराज इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार मैंने भी उन सब नरेशोंको जीत लिया ॥१९॥

अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन् भरतर्षभ।
तेषामापततां चित्रान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस समय उन्होंने आक्रमण किया उसी समय मैंने प्रज्वलित बाणोंद्वारा हँसते-हँसते उनके स्वर्ण-भूषित विचित्र ध्वजोंको काट गिराया ॥ २० ॥

एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम्।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाप्यहं रणे ॥ २१ ॥

फिर एक-एक बाण मारकर मैंने समरभूमिमें उनके घोड़ों, हाथियों और सारथियोंको भी धराशायी कर दिया॥२१॥

ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम।
(प्रणिपेतुश्च सर्वे वै प्रशशंसुश्च पार्थिवाः।
तत आदाय ताः कन्या नृपतींश्च विसृज्य तान् ॥)
अथाहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ॥ २२ ॥

मेरे हाथोंकी वह फुर्ती देखकर वे पीछे हटने और भागने लगे। वे सब भूपाल नतमस्तक हो गये और मेरी प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् मैं राजाओंको परास्त करके उन सबको वहीं छोड़ तीनों कन्याओंको साथ ले हस्तिनापुरमें आया ॥ २२ ॥

ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत।

तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ २३ ॥

महाबाहु भरतनन्दन! फिर मैंने उन कन्याओंको अपने भाईसे ब्याहनेके लिये माता सत्यवतीको सौंप दिया और अपना वह पराक्रम भी उन्हें बताया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कन्याहरणविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ इलोक मिलाकर कुल २४ इलोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वराजके प्रति अपना अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना

भीष्म उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने वीर-जननी दाशराजकी कन्या माता सत्यवतीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ॥ २ ॥

'माँ ! ये काशिराजकी कन्याएँ हैं। पराक्रम ही इनका शुल्क था । इसलिये मैं समस्त राजाओंको जीतकर भाई विचित्रवीर्यके लिये इन्हें हर लाया हूँ' ॥ २ ॥

ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! यह सुनकर माता सत्यवतीके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये । उन्होंने मेरा मस्तक सूँघकर प्रसन्नता-पूर्वक कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विजयी हुए' ॥

सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ॥ ४ ॥

सत्यवतीकी अनुमतिसे जब विवाहका कार्य उपस्थित हुआ, तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाने कुछ लज्जित होकर मुझसे कहा— ॥ ४ ॥

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥ ५ ॥

'भीष्म ! तुम धर्मके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो । मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥ ६ ॥

'मैंने अपने मनसे पहले शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्तमें मेरा वरण कर लिया है। यह पहलेकी बात है, जो मेरे पिताको भी ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ॥ ७ ॥

'भीष्म ! मैं दूसरेकी कामना करनेवाली राजकन्या हूँ । तुम विशेषतः कुरुवंशी होकर राजधर्मका उल्लङ्घन करके मुझे अपने घरमें कैसे रक्खोगे ? ॥ ७ ॥

एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।
यत् क्षमं ते महाबाहो तदिहारब्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! अपनी बुद्धि और मनसे इस विषयमें निश्चित विचार करके तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करना चाहिये ॥ ८ ॥

स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'प्रजानाथ ! शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हें मुझे उनकी सेवामें जानेकी आज्ञा देनी चाहिये ॥ ९ ॥

कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! महाबाहु वीर ! मुझपर कृपा करो। मैंने सुना है कि इस पृथ्वीपर तुम सत्यव्रती महात्मा हो' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बावाक्यविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद

भीष्म उवाच

ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ॥ १ ॥
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! तब मैंने माता गन्धवती कालीसे आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंसे पूछकर बड़ी राजकुमारी अम्बाको जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १½ ॥

अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चानुगता तदा ।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ॥ ३ ॥
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत् ।
आगताहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ॥ ४ ॥

आज्ञा पाकर राजकन्या अम्बा वृद्ध ब्राह्मणोंके संरक्षणमें रहकर शाल्वराजके नगरकी ओर गयी । उसके साथ उसकी धाय भी थी । उस मार्गको लाँघकर वह राजाके यहाँ पहुँच गयी और शाल्वराजसे मिलकर इस प्रकार बोली—'महाबाहो ! महामते ! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ ॥ २–४ ॥

(अभिनन्दस्व मां राजन् सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रतिपादय मां राजन् धर्मार्थं चैव धर्मतः ॥
त्वं हि मनसा ध्यातस्त्वया चाप्युपमन्त्रिता ॥)

'राजन् ! मैं सदा तुम्हारे प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाली हूँ । मुझे अपनाकर आनन्दित करो । नरेश्वर ! मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्मके लिये ही अपने चरणोंमें स्थान दो । मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्तमें मेरे साथ विवाहका प्रस्ताव किया था' ॥

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते ।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! अम्बाकी बात सुनकर शाल्वराजने मुसकराते हुए-से कहा—'सुन्दरी ! तुम पहले दूसरेकी हो चुकी हो; अतः तुम्हारी-जैसी स्त्रीके साथ विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं है ।५।

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै ।
नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥ ६ ॥

'भद्रे ! तुम पुनः वहाँ भीष्मके ही पास जाओ । भीष्मने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था, अतः अब तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाना नहीं चाहता ॥ ६ ॥

त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा ।
परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ॥ ७ ॥

'भीष्मने उस महायुद्धमें समस्त भूपालोंको हराकर तुम्हें जीता और तुम्हें उठाकर वे अपने साथ ले गये । तुम उस समय उनके साथ प्रसन्न थीं ॥ ७ ॥

नाहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि ।
कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ॥ ८ ॥
नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ॥९॥

'वरवर्णिनि ! जो पहले औरकी हो चुकी हो, ऐसी स्त्रीको मैं अपनी पत्नी बनाऊँ, यह मेरी इच्छा नहीं है । जिस नारीपर पहले किसी दूसरे पुरुषका अधिकार हो गया हो, उसे सारी बातोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरे-जैसा राजा जो दूसरोंको धर्मका उपदेश करता है, कैसे अपने घरमें प्रविष्ट करायेगा । भद्रे ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ । तुम्हारा यह समय यहाँ व्यर्थ न बीते' ॥ ८-९ ॥

अम्बा तमब्रवीद् राजन्ननङ्गशरपीडिता ।
नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथंचन ॥ १० ॥
नास्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणामित्रकर्शन ।
बलान्नीतास्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ॥ ११ ॥

राजन् ! यह सुनकर कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हुई अम्बा शाल्वराजसे बोली—'भूपाल ! तुम किसी तरह भी ऐसी बात मुँहसे न निकालो । शत्रुसूदन ! मैं भीष्मके साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गयी थी । उन्होंने समस्त राजाओंको खदेड़कर बलपूर्वक मेरा अपहरण किया था और मैं रोती हुई ही उनके साथ गयी थी ॥ १०-११ ॥

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम् ।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ १२ ॥

'शाल्वराज ! मैं निरपराध अबला हूँ । तुम्हारे प्रति अनुरक्त हूँ । मुझे स्वीकार करो; क्योंकि भक्तोंका परित्याग किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं बताया गया है ॥ १२ ॥

साहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम् ।
अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ॥ १३ ॥

'युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले गङ्गानन्दन भीष्मसे पूछकर, उनकी आज्ञा लेकर अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १३ ॥

न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते ।
भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ॥ १४ ॥

'राजन् ! महाबाहु भीष्म मुझे नहीं चाहते । उनका यह आयोजन अपने भाईके विवाहके लिये था, ऐसा मैंने सुना है १४

भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप ।
प्रादाद् विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! भीष्म जिन मेरी दो बहिनों—अम्बिका और अम्बालिकाको हरकर ले गये थे, उन्हें उन्होंने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यको ब्याह दिया है ॥ १५ ॥

यथा शाल्वपते नान्यं वरं ध्यामि कथंचन ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह शाल्वराज ! मैं अपना मस्तक छूकर कहती हूँ; तुम्हारे सिवा दूसरे किसी वरका मैं किसी प्रकार भी चिन्तन नहीं करती हूँ ॥ १६ ॥

न चान्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता ।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत् सत्येनात्मानमालभे ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र शाल्व ! मुझपर किसी भी दूसरे पुरुषका पहले कभी अधिकार नहीं रहा है । मैं स्वेच्छापूर्वक पहले-पहल तुम्हारी ही सेवामें उपस्थित हुई हूँ । यह मैं सत्य कहती हूँ और इस सत्यके द्वारा ही इस शरीरकी शपथ खाती हूँ ॥१७॥

भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम् ।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणीम् ॥ १८ ॥

'विशाल नेत्रोंवाले महाराज ! मैंने आजसे पहले किसी दूसरे पुरुषको अपना पति नहीं समझा है । मैं तुम्हारी कृपाकी अभिलाषा रखती हूँ । स्वयं ही अपनी सेवामें उपस्थित हुई मुझ कुमारी कन्याको धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये' १८

तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
अत्यजद् भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई काशिराजकी उस कन्याको शाल्वने उसी प्रकार त्याग दिया, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको छोड़ देता है ॥ १९ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः ।
नाश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतभूषण ! इस तरह नाना प्रकारके वचनोंद्वारा बार-बार याचना करनेपर भी शाल्वराजने उस कन्याकी बातोंपर विश्वास नहीं किया ॥ २० ॥

ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अब्रवीत् साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ॥ २१ ॥

तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा क्रोध एवं दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें बोली—॥

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते ।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि मेरी कही बात निश्चितरूपसे सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होनेपर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देनेवाले हों' ॥ २२ ॥

एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा ।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! राजकन्या अम्बा करुणस्वरसे विलाप करती हुई इसी प्रकार कितनी ही बातें कहती रही; परंतु शाल्व-राजने उसे सर्वथा त्याग दिया ॥ २३ ॥

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत ।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥ २४ ॥

शाल्वने बारंबार उससे कहा—'सुश्रोणि ! तुम जाओ, चली जाओ, मैं भीष्मसे डरता हूँ । तुम भीष्मके द्वारा ग्रहण की हुई हो' ॥ २४ ॥

एवमुक्ता तु सा तेन शाल्वेनादीर्घदर्शिना ।
निश्चक्राम पुराद् दीना रुदती कुररी यथा ॥ २५ ॥

अदूरदर्शी शाल्वके ऐसा कहनेपर अम्बा कुररीकी भाँति दीनभावसे रुदन करती हुई उस नगरसे निकल गयी ॥२५॥

भीष्म उवाच

निष्क्रामन्ती तु नगराच्चिन्तयामास दुःखिता ।
पृथिव्यां नास्ति युवतिर्विषमस्थतरा मया ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलते समय वह दुःखिनी नारी इस प्रकार चिन्ता करने लगी—'इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी युवती नहीं होगी, जो मेरे समान भारी संकटमें पड़ गयी हो ॥ २६ ॥

बन्धुभिर्विप्रहीणास्मि शाल्वेन च निराकृता ।
न च शक्यं पुनर्गन्तुं मया वारणसाह्वयम् ॥ २७ ॥

'भाई-बन्धुओंसे तो दूर हो ही गयी हूँ । राजा शाल्वने भी मुझे त्याग दिया है । अब मैं हस्तिनापुरमें भी नहीं जा सकती ॥ २७ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वमुद्दिश्य कारणम् ।
किं नु गर्हाम्यथात्मानमथ भीष्मं दुरासदम् ॥ २८ ॥

'क्योंकि शाल्वके अनुरागको कारण बताकर मैंने भीष्मसे यहाँ आनेकी आज्ञा ली थी । अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय वीर भीष्मको कोसूँ ? ॥ २८ ॥

अथवा पितरं मूढं यो मेऽकार्षीत् स्वयंवरम् ।
मयायं स्वकृतो दोषो याहं भीष्मरथात् तदा ॥ २९ ॥
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे शाल्वार्थं नापतं पुरा ।

'अथवा अपने मूढ़ पिताको दोष दूँ, जिन्होंने मेरा स्वयंवर किया । मेरे द्वारा सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि पूर्वकाल-में जिस समय वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय मैं शाल्वके लिये भीष्मके रथसे कूद नहीं पड़ी ॥ २९½ ॥

तस्येयं फलनिर्वृत्तिर्यदापन्नास्मि मूढवत् ॥ ३० ॥
धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम् ।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता ॥ ३१ ॥

'उसीका यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्रीकी भाँति भारी आपत्तिमें पड़ गयी हूँ । भीष्मको धिक्कार है, विवेकशून्य हृदयवाले मेरे मन्दबुद्धि पिताको भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रमका शुल्क नियत करके मुझे बाजारू स्त्रीकी भाँति जनसमूहमें निकलनेकी आज्ञा दी ॥ ३०-३१ ॥

धिङ्मां धिक् शाल्वराजानं धिग् धातारमथापि वा ।
येषां दुर्नीतभावेन प्राप्तास्म्यापदमुत्तमाम् ॥ ३२ ॥

'मुझे धिक्कार है, शाल्वराजको धिक्कार है और विधाता-को भी धिक्कार है, जिनकी दुर्नीतियोंसे मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गयी हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वथा भागधेयानि स्वानि प्राप्नोति मानवः ।
अनयस्यास्य तु मुखं भीष्मः शान्तनवो मम ॥ ३३ ॥

'मनुष्य सर्वथा वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है । मुझपर जो यह अन्याय हुआ है, उसका मुख्य कारण शान्तनुनन्दन भीष्म हैं ॥ ३३ ॥

सा भीष्मे प्रतिकर्तव्यमहं पश्यामि साम्प्रतम् ।
तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ॥ ३४ ॥

'अतः इस समय तपस्या अथवा युद्धके द्वारा भीष्मसे ही बदला लेना मुझे उचित दिखायी देता है; क्योंकि मेरे दुःखके प्रधान कारण वे ही हैं ॥ ३४ ॥

को नु भीष्मं युधा जेतुमुत्सहेत महीपतिः ।
एवं सा परिनिश्चित्य जगाम नगराद् बहिः ॥ ३५ ॥

'परंतु कौन ऐसा राजा है जो युद्धके द्वारा भीष्मको परास्त कर सके ।' ऐसा निश्चय करके वह नगरसे बाहर चली गयी॥

आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ।
ततस्तामवसद् रात्रिं तापसैः परिवारिता ॥ ३६ ॥

उसने पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमपर जाकर वहीं वह रात बितायी । उस आश्रममें तपस्वीलोगोंने सब

ओरसे घेरकर उसकी रक्षा की थी ॥ ३६ ॥

आचख्यौ च यथावृत्तं सर्वमात्मनि भारत ।
विस्तरेण महाबाहो निखिलेन शुचिस्मिता ।
हरणं च विसर्गं च शाल्वेन च विसर्जनम् ॥ ३७ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! पवित्र मुसकानवाली अम्बाने अपने ऊपर बीता हुआ सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक उन महात्माओंसे बताया । किस प्रकार उसका अपहरण हुआ ? कैसे भीष्मसे छुटकारा मिला ? और फिर किस प्रकार शाल्वने उसे त्याग दिया, ये सारी बातें उसने कह सुनायीं ॥ ३७ ॥

ततस्तत्र महानासीद् ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
शैखावत्यस्तपोवृद्धः शास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ३८ ॥

उस आश्रममें कठोर व्रतका पालन करनेवाले शैखावत्य नामसे प्रसिद्ध एक तपोवृद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जो शास्त्र और आरण्यक आदिकी शिक्षा देनेवाले सद्गुरु थे ॥ ३८ ॥

आर्तां तामाह स मुनिः शैखावत्यो महातपाः ।
निःश्वसन्तीं सतीं बालां दुःखशोकपरायणाम् ॥ ३९ ॥

महातपस्वी शैखावत्य मुनिने वहाँ सिसकती हुई उस दुःखशोकपरायणा सती साध्वी आर्त अबलासे कहा—॥ ३९ ॥

एवं गते तु किं भद्रे शक्यं कर्तुं तपस्विभिः ।
आश्रमस्थैर्महाभागे तपोयुक्तैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

'भद्रे ! महाभागे ! ऐसी दशामें इस आश्रममें निवास करनेवाले तपःपरायण तपोधन महात्मा तुम्हारा क्या सहयोग कर सकते हैं ?' ॥ ४० ॥

सा त्वेनमब्रवीद् राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! तब अम्बाने उनसे कहा—'भगवन् ! मुझपर अनुग्रह कीजिये । मैं संन्यासियोंका-सा धर्म पालन करना चाहती हूँ । यहाँ रहकर दुष्कर तपस्या करूँगी ॥ ४१ ॥

मयैव यानि कर्माणि पूर्वदेहे तु मूढया ।
कृतानि नूनं पापानि तेषामेतत् फलं ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

'मुझ मूढ़ नारीने अपने पूर्वजन्मके शरीरसे जो पापकर्म किये थे, अवश्य ही उन्हींका यह दुःखदायक फल प्राप्त हुआ है॥

नोत्सहे तु पुनर्गन्तुं स्वजनं प्रति तापसाः ।
प्रत्याख्याता निरानन्दा शाल्वेन च निराकृता ॥ ४३ ॥

'तपस्वी महात्माओ ! अब मैं अपने स्वजनोंके यहाँ फिर नहीं लौट सकती; क्योंकि राजा शाल्वने मुझे कोरा उत्तर देकर त्याग दिया है, उससे मेरा सारा जीवन आनन्दशून्य (दुःखमय) हो गया है ॥ ४३ ॥

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।
युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ॥ ४४ ॥

'निष्पाप तापसगण ! मैं चाहती हूँ कि आप देवोपम साधु-पुरुष मुझे तपस्याका उपदेश दें; मुझपर आपलोगोंकी कृपा हो' ॥

स तामाश्वासयत् कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ॥ ४५ ॥

तब शैखावत्य मुनिने लौकिक दृष्टान्तों, शास्त्रीय वचनों तथा युक्तियोंद्वारा उस कन्याको आश्वासन देकर धैर्य बँधाया और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर उसके कार्य-साधनके लिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शैखावत्य तथा अम्बाका संवादविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब धर्मात्मा तपस्वी उस कन्याके विषयमें चिन्ता करते हुए यह सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? उस समय वे उसके लिये कुछ करनेको उद्यत थे ॥ १ ॥

केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ॥ २ ॥

कुछ तपस्वी यह कहने लगे कि इस राजकन्याको इसके पिताके घर पहुँचा दिया जाय । कुछ तापसोंने मुझे उलाहना देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद् व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ॥ ३ ॥

कुछ लोग यह सम्मति प्रकट करने लगे कि चलकर शाल्वराजको बाध्य करना चाहिये कि वह इसे स्वीकार कर ले और कुछ लोगोंने यह निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसने इस कन्याको कोरा उत्तर देकर ग्रहण करनेसे इन्कार कर दिया है ॥ ३ ॥

एवं गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

'भद्रे ! ऐसी स्थितिमें मनीषी तापस क्या कर सकते हैं ?' ऐसा कहकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी तापस उस राजकन्यासे फिर बोले—॥ ४ ॥

अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ॥ ५ ॥

प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम् ।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

'भद्रे ! घर त्यागकर संन्यासियोंके-से धर्माचरणमें संलग्न होनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम हमारा हितकर वचन सुनो, तुम्हारा कल्याण हो । यहाँसे पिताके घरको ही चली जाओ । इसके बाद जो आवश्यक कार्य होगा, उसे तुम्हारे पिता काशिराज सोचे-समझेंगे । कल्याणि ! तुम वहाँ सर्वगुणसम्पन्न होकर सुखसे रह सकोगी ॥ ५-६ ॥

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद् भद्रे यथा पिता ।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे लिये पिताका आश्रय लेना जैसा न्यायसंगत है, वैसा दूसरा कोई सहारा नहीं है । वरवर्णिनि ! नारीके लिये पति अथवा पिता ही गति (आश्रय) है ॥७॥

गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः ।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्या विशेषतः ॥ ८ ॥

'सुखकी परिस्थितिमें नारीके लिये पति आश्रय होता है और संकटकालमें उसके लिये पिताका आश्रय लेना उत्तम है । विशेषतः तुम सुकुमारी हो, अतः तुम्हारे लिये यह प्रव्रज्या (गृहत्याग) अत्यन्त दुःखसाध्य है ॥ ८ ॥

राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि ।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे ।

'भामिनि ! एक तो तुम राजकुमारी और दूसरे स्वभावतः सुकुमारी हो, अतः सुन्दरी ! यहाँ आश्रममें तुम्हारे रहनेसे अनेक दोष प्रकट हो सकते हैं । पिताके घरमें वे दोष नहीं प्राप्त होंगे' ॥९½॥

ततस्त्वन्येऽब्रुवन् वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम् ॥ १० ॥
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने ।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दूसरे तापसोंने उस तपस्विनीसे कहा—'इस निर्जन गहन वनमें तुम्हें अकेली देख कितने ही राजा तुमसे प्रणय-प्रार्थना करेंगे, अतः तुम इस प्रकार तपस्या करनेका विचार न करो' ॥ १०-११ ॥

अम्बोवाच

न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान् ।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः ॥ १२ ॥

अम्बा बोली—तापसो ! अब मेरे लिये पुनः काशिनगरमें पिताके घर लौट जाना असम्भव है; क्योंकि वहाँ मुझे बन्धु-बान्धवोंमें अपमानित होकर रहना पड़ेगा ॥१२॥

उषितास्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः ।
नाहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम ।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता ॥ १३ ॥

तापसो ! मैं बाल्यावस्थामें पिताके घर रह चुकी हूँ । आपका कल्याण हो । अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, जहाँ मेरे पिता होंगे । मैं आप तपस्वी जनोंद्वारा सुरक्षित होकर यहाँ तपस्या करनेकी ही इच्छा रखती हूँ ॥ १३ ॥

यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः ।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तप्स्याम्यहं तपः ॥ १४ ॥

तापसश्रेष्ठ महर्षियो ! मैं तपस्या इसलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोकमें भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्यका सामना न करना पड़े । अतः मैं तपस्या ही करूँगी ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम् ।
राजर्षिस्तद् वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार वे ब्राह्मण जब यथावत् चिन्तामें मग्न हो रहे थे, उसी समय तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन उस वनमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम् ।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च ॥ १६ ॥

तब उन सब तापसोंने स्वागत, कुशल-प्रश्न, आसन-समर्पण और जल-दान आदि अतिथि-सत्कारके उपचारोंद्वारा राजा होत्रवाहनका समादर किया ॥ १६ ॥

तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः ।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः ॥ १७ ॥

जब वे आसनपर बैठकर विश्राम कर चुके, उस समय उनके सुनते हुए ही वे वनवासी तपस्वी पुनः उस कन्याके विषयमें बातचीत करने लगे ॥ १७ ॥

अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराज्ञश्च भारत ।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ १८ ॥

भारत ! अम्बा और काशिराजकी वह चर्चा सुनकर महातेजस्वी राजर्षि होत्रवाहनका चित्त उद्विग्न हो उठा ।१८।

तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः ।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त रूपसे दीनतापूर्वक अपना दुःख निवेदन करनेवाली राजकन्या अम्बाकी बातें सुनकर महातपस्वी, महात्मा राजर्षि होत्रवाहन दयासे द्रवित हो गये ॥ १९ ॥

स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा ।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्यश्वासयत प्रभो ॥ २० ॥

वे अम्बाके नाना थे । राजन् ! वे काँपते हुए उठे और उस राजकन्याको गोदमें बिठाकर उसे सान्त्वना देने लगे ॥

स तामपृच्छत् कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः ।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत् ॥ २१ ॥

उन्होंने उसपर संकट आनेकी सारी बातें आरम्भसे ही पूछी और अम्बाने भी जो कुछ जैसे-जैसे हुआ था, वह सारा वृत्तान्त उनसे विस्तारपूर्वक बताया ॥ २१ ॥

ततः स राजर्षिरभूद् दुःखशोकसमन्वितः ।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः ॥ २२ ॥

तत्र उन महातपस्वी राजर्षिने दुःख और शोकसे संतप्त हो मन-ही-मन आवश्यक कर्तव्यका निश्चय किया ॥

अब्रवीद् वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ॥ २३ ॥

और अत्यन्त दुखी हो काँपते हुए ही उन्होंने उस दुःखिनी कन्यासे इस प्रकार कहा—'भद्रे ! (यदि) तू पिताके घर (नहीं जाना चाहती हो तो) न जा। मैं तेरी माँका पिता हूँ ॥ २३ ॥

दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ॥ २४ ॥

'बेटी ! मैं तेरा दुःख दूर करूँगा, तू मेरे पास रह। वत्से ! तेरे मनमें बड़ा संताप है, तभी तो इस प्रकार सूखी जा रही है ॥ २४ ॥

गच्छ मद्वचनाद् रामं जामदग्न्यं तपस्विनम्।
रामस्ते सुमहद् दुःखं शोकं चैवापनेष्यति ॥ २५ ॥

'तू मेरे कहनेसे तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुराम-जीके पास जा। वे तेरे महान् दुःख और शोकको अवश्य दूर करेंगे ॥ २५ ॥

हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद् वचः।
तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ॥ २६ ॥

'यदि भीष्म उनकी बात नहीं मानेंगे तो वे युद्धमें उन्हें मार डालेंगे। भार्गवश्रेष्ठ परशुराम प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं। तू उन्हींकी शरणमें जा ॥ २६ ॥

प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः।
ततस्तु सुस्वरं बाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ॥ २७ ॥
अब्रवीत् पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम्।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ॥ २८ ॥

'वे महातपस्वी राम तुझे न्यायोचित मार्गपर प्रतिष्ठित करेंगे।' यह सुनकर अम्बा बारंबार आँसू बहाती हुई अपने नाना होत्रवाहनको मस्तक नवाकर प्रणाम करके मधुर स्वरमें इस प्रकार बोली—'नानाजी! मैं आपकी आज्ञासे वहाँ अवश्य जाऊँगी ॥ २७-२८ ॥

अपि नामाद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम्।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ॥ २९ ॥

'परंतु मैं आज उन विश्वविख्यात श्रेष्ठ महात्माका दर्शन कैसे कर सकूँगी और वे भृगुनन्दन परशुरामजी मेरे इस दुःसह दुःखका नाश किस प्रकार करेंगे ? मैं यह सब जानना चाहती हूँ, जिससे वहाँ जा सकूँ' ॥ २९ ॥

होत्रवाहन उवाच

रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसंधं महाबलम् ॥ ३० ॥

होत्रवाहन बोले—भद्रे ! जमदग्निनन्दन परशुराम एक महान् वनमें उग्र तपस्या कर रहे हैं। वे महान् शक्तिशाली और सत्यप्रतिज्ञ हैं। तुझे अवश्य ही उनका दर्शन प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३१ ॥

परशुरामजी सदा पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्रपर रहा करते हैं। वहाँ वेदवेत्ता महर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराओंका भी निवास है ॥

तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ॥ ३२ ॥

बेटी ! तेरा कल्याण हो। तू वहीं जा और उन दृढ़व्रती तपोवृद्ध महात्माको अभिवादन करके पहले उनसे मेरी बात कहना ॥ ३२ ॥

ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत् ते कार्यं मनीषितम्।
मयि संकीर्तिते रामः सर्वं तत् ते करिष्यति ॥ ३३ ॥

भद्रे ! तत्पश्चात् तेरे मनमें जो अभीष्ट कार्य है वह सब उनसे निवेदन करना। मेरा नाम लेनेपर परशुरामजी तेरा सब कार्य करेंगे ॥ ३३ ॥

मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वत्से ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन वीरवर परशुराम मेरे सखा और प्रेमी सुहृद् हैं ॥ ३४ ॥

एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद् रामस्यानुचरः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा होत्रवाहन जब राजकन्या अम्बासे इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय परशुरामजीके प्रिय सेवक अकृतव्रण वहाँ प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ३६ ॥

उन्हें देखते ही वे सहस्रों मुनि तथा सृंजयवंशी वयोवृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनका आदर-सत्कार किया गया; फिर वे वनवासी महर्षि एक दूसरेकी ओर देखते हुए एक साथ उन्हें घेरकर बैठे ॥ ३७ ॥

ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् वे सब लोग प्रेम और हर्षके साथ दिव्य, धन्य एवं मनोरम वार्तालाप करने लगे ॥ ३८ ॥

ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३९ ॥

बातचीत समाप्त होनेपर राजर्षि महात्मा होत्रवाहनने महर्षियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीके विषयमें अकृतव्रणसे पूछा—॥

क्व सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान्।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वरः ॥ ४० ॥

'महाबाहु अकृतव्रण ! इस समय वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामजीका दर्शन कहाँ हो सकता है ?'॥

अकृतव्रण उवाच

भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव ॥ ४१ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! परशुरामजी तो सदा आपकी ही चर्चा किया करते हैं। उनका कहना है कि सृंजयवंशी राजर्षि होत्रवाहन मेरे प्रिय सखा हैं॥ ४१ ॥

इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम।
द्रष्टास्येनमिहायान्तं तत्र दर्शनकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

मेरा विश्वास है कि कल सबेरेतक परशुरामजी यहाँ उपस्थित हो जायँगे। वे आपसे ही मिलनेके लिये आ रहे हैं। अतः आप यहीं उनका दर्शन कीजियेगा ॥ ४२ ॥

इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता।
कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम् ॥ ४३ ॥

राजर्षे ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कन्या किस लिये वनमें आयी है ? यह किसकी पुत्री है और आपकी क्या लगती है ? ॥ ४३ ॥

होत्रवाहन उवाच

दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहानघ ॥ ४४ ॥
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन ॥ ४५ ॥

होत्रवाहन बोले—प्रभो ! यह मेरी दौहित्री (पुत्रीकी पुत्री) है। अनघ ! काशिराजकी परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्री अपनी दो छोटी बहिनोंके साथ स्वयंवरमें उपस्थित हुई थी। उनमेंसे यही अम्बा नामसे विख्यात काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री है। तपोधन ! इसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका कहलाती हैं ॥ ४४-४५ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत्।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्रासीदुत्सवो महान् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मर्षे ! काशीपुरीमें इन्हीं कन्याओंके लिये भूमण्डलका समस्त क्षत्रियसमुदाय एकत्र हुआ था। उस अवसरपर वहाँ महान् स्वयंवरोत्सवका आयोजन किया गया था ॥ ४६ ॥

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान्।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः ॥ ४७ ॥

कहते हैं उस अवसरपर महातेजस्वी और महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सब राजाओंको जीतकर इन तीनों कन्याओंको हर लाये ॥ ४७ ॥

निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम्।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन भीष्मका हृदय इन कन्याओंके प्रति सर्वथा शुद्ध था। वे समस्त भूपालोंको परास्त करके कन्याओंको साथ लिये हस्तिनापुरमें आये ॥ ४८ ॥

सत्यवत्यै निवेद्याथ विवाहं समनन्तरम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः ॥ ४९ ॥

वहाँ आकर शक्तिशाली भीष्मने सत्यवतीको ये कन्याएँ सौंप दीं और इनके साथ अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यका विवाह करनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४९ ॥

तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम्।
अब्रवीत् तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ ॥ ५० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वहाँ वैवाहिक आयोजन आरम्भ हुआ देख यह कन्या मन्त्रियोंके बीचमें गङ्गानन्दन भीष्मसे बोली—॥

मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाभिवृतः पतिः।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम् ॥ ५१ ॥

'धर्मज्ञ ! मैंने मन-ही मन वीरवर शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है; अतः मेरा मन अन्यत्र अनुरक्त होनेके कारण आपको अपने भाईके साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहिये' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५२ ॥

अम्बाका यह वचन सुनकर भीष्मने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके माता सत्यवतीकी सम्मति प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस कन्याको छोड़ दिया ॥ ५२ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भीष्मकी आज्ञा पाकर यह कन्या मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौभ विमानके स्वामी शाल्वके यहाँ गयी और वहाँ उस समय इस प्रकार बोली—॥ ५३ ॥

विसर्जितास्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय।
मनसाभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ ॥ ५४ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! भीष्मने मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि पूर्वकालमें मैंने अपने मनसे आपको ही पति चुन लिया था, अतः आप मुझे धर्मपालनका अवसर दें' ॥ ५४ ॥

प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याभिशङ्कितः।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम् ॥ ५५ ॥

शाल्वराजको इसके चरित्रपर संदेह हुआ; अतः उसने इसके प्रस्तावको ठुकरा दिया है। इस कारण तपस्यामें अत्यन्त अनुरक्त होकर यह इस तपोवनमें आयी है ॥ ५५ ॥

मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्तनात्।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते ॥ ५६ ॥

इसके कुलका परिचय प्राप्त होनेसे मैंने इसे पहचाना है। यह अपने इस दुःखकी प्राप्तिमें भीष्मको ही कारण मानती है ॥

अम्बोवाच

भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ५७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! जैसा कि मेरी माताके पिता सृंजयवंशी महाराज होत्रवाहनने कहा है, ठीक ऐसी

ही मेरी परिस्थिति है ॥ ५७ ॥

न ह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन ।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ॥ ५८ ॥

तपोधन ! महामुने ! लज्जा और अपमानके भयसे अपने नगरको जानेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है ॥ ५८ ॥

यत् तु मां भगवान् रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम ।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन् मतिः ॥ ५९ ॥

भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! अब भगवान् परशुराम मुझसे जो कुछ कहेंगे, वही मेरे लिये सर्वोत्तम कर्तव्य होगा; यही मैंने निश्चय किया है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनाम्बासंवादे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाहोत्रवाहनसंवादविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत

अकृतव्रण उवाच

दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि ।
प्रतिकर्तव्यमबले तत् त्वं वत्से वदस्व मे ॥ १ ॥

अकृतव्रणने कहा—भद्रे ! तुम्हें दुःख देनेवाले दो कारण (भीष्म और शाल्व) उपस्थित हैं । वत्से ! तुम इन दोनोंमेंसे किससे बदला लेनेकी इच्छा रखती हो ? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव ।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ॥ २ ॥

भद्रे ! यदि तुम्हारा यह विचार हो कि सौभपति शाल्वराजको ही विवाहके लिये विवश करना चाहिये तो महात्मा परशुराम तुम्हारे हितकी इच्छासे शाल्वराजको अवश्य इस कार्यमें नियुक्त करेंगे ॥ २ ॥

अथापगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता ।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात् तदपि भार्गवः ॥ ३ ॥

अथवा यदि तुम गङ्गानन्दन भीष्मको बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा युद्धमें पराजित देखना चाहती हो तो वे महात्मा भार्गव यह भी कर सकते हैं ॥ ३ ॥

सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते ।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! सृंजयवंशी राजा होत्रवाहनकी बात सुनकर और अपना विचार प्रकट करके जो कार्य तुम्हें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो उसका आज ही विचार कर लो ॥ ४ ॥

अम्बोवाच

अपनीतास्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता ।
नाभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मन् शाल्वगतं मनः ॥ ५ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! भीष्म बिना जाने-बूझे मुझे हर लाये थे । ब्रह्मन् ! उन्हें इस बातका पता नहीं था कि मेरा मन शाल्वमें अनुरक्त है ॥ ५ ॥

एतद् विचार्य मनसा भवानेतद् विनिश्चयम् ।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ॥ ६ ॥

इस बातपर मन-ही-मन विचार करके आप ही कुछ निश्चय करें और जो न्यायसंगत प्रतीत हो, वही कार्य करें ॥

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः ।
उभयोरेव वा ब्रह्मन् युक्तं यत् तत् समाचर ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! कुरुश्रेष्ठ भीष्मके साथ अथवा शाल्वराजके साथ अथवा दोनोंके ही साथ जो उचित बर्ताव हो, वह करें ॥ ७ ॥

निवेदितं मया ह्येतद् दुःखमूलं यथातथम् ।
विधानं तत्र भगवन् कर्तुमर्हसि युक्तितः ॥ ८ ॥

मैंने अपने दुःखके इस मूल कारणको यथार्थरूपसे निवेदन कर दिया । भगवन् ! अब आप अपनी युक्तिसे ही इस विषयमें न्यायोचित कार्य करें ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि ।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

अकृतव्रण बोले—भद्रे ! तुम जो इस प्रकार धर्मानुकूल बात कहती हो, यही तुम्हारे लिये उचित है । वरवर्णिनि ! अब मेरी यह बात सुनो ॥ ९ ॥

यदि त्वामापगेयो वै न नयेद् गजसाह्वयम् ।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद् रामचोदितः ॥ १० ॥

भीरु ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले जाते तो राजा शाल्व परशुरामजीके कहनेपर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता ॥ १० ॥

तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीतासि भाविनि ।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ॥ ११ ॥

परंतु भद्रे ! भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले गये । भाविनि ! सुमध्यमे ! यही कारण है कि शाल्वराजके मनमें तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है ॥ ११ ॥

भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च ।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ॥ १२ ॥

भीष्मको अपने पुरुषार्थका अभिमान है और वे इस समय अपनी विजयसे उल्लसित हो रहे हैं । अतः भीष्मसे ही बदला लेना तुम्हारे लिये उचित होगा ॥ १२ ॥

अम्बोवाच

ममाप्येष सदा ब्रह्मन् हृदि कामोऽभिवर्तते ।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ॥ १३ ॥

भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ॥ १४ ॥

अम्बा बोली—ब्रह्मन् ! मेरे मनमें भी सदा यह इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्धमें भीष्मका वध करा दूँ । महाबाहो ! आप भीष्मको या शाल्वराजको जिसे भी दोषी समझते हों, उसीको दण्ड दीजिये, जिसके कारण मैं अत्यन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ट! इस प्रकार बातचीत करते हुए उन सब लोगोंका वह दिन बीत गया । सुखदायिनी सरदी, गर्मी और हवासे युक्त रात भी समाप्त हो गयी ॥१५॥

ततो रामः प्रादुरासीत् प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजन् जटाचीरधरो मुनिः ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अपने शिष्योंसे घिरे हुए जटावल्कलधारी मुनिवर परशुरामजी वहाँ प्रकट हुए । वे अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ १६ ॥

धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत् परश्वधी ।
विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उनके हृदयमें दीनताका नाम नहीं था । उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष, खड्ग और फरसा ले रक्खे थे । उनके हृदयसे रजोगुण दूर हो गया था, वे राजा सृंजयके निकट आये ॥ १७ ॥

ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन् सा च कन्या तपस्विनी ॥१८॥

राजन् ! उन्हें देखकर वे तपस्वी मुनि, महातपस्वी नरेश तथा वह तपस्विनी राजकन्या—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १८ ॥

पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने स्वस्थचित्त होकर मधुपर्कद्वारा भार्गव परशुरामजीका पूजन किया । विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे उन्हींके साथ वहाँ बैठे ॥ १९ ॥

ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स्म तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ॥ २० ॥

भारत ! तत्पश्चात् परशुरामजी और सृंजय (होत्रवाहन) दोनों मित्र पहलेकी बीती बातें कहते हुए एक जगह बैठ गये ॥

तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ॥ २१ ॥

बातचीतके अन्तमें राजर्षि होत्रवाहनने महाबली भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे मधुर वाणीमें उस समय यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ २१ ॥

रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ॥ २२ ॥

'कार्यसाधनकुशल प्रभो ! परशुराम ! यह मेरी पुत्रीकी पुत्री काशिराजकी कन्या है । इसका कुछ कार्य है, उसे आप इसीके मुँहसे ठीक-ठीक सुन लें' ॥ २२ ॥

परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साभ्यगमद् रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसा शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ॥ २४ ॥

'बहुत अच्छा, कहो बेटी' इस प्रकार उस कन्याको जब परशुरामजीने प्रेरित किया; तब वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीके पास आयी और उनके कल्याणकारी चरणोंको सिरसे प्रणाम करके कमलदलके समान सुशोभित होनेवाले दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श करती हुई सामने खड़ी हो गयी ॥ २३-२४ ॥

रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ॥ २५ ॥

उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वह शोकसे आतुर होकर रोने लगी और सबको शरण देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीकी शरणमें गयी ॥ २५ ॥

राम उवाच

यथा त्वं सृञ्जयस्यास्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत् ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ॥ २६ ॥

परशुरामजी बोले—राजकुमारी ! जैसे तू इन सृंजयकी दौहित्री है, उसी प्रकार मेरी भी है । तेरे मनमें जो दुःख है, उसे बता । मैं तेरे कथनानुसार सब कार्य करूँगा ॥ २६ ॥

अम्बोवाच

भगवञ्शरणं त्वाद्य प्रपन्नास्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ॥ २७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप महान् व्रतधारी हैं । आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ । प्रभो ! इस भयंकर शोकसागरमें डूबनेसे मुझे बचाइये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २८ ॥
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाभिपरिप्लुतः ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसके सुन्दर रूप, नूतन (तरुण) शरीर तथा अत्यन्त सुकुमारताको देखकर परशुरामजी चिन्तामें पड़ गये कि न जाने यह क्या कहेगी ? उसके प्रति दयाभावसे परिपूर्ण हो भृगुकुलभूषण परशुराम बहुत देरतक उसीके विषयमें चिन्ता करते रहे ॥ २८-२९ ॥

कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ॥ ३० ॥

तदनन्तर परशुरामजीके पुनः यह कहनेपर कि तुम अपनी

बात कही, पवित्र मुसकानवाली अम्बाने उनसे अपना सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्यार्थविनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

राजकुमारी अम्बाका यह कथन सुनकर जमदग्निनन्दन परशुरामने क्या करना है, इसका निश्चय करके उस सुन्दर अङ्गोंवाली राजकुमारीसे कहा ॥ ३१ ॥

राम उवाच

प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ॥ ३२ ॥

परशुरामजी बोले—भाविनि ! मैं तुझे कुरुश्रेष्ठ भीष्मके पास भेजूँगा । नरपति भीष्म सुनते ही मेरी आज्ञाका पालन करेगा ॥ ३२ ॥

न चेत् करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ॥ ३३ ॥

भद्रे ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे मन्त्रियोंसहित उसे भस्म कर डालूँगा ॥ ३३ ॥

अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ॥ ३४ ॥

अथवा राजकुमारी ! यदि वहाँ जानेका तेरा विचार न हो तो मैं वीर शाल्वराजको ही पहले इस कार्यमें नियुक्त करूँ (उसके साथ तेरा ब्याह करा दूँ) ॥ ३४ ॥

अम्बोवाच

विसर्जिताहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ॥ ३५ ॥

अम्बा बोली—भृगुनन्दन ! शाल्वराजमें मेरा अनुराग है और मैं पहलेसे ही उन्हें पाना चाहती हूँ । यह सुनते ही भीष्मने मुझे विदा कर दिया था ॥ ३५ ॥

सौभराजमुपेत्याहमवोचं दुर्वचं वचः।
न च मां प्रत्यगृह्णात् स चारित्र्यपरिशङ्कितः ॥ ३६ ॥

तब सौभराजके पास जाकर मैंने उनसे ऐसी बातें कहीं जिन्हें अपने मुँहसे कहना स्त्रीजातिके लिये अत्यन्त दुष्कर होता है; परंतु मेरे चरित्रपर संदेह हो जानेके कारण उसने मुझे स्वीकार नहीं किया ॥ ३६ ॥

एतत् सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्ध्या भृगुनन्दन।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

भृगुनन्दन ! इन सब बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके जो उचित प्रतीत हो, उसी कार्यकी ओर आप ध्यान दें ॥

मम तु व्यसनस्यास्य भीष्मो मूलं महाव्रतः।
येनाहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात् तदा ॥ ३८ ॥

मेरी इस विपत्तिका मूल कारण महान् व्रतधारी भीष्म है, जिसने उस समय बलपूर्वक मुझे उठाकर रथपर रख लिया और इस प्रकार मुझे वशमें करके वह हस्तिनापुर ले आया॥

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम्।
प्राप्ताहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

महाबाहु भृगुसिंह ! आप भीष्मको ही मार डालिये, जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है और मैं इस प्रकार विवश होकर अत्यन्त अप्रिय आचरणमें प्रवृत्त हुई हूँ॥

स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव।
तस्मात् प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयानघ ॥ ४० ॥

निष्पाप भार्गव ! भीष्म लोभी, नीच और विजयोल्लाससे परिपूर्ण है; अतः आपको उसीसे बदला लेना उचित है ॥

एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो।
अभवद्धृदि संकल्पो घातयेयं महाव्रतम् ॥ ४१ ॥

प्रभो ! भरतवंशी भीष्मने जबसे मुझे इस दशामें डाल दिया है, तबसे मेरे हृदयमें यही संकल्प उठता है कि मैं उस महान् व्रतधारीका वध करा दूँ ॥ ४१ ॥

तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥ ४२ ॥

निष्पाप महाबाहु राम ! आज आप मेरी इसी कामनाको पूर्ण कीजिये । जैसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी भीष्मको मार डालिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-परशुराम-संवादविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७७॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ॥ १ ॥
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अम्बाके ऐसा कहनेपर कि प्रभो ! भीष्मको मार डालिये । परशुरामजीने रो-रोकर बार-बार प्रेरणा देनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'सुन्दरी ! काशिराजकुमारी ! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको आवश्यकता हो तो उसीके लिये शस्त्र उठाता हूँ । वैसा कारण हुए बिना इच्छानुसार हथियार नहीं उठाता । अतः इस प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मैं तेरा दूसरा कौन-सा कार्य करूँ ।१-२।

वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत् करिष्यामि मा शुचः॥ ३॥

'राजकन्ये! भीष्म और शाल्व दोनों मेरी आज्ञाके अधीन होंगे। अतः निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी! मैं तेरा कार्य करूँगा। तू शोक न कर॥ ३॥

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथंचिदपि भाविनि।
ऋते नियोगाद् विप्राणामेष मे समयः कृतः॥ ४॥

'भाविनि! मैं किसी तरह ब्राह्मणोंकी आज्ञाके बिना हथियार नहीं उठाऊँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है'॥

अम्बोवाच

मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम्॥ ५॥

अम्बा बोली—भगवन्! आप जैसे हो सके वैसे ही मेरा दुःख दूर करें। वह दुःख भीष्मने पैदा किया है; अतः प्रभो! उसीका शीघ्र वध कीजिये॥ ५॥

राम उवाच

काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ।
शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम॥ ६॥

परशुरामजी बोले—काशिराजकी पुत्री! तू पुनः सोच-कर बता। यद्यपि भीष्म तेरे लिये वन्दनीय है, तथापि मेरे कहनेसे वह तेरे चरणोंको अपने सिरपर उठा लेगा॥ ६॥

अम्बोवाच

जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम्।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत् सत्यं कर्तुमर्हसि॥ ७॥

अम्बा बोली—राम! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो युद्धमें आमन्त्रित हो, असुरके समान गर्जना करनेवाले भीष्मको मार डालिये और आपने जो प्रतिज्ञा कर रक्खी है, उसे भी सत्य कीजिये॥ ७॥

भीष्म उवाच

तयोः संवदतोरेवं राजन् रामाम्बयोस्तदा।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! परशुराम और अम्बामें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, उसी समय परम धर्मात्मा ऋषि अकृतव्रणने यह बात कही—॥ ८॥

शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे॥ ९॥
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात् कुर्याद् वा वचनं तव।
कृतमस्या भवेत् कार्यं कन्याया भृगुनन्दन॥ १०॥

'महाबाहो! यह कन्या शरणमें आयी है; अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। भृगुनन्दन राम! यदि युद्धमें आपके बुलानेपर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करे अथवा आपकी बात ही मान ले तो इस कन्या-का कार्य सिद्ध हो जायगा॥ ९-१०॥

वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने॥ ११॥
जित्वा वै क्षत्रियान् सर्वान् ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि॥ १२॥
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव।
शरणार्थं प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम्॥ १३॥
न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन् कथंचन।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम्॥ १४॥
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव।

'महामुने राम! प्रभो! ऐसा होनेसे आपकी कही हुई बात सत्य सिद्ध होगी। वीरवर भार्गव! आपने समस्त क्षत्रियों-को जीतकर ब्राह्मणोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणोंसे द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चय ही मार डालूँगा। साथ ही भयभीत होकर शरणमें आये हुए शरणार्थियोंका परित्याग मैं जीते-जी किसी प्रकार नहीं कर सकूँगा और जो युद्धमें एकत्र हुए सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुषका भी मैं वध कर डालूँगा॥ ११—१४½॥

स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः।
तेन युध्यस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन॥ १५॥

'भृगुनन्दन राम! इस प्रकार कुरुकुलका भार वहन करने-वाला भीष्म समस्त क्षत्रियोंपर विजय पा चुका है; अतः आप संग्राममें उसके सामने जाकर युद्ध कीजिये'॥ १५॥

राम उवाच

स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम।
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते॥ १६॥

परशुरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! मुझे अपनी पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि सामनीतिसे ही काम बन जाय॥ १६॥

कार्यमेतन्महद् ब्रह्मन् काशिकन्यामनोगतम्।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः॥ १७॥

ब्रह्मन्! काशिराजकी कन्याके मनमें जो यह कार्य है, वह महान् है। मैं उसकी सिद्धिके लिये इस कन्याको साथ लेकर स्वयं ही वहाँ जाऊँगा, जहाँ भीष्म है॥ १७॥

यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः॥ १८॥

यदि युद्धकी स्पृहा रखनेवाला भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं उस अभिमानीको मार डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है॥ १८॥

न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम्।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसंगरे॥ १९॥

मेरे चलाये हुए बाण देहधारियोंके शरीरमें अटकते नहीं हैं। (उन्हें विदीर्ण करके बाहर निकल जाते हैं।) यह बात तुम्हें पूर्वकालमें क्षत्रियोंके साथ होनेवाले युद्धके समय ज्ञात हो चुकी है॥ १९॥

एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर महातपस्वी परशुरामजी उन ब्रह्मवादी महर्षियोंके साथ प्रस्थान करनेका निश्चय करके उसके लिये उद्यत हो गये ॥ २० ॥

ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् रातभर वहीं रहकर प्रातःकाल संध्योपासन, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करके वे तपस्वी मुनि मेरा वध करनेकी इच्छासे उस आश्रमसे चले ॥ २१ ॥

अभ्यगच्छत् ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! फिर उन वेदवादी मुनियोंको साथ ले परशुरामजी राजकन्या अम्बाके साथ कुरुक्षेत्रमें आये ॥

न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीम्।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः ॥ २३ ॥

वहाँ भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीको आगे करके उन सभी तपस्वी महात्माओंने सरस्वती नदीके तटका आश्रय ले रात्रिमें निवास किया ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तृतीये दिवसे संदिदेश व्यवस्थितः।
कुरु प्रियं स मे राजन् प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तदनन्तर तीसरे दिन (हस्तिनापुरके बाहर) एक स्थानपर ठहरकर महान् व्रतधारी परशुरामजीने मुझे संदेश दिया—'राजन्! मैं यहाँ आया हूँ। तुम मेरा प्रिय कार्य करो' ॥ २४ ॥

तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम्।
अभ्यगच्छं जवेनाशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम् ॥ २५ ॥

तेजके भण्डार और महाबली भगवान् परशुरामको अपने राज्यकी सीमापर आया हुआ सुनकर मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वेगपूर्वक उनके पास गया ॥ २५ ॥

गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! उस समय एक गौको आगे करके ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मैं देवताओंके समान तेजस्वी ऋत्विजों तथा पुरोहितोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान्।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

मुझे अपने समीप आया हुआ देख प्रतापी परशुरामजीने मेरी दी हुई पूजा स्वीकार की और इस प्रकार कहा॥

राम उवाच

भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा।
अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ॥ २८ ॥

परशुरामजी बोले—भीष्म ! तुमने किस विचारसे उन दिनों स्वयं पत्नीकी कामनासे रहित होते हुए भी काशिराजकी इस कन्याका अपहरण किया, अपने घर ले आये और पुनः इसे निकाल बाहर किया ॥ २८ ॥

विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहार्हति ॥ २९ ॥

तुमने इस यशस्विनी राजकुमारीको धर्मसे भ्रष्ट कर दिया है। तुम्हारे द्वारा इसका स्पर्श कर लिया गया है, ऐसी दशामें इसे दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है ? ॥ २९ ॥

प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वयाऽऽनीतेति भारत।
तस्मादिमां मन्नियोगात् प्रतिगृह्णीष्व भारत ॥ ३० ॥

भारत ! तुम इसे हरकर लाये थे। इसी कारणसे शाल्वराजने इसके साथ विवाह करनेसे इन्कार कर दिया है; अतः अब तुम मेरी आज्ञासे इसे ग्रहण कर लो ॥ ३० ॥

स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम्।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयानघ ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! तुम्हें ऐसा करना चाहिये, जिससे इस राजकुमारीको स्वधर्मपालनका अवसर प्राप्त हो। अनघ ! तुम्हें राजाओंका इस प्रकार अपमान करना उचित नहीं है ॥ ३१ ॥

ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याहमथाब्रुवम्।
नाहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन् भ्रात्रे कथंचन ॥ ३२ ॥

तब मैंने परशुरामजीको उदास देखकर इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन् ! अब मैं इसका विवाह अपने भाईके साथ किसी प्रकार नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

शाल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव।
मया चैवाभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति ॥ ३३ ॥

'भृगुनन्दन ! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा कि मैं शाल्वकी हूँ; तब मैंने इसे जानेकी आज्ञा दे दी और यह शाल्वराजके नगरको चली गयी ॥ ३३ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥ ३४ ॥

'मैं भयसे, दयासे, धनके लोभसे तथा और किसी कामनासे भी क्षत्रियधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा स्वीकार किया हुआ व्रत है' ॥ ३४ ॥

अथ मामब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
न करिष्यसि चेदेतद् वाक्यं मे नरपुङ्गव ॥ ३५ ॥
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः।

तब यह सुनकर परशुरामजीके नेत्रोंमें क्रोधका भाव व्याप्त हो गया और वे मुझसे इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ ! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे तो आज मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा।' इस बातको उन्होंने बार-बार दुहराया ॥ ३५½ ॥

संरम्भादब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३६ ॥
तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिंदम।
अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः ॥ ३७ ॥

शत्रुदमन दुर्योधन ! परशुरामजीने क्रोधभरे नेत्रोंसे

देखते हुए बड़े रोषावेशमें आकर यह बात कही थी, तथापि मैं प्रिय वचनोंद्वारा उन भृगुश्रेष्ठ महात्मासे बार-बार शान्त रहनेके लिये प्रार्थना करता रहा; पर वे किसी प्रकार शान्त न हो सके ॥ ३६-३७ ॥

प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम्।
अब्रुवं कारणं किं तद् यत् त्वं युद्धं मयेच्छसि ॥ ३८ ॥
इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम्।
उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ॥ ३९ ॥

तब मैंने उन ब्राह्मणशिरोमणिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पुनः प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा—'भगवन्! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं? बाल्यावस्थामें आपने ही मुझे चार प्रकारके धनुर्वेदकी शिक्षा दी है। महाबाहु भार्गव! मैं तो आपका शिष्य हूँ' ॥ ३८-३९ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः क्रोधसंरक्तलोचनः।
जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ॥ ४० ॥
सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते।
न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ॥ ४१ ॥

तब परशुरामजीने क्रोधसे लाल आँखें करके मुझसे कहा—'महामते भीष्म! तुम मुझे अपना गुरु तो समझते हो; परंतु मेरा प्रिय करनेके लिये काशिराजकी इस कन्याको ग्रहण नहीं करते हो; किंतु कुरुनन्दन! ऐसा किये विना तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ४०-४१ ॥

गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः।
त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाधिगच्छति ॥ ४२ ॥

'महाबाहो! इसे ग्रहण कर लो और इस प्रकार अपने कुलकी रक्षा करो। तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादासे गिर जानेके कारण इसे पतिकी प्राप्ति नहीं हो रही है' ॥ ४२ ॥

तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरंजयम्।
नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ॥ ४३ ॥

ऐसी बातें करते हुए शत्रुनगरविजयी परशुरामजीसे मैंने स्पष्ट कह दिया—'ब्रह्मर्षे! अब फिर ऐसी बात नहीं हो सकती। इस विषयमें आपके परिश्रमसे क्या होगा? ॥४३॥

गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम्।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ॥ ४४ ॥

'जमदग्निनन्दन! भगवन्! आप मेरे प्राचीन गुरु हैं, यह सोचकर ही मैं आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। इस अम्बाको तो मैंने पहले ही त्याग दिया था ॥ ४४ ॥

को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमिव स्थिताम्।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणां दोषो महात्ययः ॥ ४५ ॥

'दूसरेके प्रति अनुराग रखनेवाली नारी सर्पिणीके समान भयंकर होती है। कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जान-बूझकर उसे कभी भी अपने घरमें स्थान देगा; क्योंकि स्त्रियोंका (परपुरुषमें अनुरागरूप) दोष महान् अनर्थका कारण होता है ॥

न भयाद् वासवस्यापि धर्मं जह्यां महाव्रत।
प्रसीद मा वा यद् वा ते कार्यं तत् कुरु मा चिरम् ॥ ४६ ॥

'महान् व्रतधारी राम! मैं इन्द्रके भी भयसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता। आप प्रसन्न हों या न हों। आपको जो कुछ करना हो, शीघ्र कर डालिये ॥ ४६ ॥

अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणे श्रूयते विभो।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥ ४७ ॥
"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ॥ ४८ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले परम बुद्धिमान् राम! पुराणमें महात्मा मरुत्तके द्वारा कहा हुआ यह श्लोक सुननेमें आता है कि यदि गुरु भी गर्वमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न समझते हुए कुपथका आश्रय ले तो उसका परित्याग कर दिया जाता है॥

स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम्।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद् योत्स्यामि वै त्वया ॥४९॥

'आप मेरे गुरु हैं, यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक-से-अधिक सम्मान किया है; परंतु आप गुरुका-सा बर्ताव नहीं जानते; अतः मैं आपके साथ युद्ध करूँगा ॥४९॥

गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ॥ ५० ॥

'एक तो आप गुरु हैं। उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण हैं। उसपर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्यामें बढ़े-चढ़े हैं। अतः आप-जैसे पुरुषको मैं कैसे मार सकता हूँ! यही सोचकर मैंने अबतक आपके तीक्ष्ण बर्तावको चुपचाप सह लिया॥

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत्।
यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥ ५१ ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः।
क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ॥ ५२ ॥

'यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियकी भाँति धनुष-बाण उठाकर युद्धमें क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशामें देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्याका दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रोंका निर्णय है। तपोधन! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियोंके ही धर्ममें स्थित हूँ ॥ ५१-५२ ॥

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन्।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥ ५३ ॥

'जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करनेवाला पुरुष न तो अधर्मको प्राप्त होता है और न अमङ्गलका ही भागी होता है ॥ ५३ ॥

अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित्।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ॥ ५४ ॥

'अर्थ (लौकिक कृत्य) और धर्मके विवेचनमें कुशल तथा देश-कालके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष यदि अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर उसे छोड़कर संशयशून्य हृदयसे केवल धर्मका ही अनुष्ठान करे तो वह श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५४ ॥

यस्मात् संशयितेऽप्यर्थेऽयथान्यायं प्रवर्तसे ।
तस्माद् योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ॥ ५५ ॥

'राम! 'अम्बा ग्रहण करने योग्य है या नहीं' यह संशयग्रस्त विषय है तो भी आप इसे ग्रहण करनेके लिये मुझसे न्यायोचित बर्ताव नहीं कर रहे हैं; इसलिये महान् समराङ्गणमें आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ५५ ॥

पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चातिमानुषम् ।
एवं गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ॥ ५६ ॥
तत् करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह ।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ॥ ५७ ॥

'आप उस समय मेरे बाहुबल और अलौकिक पराक्रमको देखियेगा। भृगुनन्दन! ऐसी स्थितिमें भी मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसे अवश्य करूँगा। विप्रवर! मैं कुरुक्षेत्रमें चलकर आपके साथ युद्ध करूँगा। महातेजस्वी राम! आप द्वन्द्वयुद्धके लिये इच्छानुसार तैयारी कर लीजिये ॥ ५६-५७ ॥

तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः ।
प्राप्स्यसे निर्जितांल्लोकान् शस्त्रपूतो महारणे ॥ ५८ ॥

'राम! उस महान् युद्धमें मेरे सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित एवं शस्त्रपूत हो मारे जानेपर आप पुण्य कर्मोंद्वारा जीते हुए दिव्य लोकोंको प्राप्त करेंगे ॥ ५८ ॥

स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय ।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ॥ ५९ ॥

'युद्धप्रिय महाबाहु तपोधन! अब आप लौटिये और कुरुक्षेत्रमें ही चलिये। मैं युद्धके लिये वहीं आपके पास आऊँगा॥

अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः ।
तत्राहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्तास्मि भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन परशुराम! जहाँ पूर्वकालमें अपने पिताको अञ्जलि-दान देकर आपने आत्मशुद्धिका अनुभव किया था, वहीं मैं भी आपको मारकर आत्मशुद्धि करूँगा ॥ ६० ॥

तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुव ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मण कहलानेवाले रणदुर्मद राम! आप तुरंत कुरुक्षेत्रमें पधारिये। मैं वहीं आकर आपके पुरातन दर्पका दलन करूँगा ॥ ६१ ॥

यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै ।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥ ६२ ॥

'राम! आप जो बहुत बार भरी सभाओंमें अपनी प्रशंसाके लिये यह कहा करते हैं कि मैंने अकेले ही संसारके समस्त क्षत्रियोंको जीत लिया था तो उसका उत्तर सुन लीजिये ॥

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः ।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥ ६३ ॥

'उन दिनों भीष्म अथवा मेरे-जैसा दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं उत्पन्न हुआ था। तेजस्वी क्षत्रिय तो पीछे उत्पन्न हुए हैं। आप तो घास-फूसमें ही प्रज्वलित हुए हैं (तिनकोंके समान दुर्बल क्षत्रियोंपर ही अपना तेज प्रकट किया है)॥

यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत् ।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरंजयः ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाबाहो! जो आपकी युद्धविषयक कामना तथा अभिमानको नष्ट कर सके, वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला यह भीष्म तो अब उत्पन्न हुआ है। राम! मैं युद्धमें आपका सारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा, इसमें संशय नहीं है'॥

भीष्म उवाच

ततो मामब्रवीद् रामः प्रहसन्निव भारत ।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि संगरे ॥ ६५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! तब परशुरामजीने मुझसे हँसते हुए-से कहा—'भीष्म! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हो ॥ ६५ ॥

अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह ।
भाषितं ते करिष्यामि तत्रागच्छ परंतप ॥ ६६ ॥
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम् ।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम् ॥ ६७ ॥

'कुरुनन्दन! यह देखो, मैं तुम्हारे साथ युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें चलता हूँ। परंतप! वहीं आओ। मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगा। वहाँ तुम्हारी माता गङ्गा तुम्हें मेरे हाथसे मरकर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त और कौओं, कङ्कों तथा गीधोंका भोजन बना हुआ देखेगी ॥ ६६-६७ ॥

कृपणं त्वामभिप्रेक्ष्य सिद्धचारणसेविता ।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव ॥ ६८ ॥

'राजन्! तुम दीन हो। आज तुम्हें मेरे हाथसे मारा गया देख सिद्ध-चारणसेविता गङ्गादेवी रुदन करें ॥ ६८ ॥

अतदर्हा महाभागा भगीरथसुतानघा ।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम् ॥ ६९ ॥

'यद्यपि वे महाभागा भगीरथपुत्री पापहीना गङ्गा यह दुःख देखनेके योग्य नहीं हैं, तथापि जिन्होंने तुम-जैसे युद्धकामी, आतुर एवं मूर्ख पुत्रको जन्म दिया है, उन्हें यह कष्ट भोगना ही पड़ेगा ॥ ६९ ॥

एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद ।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ ॥ ७० ॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले मदोन्मत्त भीष्म! आओ, मेरे साथ चलो। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन! रथ आदि सारी सामग्री साथ ले लो' ॥ ७० ॥

इति ब्रुवाणं तमहं रामं परपुरंजयम् ।
प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाब्रुवम् ॥ ७१ ॥

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले परशुरामजीको इस प्रकार कहते देख मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की ॥ ७१ ॥

एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया ।
प्रविश्य नगरं चाहं सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर परशुरामजी युद्धकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गये और मैंने नगरमें प्रवेश करके सत्यवतीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ७२ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः ।
द्विजातीन् वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ॥ ७३ ॥
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः ।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ ७४ ॥
उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम् ।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ॥ ७५ ॥
युक्तं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा ।

महातेजस्वी नरेश ! उस समय स्वस्तिवाचन कराकर माता सत्यवतीने मेरा अभिनन्दन किया और मैं ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन करा उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद ले सुन्दर रजतमय रथपर आरूढ़ हुआ । उस रथमें श्वेत रंगके घोड़े जुते हुए थे । उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी । उसकी बैठक बहुत सुन्दर थी । रथके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगाया गया था । वह रथ बड़े-बड़े शस्त्रों तथा समस्त उपकरणोंसे सम्पन्न था । युद्धमें जिसका कार्य अनेक बार देख लिया गया था, ऐसे सुशिक्षित, कुलीन, वीर तथा अश्वशास्त्रके पण्डित सारथिद्वारा उस रथका संचालन और नियन्त्रण होता था ॥ ७३—७५½ ॥

दंशितः पाण्डुरेणाहं कवचेन वपुष्मता ॥ ७६ ॥
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! मैंने अपने शरीरपर श्वेतवर्णका कवच धारण करके श्वेत धनुष हाथमें लेकर यात्रा की ॥ ७६½ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७७ ॥
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप ।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ॥ ७८ ॥

नरेश्वर ! उस समय मेरे मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था और मेरे दोनों ओर सफेद रंगके चँवर डुलाये जाते थे । मेरे वस्त्र, मेरी पगड़ी और मेरे समस्त आभूषण श्वेत वर्णके ही थे ॥ ७७-७८ ॥

स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात् ।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ मेरी स्तुति की जा रही थी । भरतभूषण ! उस अवस्थामें मैं हस्तिनापुरसे निकलकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें गया ॥ ७९ ॥

ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे ।
अवहन् मां भृशं राजन् मनोमारुतरंहसः ॥ ८० ॥

राजन् ! मेरे घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे । सारथिके हाँकनेपर उन्होंने बात-की-बातमें मुझे उस महान् युद्धके स्थानपर पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

गत्वाहं तत् कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान् ।
युद्धाय सहसा राजन् पराक्रान्तौ परस्परम् ॥ ८१ ॥

राजन् ! मैं तथा प्रतापी परशुरामजी दोनों कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर युद्धके लिये सहसा एक-दूसरेको पराक्रम दिखानेके लिये उद्यत हो गये ॥ ८१ ॥

ततः संदर्शनेऽतिष्ठं रामस्यातितपस्विनः ।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर मैं अत्यन्त तपस्वी परशुरामजीकी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ और अपने श्रेष्ठ शङ्खको हाथमें लेकर उसे जोर-जोरसे बजाने लगा ॥ ८२ ॥

ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः ।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ॥ ८३ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ बहुत-से ब्राह्मण, वनवासी तपस्वी तथा इन्द्रसहित देवगण उस दिव्य युद्धको देखने लगे ॥

ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः ।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ॥ ८४ ॥

तदनन्तर वहाँ इधर-उधरसे दिव्य मालाएँ प्रकट होने लगीं और दिव्य वाद्य बज उठे । साथ ही सब ओर मेघोंकी घटाएँ छा गयीं ॥ ८४ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्यानुयायिनः ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ॥ ८५ ॥

तदनन्तर परशुरामजीके साथ आये हुए वे सब तपस्वी उस संग्रामभूमिको सब ओरसे घेरकर दर्शक बन गये ॥ ८५ ॥

ततो मामब्रवीद् देवी सर्वभूतहितैषिणी ।
माता स्वरूपिणी राजन् किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ८६ ॥

राजन् ! उस समय समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली मेरी माता गङ्गादेवी स्वरूपतः प्रकट होकर बोलीं—'बेटा ! यह तू क्या करना चाहता है ? ॥ ८६ ॥

गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह ।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ॥ ८७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं स्वयं जाकर जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे बारंबार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य भीष्मके साथ युद्ध न कीजिये ॥ ८७ ॥

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव ।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ॥ ८८ ॥

'बेटा ! तू ऐसा आग्रह न कर । राजन् ! विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुरामके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेका हठ अच्छा नहीं है ।' ऐसा कहकर वे डाँट बताने लगीं ॥

किन्न वै क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः ।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्त्वं योद्धुमिच्छसि ॥ ८९ ॥

अन्तमें वे फिर बोलीं—'बेटा ! क्षत्रियहन्ता परशुराम महादेवजीके समान पराक्रमी हैं । क्या तू उन्हें नहीं जानता, जो उनके साथ युद्ध करना चाहता है ?' ॥ ८९ ॥

ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
सर्वं तद् भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ॥ ९० ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर गङ्गादेवीको प्रणाम किया और

स्वयंवरमें जैसी घटना घटित हुई थी, वह सब वृत्तान्त उनसे आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ९० ॥

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ॥ ९१ ॥

राजेन्द्र ! मैंने परशुरामजीसे पहले जो-जो बातें कही थीं तथा काशिराजकी कन्याकी जो पुरानी करतूतें थीं, उन सबको बता दिया॥ ९१ ॥

ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी।
मदर्थे तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् मेरी जन्मदायिनी माता गङ्गाने भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर मेरे लिये उनसे क्षमा माँगी ॥९२॥

भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत्।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ॥ ९३ ॥

साथ ही यह भी कहा कि भीष्म आपका शिष्य है; अतः उसके साथ आप युद्ध न कीजिये। तब याचना करनेवाली मेरी मातासे परशुरामजीने कहा—'तुम पहले भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त करो। वह मेरे इच्छानुसार कार्य नहीं कर रहा है; इसीलिये मैंने उसपर चढ़ाई की है' ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो गङ्गा सुतस्नेहाद् भीष्मं पुनरुपागमत्।
न चास्याश्चाकरोद् वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ९४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब गङ्गादेवी पुत्रस्नेहवश पुनः भीष्मके पास आयीं। उस समय भीष्मके नेत्रोंमें क्रोध व्याप्त हो रहा था; अतः उन्होंने भी माताका कहना नहीं माना ॥ ९४ ॥

अथादृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ॥ ९५ ॥

इतनेमें ही भृगुकुलतिलक ब्राह्मणशिरोमणि महातपस्वी धर्मात्मा परशुरामजी दिखायी दिये। उन्होंने सामने आकर युद्धके लिये भीष्मको ललकारा ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुरामभीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अवतरणविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना

भीष्म उवाच

तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम्।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब मैं युद्धके लिये खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—'ब्रह्मन् ! मैं रथपर बैठा हूँ और आप भूमिपर खड़े हैं। ऐसी दशामें मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ १ ॥

आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ॥ २ ॥

'महाबाहो ! वीरवर राम ! यदि आप समरभूमिमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथपर आरूढ़ होइये और कवच भी बाँध लीजिये' ॥ २ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः स्मयमानो रणाजिरे।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ॥ ३ ॥
सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

तब परशुरामजी समराङ्गणमें किंचित् मुसकराते हुए मुझसे बोले—'कुरुनन्दन भीष्म ! मेरे लिये तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तम अश्वोंके समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथि हैं और वेदमाताएँ (गायत्री, सावित्री और सरस्वती) ही कवच हैं। इन सबसे आवृत एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्रमें युद्ध करूँगा' ॥ ३-४ ॥

एवं ब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ॥ ५ ॥

गान्धारीनन्दन ! ऐसा कहते हुए सत्यपराक्रमी परशुरामजीने मुझे सब ओरसे अपने बाणोंके महान् समुदायद्वारा आवृत कर लिया ॥ ५ ॥

ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम्।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ॥ ६ ॥

उस समय मैंने देखा, जमदग्निनन्दन परशुराम सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुधोंसे सुशोभित, तेजस्वी एवं अद्भुत दिखायी देनेवाले रथमें बैठे हैं ॥ ६ ॥

मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे।
दिव्याश्वयुजि संनद्धे काञ्चनेन विभूषिते ॥ ७ ॥

उसका विस्तार एक नगरके समान था। उस पुण्यरथका निर्माण उन्होंने अपने मानसिक संकल्पसे किया था। उसमें दिव्य अश्व जुते हुए थे। वह स्वर्णभूषित रथ सब प्रकारसे सुसज्जित था ॥ ७ ॥

कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ८ ॥

महाबाहो ! परशुरामजीने एक सुन्दर कवच धारण कर रक्खा था, जिसमें चन्द्रमा और सूर्यके चिह्न बने हुए थे। उन्होंने हाथमें धनुष लेकर पीठपर तरकस बाँध रक्खा था और अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चर्मके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे ॥ ८ ॥

सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः।

सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ॥ ९ ॥

उस समय युद्धके इच्छुक परशुरामजीके प्रिय सखा वेदवेत्ता अकृतव्रणने उनके सारथिका कार्य सम्पन्न किया ॥

आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे ।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ॥ १० ॥

भृगुनन्दन राम 'आओ, आओ' कहकर बार-बार मुझे पुकारते और युद्धके लिये मेरा आह्वान करते हुए मेरे मनको हर्ष और उत्साह-सा प्रदान कर रहे थे ॥ १० ॥

तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम् ।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ॥ ११ ॥

उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, अजेय, महाबली और क्षत्रियविनाशक परशुराम अकेले ही युद्धके लिये खड़े थे । अतः मैं भी अकेला ही उनका सामना करनेके लिये गया ॥

ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान् निगृह्य वै ।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन् द्विजसत्तमम् ।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

जब वे तीन बार मेरे ऊपर बाणोंका प्रहार कर चुके, तब मैं घोड़ोंको रोककर और धनुष रखकर रथसे उतर गया और उन ब्राह्मणशिरोमणि मुनिप्रवर परशुरामजीका समादर करनेके लिये पैदल ही उनके पास गया । जाकर विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् यह उत्तम वचन बोला—॥ १२–१३ ॥

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाधिकेन वा ।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ॥ १४ ॥

'भगवन् परशुराम ! आप मेरे समान अथवा मुझसे भी अधिक शक्तिशाली हैं । मेरे धर्मात्मा गुरु हैं । मैं इस रण-क्षेत्रमें आपके साथ युद्ध करूँगा; अतः आप मुझे विजयके लिये आशीर्वाद दें' ॥ १४ ॥

राम उवाच

एवमेतत् कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ॥ १५ ॥

परशुरामजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! अपनी उन्नतिके चाहनेवाले प्रत्येक योद्धाको ऐसा ही करना चाहिये । महाबाहो ! अपनेसे विशिष्ट गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेवाले राजाओंका यही धर्म है ॥ १५ ॥

शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते ।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! यदि तुम इस प्रकार मेरे समीप नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता । कुरुनन्दन ! तुम धैर्य धारण करके इस रणक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो ॥ १६ ॥

न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता; क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करनेके लिये खड़ा हूँ । जाओ, धर्मपूर्वक युद्ध करो । तुम्हारे इस शिष्टाचारसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥

ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः ।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ॥ १८ ॥

तब मैं उन्हें नमस्कार करके शीघ्र ही रथपर जा बैठा और उस युद्धभूमिमें मैंने पुनः अपने सुवर्णजटित शङ्खको बजाया ॥

ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत ।
दिवसान् सुबहून् राजन् परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! तदनन्तर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे मेरा तथा परशुरामजीका युद्ध बहुत दिनोंतक चलता रहा ॥

स मे तस्मिन् रणे पूर्वं प्राहरत् कङ्कपत्रिभिः ।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ॥ २० ॥

उस रणभूमिमें उन्होंने ही पहले मेरे ऊपर गीधकी पाँखोंसे सुशोभित तथा मुड़े हुए पर्ववाले नौ सौ साठ बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २० ॥

चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशाम्पते ।
प्रतिरुद्धास्तथैवाहं समरे दंशितः स्थितः ॥ २१ ॥

राजन् ! उन्होंने मेरे चारों घोड़ों तथा सारथिको भी अवरुद्ध कर दिया तो भी मैं पूर्ववत् कवच धारण किये उस समरभूमिमें डटा रहा ॥ २१ ॥

नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् देवताओं और विशेषतः ब्राह्मणोंको नमस्कार कर मैं रणभूमिमें खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—॥

आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि ।
भूयश्च शृणु मे ब्रह्मन् सम्पदं धर्मसंग्रहे ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन् ! यद्यपि आप अपनी मर्यादा छोड़ बैठे हैं तो भी मैंने सदा आपके आचार्यत्वका सम्मान किया है । धर्मसंग्रहके विषयमें मेरा जो दृढ़ विचार है, उसे आप पुनः सुन लीजिये ॥

ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत् ।
तपश्च ते महत् तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ॥ २४ ॥

'विप्रवर ! आपके शरीरमें जो वेद हैं, जो आपका महान् ब्राह्मणत्व है तथा आपने जो बड़ी भारी तपस्या की है, उन सबके ऊपर मैं बाणोंका प्रहार नहीं करता हूँ ॥ २४ ॥

प्रहरे क्षत्रधर्मस्य यं राम त्वं समाश्रितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ॥ २५ ॥

'राम ! आपने जिस क्षत्रियधर्मका आश्रय लिया है, मैं उसीपर प्रहार करूँगा; क्योंकि ब्राह्मण हथियार उठाते ही क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम ।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ॥ २६ ॥

'अब आप मेरे धनुषकी शक्ति और मेरी भुजाओंका बल देखिये । वीर ! मैं अपने बाणसे आपके धनुषको अभी काट देता हूँ' ॥ २६ ॥

तस्याहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ ।
तेनास्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयम् ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर मैंने उनके ऊपर तेज धारवाले एक भल्ल नामक बाणका प्रहार किया और उसके द्वारा उनके धनुषकी कोटि (अग्रभाग) को काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ २७ ॥

तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ॥ २८ ॥

इसी प्रकार परशुरामजीके रथकी ओर मैंने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ॥ २८ ॥

काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः ।
चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ॥ २९ ॥

वे बाण वायुद्वारा उड़ाये हुए सर्पोंकी भाँति परशुरामजीके शरीरमें धँसकर खून बहाते हुए चल दिये ॥ २९ ॥

क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन् स रुधिरं रणे ।
बभौ रामस्तदा राजन् मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उस समय उनके सारे अङ्ग लहू-लुहान हो गये । जैसे मेरु पर्वत वर्षाकालमें गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित जलकी धार बहाता है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए परशुरामजी शोभा पाने लगे ॥ ३० ॥

हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तवकमण्डितः ।
बभौ रामस्तथा राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ ३१ ॥

राजन् ! जैसे वसन्त ऋतुमें लाल फूलोंके गुच्छोंसे अलंकृत अशोक और खिला हुआ पलाश सुशोभित होता है, परशुरामजीकी भी वैसी ही शोभा हुई ॥ ३१ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः ।
हेमपुङ्खान् सुनिशिताञ्शरांस्तान् हि ववर्ष सः॥ ३२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीने दूसरा धनुष लेकर सोनेकी पाँखोंसे सुशोभित अत्यन्त तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३२ ॥

ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः ।
अकम्पयन् महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ॥ ३३ ॥

वे नाना प्रकारके भयंकर बाण मुझपर चोट करके मेरे मर्मस्थानोंका भेदन करने लगे । उनका वेग महान् था । वे सर्प, अग्नि और विषके समान जान पड़ते थे । उन्होंने मुझे कम्पित कर दिया ॥ ३३ ॥

तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे ।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ॥ ३४ ॥

तब मैंने पुनः अपने आपको स्थिर करके कुपित हो उस युद्धमें परशुरामजीपर सैकड़ों बाण बरसाये ॥ ३४ ॥

स तैरग्न्यर्कसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः ।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाभवत् ॥ ३५ ॥

वे बाण अग्नि, सूर्य तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीक्ष्ण थे । उनसे पीड़ित होकर परशुरामजी अचेत-से हो गये ॥ ३५ ॥

ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब मैं दयासे द्रवित हो स्वयं ही अपने आपमें धैर्य लाकर युद्ध और क्षत्रियधर्मको धिक्कार देने लगा ॥

असकृच्चाब्रुवं राजन् शोकवेगपरिप्लुतः ।
अहो बत कृतं पापं मयेदं क्षत्रधर्मणा ॥ ३७ ॥
गुरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः ।

राजन् ! उस समय शोकके वेगसे व्याकुल हो मैं बार बार इस प्रकार कहने लगा—'अहो ! मुझ क्षत्रियने यह बड़ा भारी पाप कर डाला, जो कि धर्मात्मा एवं ब्राह्मण गुरुको इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित किया' ॥ ३७½ ॥

ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ॥ ३८ ॥
अथावताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये ।
जगामास्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ॥ ३९ ॥

भारत ! उसके बादसे मैंने परशुरामजीपर फिर प्रहार नहीं किया । इधर सहस्र किरणोंवाले भगवान् सूर्य इस पृथ्वीको तपाकर दिनका अन्त होनेपर अस्त हो गये; इसलिये वह युद्ध बंद हो गया ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका युद्धविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१७९॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध

भीष्म उवाच

आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते ।
मम चापनयामास शल्यान् कुशलसम्मतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अपने कार्यमें कुशल एवं सम्मानित सारथिने अपने, घोड़ोंके तथा मेरे भी शरीरमें चुभे हुए बाणोंको निकाला ॥ १ ॥

स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः ।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥

घोड़े टहलाये गये और लोट-पोट कर लेनेपर नहलाये गये; फिर उन्हें पानी पिलाया गया, इस प्रकार जब वे स्वस्थ और शान्त हुए, तब प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम्।
अकरोद् रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान्॥ ३॥

मुझे रथपर बैठकर कवच धारण किये शीघ्रतापूर्वक आते देख प्रतापी परशुरामजीने अपने रथको अत्यन्त सुसज्जित किया॥ ३॥

ततोऽहं राममायान्तं दृष्ट्वा समरकाङ्क्षिणम्।
धनुः श्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसावतरं रथात्॥ ४॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले परशुरामजीको आते देख मैं अपना श्रेष्ठ धनुष छोड़कर सहसा रथसे उतर पड़ा॥ ४॥

अभिवाद्य तथैवाहं रथमारुह्य भारत।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः॥ ५॥

भारत! पूर्ववत् गुरुको प्रणाम करके अपने रथपर आरूढ़ हो युद्धकी इच्छासे परशुरामजीके सामने मैं निर्भय होकर डट गया॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम्।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत्॥ ६॥

तदनन्तर मैंने उनपर बाणोंकी भारी वर्षा की। फिर उन्होंने भी बाणोंकी वर्षा करनेवाले मुझ भीष्मपर बहुत-से बाण बरसाये॥ ६॥

संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान्।
सम्प्रैषीन्मे शरान् घोरान् दीप्तास्यानुरगानिव॥ ७॥

तत्पश्चात् जमदग्निकुमारने पुनः अत्यन्त क्रुद्ध होकर मुझपर प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंकी भाँति तेज किये हुए भयानक बाण चलाये॥ ७॥

ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः।
अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः॥ ८॥

राजन्! तब मैंने सहसा तीखी धारवाले भल्लनामक बाणोंसे आकाशमें ही उन सबके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर दिये। यह क्रिया बारंबार चलती रही॥ ८॥

ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान्।
मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम्॥ ९॥
अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम्।

इसके पश्चात् प्रतापी परशुरामजीने मेरे ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया; परंतु महाबाहो! मैंने उनसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर उन सब अस्त्रोंका दिव्यास्त्रोंद्वारा ही निवारण कर दिया॥ ९½॥

ततो दिवि महान् नादः प्रादुरासीत् समन्ततः॥ १०॥
ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान्।
प्रत्याजघ्ने च तद् रामो गुह्यकास्त्रेण भारत॥ ११॥

उस समय आकाशमें चारों ओर बड़ा कोलाहल होने लगा। इसी समय मैंने जमदग्निकुमारपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। भारत! परशुरामजीने गुह्यकास्त्रद्वारा मेरे उस अस्त्रको शान्त कर दिया॥ १०-११॥

ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान्।
वारुणेनैव तद् रामो वारयामास मे विभुः॥ १२॥

तत्पश्चात् मैंने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; किंतु भगवान् परशुरामने वारुणास्त्र चलाकर उसका निवारण कर दिया॥ १२॥

एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याहमवारयम्।
रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिंदमः॥ १३॥

इस प्रकार मैं परशुरामजीके दिव्यास्त्रोंका निवारण करता और शत्रुओंका दमन करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता तेजस्वी परशुराम भी मेरे अस्त्रोंका निवारण कर देते थे॥ १३॥

ततो मां सव्यतो राजन् रामः कुर्वन् द्विजोत्तमः।
उरस्यविध्यत् संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान्॥ १४॥

राजन्! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए प्रतापी विप्रवर परशुरामने मुझे बायें लेकर मेरे वक्षःस्थलको बाणद्वारा बींध दिया॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे।
ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत्॥ १५॥

भरतश्रेष्ठ! उससे घायल होकर मैं उस श्रेष्ठ रथपर बैठ गया, उस समय मुझे मूर्च्छित अवस्थामें देखकर सारथि शीघ्र ही अन्यत्र हटा ले गया॥ १५॥

ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम्।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम्॥ १६॥
रामस्यानुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत॥ १७॥

भरतश्रेष्ठ! परशुरामजीके बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही थी। मैं अत्यन्त घायल और अचेत होकर रणभूमिसे दूर हट गया था। भारत! इस अवस्थामें मुझे देखकर परशुरामजीके अकृतव्रण आदि सेवक तथा काशिराजकी कन्या अम्बा ये सब-के-सब अत्यन्त प्रसन्न हो कोलाहल करने लगे॥ १६-१७॥

ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाब्रुवम्।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः॥ १८॥

इतनेहीमें मुझे चेत हो गया और सब कुछ जानकर मैंने सारथिसे कहा—'सूत! जहाँ परशुरामजी हैं, वहीं चलो। मेरी पीड़ा दूर हो गयी है और अब मैं युद्धके लिये सुसज्जित हूँ'॥

ततो मामवहत् सूतो हयैः परमशोभितैः।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ॥ १९॥

कुरुनन्दन! तब सारथिने अत्यन्त शोभाशाली अश्वोंद्वारा, जो वायुके समान वेगसे चलनेके कारण नृत्य करते-से जान पड़ते थे, मुझे युद्धभूमिमें पहुँचाया॥ १९॥

ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया॥ २०॥

कौरव! तब मैंने क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीके पास पहुँचकर उन्हें जीतनेकी इच्छासे स्वयं भी कुपित होकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी॥ २०॥

तानापतत एवासौ रामो बाणानजिह्मगान्।
बाणैरेवाच्छिनत् तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे॥ २१॥

किंतु परशुरामजीने सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले उन बाणोंके आते ही एक-एकको तीन-तीन बाणोंसे तुरंत काट दिया॥

ततस्ते सूदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः।
रामबाणैर्द्विधा छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ २२॥

इस प्रकार मेरे चलाये हुए वे सब सैकड़ों और हजारों तीखे बाण परशुरामजीके सायकोंसे कटकर दो-दो टूक हो नष्ट हो गये॥ २२॥

ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम्।
असृजं जामदग्न्याय रामायाहं जिघांसया॥ २३॥

तब मैंने पुनः जमदग्निनन्दन परशुरामकी ओर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे एक कालाग्निके समान प्रज्वलित तथा तेजस्वी बाण छोड़ा॥ २३॥

तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः।
मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह॥ २४॥

उसकी गहरी चोट खाकर परशुरामजी उस बाणके वेगके अधीन हो समरभूमिमें मूर्च्छित हो गये और धरतीपर गिर पड़े॥ २४॥

ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते।
जगद् भारत संविग्नं यथार्कपतने भवेत्॥ २५॥

परशुरामके पृथ्वीपर गिरते ही मानो आकाशसे सूर्य टूटकर गिरे हों, ऐसा समझकर सारा जगत् भयभीत हो हाहाकार करने लगा॥ २५॥

तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन॥ २६॥
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव॥ २७॥

कुरुनन्दन! उस समय वे तपोधन और काशिराजकी कन्या सब-के-सब अत्यन्त उद्विग्न हो सहसा उनके पास दौड़े गये और उन्हें हृदयसे लगा हाथ फेरकर तथा शीतल जल छिड़ककर विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए सान्त्वना देने लगे॥ २६-२७॥

ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाब्रवीत्।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं संधाय कार्मुके॥ २८॥

तदनन्तर कुछ स्वस्थ होनेपर परशुरामजी उठ गये और धनुषपर बाण चढ़ाकर विह्वल स्वरमें बोले—'भीष्म! खड़े रहो, अब तुम मारे गये'॥ २८॥

स मुक्तो न्यपतत् तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे।
येनाहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः॥ २९॥

उस महान् युद्धमें उनके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण तुरंत मेरी बायीं पसलीपर पड़ा, जिससे मैं अत्यन्त उद्विग्न होकर वृक्षकी भाँति झूमने लगा॥ २९॥

हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः॥ ३०॥

फिर तो परशुरामजी उस महासमरमें शीघ्र छोड़े हुए अस्त्रद्वारा मेरे घोड़ोंको मारकर निर्भय हो मेरे ऊपर पाँखसे उड़नेवाले बाणोंसे वर्षा करने लगे॥ ३०॥

ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम्।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराधिष्ठिताः शराः॥ ३१॥
रामस्य मम चैवाशु व्योमावृत्य समन्ततः।

महाबाहो! तत्पश्चात् मैंने भी शीघ्रतापूर्वक ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया, जो युद्धभूमिमें विपक्षीकी गतिको रोक देनेवाले थे। मेरे तथा परशुरामजीके बाण आकाशमें सब ओर फैलकर मध्यभागमें ही ठहर गये॥ ३१½॥

न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः॥ ३२॥
मातरिश्वा ततस्तस्मिन् मेघरुद्ध इवाभवत्।

उस समय बाणोंके समूहसे आच्छादित होनेके कारण सूर्य नहीं तपता था और वायुकी गति इस प्रकार कुण्ठित हो गयी थी, मानो मेघोंसे अवरुद्ध हो गयी हो॥ ३२½॥

ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः॥ ३३॥
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत।

उस समय वायुके कम्पन और सूर्यकी किरणोंसे समस्त बाण परस्पर टकराने लगे। उनकी रगड़से वहाँ आग प्रकट हो गयी॥ ३३½॥

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना॥ ३४॥
भूमौ सर्वे तदा राजन् भस्मभूताः प्रपेदिरे।

राजन्! वे सभी बाण अपने ही संघर्षसे उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर भस्म हो गये और भूमिपर गिर पड़े॥

तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च॥ ३५॥
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत्॥ ३६॥

कौरवनरेश! उस समय परशुरामजीने अत्यन्त कुद्ध होकर मेरे ऊपर तुरंत ही दस हजार, लाख, दस लाख, अर्बुद, खर्व और निखर्व बाणोंका प्रहार किया॥ ३५-३६॥

ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः।
संछिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव॥ ३७॥

नरेश्वर! तब मैंने रणभूमिमें विषधर सर्पके समान भयंकर सायकोंद्वारा उन सब बाणोंको वृक्षोंकी भाँति भूमिपर काट गिराया॥ ३७॥

एवं तदभवद् युद्धं तदा भरतसत्तम।
संध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात् स च मे गुरुः॥ ३८॥

भरतभूषण! इस प्रकार वह युद्ध चलता रहा। संध्याकाल बीतनेपर मेरे गुरु रणभूमिसे हट गये॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुरामभीष्मयुद्धविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८०॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

समागतस्य रामेण पुनरेवातिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! दूसरे दिन परशुरामजी के साथ भेंट होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ॥ २ ॥

फिर तो दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, शूरवीर एवं धर्मात्मा भगवान् परशुरामजी प्रतिदिन अनेक प्रकारके अलौकिक अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ २ ॥

तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥ ३ ॥

भारत ! उस तुमुल युद्धमें अपने दुस्त्यज प्राणोंकी परवा न करके मैंने उनके सभी अस्त्रोंका विघातक अस्त्रोंद्वारा संहार कर डाला ॥ ३ ॥

अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार बार-बार मेरे अस्त्रोंद्वारा अपने अस्त्रोंके विनष्ट होनेपर महातेजस्वी परशुरामजी उस युद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४ ॥

ततः शक्तिं प्राहिणोद् घोररूपा-
मस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां
संदीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्रोंका अवरोध होनेपर जमदग्नि-नन्दन महात्मा परशुरामने कालकी छोड़ी हुई प्रज्वलित उल्का-के समान एक भयंकर शक्ति छोड़ी, जिसका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था । वह शक्ति अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किये हुए थी ॥ ५ ॥

ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां
समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ
ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ॥ ६ ॥

तब मैंने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रज्वलित होनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको अपनी ओर आती देख अनेक बाणोंद्वारा उसके तीन टुकड़े करके उसे भूमिपर गिरा दिया । फिर तो पवित्र सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चलने लगी ।६।

तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः
शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशान्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं
तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ॥ ७ ॥

उस शक्तिके कट जानेपर परशुरामजी क्रोधसे जल उठे तथा उन्होंने दूसरी-दूसरी भयंकर बारह शक्तियाँ और छोड़ीं । भारत ! वे इतनी तेजस्विनी तथा शीघ्रगामिनी थीं कि उनके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है ॥ ७ ॥

किं त्वेवाहं विह्वलः सम्प्रदृश्य
दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता
यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ॥ ८ ॥

प्रलयकालके बारह सूर्योंके समान भयंकर तेजसे प्रज्वलित अनेक रूपवाली तथा अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान धधकती हुई उन शक्तियोंको सब ओरसे आती देख मैं अत्यन्त विह्वल हो गया ॥ ८ ॥

ततो जालं बाणमयं विवृत्तं
संदृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून् प्राहिणवं रणेऽहं
ततः शक्तीरप्यधमं घोररूपाः ॥ ९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वहाँ फैले हुए बाणमय जालको देख-कर मैंने अपने बाणसमूहोंसे उसे छिन्न-भिन्न कर डाला और उस रणभूमिमें बारह सायकोंका प्रयोग किया, जिससे उन भयंकर शक्तियोंको भी व्यर्थ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा
शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा
यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ॥ १० ॥

राजन् ! तत्पश्चात् महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने स्वर्णमय दण्डसे विभूषित और भी बहुत-सी भयानक शक्तियाँ चलायीं, जो विचित्र दिखायी देती थीं । उनके ऊपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे और वे जलती हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १० ॥

ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा
खड्गेनाजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।
बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये
दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उन भयंकर शक्तियोंको भी मैंने ढालसे रोककर तलवारसे रणभूमिमें काट गिराया । तत्पश्चात् परशुरामजीके दिव्य घोड़ों तथा सारथिपर मैंने दिव्य बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ११ ॥

निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा
दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा
क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ॥ १२ ॥

केंचुलिसे छूटकर निकले हुए सर्पोंके समान आकृतिवाली

उन सुवर्णजटित विचित्र शक्तियोंको कटी हुई देख हैहय-राजका विनाश करनेवाले महात्मा परशुरामजीने कुपित होकर पुनः अपना दिव्य अस्त्र प्रकट किया ॥ १२ ॥

ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः
समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं
हयान् सूतं सरथं चैव मह्यम् ॥ १३ ॥

फिर तो टिड्डियोंकी पंक्तियोंके समान प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंके समूह प्रकट होने लगे। इस प्रकार उन्होंने मेरे शरीर, रथ, सारथि और घोड़ोंको सर्वथा आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्
तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन्।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे
तथैवाक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ॥ १४ ॥

राजन्! मेरा रथ चारों ओरसे उनके बाणोंद्वारा व्याप्त हो रहा था। घोड़ों और सारथिकी भी यही दशा थी। युग तथा ईषादण्डको भी उन्होंने उसी प्रकार बाणविद्ध कर रक्खा था और रथका धुरा उनके बाणोंसे कटकर टूक-टूक हो गया था॥

ततस्तस्मिन् बाणवर्षे व्यतीते
शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम्।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशि-
र्देहादसृक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ॥ १५ ॥

जब उनकी बाण-वर्षा समाप्त हुई, तब मैंने भी बदलेमें गुरुदेवपर बाणसमूहोंकी बौछार आरम्भ कर दी। वे ब्रह्मराशि महात्मा मेरे बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अपने शरीरसे अधिकाधिक रक्तकी धारा बहाने लगे ॥ १५ ॥

यथा रामो बाणजालाभितप्त-
स्तथैवाहं सुभृशं गाढविद्धः।
ततो युद्धं व्यरमच्चापराह्णे
भानावस्तं प्रति याते महीध्रम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार परशुरामजी मेरे सायकसमूहोंसे संतप्त थे, उसी प्रकार मैं भी उनके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो रहा था। तदनन्तर सायंकालमें जब सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, वह युद्ध बंद हो गया ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर प्रातःकाल जब सूर्यदेव उदित होकर प्रकाशमें आ गये, उस समय मेरे साथ परशुरामजीका युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन् रामः प्रहरतां वरः।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाचले ॥ २ ॥

तत्पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी स्थिर रथपर खड़े हो जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बौछार करता है, उसी प्रकार मेरे ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ॥ ३ ॥

उस समय मेरा प्रिय सुहृद् सारथि बाणवर्षासे पीड़ित हो मेरे मनको विषादमें डालता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर गया ॥

ततः सूतो ममात्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत्।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ॥ ४ ॥

मेरे सारथिको अत्यन्त मोह छा गया था। वह बाणोंके आघातसे पृथ्वीपर गिरा और अचेत हो गया ॥ ४ ॥

ततः सूतोऽजहात् प्राणान् रामबाणप्रपीडितः।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत् तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र! परशुरामजीके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण दो ही घड़ीमें सूतने प्राण त्याग दिये। उस समय मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ५ ॥

ततः सूते हते तस्मिन् क्षिपतस्तस्य मे शरान्।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ॥ ६ ॥

उस सारथिके मारे जानेपर मैं असावधान मनसे परशुरामजीके बाणोंको काट रहा था! इतनेहीमें परशुरामजीने मुझपर मृत्युके समान भयंकर बाण छोड़ा ॥ ६ ॥

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः।
शरेणाभ्यहनद् गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ॥ ७ ॥

उस समय मैं सारथिकी मृत्युके कारण व्याकुल था तो भी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सुदृढ़ धनुषको जोर-जोरसे खींचकर मुझपर बाणसे गहरा आघात किया ॥ ७ ॥

स मे भुजान्तरे राजन् निपत्य रुधिराशनः।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ॥ ८ ॥

राजेन्द्र! वह रक्त पीनेवाला बाण मेरी दोनों भुजाओंके बीच (वक्षःस्थलमें) चोट पहुँचाकर मुझे साथ लिये-दिये पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ८ ॥

मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ।
मेघवद् विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय मुझे मारा गया जानकर परशु-

रामजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे गर्जना करने लगे । उनके शरीरमें बार-बार हर्षजनित रोमाञ्च होने लगा ॥ ९ ॥

तथा तु पतिते राजन् मयि रामो मुदा युतः ।
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार मेरे धराशायी होनेपर परशुरामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने अपने अनुयायियोंके साथ महान् कोलाहल मचाया ॥ १० ॥

मम तत्राभवन् ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः ।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः ।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ॥ ११ ॥

वहाँ मेरे पार्श्वभागमें जो कुरुवंशी क्षत्रियगण खड़े थे तथा जो लोग वहाँ युद्ध देखनेकी इच्छासे आये थे, उन सबको मेरे गिर जानेपर बड़ा दुःख हुआ ॥ ११ ॥

ततोऽपश्यं पतितो राजसिंह
द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान् ।
ते मां समन्तात् परिवार्य तस्थुः
स्वबाहुभिः परिधार्याजिमध्ये ॥ १२ ॥

राजसिंह ! वहाँ गिरते समय मैंने देखा कि सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण आये और संग्रामभूमिमें मुझे सब ओरसे घेरकर अपनी भुजाओंपर ही मेरे शरीरको धारण करके खड़े हो गये ॥ १२ ॥

रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाहं भूमिमुपास्पृशम् ।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ॥ १३ ॥

उन ब्राह्मणोंसे सुरक्षित होनेके कारण मुझे धरतीका स्पर्श नहीं करना पड़ा । मेरे सगे भाई-बन्धुओंकी भाँति उन ब्राह्मणोंने मुझे आकाशमें ही रोक लिया था ॥ १३ ॥

श्वसन्निवान्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः ।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन् परिगृह्य माम् ॥ १४ ॥

राजन् ! आकाशमें मैं साँस लेता-सा ठहर गया था । उस समय ब्राह्मणोंने मुझपर जलकी बूँदें छिड़क दीं । फिर वे मुझे पकड़कर बोले ॥ १४ ॥

मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चासकृत् ।
ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः ।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ॥ १५ ॥

उन सबने एक साथ ही बार-बार कहा—'तुम्हारा कल्याण हो । तुम भयभीत न हो ।' उनके वचनामृतोंसे तृप्त होकर मैं सहसा उठकर खड़ा हो गया और देखा, मेरे रथपर सारथिके स्थानमें सरिताओंमें श्रेष्ठ माता गङ्गा बैठी हुई हैं ।१५।

हयाश्च मे संगृहीतास्तयासन्
महानद्या संयति कौरवेन्द्र ।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाहं
तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ॥ १६ ॥

कौरवराज ! उस युद्धमें महानदी माता गङ्गाने मेरे घोड़ोंकी बागडोर पकड़ रक्खी थी । तब मैं माताके चरणोंका स्पर्श करके और पितरोंके उद्देश्यसे भी मस्तक नवाकर उस रथपर जा बैठा ॥ १६ ॥

ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च ।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ॥ १७ ॥

माताने मेरे रथ, घोड़ों तथा अन्यान्य उपकरणोंकी रक्षा की । तब मैंने हाथ जोड़कर पुनः माताको विदा कर दिया ॥

ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान् वातरंहसः ।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर स्वयं ही उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको काबूमें करके मैं जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करने लगा । उस समय दिन प्रायः समाप्त हो चला था ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम् ।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें मैंने परशुरामजीकी ओर एक प्रबल एवं वेगवान् बाण चलाया, जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः ।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ॥ २० ॥

मेरे उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो परशुरामजीने मूर्छाके वशीभूत होकर धनुष छोड़ धरतीपर घुटने टेक दिये ।२०।

ततस्तस्मिन् निपतिते रामे भूरिसहस्रदे ।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ॥ २१ ॥

अनेक सहस्र ब्राह्मणोंको बहुत दान करनेवाले परशुरामजीके धराशायी होनेपर अधिकाधिक रक्तकी वर्षा करते हुए बादलोंने आकाशको ढक लिया ॥ २१ ॥

उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः ।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ॥ २२ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सैकड़ों उल्कापात होने लगे । भूकम्प आ गया । अपनी किरणोंसे उद्भासित होनेवाले सूर्यदेवको राहुने सब ओरसे सहसा घेर लिया ॥ २२ ॥

ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा ।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ॥ २३ ॥

वायु तीव्र वेगसे बहने लगी, धरती डोलने लगी, गीध, कौवे और कङ्क प्रसन्नतापूर्वक सब ओर उड़ने लगे ॥२३॥

दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत् ।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २४ ॥

दिशाओंमें दाह-सा होने लगा, गीदड़ बार-बार भयंकर बोली बोलने लगा, दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही जोर-जोरसे बजने लगीं ॥ २४ ॥

एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद् भयंकरम् ।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ॥ २५ ॥

इस प्रकार महात्मा परशुरामके मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिरते ही ये समस्त उत्पातसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन होने लगे ॥ २५ ॥

ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत।
पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्च्छितः ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन ! इसी समय परशुरामजी सहसा उठकर क्रोधसे मूर्च्छित एवं विह्वल हो पुनः युद्धके लिये मेरे समीप आये॥

आददानो महाबाहुः कार्मुकं तालसंनिभम्।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन् ॥ २७ ॥
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम् ॥ २८ ॥

परशुराम ताड़के समान विशाल धनुष लिये हुए थे। जब वे मेरे लिये बाण उठाने लगे; तब दयालु महर्षियोंने उन्हें रोक दिया। वह बाण कालाग्निके समान भयंकर था। अमेयस्वरूप भार्गवने कुपित होनेपर भी मुनियोंके कहनेसे उस बाणका उपसंहार कर लिया ॥ २७-२८ ॥

ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो
जगामास्तं पांसुपुञ्जावगूढः।
निशा व्यगाहत् सुखशीतमारुता
ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः ॥ २९ ॥

तदनन्तर मन्द किरणोंके पुञ्जसे प्रकाशित सूर्यदेव युद्ध-भूमिकी उड़ती हुई धूलोंसे आच्छादित हो अस्ताचलको चले गये। रात्रि आ गयी और सुखद शीतल वायु चलने लगी। उस समय हम दोनोंने युद्ध समाप्त कर दिया ॥ २९ ॥

एवं राजन्नवहारो बभूव
ततः पुनर्विमलेऽभूत् सुघोरम्।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि
तथैव चान्यानि दिनानि त्रीणि ॥ ३० ॥

राजन् ! इस प्रकार प्रतिदिन संध्याके समय युद्ध बंद हो जाता और प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर संग्राम छिड़ जाता था। इस प्रकार हम दोनोंके युद्ध करते-करते तेईस दिन बीत गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८२॥

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः ॥ १ ॥
नक्तंचराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर मैं रातके समय एकान्तमें शय्यापर जाकर ब्राह्मणों, पितरों, देवताओं, निशाचरों, भूतों तथा राजर्षिगणोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगा १-२

जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम्।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम् ॥ ३ ॥

आज बहुत दिन हो गये, जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ यह मेरा अत्यन्त भयंकर और महान् अनिष्टकारक युद्ध चल रहा है ॥ ३ ॥

न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम् ॥ ४ ॥

परंतु मैं महाबली, महापराक्रमी विप्रवर परशुरामजीको समरभूमिमें युद्धके मुहानेपर किसी तरह जीत नहीं सकता ॥४॥

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम ॥ ५ ॥

यदि प्रतापी जमदग्निकुमारको जीतना मेरे लिये सम्भव हो तो प्रसन्न हुए देवगण रात्रिमें मुझे दर्शन दें ॥ ५ ॥

ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा ॥ ६ ॥
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात्।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः ॥ ७ ॥
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै।
परिवार्याब्रुवन् वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! ऐसी प्रार्थना करके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ मैं रात्रिके अन्तमें प्रभातके समय दाहिनी करवटसे सो गया। महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जिन ब्राह्मणशिरोमणियोंने रथसे गिरनेपर मुझे थाम लिया और उठाया था तथा 'डरो मत' ऐसा कहकर सान्त्वना दी थी, उन्हीं लोगोंने मुझे सपनेमें दर्शन दे मेरे चारों ओर खड़े होकर जो बात कही थी, उसे बताता हूँ; सुनो ॥ ६–८ ॥

उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किंचन।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान् ॥ ९ ॥

'गङ्गानन्दन ! उठो। भयभीत न होओ। तुम्हें कोई भय नहीं है। कुरुनन्दन ! हम तुम्हारी रक्षा करते हैं; क्योंकि तुम हमारे ही स्वरूप हो ॥ ९ ॥

न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथंचन।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ ॥ १० ॥

'जमदग्निकुमार परशुराम तुम्हें किसी प्रकार युद्धमें जीत नहीं सकेंगे। भरतभूषण ! तुम्हीं रणक्षेत्रमें परशुरामपर विजय पाओगे ॥ १० ॥

इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान्।
विदितं हि तवाप्येतत् पूर्वस्मिन् देहधारणे ॥ ११ ॥
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत।

न हीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान् क्वचित्॥ १२॥

'भारत ! यह प्रस्वाप नामक अस्त्र है, जिसके देवता प्रजापति हैं। विश्वकर्माने इसका आविष्कार किया है। यह तुम्हें भी परम प्रिय है। इसकी प्रयोगविधि तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगी; क्योंकि पूर्व शरीरमें तुम्हें भी इसका पूर्ण ज्ञान था। परशुरामजी भी इस अस्त्रको नहीं जानते हैं। इस पृथ्वीपर कहीं किसी भी पुरुषको इसका ज्ञान नहीं है ११-१२

तत् स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवानघ॥ १३॥

'महाबाहो ! इस अस्त्रका स्मरण करो और विशेषरूपसे इसीका प्रयोग करो। निष्पाप राजेन्द्र ! यह अस्त्र स्वयं ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जायगा॥ १३॥

येन सर्वान् महावीर्यान् प्रशासिष्यसि कौरव।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनास्त्रेण नराधिप॥ १४॥

'कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे तुम सम्पूर्ण महापराक्रमी नरेशोंपर शासन करोगे। राजन् ! उस अस्त्रसे परशुरामका नाश नहीं होगा॥ १४॥

एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः॥ १५॥

'इसलिये मानद ! तुम्हें कभी इसके द्वारा पापसे संयोग नहीं होगा। तुम्हारे अस्त्रके प्रभावसे पीड़ित होकर जमदग्नि-कुमार परशुराम चुपचाप सो जायँगे॥ १५॥

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि।
अस्त्रेण दयितेनाजौ भीष्म सम्बोधनेन वै॥ १६॥

'भीष्म ! तदनन्तर अपने उस प्रिय अस्त्रके द्वारा युद्धमें विजयी होकर तुम्हीं उन्हें सम्बोधनास्त्रद्वारा पुनः जगाकर उठाओगे॥ १६॥

एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः।
प्रसुप्तं वा मृतं वेति तुल्यं मन्यामहे वयम्॥ १७॥

'कुरुनन्दन ! प्रातःकाल रथपर बैठकर तुम ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोग सोये अथवा मरे हुएको समान ही समझते हैं॥

न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति॥ १८॥

'राजन् ! परशुरामकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती; अतः इस प्राप्त हुए प्रस्वाप नामक अस्त्रका प्रयोग करो'॥ १८॥

इत्युक्त्वान्तर्हिता राजन् सर्व एव द्विजोत्तमाः।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भास्वरमूर्तयः॥ १९॥

राजन् ! ऐसा कहकर वे वसुस्वरूप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अदृश्य हो गये। वे आठों समान रूपवाले थे। उन सबके शरीर तेजोमय प्रतीत होते थे॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्मको प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्तिविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८३॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म तथा परशुरामजीका एक दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

भीष्म उवाच

ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत।
ततः संचिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर रात बीतनेपर जब मेरी नींद खुली, तब उस स्वप्नकी बातको सोचकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ॥ १॥

ततः समभवद् युद्धं मम तस्य च भारत।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम्॥ २॥

भारत ! तदनन्तर मेरा और परशुरामजीका भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला और अद्भुत था॥ २॥

ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत॥ ३॥

उस समय भृगुनन्दन परशुरामजीने मुझपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत ! तब मैंने अपने सायकसमूहोंसे उस बाणवर्षाको रोक दिया॥ ३॥

ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि॥ ४॥

तब महातपस्वी परशुराम पुनः मुझपर अत्यन्त कुपित हो गये। पहले दिनका भी कोप था ही। उससे प्रेरित होकर उन्होंने मेरे ऊपर शक्ति चलायी॥ ४॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम्।
ज्वलन्तीमग्निवत् संख्ये लेलिहानां समन्ततः॥ ५॥

उसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान भयंकर था। उसकी प्रभा यमदण्डके समान थी और उस संग्राममें अग्निके समान प्रज्वलित हुई वह शक्ति मानो सब ओरसे रक्त चाट रही थी॥

ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा।
स मामभ्यवधीत् तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुकुलरत्न ! फिर आकाशवर्ती नक्षत्रके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिने तुरंत आकर मेरे गलेकी हँसलीपर आघात किया॥ ६॥

अथास्रमस्रवद् घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत्।
रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य क्षतजेक्षण॥ ७॥

लाल नेत्रोंवाले महाबाहु दुर्योधन ! परशुरामजीके द्वारा किये हुए उस गहरे आघातसे भयंकर रक्तकी धारा बह चली। मानो पर्वतसे गैरिक धातुमिश्रित जलका झरना झर रहा हो॥ ७॥

ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः।
चिक्षेप मृत्युसंकाशं बाणं सर्पविषोपमम् ॥ ८ ॥

तब मैंने भी अत्यन्त कुपित हो सर्पविषके समान भयंकर मृत्युतुल्य बाण लेकर परशुरामजीके ऊपर चलाया ॥ ८ ॥

स तेनाभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः।
अशोभत महाराज सशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ९ ॥

उस बाणने विप्रवर वीर परशुरामजीके ललाटमें चोट पहुँचायी। महाराज! उसके कारण वे शिखरयुक्त पर्वतके समान शोभा पाने लगे ॥ ९ ॥

स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम्।
संदधे बलवत् कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम् ॥ १० ॥

तब उन्होंने भी रोषमें आकर काल और यमके समान भयंकर शत्रुनाशक बाणको हाथमें ले धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसके ऊपर रक्खा ॥ १० ॥

स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन्।
महीं राजंस्ततश्चाहमगमं रुधिराविलः ॥ ११ ॥

राजन्! उनका चलाया हुआ वह भयंकर बाण फुफकारते हुए सर्पके समान सनसनाता हुआ मेरी छातीपर आकर लगा। उससे लहूलुहान होकर मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ११ ॥

सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ १२ ॥

पुनः चेतमें आनेपर मैंने बुद्धिमान् परशुरामजीके ऊपर प्रज्वलित वज्रके समान एक उज्ज्वल शक्ति चलायी ॥ १२ ॥

सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे।
विह्वलश्चाभवद् राजन् वेपथुश्चैनमाविशत् ॥ १३ ॥

वह शक्ति उन ब्राह्मणशिरोमणिकी दोनों भुजाओंके ठीक बीचमें जाकर लगी। राजन्! इससे वे विह्वल हो गये और उनके शरीरमें कँपकँपी आ गयी ॥ १३ ॥

तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा ॥ १४ ॥

तब उनके महातपस्वी मित्र अकृतव्रणने उन्हें हृदयसे लगाकर सुन्दर वचनोंद्वारा अनेक प्रकारसे आश्वासन दिया ॥ १४ ॥

समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः।
प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महाव्रती परशुरामजी धैर्ययुक्त हो क्रोध और अमर्षमें भर गये और उन्होंने परम उत्तम ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ॥ १५ ॥

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवास्त्रमुत्तमम्।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत् ॥ १६ ॥

तब उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये मैंने भी उत्तम ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग किया। मेरा वह अस्त्र प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित करता हुआ प्रज्वलित हो उठा ॥ १६ ॥

तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम ॥ १७ ॥

भरतवंशशिरोमणे! वे दोनों ब्रह्मास्त्र मेरे तथा परशुरामजीके पास न पहुँचकर बीचमें ही एक दूसरेसे भिड़ गये ॥

ततो व्योम्नि प्रादुरभूत् तेज एव हि केवलम्।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते ॥ १८ ॥

प्रजानाथ! फिर तो आकाशमें केवल आगकी ही ज्वाला प्रकट होने लगी। इससे समस्त प्राणियोंको बड़ी पीड़ा हुई ॥

ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत।
संतापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोऽभिपीडिताः ॥ १९ ॥

भारत! उन ब्रह्मास्त्रोंके तेजसे पीड़ित होकर ऋषि, गन्धर्व तथा देवता भी अत्यन्त संतप्त हो उठे ॥ १९ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा।
संतप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम् ॥ २० ॥

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी डोलने लगी। भूतलके समस्त प्राणी संतप्त हो अत्यन्त विषाद करने लगे ॥

प्रजज्वाल नभो राजन् धूमायन्ते दिशो दश।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा ॥ २१ ॥

राजन्! उस समय आकाश जल रहा था। सम्पूर्ण दिशाओंमें धूम व्याप्त हो रहा था। आकाशचारी प्राणी भी आकाशमें ठहर न सके ॥ २१ ॥

ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत ॥ २२ ॥
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद् ब्रह्मवादिनाम्।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात् तदा ॥ २३ ॥

तदनन्तर देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्में हाहाकार मच गया। भारत! 'यही उपयुक्त अवसर है' ऐसा मानकर मैंने तुरंत ही प्रस्वापनास्त्रको छोड़नेका विचार किया। फिर तो उन ब्रह्मवादी वसुओंके कथनानुसार उस विचित्र अस्त्रका मेरे मनमें स्मरण हो आया ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परस्पर ब्रह्मास्त्रप्रयोगविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गङ्गाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति

भीष्म उवाच

ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन् महानभूत्।
प्रस्वापं भीष्म मा स्राक्षीरिति कौरवनन्दन ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कौरवनन्दन! तदनन्तर
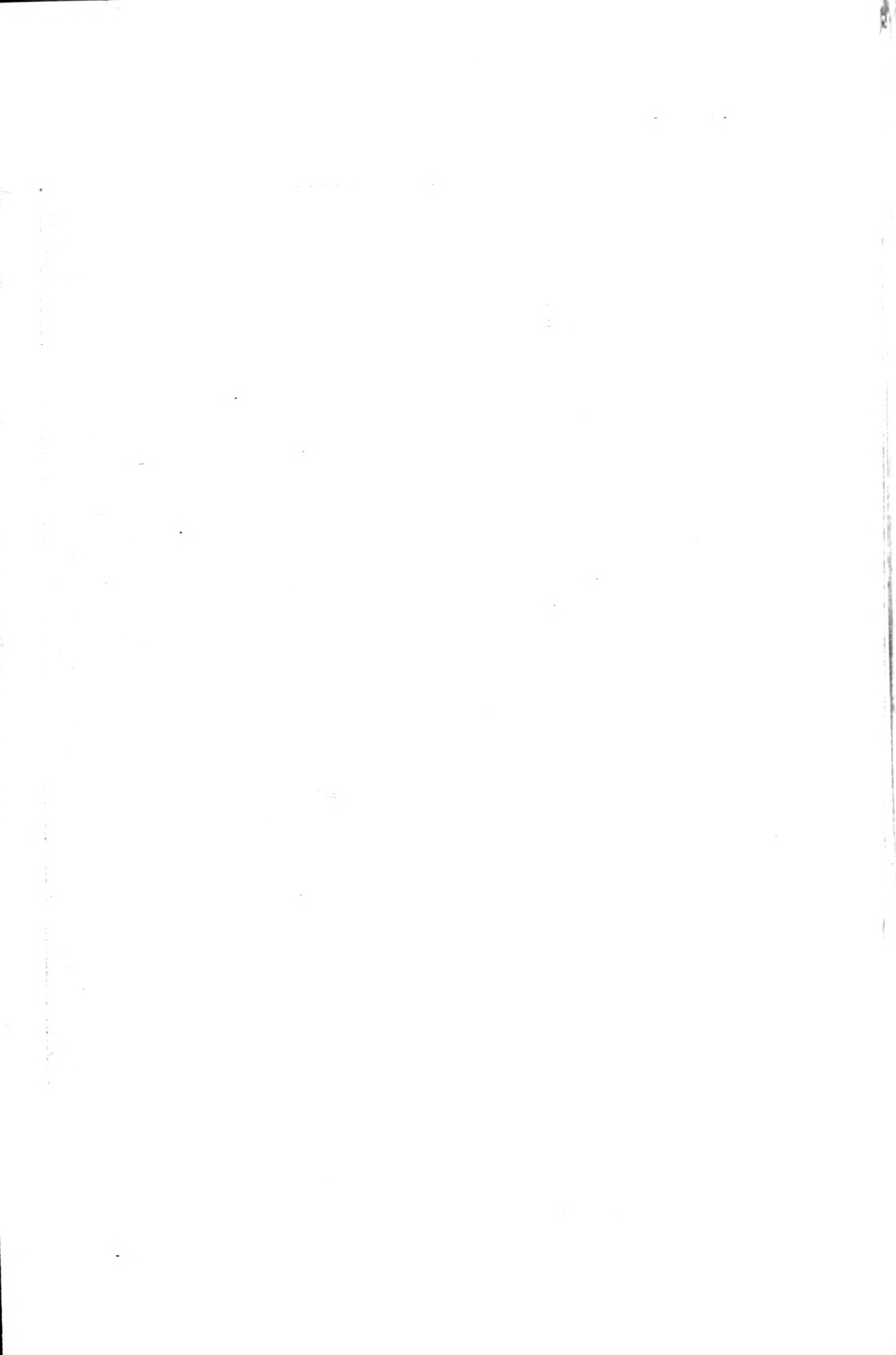
भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजीद्वारा बीच-बचाव

'भीष्म ! प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो' इस प्रकार आकाश-में महान् कोलाहल मच गया ॥ १ ॥

अयुञ्जमेव चैवाहं तदस्त्रं भृगुनन्दने ।
प्रस्वापं मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

तथापि मैंने भृगुनन्दन परशुरामजीको लक्ष्य करके उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ा ही लिया । मुझे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग करते देख नारदजीने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

एते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः स्थिताः ।
ते त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! ये आकाशमें स्वर्गलोकके देवता खड़े हैं। ये सबके सब इस समय तुम्हें मना कर रहे हैं; तुम प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो॥ ३ ॥

रामस्तपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते ।
तस्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथंचन ॥ ४ ॥

'परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और तुम्हारे गुरु हैं । कुरुकुलरत्न ! तुम किसी तरह भी उनका अपमान न करो' ॥ ४ ॥

ततोऽपश्यं दिविष्ठान् वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
ते मां स्मयन्तो राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् मैंने आकाशमें खड़े हुए उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको देखा । वे मुसकराते हुए मुझसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

यथाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत् तथा कुरु ।
एतद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो । भरत-कुलतिलक! यही सम्पूर्ण जगत्के लिये परम कल्याणकारी होगा'॥

ततश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं स्वापनं महत् ।
ब्रह्मास्त्रं दीपयांचक्रे तस्मिन् युधि यथाविधि ॥ ७ ॥

तब मैंने उस महान् प्रस्वापनास्त्रको धनुपसे उतार लिया और उस युद्धमें विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्रको ही प्रकाशित किया॥

ततो रामो हृषितो राजसिंह
दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै ।
जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि-
रित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ॥ ८ ॥

राजसिंह ! मैंने प्रस्वापनास्त्रको उतार लिया है—यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए । उनके मुखसे सहसा यह वाक्य निकल पड़ा कि 'मुझ मन्दबुद्धिको भीष्मने जीत लिया' ॥

ततोऽपश्यत् पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चास्य मान्यम् ।
ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थु-
रूचुश्चैनं सान्त्वपूर्वं तदानीम् ॥ ९ ॥

इसके बाद जमदग्निकुमार परशुरामने अपने पिता जमदग्निको तथा उनके भी माननीय पिता ऋचीक मुनिको देखा । वे सब पितर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले ॥ ९ ॥

पितर ऊचुः

मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः कथंचन ।
भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ॥ १० ॥

पितरोंने कहा—तात ! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना । भीष्म और विशेषतः क्षत्रियके साथ युद्धभूमिमें उतरना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य तु धर्मोऽयं यद् युद्धं भृगुनन्दन ।
स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम् ॥ ११ ॥

भृगुनन्दन ! क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है; किंतु ब्राह्मणोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतोंका पालन ही परम धर्म है ॥ ११ ॥

इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् ।
शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाकार्यं कृतं त्वया ॥ १२ ॥

यह बात पहले भी किसी अवसरपर हमने तुमसे कही थी । शस्त्र उठाना अत्यन्त भयंकर कर्म है; अतः तुमने यह न करने योग्य कार्य ही किया है ॥ १२ ॥

वत्स पर्याप्तमेतावद् भीष्मेण सह संयुगे ।
विमर्दस्ते महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ॥ १३ ॥

महाबाहो ! वत्स ! भीष्मके साथ युद्धमें उतरकर जो तुमने इतना विध्वंसात्मक कार्य किया है, यही बहुत हो गया । अब तुम इस संग्रामसे हट जाओ ॥ १३ ॥

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते तव कार्मुकधारणम् ।
विसर्जयैतद् दुर्धर्ष तपस्तप्यस्व भार्गव ॥ १४ ॥
एष भीष्मः शान्तनवो देवैः सर्वैर्निवारितः ।
निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ॥ १५ ॥
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः ।
न हि रामो रणे जेतुं त्वया न्याय्यः कुरूद्वह ॥ १६ ॥
मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे ।

भृगुनन्दन !तुम्हारा कल्याण हो । दुर्धर्ष वीर ! तुमने जो धनुष उठा लिया, यही पर्याप्त है । अब इसे त्याग दो और तपस्या करो । देखो, इन सम्पूर्ण देवताओंने शान्तनु-नन्दन भीष्मको भी रोक दिया है । वे उन्हें प्रसन्न करके यह बात कह रहे हैं कि 'तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । परशुराम तुम्हारे गुरु हैं । तुम उनके साथ बार-बार युद्ध न करो । कुरुश्रेष्ठ ! परशुरामको युद्धमें जीतना तुम्हारे लिये कदापि न्यायसंगत नहीं है । गङ्गानन्दन ! तुम इस समराङ्गणमें अपने ब्राह्मणगुरुका सम्मान करो' ॥ १४—१६½ ॥

वयं तु गुरवस्तुभ्यं तस्मात् त्वां वारयामहे ॥ १७ ॥
भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या जीवसि पुत्रक ।

बेटा परशुराम ! हम तो तुम्हारे गुरुजन—आदरणीय पितर हैं । इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं । पुत्र ! भीष्म वसुओं-मेंसे एक वसु हैं । तुम अपना सौभाग्य ही समझो कि उनके साथ युद्ध करके अबतक जीवित हो ॥ १७½ ॥

गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ॥ १८ ॥
कथं शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव ।

भृगुनन्दन ! गङ्गा और शान्तनुके ये महायशस्वी पुत्र भीष्म साक्षात् वसु ही हैं । इन्हें तुम कैसे जीत सकते हो ? अतः यहाँ युद्धसे निवृत्त हो जाओ ॥ १८½ ॥

अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरंदरसुतो बली ॥ १९ ॥
नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः ।
सव्यसाचीति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भुवा ॥ २० ॥

प्राचीन सनातन देवता और प्रजापालक वीरवर भगवान् नर इन्द्रपुत्र महाबली पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके रूपमें प्रकट होंगे तथा पराक्रमसम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें सव्यसाचीके नामसे विख्यात होंगे । स्वयम्भू ब्रह्माजीने उन्हींको यथासमय भीष्मकी मृत्युमें कारण बनाया है ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन् रामोऽब्रवीदिदम् ।
नाहं युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पितरोंके ऐसा कहनेपर परशुरामजीने उनसे इस प्रकार कहा—'मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा । यह मेरा चिरकालसे धारण किया हुआ व्रत है ॥

न निवर्तितपूर्वश्च कदाचिद् रणमूर्धनि ।
निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात् पितामहाः ॥ २२ ॥
न त्वहं विनिवर्तिष्ये युद्धादस्मात् कथंचन ।

'आजसे पहले भी मैं कभी किसी युद्धसे पीछे नहीं हटा हूँ । अतः पितामहो ! आपलोग अपनी इच्छाके अनुसार पहले गङ्गानन्दन भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त कीजिये । मैं किसी प्रकार पहले स्वयं ही इस युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा' २२½

ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा ॥ २३ ॥
नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् ।
निवर्तस्व रणात् तात मानयस्व द्विजोत्तमम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब वे ऋचीक आदि मुनि नारदजीके साथ मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—'तात ! तुम्हीं युद्धसे निवृत्त हो जाओ और द्विजश्रेष्ठ परशुरामजीका मान रक्खो' ॥ २३-२४ ॥

इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया ।
मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ॥ २५ ॥
विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ॥ २६ ॥
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।

तब मैंने क्षत्रियधर्मको लक्ष्य करके उनसे कहा—'महर्षियो ! संसारमें मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं पीठपर बाणोंकी चोट खाता हुआ कदापि युद्धसे निवृत्त नहीं हो सकता । मेरा यह निश्चित विचार है कि मैं लोभसे, कायरता या दीनतासे, भयसे अथवा किसी स्वार्थके कारण भी क्षत्रियोंके सनातन धर्मका त्याग नहीं कर सकता' ॥ २५-२६½ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा नृप ॥ २७ ॥
भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे ।
तथैवात्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः ।
स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ॥ २८ ॥
समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम् ।

इतना कहकर मैं पूर्ववत् धनुष-बाण लिये दृढ़ निश्चयके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेके लिये डटा रहा । राजन् ! तब वे नारद आदि सम्पूर्ण ऋषि और मेरी माता गङ्गा सब लोग उस रणक्षेत्रमें एकत्र हुए और पुनः एक साथ मिलकर उस समराङ्गणमें भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २७-२८½ ॥

नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ॥ २९ ॥
राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम ।
अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव॥ ३० ॥

'भृगुनन्दन ! ब्राह्मणोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है; अतः शान्त हो जाओ । विप्रवर परशुराम ! इस युद्धसे निवृत्त हो जाओ । भार्गव ! तुम्हारे लिये भीष्म और भीष्मके लिये तुम अवध्य हो' ॥ २९-३० ॥

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुध्य रणाजिरम् ।
न्यासयांचक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहते हुए उन सब लोगोंने रणस्थलीको घेर लिया और पितरोंने भृगुनन्दन परशुरामसे अस्त्र-शस्त्र रखवा दिया ॥ ३१ ॥

ततोऽहं पुनरेवाथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
अद्राक्षं दीप्यमानान् वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ॥ ३२ ॥

इसी समय मैंने पुनः उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको आकाशमें उदित हुए आठ ग्रहोंकी भाँति प्रकाशित होते देखा॥

ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन् समरे स्थितम् ।
प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ॥ ३३ ॥

उन्होंने समरभूमिमें डटे हुए मुझसे प्रेमपूर्वक कहा—'महाबाहो ! तुम अपने गुरु परशुरामजीके पास जाओ और जगत्‌का कल्याण करो' ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा निवर्तितं रामं सुहृद्वाक्येन तेन वै ।
लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ॥ ३४ ॥

अपने सुहृदोंके कहनेसे परशुरामजीको युद्धसे निवृत्त हुआ देख मैंने भी लोककी भलाई करनेके लिये उन महर्षियोंकी बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः ।
रामश्चाभ्युत्स्मयन् प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर मैंने परशुरामजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया । उस समय मेरा शरीर बहुत घायल हो गया था । महातपस्वी परशुराम मुझे देखकर मुसकराये और प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ ३५ ॥

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः ।

गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ॥ ३६ ॥

'भीष्म ! इस जगत्में भूतलपर विचरनेवाला कोई भी क्षत्रिय तुम्हारे समान नहीं है । जाओ, इस युद्धमें तुमने मुझे बहुत संतुष्ट किया है' ॥ ३६ ॥

मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः ।
उक्तवान् दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

फिर मेरे सामने ही उन्होंने उस कन्याको बुलाकर उन सब महात्माओंके बीच दीनतापूर्ण वाणीमें उससे कहा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें युद्धनिवृत्तिविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाकी कठोर तपस्या

राम उवाच

प्रत्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि ।
यथाशक्त्या मया युद्धं कृतं वै पौरुषं परम् ॥ १ ॥

परशुराम बोले—भाविनि ! यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने (तेरे लिये) पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया और महान् पुरुषार्थ दिखाया है ॥ १ ॥

न चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
विशेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ २ ॥

परंतु इस प्रकार उत्तमोत्तम अस्त्र प्रकट करके भी मैं शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मसे अपनी अधिक विशिष्टता नहीं दिखा सका ॥ २ ॥

एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद् वा करोमि ते ॥ ३ ॥

मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति, अधिक-से-अधिक बल इतना ही है । भद्रे ! अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा, अथवा बता, तेरा दूसरा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ३ ॥

भीष्ममेव प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः ।
निर्जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि प्रमुञ्चता ॥ ४ ॥

अब तू भीष्मकी ही शरण ले । तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है; क्योंकि महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके भीष्मने मुझे जीत लिया है ॥ ४ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः ।
तूष्णीमासीत् ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ॥ ५ ॥

ऐसा कहकर महामना परशुराम लंबी साँस खींचते हुए मौन हो गये । तब राजकन्या अम्बाने उन भृगुनन्दनसे कहा— ॥

भगवन्नेवमेवैतद् यथाऽऽह भगवांस्तथा ।
अजेयो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । वास्तवमें ये उदार-बुद्धि भीष्म युद्धमें देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ६ ॥

यथाशक्ति यथोत्साहं मम कार्यं कृतं त्वया ।
अनिवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च ॥ ७ ॥

'आपने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूर्ण उत्साहके साथ मेरा कार्य किया है । युद्धमें ऐसा पराक्रम दिखाया है, जिसे भीष्मके सिवा दूसरा कोई रोक नहीं सकता था । इसी प्रकार आपने नाना प्रकारके दिव्यास्त्र भी प्रकट किये हैं ॥ ७ ॥

न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः ।
न चाहमेनं यास्यामि पुनर्भीष्मं कथंचन ॥ ८ ॥

'परंतु अन्ततोगत्वा आप युद्धमें उनकी अपेक्षा अपनी विशेष्यता स्थापित न कर सके । मैं भी अब किसी प्रकार पुनः भीष्मके पास नहीं जाऊँगी ॥ ८ ॥

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ॥ ९ ॥

'भृगुश्रेष्ठ तपोधन ! अब मैं वहीं जाऊँगी, जहाँ ऐसा बन सकूँ कि समरभूमिमें स्वयं ही भीष्मको मार गिराऊँ' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोषव्याकुललोचना ।
तापस्ये धृतसंकल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ॥ १० ॥

ऐसा कहकर रोषभरे नेत्रोंवाली वह राजकन्या मेरे वधके उपायका चिन्तन करती हुई तपस्याके लिये दृढ़ संकल्प लेकर वहाँसे चली गयी ॥ १० ॥

ततो महेन्द्रं सह तैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः ।
यथाऽऽगतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य भारत ॥ ११ ॥

भारत ! तदनन्तर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी उन महर्षियोंके साथ मुझसे विदा ले जैसे आये थे, वैसे ही महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ ११ ॥

ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः ।
प्रविश्य नगरं मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ १२ ॥
यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चादिशं प्राज्ञान् कन्यावृत्तान्तकर्मणि ॥ १३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् मैंने भी ब्राह्मणके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए रथपर आरुढ़ हो हस्तिनापुरमें आकर माता सत्यवतीसे सब समाचार यथार्थरूपसे निवेदन किया । माताने भी मेरा अभिनन्दन किया । इसके बाद मैंने कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंको उस कन्याके वृत्तान्तका पता लगानेके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ १२-१३ ॥

दिवसे दिवसे ह्यस्या गतिजल्पितचेष्टितम् ।
प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ॥ १४ ॥

मेरे लगाये हुए गुप्तचर सदा मेरे प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले थे । वे प्रतिदिन उस कन्याकी गतिविधि, बोलचाल और चेष्टाका समाचार मेरे पास पहुँचाया करते थे ॥ १४ ॥

यदैव हि वनं प्रायात् सा कन्या तपसे धृता ।

तदैव व्यथितो दीनो गतचेता इवाभवम् ॥ १५ ॥

जिस दिन वह कन्या तपस्याका निश्चय करके वनमें गयी, उसी दिन मैं व्यथित, दीन और अचेत-सा हो गया ॥

न हि मां क्षत्रियः कश्चिद् वीर्येण व्यजयद् युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ॥ १६ ॥

तात ! जो तपस्याके द्वारा कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण परशुरामजीको छोड़कर कोई भी क्षत्रिय अबतक युद्धमें मुझे पराजित नहीं कर सका है ॥१६॥

अपि चैतन्मया राजन् नारदेऽपि निवेदितम् ।
व्यासे चैव तथा कार्यं तौ चोभौ मामवोचताम् ॥ १७ ॥
न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ॥ १८ ॥

राजन् ! मैंने यह वृत्तान्त देवर्षि नारद और महर्षि व्याससे भी निवेदन किया था । उस समय उन दोनोंने मुझसे कहा— 'भीष्म ! तुम्हें काशिराजकी कन्याके विषयमें तनिक भी विषाद नहीं करना चाहिये । दैवके विधानको पुरुषार्थके द्वारा कौन टाल सकता है ?' ॥ १७-१८ ॥

सा कन्या तु महाराज प्रविश्याश्रममण्डलम् ।
यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर उस कन्याने आश्रममण्डलमें पहुँचकर यमुनाके तटका आश्रय ले ऐसी कठोर तपस्या की, जो मानवीय शक्तिसे परे है ॥ १९ ॥

निराहारा कृशा रूक्षा जटिला मलपङ्किनी ।
षण्मासान् वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना ॥ २० ॥

उसने भोजन छोड़ दिया, वह दुबली तथा रूक्ष हो गयी । सिरपर केशोंकी जटा बन गयी । शरीरमें मैल और कीचड़ जम गयी । वह तपोधना कन्या छः महीनोंतक केवल वायु पीकर ठूँठे काठकी भाँति निश्चल भावसे खड़ी रही २०

यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथापरम् ।
उदवासं निराहारा पारयामास भाविनी ॥ २१ ॥

फिर एक वर्षतक यमुनाजीके जलमें घुसकर बिना कुछ खाये-पीये वह भाविनी राजकन्या जलमें ही रहकर तपस्या करती रही ॥ २१ ॥

शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् ।
संवत्सरं तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् तीव्र क्रोधसे युक्त हुई अम्बाने पैरके अँगूठेके अग्रभागपर खड़ी हो अपने-आप झड़कर गिरा हुआ केवल एक सूखा पत्ता खाकर एक वर्ष व्यतीत किया ॥ २२ ॥

एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास रोदसी ।
निवर्त्यमानापि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ॥ २३ ॥

इस प्रकार बारह वर्षोंतक कठोर तपस्यामें संलग्न हो उसने पृथ्वी और आकाशको संतप्त कर दिया । उसके जातिवालोंने आकर उसे उस कठोर व्रतसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की; परंतु उन्हें सफलता न मिल सकी ॥ २३ ॥

ततोऽगमद् वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् ।
आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ॥ २४ ॥
तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् ।
व्यचरत् काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित वत्स देशकी भूमिमें गयी और वहाँ पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमोंमें विचरने लगी । काशिराजकी वह कन्या दिन-रात वहाँके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करती और अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र विचरती रहती थी ॥ २४-२५ ॥

नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे ।
च्यवनस्याश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ॥ २६ ॥
प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह ।
भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याश्रमे तथा ॥ २७ ॥
माण्डव्यस्याश्रमे राजन् दिलीपस्याश्रमे तथा ।
रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाश्रमे ॥ २८ ॥
एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते ।
आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ॥ २९ ॥

महाराज ! शुभकारक नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यवनाश्रम, ब्रह्मस्थान, देवताओंके यज्ञस्थान प्रयाग, देवारण्य, भोगवती, कौशिकाश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद और पैलगर्गाश्रम—क्रमशः इन सभी तीर्थोंमें उन दिनों काशिराजकी कन्याने कठोर व्रतका आश्रय ले स्नान किया ॥ २६-२९ ॥

तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता ।
किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! उस समय मेरी माता गङ्गाने जलमें प्रकट होकर अम्बासे कहा—'भद्रे ! तू किसलिये शरीरको इतना क्लेश देती है । मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ ३० ॥

सैनामथाब्रवीद् राजन् कृताञ्जलिरनिन्दिता ।
भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ॥ ३१ ॥
कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः ।
साहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! तब साध्वी अम्बाने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे कहा—'चारुलोचने ! भीष्मने युद्धमें परशुरामजीको परास्त कर दिया; फिर दूसरा कौन ऐसा राजा है, जो धनुष-बाण लेकर खड़े हुए भीष्मको युद्धमें परास्त कर सके ? अतः मैं भीष्मके विनाशके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही हूँ॥३१-३२॥

विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् ।
एतद् व्रतफलं देवि परमस्मिन् यथा हि मे ॥ ३३ ॥

'देवि ! मैं इस भूतलपर विभिन्न तीर्थोंमें इसीलिये विचर रही हूँ कि योग्य बनकर मैं स्वयं ही भीष्मको मार सकूँ । भगवति ! इस जगत्में मेरे व्रत और तपस्याका यही सर्वोत्तम फल है, जैसा मैंने आपको बताया है' ॥ ३३ ॥

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि ।
नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले ॥ ३४ ॥

तब सागरगामिनी गङ्गानदीने उससे कहा—'भाविनि ! तू कुटिल आचरण कर रही है । सुन्दर अङ्गोंवाली अबले ! तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम् ।
व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ॥ ३५ ॥
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका ।
दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी ॥ ३६ ॥

'काशिराजकन्ये ! यदि भीष्मके विनाशके लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रतमें स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर छोड़ेगी तो शुभे ! तुझे टेढ़ी-मेढ़ी नदी होना पड़ेगा । केवल बरसातमें ही तेरे भीतर जल दिखायी देगा । तेरे भीतर तीर्थ या स्नानकी सुविधा बड़ी कठिनाईसे होगी । तू केवल बरसातकी नदी समझी जायगी । शेष आठ महीनोंमें तेरा पता नहीं लगेगा ॥ ३५-३६ ॥

भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी ।
एवमुक्त्वा ततो राजन् काशिकन्यां न्यवर्तत ॥ ३७ ॥
माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी ।
कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद् दशमे तथा ।
न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ॥ ३८ ॥

'बरसातमें भी भयंकर ग्राहोंसे भरी रहनेके कारण तू समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी ।' राजन् ! काशिराजकी कन्यासे ऐसा कहकर मेरी परम सौभाग्यशालिनी माता गङ्गा देवी मुसकराती हुई लौट गयीं । तदनन्तर वह सुन्दरी कन्या पुनः कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हो कभी आठवें और कभी दसवें महीने तक जल भी नहीं पीती थी ॥ ३७-३८ ॥

सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात् ततस्ततः ।
पतिता परिधावन्ती पुनः काशिपतेः सुता ॥ ३९ ॥

कुरुनन्दन ! काशिराजकी वह कन्या तीर्थसेवनके लोभसे वत्सदेशकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ती फिरती थी ॥ ३९ ॥

सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताम्बेति भारत ।
वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ॥ ४० ॥

भारत ! कुछ कालके पश्चात् वह वत्सदेशकी भूमिमें अम्बा नामसे प्रसिद्ध नदी हुई, जो केवल बरसातमें जलसे भरी रहती थी । उसमें बहुत-से ग्राह निवास करते थे । उसके भीतर उतरना और स्नान आदि तीर्थकृत्योंका सम्पादन बहुत ही कठिन था । वह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती थी ॥ ४० ॥

सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत ।
नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवन् तदा ॥ ४१ ॥

राजन् ! राजकन्या अम्बा उस तपस्याके प्रभावसे आधे शरीरसे तो अम्बा नामकी नदी हो गयी और आधे अङ्गसे वत्सदेशमें ही एक कन्या होकर प्रकट हुई ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाकी तपस्याविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम् ।
दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाब्रुवन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तात ! उस जन्ममें भी उसे तपस्या करनेका ही दृढ़ निश्चय लिये देख सब तपस्वी महात्माओंने उसे रोका और पूछा—'तुझे क्या करना है ?' ॥ १ ॥

तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा ।
निराकृतास्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ॥ २ ॥

तब उस कन्याने उन तपोवृद्ध महर्षियोंसे कहा—'भीष्मने मुझे ठुकराया है और मुझे पतिकी प्राप्ति एवं उसकी सेवारूप धर्मसे वञ्चित कर दिया है ॥ २ ॥

वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः ।
निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ॥ ३ ॥

'तपोधनो ! मेरी यह तपकी दीक्षा पुण्यलोकोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भीष्मका वध करनेके लिये है । मेरा यह निश्चय है कि भीष्मको मार देनेपर मेरे हृदयको शान्ति मिल जायगी ।३।

यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्तास्मि शाश्वतीम् ।
पतिलोकाद् विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ॥ ४ ॥
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः ।
एष मे हृदि संकल्पो यदिदं कथितं मया ॥ ५ ॥

'जिसके कारण मैं सदाके लिये इस दुःखमयी परिस्थितिमें पड़ गयी हूँ और पतिलोकसे वञ्चित होकर इस जगत्में न तो स्त्री रह गयी हूँ न पुरुष ही । उस गङ्गापुत्र भीष्मको युद्धमें मारे विना तपस्यासे निवृत्त नहीं होऊँगी । तपोधनो ! यही मेरे हृदयका संकल्प है, जिसे मैंने स्पष्ट बता दिया ।४-५।

स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया ।
भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नास्मि वार्येति वै पुनः ॥ ६ ॥

'मुझे स्त्रीके स्वरूपसे विरक्ति हो गयी है, अतः पुरुषशरीरकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय लेकर तपस्यामें प्रवृत्त हुई हूँ । भीष्मसे अवश्य बदला लेना चाहती हूँ, अतः आपलोग मुझे रोकें नहीं' ॥ ६ ॥

तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः ।
मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ॥ ७ ॥

तब शूलपाणि उमावल्लभ भगवान् शिवने उन महर्षियोंके बीचमें अपने साक्षात् स्वरूपसे प्रकट होकर उस तपस्विनीको दर्शन दिया ॥ ७ ॥

छन्द्यमाना वरेणाथ सा वव्रे मत्पराजयम् ।
हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ॥ ८ ॥

फिर इच्छानुसार वर माँगनेका आदेश देनेपर उसने मेरी पराजयका वर माँगा । तब महादेवजीने उस मनस्विनीसे कहा—'तू अवश्य भीष्मका वध करेगी' ॥ ८ ॥

ततः सा पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
उपपद्येत कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ॥ ९ ॥

यह सुनकर उस कन्याने भगवान् रुद्रसे पुनः पूछा—'देव! मैं तो स्त्री हूँ । मुझे युद्धमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है?॥९॥

स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते ।
प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ॥ १० ॥

'उमापते! भूतनाथ! स्त्रीरूप होनेके कारण मेरा मन बहुत निस्तेज है । इधर आपने मेरे द्वारा भीष्मके पराजित होनेका वरदान दिया है ॥ १० ॥

यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ॥ ११ ॥

'वृषध्वज! आपका वह वरदान जिस प्रकार सत्य हो, वैसा कीजिये; जिससे मैं युद्धमें शान्तनुपुत्र भीष्मका सामना करके उन्हें मार सकूँ' ॥ ११ ॥

तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः ।
न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ॥ १२ ॥

तब वृषभध्वज महादेवजीने उस कन्यासे कहा—'भद्रे! मेरी वाणीने कभी झूठ नहीं कहा है; अतः मेरी बात सत्य होकर रहेगी ॥ १२ ॥

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे ।
स्मरिष्यसि च तत् सर्वं देहमन्यं गता सती ॥ १३ ॥

'तू रणक्षेत्रमें भीष्मको अवश्य मारेगी और इसके लिये आवश्यकतानुसार पुरुषत्व भी प्राप्त कर लेगी । दूसरे शरीरमें जानेपर तुझे इन सब बातोंका स्मरण भी बना रहेगा ॥१३॥

द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः ।
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः ॥ १४ ॥

'तू द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हो महारथी वीर होगी । तुझे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलामें निपुणता प्राप्त होगी । साथ ही तू विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाली सम्मानित योद्धा होगी॥

यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद् भविष्यति ।
भविष्यसि पुमान् पश्चात् कस्माच्चित्कालपर्ययात्॥१५॥

'कल्याणि! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा । तू पहले तो कन्यारूपमें ही उत्पन्न होगी; फिर कुछ कालके पश्चात् पुरुष हो जायगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः ।
पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर जटाजूटधारी वृषभध्वज महादेवजी उन सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६ ॥

ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता ।
समाहृत्य वनात् तस्मात् काष्ठानि वरवर्णिनी ॥ १७ ॥
चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् ।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ॥ १८ ॥
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् ।
ज्येष्ठा काशिसुता राजन् यमुनामभितो नदीम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर उन महर्षियोंके देखते-देखते उस साध्वी एवं सुन्दरी कन्याने उस वनसे बहुत-सी लकड़ियोंका संग्रह किया और एक विशाल चिता बनाकर उसमें आग लगा दी । महाराज! जब आग प्रज्वलित हो गयी, तब वह क्रोधसे जलते हुए हृदयसे भीष्मके वधका संकल्प बोलकर उस आगमें प्रवेश कर गयी । राजन्! इस प्रकार काशिराजकी वह ज्येष्ठ पुत्री अम्बा दूसरे जन्ममें यमुनानदीके किनारे चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गयी ॥ १७—१९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका अग्निमें प्रवेशविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८७॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका राजा द्रुपदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना

दुर्योधन उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा ।
पुरुषोऽभूद् युधिश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—समरश्रेष्ठ गङ्गानन्दन पितामह! शिखण्डी पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर फिर पुरुष कैसे हो गया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

भार्या तु तस्य राजेन्द्र द्रुपदस्य महीपतेः ।
महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशाम्पते ॥ २ ॥

भीष्मने कहा—प्रजापालक राजेन्द्र! राजा द्रुपदकी प्यारी पटरानीके कोई पुत्र नहीं था ॥ २ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः ।
अपत्यार्थं महाराज तोषयामास शङ्करम् ॥ ३ ॥

महाराज! इसी समय भूपाल द्रुपदने संतानकी प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ॥ ३ ॥

अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः ।
ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
भगवन् पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया ।
इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति ॥ ५ ॥
निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।

हमलोगोंके वधके लिये पुत्र पानेका निश्चित संकल्प लेकर उन्होंने यह कहते हुए घोर तपस्या की थी कि 'महादेव ! मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो । भगवन् ! मैं भीष्मसे बदला लेनेके लिये पुत्र चाहता हूँ ।' यह सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'भूपाल ! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी । अब तुम लौटो । मैंने जो कहा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥ ४-५½ ॥

स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह ॥ ६ ॥
कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया ।
कन्या भूत्वा पुमान् भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना॥७॥
पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः ।
न तदन्यच्च भविता भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ८ ॥

तब राजा द्रुपद नगरको लौट गये और अपनी पत्नीसे इस प्रकार बोले—'देवि ! मैंने बड़ा प्रयत्न किया । तपस्याके द्वारा महादेवजीकी आराधना की । तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर कहा—पहले तुम्हें पुत्री होगी; फिर वही पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी । मैंने बार-बार केवल पुत्रके लिये याचना की; परंतु भगवान् शिवने इसे दैवका विधान बताया है और कहा—'यह बदल नहीं सकता । जो कहा गया है, वही होगा' ॥ ६–८ ॥

ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी ।
पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह ॥ ९ ॥
लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना ।

तदनन्तर द्रुपदराजकी मनस्विनी पत्नीने नियमपूर्वक रहकर द्रुपदके साथ संयोग किया । शास्त्रीय विधिसे गर्भाधान-संस्कार होनेपर यथासमय उसने गर्भ धारण किया । राजन् ! जैसा कि मुझसे नारदजीने कहा था । द्रुपदकी कमल-नयनी रानीने इसी प्रकार गर्भ धारण किया ॥९-१०½॥

तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥
पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत् तदा ।
सर्वानभिप्रायकृतान् भार्यालभत कौरव ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! महाबाहु द्रुपदने भावी पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण अपनी प्यारी पत्नीको बड़े सुखसे रक्खा । उसका आदर-सत्कार किया । कुरुकुलरत्न ! रानीको जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा हुई, वे सब उनके सामने प्रस्तुत की गयीं ॥ ११–१२ ॥

अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः ।
यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह ॥ १३ ॥
कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप ।

नरेश्वर ! पुत्रहीन राजा द्रुपदकी उस महारानीने समय आनेपर एक परम सुन्दरी कन्याको जन्म दिया ॥१३½॥

अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी ॥ १४ ॥
ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै ।

राजेन्द्र ! तब पुत्रहीन राजा द्रुपदकी मनस्विनी रानीने यह घोषणा करा दी कि यह मेरा पुत्र है ॥ १४½ ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप ॥ १५ ॥
पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत् ।
रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा ॥ १६ ॥
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत ।
न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्षतात् ॥ १७ ॥

नरेन्द्र ! इसके बाद राजा द्रुपदने छिपाकर रक्खी हुई उस कन्याके सभी संस्कार पुत्रके ही समान कराये । द्रुपदकी रानीने सब प्रकारका प्रयत्न करके इस रहस्यको गुप्त रखनेकी व्यवस्था की । वह उस कन्याको पुत्र कहकर ही पुकारती थी । सारे नगरमें केवल द्रुपदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता था कि वह कन्या है ॥ १५–१७ ॥

श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याच्युततेजसः ।
छादयामास तां कन्यां पुमानिति च सोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

जिनका तेज कभी क्षीण नहीं होता, उन महादेवजीके वचनोंपर श्रद्धा रखनेके कारण राजा द्रुपदने उसके कन्या-भावको छिपाया और पुत्र होनेकी घोषणा कर दी ॥१८॥

जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास पार्थिवः ।
पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः ॥ १९ ॥

राजाने बालकके सम्पूर्ण जातकर्म पुत्रोचित विधानसे ही करवाये, लोग उसे 'शिखण्डी' के नामसे जानते थे ॥१९॥

अहमेकस्तु चारेण वचनान्नारदस्य च ।
ज्ञातवान् देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा ॥ २० ॥

केवल मैं गुप्तचरके दिये हुए समाचारसे, नारदजीके-कथनसे, महादेवजीके वरदान-वाक्यसे तथा अम्बाकी तपस्या-से शिखण्डीके कन्या होनेका वृत्तान्त जान गया था ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तौ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीकी उत्पत्तिविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान् कोप

भीष्म उवाच

चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु।
ततो लेख्यादिषु तथा शिल्पेषु च परंतप॥ १॥

भीष्म कहते हैं—तदनन्तर द्रुपदने अपनी पुत्रीको लेखनशिक्षा और शिल्पशिक्षा आदि सभी कार्योंकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये विशेष प्रयत्न किया॥१॥

इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह।
तस्य माता महाराज राजानं वरवर्णिनी॥ २॥
चोदयामास भार्यार्थं कन्यायाः पुत्रवत् तदा।
ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्।
स्त्रियं मत्वा ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया॥ ३॥

राजेन्द्र! धनुर्विद्याके लिये शिखण्डी द्रोणाचार्यका शिष्य हुआ। महाराज! शिखण्डीकी सुन्दरी माताने राजा द्रुपदको प्रेरित किया कि वे उसके पुत्रके लिये बहू ला दें। वह अपनी कन्याका पुत्रके समान ब्याह करना चाहती थी। द्रुपदने देखा, मेरी बेटी जवान हो गयी तो भी अबतक स्त्री ही बनी हुई है (वरदानके अनुसार पुरुष नहीं हो सकी), इससे पत्नीसहित उनके मनमें बड़ी चिन्ता हुई॥२-३॥

द्रुपद उवाच

कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं शोकवर्धिनी।
मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः॥ ४॥

द्रुपद बोले—देवि! मेरी यह कन्या युवावस्थाको प्राप्त होकर मेरा शोक बढ़ा रही है। मैंने भगवान् शंकरके कथनपर विश्वास करके अबतक इसके कन्याभावको छिपा रक्खा था॥४॥

भार्योवाच

न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथंचन।
त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा वक्तुमिहार्हति॥ ५॥
यदि ते रोचते राजन् वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
श्रुत्वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज॥ ६॥

रानीने कहा—महाराज! भगवान् शिवका दिया हुआ वर किसी तरह मिथ्या नहीं होगा। भला, तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् झूठी बात कैसे कह सकते हैं? राजन्! यदि आपको अच्छा लगे तो कहूँ। मेरी बात सुनिये। पृषतनन्दन! इसे सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण करें॥५-६॥

क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद् दारसंग्रहः।
भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः॥ ७॥

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्का वचन सत्य होगा। अतः आप प्रयत्नपूर्वक शास्त्रीय विधिके अनुसार इसका कन्याके साथ विवाह कर दें॥७॥

ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन् कार्येऽथ दम्पती।
वरयांचक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम्॥ ८॥

इस प्रकार विवाहका निश्चय करके दोनों पति-पत्नीने दशार्णराजकी पुत्रीका अपने पुत्रके लिये वरण किया॥८॥

ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः
सर्वान् राज्ञः कुलतः संनिशाम्य।
दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां
शिखण्डिने वरयामास दारान्॥ ९॥

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदने समस्त राजाओंके कुल आदिका परिचय सुनकर दशार्णराजकी ही पुत्रीका शिखण्डीके लिये वरण किया॥९॥

हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः।
स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने॥ १०॥

दशार्णदेशके राजाका नाम हिरण्यवर्मा था। भूपाल हिरण्यवर्माने शिखण्डीको अपनी कन्या दे दी॥१०॥

स च राजा दशार्णेषु महानासीत् सुदुर्जयः।
हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः॥ ११॥

दशार्णदेशका वह राजा हिरण्यवर्मा महान् दुर्जय और दुर्धर्ष वीर था। उसके पास विशाल सेना थी। साथ ही उसका हृदय भी विशाल था॥११॥

कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम।
यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी॥ १२॥
कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत्।
ततः सा वेद तां कन्यां कञ्चित् कालं स्त्रियं किल॥ १३॥

नृपश्रेष्ठ! हिरण्यवर्माकी पुत्री भी युवावस्थाको प्राप्त थी। इधर द्रुपदकी कन्या शिखण्डिनी भी पूर्ण युवती हो गयी थी। विवाहकार्य सम्पन्न हो जानेपर पत्नीसहित शिखण्डी पुनः काम्पिल्य नगरमें आया। दशार्णराजकी कन्याने कुछ ही दिनोंमें यह समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है॥१२-१३॥

हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम्।
धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत्।
कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम्॥ १४॥

हिरण्यवर्माकी पुत्रीने शिखण्डीके यथार्थ स्वरूपको जानकर अपनी धाय तथा सखियोंसे लजाते-लजाते यह गुप्त बात कह दी कि पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डी वास्तवमें पुरुष नहीं, स्त्री हैं॥१४॥

ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा।
जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च॥ १५॥

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर दशार्णदेशकी धायोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने यह समाचार सूचित करनेके लिये बहुत-सी दासियोंको दशार्णराजके यहाँ भेजा॥१५॥

ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वा न्यवेदयन्।
विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः॥ १६॥

वे सब दासियाँ दशार्णराजसे सब बातें ठीक-ठीक बताती हुई बोलीं कि 'राजा द्रुपदने बहुत बड़ा धोखा दिया है।' यह सुनकर दशार्णराज अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद् राजकुले तदा।
विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवातिरोचयन् ॥ १७ ॥

महाराज! शिखण्डी भी उस राजपरिवारमें पुरुषकी ही भाँति आनन्दपूर्वक घूमता-फिरता था। उसे अपना स्त्रीत्व अच्छा नहीं लगता था ॥ १७ ॥

ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ! राजेन्द्र! तदनन्तर कुछ दिनोंमें उसके स्त्री होनेका समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा क्रोधसे पीड़ित हो गया ॥

ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः।
दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर दशार्णराजने दुःसह क्रोधसे युक्त हो राजा द्रुपदके दरबारमें दूत भेजा ॥ १९ ॥

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः।
एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

हिरण्यवर्माका वह दूत द्रुपदके पास पहुँचकर अकेला एकान्तमें सबको हटाकर केवल राजासे इस प्रकार बोला—॥

दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत्।
अभिषङ्गात् प्रकुपितो विप्रलब्धस्त्वयानघ ॥ २१ ॥

'निष्पाप नरेश! आपने दशार्णराजको धोखा दिया है। आपके द्वारा किये गये अपमानसे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया है। उन्होंने आपसे कहनेके लिये यह संदेश भेजा है ॥

अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं तव।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद् याचितवानसि ॥ २२ ॥
तस्याद्य विप्रलम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते।
एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ॥ २३ ॥

'नरेश्वर! तुमने जो मेरा अपमान किया है, यह निश्चय ही तुम्हारे खोटे विचारका परिचय है। तुमने मोहवश अपनी पुत्रीके लिये मेरी पुत्रीका वरण किया था। दुर्मते! उस ठगी और वञ्चनाका फल अब तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा, धीरज रक्खो। मैं अभी सेवकों और मन्त्रियोंसहित तुम्हें जड़मूलसहित उखाड़ फेंकता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें हिरण्यवर्माके दूतका आगमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ १८९

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यवर्माके आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्य दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप।
चोरस्येव गृहीतस्य न प्रावर्तत भारती ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! दूतके ऐसा कहनेपर पकड़े गये चोरकी भाँति राजा द्रुपदके मुखसे सहसा कोई बात नहीं निकली ॥ १ ॥

स यत्नमकरोत् तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने।
दूतैर्मधुरसम्भाषैर्न तदस्तीति संदिशन् ॥ २ ॥

उन्होंने मधुरभाषी दूतोंके द्वारा यह संदेश देकर कि 'ऐसी बात नहीं है (आपको धोखा नहीं दिया गया है)' अपने सम्बन्धीको मनानेका दुष्कर प्रयत्न किया ॥ २ ॥

स राजा भूय एवाथ ज्ञात्वा तत्त्वमथागमत्।
कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ॥ ३ ॥

राजा हिरण्यवर्माने जब पुनः पता लगाया तो पाञ्चालराजकी पुत्री शिखण्डिनी कन्या ही है, यह बात ठीक जान पड़ी। इससे रुष्ट होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ द्रुपदपर आक्रमण करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

ततः सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम्।
दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वचनात् तदा ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजाने धायोंके कथनानुसार अपनी कन्याको द्रुपदके द्वारा धोखा दिये जानेका समाचार अमिततेजस्वी मित्र राजाओंके पास भेजा ॥ ४ ॥

ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः।
अभियाने मतिं चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ॥ ५ ॥

भारत! इसके बाद नृपश्रेष्ठ हिरण्यवर्माने सैन्य-संग्रह करके राजा द्रुपदके ऊपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया ॥५॥

ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स महीपतिः।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ॥ ६ ॥

राजेन्द्र! फिर राजा हिरण्यवर्माने अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर परामर्श किया कि मुझे पाञ्चालनरेशके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र वै निश्चितं तेषामभूद् राज्ञां महात्मनाम्।
तथ्यं भवति चेदेतत् कन्या राजन् शिखण्डिनी ॥ ७ ॥
बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम्।
अन्यं राजानमाधाय पञ्चालेषु नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ॥ ९ ॥

वहाँ महामना मित्र राजाओंका यह निश्चय घोषित हुआ कि राजन्! यदि यह सत्य सिद्ध हुआ कि शिखण्डी वास्तवमें पुत्र नहीं, कन्या है, तब हमलोग पाञ्चालराजको कैद करके अपने घर ले आयेंगे और पाञ्चालदेशके राज्यपर दूसरे किसी राजाको बिठाकर शिखण्डीसहित द्रुपदको मरवा डालेंगे ॥ ७-९ ॥

तत् तथाभूतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः ।
प्रास्थापयत् पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ॥ १० ॥

फिर दूतके मुखसे उस समाचारको यथार्थ जानकर राजा हिरण्यवर्माने द्रुपदके पास दूत भेजा। स्थिर रहो (सावधान हो जाओ); मैं कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा संहार कर डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्बिषी च नराधिपः ।
भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ॥ ११ ॥

भीष्म कहते हैं—राजा द्रुपद उन दिनों स्वभावसे ही भीरु थे। फिर उनके द्वारा अपराध भी बन गया था। अतः उन्होंने बड़े भारी भयका अनुभव किया ॥ ११ ॥

विसृज्य दूतान् दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः ।
समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ॥ १२ ॥

राजा द्रुपदने दशार्णनरेशके पास दूतोंको भेजकर शोकसे अधीर हो एकान्त स्थानमें अपनी पत्नीसे मिलकर इस विषयमें बातचीत करनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥

भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाहतः ।
पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजके हृदयमें बड़ा भारी भय समा गया था। वे शोकसे पीड़ित थे। अतः उन्होंने अपनी प्यारी पत्नी शिखण्डीकी मातासे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

अभियास्यति मां कोपात् सम्बन्धी सुमहाबलः ।
हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ॥ १४ ॥

'देवि! मेरे महाबली सम्बन्धी हिरण्यवर्मा क्रोधवश अपनी विशाल सेना लाकर मेरे ऊपर आक्रमण करेंगे ॥१४॥

किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति ।
शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ॥ १५ ॥

'इस समय हम दोनों क्या करें? इस कन्याके प्रश्नको लेकर हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। सम्बन्धीके मनमें यह शंका दृढ़मूल हो गयी है कि तुम्हारा पुत्र शिखण्डी वास्तवमें कन्या है ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य यत्नेन समित्रः सबलानुगः ।
वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥
किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने ।
श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ॥ १७ ॥

'यह सोचकर वे ऐसा मानने लगे हैं कि मेरे साथ धोखा किया गया है और इसलिये वे अपने मित्रों, सैनिकों तथा सेवकोंसहित आकर मुझे यत्नपूर्वक उखाड़ फेंकना चाहते हैं। सुश्रोणि! यहाँ क्या सच है और क्या झूठ? शोभने! इस बातको तुम्हीं बताओ। तुम्हारे मुखसे निकले हुए शुभ वचनको सुनकर मैं वैसा ही करूँगा ॥ १६-१७ ॥

अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी ।
त्वं च राज्ञि महत् कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ॥ १८ ॥

'रानी! मेरा जीवन संशयमें पड़ गया है। यह शिखण्डिनी भी बालिका ही है। सुन्दरि! तुम भी महान् संकटमें फँस गयी हो ॥ १८ ॥

सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ।
तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ॥ १९ ॥

'सुश्रोणि! मैं पूछ रहा हूँ। सबको संकटसे छुड़ानेके लिये कोई यथार्थ उपाय बताओ। शुचिस्मिते! मैं उस उपायको शीघ्र ही काममें लाऊँगा ॥ १९ ॥

शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः ।
कृपयाहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ॥ २० ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली महारानी! तुम शिखण्डीके विषयमें भय मत करो। मैं दया करके वही कार्य करूँगा, जो वस्तुतः हितकारक होगा, मैं स्वयं पुत्रधर्मसे वञ्चित हो गया हूँ ॥

मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः ।
तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ॥ २१ ॥

'और मैंने दशार्णनरेश महाराज हिरण्यवर्माको भी वञ्चित किया है। अतः महाभागे! इस अवसरपर तुम्हारी दृष्टिमें जो हितकारक कार्य हो, उसे बताओ। मैं उसका अनुष्ठान करूँगा' ॥ २१ ॥

जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै ।
प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा द्रुपद सब कुछ जानते थे तो भी दूसरे लोगोंमें अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये महारानीसे स्पष्ट शब्दोंमें पूछा। उनके प्रश्न करनेपर रानीने राजाको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें द्रुपदप्रश्नविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना

भीष्म उवाच

ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप ।
आचचक्षे महाबाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाबाहु नरेश्वर! तब शिखण्डीकी माताने अपने पतिसे यथार्थ रहस्य बताते हुए कहा—'यह पुत्र शिखण्डी नहीं, शिखण्डिनी नामवाली कन्या है ॥ १ ॥

अपुत्रया मया राजन् सपत्नीनां भयादिदम्।
कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ॥ २ ॥

'राजन्! पुत्ररहित होनेके कारण मैंने अपनी सौतोंके भयसे इस कन्या शिखण्डिनीके जन्म लेनेपर भी इसे पुत्र ही बताया ॥ २ ॥

त्वया चैव नरश्रेष्ठ तन्मे प्रीत्यानुमोदितम्।
पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! आपने भी प्रेमवश मेरे इस कथनका अनुमोदन किया और महाराज! कन्या होनेपर भी आपने इसका पुत्रोचित संस्कार किया ॥ ३ ॥

भार्या चोढा त्वया राजन् दशार्णाधिपतेः सुता।
मया च प्रत्यभिहितं देववाक्यार्थदर्शनात्।
कन्या भूत्वा पुमान् भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ॥ ४ ॥

'राजन्! मेरे ही कथनपर विश्वास करके आप दशार्णराजकी पुत्रीको इसकी पत्नी बनानेके लिये ब्याह लाये। महादेवजीके वरदानवाक्यपर दृष्टि रखनेके कारण मैंने इसके विषयमें पुत्र होनेकी घोषणा की थी। महादेवजीने कहा था कि पहले कन्या होगी, फिर वही पुत्र हो जायगा। इसीलिये इस वर्तमान संकटकी उपेक्षा की गयी' ॥ ४ ॥

एतच्छ्रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः
सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्भ्यो निवेद्य।
मन्त्रं राजा मन्त्रयामास राजन्
यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ॥ ५ ॥

यह सुनकर यज्ञसेन द्रुपदने मन्त्रियोंको सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। राजन्! तत्पश्चात् प्रजाकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था उचित है, उसके लिये उन्होंने पुनः मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ ५ ॥

सम्बन्धकं चैव समर्थ्य तस्मिन्
दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र।
स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथाव-
न्मन्त्रैकाग्रो निश्चयं वै जगाम ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! यद्यपि राजा द्रुपदने स्वयं ही वञ्चना की थी, तथापि दशार्णराजके साथ सम्बन्ध और प्रेम बनाये रखनेकी इच्छा करके एकाग्रचित्तसे मन्त्रणा करते हुए वे एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन राजेन्द्र! यद्यपि वह नगर स्वभावसे ही सुरक्षित था, तथापि उस विपत्तिके समय उसको सब प्रकारसे सजा करके उन्होंने उसकी रक्षाके लिये विशेष व्यवस्था की ॥

आर्तिं च परमां राजा जगाम सह भार्यया।
दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! दशार्णराजके साथ विरोधकी भावना होनेपर रानीसहित राजा द्रुपदको बड़ा कष्ट हुआ ॥ ८ ॥

कथं सम्बन्धिना सार्धं न मे स्याद् विग्रहो महान्।
इति संचिन्त्य मनसा देवतामर्चयत् तदा ॥ ९ ॥

अपने सम्बन्धीके साथ मेरा महान् युद्ध कैसे टल जाय—यह मन-ही-मन विचार करके उन्होंने देवताकी अर्चना आरम्भ कर दी ॥ ९ ॥

तं तु दृष्ट्वा तदा राजन् देवी देवपरं तदा।
अर्चां प्रयुञ्जानमथो भार्या वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

राजन्! राजा द्रुपदको देवाराधनमें तत्पर देख महारानीने पूजा चढ़ाते हुए नरेशसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्या साधुमता सदा।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ॥ ११ ॥
दैवतानि च सर्वाणि पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम्।
अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ॥ १२ ॥

'देवताओंकी आराधना साधु पुरुषोंके लिये सदा ही सत्य (उत्तम) है। फिर जो दुःखके समुद्रमें डूबा हुआ हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है। अतः आप गुरुजनों और सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करें, ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा दें और दशार्णराजके लौट जानेके लिये अग्नियोंमें होम करें ॥ ११-१२ ॥

अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो।
देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद् भविष्यति ॥ १३ ॥

'प्रभो! मन-ही-मन यह चिन्तन कीजिये कि दशार्णराज बिना युद्ध किये ही लौट जायँ। देवताओंके कृपाप्रसादसे यह सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥ १३ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन।
पुरस्यास्याविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ॥ १४ ॥

'विशाललोचन नरेश! आपने इस नगरकी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ जैसा विचार किया है वैसा कीजिये ॥ १४ ॥

दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्ध्यति पार्थिव।
परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ॥ १५ ॥

'भूपाल! पुरुषार्थसे संयुक्त होनेपर ही दैव विशेषरूपसे सिद्धिको प्राप्त होता है। दैव और पुरुषार्थमें परस्पर विरोध होनेपर इन दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

तस्माद् विधाय नगरे विधानं सचिवैः सह।
अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ॥ १६ ॥

'राजन्! अतः आप मन्त्रियोंके साथ नगरकी रक्षाके लिये आवश्यक व्यवस्था करके इच्छानुसार देवताओंकी अर्चना कीजिये' ॥ १६ ॥

एवं संभाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ।
शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडितेव तपस्विनी ॥ १७ ॥
ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखितावुभौ।
इमाविति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ॥ १८ ॥

इन दोनोंको इस प्रकार शोकमग्न होकर बातचीत करते देख उनकी तपस्विनी पुत्री शिखण्डिनी लज्जित-सी होकर इस

प्रकार चिन्ता करने लगी—'ये मेरे माता और पिता दोनों मेरे ही कारण दुखी हो रहे हैं।' ऐसा सोचकर उसने प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ १७-१८ ॥

एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं शोकपरायणा।
निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो घर छोड़कर निर्जन एवं गहन वनमें चली गयी ॥ १९ ॥

यक्षेणर्द्धिमता राजन् स्थूणाकर्णेन पालितम्।
तद्भयादेव च जनो विसर्जयति तद् वनम् ॥ २० ॥

राजन्! वह वन समृद्धिशाली यक्ष स्थूणाकर्णके द्वारा सुरक्षित था। इसीके भयसे साधारण लोगोंने उस वनमें आना-जाना छोड़ दिया था ॥ २० ॥

तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम्।
लाजोल्लापिकधूमाढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ॥ २१ ॥

उसके भीतर स्थूणाकर्णका विशाल भवन था, जो चूना और मिट्टीसे लीपा गया था। उसके परकोटे और फाटक बहुत ऊँचे थे। उसमें खसकी जड़के धूमकी सुगन्ध फैली हुई थी ॥ २१ ॥

तत् प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्यात्मजा नृप।
अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ॥ २२ ॥

उस भवनमें प्रवेश करके द्रुपदपुत्री शिखण्डिनी बहुत दिनोंतक उपवास करके शरीरको सुखाती रही ॥ २२ ॥

दर्शयामास तां यक्षः स्थूणो मार्दवसंयुतः।
किमर्थोऽयं तवारम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम् ॥ २३ ॥

स्थूणाकर्ण यक्षने उसे इस अवस्थामें देखा। देखकर उसके हृदयमें कोमल भावका उदय हुआ। फिर उसने पूछा—'भद्रे! तुम्हारा यह उपवास-व्रत किसलिये है? अपना प्रयोजन शीघ्र बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २३ ॥

अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह।
करिष्यामीति वै क्षिप्रं प्रत्युवाचाथ गुह्यकः ॥ २४ ॥

यह सुनकर उसने यक्षसे बार-बार कहा—'यह तुम्हारे लिये असम्भव है।' तब यक्षने बार-बार उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण कर दूँगा ॥ २४ ॥

धनेश्वरस्यानुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे।
अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ २५ ॥

'राजकुमारी! मैं कुबेरका सेवक हूँ। मुझमें वर देनेकी शक्ति है, तुम्हारी जो भी इच्छा हो बताओ। मैं तुम्हें अदेय वस्तु भी दे दूँगा' ॥ २५ ॥

ततः शिखण्डी तत् सर्वमखिलेन न्यवेदयत्।
तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन! तब शिखण्डिनीने उस यक्षप्रवर स्थूणाकर्णसे अपना सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया ॥ २६ ॥

शिखण्डिन्युवाच

अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति।
अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ॥ २७ ॥

शिखण्डिनी बोली—यक्ष! मेरे पुत्रहीन पिता अब शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि दशार्णराज कुपित होकर उनपर आक्रमण करेंगे ॥ २७ ॥

महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः।
तस्माद् रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ॥ २८ ॥

वे सुवर्णमय कवचसे युक्त नरेश महाबली और महान् उत्साही हैं—यक्ष! तुम मेरे माता-पिताकी और मेरी भी उनसे रक्षा करो ॥ २८ ॥

प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम।
भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ॥ २९ ॥
यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम।
तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ॥ ३० ॥

गुह्यक! महायक्ष! तुमने मेरे दुःखनिवारणके लिये प्रतिज्ञा की है। मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी कृपासे एक श्रेष्ठ पुरुष हो जाऊँ। जबतक राजा हिरण्यवर्मा हमारे नगरपर आक्रमण नहीं कर रहे हैं, तभीतक मुझपर कृपा करो ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें स्थूणाकर्णके साथ शिखण्डिनीकी भेंटविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥
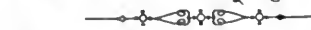
द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय

भीष्म उवाच

शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाथ स यक्षो भरतर्षभ।
प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ॥ १ ॥
भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव।
भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ॥ २ ॥
(स्वं ते पुंस्त्वं प्रदास्यामि स्त्रीत्वं धारयितास्मि ते।)
किंचित् कालान्तरे दास्ये पुंल्लिङ्गं स्वमिदं तव।
आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ॥ ३ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतश्रेष्ठ कौरव! शिखण्डिनीकी यह बात सुनकर दैवपीड़ित यक्षने मन-ही-मन कुछ सोचकर

कहा—'भद्रे ! तुम जैसा कहती हो वैसा हो तो जायगा; परंतु वह मेरे दुःखका कारण होगा, तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। इस विषयमें जो मेरी शर्त है, उसे सुनो। मैं तुम्हें अपना पुरुषत्व दूँगा और तुम्हारा स्त्रीत्व स्वयं धारण करूँगा; किंतु कुछ ही कालके लिये अपना यह पुरुषत्व तुम्हें दूँगा। उस निश्चित समयके भीतर ही तुम्हें मेरा पुरुषत्व लौटानेके लिये यहाँ आ जाना चाहिये। इसके लिये मुझे सच्चा वचन दो ॥ १–३ ॥'

प्रभुः संकल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः।
मत्प्रसादात् पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ॥ ४ ॥

'मैं सिद्धसंकल्प, सामर्थ्यशाली, इच्छानुसार सर्वत्र विचरनेवाला तथा आकाशमें भी चलनेकी शक्ति रखनेवाला हूँ। तुम मेरी कृपासे केवल अपने नगर और बन्धु बान्धवोंकी रक्षा करो ॥ ४ ॥

स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तदेवं पार्थिवात्मजे।
सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ॥ ५ ॥

'राजकुमारी ! इस प्रकार मैं तुम्हारा स्त्रीत्व धारण करूँगा, कार्य पूर्ण हो जानेपर तुम मेरा पुरुषत्व लौटा देनेकी मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करो; तब मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा' ॥ ५ ॥

शिखण्डिन्युवाच

प्रतिदास्यामि भगवन् पुँल्लिङ्गं तव सुव्रत।
किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ॥ ६ ॥

शिखण्डिनी बोली—भगवन् ! तुम्हारा यह पुरुषत्व मैं समयपर लौटा दूँगा। निशाचर ! तुम कुछ ही समयके लिये मेरा स्त्रीत्व धारण कर लो ॥ ६ ॥

प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि।
कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ॥ ७ ॥

दशार्णदेशके स्वामी राजा हिरण्यवर्माके लौट जानेपर मैं फिर कन्या ही हो जाऊँगी और तुम पूर्ववत् पुरुष हो जाओगे ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप।
अन्योऽन्यस्याभिसंदेहे तौ संक्रामयतां ततः ॥ ८ ॥
स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत।
यक्षरूपं च तद् दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! इस प्रकार बात करके उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा कर ली तथा उन दोनोंने एक दूसरेके शरीरमें अपने-अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्वका संक्रमण करा दिया। भारत ! स्थूणाकर्ण यक्षने उस शिखण्डिनीके स्त्रीत्वको धारण कर लिया और शिखण्डिनीने यक्षका प्रकाशमान पुरुषत्व प्राप्त कर लिया ॥ ८-९ ॥

ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव।
विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार पुरुषत्व पाकर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी बड़े हर्षके साथ नगरमें आया और अपने पितासे मिला ॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत्।
द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत् परम् ॥ ११ ॥

उसने जैसे जो वृत्तान्त हुआ था, वह सब राजा द्रुपदसे कह सुनाया। उसकी यह बात सुनकर राजा द्रुपदको अपार हर्ष हुआ ॥ ११ ॥

सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा।
ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ॥ १२ ॥
पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति।

पत्नीसहित राजाको भगवान् महेश्वरके दिये हुए वरका स्मरण हो आया। तदनन्तर राजा द्रुपदने दशार्णराजके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि मेरा पुत्र पुरुष है। आप मेरी इस बातपर विश्वास करें ॥ १२½ ॥

अथ दाशार्णको राजा सहसाभ्यागमत् तदा ॥ १३ ॥
पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः।

इधर दुःख और शोकमें डूबे हुए दशार्णराजने सहसा पाञ्चालराज द्रुपदपर आक्रमण किया ॥ १३½ ॥

ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ॥ १४ ॥
प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम्।

काम्पिल्य नगरके निकट पहुँचकर दशार्णराजने वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दूत बनाकर भेजा ॥ १४½ ॥

ब्रूहि मद्वचनाद् दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ॥ १५ ॥
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते।
फलं तस्यावलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ॥ १६ ॥

और कहा—'दूत ! मेरे कथनानुसार राजाओंमें अधम उस पाञ्चालनरेशसे कहिये। दुर्मते ! तुमने जो अपनी कन्याके लिये मेरी कन्याका वरण किया था, उस घमंडका फल तुम्हें आज देखना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्तश्च तेनासौ ब्राह्मणो राजसत्तम।
दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! दशार्णराजका यह संदेश पाकर और उन्हींकी प्रेरणासे दूत बनकर वे ब्राह्मणदेवता काम्पिल्य नगरमें आये ॥

तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे।
तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ॥ १८ ॥
प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना।
तां पूजां नाभ्यनन्दत् स वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १९ ॥

नगरमें आकर वे पुरोहित ब्राह्मण महाराज द्रुपदसे मिले। पाञ्चालराजने सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य तथा गौ अर्पण की। उनके साथ राजकुमार शिखण्डी भी थे। राजेन्द्र ! पुरोहितने वह पूजा ग्रहण नहीं की और इस प्रकार कहा— ॥ १८-१९ ॥

यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा।
यत् तेऽहमधमाचार दुहित्रास्म्यभिवञ्चितः ॥ २० ॥
तस्य पापस्य करणात् फलं प्राप्नुहि दुर्मते।
देहि युद्धं नरपते ममाद्य रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् ।

'राजन् ! वीरवर राजा हिरण्यवर्माने जो संदेश दिया है, उसे सुनिये । पापाचारी दुर्बुद्धि नरेश ! तुम्हारी पुत्रीके द्वारा मैं ठगा गया हूँ । वह पाप तुमने ही किया है; अतः उसका फल भोगो । नरेश्वर ! युद्धके मैदानमें आकर मुझे युद्धका अवसर दो । मैं मन्त्री, पुत्र और बान्धवोंसहित तुम्हारे समस्त कुलको उखाड़ फेंकूँगा' ॥ २०-२१½ ॥

तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ॥ २२ ॥
दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा ।

इस प्रकार पुरोहितने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए राजा द्रुपदसे दशार्णराजका कहा हुआ उपालम्भयुक्त संदेश सुनाया ॥ २२½ ॥

अभवद् भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ॥ २३ ॥
यदाह मां भवान् ब्रह्मन् सम्बन्धिवचनाद् वचः ।
अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब राजा द्रुपद प्रेमसे विनीत हो गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने मेरे सम्बन्धीके कथनानुसार जो बात मुझे सुनायी है, इसका उत्तर मेरा दूत स्वयं जाकर राजाको देगा' ॥ २३-२४ ॥

ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने ।
हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर द्रुपदने भी महामना हिरण्यवर्माके पास वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको दूत बनाकर भेजा ॥ २५ ॥

तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा ।
तद् वाक्यमाददे राजन् यदुक्तं द्रुपदेन ह ॥ २६ ॥

राजन् ! उन्होंने दशार्णनरेशके पास आकर द्रुपदने जो कुछ कहा था, वह सब दुहरा दिया ॥ २६ ॥

आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम ।
मिथ्यैतदुक्तं केनापि तदश्रद्धेयमित्युत ॥ २७ ॥

'राजन् ! आप आकर स्पष्टरूपसे परीक्षा कर लें । मेरा यह कुमार पुत्र है (कन्या नहीं) । आपसे किसीने झूठे ही उसके कन्या होनेकी बात कह दी है; जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है' ॥ २७ ॥

ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा
विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः ।
सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः
शिखण्डिनं स्त्री पुमान् वेति वेत्तुम् ॥२८॥

राजा द्रुपदका यह उत्तर सुनकर हिरण्यवर्माने कुछ विचार किया और अत्यन्त मनोहर रूपवाली कुछ श्रेष्ठ युवतियोंको यह जाननेके लिये भेजा कि शिखण्डी स्त्री है या पुरुष ॥

ताः प्रेषितास्तत्त्वभावं विदित्वा
प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् ।
शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र
दाशार्णराजाय महानुभावम् ॥ २९ ॥

कौरवराज ! उन भेजी हुई युवतियोंने वास्तविक बात जानकर राजा हिरण्यवर्माको बड़ी प्रसन्नताके साथ सब कुछ बता दिया । उन्होंने दशार्णराजको यह विश्वास दिला दिया कि शिखण्डी महान् प्रभावशाली पुरुष है ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ ।
सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ॥ ३० ॥

इस प्रकार परीक्षा करके राजा हिरण्यवर्मा बड़े प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने सम्बन्धीसे मिलकर बड़े हर्ष और उल्लास-के साथ वहाँ निवास किया ॥ ३० ॥

शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद् वित्तं जनेश्वरः ।
हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ॥ ३१ ॥

राजाने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जामाता शिखण्डीको भी बहुत धन, हाथी, घोड़े, गाय, बैल और दासियाँ दीं ॥

पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल ।
विनीतकिल्बिषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ।
प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी ॥ ३२ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने झूठी खबर भेजनेके कारण अपनी पुत्रीको भी झिड़कियाँ दीं । फिर वे राजा द्रुपदसे सम्मानित होकर लौट गये । मनोमालिन्य दूर करके दशार्ण-राज हिरण्यवर्माके प्रसन्नतापूर्वक लौट जानेपर शिखण्डिनीको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३२ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः ।
लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्यागान्निवेशनम् ॥ ३३ ॥

उधर कुछ कालके पश्चात् नरवाहन कुबेर लोकमें भ्रमण करते हुए स्थूणाकर्णके घरपर आये ॥ ३३ ॥

स तद्गृहस्योपरि वर्तमान
आलोकयामास धनाधिगोप्ता ।
स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म
स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ॥ ३४ ॥
लाज्यैश्च गन्धैश्च तथा वितानै-
रभ्यर्चितं धूपनधूपितं च ।
ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च
भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ॥ ३५ ॥

उसके घरके ऊपर आकाशमें स्थित हो धनाध्यक्ष कुबेर-ने उसका अच्छी तरह अवलोकन किया । स्थूणाकर्ण यक्षका वह भवन विचित्र हारोंसे सजाया गया था । खशकी और अन्य पदार्थोंकी सुगन्धसे भी अर्चित तथा चँदोवोंसे सुशोभित था । उसमें सब ओर धूपकी सुगन्ध फैली हुई थी । अनेकानेक ध्वज और पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । वहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि सभी वस्तुएँ, जिनका दन्त और जिह्वा-द्वारा उदराग्निमें हवन किया जाता है, प्रस्तुत थीं । तत्पश्चात् कुबेरने उस भवनमें प्रवेश किया ॥ ३४-३५ ॥

तत् स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम् ।
मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ॥ ३६ ॥
नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम् ।

अथाब्रवीद् यक्षपतिस्तान् यक्षाननुगांस्तदा ॥ ३७ ॥
स्वलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्यामितविक्रमाः ।
नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ॥ ३८ ॥

कुबेरने उसके निवासस्थानको सब ओरसे सुसज्जित, मणि, रत्न तथा सुवर्णकी मालाओंसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी सुगन्धसे व्याप्त तथा झाड़-बुहार और धो-पोंछ देनेके कारण शोभासम्पन्न देखकर यक्षराजने स्थूणाकर्णके सेवकोंसे पूछा—'अमित पराक्रमी यक्षो ! स्थूणाकर्णका यह भवन तो सब प्रकारसे सजाया हुआ दिखायी देता है (इससे सिद्ध है कि वह घरमें ही है), तथापि वह मूर्ख मेरे पास आता क्यों नहीं है ? ॥ ३६—३८ ॥

यस्माज्जानन् स मन्दात्मा मामसौ नोपसर्पति ।
तस्मात् तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ॥३९॥

'वह मन्दबुद्धि यक्ष मुझे आया हुआ जानकर भी मेरे निकट नहीं आ रहा है; इसलिये उसे महान् दण्ड देना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है' ॥ ३९ ॥

यक्षा ऊचुः

द्रुपदस्य सुता राजन् राज्ञो जाता शिखण्डिनी ।
तस्या निमित्ते कस्मिंश्चित् प्रादात् पुरुषलक्षणम् ॥ ४० ॥
अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे ।
नोपसर्पति तेनासौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ॥ ४१ ॥

यक्षोंने कहा—राजन्! राजा द्रुपदके यहाँ एक शिखण्डिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई है । उसीको किसी विशेष कारणवश इन्होंने अपना पुरुषत्व दे दिया है और उसका स्त्रीत्व स्वयं ग्रहण कर लिया है । तबसे वे स्त्रीरूप होकर घरमें ही रहते हैं । स्त्रीरूपमें होनेके कारण ही वे लज्जावश आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ ४०-४१ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् स्थूणो न त्वाद्य सर्पति ।
श्रुत्वा कुरु यथान्यायं विमानमिह तिष्ठताम् ॥ ४२ ॥

महाराज ! इसी कारणसे स्थूणाकर्ण आज आपके सामने नहीं उपस्थित हो रहे हैं । यह सुनकर आप जैसा उचित समझें, करें । आज आपका विमान यहीं रहना चाहिये ।४२।

आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत् ।
कर्तास्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

तब यक्षराजने कहा—'स्थूणाकर्णको यहाँ बुला ले आओ । मैं उसे दण्ड दूँगा ।' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥४३ ॥

सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते ।
स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इस प्रकार बुलानेपर वह यक्ष कुबेरकी सेवामें गया । महाराज ! वह स्त्रीस्वरूप धारण करनेके कारण लजामें डूबा हुआ उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ४४ ॥

तं शशापाथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन ।
एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! उसे इस रूपमें देखकर कुबेर अत्यन्त कुपित हो उठे और शाप देते हुए बोले—'गुह्यको ! इस पापी स्थूणाकर्णका यह स्त्रीत्व अब ऐसा ही बना रहे' ॥ ४५ ॥

ततोऽब्रवीद् यक्षपतिर्महात्मा
यस्माददास्त्ववमन्येह यक्षान् ।
शिखण्डिने लक्षणं पापबुद्धे
स्त्रीलक्षणं चाग्रहीः पापकर्मन् ॥ ४६ ॥
अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत् त्वया कृतम् ।
तस्मादद्य प्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ॥ ४७ ॥

तदनन्तर महात्मा यक्षराजने उस यक्षसे कहा—'पापबुद्धि और पापाचारी यक्ष ! तूने यक्षोंका तिरस्कार करके यहाँ शिखण्डीको अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व ग्रहण कर लिया है । दुर्बुद्धे ! तूने जो यह अव्यावहारिक कार्य कर डाला है, इसके कारण आजसे तू स्त्री ही बना रहे और शिखण्डी पुरुषरूपमें ही रह जाय' ॥ ४६-४७ ॥

ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल ।
स्थूणस्यार्थे कुरुष्वान्तं शापस्येति पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

तब यक्षोंने अनुनय-विनय करके स्थूणाकर्णके लिये कुबेरको प्रसन्न किया और बारंबार आग्रहपूर्वक कहा—'भगवन् ! इस शापका अन्त कर दीजिये' ॥ ४८ ॥

ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचानुगामिनः ।
सर्वान् यक्षगणांस्तात शापस्यान्तचिकीर्षया ॥ ४९ ॥

तात ! तब महात्मा यक्षराजने स्थूणाकर्णका अनुगमन करनेवाले उन समस्त यक्षोंसे उस शापका अन्त कर देनेकी इच्छासे इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥

शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते ।
स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा भगवान् देवो यक्षराजः सुपूजितः ।
प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ॥ ५१ ॥

'यक्षो ! शिखण्डीके मारे जानेपर यह स्थूणाकर्ण यक्ष अपना पूर्वरूप फिर प्राप्त कर लेगा । अतः अब इसे निर्भय हो जाना चाहिये ।' ऐसा कहकर महामना भगवान् यक्षराज कुबेर उन यक्षोंद्वारा अत्यन्त पूजित हो निमेषमात्रमें ही अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेवाले अपने समस्त सेवकोंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ५०-५१ ॥

स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत् तदा ।
समये चागमत् तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ॥ ५२ ॥

उस समय कुबेरका शाप पाकर स्थूणाकर्ण वहीं रहने लगा । शिखण्डी पूर्वनिश्चित समयपर उस निशाचर स्थूणाकर्णके पास तुरंत आ गया ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्याब्रवीद् वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति ।
तमब्रवीत् ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

उसके निकट जाकर शिखण्डीने कहा—'भगवन् ! मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ ।' तब स्थूणाकर्णने उससे बारंबार कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५३ ॥

आर्जवेनागतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम् ।

सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ॥ ५४ ॥

राजकुमार शिखण्डीको सरलतापूर्वक आया हुआ देख उससे यक्षने अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।५४।

यक्ष उवाच

शप्तो वैश्रवणेनाहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज।
गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान् यथासुखम् ॥ ५५ ॥

यक्षने कहा—राजकुमार ! तुम्हारे लिये ही यक्षराजने मुझे शाप दे दिया है; अतः अब जाओ, इच्छानुसार सारे जगत्‌में सुखपूर्वक विचरो ॥ ५५ ॥

दिष्टमेतत् पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम्।
गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ॥ ५६ ॥

मैं इसे अपना पुरातन प्रारब्ध ही मानता हूँ, जो कि तुम्हारा यहाँसे जाना और उसी समय यक्षराज कुबेरका यहाँ आकर दर्शन देना हुआ। अब इसे टाला नहीं जा सकता।५६।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत।
प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः ॥ ५७ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतनन्दन ! स्थूणाकर्ण यक्षके ऐसा कहनेपर शिखण्डी बड़े हर्षके साथ अपने नगरको लौट आया॥

पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः।
द्विजातीन् देवताश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ॥ ५८ ॥
द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना।
मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ॥ ५९ ॥

पूर्ण मनोरथ होकर लौटे हुए अपने पुत्र शिखण्डीके साथ पाञ्चालराज द्रुपदने गन्ध-माल्य आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों, चैत्य (पीपल आदि धार्मिक) वृक्षों तथा चौराहोंका पूजन किया तथा बन्धु-बान्धवों-सहित उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ५८-५९ ॥

शिष्यार्थं प्रददौ चाथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव।
शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ॥ ६० ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! द्रुपदने अपने पुत्र शिखण्डीको जो पहले कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ था, द्रोणाचार्यकी सेवामें धनुर्वेदकी शिक्षाके लिये सौंप दिया ॥ ६० ॥

प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः।
शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्नने तुम सब भाइयोंके साथ ही ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार—इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ ६१ ॥

मम त्वेतच्चरास्तात यथावत् प्रत्यवेदयन्।
जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ॥ ६२ ॥

मैंने द्रुपदके नगरमें कुछ गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे, जो गूँगे, अंधे और बहरे बनकर वहाँ रहते थे। वे ही यह सब समाचार मुझे ठीक-ठीक बताया करते थे ॥ ६२ ॥

एवमेष महाराज स्त्रीपुमान् द्रुपदात्मजः।
स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ॥ ६३ ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह रथियोंमें उत्तम द्रुपदकुमार शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ था ॥ ६३ ॥

ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता।
द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! काशिराजकी ज्येष्ठ कन्या, जो अम्बा नामसे विख्यात थी, वही द्रुपदके कुलमें शिखण्डीके रूपमें उत्पन्न हुई है ॥ ६४ ॥

नाहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम्।
मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाप्युत ॥ ६५ ॥

जब यह हाथमें धनुष लेकर युद्ध करनेकी इच्छासे मेरे सामने उपस्थित होगा, उस समय मुहूर्तभर भी न तो इसकी ओर देखूँगा और न इसपर प्रहार ही करूँगा ॥ ६५ ॥

व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम्।
स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ॥ ६६ ॥
न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन।

कौरवनन्दन ! इस भूमण्डलमें भी मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर पुरुष हुआ हो, जिसका नाम स्त्रीके समान हो तथा जिसका रूप एवं वेष-भूषा स्त्रियोंके समान हो, इन सबपर मैं बाण नहीं छोड़ सकता।६६½।

न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ॥ ६७ ॥
एतत् तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः।
ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ॥ ६८ ॥

तात ! इसी कारणसे मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता। शिखण्डीके जन्मका वास्तविक वृत्तान्त मैं जानता हूँ। अतः समरभूमिमें वह आततायी होकर आवे तो भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६७-६८ ॥

यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात् सन्तः कुर्युर्विगर्हणम्।
नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वापि समरे स्थितम् ॥ ६९ ॥

यदि भीष्म स्त्रीका वध करे तो साधु पुरुष इसकी निन्दा करेंगे, अतः शिखण्डीको समरभूमिमें खड़ा देखकर भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा।
मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ॥ ७० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सब सुनकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर भीष्मके लिये शिखण्डीका वध न करना उचित ही मान लिया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्तिविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ १९२

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन

संजय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने सारी सेनाके बीचमें पुनः पितामह भीष्मसे पूछा—॥ १ ॥

पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम्।
प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ॥ २ ॥
भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः।
लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ३ ॥
अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम्।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥ ४ ॥

'गङ्गानन्दन ! यह जो पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये उद्यत है। इसमें बहुत-से पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार भरे हुए हैं। यह सेना बड़े-बड़े महारथियों एवं उनके विशाल रथोंसे व्याप्त है। लोकपालोंके समान महापराक्रमी एवं महाधनुर्धर भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर इस सेनाकी रक्षा करते हैं। यह उछलती हुई तरङ्गोंसे युक्त समुद्रकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होती है। इसे आगे बढ़नेसे रोकना असम्भव है तथा बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्धमें इस सैन्य-समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकते ॥ २–४ ॥

केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ॥ ५ ॥
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी गङ्गानन्दन ! आप कितने समयमें इस सारी सेनाका विध्वंस कर सकते हैं ? महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्धकी स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समयमें शत्रुसेनाका संहार कर सकते हैं; क्योंकि मेरी सेनामें आप ही सब लोग दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! मैं यह जानना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे हृदयमें सदा अत्यन्त कौतूहल बना रहता है। आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें' ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! पृथ्वीपते ! तुम जो यहाँ शत्रुओंके बलाबलके विषयमें पूछ रहे हो, यह तुम्हारे योग्य ही है ॥ ८ ॥

शृणु राजन् मम रणे या शक्तिः परमा भवेत्।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥ ९ ॥

राजन् ! महाबाहो ! युद्धमें जो मेरी सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रोंका तथा दोनों भुजाओंका जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ॥ १० ॥

साधारण लोगोंके साथ सरलभावसे ही युद्ध करना चाहिये। जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्धसे ही करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रोंका निश्चय है ॥ १० ॥

हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम्।
दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्रागाह्निकं मम ॥ ११ ॥

महाभाग ! मैं प्रतिदिन पाण्डवोंकी सेनाको पहले अपने दैनिक भागमें विभक्त करके उसका वध करूँगा ॥ ११ ॥

योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते।
सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ॥ १२ ॥

महाद्युते ! दस-दस हजार योद्धाओंका तथा एक हजार रथियोंका समूह मेरा एक भाग मानना चाहिये ॥ १२ ॥

अनेनाहं विधानेन संनद्धः सततोत्थितः।
क्षपयेयं महत् सैन्यं कालेनानेन भारत ॥ १३ ॥

भारत ! इस विधानसे मैं सदा उद्यत और संनद्ध होकर उस विशाल सेनाको इतने ही समयमें नष्ट कर सकता हूँ ॥

मुञ्चेयं यदि वास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥ १४ ॥

भारत ! यदि मैं युद्धमें स्थित होकर लाखों वीरोंका संहार करनेवाले अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करने लगूँ तो एक मासमें पाण्डवोंकी सारी सेनाको नष्ट कर सकता हूँ।१४।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥ १५ ॥
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान्।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ १६ ॥

संजय बोले—राजेन्द्र ! भीष्मका यह वचन सुनकर राजा दुर्योधनने आङ्गिरस ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे पूछा—'आचार्य ! आप कितने समयमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिकोंका संहार कर सकते हैं ?' यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले—॥ १५-१६ ॥

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १७ ॥

'महाबाहो ! अब तो मैं बूढ़ा हो गया, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा कम हो गयी, तो भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी अग्निसे पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर दूँगा ॥ १७ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम ।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ॥ १८ ॥

'जैसे शान्तनुनन्दन भीष्म एक मासमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकते हैं, उसी प्रकार और उतने ही समयमें मैं भी कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है । यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है और यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है'॥१८॥

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ॥ १९ ॥

कृपाचार्यने दो महीनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी बात कही; परंतु अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें शत्रुसेनाके संहारकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ १९ ॥

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ॥ २० ॥
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम् ॥ २१ ॥
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे ।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ॥ २२ ॥

बड़े-बड़े अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने पाँच ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की । सूतपुत्रका यह कथन सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े और यह वचन बोले—'राधापुत्र ! जबतक युद्धभूमिमें शंख, बाण और धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुनको तुम एक ही रथसे आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ नहीं होती, तभीतक ऐसा अभिमान प्रकट करते हो, तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी बातें कह सकते हो' ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्म आदिके द्वारा अपनी शक्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे ।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनामें जो बातचीत हुई थी, उसका समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकान्तमें बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम ।
ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ॥ २ ॥
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम् ।
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—धृतराष्ट्रकी सेनामें जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रिमें दुर्योधनने महान् व्रतधारी गङ्गानन्दन भीष्मसे यह प्रश्न किया था कि प्रभो ! आप पाण्डवोंकी सेनाका कितने समयमें संहार कर सकते हैं ॥ २-३ ॥

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः ।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ॥ ४ ॥
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह उत्तर दिया कि मैं एक महीनेमे पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकता हूँ । द्रोणाचार्यने भी उतने ही समयमें वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की । कृपाचार्यने दो महीनेका समय बताया । यह बात हमारे सुननेमें आयी है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी प्रतिज्ञा की है ॥ ४-५ ॥

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि ।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ॥ ६ ॥

दिव्यास्त्रवेत्ता कर्णसे जब कौरव-सभामें पूछा गया, तब उसने पाँच ही दिनोंमें हमारी सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः ।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन ॥ ७ ॥

अतः अर्जुन ! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ । फाल्गुन ! तुम कितने समयमें शत्रुओंको नष्ट कर सकते हो ?॥

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनंजयः ।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर निद्राविजयी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥८॥

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः ।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ॥ ९ ॥

'महाराज ! निःसंदेह ये सभी महामना योद्धा अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले हैं । अतः उतने दिनोंमें शत्रुसेनाको मार सकते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥ १० ॥

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥ ११ ॥

'परंतु इससे आपके मनमें संताप नहीं होना चाहिये । आपका मनस्ताप तो दूर ही हो जाना चाहिये । मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिये । मैं भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त हुआ एकमात्र रथको लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ । ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १०-११ ॥

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम ।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥ १२ ॥

'भगवान् पशुपतिने किरातवेषमें द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास मौजूद है ॥

यद् युगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन् ।
प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह ! प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करते समय भगवान् पशुपति जिस अस्त्रका प्रयोग करते हैं, वही यह मेरे पास विद्यमान है ॥ १३ ॥

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः ।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥ १४ ॥

'राजन् ! इसे न तो गङ्गानन्दन भीष्म जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको ही इसका पता है; फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है ? ॥ १४ ॥

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् ।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥ १५ ॥

'परंतु युद्धमें साधारण जनोंको दिव्यास्त्रोंद्वारा मारना कदापि उचित नहीं है; अतः हमलोग सरलतापूर्ण युद्धके द्वारा ही शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तत्र पार्थिव ।
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १६ ॥

'राजन् ! ये सभी पुरुषसिंह जो हमारे सहायक हैं, दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं और सभी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

वेदान्तावभृथस्नाताः सर्वे एतेऽपराजिताः ।
निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ॥ १७ ॥

'इन सबने वेदाध्ययन समाप्त करके यज्ञान्त स्नान किया है । ये सभी कभी परास्त न होनेवाले वीर हैं । पाण्डुनन्दन ! ये लोग समरभूमिमें देवताओंकी सेनाको भी नष्ट कर सकते हैं ॥

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १८ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि ।

'शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यकी समानता करनेवाले हैं ॥ १८½ ॥

शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ॥ १९ ॥
पुत्रोऽस्याञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः ।
शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ॥ २० ॥

'महाबाहु शङ्ख, महाबली घटोत्कच, महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न घटोत्कच-पुत्र अञ्जनपर्वा तथा संग्राम-कुशल महाबाहु सात्यकि—ये सभी आपके सहायक हैं॥१९-२०॥

अभिमन्युश्च बलवान् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥२१॥

'बलवान् अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तो आपके साथ हैं ही । आप स्वयं भी तीनों लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

क्रोधाद् यं पुरुषं पश्येस्त्वथा शक्रसमद्युते ।
स क्षिप्रं न भवेद् व्यक्तमिति त्वां वेद्मि कौरव ॥ २२ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुनन्दन ! आप क्रोधपूर्वक जिस पुरुषको देख लें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा । आपके इस प्रभावको मैं जानता हूँ' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९४॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाका रणके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः ।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे प्रेरित हो सब राजा पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये चले ॥ १ ॥

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः ।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ॥ २ ॥

चलनेके पहले उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण किये, पुष्पोंकी मालाएँ पहनीं, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया, अग्निमें आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २॥

सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे वर्मभृतश्चैव सर्वे चाहवलक्षणाः ॥ ३ ॥

वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तम विधिसे व्रतका पालन करनेवाले थे । सभी कवचधारी तथा युद्धके चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ ३ ॥

आहवेषु पराँल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः ।
एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम् ॥ ४ ॥

वे महाबली वीर युद्धमें पराक्रम दिखाकर उत्तम लोकों-पर विजय पाना चाहते थे । उन सबका चित्त एकाग्र था और वे सभी एक दूसरेपर विश्वास करते थे ॥ ४ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह ।
प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ॥ ५ ॥

अवन्तीदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीक-देशीय सैनिकोंके साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्यको आगे करके चले ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।
दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पर्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ ६ ॥
गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः ।
शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥ ७ ॥
स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् ।
एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥ ८ ॥

अश्वत्थामा, भीष्म, सिन्धुराज जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्त्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तर दिशाके नरेश, शक, किरात, यवन, शिबि और वसाति भूपालगण—ये सभी महारथीलोग अपनी-अपनी सेनाओंके साथ महारथी (भीष्म) को सब ओरसे घेरकर दूसरे सैन्य-दलके रूपमें सुसज्जित होकर निकले ॥ ६—८ ॥

कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ९ ॥
शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः ।
एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ॥ १० ॥

सेनासहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयोंसे घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसल-राज बृहद्रथ—ये दुर्योधनको आगे करके उसके पीछे-पीछे (तृतीय सैन्यदलमें) चले ॥ ९-१० ॥

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके वे महाबली पुत्र रणक्षेत्रमें जाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो कुरुक्षेत्रके पश्चिम भागमें यथोचितरूपसे खड़े हुए ॥

दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत ।
यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ॥ १२ ॥
न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा ।
कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ॥ १३ ॥

भारत ! दुर्योधनने पहलेसे ही ऐसा निवासस्थान बनवा रक्खा था, जो दूसरे हस्तिनापुरकी भाँति सजा हुआ था । राजेन्द्र ! नगरमें निवास करनेवाले चतुर मनुष्य भी उस शिबिर तथा हस्तिनापुर नामक नगरमें क्या अन्तर है, यह नहीं समझ पाते थे ॥ १२-१३ ॥

तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः ।
कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

अन्य राजाओंके लिये भी कुरुवंशी भूपालने वैसे ही सैकड़ों तथा सहस्रों दुर्ग बनवाये थे ॥ १४ ॥

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ॥ १५ ॥

समराङ्गणके लिये पाँच योजनका घेरा छोड़कर सैनिकोंके ठहरनेके लिये सौ-सौकी संख्यामें कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गयी थीं ॥ १५ ॥

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥ १६ ॥

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न हजारों छावनियोंमें वे भूपाल अपने बल और उत्साहके अनुरूप युद्ध-के लिये उद्यत होकर रहते थे ॥ १६ ॥

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधबन्दिनः ॥ १८ ॥

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन महा-मना नरेशोंको परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता था । हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्प-जीवियों, अन्य अनु-गामियों तथा सूत, मागध और बंदीजनोंको भी राजाकी ओरसे भोजन प्राप्त होता था ॥ १७-१८ ॥

वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः ।
सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवैक्षत ॥ १९ ॥

वहाँ जो वणिक्, गणिकाएँ, गुप्तचर तथा दर्शक मनुष्य आते थे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन विधिपूर्वक देखभाल करता था ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम्।
सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथादिशत् ॥ २ ॥

चेदि, काशि और करूषदेशोंके अधिनायक दृढ़ पराक्रमी शत्रुनाशक सेनापति धृष्टकेतुको भी प्रस्थान करनेका आदेश दिया।

विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम्।
पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ३ ॥

विराट, द्रुपद, सात्यकि, शिखण्डी, महाधनुर्धर पाञ्चाल-वीर युधामन्यु और उत्तमौजाको भी राजाका आदेश प्राप्त हुआ॥

ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः।
आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः॥ ४ ॥
अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव।

वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुए सोनेके कुण्डल धारण किये वेदीपर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४½ ॥

अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ॥ ५ ॥
दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः।
तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम्।
सगजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ॥ ७ ॥

तदनन्तर योग्यतानुसार सम्पूर्ण सेनाका समादर करके नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उन सैनिकोंको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी और सेना तथा सवारियोंसहित उन महामना नरेशोंको उत्तमोत्तम खाने-पीनेकी वस्तुएँ देनेकी आज्ञा दी। उनके साथ जो भी हाथी, घोड़े, मनुष्य और शिल्पजीवी पुरुष थे, उन सबके लिये भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दिया ॥५-७॥

अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः।
धृष्टद्युम्नमुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नको आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबको प्रथम सेनादलके साथ भेजा ॥ ८ ॥

भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनंजयम्।
द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

भीमसेन, सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन अर्जुनको युधिष्ठिरने द्वितीय सैन्यसमूहका नेता बनाकर भेजा ॥ ९ ॥

भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम्।
हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १० ॥

वहाँ हर्षमें भरे हुए कुछ योद्धा सवारियोंपर युद्धकी सामग्री चढ़ाते, कुछ इधर-उधर जाते और कुछ लोग कार्यवश दौड़-धूप करते थे। उन सबका कोलाहल मानो स्वर्गलोकको छूने लगा ॥ १० ॥

स्वयमेव ततः पश्चाद् विराटद्रुपदान्वितः।
अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपदको साथ ले अन्यान्य भूपालोंसहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले ॥ ११ ॥

भीमधन्वायनी सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १२ ॥

भयंकर धनुर्धरोंसे भरी हुई और धृष्टद्युम्नके द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डवसेना कहीं निश्चल और कहीं प्रवाहशील जलसे भरी गङ्गाके समान दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान्।
मोहयन् धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनिश्चयम् ॥ १३ ॥

थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बौद्धिक निश्चयमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये अपनी सेनाका दुबारा संगठन किया ॥ १३ ॥

द्रौपदेयान् महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः।
नकुलं सहदेवं च सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ॥ १४ ॥
दश चाश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम्।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ॥ १५ ॥
भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं प्रादिशद् बलम्।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके महाधनुर्धर पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव, समस्त प्रभद्रक वीर, दस हजार घुड़सवार, दो हजार हाथीसवार, दस हजार पैदल तथा पाँच सौ रथी—इनके प्रथम दुर्धर्ष दलको भीमसेनकी अध्यक्षतामें दे दिया ॥

मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ॥ १६ ॥
महारथौ च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ ॥ १७ ॥
अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनंजयौ।

बीचके दलमें राजाने विराट, जयत्सेन तथा पाञ्चाल-देशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजाको रक्खा। हाथोंमें गदा और धनुष धारण किये ये दोनों वीर (युधामन्यु-उत्तमौजा) बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्यभागमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेनाके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १६-१७½ ॥

बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्रहरणा नराः ॥ १८ ॥
तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः।

पञ्च नागसहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

उस समय जो योद्धा पहले कभी युद्ध कर चुके थे, वे आवेशमें भरे हुए थे। उनमें बीस हजार घोड़े ऐसे थे जिनकी पीठपर शौर्यसम्पन्न वीर बैठे हुए थे। इन घुड़सवारोंके साथ पाँच हजार गजारोही तथा बहुत-से रथी भी थे ॥ १८-१९ ॥

पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदाधराः ।
सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करनेवाले जो पैदल सैनिक थे, वे सहस्रोंकी संख्यामें सेनाके आगे और पीछे चलते थे॥

युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये स्वयमेव बलार्णवे ।
तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ॥ २१ ॥

जिस सैन्य-समुद्रमें स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत-से भूमिपाल उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते थे ॥ २१ ॥

तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! उसमें एक हजार हाथीसवार, दस हजार घुड़सवार, एक हजार रथी और कई सहस्र पैदल सैनिक थे ॥

चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ ।
धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवो ययौ ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अपनी विशाल सेनाके साथ चेकितान तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी उन्हींके साथ जा रहे थे ॥ २३ ॥

सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः ।
वृतः शतसहस्रेण रथानां प्रणुदन् बली ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी महान् धनुर्धर बलवान् सात्यकि एक लाख रथियोंसे घिरकर गर्जना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ २४ ॥

क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ॥ २५ ॥

क्षत्रदेव और ब्रह्मदेव ये दोनों पुरुषरत्न रथपर बैठकर सेनाके पिछले भागकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं च सर्वशः ।
तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
फल्गु सर्वं कलत्रं च यत्किञ्चित् कृशदुर्बलम् ॥ २६ ॥
कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च ।
गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से छकड़े, दूकानें, वेशभूषाके सामान, सवारियाँ, सामान ढोनेकी गाड़ी, एक सहस्र हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ, स्त्रियाँ, कृश और दुर्बल मनुष्य, कोश-संग्रह और उनके ढोनेवाले लोग तथा कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके राजा युधिष्ठिर धीरे-धीरे गजसेनाके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ २६-२७ ॥

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ॥ २८ ॥
रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ।
हयानां दश कोट्यश्च महतां किंकिणीकिनाम् ॥ २९ ॥
गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः ।
कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ॥ ३० ॥

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र रणदुर्मद सत्यधृति, श्रेणिमान्, वसुदान तथा काशिराजके सामर्थ्यशाली पुत्र जा रहे थे। इन सबका अनुगमन करनेवाले बीस हजार रथी, घुँघुरुओंसे सुशोभित दस करोड़ घोड़े, ईषादण्डके समान दाँतवाले, प्रहार-कुशल, अच्छी जातिमें उत्पन्न, मदस्रावी और मेघोंकी घटाके समान चलनेवाले बीस हजार हाथी थे ॥ २८—३० ॥

षष्टिर्नागसहस्राणि दशान्यानि च भारत ।
युधिष्ठिरस्य यान्यासन् युधि सेना महात्मनः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

भारत ! इनके सिवा, युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरके पास निजी तौरपर सत्तर हजार हाथी और थे, जो जल बरसानेवाले बादलोंकी भाँति अपने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहाते थे। वे सबके सब जङ्गम पर्वतोंकी भाँति राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे थे ॥ ३१-३२ ॥

एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
यदाश्रित्याथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके पास भयंकर एवं विशाल सेना थी, जिसका आश्रय लेकर वे धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे लोहा ले रहे थे ॥ ३३ ॥

ततोऽन्ये शतशः पश्चात् सहस्रायुतशो नराः ।
नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ॥ ३४ ॥

इन सबके अतिरिक्त पीछे-पीछे लाखों पैदल मनुष्य तथा उनकी सहस्रों सेनाएँ गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही थीं ॥

तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च ।
न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ॥ ३५ ॥

उस समय उस रणक्षेत्रमें लाखों मनुष्य हर्ष और उत्साहमें भरकर हजारों भेरियों तथा शङ्खोंकी ध्वनि कर रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि पाण्डवसेनानिर्याणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें पाण्डवसेनानिर्याणविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९६॥

उद्योगपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	५९७८॥	(७८४।-)	१०७८।≡	७०५६॥।≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	६८॥	(५॥)	७॥-	७६-
उद्योगपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				७१३३

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

भीष्मपर्व

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! कौरव, पाण्डव और सोमकवीरों तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य महामना नरेशोंने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे शृणु त्वं पृथिवीपते ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीपते ! वीर कौरव, पाण्डव और सोमकोंने तपोभूमि कुरुक्षेत्रमें जिस प्रकार युद्ध किया था, उसे बताता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ॥ ३ ॥

सोमकोंसहित पाण्डव तथा कौरव दोनों महाबली थे। वे एक दूसरेको जीतनेकी आशासे कुरुक्षेत्रमें उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे ॥ ३ ॥

वेदाध्ययनसम्पन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
आशंसन्तो जयं युद्धे बलेनाभिमुखा रणे ॥ ४ ॥

वे सबके सब वेदाध्ययनसे सम्पन्न और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और संग्राममें विजयकी आशा रखकर रणभूमिमें बलपूर्वक एक दूसरेके सम्मुख खड़े थे ॥ ४ ॥

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः ॥ ५ ॥

पाण्डवोंके योद्धालोग अपने-अपने सैनिकोंके सहित धृतराष्ट्र-पुत्रकी दुर्धर्ष सेनाके सम्मुख जाकर पश्चिमभागमें पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे ॥ ५ ॥

समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिबिराणि सहस्रशः ।
कारयामास विधिवत् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर यथायोग्य सहस्रों शिविर बनवाये थे ॥ ६ ॥

शून्या च पृथिवी सर्वा बालवृद्धावशेषिता ।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ ७ ॥

समस्त पृथ्वीके सभी प्रदेश नवयुवकोंसे सूने हो रहे थे। उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो रही थी॥

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम् ।
तावदेव समायातं बलं पार्थिवसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सूर्यदेव जम्बूद्वीपके जितने भूमण्डलको अपनी किरणोंसे तपाते हैं, उतनी दूरकी सेनाएँ वहाँ युद्धके लिये आ गयी थीं ॥ ८ ॥

एकस्थाः सर्ववर्णास्ते मण्डलं बहुयोजनम् ।
पर्याक्रामन्त देशांश्च नदीः शैलान् वनानि च ॥ ९ ॥

वहाँ सभी वर्णके लोग एक ही स्थानपर एकत्र थे। युद्धभूमिका घेरा कई योजन लम्बा था। उन सब लोगोंने वहाँके अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनोंको सब ओरसे घेर लिया था ॥ ९ ॥

तेषां युधिष्ठिरो राजा सर्वेषां पुरुषर्षभ ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! राजा युधिष्ठिरने सेना और सवारियोंसहित

उन सबके लिये उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दे दिया था ॥ १० ॥

शय्याश्च विविधास्तात तेषां रात्रौ युधिष्ठिरः।
एवंवेदी वेदितव्यः पाण्डवेयोऽयमित्युत ॥ ११ ॥
अभिज्ञानानि सर्वेषां संज्ञाश्चाभरणानि च।
योजयामास कौरव्यो युद्धकाल उपस्थिते ॥ १२ ॥

तात ! रातके समय युधिष्ठिरने उन सबके सोनेके लिये नाना प्रकारकी शय्याओंका भी प्रबन्ध कर दिया था। युद्धकाल उपस्थित होनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने सभी सैनिकोंके पहचानके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके संकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डव-पक्षका सैनिक है ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके ध्वजका अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधनने समस्त भूपालोंके साथ पाण्डवसेनाके विरुद्ध अपनी सेनाकी व्यूहरचना की ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
मध्ये नागसहस्रस्य भ्रातृभिः परिवारितः ॥ १४ ॥

उसके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियोंके बीचमें अपने भाइयोंसे घिरा हुआ शोभा पाता था ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पञ्चाला युद्धनन्दिनः।
दध्मुः प्रीता महाशङ्खान् भेर्यश्च मधुरस्वनाः ॥ १५ ॥

दुर्योधनको देखकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पाञ्चाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शङ्खों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियोंको बजाने लगे ॥

ततः प्रहृष्टां तां सेनामभिवीक्ष्याथ पाण्डवाः।
बभूवुर्हृष्टमनसो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको हर्ष और उल्लासमें भरी हुई देख समस्त पाण्डवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी संतुष्ट हुए ॥ १६ ॥

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनंजयौ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शङ्खौ रथे स्थितौ ॥ १७ ॥

उस समय एक ही रथपर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखोंको बजाने लगे ॥ १७ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ॥ १८ ॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त दोनों शङ्खोंकी ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षके बहुत-से सैनिक भयके मारे मल-मूत्र करने लगे ॥

यथा सिंहस्य नदतः स्वनं श्रुत्वेतरे मृगाः।
त्रसेयुर्निनदं श्रुत्वा तथासीदत तद्बलम् ॥ १९ ॥

जैसे गर्जते हुए सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंका शङ्खनाद सुनकर कौरवसेनाका उत्साह शिथिल पड़ गया—वह खिन्न-सी हो गयी ॥ १९ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन।
अस्तङ्गत इवादित्ये सैन्येन सहसाऽऽवृते ॥ २० ॥

धरतीसे धूल उड़कर आकाशमें छा गयी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सेनाकी गर्दसे सहसा आच्छादित हो जानेके कारण सूर्य अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥२०॥

ववर्ष तत्र पर्जन्यो मांसशोणितवृष्टिमान्।
दिक्षु सर्वाणि सैन्यानि तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओंमें समस्त सैनिकोंपर मांस और रक्तकी वर्षा करने लगे। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २१ ॥

वायुस्ततः प्रादुरभून्नीचैः शर्करकर्षणः।
विनिघ्नंस्तान्यनीकानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वहाँ नीचेसे बालू तथा कंकड़ खींचकर सब ओर बिखेरनेवाली बवंडरकी-सी वायु उठी, जिसने सैकड़ों-हजारों सैनिकोंको घायल कर दिया ॥ २२ ॥

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम्।
कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरी हुई दोनों पक्षकी सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरोंके समान एक दूसरेके सम्मुख खड़ी थीं ॥ २३ ॥

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु संगमः।
युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ॥ २४ ॥

दोनों सेनाओंका वह अद्भुत समागम प्रलयकाल आनेपर परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रोंके समान जान पड़ता था ।२४।

शून्याऽऽसीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ २५ ॥
तेन सेनासमूहेन समानीतेन कौरवैः।

कौरवोंद्वारा संग्रह करके वहाँ लाये हुए उस सैन्यसमूहद्वारा सारी पृथ्वी नवयुवकोंसे सूनी-सी हो रही थी। सर्वत्र केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो गयी थी ॥

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ॥ २६ ॥
धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सोमकोंने परस्पर मिलकर युद्धके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये। युद्धधर्मकी मर्यादा स्थापित की ॥ २६½ ॥

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम् ॥ २७ ॥
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः।

वे नियम इस प्रकार हैं—चालू युद्धके बंद होनेपर संध्या-कालमें हम सब लोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसीका किसीके साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य बर्ताव नहीं होना चाहिये ॥ २७½ ॥

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥ २८ ॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥ २९ ॥

जो वाग्युद्धमें प्रवृत्त हों उनके साथ वाणीद्वारा ही युद्ध किया जाय। जो सेनासे बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाय। भारत! रथीको रथीसे ही युद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार हाथीसवारके साथ हाथीसवार, घुड़सवारके साथ घुड़सवार तथा पैदलके साथ पैदल ही युद्ध करे ॥ २८-२९ ॥

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥ ३० ॥

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसके अनुसार ही विपक्षीको बताकर उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाय। जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्धसे घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥ ३१ ॥

जो एकके साथ युद्धमें लगा हो, शरणमें आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो और जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों; ऐसे मनुष्यको कदापि न मारा जाय ॥ ३१ ॥

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्तव्यं कथंचन ॥ ३२ ॥

घोड़ोंकी सेवाके लिये नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शङ्ख बजानेवालोंपर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे ॥ ३२ ॥

एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार नियम बनाकर कौरव, पाण्डव तथा सोमक एक दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े आश्चर्यचकित हुए ॥ ३३ ॥

निविश्य च महात्मानस्ततस्ते पुरुषर्षभाः।
हृष्टरूपाः सुमनसो बभूवुः सहसैनिकाः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे महामना पुरुषरत्न अपने-अपने स्थानपर स्थित हो सैनिकोंसहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एवं उत्साहसे भर गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सैन्यशिक्षणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सैन्यशिक्षणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पूर्वापरे सैन्ये समीक्ष्य भगवानृषिः।
सर्ववेदविदां श्रेष्ठो व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥
भविष्यति रणे घोरे भरतानां पितामहः।
प्रत्यक्षदर्शी भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ॥ २ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं स रहस्यब्रवीदिदम्।
शोचन्तमार्तं ध्यायन्तं पुत्राणामनयं तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पूर्व और पश्चिम दिशामें आमने-सामने खड़ी हुई दोनों ओर-की सेनाओंको देखकर भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान रखनेवाले, सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके पितामह सत्यवतीनन्दन महर्षि भगवान् व्यास, जो होनेवाले भयंकर संग्रामके भावी परिणामको प्रत्यक्ष देख रहे थे, विचित्रवीर्य-नन्दन राजा धृतराष्ट्रके पास आये। वे उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करते हुए शोकमग्न एवं आर्त हो रहे थे। व्यासजीने उनसे एकान्तमें कहा ॥ १-३ ॥

व्यास उवाच

राजन् परीतकालास्ते पुत्राश्चान्ये च पार्थिवाः।
ते हिंसन्तीव संग्रामे समासाद्येतरेतरम् ॥ ४ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! तुम्हारे पुत्रों तथा अन्य राजाओंका मृत्युकाल आ पहुँचा है। वे संग्राममें एक दूसरेसे भिड़कर मरने-मारनेको तैयार खड़े हैं ॥ ४ ॥

तेषु कालपरीतेषु विनश्यत्स्वेव भारत।
कालपर्यायमाज्ञाय मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ५ ॥

भारत! वे कालके अधीन होकर जब नष्ट होने लगें, तब इसे कालका चक्कर समझकर मनमें शोक न करना ॥ ५ ॥

यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ॥ ६ ॥

राजन्! यदि संग्रामभूमिमें इन सबकी अवस्था तुम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ। वत्स! फिर तुम (यहाँ बैठे-बैठे ही) वहाँ होनेवाले युद्धका सारा दृश्य अपनी आँखों देखो ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम।
युद्धमेतत् त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा॥ ७॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बीजनोंका वध देखना अच्छा नहीं लगता; परंतु आपके प्रभावसे इस युद्धका सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा आप अवश्य कीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीने देखा, धृतराष्ट्र युद्धका दृश्य देखना तो नहीं चाहता, परंतु उसका पूरा समाचार सुनना चाहता है। तब वर देनेमें समर्थ उन महर्षिने संजयको वर देते हुए कहा—॥ ८॥

एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति।
एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥ ९॥

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो॥ ९॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥ १०॥

'राजन्! संजय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा॥ १०॥

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः॥ ११॥

'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिनमें हो या रातमें अथवा वह मनमें ही क्यों न सोची गयी हो, संजय सब कुछ जान लेगा॥ ११॥

नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते॥ १२॥

'इसे कोई हथियार नहीं काट सकता। इसे परिश्रम या थकावटकी बाधा भी नहीं होगी। गवल्गणका पुत्र यह संजय इस युद्धसे जीवित बच जायगा॥ १२॥

अहं तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां प्रथयिष्यामि मा शुचः॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! मैं इन समस्त कौरवों और पाण्डवोंकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करूँगा। तुम शोक न करो॥ १३॥

दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि।
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ १४॥

'नरश्रेष्ठ! यह दैवका विधान है। इसे कोई मेट नहीं सकता। अतः इसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होगी'॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कुरूणां प्रपितामहः।
पुनरेव महाभागो धृतराष्ट्रमुवाच ह॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुरुकुलके पितामह महाभाग भगवान् व्यास पुनः धृतराष्ट्रसे बोले—॥

इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः।
तथेह च निमित्तानि भयदान्युपलक्षये॥ १६॥

'महाराज! इस युद्धमें महान् नर-संहार होगा; क्योंकि मुझे इस समय ऐसे ही भयदायक अपशकुन दिखायी देते हैं॥

श्येना गृध्राश्च काकाश्च कङ्काश्च सहिता बकैः।
सम्पतन्ति नगाग्रेषु समवायांश्च कुर्वते॥ १७॥

'बाज, गीध, कौवे, कङ्क और बगुले वृक्षोंके अग्रभागपर आकर बैठते तथा अपना समूह एकत्र करते हैं॥ १७॥

अभ्यग्रं च प्रपश्यन्ति युद्धमानन्दिनो द्विजाः।
क्रव्यादा भक्षयिष्यन्ति मांसानि गजवाजिनाम्॥ १८॥
निर्दयं चाभिवाशन्तो भैरवा भयवेदिनः।
कङ्काः प्रयान्ति मध्येन दक्षिणामभितो दिशम्॥ १९॥

'ये पक्षी अत्यन्त आनन्दित होकर युद्धस्थलको बहुत निकटसे आकर देखते हैं। इससे सूचित होता है कि मांसभक्षी पशु-पक्षी आदि प्राणी हाथियों और घोड़ोंके मांस खायँगे। भयकी सूचना देनेवाले कङ्क पक्षी कठोर स्वरमें बोलते हुए सेनाके बीचसे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं॥

उभे पूर्वापरे संध्ये नित्यं पश्यामि भारत।
उदयास्तमने सूर्यं कबन्धैः परिवारितम्॥ २०॥

'भारत! मैं प्रातः और सायं दोनों संध्याओंके समय उदय और अस्तकी वेलामें सूर्यदेवको प्रतिदिन कबन्धोंसे घिरा हुआ देखता हूँ॥ २०॥

श्वेतलोहितपर्यन्ताः कृष्णग्रीवाः सविद्युतः।
त्रिवर्णाः परिघाः संधौ भानुमन्तमवारयन्॥ २१॥

'संध्याके समय सूर्यदेवको तिरंगे घेरोंने सब ओरसे घेर रक्खा था। उनमें श्वेत और लाल रंगके घेरे दोनों किनारोंपर थे और मध्यमें काले रंगका घेरा दिखायी देता था। इन घेरोंके साथ बिजलियाँ भी चमक रही थीं॥ २१॥

ज्वलितार्केन्दुनक्षत्रं निर्विशेषदिनक्षपम्।
अहोरात्रं मया दृष्टं तद् भयाय भविष्यति॥ २२॥

'मुझे दिन और रातका समय ऐसा दिखायी दिया है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे जलते-से जान पड़ते थे। दिन और रातमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता था। यह लक्षण भय लानेवाला होगा॥ २२॥

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णनभस्तले॥ २३॥

'कार्तिककी पूर्णिमाको कमलके समान नीलवर्णके आकाश-

संजयको दिव्यदृष्टि
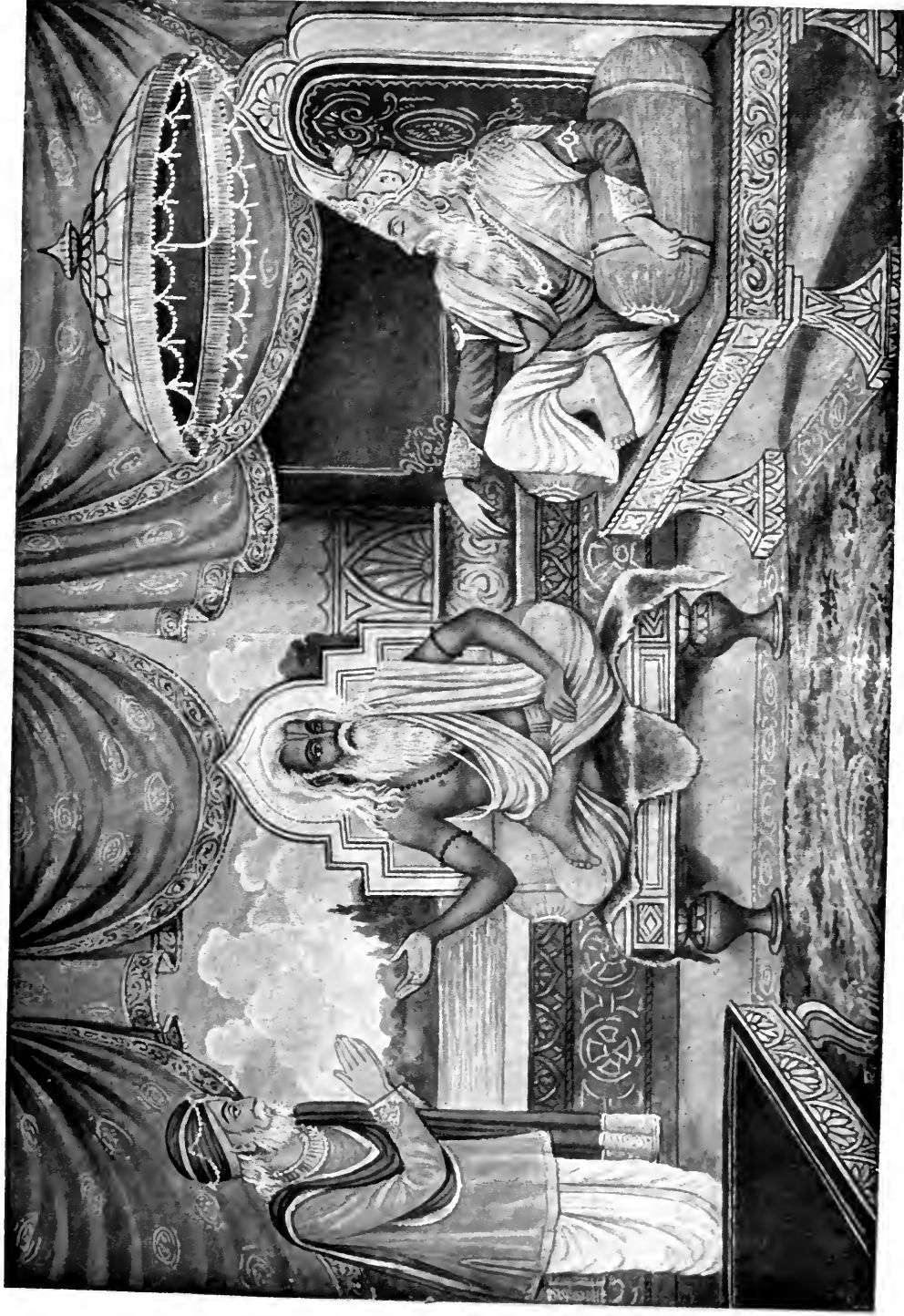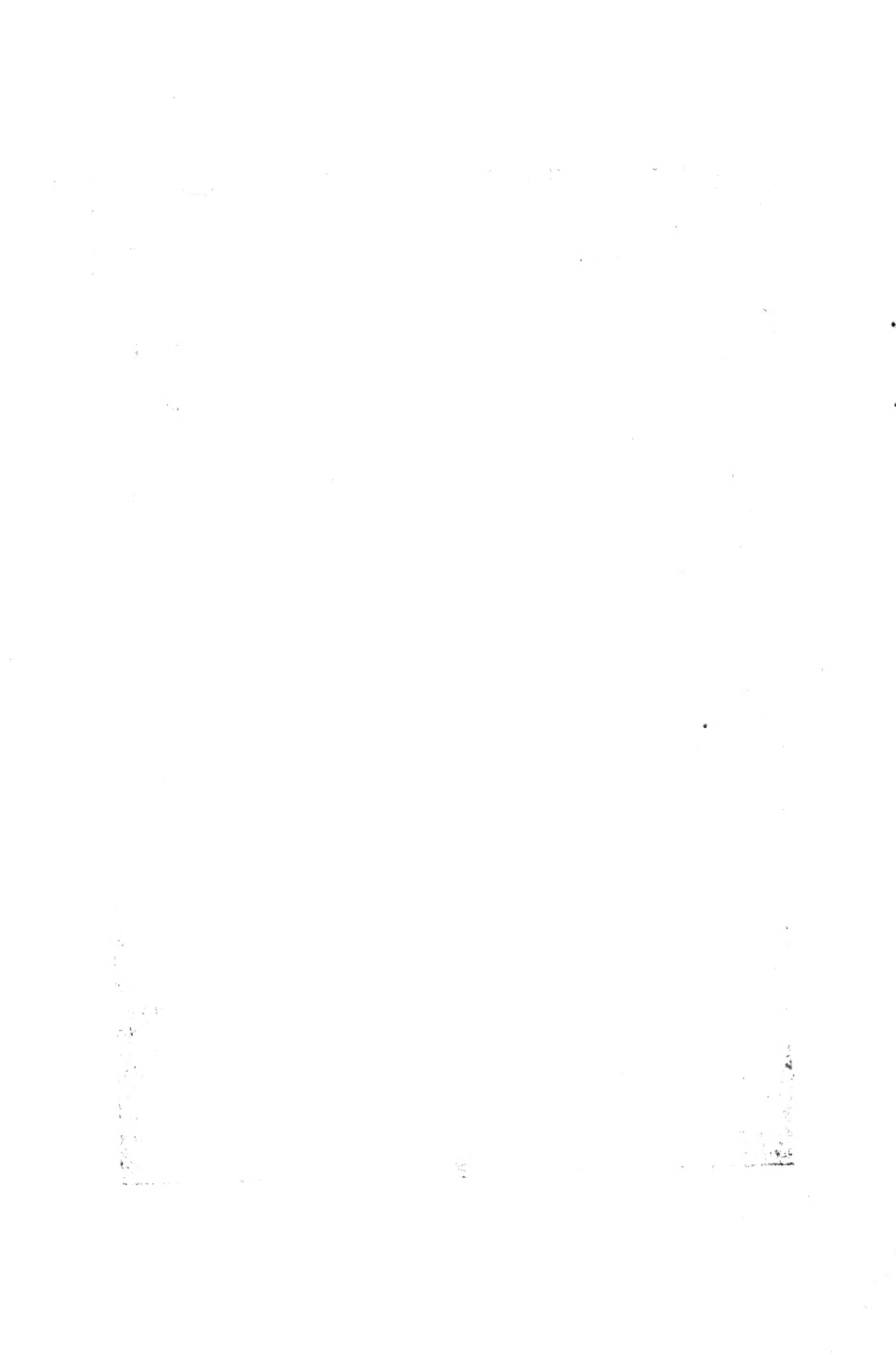
में चन्द्रमा प्रभाहीन होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था तथा उसकी कान्ति भी अग्निके समान प्रतीत होती थी ॥

स्वप्स्यन्ति निहता वीरा भूमिमावृत्य पार्थिवाः।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः ॥ २४ ॥

'इसका फल यह है कि परिघके समान मोटी बाहुओंवाले बहुत-से शूरवीर नरेश तथा राजकुमार मारे जाकर पृथ्वीको आच्छादित करके रणभूमिमें शयन करेंगे ॥ २४ ॥

अन्तरिक्षे वराहस्य वृषदंशस्य चोभयोः।
प्रणादं युद्ध्यतो रात्रौ रौद्रं नित्यं प्रलक्षये ॥ २५ ॥

'सूअर और बिलाव दोनों आकाशमें उछल-उछलकर रातमें लड़ते और भयानक गर्जना करते हैं। यह बात मुझे प्रतिदिन दिखायी देती है ॥ २५ ॥

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्ति च ॥ २६ ॥

'देवताओंकी मूर्तियाँ काँपती, हँसती, मुँहसे खून उगलती, खिन्न होती और गिर पड़ती हैं ॥ २६ ॥

अनाहता दुन्दुभयः प्रणदन्ति विशाम्पते।
अयुक्ताश्च प्रवर्तन्ते क्षत्रियाणां महारथाः ॥ २७ ॥

'राजन्! दुन्दुभियाँ बिना बजाये बज उठती हैं और क्षत्रियोंके बड़े-बड़े रथ बिना जोते ही चल पड़ते हैं ॥ २७ ॥

कोकिलाः शतपत्राश्च चाषा भासाः शुकास्तथा।
सारसाश्च मयूराश्च वाचो मुञ्चन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥

'कोयल, शतपत्र, नीलकण्ठ, भास (चील्ह), शुक, सारस तथा मयूर भयंकर बोली बोलते हैं ॥ २८ ॥

गृहीतशस्त्राः क्रोशन्ति चर्मिणो वाजिपृष्ठगाः।
अरुणोदये प्रदृश्यन्ते शतशः शलभव्रजाः ॥ २९ ॥

'घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए सवार हाथोंमें ढाल-तलवार लिये चीत्कार कर रहे हैं। अरुणोदयके समय टिड्डियोंके सैकड़ों दल सब ओर फैले दिखायी देते हैं ॥ २९ ॥

उभे संध्ये प्रकाशेते दिशां दाहसमन्विते।
पर्जन्यः पांसुवर्षी च मांसवर्षी च भारत ॥ ३० ॥

'दोनों संध्याएँ दिग्दाहसे युक्त दिखायी देती हैं। भारत! बादल धूल और मांसकी वर्षा करता है ॥ ३० ॥

या चैषा विश्रुता राजंस्त्रैलोक्ये साधुसम्मता।
अरुन्धती तयाप्येष वसिष्ठः पृष्ठतः कृतः ॥ ३१ ॥

'राजन्! जो अरुन्धती तीनों लोकोंमें पतिव्रताओंकी मुकुटमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन्होंने वसिष्ठको अपने पीछे कर दिया है ॥ ३१ ॥

रोहिणीं पीडयन्नेष स्थितो राजञ्शनैश्चरः।
व्यावृत्तं लक्ष्म सोमस्य भविष्यति महद् भयम् ॥ ३२ ॥

'महाराज! यह शनैश्चर नामक ग्रह रोहिणीको पीड़ा देता हुआ खड़ा है। चन्द्रमाका चिह्न मिट-सा गया है। इससे सूचित होता है कि भविष्यमें महान् भय प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

अनभ्रे च महाघोरः स्तनितः श्रूयते स्वनः।
वाहनानां च रुदतां निपतन्त्यश्रुबिन्दवः ॥ ३३ ॥

'बिना बादलके ही आकाशमें अत्यन्त भयंकर गर्जना सुनायी देती है। रोते हुए वाहनोंकी आँखोंसे आँसुओंकी बूँदें गिर रही हैं' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि श्रीवेदव्यासदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें श्रीवेदव्यासदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन

व्यास उवाच

खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः।
अनार्तवं पुष्पफलं दर्शयन्ति वनद्रुमाः ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! गायोंके गर्भसे गदहे पैदा होते हैं, पुत्र माताओंके साथ रमण करते हैं। वनके वृक्ष बिना ऋतुके फूल और फल प्रकट करते हैं ॥ १ ॥

गर्भिण्योऽजातपुत्राश्च जनयन्ति विभीषणान्।
क्रव्यादाः पक्षिभिश्चापि सहाश्नन्ति परस्परम् ॥ २ ॥

गर्भवती स्त्रियाँ पुत्रको जन्म न देकर अपने गर्भसे भयंकर जीवोंको पैदा करती हैं। मांसभक्षी पशु भी पक्षियोंके साथ परस्पर मिलकर एक ही जगह आहार ग्रहण करते हैं ॥

त्रिविषाणाश्चतुर्नेत्राः पञ्चपादा द्विमेहनाः।
द्विशीर्षाश्च द्विपुच्छाश्च दंष्ट्रिणः पशवोऽशिवाः ॥ ३ ॥

जायन्ते विवृतास्याश्च व्याहरन्तोऽशिवा गिरः।

तीन सींग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो मूत्रेन्द्रिय, दो मस्तक, दो पूँछ और अनेक दाढ़ोंवाले अमङ्गलमय पशु जन्म लेते तथा मुँह फैलाकर अमङ्गलसूचक वाणी बोलते हैं ॥ ३½ ॥

त्रिपदाः शिखिनस्तार्क्ष्याश्चतुर्दंष्ट्रा विषाणिनः ॥ ४ ॥
तथैवान्याश्च दृश्यन्ते स्त्रियो वै ब्रह्मवादिनाम्।
वैनतेयान् मयूरांश्च जनयन्ति पुरे तव ॥ ५ ॥

गरुड़ पक्षीके मस्तकपर शिखा और सींग हैं। उनके तीन पैर तथा चार दाढ़ें दिखायी देती हैं। इसी प्रकार अन्य जीव भी देखे जाते हैं। वेदवादी ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नगरमें गरुड और मोर पैदा करती हैं ॥ ४-५ ॥

गोवत्सं वडवा सूते श्वा सृगालं महीपते।
कुक्कुरान् करभाश्चैव शुकाश्चाशुभवादिनः ॥ ६ ॥

भूपाल ! घोड़ी गायके बछड़ेको जन्म देती है, कुतियाके पेटसे सियार पैदा होता है, हाथी कुत्तोंको जन्म देते हैं और तोते भी अशुभसूचक बोली बोलने लगे हैं ॥ ६ ॥

स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पञ्च कन्यकाः ।
जातमात्राश्च नृत्यन्ति गायन्ति च हसन्ति च ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ एक ही साथ चार-चार या पाँच-पाँच कन्याएँ पैदा करती हैं। वे कन्याएँ पैदा होते ही नाचती, गाती तथा हँसती हैं ॥ ७ ॥

पृथग्जनस्य सर्वस्य क्षुद्रकाः प्रहसन्ति च ।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद् भयम् ॥ ८ ॥

समस्त नीच जातियोंके घरोंमें उत्पन्न हुए काने, कुबड़े आदि बालक भी महान् भयकी सूचना देते हुए जोर-जोरसे हँसते, गाते और नाचते हैं ॥ ८ ॥

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः ।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः ॥ ९ ॥

ये सब कालसे प्रेरित हो हाथोंमें हथियार लिये मूर्तियाँ लिखते और बनाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे हाथमें डंडा लिये एक दूसरेपर धावा करते हैं ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिमृद्नन्ति नगराणि युयुत्सवः ।
पद्मोत्पलानि वृक्षेषु जायन्ते कुमुदानि च ॥ १० ॥

और कृत्रिम नगर बनाकर परस्पर युद्धकी इच्छा रखते हुए उन नगरोंको रौंदकर मिट्टीमें मिला देते हैं। पद्म, उत्पल और कुमुद आदि जलीय पुष्प वृक्षोंपर पैदा होते हैं ॥ १०॥

विष्वग्वाताश्च वान्त्युग्रा रजो नाप्युपशाम्यति ।
अभीक्ष्णं कम्पते भूमिरर्कं राहुरुपैति च ॥ ११ ॥

चारों ओर भयंकर आँधी चल रही है, धूलका उड़ना शान्त नहीं हो रहा है, धरती बारंबार काँप रही है तथा राहु सूर्यके निकट जा रहा है ॥ ११ ॥

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति ।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ॥ १२ ॥

केतु चित्राका अतिक्रमण करके स्वातीपर स्थित हो रहा है;* उसकी विशेषरूपसे कुरुवंशके विनाशपर ही दृष्टि है ॥

धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति ।
सेनयोरशिवं घोरं करिष्यति महाग्रहः ॥ १३ ॥

अत्यन्त भयंकर धूमकेतु पुष्य नक्षत्रपर आक्रमण करके वहीं स्थित हो रहा है। यह महान् उपग्रह दोनों सेनाओंका घोर अमङ्गल करेगा ॥ १३ ॥

मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः ।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥ १४ ॥

मङ्गल वक्र होकर मघा नक्षत्रपर स्थित है, बृहस्पति श्रवण नक्षत्रपर विराजमान है तथा सूर्यपुत्र शनि पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रपर पहुँचकर उसे पीड़ा दे रहा है ॥ १४ ॥

शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ।
उत्तरे तु परिक्रम्य सहितः समुदीक्षते ॥ १५ ॥

शुक्र पूर्वा भाद्रपदापर आरूढ़ हो प्रकाशित हो रहा है और सब ओर घूम-फिरकर परिघ नामक उपग्रहके साथ उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रपर दृष्टि लगाये हुए है ॥ १५ ॥

श्वेतो ग्रहः प्रज्वलितः सधूम इव पावकः ।
ऐन्द्रं तेजस्वि नक्षत्रं ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

केतु नामक उपग्रह धूमयुक्त अग्निके समान प्रज्वलित हो इन्द्रदेवतासम्बन्धी तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्रपर जाकर स्थित है ॥

ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते ।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषग्रहः ॥ १७ ॥

चित्रा और स्वातीके बीचमें स्थित हुआ क्रूर ग्रह राहु सदा वक्री होकर रोहिणी तथा चन्द्रमा और सूर्यको पीड़ा पहुँचाता है तथा अत्यन्त प्रज्वलित होकर ध्रुवकी बायीं ओर जा रहा है, जो घोर अनिष्टका सूचक है ॥ १७ ॥

वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः ।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

अग्निके समान कान्तिमान् मङ्गल ग्रह (जिसकी स्थिति मघा नक्षत्रमें बतायी गयी है) बारंबार वक्र होकर ब्रह्मराशि (बृहस्पतिसे युक्त नक्षत्र) श्रवणको पूर्णरूपसे आवृत करके स्थित है ॥ १८ ॥

सर्वसस्यपरिच्छन्ना पृथिवी सस्यमालिनी ।
पञ्चशीर्षा यवाश्चापि शतशीर्षाश्च शालयः ॥ १९ ॥

(इसका प्रभाव खेतीपर अनुकूल पड़ा है) पृथ्वी सब प्रकारके अनाजके पौधोंसे आच्छादित है, शस्यकी मालाओंसे अलंकृत है, जौमें पाँच-पाँच और जड़हन धानमें सौ-सौ बालियाँ लग रही हैं ॥ १९ ॥

प्रधानाः सर्वलोकस्य यास्वायत्तमिदं जगत् ।
ता गावः प्रस्नुता वत्सैः शोणितं प्रक्षरन्त्युत ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌में माताके समान प्रधान मानी जाती हैं, यह समस्त संसार जिनके अधीन है, वे गौएँ बछड़ोंसे पिन्हा जानेके बाद अपने थनोंसे खून बहाती हैं ॥ २० ॥

निश्चेरुरर्चिषश्चापात् खड्गाश्च ज्वलिता भृशम् ।
व्यक्तं पश्यन्ति शस्त्राणि संग्रामं समुपस्थितम् ॥ २१ ॥

योद्धाओंके धनुषसे आगकी लपटें निकलने लगी हैं, खड्ग अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे हैं मानो सम्पूर्ण शस्त्र स्पष्ट-

* राहु और केतु सदा एक-दूसरेसे सातवीं राशिपर स्थित होते हैं, किंतु उस समय दोनों एक राशिपर आ गये थे; अतः महान् अनिष्टके सूचक थे। सूर्य तुलापर थे, उनके निकट राहुके आनेका वर्णन पहले आ चुका है; फिर केतुके वहाँ पहुँचनेसे महान् दुर्योग बन गया है।

रूपसे यह देख रहे हैं कि संग्राम उपस्थित हो गया है ।२१।

अग्निवर्णा यथा भासः शस्त्राणामुदकस्य च ।
कवचानां ध्वजानां च भविष्यति महाक्षयः ॥ २२ ॥

शस्त्रोंकी, जलकी, कवचोंकी और ध्वजाओंकी कान्तियाँ अग्निके समान लाल हो गयी हैं; अतः निश्चय ही महान् जन-संहार होगा ॥ २२ ॥

पृथिवी शोणितावर्ता ध्वजोडुपसमाकुला ।
कुरूणां वैशसे राजन् पाण्डवैः सह भारत ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जब पाण्डवोंके साथ कौरवोंका हिंसात्मक संग्राम आरम्भ हो जायगा, उस समय धरतीपर रक्तकी नदियाँ बह चलेंगी, उनमें शोणितमयी भँवरें उठेंगी तथा रथ-की ध्वजाएँ उन नदियोंके ऊपर छोटी-छोटी डोंगियोंके समान सब ओर व्याप्त दिखायी देंगी ॥ २३ ॥

दिक्षु प्रज्वलितास्याश्च व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
अत्याहितं दर्शयन्तो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २४ ॥

चारों दिशाओंमें पशु और पक्षी प्राणान्तकारी अनर्थका दर्शन कराते हुए भयंकर बोली बोल रहे हैं । उनके मुख प्रज्वलित दिखायी देते हैं और वे अपने शब्दोंसे किसी महान् भयकी सूचना दे रहे हैं ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणः शकुनिः खचरो निशि ।
रौद्रं वदति संरब्धः शोणितं छर्दयन्निव ॥ २५ ॥

रातमें एक आँख, एक पाँख और एक पैरका पक्षी आकाशमें विचरता है और कुपित होकर भयंकर बोली बोलता है । उसकी बोली ऐसी जान पड़ती है, मानो कोई रक्त वमन कर रहा हो ॥ २५ ॥

शस्त्राणि चैव राजेन्द्र प्रज्वलन्तीव सम्प्रति ।
सप्तर्षीणामुदाराणां समवच्छाद्यते प्रभा ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! सभी शस्त्र इस समय जलते-से प्रतीत होते हैं। उदार सप्तर्षियोंकी प्रभा फीकी पड़ती जाती है ॥ २६ ॥

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलिताावुभौ ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ॥ २७ ॥

वर्षपर्यन्त एक राशिपर रहनेवाले दो प्रकाशमान ग्रह बृहस्पति और शनैश्चर तिर्यग्वेधके द्वारा विशाखा नक्षत्रके समीप आ गये हैं ॥ २७ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम् ।
अपर्वणि ग्रहं यातौ प्रजासंक्षयमिच्छतः ॥ २८ ॥

(इस पक्षमें तो तिथियोंका क्षय होनेके कारण) एक ही दिन त्रयोदशी तिथिको बिना पर्वके ही राहुने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको ग्रस लिया है । अतः ग्रहणावस्थाको प्राप्त हुए वे दोनों ग्रह प्रजाका संहार चाहते हैं ॥ २८ ॥

अशोभिता दिशः सर्वाः पांसुवर्षैः समन्ततः ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च रात्रौ वर्षन्ति शोणितम् ॥ २९ ॥

चारों ओर धूलकी वर्षा होनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ शोभाहीन हो गयी हैं । उत्पातसूचक भयंकर मेघ रातमें रक्तकी वर्षा करते हैं ॥ २९ ॥

कृत्तिकां पीडयंस्तीक्ष्णैर्नक्षत्रं पृथिवीपते ।
अभीक्ष्णवाता वायन्ते धूमकेतुमवस्थिताः ॥ ३० ॥

राजन् ! अपने तीक्ष्ण (क्रूरतापूर्ण) कर्मोंके द्वारा उपलक्षित होनेवाला राहु (चित्रा और स्वातीके बीचमें रहकर सर्वतोभद्रचक्रगतवेधके अनुसार) कृत्तिका नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है । बारंबार धूमकेतुका आश्रय लेकर प्रचण्ड आँधी उठती रहती है ॥ ३० ॥

विषमं जनयन्त्येत आक्रन्दजननं महत् ।
त्रिषु सर्वेषु नक्षत्रनक्षत्रेषु विशाम्पते ।
गृध्रः सम्पतते शीर्षे जनयन् भयमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

वह महान् युद्ध एवं विषम परिस्थिति पैदा करनेवाली है । राजन् ! (अश्विनी आदि नक्षत्रोंको तीन भागोंमें बाँटनेपर जो नौ-नौ नक्षत्रोंके तीन समुदाय होते हैं, वे क्रमशः अश्वपति, गजपति तथा नरपतिके छत्र कहलाते हैं; ये ही पापग्रहसे आक्रान्त होनेपर क्षत्रियोंका विनाश सूचित करनेके कारण 'नक्षत्र-नक्षत्र' कहे गये हैं) इन तीनों अथवा सम्पूर्ण नक्षत्र-नक्षत्रोंमें शीर्षस्थानपर यदि पापग्रहसे वेध हो तो वह ग्रह महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है; इस समय ऐसा ही कुयोग आया है ॥ ३१ ॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां च षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ॥ ३२ ॥

एक तिथिका क्षय होनेपर चौदहवें दिन, तिथिक्षय न होनेपर पंद्रहवें दिन और एक तिथिकी वृद्धि होनेपर सोलहवें दिन अमावास्याका होना तो पहले देखा गया है; परंतु इस पक्षमें जो तेरहवें दिन यह अमावास्या आ गयी है, ऐसा पहले भी कभी हुआ है, इसका स्मरण मुझे नहीं है । इस एक ही महीनेमें तेरह दिनोंके भीतर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण दोनों लग गये ॥ ३२ ॥

अपर्वणि ग्रहेणैतौ प्रजाः संक्षपयिष्यतः ।
मांसवर्षं पुनस्तीव्रमासीत् कृष्णचतुर्दशीम् ।
शोणितैर्वक्त्रसम्पूर्णा अतृप्तास्तत्र राक्षसाः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अप्रसिद्ध पर्वमें ग्रहण लगनेके कारण ये सूर्य और चन्द्रमा प्रजाका विनाश करनेवाले होंगे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको बड़े जोरसे मांसकी वर्षा हुई थी । उस समय राक्षसोंका मुँह रक्तसे भरा हुआ था । वे खून पीते अघाते नहीं थे ॥ ३३ ॥

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥ ३४ ॥

बड़ी-बड़ी नदियोंके जल रक्तके समान लाल हो गये हैं और उनकी धारा उलटे स्रोतकी ओर बहने लगी है। कुँओंमें फेन ऊपरको उठ रहे हैं, मानो वृषभ उछल रहे हों। ३४।

पतन्त्युल्काः सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः।
अद्य चैव निशां व्युष्टामनयं समवाप्स्यथ ॥ ३५ ॥

बिजलीकी कड़कड़के साथ इन्द्रकी अशनिके समान प्रकाशित होनेवाली उल्काएँ गिर रही हैं। आजकी रात बीतनेपर सबेरेसे ही तुमलोगोंको अपने अन्यायका फल मिलने लगेगा ॥ ३५ ॥

विनिःसृत्य महोल्काभिस्तिमिरं सर्वतोदिशम्।
अन्योन्यमुपतिष्ठद्भिस्तत्र चोक्तं महर्षिभिः ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार व्याप्त होनेके कारण बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर घरसे निकले हुए महर्षियोंने एक दूसरेके पास उपस्थित हो इन उत्पातोंके सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है ॥ ३६ ॥

भूमिपालसहस्राणां भूमिः पास्यति शोणितम्।
कैलासमन्दराभ्यां तु तथा हिमवता विभो ॥ ३७ ॥
सहस्रशो महाशब्दः शिखराणि पतन्ति च।

जान पड़ता है, यह भूमि सहस्रों भूमिपालोंका रक्तपान करेगी। प्रभो ! कैलास, मन्दराचल तथा हिमालयसे सहस्रों प्रकारके अत्यन्त भयानक शब्द प्रकट होते हैं और उनके शिखर भी टूट-टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३७½ ॥

महाभूता भूमिकम्पे चत्वारः सागराः पृथक्।
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुंधराम् ॥ ३८ ॥

भूकम्प होनेके कारण पृथक्-पृथक् चारों सागर वृद्धिको प्राप्त होकर वसुधामें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अपनी सीमाको लाँघते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

वृक्षानुन्मथ्य वान्त्युग्रा वाताः शर्करकर्षिणः।
आभग्नाः सुमहावातैरशनीभिः समाहताः ॥ ३९ ॥
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेषु नगरेषु च।

बालू और कंकड़ खींचकर बरसानेवाले भयानक बवंडर उठकर वृक्षोंको उखाड़े डालते हैं। गाँवों तथा नगरोंमें वृक्ष और चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधियों तथा बिजलीके आघातोंसे टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३९½ ॥

नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ॥ ४० ॥
वामार्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम्।
स्पर्शा गन्धा रसाश्चैव विपरीता महीपते ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणलोगोंके आहुति देनेपर प्रज्वलित हुई अग्नि काले, लाल और पीले रंगकी दिखायी देती है। उसकी लपटें वामावर्त होकर उठ रही हैं। उससे दुर्गन्ध निकलती है और वह भयानक शब्द प्रकट करती रहती है। राजन् ! स्पर्श, गन्ध तथा रस—इन सबकी स्थिति विपरीत हो गयी है॥

धूमं ध्वजाः प्रमुञ्चन्ति कम्पमाना मुहुर्मुहुः।
मुञ्चन्त्यङ्गारवर्षं च भेर्यश्च पटहास्तथा ॥ ४२ ॥

ध्वज बारंबार कम्पित होकर धूआँ छोड़ते हैं। ढोल, नगाड़े अङ्गारोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

शिखराणां समृद्धानामुपरिष्टात् समन्ततः।
वायसाश्च रुवन्त्युग्रं वामं मण्डलमाश्रिताः ॥ ४३ ॥

फल-फूलसे सम्पन्न वृक्षोंकी शिखाओंपर बायीं ओरसे घूम-घूमकर सब ओर कौए बैठते हैं और भयंकर काँव-काँवका कोलाहल करते हैं ॥ ४३ ॥

पक्वापक्वेति सुभृशं वावाश्यन्ते वयांसि च।
निलीयन्ते ध्वजाग्रेषु क्षयाय पृथिवीक्षिताम् ॥ ४४ ॥

बहुत-से पक्षी 'पक्वा-पक्वा' इस शब्दका बारंबार जोर-जोरसे उच्चारण करते और ध्वजाओंके अग्रभागमें छिपते हैं। यह लक्षण राजाओंके विनाशका सूचक है ॥ ४४ ॥

ध्यायन्तः प्रकिरन्तश्च व्याला वेपथुसंयुताः।
दीनास्तुरङ्गमाः सर्वे वारणाः सलिलाश्रयाः ॥ ४५ ॥

दुष्ट हाथी काँपते और चिन्ता करते हुए भयके मारे मल-मूत्र त्याग कर रहे हैं, घोड़े अत्यन्त दीन हो रहे हैं और सम्पूर्ण गजराज पसीने-पसीने हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा भवानत्र प्राप्तकालं व्यवस्यताम्।
यथा लोकः समुच्छेदं नायं गच्छेत भारत ॥ ४६ ॥

भारत ! यह सुनकर (और उसके परिणामपर विचार करके) तुम इस अवसरके अनुरूप ऐसा कोई उपाय करो, जिससे यह संसार विनाशसे बच जाय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितुर्वचो निशम्यैतद् धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम्।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये भविष्यति नरक्षयः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पिता व्यासजीका यह वचन सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—'भगवन् ! मैं तो इसे पूर्वनिश्चित दैवका विधान मानता हूँ; अतः यह जनसंहार होगा ही ॥ ४७ ॥

राजानः क्षत्रधर्मेण यदि वध्यन्ति संयुगे।
वीरलोकं समासाद्य सुखं प्राप्स्यन्ति केवलम् ॥ ४८ ॥

'यदि राजालोग क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्धमें मारे जायँगे तो वीरलोकको प्राप्त होकर केवल सुखके भागी होंगे ॥

इह कीर्तिं परे लोके दीर्घकालं महत् सुखम्।
प्राप्स्यन्ति पुरुषव्याघ्राः प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४९ ॥

'वे पुरुषसिंह नरेश महायुद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इहलोकमें कीर्ति तथा परलोकमें दीर्घकालतक महान् सुख प्राप्त करेंगे' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो मुनिस्तत्त्वं कवीन्द्रो राजसत्तम।
धृतराष्ट्रेण पुत्रेण ध्यानमन्वगमत् परम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! अपने पुत्र

धृतराष्ट्रके इस प्रकार यथार्थ बात कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यास कुछ देरतक बड़े सोच-विचारमें पड़े रहे ॥ ५० ॥

स मुहूर्तं तथा ध्यात्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं पार्थिवेन्द्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ ५१ ॥
सृजते च पुनर्लोकान् नेह विद्यति शाश्वतम्।

दो घड़ीतक चिन्तन करनेके बाद वे पुनः इस प्रकार बोले—'राजेन्द्र ! इसमें संशय नहीं है कि काल ही इस जगत्का संहार करता है और वही पुनः इन सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करता है। यहाँ कोई वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है ॥५१½॥

ज्ञातीनां वै कुरूणां च सम्बन्धिसुहृदां तथा ॥५२॥
धर्म्यं देशय पन्थानं समर्थो ह्यसि वारणे।
क्षुद्रं ज्ञातिवधं प्राहुर्मा कुरुष्व ममाप्रियम् ॥ ५३ ॥

'राजन् ! तुम अपने जाति-भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी-सुहृदोंको धर्मानुकूल मार्गका उपदेश करो; क्योंकि तुम उन सबको रोकनेमें समर्थ हो। जाति-वधको अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। तुम यह अप्रिय कार्य न करो ॥ ५२-५३ ॥

कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते।
न वधः पूज्यते वेदे हितं नैव कथंचन ॥ ५४ ॥

'महाराज ! यह काल तुम्हारे पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है। वेदमें हिंसाकी प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसासे किसी प्रकार हित नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

हन्यात् स एनं यो हन्यात् कुलधर्मं स्विकां तनुम्।
कालेनोत्पथगन्तासि शक्ये सति यथाऽऽपदि ॥ ५५॥

'कुल-धर्म अपने शरीरके ही समान है। जो इस कुल-धर्मका नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। जबतक धर्मका पालन सम्भव है (जबतक तुमपर कोई आपत्ति नहीं आयी है), तबतक तुम कालसे प्रेरित होकर ही धर्मकी अवहेलना करके कुमार्गपर चल रहे हो, जैसा कि बहुधा लोग किसी आपत्तिमें पड़नेपर ही करते हैं ॥ ५५ ॥

कुलस्यास्य विनाशाय तथैव च महीक्षिताम्।
अनर्थो राज्यरूपेण तव जातो विशाम्पते ॥ ५६ ॥

'राजन् ! तुम्हारे कुलका तथा अन्य बहुत-से राजाओंका विनाश करनेके लिये यह तुम्हारे राज्यके रूपमें अनर्थ ही प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

लुप्तधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान्।
किं ते राज्येन दुर्धर्ष येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम् ॥ ५७ ॥

'तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। अपने पुत्रोंको धर्मका मार्ग दिखाओ। दुर्धर्ष वीर ! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है, जिसके लिये अपने ऊपर पापका बोझ लाद रहे हो ?॥

यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि।
लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः ॥५८॥

'तुम मेरी बात माननेपर यश, धर्म और कीर्तिका पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवोंको उनके राज्य प्राप्त हों और समस्त कौरव आपसमें संधि करके शान्त हो जायँ' ५८

एवं ब्रुवति विप्रेन्द्रे धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आक्षिप्य वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यं चैवाब्रवीत् पुनः॥५९॥

विप्रवर व्यासजी जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय बोलनेमें चतुर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने बीचमें ही उनकी बात काटकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा भवान् वेत्ति तथैव वेत्ता
भावाभावौ विदितौ मे यथार्थौ।
स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको
मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! जैसा आप जानते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन बातोंको समझता हूँ। भाव और अभावका यथार्थ स्वरूप मुझे भी ज्ञात है, तथापि यह संसार अपने स्वार्थके लिये मोहमें पड़ा रहता है। मुझे भी संसारसे अभिन्न ही समझें॥

प्रसादये त्वामतुलप्रभावं
त्वं नो गतिर्दर्शयिता च धीरः।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे
न चाधर्मं कर्तुमर्हो हि मे मतिः ॥ ६१ ॥

आपका प्रभाव अनुपम है। आप हमारे आश्रय, मार्गदर्शक तथा धीर पुरुष हैं। मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। महर्षे ! मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती; परंतु क्या करूँ ? मेरे पुत्र मेरे वशमें नहीं हैं ॥ ६१ ॥

त्वं हि धर्मप्रवृत्तिश्च यशः कीर्तिश्च भारती।
कुरूणां पाण्डवानां च मान्यश्चापि पितामहः ॥ ६२ ॥

आप ही हम भरतवंशियोंकी धर्म-प्रवृत्ति, यश तथा कीर्तिके हेतु हैं। आप कौरवों और पाण्डवों—दोनोंके माननीय पितामह हैं ॥ ६२ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते यत् ते मनसि वर्तते।
अभिधत्स्व यथाकामं छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६३ ॥

व्यासजी बोले—विचित्रवीर्यकुमार ! नरेश्वर ! तुम्हारे मनमें जो संदेह है, उसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रकट करो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानि लिङ्गानि संग्रामे भवन्ति विजयिष्यताम्।
तानि सर्वाणि भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— भगवन् ! युद्धमें निश्चितरूपसे विजय पानेवाले लोगोंको जो शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ६४ ॥

व्यास उवाच

प्रसन्नभाः पावक ऊर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६५ ॥

व्यासजीने कहा—अग्निकी प्रभा निर्मल हो, उसकी लपटें ऊपरकी ओर दक्षिणावर्त होकर उठें और धूआँ बिल्कुल न रहे; साथ ही अग्निमें जो आहुतियाँ डाली जायँ, उनकी पवित्र सुगन्ध वायुमें मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे—यह भावी विजयका स्वरूप (लक्षण) बताया गया है ॥ ६५ ॥

गम्भीरघोषाश्च महास्वनाश्च
शङ्खा मृदङ्गाश्च नदन्ति यत्र ।
विशुद्धरश्मिस्तपनः शशी च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६६ ॥

जिस पक्षमें शङ्खों और मृदङ्गोंकी गम्भीर आवाज बड़े जोर-जोरसे हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजयका शुभ लक्षण बताया है ॥ ६६ ॥

इष्टा वाचः प्रसृता वायसानां
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
ये पृष्ठतस्ते त्वरयन्ति राजन्
ये चाग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ ६७ ॥

जिनके प्रस्थित होनेपर अथवा प्रस्थानके लिये उद्यत होनेपर कौवोंकी मीठी आवाज फैलती है, उनकी विजय सूचित होती है; राजन् ! जो कौवे पीछे बोलते हैं, वे मानो सिद्धिकी सूचना देते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हैं और जो सामने बोलते हैं, वे मानो युद्धमें जानेसे रोकते हैं ॥ ६७ ॥

कल्याणवाचः शकुना राजहंसाः
शुकाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च यत्र ।
प्रदक्षिणाश्चैव भवन्ति संख्ये
ध्रुवं जयस्तत्र वदन्ति विप्राः ॥ ६८ ॥

जहाँ शुभ एवं कल्याणमयी बोली बोलनेवाले राजहंस, शुक, क्रौञ्च तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकोंकी प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं), उस पक्षकी युद्धमें निश्चितरूपसे विजय होती है, यह ब्राह्मणोंका कथन है ॥ ६८ ॥

अलङ्कारैः कवचैः केतुभिश्च
सुखप्रणादैर्हेषितैर्वा हयानाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्ते विजयन्ति शत्रून् ॥ ६९ ॥

अलङ्कार, कवच, ध्वजा-पताका, सुखपूर्वक किये जानेवाले सिंहनाद अथवा घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे जिनकी सेना अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओंको जिनकी सेनाकी ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वे अवश्य अपने विपक्षियोंपर विजय पाते हैं ॥ ६९ ॥

हृष्टा वाचस्तथा सत्त्वं योधानां यत्र भारत ।
न म्लायन्ति स्रजश्चैव ते तरन्ति रणोदधिम् ॥ ७० ॥

भारत ! जिस पक्षके योद्धाओंकी बातें हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण होती हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके कण्ठमें पड़ी हुई पुष्पमालाएँ कुम्हलाती नहीं हैं, वे युद्धरूपी महासागरसे पार हो जाते हैं ॥ ७० ॥

इष्टा वाचः प्रविष्टस्य दक्षिणाः प्रविविक्षतः ।
पश्चात् संधारयन्त्यर्थमग्रे च प्रतिषेधिकाः ॥ ७१ ॥

जिस पक्षके योद्धा शत्रुकी सेनामें प्रवेश करनेकी इच्छा करते समय अथवा उसमें प्रवेश कर लेनेपर अभीष्ट वचन (मैं तुझे अभी मार भगाता हूँ इत्यादि शौर्यसूचक बातें) बोलते हैं और अपने रणकौशलका परिचय देते हैं, वे पीछे प्राप्त होनेवाली अपनी विजयको पहलेसे ही निश्चित कर लेते हैं । इसके विपरीत जिन्हें शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय सामनेसे निषेधसूचक वचन सुननेको मिलते हैं, उनकी पराजय होती है॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चाविकृताः शुभाः ।
सदा हर्षश्च योधानां जयतामिह लक्षणम् ॥ ७२ ॥

जिनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिन योद्धाओंके हृदयमें सदा हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजयी होनेका यही शुभ लक्षण है ॥ ७२ ॥

अनुगा वायवो वान्ति तथाभ्राणि वयांसि च ।
अनुप्लवन्ति मेघाश्च तथैवेन्द्रधनूंषि च ॥ ७३ ॥
एतानि जयमानानां लक्षणानि विशाम्पते ।
भवन्ति विपरीतानि मुमूर्षूणां जनाधिप ॥ ७४ ॥

राजन् ! हवा जिनके अनुकूल बहती है, बादल और पक्षी भी जिनके अनुकूल होते हैं, मेघ जिनके पीछे-पीछे छत्र-छाया किये चलते हैं तथा इन्द्रधनुष भी जिन्हें अनुकूल दिशामें ही दृष्टिगोचर होते हैं, उन विजयी वीरोंके लिये ये विजयके शुभ लक्षण हैं । जनेश्वर ! मरणासन्न मनुष्योंको इसके विपरीत अशुभ लक्षण दिखायी देते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अल्पायां वा महत्यां वा सेनायामिति निश्चयः ।
हर्षो योधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यते ॥ ७५ ॥

सेना छोटी हो या बड़ी, उसमें सम्मिलित होनेवाले सैनिकोंका एकमात्र हर्ष ही निश्चितरूपसे विजयका लक्षण बताया जाता है ॥ ७५ ॥

एको दीर्णो दारयति सेनां सुमहतीमपि ।
तां दीर्णामनुदीर्यन्ते योधाः शूरतरा अपि ॥ ७६ ॥

यदि सेनाका एक सैनिक भी उत्साहहीन होकर पीछे हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त विशाल सेनाको

भी भगा देता है (उसके भागनेमें कारण बन जाता है)। उस सेनाके पलायन करनेपर बड़े-बड़े शूरवीर सैनिक भी भागनेको विवश होते हैं ॥ ७६ ॥

दुर्निवर्त्या तदा चैव प्रभग्ना महती चमूः ।
अपामिव महावेगास्त्रस्ता मृगगणा इव ॥ ७७ ॥

जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है, तब डरकर भागे हुए मृगोंके झुंड तथा नीची भूमिकी ओर बहनेवाले जलके महान् वेगकी भाँति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन है॥७७॥

नैव शक्या समाधातुं संनिपाते महाचमूः ।
दीर्णामित्येव दीर्यन्ते सुविद्वांसोऽपि भारत ॥ ७८ ॥

भरतनन्दन ! विशाल सेनामें जब भगदड़ मच जाती है, तब उसे समझा-बुझाकर रोकना कठिन हो जाता है । सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्धविद्याके विद्वान् भी भागने लगते हैं ॥ ७८ ॥

भीतान् भग्नांश्च सम्प्रेक्ष्य भयं भूयोऽभिवर्धते ।
प्रभग्ना सहसा राजन् दिशो विद्रवते चमूः ॥ ७९ ॥

राजन् ! भयभीत होकर भागते हुए सैनिकोंको देखकर अन्य योद्धाओंका भय बहुत अधिक बढ़ जाता है; फिर तो सहसा सारी सेना हतोत्साह होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगती है ॥ ७९ ॥

नैव स्थापयितुं शक्या शूरैरपि महाचमूः ।
सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां महीपतिः ।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः ॥ ८० ॥

उस समय बहुत-से शूर-वीर भी उस विशाल वाहिनीको रोककर खड़ी नहीं रख सकते । इसलिये बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह सतत सावधान रहकर कोई-न-कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेनाको विशेष सत्कारपूर्वक स्थिर रखनेका यत्न करे ॥ ८० ॥

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम् ।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ॥ ८१ ॥

राजन् ! साम-दानरूप उपायसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे श्रेष्ठ बताया गया है । भेदनीतिके द्वारा शत्रुसेनामें फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्धके द्वारा मार-काट मचाकर जो शत्रुको पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्नश्रेणीकी विजय है ॥ ८१ ॥

महादोषः संनिपातस्तस्याद्यः क्षय उच्यते ।
परस्परज्ञाः संहृष्टा व्यवधूताः सुनिश्चिताः ॥ ८२ ॥
पञ्चाशदपि ये शूरा मृद्नन्ति महतीं चमूम् ।
अपि वा पञ्च षट् सप्त विजयन्त्यनिवर्तिनः ॥ ८३ ॥

युद्ध महान् दोषका भण्डार है । उन दोषोंमें सबसे प्रधान है जनसंहार । यदि एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले, कहीं भी आसक्त न होकर विजय-प्राप्तिका दृढ़ निश्चय रखनेवाले तथा शौर्यसम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बड़ी भारी सेनाको धूलमें मिला देते हैं । यदि पीछे पैर न हटानेवाले पाँच, छः और सात ही योद्धा हों तो वे भी निश्चितरूपसे विजयी होते हैं ॥ ८२-८३ ॥

न वैनतेयो गरुडः प्रशंसति महाजनम् ।
दृष्ट्वा सुपर्णोऽपचितिं महत्या अपि भारत ॥ ८४ ॥

भारत ! सुन्दर पंखोंवाले विनतानन्दन गरुड़ विशाल सेनाका भी विनाश होता देखकर अधिक जनसमूहकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥

न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति नित्यशः ।
अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम् ।
जयवन्तो हि संग्रामे कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ८५ ॥

सदा अधिक सेना होनेसे ही विजय नहीं होती है । युद्धमें जीत प्रायः अनिश्चित होती है। उसमें दैव ही सबसे बड़ा सहारा है। जो संग्राममें विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि निमित्ताख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो धृतराष्ट्राय धीमते ।
धृतराष्ट्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर महर्षि व्यासजी चले गये । धृतराष्ट्र भी उनके पूर्वोक्त वचन सुनकर कुछ कालतक उनपर सोच-विचार करते रहे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ।
संजयं संशितात्मानमपृच्छद् भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दो घड़ीतक सोचने-विचारनेके पश्चात् बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयवाले संजयसे पूछा—॥ २ ॥

संजयेमे महीपालाः शूरा युद्धाभिनन्दिनः।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्ति शस्त्रैरुच्चावचैरिह ॥ ३ ॥
पार्थिवाः पृथिवीहेतोः समभित्यज्य जीवितम्।
न वा शाम्यन्ति निघ्नन्तो वर्धयन्ति यमक्षयम् ॥ ४ ॥
भौममैश्वर्यमिच्छन्तो न मृष्यन्ते परस्परम्।
मन्ये बहुगुणा भूमिस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ५ ॥

'संजय ! पृथ्वीका पालन करनेवाले ये शूरवीर नरेश इस भूमिके लिये ही अपना जीवन निछावर करके युद्धका अभिनन्दन करते और छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हैं। इस भूतलके ऐश्वर्यको स्वयं ही चाहते हुए वे एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते हैं। परस्पर प्रहार करते हुए यमलोककी जनसंख्या बढ़ाते हैं, परंतु शान्त नहीं होते हैं। अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भूमि बहुसंख्यक गुणोंसे विभूषित है। इसलिये संजय ! तुम मुझसे इस भूमिके गुणोंका ही वर्णन करो ॥ ३—५ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
कोट्यश्च लोकवीराणां समेताः कुरुजाङ्गले ॥ ६ ॥

'कुरुक्षेत्रमें इस जगत्के कई हजार, लाख, करोड़ और अरबों वीर एकत्र हुए हैं ॥ ६ ॥

देशानां च परीमाणं नगराणां च संजय।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यत एते समागताः ॥ ७ ॥

'संजय ! ये लोग जहाँ-जहाँसे आये हैं, उन देशों और नगरोंका यथार्थ परिमाण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा।
प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ ८ ॥

'क्योंकि तुम अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि व्यासजीके प्रभावसे दिव्य बुद्धिरूपी प्रदीपसे प्रकाशित ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हो गये हो' ॥

संजय उवाच

यथाप्रज्ञं महाप्राज्ञ भौमान् वक्ष्यामि ते गुणान्।
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

संजयने कहा—महाप्राज्ञ ! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे इस भूमिके गुणोंका वर्णन करूँगा। भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है; आप शास्त्रदृष्टिसे इस विषयको देखिये और समझिये ॥ ९ ॥

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः ॥ १० ॥

राजन् ! इस पृथ्वीपर दो तरहके प्राणी उपलब्ध हैं—स्थावर और जङ्गम। जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्तिके तीन स्थान हैं—अण्डज, स्वेदज और जरायुज ॥ १० ॥

त्रसानां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये ॥ ११ ॥

राजन् ! सम्पूर्ण जङ्गम जीवोंमें जरायुज श्रेष्ठ माने गये हैं, जरायुजोंमें भी मनुष्य और पशु उत्तम हैं ॥ ११ ॥

नानारूपधरा राजंस्तेषां भेदाश्चतुर्दश।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १२ ॥

वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं। राजन् ! उनके चौदह भेद हैं, जो वेदोंमें बताये गये हैं। भूपाल ! उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है ॥ १२ ॥

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम्।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ॥ १३ ॥

ग्रामवासी पशु और मनुष्योंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और वनवासी पशुओंमें सिंह श्रेष्ठ हैं। समस्त प्राणियोंका जीवन-निर्वाह एक दूसरेके सहयोगसे होता है ॥ १३ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ १४ ॥

स्थावरोंको उद्भिज कहते हैं। उनकी पाँच ही जातियाँ हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली और त्वक्सार (बाँस आदि)। ये सब तृणवर्गकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता ॥ १५ ॥

ये स्थावर-जङ्गमरूप उन्नीस प्राणी हैं। इनके साथ पाँच महाभूतोंको गिन लेनेपर इनकी संख्या चौबीस हो जाती है। गायत्रीके भी चौबीस ही अक्षर होते हैं। इसलिये इन चौबीस भूतोंको भी लोकसम्मत गायत्री कहा गया है ॥ १५ ॥

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो लोकमें स्थित इस सर्वगुणसम्पन्न पुण्यमयी गायत्रीको यथार्थरूपसे जानता है, वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ १६ ॥

अरण्यवासिनः सप्त सप्तैषां ग्रामवासिनः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ॥ १७ ॥
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप।

नरेश्वर! उपर्युक्त चौदह प्रकारके जरायुज प्राणियोंमें वनवासी पशु सात हैं और ग्रामवासी भी सात ही हैं। सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, गज, रीछ और वानर—ये सात वनवासी पशु माने गये हैं ॥

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ॥ १८ ॥
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः।
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥ १९ ॥

गाय, बकरी, भेड़, मनुष्य, घोड़े, खच्चर और गदहे—इन सात पशुओंको साधु पुरुषोंने ग्रामवासी बताया है। राजन् ! इस प्रकार ये ग्रामवासी और वनवासी मिलकर कुल चौदह पशु कहे गये हैं ॥ १८-१९ ॥

भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वं विनश्यति।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम् ॥ २०

सब कुछ इस भूमिपर ही उत्पन्न होता है और भूमिमें ही विलीन होता है। भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा और भूमि ही सबका परम आश्रय है ॥ २० ॥

यस्य भूमिस्तस्य सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
तत्रातिगृद्धा राजानो विनिघ्नन्तीतरेतरम् ॥ २१ ॥

जिसके अधिकारमें भूमि है, उसीके अधिकारमें सम्पूर्ण चराचर जगत् है, इसीलिये भूमिके प्रति आसक्ति रखनेवाले राजालोग एक-दूसरेको मारते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भौमगुणकथने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमिगुणवर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! नदियों, पर्वतों तथा जनपदोंके और दूसरे भी जो पदार्थ इस भूतलपर आश्रित हैं, उन सबके नाम बताओ ॥ १ ॥

प्रमाणं च प्रमाणज्ञ पृथिव्या मम सर्वतः।
निखिलेन समाचक्ष्व काननानि च संजय ॥ २ ॥

प्रमाणवेत्ता संजय ! तुम सारी पृथ्वीका पूरा प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाईका माप) मुझे बताओ । साथ ही यहाँके वनोंका भी वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

पञ्चेमानि महाराज महाभूतानि संग्रहात्।
जगतीस्थानि सर्वाणि समान्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! इस पृथ्वीपर रहनेवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब संक्षेपसे पञ्चमहाभूतस्वरूप हैं। इसीलिये मनीषी पुरुष उन सबको 'सम[1]' कहते हैं॥

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ॥ ४ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि–ये पञ्च महाभूत हैं। आकाशसे लेकर भूमितक जो पञ्चमहाभूतोंका क्रम है, उसमें पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सब भूतोंमें एक-एक गुण अधिक होते हैं। इन सब भूतोंमें भूमिकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
भूमेरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंको तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने पृथ्वीका गुण बताया है ॥ ५ ॥

चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ॥ ६ ॥

राजन् ! जलमें चार ही गुण हैं। उसमें गन्धका अभाव है। तेजके शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तीन गुण हैं। वायुके शब्द और स्पर्श दो ही गुण हैं और आकाशका एक मात्र शब्द ही गुण है ॥ ६ ॥

एते पञ्च गुणा राजन् महाभूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वलोकेषु येषु भूताः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥

राजन् ! ये पाँच गुण सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयभूत पञ्चमहाभूतोंमें रहते हैं। जिनमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यं नाभिवर्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ॥ ८ ॥

ये पाँचों गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं, तब एक-दूसरेसे संयुक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम्।
तदा देहैर्देहवन्तो व्यतिरोहन्ति नान्यथा ॥ ९ ॥

जब ये विषमभावको प्राप्त होते हैं, तब एक-दूसरेसे मिल जाते हैं। उस समय ही देहधारी प्राणी अपने शरीरोंसे संयुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

आनुपूर्व्याद् विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः।
सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम् ॥ १० ॥

ये सब भूत क्रमसे नष्ट होते और क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं (पृथ्वी आदिके क्रमसे इनका लय होता है और आकाश आदिके क्रमसे इनका प्रादुर्भाव) । ये सब अपरिमेय हैं। इनका रूप ईश्वरकृत है ॥ १० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ११ ॥

भिन्न-भिन्न लोकोंमें पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य तर्कके द्वारा उनके प्रमाणोंका प्रतिपादन करते हैं ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

परंतु जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृतिसे परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ॥ १२ ॥

सुदर्शनं प्रवक्ष्यामि द्वीपं तु कुरुनन्दन।
परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! अब मैं सुदर्शन नामक द्वीपका वर्णन

[1]. एक समान।

करूँगा। महाराज! वह द्वीप चक्रकी भाँति गोलाकार स्थित है ॥

नदीजलप्रतिच्छन्नः पर्वतैश्चाभ्रसंनिभैः।
पुरैश्च विविधाकारै रम्यैर्जनपदैस्तथा ॥ १४ ॥
वृक्षैः पुष्पफलोपेतैः सम्पन्नधनधान्यवान्।
लवणेन समुद्रेण समन्तात् परिवारितः ॥ १५ ॥

वह नाना प्रकारकी नदियोंके जलसे आच्छादित, मेघके समान उच्चतम पर्वतोंसे सुशोभित, भाँति-भाँतिके नगरों, रमणीय जनपदों तथा फल-फूलसे भरे हुए वृक्षोंसे विभूषित है। यह द्वीप भाँति-भाँतिकी सम्पदाओं तथा धन-धान्यसे सम्पन्न है। उसे सब ओरसे लवणसमुद्रने घेर रक्खा है ॥

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः।
एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ॥ १६ ॥

जैसे पुरुष दर्पणमें अपना मुँह देखता है, उसी प्रकार सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलमें दिखायी देता है ॥ १६ ॥

द्विरंशे पिप्पलस्तत्र द्विरंशे च शशो महान्।
सर्वौषधिसमावायः सर्वतः परिवारितः ॥ १७ ॥

इसके दो अंशमें पिप्पल और दो अंशमें महान् शश दृष्टिगोचर होता है। इनके सब ओर सम्पूर्ण ओषधियोंका समुदाय फैला हुआ है ॥ १७ ॥

आपस्ततोऽन्या विज्ञेयाः शेषः संक्षेप उच्यते।
ततोऽन्य उच्यते चायमेनं संक्षेपतः शृणु ॥ १८ ॥

इन सबको छोड़कर शेष स्थान जलमय समझना चाहिये। इससे भिन्न संक्षिप्त भूमिखण्ड बताया जाता है। उस खण्डका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सुदर्शनद्वीपवर्णने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सुदर्शनद्वीपवर्णनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गङ्गानदी तथा शशाकृतिका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

उक्तो द्वीपस्य संक्षेपो विधिवद् बुद्धिमंस्त्वया।
तत्त्वज्ञश्चासि सर्वस्य विस्तरं ब्रूहि संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बुद्धिमान् संजय! तुमने सुदर्शनद्वीपका विधिपूर्वक थोड़ेमें ही वर्णन कर दिया, परंतु तुम तो तत्त्वोंके ज्ञाता हो; अतः इस सम्पूर्ण द्वीपका विस्तारके साथ वर्णन करो ॥ १ ॥

यावान् भूम्यवकाशोऽयं दृश्यते शशलक्षणे।
तस्य प्रमाणं प्रब्रूहि ततो वक्ष्यसि पिप्पलम् ॥ २ ॥

चन्द्रमाके शश-चिह्नमें भूमिका जितना अवकाश दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रमाण बताओ। तत्पश्चात् पिप्पलस्थानका वर्णन करना ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राज्ञा स पृष्टस्तु संजयो वाक्यमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजयने कहना आरम्भ किया ॥ २½ ॥

संजय उवाच

प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः।
अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज! पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर फैले हुए ये छः वर्ष पर्वत हैं, जो दोनों ओर पूर्व तथा पश्चिम समुद्रमें घुसे हुए हैं ॥ ३ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।
नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः ॥ ४ ॥
सर्वधातुविचित्रश्च शृङ्गवान् नाम पर्वतः।
एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः ॥ ५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, हेमकूट, पर्वतश्रेष्ठ निषध, वैदूर्यमणिमय नीलगिरि, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल श्वेतगिरि तथा सब धातुओंसे सम्पन्न होकर विचित्र शोभा धारण करनेवाला शृङ्गवान् पर्वत। राजन्! ये छः पर्वत सिद्धों तथा चारणोंके निवासस्थान हैं ॥ ४-५ ॥

एषामन्तरविष्कम्भो योजनानि सहस्रशः।
तत्र पुण्या जनपदास्तानि वर्षाणि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन! इनके बीचका विस्तार सहस्रों योजन है। वहाँ भिन्न-भिन्न वर्ष (खण्ड) हैं और उनमें बहुत-से पवित्र जनपद हैं ॥ ६ ॥

वसन्ति तेषु सत्त्वानि नानाजातीनि सर्वशः।
इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम् ॥ ७ ॥

उनमें सब ओर नाना जातियोंके प्राणी निवास करते हैं, उनमेंसे यह भारतवर्ष है। इसके बाद हिमालयसे उत्तर हैमवतवर्ष है ॥ ७ ॥

हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते।
दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ॥ ८ ॥
प्रागायतो महाभाग माल्यवान् नाम पर्वतः।
ततः परं माल्यवतः पर्वतो गन्धमादनः ॥ ९ ॥

हेमकूट पर्वतसे आगे हरिवर्षकी स्थिति बतायी जाती है। महाभाग! नीलगिरिके दक्षिण और निषधपर्वतके उत्तर पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ माल्यवान् नामक पर्वत है। माल्यवान्‌से आगे गन्धमादन पर्वत है ॥ ८-९ ॥

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ॥ १० ॥

इन दोनोंके बीचमें मण्डलाकार सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्निके समान कान्तिमान् है ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
अधस्ताच्चतुरशीतिर्योजनानां महीपते ॥ ११ ॥

उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है । राजन् ! वह नीचे भी चौरासी हजार योजनतक पृथ्वीके भीतर घुसा हुआ है ॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च लोकानावृत्य तिष्ठति ।
तस्य पार्श्वेष्वमी द्वीपाश्चत्वारः संस्थिता विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! मेरुपर्वत ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल सम्पूर्ण लोकोंको आवृत करके खड़ा है । उसके पार्श्वभागमें ये चार द्वीप बसे हुए हैं ॥ १२ ॥

भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत ।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ १३ ॥

भारत ! उनके नाम ये हैं—भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप तथा उत्तरकुरु । उत्तरकुरु द्वीपमें पुण्यात्मा पुरुषोंका निवास है ॥

विहगः सुमुखो यस्तु सुपर्णस्यात्मजः किल ।
स वै विचिन्तयामास सौवर्णान् वीक्ष्य वायसान् ॥ १४ ॥
मेरुरुत्तममध्यानामधमानां च पक्षिणाम् ।
अविशेषकरो यस्मात् तस्मादेनं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥

एक समय पक्षिराज गरुड़के पुत्र सुमुखने मेरुपर्वतपर सुनहरे शरीरवाले कौवोंको देखकर सोचा कि यह सुमेरुपर्वत उत्तम, मध्यम तथा अधम पक्षियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रहने देता है । इसलिये मैं इसको त्याग दूँगा । ऐसा विचार करके वे वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ १४-१५ ॥

तमादित्योऽनुपर्येति सततं ज्योतिषां वरः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो वायुश्चैव प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥

ज्योतिर्मय ग्रहोंमें सर्वश्रेष्ठ सूर्यदेव, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा तथा वायुदेव भी प्रदक्षिणक्रमसे सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

स पर्वतो महाराज दिव्यपुष्पफलान्वितः ।
भवनैरावृतः सर्वैर्जाम्बूनदपरिष्कृतैः ॥ १७ ॥

महाराज ! वह पर्वत दिव्य पुष्पों और फलोंसे सम्पन्न है। वहाँके सभी भवन जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित हैं । उनसे घिरे हुए उस पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

तत्र देवगणा राजन् गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः शैले क्रीडन्ति सर्वदा ॥ १८ ॥

राजन् ! उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएँ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ॥ १८ ॥

तत्र ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्चापि सुरेश्वरः ।
समेत्य विविधैर्यज्ञैर्यजन्तेऽनेकदक्षिणैः ॥ १९ ॥

वहाँ ब्रह्मा, रुद्र तथा देवराज इन्द्र एकत्र हो पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ १९ ॥

तुम्बुरुर्नारदश्चैव विश्वावसुर्हहा हूहूः ।
अभिगम्यामरश्रेष्ठांस्तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २० ॥

उस समय तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व उन देवेश्वरोंके पास जाकर भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥ २० ॥

सप्तर्षयो महात्मानः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तत्र गच्छन्ति भद्रं ते सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २१ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो । वहाँ महात्मा सप्तर्षिगण तथा प्रजापति कश्यप प्रत्येक पर्वपर सदा पधारते हैं ॥ २१ ॥

तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते ।
इमानि तस्य रत्नानि तस्येमे रत्नपर्वताः ॥ २२ ॥

भूपाल ! उस मेरुपर्वतके ही शिखरपर दैत्योंके साथ शुक्राचार्य निवास करते हैं । ये सब रत्न तथा ये रत्नमय पर्वत शुक्राचार्यके ही अधिकारमें हैं ॥ २२ ॥

तस्मात् कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते ।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्येभ्यः प्रयच्छति ॥ २३ ॥

भगवान् कुबेर उन्हींसे धनका चतुर्थ भाग प्राप्त करके उसका उपभोग करते हैं और उस धनका सोलहवाँ भाग मनुष्योंको देते हैं ॥ २३ ॥

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तुकुसुमैश्चितम् ।
कर्णिकारवनं रम्यं शिलाजालसमुद्गतम् ॥ २४ ॥

सुमेरु पर्वतके उत्तर भागमें समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरा हुआ दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार (कनेर वृक्षोंका) वन है, जहाँ शिलाओंके समूह संचित हैं ॥ २४ ॥

तत्र साक्षात् पशुपतिर्दिव्यैर्भूतैः समावृतः ।
उमासहायो भगवान् रमते भूतभावनः ॥ २५ ॥
कर्णिकारमयीं मालां बिभ्रत्पादावलम्बिनीम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतस्त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥ २६ ॥

वहाँ दिव्य भूतोंसे घिरे हुए साक्षात् भूतभावन भगवान् पशुपति पैरोंतक लटकनेवाली कनेरके फूलोंकी दिव्य माला धारण किये भगवती उमाके साथ विहार करते हैं । वे अपने तीनों नेत्रोंद्वारा ऐसा प्रकाश फैलाते हैं, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ॥ २५-२६ ॥

तमुग्रतपसः सिद्धाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
पश्यन्ति न हि दुर्वृत्तैः शक्यो द्रष्टुं महेश्वरः ॥ २७ ॥

उग्र तपस्वी एवं उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले सत्यवादी सिद्ध पुरुष ही वहाँ उनका दर्शन करते हैं । दुराचारी लोगोंको भगवान् महेश्वरका दर्शन नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ॥ २८ ॥
पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।

प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! उस मेरुपर्वतके शिखरसे दुग्धके समान श्वेत-धारवाली, विश्वरूपा, अपरिमित शक्तिशालिनी, भयंकर वज्र-पातके समान शब्द करनेवाली, परम पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित, शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गङ्गा बड़े प्रबल-वेगसे सुन्दर चन्द्रकुण्डमें गिरती हैं ॥ २८-२९ ॥

नया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ॥ ३० ॥
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक्।

वह पवित्र कुण्ड स्वयं गङ्गाजीने ही प्रकट किया है, जो अपनी अगाध जलराशिके कारण समुद्रके समान शोभा पाता है। जिन्हें अपने ऊपर धारण करना पर्वतोंके लिये भी कठिन था, उन्हीं गङ्गाको पिनाकधारी भगवान् शिव एक लाख वर्षोंतक अपने मस्तकपर ही धारण किये रहे ॥३०½॥

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते ॥ ३१ ॥
जम्बूखण्डस्तु तत्रैव सुमहान् नन्दनोपमः।
आयुर्दश सहस्राणि वर्षाणां तत्र भारत ॥ ३२ ॥

राजन् ! मेरुके पश्चिम भागमें केतुमाल द्वीप है, वहीं अत्यन्त विशाल जम्बूखण्ड नामक प्रदेश है, जो नन्दनवनके समान मनोहर जान पड़ता है। भारत ! वहाँके निवासियोंकी आयु दस हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३१-३२ ॥

सुवर्णवर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ ३३ ॥

वहाँके पुरुष सुवर्णके समान कान्तिमान् और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उन्हें कभी रोग और शोक नहीं होते। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥३३॥

जायन्ते मानवास्तत्र निष्टप्तकनकप्रभाः।
गन्धमादनशृङ्गेषु कुबेरः सह राक्षसैः ॥ ३४ ॥
संवृतोऽप्सरसां सङ्घैर्मोदते गुह्यकाधिपः।

वहाँ तपाये हुए सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर गुह्यकोंके स्वामी कुबेर राक्षसोंके साथ रहते और अप्सराओंके समुदायोंके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं ॥ ३४½ ॥

गन्धमादनपादेषु परेष्वपरगण्डिकाः ॥ ३५ ॥
एकादश सहस्राणि वर्षाणां परमायुषः।

गन्धमादनके अन्यान्य पार्श्ववर्ती पर्वतोंपर दूसरी-दूसरी नदियाँ हैं, जहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी आयु ग्यारह हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३५½ ॥

तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः।
स्त्रियश्चोत्पलवर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः ॥ ३६ ॥

राजन् ! वहाँके पुरुष हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और महाबली होते हैं तथा सभी स्त्रियाँ कमलके समान कान्तिमती और देखनेमें अत्यन्त मनोरम होती हैं ॥ ३६ ॥

नीलात् परतरं श्वेतं श्वेताद्धैरण्यकं परम्।
वर्षमैरावतं राजन् नानाजनपदावृतम् ॥ ३७ ॥

नील पर्वतसे उत्तर श्वेतवर्ष और श्वेतवर्षसे उत्तर हिरण्यकवर्ष है। तत्पश्चात् शृङ्गवान् पर्वतसे आगे ऐरावत नामक वर्ष है। राजन् ! वह अनेकानेक जनपदोंसे भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे।
इलावृतं मध्यमं तु पञ्च वर्षाणि चैव हि ॥ ३८ ॥

महाराज ! दक्षिण और उत्तरके क्रमशः भारत और ऐरावत नामक दो वर्ष धनुषकी दो कोटियोंके समान स्थित हैं और बीचमें पाँच वर्ष (श्वेत, हिरण्यक, इलावृत, हरिवर्ष तथा हैमवत) हैं। इन सबके बीचमें इलावृतवर्ष है॥

उत्तरोत्तरमेतेभ्यो वर्षमुद्रिच्यते गुणैः।
आयुःप्रमाणमारोग्यं धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ ३९ ॥

भारतसे आरम्भ करके ये सभी वर्ष आयुके प्रमाण, आरोग्य, धर्म, अर्थ और काम—इन सभी दृष्टियोंसे गुणोंमें उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं ॥ ३९ ॥

समन्वितानि भूतानि तेषु वर्षेषु भारत।
एवमेषा महाराज पर्वतैः पृथिवी चिता ॥ ४० ॥

भारत ! इन सब वर्षोंमें निवास करनेवाले प्राणी परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। महाराज ! इस प्रकार यह सारी पृथ्वी पर्वतोंद्वारा स्थिर की गयी है ॥ ४० ॥

हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः।
यत्र वैश्रवणो राजन् गुह्यकैः सह मोदते ॥ ४१ ॥

राजन् ! विशाल पर्वत हेमकूट ही कैलास नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ कुबेर गुह्यकोंके साथ सानन्द निवास करते हैं ॥

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति।
हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः ॥ ४२ ॥

कैलाससे उत्तर मैनाक है और उससे भी उत्तर दिव्य तथा महान् मणिमय पर्वत हिरण्यशृङ्ग है ॥४२॥

तस्य पार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ ४३ ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

उसीके पास विशाल, दिव्य, उज्ज्वल तथा काञ्चनमयी बालुकासे सुशोभित रमणीय बिन्दुसरोवर है, जहाँ राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक निवास किया था ॥ ४३½ ॥

यूपा मणिमयास्तत्र चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ ४४ ॥
तत्रेष्ट्वा तु गतः सिद्धिं सहस्राक्षो महायशाः।

वहाँ बहुत-से मणिमय यूप तथा सुवर्णमय चैत्य (महल) शोभा पाते हैं। वहीं यज्ञ करके महायशस्वी इन्द्रने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४४½ ॥

स्रष्टा भूतपतिर्यत्र सर्वलोकैः सनातनः ॥ ४५ ॥
उपास्यते तिग्मतेजा यत्र भूतैः समन्ततः ।
नरनारायणौ ब्रह्मा मनुः स्थाणुश्च पञ्चमः ॥ ४६ ॥

उसी स्थानपर सब ओर सम्पूर्ण जगत्के लोग लोकस्रष्टा प्रचण्ड तेजस्वी सनातन भगवान् भूतनाथकी उपासना करते हैं। नर, नारायण, ब्रह्मा, मनु और पाँचवें भगवान् शिव वहाँ सदा स्थित रहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

तत्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।
ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्मलोकसे उतरकर त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गङ्गा पहले उस बिन्दुसरोवरमें ही प्रतिष्ठित हुई थीं। वहींसे उनकी सात धाराएँ विभक्त हुई हैं ॥ ४७ ॥

वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती ।
जम्बूनदी च सीता च गङ्गा सिन्धुश्च सप्तमी ॥ ४८ ॥

उन धाराओंके नाम इस प्रकार हैं—वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी सरस्वती, जम्बूनदी, सीता, गङ्गा और सिंधु ॥

अचिन्त्या दिव्यसंकाशा प्रभोरेषैव संविधिः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ ४९ ॥

यह (सात धाराओंका प्रादुर्भाव जगत्के उपकारके लिये) भगवान्का ही अचिन्त्य एवं दिव्य सुन्दर विधान है। जहाँ लोग कल्पके अन्ततक यज्ञानुष्ठानके द्वारा परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ४९ ॥

दृश्यादृश्या च भवति तत्र तत्र सरस्वती ।
एता दिव्याः सप्तगङ्गास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ५० ॥

इन सात धाराओंमें जो सरस्वती नामवाली धारा है, वह कहीं प्रत्यक्ष दिखायी देती है और कहीं अदृश्य हो जाती है। ये सात दिव्य गङ्गाएँ तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥५०॥

रक्षांसि वै हिमवति हेमकूटे तु गुह्यकाः ।
सर्पा नागाश्च निषधे गोकर्णं च तपोवनम् ॥ ५१ ॥

हिमालयपर राक्षस, हेमकूटपर गुह्यक तथा निषधपर्वतपर सर्प और नाग निवास करते हैं। गोकर्ण तो तपोवन है ॥

देवासुराणां सर्वेषां श्वेतपर्वत उच्यते ।
गन्धर्वा निषधे नित्यं नीले ब्रह्मर्षयस्तथा ।
शृङ्गवांस्तु महाराज देवानां प्रतिसंचरः ॥ ५२ ॥

श्वेतपर्वत सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंका निवासस्थान बताया जाता है। निषधगिरिपर गन्धर्व तथा नीलगिरिपर ब्रह्मर्षि निवास करते हैं। महाराज ! शृङ्गवान् पर्वत तो केवल देवताओंकी ही विहारस्थली है ॥ ५२ ॥

इत्येतानि महाराज सप्त वर्षाणि भागशः ।
भूतान्युपनिविष्टानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण प्राणी इन सात वर्षोंमें विभागपूर्वक स्थित हैं ॥ ५३ ॥

तेषामृद्धिर्बहुविधा दृश्यते दैवमानुषी ।
अशक्या परिसंख्यातुं श्रद्धेया तु बुभूषता ॥ ५४ ॥

उनकी अनेक प्रकारकी दैवी और मानुषी समृद्धि देखी जाती है। उसकी गणना असम्भव है। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको उस समृद्धिपर विश्वास करना चाहिये ॥

(स वै सुदर्शनद्वीपो दृश्यते शशवद् द्विधा ।)
यां तु पृच्छसि मां राजन् दिव्यामेतां शशाकृतिम् ।
पार्श्वे शशस्य द्वे वर्षे उक्ते ये दक्षिणोत्तरे ।
कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वह सुदर्शनद्वीप बताया गया है, जो दो भागोंमें विभक्त होकर चन्द्रमण्डलमें प्रतिबिम्बित हो खरगोश-की-सी आकृतिमें दृष्टिगोचर होता है। राजन् ! आपने जो मुझसे इस शशाकृति (खरगोशकी-सी आकृति) के विषयमें प्रश्न किया है उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये। पहले जो दक्षिण और उत्तरमें स्थित (भारत और ऐरावत नामक) दो द्वीप बताये गये हैं, वे ही दोनों उस शश (खरगोश) के दो पार्श्वभाग हैं। नागद्वीप तथा काश्यपद्वीप उसके दोनों कान हैं ॥ ५५ ॥

ताम्रपर्णः शिरो राजञ्छ्रीमान् मलयपर्वतः ।
एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंस्थितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! ताम्रवर्णके वृक्षों और पत्रोंसे सुशोभित श्रीमान् मलयपर्वत ही इसका सिर है। इस प्रकार यह सुदर्शन-द्वीपका दूसरा भाग खरगोशके आकारमें दृष्टिगोचर होता है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भूम्यादिपरिमाणविवरणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमि आदि परिमाणका विवरणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

मेरोरथोत्तरं पार्श्वं पूर्वं चाचक्ष्व संजय ।
निखिलेन महाबुद्धे माल्यवन्तं च पर्वतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—परमबुद्धिमान् संजय ! तुम मेरुके उत्तर तथा पूर्व भागमें जो कुछ है, उसका पूर्ण-रूपसे वर्णन करो। साथ ही माल्यवान् पर्वतके

विषयमें भी जानने योग्य बातें बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु नीलस्य मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे ।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! नीलगिरिसे दक्षिण तथा मेरुपर्वतके उत्तर भागमें पवित्र उत्तर कुरुवर्ष है, जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं ॥ २ ॥

तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

वहाँके वृक्ष सदा पुष्प और फलसे सम्पन्न होते हैं और उनके फल बड़े मधुर एवं स्वादिष्ट होते हैं । उस देशके सभी पुष्प सुगन्धित और फल सरस होते हैं ॥ ३ ॥

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप ।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप ॥ ४ ॥
ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम् ।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! वहाँके कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता हैं । राजन् ! दूसरे क्षीरी नामवाले वृक्ष हैं, जो सदा षड्विध रसोंसे युक्त एवं अमृतके समान स्वादिष्ट दुग्ध बहाते रहते हैं । उनके फलोंमें इच्छानुसार वस्त्र और आभूषण भी प्रकट होते हैं ॥ ४—५ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका ।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का च जनाधिप ।
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः ॥ ६ ॥

जनेश्वर ! वहाँकी सारी भूमि मणिमयी है । वहाँ जो सूक्ष्म बालूके कण हैं, वे सब सुवर्णमय हैं । उस भूमिपर कीचड़का कहीं नाम भी नहीं है । उसका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखदायक होता है । वहाँके सुन्दर सरोवर अत्यन्त मनोरम होते हैं । उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता है ॥ ६ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ॥ ७ ॥

वहाँ देवलोकसे भूतलपर आये हुए समस्त पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म ग्रहण करते हैं । ये सभी उत्तम कुलसे सम्पन्न और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥

मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
तेषां ते क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम् ॥ ८ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े भी उत्पन्न होते हैं । स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं । उत्तरकुरुके निवासी क्षीरी वृक्षोंके अमृत-तुल्य दूध पीते हैं ॥८॥

मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते ।
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च ॥ ९ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े एक ही साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ बढ़ते हैं । उनके रूप, गुण और वेष सब एक-से होते हैं ॥ ९ ॥

एकैकमनुरक्तं च चक्रवाकसमं विभो ।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ १० ॥

प्रभो ! वे चकवा-चकवीके समान सदा एक दूसरेके अनुकूल बने रहते हैं । उत्तरकुरुके लोग सदा नीरोग और प्रसन्नचित्त रहते हैं ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत ॥ ११ ॥

महाराज ! वे ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं । एक दूसरेका कभी त्याग नहीं करते ॥ ११ ॥

भारुण्डा नाम शकुनास्तीक्ष्णतुण्डा महाबलाः ।
तान् निर्हरन्तीह मृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ॥ १२ ॥

वहाँ भारुण्ड नामके महाबली पक्षी हैं, जिनकी चोंचें बड़ी तीखी होती हैं । वे वहाँके मरे हुए लोगोंकी लाशें उठाकर ले जाते और कन्दराओंमें फेंक देते हैं ॥ १२ ॥

उत्तराः कुरवो राजन् व्याख्यातास्ते समासतः ।
मेरोः पार्श्वमहं पूर्वं वक्ष्याम्यथ यथातथम् ॥ १३ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैंने आपसे थोड़ेमें उत्तरकुरुवर्षका वर्णन किया । अब मैं मेरुके पूर्वभागमें स्थित भद्राश्ववर्षका यथावत् वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

तस्य मूर्धाभिषेकस्तु भद्राश्वस्य विशाम्पते ।
भद्रसालवनं यत्र कालाम्रश्च महाद्रुमः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! भद्राश्ववर्षके शिखरपर भद्रशाल नामका एक वन है एवं वहाँ कालाम्र नामक महान् वृक्ष भी है ॥

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः ।
द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः ॥ १५ ॥

महाराज ! कालाम्र वृक्ष बहुत ही सुन्दर और एक योजन ऊँचा है । उसमें सदा फूल और फल लगे रहते हैं । सिद्ध और चारण पुरुष उसका सदा सेवन करते हैं ॥१५॥

तत्र ते पुरुषाः श्वेतास्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः ॥ १६ ॥

वहाँके पुरुष श्वेत वर्णके होते हैं । वे तेजस्वी और महान् बलवान् हुआ करते हैं । वहाँकी स्त्रियाँ कुमुद-पुष्पके समान गौर वर्णवाली, सुन्दरी तथा देखनेमें प्रिय होती हैं ॥ १६ ॥

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीतविशारदाः ॥ १७ ॥

उनकी अङ्गकान्ति एव वर्ण चन्द्रमाके समान है । उनके मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोहर होते हैं । उनका एक-एक अङ्ग चन्द्ररश्मियोंके समान शीतल प्रतीत होता है । वे नृत्य और गीतकी कलामें कुशल होती हैं ॥ १७ ॥

दश वर्षसहस्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ ।
कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवनाः ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके लोगोंकी आयु दस हजार वर्षकी होती है। वे कालाम्र वृक्षका रस पीकर सदा जवान बने रहते हैं॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु।
सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बूवृक्षः सनातनः ॥ १९ ॥

नीलगिरिके दक्षिण और निषधके उत्तर सुदर्शन नामक एक विशाल जामुनका वृक्ष है, जो सदा स्थिर रहनेवाला है॥

सर्वकामफलः पुण्यः सिद्धचारणसेवितः।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः ॥ २० ॥

वह समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, पवित्र तथा सिद्धों और चारणोंका आश्रय है। उसीके नामपर यह सनातन प्रदेश जम्बूद्वीपके नामसे विख्यात है ॥ २० ॥

योजनानां सहस्रं च शतं च भरतर्षभ।
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवस्पृङ्मनुजेश्वर ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुजेश्वर ! उस वृक्षराजकी ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। वह (ऊँचाई) स्वर्गलोकको स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

अरत्नीनां सहस्रं च शतानि दश पञ्च च।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम् ॥ २२ ॥

उसके फलोंमें जब रस आ जाता है अर्थात् जब वे पक जाते हैं, तब अपने-आप टूटकर गिर जाते हैं। उन फलोंकी लंबाई ढाई हजार अरत्नि[1] मानी गयी है ॥ २२ ॥

पतमानानि तान्युर्वी कुर्वन्ति विपुलं स्वनम्।
मुञ्चन्ति च रसं राजंस्तस्मिन् रजतसंनिभम् ॥ २३ ॥

राजन् ! वे फल इस पृथ्वीपर गिरते समय भारी धमाकेकी आवाज करते हैं और उस भूतलपर सुवर्णसदृश रस बहाया करते हैं ॥ २३ ॥

तस्या जम्ब्वाः फलरसो नदी भूत्वा जनाधिप।
मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा सम्प्रयात्युत्तरान् कुरून् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! उस जम्बूके फलोंका रस नदीके रूपमें परिणत होकर मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करता हुआ उत्तरकुरुवर्षमें पहुँच जाता है ॥ २४ ॥

तत्र तेषां मनःशान्तिर्न पिपासा जनाधिप।
तस्मिन् फलरसे पीते न जरा बाधते च तान् ॥ २५ ॥

राजन् ! फलोंके उस रसका पान कर लेनेपर वहाँके निवासियोंके मनमें पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता रहती है। उन्हें पिपासा अथवा वृद्धावस्था कभी नहीं सताती है ॥ २५ ॥

तत्र जाम्बूनदं नाम कनकं देवभूषणम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं जायते भास्वरं तु तत् ॥ २६ ॥

उस जम्बू नदीसे जाम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकट होता है, जो देवताओंका आभूषण है। वह इन्द्रगोपके समान लाल और अत्यन्त चमकीला होता है ॥ २६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च जायन्ते तत्र मानवाः।
तथा माल्यवतः शृङ्गे दृश्यते हव्यवाट् सदा ॥ २७ ॥

वहाँके लोग प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् होते हैं। माल्यवान् पर्वतके शिखरपर सदा अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्निर्भरतर्षभ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे पूर्वपूर्वानुगण्डिका ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वहाँ संवर्तक एवं कालाग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। माल्यवानके शिखरपर पूर्व-पूर्वकी ओर नदी प्रवाहित होती है ॥ २८ ॥

योजनानां सहस्राणि पञ्चषण्माल्यवानथ।
महारजतसंकाशा जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २९ ॥

माल्यवान्‌का विस्तार पाँच-छः हजार योजन है। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिमान् मानव उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकच्युताः सर्वे सर्वे सर्वेषु साधवः।
तपस्तप्यन्ति ते तीव्रं भवन्ति ह्यूर्ध्वरेतसः ।
रक्षणार्थं तु भूतानां प्रविशन्ते दिवाकरम् ॥ ३० ॥

वे सब लोग ब्रह्मलोकसे नीचे आये हुए पुण्यात्मा मनुष्य हैं। उन सबका सबके प्रति साधुतापूर्ण बर्ताव होता है। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते और कठोर तपस्या करते हैं। फिर समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये सूर्यलोकमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३० ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
अरुणस्याग्रतो यान्ति परिवार्य दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

उनमेंसे छाछठ हजार मनुष्य भगवान् सूर्यको चारों ओरसे घेरकर अरुणके आगे-आगे चलते हैं ॥ ३१ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
आदित्यतापतप्तास्ते विशन्ति शशिमण्डलम् ॥ ३२ ॥

वे छाछठ हजार वर्षोंतक ही सूर्यदेवके तापमें तपकर अन्तमें चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि माल्यवद्वर्णने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें माल्यवान्‌का वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

रमणक, हिरण्यक, शृङ्गवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

वर्षाणां चैव नामानि पर्वतानां च संजय।
आचक्ष्व मे यथातत्त्वं ये च पर्वतवासिनः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम सभी वर्षों और पर्वतोंके

१. पहुँचीसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलिके मूलभागतक एक मुठीकी लंबाईको 'अरत्नि' कहते हैं।

नाम बताओ और जो उन पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं उनकी स्थितिका भी यथावत् वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २ ॥
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ।
निःसपत्नाश्च ते सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ॥ ३ ॥

संजय बोले—राजन् ! श्वेतके दक्षिण और निषधके उत्तर रमणक नामक वर्ष है । वहाँ जो मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उत्तम कुलसे युक्त और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं । वहाँके सब मनुष्य शत्रुओंसे रहित होते हैं ॥ २-३ ॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जीवन्ति ते महाराज नित्यं मुदितमानसाः ॥ ४ ॥

महाराज ! रमणकवर्षके मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त होकर साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं ॥ ४ ॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं हिरण्मयं नाम यत्र हैरण्वती नदी ॥ ५ ॥

नीलके दक्षिण और निषधके उत्तर हिरण्मयवर्ष है, जहाँ हैरण्यवती नदी बहती है ॥ ५ ॥

यत्र चायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तमः ।
यक्षानुगा महाराज धनिनः प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥
महाबलास्तत्र जना राजन् मुदितमानसाः ।

महाराज ! वहीं विहंगोंमें उत्तम पक्षिराज गरुड़ निवास करते हैं । वहाँके सब मनुष्य यक्षोंकी उपासना करनेवाले, धनवान्, प्रियदर्शन, महाबली तथा प्रसन्नचित्त होते हैं ।६½।

एकादश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ ७ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति शतानि दश पञ्च च ।

जनेश्वर ! वहाँके लोग साढ़े बारह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ ७½ ॥

शृङ्गाणि च विचित्राणि त्रीण्येव मनुजाधिप ॥ ८ ॥
एकं मणिमयं तत्र तथैकं रौक्ममद्भुतम् ।
सर्वरत्नमयं चैकं भवनैरुपशोभितम् ॥ ९ ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ श्रृङ्गवान् पर्वतके तीन ही विचित्र शिखर हैं । उनमेंसे एक मणिमय है, दूसरा अद्भुत सुवर्णमय है तथा तीसरा अनेक भवनोंसे सुशोभित एवं सर्वरत्नमय है ८-९

तत्र स्वयंप्रभा देवी नित्यं वसति शाण्डिली ।
उत्तरेण तु श्रृङ्गस्य समुद्रान्ते जनाधिप ॥ १० ॥
वर्षमैरावतं नाम तस्माच्छृङ्गमतः परम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न जीर्यन्ते च मानवाः ॥ ११ ॥

वहाँ स्वयंप्रभा नामवाली शाण्डिली देवी नित्य निवास करती हैं । जनेश्वर ! श्रृङ्गवान् पर्वतके उत्तर समुद्रके निकट ऐरावत नामक वर्ष है । अतः इन शिखरोंसे संयुक्त यह वर्ष अन्य वर्षोंकी अपेक्षा उत्तम है । वहाँ सूर्यदेव ताप नहीं देते हैं और न वहाँके मनुष्य बूढ़े ही होते हैं ॥ १०-११ ॥

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ज्योतिर्भूत इवावृतः ।
पद्मप्रभाः पद्मवर्णाः पद्मपत्रनिभेक्षणाः ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा वहाँ ज्योतिर्मय होकर सब ओर व्याप्त-सा रहता है । वहाँके मनुष्य कमलकी-सी कान्ति तथा वर्णवाले होते हैं । उनके विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

पद्मपत्रसुगन्धाश्च जायन्ते तत्र मानवाः ।
अनिष्यन्दा इष्टगन्धा निराहारा जितेन्द्रियाः ॥ १३ ॥

वहाँके मनुष्योंके शरीरसे विकसित कमलदलोंके समान सुगन्ध प्रकट होती है । उनके शरीरसे पसीने नहीं निकलते। उनकी सुगन्ध प्रिय लगती है । वे आहार (भूख-प्याससे) रहित और जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १३ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे तथा विरजसो नृप ।
त्रयोदश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ १४ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति नरा भरतसत्तम ।

वे सबके सब देवलोकसे च्युत (होकर वहाँ शेष पुण्य-का उपभोग करते) हैं ! उनमें रजोगुणका सर्वथा अभाव होता है । भरतभूषण जनेश्वर ! वे तेरह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ १४½ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य तथैवोत्तरतः प्रभुः ।
हरिर्वसति वैकुण्ठः शकटे कनकामये ॥ १५ ॥
अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोजवम् ।
अग्निवर्णं महातेजो जाम्बूनदविभूषितम् ॥ १६ ॥

क्षीरसागरके उत्तर तटपर भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वे वहाँ सुवर्णमय रथपर विराजमान हैं । उस रथमें आठ पहिये लगे हैं । उसका वेग मनके समान है । वह समस्त भूतोंसे युक्त, अग्निके समान कान्तिमान्, परम तेजस्वी तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित है ॥ १५-१६ ॥

स प्रभुः सर्वभूतानां विभुश्च भरतर्षभ ।
संक्षेपो विस्तरश्चैव कर्ता कारयिता तथा ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ही समस्त प्राणियोंका संकोच और विस्तार करते हैं । वे ही करनेवाले और करानेवाले हैं ॥ १७ ॥

पृथिव्यापस्तथाऽऽकाशं वायुस्तेजश्च पार्थिव ।
स यज्ञः सर्वभूतानामास्यं तस्य हुताशनः ॥ १८ ॥

राजन् ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश सब कुछ वे ही हैं । वे ही समस्त प्राणियोंके लिये यज्ञस्वरूप हैं । अग्नि उनका मुख है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः संजयेन धृतराष्ट्रो महामनाः ।
ध्यानमन्वगमद् राजन् पुत्रान् प्रति जनाधिप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर महामना धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करने लगे ॥ १९ ॥

स विचिन्त्य महातेजाः पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
असंशयं सूतपुत्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ २० ॥

कुछ देरतक सोच-विचार करनेके पश्चात् महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र संजय ! इसमें संदेह नहीं कि काल ही सम्पूर्ण जगत्का संहार करता है ॥

सृजते च पुनः सर्वं विद्यते नेह शाश्वतम् ।
नरो नारायणश्चैव सर्वज्ञः सर्वभूतहृत् ॥ २१ ॥
देवा वैकुण्ठमित्याहुर्नरा विष्णुमिति प्रभुम् ॥ २२ ॥

'फिर वही सबकी सृष्टि करता है । यहाँ कुछ भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है । भगवान् नर और नारायण समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं सर्वज्ञ हैं । देवता उन्हें वैकुण्ठ और मनुष्य उन्हें शक्तिशाली विष्णु कहते हैं' ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम् ।
यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ १ ॥
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः ।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वं हि मे बुद्धिमान् मतः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! यह जो भारतवर्ष है, जिसमें यह राजाओंकी विशाल वाहिनी युद्धके लिये एकत्र हुई है, जहाँका साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये मेरा पुत्र दुर्योधन ललचाया हुआ है, जिसे पानेके लिये पाण्डवोंके मनमें भी बड़ी इच्छा है तथा जिसके प्रति मेरा मन भी बहुत आसक्त है, उस भारतवर्षका तुम यथार्थरूपसे वर्णन करो; क्योंकि इस कार्यके लिये मेरी दृष्टिमें तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो १-२

संजय उवाच

न तत्र पाण्डवा गृद्धाः शृणु राजन् वचो मम ।
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आप मेरी बात सुनिये । पाण्डवोंको इस भारतवर्षके साम्राज्यका लोभ नहीं है । दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही उसके लिये बहुत लुभाये हुए हैं ॥ ३ ॥

अपरे क्षत्रियाश्चैव नानाजनपदेश्वराः ।
ये गृद्धा भारते वर्षे न मृष्यन्ति परस्परम् ॥ ४ ॥

विभिन्न जनपदोंके स्वामी जो दूसरे-दूसरे क्षत्रिय हैं, वे भी इस भारतवर्षके प्रति गृध्र-दृष्टि लगाये हुए एक दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं ॥ ४ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ५ ॥

भारत ! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्षका वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनुका प्रिय देश है ॥५॥

पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥ ६ ॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥ ७ ॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥ ८ ॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥ ९ ॥

राजन् ! दुर्धर्ष महाराज ! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनर-पुत्र शिबि, ऋषभ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभीको भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है ॥ ६–९ ॥

तत् ते वर्षं प्रवक्ष्यामि यथायथमरिंदम ।
शृणु मे गदतो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश ! मैं उसी भारतवर्षका यथावत् वर्णन कर रहा हूँ । आप मुझसे जो कुछ पूछते या जानना चाहते हैं वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ १० ॥

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवानपि ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ ११ ॥

इस भारतवर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुलपर्वत कहे गये हैं ११

तेषां सहस्रशो राजन् पर्वतास्ते समीपतः ।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः ॥ १२ ॥

राजन् ! इनके आसपास और भी हजारों अविज्ञात पर्वत हैं, जो रत्न आदि सार वस्तुओंसे युक्त, विस्तृत और विचित्र शिखरोंसे सुशोभित हैं ॥ १२ ॥

अन्ये ततोऽपरिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः ।
आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो ॥ १३ ॥
नदीं पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम् ।
गोदावरीं नर्मदां च बाहुदां च महानदीम् ॥ १४ ॥

शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम्।
दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम् ॥ १५ ॥
नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम्।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ॥ १६ ॥
वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम्।
करीषिणीं चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम् ॥ १७ ॥

इनसे भिन्न और भी छोटे-छोटे अपरिचित पर्वत हैं, जो छोटे-छोटे प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आश्रय बने हुए हैं। प्रभो ! कुरुनन्दन! इस भारतवर्षमें आर्य, म्लेच्छ तथा संकर जातिके मनुष्य निवास करते हैं। वे लोग यहाँकी जिन बड़ी-बड़ी नदियोंके जल पीते हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, बाहुदा, महानदी, शतद्रू, चन्द्रभागा, महानदी यमुना, दृषद्वती, विपाशा, विपापा, स्थूलवालुका, वेत्रवती, कृष्णवेणा, इरावती, वितस्ता, पयोष्णी, देविका, वेदस्मृता, वेदवती, त्रिदिवा, इक्षुला, कृमि, करीषिणी, चित्रवाहा तथा चित्रसेना नदी ॥ १३—१७॥

गोमतीं धूतपापां च वन्दनां च महानदीम्।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां निचितां लोहितारणीम्॥ १८ ॥
रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च तथैव च।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा ॥ १९ ॥
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि ॥ २० ॥

गोमती, धूतपापा, महानदी वन्दना, कौशिकी, त्रिदिवा, कृत्या, निचिता, लोहितारणी, रहस्या, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, हस्तिसोमा, दिक्, शरावती, पयोष्णी, वेणा, भीमरथी, कावेरी, चुलुका, वाणी और शतबला १८—२०

नीवारामहितां चापि सुप्रयोगां जनाधिप।
पवित्रां कुण्डलीं सिन्धुं राजनीं पुरमालिनीम् ॥ २१ ॥
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमामोघवतीं तथा।
पाशाशिनीं पापहरां महेन्द्रां पाटलावतीम् ॥ २२ ॥
करीषिणीमसिक्नीं च कुशचीरां महानदीम्।
मकरीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा ॥ २३ ॥
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! नीवारा, अहिता, सुप्रयोगा, पवित्रा, कुण्डली, सिन्धु, राजनी, पुरमालिनी, पूर्वाभिरामा, वीरा (नीरा), भीमा, ओघवती, पाशाशिनी, पापहरा, महेन्द्रा, पाटलावती, करीषिणी, असिक्नी, महानदी कुशचीरा, मकरी, प्रवरा, मेना, हेमा, घृतवती, पुरावती, अनुष्णा, शैब्या, कापी, सदानीरा, अधृष्या और महानदी कुशधारा ॥ २१—२४ ॥

सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम् ॥ २५ ॥
वरां वीरकरां चापि पञ्चमीं च महानदीम्।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम् ॥ २६ ॥
उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम्।
विनदीं पिञ्जलां वेणां तुङ्गवेणां महानदीम् ॥ २७ ॥
विदिशां कृष्णवेणां च ताम्रां च कपिलामपि।
खलुं सुवामां वेदाश्वां हरिश्रावां महापगाम् ॥ २८ ॥
शीघ्रां च पिच्छिलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम्।
कौशिकीं निम्नगां शोणां बाहुदामथ चन्द्रमाम्॥ २९ ॥
दुर्गां चित्रशिलां चैव ब्रह्मवेध्यां बृहद्वतीम्।
यवक्षामथ रोहीं च तथा जाम्बूनदीमपि ॥ ३० ॥

सदाकान्ता, शिवा, वीरमती, वस्त्रा, सुवस्त्रा, गौरी, कम्पना, हिरण्वती, वरा, वीरकरा, महानदी पञ्चमी, रथचित्रा, ज्योतिरथा, विश्वामित्रा, कपिञ्जला, उपेन्द्रा, बहुला, कुवीरा, अम्बुवाहिनी, विनदी, पिञ्जला, वेणा, महानदी तुंगवेणा, विदिशा, कृष्णवेणा, ताम्रा, कपिला, खलु, सुवामा, वेदाश्वा, हरिश्रावा, महापगा, शीघ्रा, पिच्छिला, भारद्वाजी नदी, कौशिकी नदी, शोणा, बाहुदा, चन्द्रमा, दुर्गा, चित्रशिला, ब्रह्मवेध्या, बृहद्वती, यवक्षा, रोही तथा जाम्बूनदी २५—३०

सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम्।
नीलां घृतवतीं चैव पर्णाशां च महानदीम् ॥ ३१ ॥
मानवीं वृषभां चैव ब्रह्ममेध्यां बृहद्ध्वनिम्।
एताश्चान्याश्च बहुधा महानद्यो जनाधिप ॥ ३२ ॥

सुनसा, तमसा, दासी, वसा, वराणसी, नीला, घृतवती, महानदी पर्णाशा, मानवी, वृषभा, ब्रह्ममेध्या, बृहद्ध्वनि, राजन् ! ये तथा और भी बहुत-सी नदियाँ हैं ॥ ३१-३२ ॥

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दवाहिनीम्।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च भारत ॥ ३३ ॥
चित्रोपलां चित्ररथां मञ्जुलां वाहिनीं तथा।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोषां चापि महानदीम् ॥ ३४ ॥
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसाह्वयाम्।
लोहित्यां करतोयां च तथैव वृषकाह्वयाम् ॥ ३५ ॥
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम्।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वां गङ्गां च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! सदा निरामया, कृष्णा, मन्दगा, मन्दवाहिनी, ब्राह्मणी, महागौरी, दुर्गा, चित्रोत्पला, चित्ररथा, मञ्जुला, वाहिनी, मन्दाकिनी, वैतरणी, महानदी कोषा, शुक्तिमती, अनंगा, वृषा, लोहित्या, करतोया, वृषका, कुमारी, ऋषिकुल्या, मारिषा, सरस्वती, मन्दाकिनी, सुपुण्या, सर्वा तथा गङ्गा, भारत ! इन नदियोंके जल भारतवासी पीते हैं ॥ ३३—३६ ॥

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।
तथा नद्यस्त्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥

राजन्! पूर्वोक्त सभी नदियाँ सम्पूर्ण विश्वकी माताएँ हैं, वे सबकी सब महान् पुण्य फल देनेवाली हैं। इनके सिवा सैकड़ों और हजारों ऐसी नदियाँ हैं, जो लोगोंके परिचयमें नहीं आयी हैं ॥ ३७ ॥

इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति।
अत ऊर्ध्वं जनपदान् निबोध गदतो मम ॥ ३८ ॥

राजन्! जहाँतक मेरी स्मरणशक्ति काम दे सकी है, उसके अनुसार मैंने इन नदियोंके नाम बताये हैं। इसके बाद अब मैं भारतवर्षके जनपदोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ॥ ३९ ॥
मत्स्याःकुशल्याःसौशल्याःकुन्तयः कान्तिकोसलाः।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥ ४० ॥
उत्तमाश्वदशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह।
पञ्चालाः कोसलाश्चैव नैकपृष्ठा धुरंधराः ॥ ४१ ॥
गोधामद्रकलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः।
जठराः कुक्कुराश्चैव सदशार्णाश्च भारत ॥ ४२ ॥
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः।
गोमन्ता मण्डकाः सण्डा विदर्भा रूपवाहिकाः ॥ ४३ ॥
अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ॥ ४४ ॥

भारतमें ये कुरु-पाञ्चाल, शाल्व, माद्रेय-जाङ्गल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, मत्स्य, करूष, भोज, सिन्धु-पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पञ्चाल, कोसल, नैकपृष्ठ, धुरंधर, गोधा, मद्रकलिंग, काशि, अपरकाशि, जठर, कुक्कुर, दशार्ण, कुन्ति, अवन्ति, अपरकुन्ति, गोमन्त, मन्दक, सण्ड, विदर्भ, रूपवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र, करीति, अधिराज्य, कुशाद्य तथा मल्लराष्ट्र ॥ ३९-४४ ॥

वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ॥ ४५ ॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च।
मल्लाःसुदेष्णाःप्रह्लादा माहिकाःशशिकास्तथा ॥ ४६ ॥
बाह्लिका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः।
अपरान्ताः परान्ताश्च पञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ॥ ४७ ॥
अटवीशिखराश्चैव मेरुभूताश्च मारिष।
उपावृत्तानुपावृत्ताः स्वराष्ट्राः केकयास्तथा ॥ ४८ ॥
कुन्दापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः।
अन्ध्राश्च बहवो राजन्नन्तर्गिर्यास्तथैव च ॥ ४९ ॥
बहिर्गिर्याङ्गमलजा मगधा मानवर्जकाः।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवाश्च जनाधिप ॥ ५० ॥

वारवास्य, अयवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वक्ष, मलज, विजय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, यकृल्लोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रह्लाद, माहिक, शशिक, बाह्लिक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पञ्चाल, चर्ममण्डल, अटवीशिखर, मेरुभूत, उपावृत्त, अनुपावृत्त, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्दापरान्त, माहेय, कक्ष, सामुद्रनिष्कुट, बहुसंख्यक अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अङ्गमलज, मगध, मानवर्जक, समन्तर प्रावृषेय तथा भार्गव ॥ ४५-५० ॥

पुण्ड्रा भर्गाः किराताश्च सुदृष्टा यामुनास्तथा।
शका निषादा निषधास्तथैवानर्तनैर्ऋताः ॥ ५१ ॥
दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोसलास्तथा।
तीरग्रहाः शूरसेना ईजिकाः कन्यकागुणाः ॥ ५२ ॥
तिलभारा मसीराश्च मधुमन्तः सुकन्दकाः।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धारा दर्शकास्तथा ॥ ५३ ॥
अभीसारा उलूताश्च शैवला बाह्लिकास्तथा।
दार्वी च वानवा दर्वा वातजामरथोरगाः ॥ ५४ ॥
बहुवाद्याश्च कौरव्य सुदामानः सुमल्लिकाः।
वध्राः करीषकाश्चापि कुलिन्दोपत्यकास्तथा ॥ ५५ ॥
वनायवो दशापार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः।
कच्छा गोपालकक्षाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ॥ ५६ ॥
किराता बर्बराः सिद्धा वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
ओण्ड्रा म्लेच्छाः सैसिरिध्राः पार्वतीयाश्च मारिष ॥ ५७ ॥

पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूत, शैवाल, बाह्लिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदाम, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्दु, कच्छ, गोपालकक्ष, जाङ्गल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, ओण्ड्र, म्लेच्छ, सैसिरिध्र और पार्वतीय इत्यादि ॥

अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूषिका वनवासिकाः ॥ ५८ ॥
कर्णाटका महिषका विकल्पा मूषकास्तथा।
झिल्लिकाः कुन्तलाश्चैव सौहृदा नभकाननाः ॥ ५९ ॥
कौकुट्टकास्तथा चोलाः कोङ्कणा मालवा नराः।
समङ्गाः करकाश्चैव कुकुराङ्गारमारिषाः ॥ ६० ॥
ध्वजिन्युत्सवसंकेतास्त्रिगर्ताः शाल्वसेनयः।
व्यूकाः कोकबकाः प्रोष्ठाः समवेगवशास्तथा ॥ ६१ ॥
तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह।
मालवा वल्लवाश्चैव तथैवापरवल्लवाः ॥ ६२ ॥
कुलिन्दाः कालदाश्चैव कुण्डलाः करटास्तथा।
मूषकाः स्तनबालाश्च सनीपा घटसृंजयाः ॥ ६३ ॥

अठिदाः पाशिवाटाश्च तनयाः सुनयास्तथा।
ऋषिका विदभाः काकास्तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ६४ ॥
उत्तराश्चापरम्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब जो दक्षिण दिशाके अन्यान्य जनपद हैं उनका वर्णन सुनिये—द्रविड, केरल, प्राच्य, भूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, विकल्प, मूषक, झिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, नभकानन, कौकुट्टक, चोल, कोङ्कण, मालव, नर, समङ्ग, करक, कुकुर, अङ्गार, मारिष, ध्वजिनी, उत्सवसंकेत, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकबक, प्रोष्ठ, समवेगवश, विन्ध्यचुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, बल्लव, अपरवल्लव, कुलिन्द, कालद, कुण्डल, करट, मूषक, स्तनबाल, सनीप, घट, सृंजय, अठिद, पाशिवाट, तनय, सुनय, ऋषिक, विदभ, काक, तङ्गण, परतङ्गण, उत्तर और क्रूर अपरम्लेच्छ, यवन, चीन तथा जहाँ भयानक म्लेच्छ जातिके लोग निवास करते हैं, वह काम्बोज ॥ ५८—६५ ॥

सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः ॥ ६६ ॥
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च।
शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ॥ ६७ ॥
खाशीराश्चान्तचाराश्च पह्लवा गिरिगह्वराः।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषिकाः ॥ ६८ ॥
प्रोषकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ॥ ६९ ॥

सकृद्ग्रह, कुलत्थ, हूण, पारसिक, रमण-चीन, दशमालिक, क्षत्रियोंके उपनिवेश, वैश्यों और शूद्रोंके जनपद, शूद्र, आभीर, दरद, काश्मीर, पशु, खाशीर, अन्तचार, पह्लव, गिरिगह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनपोषिक, प्रोषक, कलिङ्ग, किरात जातियोंके जनपद, तोमर, हन्यमान और करभञ्जक इत्यादि ॥ ६७—६९ ॥

एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च।
उद्देशमात्रेण मया देशाः संकीर्तिता विभो ॥ ७० ॥

राजन् ! ये तथा और भी पूर्व और उत्तर दिशाके जनपद एवं देश मैंने संक्षेपसे बताये हैं ॥ ७० ॥

यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम्।
दुह्येत धेनुः कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ॥ ७१ ॥

अपने गुण और बलके अनुसार यदि अच्छी तरह इस भूमिका पालन किया जाय तो यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंके महान् फलकी प्राप्ति कराती है ॥ ७१ ॥

तस्यां गृद्ध्यन्ति राजानः शूरा धर्मार्थकोविदाः।
ते त्यजन्त्याहवे प्राणान् वसुगृद्धास्तरस्विनः ॥ ७२ ॥

इसीलिये धर्म और अर्थके काममें निपुण शूर-वीर नरेश इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं और धनके लोभमें आसक्त हो वेगपूर्वक युद्धमें जाकर अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं॥

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम्।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ॥ ७३ ॥
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुंधराम्।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ॥ ७४॥

देवशरीरधारी प्राणियोंके लिये और मानवशरीरधारी जीवोंके लिये यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है। भरतश्रेष्ठ ! जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये परस्पर लड़ते और एक दूसरेको नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधाको भोगनेकी इच्छा रखकर आपसमें लड़ते और लूट-पाट करते हैं; किंतु आजतक किसीको अपनी कामनाओंसे तृप्ति नहीं हुई ॥ ७३-७४ ॥

तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! इस अतृप्तिके ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा सम्पूर्ण वसुधापर अधिकार पानेके लिये यत्न करते हैं ॥ ७५ ॥

पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शना ॥ ७६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि भूमिके यथार्थ स्वरूपका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान हो जाय तो यह परमात्मासे अभिन्न होनेके कारण प्राणियोंके लिये स्वयं ही पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक तथा स्वर्ग भी बन जाती है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनदीदेशादिनामकथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतकी नदियों और देश आदिके नामका वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

भारतस्यास्य वर्षस्य तथा हैमवतस्य च।
प्रमाणमायुषः सूत बलं चापि शुभाशुभम् ॥ १ ॥
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानं च संजय।

आचक्ष्व मे विस्तरेण हरिवर्षं तथैव च ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! तुम भारतवर्ष और हैमवत-वर्षके लोगोंके आयुका प्रमाण, बल तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान शुभाशुभ फल बताओ । साथ ही हरिवर्षका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ ।
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन ॥ ३ ॥

संजयने कहा—कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! भारतवर्षमें चार युग होते हैं–सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ॥ ३ ॥

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेतायुगं प्रभो ।
संक्षेपाद् द्वापरस्याथ ततस्तिष्यं प्रवर्तते ॥ ४ ॥

प्रभो ! पहले सत्ययुग होता है, फिर त्रेतायुग आता है, उसके बाद द्वापरयुग बीतनेपर कलियुगकी प्रवृत्ति होती है ॥

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कुरुसत्तम ।
आयुःसंख्या कृतयुगे संख्याता राजसत्तम ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! नृपप्रवर ! सत्ययुगके लोगोंकी आयुका मान चार हजार वर्ष है ॥ ५ ॥

तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप ।
द्वे सहस्रे द्वापरे तु भुवि तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

मनुजेश्वर ! त्रेताके मनुष्योंकी आयु तीन हजार वर्षोंकी बतायी गयी है । द्वापरके लोगोंकी आयु दो हजार वर्षोंकी है, जो इस समय भूतलपर विद्यमान है ॥ ६ ॥

न प्रमाणस्थितिर्ह्यस्ति तिष्येऽस्मिन् भरतर्षभ ।
गर्भस्थाश्च म्रियन्तेऽत्र तथा जाता म्रियन्ति च ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस कलियुगमें आयु-प्रमाणकी कोई मर्यादा नहीं है । यहाँ गर्भके बच्चे भी मरते हैं और नवजात शिशु भी मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

महाबला महासत्त्वाः प्रज्ञागुणसमन्विताः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥
जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः ॥ ९ ॥

सत्ययुगमें महाबली, महान् सत्त्वगुणसम्पन्न, बुद्धिमान्, धनवान् और प्रियदर्शन मनुष्य उत्पन्न होते हैं और सैकड़ों तथा हजारों संतानोंको जन्म देते हैं, उस समय प्रायः तपस्याके धनी महर्षिगण जन्म लेते हैं ॥ ८-९ ॥

महोत्साहा महात्मानो धार्मिकाः सत्यवादिनः ।
प्रियदर्शना वपुष्मन्तो महावीर्या धनुर्धराः ॥ १० ॥
वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः ।
त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्तिनः ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार त्रेतायुगमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय अत्यन्त उत्साही, महान् मनस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, प्रियदर्शन, सुन्दर शरीरधारी, महापराक्रमी, धनुर्धर, वर पानेके योग्य, युद्धमें शूरशिरोमणि तथा मानवोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं ॥

सर्ववर्णाश्च जायन्ते सदा चैव च द्वापरे ।
महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्परजयैषिणः ॥ १२ ॥

द्वापरमें सभी वर्णोंके लोग उत्पन्न होते हैं एवं वे सदा परम उत्साही, पराक्रमी तथा एक दूसरेको जीतनेके इच्छुक होते हैं ॥ १२ ॥

तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप ।
लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! कलियुगमें जन्म लेनेवाले लोग प्रायः अल्प-तेजस्वी, क्रोधी, लोभी तथा असत्यवादी होते हैं ॥ १३ ॥

ईर्ष्या मानस्तथा क्रोधो मायासूया तथैव च ।
तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश्च भारत ॥ १४ ॥

भारत ! कलियुगके प्राणियोंमें ईर्ष्या, मान, क्रोध, माया, दोष-दृष्टि, राग तथा लोभ आदि दोष रहते हैं ॥ १४ ॥

संक्षेपो वर्तते राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।
गुणोत्तरं हैमवतं हरिवर्षं ततः परम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस द्वापरमें भी गुणोंकी न्यूनता होती है । भारतवर्षकी अपेक्षा हैमवत तथा हरिवर्षमें उत्तरोत्तर अधिक गुण हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतवर्षे कृताद्यनुरोधेनायुर्निरूपणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतवर्षमें सत्ययुग आदिके अनुसार आयुका निरूपणविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(भूमिपर्व)

एकादशोऽध्यायः

शाकद्वीपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

जम्बूखण्डस्त्वया प्रोक्तो यथावदिह संजय ।
विष्कम्भमस्य प्रब्रूहि परिमाणं तु तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने यहाँ जम्बूखण्डका यथावत् वर्णन किया है । अब तुम इसके विस्तार और परिमाणको ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

समुद्रस्य प्रमाणं च सम्यगच्छिद्रदर्शनम्।
शाकद्वीपं च मे ब्रूहि कुशद्वीपं च संजय ॥ २ ॥

संजय ! समुद्रके सम्पूर्ण परिमाणको भी अच्छी तरह समझाकर कहो। इसके बाद मुझसे शाकद्वीप और कुशद्वीपका वर्णन करो ॥ २ ॥

शाल्मलिं चैव तत्त्वेन क्रौञ्चद्वीपं तथैव च।
ब्रूहि गावल्गणे सर्वं राहोः सोमार्कयोस्तथा ॥ ३ ॥

गवल्गणकुमार संजय ! इसी प्रकार शाल्मलिद्वीप, क्रौंचद्वीप तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं राहुसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करो ॥ ३ ॥

संजय उवाच

राजन् सुबहवो द्वीपा यैरिदं संततं जगत्।
सप्तद्वीपान् प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यौ ग्रहं तथा ॥ ४ ॥

संजय बोले—राजन् ! बहुत-से द्वीप हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार सात द्वीपोंका तथा चन्द्रमा, सूर्य और राहुका भी वर्णन करूँगा ॥

अष्टादश सहस्राणि योजनानि विशाम्पते।
षट् शतानि च पूर्णानि विष्कम्भो जम्बुपर्वतः ॥ ५ ॥
लावणस्य समुद्रस्य विष्कम्भो द्विगुणः स्मृतः।
नानाजनपदाकीर्णो मणिविद्रुमचित्रितः ॥ ६ ॥
नैकधातुविचित्रैश्च पर्वतैरुपशोभितः।
सिद्धचारणसंकीर्णः सागरः परिमण्डलः ॥ ७ ॥

राजन् ! जम्बूद्वीपका विस्तार पूरे १८६०० योजन है। इसके चारों ओर जो खारे पानीका समुद्र है, उसका विस्तार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दूना माना गया है। उसके तटपर तथा टापूमें बहुत-से देश और जनपद हैं। उसके भीतर नाना प्रकारके मणि और मूँगे हैं, जो उसकी विचित्रता सूचित करते हैं। अनेक प्रकारके धातुओंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले बहुसंख्यक पर्वत उस सागरकी शोभा बढ़ाते हैं। सिद्धों तथा चारणोंसे भरा हुआ वह लवणसमुद्र सब ओरसे मण्डलाकार है ॥

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
शृणु मे त्वं यथान्यायं ब्रुवतः कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

राजन्! अब मैं शाकद्वीपका यथावत् वर्णन आरम्भ करता हूँ। कुरुनन्दन! मेरे इस न्यायोचित कथनको आप ध्यान देकर सुनें॥

जम्बूद्वीपप्रमाणेन द्विगुणः स नराधिप।
विष्कम्भेण महाराज सागरोऽपि विभागशः ॥ ९ ॥

महाराज ! नरेश्वर ! वह द्वीप विस्तारकी दृष्टिसे जम्बूद्वीपके परिमाणसे दूना है। भरतश्रेष्ठ ! उसका समुद्र भी विभागपूर्वक उससे दूना ही है ॥ ९ ॥

क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः।
तत्र पुण्या जनपदास्तत्र न म्रियते जनः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समुद्रका नाम क्षीरसागर है, जिसने उक्त द्वीपको सब ओरसे घेर रक्खा है। वहाँ पवित्र जनपद हैं। वहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी मृत्यु नहीं होती ॥ १० ॥

कुत एव हि दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते।
शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावद् भरतर्षभ ॥ ११ ॥
उक्त एष महाराज किमन्यत् कथयामि ते।

फिर वहाँ दुर्भिक्ष तो हो ही कैसे सकता है ? उस द्वीपके निवासी क्षमाशील और तेजस्वी होते हैं। भरतश्रेष्ठ महाराज ! इस प्रकार शाकद्वीपका संक्षेपसे यथावत् वर्णन किया गया है। अब और आपसे क्या कहूँ ? ॥ ११½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावदिह संजय ॥ १२ ॥
उक्तस्त्वया महाप्राज्ञ विस्तरं ब्रूहि तत्त्वतः।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् संजय ! तुमने यहाँ शाकद्वीपका संक्षिप्तरूपसे यथावत् वर्णन किया है। अब उसका कुछ विस्तारके साथ यथार्थ परिचय दो ॥ १२½ ॥

संजय उवाच

तथैव पर्वता राजन् सप्तात्र मणिभूषिताः ॥ १३ ॥
रत्नाकरास्तथा नद्यस्तेषां नामानि मे शृणु।

संजय बोले—राजन् ! शाकद्वीपमें भी मणियोंसे विभूषित सात पर्वत हैं। वहाँ रत्नोंकी बहुत-सी खानें तथा नदियाँ भी हैं। उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ १३½ ॥

अतीव गुणवत् सर्वं तत्र पुण्यं जनाधिप ॥ १४ ॥
देवर्षिगन्धर्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते।
प्रागायतो महाराज मलयो नाम पर्वतः ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! वहाँका सब कुछ परम पवित्र और अत्यन्त गुणकारी है। वहाँका प्रधान पर्वत है मेरु, जो देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। महाराज ! दूसरे पर्वतका नाम मलय है, जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ है ॥ १४-१५ ॥

ततो मेघाः प्रवर्तन्ते प्रभवन्ति च सर्वशः।
ततः परेण कौरव्य जलधारो महागिरिः ॥ १६ ॥

मेघ वहींसे उत्पन्न होते हैं, फिर वे सब ओर फैलकर जलकी वर्षा करनेमें समर्थ होते हैं। कुरुनन्दन ! उसके बाद जलधार नामक महान् पर्वत है ॥ १६ ॥

ततो नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्।
ततो वर्षं प्रभवति वर्षकाले जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर ! इन्द्र वहींसे सदा उत्तम जल ग्रहण करते हैं। इसीलिये वर्षाकालमें वे यथेष्ट जल बरसानेमें समर्थ होते हैं ॥

उच्चैर्गिरी रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता।
रेवती दिवि नक्षत्रं पितामहकृतो विधिः ॥ १८ ॥

उसी द्वीपमें उच्चतम रैवतक पर्वत है, जहाँ आकाशमें रेवती नामक नक्षत्र नित्य प्रतिष्ठित है। यह ब्रह्माजीका रचा हुआ विधान है ॥ १८ ॥

उत्तरेण तु राजेन्द्र श्यामो नाम महागिरिः।
नवमेघप्रभः प्रांशुः श्रीमानुज्ज्वलविग्रहः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र! उसके उत्तर भागमें श्याम नामक महान् पर्वत है, जो नूतन मेघके समान श्याम शोभासे युक्त है। उसकी ऊँचाई बहुत है। उसका कान्तिमान् कलेवर परम उज्ज्वल है॥

यतः श्यामत्वमापन्नाः प्रजा जनपदेश्वर।

जनपदेश्वर! वहाँ रहनेसे ही वहाँकी प्रजा श्यामताको प्राप्त हुई है॥ १९½॥

धृतराष्ट्र उवाच

सुमहान् संशयो मेऽद्य प्रोक्तोऽयं संजय त्वया।
प्रजाः कथं सूतपुत्र सम्प्राप्ताः श्यामतामिह ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र संजय! यह तो तुमने आज मुझसे महान् संशयकी बात कही है। भला, वहाँ रहने मात्रसे प्रजा श्यामताको कैसे प्राप्त हो गयी?॥ २०॥

संजय उवाच

सर्वेष्वेव महाराज द्वीपेषु कुरुनन्दन।
गौरः कृष्णश्च वर्णौ द्वौ तयोर्वर्णान्तरं नृप ॥ २१ ॥
श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत।
आस्तेऽत्र भगवान् कृष्णस्तत्कान्त्या श्यामतां गतः॥२२॥

संजयने कहा—महाराज कुरुनन्दन! सम्पूर्ण द्वीपोंमें गौर, कृष्ण तथा इन दोनों वर्णोंका सम्मिश्रण देखा जाता है। भारत! यह पर्वत जिस कारणसे श्याम होकर दूसरोंमें भी श्यामता उत्पन्न करनेवाला हुआ; वह आपको बताता हूँ। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं; अतः उन्हींकी कान्तिसे यह (स्वयं भी) श्यामताको प्राप्त हुआ है (और अपने समीप रहनेवाली प्रजामें भी श्यामता उत्पन्न कर देता है)॥

ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः।
केसरः केसरयुतो यतो वातः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

कौरवराज! श्यामगिरिके बाद बहुत ऊँचा दुर्ग शैल है। उसके बाद केसर पर्वत है; जहाँसे चली हुई वायु केसरकी सुगन्ध लिये बहती है॥ २३॥

तेषां योजनविष्कम्भो द्विगुणः प्रविभागशः।
वर्षाणि तेषु कौरव्य सप्तोक्तानि मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इन सब पर्वतोंका विस्तार दूना होता गया है। कुरुनन्दन! मनीषी पुरुषोंने उन पर्वतोंके समीप सात वर्ष बताये हैं॥

महामेरुर्महाकाशो जलदः कुमुदोत्तरः।
जलधारो महाराज सुकुमार इति स्मृतः ॥ २५ ॥

महामेरु पर्वतके समीप महाकाश वर्ष है, जलद या मलयके निकट कुमुदोत्तर वर्ष है। महाराज! जलधार गिरिका पार्श्ववर्ती वर्ष सुकुमार बताया गया है॥ २५॥

रैवतस्य तु कौमारः श्यामस्य मणिकाञ्चनः।
केसरस्याथ मोदाकी परेण तु महापुमान् ॥ २६ ॥

रैवतक पर्वतका कुमारवर्ष तथा श्यामगिरिका मणिकाञ्चन वर्ष है। इसी प्रकार केसरके समीपवर्ती वर्षको मोदाकी कहते हैं। उसके आगे महापुमान् नामक एक पर्वत है॥

परिवार्य तु कौरव्य दैर्घ्यं ह्रस्वत्वमेव च।
जम्बूद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये महाद्रुमः ॥ २७ ॥
शाको नाम महाराज प्रजा तस्य सदानुगा।
तत्र पुण्या जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ॥ २८ ॥

वह उस द्वीपकी लंबाई और चौड़ाई सबको घेरकर खड़ा है। महाराज! उसके बीचमें शाक नामक एक बड़ा भारी वृक्ष है, जो जम्बूद्वीपके समान ही विशाल है। महाराज! वहाँकी प्रजा सदा उस शाक वृक्षके ही आश्रित रहती है। वहाँ बड़े पवित्र जनपद हैं। उस द्वीपमें भगवान् शङ्करकी आराधना की जाती है॥ २७-२८॥

तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च।
धार्मिकाश्च प्रजा राजंश्चत्वारोऽतीव भारत ॥ २९ ॥

राजन्! भरतनन्दन! वहाँ सिद्ध, चारण और देवता जाते हैं। वहाँके चारों वर्णोंकी प्रजा अत्यन्त धार्मिक होती है॥

वर्णाः स्वकर्मनिरता न च स्तेनोऽत्र दृश्यते।
दीर्घायुषो महाराज जरामृत्युविवर्जिताः ॥ ३० ॥

सभी वर्णके लोग वहाँ अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका पालन करते हैं। वहाँ कोई चोर नहीं दिखायी देता। महाराज! उस द्वीपके निवासी दीर्घायु तथा जरा और मृत्युसे रहित होते हैं॥ ३०॥

प्रजास्तत्र विवर्धन्ते वर्षास्विव समुद्रगाः।
नद्यः पुण्यजलास्तत्र गङ्गा च बहुधा गता ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार वहाँकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। उस द्वीपमें अनेक पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं। वहाँ गङ्गा भी अनेक धाराओंमें विभक्त देखी जाती हैं॥

सुकुमारी कुमारी च शीताशी वेणिका तथा।
महानदी च कौरव्य तथा मणिजला नदी ॥ ३२ ॥
चक्षुर्वर्धनिका चैव नदी भरतसत्तम।
तत्र प्रवृत्ताः पुण्योदा नद्यः कुरुकुलोद्वह ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन! भरतश्रेष्ठ! उस द्वीपमें सुकुमारी, कुमारी, शीताशी, वेणिका, महानदी, मणिजला तथा चक्षुर्वर्धनिका आदि पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं॥ ३२-३३॥

सहस्राणां शतान्येव यतो वर्षति वासवः।
न तासां नामधेयानि परिमाणं तथैव च ॥ ३४ ॥
शक्यन्ते परिसंख्यातुं पुण्यास्ता हि सरिद्वराः।
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ॥ ३५ ॥

वहाँ लाखों ऐसी नदियाँ हैं, जिनसे जल लेकर इन्द्र वर्षा करते हैं। उनके नाम और परिमाणकी संख्या बताना

कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी श्रेष्ठ नदियाँ परम पुण्यमयी हैं। उस द्वीपमें लोकसम्मानित चार पवित्र जनपद हैं॥

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ॥ ३६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मङ्ग, मशक, मानस तथा मन्दग। नरेश्वर! उनमेंसे मङ्ग जनपदमें अधिकतर ब्राह्मण निवास करते हैं। वे सबके सब अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं॥ ३६॥

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ॥ ३७ ॥
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।

महाराज! मशक जनपदमें सम्पूर्ण कामनाओंके देनेवाले धर्मात्मा क्षत्रिय निवास करते हैं। मानस जनपदके निवासी वैश्यवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं। वे सर्वभोगसम्पन्न, शूर-वीर, धर्म और अर्थको समझनेवाले एवं दृढ़निश्चयी होते हैं॥

शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः ॥ ३८ ॥

मन्दग जनपदमें शूद्र रहते हैं। वे भी धर्मात्मा होते हैं॥

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र! वहाँ न कोई राजा है, न दण्ड है और न दण्ड देनेवाला है। वहाँके लोग धर्मके ज्ञाता हैं और स्वधर्मपालनके ही प्रभावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं॥ ३९॥

एतावदेव शक्यं तु तत्र द्वीपे प्रभाषितुम्।
एतदेव च श्रोतव्यं शाकद्वीपे महौजसि ॥ ४० ॥

महाराज! उस महान् तेजोमय शाकद्वीपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है और इतना ही सुनना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि शाकद्वीपवर्णने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें शाकद्वीपवर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

कुश, क्रौञ्च और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन

संजय उवाच

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा।
एवं तत्र महाराज ब्रुवतश्च निबोध मे ॥ १ ॥

संजय बोले—महाराज! कुरुनन्दन! इसके बादवाले द्वीपोंके विषयमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे इस प्रकार हैं; उन्हें आप मुझसे सुनिये॥ १॥

घृततोयः समुद्रोऽत्र दधिमण्डोदकोऽपरः।
सुरोदः सागरश्चैव तथान्यो जलसागरः ॥ २ ॥

क्षीरोद समुद्रके बाद घृतोद समुद्र है। फिर दधिमण्डोदक समुद्र है। इनके बाद सुरोद समुद्र है, फिर मीठे पानीका सागर है॥ २॥

परस्परेण द्विगुणाः सर्वे द्वीपा नराधिप।
पर्वताश्च महाराज समुद्रैः परिवारिताः ॥ ३ ॥

महाराज! इन समुद्रोंसे घिरे हुए सभी द्वीप और पर्वत उत्तरोत्तर दुगुने विस्तारवाले हैं॥ ३॥

गौरस्तु मध्यमे द्वीपे गिरिर्मानःशिलो महान्।
पर्वतः पश्चिमे कृष्णो नारायणसखो नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर! इनमेंसे मध्यम द्वीपमें मनःशिला (मैनसिल) का एक बहुत बड़ा पर्वत है; जो 'गौर' नामसे विख्यात है। उसके पश्चिममें 'कृष्ण' पर्वत है, जो नारायणको विशेष प्रिय है॥

तत्र रत्नानि दिव्यानि स्वयं रक्षति केशवः।
प्रसन्नश्चाभवत् तत्र प्रजानां व्यदधत् सुखम् ॥ ५ ॥

स्वयं भगवान् केशव ही वहाँ दिव्य रत्नोंको रखते और उनकी रक्षा करते हैं। वे वहाँकी प्रजापर प्रसन्न हुए थे, इसलिये उनको सुख पहुँचानेकी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की है॥

कुशस्तम्बः कुशद्वीपे मध्ये जनपदैः सह।
सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप ॥ ६ ॥

नरेश्वर! कुशद्वीपमें कुशोंका एक बहुत बड़ा झाड़ है, जिसकी वहाँके जनपदोंमें रहनेवाले लोग पूजा करते हैं। उसी प्रकार शाल्मलि द्वीपमें शाल्मलि (सेमर) वृक्षकी पूजा की जाती है॥ ६॥

क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः।
सम्पूज्यते महाराज चातुर्वर्ण्येन नित्यदा ॥ ७ ॥

क्रौञ्चद्वीपमें महाक्रौञ्च नामक महान् पर्वत है, जो रत्न-राशिकी खान है। महाराज! वहाँ चारों वर्णोंके लोग सदा उसीकी पूजा करते हैं॥ ७॥

गोमन्तः पर्वतो राजन् सुमहान् सर्वधातुकः।
यत्र नित्यं निवसति श्रीमान् कमललोचनः ॥ ८ ॥
मोक्षिभिः संस्तुतो नित्यं प्रभुर्नारायणो हरिः।

राजन्! वहाँ गोमन्त नामक विशाल पर्वत है, जो सम्पूर्ण धातुओंसे सम्पन्न है। वहाँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले उपासकोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सबके स्वामी श्रीमान् कमलनयन भगवान् नारायण नित्य निवास करते हैं। ८½।

कुशद्वीपे तु राजेन्द्र पर्वतो विद्रुमैश्चितः ॥ ९ ॥
सुधामा नाम दुर्धर्षो द्वितीयो हेमपर्वतः।

राजेन्द्र! कुशद्वीपमें सुधामा नामसे प्रसिद्ध दूसरा सुवर्णमय पर्वत है, जो मूँगोंसे भरा हुआ और दुर्गम है॥ ९½॥

द्युतिमान् नाम कौरव्य तृतीयः कुमुदो गिरिः ॥ १० ॥

चतुर्थः पुष्पवान् नाम पञ्चमस्तु कुशेशयः।
षष्ठो हरिगिरिर्नाम षडेते पर्वतोत्तमाः॥ ११॥

कौरव्य! वहीं परम कान्तिमान् कुमुद नामक तीसरा पर्वत है। चौथा पुष्पवान्, पाँचवाँ कुशेशय और छठा हरिगिरि है। ये छः कुशद्वीपके श्रेष्ठ पर्वत हैं॥ १०-११॥

तेषामन्तरविष्कम्भो द्विगुणः सर्वभागशः।
औद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम्॥ १२॥

इन पर्वतोंके बीचका विस्तार सब ओरसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है। कुशद्वीपके पहले वर्षका नाम उद्भिद् है। दूसरेका नाम वेणुमण्डल है॥ १२॥

तृतीयं सुरथाकारं चतुर्थं कम्बलं स्मृतम्।
धृतिमत् पञ्चमं वर्षं षष्ठं वर्षं प्रभाकरम्॥ १३॥

तीसरेका नाम सुरथाकार, चौथेका कम्बल, पाँचवेंका धृतिमान् और छठे वर्षका नाम प्रभाकर है॥ १३॥

सप्तमं कापिलं वर्षं सप्तैते वर्षलम्भकाः।
एतेषु देवगन्धर्वाः प्रजाश्च जगतीश्वर॥ १४॥
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः।
न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छजात्योऽपि वा नृप॥ १५॥

सातवाँ वर्ष कापिल कहलाता है। ये सात वर्षसमुदाय हैं। पृथ्वीपते! इन सबमें देवता, गन्धर्व तथा मनुष्य सानन्द विहार करते हैं। उनमेंसे किसीकी मृत्यु नहीं होती है। नरेश्वर! वहाँ लुटेरे अथवा म्लेच्छ जातिके लोग नहीं हैं १४-१५

गौरप्रायो जनः सर्वः सुकुमारश्च पार्थिव।
अवशिष्टेषु सर्वेषु वक्ष्यामि मनुजेश्वर॥ १६॥

मनुजेश्वर! इन वर्षोंके सभी लोग प्रायः गोरे और सुकुमार होते हैं। अब मैं शेष सम्पूर्ण द्वीपोंके विषयमें बताता हूँ॥ १६॥

यथाश्रुतं महाराज तदव्यग्रमनाः शृणु।
क्रौञ्चद्वीपे महाराज क्रौञ्चो नाम महागिरिः॥ १७॥

महाराज! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही सुनाऊँगा। आप शान्तचित्त होकर सुनिये। क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामक विशाल पर्वत है॥ १७॥

क्रौञ्चात् परो वामनको वामनादन्धकारकः।
अन्धकारात् परो राजन् मैनाकः पर्वतोत्तमः॥ १८॥
मैनाकात् परतो राजन् गोविन्दो गिरिरुत्तमः।
गोविन्दात् परतो राजन् निविडो नाम पर्वतः॥ १९॥

राजन्! क्रौञ्चके बाद वामन पर्वत है, वामनके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद मैनाक नामक श्रेष्ठ पर्वत है। प्रभो! मैनाकके बाद उत्तम गोविन्द गिरि है। गोविन्दके बाद निविड नामक पर्वत है॥ १८-१९॥

परस्तु द्विगुणस्तेषां विष्कम्भो वंशवर्धन।
देशांस्तत्र प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥ २०॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले महाराज! इन पर्वतोंके बीचका विस्तार उत्तरोत्तर दूना होता गया है। उनमें जो देश बसे हुए हैं, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये॥ २०॥

क्रौञ्चस्य कुशलो देशो वामनस्य मनोनुगः।
मनोनुगात् परश्चोष्णो देशः कुरुकुलोद्वह॥ २१॥

क्रौञ्चपर्वतके निकट कुशल नामक देश है। वामन पर्वतके पास मनोनुग देश है। कुरुकुलश्रेष्ठ! मनोनुगके बाद उष्ण देश आता है॥ २१॥

उष्णात् परः प्रावरकः प्रावारादन्धकारकः।
अन्धकारकदेशात् तु मुनिदेशः परः स्मृतः॥ २२॥

उष्णके बाद प्रावरक, प्रावरकके बाद अन्धकारक और अन्धकारकके बाद उत्तम मुनिदेश बताया गया है॥ २२॥

मुनिदेशात् परश्चैव प्रोच्यते दुन्दुभिस्वनः।
सिद्धचारणसंकीर्णो गौरप्रायो जनाधिप॥ २३॥
एते देशा महाराज देवगन्धर्वसेविताः।

मुनिदेशके बाद जो देश है, उसे दुन्दुभिस्वन कहते हैं। वह सिद्धों और चारणोंसे भरा हुआ है। जनेश्वर! वहाँके लोग प्रायः गोरे होते हैं। महाराज! इन सभी देशोंमें देवता और गन्धर्व निवास करते हैं॥ २३½॥

पुष्करे पुष्करो नाम पर्वतो मणिरत्नवान्॥ २४॥

पुष्करद्वीपमें पुष्कर नामक पर्वत है, जो मणियों तथा रत्नोंसे भरा हुआ है॥ २४॥

तत्र नित्यं प्रभवति स्वयं देवः प्रजापतिः।
तं पर्युपासते नित्यं देवाः सर्वे महर्षयः॥ २५॥
वाग्भिर्मनोऽनुकूलाभिः पूजयन्तो जनाधिप।

वहाँ स्वयं प्रजापति भगवान् ब्रह्मा नित्य निवास करते हैं। जनेश्वर! सम्पूर्ण देवता और महर्षि मनोनुकूल वचनोंद्वारा प्रतिदिन उनकी पूजा करते हुए सदा उन्हींकी उपासनामें लगे रहते हैं॥ २५½॥

जम्बूद्वीपात् प्रवर्तन्ते रत्नानि विविधान्युत॥ २६॥
द्वीपेषु तेषु सर्वेषु प्रजानां कुरुसत्तम।
ब्रह्मचर्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च॥ २७॥
आरोग्यायुःप्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुणं ततः।

जम्बूद्वीपसे अनेक प्रकारके रत्न अन्यान्य सब द्वीपोंमें वहाँकी प्रजाओंके उपयोगके लिये भेजे जाते हैं। कुरुश्रेष्ठ! ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियसंयमके प्रभावसे उन सब द्वीपोंकी प्रजाओंके आरोग्य और आयुका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना माना गया है॥ २६-२७½॥

एको जनपदो राजन् द्वीपेष्वेतेषु भारत।
उक्ता जनपदा येषु धर्मश्चैकः प्रदृश्यते॥ २८॥

भरतवंशी नरेश! वास्तवमें इन देशोंमें एक ही जनपद है। जिन द्वीपोंमें अनेक जनपद बताये गये हैं, उनमें भी एक प्रकारका ही धर्म देखा जाता है॥ २८॥

ईश्वरो दण्डमुद्यम्य स्वयमेव प्रजापतिः ।
द्वीपानेतान् महाराज रक्षंस्तिष्ठति नित्यदा ॥ २९ ॥

महाराज ! सबके ईश्वर प्रजापति ब्रह्मा स्वयं ही दण्ड लेकर इन द्वीपोंकी रक्षा करते हुए इनमें नित्य निवास करते हैं ॥ २९ ॥

स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहः ।
गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ ३० ॥

नरश्रेष्ठ ! प्रजापति ही वहाँके राजा हैं। वे कल्याणस्वरूप होकर सबका कल्याण करते हैं । राजन् ! वे ही पिता और प्रपितामह हैं । जड़से लेकर चेतनतक समस्त प्रजाकी वे ही रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

भोजनं चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयमुपस्थितम् ।
सिद्धमेव महाबाहो तद्धि भुञ्जन्ति नित्यदा ॥ ३१ ॥

महाबाहु कुरुनन्दन ! यहाँकी प्रजाओंके पास सदा पका-पकाया भोजन स्वयं उपस्थित हो जाता है और उसीको खाकर वे लोग रहते हैं ॥ ३१ ॥

ततः परं समा नाम दृश्यते लोकसंस्थितिः ।
चतुरस्रं महाराज त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ॥ ३२ ॥

उसके बाद समानामवाली लोगोंकी बस्ती देखी जाती है। महाराज! वह चौकोर बसी हुई है। उसमें तैंतीस मण्डल हैं॥

तत्र तिष्ठन्ति कौरव्य चत्वारो लोकसम्मताः ।
दिग्गजा भरतश्रेष्ठ वामनैरावतादयः ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ लोकविख्यात वामन, ऐरावत, सुप्रतीक और अञ्जन–ये चार दिग्गज रहते हैं ।३३।

सुप्रतीकस्तथा राजन् प्रभिन्नकरटामुखः ।
तस्याहं परिमाणं तु न संख्यातुमिहोत्सहे ॥ ३४ ॥
असंख्यातः स नित्यं हि तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

राजन् ! इनमेंसे सुप्रतीक नामक गजराज, जिसके गण्ड-स्थलसे मदकी धारा बहती रहती है, उसका परिमाण कैसा और कितना है, यह मैं नहीं बता सकता । वह नीचे-ऊपर तथा अगल-बगलमें सब ओर फैला हुआ है । वह अपरिमित है ॥ ३४½ ॥

तत्र वै वायवो वान्ति दिग्भ्यः सर्वाभ्य एव हि ॥ ३५ ॥
असम्बद्धा महाराज तान् निगृह्णन्ति ते गजाः ।
पुष्करैः पद्मसंकाशैर्विकसद्भिर्महाप्रभैः ॥ ३६ ॥
शतधा पुनरेवाशु ते तान् मुञ्चन्ति नित्यशः ।
श्वसद्भिर्मुच्यमानास्तु दिग्गजैरिह मारुताः ॥ ३७ ॥
आगच्छन्ति महाराज ततस्तिष्ठन्ति वै प्रजाः ।

वहाँ सब दिशाओंसे खुली हुई हवा आती है । उसे वे चारों दिग्गज ग्रहण करके रोक रखते हैं । फिर वे विकसित कमल-सदृश परम कान्तिमान् शुण्डदण्डके अग्रभागसे उस हवाको सैकड़ों भागोंमें करके तुरंत ही सब ओर छोड़ते हैं, यह उनका नित्यका काम है । महाराज ! साँस लेते हुए उन दिग्गजोंके मुखसे मुक्त होकर जो वायु यहाँ आती है, उसीसे सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ३५–३७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

परो वै विस्तरोऽत्यर्थं त्वया संजय कीर्तितः ॥ ३८ ॥
दर्शितं द्वीपसंस्थानमुत्तरं ब्रूहि संजय ।

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने द्वीपोंकी स्थितिके विषयमें तो बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है । अब जो अन्तिम विषय—सूर्य, चन्द्रमा तथा राहुका प्रमाण बताना शेष रह गया है, उसका वर्णन करो ॥ ३८½ ॥

संजय उवाच

उक्ता द्वीपा महाराज ग्रहं वै शृणु तत्त्वतः ॥ ३९ ॥
स्वर्भानोः कौरवश्रेष्ठ यावदेव प्रमाणतः ।
परिमण्डलो महाराज स्वर्भानुः श्रूयते ग्रहः ॥ ४० ॥

संजय बोले—महाराज ! मैंने द्वीपोंका वर्णन तो कर दिया । अब ग्रहोंका यथार्थ वर्णन सुनिये । कौरवश्रेष्ठ ! राहु-की जितनी बड़ी लंबाई-चौड़ाई सुननेमें आती है, वह आपको बताता हूँ । महाराज ! सुना है कि राहु ग्रह मण्डला-कार है ॥ ३९-४० ॥

योजनानां सहस्राणि विष्कम्भो द्वादशास्य वै ।
परिणाहेन षट्त्रिंशद् विपुलत्वेन चानघ ॥ ४१ ॥

निष्पाप नरेश ! राहु ग्रहका व्यासगत विस्तार बारह हजार योजन है और उसकी परिधिका विस्तार छत्तीस हजार योजन है ॥ ४१ ॥

षष्टिमाहुः शतान्यस्य बुधाः पौराणिकास्तथा ।
चन्द्रमास्तु सहस्राणि राजन्नेकादश स्मृतः ॥ ४२ ॥

पौराणिक विद्वान् उसकी विपुलता (मोटाई) छः हजार योजनकी बताते हैं । राजन् ! चन्द्रमाका व्यास ग्यारह हजार योजन है ॥ ४२ ॥

विष्कम्भेण कुरुश्रेष्ठ त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ।
एकोनषष्टिविष्कम्भं शीतरश्मेर्महात्मनः ॥ ४३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तैंतीस हजार योजन बताया गया है और महामना शीतरश्मि चन्द्रमाका वैपुल्यगत विस्तार (मोटाई) उनसठ सौ योजन है ॥ ४३ ॥

सूर्यस्त्वष्टौ सहस्राणि द्वे चान्ये कुरुनन्दन ।
विष्कम्भेण ततो राजन् मण्डलं त्रिंशता समम् ॥ ४४ ॥
अष्टपञ्चाशतं राजन् विपुलत्वेन चानघ ।
श्रूयते परमोदारः पतगोऽसौ विभावसुः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! सूर्यका व्यासगत विस्तार दस हजार योजन है और उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तीस हजार योजन है तथा उनकी विपुलता अठावन सौ योजनकी है । अनघ ! इस प्रकार शीघ्रगामी परम उदार भगवान् सूर्यके

त्रिविध विस्तारका वर्णन सुना जाता है ॥ ४४-४५ ॥

एतत् प्रमाणमर्कस्य निर्दिष्टमिह भारत ।
स राहुश्छादयत्येतौ यथाकालं महत्तया ॥ ४६ ॥
चन्द्रादित्यौ महाराज संक्षेपोऽयमुदाहृतः ।
इत्येतत् ते महाराज पृच्छतः शास्त्रचक्षुषा ॥ ४७ ॥
सर्वमुक्तं यथातत्त्वं तस्माच्छममवाप्नुहि ।

भारत ! यहाँ सूर्यका प्रमाण बताया गया, इन दोनोंसे अधिक विस्तार रखनेके कारण राहु यथासमय इन सूर्य और चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है । महाराज ! आपके प्रश्नके अनुसार शास्त्रदृष्टिसे ग्रहोंके विषयमें संक्षेपसे बताया गया। ये सारी बातें मैंने आपके सामने यथार्थरूपसे उपस्थित की हैं । अतः आप शान्ति धारण कीजिये ॥ ४६-४७½ ॥

यथोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सनिर्माणमिदं जगत् ॥ ४८ ॥
तस्मादाश्वस कौरव्य पुत्रं दुर्योधनं प्रति ।

इस जगत्का स्वरूप कैसा है और इसका निर्माण किस प्रकार हुआ है, ये सब बातें मैंने शास्त्रोक्त रीतिसे बतायी हैं; अतः कुरुनन्दन ! आप अपने पुत्र दुर्योधनकी ओरसे निश्चिन्त रहिये ॥ ४८½ ॥

श्रुत्वेदं भरतश्रेष्ठ भूमिपर्व मनोनुगम् ॥ ४९ ॥
श्रीमान् भवति राजन्यः सिद्धार्थः साधुसम्मतः ।
आयुर्बलं च कीर्तिश्च तस्य तेजश्च वर्धते ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो राजा इस भूमिपर्वको मनोयोगपूर्वक सुनता है, वह श्रीसम्पन्न, सफलमनोरथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता है और उसके बल, आयु, कीर्ति तथा तेजकी वृद्धि होती है ॥ ४९—५० ॥

यः शृणोति महीपाल पर्वणीदं यतव्रतः ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य तथैव च पितामहाः ॥ ५१ ॥

भूपाल ! जो मनुष्य दृढ़तापूर्वक संयम एवं व्रतका पालन करते हुए प्रत्येक पर्वके दिन इस प्रसङ्गको सुनता है, उसके पितर और पितामह पूर्ण तृप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

इदं तु भारतं वर्षं यत्र वर्तामहे वयम् ।
पूर्वैः प्रवर्तितं पुण्यं तत् सर्वं श्रुतवानसि ॥ ५२ ॥

राजन् ! जिसमें हमलोग निवास करते हैं और जहाँ हमारे पूर्वजोंने पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह वही भारतवर्ष है । आपने इसका पूरा-पूरा वर्णन सुन लिया है ॥५२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १ ॥
ध्यायते धृतराष्ट्राय सहसोत्पत्य दुःखितः ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तदनन्तर एक दिनकी बात है कि भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता एवं सब घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेवाले गवल्गणपुत्र विद्वान् संजयने युद्धभूमिसे लौटकर सहसा चिन्तामग्न धृतराष्ट्रके पास जा अत्यन्त दुखी होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके युद्धभूमिमें मारे जानेका समाचार बताया ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । मैं संजय आपकी सेवामें उपस्थित हूँ । भरतवंशियोंके पितामह और महाराज शान्तनुके पुत्र भीष्मजी आज युद्धमें मारे गये ॥ ३ ॥

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ॥ ४ ॥

जो समस्त योद्धाओंके ध्वजस्वरूप और सम्पूर्ण धनुर्धरोंके आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ४ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत् ।
स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना॥ ५ ॥

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनने जिनके बाहुबलका भरोसा करके जूएका खेल किया था, वे भीष्म शिखण्डीके हाथों मारे जाकर रणभूमिमें शयन करते हैं ॥ ५ ॥

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे ।
जिगायैकरथेनैव काशिपुर्यां महारथः ॥ ६ ॥
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदपसम्भ्रमः ।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ ७ ॥

जिन महारथी वीर भीष्मने काशिराजकी नगरीमें एकत्र हुए समस्त भूपालोंको अकेला ही रथपर बैठकर महान् युद्धमें पराजित कर दिया था, जिन्होंने रणभूमिमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें

परशुरामजी भी मार न सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मारे गये ॥ ६-७ ॥

महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ॥ ८ ॥

जो शौर्यमें देवराज इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान थे ॥ ८ ॥

शरदंष्ट्रो धनुर्वक्त्रः खड्गजिह्वो दुरासदः ।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पाञ्चाल्येन निपातितः ॥ ९ ॥

जो मनुष्योंमें सिंह थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष जिनका फैला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी और इसीलिये जिनके पास पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे ही आपके पिता भीष्म आज पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके द्वारा मार गिराये गये ॥ ९ ॥

पाण्डवानां महासैन्यं यं दृष्ट्वोद्यन्तमाहवे ।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंहं दृष्ट्वेव गोगणः ॥ १० ॥
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनीकहा ।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ११ ॥

जैसे गौओंका झुंड सिंहको देखते ही भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार जिन्हें युद्धमें हथियार उठाये देख पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी भयसे उद्विग्न होकर थरथर काँपने लगती थी, वे ही शत्रुसैन्यसंहारक भीष्म दस दिनोंतक आपकी सेनाका संरक्षण करके अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रकट करते हुए अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चले गये ॥ १०-११ ॥

यः स शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः ।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १२ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ॥ १३ ॥

जिन्होंने इन्द्रकी भाँति क्षोभरहित होकर हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए दस दिनोंमें शत्रुपक्षके दस करोड़ योद्धाओंका संहार कर डाला, वे ही आज आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं। भरतवंशी नरेश! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है; नहीं तो भीष्मजी इस दुर्दशाके योग्य नहीं थे ॥ १२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि भीष्ममृत्युश्रवणे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें भीष्ममृत्युश्रवणविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं कुरूणामृषभो हतो भीष्मः शिखण्डिना ।
कथं रथात् स न्यपतत् पिता मे वासवोपमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! कुरुकुलके श्रेष्ठतम पुरुष मेरे पितृतुल्य भीष्म शिखण्डीके हाथसे कैसे मारे गये ? वे इन्द्रके समान पराक्रमी थे, वे रथसे कैसे गिरे ? ॥ १ ॥

कथमाचक्ष्व मे योधा हीना भीष्मेण संजय ।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ २ ॥

संजय ! जिन्होंने अपने पिताके संतोषके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया और जो देवताओंके समान बलवान् थे, उन्हीं भीष्मसे रहित होकर आज हमारे सैनिकोंकी कैसी अवस्था हुई है ? यह बताओ ॥ २ ॥

तस्मिन् हते महाप्राज्ञे महेष्वासे महाबले ।
महासत्त्वे नरव्याघ्रे किमु आसीन्मनस्तव ॥ ३ ॥

महाज्ञानी, महाधनुर्धर, महाबली और महान् धैर्यशाली नरश्रेष्ठ भीष्मजीके मारे जानेपर तुम्हारे मनकी कैसी अवस्था हुई ?॥

आर्तिं परामाविशति मनः शंससि मे हतम् ।
कुरूणामृषभं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कहते हो, अकम्प्य वीर पुरुषसिंह, कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजी मारे गये—इसे सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ ४ ॥

के तं यान्तमनुप्राप्ताः के वास्यासन् पुरोगमाः ।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्ववर्तन्त संजय ॥ ५ ॥

संजय ! जिस समय वे युद्धके लिये अग्रसर हुए थे, उस समय इनके पीछे कौन गये थे अथवा उनके आगे कौन-कौन वीर थे ? कौन उनके साथ युद्धमें डटे रहे ? कौन युद्ध छोड़कर भाग गये ? और किन लोगोंने सर्वथा उनका अनुसरण किया था ? ॥ ५ ॥

के शूरा रथशार्दूलमद्भुतं क्षत्रियर्षभम् ।
तथानीकं गाहमानं सहसा पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ६ ॥

किन शूरवीरोंने शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय रथियोंमें सिंहके समान अद्भुत पराक्रमी, क्षत्रियशिरोमणि भीष्मजीके पास सहसा पहुँचकर सदा उनके पृष्ठभागका अनुसरण किया ?॥

यस्तमोऽर्क इवापोहन् परसैन्यममित्रहा ।
सहस्ररश्मिप्रतिमः परेषां भयमादधत् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन भीष्म शत्रुसेनाका नाश करते थे । जिनका तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान था, जिन्होंने शत्रुओंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ७ ॥

अकरोद् दुष्करं कर्म रणे पाण्डुसुतेषु यः।
ग्रसमानमनीकानि य एनं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
कृतिनं तं दुराधर्षं संजयास्य त्वमन्तिके।
कथं शान्तनवं युद्धे पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ९ ॥

जिन्होंने युद्धमें पाण्डवोंपर दुष्कर पराक्रम किया था तथा जो उनकी सेनाका निरन्तर संहार कर रहे थे, उन अस्त्र-विद्याके ज्ञाता दुर्जय वीर भीष्मजीको जिन्होंने रोका है, वे कौन हैं ? संजय ! तुम तो उनके पास ही थे, पाण्डवोंने युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको किस प्रकार आगे बढ़नेसे रोका ?॥

निकृन्तन्तमनीकानि शरदंष्ट्रं मनस्विनम्।
चापव्यात्ताननं घोरमसिजिह्वं दुरासदम् ॥ १० ॥
अनर्हं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम्।
पातयामास कौन्तेयः कथं तमजितं युधि ॥ ११ ॥

जो शत्रुपक्षकी सेनाओंका निरन्तर उच्छेद करते थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष ही खुला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी, उन भयकर एवं दुर्धर्ष पुरुष-सिंह भीष्मको कुन्तीनन्दन अर्जुनने युद्धमें कैसे मार गिराया ? मनस्वी भीष्म इस प्रकार पराजयके योग्य नहीं थे। वे लज्जाशील और पराजयशून्य थे ॥ १०-११ ॥

उग्रधन्वानमुग्रेषुं वर्तमानं रथोत्तमे।
परेषामुत्तमाङ्गानि प्रचिन्वन्तमथेषुभिः ॥ १२ ॥

जो उत्तम रथपर बैठकर भयंकर धनुष और भयानक बाण लिये शत्रुओंके मस्तकोंको सायकोंद्वारा काट-काटकर उनके ढेर लगा रहे थे ॥ १२ ॥

पाण्डवानां महत् सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
कालाग्निमिव दुर्धर्षं समचेष्टत नित्यशः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी विशाल सेना दुर्धर्ष कालाग्निके समान जिन्हें युद्ध-के लिये उद्यत देख सदा काँपने लगती थी ॥ १३ ॥

परिकृष्य स सेनां तु दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

वे ही शत्रुसूदन भीष्म दस दिनोंतक शत्रुओंकी सेनाका संहार करते हुए अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाकर सूर्यकी भाँति अस्त हो गये ॥ १४ ॥

यः स शक्र इवाक्षय्यं वर्षं शरमयं क्षिपन्।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १५ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारत ॥ १६ ॥

जिन्होंने इन्द्रके समान युद्धमें दस दिनोंतक अक्षय बाणों-की वर्षा करके दस करोड़ विपक्षी सेनाओंका संहार कर डाला, वे ही भरतवंशी वीर भीष्म मेरी कुमन्त्रणाके कारण आँधीसे उखाड़े गये वृक्षकी भाँति युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, वे कदापि इसके योग्य नहीं थे ॥१५-१६॥

कथं शान्तनवं दृष्ट्वा पाण्डवानामनीकिनी।
प्रहर्तुमशकत् तत्र भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म तो बड़े भयंकर पराक्रमी थे, उन्हें सामने देखकर पाण्डवसेना उनपर प्रहार कैसे कर सकी ? ॥

कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पाण्डुनन्दनाः।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय ॥ १८ ॥

संजय ! पाण्डवोंने भीष्मके साथ संग्राम कैसे किया ? द्रोणाचार्यके जीते-जी भीष्म विजयी कैसे नहीं हो सके ? ॥

कृपे संनिहिते तत्र भरद्वाजात्मजे तथा।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः ॥ १९ ॥

उस युद्धमें कृपाचार्य तथा भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य दोनों ही उनके निकट थे, तो भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म कैसे मारे गये ? ॥ १९ ॥

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे दैवैरपि दुरासदः ॥ २० ॥

भीष्म तो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय एवं अति-रथी थे, फिर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके हाथसे वे किस प्रकार मारे गये ? ॥ २० ॥

यः स्पर्धते रणे नित्यं जामदग्न्यं महाबलम्।
अजितं जामदग्न्येन शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम्।
संजयाचक्ष्व मे वीरं येन शर्म न विद्महे ॥ २२ ॥

जो रणभूमिमें महाबली जमदग्निनन्दन परशुरामसे भी टक्कर लेनेकी सदा इच्छा रखते थे, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान था और परशुरामजी भी जिन्हें पराजित न कर सके थे; संजय ! महारथियोंके कुलमें प्रकट हुए वे महावीर भीष्म समरभूमिमें किस प्रकार मारे गये, यह मुझे बताओ; क्योंकि मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ २१-२२ ॥

मामकाः के महेष्वासा नाजहुः संजयाच्युतम्।
दुर्योधनसमादिष्टाः के वीराः पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

संजय ! कभी युद्धसे पीछे न हटनेवाले भीष्मजीका मेरे पक्षके किन महाधनुर्धरोंने साथ नहीं छोड़ा ? दुर्योधनकी आज्ञा पाकर किन-किन वीरोंने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ?

यच्छिखण्डिमुखाः सर्वे पाण्डवा भीष्ममभ्ययुः।
कच्चित् ते कुरवः सर्वे नाजहुः संजयाच्युतम् ॥ २४ ॥

संजय ! जब शिखण्डी आदि समस्त पाण्डव वीरोंने भीष्मपर आक्रमण किया, उस समय समस्त कौरवोंने कहीं अच्युत भीष्मका साथ छोड़ तो नहीं दिया था ? ॥ २४ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ॥ २५ ॥

अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेके समान सुदृढ़ है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर विदीर्ण नहीं होता है ! ॥ २५ ॥

यस्मिन् सत्यं च मेधा च नीतिश्च भरतर्षभे ।
अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ॥ २६ ॥

जिन दुर्जय वीर भरतभूषण भीष्ममें सत्य, मेधा और नीति—ये तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कपृषतो महान् ।
धनुर्ह्रादमहाशब्दो महामेघ इवोन्नतः ॥ २७ ॥

वे युद्धमें महान् मेघके समान ऊँचे उठे हुए थे। धनुषकी टंकार ही उनकी गर्जना थी, बाण ही उनके लिये वर्षाकी बूँदें थीं और धनुषका महान् शब्द ही बिजलीकी गड़गड़ाहट-का भयंकर शब्द था ॥ २७ ॥

योऽभ्यवर्षत कौन्तेयान् सपाञ्चालान् ससृंजयान् ।
निघ्नन् पररथान् वीरो दानवानिव वज्रभृत् ॥ २८ ॥

वीरवर भीष्मने शत्रुपक्षके रथियों—कुन्तीकुमारों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंको मारते हुए उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार की, जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर बाण-वर्षा करते हैं ॥ २८ ॥

इष्वस्त्रसागरं घोरं बाणग्राहं दुरासदम् ।
कार्मुकोर्मिणमक्षय्यमद्वीपं चलमप्लवम् ॥ २९ ॥

उनका धनुष-बाण आदि अस्त्रसमूह भयंकर एवं दुर्गम समुद्रके समान था, बाण ही उसमें ग्राह थे, धनुष लहरोंके समान जान पड़ता था, वह अक्षय, द्वीपरहित, चञ्चल तथा नौका आदि तैरनेके साधनोंसे शून्य था ॥ २९ ॥

गदासिमकरावासं हयावर्तं गजाकुलम् ।
पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ ३० ॥

गदा और खड्ग आदि ही उसमें मगरके समान थे। वह अश्वरूपी भँवरोंसे भयावह प्रतीत होता था, उसमें हाथी जलहस्तीके समान प्रतीत होते थे, पैदल सेना उसमें भरे हुए मत्स्योंके समान जान पड़ती थी तथा शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस समुद्रकी गर्जना थी ॥३०॥

हयान् गजपदातींश्च रथांश्च तरसा बहून् ।
निमज्जयन्तं समरे परवीरापहारिणम् ॥ ३१ ॥

भीष्मजी उस समुद्रमें शत्रुपक्षके हाथियों, घोड़ों, पैदलों तथा बहुसंख्यक रथोंको वेगपूर्वक डुबो रहे थे। वे समरभूमि-में शत्रुवीरोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले थे ॥ ३१ ॥

विदह्यमानं कोपेन तेजसा च परंतपम् ।
वेलेव मकरावासं के वीराः पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

अपने क्रोध और तेजसे दग्ध एवं प्रज्वलित-से होते हुए शत्रुसंतापी भीष्मको जैसे तट समुद्रको रोक देता है उसी प्रकार किन वीरोंने आगे बढ़नेसे रोका था ॥ ३२ ॥

भीष्मो यदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा ।
दुर्योधनहितार्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन् ॥ ३३ ॥
केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं भीष्मस्यामिततेजसः ।
पृष्ठतः के परान् वीरानपासेधन् यतव्रताः ॥ ३४ ॥

शत्रुहन्ता भीष्मने दुर्योधनके हितके लिये समरभूमिमें जो पराक्रम किया था, वह अनुपम है। उस समय कौन-कौनसे योद्धा उनके आगे थे ? किन-किन वीरोंने अमित-तेजस्वी भीष्मके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा की थी ? किन लोगोंने दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए उनके पीछेकी ओर रहकर शत्रुपक्षके वीरोंको आगे बढ़नेसे रोका था ? ॥

के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके ।
केऽरक्षन्नुत्तरं चक्रं वीरा वीरस्य युध्यतः ॥ ३५ ॥

कौन-कौनसे वीर निकटसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उनके आगे खड़े थे ? और किन वीरोंने युद्धमें लगे हुए शूरशिरोमणि भीष्मके बायें पहियेकी रक्षा की थी ? ॥ ३५ ॥

वामे चक्रे वर्तमानाः केऽघ्नन् संजय सृंजयान् ।
अग्रतोऽग्र्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन् दुरासदम् ॥ ३६ ॥

संजय ! उनके बायें चक्रकी रक्षामें तत्पर होकर किन-किन योद्धाओंने सृंजयवंशियोंका विनाश किया था ? तथा किन्होंने आगे रहकर सेनाके अग्रणी दुर्जय वीर भीष्मकी सब ओरसे रक्षा की थी ? ॥ ३६ ॥

पार्श्वतः केऽभ्यरक्षन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम् ।
समूहे के परान् वीरान् प्रत्ययुध्यन्त संजय ॥ ३७ ॥

संजय ! किन लोगोंने दुर्गम संग्राममें आगे बढ़ते हुए उनके पार्श्वभागका संरक्षण किया था ? और किन्होंने उस सैन्यसमूहमें आगे रहकर वीरतापूर्वक शत्रुयोद्धाओंका डटकर सामना किया था ? ॥ ३७ ॥

रक्ष्यमाणः कथं वीरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
दुर्जयानामनीकानि नाजयंस्तरसा युधि ॥ ३८ ॥

जब मेरे पक्षके बहुत-से वीर उनकी रक्षा करते थे और वे भी उन वीरोंकी रक्षामें दत्तचित्त थे, तब भी उन सब लोगोंने मिलकर शत्रुपक्षकी दुर्जय सेनाओंको कैसे वेगपूर्वक परास्त नहीं कर दिया ? ॥ ३८ ॥

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठिप्रजापतेः ।
कथं प्रहर्तुमपि ते शेकुः संजय पाण्डवाः ॥ ३९ ॥

संजय ! भीष्मजी सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी परमेष्ठी प्रजा-पति ब्रह्माजीके समान अजेय थे; फिर पाण्डव उनके ऊपर कैसे प्रहार कर सके ? ॥ ३९ ॥

यस्मिन् द्वीपे समाश्वस्य युध्यन्ते कुरवः परैः ।
तं निमग्नं नरव्याघ्रं भीष्मं शंससि संजय ॥ ४० ॥

संजय ! जिन द्वीपस्वरूप भीष्मजीके आश्रयमें निर्भय एवं निश्चिन्त होकर समस्त कौरव शत्रुओंके साथ युद्ध करते थे, उन्हीं नरश्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया बता रहे हो, यह कितने दुःखकी बात है ? ॥ ४० ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य मम पुत्रो बृहद्बलः ।
न पाण्डवानगणयत् कथं स निहतः परैः ॥ ४१ ॥

जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर विशाल सेनाओंसे सम्पन्न मेरा पुत्र पाण्डवोंको कुछ नहीं गिनता था, वे शत्रुओं-द्वारा किस प्रकार मारे गये ? ॥ ४१ ॥

यः पुरा विबुधैः सर्वैः सहाये युद्धदुर्मदः।
काङ्क्षितो दानवान् घ्नद्भिः पिता मम महाव्रतः ॥ ४२ ॥
यस्मिञ्जाते महावीर्ये शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
शोकं दैन्यं च दुःखं च प्राजहात् पुत्रलक्ष्मणि ॥ ४३ ॥
प्रोक्तं परायणं प्राज्ञं स्वधर्मनिरतं शुचिम्।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं कथं शंससि मे हतम् ॥ ४४ ॥

पहलेकी बात है, दानवोंका संहार करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंने जिन मेरे महान् व्रतधारी पिता रणदुर्मद भीष्मजी-को अपना सहायक बनानेकी अभिलाषा की थी, जिन महा-पराक्रमी पुत्ररत्नके जन्म लेनेपर लोकविख्यात महाराज शान्तनुने शोक, दीनता और दुःखका सदाके लिये त्याग कर दिया था, जो सबके आश्रयदाता, बुद्धिमान्, स्वधर्मपरायण, पवित्र और वेदवेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ बताये गये हैं, उन्हीं भीष्मको तुम मारा गया कैसे बता रहे हो ? ॥ ४२–४४ ॥

सर्वास्त्रविनयोपेतं शान्तं दान्तं मनस्विनम्।
हतं शान्तनवं श्रुत्वा मन्ये शेषं हतं बलम् ॥ ४५ ॥

जो सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे सम्पन्न, शान्त, जिते-न्द्रिय और मनस्वी थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया कि अब हमारी सारी सेना मार दी गयी ॥ ४५ ॥

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

आज मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हुआ कि धर्मसे अधर्म ही बलवान् है; क्योंकि पाण्डव अपने वृद्ध गुरुजनकी हत्या करके राज्य लेना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

जामदग्न्यः पुरा रामः सर्वास्त्रविदनुत्तमः।
अम्बार्थमुद्यतः संख्ये भीष्मेण युधि निर्जितः ॥ ४७ ॥
तमिन्द्रसमकर्माणं ककुदं सर्वधन्विनाम्।
हतं शंससि मे भीष्मं किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४८ ॥

पूर्वकालमें अम्बाके लिये उद्यत होकर सम्पूर्ण अस्त्र-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुराम युद्ध करनेके लिये आये थे, परंतु भीष्मने उन्हें परास्त कर दिया, उन्हीं इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया कह रहे हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ४७-४८ ॥

असकृत् क्षत्रियव्राताः संख्ये येन विनिर्जिताः।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिघातिना ॥ ४९ ॥
न हतो यो महाबुद्धिः स हतोऽद्य शिखण्डिना।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले जिन वीरवर परशुरामजी-ने अनेक बार समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया था, उनसे भी जो मारे न जा सके, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मार दिये गये ! ॥ ४९½ ॥

तस्मान्नूनं महावीर्याद् भार्गवाद् युद्धदुर्मदात् ॥ ५० ॥
तेजोवीर्यबलैर्भूयाञ्छिखण्डी द्रुपदात्मजः।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ५१ ॥
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम्।

इससे जान पड़ता है कि महापराक्रमी युद्धदुर्मद परशुराम-जीकी अपेक्षा भी तेज, पराक्रम और बलमें द्रुपदकुमार शिखण्डी निश्चय ही बहुत बढ़ा-चढ़ा है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, परमास्त्रवेत्ता और शूरवीर विद्वान् भरतकुलभूषण भीष्मजीका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि ॥ ५२ ॥
शंस मे तद् तथा चासीद् युद्धं भीष्मस्य पाण्डवैः।
योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय ॥ ५३ ॥

उस समय युद्धमें शत्रुहन्ता भीष्मजीके साथ कौन-कौनसे वीर थे ? संजय ! पाण्डवोंके साथ भीष्मका किस प्रकार युद्ध हुआ ? यह मुझे बताओ। उन वीर सेनापतिके मारे जानेपर मेरे पुत्रकी सेना विधवा स्त्रीके समान असहाय हो गयी है ॥

अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम।
पौरुषं सर्वलोकस्य परं यस्मिन् महाहवे ॥ ५४ ॥
परासक्ते च वस्तस्मिन् कथमासीन्मनस्तदा।

जैसे ग्वालेके बिना गौओंका समुदाय इधर-उधर भटकता-फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी। महान् युद्धके समय जिनमें सम्पूर्ण जगत्‌का परम पुरुषार्थ प्रकट दिखायी देता था, वे ही भीष्म जब परलोकके पथिक हो गये, उस समय तुमलोगोंके मनकी अवस्था कैसी हुई थी ? ॥

जीवितेऽप्यद्य सामर्थ्यं किमिवास्मासु संजय ॥ ५५ ॥
घातयित्वा महावीर्यं पितरं लोकधार्मिकम्।
अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः ॥ ५६ ॥

संजय ! आज जीवित रहनेपर भी हमलोगोंमें क्या सामर्थ्य है ? जगत्‌के विख्यात धर्मात्मा महापराक्रमी पिता भीष्मको युद्धमें मरवाकर हम उसी प्रकार शोकमें डूब गये हैं, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पथिक नावको अगाध जलमें डूबी हुई देखकर दुखी होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ॥ ५७ ॥
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते।

मैं समझता हूँ कि भीष्मजीके मारे जानेपर मेरे बेटे दुःखके कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे। संजय ! मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, जो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर भी विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥५७½॥

यस्मिन्नस्त्राणि मेधा च नीतिश्च पुरुषर्षभे ॥ ५८ ॥

अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ।

जिन पुरुषरत्न तथा दुर्धर्ष वीर-शिरोमणिमें अस्त्र, बुद्धि और नीति तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ?॥

न चास्त्रेण न शौर्येण तपसा मेधया न च ॥ ५९ ॥
न धृत्या न पुनस्त्यागान्मृत्योः कश्चिद्विमुच्यते ।

जान पड़ता है कि अस्त्रसे, शौर्यसे, तपस्यासे, बुद्धिसे, धैर्यसे तथा त्यागके द्वारा भी कोई मृत्युसे छूट नहीं सकता है ॥

कालो नूनं महावीर्यः सर्वलोकदुरत्ययः ॥ ६० ॥
यत्र शान्तनवं भीष्मं हतं शंससि संजय ।

संजय ! निश्चय ही कालकी शक्ति बहुत बड़ी है, सम्पूर्ण जगत्के लिये वह दुर्लङ्घ्य है, जिसके अधीन होनेके कारण तुम शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया बता रहे हो ॥६०½॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तो महद् दुःखमचिन्तयम् ॥ ६१ ॥
आशंसेऽहं परं त्राणं भीष्माच्छान्तनुनन्दनात् ।

मुझे शान्तनुनन्दन भीष्मसे अपने पक्षके परित्राणकी बड़ी आशा थी । इस समय अपने पुत्रके शोकसे संतप्त होकर मैं महान् दुःखसे चिन्तित हो उठा हूँ ॥ ६१½ ॥

यदाऽऽदित्यमिवापश्यत् पतितं भुवि संजय ॥ ६२ ॥
दुर्योधनः शान्तनवं किं तदा प्रत्यपद्यत ।

संजय ! जब दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मको अस्ताचलगामी सूर्यकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखा, तब उसने क्या सोचा ?॥

नाहं स्वेषां परेषां वा बुद्ध्या संजय चिन्तयन् ॥ ६३ ॥
शेषं किंचित् प्रपश्यामि प्रत्यनीके महीक्षिताम् ।

संजय ! जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखता हूँ तो अपने अथवा शत्रुपक्षके राजाओंमेंसे किसीका भी जीवन इस युद्धमें शेष रहता नहीं दिखायी देता है ॥ ६३½ ॥

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ॥ ६४ ॥
यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।

ऋषियोंने क्षत्रियोंका यह धर्म अत्यन्त कठोर निश्चित किया है, जिसमें रहते हुए पाण्डव शान्तनुनन्दन भीष्मको मारकर राज्य लेना चाहते हैं ॥ ६४½ ॥

वयं वा राज्यमिच्छामो घातयित्वा महाव्रतम् ॥ ६५ ॥
क्षत्रधर्मे स्थिताः पार्था नापराध्यन्ति पुत्रकाः ।
एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ॥ ६६ ॥
पराक्रमः परं शक्त्या तत् तु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

अथवा हम भी तो उन महारथी भीष्मको मरवाकर ही राज्य लेना चाहते हैं । क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मेरे बच्चे कुन्तीकुमारोंका कोई अपराध नहीं है । संजय ! दुस्तर आपत्तिके समय श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये, जो भीष्मजीने किया है । कि वह शक्तिके अनुसार अधिकसे अधिक पराक्रम करे । यह गुण भीष्मजीमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित था ॥ ६५-६६ ॥

अनीकानि विनिघ्नन्तं ह्रीमन्तमपराजितम् ॥ ६७ ॥
कथं शान्तनवं तातं पाण्डुपुत्रा न्यवारयन् ।
कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ॥ ६८ ॥

भीष्मजी किसीसे पराजित न होनेवाले और लज्जाशील थे । विपक्षी सेनाओंका संहार करते हुए उन मेरे ताऊ भीष्मजीको पाण्डवोंने कैसे रोका ? उन महामनस्वी वीरोंने किस प्रकार सेनाएँ संगठित कीं और किस प्रकार युद्ध किया ?।६७-६८।

कथं वा निहतो भीष्मः पिता संजय मे परैः ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ६९ ॥
दुःशासनश्च कितवो हते भीष्मे किमब्रुवन् ।

संजय ! शत्रुओंने मेरे आदरणीय पिता भीष्मका किस प्रकार वध किया ? दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र जुआरी शकुनिने भीष्मजीके मारे जानेपर क्या-क्या बातें कहीं ?

यच्छरीरैरुपास्तीर्णां नरवारणवाजिनाम् ॥ ७० ॥
शरशक्तिमहाखड्गतोमराक्षां महाभयाम् ।
प्राविशन् कितवा मन्दाः सभां युद्धदुरासदाम् ॥७१॥
प्राणद्यूते प्रतिभये केऽदीव्यन्त नरर्षभाः ।

संजय ! जहाँ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरीर बिछे हुए थे, जहाँ बाण, शक्ति, महान् खड्ग और तोमररूपी पासे फेंके जाते थे । जो युद्धके कारण दुर्गम एवं महान् भय देनेवाली थी, उस रणक्षेत्ररूपी द्यूतसभामें किन-किन मन्दबुद्धि जुआरियोंने प्रवेश किया था ? जहाँ प्राणोंकी बाजी लगायी जाती थी, वह भयंकर जूएका खेल किन-किन नरश्रेष्ठ वीरोंने खेला था ? ॥ ७०-७१½ ॥

के जीयन्ते जितास्तत्र कृतलक्ष्या निपातिताः ॥ ७२ ॥
अन्ये भीष्माच्छान्तनवात् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

संजय ! शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, उस युद्धमें कौन-कौन-से हार रहे थे, किन-किन लोगोंकी पराजय हुई तथा कौन-कौन वीर बाणोंके लक्ष्य बनकर मार गिराये गये ! यह सब मुझे बताओ ॥ ७२½ ॥

न हि मे शान्तिरस्तीह श्रुत्वा देवव्रतं हतम् ॥ ७३ ॥
पितरं भीमकर्माणं भीष्ममाहवशोभिनम् ।
आर्तिं मे हृदये रूढां महतीं पुत्रहानिजाम् ॥ ७४ ॥
त्वं हि मे सर्पिषेवाग्निमुद्दीपयसि संजय ।

युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले भयंकर पराक्रमी अपने ताऊ देवव्रत भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे हृदयमें शान्ति नहीं रह गयी है । उनके मारे जानेसे मेरे पुत्रोंकी जो हानि होनेवाली है, उसके कारण मेरे मनमें भारी व्यथा जाग उठी है । संजय ! तुम अपने वचनरूपी घृतकी आहुति डालकर मेरी उस चिन्ता एवं व्यथारूपी अग्निको और भी उद्दीप्त कर रहे हो ॥ ७३-७४½ ॥

महान्तं भारमुद्यम्य विश्रुतं सार्वलौकिकम् ॥ ७५ ॥
दृष्ट्वा विनिहतं भीष्मं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।
श्रोष्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ॥ ७६ ॥

जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात इस युद्धके महान् भारको अपनी भुजाओंपर उठा रक्खा था, उन्हीं भीष्मजी-को मारा गया देख मेरे पुत्र भारी शोकमें पड़ गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं दुर्योधनके द्वारा प्रकट किये हुए उन दुःखोंको सुनूँगा ॥ ७५-७६ ॥

तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यद् वृत्तं तत्र संजय।
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम् ॥ ७७ ॥
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय।

इसलिये संजय! मुझसे वहाँका सारा वृत्तान्त कहो। मूर्ख दुर्योधनके अज्ञानके कारण उस युद्धमें अन्याय और न्यायकी जो-जो बातें संघटित हुई हों, उन सबका वर्णन करो।

यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता ॥ ७८ ॥
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः।

विजयकी इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजीने उस युद्धमें अपनी तेजस्विताके अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ७८½ ॥

तथा तदभवद् युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ७९ ॥
क्रमेण येन यस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत् ॥ ८० ॥

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका वह युद्ध जिस समय जिस क्रमसे और जिस रूपमें हुआ था, वह सब कहो ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रके प्रश्नविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपने जो ये बारम्बार अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित और आपके योग्य ही हैं; परंतु यह सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥ १ ॥

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
एनसा तेन नान्यं स उपाशङ्कितुमर्हति ॥ २ ॥

जो मनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कारण अशुभ फल भोग रहा हो, उसे उस पापकी आशंका दूसरेपर नहीं करनी चाहिये।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ ३ ॥

महाराज! जो पुरुष मनुष्य-समाजमें सर्वथा निन्दनीय आचरण करता है, वह निन्दित कर्म करनेके कारण सब लोगोंके लिये मार डालनेयोग्य है ॥ ३ ॥

निकारो निकृतिप्रज्ञैः पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया।
अनुभूतः सहामात्यैः क्षान्तश्च सुचिरं वने ॥ ४ ॥

पाण्डव आप लोगोंद्वारा अपने प्रति किये गये अपमान एवं कपटपूर्ण बर्तावको अच्छी तरह जानते थे, तथापि उन्होंने केवल आपकी ओर देखकर—आपके द्वारा न्यायोचित बर्ताव होनेकी आशा रखकर दीर्घकालतक अपने मन्त्रियोंसहित वनमें रहकर क्लेश भोगा और सब कुछ सहन किया ॥ ४ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम्।
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च ॥ ५ ॥
शृणु तत् पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः।
दिष्टमेतत् पुरा नूनमिदमेव नराधिप ॥ ६ ॥

भूपाल! मैंने हाथियों, घोड़ों तथा अमिततेजस्वी राजाओंके विषयमें जो कुछ अपनी आँखों देखा है और योगबलसे जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब वृत्तान्त सुना रहा हूँ, सुनिये। अपने मनको शोकमें न डालिये। नरेश्वर! निश्चय ही दैवका यह सारा विधान मुझे पहलेसे ही प्रत्यक्ष हो चुका है ॥ ५-६ ॥

नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते।
यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव च।
परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ॥ ८ ॥
व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा।
अस्त्रैरसंगो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः ॥ ९ ॥
शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम्।
भरतानामभूद् युद्धं यथा तल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

राजन्! जिनके कृपाप्रसादसे मुझे परम उत्तम दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, इन्द्रियातीत विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाली दृष्टि मिली है; दूरसे भी सब कुछ सुननेकी शक्ति, दूसरेके मनकी बातोंको समझ लेनेकी सामर्थ्य, भूत और भविष्यका ज्ञान, शास्त्रके विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी उत्पत्तिका ज्ञान, आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्तम शक्ति तथा युद्धके समय अस्त्रोंसे अपने शरीरके अछूते रहनेका अद्भुत चमत्कार आदि बातें जिन महात्माके वरदानसे मेरे लिये सम्भव हुई हैं, उन्हीं आपके पिता पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीको नमस्कार करके भरतवंशियोंके इस अत्यन्त अद्भुत विचित्र एवं रोमाञ्चकारी युद्धका वर्णन आरम्भ करता हूँ।

आप मुझसे यह सब कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह विस्तारपूर्वक सुनें ॥ ७–१० ॥

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

महाराज ! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधिके अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थानपर युद्धके लिये तैयार हो गयीं, उस समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥ ११ ॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुचोदय ॥ १२ ॥

'दुःशासन ! तुम भीष्मजीकी रक्षा करनेवाले रथोंको शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओंको भी शीघ्र उनकी रक्षाके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दो ॥ १२ ॥

अयं स मामभिप्राप्तो वर्षपूगाभिचिन्तितः।
पाण्डवानां ससैन्यानां कुरूणां च समागमः ॥ १३ ॥

'मैं वर्षोंसे जिसके लिये चिन्तित था, वह यह सेनासहित कौरव-पाण्डवोंका महान् संग्राम मेरे सामने उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात्।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजयान् १४

'इस समय युद्धमें भीष्मजीकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्तीके पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयोंको भी मार सकते हैं॥

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥ १५ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि 'मैं शिखण्डीको युद्धमें नहीं मारूँगा; क्योंकि सुननेमें आया है कि वह पहले स्त्री था; अतः रणभूमिमें मेरे लिये वह सर्वथा त्याज्य है' ॥ १५ ॥

तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥ १६ ॥

'इसलिये मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेषरूपसे भीष्मजीकी रक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये। मेरे सारे सैनिक शिखण्डीको मार डालनेका प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः।
सर्वथास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ॥ १७ ॥

'पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाके जो-जो वीर अस्त्र-विद्यामें सर्वथा कुशल हों, वे ही पितामह (भीष्म) की रक्षा करें॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम्।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ॥ १८ ॥

'यदि महाबली सिंह भी अरक्षित-दशामें हो तो उसे एक भेड़िया भी मार सकता है। हमें चाहिये कि सियारके समान शिखण्डीके द्वारा सिंहसदृश भीष्मको न मरने दें ॥१८॥

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम्।
गोप्तारौ फाल्गुनं प्राप्तौ फाल्गुनोऽपि शिखण्डिनः॥१९॥

'अर्जुनके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिनेकी रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं। अर्जुनको ये दो रक्षक प्राप्त हैं और अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं ॥ १९ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन भीष्मेण च विवर्जितः।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दुःशासन तथा कुरु ॥ २० ॥

'अतः दुःशासन ! भीष्मसे उपेक्षित तथा अर्जुनसे सुरक्षित होकर शिखण्डी जिस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मको न मार सके, वैसा प्रयत्न करो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्योधनदुःशासनसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्योधन-दुःशासनसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

दुर्योधनकी सेनाका वर्णन

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान्।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर रात्रिके अन्तमें सवेरा होते ही 'रथ जोतो, युद्धके लिये तैयार हो जाओ।' इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले राजाओंका महान् कोलाहल सब ओर छा गया ॥ १ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ॥ २ ॥
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम्।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, वीरोंके सिंहनाद, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथके पहियोंकी घरघराहट, हाथियोंकी गर्जना तथा गर्जते हुए योद्धाओंके सिंहनाद करने, ताल ठोंकने और जोर-जोरसे बोलने आदिकी तुमुल ध्वनि सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २-३ ॥

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ४ ॥

महाराज ! सूर्योदय होते-होते कौरवों और पाण्डवोंकी वह सारी विशाल सेना सम्पूर्ण रूपसे युद्धके लिये तैयार हो उठी॥

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि सशस्त्रकवचानि च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंके दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र तथा कवच चमक उठे ॥ ५ ॥

ततः प्रकाशे सैन्यानि समदृश्यन्त भारत।
त्वदीयानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च ॥ ६ ॥

भारत ! तब सूर्योदयके प्रकाशमें आपकी और शत्रुओं-की सारी सेनाएँ शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा अत्यन्त विशाल दिखायी देने लगीं ॥ ६ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदपरिष्कृताः।
विभ्राजमाना दृश्यन्ते मेघा इव सविद्युतः ॥ ७ ॥

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित आपके हाथी और रथ विजलियोंसहित मेघोंकी घटाके समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक रथोंकी सेनाएँ नगरोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं। उनके बीच आपके ताऊ भीष्मजी पूर्ण चन्द्रमा-के समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

धनुर्भिर्ऋष्टिभिः खड्गैर्गदाभिः शक्तितोमरैः।
योधाः प्रहरणैः शुभ्रैस्तेष्वनीकेष्ववस्थिताः ॥ ९ ॥

आपकी सेनाके सैनिक धनुष, खड्ग, ऋष्टि, गदा, शक्ति और तोमर आदि चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर उन सेनाओंमें खड़े थे॥

गजाः पदाता रथिनस्तुरगाश्च विशाम्पते।
व्यतिष्ठन् वागुराकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! हाथी, घोड़े, पैदल और रथी, शत्रुओंको बाँधनेके लिये जाल-से बनकर एक-एक जगह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें खड़े थे ॥ १० ॥

ध्वजा बहुविधाकारा व्यदृश्यन्त समुच्छ्रिताः।
स्वेषां चैव परेषां च द्युतिमन्तः सहस्रशः ॥ ११ ॥

अपने और शत्रुओंके अनेक प्रकारके ऊँचे ऊँचे चमकीले ध्वज हजारोंकी संख्यामें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ११ ॥

काञ्चना मणिचित्राङ्गा ज्वलन्त इव पावकाः।
अर्चिष्मन्तो व्यरोचन्त गजारोहाः सहस्रशः ॥ १२ ॥

सुवर्णमय आभूषण पहने, मणियोंके अलंकारोंसे विचित्र अङ्गोंवाले, सहस्रों हाथीसवार सैनिक अपनी प्रभासे शिखाओं-सहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ १२ ॥

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके चमकीले ध्वज फहराते रहते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवसेनाके ध्वज भी फहरा रहे थे। दोनों सेनाओंके प्रमुख वीर युद्धकी अभिलाषा रख-कर कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी दे रहे थे ॥ १३ ॥

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ॥ १४ ॥

उनके हथियार उठे हुए थे। वे हाथमें दस्ताने और पीठपर तरकस बाँधे सेनाके मुहानेपर खड़े हुए भूपालगण अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनकी आँखें बैलोंकी आँखोंके समान बड़ी-बड़ी दिखायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

शकुनिः सौबलः शल्यः सैन्धवोऽथ जयद्रथः।
विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ १५ ॥
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः।
बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १६ ॥
दशैते पुरुषव्याघ्राः शूराः परिघबाहवः।
अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ १७ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, शल्य, सिन्धुनरेश जयद्रथ, विन्द-अनुविन्द, केकयराजकुमार, काम्बोजराज सुदक्षिण, कलिङ्ग-राज श्रुतायुध, राजा जयत्सेन, कोशलनरेश बृहद्बल तथा भोजवंशी कृतवर्मा—ये दस पुरुषसिंह शूरवीर क्षत्रिय एक-एक अक्षौहिणी सेनाके अधिनायक थे। इनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी दिखायी देती थीं। इन सबने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं ॥ १५—१७ ॥

एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः।
राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः ॥ १८ ॥
संनद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः।

ये तथा और भी बहुतसे नीतिज्ञ महारथी राजा और राजकुमार दुर्योधनके वशमें रहकर कवच आदिसे सुसज्जित हो अपनी-अपनी सेनाओंमें खड़े दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः ॥ १९ ॥
हृष्टा दुर्योधनस्यार्थे ब्रह्मलोकाय दीक्षिताः।
समर्था दश वाहिन्यः परिगृह्य व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

इन सबने काले मृगचर्म बाँध रक्खे थे। सभी बलवान् और युद्धभूमिमें सुशोभित होनेवाले थे और सबने दुर्योधनके हितके लिये बड़े हर्ष और उल्लासके साथ ब्रह्मलोककी दीक्षा ली थी। ये सामर्थ्यशाली दस वीर अपने सेनापतित्वमें दस सेनाओंको लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १९ २० ॥

एकादशी धार्तराष्ट्री कौरवाणां महाचमूः।
अग्रतः सर्वसैन्यानां यत्र शान्तनवोऽग्रणीः ॥ २१ ॥

ग्यारहवीं विशाल वाहिनी दुर्योधनकी थी, जिनमें अधि-कांश कौरव-योद्धा थे। यह कौरवसेना अन्य सब सेनाओंके आगे खड़ी थी। इसके अधिनायक थे शान्तनुनन्दन भीष्म॥

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम्।
अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

उनके सिरपर सफेद पगड़ी शोभा पाती थी। उनके घोड़े भी सफेद ही थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें श्वेत कवच बाँध रक्खा था। महाराज ! मर्यादासे कभी पीछे न हटनेवाले उन भीष्मजीको मैंने अपनी श्वेतकान्तिके कारण नवोदित चन्द्रमाके समान सुशोभित देखा ॥ २२ ॥

हेमतालध्वजं भीष्मं राजते स्यन्दने स्थितम्।
श्वेताभ्र इव तीक्ष्णांशुं ददृशुः कुरुपाण्डवाः ॥ २३ ॥
सृंजयाश्च महेष्वासा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।

भीष्मजी चाँदीके बने हुए सुन्दर रथपर विराजमान थे। उनकी तालचिह्नित स्वर्णमयी ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी। उस समय कौरवों, पाण्डवों तथा धृष्टद्युम्न आदि महाधनुर्धर सृंजयवंशियोंने उन्हें सफेद बादलोंमें छिपे हुए सूर्यदेवके समान देखा ॥ २३½ ॥

जृम्भमाणं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः।

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बारंबार उद्विग्न हो उठते थे। ठीक उसी तरह, जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंहको देखकर क्षुद्र मृग भयसे व्याकुल हो उठते हैं।२४½।

एकादशैताः श्रीजुष्टा वाहिन्यस्तव पार्थिव ॥ २५ ॥
पाण्डवानां तथा सप्त महापुरुषपालिताः।

भूपाल ! आपकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तथा पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ वीर पुरुषोंसे सुरक्षित हो उत्तम शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं ॥ २५½ ॥

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ॥ २६ ॥
युगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव।

वे दोनों सेनाएँ प्रलयकालमें एक दूसरेसे मिलनेवाले उन दो समुद्रोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं जिनमें मतवाले मगर और भँवरें होती हैं तथा जिनमें बड़े बड़े ग्राह सब ओर फैले रहते हैं॥ २६½ ॥

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ॥ २७ ॥

राजन् ! कौरवोंकी इतनी बड़ी सेनाका वैसा संगठन मैंने पहले कभी न तो देखा था और न सुना ही था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्णन

संजय उवाच

यथा स भगवान् व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
तथैव सहिताः सर्वे समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने जैसा कहा था, उसीके अनुसार सब राजा कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए थे ॥ १ ॥

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥ २ ॥

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर था। आकाशमें सात महाग्रह अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी दे रहे थे ॥ २ ॥

द्विधाभूत इवादित्य उदये प्रत्यदृश्यत।
ज्वलन्त्या शिखया भूयो भानुमानुदितो रविः॥ ३ ॥

उदयकालमें सूर्य दो भागोंमें बँटा हुआ-सा दिखायी देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओंसे अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था ॥ ३ ॥

ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः।
लिप्समानाः शरीराणि मांसशोणितभोजनाः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा हो रहा था और मांस तथा रक्तका आहार करनेवाले गीदड़ और कौए मनुष्यों तथा पशुओंकी लाशोंकी लालसा रखकर अमङ्गलसूचक शब्द कर रहे थे ॥ ४ ॥

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भरद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ॥ ५ ॥
जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणामित्यूचतुररिंदमौ।
युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः ॥ ६ ॥

कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म तथा भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य ये दोनों शत्रुदमन महारथी प्रतिदिन सवेरे उठकर मनको संयममें रखते हुए यही आशीर्वाद देते थे कि 'पाण्डवोंकी जय हो' परंतु वे जैसी प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके अनुसार आपके लिये ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ५-६

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव।
समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उस दिन सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ देवव्रत भीष्मजी सब राजाओंको बुलाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥ ८ ॥

'क्षत्रियो ! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्गका खुला हुआ

विशाल द्वार है। तुमलोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजी-का सालोक्य प्राप्त करो ॥ ८ ॥

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥ ९ ॥

'यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजोंद्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्तचित्त होकर युद्धमें शौर्यका परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मान-का भागी बनाओ ॥ ९ ॥

नाभागोऽथ ययातिश्च मान्धाता नहुषो नृगः।
संसिद्धाः परमं स्थानं गताः कर्मभिरीदृशैः ॥ १० ॥

'नाभाग, ययाति, मान्धाता, नहुष और नृग ऐसे ही कर्मोंद्वारा सिद्धिको प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकोंमें गये हैं॥१०॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ॥ ११ ॥

'घरमें रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रियके लिये अधर्म माना गया है। वह युद्धमें लोहेके अस्त्र-शस्त्रों-द्वारा आहत होकर जो मृत्युको अङ्गीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! भीष्मके ऐसा कहनेपर वे सभी भूपाल श्रेष्ठ रथोंद्वारा अपनी सेनाओंकी शोभा बढ़ाते हुए युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १२ ॥

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतभूषण! इस युद्धमें भीष्मने मन्त्रियों और बन्धुओं-सहित कर्णके अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे ॥ १३ ॥

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥

इसलिये आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्णके ही अपने सिंहनादसे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्ध-के लिये निकले ॥ १४ ॥

श्वेतैश्छत्रैः पताकाभिर्ध्वजवारणवाजिभिः।
तान्यनीकानि शोभन्ते रथैरथ पदातिभिः ॥ १५ ॥

श्वेत छत्रों, पताकाओं, ध्वजों, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंसे उन समस्त सेनाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १५ ॥

भेरीपणवशब्दैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः।
रथनेमिनिनादैश्च बभूवाकुलिता मही ॥ १६ ॥

भेरी, पणव, दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनियों तथा रथ-के पहियोंके घर्घर शब्दोंसे वहाँकी सारी भूमि व्याप्त हो रही थी।

काञ्चनाङ्गदकेयूरैः कार्मुकैश्च महारथाः।
भ्राजमाना व्यराजन्त साग्नयः पर्वता इव ॥ १७ ॥

सोनेके अङ्गद और केयूर नामक बाहुभूषण तथा धनुष धारण किये महारथी वीर अग्नियुक्त पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १७ ॥

तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना।
विमलादित्यसंकाशस्तस्थौ कुरुचमूपरि ॥ १८ ॥

कौरवसेनाके प्रधान सेनापति भीष्म भी ताड़ और पाँच तारोंके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजा, पताकासे सुशोभित रथपर जा बैठे। उस समय वे निर्मल तेजोमय सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

ये त्वदीया महेष्वासा राजानो भरतर्षभ।
अवर्तन्त यथादेशं राजन् शान्तनवस्य ते ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! महाराज! आपकी सेनाके समस्त महाधनुर्धर भूपाल सेनापति भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते थे ॥१९॥

स तु गोवासनः शैव्यः सहितः सर्वराजभिः।
ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना।
पद्मवर्णस्त्वनीकानां सर्वेषामग्रतः स्थितः ॥ २० ॥
अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलाङ्गूलकेतुना।

गोवासनदेशके स्वामी महाराज शैव्य अपने अधीन राजाओं-के साथ पताकासे सुशोभित राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। कमलके समान कान्तिमान् अश्वत्थामा सिंहकी पूँछके चिह्नसे युक्त ध्वजा, पताकावाले रथपर आरूढ़ हो समस्त सेनाओंके आगे रहकर चलने लगे ॥ २०½ ॥

श्रुतायुधश्चित्रसेनः पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ २१ ॥
शल्यो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च महारथः।
एते सप्त महेष्वासा द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ २२ ॥
स्यन्दनैर्वरवर्माणो भीष्मस्यासन् पुरोगमाः।

श्रुतायुध, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल्य, भूरिश्रवा तथा महारथी विकर्ण—ये सात महाधनुर्धर वीर रथोंपर आरूढ़ हो सुन्दर कवच धारण किये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अपने आगे रखकर भीष्मके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २१-२२½ ॥

तेषामपि महोत्सेधाः शोभयन्तो रथोत्तमान् ॥ २३ ॥
भ्राजमाना व्यरोचन्त जाम्बूनदमया ध्वजाः।

इन सबके जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए अत्यन्त ऊँचे ध्वज इनके श्रेष्ठ रथोंकी शोभा बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रकाशित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ॥ २४ ॥
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह।

आचार्यप्रवर द्रोणकी पताकापर कमण्डलुविभूषित सुवर्णमयी वेदी और धनुषके चिह्न बने हुए थे ॥ २४½ ॥

अनेकशतसाहस्रमनीकमनुकर्षतः ॥ २५ ॥
महान् दुर्योधनस्यासीन्नागो मणिमयो ध्वजः ।

कई लाख सैनिकोंकी सेनाको अपने साथ लेकर चलनेवाले दुर्योधनका मणिमय महान् ध्वज नागचिह्नसे विभूषित था ॥ २५½ ॥

तस्य पौरवकालिङ्गौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २६ ॥
क्षेमधन्वा सुमित्रश्च तस्थुः प्रमुखतो रथाः ।

पौरव, कालिङ्गराज श्रुतायुध, काम्बोजराज सुदक्षिण, क्षेमधन्वा तथा सुमित्र—ये पाँच प्रधान रथी दुर्योधनके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २६½ ॥

स्यन्दनेन महार्हेण केतुना वृषभेण च ।
प्रकर्षन्निव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ ॥ २७ ॥

वृषभचिह्नित ध्वजा-पताकासे युक्त बहुमूल्य रथपर बैठे हुए कृपाचार्य मगधकी श्रेष्ठ सेनाका अपने साथ लिये चल रहे थे ॥ २७ ॥

तदङ्गपतिना गुप्तं कृपेण च मनस्विना ।
शारदाम्बुधरप्रख्यं प्राच्यानां सुमहद् बलम् ॥ २८ ॥

अङ्गराज तथा मनस्वी कृपाचार्यसे सुरक्षित पूर्वदेशीय क्षत्रियोंकी वह विशाल वाहिनी शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाती थी ॥ २८ ॥

अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतुमुख्येन राजतेन जयद्रथः ॥ २९ ॥

महायशस्वी राजा जयद्रथ वराहके चिह्नसे युक्त रजतमय ध्वजा-पताकाके साथ रथपर आरूढ़ हो सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

शतं रथसहस्राणां तस्यासन् वशवर्तिनः ।
अष्टौ नागसहस्राणि सादिनामयुतानि षट् ॥ ३० ॥

उनके अधीन एक लाख रथ, आठ हजार हाथी और साठ हजार घुड़सवार थे ॥ ३० ॥

तत् सिन्धुपतिना राज्ञा पालितं ध्वजिनीमुखम् ।
अनन्तरथनागाश्वमशोभत महद् बलम् ॥ ३१ ॥

सिन्धुराजके द्वारा सुरक्षित अनन्त रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल सेना अद्भुत शोभा पा रही थी ॥

षष्ट्या रथसहस्रैस्तु नागानामयुतेन च ।
पतिः सर्वकलिङ्गानां ययौ केतुमता सह ॥ ३२ ॥

कलिङ्गदेशका राजा श्रुतायुध अपने मित्र केतुमान्‌के साथ साठ हजार रथ और दस हजार हाथियोंको साथ लिये युद्धके लिये चला ॥ ३२ ॥

तस्य पर्वतसंकाशा व्यरोचन्त महागजाः ।
यन्त्रतोमरतूणीरैः पताकाभिः सुशोभिताः ॥ ३३ ॥

यन्त्र, तोमर, तूणीर तथा पताकाओंसे सुशोभित उसके विशाल गजराज पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३३ ॥

शुशुभे केतुमुख्येन पावकेन कलिङ्गकः ।
श्वेतच्छत्रेण निष्केण चामरव्यजनेन च ॥ ३४ ॥

कलिङ्गराजके रथकी ध्वजापर अग्निका चिह्न बना हुआ था। वह श्वेत छत्र और चँवररूपी पंखेसे तथा पदक (कण्ठहार) से विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था॥३४॥

केतुमानपि मातङ्गं विचित्रपरमाङ्कुशम् ।
आस्थितः समरे राजन् मेघस्थ इव भानुमान् ॥ ३५ ॥

राजन् ! केतुमान् भी विचित्र एवं विशाल अङ्कुशसे युक्त गजराजपर आरूढ़ हो समरभूमिमें खड़ा हुआ मेघोंकी घटाके ऊपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान जान पड़ता था ॥

तेजसा दीप्यमानस्तु वारणोत्तममास्थितः ।
भगदत्तो ययौ राजा यथा वज्रधरस्तथा ॥ ३६ ॥
गजस्कन्धगतावास्तां भगदत्तेन सम्मितौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केतुमन्तमनुव्रतौ ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो राजा भगदत्त भी वज्रधारी इन्द्रके समान अपने तेजसे उद्दीप्त हो युद्धके लिये आगे बढ़ गये थे। अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द भी भगदत्तके समान ही तेजस्वी थे। वे दोनों भाई हाथीकी पीठपर बैठकर केतुमान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे ३६-३७

स रथानीकवान् व्यूहो हस्त्यङ्गो नृपशीर्षवान् ।
वाजिपक्षः पतत्युग्रः प्रहसन् सर्वतोमुखः ॥ ३८ ॥

राजन् ! रथोंके समूहसे युक्त उस सेनाका भयंकर व्यूह सर्वतोमुखी था। वह हँसता हुआ आक्रमण-सा कर रहा था। हाथी उस व्यूहके अङ्ग थे, राजाओंका समुदाय ही उसका मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

द्रोणेन विहितो राजन् राज्ञा शान्तनवेन च ।
तथैवाचार्यपुत्रेण बाह्लीकेन कृपेण च ॥ ३९ ॥

द्रोणाचार्य, राजा शान्तनुनन्दन भीष्म, आचार्यपुत्र अश्वत्थामा, बाह्लीक और कृपाचार्यने उस सैन्यव्यूहका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन

संजय उवाच

ततो मुहूर्तात् तुमुलः शब्दो हृदयकम्पनः।
अश्रूयत महाराज योधानां प्रयुयुत्सताम्॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर दो ही घड़ीमें युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका भयंकर कोलाहल सुनायी देने लगा, जो हृदयको कँपा देनेवाला था॥ १॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च वारणानां च बृंहितैः।
नेमिघोषै रथानां च दीर्यतीव वसुंधरा॥ २॥

शंख और दुन्दुभियोंके घोष; गजराजोंकी गर्जना तथा रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे सारी पृथ्वी विदीर्ण-सी हो रही थी।

हयानां हेषमाणानां योधानां चैव गर्जताम्।
क्षणेनैव नभो भूमिः शब्देनापूरितं तदा॥ ३॥

घोड़ोंके हींसने और योद्धाओंके गर्जनेके शब्दोंसे एक ही क्षणमें वहाँकी पृथ्वी और आकाशका सारा प्रदेश गूँज उठा।

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे॥ ४॥

दुर्धर्ष नरेश! आपके पुत्रों और पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरीके निकट आनेपर काँप उठीं॥ ४॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः।
भ्राजमाना व्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः॥ ५॥

उस रणक्षेत्रमें स्वर्णभूषित रथ और हाथी बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान सुशोभित दिखायी देते थे॥ ५॥

ध्वजा बहुविधाकारास्तावकानां नराधिप।
काञ्चनाङ्गदिनो रेजुर्ज्वलिता इव पावकाः॥ ६॥

नरेश्वर! आपकी सेनाके नाना प्रकारके ध्वज और सोनेके अङ्गद (बाजूबन्द) पहने हुए सैनिक प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ६॥

स्वेषां चैव परेषां च समदृश्यन्त भारत।
महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव॥ ७॥

भारत! अपनी और शत्रुकी सेनाके चमकीले ध्वज इन्द्र-भवनमें फहरानेवाले देवेन्द्रके ध्वजोंके समान दिखायी देते थे।

काञ्चनैः कवचैर्वीरा ज्वलनार्कसमप्रभैः।
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्वलनार्कसमप्रभाः॥ ८॥

अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् काञ्चनमय कवच धारण किये वीर सैनिक अग्नि और सूर्यके ही तुल्य प्रकाशित दीख रहे थे॥ ८॥

कुरुयोधवरा राजन् विचित्रायुधकार्मुकाः।
उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलबद्धाः पताकिनः॥ ९॥

राजन्! कौरवपक्षके श्रेष्ठ योद्धा विचित्र आयुध और धनुष धारण किये बड़ी शोभा पा रहे थे। उनके विचित्र आयुध ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे थे और उनकी पताकाएँ आकाशमें फहरा रही थीं।

ऋषभाक्षा महेष्वासाश्चमूमुखगता बभुः।
पृष्ठगोपास्तु भीष्मस्य पुत्रास्तव नराधिप।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुःसहस्तथा॥ १०॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवाः शलः॥ ११॥
रथा विंशतिसाहस्रास्तथैषामनुयायिनः।

सेनाके मुहानेपर खड़े हुए, वृषभके समान विशाल नेत्रों-वाले वे महाधनुर्धर वीर बड़ी शोभा पा रहे थे। नरेश्वर! भीष्मजीके पृष्ठभागकी रक्षा आपके पुत्र दुःशासन दुर्विषह, दुर्मुख, दुःसह, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, सत्य-व्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा, शल तथा इनके अनुयायी बीस हजार रथी कर रहे थे॥ १०—११½॥

अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः॥ १२॥
शाल्वा मत्स्यास्तथाम्बष्ठास्त्रैगर्ताः केकयास्तथा।
सौवीराः कैतवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यवासिनः॥ १३॥
द्वादशैते जनपदाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः।
महता रथवंशेन ते ररक्षुः पितामहम्॥ १४॥

अभीषाह, शूरसेन, शिवि, वसाति, शाल्व, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त, केकय, सौवीर, कैतव तथा पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर प्रदेशके निवासी—इन बारह जनपदोंके समस्त शूरवीर अपना शरीर निछावर करनेको उद्यत होकर विशाल रथसमुदायके द्वारा पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १२—१४॥

अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
मागधो यत्र नृपतिस्तद् रथानीकमन्वयात्॥ १५॥

दस हजार वेगवान् हाथियोंकी सेना साथ लेकर मगधराज उपर्युक्त रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ १५॥

रथानां चक्ररक्षाश्च पादरक्षाश्च दन्तिनाम्।
अभवन् वाहिनीमध्ये शतानामयुतानि षट्॥ १६॥

उस विशाल वाहिनीमें रथोंके पहियों और हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैनिक साठ लाख थे॥ १६॥

पादाताश्चाग्रतोऽगच्छन् धनुश्चर्मासिपाणयः।
अनेकशतसाहस्रा नखरप्रासयोधिनः॥ १७॥

कुछ पैदल सैनिक, जिनकी संख्या कई लाख थी, हाथमें धनुष, ढाल और तलवार लिये आगे-आगे चल रहे थे। वे नखर (बघनखे) और प्रासद्वारा भी युद्ध करनेमें कुशल थे॥

अक्षौहिण्यो दशैका च तव पुत्रस्य भारत।
अदृश्यन्त महाराज गङ्गेव यमुनान्तरा ॥ १८ ॥

भारत ! महाराज ! आपके पुत्रकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ यमुनामें मिली हुई गङ्गाके समान दिखायी देती थीं॥१८

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ॥ १ ॥
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
कथं भीष्मं स कौन्तेयः प्रत्यव्यूहत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरी ग्यारह अक्षौहिणियोंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उसका सामना करनेके लिये अपनी थोड़ी-सी सेनाके द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की ? जो मनुष्य, देवता, गन्धर्व और असुर सभीकी व्यूह-निर्माण-विधिको जानते हैं, उन भीष्मजीके सामने कुन्तीकुमारने किस तरह अपनी सेनाका व्यूह बनाया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनंजयम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपकी सेनाओंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा— ॥ ३ ॥

महर्षेर्वचनात् तात वेदयन्ति बृहस्पतेः।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्॥ ४ ॥

'तात ! महर्षि बृहस्पतिके वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओंकी सेना थोड़ी हो तो अपनी सेनाको छोटे आकारमें संगठित करके युद्ध करना चाहिये और यदि अपनेसे अधिक सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो तो अपनी सेनाको इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे ॥ ४ ॥

सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह।
अस्माकं च तथा सैन्यमल्पीयः सुतरां परैः ॥ ५ ॥

'थोड़े-से सैनिकोंसे बहुतोंके साथ युद्ध करनेके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओंसे बहुत कम है ही ॥ ५ ॥

एतद् वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूह पाण्डव।
एतच्छ्रुत्वा धर्मराजं प्रत्यभाषत पाण्डवः ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महर्षिके इस कथनपर विचार करके तुम भी अपनी सेनाका व्यूह बनाओ।' धर्मराजकी यह बात सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६ ॥

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम्।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥ ७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! यह लीजिये, मैं आपके लिये अविचल एवं दुर्जय वज्रव्यूहकी रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार वज्र-धारी इन्द्रने किया है ॥ ७ ॥

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः।
स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥

'जो समरभूमिमें प्रचण्ड वायुकी भाँति उठकर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ आर्य भीमसेन हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

तेजांसि रिपुसैन्यानां मृद्नन् पुरुषसत्तमः।
अग्रेऽग्रणीर्योत्स्यति नो युद्धोपायविचक्षणः ॥ ९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन युद्धके विविध उपायोंके ज्ञानमें निपुण हैं। वे हमारी सेनाके अगुआ होकर शत्रुसेनाके तेजको नष्ट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ ९ ॥

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ॥ १० ॥

'जैसे सिंहको देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर भाग उठते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि समस्त कौरव त्रस्त होकर पीछे लौट जायँगे ॥ १० ॥

तं सर्वे संश्रयिष्यामः प्राकारमकुतोभयाः।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं देवराजमिवामराः ॥ ११ ॥

'जैसे देवता देवराजका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार हमलोग योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनका आश्रय लेंगे। ये हमारे लिये परकोटेका काम करेंगे। फिर हमें कहींसे कोई भय नहीं रह जायगा ॥ ११ ॥

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम्।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥ १२ ॥

'संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले क्रोधमें भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदरकी ओर देखनेका साहस कर सके ॥ १२ ॥

भीमसेनो गदां बिभ्रद् वज्रसारमयीं दृढाम् ।
चरन् वेगेन महता समुद्रमपि शोषयेत् ॥ १३ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।

'जब भीमसेन लोहेसे बनी हुई अपनी सुदृढ़ गदा हाथोंमें ले महान् वेगसे विचरते हैं, उस समय वे समुद्रको भी सोख सकते हैं। केकयराजकुमार, धृष्टकेतु और चेकितान भी ऐसे ही पराक्रमी हैं ॥ १३½ ॥

एते तिष्ठन्ति सामात्याः प्रेक्षकास्ते जनाधिप ॥ १४ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा इति बीभत्सुरब्रवीत् ।
भीमसेनं तदा राजन् दर्शयस्व महाबलम् ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! ये धृतराष्ट्रके पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित आपकी ओर देख रहे हैं।' राजन् ! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भीमसेनसे बोले—'अब आप इन शत्रुओंको अपना महान् बल दिखाइये' ॥ १४-१५ ॥

ब्रुवाणं तु तथा पार्थं सर्वसैन्यानि भारत ।
अपूजयंस्तदा वाग्भिरनुकूलाभिराहवे ॥ १६ ॥

भारत ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस युद्धस्थलमें समस्त सैनिकोंने अनुकूल वचनोंद्वारा उस समय उनका पूजन-समादर किया ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुस्तथा चक्रे धनंजयः ।
व्यूह्य तानि बलान्याशु प्रययौ फाल्गुनस्तथा ॥ १७ ॥

महाबाहु अर्जुनने ऐसा कहकर उसी तरह किया; अपनी सब सेनाओंका शीघ्र ही व्यूह बनाया और रणके लिये प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

सम्प्रयातान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवानां महाचमूः।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्पन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कौरवोंको अपनी ओर आते देख पाण्डवोंकी वह विशाल सेना पहले तो भरी हुई गङ्गाके समान स्थिर दिखायी दी; फिर उसमें धीरे-धीरे कुछ चेष्टा दृष्टिगोचर होने लगी ॥

भीमसेनोऽग्रणीस्तेषां धृष्टद्युम्नश्च वीर्यवान् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १९ ॥

पाण्डवसेनामें भीमसेन सबके आगे चलनेवाले थे। उनके साथ पराक्रमी धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी थे ॥ १९ ॥

विराटश्च ततः पश्चाद् राजाथाक्षौहिणीवृतः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षत पृष्ठतः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् राजा विराट अपने भाइयों और पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

चक्ररक्षौ तु भीमस्य माद्रीपुत्रौ महाद्युती ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पृष्ठगोपास्तरस्विनः ॥ २१ ॥

भीमके पहियोंकी रक्षा परम तेजस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कर रहे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु—ये वेगशाली वीर उनके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यस्तेषां गोप्ता महारथः ।
सहितः पृतनाशूरै रथमुख्यैः प्रभद्रकैः ॥ २२ ॥

पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके चुने हुए शूरवीर एवं प्रधान रथी प्रभद्रकोंके साथ उन सबकी रक्षा करते थे ॥ २२ ॥

शिखण्डी तु ततः पश्चादर्जुनेनाभिरक्षितः ।
यत्तो भीष्मविनाशाय प्रययौ भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डी भीष्मका विनाश करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ रहा था ॥

पृष्ठतोऽप्यर्जुनस्यासीद् युयुधानो महाबलः ।
चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ २४ ॥

अर्जुनके पीछे महाबली सात्यकि थे। पाञ्चाल वीर युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करते थे॥

राजा तु मध्यमानीके कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बृहद्भिः कुञ्जरैर्मत्तैश्चलद्भिरचलैरिव ॥ २५ ॥

चलते-फिरते पर्वतोंके समान विशाल और मतवाले गजराजोंकी सेनाके साथ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर बीचकी सेनामें उपस्थित थे ॥ २५ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो यज्ञसेनो महामनाः ।
विराटमन्वयात् पश्चात् पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ २६ ॥

महामना पराक्रमी पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंके लिये एक अक्षौहिणी सेनाके सहित राजा विराटके पीछे-पीछे चल रहे थे॥

तेषामादित्यचन्द्राभाः कनकोत्तमभूषणाः ।
नानाचित्रधरा राजन् रथेष्वासन् महाध्वजाः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके रथोंपर भाँति-भाँतिके बेल-बूटोंसे विभूषित स्वर्णमण्डित विशाल ध्वज सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

समुत्सार्य ततः पश्चाद् धृष्टद्युम्नो महारथः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षद् युधिष्ठिरम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर महारथी धृष्टद्युम्न अन्य लोगोंको हटाकर स्वयं भाइयों और पुत्रोंके साथ उपस्थित हो राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करने लगे ॥ २८ ॥

त्वदीयानां परेषां च रथेषु विपुलान् ध्वजान् ।
अभिभूयार्जुनस्यैको रथे तस्थौ महाकपिः ॥ २९ ॥

राजन् ! आपके तथा शत्रुओंके रथोंपर जो बहुसंख्यक विशाल ध्वज फहरा रहे थे, उन सबको तिरस्कृत करके केवल अर्जुनके रथपर एकमात्र महान् कपिसे उपलक्षित दिव्य ध्वज शोभा पाता था ॥ २९ ॥

पादातास्त्वग्रतोऽगच्छन्नसिशक्त्यृष्टिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा भीमसेनस्य रक्षिणः ॥ ३० ॥

भीमसेनकी रक्षाके लिये उनके आगे-आगे हाथोंमें खड्ग, शक्ति तथा ऋष्टि लिये कई लाख पैदल सैनिक चल रहे थे।

वारणा दशसाहस्राः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
शूरा हेममयैर्जालैर्दीप्यमाना इवाचलाः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूता महार्हाः पद्मगन्धिनः ।
राजानमन्वयुः पश्चाज्जीमूता इव वार्षिकाः ॥ ३२ ॥

राजा युधिष्ठिरके पीछे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति तथा पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे दस हजार गजराज जा रहे थे। उनके गण्डस्थलसे फूटकर मदकी धारा बह रही थी। वे सोनेकी जालीदार झूलोंसे उद्दीप्त हो रहे थे। उनमें शौर्य भरा था। वे मेघोंके समान मदकी बूँदें बरसाते थे। उनसे कमलके समान सुगन्ध निकलती थी और वे सभी बहुमूल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

भीमसेनो गदां भीमां प्रकर्षन् परिघोपमाम् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं दुराधर्षो महामनाः ॥ ३३ ॥

दुर्जय वीर महामनस्वी भीमसेन हाथमें परिघके समान मोटी एवं भयंकर गदा लिये अपने साथ विशाल सेनाको खींचे लिये जा रहे थे ॥ ३३ ॥

तमर्कमिव दुष्प्रेक्ष्यं तपन्तमिव वाहिनीम् ।
न शेकुः सर्वयोधास्ते प्रतिवीक्षितुमन्तिके ॥ ३४ ॥

उस समय सूर्यकी भाँति उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वे आपकी सेनाको संतप्त-सी कर रहे थे। निकट आनेपर समस्त योद्धा उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ॥ ३४ ॥

वज्रो नामैष स व्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः ।
चापविद्युद्ध्वजो घोरो गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥ ३५ ॥

यह वज्रनामक व्यूह सर्वथा भयरहित तथा सब ओर मुखवाला था। उसके ध्वजके निकट सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्के समान प्रकाशित होता था। गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा ही वह भयंकर व्यूह सुरक्षित था ॥ ३५ ॥

यं प्रतिव्यूह्य तिष्ठन्ति पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अजेयो मानुषे लोके पाण्डवैरभिरक्षितः ॥ ३६ ॥

पाण्डवलोग जिस व्यूहकी रचना करके आपकी सेनाका सामना करनेके लिये खड़े थे, वह उनके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण मनुष्यलोकमें अजेय था ॥ ३६ ॥

संध्यां तिष्ठत्सु सैन्येषु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
प्रावात् सपृषतो वायुर्निरभ्रे स्तनयित्नुमान् ॥ ३७ ॥

सूर्योदयके समय जब सभी सैनिक संध्योपासना कर रहे थे, बिना बादलके ही पानीकी बूँदोंके साथ हवा चलने लगी। उसके साथ मेघकी-सी गर्जना भी होती थी ॥ ३७ ॥

विष्वग्वाताश्च विववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
रजश्चोद्धयत महत् तम आच्छादयज्जगत् ॥ ३८ ॥

वहाँ सब ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसाती हुई तीव्र वायु बह रही थी। उस समय इतनी धूल उड़ी कि जगत्में घोर अन्धकार छा गया ॥ ३८ ॥

पपात महती चोल्का प्राङ्मुखी भरतर्षभ ।
उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बड़ी भारी उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्यसे टकराकर बड़े जोर-की आवाजके साथ बिखर गयी ॥ ३९ ॥

अथ संनह्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ ।
निष्प्रभोऽभ्युद्ययौ सूर्यः सघोषं भूश्चचाल च ॥ ४० ॥

भरतभूषण ! जब उभय-पक्षकी सेनाएँ युद्धके लिये पूर्णतः तैयार हो गयीं, उस समय सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और भारी आवाजके साथ धरती काँपने लगी ॥ ४० ॥

व्यशीर्यत सनादा च भूस्तदा भरतर्षभ ।
निर्घाता बहवो राजन् दिक्षु सर्वासु चाभवन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथ्वी विकट नाद करती हुई फटी जा रही है। राजन् ! सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक बार वज्रपातके समान भयानक शब्द प्रकट हुए।

प्रादुरासीद् रजस्तीव्रं न प्राज्ञायत किंचन ।
ध्वजानां धूयमानानां सहसा मातरिश्वना ॥ ४२ ॥
किङ्किणीजालबद्धानां काञ्चनस्रग्वराम्बरैः ।
महतां सपताकानामादित्यसमतेजसाम् ॥ ४३ ॥
सर्वं झणझणीभूतमासीत् तालवनेष्विव ।

तीव्र वेगसे धूलकी वर्षा होने लगी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सहसा वायुके वेगसे ध्वज हिलने लगे। पताका-सहित वे ध्वज सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। उन्हें सोनेके हार और सुन्दर वस्त्रोंसे सजाया गया था। उनमें छोटी-छोटी घंटियोंके साथ झालरें बँधी थीं, जिनके मधुर शब्द सब ओर फैल रहे थे। इस प्रकार उन महान् ध्वजोंके शब्दसे ताड़के जंगलोंकी भाँति उस रणभूमिमें सब ओर झन-झनकी आवाज हो रही थी ॥ ४२-४३½ ॥

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
ग्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वाऽग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार युद्धसे आनन्दित होनेवाले पुरुषसिंह पाण्डव आपके पुत्रकी वाहिनीके सामने व्यूह बनाकर खड़े थे और हमारे योद्धाओंकी रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे। गदाधारी भीमसेनको आगे खड़ा देख हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ॥ ४४-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि पाण्डवसैन्यव्यूहे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें पाण्डवसेनाका व्यूहनिर्माणविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान

धृतराष्ट्र उवाच

सूर्योदये संजय के नु पूर्वं
युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन् ।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पाण्डवा वा भीमनेत्रास्तदानीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सूर्योदयके समय किस पक्षके योद्धा युद्धकी इच्छासे अधिक हर्षका अनुभव करते हुए जान पड़ते थे ? भीष्मके नेतृत्वमें निकट आये हुए मेरे सैनिक अथवा भीमसेनकी अध्यक्षतामें आनेवाले पाण्डव सैनिक ! उस समय कौन अधिक प्रसन्न थे ? ॥ १ ॥

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चाभषन्त ।
केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः
सर्वं ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ॥ २ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे ? किनकी सेनाकी ओर देखकर हिंसक जन्तु भयंकर शब्द करते थे ? किस पक्षके नवयुवकोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न थी ? ये सब बातें तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

उभे सेने तुल्यमिवोपयाते
उभे व्यूहे हृष्टरूपे नरेन्द्र ।
उभे चित्रे वनराजिप्रकाशे
तथैवोभे नागरथाश्वपूर्णे ॥ ३ ॥

संजय बोले—नरेन्द्र ! दोनों ओरकी सेनाएँ समान रूपसे आगे बढ़ रही थीं। दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे। दोनों ही सेनाएँ वनश्रेणियोंके समान आश्चर्यरूप प्रतीत होती थीं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे भरी हुई थीं ॥ ३ ॥

उभे सेने बृहत्यौ भीमरूपे
तथैवोभे भारत दुर्विषह्ये ।
तथैवोभे स्वर्गजयाय सृष्टे
तथैवोभे सत्पुरुषोपजुष्टे ॥ ४ ॥

भारत ! दोनों ओरकी सेनाएँ विशाल, भयंकर और दुःसह थीं, मानो विधाताने दोनों सेनाओंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही रचा था। दोनोंमें ही सत्पुरुष भरे हुए थे ॥ ४ ॥

पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्राः
स्थिताः पार्थाः प्राङ्मुखा योत्स्यमानाः ।
दैत्येन्द्रसेनेव च कौरवाणां
देवेन्द्रसेनेव च पाण्डवानाम् ॥ ५ ॥

आपके पुत्र कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे। कौरवसेना दैत्यराजकी सेनाके समान जान पड़ती थी और पाण्डव-वाहिनी देवराज इन्द्रकी सेनाके तुल्य प्रतीत होती थी॥

चक्रे वायुः पृष्ठतः पाण्डवानां
धार्तराष्ट्राञ्श्वापदा व्याहरन्त ।
गजेन्द्राणां मदगन्धांश्च तीव्रान्
न सेहिरे तव पुत्रस्य नागाः ॥ ६ ॥

पाण्डवसेनाके पीछेकी ओरसे हवा चल रही थी और आपके पुत्रोंकी ओर देखकर हिंसक जन्तु बोल रहे थे। आपके पुत्रकी सेनामें जो हाथी थे, वे पाण्डवपक्षके गजराजोंके मदोंकी तीव्र गन्ध नहीं सहन कर पाते थे ॥ ६ ॥

दुर्योधनो हस्तिनं पद्मवर्णं
सुवर्णकक्षं जालवन्तं प्रभिन्नम् ।
समास्थितो मध्यगतः कुरूणां
संस्तूयमानो वन्दिभिर्मागधैश्च ॥ ७ ॥

दुर्योधन कमलके समान कान्तिवाले मदस्रावी गजराजपर बैठकर कौरवसेनाके मध्यभागमें खड़ा था। उसके हाथीपर सोनेका हौदा कसा हुआ था और पीठपर सोनेकी जाली बिछी हुई थी। उस समय बन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभं श्वेतमथातपत्रं
सौवर्णस्रग् भ्राजति चोत्तमाङ्गे ।
तं सर्वतः शकुनिः पर्वतीयैः
सार्धं गान्धारैर्याति गान्धारराजः ॥ ८ ॥

उसके मस्तकपर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्वेत छत्र तना हुआ था और कण्ठमें सोनेकी माला सुशोभित हो रही थी । गान्धारराज शकुनि गान्धारदेशके पर्वतीय योद्धाओंके साथ आकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहा था ॥८॥

भीष्मोऽग्रतः सर्वसैन्यस्य वृद्धः
श्वेतच्छत्रः श्वेतधनुः सखड्गः ।
श्वेतोष्णीषः पाण्डुरेण ध्वजेन
श्वेतैरश्वैः श्वेतशैलप्रकाशैः ॥ ९ ॥

हमारी सम्पूर्ण सेनाके आगे बूढ़े पितामह भीष्म थे । उनके सिरपर श्वेत रंगकी पगड़ी थी और श्वेत वर्णका ही छत्र तना हुआ था । उनके धनुष और खड्ग भी श्वेत ही थे । वे श्वेत शैलके समान प्रकाशित होनेवाले श्वेत घोड़ों और श्वेत ध्वजसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्ये धार्तराष्ट्राश्च सर्वे
बाह्लीकानामेकदेशः शलश्च ।
ये चाम्बष्ठाः क्षत्रिया ये च सिन्धा-
स्तथा सौवीराः पञ्चनदाश्च शूराः ॥१०॥

उनकी सेनामें आपके सभी पुत्र, बाह्लीकसेनाका एक अंश, शल और अम्बष्ठ, सौवीर, सिन्धु तथा पञ्चनद देशके शूरवीर क्षत्रिय विद्यमान थे ॥ १० ॥

शोणैर्हयै रुक्मरथो महात्मा
द्रोणो धनुष्पाणिरदीनसत्त्वः ।
आस्ते गुरुः प्रायशः सर्वराज्ञां
पश्चाच्च भूमीन्द्र इवाभियाति ॥ ११ ॥

उनके पीछे प्रायः समस्त राजाओंके गुरु, उदार हृदयवाले महामना द्रोणाचार्य हाथमें धनुष लिये लाल घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथमें बैठकर भूमिपालकी भाँति युद्धके लिये जा रहे थे ॥

वार्धक्षत्रिः सर्वसैन्यस्य मध्ये
भूरिश्रवाः पुरुमित्रो जयश्च ।
शाल्वा मत्स्याः केकयाश्चेति सर्वे
गजानीकैर्भ्रातरो योत्स्यमानाः ॥ १२ ॥

वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शाल्व और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब भाई केकयराजकुमार युद्धकी इच्छासे हाथियोंके समूहोंको साथ ले सम्पूर्ण सेनाके मध्यभागमें स्थित थे ॥ १२ ॥

शारद्वतश्चोत्तरधूर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी ।
शकैः किरातैर्यवनैः पह्लवैश्च
सार्धं चमूमुत्तरतोऽभियाति ॥ १३ ॥

महान् धनुर्धर और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले गौतमवंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण करके शक, किरात, यवन तथा पह्लव सैनिकोंके साथ कौरवसेनाके बायें भागमें होकर चल रहे थे ॥ १३ ॥

महारथैर्वृष्णिभोजैः सुगुप्तं
सुराष्ट्रकैर्विहितैरात्तशस्त्रैः ।
बृहद् बलं कृतवर्माभिगुप्तं
बलं त्वदीयं दक्षिणेनाभियाति ॥ १४ ॥

हाथमें हथियार लिये सुशिक्षित सुराष्ट्रदेशीय वीरों तथा वृष्णि और भोजवंशके महारथियोंद्वारा पालित विशाल सेना कृतवर्माद्वारा सुरक्षित होकर आपकी सेनाके दाहिने भागसे होकर युद्धके लिये यात्रा कर रही थी ॥ १४ ॥

संशप्तकानामयुतं रथानां
मृत्युर्जयो वार्जुनस्येति सृष्टाः ।
येनार्जुनस्तेन राजन् कृतास्त्राः
प्रयातारस्ते त्रिगर्ताश्च शूराः ॥ १५ ॥

'या तो हम अर्जुनपर विजय प्राप्त करेंगे अथवा हमारी मृत्यु हो जायगी' ऐसी प्रतिज्ञा करके दस हजार संशप्तक रथी तथा बहुत-से अस्त्रवेत्ता त्रिगर्तदेशीय शूरवीर जिधर अर्जुन थे, उसी ओर जा रहे थे ॥ १५ ॥

साग्रं शतसहस्रं तु नागानां तव भारत ।
नागे नागे रथशतं शतमश्वा रथे रथे ॥ १६ ॥

भारत ! आपकी सेनामें एक लाखसे अधिक हाथी थे । एक-एक हाथीके साथ सौ-सौ रथ थे और एक-एक रथके साथ सौ-सौ घोड़े थे ॥ १६ ॥

अश्वेऽश्वे दश धानुष्का धानुष्के शतचर्मिणः ।
एवं व्यूढान्यनीकानि भीष्मेण तव भारत ॥ १७ ॥

प्रत्येक अश्वके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ सौ-सौ पैदल सैनिक नियुक्त किये गये थे, जो ढाल-तलवार लिये रहते थे । भरतनन्दन ! इस प्रकार भीष्मजीने आपकी सेनाओंका व्यूह रचा था ॥१७॥

संव्यूह्य मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवोऽग्रणीः ॥ १८ ॥
महारथौघविपुलः समुद्र इव घोषवान् ।
भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूहः प्रत्यङ्मुखो युधि ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन सेनापति भीष्म प्रत्येक दिन मानुष, दैव, गान्धर्व और आसुर प्रणालीके अनुसार व्यूह-रचना करके सेनाके अग्रभागमें स्थित होते थे । भीष्मद्वारा रचित कौरव-

सेनाका वह व्यूह महारथियोंके समुदायसे सम्पन्न हो समुद्रके समान गर्जना करता था। युद्धमें उसका मुख पश्चिमकी ओर था ॥ १८-१९ ॥

अनन्तरूपा ध्वजिनी नरेन्द्र
भीमा त्वदीया न तु पाण्डवानाम्।
तां चैव मन्ये बृहतीं दुष्प्रधर्षां
यस्या नेता केशवश्चार्जुनश्च ॥ २० ॥

नरेन्द्र ! आपकी सेना अनन्त रूपवाली एवं भयंकर थी; पाण्डवोंकी वैसी नहीं थी। परंतु मैं तो उसी सेनाको विशाल और दुर्जय मानता हूँ, जिसके नेता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और 'श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है' यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम्।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धके लिये उद्यत हुई दुर्योधनकी विशाल सेनाको देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें विषाद छा गया ॥ १ ॥

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

भीष्मने जिस व्यूहकी रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था। उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर-की अङ्ग-कान्ति फीकी पड़ गयी। वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले-॥

धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥ ३ ॥

'महाबाहु धनंजय ! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ हम समरभूमिमें कैसे युद्ध कर सकते हैं ? ॥ ३ ॥

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥ ४ ॥

'महातेजस्वी शत्रुसूदन भीष्मने शास्त्रीय विधिके अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ॥ ४ ॥

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥ ५ ॥

'शत्रुनाशन अर्जुन ! हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राणसंकटकी स्थितिमें पहुँच गये हैं। इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा ?' ॥ ५ ॥

अथार्जुनोऽब्रवीत् पार्थं युधिष्ठिरममित्रहा।
विषण्णमिव सम्प्रेक्ष्य तव राजन्ननीकिनीम् ॥ ६ ॥

राजन् ! तब शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाको देखकर विषादग्रस्त-से हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा—॥ ६ ॥

प्रज्ञयाभ्यधिकाञ्शूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ॥ ७ ॥

'प्रजानाथ ! अधिक बुद्धिमान्, उत्तम गुणोंसे युक्त तथा बहुसंख्यक शूरवीरोंको भी बहुत थोड़े योद्धा जिस प्रकार जीत लेते हैं, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ७ ॥

तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ॥ ८ ॥

'राजन् ! आप दोषदृष्टिसे रहित हैं, अतः आपको वह युक्ति बताता हूँ। पाण्डुनन्दन ! उसे केवल देवर्षि नारद, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जानते हैं ॥ ८ ॥

एतमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत्।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ॥ ९ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, उस समय इसी विषयको लेकर पितामह ब्रह्माने इन्द्र आदि देवताओंसे इस प्रकार कहा था—॥ ९ ॥

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥ १० ॥

'विजयकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर अपने बल और पराक्रमसे वैसी विजय नहीं पाते, जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साहसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ११ ॥

'देवताओ ! अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर उद्यमका सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होती है' ॥ ११ ॥

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः॥ १२॥

'राजन्! इसी नियमके अनुसार आप भी यह निश्चित-रूपसे जान लें कि युद्धमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। जैसा कि नारदजीने कहा है, जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है॥

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम्।
तद् यथा विजयश्चास्य सन्नतिश्चापरो गुणः॥ १३॥

'विजय तो श्रीकृष्णका एक गुण है, अतः वह उनके पीछे-पीछे चलता है। जैसे विजय गुण है, उसी प्रकार विनय भी उनका द्वितीय गुण है॥ १३॥

अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ १४॥

'भगवान् गोविन्दका तेज अनन्त है। वे शत्रुओंके समुदायमें भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे सनातन पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है॥

पुरा ह्येष हरिर्भूत्वा विकुण्ठोऽकुण्ठसायकः।
सुरासुरानवस्फूर्जन्नब्रवीत् के जयन्त्विति॥ १५॥

'ये श्रीकृष्ण कहीं भी प्रतिहत या अवरुद्ध न होनेवाले ईश्वर हैं। इनका बाण अमोघ है। ये ही पूर्वकालमें श्रीहरि-रूपमें प्रकट हो वज्रगर्जनके समान गम्भीर वाणीमें देवताओं और असुरोंसे बोले—तुमलोगोंमेंसे किसकी विजय हो?॥१५॥

कथं कृष्ण जयेमेति यैरुक्तं तत्र तैर्जितम्।
तत्प्रसादाद्धि त्रैलोक्यं प्राप्तं शक्रादिभिः सुरैः॥ १६॥

'उस समय जिन लोगोंने उनका आश्रय लेकर पूछा—'कृष्ण! हमारी जीत कैसे होगी?' उन्हींकी जीत हुई। इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे ही इन्द्र आदि देवताओंने त्रिलोकीका राज्य प्राप्त किया है॥ १६॥

तस्य ते न व्यथां काञ्चिदिह पश्यामि भारत।
यस्य ते जयमाशास्ते विश्वभुक् त्रिदिवेश्वरः॥ १७॥

'अतः भारत! मैं आपके लिये किसी प्रकारकी व्यथा या चिन्ता होनेका कारण नहीं देखता; क्योंकि देवेश्वर तथा विश्वम्भर भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिये विजयकी आशा करते हैं।'

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुनसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वां सेनां समनोदयत्।
प्रतिव्यूहन्ननीकानि भीष्मस्य भरतर्षभ॥ १॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्मजीकी सेनाका सामना करनेके लिये अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करते हुए उसे युद्धके लिये प्रेरित किया॥ १॥

यथोद्दिष्टान्यनीकानि प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः।
स्वर्गं परममिच्छन्तः सुयुद्धेन कुरूद्वहाः॥ २॥

कुरुकुलके धुरन्धर वीर पाण्डवोंने उत्तम युद्धके द्वारा उत्कृष्ट स्वर्गलोककी इच्छा रखकर शास्त्रोक्त विधिसे शत्रुके मुकाबिलेमें अपनी सेनाका व्यूह-निर्माण किया॥ २॥

मध्ये शिखण्डिनोऽनीकं रक्षितं सव्यसाचिना।
धृष्टद्युम्नश्चरन्नग्रे भीमसेनेन पालितः॥ ३॥

व्यूहके मध्यभागमें सव्यसाची अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डीकी सेना थी और अग्रभागमें भीमसेनद्वारा पालित धृष्टद्युम्न विचरण कर रहे थे॥ ३॥

अनीकं दक्षिणं राजन् युयुधानेन पालितम्।
श्रीमता सात्वताग्र्येण शक्रेणेव धनुष्मता॥ ४॥

राजन्! उस व्यूहके दक्षिण भागकी रक्षा इन्द्रके समान धनुर्धर सात्वतशिरोमणि श्रीमान् सात्यकि कर रहे थे॥ ४॥

महेन्द्रयानप्रतिमं रथं तु
सोपस्करं हाटकरत्नचित्रम्।

युधिष्ठिरः काञ्चनभाण्डयोक्त्रं
समास्थितो नागपुरस्य मध्ये ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़े एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए, जो देवराज इन्द्रके रथकी समानता कर रहा था। उस रथमें सब आवश्यक सामग्री रक्खी गयी थी। भाँति-भाँतिके सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें सुवर्णमय भाण्ड तथा रस्सियाँ रक्खी हुई थीं ॥ ५ ॥

समुच्छ्रितं दन्तशलाकमस्य
सुपाण्डुरं छत्रमतीव भाति।
प्रदक्षिणं चैनमुपाचरन्त
महर्षयः संस्तुतिभिर्महेन्द्रम् ॥ ६ ॥

उस समय किसी सेवकने युधिष्ठिरके ऊपर हाथीके दाँतोंकी बनी हुई शलाकाओंसे युक्त श्वेत छत्र लगा रक्खा था, जिसकी बड़ी शोभा हो रही थी। कुछ महर्षिगणोंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ ६ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्तो
ब्रह्मर्षिसिद्धाः श्रुतवन्त एनम्।
जप्यैश्च मन्त्रैश्च महौषधीभिः
समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः ॥ ७ ॥

शास्त्रोंके विद्वान् पुरोहित, ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जप, मन्त्र तथा उत्तम ओषधियोंद्वारा सब ओरसे युधिष्ठिरके कल्याण और शत्रुओंके संहारका शुभ आशीर्वाद देने लगे ॥ ७ ॥

ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान्।
कुरूत्तमो ब्राह्मणसान्महात्मा
कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः ॥ ८ ॥

उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर बहुत-से वस्त्र, गाय, फल-फूल और स्वर्णमय आभूषण ब्राह्मणोंको दान करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ८ ॥

सहस्रसूर्यः शतकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः ।
रथोऽर्जुनस्याग्निरिवार्चिमाली
विभ्राजते श्वेतहयः सुचक्रः ॥ ९ ॥

अर्जुनका रथ ज्वालमालाओंसे युक्त अग्निके समान शोभा पा रहा था। उसमें सूर्यकी आकृतिके सहस्रों चक्र विद्यमान थे। सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें श्वेत रंगके घोड़े और सुन्दर पहिये लगे थे ॥ ९ ॥

तमास्थितः केशवसंगृहीतं
कपिध्वजो गाण्डिवबाणपाणिः।
धनुर्धरो यस्य समः पृथिव्यां
न विद्यते नो भविता कदाचित् ॥ १० ॥

गाण्डीव धनुष और बाण हाथमें लिये हुए कपिध्वज अर्जुन उस रथपर आरूढ़ थे। भगवान् श्रीकृष्णने उसकी बागडोर सँभाल रखी थी। अर्जुनके समान धनुर्धर इस भूतलपर न तो कोई है और न होगा ही ॥ १० ॥

उद्वर्तयिष्यंस्तव पुत्रसेना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम्।
अनायुधो यः सुभुजो भुजाभ्यां
नराश्वनागान् युधि भस्म कुर्यात् ॥ ११ ॥

महाराज ! जो सुन्दर बाहोंवाले भीमसेन बिना आयुधके केवल भुजाओंसे ही युद्धमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भस्म कर सकते हैं, उन्होंने ही आपके पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालनेके लिये अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर रक्खा है॥११॥

स भीमसेनः सहितो यमाभ्यां
वृकोदरो वीररथस्य गोप्ता।
तं तत्र सिंहर्षभमत्तखेलं
लोके महेन्द्रप्रतिमानकल्पम् ॥ १२ ॥
समीक्ष्य सेनाग्रगतं दुरासदं
संविव्यथुः पङ्कगता यथा द्विपाः।
वृकोदरं वारणराजदर्पं
योधास्त्वदीया भयविग्नसत्त्वाः ॥ १३ ॥

वृकोदर भीमसेन नकुल और सहदेवके साथ रहकर अपने वीर रथी धृष्टद्युम्नकी रक्षा कर रहे थे। जो सिंहों और साँड़ोंके समान उन्मत्त-से होकर युद्धका खेल खेलते हैं, जिनका दर्प गजराजके समान बढ़ा हुआ है तथा जो लोकमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, उन्हीं दुर्धर्ष वीर भीमसेनको सेनाके अग्रभागमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे उद्विग्नचित्त हो कीचड़में फँसे हुए हाथियोंकी भाँति व्यथित हो उठे ॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं राजपुत्रं दुरासदम्।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं गुडाकेशं जनार्दनः ॥ १४ ॥

उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी भरतश्रेष्ठ राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः ॥ १५ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय ! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है॥

एतान्यनीकानि महानुभावं
गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम् ।
एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण ॥ १६ ॥

जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादित किये हुए हैं । नरवीर अर्जुन ! तुम पहले इन सेनाओंको मारकर भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णार्जुनसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा

संजय उवाच

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम् ।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः ।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो । पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गा देवीकी स्तुति करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता ।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवके द्वारा रणक्षेत्रमें इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन रथसे नीचे उतरकर दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगे ॥

अर्जुन उवाच

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि ।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले ॥ ४ ॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते ।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—मन्दराचलपर निवास करनेवाली सिद्धोंकी सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है । तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला, कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है । दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेके कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तोंको संकटसे तारनेके कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीरका दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है; मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥

कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये ।
शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते ॥ ६ ॥

महाभागे ! तुम्हीं (सौम्य और सुन्दर रूपवाली) पूजनीया कात्यायनी हो और तुम्हीं विकराल रूपधारिणी काली हो । तुम्हीं विजया और जयाके नामसे विख्यात हो । मोरपंखकी तुम्हारी ध्वजा है । नाना प्रकारके आभूषण तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि ।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे ॥ ७ ॥

तुम भयंकर त्रिशूल, खड्ग और खेटक आदि आयुधोंको धारण करती हो । नन्दगोपके वंशमें तुमने अवतार लिया था, इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्णकी तुम छोटी बहिन हो; परंतु गुण और प्रभावमें सर्वश्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि ।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये ॥ ८ ॥

महिषासुरका रक्त बहाकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी । तुम कुशिकगोत्रमें अवतार लेनेके कारण कौशिकी नामसे भी प्रसिद्ध हो । तुम पीताम्बर धारण करती हो । जब तुम शत्रुओंको देखकर अट्टहास करती हो, उस समय तुम्हारा मुख चक्रवाकके समान उद्दीप्त हो उठता है । युद्ध तुम्हें बहुत ही प्रिय है । मैं तुम्हें बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि ।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि सुधूम्राक्षि नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥

उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी और सुधूम्राक्षी आदि नाम धारण करनेवाली देवि ! तुम्हें अनेकों बार नमस्कार है ॥ ९ ॥

वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि ।
जम्बूकटकचैत्येषु नित्यं सन्निहितालये ॥ १० ॥

तुम वेदोंकी श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है; वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्निकी शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षोंमें तुम्हारा नित्य निवास है ॥ १० ॥

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम् ।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ॥ ११ ॥

तुम समस्त विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और देहधारियोंकी महानिद्रा हो। भगवति ! तुम कार्तिकेयकी माता हो, दुर्गम स्थानोंमें वास करनेवाली दुर्गा हो ॥ ११ ॥

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती ।
सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते ॥ १२ ॥

सावित्रि ! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं ॥ १२ ॥

स्तुतासि त्वं महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना ।
जयो भवतु मे नित्यं त्वत्प्रसादाद् रणाजिरे ॥ १३ ॥

महादेवि ! मैंने विशुद्ध हृदयसे तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपासे इस रणाङ्गणमें मेरी सदा ही जय हो ॥ १३ ॥

कान्तारभयदुर्गेषु भक्तानां चालयेषु च ।
नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान् ॥ १४ ॥

माँ ! तुम घोर जंगलमें, भयपूर्ण दुर्गम स्थानोंमें, भक्तोंके घरोंमें तथा पातालमें भी नित्य निवास करती हो। युद्धमें दानवोंको हराती हो ॥ १४ ॥

त्वं जम्भनी मोहिनी च माया ह्रीः श्रीस्तथैव च ।
संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ॥ १५ ॥

तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, संध्या, प्रभावती, सावित्री और जननी हो ॥ १५ ॥

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी ।
भूतिर्भूतिमतां संख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ॥ १६ ॥

तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमाको बढ़ानेवाली दीप्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानोंकी विभूति हो। युद्धभूमिमें सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते हैं ॥ १६ ॥

संजय उवाच

ततः पार्थस्य विज्ञाय भक्तिं मानववत्सला ।
अन्तरिक्षगतोवाच गोविन्दस्याग्रतः स्थिता ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके इस भक्तिभावका अनुभव करके मनुष्योंपर वात्सल्य-भाव रखनेवाली माता दुर्गा अन्तरिक्षमें भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयीं और इस प्रकार बोलीं ॥ १७ ॥

देव्युवाच

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव ।
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायणसहायवान् ॥ १८ ॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामपि वज्रभृतः स्वयम् ।

देवीने कहा—पाण्डुनन्दन ! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्धर्ष वीर ! तुम तो साक्षात् नर हो। ये साक्षात् नारायण तुम्हारे सहायक हैं। तुम रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। साक्षात् इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ १८½ ॥

इत्येवमुक्त्वा वरदा क्षणेनान्तरधीयत ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो मेने विजयमात्मनः ।
आरुरोह ततः पार्थो रथं परमसम्मतम् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा वहाँसे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गयीं। वह वरदान पाकर कुन्तीकुमार अर्जुनको अपनी विजयका विश्वास हो गया। फिर वे अपने परम सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए ॥ १९-२० ॥

कृष्णार्जुनावेकरथौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।

फिर एक रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ २०½ ॥

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ॥ २१ ॥
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा ।

जो मनुष्य सबेरे उठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे यक्ष, राक्षस और पिशाचोंसे कभी भय नहीं होता ॥ २१½ ॥

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः ॥ २२ ॥
न भयं विद्यते तस्य सदा राजकुलादपि ।
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ २३ ॥

शत्रु तथा सर्प आदि विषैले दाँतोंवाले जीव भी उनको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। राजकुलसे भी उन्हें कोई भय नहीं होता है। इसका पाठ करनेसे विवादमें विजय प्राप्त होती है और बंदी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते ।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् ॥ २४ ॥

वह दुर्गम संकटसे अवश्य पार हो जाता है। चोर भी उसे छोड़ देते हैं। वह संग्राममें सदा विजयी होता और विशुद्ध लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

आरोग्यबलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा ।
एतद् दृष्टं प्रसादात् तु मया व्यासस्य धीमतः ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, इसका पाठ करनेवाला पुरुष आरोग्य और बलसे सम्पन्न हो सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहता है। यह

सब परम बुद्धिमान् भगवान् व्यासजीके कृपा-प्रसादसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है ॥ २५ ॥

मोहादेत न जानन्ति नरनारायणावृषी ।
तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगाः ॥ २६ ॥

राजन् ! आपके सभी दुरात्मा पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मोहवश यह नहीं जानते हैं कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन ही साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं ॥ २६ ॥

प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुण्ठिताः ।
द्वैपायनो नारदश्च कण्वो रामस्तथानघः ।
अवारयंस्तव सुतं न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २७ ॥

वे कालपाशसे बद्ध होनेके कारण इस समयोचित बातको बतानेपर भी नहीं सुनते । द्वैपायन व्यास, नारद, कण्व तथा पापशून्य परशुरामने तुम्हारे पुत्रको बहुत रोका था; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ २७ ॥

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २८ ॥

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहाँ ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्गास्तोत्रे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस समय किस पक्षके योद्धा अत्यन्त हर्षमें भरकर पहले युद्धमें प्रवृत्त हुए ? किनके मनमें उत्साह भरा था और कौन-कौन मनुष्य दीन एवं अचेत हो रहे थे ? ॥ १ ॥

के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २

संजय ! हृदयको कम्पित कर देनेवाले संग्राममें किन्होंने पहले संग्राम किया, मेरे पुत्रोंने या पाण्डवोंने ? यह मुझे बताओ॥

कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ॥ ३ ॥

किसकी सेनाओंमें सुगन्धित पुष्पमाला आदिका प्रादुर्भाव हुआ ? किस पक्षके गर्जते हुए योद्धाओंकी वाणी उदारतापूर्ण और उत्साहयुक्त थीं ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा ।
स्रजः समाः सुगन्धानामुभयत्र समुद्भवः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! दोनों ही सेनाओंके योद्धा उस समय हर्षमें भरे हुए थे । उभयपक्षमें ही सुगन्ध और पुष्पहारोंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ४ ॥

संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ ।
संसर्गात् समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! संगठित, व्यूहबद्ध तथा युद्धविषयक उत्साहसे उद्यत हुए दोनों दलोंके योद्धाओंकी जब मुठभेड़ हुई, उस समय बड़ी भारी मार-काट मची थी ॥ ५ ॥

वादित्रशब्दस्तुमुलः शङ्खभेरीविमिश्रितः ।
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ।
उभयोः सेनयो राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! शङ्ख और भेरी आदि वाद्योंका सम्मिलित भयंकर शब्द जब एक दूसरेपर गर्जन-तर्जन करनेवाले रणवीर शूरोंके सिंहनादसे मिला, तब दोनों सेनाओंमें महान् कोलाहल एवं संघर्ष होने लगा ॥ ६ ॥

अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ ।
कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ॥ ७ ॥

भरतभूषण ! एक-दूसरेकी ओर देखनेवाले योद्धाओं, गर्जते हुए हाथियों और हर्षमें भरी हुई सेनाओंका तुमुल नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४॥

द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनका सैन्य-प्रदर्शन

पञ्चविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा—॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

'हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

'इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४–६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

'आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

'और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सबके सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

'भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

'इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसंदेह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें' ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(तब) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे । उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन् ! (सब ओरसे) अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन् ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—'हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

'और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख'* ॥ २४-२५ ॥

---

* 'कौरवोंको देख' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं । उनको तुम अच्छी तरह देख लो ।' भगवान्‌के इसी संकेतने अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपे हुए कुटुम्ब-स्नेहको प्रकट कर दिया, मानो अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिसमें उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी ।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६½ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७½ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८-२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है? ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥

एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको[1] मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है* ॥

---

१. वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥ (३ । १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं ।'

* पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः* ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥ भीष्मपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते। शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको उच्छृङ्खल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है।

*प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्‌के पवित्र नाम हैं (गीता १७। २३), स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे·········योगो नाम' कहा गया है।

शरणागत अर्जुन
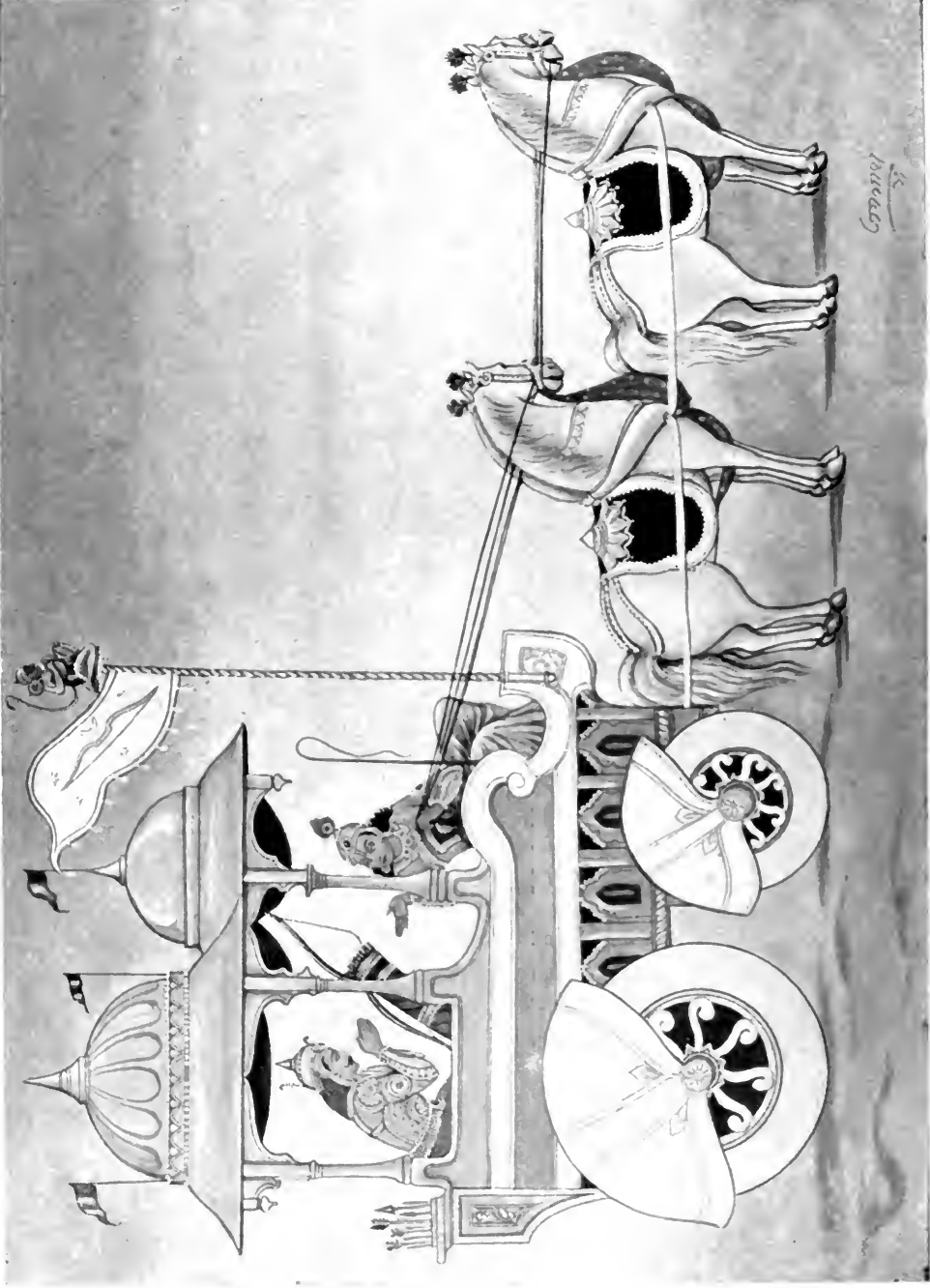
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता २ । ७)

षड्विंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शङ्खध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजन-समुदायको देखकर शोक और मोहके कारण अर्जुनके युद्धसे निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर संजय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओं-से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा॥ ५॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको संतोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं॥ ६॥
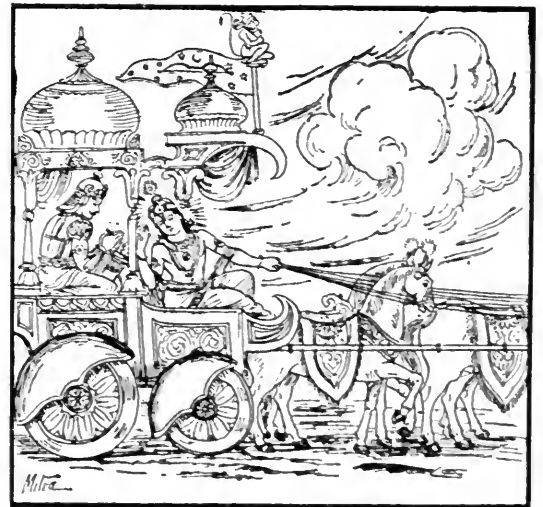
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्‌के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—पहले भगवान् आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा-अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किंतु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं ? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है* ॥ १६ ॥

* तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा 'असत्' और 'सत्'का विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्‌का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित तो तू उसको जान; जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका समाधान करनेके लिये अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है; वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता * ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है † ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारता-का प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

१.पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जडवर्गको व्याप्त बतलाया है, उसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती; स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता ।

* इस श्लोकमें छहों विकारोंका अभाव इस प्रकार दिखलाया गया है—आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति'रूप विकारका अभाव बतलाया है । 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व'रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि'रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर 'विपरिणाम'का, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है।

† वास्तवमें अचल और अक्रिय होनेके कारण आत्माका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है । अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है ।* इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥

सम्बन्ध—अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है † और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है‡ तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है§ ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया । साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी । अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

---

१. आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किंतु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें विकार नहीं होता । अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है ।

* भगवान्का यह कथन उन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है, जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं । उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती । जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित है।

†जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्मा-का देखना अद्भुत और अलौकिक है । जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है । उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती, इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है ।

‡जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है । उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है; क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है ? तथापि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है । वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता ।

§ जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५ ॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया, किंतु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता; अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस भावसे युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समतापूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन*—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है† ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

* इस श्लोकमें बुद्धिके साथ 'एषा' और 'इमाम्'—ये दो विशेषण देकर यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायके ३८ वें श्लोकमें कही हुई समत्वबुद्धि सांख्ययोगके अनुसार ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक कही गयी, उसीको अब कर्मयोगके अनुसार कहना आरम्भ करते हैं ।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता ।

† भाव यह है कि निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है । अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२—४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला* और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है,‡ उसके फलोंमें कभी नहीं§। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो× तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

---

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है ।

† इस दृष्टान्तका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी-कूप-तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है ।

‡ जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है, वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है, वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

§ मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है । उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा—इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है।

× मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना, आशा,

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य-कर्मोंको कर,* समत्व ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकाम भावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनंजय! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है।† इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी, इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी, इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा‡ ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है, उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है।

* योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, बल्कि प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

१. जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है; क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (गीता २।५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ कर्मयोग ही है।

† जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते।

२. जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्से सर्वथा अभिन्न भगवान्का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामको 'अनामय पद' कहते हैं।

‡ इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं, उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं, उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है।

३. इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन बोले—हे केशव ! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्‌ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं । इस अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है* और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं,† ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है‡ उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है ?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका समाधान

---

* शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो राग-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे 'वासना' कहते हैं । किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा—इस अपेक्षारूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है । यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है । जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं । यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है। इन सबका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कामनाओंका भलीभाँति त्याग करना है ।

† इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है । इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है ।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (गीता ५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । एवं स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (गीता ५ । २०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता ।

करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है*॥

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन-स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों-को वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान-में बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसी-की बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है ? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थित-प्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा† विषयोंमें विचरण करता हुआ ‡ अन्तःकरणकी

---

* परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है ।

† उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है । तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं; परंतु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है । वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है ।

‡ यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परंतु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो, तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌की पूजा, सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो सकता है ।

इसी प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परंतु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रिय-संयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषय-त्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो । सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विचारद्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे जिसकी इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप हो जाता है । जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना ही मुख्य है ।

प्रसन्नताको* प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती† और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है‡ ॥ ६७ ॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं,§ उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य

---

* वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (गीता १८। ३७); उस सुख और शान्तिको 'प्रसन्नता' कहते हैं।

† इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण अयुक्त मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है। अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती।

‡ यहाँ नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है। जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं। इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है; परंतु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते, वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं। चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है।

§ श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादिकालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण इन्द्रियोंकी उनमें आसक्ति हो गयी है। इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप स्वभावको परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना—यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, वह पुरुष जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी विषयको ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है। उस समय वे मनमें तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है, उस समय वे बिना आसक्तिके नियमित रूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं। किसी भी विषयमें उसके मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुसरण करती हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने समयतक जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका अनासक्तभावसे

ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है* और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है† ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं,‡ वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किंतु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें चौंसठवें श्लोकसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है,§ वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

ग्रहण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

* जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे अन्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशनशक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयंप्रकाश नित्यबोध परमानन्दमय परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय है, तो भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रिके समान है। उसीमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

† जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्के स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द रात्रिके समान है।

‡ किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है, तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाण' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेपर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुख-दुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

§ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'अहङ्काररहित' हो जाना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंको तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंको, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंको साधारण मनुष्य अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'ममतारहित' हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता* और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥ भीष्मपर्वमें छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता २ । ११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २ । ३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २ । ३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (गीता २ । ५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया । इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया । वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उन्चासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी । इस प्रसङ्गको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके । 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्के वचनोंमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे । अतएव भगवान्से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'स्पृहारहित' होना है ।

अहङ्कार, ममता और स्पृहा—इन तीनोंसे उपर्युक्त प्रकारसे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरना है ।

* अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, उसमें सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है ।

ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?—आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है, यह मोह जीवको अनादि-कालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है । उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त पुरुषका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं।* इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे‡ होती है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है§ ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय

* भगवान्के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (गीता २ । ४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (गीता २ । ५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं । इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (गीता २ । ४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (गीता २ । ४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव' 'आत्मवान् भव' (गीता २ । ४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद् युध्यस्व भारत' (गीता २ । १८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (गीता २ । ३८) 'तस्माद् योगाय युज्यस्व' (गीता २ । ५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी । इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया ।

† प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ । २८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है–ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (गीता ५ । २४; ६ । २७)–यह पहली निष्ठा है । इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है ।

‡ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (गीता २ । ४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (गीता ६ । ४)–यह कर्मयोगकी निष्ठा है । तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्के समर्पण करना (गीता ३ । ३०; ९ । २७-२८),उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्के प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (गीता १० । ९; १२ । ६; १८ । ५७)–यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है ।

§ कर्मोंका आरम्भ न करने और कर्मोंका त्याग करनेकी बात कहकर अलग-अलग यह भाव दिखाया है कि कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंका न करना योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक है; किंतु सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, किंतु केवल उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है । अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है ।

प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है* ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है । इसपर कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

किंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है† तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है; इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है । इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता । अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको

* यद्यपि गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता; तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार क्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस ज्ञानीका शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही गुणातीत हो जाना है ।

१. यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है । इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है ।

२. यहाँ 'स विशिष्यते' पदका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है । उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है । अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है ।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है । अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (गीता १४ । १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है ।

देवताओं और मनुष्योंको प्रजापतिकी शिक्षा

पञ्च महायज्ञ

रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ* तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे† ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है‡ ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।१३।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है; इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

---

* समस्त मनुष्योंके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्म है—उसका नाम यज्ञ है।

† इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओं-की उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

‡ देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह चोर होता है।

१. सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे संचालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग संतानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित है। इस दृष्टिसे मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्र*के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है† ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

क्योंकि उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थ-भावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्य कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।‡ इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है§ ॥ २० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा

---

* मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है।

† उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

‡ राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, वे सब प्रधान-प्रधान महापुरुष आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे तथा और भी आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

इसके अतिरिक्त कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (गीता ४। ३८) तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। ६)—इस कथनसे भी इसकी अनादिता सिद्ध होती है।

§ समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और

होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है; अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है,* समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं† ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ‡ ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे§ ॥ २५ ॥

परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है ।

अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है, उसका त्याग करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है ।

* श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं ।

† बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं । ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ । अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता ।

‡ जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी संकरता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते । इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं, जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं । इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है । अतः भगवान्ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े ।

§ स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते । अतएव यहाँ

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ २६ ॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे; किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे* ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है† ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला‡ ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्द-बुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे§॥

सम्बन्ध--अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने उसे एक निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे चौथे श्लोकसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये । इस बातको सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने क्रमशः निम्नलिखित बातें कही हैं—

१—कर्म किये बिना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा नहीं मिलती (गीता ३ । ४) ।

२—कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती (गीता ३ । ४) ।

'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधि-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये ।

* मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर परित्याग कर देंगे । इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थिति-से भी पतन हो जायगा । अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये, उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है; बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावों-को हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये ।

† वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस सङ्घातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ—इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपनेद्वारा की हुई समझता है ।

‡ त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय–इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है । इन गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

§ कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और रुचि कम कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है ।

३–एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) ।

४–बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (गीता ३ । ६) ।

५–मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (गीता ३ । ७) ।

६–कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३।८)।

७–बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता ३ । ८) ।

८–यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (गीता ३ । ९) ।

९–कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १०-११) ।

१०–कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (गीता ३ । १२) ।

११–कर्तव्य-पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (गीता ३ । १३) ।

१२–जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (गीता ३ । १३) ।

१३–कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (गीता ३ । १६) ।

१४–अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) ।

१५–पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (गीता ३ । २०) ।

१६–दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २१) ।

१७–भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (गीता ३ । २२) ।

१८–ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २५) ।

१९–ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (गीता ३ । २६) ।

२०–ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (गीता ३ । २९) ।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके* आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

* सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तके द्वारा जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है ।

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं*। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न† करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ; फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है‡। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है§ और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं? इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

*इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

† जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधन-क्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

‡ वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म ही अति उत्तम है। जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी अपने पतिका सेवन करना ही स्त्रीके लिये कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्ग-वैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है; फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

§ किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर मनुष्य अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है,* इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है । अतः तीन श्लोकोंद्वारा इसका समाधान करते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है† ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके‡ द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है§ ॥ ४० ॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले× महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया । इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रियः मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है, तब ऐसी

---

* मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त करता है; इसलिये यह महान् पापी है ।

† इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है । यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये । जिस प्रकार धूआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है । मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये । जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता । इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता । एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये । जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है । जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता ।

‡ यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है । यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है । इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है ।

§ यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है । इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये ।

× भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं । इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप

स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है* ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके† हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वमें सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

* आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्'का अर्थ 'मन' और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

† भगवान‌ने गीताके छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (गीता ६। ३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे, तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचारकर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना 'वैराग्य' है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना 'अभ्यास' है।

अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परंतु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँमें हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। अन्तमें इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारना चाहिये।

सूर्यके प्रति नारायणका उपदेश

अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)

सगुण भगवान्‌के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उन्तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परंतु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं¹ प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया*॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है†॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?॥ ४॥

---

१. गीताके दूसरे अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही भलीभाँति प्रतिपादन किया। उसके बाद भी तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अङ्ग प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया। इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सभी गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं। इससे भी यहाँ 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

* परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़े रहस्यकी बात है।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं*। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ॥ ५॥

सम्बन्ध—भगवान्के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ†॥ ६॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है,‡ तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे

---

* यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। हमलोग अनादि और नित्य हैं। मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ। इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था।

१. भगवान्की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन गीताके नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है।

† इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (गीता ९। ११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (गीता ७। २५)।

‡ ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है।

२. जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है।

३. जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक

स्थापना करनेके लिये* मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ† ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है‡ वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्व भाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है ।

* स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं ।

† यद्यपि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंका अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं । उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं । यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता ।

‡ सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं । उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है । वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं । उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है । जगत्का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म-धारण नहीं करते, किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना ही भगवान्के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (गीता ३ । २२-२३) । भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्को उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (गीता ४ । १३-१४) । भगवान्के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (गीता ४ । ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है । वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (गीता ९ । २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (गीता ४ । ११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९ । २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (गीता १० । १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (गीता १२ । ७) । इस प्रकार भगवान्के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

१. भगवान्में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है ।

२. जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जिनका

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं* ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ;† क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ‡ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है ।§ इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर

अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है ।

* यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है । इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेनारूप ज्ञान ही माना गया है । इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसको भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

† इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ तथा वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ । जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता । जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ । जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ । जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ । इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे । अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है । ।

§ अनादि कालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं । इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरे द्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है ।

आजकल लोग यह पूछा करते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ? तो उसका

भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥*

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता† ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं‡ । इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये§ और अकर्मका

उत्तर यह हो सकता है कि यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परंतु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी है, इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती; परंतु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है, तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है । कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है । अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है ।

* इससे भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है । अभिप्राय यह है कि भगवान्का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता । वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है । इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ९ । ९-१०) ।

† उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है, कर्मफलमें उनकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है और इस प्रकार भगवान्के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।

‡ जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं । अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है ।

§ साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका नाम कर्म है; किंतु इतना जान लेनेमात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है । अतः अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये कर्मोंके तत्त्वको समझना चाहिये ।

स्वरूप भी जानना चाहिये* तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये;† क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है‡ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असङ्गताका वर्णन करके इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं§ तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप

---

* साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किंतु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है । अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको भलीभाँति समझकर साधन करना चाहिये ।

† साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता; क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं । वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किंतु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किंतु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किंतु संन्यासीके लिये काञ्चन और कामिनीका दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है । अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये ।

‡ यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते, बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है । इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है । अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है, इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है ।

लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनामें या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है ।

§ स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किंचिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'कामना' है तथा किसी विषयको ममता, अहंकार, राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'संकल्प' है । कामना संकल्पका कार्य है और संकल्प उसका कारण है । विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (गीता २ । ६२) । जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहंकार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोक-संग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं ।

अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं,* उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि[1] नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है,† वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः[2] ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता‡ ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो[3] द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला§ कर्मयोगी कर्म

---

* जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है ।

१. 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तिसे युक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता ।

† आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है । ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्द-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता । यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है ।

२. जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारका भोगप्राप्त होनेकी किंचिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोग-सामग्रियोंके संग्रहका भली-भाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा ''त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ही । इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ।

‡ उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'पाप'को प्राप्त न होना है ।

३. अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है, इस यदृच्छालाभमें सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—इस प्रकार दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्‌का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा संतुष्ट रहना है ।

§ यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है । इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है । इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है ।

करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता* ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं† ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसका सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है‡—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं§ और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं× ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयम-

---

* जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

† अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किंतु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसंचित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

‡ इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; ऐसा यज्ञ करनेवाले योगीकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है; क्योंकि वह जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

§ ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्त दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका अपना कर्तव्य समझकर बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही देवताओंके पूजनरूप यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

× अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानके अभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

रूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं* और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं† ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोग-रूप अग्निमें हवन किया करते हैं‡ ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, § कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं× तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं+ और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त

---

* श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव गीताके दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

† कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है।

‡ इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

§ अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है

× परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है।

+ यहाँ योगरूप यज्ञसे यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य सामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम 'यम' है।

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता रखना (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट रहना (संतोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन करना (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है।

यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं* ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं,† वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं‡ तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं§ ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम 'आसन' है। आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है।

बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंको रोकनेका नाम 'प्राणायाम' है।

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ 'प्राणायाम' है।

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

स्थूल सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर–किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम 'समाधि' है।

*जिन शास्त्रोंमें भगवान्के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। ऐसा स्वाध्याय अर्थज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है, इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (गीता १८ । ७०)।

† उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविःस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है, तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

‡ इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविःस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है, पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

§ जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किंतु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायुभेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो

यज्ञोंको जाननेवाले हैं* ॥ २९-३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंको करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं† और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान;§ इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है× तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं+ ॥ ३३ ॥

बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; बल्कि अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पञ्चवायु-भेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

* इस अध्यायमें चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर उपर्युक्त यज्ञरूप साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसंचित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

† यहाँ भगवान्ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है, जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है; क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

‡ जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ—किसी प्रकार भी नहीं करता, उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं; स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती।

§ यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या संकल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल-कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

× जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं तथा जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं।

+ उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्म-

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा† ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा‡ ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है§ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है × ॥ ३८ ॥

रूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (गीता ४ । ३२), वे सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है ।

१. परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावपूर्वक किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है ।

२. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं ।

* महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेदबुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्‌को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (गीता ६ । २९) ।

† सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं ।

‡ यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी सम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (गीता १६ । ५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं । परंतु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो । बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते ।

§ इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है । उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते । इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं । इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है ।

× कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये होते हैं—उस योग-संसिद्ध पुरुषके अन्तःकरणमें परमेश्वरके अनुग्रहसे अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान्* मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।† ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है‡ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

किंतु हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है§ और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है,× ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते+॥४१॥

* वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसको 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ, तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है, जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है। अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये।

† वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है, वह मनुष्य अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है।

जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधानपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३। २५); परंतु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है, उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता; इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता, उसका अवश्य पतन हो जाता है।

‡ संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या यशकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है।

§ यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (गीता ३। ३०; ५। १०) मानना ही उचित है।

× ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शङ्काएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

+ जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके* समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥ भीष्मपर्वमें अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (गीता ४।३८); गीताके चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परंतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (गीता ४।२४)' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति (गीता ४।२५)' 'तद् विद्धि प्रणिपातेन (गीता ४।३४)' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये† ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें

---

* संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे और स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे। इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका विवेकद्वारा छेदन करनेके लिये कहते हैं।

† 'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (गीता ३।२८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (गीता ४।२४)'—यही ज्ञानयोग है–यही कर्मसंन्यास है। गीताके चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

१. मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास' को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है* ।२।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है;† क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है‡ ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है§ । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है× और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है + ॥ ६ ॥

* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (गीता ५ । ३) । उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ५ । ६) । प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (गीता ९ । २२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (गीता २ । ४०) । किंतु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (गीता १२ । ५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (गीता ५ । ६) । इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

† कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है । वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है । जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही । अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है ।

‡ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं । इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा, वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं; क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है । दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है । गीताके तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है ।

§ जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा । वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है ।

× जो मुमुक्षु पुरुष यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है, वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं;' परंतु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं, वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका आचरण न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी ।

+ जो सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नाम, गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त कर्मयोगका साधक मुनि भगवान्की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है * और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी† तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ‡ ॥ ८-९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके§ और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं× ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है+ ॥ १२ ॥

---

* मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है, तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय, तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

† सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है; उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी है।

‡ जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

§ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना—परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है।

× कर्मप्रधान कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे ही समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

+ सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर* आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं ? इसपर कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं;† किंतु स्वभाव ही वर्त रहा है‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है;§ किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं× ॥ १५ ॥

* स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती । इसलिये मनसे—विवेकबुद्धि-के द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है ।

† मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है । अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) । मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते; क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधि-निषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय—उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे । कर्मफलके संयोग-की रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है । कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं ।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्‌की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता । अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (गीता ५ । ८, ९) या भगवान्‌के अर्पण करके (गीता ५ । १०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (गीता ५ । १२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर ले (गीता ४ । २०) । यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते ।

‡ इस कथनका यह अभिप्राय है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है । प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है । इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं । वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

§ सबके हृदयमें रहनेवाले (गीता १३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१) और सम्पूर्ण जगत्‌का अपने संकल्पद्वारा संचालन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वर किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते । यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं, सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं; तथापि वे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंको ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते ।

× यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है ? इसी शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है । इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है* ॥१६॥

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है,† जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है‡ और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है,§ ऐसे तत्परायण पुरुष× ज्ञानके द्वारा पापरहित+होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं÷ ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैंऽ ॥१८॥

* जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

† सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

‡ उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

§ मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना ही तत्परायण हो जाना है।

+ उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष' हैं।

÷ जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

ऽ तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५ । १८)
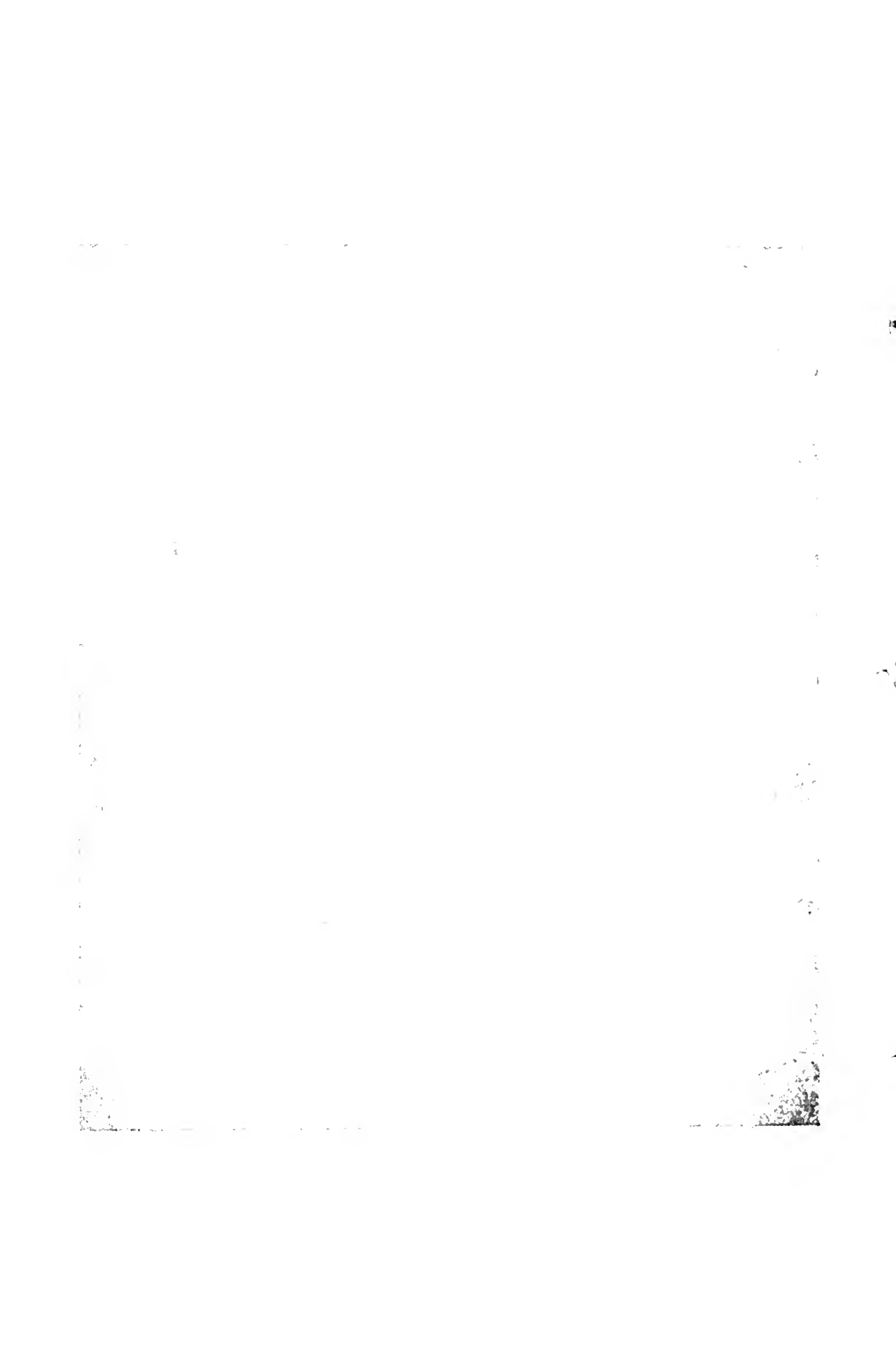
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं* ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो,† वह स्थिरबुद्धि संशय-रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक‡ आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है;§ तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित× पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है+ ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं

करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणके पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके नहीं। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अङ्गोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता; जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अङ्गोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अङ्गोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती; वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है।

* तत्त्वज्ञानी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

† जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं; उन अनुकूल पदार्थों-का संयोग होनेपर वह हर्षित नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है, उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं; उन प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेक-के द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

§ इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्यसुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है; परंतु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित कहते हैं।

+ सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

तो भी दुःखके ही हेतु हैं* और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता† ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही‡ काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है,§ वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फलसहित वर्णन किया जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है,× आत्मामें ही

* जैसे पतंग अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं (गीता १८। ३८)।

† विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परंतु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; किंतु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षण-भङ्गुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है, इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

‡ इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

§ (पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

× यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्‌के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता, किंतु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुख' अर्थात् अन्तरात्मामें ही सुखवाला है।

रमण करनेवाला है* तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है,† वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी‡ शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है§ ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं,× जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं+ ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये । उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर÷ और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके ऽ

---

* जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्तिरहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता रहता है, वह 'अन्तराराम' अर्थात् आत्मामें ही रमण करनेवाला कहलाता है ।

† परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (गीता १३ । १७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' अर्थात् आत्मामें ही ज्ञानवाला है ।

‡ सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है—उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त कहलाता है ।

§ 'शान्त ब्रह्म (ब्रह्मनिर्वाण)' सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है । सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है । श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति कहते हैं ।

× इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं । परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है । फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता ।

१. यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरण-दोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है । इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्य-योगके द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है ।

+ परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।

÷ विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना ही बाहरके विषयोंको बाहर निकाल देना है ।

ऽ नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है । इसीलिये नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करनेको कहा गया है ।

तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके,* जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं†—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि‡ इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है§ ॥ २७-२८ ॥

सम्बन्ध—जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला,× सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर+ तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्÷ अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता हैऽ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

---

* प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

† इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है। विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुशृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है।

‡ 'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यान-कालकी भाँति व्यवहारकालमें भी परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ निश्चय होनेके कारण सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

§ जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

× अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपर्युक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०), अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता ९ । २४)। इस प्रकार समझना ही भगवान्को 'यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला' समझना है।

+ इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)। अपनी अनिर्वचनीय माया-शक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

÷ भगवान् स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

ऽ जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मङ्गलके लिये ही करते हैं', वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है ?—यह बतलानेके लिये भगवान्से प्रार्थना की थी। इसपर भगवान्ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया; परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हुए सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर* करने योग्य कर्म करता है,† वह संन्यासी तथा योगी है‡ और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है§ तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है× ॥ १ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है; अतः इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू

* स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है।

† अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, वे सभी करनेयोग्य कर्म हैं। उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आलस्यरहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना ही उनका करना है।

‡ ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

§ जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है; परंतु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया।

× जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परंतु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया।

योग जान;* क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है† और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है‡ वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी§ पुरुष योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे× और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है+ ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

* यहाँ संन्यास शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना । यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि । दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है । इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये दोनोंकी एकता की गयी है ।

† अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता ।

‡ मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है । इसके अतिरिक्त कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता । अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव माना गया है ।

§ यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय । इसके अतिरिक्त गीताके चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं ।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है । ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं । ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है ।

× मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न खोकर कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है ।

राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है ।

मनुष्यको कभी भी यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये मेरी उन्नति होगी ही नहीं; उसका उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, उसीके हाथमें है । मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है । स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है ।

+ जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है । इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है ।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है,* उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है†॥

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो[1] विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य‡ और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला§ अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ९॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः[2]॥ १०॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे॥ १०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

* परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उनके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं।

† असंयमी मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है एवं अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्तकालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यही शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करना है।

१. जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

‡ सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके विना ही कारण स्वभावतः प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं। किसी निमित्तसे बुरा करनेकी इच्छा या चेष्टा करनेवाला 'वैरी' है और स्वभावसे ही प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह 'द्वेष्य' कहलाता है। परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको 'मध्यस्थ' कहते हैं तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको 'उदासीन' कहते हैं।

§ उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे राग-द्वेषपूर्वक भेदभाव नहीं आता, वही समबुद्धियुक्त पुरुष है।

२. भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों 'अपरिग्रह' ही हैं।

शुद्ध भूमिमें,* जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके—॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओं-को वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर† अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमा-कर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित‡, भयरहित§ तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला× सावधान+ योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला÷ और मेरे परायणऽ होकर स्थित होवे ॥ १४ ॥

* ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

† यहाँ जंघासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'शिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए किसी भी अङ्गको जरा भी न हिलने-डुलने देना—यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है। ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता; इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है।

‡ ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका संचय ही होता है; इसीलिये ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित होनेके लिये कहा गया है।

§ ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा।

× ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना एवं वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त कर देना—यही 'प्रशान्तात्मा' होना है।

+ ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्त' विशेषण दिया गया है।

÷ एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

ऽ इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझको ही परम गति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहना और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यही मेरे (भगवान्के) परायण होना है।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ* मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है†॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग‡ न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है§ ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका,× कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका+ और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका÷ ही सिद्ध होता है॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए

---

* उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है ।

† जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१) और परा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है । ध्यानयोगका साधक उसी शान्तिको प्राप्त करता है ।

‡ 'योग' शब्द उस 'ध्यानयोग' का वाचक है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है ।

§ उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परंतु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है । इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है । इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है । कभी ताजगी नहीं आती । शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

× खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (गीता १७ । ८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों । उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो । इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये, जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो ।

\+ वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है । उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है । जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय । ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है ।

÷ दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है ।

योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है* ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है,† और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ ‡ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है;§ उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता× और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता;+ ॥ २२ ॥

* यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है। दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है।

† जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

‡ एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है; क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परम-शान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

§ परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, किंतु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है।

× इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

+ शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये *। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे† निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है‡ ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर§ और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर× । क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो+ । तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे÷ ॥ २४-२५ ॥

* द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है । इस योगके द्वारा उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है, अतः 'यत्रोपरमते चित्तम्' (गीता ६ । २०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये ।

† साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है । ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं, अतः साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये ।

‡ 'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है । योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये ।

§ सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना । बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उसकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है । उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना 'कामनाका निःशेषतः त्याग' है ।

× ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे । यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है ।

+ जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये । यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है ।

÷ साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके । साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है । प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे । फिर मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे । इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः

सम्बन्ध—यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे * ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक† परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका‡ अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला§ तथा सबमें समभावसे देखनेवाला× योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है+ ॥ २९ ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे । सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी । यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परंतु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है । वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है । उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन । अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारका अभाव करके तथा अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य-तत्त्वमें स्थित हो जाना ही परमात्मामें मनको स्थितकर अचिन्त्य होना है ।

* ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ उसे रोककर तुरंत परमात्मामें लगावे । यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे ।

१. विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं ।

२. आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (गीता १४ । ७, १२) और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं । अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है ।

३. मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है । इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं ।

† जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है ।

‡ इसी अनन्त आनन्दको इस अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है ।

§ सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है । इसीका वर्णन गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है ।

× गीताके पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है । यही उसका सबमें समभावसे देखना है ।

+ एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व हैं, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं

सबमें भगवद् दर्शन

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगी-का और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है* उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता† ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर‡ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है,§ वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है× ॥ ३१ ॥

है। इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है, यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है। इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किंतु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा।

* जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है, अतएव वे ही इसके महाकारण हैं तथा जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (गीता १०। ४२)।

अतएव जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्‌में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्‌के ही वेष हैं। इस प्रकार जो समस्त जगत्‌के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें, परंतु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं।

† अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्‌के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्‌का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है।

‡ सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्‌के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्ति-रूप ऐसी स्थितिको भगवान्‌में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

§ जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना है।

× जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्‌के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है तो वह भगवान्‌की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्‌को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्‌को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्‌के साथ भगवान्‌की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्‌में ही और भगवान्‌के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्‌में ही बरतता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है* और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है,† वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! जो यह योग‡ आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ§ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला,× बड़ा दृढ़+ और बलवान्÷ है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँऽ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास= और वैराग्यसे A वशमें होता है ॥ ३५ ॥

---

* जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

† सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उपर्युक्त योगीका स्वरूप बन जाता है। जगत्‌में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपने-को 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

‡ कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंकी पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

§ 'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं। विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ 'समता' नहीं रह सकती; क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता'का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता'की स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक माना गया है।

× मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परंतु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर देता है।

+ यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

÷ जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

ऽ जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन है।

= मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। इसका विस्तार गीताके बारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें देखना चाहिये।

A इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय, तो क्या हानि है; इसपर भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है* और वशमें किये हुए मनवाले† प्रयत्नशील पुरुषद्वारा‡ साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किंतु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है; इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः[1] श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं[2] कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है,§ ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना ।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख-दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना ।

(३) संसारके और भगवान्के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना ।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण, मनन करना ।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्को क्षणभङ्गुर समझना ।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना ।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना ।

* जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है । जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (गीता २ । ४१–४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

† वशमें हो जानेपर चित्तकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है । वह सीधा, सरल और शान्त हो जाता है; फिर उसे जब, जहाँ और जितनी देरतक लगाया जाय, चुपचाप लगा रहता है । यही मनके वशमें हो जानेकी पहचान है ।

‡ मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय–उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती । अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे योगका प्राप्त होना सहज बतलाया गया है ।

१. पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है । वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है । इस कारण 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'अयतिः' पदका 'असंयमी' अर्थ किया गया है ।

२. सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धिम्' पद है ।

§ यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है । शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?* ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है† ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता‡ ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष§ पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—

अथवा¹ योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है× ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ॥

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट

---

* यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती । अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती ?

† यहाँ अर्जुन भगवान्‌में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं । ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है । जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब मैं और किससे पूछूँ और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है ! अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये ।

‡ जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती ।

§ ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं ।

१. योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परंतु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है । वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं । पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है ।

× परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती । योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है । दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंसे भी प्रमाणित है । इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है ।

पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है* ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी† तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर‡ सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है;§ इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा; किंतु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये ? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया । अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि[1] सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना[2] ।
श्रद्धावान्[3] भजते[4] यो मां[5] स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

---

* जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

† तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है । इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' को 'प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करनेवाला' बतलाया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है ।

‡ पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्व संस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है ।

§ सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है । इसमें क्रियाकी बहुलता है । तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है । इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर कर्मी, तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अलग-अलग निर्देश किया गया है ।

१. गीताके चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं । उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है ।

२. इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उसके अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं ।

३. जो भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं ।

४. सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है ।

५. यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है* ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है।' परंतु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा अनेक प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ† तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा,‡ उसको सुन ॥ १ ॥

औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है।

* श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं, जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परंतु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकाङ्क्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है ! जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।

१. इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद, सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरा-से वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, वह 'मय्यासक्तमनाः' है।

२. जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, वह 'मदाश्रयः' है।

† मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही योगमें लग जाना है।

‡ भगवान् नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको* सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता† ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है‡ और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है§।३।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा× अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान+॥ ४-५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं÷ और मैं सम्पूर्ण जगत्का

हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; व्यक्त, अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असंदिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्को संशयरहित जानना है।

* भगवान्के निर्गुण-निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

† ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो समग्र रूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्के समग्र रूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

‡ भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई बिरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

§ चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव साधन करनेवालोंमें भी बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्का साक्षात्कार कर लेते हैं।

× गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा प्रकृति' है।

+ समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्यवस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है। अतः उसीने इसे धारण कर रक्खा है।

÷ अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, उन सभी सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात गीताके तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ*॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है† ॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

मैं पृथिवीमें पवित्र‡ गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान§! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ× ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ+ ॥ ११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें साररूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको

---

* जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्से ही उत्पन्न होता है, भगवान्में ही स्थित है और भगवान्में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं।

† जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्में गुँथा हुआ है। भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे इस प्रसंगमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

§ जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं।

× सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका संचालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही अंश है। इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है, इसलिये भगवान्ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है।

+ जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, उस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (गीता १६।१८), अतः वह तो आसुर बल है और उसके त्यागनेकी बात कही है (गीता १८।५३)। इसी प्रकार धर्म-विरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (गीता ३।३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (गीता १६।२१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही भगवान्का स्वरूप है।

यथार्थ भक्त ध्रुव

तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'* ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं† ॥ १२ ॥

सम्बन्ध--भगवान्‌ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्‌को क्यों नहीं पहचानते; इसपर भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता‡ ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं§ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध--भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते; इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

किंतु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने-

---

* मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है और वह प्रकृति भगवान्‌की है, अतः भगवान्‌से भिन्न नहीं है; उन्हींके लीला-संकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

† जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परंतु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे आकाश किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्‌में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं।

‡ जगत्‌के समस्त देहाभिमानी प्राणी—यहाँतक कि मनुष्य भी—अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अनित्य और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुख-रूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं। इस कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयोंके संग्रह करने और भोगनेके सिवा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते। इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी परमात्माको नहीं जान सकते।

§ जो एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्‌का या भगवान्‌के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा संतुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे शरणागत भक्त मायासे तरते हैं।

१. जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं, उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं।

वाले अर्थार्थी,* आर्त,† जिज्ञासु‡ और ज्ञानी§—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है,× क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है+ ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं,÷ परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैऽ—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परंतु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह 'अर्थार्थी' भक्त है । सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है ।

† जो शारीरिक या मानसिक संताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह 'आर्त' भक्त है । आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासंधके बंदी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परंतु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है ।

‡ धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (गीता १४ । २६), उस कल्याणकामी भक्तको 'जिज्ञासु' कहते हैं । जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परंतु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है ।

§ जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं, तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे 'ज्ञानी' हैं (गीता १२ । १३-१९) । गीताके नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दसवें अध्यायके तीसरे और पद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधक भक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं । ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं । बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं ।

× संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; ऐसा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी भक्त अन्य सबसे उत्तम है ।

+ जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानीको' मैं अत्यन्त प्रिय हूँ ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही ।

÷ वे सब प्रकारके भक्त इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है । ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं । उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो । इसलिये सबको 'उदार' कहा गया है ।

ऽ इस कथनसे भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है । भक्त है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो भक्त है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें[1] तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष,[2] सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है;* वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर† उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं‡ ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है,§ उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परंतु उन अल्प बुद्धिवालोंका× वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं+ ।२३।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको

---

१. जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है; क्योंकि भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

२. भगवान्ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही 'सब कुछ वासुदेव है', इस प्रकारसे भगवान्का भजन करना है।

† जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका संचय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

‡ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर, जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही 'उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना' है।

§ देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

× देवोपासक कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनको भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' कहा गया है।

+ भगवान्के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है।

न जानते हुए* मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं† ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको[१] मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

क्योंकि अपनी योगमायासे छिपा हुआ‡ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ,§ परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे× सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं+ ॥

---

* अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्के प्राणियोंको परमानन्दके महान् सागरमें निमग्न कर देते हैं। भगवान्का यही नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' है ।

† भगवान्के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं। मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है। अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते। इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था, अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है; अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है ? अर्थात् कोई भेद नहीं है। यही बुद्धिहीन मनुष्यका भगवान्को अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानना है।

१. 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्यसमुदायके लिये किया गया है।

‡ गीताके चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से ही प्रतीत होते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है। उससे वास्तवमें भगवान् आवृत नहीं होते तथापि जैसे लोगोंकी दृष्टि बादलोंसे आवृत हो जानेके कारण ऐसा कहा जाता है कि सूर्य बादलोंसे ढका गया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्का अपनेको योगमायासे छिपा रहना बताना है।

§ यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतङ्गादि जितने भी भूत—चराचर प्राणी हैं, वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस प्रकार रहेंगे, इन सब बातोंको मैं जानता हूँ।' वास्तवमें भगवान्के लिये भूत, भविष्य और वर्तमानकालका भेद नहीं है। उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है।

× जिनको भगवान्ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (गीता ३ । ३४) और काम-क्रोधके नामसे (गीता ३ । ३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है, उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ 'इच्छा' और 'द्वेष' के नामसे वर्णन किया है। इन 'इच्छा-द्वेष' से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम 'द्वन्द्वरूप मोह' है।

+ भगवान्को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनके मन्दिर और तीर्थादिमें जाना तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही 'सब प्रकारसे उनको भजना' है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं,* वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

एवं जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबके आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं† अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्ने अपने समग्र रूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की । फिर सत्ताईसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया; किंतु उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

---

* यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं ।'

† उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदि संकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं । यही भगवान्‌का समग्र रूप है । अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्र रूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी । फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है', बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है । इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है ।

श्रीभगवान्ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है,* अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म'† नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है,‡ वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः१ पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

उत्पत्ति विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव§ है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ× ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है+—इसमें कुछ भी संशय नहीं है÷ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्को ही प्राप्त होता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्के स्मरणके सम्बन्धमें ही यह विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है; इसपर कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावकोऽ स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा हैA ॥ ६ ॥

---

* अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं ।

† 'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है । जीवरूपा भगवान्की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो जाता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं । अतएव गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ जो 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये ।

‡ 'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है । इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'त्याग' का नाम ही कर्म है । महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म संस्कारोंके साथ भगवान्में विलीन हो जाते हैं । फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह संकल्प करते हैं कि 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ,' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है । भगवान्का यह 'आदि संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीजकी स्थापना करना है । यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन (त्याग)का नाम 'विसर्ग' है ।

१. अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम 'क्षरभाव' है । इसीको गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है ।

§ 'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अङ्ग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है ।

× अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है । भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (गीता ५ । २९; ९ । २४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (गीता ७ । २२) तथा वे ही अन्तर्यामीरूपसे सबके अंदर व्यापक हैं; इसलिये वे कहते हैं कि 'इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ ।'

\+ यहाँ अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है, अतः भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव है कि जो सदा-सर्वदा मेरा अनन्यचिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं, उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

÷ अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्की प्राप्ति निःसंदेह हो जाती है । इसमें जरा भी शङ्का नहीं है ।

ऽ ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है । अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उस भावका स्मरण करना है ।

A अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है । पूर्वसंस्कार, संग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।* इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर† तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।७।

अभ्यासयोगयुक्तेन[१] चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यास-रूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है‡ ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता,§ सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटी-के मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ ९—१० ॥

उसीसे भावित हो जाता है तथा मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अङ्कित हुए उस भावसे भावित होता-होता समयपर उस भावको पूर्णतया प्राप्त हो जाता है । किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता है, उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है । उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य सहकारी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा ।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है ।

* जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्यप्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणुमें भगवान्के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है तथा जिसका विषयभोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम भावसे केवल भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है । जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं ।

† बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पित कर देना है ।

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है । ऐसे अभ्यास-योगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं ।

‡ इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य परम पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

§ परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाले होनेसे 'सबके नियन्ता' हैं।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यको गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्‌के 'अधियज्ञ' नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ग्यारहवें श्लोकसे तेरहवेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करनेके लिये पहले उस अक्षर ब्रह्मको प्रशंसा करके उसे बतलाते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं,* आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा† ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर‡ तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके,§ फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है× ॥ १२-१३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ+ ॥ १४ ॥

---

* वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

† 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें संचरण करना—जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना भी इन्हींके अन्तर्गत है। ये ब्रह्मचर्य-आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं और साधारणतया तो अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

यहाँ भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, वह ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

१. यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसंग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है।

‡ श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

§ नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

× निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है। इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना कहते हैं।

२. जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

३. यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है; परंतु जो श्रीविष्णु और श्रीराम या भगवान्‌के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं, उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उनका स्मरण करना है।

+ अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता तब 'ये यथा

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन* मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको† नहीं प्राप्त होते ॥

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता—इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है । अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है । इसपर भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त‡ सब लोक पुनरावर्ती§ हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं,× वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४ । ११) के अनुसार भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । इसी हेतुसे ऐसे भक्तके लिये भगवान्‌को सुलभ बतलाया गया है ।

* अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं और भगवान्‌के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

† मरनेके बाद कर्मपरवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है और ऐसी कोई भी योनि नहीं है, जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो । अतः पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है ।

‡ जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (गीता ८ । ४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है । उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको पुनरावर्ती समझना चाहिये ।

§ बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, उन लोकोंको 'पुनरावर्ती' कहते हैं ।

× यहाँ 'युग' शब्द 'दिव्य युग'का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलानेपर होता है । यह देवताओंका युग है, इसलिये इसको 'दिव्य युग' कहते हैं । इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है । अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है । ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक 'दिव्य युग' होता है । इसे 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं । इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं । दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है । कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं ।

इसे दूसरी तरह समझिये । हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापरयुग—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेतायुग—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,०००वर्ष (कलियुगसे चौगुना)

कुल जोड़—४३, २०, ००० वर्ष

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं* और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं† ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है‡ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं; वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो

यह एक दिव्य युग हुआ । ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ।

मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें चौंसठवेंसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है । ब्रह्माके दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रिको प्रलय कहते हैं । ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है । ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है !

* देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी चराचर प्राणी हैं, उन सबको 'व्यक्ति' कहा है ।

प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है ।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं । यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है ।

† एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम प्रवेश-काल है ।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं । यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है ।

‡ अव्यक्तमें लीन हो जानेसे भूतप्राणी न तो मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है । इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं ।

इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है । ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं (गीता ९ । ७), तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता । ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (गीता ९ । ८) । जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा ।

यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं । महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परंतु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं ।

गीताके नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें (श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है ।

सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता* ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर'† इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति‡ कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है§ ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है,× वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है+ ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी। प्रसङ्गवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता; परंतु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जिस कालमें÷ शरीर त्यागकर गये हुए

* अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों) का लय होना बतलाया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'अव्यक्तात्' पद है; उस पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनोंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परंतु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है। इसलिये यह सबके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

† जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव'के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषको यहाँ 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा है।

‡ जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं, उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको 'परम गति' कहा गया है (गीता ८। १३)।

§ अभिप्राय यह है कि भगवान्के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

× जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है तथा जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात गीताके नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

+ सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम पुरुष परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम संतुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है। इस अनन्य-भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उनका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उन परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

÷ यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है, जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार

योगीजन* तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

है; क्योंकि इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति'के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है। संसारमें लोग जो दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा समझते हैं, यह समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता; बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा।

* 'योगीजन'से यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है।

१. यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

२. 'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. 'शुक्लः' पद शुक्लपक्षाभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन पितृ-लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उप० ४ । १५ । ५ तथा ५ । १० । १, २; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्के परमधामसे भगवान्के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता* योगीजन उपर्युक्त देवताओं-द्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको† प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो[1] रात्रिस्[2]तथा कृष्णः[3] षण्मासा दक्षिणायनम्[4]।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

* इस श्लोकमें 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है; क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६), 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदारण्यक उप० ३।२।११), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते—शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन हो जाते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

† यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धामें, जिसे सत्यलोक, परम धाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक आदि नामोंसे कहा है, पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है।

१. यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है तथा दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

२. यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वीलोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्षके आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-मण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जिन पितृलोकोंमें पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँ-तक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है, उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशा-भिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उप० ५।१०।४;

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी* उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको† प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है‡ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं ।§ इनमें एकके द्वारा गया हुआ×—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ+ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता ।÷ इस कारण हे अर्जुन !

बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) । यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये ।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है ।

* स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है । इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं । वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं । अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है । यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (गीता २ । ४२, ४३, ४४ तथा ९ । २०, २१ आदि) ।

† चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है । उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है । वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है ।

‡ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है । जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है । वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है । उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है । (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ५, ६, ७; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) ।

§ चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं । उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है । अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है । ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे । इसीलिये इनको शाश्वत कहा है । यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्‌में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है । अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई दोष नहीं है ।

× अर्थात् इसी अध्यायके २४ वें श्लोकके अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी ।

+ अर्थात् इसी अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

÷ योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है; यही उसका मोहित होना है; किंतु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है । यही उसका मोहित न होना है ।

तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो* अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर† वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है‡ और सनातन परम पदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)

ज्ञान, विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्-भक्तिकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने विज्ञान-सहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी । उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये । उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया, किंतु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया । इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं । तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

---

* यहाँ भगवान्‌ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय । यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो योगभ्रष्ट होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

† इस अध्यायमें वर्णित शिक्षाको अर्थात् भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवानके गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है ।

‡ यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका, 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसंचय होता है, उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है । एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है ।

१. संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है ।

२. गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे* मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम† और अविनाशी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष‡ मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया

करना 'असूया' है । जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिल्कुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं ।

* इस श्लोकमें 'अशुभ' शब्द समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक है । इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है ।

१. संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता । इसलिये इसे 'राजविद्या' कहा गया है ।

२. इसमें भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है । इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ । तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ । इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं । इसीलिये इसे 'राजगुह्य' बतलाया गया है ।

३. यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है । इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है ।

४. विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है । साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परम प्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्को ही प्राप्त हो जाता है । इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है ।

५. जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है ।

† इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है । सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है । इसलिये इसे साधन करनेमें बड़ा सुगम बतलाया है ।

‡ पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है । इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—ये जिनमें हों, वे ही श्रद्धारहित पुरुष हैं ।

था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले प्रभावके साथ अपने निराकारस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत्* जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है† और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं‡ किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ§॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख× कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है+॥ ५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु

१. गीताके आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

* 'यह सब जगत्'से यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित समस्त ब्रह्माण्ड समझना चाहिये।

† जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

‡ 'यहाँ सब भूत'से समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंको कहा गया है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (गीता १०। ४२) और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (गीता ९। १८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्में स्थित बतलाया गया है।

§ बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्का नाश होनेपर भी, बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति, भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्के नाशसे भगवान्का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात् मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

२. सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

× यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है, परंतु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परंतु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।

+ वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्से अतीत हैं, यही भाव दिखलानेके लिये 'वह भूतोंमें स्थित नहीं है' ऐसा कहा गया है।

सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये अपनेको सबमें व्यापक, सबका आधार, सबका उत्पादक, असङ्ग और निर्विकार बतलाया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं† अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ‡ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार§ करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ× ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते+ ॥ ९ ॥

---

* आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

२. ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रिके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

† समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत और प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उसको अपनी प्रकृति बतलाया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

‡ कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌में स्फुरणा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महासर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

§ सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे अङ्गीकार करना है।

× भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्‌की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है। यहाँ भगवान्‌ने उनको बार-बार रचनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

+ सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्‌के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उन कर्मों-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचर-सहित सर्वजगत्‌को रचती है* और इस हेतुसे ही यह संसार-चक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया । फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असंगता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया । अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले† मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं‡ ॥ ११ ॥

में या उनके फलमें भगवान्‌का किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है और केवल अध्यक्षतामात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है । इसी कारण वे कर्म भगवान्‌को नहीं बाँधते ।

* जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (गीता १४ । ३) । इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्‌को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है ।

जहाँ भगवान्‌ने अपनेको जगत्‌का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्‌की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है । जबतक उसे भगवान्‌का सहारा नहीं मिलता, तबतक वह जड-प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती । इसीलिये भगवान्‌ने आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्‌की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्‌की रचना करती है ।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है ।

१. गीताके सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है ।

† चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्‌के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है तथा गीताके सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान्‌के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम' विशेषणके सहित 'भाव' शब्द है । सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (गीता ४ । ६, ७, ८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है ।

‡ महाभारतमें भीष्मपर्वके छाछठवें अध्यायमें बतलाया है—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव सबके पूजनीय हैं । उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये । वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं । वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं । देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमित-पराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये । जो मूढ-मति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं । जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्‌को नहीं पहचानते वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं । जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्‌का अपमान करता है, वह, अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है ।'

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त-चित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं* ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित† महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर‡ अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं§॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

---

१. भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशाएँ करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (गीता १६ । १० से १२); इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं ।

२. भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता (गीता १६ । १७, २३; १७ । २८) । इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है ।

३. जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (गीता १८ । २२), उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं ।

* राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं । काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्वहरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है, उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं । ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना, वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है । भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है ।

४. यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्यप्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं ।

† दैव अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, गीताके सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है ।

‡ 'माम्' पद यहाँ भगवान्‌के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है । उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (गीता ७ । ६; ९ । १८; १० । २, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्‌को 'सब भूतोंका आदि' समझना है और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्‌का नाश नहीं होता (गीता ८ । २०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्‌को अविनाशी समझना' है ।

§ जिनका मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त निरन्तर भगवान्‌को भजते रहते हैं ।

५. 'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है । कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं ।

६. 'यतन्तः' पदका यह भाव है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌की पूजा सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण आदि उत्साह और तत्परताके साथ करते रहते हैं ।

७. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं । बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते । इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है ।

८. जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन* करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम† करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं,§ और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं × ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

क्रतु[1] मैं हूँ, यज्ञ[2] मैं हूँ, स्वधा[3] मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि[4] मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ + ॥ १६ ॥

निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं।

* कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगान-सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं।

† भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को, अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—यही 'भगवान्‌को प्रणाम करना' है।

‡ श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही अनन्यप्रेमसे भगवान्‌की उपासना करना है।

§ गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही 'ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना' है।

× समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं। अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं। इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (गीता १८। ४६)—यही 'बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना' है।

१. श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं।

२. पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं।

३. पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है।

४. 'अग्नि'से यहाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि समझने चाहिये।

+ अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिनमें यज्ञादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता,* पितामह,† जाननेयोग्य, पवित्र,‡ ओङ्कार § तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ × ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी,+ शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान÷ और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ऽ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँA । हे अर्जुन ! मैं ही अमृतB और

* यह चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्व भगवान्से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है।

† जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

‡ जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं तथा भगवान्के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं।

§ 'ॐ' भगवानका नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। गीताके आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

× 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

२. जिसकी शरण ली जाय उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (६ । १८ । ३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'शरण' कहा है।

३. भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है।

४. जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

+ भगवान् ही ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)।

÷ जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निधान' कहा है।

ऽ इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्के विशेषण हैं; अतः इस श्लोकमें पूर्व श्लोकोंकी भाँति 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया गया।

A इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथासमय यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

B वास्तवमें अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो

मृत्यु* हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ † ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और विराट् रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। 'समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परंतु ऐसा न जानकर फलासक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है।' इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष‡ मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको§ प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं॥ २०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

वे उस विशाल× स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं+ ॥ २१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

जाता है, इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

* सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। भगवान् ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकालरूप धारण किये रहते हैं। वे कालके भी काल हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रका नाम 'असत्' है। इन्हीं दोनोंको गीताके पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है।

‡ ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

§ यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके श्लोकमें 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है। अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये।

× स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका अनेक प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है। इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है।

+ भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोगकामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं। इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है।

१. जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है।

किंतु जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं,* उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ† ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है‡ ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ;§ परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्२५

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं,× भूतोंको पूजने-

* सगुण भगवान् पुरुषोत्तमके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्काम-भावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही 'उनका चिन्तन करते हुए भजन करना' है।

† अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही 'उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना' है। भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है। हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी।

जो पुरुष भगवान्के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्पर रहता है। अतः वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमसुहृद् भगवान् ही अपने भक्तका लौकिक और पारमार्थिक सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं।

१. वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धासे युक्त' कहा गया है और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंमें है।

‡ जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'दूसरे देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की 'अविधिपूर्वक' पूजा है।

§ यह सारा विश्व भगवान्का ही विराट्रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्के ही अङ्ग हैं तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं। भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (गीता ५ । २९)।

× देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं। इनका पालन करनेवाले मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है।

वाले भूतोंको प्राप्त होते हैं* और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं† । इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कोई भक्त‡ मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है,§ उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका

पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं । यही पितरोंको प्राप्त होना है । ये भी अधिक-से-अधिक देवताओं या दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं । अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है ।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये । देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रम-के अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परंतु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत् आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है । इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परंतु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें ।

* जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि करते हैं, ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप, भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है । भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये ।

† जो पुरुष भगवान्‌के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं तथा इसी प्रकार भगवद्-भक्ति-विषयक अनेक प्रकारके साधन करते हैं, वे भगवान्‌का पूजन करनेवाले भक्त हैं और उनका भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्‌के समीप रहना, उनके जैसे ही दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्-को प्राप्त होना है ।

१. पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत' कहते हैं । इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि बिना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण की हुई वस्तु बहुत प्रेमसे स्वीकार कर लेता हूँ ।

२. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है । बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये ।

§ यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्‌के अर्पण की जा सकती है । भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है । 'मुझ-जैसे साधारण-से साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है !' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्‌के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करना है ।

प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ* ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है,† वह सब मेरे अर्पण कर‡ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा§ ॥ २८ ॥

* जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'शुद्धबुद्धि' कहते हैं । इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता । मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल'को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया । इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ ।

† इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है । अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (गीता १७ । १४—१७) ।

‡ साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है । अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं । कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं । मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्काम भावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है ।

पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्‌के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण करना भी भगवान्‌के ही अर्पण करना है । पहले इसी प्रकार होता है । ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है ।

१. यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किंतु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है । इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव सुदृढ़ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये ।

§ भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है । उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है । मरनेके बाद भगवान्‌के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्‌को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना है ।
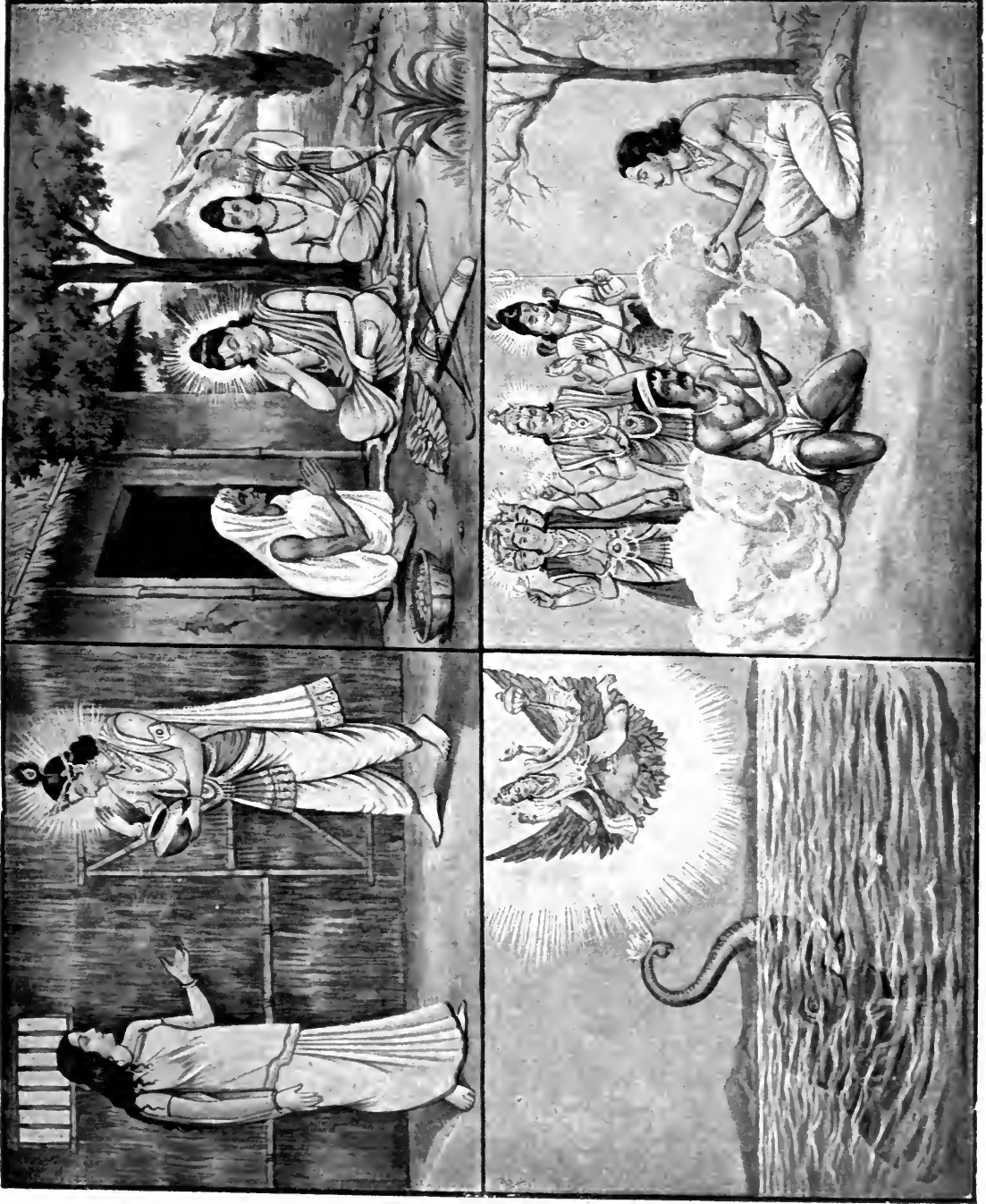
भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं !
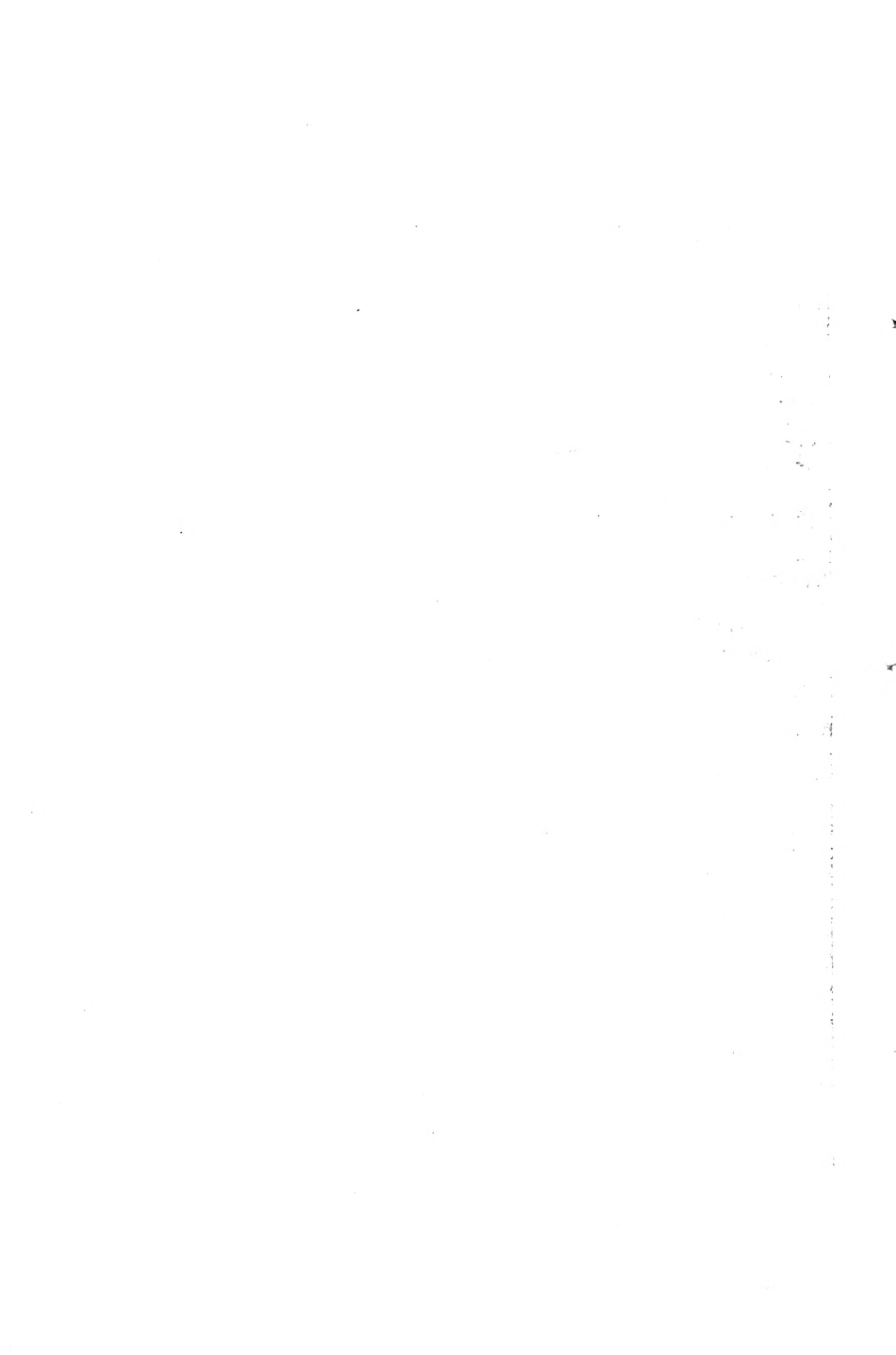
सम्बन्ध--उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की भक्ति करनेवालेको भगवान्की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती--इस कथनसे भगवान्में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है। अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है;* परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ†॥

अपि[1] चेत्[2] सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है‡ तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है§॥ ३०॥

---

* इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ। अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है। इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है।

† भगवानके साकार या निराकार–किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना, पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्को भजना है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं। वे जैसे भगवान्को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने उनको अपनेमें बतलाया है और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उनमें बतलाया है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिविम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है।

१. 'अपि' देनेका अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय–इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है।

२. 'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते, तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे एवं मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

‡ जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंको अतिशय दुराचारी समझना चाहिये। ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है। इस प्रकार भगवान्का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्के समर्पण करना है–यही अनन्यभाक् होकर भगवान्का भजन करना है।

§ जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पाप-वासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।'–यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है। भगवान् कहते हैं कि जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा। अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है ।* हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान † कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि१ स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि१ यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि§—

* इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), निर्वाणपरमा शान्ति (गीता ६ । १५) और परमा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'सदा रहनेवाली परम शान्ति' को प्राप्त होना है ।

† इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

‡ यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता । अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

१. यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है । भगवान्‌के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है । मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है ।

§ पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है । इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ-जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं । यहाँ 'पापयोनि' शब्द इन्हीं सबका वाचक है । भगवान्‌की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है । वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (११ । १४ । २१)

'हे उद्धव ! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है ।'

यहाँ 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है । उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है । अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ (अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती । अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है । इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता । सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी

पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण

राजर्षि अम्बरीष

चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर* परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर† ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—पिछले श्लोकमें भगवान्ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा । अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

परमगति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, कैसे रहेगी ? अतएव 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक मानना ही ठीक प्रतीत होता है । क्योंकि भागवतमें बतलाया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (२ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है ।'

* भगवान्पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्की शरण होना है ।

१. 'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (गीता ९ । ३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (गीता ९ । ३२) मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है !

२. 'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

† मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है । यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्की कृपासे मिलता है और मिलता है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही । इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्य-जीवन सफल होता है । जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वञ्चित ही रह जाता है ; क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें कहीं सुखका लेश भी नहीं है । जिन विषयभोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म मृत्युके चक्करमें डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है । अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये; क्योंकि यह शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं, किस क्षण इसका नाश हो जाय ! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये । न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये । कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी भारी हानि है ।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो । क्षणभर भी मुझे मत भूलो ।

३. जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं; जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार

मुझमें मनवाला हो,* मेरा भक्त बन,† मेरा पूजन करनेवाला हो,‡ मुझको प्रणाम कर§ । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके× मेरे परायण+ होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ÷ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है ।

* भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीय-बुद्धि नहीं रह जाती । ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता । जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है । भगवान्का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता । जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको 'भगवान्में मनवाला' कहते हैं ।

† भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

‡ भगवान्के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, निष्कामभावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्की पूजा करना, माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंको तथा अन्य समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ 'भगवान्की पूजा' ही कहलाती हैं ।

§ भगवान्के साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभावका और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु-संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही 'भगवान्को नमस्कार करना' है ।

× यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है ।

+ इस प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देना और भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना 'भगवान्के परायण होना' है ।

÷ इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)

भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन,* जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा॥ १॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं,† क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ‡॥ २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है,§ वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

---

१. 'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन ! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। इसमें तुम्हारा प्रेम ही कारण है।

* इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर बड़ी सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये।

२. 'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उन्चास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है।

३. 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

† भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभव' शब्द है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

‡ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

§ भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (गीता ४। ६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी संदेह न करना—यही 'भगवान्-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा,* सत्य,† इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख,‡ उत्पत्ति-प्रलय और भय अभय§ तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप,× दान,+ कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं÷ ॥४-५॥

को अजन्मा जानना' है तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना—'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

१. कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

२. किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना 'ज्ञान' है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूपज्ञान-तक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

३. भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःख-मूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है।

४. किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं।

५. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ और घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं।

६. जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा संतुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं।

* बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना 'क्षमा' है।

† इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है।

‡ 'सुख' शब्द यहाँ प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखों-का वाचक है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ 'दुःख' शब्द है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तः-करणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

§ सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है।

× स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

+ अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है।

÷ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६ ॥

सात महर्षिजन,* चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु†—ये मुझमें भाववाले

१. 'चत्वारः पूर्वे' से सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥
(श्रीमद्भागवत २ । ७ । ५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलय-कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

* सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः। सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः। वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये॥
(वायुपुराण ६१ । ९३-९४)

'तथा देवर्षियोंके इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण, विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है।

यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है। इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है, जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं। ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं। ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है। ये प्रवृत्तिमार्गका संचालन करनेवाले हैं और (मेरे ही द्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७ । ८, ९)। अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये।

† ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १ । ३)।

सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी संध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब संध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भ-कालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी संध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ संध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके

सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं,* जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको† और योग-

मानकी १५ संध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है । दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं ।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अङ्कोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी संधि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह संध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
संधिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह संध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९६,२००
कल्पकी संधिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है । इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है । इसे 'पर' कहते हैं । इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं । यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है । वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी संध्यासमेत सात संध्याएँ बीत चुकी हैं । वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं । इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका संध्याकाल चल रहा है । (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये) ।

इस २०१३ वि० तक कलियुगके ५०५७ वर्ष बीते हैं । कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष संध्याकालका मान होता है । इस हिसाबसे अभी कलियुगकी संध्याके ३०,९४३ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं ।

प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं । एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं । वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि ।

श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायोंमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये । विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं । यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं ।

चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं ।

* ये सभी भगवान्में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनको मुझमें भाववाले बतलाया गया है तथा इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं । अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है ।

१. भगवान्‌की जो अनन्यभक्ति है (गीता ११ । ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (गीता १३ । १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (गीता १४ । २६) भी कहते हैं; उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है ।

† इसी अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा गीताके सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७ । ८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९ । १६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक 'विभूति' शब्द है ।

शक्तिको* तत्त्वसे जानता है,† वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर‡ श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं§ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता[1] मद्गतप्राणा[2] बोधयन्तः परस्परम्[3]।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा

---

* भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (गीता १० । २, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (गीता ७ । १२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (गीता १० । ४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और गीताके नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर्य योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योग' शब्द है ।

† इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित है । इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है ।

‡ भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है ।

§ उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को निरन्तर भजना है ।

१. भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (गीता ८ । १४; ९ । २२) । भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयबुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है ।

२. जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है ।

३. भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है ।

कथन करते हुए ही* निरन्तर संतुष्ट होते हैं† और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं‡ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले§ भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ× जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ+ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्र रूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्ने सातवें अध्यायमें किया । उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किंतु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया । तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी । फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्

---

* श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्का कथन करना है ।

† प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य संतुष्ट रहना' है । इस प्रकार-संतुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और संतोषका कारण केवल भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है । सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता ।

‡ भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्में निरन्तर रमण करना है ।

§ इससे यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्को भजनेवाले नहीं हैं, किंतु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं ।

× भगवान्का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धि (तत्त्वज्ञानरूप) योगका प्रदान करना' है ।

१. पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है, ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है ।

+ अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसको यहाँ 'अज्ञानजनित अन्धकार' कहा है । 'उसे मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित हुआ नष्ट कर देता हूँ' भगवान्के इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता । परंतु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ ।

के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया । इसपर भगवान्की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्की स्तुति करके भगवान्से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं;* क्योंकि आपको सब ऋषिगण† सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं । वैसे ही देवर्षि‡ नारद तथा असित और देवल

१. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ । एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः । यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥
(वायुपुराण ५९ । ७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है । गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है ।'

* इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं, वे आपके ही स्वरूप हैं तथा आपका जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही स्वरूप है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं ।

† यहाँ 'ऋषिगण' शब्दसे मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंको समझना चाहिये। अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं । अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षय-विनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं । अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने भी दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं । भूत, भविष्यत्, वर्तमान, संध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है । इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा । सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा । लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं । ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है । भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है । जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते । महान् भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं ।' (महा० भीष्म० अ० ६७)

‡ देवर्षिके लक्षण ये हैं—

.... । देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः ॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् । भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा ॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम् । तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम् ॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये । इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये ॥
(वायुपुराण ६१ । ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये । इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ । भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण

ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं* और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं† ॥ १२-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! ‡जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ§ । हे भगवन् ! ×आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं न देवता ही+ ॥ १४ ॥

है। जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं ।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ । ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद् देवर्षयः स्मृताः ।

(वायुपुराण ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं ।'

* देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं । ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्‌की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं । इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्‌की महिमाका ही विस्तार करना । महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्‌की महिमा गानेके कई प्रसंग आये हैं ।

†इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (गीता ४ । ६ से ९ तक; ५ । २९; ७ । ७ से १२ तक; ९ । ४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १० । २, ३, ८) । अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है ।

‡ ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क' 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं ।

§ गीताके चौथे अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका संकेत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्‌के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किंचिन्मात्र भी संदेह न करना 'उन सब वचनोंको सत्य मानना' है ।

× विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(६ । ५ । ७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है । ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं ।' वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैवं भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

(६ । ५ । ७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये ।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

\+ जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्‌के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम !* आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं† ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६ ॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं‡ ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन !§ अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती× अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है+ ॥ १९ ॥

करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण किया करते हैं । उन सबको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

* यहाँ अर्जुनने इन पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्‌के आदि हैं, आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं ।

‡ किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं ।

§ सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं ।

× इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं । इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है । मन करता है कि यह अमृतमय रस निरन्तर ही पीता रहूँ ।

+ जब सारा जगत् भगवान्‌का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परंतु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं । दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्‌के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो । भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता; उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ।

विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है । इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्‌के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं । रुद्र, वसु, आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ* तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ† ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु‡ और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ§ तथा मैं उन्चास वायुदेवताओंका तेज×

सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं। इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं। ये सभी भगवान्‌की विभूतियाँ हैं।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च। इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥
(श्रीविष्णुपुराण ३। १। ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र हैं और जो ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

१. 'गुडाका' निद्राको कहते हैं। उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं। भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो; अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो।

* समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (गीता ७। ५; १३। १), उसीको यहाँ 'सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा' बतलाया है। वह भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण (गीता १५। ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (गीता १३। २)। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'वह आत्मा मैं हूँ।'

† यहाँ 'भूत' शब्दसे चराचर समस्त देहधारी प्राणी समझने चाहिये। ये सब प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है।

‡ अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं —

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते। जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥
(महा० आदि० ६५। १५-१६)

इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं। इसीलिये भगवान्‌ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है।

§ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्‌ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है।

× उन्चास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७। १२३ से १३०)। गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं; परंतु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है। इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्‌गणोंका तेज या किरणें माना गया है।

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश)। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं।

दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं। उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था। इसलिये उनके इस तेजको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ* ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ,† देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ‡ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ§ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ । मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ× और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ+ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान ।÷ हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द ऽ और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षियोंमें भृगुA और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात्

---

* अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्की प्रधान विभूति हैं । इसलिये यहाँ उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है । इसलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, गीताके तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञान-शक्तिका नाम 'चेतना' है । यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशाम्पते । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
(हरिवंश० १ । ३ । ५१, ५२)

इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं । इसलिये उन्हें भगवान्ने अपना स्वरूप कहा है ।

× धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं—
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा० आदि० ६६ । १८)
इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्के मुख भी माने जाते हैं । इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

+ समस्त नक्षत्र सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है तथा उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं । इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ बृहस्पति देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं । इसलिये भगवान्ने उनको अपना स्वरूप कहा है ।

ऽ स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है । इनके छः मुख और बारह हाथ हैं । ये महादेवजीके पुत्र और देवताओंके सेनापति हैं । कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३) । इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं । संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

A महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः । यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्माद्दृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥

ओङ्कार हूँ*। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ† और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ‡ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, § देवर्षियोंमें नारद मुनि× गन्धर्वोंमें चित्ररथ+ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ÷ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः। प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ॥

(वायुपुराण ५९ । ८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं। परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है। जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य–ये दस महर्षि हैं। ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं। चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये।'

महर्षियोंमें भृगुजी मुख्य हैं। ये भगवान्के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

* किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (गीता ८। १३)। जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि 'प्रणव' भगवान्का नाम है (गीता १७। २३)। प्रणवके जपसे भगवान्की प्राप्ति होती है। नाम और नामीमें अभेद माना गया है। इसलिये भगवान्ने 'प्रणव'को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्का प्रत्यक्ष करानेवाला है। मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (२। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं। जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं। उनमें हिमालय सर्वोत्तम है। वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है। भगवान् नर और नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है। इसीलिये उसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ पीपलका वृक्ष समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है। पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है। स्कन्दपुराणमें कहा है—

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः। यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ॥

(नागर० २४७। ४४)

'यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है।' इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

× देवर्षिके लक्षण इसी अध्यायके बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं। साथ ही वे भगवान्के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

+ गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक-लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्व-लोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्वलोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—**'मौनेय'** और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी* और मनुष्योंमें राजा मुझको जान † ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र‡ और गौओंमें कामधेनु हूँ§ । शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ× और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ+ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

मैं नागोंमें शेषनाग÷ और जलचरोंका अधिपति वरुण-देवता हूँS और पितरोंमें अर्यमा नामक पितरA तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँB ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां काल१: कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं । ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं । भगवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं । इसीलिये भगवान्ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है ।

* बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं । ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है । इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी । इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है । ऐसे राजामें भगवान्की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है । इसीलिये भगवान्ने राजाको अपना स्वरूप कहा है ।

‡ जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्-का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६ । ११ । १९-२०) । इसलिये वज्रको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परंतु शास्त्रविधिके अनुसार संतानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है । अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है ।

+ वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है । इसलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

S वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

A कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात दिव्य पितृगण हैं । (शिवपुराण धर्म० ६३ । २) इनमें अर्यमानामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

B मर्त्य और देवजगत्में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं । इनके सभी दण्ड न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं । ये भगवान्के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं । इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है । यह गणित-विद्याके जाननेवालोंकी गणनाका आधार है । इसलिये कालको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद* और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह† और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ‡ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम§ हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ× और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ+ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या÷ अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद ऽ हूँ ॥ ३२ ॥

---

* दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं । उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्‌के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं । इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है

† सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है । वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है । इसलिये भगवान्‌ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । साथ ही ये भगवान्‌के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं । इसलिये गरुड़को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वाचक है । उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ । श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

× जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलाया है ।

+ जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्‌के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं । पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥ (८ । २१ । ४)

'हे राजन् ! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्‌के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा हो गया । वह गङ्गा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको भगवान्‌की निर्मल कीर्तिके समान पवित्र कर रही है ।'

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे । इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है । इसीलिये भगवान्‌ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है । संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है; परंतु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है । इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं– जल्प, वितण्डा और वाद । उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं । 'जल्प' और 'वितण्डा'से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है तथा 'वाद'से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है । 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है । इसी विशेषताके कारण भगवान्‌ने 'वाद'को अपनी विभूति बतलाया है ।

भगवानकी प्रह्लाद आदि तीन विभूतियाँ

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मैं अक्षरोंमें अकार* हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास† हूँ । अक्षय काल‡ अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्ति-हेतु हूँ§ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ× ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम+ और छन्दोंमें गायत्री छन्द ÷ हूँ तथा महीनोंमें

---

* स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है । इसीलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

† संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व । कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं । द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता होनेके कारण वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्‌ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ कालके तीन भेद हैं—

१—'समय' वाचक काल ।

२—'प्रकृति' रूप काल । महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है ।

३—नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा ।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है तथा इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूप काल अत्यन्त सूक्ष्म, परात्पर और परम श्रेष्ठ है । वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परंतु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं । ये ही 'अक्षय' काल हैं ।

§ जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं-यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु बतलाया है ।

× स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुईं । कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं । इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमा महर्षि पुलहको ब्याही गयीं । महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं । इनका पाणिग्रहण भगवान् विष्णुने किया और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं । इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—उन विभिन्न गुणोंकी ये सातों अधिष्ठातृदेवता हैं तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं । इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बतलाया है ।

+ सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है । इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है । 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है तथा सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत्साम ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ भगवान्‌ने 'बृहत्साम'को अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है । श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् । गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् । हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ॥

(शङ्खस्मृति १२ । २४-२५)

मार्गशीर्ष* और ऋतुओंमें वसन्त† मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ‡ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ । मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ । निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ§ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव× अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनंजय+ अर्थात् तू, मुनियोंमें

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है । गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं । स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है । गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं ।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः । गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥
(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १० । १०)

'गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा ।'

गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

* महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० १०६ और १०९) । अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है । नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है । वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सरका भूषण बतलाया गया है । इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

† वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है । इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं । इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी । इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है । इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं । ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो । ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है ।

इस विशेषताके कारण जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे, उस-उसमें भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये । इसी अभिप्रायसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है । उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है । उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय । इनके करनेमें जो आपत्ति है, वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है ।

§ ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है । इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है । जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है । इसी प्रकार विजय प्राप्त करने-वालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं । इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है । इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये ।

× इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है । कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा-अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (गीता ४ । ६) ।

\+ अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे

वेदव्यास* और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि† भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ,‡ जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति§ हूँ, गुप्त रखने-योग्य भावोंका रक्षक मौन× हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ;+ क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो÷ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—

भगवान्के साथ रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्के परम प्रिय सखा और उनके अनन्य प्रेमी भक्त हैं। इसलिये अर्जुनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्। काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
(महा० वन० १२ । ४६-४७)

'हे दुर्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ। हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे। इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ।'

* भगवान्के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं। भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं। अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है।

† जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे 'कवि' कहते हैं। शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, नीतिके रचयिता, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. 'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है। उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इसलिये उसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है। मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं। दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं। इसलिये जो भी देवता, राजा और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ 'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है। न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है। जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है। इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

× जितने भी गुप्त रखने योग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं। बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रक्खा जाना कठिन है। इस प्रकार गोपनीय भावोंके रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

+ भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं। इसीसे गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है। इसीलिये भगवान्ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है। अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो। इस प्रकार अर्जुनके 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये ?' (गीता १० । १७) इस प्रश्नका भी इससे उत्तर हो जाता है।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान* ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ?† मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ‡ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥ भीष्मपर्वमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्‌द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्य भक्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्तिका कथन

सम्बन्ध—गीताके दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्‌ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योगशक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंगको सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको, जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है, प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

---

* जिस किसी भी प्राणी या जड़वस्तुमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, कान्ति, शक्ति, बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्ति आदि सब-के-सब या इनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं; परंतु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसमें भगवान्‌के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किंतु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है। सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

‡ मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने इस जगत्‌के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

१. गीताके दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्‌ने 'अर्जुन ! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन* अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है† ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है‡ ॥ २ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर !§ आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ× ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनको महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया । अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी । वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये; क्योंकि साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है, तबतक वह भगवत्कृपाके परमलाभसे वञ्चित-सा ही रहता है; भगवत्कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता, परंतु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है, 'ओहो, भगवन् ! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ । मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ । यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है ।' ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन् ! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ । आपने अनुग्रह करनेके लिये ही अपना यह परम गोपनीय रहस्य मुझको सुनाया है । 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है ।

* गीताके सातवेंसे दसवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन' है । जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्ने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ, उन प्रकरणोंको भगवान्ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है । अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका लक्ष्य करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है ।

† अर्जुन जो भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था । अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है ।

§ 'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं ।

× असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपको यहाँ 'ऐश्वररूप' बतलाया है और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा, आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (गीता १० । ४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ ।

हे प्रभो* ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये† ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख ‡ तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! अब§ इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख× तथा और भी जो कुछ

---

* 'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं । इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं। यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं, तब तो प्रभो ! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ; क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते। इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये ।

१. 'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है । इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है ।

२. अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं । 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं ।

३. 'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है। जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं। उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'का प्रयोग हुआ है ।

‡ इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है । इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवेंमें की जा चुकी है । इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है । अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं। ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३ । २ । ७, अग्निपुराण २७३ । ४) । कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४ । १४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५ । ५७) । कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं ।

४. यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो, ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय ।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ ।

× पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं । ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्' शब्द है । इससे भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इसी मेरे शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो । अर्जुनको

देखना चाहता हो सो देख* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌के रूपको नहीं देख सके, तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको† देख ॥

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा संजय उसका वर्णन करते हैं—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने‡ इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया§ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्[1] ।
सर्वाश्चर्यमयं[2] देवमनन्तं[3] विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, × अनेक अद्भुत

भगवान्‌ने गीताके दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्‌को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो।

† भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने संजयको भी दी थी। अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था। उसे भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके अर्जुनको दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो गये।

‡ संजयके इस कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं।

§ भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्‌ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था।

१. चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है। जिसके समस्त अङ्गोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं।

२. भगवान्‌के उस विराट्‌रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी आश्चर्यजनक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है।

३. जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें 'देव' कहते हैं।

× अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (गीता ११। १९), परंतु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नेत्रसे युक्त बतलाया गया है।

दर्शनोंवाले,* बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त† और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए,‡ दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए§ और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो× ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा+ ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन÷ प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ऽ ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

---

* भगवान्के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है ।

† जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं ।

‡ जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों, उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं । इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे ।

§ विश्वरूप भगवान्ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रक्खी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके लिये यह विशेषण दिया गया है ।

× इसके द्वारा विराट्स्वरूप भगवान्के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्स्वरूप भगवान्के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता । इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परंतु विराट्स्वरूप भगवान्का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है ।

+ यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभक्त—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्के शरीरके एक देशमें देखा । गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा ।

÷ इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया । उन्होंने इससे पूर्व भगवान्का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया । इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही ।

ऽ अर्जुनने जब भगवान्का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा, तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्व जीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे । भगवान्के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्का स्तवन करने लगे ।

अर्जुनके प्रति भगवान्का विराट्रूप-प्रदर्शन

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको* और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ† ॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप[1] ॥१६॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सबओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं[2] समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्[3] ॥१७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं[4]
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता[5]
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं । ऐसा मेरा मत है‡ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-[6][7]
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

* ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम विशेषरूपसे लिये गये हैं। एवं ब्रह्माको 'कमलके आसनपर विराजित' बतलाकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

† यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

१. यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं ।

२. अर्जुनको तो भगवान्ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे । इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी ।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूप अप्रमेय हैं, अतः उनको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता ।

४. जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, गीताके आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है, उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है ।

५. जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं । भगवान् बार बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है ।

‡ यहाँ अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं ।

६. इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्के विराट् रूपको असीम बतला ही चुके थे, फिर यहाँ उसे 'अनादिमध्यान्त' कहनेका भाव यह है कि वह उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य है। 'यहाँ आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है । ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं ।

७. यहाँ अर्जुनने भगवान्को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है ।

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले,* चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले,† प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्‌को संतप्त करते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्[1] ॥२०॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी[2] हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं‡ तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं§ ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[3] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा[4]
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण× और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं ।

† इससे अर्जुन यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ ।

१. समस्त विश्वके महान् आत्मा होनेसे भगवान्‌को 'महात्मन्' कहा है ।

२. 'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि शेष बचे हुए कितने ही देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं ।

§ इससे अर्जुनने यह व्यक्त किया है कि मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं, वे आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ ।

३. जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं । मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं । अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदायका वाचक समझना चाहिये । पितरोंके नाम गीताके दसवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोककी टिप्पणीमें बतलाये जा चुके हैं ।

४. कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं । यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है । भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं । इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं । देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं । कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं । राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है । कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं । इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' पद है ।

× ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो

समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं॥२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो[1] ॥ २४ ॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों* ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ[2]
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें

गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी टिप्पणीमें किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं —

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥
(वायुपुराण ६६। १५-१६)

और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥
(वायुपुराण ६६। ३१-३२)

१. भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके विष्णुरूपसे प्रकट हो जाइये।

* यहाँ अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं, इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका वह विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई संदेह ही नहीं रह गया। एवं प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो ! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया, परंतु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये।'

२. वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

प्रवेश कर रहे हैं* और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य† तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं‡ ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं§ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्‌को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्‌से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी, उसीके अनुसार भगवान्‌ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परंतु भगवान्‌के इस भयानक उग्र रूपको देखकर अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौन हैं तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं। इसीलिये वे भगवान्‌से पूछ रहे हैं—

---

* इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ, उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे।

† पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे। अर्जुनके मतमें इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था। यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन्! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।'

‡ इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनको 'नरलोकके वीर' कहा गया है। वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे। उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं।

यहाँ मुखोंके साथ 'प्रज्वलित' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय हो आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

§ इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतङ्ग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतङ्गोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता* ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ ।† इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।‡ इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा§ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ¹ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग ।× ये सब शूरवीर

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयंकर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्यको मैं नहीं जानता । अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये ।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं । भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ । अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो ।

‡ इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ।' भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयंकर दृश्य दिखलाया है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे, तब भी ये बचेंगे नहीं । इनका तो मरण ही निश्चित है । जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके । इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है ।

अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता । इसीलिये भगवान्ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है । इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है । भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा ।

१. 'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसंदेह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ ।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो ।

पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा* ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार।† भय मत कर।‡ निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर§ ॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया—इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

---

* जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

† द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारंगत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दुःशलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसीपर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी संदेह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरेद्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया है कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशङ्का करते थे, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रियधर्मानुसार इन्हें मारनेके जो तुम निमित्त बनोगे, इसमें तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा, वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

‡ इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्ररूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न संतप्त ही होओ।

§ अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शङ्का थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (गीता २ । ६), उस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ* नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके† भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला‡ ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—अब छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक अर्जुन भगवान्‌के स्तवन, नमस्कार और क्षमायाचनासहित प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं§ ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास !× जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं+ ॥

१. अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उनका एक नाम 'किरीटी' पड़ गया था ।

स्वयं अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरकुमारसे कहा है—

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः । किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥
(महा० विराट० ४४ । १७)

* इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल हो गये कि भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस रूपका संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे ।

† इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी बड़ी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही । इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ।

‡ इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब आश्चर्य और भयके कारण उनका हृदय पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उनकी वाणी गद्गद हो गयी । फलतः उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया ।

§ भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही यह सब देख रहे थे, सारा जगत् नहीं । जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अङ्ग हैं । अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रूपका ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं । उनको भगवान्‌का जो विराट्‌रूप दीखता था, उसीके अंदर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे । इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है ।

× यहाँ 'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं । यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं । अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है ।

+ जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको गीताके सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है । इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है । अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है । अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले* तथा जानने योग्य† और परम धाम‡ हैं। हे अनन्तरूप§ ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है× ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च[1] ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः[2]
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो;+ क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं÷ ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये भगवान्से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि[3]
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है (गीता ७ । २६) ।

† इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, गीताके तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सतरहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता; वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं (गीता ८ । २१)

§ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता।

× इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है ।

१. इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं। इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है ।

२. 'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि अर्जुन भगवान्के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण हजारों बार नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उनको नमस्कार ही करना चाहते हैं ।

+ 'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें——सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ ।

÷ अर्जुन इस कथनसे भगवान्की सर्वताको सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है । विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों। अतएव सब कुछ आप ही हैं । वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है ।

३. प्रेम, प्रमाद और विनोद——इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता । प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है । किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी । इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद'—इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं । यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं ।

एकोऽथवाप्यच्युत[१] तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है* और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ† ॥ ४१-४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर जगत्के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं,‡ हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्[२] प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको

---

१. अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं ।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था; इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका ख्याल नहीं रक्खा; अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई । बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया ।

प्रभो ! कहाँ आप और कहाँ मैं ! मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण', 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा ।

† यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो ! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है । यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ । अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है । परंतु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं । मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ ।

‡ इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं –'भगवन् ! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं, उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं, परंतु हे प्रभो ! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है । अतएव हे सर्वेश्वर ! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं । समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं । अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है ।

२. 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं, अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है ।

प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ*। हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं† ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है,‡ इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु-रूपको ही मुझे दिखलाइये। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ,§ इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये× ॥ ४६॥

* जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो ! इस समस्त जगत्‌का नियमन करनेवाले यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप—सबके एकमात्र महेश्वर हैं और आपके गुणगौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं। मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ। मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा। अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये।

† यहाँ अर्जुन यह प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।

१. इससे अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णु-रूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये। यहाँ केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्‌का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किंतु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है।

‡ अर्जुनने इससे यह भाव दिखलाया है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वर-की मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परंतु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ।

२. अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन 'सहस्रबाहो' 'विश्वमूर्ते'—इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं।

§ महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे; परंतु इस समय अर्जुन भगवान्‌के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं।

× (१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उन्चासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे* यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था† ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषं रूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे ? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा आगे अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

* इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो, दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

† यद्यपि यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें विराट् रूपोंके दर्शन कराये थे, परंतु उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था।

१. वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोगस्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई भगवान्के इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है !

हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ* ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोले—वासुदेव† भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया‡ ॥ ५० ॥

* वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है । यज्ञ-क्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है ।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है ।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं ।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है ।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है । इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है ।

१. 'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप । वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है; किंतु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये; क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्‌ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्‌का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते । अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज निजी रूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्‌ने उनको दिखलाया ।

† भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है ।

‡ जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं । कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया ।

भगवान् विष्णु

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके चतुर्भुजरूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं[1] जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ* ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं[2] रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ† ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

परंतु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये‡, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

---

१. भगवान्‌का जो मानुषरूप था, वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्‌के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है।

* इससे अर्जुनने यह बतलाया कि मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे, उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ।

२. 'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करानेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका संकेत किया गया है। इससे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

† गीताके नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे तथा गीताके सतरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं, किंतु इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही।

पर इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना अनन्यभक्तिका एक अङ्ग है। इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्ति में हेतु हैं—सकामभावसे किये जाने-पर नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्‌का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्‌के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

‡ भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्‌का

सम्बन्ध—अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है* ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु बतलाया गया है।

यद्यपि सांख्ययोगके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है और वह सर्वथा सत्य है, परंतु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

१. जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, अपनेको केवल निमित्त-मात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करनेवाला है।

२. जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के परायण है।

३. भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्‌में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती और जो भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्‌का भक्त है।

४. शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्‌को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

५. समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझने अथवा सबमें एकमात्र भगवान्‌को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है।

* इस कथनका भाव पिछले चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भली-भाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है।

षट्‌त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुणकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्यभक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार-स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।*
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं,† वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं; इसपर कहते हैं—

---

* 'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्‌ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है।

१. 'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्‌ने विधान भी नहीं किया है।

२. भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है।

† गोपियोंकी भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनको भजना है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ (१०।४४।१५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे (अभिन्नभावसे) ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत* और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं† ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गतिकी प्राप्तिको कठिन बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है,‡ क्योंकि देहाभिमानियोंके-द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है§ ॥ ५ ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

१. जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो—किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं ।

२. जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं ।

३. जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं ।

४. जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं ।

५. इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती । समस्त जगत्में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है ।

* जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं ।

† इस कथनसे भगवान्ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए यह कहा है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ । वह ब्रह्म मैं ही हूँ, यही भाव भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ---इस कथनसे दिखलाया है ।

‡ पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें आसक्त-चित्तवाले पुरुषोंको परिश्रम विशेष है, यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है; साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता । इसलिये निर्गुणउपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है ।

§ उपर्युक्त कथनसे भगवान्ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है । अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है । इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है ।

किंतु जो गीताके छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, वह कथन जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं ।

भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले* भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके† मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं‡ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ§ ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वश्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया । इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा,× इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

---

* भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति भगवान्‌पर निर्भर और निर्विकार रहना, उन दुःखोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्‌को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना—यही भगवान्‌के परायण होना है ।

† कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्‌की आज्ञा और संकेतके अनुसार समस्त शास्त्रानुकूल कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण करना है ।

‡ एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्‌में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किंचित् अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको भजना है ।

§ इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके आक्रमणसे बचती हो । जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगें उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक भविष्यमें जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा- इसकी गणना नहीं हो सकती । इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं ।

जो भक्त मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर निरन्तर भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपनी प्राप्ति यहीं करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परम धाममें ले जाते हैं—अर्थात् जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर, उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परमधाममें ले जाते हैं । यही भगवान्‌का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है ।

× जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं, उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्‌में लगाना है । इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करना चाहिये ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर* ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा† । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही

* भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं । अतः भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो, उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है ।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना ।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं—यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना ।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों, उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना ।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना ।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना ।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना ।

(७) गीताके चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना ।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये । साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है । अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये; बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये ।

† इस श्लोकमें कहे हुए 'मत्कर्म' शब्दसे उन कर्मोंको समझना चाहिये जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है ।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है ।

प्राप्त होगा* ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर† ॥ ११ ॥

* इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है । जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ । अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है ।

१. इस अध्यायके नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारण वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्‌का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं; अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है, परंतु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता । इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है ।

† यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है, उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही 'सब कर्मोंका फलत्याग करना' है ।

इस अध्यायके छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । केवल साधकोंकी प्रकृति, भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है । समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; 'सर्वकर्मफलत्याग'में केवल फल-त्यागकी प्रधानता है । यही इनका मुख्य भेद है ।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्‌के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है, मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्‌के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे प्रारब्धानुसार जो कुछ भी सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है । अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं ।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है । अतएव वह भगवान्‌को समस्त जगत्‌में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके तथा भगवान्‌की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है । उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (गीता ११ । ५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

केवल 'सब कर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करता हूँ । वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (गीता २ । ४७ से ५१ तक), अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य

सम्बन्ध—छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्य ध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया । इससे यह शङ्का हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शङ्काको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है,*

है । अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है; इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता, स्वभाव और साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं । भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है । इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसंग ही कैसे आ सकता है !

भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्म फलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है और न एक-की अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक-दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं । जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है । इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किंतु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये इस अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌-की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

* यहाँ 'अभ्यास' शब्द इसी अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फलका त्याग ही है । अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यास-रहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता ।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको भी समझता है; परंतु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्म-

ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है* और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है;† क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है‡ ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें उन भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

फलकी इच्छाका त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों, उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यास-हीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यास-की अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

* यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् उपास्यदेव मानकर भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको स्थिर कर देनेको यहाँ 'ध्यान' कहा गया है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं; क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त विवेकज्ञान और ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; परंतु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चञ्चलताका नाश होता है; परंतु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

† ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। ऊपर बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परंतु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

‡ इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यानविषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है, जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप निष्कामभाव है; क्योंकि निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है* तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम† और क्षमावान्‡ है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है,§ मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है× और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है,+ वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला÷ मेरा भक्त मुझको प्रिय हैऽ ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

* भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। जैसे भगवान्में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

† यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके हेतुओंके वाचक हैं न कि हर्ष-शोकके; क्योंकि सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १। २। १२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीड़ारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किंतु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

‡ अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। क्षमाकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें विस्तारसे की गयी है।

§ भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तको यहाँ 'योगी' कहा गया है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही संतुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, किसी भी घटनामें संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असंतोषका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह पूर्णकाम है, यही उसका निरन्तर संतुष्ट रहना है।

× इससे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती।

+ जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जिसे सर्वत्र भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

÷ नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्में अर्पण करना' है।

ऽ जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न है; जिसका भगवान्में अहैतुक और अनन्य प्रेम है, जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है, जिसका कभी भगवान्से वियोग नहीं होता, जिसके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित हैं, भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान्के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे सिद्ध भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

१. पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किंतु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता* और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता † तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, ‡ वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, § बाहर-भीतरसे शुद्ध, × चतुर, + पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, ÷ वह सब आरम्भोंका त्यागी ऽ मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो न कभी हर्षित होता है, A न द्वेष करता

---

* सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, संताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता, बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं । अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये । यदि भूलसे किसी व्यक्तिको उद्वेग होता है तो उसमें उस व्यक्तिके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं; क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है, वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता ।

† ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (गीता ६ । २२); इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता ।

‡ अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किंतु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है और वह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है । वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है । दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है; किंतु भगवान्के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है ।

§ परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किंचित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती । वह पूर्णकाम हो जाता है । यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकाङ्क्षासे रहित कहा है ।

× भगवान्के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है । उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं । ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं ।

+ जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है ।

÷ शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दुःखके हेतु तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परंतु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका शोक नहीं होता ।

ऽ संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं । मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि । पर भगवान्का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्के हाथकी कठपुतली बना रहता है । भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है । अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सब आरम्भोंका त्यागी' ही है ।

A भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है । अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है । संसारकी किसी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता । इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता ।

है,* न शोक करता है,† न कामना करता है‡ तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है,§ वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें× और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है+ और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

* भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

† अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

‡ भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

§ यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (गीता ४ । २०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभ और अशुभ कर्मोंका त्यागी' कहा गया है।

१. संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किंतु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है।

× यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं, ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं; परंतु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किंचित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता, वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशङ्का ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

+ मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है।

२. जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों, वे भी 'अनिकेत' ही हैं। जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,* मननशील † और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है‡ तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि§ भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है× ॥

* भगवान्के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किंचिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसको स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

† मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है; परंतु यहाँ भगवान्के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है; बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही करवाया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। गीताके अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा गीताके सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परंतु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इसलिये यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

‡ भक्त अपने परम इष्ट भगवान्को पाकर सदा ही संतुष्ट रहता है। बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें संतुष्ट रहता है।

§ भक्तको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

× उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं तथा सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परंतु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'समदुःखसुखः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जितः' तथा 'संतुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'संतुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभाव-भेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्का प्रिय भक्त है।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर* इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको† निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं‡ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वमें छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

इसके सिवा कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किंतु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (गीता ३ । ३३) इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किंतु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्त भावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

गीताके दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

* सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें जो प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो, वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्‌को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हींपर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

† भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

‡ जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं; इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; परंतु जिन साधक भक्तोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्‌पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। ऐसे प्रेमी भक्तोंको सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'* इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'† इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान‡ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है॥ २॥

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत् क्षेत्रं यच्च[1] यादृक्[2] च यद्विकारि[3] यतश्च यत्।

---

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे 'क्षेत्र' कहते हैं और इसीलिये गीताके पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है।

† इससे भगवान्‌ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको गीताके सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७। ५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८। ३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५। १६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिङ्ग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

‡ इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हींके भावोंके द्योतक शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

१. 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और उसे पाँचवें श्लोकमें बतलाया है।

२. 'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

३. 'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

४. जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

स[1] च यो यत्प्रभावश्च[2] तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः[3] पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव[4] हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा* बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो[5] बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥†

---

१. 'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवेंमें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है।

२. 'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक बतलाया गया है।

३. 'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इन्हींके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

४. 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं। यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं।

* मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार यहाँ बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं।

५. स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्मपञ्चमहाभूत हैं—गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः', 'वायुः' और 'खम्' के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है।

† इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है, जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

(सांख्यकारिका ३)

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं। इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहंकारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किंतु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।' (२ । १९) विशेष यानी पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है।

पाँच महाभूत, अहंकार*, बुद्धि† और मूल प्रकृति‡ भी; तथा दस इन्द्रियाँ§, एक मन× और पाँच इन्द्रियोंके विषय+ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा,÷ द्वेष,S सुख,A दुःख,B स्थूल देहका पिण्ड, चेतनाC और धृतिD—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया।E ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

---

* यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है। अहंकार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं। यहाँ 'अहंकार' शब्द उसीका वाचक है।

† जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसको यहाँ 'बुद्धि' कहा गया है।

‡ यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ मूल प्रकृति समझना चाहिये, जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिसको 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है।

§ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। इन सबका कारण अहंकार है।

× यहाँ 'एक' शब्दसे उस मनको ही बतलाया गया है जो समष्टि अन्तःकरणकी मनन करनेवाली शक्ति-विशेष है, संकल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है। यह भी अहंकारका कार्य है।

\+ यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पदोंका अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समझना चाहिये, जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। ये सूक्ष्म भूतोंके कार्य हैं।

÷ जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' शब्द है।

S जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम 'द्वेष' है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं।

A अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम 'सुख' है।

B प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक 'दुःख' है।

C अन्तःकरणमें जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे गीताके दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' है, यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है; अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

D गीताके अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, उसीका वाचक यहाँ 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

E यहाँतक विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

१. अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है।

२. मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति,

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना*, क्षमाभाव,† मन-वाणी आदिकी सरलता,‡ श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा,§ बाहर-भीतरकी शुद्धि,× अन्तःकरणकी स्थिरता+ और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह÷ ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनाऽ ॥८॥

योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है।

* किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना, वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहित-कारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं, इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' अर्थात् किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना है।

† अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

‡ जिस साधकमें मन, वाणी और शरीरकी सरलताका भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

§ विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

× सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंको 'शौच' कहा जाता है।

+ बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'अन्तःकरणकी स्थिरता' है।

÷ यहाँ 'आत्मा' से अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरको समझना चाहिये। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनका निग्रह करना है।

१. इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' है।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहंकार' कहलाता है।

ऽ जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती

चार अवस्था
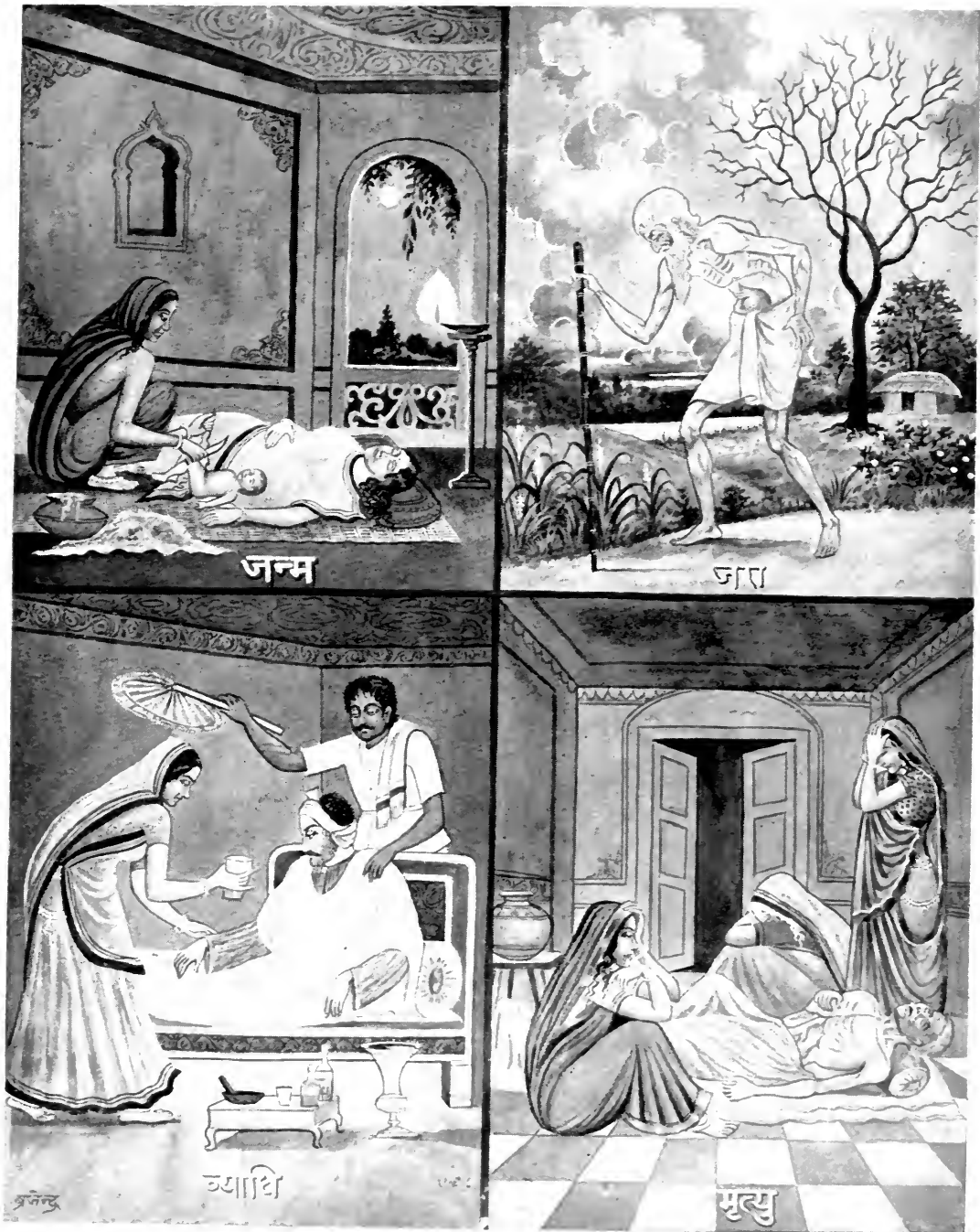
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (गीता १३ । ८)

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति† और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना‡—यह सब ज्ञान है,§ और जो इससे

हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

१. यद्यपि आठवें श्लोकमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य होनेकी बात कही जा चुकी, किंतु स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है; इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

२. अहंकारके अभावकी बात पूर्वश्लोकके 'अनहंकारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है।

३. अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना--सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

४. जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों, ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

५. यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उसमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

* भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्‌का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

† आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

‡ तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

§ 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं;

विपरीत है, वह अज्ञान* है—ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है। उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमरत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं[1] यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म[2] न सत् तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही† ॥ १२ ॥

इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है—यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया; किंतु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं, वे तो सबमें रहते ही हैं। इनके अतिरिक्त 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन'—इनमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

* उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं, वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं; इसलिये वे सब अज्ञान ही हैं। अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

१. यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बतलाया है।

२. यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है। 'ब्रह्म' पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये 'ब्रह्म' पदके साथ 'परम्' विशेषण दिया गया है।

† जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं। स्वतः प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं; किंतु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है।

यद्यपि गीताके नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'; किंतु वहाँ विधि-मुखसे वर्णन है, इसलिये भगवान्का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ, उचित ही है। पर यहाँ निषेधमुखसे वर्णन है, किंतु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उप० २ । ९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन-वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥*

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है†; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है‡ ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है§ तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है× ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥+

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है÷ एवं वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैऽ तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही हैA ॥१५॥

---

* यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (३ । १६) में अक्षरशः आया है ।

† वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है । उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है । इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है । कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है। वह सब जगह आँखवाला है । उससे कुछ भी छिपा नहीं है । वह सब जगह सिर-वाला है । जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं । वह सब जगह मुखवाला है । उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है । अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है । वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है । जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है ।

‡ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है, उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है ।

§ अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है । इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है । श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १९)

'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है ।'

अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है ।

× अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है । वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है । यही उसकी अलौकिकता है ।

+ श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥' (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वह इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है ।

÷ वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है, इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे । इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है । अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है ।

ऽ जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता; इसलिये वह अविज्ञेय है ।

A सम्पूर्ण जगत्में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों । इसलिये वह अत्यन्त

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है * तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः[1] परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं[2] ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति† एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य‡ है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है§ ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया× । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके अनन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति

समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है । इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है ।

* इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है; किंतु यह भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है ।

१. यहाँ 'तमसः' पद अन्धकार और अज्ञान अर्थात् मायाका वाचक है और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञानस्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे मायासे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है ।

२. उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ किया गया है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्य-शरीरका परम कर्तव्य है; इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है । अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये ।

† चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है तथा उन सबमें जितनी प्रकाशनशक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है ।

‡ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है ।

§ वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है । जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है । ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है । यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है ।

× इस अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है, सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

+ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्‌के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसंगवश किया गया । इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभाव-का और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ । अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति* और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान† । और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्व श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया । अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है‡ और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है§ ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है× और इन गुणोंका संग ही इस

---

१. इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है । इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है । तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २ । ५ । २२ तथा ११ । २४ । ५) । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है ।

* यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है । गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है । सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है । भेद इतना ही है कि वहाँ सातवें अध्यायमें उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चमहाभूतादिके सहित प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है ।

† जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादि-सिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये ।

‡ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है । बुद्धि, अहंकार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है । ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; क्योंकि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है । सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

(सांख्यकारिका २२)

'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहंकारकी और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई ।'

गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है ।

§ प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है । प्रकृतिके संगसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका संग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है ।

× प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्मा-

जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है† । वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है‡ ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है,§ वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी× फिर नहीं जन्मता + ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है । इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

का सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है, अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है ।

* मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत्-योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं, वे असत् हैं । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसिद्ध सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका संग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी, वासनाके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा । इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके संगको कारण बतलाया गया है ।

† प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है ।

‡ इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है ।

§ जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है, सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके संगसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें नित्य स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है । तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है ।

× वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' का अर्थ निषिद्ध कर्म करता हुआ नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (गीता ५ । २६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है । इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (गीता ३ । २१) । पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है ।

+ प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है । जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (गीता १३ । २१) । अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं;* अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा† और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा‡ देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।§
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान× ॥ २६ ॥

---

* गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है । इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है ।

परंतु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है ।

† सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं–ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है ।

यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है । इसका विस्तार 'गीतातत्त्व-विवेचनी' में देखना चाहिये ।

‡ जिस साधनका गीताके दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है । अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है ।

§ बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है ।

तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो जबालाके पुत्र सत्यकामकी भाँति उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है ।

१. तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति'से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है ।

× इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है, वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है,

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वर-को नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है* ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता,† इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है‡ ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिसको गीताके सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' कहा गया है, वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका यानी 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है, वही उनका उत्पन्न होना है ।

* यहाँ 'परमेश्वर' शब्द प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतन तत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ' के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है । समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्व परमात्माको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभाव-से स्थित देखना' है ।

† एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है । जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है; क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है, वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं । अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परंतु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है । इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता । अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वज्ञ, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है, अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है ।

‡ गीताके तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं । इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं । अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृति-द्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है । अतः सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है ।

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है,* उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शङ्काका निवारण करनेके लिये अब भगवान्—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका संकेत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः[१]।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा† शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता ? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता§ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है× ॥ ३३ ॥

---

* जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है ।

१. इस अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें आत्मा और तीसवेंमें 'ब्रह्म' कहा गया है, उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है । अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है ।

† जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो, उसे 'अनादि' कहते हैं । प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, उसे 'निर्गुण' कहते हैं । अतएव यहाँ 'अनादि' और 'निर्गुण'—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है ।

‡ जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं बनता और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता ।

§ आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है । अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता ।

× इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गरूप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने संकेत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं,* वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।३४।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्‌भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३॥ भीष्मपर्वमें सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया । वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है । इससे गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, वे जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे

दोषोंसे ही युक्त होता है । वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता, निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है ।

* इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और गीताके पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, इस श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द उसी 'तत्त्वज्ञान' का वाचक है ।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है । इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है । जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है, वह अज्ञानमूलक है । वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है ।

इस श्लोकमें 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है । अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही 'भूतप्रकृतिमोक्ष' है तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न-भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है, यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है ।

अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है, अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है—इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है; वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सच्ची वस्तु समझनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था । अतः वास्तविक सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है; यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है ।

हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं* ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके† अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते‡ ॥ २ ॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है§ और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ×। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है+ ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं,÷ प्रकृति तो उन

---

१. श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं, उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

* यहाँ 'मुनिजन' शब्दसे ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंको समझना चाहिये; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं, जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

२. पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

† इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

‡ इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेदभावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता।

§ समस्त जगत्की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं; उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' शब्द है। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

× महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायका जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

+ उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है।

÷ यहाँ 'मूर्ति' शब्द देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है। उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है।

सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—जीवोंकि नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी, किंतु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी। इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका संग क्या है ? किस गुणके संगसे अच्छी योनिमें और किस गुणके संगसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण† अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं‡ ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है,§ वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है× ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान+ । वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है÷ ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवालेA तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जानB । वह इस

---

* इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है। उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ।

† अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं और तीनों परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है।

‡ जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है और वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता। अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है। इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है।

§ सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है।

× 'सुख' शब्द यहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान हो जाता है तथा 'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है; वह उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको सुख और ज्ञानके संगसे बाँधना है।

+ कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

÷ 'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

A अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है।

B इस अध्यायके सतरहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है और यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न

जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है† और रजोगुण कर्ममें ‡ तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है§ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण,× सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण,+—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण÷ होता है अर्थात् बढ़ता हैA ॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण

बतलाया गया—इसका अभिप्राय यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है।

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

† 'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (गीता १८। ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

‡ 'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

§ जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है—यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद' में लगाना है।

× रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोगवासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है, यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

+ जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है—यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

÷ जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं—यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

A गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बतलाये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च। ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(११। १३। १०)

'शास्त्र, जल, संतान, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है।'

जाननेकी इच्छा होनेपर क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जिस समय इस देहमें* तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है † ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं‡ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं§ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है× तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

---

* अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

† शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही 'प्रकाश'का उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है। उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

‡ जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है, धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धनोपार्जनके समय कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है, उस धनकी लालसाका नाम 'लोभ' है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है। रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

§ मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाना ही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगना, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होना, यह 'अप्रवृत्ति'का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना—यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

१. 'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है, उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता।

× इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर* कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ† मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है; इसपर कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है।‡ राजस कर्मका फल दुःख§ एवं तामस कर्मका फल अज्ञान× कहा है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया। अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान+ उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्संदेह

भी सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्वसंस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है, उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

* सात्त्विक और तामस पुरुषके भी हृदयमें जिस समय बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजस भाव बढ़े हुए होते हैं, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

† जिस समय सात्त्विक और राजस पुरुषके भी हृदयमें तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामस भाव बढ़े हुए हों, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

१. सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें संचित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

‡ जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

§ जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (गीता १८। २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परंतु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजस भाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही।

× जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (गीता १८। २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

+ यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

लोभ* तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥†

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं‡ ॥

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका संग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्य-द्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गति आदिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा बतलाया जाता है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जिस समय द्रष्टा§ तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसी-को कर्ता नहीं देखता× और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणों-को उल्लङ्घन करके÷ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार-के दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता हैA ॥ २० ॥

---

* यहाँ 'लोभ' शब्दसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजस भावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

† महाभारत, अश्वमेधपर्वके उन्चालीसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है।

‡ चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तो दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गति होनेकी बात कही गयी है और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है। इसलिये ही यहाँ सदा तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्यको नरकादिकी प्राप्ति होनेकी बात भी कही गयी है।

§ मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्ता और भोक्ता बना रहता है, परंतु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

× इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन-मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (गीता ५। ८, ९); अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३। २८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता न देखना है।

+ अपनेको निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझ लेनेपर जो उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताका न रहना और सर्वत्र एवं सदा-सर्वदा केवल परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाना ही उसे तत्त्वसे जानना है। ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भाव यानी भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त होना है।

÷ रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुन-र्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना यानी तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करना है।

A जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकार-के दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके संघातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है तथा जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको† तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको‡ भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ[१] गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता§ और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है× एवं उस स्थितिसे कभी विचलित

ब्रह्मको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है ।

* गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता । इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशके विषयमें कहा है कि उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप सत्त्वगुणकी प्रकाश-वृत्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है तो गुणातीत पुरुष उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है ।

† नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है । इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते । कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति' के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है ।

‡ अन्तःकरणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है । इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन ? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह'के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं, तब तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता । दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है ।

१. गुणातीत पुरुषका तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थों और घटनाओंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उदासीनके सदृश स्थित कहा जाता है ।

§ जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात्कारसे नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फलभोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परंतु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका परिवर्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा निर्विकार एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है।

× इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय—ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका

नहीं होता * ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला,† मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला‡ और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है§ ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें सम है,× मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है+ एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमान-से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है÷ ॥ २५ ॥

इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असङ्ग, सदा एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं यह समझकर परमात्मामें स्थित रहना' है।

* गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता।

† साधारण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किंतु 'प्रकृतिस्थ' हैं और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (गीता १३। २१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है। इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तः-करणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है। यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है।

‡ जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं सुखप्रद हो, वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला हो, वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है। साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किंतु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता, वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है।

§ किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है। गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता।

१. गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं, उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा है।

× मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं; परंतु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

+ यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है, तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं; किंतु वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

÷ अभिप्राय यह है कि इस अध्यायके बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था। एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है, उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना जाता है; किंतु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है,* वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है† ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो¹ हि प्रतिष्ठाहममृतस्या²व्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य³ सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

है, उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी रहे, तबतक साधकको समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

* केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाय, उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्को निरन्तर भजना है।

† गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

१. ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनसे भगवान्ने यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अर्थात् मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं हैं, एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।' क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय, निर्गुण स्वरूप है, वह तो एक ही है, परंतु सगुणरूपके साकार और निराकार—ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्का सगुण अव्यक्त निराकार रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्के साकार रूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्का साकार विराट् स्वरूप है।

२. 'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है, उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं ही हूँ, अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और गीताके तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

३. जो नित्यधर्म है, जिस धर्मको गीताके नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्य' कहा है और बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ*॥२७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥ भीष्मपर्वमें अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)

संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धन-कारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य प्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिका साधन होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

* गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख'के नामसे और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख'के नामसे कहा गया है, उसी नित्य परमानन्दको यहाँ 'ऐकान्तिक सुख' अर्थात् अखण्ड एकरस आनन्द कहा गया है। उसका आश्रय (प्रतिष्ठा) अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

१. 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात अगले चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूल-वाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

२. संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्यधामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

संसार-वृक्ष

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता १५ । १)

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं* तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं†, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है‡॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली§ देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ× नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है ।+ इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर÷—॥ ३ ॥

---

* यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है, तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं; क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं, किंतु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है । यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता ।

† पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं । वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है ।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्‌को ही बतलाया है ।

१. मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं । दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते ।

§ अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (गीता १३ । २१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है और उन शाखा-स्थानीय देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके रसोपभोगको ही यहाँ कोंपल बतलाया गया है ।

× ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसार-वृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं ।

+ इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी । स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता । इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते ।

÷ इस संसार वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं, वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है । विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त† ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही;‡ वही मेरा

आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है । इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसारवृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है ।

* इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है, उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं । उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसंधान करते रहना है, यही उस परम पदको खोजना है । अतः उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसंधान करनेके लिये अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरण लेकर—उसका अनन्य आश्रय लेकर उसीपर पूर्ण विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाना चाहिये ।

१. जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं ।

२. जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं ।

३. 'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है । अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं ।

४. जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं, जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं—ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं ।

† शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है । इन सबसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है ।

‡ समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (गीता १५ । १२) ।

परम धाम है* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता-ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदिपुरुष पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करना बताया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे कौन कैसे जानता है; अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है† और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको‡ आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है§ ॥ ८ ॥

* जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा भाव और स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (गीता ८ । २१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः।'

(बृहज्जाबाल उप० ८ । ६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है।'

१. 'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है। इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाया है।

† जैसे सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (गीता १३ । १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है। यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्ने अपना सनातन अंश बतलाया है।

‡ पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

२. जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

३. मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है।

§ यहाँ आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है, गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है और वायुके स्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर दूसरे स्थानमें ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें ले जाता है।

यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है* ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुए-को अथवा विषयोंको भोगते हुएको–इस प्रकार तीनों गुणों-से युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं† ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; ‡ किंतु जिन्होंने अपने अन्तः-करणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते§ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध–छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं–पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्मा-को क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परमधामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते । इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहार-का वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी । अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान× ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३ ॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ+ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय

बन सकता, तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है । गीताके दूसरे अध्यायके २२ वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है ।

* वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किंतु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानसे अनादि सम्बन्ध माना हुआ है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है (गीता १३ । २१) । श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।' (कठोपनिषद् १ । ३ ।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं ।'

† ज्ञानीजन शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है–ऐसा समझते हैं ।

‡ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे उच्चकोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं तथा जिस जीवात्मा-का प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है ।

§ जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है, ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं । ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते ।

× सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं–ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है । इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं ।

\+ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा

चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ* ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ† ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है‡ और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ§ तथा वेदान्तका कर्ता× और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थ वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्द-वाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करनेके बाद उसे जाननेवालों-की महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम' का प्रकरण आरम्भ करके पंद्रहवें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकों-में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते+ ॥ १६ ॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है, वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

* 'ओषधिः' शब्द पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

† यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि–ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

‡ पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं; यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

§ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ।

+ जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन गीताके सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७। ४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८। ४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३। १) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है, उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है,* जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है†॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ,‡ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ॥१८॥

यो मामेवमसम्मूढो[1] जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्[2] भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है,§ वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है× ॥ १९॥

'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है और 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है। यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है।

* 'उत्तम पुरुष' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक है, वह पूर्वोक्त क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे विलक्षण और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

† जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(१।१०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है। प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है।'

‡ अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सम्बन्धरहित और अतीत हूँ। अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किंतु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ; क्योंकि वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ।

१. जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो, जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो, उसे 'असम्मूढ' कहते हैं।

२. इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है। अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है।

§ इस कथनसे भगवान्‌ने यह बतलाया है कि मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्‌का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद् सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम निर्गुण-सगुण—गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष मान लेना ही मुझको 'पुरुषोत्तम' जानना है।

× भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्‌से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्‌को सब प्रकारसे भजना है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है* ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परंतु दूसरा प्रसंग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप[3] आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

---

१. इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है। मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये।

२. भगवान्ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुनने और धारण करनेके पात्र हो।

* इस अध्यायमें वर्णित भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

३. अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। गीताके सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज,* क्षमा, धैर्य,† बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं‡ ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्गरूपमें निरूपण हुआ है, यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है ।

१. किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिक मात्रामें, मध्य मात्रामें या थोड़ा-सा भी किसी प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना—हर हालतमें हिंसा है । इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना, वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न कष्ट पहुँचाना और न किसी प्रकारकी हानि ही पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं ।

२. केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है, एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है ।

३. दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है ।

४. किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं । दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है । यही अहिंसा और दयाका भेद है ।

५. अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं ।

६. हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है । इसीको प्रमाद भी कहते हैं । इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं ।

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धैर्य' है ।

‡ इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है । अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्से युक्त है ।

७. मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योगसाधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना 'दम्भ' है ।

हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड* और अभिमान† तथा क्रोध,‡ कठोरता§ और अज्ञान× भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं+ ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये÷ और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है । इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है,ऽ एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला । उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानतेA । इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

---

* विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें गर्व होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'घमण्ड' है ।

† अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है ।

‡ बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है ।

§ कोमलताके अत्यन्त अभावका नाम कठोरता है । किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है, विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं ।

× सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ 'अज्ञान' है ।

+ इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है । अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये ।

÷ इसी अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं ।

१. 'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं । यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है ।

ऽ मनुष्योंके दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है । 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये ।

A जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है । मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये । भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको बिल्कुल नहीं समझते; इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके,* अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है ? ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं† ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके‡ संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए§ मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं× ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ+ ॥

---

* यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्की कोई नित्य सत्ता है। अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है।

† नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं। उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं।

‡ जिनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदि शास्त्रविरुद्ध और भ्रष्ट होते हैं, वे भ्रष्ट आचरणोंवाले कहे जाते हैं।

§ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य मनमें उठनेवाली कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं। उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं। इसीसे उनको सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है।

× विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकद्दमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसंचय करनेका प्रयत्न करना है।

+ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहंकारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।' अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—'अरे ! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है,

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं* ॥ १५-१६ ॥

आत्मसम्भाविताः[1] स्तब्धा[2] धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः[3] ॥ १८ ॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें‡ ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर§ जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है; इसपर कहते हैं—

सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हमीं हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

* अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

१. जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं, वे 'आत्म-सम्भावित' हैं।

२. जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

३. दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना एवं भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते रहना—इन सब दोषोंसे युक्त मनुष्यको 'अभ्यसूयक' कहते हैं।

† सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे परमेश्वर स्थित हैं। अतः किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

‡ सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

§ मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर, दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको न पानेकी बात कही है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं* । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है,† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही‡ ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है§ ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोगनामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वमें चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

* स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं । मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं । धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं । लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं । मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं । काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है । इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है ।

† काम, क्रोध और लोभ आदि आसुरी सम्पदाका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवी-सम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है ।

‡ वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है । आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान शास्त्रोंसे ही होता है । कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है । ऐसे कर्म करनेवाले कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता । अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता ।

§ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है । अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये । अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये ।

तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है ।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)

श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

सम्बन्ध—गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्‌ने निष्कामभावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है, उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, यह तो ठीक ही है; परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं तथा यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं,* उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी†?॥ १॥

---

* यद्यपि शास्त्रविधिके त्यागकी बात गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी थी और यहाँ भी कहते हैं; पर इन दोनोंके भावमें बड़ा अन्तर है। वहाँ अवहेलनापूर्वक किये जानेवाले शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको तो शास्त्रकी परवा ही नहीं है; अतः वे मनमाने ढंगसे जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, उसे करते हैं। इसीलिये वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है; परंतु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

† जो शास्त्रको न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुर स्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण पहले नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया गीताके सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवेंमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें और नवें अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें तथा इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन गीताके इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है, ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा[1]।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है * ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं,† राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको‡ तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको§ पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं, वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं, उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं, उनका फल—तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँच प्रकारके मनुष्योंके वर्णनमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करनेसे बहुत विस्तार हो जाता, इसलिये नहीं किया गया।

१. जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

* पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परंतु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है; क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

† अभिप्राय यह है कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बतलाया है; परंतु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है।

‡ यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि समझना चाहिये।

§ मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त* एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं,† उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है । वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।‡ उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले§ रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है, इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती । वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं । इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे युक्त कहा गया है ।

१. पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतग्राम' है ।

† शरीरको क्षीण और दुर्बल करना तथा स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भूतसमुदायको और परमात्माको कृश करना है; क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा ही स्थित हैं ।

‡ मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है । आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २) । अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी । अतएव इस प्रसङ्गमें आहारका विवेचन करके यह भाव दिखलाया गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है । इसी भावसे श्लोकमें 'प्रिय' शब्द देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है । अतः आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है । यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये ।

२. दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं ।

३. मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं ।

४. जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं ।

५. जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं ।

६. भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको 'आहार' कहते हैं ।

§ (१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन । जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है ।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि । बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है ।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति । इस आन्तर एवं बाह्यशक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है ।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है ।

(५) हृदयमें संतोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना तथा मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भावजनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है ।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेम-भावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ* राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं[1] गतरसं[2] पूति[3] पर्युषितं[4] च यत् ।
उच्छिष्टं[5]मपि चामेध्यं[6] भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो[7] विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति[8] मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं, उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है ।

* नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं ।

उपर्युक्त पदार्थोंको खानेके समय गले आदिमें तकलीफका होना, जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं, उन्हें 'दुःख' कहते हैं । खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं और खानेसे जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'रोग' कहते हैं । इन कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दुःख, चिन्ता और रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन्हें 'दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले' कहा है । अतएव इनका त्याग करना उचित है ।

१. 'यातयाम' अर्थात् अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये, जो पूरी तरहसे पके न हों, अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो ।

इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' यानी बासी अन्नको तामस बतलाया गया है । 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; यह सोचकर यहाँ 'यातयामम्' का अर्थ 'अधपका' किया गया है ।

२. अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है), उनको 'गतरस' कहते हैं ।

३. खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं ।

४. पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं । उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये, जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो ।

५. अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं ।

६. मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ, जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके सङ्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो, उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं । ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं । इनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी अपवित्र हैं ।

७. यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःख-निवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते, उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (गीता ६ । १) ।

८. देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है ।

९. अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये;

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

परंतु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान* ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंके लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता,† सरलता,‡ ब्रह्मचर्य§ और अहिंसा×—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है+ ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।÷
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

ऐसे शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ़ निश्चय करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है।

* जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है, वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों, उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है ?

१. जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं।

२. जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्रप्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं।

३. ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है, उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है; क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबका वाचक है तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

† यहाँ 'पवित्रता' केवल शारीरिक शौचका वाचक है; क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन अगले पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका उत्तम होना ही शरीरकी पवित्रता है (गीता १६। ३)।

‡ यहाँ शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका नाम 'सरलता' है।

§ यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

× शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

+ उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शरीर-सम्बन्धी तप' कहते हैं।

÷ जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों, उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ, उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं; तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वर-के नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भली-भाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए* उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं† ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—अब राजस तपके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

और प्रेम, दया तथा मङ्गलसे भरे हों, उनको 'हित' कहते हैं। जिस वाक्यमें उपर्युक्त सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्जित वाणीसम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो, उसी वाक्यके उच्चारणको 'वाचिक तप' माना जा सकता है।

१. विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर सात्त्विक प्रसन्नता, हर्ष और बोध-शक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

२. रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

३. मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

४. अन्तःकरणकी चञ्चलताका सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

५. अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि समस्त सद्भावोंका सदा विकसित रहना 'भावसंशुद्धि' है।

६. जो मनुष्य इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके भी सुखभोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी कभी किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी कामना नहीं करता, उसे 'अफलाकाङ्क्षी' कहते हैं और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होनेके कारण कभी किसी भी प्रकारके भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, उसे 'युक्त' कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारका तप जब ऐसे निष्काम पुरुषोंद्वारा किया जाता है, तभी वह पूर्ण सात्त्विक होता है।

* शास्त्रोंमें उपर्युक्त तपका जो कुछ भी महत्त्व, प्रभाव और स्वरूप बतलाया गया है, उसपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास होना 'परमश्रद्धा' है और ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके सदा अविचलित रहते हुए अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक उपर्युक्त तपका आचरण करते रहना ही उसे परम श्रद्धासे करना है।

† अभिप्राय यह है कि शरीर, वाणी और मन-सम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखलाया है कि यद्यपि ये तप स्वरूपसे तो सात्त्विक हैं; परंतु वे पूर्ण सात्त्विक तब होते हैं, जब इस श्लोकमें बतलाये हुए भावसे किये जाते हैं।

७. तपमें वस्तुतः आस्था न होनेपर भी लोगोंको धोखा देकर किसी प्रकारका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये तपस्वीका-सा स्वाँग रचकर जो किसी लौकिक या शास्त्रीय तपका बाहरसे दिखाने भरके लिये आचरण किया जाता है, उसे दम्भसे तप करना कहते हैं।

८. जिस फलकी प्राप्तिके लिये उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका प्राप्त होना या न होना निश्चित नहीं है; इसलिये उसे 'अध्रुव' कहा है और जो कुछ फल मिलता है, वह भी सदा नहीं रहता, उसका निश्चय ही नाश हो जाता है; इसलिये उसे 'चल' कहा है।

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी* स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य है—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है† ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन प्रकारके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दान देना ही कर्तव्य है‡—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल§ और पात्रके प्राप्त होनेपर× उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है+ ॥

---

* तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्में बड़ाई होती है कि यह मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, इसकी बराबरी कौन कर सकता है, यह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है, तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है। इन सबके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है, वही सत्कार, मान और पूजाके लिये तप करना है। इसके सिवा अन्य किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये किया जानेवाला तप भी राजस है।

१. तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं।

† जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें किया गया है, जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है, जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके बुरी भावनासे अर्थात् दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—उसे 'तामस तप' कहते हैं।

‡ वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

§ जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं, वे भी योग्य देश-काल हैं।

× जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं।

+ जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

किंतु जो दान क्लेशपूर्वक* तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे† अथवा फलको दृष्टिमें रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कारके§ अथवा तिरस्कारपूर्वक×अयोग्य देश-कालमें+ और कुपात्रके÷ प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है;A उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिB रचे गये ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैंC ॥ २४ ॥

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

* किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

† जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकालनेकी सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्ति या संस्थाओंको दान देना प्रत्युपकारके प्रयोजनसे दान देना है।

‡ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है।

§ यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है, वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

× पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या संकेतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है, वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

+ जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है, वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं।

÷ जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, वे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, दूसरोंकी जीविकाका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाले, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाले, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि सभी दानके लिये अपात्र हैं।

A जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पत्ति हुई है, उस भगवान्‌के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके अङ्ग-वैगुण्यकी पूर्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

B यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक है।

C जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं* ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें† और श्रेष्ठभावमें‡ प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी§ 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है× और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है+ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है; इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्[1]।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही÷॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

इसीलिये वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं।

* जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किंतु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं।

† 'सद्भाव' (सत्यभाव) नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है, उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है।

‡ अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है। वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है।

§ जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है।

× यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये वह 'सत्' है।

\+ जो कोई भी कर्म केवल भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये वह 'सत्' है।

१. 'यत्' पदसे यहाँ निषिद्ध कर्मोंका समाहार नहीं है; क्योंकि निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है। उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती। जिनको विश्वास नहीं है, उनको भी पाप कर्मोंका दुःखरूप फल अवश्य ही मिलता है। अतः यहाँ यज्ञ, दान और तपरूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आया हुआ 'यत् कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाका वाचक है।

÷ हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं। बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)

त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्यका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ। वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये। उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ* ॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके† त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं‡ ॥ २॥

---

* अर्जुनके प्रश्नका यह भाव है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्मयोग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

उत्तरमें भगवान्ने इस अध्यायके तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है। उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं और राजस, तामस इसके विरोधी हैं। पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सतरहवें श्लोकमें केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

† स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-संकटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम 'काम्यकर्म' है।

‡ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं, उनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं* और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्[१] ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है;‡ क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है§ ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें क्रमसे उपर्युक्त तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित

---

* आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं; इस भावको लेकर कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये ।

† बहुत-से विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं । इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ।

१. शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है ।

‡ शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है । इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये ।

§ भगवान्के कथनका भाव यह है कि ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं । अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है । इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं, उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है । अतः कर्मोंमें जो ममता और फलासक्तिका त्याग है, वही वास्तविक त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

नहीं है* । इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है † ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे,‡ तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता§॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है×॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्यकर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषको अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता+और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, ÷वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त

* वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं । ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (गीता ३ । २३-२४) । इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है ।

† कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर त्याग करना मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है । यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है ।

‡ कर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है ।

§ जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है, तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता । अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है । इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है । अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागके फलको, जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, नहीं पाता ।

× वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, वे समस्त कर्म ही नियत कर्म हैं, निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्म नहीं हैं । नियत कर्मोंको न करना भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना ही सात्त्विक त्याग है; क्योंकि कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग ही वास्तविक त्याग है । त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं ।

+ शास्त्रनिषिद्ध कर्म और काम्यकर्म सभी अकुशल कर्म हैं; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्यकर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं । सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता; किंतु शास्त्रदृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है ।

÷ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म निष्कामभावसे किये जानेपर मनुष्यके पूर्वकृत

पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है*॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है;† इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है‡।११।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है;§ किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता×॥ १२ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी । उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—

संचित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं । सात्त्विक त्यागी जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किंतु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये ही उनका अनुष्ठान करता है ।

* इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है । इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है ।

† कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (गीता ३ । ५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (गीता ३ । ८) । इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा, तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा । अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है ।

‡ जो निषिद्ध और काम्य-कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है ।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है ।

§ जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं, उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पाप-कर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है । इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है ।

उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं ।

× कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; इस अध्यायके दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा गीताके दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंको यहाँ 'संन्यासी' कहा गया है ।

इस प्रकार कर्म फलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं, वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसंचित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (गीता ४ । २३) । इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान*और कर्ता†तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण‡एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ§और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव×है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

मनुष्य+मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं÷ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके अकर्ता माननेवालेकी स्तुति करते हैं—

---

१. 'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनका अन्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है । 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्) । अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्व-ज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं । इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो ।

२. 'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है ।

* 'अधिष्ठान' शब्द यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है; किंतु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है ।

† यहाँ 'कर्ता' शब्द प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है । इसीको गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है ।

‡ मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा गौणरूपसे जैसे स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबको यहाँ बाह्य करण कहा जा सकता है ।

§ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका संचालन, श्वासोंका आना-जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें संकल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप क्रियाएँ हैं, वे ही नाना प्रकारकी अलग अलग चेष्टाएँ हैं ।

× पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंको 'दैव' कहते हैं, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है ।

३. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है ।

४. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है ।

+ मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है । अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है ।

÷ यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन सबके 'ये पाँचों कारण हैं'—इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता । इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता* ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है† तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती,‡ वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है§। १७।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा, कर्म-संग्रह और उनके सात्त्विक आदि भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा×

---

१. सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं।

* वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; किंतु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह दुर्मति प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके (गीता ३ । २७) स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (गीता १३ । २१)। इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है, वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी संगरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है, अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

† सांख्ययोगी पुरुषमें मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है' 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

‡ कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना, किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना ही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

§ उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष शुभकर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता।

जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (गीता ४ । १३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (गीता ४ । १४; ९ । ९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; किंतु उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते।

× किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका

है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है* ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन† ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान‡ ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

किंतु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान§ ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

परंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है× ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है; क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक साधनोंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक सुखकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है।

* देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं, उनको 'करण' और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंको 'कर्म' कहते हैं। इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है, क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है, तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको 'कर्म-संग्रह' नाम दिया गया है।

† जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका संकेत किया है।

‡ जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है, वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें गीताके छठे अध्यायके उन्तीसवें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले अनुभवके द्वारा एक अद्वितीय अविनाशी निर्विकार ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

§ कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना ही राजस ज्ञान है।

× जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है; क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

१. नियत कर्मकी व्याख्या इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

२. यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है; क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो*—वह सात्त्विक कहा जाता है† ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना[1] कर्म साहंकारेण[2] वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

परंतु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है‡ तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है§ ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत् तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है× ॥ २५ ॥

इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'संग' समझना चाहिये ।

* कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किंचिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे पुरुषद्वारा होनेवाले जो कर्म राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये होते हैं—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं ।

† इसी अध्यायके नवें श्लोकमें वर्णित सात्त्विक त्यागसे इस सात्त्विक कर्ममें यह विशेषता है कि इसमें कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है; किंतु नवें श्लोकमें कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही बतलाया गया है, कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही है, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है । दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; भेद केवल अनुष्ठानके प्रकारका है ।

१. जो पुरुष समस्त कर्म—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है ।

२. जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहंकारपूर्वक करता है तथा 'मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ'—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है ।

‡ सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका यह भेद है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहंकार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता । इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं; किंतु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहंकार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है । इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है । इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किंतु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है । इस कारण यहाँ बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है ।

§ जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहंकार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं ।

× किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है । इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है । इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना ही तामस कर्म है ।

मुक्तसङ्गो[1]ऽनहंवादी[2] धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है* ॥ २६ ॥

रागी[3] कर्मफलप्रेप्सुर्[4]लुब्धो[5] हिंसात्मको[6]ऽशुचिः[7] ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है, वह राजस कहा गया है ॥

अयुक्तः[8] प्राकृतः[9] स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

---

१. मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसंग' कहते हैं ।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (गीता १६ । १३, १४, १५) इत्यादि अहंकारके वचन कहनेवाला नहीं है, किंतु सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है—ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं ।

*शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धैर्य' है और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किंतु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है । इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसा समतायुक्त पुरुष ही सात्त्विक कर्ता है ।

३. जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं ।

४. जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है, ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है ।

५. धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है ।

६. जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है ।

७. जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किंतु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है ।

८. जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषको 'अयुक्त' कहते हैं ।

९. जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खको 'प्राकृत' कहते हैं ।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी,* धूर्त† और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला‡ तथा शोक करनेवाला आलसी§ और दीर्घसूत्री× है—वह तामस कहा जाता है+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भाव-को ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावों-का त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बतलाते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभाग-पूर्वक कहा जानेवाला सुन÷ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्गA और निवृत्तिमार्गकोB

* जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे मनुष्यको 'घमंडी' कहते हैं ।

† जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे मनुष्यको 'धूर्त' कहते हैं ।

‡ नाना प्रकारसे दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यको दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला कहते हैं ।

§ जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें जिसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—वह मनुष्य 'आलसी' है ।

× जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं ।

+ जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये ।

÷ 'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है, इस अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है । यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है । यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं ।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है । मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है । इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किंतु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं ।

A गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह 'प्रवृत्तिमार्ग' है । और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

B समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है और श्रीसनकादि, नारदजी,

कर्तव्य और अकर्तव्यको,* भय और अभयको † तथा बन्धन और मोक्षको‡ यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको§ तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको× भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है+ ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है÷ तथा इसी प्रकार अन्य

ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

* वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है, वही उसके लिये 'कर्तव्य' है; और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये 'अकर्तव्य' है। इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है।

† किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे 'भय' कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं। इन दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है।

‡ शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही 'बन्धन' है और सत्संगके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'मोक्ष' है।

§ अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है—तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम 'धर्म' है एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है—उन सबका नाम 'अधर्म' है। किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है।

× वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है। इस दृष्टिसे शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किंतु शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य। जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना आदि अकार्य है। इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है। इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता। इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी। यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है। किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है।

\+ जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती, वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है।

÷ ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण,

सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है;* वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है† ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है,‡ वह धारणशक्ति राजसी है ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,§ वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करनेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे

असंतोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्य-भोजन, यथेच्छाचार और पर-स्वत्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है ।

* अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितनी भी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत हैं ।

† किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्ति-का नाम 'धृति' है; परंतु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । ऐसी धारणशक्तिसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों-की क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना ही 'सात्त्विक धृति' है ।

‡ आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण करना है ।

१. जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यको 'दुर्मेधा' कहते हैं ।

§ निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं, उन सबका नाम 'निद्रा' है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबराहट-भरी वृत्ति होती है, उसका नाम 'भय' है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम 'शोक' है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें संताप हो जाता है, उसे 'दुःख' कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित—उन्मत्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है । इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है ।

सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है* और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—† जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है,‡ परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है;§ इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख× सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है+ ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख÷ तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

---

* मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (गीता ५ । २१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है।

† जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (गीता ५ । २१, २४; ६ । २८)—वही सात्त्विक सुख है ।

‡ जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही सात्त्विक सुखका आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होना है।

§ जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं।

× उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है।

+ जब मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तब वह उसे आसक्तिके कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता, परंतु यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है। प्रत्युत विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है। इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुखी होता है या मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है (गीता ५ । २२)।

÷ निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह निद्राजनित सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है। इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस कारण तो वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है, और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति-से उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (सांख्य) के स्वरूप-का निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया।

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्‌ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (गीता १८। ७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (गीता १८। ९), किंतु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्म-योगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके† कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं‡ ॥

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख भी निद्राजनित सुखकी भाँति भोगकालमें और परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खता-वश जो सुखकी प्रतीति होती है, उस प्रमादजनित सुख-भोगके समय मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है; अतः कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है तथा उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

* 'सत्त्व' शब्द यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है। ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं; इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणी एवं पदार्थ सभी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं।

† ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंको सम्मिलित करके कहा गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये उनको इन तीनोंसे अलग कहा गया है।

‡ प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप प्राणियोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज और तम—इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्ण-विभाग बनता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई श्रृङ्खला या नियम ही न रहेगा; सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है।

शमो[1] दमस्तपः[2] शौचं[3] क्षान्तिरार्जवमेव[4] च[5] ।
ज्ञानं[6] विज्ञानमास्तिक्यं[7] ब्रह्मकर्म[8] स्वभावजम्[9] ॥४२॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता†, तेज‡, धैर्य§, चतुरता× और युद्धमें न भागना+, दान देना और स्वामिभाव÷—ये सब-के-सब ही

१. अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देना 'शम' है ।

२. समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें लगाना 'दम' है ।

३. स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्याग करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं ।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकारकी अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है । इसका विस्तार गीताके तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टिप्पणीमें है ।

५. दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है । गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें इसका विस्तार है ।

६. मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब 'आर्जव'के अन्तर्गत है ।

७. वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है ।

८. वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है ।

९. वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक—इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना—ये सब 'आस्तिकता'के लक्षण हैं ।

* ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती । इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है । इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य हैं ।

† बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है । भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

‡ जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम 'तेज' है । इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं ।

§ बड़े-से-बड़ा संकट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादिके मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है ।

× परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है ।

+ युद्ध करते समय भारी-से-भारी संकट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है । इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किंतु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२) ।

÷ शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती†, गोपालन‡ और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार§ ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना× शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है+ ।

अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—'स्वामिभाव' है ।

* उपर्युक्त कर्मोंमें क्षत्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती । इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्ण-वालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किंतु वे उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं । इसी कारण वे उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं ।

† जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है ।

‡ नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है । पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्यम्' पदका प्रयोग किया है । अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है ।

§ मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना 'वाणिज्य' यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है । वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्याय-का प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं । इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है । तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी (महाभारत शान्तिपर्व) ।

× उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको संतुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मक' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं ।

+ समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है । चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं । घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती । न इनमें ऊँच-नीचकी कल्पना है । अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं । ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रम-बलसे बड़ा है और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है ।

अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके* मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके, ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं । इसपर दूसरेके धर्मको अपेक्षा स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे‡

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं । यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए, समाजकी शक्ति बढ़ाते हुए परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं ।

* भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५ । २९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा समस्त जगत्‌की सेवा करना—समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना ही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है ।

† प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परम सिद्धि-रूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है । अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है । इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये ।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है । झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है । इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है,वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं ।

‡ जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—ऐसे भलीभाँति आचरित कर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् जैसे वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, ऐसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है । भाव यह है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणरहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने ही पतिका सेवन करना कल्याणप्रद है,उसी

गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है,* क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता† ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको‡ नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं§ ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया । फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया; किंतु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये । अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष× सांख्ययोगके द्वारा उस परम

प्रकार देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है ।

* क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है । इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं । इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है । उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

† दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते ।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं । अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींको यहाँ 'सहज' कर्म कहा है ।

‡ जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये ।

§ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहती है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है । इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (गीता ३ । ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा । इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

× अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन-बुद्धिकी कहीं किंचिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला' है । जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किंचिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'स्पृहारहित' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जीते हुए अन्तःकरणवाला' कहते हैं । जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है ।

नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है* ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धिको† जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है,‡ उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त§ तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला,× सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके+ मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला,÷ राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके A भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला B ममता-

* संन्यास––ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगका स्वरूप भगवान्ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है । इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है, वही 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' है, जिसको संन्यासके द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

† जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको परा भक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, जो पूर्वश्लोकमें 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के नामसे कही गयी है, वही यहाँ 'सिद्धि' के नामसे तथा वही 'परा निष्ठा' के नामसे कही गयी है ।

‡ नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है ।

१. जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (गीता १७ । ८) अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है–ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (गीता ६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं ।

§ पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरणवाला ही 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त' कहलाता है ।

× जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो–ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही 'एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना' है ।

+ इन्द्रियों और अन्तःकरणका समस्त विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही उनका संयम करना है ।

÷ मन, वाणी और शरीरमें इच्छाचारिताका तथा बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना ही उनको वशमें कर लेना है ।

A इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किंचिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना 'राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना' है ।

B शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है, उसका नाम 'अहंकार' है । अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है । धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है, उसका नाम 'दर्प' यानी घमंड है । इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है । अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम 'क्रोध' है । भोग्यबुद्धिसे सांसारिक भोग-सामग्रियोंके संग्रहका नाम 'परिग्रह' है, अतएव इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (गीता ६ । २५) तथा उठते-बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना 'ध्यानयोगके परायण रहना' है ।

रहित* और शान्तियुक्त पुरुष† सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१—५३ ॥

ब्रह्मभूतः[1] प्रसन्नात्मा[2] न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है ।‡ ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको§ प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है× तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है+ ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किंतु इस वर्णनमें भगवान्‌ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है; अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि[1] सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरे परायण हुआ÷ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा

---

* मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना ही 'ममतासे रहित होना' है ।

† जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है, वह उपरत पुरुष 'शान्तियुक्त' कहा जाता है ।

१. जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है, जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक उप० १ । ४ । १०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसकी परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य अटल स्थिति हो जाती है, ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है । गीताके पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है ।

२. जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो; उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं ।

‡ ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न सत्ता, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती । अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता और वह पूर्णकाम हो जाता है, इसलिये वह कुछ भी नहीं चाहता ।

§ जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसीको 'परा भक्ति' कहा है ।

× इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है तथा सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता ।

+ परमात्माके तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं । परमात्मा सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है ।

१. अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है ।

÷ समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्यागकर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है, जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, वह भक्तिप्रधान कर्मयोगी ही भगवत्परायण है ।

करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको* प्राप्त हो जाता है†॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके‡ तथा समबुद्धिरूप योगको§ अवलम्बन करके मेरे परायण× और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो+॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा÷ और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगाA॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा',B तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगाC॥ ५९ ॥

---

* जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर परम प्राप्य है, इसलिये उसे 'परम पद' के नामसे कहा गया है। इसीको पैंतालीसवें श्लोकमें 'संसिद्धि', छियालीसवेंमें 'सिद्धि' और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वर कहा गया है।

† सांख्ययोगी समस्त परिग्रह और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

‡ अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण कर देना है।

§ सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है, उसको 'बुद्धियोग' कहते हैं।

× भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्‌के परायण होना है।

\+ मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्‌में लगा देना; भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना है।

÷ निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् संकटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

A यद्यपि भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (गीता ४ । ३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (गीता ९ । ३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इसमें विरोध मालूम होता है; किंतु भगवान्‌ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्‌की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किंतु इतनेपर भी यदि अहंकारके वशमें होकर भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्‌के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत ही है।

B पहले भगवान्‌के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (गीता २ । ३) जो अर्जुनने भगवान्‌से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (गीता २ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहंकारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है।

C जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायको

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण* करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा† ॥ ६० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है; इसलिये भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर‡ अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है§ ॥ ६१ ॥

प्रकृति यानी स्वभाव कहते हैं । इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है । अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा । योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा । यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये ।

१. अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा ।

* न्यायसे प्राप्त सहजकर्मको न करनेका अविवेकके अतिरिक्त दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है ।

† यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध तो तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर करना ही पड़ेगा । इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे ।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता, वरं अपना नाश कर लेता है और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता, वरं उसमें अधिक फँसता जाता है और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

‡ यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है तथा ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है ।

§ समस्त प्राणियोंको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्‌का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है ।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? यदि परतन्त्र है तो किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके ? क्योंकि प्राणीको उनसठवें और साठवें श्लोकोंमें प्रकृति-के और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, तो कहना होगा कि कर्म करने और

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये; इसपर भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा*। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा† ॥ ६२ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया‡। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया

न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) । मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि वहाँ कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है तथा मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं । क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है । दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है ।

इसपर कोई यह कहे कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है; तो कहना होगा कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किंतु उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है, उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है । इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है । अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है ।

* भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्का समझकर और भगवान्को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; भगवान्के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं ।

† उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है । इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है ।

‡ भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है । संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके

भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर* ॥६३॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन† । तू मेरा अतिशय प्रिय है,‡ इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो,§ मेरा भक्त बन,× मेरा पूजन करनेवाला हो+ और मुझको प्रणाम

लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, इस ज्ञानको अत्यन्त गोपनीय बतलाया गया है ।

* गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (गीता २ । १८,३७; ३ । ३०; ८ । ७; ११ । ३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा, तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें भगवान्ने यह कहा कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो ।

† भगवान्ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है । उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं (गीता ९ । १-२) । वे पहले भी कहे जा चुके हैं (गीता ९ । ३४; १२ । ६-७; १८ । ५६-५७) । अतः यहाँ भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है कि पहले कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें फिर कहूँगा ।

‡ तिरसठवें श्लोकमें कही हुई बातको सुनकर भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रक्खा; इस बातको सुनकर जब अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि क्या मेरा भगवान्पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ, तब अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो ।

§ भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्में मनवाला' होना है ।

× भगवान्को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

\+ गीताके नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्के विग्रह-का पूजन करना; मनसे भगवान्का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब 'भगवान्की पूजा' करनेके अन्तर्गत हैं।

कर*। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा,† यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ;‡ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर§ तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा×। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा,+ तू शोक मत कर÷ ॥ ६६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार

* जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्‌के किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है ।

† जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परंतु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं ही गीताके आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है। गीताके सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है।

‡ अर्जुन भगवान्‌के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ करानेके लिये भगवान्‌ने कहा है कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ।

§ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं, गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है, उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंको जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें, वैसे कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं ।

× गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है ।

+ शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये गीताके तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है ।

÷ गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे मेरे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है ।

करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति-रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये* ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त† गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें‡ कहेगा,§ वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है× ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं+ ॥ ६९ ॥

---

* इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवी सम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

तथा जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है, जो अपनेको ही सर्वे-सर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो; किंतु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

एवं संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, अतः वह अधिक पापका भागी होगा।

† यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मुझको समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर मुझमें प्रेम करता है; जिसके चित्तमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—वह मेरा भक्त है। उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (गीता ९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

§ स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना, इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेश-को उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका कथन करना है।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि गीताशास्त्रका उपर्युक्त प्रकारसे प्रचार करना—यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

+ यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं, उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे अधिक प्रिय है। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है । इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो पुरुष इस धर्ममय* हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा,† उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे‡ पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्यके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य§ श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा,× वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त-से श्रवण किया ?÷ और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?ऽ ॥ ७२ ॥

भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये ।

* यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, वह सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है ।

† गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रको पढ़नेके अन्तर्गत है ।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है ।

‡ इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है । अतः इस गीताशास्त्रका अध्ययन करना ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करना है; क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है ।

§ जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है । इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है ।

× भगवान्की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है और उसका श्रवण करते समय भगवान्पर या भगवान्के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषा-रोपण न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है ।

\+ जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्मसे छूटकर इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त हो जाता है ।

÷ भगवान्के इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसंदेह बड़ी भूल की है ।

ऽ भगवान्के इस प्रश्नका भाव यह है कि जिस मोहसे युक्त होकर तुम धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (गीता २ । ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (गीता १ । ३६ से ३९) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (गीता २ । ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (गीता १ । ४५-४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (गीता २ । ६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह

मोह-नाश
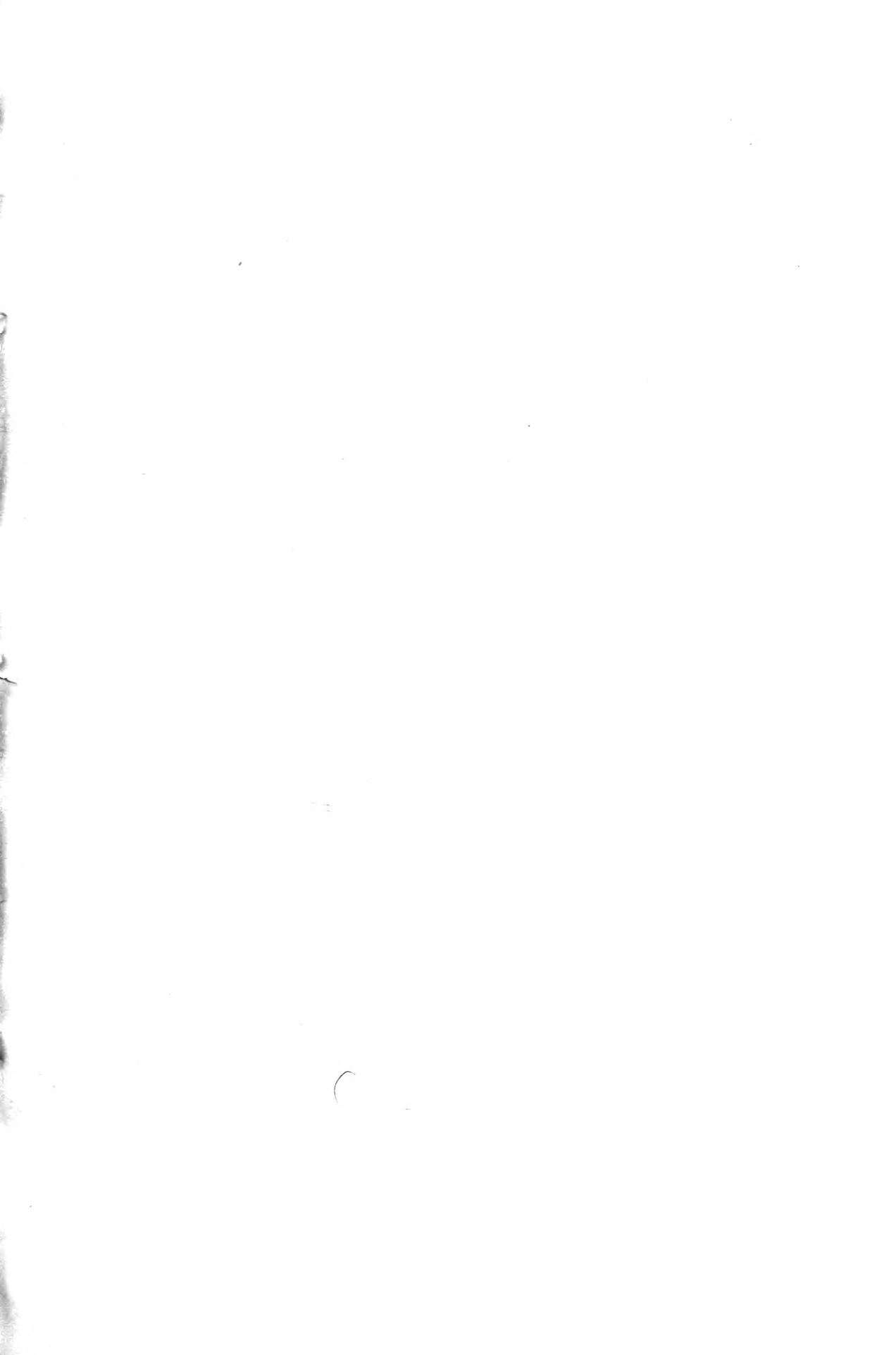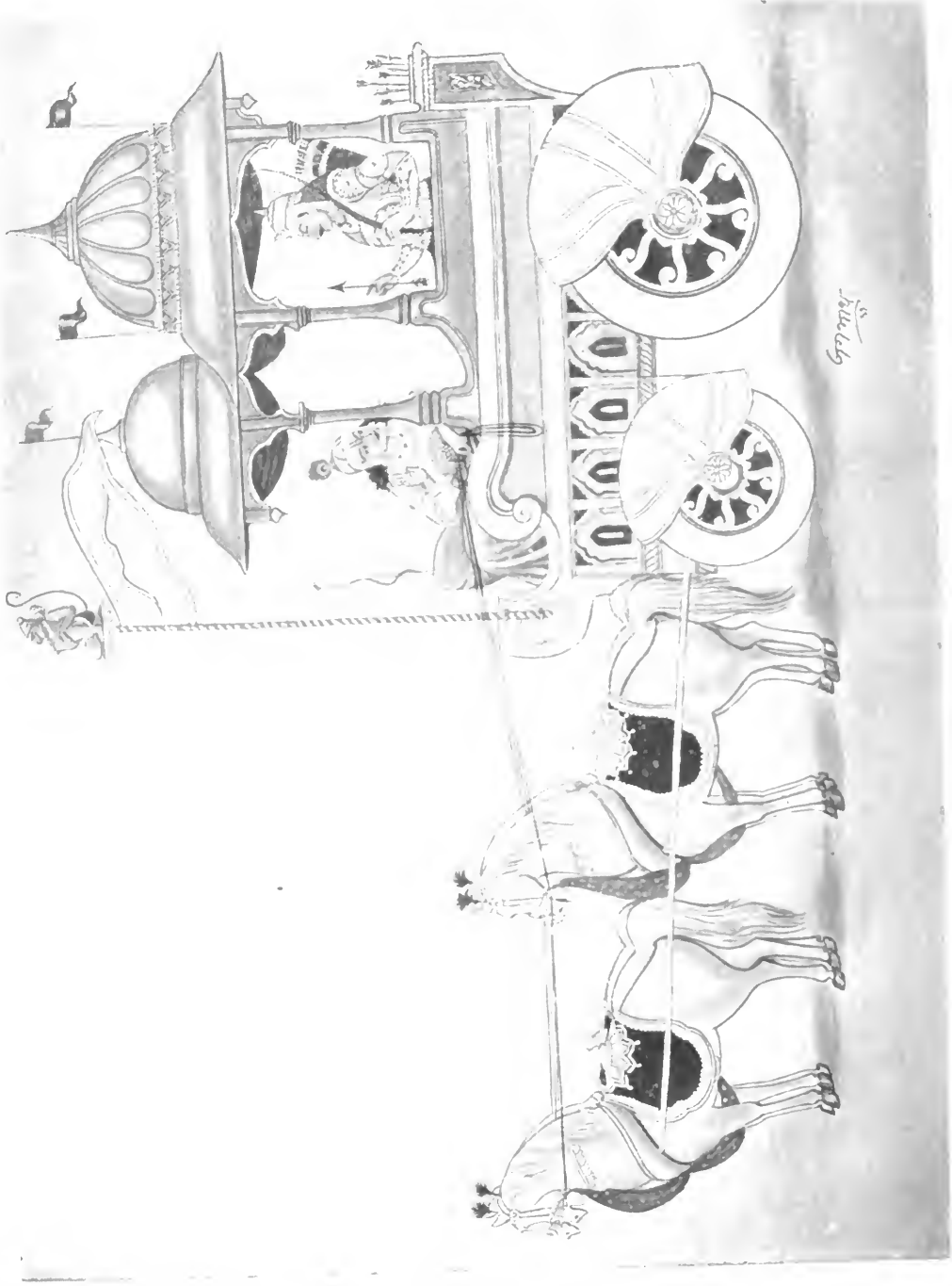
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता १८ । ७३)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद-को सुना† ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे‡ दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको§ अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्य-युक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ× ॥ ७६ ॥

अब नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय, तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

* अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (गीता २ । ९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (गीता १ । २८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है तथा मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है। अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किंचिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है । आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा ।

† संजयके कथनका यह भाव है कि साक्षात् नर-ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है तथा यह उपदेश बड़ा ही आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है ।

‡ संजयके कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होने-वाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है,उसीके कारण आज मुझे भगवान्-का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता !

§ भगवान्की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा वह स्वयं भी अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

× संजयके कथनका यह भाव है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है । इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः[1]।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ* ॥ ७७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब संजय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है† ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८॥ भीष्मपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४२ ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'आनन्दचिद्घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है । यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है । परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है । जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें अनुभव कर सकते हैं । अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण-मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधन-में लग जायँ । जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं ।

---

१. भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं; इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं ।

* जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्‌ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपको लक्ष्य करके संजय यह कह रहे हैं कि भगवान्‌का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्‌के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया ! मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था, जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते । अहो ! इसमें केवलमात्र भगवान्‌की अहैतुकी दया ही कारण है । साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है ।

† यहाँ संजयके कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योग-शक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है ।

इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्‌के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं । अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है । अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है । यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे संधि कर लो ।

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ विजय, विभूति, नीति और श्री

भीष्मपितामहपर भगवान श्रीकृष्णकी कृपा

(भीष्मवधपर्व)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना

वैशम्पायन उवाच

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है? गीताका ही अच्छी तरहसे गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है॥ १॥

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥ २॥

गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु (उनका धर्मशास्त्र) सर्ववेदमय हैं॥ २॥

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते॥ ३॥

गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—इन 'ग' कारयुक्त चार नामोंको हृदयमें धारण कर लेनेपर मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता॥ ३॥

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः॥ ४॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते।

इस गीतामें छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुनके कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रका कहा हुआ है। यह गीताका मान बताया जाता है॥ ४½॥

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥ ५॥

भारतरूपी अमृतराशिके सर्वस्व सारभूत गीताका मन्थन करके उसका सार निकालकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें (कानोंद्वारा मन-बुद्धिमें) डाल दिया है॥ ५॥*

संजय उवाच

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥ ६॥
पाण्डवाः सोमकाश्चैव ये चैषामनुयायिनः।
दध्मुश्च मुदिताः शङ्खान् वीराः सागरसम्भवान्॥ ७॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अर्जुनको गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों, सोमकों तथा उनके अनुगामी सैनिकोंने पुनः बड़े जोरसे सिंहनाद किया। साथ ही उन सभी वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक समुद्रसे प्रकट होनेवाले शङ्खोंको बजाया॥ ६-७॥

ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचा गोविषाणिकाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत्॥ ८॥

तदनन्तर भेरी, पेशी, क्रकच और नरसिंहे आदि बाजे सहसा बज उठे। इससे वहाँ महान् शब्द गूँजने लगा॥ ८॥

तथा देवाः सगन्धर्वाः पितरश्च जनाधिप।
सिद्धचारणसंघाश्च समीयुस्ते दिदृक्षया॥ ९॥
ऋषयश्च महाभागाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम्।
समीयुस्तत्र सहिता द्रष्टुं तद् वैशसं महत्॥ १०॥

नरेश्वर! उस समय देवता, गन्धर्व, पितर, सिद्ध, चारण तथा महाभाग महर्षिगण देवराज इन्द्रको आगे करके उस भीषण मार-काटको देखनेके लिये एक साथ वहाँ आये॥ ९-१०॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप॥ ११॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः॥ १२॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम्॥ १३॥

राजन्! तदनन्तर वीर राजा युधिष्ठिरने समुद्रके समान उन दोनों सेनाओंको युद्धके लिये उपस्थित और चञ्चल हुई देख कवच खोलकर अपने उत्तम आयुधोंको नीचे डाल दिया और रथसे शीघ्र उतरकर वे पैदल ही हाथ जोड़े पितामह भीष्मको लक्ष्य करके चल दिये। धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेनाकी ओर चले गये॥ ११—१३॥

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात्॥ १४॥
वासुदेवश्च भगवान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम्।
तथा मुख्याश्च राजानस्तच्चित्ता जग्मुरुत्सुकाः॥ १५॥

कुन्तीपुत्र धनंजय उन्हें शत्रु-सेनाकी ओर जाते देख

* उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियोंमें नहीं है और कितनी ही प्रतियोंमें हैं।

तुरंत रथसे उतर पड़े और भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे जाने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके पीछे गये तथा उन्हींमें चित्त लगाये रहनेवाले प्रधान-प्रधान राजा भी उत्सुक होकर उनके साथ गये ॥ १४-१५ ॥

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥१६॥

अर्जुनने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हमलोगोंको छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेनाकी ओर चल दिये हैं? ॥ १६ ॥

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ॥ १७ ॥

भीमसेनने भी पूछा—महाराज! पृथ्वीनाथ! कवच और आयुध नीचे डालकर भाइयोंको भी छोड़कर कवच आदिसे सुसज्जित हुई शत्रु-सेनामें कहाँ जायँगे? ॥ १७ ॥

नकुल उवाच

एवं गते त्वयि ज्येष्ठे मम भ्रातरि भारत।
भीर्मे दुनोति हृदयं ब्रूहि गन्ता भवान् क्व नु ॥ १८ ॥

नकुलने पूछा—भारत! आप मेरे बड़े भाई हैं। आपके इस प्रकार शत्रुसेनाकी ओर चल देनेपर भारी भय मेरे हृदयको पीड़ित कर रहा है। बताइये, आप कहाँ जायँगे? ॥ १८ ॥

सहदेव उवाच

अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये।
उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ॥ १९ ॥

सहदेवने पूछा—नरेश्वर! इस रणक्षेत्रमें जहाँ शत्रु-सेनाका समूह जुटा हुआ है और महान् भय उपस्थित है, आप हमें छोड़कर शत्रुओंकी ओर कहाँ जायँगे? ॥ १९ ॥

संजय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः।
नोवाच वाग्यतः किंचिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ॥२०॥

संजय कहते हैं—राजन्! भाइयोंके इस प्रकार कहनेपर भी कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले। चुपचाप चलते ही गये ॥ २० ॥

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ॥ २१ ॥

तब परम बुद्धिमान् महामना भगवान् वासुदेवने उन चारों भाइयोंसे हँसते हुए-से कहा—'इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है ॥ २१ ॥

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ॥२२॥

'ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य—इन समस्त गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः।
युध्यते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ॥ २३ ॥

'सुना जाता है कि प्राचीन कालमें जो गुरुजनोंकी अनुमति लिये बिना ही युद्ध करता था, वह निश्चय ही उन माननीय पुरुषोंकी दृष्टिमें गिर जाता था ॥ २३ ॥

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ॥ २४ ॥

'जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार माननीय पुरुषोंसे आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी उस युद्धमें अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति।
(नेत्रैरनिमिषैः सर्वैः प्रेक्षन्ते स्म युधिष्ठिरम् ॥)
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ॥ २५ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उस समय दुर्योधनकी सेनाकी ओर आते हुए युधिष्ठिरको सब लोग अपलक नेत्रोंसे देख रहे थे। कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं दूसरे लोग मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर चुप हो गये थे ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
मिथः संकथयाञ्चक्रुरेषो हि कुलपांसनः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरको दूरसे ही देखकर दुर्योधनके सैनिक आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगे—'यह युधिष्ठिर तो अपने कुलका जीता-जागता कलङ्क ही है ॥ २६ ॥

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम्।
युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ॥ २७ ॥

'देखो, स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि वह राजा युधिष्ठिर भयभीतकी भाँति भाइयोंसहित भीष्मजीके निकट शरण माँगनेके लिये आ रहा है ॥ २७ ॥

धनंजये कथं नाथे पाण्डवे च वृकोदरे।
नकुले सहदेवे च भीतिरभ्येति पाण्डवम् ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन धनंजय, वृकोदर भीम तथा नकुल-सहदेव-जैसे सहायकोंके रहते हुए युधिष्ठिरके मनमें भय कैसे हो गया! ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना

न नूनं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथिते भुवि ।
यथास्य हृदयं भीतमल्पसत्त्वस्य संयुगे ॥ २९ ॥

'निश्चय ही यह भूमण्डलमें विख्यात क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका मानसिक बल अत्यन्त अल्प है; इसीलिये युद्धके अवसरपर इसका हृदय इतना भयभीत है' ॥ २९ ॥

ततस्ते सैनिकाः सर्वे प्रशंसन्ति स्म कौरवान्।
हृष्टाः सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह ॥ ३० ॥

तदनन्तर वे सब सैनिक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्नचित्त हो हर्षमें भरकर अपने कपड़े हिलाने लगे ॥

व्यनिन्दंश्च तथा सर्वे योधास्तत्र विशाम्पते ।
युधिष्ठिरं ससोदर्यं सहितं केशवेन हि ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! आपके वे सब योद्धा भाइयों तथा श्रीकृष्ण-सहित युधिष्ठिरकी विशेषरूपसे निन्दा करते थे ॥ ३१ ॥

ततस्तत् कौरवं सैन्यं धिक्कृत्वा तु युधिष्ठिरम्।
निःशब्दमभवत् तूर्णं पुनरेव विशाम्पते ॥ ३२ ॥

राजन् ! इस प्रकार युधिष्ठिरको धिक्कार देकर सारी कौरव-सेना पुनः शीघ्र ही चुप हो गयी ॥ ३२ ॥

किं नु वक्ष्यति राजासौ किं भीष्मः प्रतिवक्ष्यति ।
किं भीमः समरश्लाघी किं नु कृष्णार्जुनाविति ॥ ३३ ॥

सब लोग मन-ही-मन सोचने लगे कि वह राजा क्या कहेगा और भीष्मजी क्या उत्तर देंगे ? युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्या कहेंगे ? ॥ ३३ ॥

विवक्षितं किमस्येति संशयः सुमहानभूत् ।
उभयोः सेनयो राजन् युधिष्ठिरकृते तदा ॥ ३४ ॥

राजन् ! दोनों ही सेनाओंमें युधिष्ठिरके विषयमें महान् संशय उत्पन्न हो गया था। सब सोचते थे कि राजा युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम्।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ३५ ॥

बाण और शक्तियोंसे भरी हुई शत्रुकी सेनामें घुसकर भाइयोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर तुरंत ही भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ जाकर उन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने दोनों हाथोंसे पितामहके चरणोंको दबाया और युद्धके लिये उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह ।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह ! मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ, मुझे आपके साथ युद्ध करना है। तात ! इसके लिये आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें ॥

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ॥ ३८ ॥

भीष्मजी बोले—पृथ्वीपते ! भरतकुलनन्दन ! महाराज ! यदि इस युद्धके समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होनेके लिये शाप दे देता ॥

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुत्र ! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्धभूमिमें प्राप्त करो ॥ ३९ ॥

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकाङ्क्षसि ।
एवंगते महाराज न तवास्ति पराजयः ॥ ४० ॥

पार्थ! वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो ? महाराज ! ऐसी स्थितिमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी ॥ ४० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ४१ ॥

महाराज ! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है । यह सच्ची बात है । मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ४१ ॥

अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! इसीलिये आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसकके समान वचन बोलता हूँ । कौरव ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने धनके द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है; इसलिये (तुम्हारे पक्षमें होकर) उनके साथ युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः ।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे अच्छी सलाह दें और दुर्योधनके लिये युद्ध करें । मैं सदाके लिये यही वर चाहता हूँ ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ ४४ ॥

भीष्म बोले—राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रुकी ओरसे ही करूँगा; अतः बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आप तो किसीसे पराजित होनेवाले हैं नहीं, फिर मैं आपको युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हैं तो मेरे हितकी सलाह दीजिये ॥ ४५ ॥

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे ।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ४६ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके । युद्धकालमें कोई पुरुष, साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात् त्वां पितामह नमोऽस्तु ते ।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपको नमस्कार है । इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ, आप युद्धमें शत्रुओंद्वारा अपने मारे जानेका उपाय बताइये ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम् ।
न तावन्मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु ॥ ४८ ॥

भीष्म बोले—बेटा ! जो समरभूमिमें मुझे जीत ले, ऐसे किसी वीरको मैं नहीं देखता हूँ । अभी मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है; अतः अपने इस प्रश्नका उत्तर लेनेके लिये फिर कभी आना ॥ ४८ ॥

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन ।
शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ॥ ४९ ॥
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ५१ ॥

संजय बोले—कुरुनन्दन ! तदनन्तर महाबाहु युधिष्ठिरने भीष्मकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और पुनः उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्यके रथकी ओर गये । सारी सेना देख रही थी और वे उसके बीचसे होकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचे । वहाँ राजाने उन्हें प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणिसे अपने हितकी बात पूछी—॥ ४९—५१ ॥

आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः ।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ॥ ५२ ॥

'भगवन् ! मैं सलाह पूछता हूँ, किस प्रकार आपके

साथ निरपराध एवं पापरहित होकर युद्ध करूँगा ? विप्रवर ! आपकी आज्ञासे मैं समस्त शत्रुओंको किस प्रकार जीतूँ ?' ॥

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ५३ ॥

द्रोणाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये शाप दे देता ॥ ५३ ॥

तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ॥ ५४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरा बड़ा आदर किया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, शत्रुओंसे लड़ो और विजय प्राप्त करो ॥ ५४ ॥

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकाङ्क्षितम्।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ५५ ॥

महाराज ! मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है ? वर्तमान परिस्थितिमें मैं तुम्हारी ओरसे युद्ध तो कर नहीं सकता; उसे छोड़कर तुम बताओ, क्या चाहते हो ? ॥ ५५ ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ५६ ॥

पुरुष अर्थका दास है। अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ५६ ॥

ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ॥ ५७ ॥

इसीलिये आज नपुंसककी तरह तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्धके सिवा और क्या चाहते हो ? मैं दुर्योधनके लिये युद्ध करूँगा; परंतु जीत तुम्हारी ही चाहूँगा ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम्।
युद्ध्यस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आप मेरी विजय चाहें और मेरे हितकी सलाह देते रहें; युद्ध दुर्योधनकी ओरसे ही करें। यही वर मैंने आपसे माँगा है ॥ ५८ ॥

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे ॥ ५९ ॥

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार ! जाओ, युद्ध करो। और भी पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकाङ्क्षितम्।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरे मनोवाञ्छित प्रश्नको सुनिये। आप किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं हैं; फिर आपको मैं युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? ॥ ६१ ॥

द्रोण उवाच

न तेऽस्ति विजयस्तावद् यावद् युद्ध्याम्यहं रणे।
ममाशु निधने राजन् यतस्व सह सोदरैः ॥ ६२ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं जबतक समरभूमिमें युद्ध करूँगा, तबतक तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। तुम अपने भाइयोंसहित ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जाय ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु आचार्य ! इसलिये अब आप अपने वधका उपाय मुझे बताइये। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रश्न कर रहा हूँ ॥ ६३ ॥

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम्।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—तात ! जब मैं रथपर बैठकर कुपित हो बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ॥ ६४ ॥

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम्।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६५ ॥

राजन् ! जब मैं हथियार डालकर अचेत-सा होकर आमरण अनशनके लिये बैठ जाऊँ, उस अवस्थाको छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी अवस्थामें कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्धमें मुझे मार सकता है; यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६५ ॥

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम्।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ६६ ॥

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुषसे युद्धभूमिमें कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६६ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ॥ ६७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर उनका सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास गये ॥ ६७ ॥

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥ ६८ ॥

उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने दुर्धर्ष वीर कृपाचार्यसे कहा—॥ ६८ ॥

अनुमानये त्वां योत्स्येऽहं गुरो विगतकल्मषः।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ॥ ६९ ॥

'निष्पाप गुरुदेव! मैं पापरहित रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओंको संग्राममें जीत सकता हूँ' ॥ ६९ ॥

कृप उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ७० ॥

कृपाचार्य बोले—महाराज! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ७१ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ७१ ॥

तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः।
अतस्त्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ७२ ॥

महाराज! मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मुझे उन्हींके लिये युद्ध करना है; अतः तुमसे नपुंसककी तरह पूछ रहा हूँ कि तुम युद्धसम्बन्धी सहयोगको छोड़कर मुझसे और क्या चाहते हो? ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि ते तस्मादाचार्य शृणु मे वचः।
इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर बोले—आचार्य! इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरी बात सुनिये। इतना कहकर राजा युधिष्ठिर व्यथित और अचेत-से होकर उनसे कुछ भी बोल न सके ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

तं गौतमः प्रत्युवाच विज्ञायास्य विवक्षितम्।
अवध्योऽहं महीपाल युद्ध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ७४ ॥

संजय कहते हैं—पृथ्वीपते! कृपाचार्य यह समझ गये कि युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं; अतः उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं अवध्य हूँ। जाओ, युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ७४ ॥

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७५ ॥

'नरेश्वर! तुम्हारे इस आगमनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः सदा उठकर मैं तुम्हारी विजयके लिये शुभकामना करूँगा। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ ७५ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ येन मद्रराट् ॥ ७६ ॥

महाराज! प्रजानाथ! कृपाचार्यकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले जहाँ मद्रराज शल्य थे, उस ओर चले गये ॥ ७६ ॥

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ७७ ॥

दुर्जय वीर शल्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उनसे अपने हितकी बात कही—॥

अनुमानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः।
जयेयं नु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ॥ ७८ ॥

'दुर्धर्ष वीर ! मैं पापरहित एवं निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध करूँगा; इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ । राजन् ! आपकी आज्ञा पाकर मैं समस्त शत्रुओं-को युद्धमें परास्त कर सकता हूँ' ॥ ७८ ॥

शल्य उवाच

यदि मां नाधिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय वै रणे ॥ ७९ ॥

शल्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेने-पर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं युद्धमें तुम्हारी पराजयके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७९ ॥

तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि यत् काङ्क्षसि तदस्तु ते।
अनुजानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ८० ॥

अब मैं बहुत संतुष्ट हूँ । तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। तुम जो चाहते हो, वह पूर्ण हो । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ८० ॥

ब्रूहि चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते ।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ८१ ॥

वीर ! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा ? मैं तुम्हें क्या दूँ ? महाराज ! इस परिस्थितिमें युद्ध-विषयक सहयोगको छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो ? ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८२ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है । महाराज ! यह सच्ची बात है । कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ८२ ॥

करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम् ।
ब्रवीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि॥८३॥

इसलिये मैं तुमसे नपुंसककी भाँति कह रहा हूँ । बताओ, तुम युद्धविषयक सहयोगके सिवा और क्या चाहते हो ? मेरे भानजे ! मैं तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करूँगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाराज नित्यं मद्धितमुत्तमम् ।
कामं युद्ध्य परस्यार्थे वरमेतं वृणोम्यहम् ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप प्रतिदिन उत्तम हितकी सलाह मुझे देते रहें । अपने इच्छानुसार युद्ध दूसरेके लिये करें ॥ ८४ ॥

शल्य उवाच

किमत्र ब्रूहि साह्यं ते करोमि नृपसत्तम ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८५ ॥

शल्य बोले—नृपश्रेष्ठ ! बताओ, इस विषयमें मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ; अतः अपने इच्छानुसार युद्ध तो मैं तुम्हारे विपक्षी-की ओरसे ही करूँगा ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ॥ ८६ ॥
(त्वां हि योक्ष्यति सूतत्वे सूतपुत्रस्य मातुल ।
दुर्योधनो रणे शूरमिति मे नैष्ठिकी मतिः ॥)

युधिष्ठिर बोले—मामाजी ! जब युद्धके लिये उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिये आवश्यक है । सूतपुत्रका अर्जुनके साथ युद्ध हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिये । मामाजी ! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उस युद्धमें दुर्योधन आप-जैसे शूरवीरको सूतपुत्रके सारथिका कार्य करनेके लिये अवश्य नियुक्त करेगा ॥ ८६ ॥

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम् ।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ॥ ८७ ॥

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा । जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो । मैं तुम्हारे वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ॥

संजय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम् ।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ८८ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्यकी अनुमति लेकर भाइयोंसे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेनासे बाहर निकल गये ॥ ८८ ॥

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ॥ ८९ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उस युद्धमें राधानन्दन कर्णके पास गये । वहाँ जाकर उन गदाग्रजने पाण्डवोंके हितके लिये उससे इस प्रकार कहा—॥ ८९ ॥

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ॥ ९० ॥

'कर्ण! मैंने सुना है, तुम भीष्मसे द्वेष होनेके कारण युद्ध नहीं करोगे । राधानन्दन! ऐसी दशामें जबतक भीष्म मारे नहीं जाते हैं, तबतक हमलोगोंका पक्ष ग्रहण कर लो ॥

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ॥ ९१ ॥

'राधेय! जब भीष्म मारे जायँ, उसके बाद तुम यदि ठीक समझो तो युद्धमें पुनः दुर्योधनकी सहायताके लिये चले आना' ॥ ९१ ॥

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ॥ ९२ ॥

कर्ण बोला—केशव! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं दुर्योधनका हितैषी हूँ । उसके लिये अपने प्राणोंको निछावर किये बैठा हूँ; अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा ॥ ९२ ॥

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ॥ ९३ ॥

संजय कहते हैं—भारत! कर्णकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे जा मिले ॥

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने सेनाके बीचमें खड़े होकर पुकारा—'जो कोई वीर सहायताके लिये हमारे पक्षमें आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा' ॥ ९४ ॥

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ९५ ॥

उस समय आपके पुत्र युयुत्सुने पाण्डवोंकी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ९५ ॥

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थे महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ॥ ९६ ॥

'महाराज! निष्पाप नरेश! यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आपलोगोंके लिये युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे युद्ध करूँगा' ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूम सर्वशः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो! आओ, आओ । हम सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयोंसे युद्ध करेंगे । यह बात हम और भगवान् श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं ।९७।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्ध्यस्व मम कारणात् ।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते ॥ ९८ ॥

महाबाहो! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ । तुम मेरे लिये युद्ध करो । राजा धृतराष्ट्रकी वंशपरम्परा तथा पिण्डोदक-क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखायी देती है ॥ ९८ ॥

भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ।
न भविष्यति दुर्बुद्धिर्धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ॥ ९९ ॥

महातेजस्वी राजकुमार! हम तुम्हें अपनाते हैं । तुम भी हमें स्वीकार करो । अत्यन्त क्रोधी दुर्बुद्धि दुर्योधन अब इस संसारमें जीवित नहीं रहेगा ॥ ९९ ॥

संजय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।
(स सत्यमिति मन्वानो युधिष्ठिरवचस्तदा ।)
जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥ १०० ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर युयुत्सु युधिष्ठिरकी बातको सच मानकर आपके सभी पुत्रोंको त्यागकर डंका पीटता हुआ पाण्डवोंकी सेनामें चला गया ॥

(अवसद् धार्तराष्ट्रस्य कुत्सयन् कर्म दुष्कृतम् ।
सेनामध्ये हि तैः साकं युद्धाय कृतनिश्चयः ॥)

वह दुर्योधनके पापकर्मकी निन्दा करता हुआ युद्धका निश्चय करके पाण्डवोंके साथ उन्हींकी सेनामें रहने लगा ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।
जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ॥ १०१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित अत्यन्त प्रसन्न हो सोनेका बना हुआ चमकीला कवच धारण किया ॥ १०१ ॥

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।
ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ॥ १०२ ॥

फिर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथपर आरूढ़ हुए; इसके बाद उन्होंने पुनः शत्रुओंके मुकाबिलेमें पहलेकी भाँति ही अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ॥ १०२ ॥

अवादयन् दुन्दुभींश्च शतशश्चैव पुष्करान् ।
सिंहनादांश्च विविधान् विनेदुः पुरुषर्षभाः ॥ १०३ ॥

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने सैकड़ों दुन्दुभियाँ और नगारे बजाये तथा अनेक प्रकारसे सिंह-गर्जनाएँ कीं ॥ १०३ ॥

रथस्थान् पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रेक्ष्य पार्थिवाः।
धृष्टद्युम्नादयः सर्वे पुनर्जहृषिरे तदा ॥१०४॥

पुरुषसिंह पाण्डवोंको पुनः रथपर बैठे देख धृष्टद्युम्न आदि राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान्।
दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ॥१०५॥

माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले पाण्डवोंके उस गौरवको देखकर सब भूपाल उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ १०५ ॥

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम्।
दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ॥१०६॥

सब राजा महात्मा पाण्डवोंके सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्यके पालन तथा कुटुम्बियोंके प्रति परम दयाभावकी चर्चा करने लगे ॥ १०६ ॥

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः।
वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ॥१०७॥

यशस्वी पाण्डवोंके लिये सब ओरसे उनकी स्तुति-प्रशंसासे भरी हुई 'साधु-साधु' की बातें निकलती थीं। उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुननेको मिलती थी, जो मन और हृदयके हर्षको बढ़ानेवाली थी ॥ १०७ ॥

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥१०८॥

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्योंने पाण्डवोंका वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ॥ १०८ ॥

ततो जघ्नुर्महाभेरीः शतशश्च सहस्रशः।
शङ्खांश्च गोक्षीरनिभान् दध्मुर्हृष्टा मनस्विनः ॥१०९॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सभी मनस्वी पुरुषोंने सैकड़ों और हजारों बड़ी-बड़ी भेरियों तथा गोदुग्धके समान श्वेत शङ्खोंको बजाया ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म आदिका समादरविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च।
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार जब मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाओंका व्यूह लगा लिया, तब वहाँ उनमेंसे पहले किन्होंने प्रहार किया, कौरवोंने या पाण्डवोंने ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भाइयोंसहित आपका पुत्र दुर्योधन भीष्मको आगे करके सेनासहित आगे बढ़ा ॥ २ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी भीमसेनको आगे करके भीष्मसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर प्रसन्न मनसे आगे बढ़े॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिःस्वनाः ॥ ४ ॥

उभयोः सेनयोर्ह्यासंस्ततस्तेऽस्मान् समाद्रवन्।
वयं तान् प्रतिनर्दन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ॥ ५ ॥

फिर तो दोनों सेनाओंमें सिंहनाद, किलकारियोंके शब्द, क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजोंकी ध्वनि तथा घोड़ों और हाथियोंके गर्जनेके शब्द गूँजने लगे। पाण्डव सैनिक हमलोगोंपर टूट पड़े और हमलोगोंने भी विकट गर्जना करते हुए उनपर धावा बोल दिया। इस प्रकार अत्यन्त घोर युद्ध होने लगा ॥ ४-५ ॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
समागमे पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ ६ ॥

भीषण मारकाटसे युक्त उस महान् संग्राममें आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंकी विशाल सेनाएँ प्रचण्ड वायुसे विकम्पित हुए वनोंकी भाँति शङ्ख और मृदङ्गके शब्दोंसे काँपने लगीं॥

नरेन्द्रनागाश्वरथाकुलाना-
मभ्यागतानामशिवे मुहूर्ते।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ७ ॥

राजाओं, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे भरी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ उस अमङ्गलमय मुहूर्तमें जब एक दूसरेके सम्मुख और समीप आयीं, उस समय वायुसे उद्वेलित समुद्रोंकी भाँति उनका भयंकर कोलाहल सब ओर गूँजने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
भीमसेनो महाबाहुः प्राणदद् गोवृषो यथा ॥ ८ ॥

उस रोमाञ्चकारी भयंकर शब्दके प्रकट होते ही महाबाहु भीमसेन साँड़की भाँति गर्जने लगे ॥ ८ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वारणानां च बृंहितम् ।
सिंहनादं च सैन्यानां भीमसेनरवोऽभ्यभूत् ॥ ९ ॥

भीमसेनकी वह गर्जना शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोष, गजराजोंके चिग्घाड़नेकी आवाज तथा सैनिकोंके सिंहनादको भी दबाकर सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ९ ॥

हयानां ह्रेषमाणानामनीकेषु सहस्रशः ।
सर्वानभ्यभवच्छब्दान् भीमस्य नदतः स्वनः ॥ १० ॥

उन सेनाओंमें हजारों घोड़े जोर-जोरसे हिनहिना रहे थे; परंतु गर्जना करते हुए भीमसेनका शब्द उन सब शब्दोंको दबाकर ऊपर उठ गया था ॥ १० ॥

तं श्रुत्वा निनदं तस्य सैन्यास्तव वितत्रसुः ।
जीमूतस्येव नदतः शक्राशनिसमस्वनम् ॥ ११ ॥

वे मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जन-तर्जन कर रहे थे। उनका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयानक था। उस सिंहनादको सुनकर आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे थे ॥ ११ ॥

वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
शब्देन तस्य वीरस्य सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ १२ ॥

जैसे सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार वीर भीमसेनकी गर्जनासे भयभीत हो कौरवसेनाके समस्त वाहन मल मूत्र करने लगे ॥ १२ ॥

दर्शयन् घोरमात्मानं महाभ्रमिव नादयन् ।
बिभीषयंस्तव सुतान् भीमसेनः समभ्ययात् ॥ १३ ॥

महान् मेघके समान अपने भयंकर रूपको प्रकट करते, गर्जते तथा आपके पुत्रोंको डराते हुए भीमसेन कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १३ ॥

तमायान्तं महेष्वासं सोदर्याः पर्यवारयन् ।
छादयन्तः शरव्रातैर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १४ ॥

महान् धनुर्धर भीमसेनको आते देख दुर्योधनके भाइयों (तथा अन्य वीरों) ने जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंसे उन्हें आच्छादित करते हुए सब ओरसे घेर लिया ॥ १४ ॥

दुर्योधनश्च पुत्रस्ते दुर्मुखो दुःशलः शलः ।
दुःशासनश्चातिरथस्तथा दुर्मर्षणो नृप ॥ १५ ॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
महाचापानि धुन्वन्तो मेघा इव सविद्युतः ।
आददानाश्च नाराचान् निर्मुक्ताशीविषोपमान् ॥ १७ ॥
(अग्रतः पाण्डुसेनाया ह्यतिष्ठन् पृथिवीक्षितः ॥)

नरेश्वर ! आपके पुत्र दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, शल, अतिरथी दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज तथा पराक्रमी भूरिश्रवा—ये सभी वीर अपने बड़े-बड़े धनुषोंको कँपाते और छूटनेपर विषधर सर्पके समान प्रतीत होनेवाले बाणोंको हाथमें लेते हुए बिजलियों-सहित मेघोंके समान जान पड़ते थे। ये सभी भूपाल पाण्डव-सेनाके सम्मुख (भीमसेनको घेरकर) खड़े हो गये ।१५–१७।

अथ ते द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्रान् प्रतिययुरर्दयन्तः शितैः शरैः ।
वज्रैरिव महावेगैः शिखराणि धराभृताम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सभी योद्धा वज्रके समान महान् वेगशाली तीक्ष्ण बाणोंद्वारा पर्वतशिखरोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंको पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये १८-१९

तस्मिन् प्रथमसंग्रामे भीमज्यातलनिःस्वने ।
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥२०॥

उस प्रथम संग्राममें जब भयानक धनुषोंकी टंकार तथा ताल ठोंकनेकी आवाज हो रही थी, आपके तथा पाण्डवोंके दलमें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ २० ॥

लाघवं द्रोणशिष्याणामपश्यं भरतर्षभ ।
निमित्तवेधिनां चैव शरानुत्सृजतां भृशम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मैंने द्रोणाचार्यके उन शिष्योंकी फुर्ती देखी। वे बड़ी तीव्र गतिसे बाण छोड़ते और लक्ष्यको बींध डालते थे ॥ २१ ॥

नोपशाम्यति निर्घोषो धनुषां कूजतां तथा ।
विनिश्चेरुः शरा दीप्ता ज्योतींषीव नभस्तलात् ॥ २२ ॥

वहाँ टंकार करते हुए धनुषोंके शब्द कभी शान्त नहीं होते थे। आकाशसे नक्षत्रोंके समान उन धनुषोंसे चमकीले बाण प्रकट हो रहे थे ॥ २२ ॥

सर्वे त्वन्ये महीपालाः प्रेक्षका इव भारत ।
ददृशुर्दर्शनीयं तं भीमं ज्ञातिसमागमम् ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! दूसरे सब राजालोग उस कुटुम्बीजनोंके भयंकर दर्शनीय संग्रामको दर्शककी भाँति देखने लगे ।२३।

ततस्ते जातसंरम्भाः परस्परकृतागसः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् व्यायच्छन्त महारथाः ॥ २४ ॥

राजन्! बाल्यावस्थामें वे सभी एक दूसरेका अपराध कर चुके थे। सबका स्मरण हो आनेसे वे सभी महारथी रोषमें भर गये और एक दूसरेके प्रति स्पर्धा रखनेके कारण युद्धमें विजयी होनेके लिये विशेष परिश्रम करने लगे ॥ २४ ॥

कुरुपाण्डवसेने ते हस्त्यश्वरथसंकुले ।
शुशुभाते रणेऽतीव पटे चित्रार्पिते इव ॥ २५ ॥

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई कौरव-पाण्डवोंकी वे सेनाएँ पटपर अङ्कित हुई चित्रमयी सेनाओंकी भाँति उस रणभूमिमें विशेष शोभा पा रही थीं ॥ २५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः ।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे अन्य सब राजा भी हाथमें धनुष-बाण लिये सेनाओंसहित वहाँ आ पहुँचे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः ।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्रकी सेनापर टूट पड़े ॥ २७ ॥

उभयोः सेनयोस्तीव्रः सैन्यानां स समागमः ।
अन्तर्धीयत चादित्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २८ ॥

उन दोनों सेनाओंका वह संघर्ष अत्यन्त दुःसह था। सेनाकी धूलसे आच्छादित हो सूर्यदेव अदृश्य हो गये ॥ २८ ॥

प्रयुद्धानां प्रभग्नानां पुनरावर्तिनामपि ।
नात्र स्वेषां परेषां वा विशेषः समदृश्यत ॥ २९ ॥

कुछ लोग युद्ध करते, कुछ भागते और कुछ भागकर फिर लौट आते थे। इस बातमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ २९ ॥

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ।
अतिसर्वाण्यनीकानि पिता तेऽभिव्यरोचत ॥ ३० ॥

जिस समय वह अत्यन्त भयानक तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय आपके ताऊ भीष्मजी उन समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि युद्धारम्भे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धका आरम्भविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते ।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! उस भयंकर दिनके प्रथम भागमें महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओंके शरीरका उच्छेद करनेवाला था ॥ १ ॥

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम् ।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन् ॥ २ ॥

कौरव और संजयवंशी वीर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे। उनका वह सिंहनाद पृथ्वी और आकाशको प्रतिध्वनित कर रहा था ॥ २ ॥

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशङ्खरवैः सह ।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ॥ ३ ॥

तल और शङ्खोंकी ध्वनिके साथ सैनिकोंका किलकिल शब्द गूँज उठा। एक दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके सिंहनाद होने लगे ॥ ३ ॥

तलत्राभिहताश्चैव ज्याशब्दा भरतर्षभ ।
पत्तीनां पादशब्दश्च वाजिनां च महास्वनः ॥ ४ ॥
तोत्राङ्कुशनिपातश्च आयुधानां च निःस्वनः ।
घण्टाशब्दश्च नागानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ५ ॥
तस्मिन् समुदिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
बभूव रथनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! तलत्राणके आघातसे टकरायी हुई प्रत्यञ्चाओंके शब्द, पैदल सिपाहियोंके पैरोंकी धमक, उच्चस्वरसे होनेवाली घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चाबुक और अङ्कुशके आघातका शब्द, हथियारोंकी झनझनाहट तथा एक दूसरेपर धावा करनेवाले गजराजोंके घण्टानाद—ये सब शब्द मिलकर ऐसी भयंकर आवाज प्रकट करने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उसीमें रथोंके पहियोंकी घरघराहट होने लगी, जो मेघोंकी विकट गर्जनाके समान जान पड़ती थी ॥ ४—६ ॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ७ ॥

वे समस्त कौरव सैनिक अपने मनको कठोर बना

प्राणोंकी बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर धावा करने लगे ॥ ७ ॥

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनंजयम् ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धभूमिमें कालदण्डके समान भीषण धनुष लेकर अर्जुनकी ओर दौड़े ॥

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम् ।
अभ्यधावत तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ॥ ९ ॥

उधरसे महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकविख्यात गाण्डीव धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९ ॥

तावुभौ कुरुशार्दूलौ परस्परवधैषिणौ ।
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयद् बली ॥ १० ॥

वे दोनों कुरुकुलके सिंह थे और एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे । बलवान् भीष्म युद्धमें अर्जुनको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि ।
सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ११ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मको युद्धमें हिला न सके । दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकिने कृतवर्मापर धावा किया ॥ ११ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ॥ १२ ॥
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम् ।

उन दोनोंमें बड़ा भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ । सात्यकिने कृतवर्माको और कृतवर्माने सात्यकिको भयंकर बाणोंसे घायल करते हुए एक दूसरेको बड़ी पीड़ा पहुँचायी ॥

तौ शरार्चितसर्वाङ्गौ शुशुभाते महाबलौ ॥ १३ ॥
वसन्ते पुष्पशबलौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।

वे दोनों महाबली वीर सर्वाङ्गमें बाणोंसे छिदे होनेके कारण वसन्त ऋतुमें खिले हुए दो पुष्पयुक्त पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १३½ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ॥ १४ ॥
ततः कोसलराजासावभिमन्योर्विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद समरे सारथिं च न्यपातयत् ॥ १५ ॥

अभिमन्युने महान् धनुर्धर बृहद्बलके साथ युद्ध किया । प्रजानाथ ! कोसलनरेश बृहद्बलने उस युद्धमें अभिमन्युके ध्वजको काट दिया और सारथिको मार गिराया ॥१४-१५॥

सौभद्रस्तु ततः क्रुद्धः पातिते रथसारथौ ।
बृहद्बलं महाराज विव्याध नवभिः शरैः ॥ १६ ॥

महाराज ! अपने रथके सारथिके मारे जानेपर सुभद्राकुमार अभिमन्यु कुपित हो उठे और उन्होंने बृहद्बलको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १६ ॥

अथापराभ्यां भल्लाभ्यां शिताभ्यामरिमर्दनः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद पार्ष्णिमेकेन सारथिम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यं च शरैः क्रुद्धौ ततक्षाते परस्परम् ।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन अभिमन्युने अन्य दो तीखे बाणोंसे बृहद्बलके ध्वजको काट डाला फिर एक बाणसे उनके पृष्ठ-रक्षकको और दूसरेसे सारथिको मार डाला । फिर वे दोनों अत्यन्त कुपित हो तीखे सायकोंद्वारा एक दूसरेको बेधने लगे ॥

मानिनं समरे दृप्तं कृतवैरं महारथम् ॥ १८ ॥
भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत् ।

युद्धमें अभिमान प्रकट करनेवाले, घमंडी और पहलेके वैरी आपके महारथी पुत्र दुर्योधनसे भीमसेन युद्ध करने लगे॥

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ॥ १९ ॥
अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे ।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुलके प्रधान व्यक्ति थे । उन्होंने समराङ्गणमें एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९½ ॥

तौ वीक्ष्य तु महात्मानौ कृतिनौ चित्रयोधिनौ ॥ २० ॥
विस्मयः सर्वभूतानां समपद्यत भारत ।

भारत ! वे दोनों महामनस्वी अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले थे । उन्हें देखकर समस्त प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २०½ ॥

दुःशासनस्तु नकुलं प्रत्युद्याय महाबलम् ॥ २१ ॥
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।

दुःशासनने आगे बढ़कर मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा महाबली नकुलको घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

तस्य माद्रीसुतः केतुं सशरं च शरासनम् ॥ २२ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैः प्रहसन्निव भारत ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २३ ॥

भारत ! तब माद्रीकुमार नकुलने भी हँसते हुए-से तीखे बाण मारकर दुःशासनके धनुष-बाण और ध्वजको काट गिराया और पचीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया ॥२२-२३॥

पुत्रस्तु तव दुर्धर्षो नकुलस्य महाहवे ।
तुरङ्गांश्चिच्छिदे बाणैर्ध्वजं चैवाभ्यपातयत् ॥ २४ ॥

इसके बाद आपके दुर्धर्ष पुत्रने उस महायुद्धमें नकुलके घोड़ोंको अपने सायकोंद्वारा काट डाला और ध्वजको भी नीचे गिरा दिया ॥ २४ ॥

दुर्मुखः सहदेवं च प्रत्युद्याय महाबलम् ।
विव्याध शरवर्षेण यतमानं महाहवे ॥ २५ ॥

महाबली सहदेव उस महासमरमें अपनी विजयके लिये बड़ा प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धावा करके अपने बाणोंकी वर्षासे घायल कर दिया ॥ २५ ॥

सहदेवस्ततो वीरो दुर्मुखस्य महारणे।
शरेण भृशतीक्ष्णेन पातयामास सारथिम् ॥ २६ ॥

तब वीरवर सहदेवने उस महायुद्धमें अत्यन्त तीखे बाणसे दुर्मुखके सारथिको मार गिराया ॥ २६ ॥

तावन्योन्यं समासाद्य समरे युद्धदुर्मदौ।
त्रासयेतां शरैर्घोरैः कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २७ ॥

वे दोनों युद्धदुर्मद वीर समराङ्गणमें एक दूसरेसे टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधोंका बदला लेनेकी इच्छा रखते हुए भयंकर बाणोंद्वारा एक दूसरेको भयभीत करने लगे ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजानमभ्ययात्।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ॥ २८ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया। राजन्! मद्रराजने युधिष्ठिरके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्यत् कार्मुकमादाय वेगवद् बलवत्तरम् ॥ २९ ॥
ततो मद्रेश्वरं राजा शरैः संनतपर्वभिः।
छादयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा वेगयुक्त एवं प्रबलतर धनुष ले लिया और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा मद्रराज शल्यको ढक दिया। फिर क्रोधमें भरकर कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ २९-३० ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ॥ ३१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे पाञ्चालस्य तु कार्मुकम्।

भरतनन्दन! एक ओरसे धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया। तब द्रोणने अत्यन्त कुद्ध होकर युद्धमें दूसरोंके मारनेके साधनभूत धृष्टद्युम्नके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३१½ ॥

शरं चैव महाघोरं कालदण्डमिवापरम् ॥ ३२ ॥
प्रेषयामास समरे सोऽस्य काये न्यमज्जत।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उन्होंने द्वितीय कालदण्डके समान अत्यन्त भयंकर बाण चलाया। वह बाण धृष्टद्युम्नके शरीरमें धँस गया ॥ ३२½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सायकांश्च चतुर्दश ॥ ३३ ॥
द्रोणं द्रुपदपुत्रस्तु प्रतिविव्याध संयुगे।
तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ चक्रतुः सुभृशं रणम् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर चौदह सायक चलाये और उस युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर तो वे दोनों एक दूसरेपर अत्यन्त कुपित हो भीषण संग्राम करने लगे ॥ ३३-३४ ॥

सौमदत्तिं रणे शङ्खो रभसं रभसो युधि।
प्रत्युद्ययौ महाराज तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

महाराज! वेगशाली शङ्खने उस युद्धमें वेगवान् वीर भूरिश्रवापर धावा किया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥

तस्य वै दक्षिणं वीरो निर्बिभेद रणे भुजम्।
सौमदत्तिस्तथा शङ्खं जत्रुदेशे समाहनत् ॥ ३६ ॥

वीर शङ्खने रणभूमिमें भूरिश्रवाकी दाहिनी भुजा विदीर्ण कर डाली; फिर भूरिश्रवाने भी शङ्खके गलेकी हँसलीपर बाण मारा ॥ ३६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते।
दृप्तयोः समरे पूर्वं वृत्रवासवयोरिव ॥ ३७ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति उन दोनों अभिमानी वीरोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ ३७ ॥

बाह्लीकं तु रणे क्रुद्धं क्रुद्धरूपो विशाम्पते।
अभ्यद्रवदमेयात्मा धृष्टकेतुर्महारथः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए बाह्लीकपर अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टकेतुने क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥

बाह्लीकस्तु रणे राजन् धृष्टकेतुममर्षणः।
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् सिंहनादमथानदत् ॥ ३९ ॥

राजन्! अमर्षशील बाह्लीकने समराङ्गणमें बहुतसे बाणोंद्वारा धृष्टकेतुको पीड़ा दी और सिंहके समान गर्जना की ॥

चेदिराजस्तु संक्रुद्धो बाह्लीकं नवभिः शरैः।
विव्याध समरे तूर्णं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ४० ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर हमला करता है, उसी प्रकार तुरंत ही नौ बाण मारकर उस युद्धभूमिमें बाह्लीकको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४० ॥

तौ तत्र समरे क्रुद्धौ नर्दन्तौ च पुनः पुनः।
समीयतुः सुसंक्रुद्धावङ्गारकबुधाविव ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो रोषमें भरे हुए मंगल और बुधकी भाँति बारंबार गर्जते हुए युद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ॥ ४२ ॥

जैसे इन्द्रने युद्धमें बल नामक दैत्यपर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कचने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षसपर आक्रमण किया ॥ ४२ ॥

घटोत्कचस्ततः क्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम्।
नवत्या सायकैस्तीक्ष्णैर्दारयामास भारत ॥ ४३ ॥

भरतनन्दन ! क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने नब्बे तीखे बाणोंद्वारा उस महाबली राक्षस अलम्बुषको विदीर्ण कर दिया॥

अलम्बुषस्तु समरे भैमसेनिं महाबलम्।
बहुधा दारयामास शरैः संनतपर्वभिः॥ ४४॥

तब अलम्बुषने भी महाबली भीमसेनपुत्र घटोत्कचको झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें बहुत प्रकारसे घायल कर दिया॥ ४४॥

व्यभ्राजेतां ततस्तौ तु संयुगे शरविक्षतौ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ॥ ४५॥

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार इस युद्धमें एक दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अलम्बुष और घटोत्कच अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे॥ ४५॥

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धः शिखण्डिनमुपस्थितम्॥ ४६॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं विद्ध्वा ह्यकम्पयत्।
शिखण्ड्यपि ततो राजन् द्रोणपुत्रमताडयत्॥ ४७॥
सायकेन सुपीतेन तीक्ष्णेन निशितेन च।
तौ जघ्नतुस्तदान्योन्यं शरैर्बहुविधैर्मृधे॥ ४८॥

राजन्! बलवान् शिखण्डीने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामापर धावा किया। तब अश्वत्थामाने कुपित हो एक तीखे नाराचके द्वारा निकट आये हुए शिखण्डीको अत्यन्त घायल करके कम्पित कर दिया। महाराज! तब शिखण्डीने भी पीले रंगके तेज धारवाले तीखे सायकसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको गहरी चोट पहुँचायी; तदनन्तर वे दोनों अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करने लगे॥ ४६—४८॥

भगदत्तं रणे शूरं विराटो वाहिनीपतिः।
अभ्ययात् त्वरितो राजंस्ततो युद्धमवर्तत॥ ४९॥

राजन्! संग्रामशूर भगदत्तपर सेनापति विराटने बड़ी उतावलीके साथ आक्रमण किया। फिर तो उन दोनोंमें युद्ध होने लगा॥ ४९॥

विराटो भगदत्तं तु शरवर्षेण भारत।
अभ्यवर्षत् सुसंक्रुद्धो मेघो वृष्ट्या इवाचलम्॥ ५०॥

भारत! विराटने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर अपने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो॥ ५०॥

भगदत्तस्ततस्तूर्णं विराटं पृथिवीपतिम्।
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम्॥ ५१॥

तब जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार भगदत्तने समरभूमिमें बाणोंकी वर्षाद्वारा पृथ्वीपति विराटको आच्छादित कर दिया॥ ५१॥

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ।
तं कृपः शरवर्षेण छादयामास भारत॥ ५२॥
गौतमं कैकयः क्रुद्धः शरवृष्ट्याभ्यपूरयत्।

भरतनन्दन! केकयराज बृहत्क्षत्रपर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने आक्रमण किया और अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उन्हें ढक दिया। तब केकयराजने भी क्रुद्ध होकर अपने सायकोंकी वर्षासे कृपाचार्यको आच्छादित कर दिया॥ ५२½॥

तावन्योन्यं हयान् हत्वा धनुश्छित्त्वा च भारत॥ ५३॥
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ।
तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्॥ ५४॥

भारत! वे दोनों वीर एक दूसरेके घोड़ोंको मार धनुषके टुकड़े करके रथहीन हो अमर्षमें भरकर खड्गद्वारा युद्ध करनेके लिये आमने-सामने खड़े हुए। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं दारुण युद्ध होने लगा॥ ५३-५४॥

द्रुपदस्तु ततो राजन् सैन्धवं वै जयद्रथम्।
अभ्युद्ययौ हृष्टरूपो हृष्टरूपं परंतपः॥ ५५॥

राजन्! दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रुपदने बड़े हर्षके साथ सिन्धुराज जयद्रथपर धावा किया। जयद्रथ भी बहुत प्रसन्न था॥ ५५॥

ततः सैन्धवको राजा द्रुपदं विशिखैस्त्रिभिः।
ताडयामास समरे स च तं प्रत्यविध्यत॥ ५६॥

तत्पश्चात् सिन्धुराज जयद्रथने समराङ्गणमें तीन बाणोंद्वारा द्रुपदको गहरी चोट पहुँचायी। द्रुपदने भी बदलेमें उसे बींध डाला॥ ५६॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्।
ईक्षणप्रीतिजननं शुक्राङ्गारकयोरिव॥ ५७॥

उन दोनोंका वह घोर एवं अत्यन्त भयंकर युद्ध शुक्र और मंगलके संघर्षकी भाँति नेत्रोंके लिये हर्ष उत्पन्न करनेवाला था॥ ५७॥

विकर्णस्तु सुतस्तुभ्यं सुतसोमं महाबलम्।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैस्ततो युद्धमवर्तत॥ ५८॥

आपके पुत्र विकर्णने तेज चलनेवाले घोड़ोंद्वारा महाबली सुतसोमपर धावा किया। तत्पश्चात् उनमें भारी युद्ध होने लगा॥ ५८॥

विकर्णः सुतसोमं तु विद्ध्वा नाकम्पयच्छरैः।
सुतसोमो विकर्णं च तदद्भुतमिवाभवत्॥ ५९॥

विकर्ण अपने बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी उन्हें कम्पित न कर सका। इसी प्रकार सुतसोम भी विकर्णको विचलित न कर सके। उन दोनोंका यह पराक्रम अद्भुत-सा प्रतीत हुआ॥ ५९॥

सुशर्माणं नरव्याघ्रश्चेकितानो महारथः ।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धः पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

नरश्रेष्ठ पराक्रमी महारथी चेकितानने पाण्डवोंके लिये अत्यन्त कुपित होकर सुशर्मापर धावा किया ॥ ६० ॥

सुशर्मा तु महाराज चेकितानं महारथम् ।
महता शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ६१ ॥

महाराज ! सुशर्माने भारी बाण-वर्षाके द्वारा महारथी चेकितानको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६१ ॥

चेकितानोऽपि संरब्धः सुशर्माणं महाहवे ।
प्राच्छादयत् तमिषुभिर्महामेघ इवाचलम् ॥ ६२ ॥

तब चेकितानने भी रोषमें भरकर उस महायुद्धमें अपने बाणोंकी वर्षासे सुशर्माको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे महामेघ जलकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु पराक्रान्तं पराक्रमी ।
अभ्यद्रवत राजेन्द्र मत्तः सिंह इव द्विपम् ॥ ६३ ॥

राजेन्द्र ! पराक्रमी शकुनि पराक्रमसम्पन्न प्रतिविन्ध्य-पर चढ़ आया, ठीक उसी तरह जैसे मतवाला सिंह किसी हाथीपर आक्रमण करता है ॥ ६३ ॥

यौधिष्ठिरस्तु संक्रुद्धः सौबलं निशितैः शरैः ।
व्यदारयत संग्रामे मघवानिव दानवम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार इन्द्र संग्रामभूमिमें किसी दानवको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरके पुत्र प्रतिविन्ध्यने अत्यन्त कुपित होकर सुबलपुत्र शकुनिको अपने तीखे बाणोंसे बेध डाला ॥ ६४ ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु प्रतिविध्यन्तमाहवे ।
व्यदारयन्महाप्राज्ञः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६५ ॥

युद्धमें अपनेको बेधनेवाले प्रतिविन्ध्यको भी परम बुद्धिमान् शकुनिने झुके हुए गाँठवाले बाणोंसे घायल कर दिया॥

सुदक्षिणं तु राजेन्द्र काम्बोजानां महारथम् ।
श्रुतकर्मा पराक्रान्तमभ्यद्रवत संयुगे ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! काम्बोजदेशके राजा पराक्रमी महारथी सुदक्षिणपर रणभूमिमें श्रुतकर्माने आक्रमण किया ॥ ६६ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे साहदेविं महारथम् ।
विद्ध्वा नाकम्पयत वै मैनाकमिव पर्वतम् ॥ ६७ ॥

तब सुदक्षिणने समराङ्गणमें सहदेव-पुत्र महारथी श्रुत-कर्माको क्षत-विक्षत कर दिया; तो भी वह उन्हें कम्पित न कर सका । वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ६७ ॥

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धः काम्बोजानां महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् दारयन्निव सर्वशः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर श्रुतकर्माने कुपित होकर महारथी काम्बोज-राजको सब ओरसे विदीर्ण-सा करते हुए अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भलीभाँति पीड़ित किया ॥ ६८ ॥

इरावानथ संक्रुद्धः श्रुतायुषमरिंदमम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे यत्तो यत्तरूपं परंतपः ॥ ६९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले यत्नशील इरावान्‌ने युद्धमें कुपित होकर शत्रुदमन श्रुतायुषपर धावा किया । श्रुतायुष भी प्रयत्नपूर्वक उनका सामना कर रहा था ॥६९॥

आर्जुनिस्तस्य समरे हयान् हत्वा महारथः ।
ननाद बलवन्नादं तत् सैन्यं प्रत्यपूरयत् ॥ ७० ॥

अर्जुनके उस महारथी पुत्र इरावान्‌ने रणक्षेत्रमें श्रुतायुष-के घोड़ोंको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की और उसकी सेना-को बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ७० ॥

श्रुतायुस्तु ततः क्रुद्धः फाल्गुनेः समरे हयान् ।
निजघान गदाग्रेण ततो युद्धमवर्तत ॥ ७१ ॥

यह देख श्रुतायुषने भी रुष्ट होकर रणभूमिमें अर्जुन-पुत्र इरावान्‌के घोड़ोंको अपनी गदाकी चोटसे मार डाला। तत्पश्चात् उन दोनोंमें खूब जमकर युद्ध होने लगा ॥ ७१ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ कुन्तिभोजं महारथम् ।
ससेनं ससुतं वीरं संससज्जतुराहवे ॥ ७२ ॥

अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने सेना और पुत्रसहित वीर महारथी कुन्तिभोजके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ७२ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तयोर्घोरं पराक्रमम् ।
अयुध्येतां स्थिरौ भूत्वा महत्या सेनया सह ॥ ७३ ॥

वहाँ मैंने उन दोनोंका अद्भुत और भयंकर पराक्रम देखा । वे दोनों ही अपनी विशाल वाहिनीके साथ स्थिरता-पूर्वक खड़े होकर एक दूसरेका सामना कर रहे थे ॥ ७३ ॥

अनुविन्दस्तु गदया कुन्तिभोजमताडयत् ।
कुन्तिभोजश्च तं तूर्णं शरव्रातैरवाकिरत् ॥ ७४ ॥

अनुविन्दने कुन्तिभोजपर गदासे आघात किया । तब कुन्तिभोजने भी तुरंत ही अपने बाणसमूहोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

कुन्तिभोजसुतश्चापि विन्दं विव्याध सायकैः ।
स च तं प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७५ ॥

साथ ही कुन्तिभोजके पुत्रने विन्दको भी अपने सायकों-से घायल कर दिया । विन्दने भी बदलेमें कुन्तिभोजपुत्रको क्षत-विक्षत कर दिया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ७५ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च गान्धारान् पञ्च मारिष ।
ससैन्यास्ते ससैन्यांश्च योधयामासुराहवे ॥ ७६ ॥

राजन् ! पाँच भाई केकय-राजकुमारोंने सेनासहित आकर युद्धमें अपनी विशाल वाहिनीके साथ खड़े हुए गान्धारदेशीय पाँच वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ किया ।७६ ।

वीरबाहुश्च ते पुत्रो वैराटिं रथसत्तमम्।
उत्तरं योधयामास विव्याध निशितैः शरैः ॥ ७७ ॥
उत्तरश्चापि तं वीरं विव्याध निशितैः शरैः।

आपके पुत्र वीरबाहुने विराटके पुत्र श्रेष्ठ रथी उत्तरके साथ युद्ध किया और उसे तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया। उत्तरने भी वीरबाहुको अपने तीक्ष्ण सायकोंका लक्ष्य बनाकर बेध डाला ॥ ७७½ ॥

चेदिराट् समरे राजन्नुलूकं समभिद्रवत् ॥ ७८ ॥
तथैव शरवर्षेण उलूकं समविद्ध्यत।
उलूकश्चापि तं बाणैर्निशितैर्लोमवाहिभिः ॥ ७९ ॥

राजन्! चेदिराजने समराङ्गणमें उलूकपर धावा किया और उसे अपने बाणोंकी वर्षासे बींध डाला। वैसे ही उलूकने भी पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा चेदिराजको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७८-७९ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं विशाम्पते।
दारयेतां सुसंक्रुद्धावन्योन्यमपराजितौ ॥ ८० ॥

प्रजानाथ! फिर उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। किसीसे पराजित न होनेवाले वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेको विदीर्ण किये देते थे ॥ ८० ॥

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम्।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उस घमासान युद्धमें आपके और पाण्डव-पक्षके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्यके सहस्रों योद्धाओंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था ॥ ८१ ॥

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम्।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥ ८२ ॥

महाराज! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा मनोरम प्रतीत हुआ; फिर उन्मत्तकी भाँति विकट युद्ध चलने लगा। उस समय किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ८२ ॥

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम् ॥ ८३ ॥

उस समरभूमिमें हाथी हाथीके साथ भिड़ गया, रथीने रथीपर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवारपर चढ़ आया और पैदलने पैदलके साथ युद्ध किया ॥ ८३ ॥

ततो युद्धं सुदुर्धर्षं व्याकुलं समपद्यत।
शूराणां समरे तत्र समासाद्येतरेतरम् ॥ ८४ ॥

कुछ ही देरमें उस रणक्षेत्रके भीतर शूरवीर सैनिकोंका एक दूसरेसे भिड़कर अत्यन्त दुर्धर्ष एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ ८४ ॥

तत्र देवर्षयः सिद्धाश्चारणाश्च समागताः।
प्रैक्षन्त तद् रणं घोरं देवासुरसमं भुवि ॥ ८५ ॥

वहाँ आये हुए देवर्षियों, सिद्धों तथा चारणोंने भूतलपर होनेवाले उस युद्धको देवासुर-संग्रामके समान भयंकर देखा ॥

ततो दन्तिसहस्राणि रथानां चापि मारिष।
अश्वौघाः पुरुषौघाश्च विपरीतं समाययुः ॥ ८६ ॥

आर्य! तदनन्तर हजारों हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदल सैनिक द्वन्द्व-युद्धके पूर्वोक्त क्रमका उल्लङ्घन करके सभी सबके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८६ ॥

तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते रथवारणपत्तयः।
सादिनश्च नरव्याघ्र युध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ८७ ॥

नरश्रेष्ठ! जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती, वहीं रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक बारंबार युद्ध करते दिखायी देते थे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्व-युद्धविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवसेनाका घमासान युद्ध

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि तत्र तत्र पदातिनाम्।
निर्मर्यादं प्रयुद्धानि तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतवंशी नरेश! उस रणभूमिमें जहाँ-तहाँ लाखों सैनिकोंका मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था। वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम्।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ॥ २ ॥

न पुत्र पिताको पहचानता था, न पिता अपने औरस पुत्रको। न भाई भाईको जानता था, न मामा अपने भानजेको ॥

न मातुलं च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३ ॥

न भानजेने मामाको पहचाना, न मित्रने मित्रको। उस समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकोंके साथ इस प्रकार युद्ध करते थे, मानो उनमें किसी ग्रह आदिका आवेश हो गया हो ॥ ३ ॥

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः।
अभज्यन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ ॥ ४ ॥

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथोंद्वारा शत्रुपक्षकी रथसेना-पर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ! कितने ही रथोंके जूए विपक्षी रथोंके जूओंसे ही टकराकर टूट गये ॥ ४ ॥

रथेषाश्च रथेषाभिः कूवरा रथकूबरैः।
संगतैः सहिताः केचित् परस्परजिघांसवः ॥ ५ ॥
न शेकुश्चलितुं केचित् संनिपत्य रथा रथैः।

रथोंके ईषादण्ड और कूबर भी सामने आये हुए रथोंके ईषादण्ड और कूबरोंसे भिड़कर टूक-टूक हो गये। एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखनेवाले कितने ही रथ दूसरे रथोंसे आमने-सामने भिड़कर एक पग भी इधर-उधर चल न सके ॥ ५½ ॥

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः ॥ ६ ॥
बहुधादारयन् क्रुद्धा विषाणैरितरेतरम्।

गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले विशालकाय गजराज कुपित हो दूसरे हाथियोंसे टक्कर लेते हुए अपने दाँतोंके आघातसे एक दूसरेको नाना प्रकारसे विदीर्ण करने लगे ६½

सतोरणपताकैश्च वारणा वरवारणैः ॥ ७ ॥
अभिसृत्य महाराज वेगवद्भिर्महागजैः।
दन्तैरभिहतास्तत्र चुक्रुशुः परमातुराः ॥ ८ ॥

महाराज! कितने ही हाथी तोरण और पताकाओं-सहित वेगशाली महाकाय एवं श्रेष्ठ गजराजोंसे भिड़कर उनके दाँतोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो आतुर भावसे चिग्घाड़ रहे थे ॥ ७-८ ॥

अभिनीताश्च शिक्षाभिस्तोत्रांकुशसमाहताः।
अप्रभिन्नाः प्रभिन्नानां सम्मुखाभिमुखा ययुः ॥ ९ ॥

जिन्हें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिली थीं तथा जिनका मद अभी प्रकट नहीं हुआ था, वे हाथी तोत्र और अङ्कुशों-की चोट खाकर सम्मुख खड़े हुए मदस्रावी गजराजोंके सामने जाकर युद्धके लिये डट गये ॥ ९ ॥

प्रभिन्नैरपि संसक्ताः केचित् तत्र महागजाः।
क्रौञ्चवन्निनदं कृत्वा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ १० ॥

कुछ महान् गजराज मदस्रावी हाथियोंसे टक्कर लेकर क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ १० ॥

सम्यक् प्रणीता नागाश्च प्रभिन्नकरटामुखाः।
ऋष्टितोमरनाराचैर्निर्विद्धा वरवारणाः ॥ ११ ॥
प्रणेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः।
प्राद्रवन्त दिशः केचिन्नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १२ ॥

अच्छी तरह शिक्षा पाये हुए कितने ही हाथी तथा श्रेष्ठ गज, जिनके गण्डस्थलसे मद चू रहा था, ऋष्टि, तोमर और नाराचोंसे विद्ध होकर मर्म विदीर्ण हो जानेके कारण चिग्घाड़ते और प्राणशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही भयानक चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ ११-१२ ॥

गजानां पादरक्षास्तु व्यूढोरस्काः प्रहारिणः।
ऋष्टिभिश्च धनुर्भिश्च विमलैश्च परश्वधैः ॥ १३ ॥
गदाभिर्मुसलैश्चैव भिन्दिपालैः सतोमरैः।
आयसैः परिघैश्चैव निस्त्रिंशैर्विमलैः शितैः ॥ १४ ॥
प्रगृहीतैः सुसंरब्धा द्रवमाणास्ततस्ततः।
व्यदृश्यन्त महाराज परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

महाराज! हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले योद्धा, जिनके वक्षःस्थल विस्तृत एवं विशाल थे, अत्यन्त क्रोधमें भरकर इधर-उधर दौड़ रहे थे और हाथोंमें लिये हुए ऋष्टि, धनुष, चमकीले फरसे, गदा, मूसल, भिन्दिपाल, तोमर, लोहेकी परिघ तथा तेज धारवाले उज्ज्वल खड्ग आदि आयुधों-द्वारा एक दूसरेके वधके लिये उत्सुक दिखायी दे रहे थे १३-१५

राजमानाश्च निस्त्रिंशाः संसिक्ता नरशोणितैः।
प्रत्यदृश्यन्त शूराणामन्योन्यमभिधावताम् ॥ १६ ॥

परस्पर धावा करनेवाले शूरवीरोंके चमकीले खड्ग मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए देखे जाते थे ॥ १६ ॥

अवक्षिप्तावधूतानामसीनां वीरबाहुभिः।
संजज्ञे तुमुलः शब्दः पततां परमर्मसु ॥ १७ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे घुमाकर चलाये हुए खड्ग जब दूसरोंके मर्मपर आघात करते थे, उस समय उनका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ १७ ॥

गदामुसलरुग्णानां भिन्नानां च वरासिभिः।
दन्तिदन्तावभिन्नानां मृदितानां च दन्तिभिः ॥ १८ ॥
तत्र तत्र नरौघाणां क्रोशतामितरेतरम्।
शुश्रुवुर्दारुणा वाचः प्रेतानामिव भारत ॥ १९ ॥

उस युद्धस्थलमें गदा और मूसलके आघातसे कितने ही मनुष्योंके अङ्ग-भङ्ग हो गये थे, कितने ही अच्छी श्रेणीके तलवारोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंके शरीर हाथियोंके दाँतोंसे दबकर विदीर्ण हो गये थे और कितनोंको हाथियोंने कुचल दिया था। इस प्रकार असंख्य मनुष्योंके समुदाय अधमरे-से होकर एक दूसरेको पुकार रहे थे। भारत! उनके वे भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके कोलाहलके समान श्रवणगोचर हो रहे थे ॥ १८-१९ ॥

हयैरपि हयारोहाश्चामरापीडधारिभिः।
हंसैरिव महावेगैरन्योन्यमभिविद्रुताः ॥ २० ॥

चँवर और कलंगीसे सुशोभित हंस-तुल्य सफेद एवं महान् वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए कितने ही घुड़सवार एक दूसरेपर धावा कर रहे थे ॥ २० ॥

तैर्विमुक्ता महाप्रासा जाम्बूनदविभूषणाः।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २१ ॥

उनके द्वारा चलाये हुए सुवर्णभूषित निर्मल और तेज धारवाले शीघ्रगामी महाप्रास (भाले) सर्पोंके समान गिर रहे थे ॥ २१ ॥

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान् ।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ॥ २२ ॥

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा धावा करके बड़े-बड़े रथोंपर कूद पड़ते और रथियोंके मस्तक काट लेते थे ॥ २२ ॥

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः ।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ॥ २३ ॥

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा निशानेपर आये हुए बहुत-से घुड़सवारोंका संहार कर डालता था ॥ २३ ॥

नवमेघप्रतीकाशाश्चाक्षिप्य तुरगान् गजाः ।
पादैरेव विमृद्नन्ति मत्ताः कनकभूषणाः ॥ २४ ॥

नूतन मेघोंके समान शोभा पानेवाले स्वर्णभूषित मतवाले हाथी बहुत-से घोड़ोंको सूँड़ोंसे झटककर पैरोंसे ही रौंद डालते थे ॥ २४ ॥

पाट्यमानेषु कुम्भेषु पार्श्वेष्वपि च वारणाः ।
प्रासैर्विनिहताः केचिद् विनेदुः परमातुराः ॥ २५ ॥

कितने ही हाथी प्रासोंकी चोट खाकर कुम्भस्थल और पार्श्वभागोंके विदीर्ण हो जानेपर अत्यन्त आतुर हो घोर चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ २५ ॥

साश्वारोहान् हयान् कांश्चिदुन्मथ्य वरवारणाः ।
सहसा चिक्षिपुस्तत्र संकुले भैरवे सति ॥ २६ ॥

बहुत-से बड़े-बड़े हाथी कितने ही घुड़सवारोंसहित घोड़ोंको पैरोंसे कुचलकर सहसा भयंकर युद्धमें फेंक देते थे ॥

साश्वारोहान् विषाणाग्रैरुत्क्षिप्य तुरगान् गजाः ।
रथौघानभिमृद्नन्तः सध्वजानभिचक्रमुः ॥ २७ ॥

कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको उछालकर ध्वजों सहित रथसमूहोंको पैरोंतले रौंदते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ २७ ॥

पुंस्त्वाद्तिमदत्वाच्च केचित् तत्र महागजाः ।
साश्वारोहान् हयाञ्जघ्नुः करैः सचरणैस्तथा ॥२८॥

वहाँ कितने ही महान् गज अत्यन्त मदोन्मत्तता पुरुष होनेके कारण सूँड़ों और पैरोंसे घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डालते थे ॥ २८ ॥

अश्वारोहैश्च समरे हस्तिसादिभिरेव च ।
प्रतिमानेषु गात्रेषु पार्श्वेष्वभि च वारणान् ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २९ ॥

युद्धमें घुड़सवारों और गजारोहियोंके चलाये हुए निर्मल, तीक्ष्ण तथा सर्पोंके समान भयंकर शीघ्रगामी बाण हाथियोंके ललाटों, अन्यान्य अङ्गों तथा पसलियोंपर चोट करते थे ॥ २९ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
निपेतुर्विमलाः शक्तयो वीरबाहुभिरर्पिताः ॥ ३० ॥
महोल्काप्रतिमा घोरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।

वीरोंकी भुजाओंसे चलायी हुई निर्मल शक्तियाँ, मनुष्यों और घोड़ोंकी काया तथा लोहमय कवचोंको भी विदीर्ण करके धरतीपर गिर जाती थीं। प्रजानाथ! वहाँ गिरते समय वे भयंकर शक्तियाँ बड़ी भारी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं॥ ३०½॥

द्वीपिचर्मावनद्धैश्च व्याघ्रचर्मच्छदैरपि ॥ ३१ ॥
विकोशैर्विमलैः खड्गैरभिजग्मुः परान् रणे ।

जो चमकीली तलवारें पहले चितकबरे अथवा साधारण व्याघ्र-चर्मकी बनी हुई म्यानोंमें बंद रहती थीं, उन्हें उन म्यानोंसे निकालकर उनके द्वारा वीर पुरुष रणभूमिमें विपक्षियोंका वध कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

अभिप्लुतमभिक्रुद्धमेकपार्श्वावदारितम् ॥ ३२ ॥
विदर्शयन्तः सम्पेतुः खड्गचर्मपरश्वधैः ।

कितने ही योद्धा ढाल, तलवार तथा फरसोंसे निर्भय होकर शत्रुके सम्मुख जाने, क्रोधपूर्वक दाँतोंसे ओठ दबाकर आक्रमण करने तथा बायीं पसलीपर चोट करके उसे विदीर्ण करने आदिके पैंतरे दिखाते हुए शत्रुओंपर टूटे पड़ते थे ॥ ३२½ ॥

केचिदाक्षिप्य करिणः साश्वानपि रथान् करैः ॥ ३३ ॥
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः ।

प्रत्येक शब्दकी ओर गमन करनेवाले कितने ही हाथी घोड़ोंसहित रथोंको अपनी सूँड़ोंसे खींचकर उन्हें लिये-दिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ रहे थे ॥ ३३½ ॥

शङ्कुभिर्दारिताः केचित् सम्भिन्नाश्च परश्वधैः ॥ ३४ ॥
हस्तिभिर्मृदिताः केचित् क्षुण्णाश्चान्ये तुरंगमैः ।
रथनेमिनिकृत्ताश्च निकृत्ताश्च परश्वधैः ॥ ३५ ॥

कुछ मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर पड़े थे, कितने ही फरसोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंको हाथियोंने मसल डाला था, कितने ही घोड़ोंकी टापसे कुचल गये थे, कितनोंके शरीर रथके पहियोंसे कट गये थे और कितने ही कूबरोंसे काट डाले गये थे ॥ ३४-३५ ॥

व्याक्रोशन्त नरा राजंस्तत्र तत्र स्म बान्धवान् ।
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄंश्च सह बन्धुभिः ॥ ३६ ॥
मातुलान् भागिनेयांश्च परानपि च संयुगे ।

राजन्! रणभूमिमें जहाँ-तहाँ गिरे हुए अगणित मनुष्य अपने कुटुम्बीजनोंको पुकार रहे थे। कुछ बेटोंको, कुछ पिताको, कुछ भाई-बन्धुओंको, कुछ मामा-भानजोंको

और कुछ लोग दूसरों-दूसरोंके नाम ले-लेकर विलाप कर रहे थे ॥ ३६½ ॥

विकीर्णान्त्राः सुबहवो भग्नसक्थाश्च भारत ॥ ३७ ॥
बाहुभिश्चापरे छिन्नैः पार्श्वेषु च विदारिताः ।
क्रन्दन्तः समदृश्यन्त तृषिता जीवितेप्सवः ॥ ३८ ॥

भारत ! बहुतोंकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी थीं, जाँघें टूट गयी थीं, कितनोंकी बाहें कट गयी थीं, बहुतोंकी पसलियाँ फट गयी थीं और कितने ही घायल अवस्थामें प्याससे पीड़ित हो जीवनके लोभसे रोते दिखायी देते थे ॥ ३७-३८ ॥

तृषा परिगताः केचिदल्पसत्त्वा विशाम्पते ।
भूमौ निपतिताः संख्ये मृगयांचक्रिरे जलम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! कुछ लोग धरतीपर अधमरे पड़े थे । उनमें जीवनकी शक्ति बहुत थोड़ी रह गयी थी और वे पिपासासे पीड़ित हो युद्धभूमिमें ही जलकी खोज कर रहे थे ॥ ३९ ॥

रुधिरौघपरिक्लिन्नाः क्लिश्यमानाश्च भारत ।
व्यनिन्दन् भृशमात्मानं तव पुत्रांश्च संगतान् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! लहू-लुहान होकर कष्ट पाते हुए वे समस्त घायल सैनिक अपनी और आपके पुत्रोंकी अत्यन्त निन्दा करते थे ॥ ४० ॥

अपरे क्षत्रियाः शूराः कृतवैराः परस्परम् ।
नैव शस्त्रं विमुञ्चन्ति नैव क्रन्दन्ति मारिष ॥ ४१ ॥

माननीय महाराज ! दूसरे शूरवीर क्षत्रिय आपसमें वैर बाँधे हुए उस घायल अवस्थामें भी न हथियार छोड़ते थे और न क्रन्दन ही करते थे ॥ ४१ ॥

तर्जयन्ति च संहृष्टास्तत्र तत्र परस्परम् ।
आदश्य दशनैश्चापि क्रोधात् स्वदनच्छदम् ॥ ४२ ॥
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षन्ति च परस्परम् ।

वे बार-बार उत्साहित होकर एक-दूसरेको डाँट बताते और क्रोधपूर्वक ओठोंको दाँतसे दबाकर भौंहें टेढ़ी करके परस्पर दृष्टिपात करते थे ॥ ४२½ ॥

अपरे क्लिश्यमानास्तु शरार्ता व्रणपीडिताः ॥ ४३ ॥
निष्कूजाः समपद्यन्त दृढसत्त्वा महाबलाः ।

धैर्यको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहनेवाले दूसरे महाबली वीर बाणोंके आघातसे पीड़ित हो क्लेश सहन करते हुए भी मौन ही रहते थे—अपनी वेदना प्रकाशित नहीं करते थे ॥

अन्ये च विरथाः शूरा रथमन्यस्य संयुगे ॥ ४४ ॥
प्रार्थयाना निपतिताः संक्षुण्णा वरवारणैः ।
अशोभन्त महाराज सपुष्पा इव किंशुकाः ॥ ४५ ॥

महाराज ! कुछ वीर पुरुष अपना रथ भग्न हो जानेके कारण युद्धमें पृथ्वीपर गिरकर दूसरेका रथ माँग रहे थे, इतनेहीमें बड़े-बड़े हाथियोंके पैरोंसे वे कुचल गये । उस समय उनके रक्तरंजित शरीर फूले हुए पलाशके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४४-४५ ॥

सम्बभूवुरनीकेषु बहवो भैरवस्वनाः ।
वर्तमाने महाभीमे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ४६ ॥
निजघान पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं रणे ।
स्वस्रीयो मातुलं चापि स्वस्रीयं चापि मातुलः ॥ ४७ ॥
सखा सखायं च तथा सम्बन्धी बान्धवं तथा ।

उन सेनाओंमें अनेकानेक भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे । बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महाभयानक संग्राममें पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको, भानजेने मामाको, मामाने भानजेको, मित्रने मित्रको तथा सगे-सम्बन्धीने अपने सगे बान्धवजनोंको मार डाला ॥ ४६-४७½ ॥

एवं युयुधिरे तत्र कुरवः पाण्डवैः सह ॥ ४८ ॥
वर्तमाने तथा तस्मिन् निर्मर्यादे भयानके ।
भीष्ममासाद्य पार्थानां वाहिनी समकम्पत ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उस मर्यादाशून्य भयानक संग्राममें कौरवोंका पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध हो रहा था । इतनेहीमें सेनापति भीष्मके पास पहुँचकर पाण्डवोंकी सारी सेना काँपने लगी ॥ ४८-४९ ॥

केतुना पञ्चतारेण तालेन भरतर्षभ ।
राजतेन महाबाहुरुच्छ्रितेन महारथे ।
बभौ भीष्मस्तदा राजंश्चन्द्रमा इव मेरुणा ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाबाहु भीष्म अपने विशाल रथपर बैठकर चाँदीके बने हुए पाँच तारोंसे युक्त तालाङ्कित ध्वजके द्वारा मेरुके शिखरपर स्थित हुए चन्द्रमाकेसमान शोभा पा रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
वर्तमाने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ॥ १ ॥
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः ।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदिताः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस अत्यन्त भयंकर

दिनका पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस भयानक संग्राममें आपके पुत्र-की आज्ञासे दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १-२ ॥

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः ॥ ३ ॥

इन पाँच अतिरथी वीरोंसे सुरक्षित हो भरतभूषण महारथी भीष्मजीने पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

चेदिकाशिकरूषेषु पञ्चालेषु च भारत।
भीष्मस्य बहुधा तालश्चलत्केतुरदृश्यत ॥ ४ ॥

भारत ! चेदि, काशि, करूष तथा पाञ्चालोंमें विचरते हुए भीष्मका तालचिह्नित चञ्चल पताकाओंवाला रथ अनेक-सा दिखायी देने लगा ॥ ४ ॥

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान्।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ ५ ॥

वे युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले अत्यन्त वेगशाली भल्लों-द्वारा शत्रुओंके मस्तक, रथ, जूआ तथा ध्वज काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

नृत्यतो रथमार्गेषु भीष्मस्य भरतर्षभ।
भृशमार्तस्वरं चक्रुर्नागा मर्मणि ताडिताः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। उनके बाणोंसे मर्मस्थानोंमें चोट खाये हुए हाथी अत्यन्त आर्तनाद करने लगे ॥ ६ ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति ॥ ७ ॥
जाम्बूनदविचित्रेण कर्णिकारेण केतुना।
अभ्यवर्तत भीष्मं च तांश्चैव रथसत्तमान् ॥ ८ ॥

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिङ्गलवर्णके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीष्मके रथकी ओर दौड़े आये। उनका वह रथ कर्णिकारके चिह्नसे युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वजसे सुशोभित था। उन्होंने भीष्मपर तथा उनकी रक्षाके लिये आये हुए उन श्रेष्ठ रथियोंपर भी आक्रमण किया ॥ ७-८ ॥

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह ॥ ९ ॥

वीर अभिमन्युने तीखे बाणसे उस तालचिह्नित ध्वजको छेद डाला और भीष्म तथा उनके अनुगामी रथियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छच्छिताग्रैः प्रपितामहम् ॥ १० ॥

उन्होंने एक बाणसे कृतवर्माको और पाँच शीघ्रगामी बाणोंसे शल्यको बेधकर तीखी धारवाले नौ बाणोंसे प्रपितामह भीष्मको भी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
ध्वजमेकेन विव्याध जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर पूरे मनोयोगसे चलाये हुए एक बाणके द्वारा उनके सुवर्णभूषित ध्वजको भी छेद डाला ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा ॥ १२ ॥

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकारके आवरणोंका भेदन करनेवाले एक भल्लके द्वारा दुर्मुखके सारथिका मस्तक धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥

धनुश्चिच्छेद भल्लेन कार्तस्वरविभूषितम्।
कृपस्य निशिताग्रेण तांश्च तीक्ष्णमुखैः शरैः ॥ १३ ॥
जघान परमक्रुद्धो नृत्यन्निव महारथः।

साथ ही कृपाचार्यके स्वर्णभूषित धनुषको भी तेज धार-वाले भालेसे काट गिराया; फिर सब ओर घूमकर नृत्य-सा करते हुए महारथी अभिमन्युने अत्यन्त कुपित हो तीखी नोकवाले बाणोंसे भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन महारथियोंको भी घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

तस्य लाघवमुद्वीक्ष्य तुतुषुर्देवता अपि ॥ १४ ॥
लब्धलक्षतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनंजयम् ॥ १५ ॥

अभिमन्युके हाथोंकी यह फुर्ती देखकर देवताओंको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्जुनकुमारके इस लक्ष्य-वेधकी सफलतासे प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियोंने उन्हें साक्षात् अर्जुनके समान शक्तिशाली समझा ॥ १४-१५ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमलातसदृशप्रभम्।
दिशः पर्यपतच्चापं गाण्डीवमिव घोषवत् ॥ १६ ॥

अभिमन्युका धनुष गाण्डीवके समान टंकारध्वनि प्रकट करनेवाला, हाथोंकी फुर्ती दिखानेका उपयुक्त स्थान और खींचे जानेपर अलातचक्रके समान मण्डलाकार प्रकाशित होनेवाला था। वह वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें घूम रहा था ॥ १६ ॥

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा ॥ १७ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको पाकर शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीष्मने समरभूमिमें नौ शीघ्रगामी महावेगवान् बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें वेध दिया ॥ १७ ॥

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः ॥ १८ ॥

साथ ही उस महातेजस्वी वीरके ध्वजको भी तीन बाणोंसे काट गिराया; इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले भीष्मने तीन बाणोंसे अभिमन्युके सारथिको भी मार डाला ॥ १८ ॥

तथैव कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष।
विद्ध्वा नाकम्पयत् कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य उस मैनाक पर्वतकी भाँति स्थिर हुए अर्जुनकुमारको बाणविद्ध करके भी कम्पित न कर सके ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः।
ववर्ष शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ॥ २० ॥

दुर्योधनके उन महारथियोंसे घिर जानेपर भी शूरवीर अर्जुनकुमार उन पाँचों रथियोंपर बाणवर्षा करता रहा ॥

ततस्तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः।
ननाद बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजञ्शरान्॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने बाणोंकी वर्षासे उन सबके महान् अस्त्रोंका निवारण करके बलवान् अर्जुनकुमार अभिमन्युने भीष्मपर सायकोंका प्रहार करते हुए बड़े जोरका सिंहनाद किया ॥ २१ ॥

तत्रास्य सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत।
यतमानस्य समरे भीष्ममर्दयतः शरैः ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक अपने बाणोंद्वारा भीष्मको पीड़ा देते हुए अभिमन्युकी भुजाओंका महान् बल प्रत्यक्ष देखा गया ॥ २२ ॥

पराक्रान्तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान्।
स तांश्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युताञ्शरान्॥ २३ ॥

तब भीष्मने भी उस पराक्रमी वीरपर बाणोंका प्रहार किया; परंतु अभिमन्युने रणभूमिमें भीष्मके धनुषसे छूटे हुए समस्त बाणोंको काट डाला ॥ २३ ॥

ततो ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः।
चिच्छेद समरे वीरस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ २४ ॥

अभिमन्युके बाण अमोघ थे। उस वीरने समराङ्गणमें नौ बाणोंद्वारा भीष्मके ध्वजको काट गिराया। यह देख सब लोग उच्च स्वरसे कोलाहल कर उठे ॥ २४ ॥

स राजतो महास्कन्धस्तालो हेमविभूषितः।
सौभद्रविशिखैश्छिन्नः पपात भुवि भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! वह रजतनिर्मित, स्वर्णभूषित अत्यन्त ऊँचा ताल-चिह्नसे युक्त भीष्मका ध्वज सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥

तं तु सौभद्रविशिखैः पातितं भरतर्षभ।
दृष्ट्वा भीमो ननादोच्चैः सौभद्रमभिहर्षयन् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अभिमन्युके बाणोंसे कटकर गिरे हुए उस ध्वजको देखकर भीमसेनने सुभद्राकुमारका हर्ष बढ़ाते हुए उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ॥ २७ ॥

तब महाबली भीष्मने उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें बहुत-से महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ॥ २७ ॥

ततः शरसहस्रेण सौभद्रं प्रपितामहः।
अवाकिरदमेयात्मा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रपितामह भीष्मने सुभद्राकुमारपर हजारों बाणोंकी वर्षा की। वह एक अद्भुत-सी घटना प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ॥ २९ ॥
विराटः सह पुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ॥ ३० ॥

राजन् ! तब पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकय-राजकुमार तथा सात्यकि—ये पाण्डव-पक्षके महान् धनुर्धर दस महारथी अभिमन्युकी रक्षाके लिये रथोंद्वारा तुरंत वहाँ दौड़े आये ॥ २९-३० ॥

तेषां जवेनापततां भीष्मः शान्तनवो रणे।
पाञ्चाल्यं त्रिभिरानर्च्छत् सात्यकिं नवभिः शरैः॥ ३१ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने रणभूमिमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन दसों महारथियोंमेंसे धृष्टद्युम्नको तीन और सात्यकिको नौ बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन क्षुरेण निशितेन च।
ध्वजमेकेन चिच्छेद भीमसेनस्य पत्रिणा ॥ ३२ ॥

फिर धनुषको पूरी तरहसे खींचकर छोड़े हुए एक पंखयुक्त तीखे बाणसे भीमसेनकी ध्वजा काट डाली ॥ ३२ ॥

जाम्बूनदमयः श्रीमान् केसरी स नरोत्तम।
पपात भीमसेनस्य भीष्मेण मथितो रथात् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेनका वह सुवर्णमय सुन्दर ध्वज सिंहके चिह्नसे युक्त था। वह भीष्मके द्वारा काट दिये जानेपर रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३३ ॥

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा भीष्मं शान्तनवं रणे।
कृपमेकेन विव्याध कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥

तब भीमसेनने उस रणक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मको तीन बाणोंसे घायल करके कृपाचार्यको एक और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बेध दिया ॥ ३४ ॥

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ॥ ३५ ॥

इसी समय जिसने अपनी सूँड़को मोड़कर मुखमें रख लिया था, उस दन्तार हाथीपर आरूढ़ हो विराटकुमार उत्तरने मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यपर धावा किया ॥ ३५ ॥

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे ।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ॥ ३६ ॥

वह गजराज बड़े वेगसे शल्यके रथकी ओर झपटा । उस समय शल्यने अपने बाणोंद्वारा उसके अप्रतिम वेगको रोक दिया ॥ ३६ ॥

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः ।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ॥ ३७ ॥

इससे वह गजेन्द्र शल्यपर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथके जूएपर रखकर उसे अच्छी तरह वहन करनेवाले चारों विशाल घोड़ोंको मार डाला ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम् ।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर बैठे हुए मद्रराज शल्यने लोहेकी बनी हुई एक शक्ति चलायी, जो सर्पके समान भयंकर और राजकुमार उत्तरका अन्त करनेवाली थी॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः ।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ॥ ३९ ॥

उस शक्तिने उनके कवचको काट दिया । उसकी चोटसे उनपर अत्यन्त मोह छा गया । उनके हाथसे अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और वे भी अचेत होकर हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

असिमादाय शल्योऽपि अवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ॥ ४० ॥

इसी समय शल्य हाथमें तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथसे कूद पड़े और उसीके द्वारा उस गजराजकी विशाल सूँड़को उन्होंने काट गिराया ॥ ४० ॥

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ॥ ४१ ॥

सैकड़ों बाणोंसे उसके मर्म विद्ध हो गये थे और उसकी सूँड़ भी काट डाली गयी । इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमिपर गिरा और मर गया ॥ ४१ ॥

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप ।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर चढ़ गये ॥ ४२ ॥

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।

अपने भाई उत्तरको मारा गया और शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे जल उठे, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ ४३½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ ४४ ॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं बली ।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ ४४½ ॥

महता रथवंशेन समन्तात् परिवारितः ॥ ४५ ॥
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।

वह विशाल रथ-सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करता हुआ शल्यके रथपर चढ़ आया ॥ ४५½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ ४६ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ ४७ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले श्वेतको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४६-४७ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः ।
तथा रुक्मरथो राजन् शल्यपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४८ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिंधुराज जयद्रथ ॥ ४८-४९ ॥

नानावर्णविचित्राणि धनूंषि च महात्मनाम् ।
विस्फारितानि दृश्यन्ते तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ५० ॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूपरंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन् ।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ५१ ॥

उन सबने श्वेतके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुके द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ५१ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः ।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः ॥ ५२ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति श्वेतने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ५२ ॥

निकृत्तान्येव तानि स्म समदृश्यन्त भारत।
ततस्ते तु निमेषार्धात् प्रत्यपद्यन् धनूंषि च ॥ ५३ ॥
सप्त चैव पृषत्कांश्च श्वेतस्योपर्यपातयन्।
ततः पुनरमेयात्मा भल्लैः सप्तभिराशुगैः।
निचकर्त महाबाहुस्तेषां चापानि धन्विनाम् ॥ ५४ ॥

भारत ! वे सातों धनुष कट जानेपर ही दृष्टिमें आये। तदनन्तर उन सबने आधे निमेषमें ही दूसरे धनुष ले लिये और श्वेतके ऊपर एक ही साथ सात बाण चलाये। तब अमेय आत्मबलसे युक्त महाबाहु श्वेतने पुनः शीघ्रगामी सात भल्ल मारकर उन धनुर्धरोंके धनुष काट दिये ॥ ५३-५४ ॥

ते निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः।
रथशक्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान् ॥ ५५ ॥

अपने विशाल धनुषोंके कट जानेपर उन सातों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ रथ-शक्तियाँ उठा लीं और भयंकर गर्जना की ॥ ५५ ॥

अन्वयुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति।
ततस्ता ज्वलिताः सप्त महेन्द्राशनिनिःस्वनाः ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सातों शक्तियाँ प्रज्वलित हो देवराज इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करती हुई श्वेतके रथकी ओर एक साथ चलीं ॥ ५६ ॥

अप्राप्ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित्।
ततः समादाय शरं सर्वकायविदारणम् ॥ ५७ ॥
प्राहिणोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति।

परंतु श्वेत उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उन्होंने सात भल्ल मारकर अपने निकट आनेसे पहले ही उन शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् श्वेतने सबकी काया-को विदीर्ण कर देनेवाले एक बाणको लेकर उसे रुक्म-रथकी ओर चलाया ॥ ५७½ ॥

तस्य देहे निपतितो बाणो वज्रातिगो महान् ॥ ५८ ॥
ततो रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत् ॥ ५९ ॥

वज्रसे भी अधिक प्रभावशाली वह महान् बाण रुक्म-रथके शरीरपर जा गिरा। राजन् ! उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर रुक्मरथ अपने रथके पिछले भागमें बैठ गया और अत्यन्त मूर्छित हो गया ॥ ५८-५९ ॥

तं विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः।
अपोवाह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ६० ॥

उसे अचेत और अनमना देख सारथि तनिक भी घबराहटमें न पड़कर अत्यन्त उतावलीके साथ सबके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ ६० ॥

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान्।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत् ॥ ६१ ॥

तब महाबाहु श्वेतने दूसरे स्वर्णभूषित छः बाण लेकर उन छहों रथियोंके ध्वजके अग्रभाग काट गिराये ॥ ६१ ॥

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परंतप।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति ॥ ६२ ॥

परंतप ! फिर उनके घोड़ों और सारथियोंको विदीर्ण करके उनके शरीरोंमें भी बहुत-से बाण जड़ दिये। इसके बाद श्वेतने शल्यके रथपर धावा किया ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति ॥ ६३ ॥

भारत ! तब सेनापति श्वेतको शीघ्रतापूर्वक शल्यके रथकी ओर जाते देख आपकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया ॥ ६३ ॥

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः।
वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति ॥ ६४ ॥
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत्।

तब आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने भीष्मजीको आगे करके सम्पूर्ण सेनाके साथ श्वेतके रथपर चढ़ाई की और मृत्युके मुखमें पहुँचे हुए मद्रराज शल्यको छुड़ा लिया ॥ ६४½ ॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६५ ॥
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम्।

तदनन्तर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। रथसे रथ और हाथीसे हाथी गुँथ गये ॥ ६५½ ॥

सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ॥ ६६ ॥
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते।
एतेषु नरसिंहेषु चेदिमत्स्येषु चैव ह।
ववर्ष शरवर्षाणि कुरुवृद्धः पितामहः ॥ ६७ ॥

पाण्डवपक्षकी ओरसे सुभद्राकुमार अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकयराजकुमार, राजा विराट तथा द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न—ये पुरुषसिंह और चेदि एवं मत्स्यदेशके क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे। कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने इन सबपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ६६-६७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं श्वेते महेष्वासे प्राप्ते शल्यरथं प्रति ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥
भीष्मः शान्तनवः किं वा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार महान् धनुर्धर श्वेतके शल्यके रथके समीप पहुँचनेपर कौरवों तथा पाण्डवोंने क्या किया ?अथवा शान्तनुनन्दन भीष्मने कौन-सा पुरुषार्थ किया ? मेरे पूछनेके अनुसार ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १½ ॥

संजय उवाच

राजञ्शतसहस्राणि ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ २ ॥
श्वेतं सेनापतिं शूरं पुरस्कृत्य महारथाः ।
राज्ञो बलं दर्शयन्तस्तव पुत्रस्य भारत ॥ ३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य त्रातुमैच्छन्महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥
जिघांसन्तं युधां श्रेष्ठं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवपक्षके लाखों क्षत्रिय-शिरोमणि महारथी विराट-सेनापति शूरवीर श्वेतको आगे करके आपके पुत्र दुर्योधनको अपना बल दिखाते हुए शिखण्डीको सामने रखकर भीष्मके सुवर्णभूषित रथपर चढ़ आये । भारत ! वे महारथी श्वेतकी रक्षा करना चाहते थे । इसलिये उसे मारनेकी इच्छावाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मपर उन्होंने धावा किया । उस समय बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥

तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महावैशसमद्भुतम् ॥ ५ ॥
तावकानां परेषां च यथा युद्धमवर्तत ।

आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें जो महान् संहारकारी युद्ध जिस प्रकार हुआ, उसका उसी रूपमें आपसे वर्णन करता हूँ ॥ ५½ ॥

तत्राकरोद् रथोपस्थाञ्शून्याञ्शान्तनवो बहून् ॥ ६ ॥
तत्राद्भुतं महच्चक्रे शरैराच्छेद् रथोत्तमान् ।
समावृणोच्छरैरर्कमर्कतुल्यप्रतापवान् ॥ ७ ॥

उस युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य कर दिया । वहाँ उन्होंने अत्यन्त अद्भुत कार्य किया । अपने बाणोंद्वारा बहुत-से श्रेष्ठ रथियोंको बहुत पीड़ा दी । वे सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्होंने अपने सायकोंद्वारा सूर्यदेवको भी आच्छादित कर दिया ॥ ६-७ ॥

नुदन् समन्तात् समरे रविरुद्यन् यथा तमः ।
तेनाजौ प्रेषिता राजन् शराः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥
क्षत्रियान्तकराः संख्ये महावेगा महाबलाः ।
शिरांसि पातयामासुर्वीराणां शतशो रणे ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार वे सब ओर समरभूमिमें शत्रुसेनाओंका संहार कर रहे थे । राजन् ! उनके द्वारा चलाये हुए महान् वेग और बलसे सम्पन्न तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले लाखों बाणोंने रणभूमिमें सैकड़ों श्रेष्ठ वीरोंके मस्तक काट गिराये ॥ ८-९ ॥

गजान् कण्टकसन्नाहान् वज्रेणेव शिलोच्चयान् ।
रथा रथेषु संसक्ता व्यदृश्यन्त विशाम्पते ॥ १० ॥

उन बाणोंने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति काँटेदार कवचोंसे सुसज्जित हाथियोंको भी धराशायी कर दिया । प्रजानाथ ! उस समय रथ रथोंसे सटे हुए दिखायी देते थे ॥

एके रथं पर्यवहंस्तुरगाः सतुरङ्गमम् ।
युवानं निहतं वीरं लम्बमानं सकार्मुकम् ॥ ११ ॥

कितने ही घोड़े अपनेसहित रथको लिये हुए दूर भागे जा रहे थे और उसपर मरा हुआ नवयुवक वीर रथी धनुषके साथ ही लटक रहा था ॥ ११ ॥

उदीर्णाश्च हया राजन् वहन्तस्तत्र तत्र ह ।
बद्धखड्गनिषङ्गाश्च विध्वस्तशिरसो हताः ॥ १२ ॥
शतशः पतिता भूमौ वीरशय्यासु शेरते ।

राजन् ! वे प्रचण्ड घोड़े उस रथको लिये-दिये यत्र-तत्र घूम रहे थे । कमरमें तलवार और पीठपर तरकस बाँधे हुए सैकड़ों आहत वीर मस्तक कट जानेके कारण पृथ्वीपर गिरकर वीरोचित शय्याओंपर शयन कर रहे थे ॥ १२½ ॥

परस्परेण धावन्तः पतिताः पुनरुत्थिताः ॥ १३ ॥
उत्थाय च प्रधावन्तो द्वन्द्वयुद्धमवाप्नुवन् ।
पीडिताः पुनरन्योन्यं लुठन्तो रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

एक दूसरेपर धावा करनेवाले कितने ही सैनिक गिर पड़ते और फिर उठकर खड़े हो जाते थे । खड़े होकर वे दौड़ते और परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगते थे । फिर आपसके प्रहारोंसे पीड़ित हो वे युद्धके मुहानेपर ही गिरकर लुढ़क जाते थे ॥ १३-१४ ॥

सचापाः सनिषङ्गाश्च जातरूपपरिष्कृताः ।
विस्रब्धहतवीराश्च शतशः परिपीडिताः ॥ १५ ॥
तेन तेनाभ्यधावन्त विसृजन्तश्च भारत ।

भारत ! सैकड़ों वीर धनुष और तरकस लिये सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो कितने ही विपक्षी वीरोंका विश्वस्त-भावसे विनाश करके स्वयं भी शत्रुओंके प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे और स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते

हुए विभिन्न मार्गोंसे इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे ॥१५½॥

मत्तो गजः पर्यवर्तद्धयांश्च हतसादिनः ॥ १६ ॥
सरथा रथिनश्चापि विमृद्नन्तः समन्ततः ।

मतवाले हाथी उन घोड़ोंके पीछे पड़े थे, जिनके सवार मारे गये थे। इसी प्रकार रथोंसहित रथी चारों ओर भूतल-पर पड़ी हुई लाशोंको रौंदते हुए विचरण करते थे ॥१६½॥

स्यन्दनादपतत् कश्चिन्निहतोऽन्येन सायकैः ॥ १७ ॥
हतसारथिरप्युच्चैः पपात काष्ठवद् रथः ।

कितने ही वीर दूसरोंके बाणोंसे मारे जाकर रथसे गिर पड़ते थे। कहीं सारथिके मारे जानेपर रथ साधारण काष्ठकी भाँति ऊँचेसे नीचे गिर पड़ता था ॥ १७½ ॥

युध्यमानस्य संग्रामे व्यूढे रजसि चोत्थिते ॥ १८ ॥
धनुःकूजितविज्ञानं तत्रासीत् प्रतियुद्ध्यतः ।
गात्रस्पर्शेन योधानां व्यज्ञास्त परिपन्थिनम् ॥ १९ ॥

उस संग्राममें इतनी धूल उड़ी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता था। केवल धनुषकी टंकारसे ही यह जाना जाता था कि प्रतिद्वन्द्वी युद्ध कर रहा है। कितने ही योद्धा दूसरे योद्धाओं-के शरीरका स्पर्श करके ही यह समझ पाते थे कि यह शत्रु-दलका है ॥ १८-१९ ॥

युद्ध्यमानं शरै राजन् सिञ्जिनीध्वजिनीरवात्।
अन्योन्यं वीरसंशब्दो नाश्रूयत भटैः कृतः ॥ २० ॥

राजन्! कुछ लोग धनुषकी टंकार और सेनाका कोलाहल सुनकर ही यह समझ पाते थे कि कोई बाणोंद्वारा युद्ध कर रहा है। योद्धा एक दूसरेके प्रति जो वीरोचित गर्जना करते थे, वह भी उस समय अच्छी तरह सुनायी नहीं देती थी ॥

शब्दायमाने संग्रामे पटहे कर्णदारिणि ।
युद्ध्यमानस्य संग्रामे कुर्वतः पौरुषं स्वकम् ॥ २१ ॥
नाश्रौषं नामगोत्राणि कीर्तनं च परस्परम् ।

कानोंका परदा फाड़नेवाले डंकेकी आवाजसे सारी रण-भूमि गूँज उठी थी। अतः वहाँ अपने पुरुषार्थको प्रकट करनेवाले किसी योद्धाकी बात मुझे नहीं सुनायी देती थी। वे लोग जो आपसमें नाम-गोत्र आदिका परिचय देते थे, उसे भी मैं नहीं सुन पाता था ॥ २१½ ॥

भीष्मचापच्युतैर्बाणैरार्तानां युध्यतां मृधे ॥ २२ ॥
परस्परेषां वीराणां मनांसि समकम्पयन् ।

युद्धमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे समस्त योद्धा पीड़ित हो रहे थे। उन बाणोंने परस्पर सभी वीरोंके हृदय कँपा दिये थे ॥ २२½ ॥

तस्मिन्नत्याकुले युद्धे दारुणे लोमहर्षणे ॥ २३ ॥
पिता पुत्रं च समरे नाभिजानाति कश्चन ।

वह युद्ध अत्यन्त भयंकर, रोमाञ्चकारी तथा सबको व्याकुल कर देनेवाला था। उसमें कोई पिता अपने पुत्रको भी पहचान नहीं पाता था ॥ २३½ ॥

चक्रे भग्ने युगे छिन्ने एकधुर्ये हये हतः ॥ २४ ॥
आक्षिप्तः स्यन्दनाद् वीरः ससारथिरजिह्मगैः ।

भीष्मके बाणोंसे पहिये टूट गये, जूआ कट गया और एकमात्र बचा हुआ रथका घोड़ा भी मारा गया। उस दशामें रथपर बैठा हुआ सारथिसहित वीर रथी भी उनके बाणोंसे आहत होकर स्वर्ग सिधारा ॥ २४½ ॥

एवं च समरे सर्वे वीराश्च विरथीकृताः ॥ २५ ॥
तेन तेन स्म दृश्यन्ते धावमानाः समन्ततः ।

इस प्रकार उस समराङ्गणमें रथहीन हुए सभी वीर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सब ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥२५½॥

गजो हतः शिरश्छिन्नं मर्म भिन्नं हयो हतः ॥ २६ ॥
अहतः कोऽपि नैवासीद् भीष्मे निघ्नति शात्रवान् ।

किसीका हाथी मारा गया, किसीका मस्तक कट गया, किसीके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये और किसीका घोड़ा ही नष्ट हो गया। जब भीष्मजी शत्रुओंका संहार कर रहे थे, उस समय (उनके सम्मुख आया हुआ) कोई भी ऐसा विपक्षी नहीं बचा, जो घायल न हुआ हो ॥ २६½ ॥

श्वेतः कुरूणामकरोत् क्षयं तस्मिन् महाहवे ॥ २७ ॥
राजपुत्रान् रथोदारानवधीच्छतसंघशः ।

इसी प्रकार उस महायुद्धमें श्वेत भी कौरवोंका संहार कर रहे थे। उन्होंने सैकड़ों श्रेष्ठ रथी राजकुमारोंका संहार कर डाला ॥ २७½ ॥

चिच्छेद रथिनां बाणैः शिरांसि भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! श्वेतने अपने बाणोंद्वारा बहुत-से रथियोंके मस्तक काट डाले ॥ २८ ॥

साङ्गदा बाहवश्चैव धनूंषि च समन्ततः ।
रथेषां रथचक्राणि तूणीराणि युगानि च ॥ २९ ॥

उन्होंने सब ओर बाण मारकर कितने ही योद्धाओंके धनुष और बाजूबंदसहित भुजाएँ काट डालीं। रथके ईषादण्ड, रथ-चक्र, तूणीर और जूए भी छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २९ ॥

छत्राणि च महार्हाणि पताकाश्च विशाम्पते ।
हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्चैव भारत ॥ ३० ॥
वारणाः शतशश्चैव हताः श्वेतेन भारत ।

राजन्! बहुमूल्य छत्र और पताकाएँ भी उनके बाणोंसे खण्डित हो गयीं। भरतनन्दन! श्वेतने अश्वों, रथों और मनुष्योंके समुदायका तो वध किया ही; सैकड़ों हाथी भी मार गिराये ॥ ३०½ ॥

वयं श्वेतभयाद् भीता विहाय रथसत्तमम् ॥ ३१ ॥

अपयातास्तथा पश्चाद् विभुं पश्याम धृष्णवः ।
शरपातमतिक्रम्य कुरवः कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥
भीष्मं शान्तनवं युद्धे स्थिताः पश्याम सर्वशः ।

कुरुनन्दन ! हमलोग भी श्वेतके भयसे महारथी भीष्मको अकेला छोड़कर भाग खड़े हुए । इसीलिये इस समय जीवित रहकर महाराजका दर्शन कर रहे हैं। हम सभी कौरव श्वेतका बाण जहाँतक पहुँच पाता था, उतनी दूरीको लाँघकर युद्धभूमिमें खड़े हो दर्शककी भाँति शान्तनुनन्दन भीष्मको देख रहे थे॥

अदीनो दीनसमये भीष्मोऽस्माकं महाहवे ॥ ३३ ॥
एकस्तस्थौ नरव्याघ्रो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।

उस महान् संग्राममें हमलोगोंके लिये कातरताका समय आ गया था, तो भी अकेले नरश्रेष्ठ भीष्म ही दीनतासे रहित हो मेरुपर्वतकी भाँति वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ॥३३½॥

आददान इव प्राणान् सविता शिशिरात्यये । ३४ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तस्थौ शरमरीचिमान् ।

जैसे सर्दीके अन्तमें सूर्यदेव धरतीका जल सोखने लगते हैं, उसी प्रकार भीष्म समस्त सैनिकोंके प्राणों का अपहरण-सा कर रहे थे । किरणोंसे सुशोभित सूर्यदेवकी भाँति भीष्म बाणरूपी रश्मियोंसे शोभा पाते हुए वहाँ खड़े थे ॥ ३४½ ॥

स मुमोच महेष्वासः शरसंघाननेकशः ॥ ३५ ॥
निघ्नन्नमित्रान् समरे वज्रपाणिरिवासुरान् ।

जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार महाधनुर्धर भीष्म उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करते हुए बारंबार बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३५½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण प्रजहुस्तं महाबलम् ॥ ३६ ॥
स्वयूथादिव ते यूथान्मुक्तं भूमिषु दारुणम् ।

महाबली भीष्मजी अपने झुंडसे बिछुड़े हुए हाथीकी भाँति आपकी सेनासे बिलग होकर उस रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर हो रहे थे; उनकी मार खाकर सम्पूर्ण शत्रु उन्हें छोड़-कर भाग गये ॥ ३६½ ॥

तमेवमुपलक्ष्यैको हृष्टः पुष्टः परंतप ॥ ३७ ॥
दुर्योधनप्रिये युक्तः पाण्डवान् परिशोचयन् ।
जीवितं दुस्त्यजं त्यक्त्वा भयं च सुमहाहवे ॥ ३८ ॥

परंतप ! श्वेतको पूर्वोक्तरूपसे कौरव-सेनाका संहार करते देख एकमात्र भीष्म ही उत्साहित और प्रफुल्ल हो पाण्डवोंको शोकमें डालते हुए जीवनका मोह और भय छोड़कर उस महासमरमें दुर्योधनके प्रिय कार्यमें जुट गये ॥ ३७-३८ ॥

पातयामास सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।
प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ।

राजन् ! भीष्मजीने पाण्डवोंके बहुत-से सैनिकोंको मार गिराया । आपके पिता देवव्रतने जब देखा कि सेनापति श्वेत हमारी सेनापर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरंत उनका सामना करनेके लिये गये ॥ ३९½ ॥

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ॥ ४० ॥
श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ।

श्वेतने अपने असंख्य बाणोंका जाल-सा बिछाकर भीष्मको ढक दिया । तब भीष्मने भी श्वेतपर बाणसमूहोंकी वर्षा की ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ॥ ४१ ॥
व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँड़ों, मदसे उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंकी भाँति एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ४१½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य ततस्तौ पुरुषर्षभौ ॥ ४२ ॥
भीष्मः श्वेतश्च युयुधे परस्परवधैषिणौ ।

तदनन्तर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ भीष्म और श्वेत अपने अस्त्रोंद्वारा विपक्षीके अस्त्रोंका निवारण करके एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ ४२½ ॥

एकाह्ना निर्दहेद् भीष्मः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ४३ ॥
शरैः परमसंक्रुद्धो यदि श्वेतो न पालयेत् ।

यदि श्वेत पाण्डव-सेनाकी रक्षा न करते तो भीष्मजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक ही दिनमें उसे भस्म कर डालते ॥ ४३½ ॥

पितामहं ततो दृष्ट्वा श्वेतेन विमुखीकृतम् ॥ ४४ ॥
प्रहर्षं पाण्डवा जग्मुः पुत्रस्ते विमनाऽभवत् ।

तदनन्तर पितामह भीष्मको श्वेतके द्वारा युद्धसे विमुख किया हुआ देख समस्त पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ; परंतु आपके पुत्र दुर्योधनका मन उदास हो गया ॥ ४४½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः पार्थिवैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
ससैन्यः पाण्डवानीकमभ्यद्रवत संयुगे ।

तब दुर्योधनने कुपित हो समस्त राजाओं तथा सेनाके साथ उस युद्धभूमिमें पाण्डव-सेनापर आक्रमण किया ॥४५½॥

दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विशाम्पतिः ॥ ४६ ॥
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ।

दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा राजा शल्य आपके पुत्रकी आज्ञासे आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थिवैः सर्वैर्दुर्योधनपुरोगमैः ॥ ४७ ॥
पाण्डवानामनीकानि वध्यमानानि संयुगे ।
श्वेतो गाङ्गेयमुत्सृज्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ ४८ ॥
नाशयामास वेगेन वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

दुर्योधन आदि सब राजाओंके द्वारा पाण्डवसेनाको युद्धमें मारी जाती देख श्वेतने गङ्गापुत्र भीष्मको छोड़कर आपके

पुत्रकी सेनाका उसी प्रकार वेगपूर्वक विनाश आरम्भ किया, जैसे आँधी अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥

द्रावयित्वा चमूं राजन् वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
आपतत् सहसा भूयो यत्र भीष्मो व्यवस्थितः ।

राजन्! विराटपुत्र श्वेत उस समय क्रोधसे मूर्छित हो रहे थे। वे आपकी सेनाको दूर भगाकर फिर सहसा वहीं आ पहुँचे, जहाँ भीष्म खड़े थे ॥ ४९½ ॥

तौ तत्रोपगतौ राजन् शरदीप्तौ महाबलौ ॥ ५० ॥
अयुध्येतां महात्मानौ यथोभौ वृत्रवासवौ ।
अन्योन्यं तु महाराज परस्परवधैषिणौ ॥ ५१ ॥

महाराज! वे दोनों महाबली महामना वीर बाणोंसे उद्दीप्त हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे समीप आकर वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्ध करने लगे ॥ ५०-५१ ॥

निगृह्य कार्मुकं श्वेतो भीष्मं विव्याध सप्तभिः ।
पराक्रमं ततस्तस्य पराक्रम्य पराक्रमी ॥ ५२ ॥
तरसा वारयामास मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

श्वेतने धनुष खींचकर सात बाणोंद्वारा भीष्मको बेध डाला। तब पराक्रमी भीष्मने श्वेतके उस पराक्रमको स्वयं पराक्रम करके वेगपूर्वक रोक दिया; मानो किसी मतवाले हाथीने दूसरे मतवाले हाथीको रोक दिया हो॥ ५२½ ॥

श्वेतः शान्तनवं भूयः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ५३ ॥
विव्याध पञ्चविंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर श्वेतने पुनः झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे शान्तनुनन्दन भीष्मको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ५४ ॥
स विद्धस्तेन बलवान् नाकम्पत यथाचलः ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने भी दस बाण मारकर बदला चुकाया। उनके द्वारा घायल किये जानेपर भी बलवान् श्वेत विचलित नहीं हुआ। वह पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ ५४½ ॥

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ॥ ५५ ॥
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ।

तदनन्तर क्षत्रियकुलको आनन्दित करनेवाले विराट-कुमार श्वेतने युद्धमें कुपित हो धनुषको जोर-जोरसे खींचकर भीष्मपर पुनः बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ५५½ ॥

सम्प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५६ ॥
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ।

इसके बाद उन्होंने हँसकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्मके धनुषके दस टुकड़े कर दिये ॥ ५६½ ॥

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिनम् ॥ ५७ ॥
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ।

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्मके तालचिह्नयुक्त ध्वजका ऊपरी भाग काट डाला ॥ ५७½ ॥

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ॥ ५८ ॥
हतं भीष्मममन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ।

भीष्मके ध्वजको नीचे गिरा देख आपके पुत्रोंने उन्हें श्वेतके वशमें पड़कर मरा हुआ ही माना ॥ ५८½ ॥

पाण्डवाश्चापि संहृष्टा दध्मुः शङ्खान् मुदा युताः॥ ५९ ॥
भीष्मस्य पतितं केतुं दृष्ट्वा तालं महात्मनः ।

महात्मा भीष्मके तालध्वजको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने लगे ॥ ५९½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रोधात् स्वमनीकमनोदयत् ॥ ६० ॥
यत्ता भीष्मं परीप्सध्वं रक्षमाणाः समन्ततः ।
मा नः प्रपश्यमानानां श्वेतान्मृत्युमवाप्स्यति ॥ ६१ ॥
भीष्मः शान्तनवः शूरस्तथा सत्यं ब्रवीमि वः ।

तब दुर्योधनने क्रोधपूर्वक अपनी सेनाको आदेश दिया—'वीरो! सावधान होकर सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उन्हें घेरकर खड़े हो जाओ। कहीं ऐसा न हो कि ये हमारे देखते-देखते श्वेतके हाथों मारे जायँ। मैं तुमलोगोंको सत्य कहता हूँ कि शान्तनुनन्दन भीष्म महान् शूरवीर हैं'॥ ६०-६१½ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ॥ ६२ ॥
बलेन चतुरङ्गेण गाङ्गेयमन्वपालयन् ।

राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब महारथी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये और चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा गङ्गा-नन्दन भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ६२½ ॥

बाह्लीकः कृतवर्मा च शलः शल्यश्च भारत ॥ ६३ ॥
जलसंधो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले परिवार्य समन्ततः ॥ ६४ ॥
शस्त्रवृष्टिं सुतुमुलां श्वेतस्योपर्यपातयन् ।

भारत! बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन और विविंशति—इन सबने शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करते हुए चारों ओरसे भीष्मजीको घेर लिया और श्वेतके ऊपर भयंकर शस्त्र-वर्षा करने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

तान् क्रुद्धो निशितैर्बाणैस्त्वरमाणो महारथः ॥ ६५ ॥
अवारयदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी श्वेतने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बड़ी उतावलीके साथ क्रोधपूर्वक पैने बाणोंद्वारा उन सबको रोक दिया ॥ ६५½ ॥

स निवार्य तु तान् सर्वान् केसरी कुञ्जरानिव ॥ ६६ ॥
महता शरवर्षेण भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

जैसे सिंह हाथियोंके समूहको आगे बढ़नेसे रोक देता है, उसी प्रकार उन सभी महारथियोंको रोककर भारी बाणवर्षाके द्वारा श्वेतने भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ६६½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि॥ ६७ ॥
श्वेतं विव्याध राजेन्द्र कङ्कपत्रैः शितैः शरैः ।

राजेन्द्र ! तब शान्तनुनन्दन भीष्मने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें कंकपत्रयुक्त पैने बाणोंद्वारा श्वेतको घायल कर दिया॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो भीष्मं बहुभिरायसैः ॥ ६८ ॥
विव्याध समरे राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब सेनापति श्वेतने कुपित हो उस समरभूमिमें बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा सब लोगोंके देखते-देखते भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६८½ ॥

ततः प्रव्यथितो राजा भीष्मं दृष्ट्वा निवारितम् ॥ ६९ ॥
प्रवीरं सर्वलोकस्य श्वेतेन युधि वै तदा ।
निष्ठानकश्च सुमहांस्तव सैन्यस्य चाभवत् ॥ ७० ॥

श्वेतने सम्पूर्ण विश्वके विख्यात वीर भीष्मको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया, यह देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई । साथ ही आपकी सेनामें सब लोगोंपर महान् भय छा गया ॥ ६९-७० ॥

तं वीरं वारितं दृष्ट्वा श्वेतेन शरविक्षतम् ।
हतं श्वेतेन मन्यन्ते श्वेतस्य वशमागतम् ॥ ७१ ॥

श्वेतने वीरवर भीष्मको कुण्ठित कर दिया और उनका शरीर बाणोंसे क्षत विक्षत हो गया है, यह देखकर सब लोग यह मानने लगे कि भीष्मजी श्वेतके वशमें पड़ गये हैं और अब उन्हींके हाथसे मारे जायँगे ॥ ७१ ॥

ततः क्रोधवशं प्राप्तः पिता देवव्रतस्तव ।
ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा तां च सेनां निवारिताम् ॥ ७२ ॥

तब आपके पिता देवव्रत भीष्म अपने ध्वजको टूटकर गिरा हुआ और सेनाको निवारित की हुई देखकर क्रोधके अधीन हो गये ॥ ७२ ॥

श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ।
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ॥ ७३ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ।

महाराज ! उन्होंने श्वेतपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की, परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतने रणक्षेत्रमें उन सब सायकोंका निवारण करके पुनः एक भल्लके द्वारा आपके पिता भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ७३½ ॥

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७४ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ।
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।७५।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ।
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ॥ ७६ ॥
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ।

राजन् ! यह देख गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे मूर्छित हो उस धनुषको फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल धनुष ले लिया और उसके ऊपर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सात विशाल भल्लोंका संधान किया । उनमेंसे चार भल्लोंके द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेतके चार घोड़ोंको मार डाला, दोसे उनका ध्वज काट दिया और अपनी फुर्तीका परिचय देते हुए सातवें भल्लके द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथिका सिर उड़ा दिया ॥ ७४-७६½ ॥

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ॥ ७७ ॥
अमर्षवशमापन्नो व्याकुलः समपद्यत ।

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महाबली श्वेत उस रथसे कूद पड़े और अमर्षके वशीभूत होकर व्याकुल हो उठे॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पितामहः ॥ ७८ ॥
ताडयामास निशितैः शरसंघैः समन्ततः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन हुआ देख पितामह भीष्मने चारों ओरसे पैने बाणसमूहोंद्वारा उन्हें पीड़ा देनी प्रारम्भ की ॥

स ताड्यमानः समरे भीष्मचापच्युतैः शरैः ॥ ७९ ॥
स्वरथे धनुरुत्सृज्य शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् ।

उस समरभूमिमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा पीड़ित होनेपर श्वेतने धनुषको रथपर ही छोड़कर सुवर्णमयी शक्ति हाथमें ले ली ॥ ७९½ ॥

ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ॥ ८० ॥
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ ८१ ॥

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्डके समान घोर और मृत्युकी जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली उस शक्तिको श्वेतने हाथमें उठाया और लंबी साँस लेते हुए रणक्षेत्रमें शान्तनुपुत्र भीष्मसे इस प्रकार कहा—॥ ८०-८१ ॥

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ॥ ८२ ॥
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्तवानर्थं चिकीर्षुकः ॥ ८३ ॥

'भीष्म ! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो । मुझे देखो और पुरुष बनो', ऐसा कहकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेतने भीष्मपर वह सर्पके समान भयंकर शक्ति चलायी । श्वेत पाण्डवोंका हित और आपके पक्षका अहित करनेकी इच्छासे पराक्रम दिखा रहे थे ॥

हाहाकारो महानासीत् पुत्राणां ते विशाम्पते ।
दृष्ट्वा शक्तिं महाघोरां मृत्योर्दण्डसमप्रभाम् ॥ ८४ ॥
श्वेतस्य करनिर्मुक्तां निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।

राजन्! श्वेतके हाथसे छूटकर यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाली और केंचुल छोड़कर निकली हुई सर्पिणी-की भाँति अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाली उस शक्तिको देखकर आपके पुत्रोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ८४½

अपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात्॥ ८५॥
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम्।
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव॥ ८६॥
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः।

राजन्! वह शक्ति आकाशसे बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा गिरी। अन्तरिक्षमें ज्वालाओंसे घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर आपके पिता देवव्रतको तनिक

भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥ ८५-८६½॥

उत्कृष्टहेमविकृतां निकृत्तां निशितैः शरैः॥ ८७॥
उच्चुक्रुशुस्ततः सर्वे तावका भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ! उत्तम सुवर्णकी बनी हुई उस शक्तिको भीष्मके पैने बाणोंसे नष्ट हुई देख आपके पुत्र हर्षके मारे जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे॥ ८७½॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः॥ ८८॥
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत।
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव॥ ८९॥
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति।

अपनी शक्तिको इस प्रकार विफल हुई देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे मूर्छित हो गये। कालने उनकी विवेकशक्तिको नष्ट कर दिया था; अतः उन्हें अपने कर्तव्यका भान न रहा। उन्होंने हर्षसे उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्मको मार डालनेके लिये हाथमें गदा उठा ली॥ ८८-८९½॥

क्रोधेन रक्तनयनो दण्डपाणिरिवान्तकः॥ ९०॥
भीष्मं समभिदुद्राव जलौघ इव पर्वतम्।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वे हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान जान पड़ते थे। जैसे महान् जलप्रवाह किसी पर्वतसे टकराता हो, उसी प्रकार वे गदा लिये भीष्मकी ओर दौड़े॥ ९०½॥

तस्य वेगमसंवार्यं मत्वा भीष्मः प्रतापवान्॥ ९१॥
प्रहारविप्रमोक्षार्थं सहसा धरणीं गतः।

प्रतापी भीष्म उसके वेगको अनिवार्य समझकर उस प्रहारसे बचनेके लिये सहसा पृथ्वीपर कूद पड़े॥ ९१½॥

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम्॥ ९२॥
रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः।

उधर श्वेतने क्रोधसे व्याप्त हो उस गदाको आकाशमें घुमाकर भीष्मके रथपर फेंक दिया, मानो कुबेरने गदाका प्रहार किया हो॥ ९२½॥

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः॥ ९३॥
सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः।

भीष्मको मार डालनेके लिये चलायी हुई उस गदाके आघातसे ध्वज, सारथि, घोड़े, जूआ और धुरा आदिके साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया॥ ९३½॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं भीष्मं दृष्ट्वा रथोत्तमाः॥ ९४॥
अभ्यधावन्त सहिताः शल्यप्रभृतयो रथाः।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मको रथहीन हुआ देख शल्य आदि उत्तम महारथी एक साथ दौड़े॥ ९४½॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय धनुर्विस्फार्य दुर्मनाः॥ ९५॥
शनकैरभ्ययाच्छ्वेतं गाङ्गेयः प्रहसन्निव।

तब दूसरे रथपर बैठकर धनुषकी टङ्कार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्म उदास मनसे हँसते हुए-से धीरे-धीरे श्वेतकी ओर चले॥ ९५½॥

एतस्मिन्नन्तरे भीष्मः शुश्राव विपुलां गिरम्॥ ९६॥
आकाशादीरितां दिव्यामात्मनो हितसम्भवाम्।
भीष्म भीष्म महाबाहो शीघ्रं यत्नं कुरुष्व वै॥ ९७॥
एष ह्यस्य जये कालो निर्दिष्टो विश्वयोनिना।

इसी बीचमें भीष्मने अपने हितसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दिव्य एवं गम्भीर आकाशवाणी सुनी—'महाबाहु भीष्म! शीघ्र प्रयत्न करो। इस श्वेतपर विजय पानेके लिये ब्रह्माजीने यही समय निश्चित किया है'॥ ९६-९७½॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदूतेन भाषितम्॥ ९८॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा वधे तस्य मनो दधे।

देवदूतका कहा हुआ यह वचन सुनकर भीष्मजीका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्वेतके वधका विचार किया ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पदातिनम् ॥ ९९ ॥
सहितास्त्वभ्यवर्तन्त परीप्सन्तो महारथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन और पैदल देख उसकी रक्षा करनेके लिये एक साथ बहुत-से महारथी दौड़े आये ९९½

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥१००॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च अभिमन्युश्च वीर्यवान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—सात्यकि, भीमसेन, द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, धृष्टकेतु तथा पराक्रमी अभिमन्यु ॥ १००½ ॥

एतानापततः सर्वान् द्रोणशल्यकृपैः सह ॥१०१॥
अवारयदमेयात्मा वारिवेगानिवाचलः ।

इन सबको आते देख अमेय शक्तिसम्पन्न भीष्मजीने द्रोणाचार्य, शल्य तथा कृपाचार्यके साथ जाकर उनकी गति रोक दी, मानो किसी पर्वतने जलके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया हो ॥ १०१½ ॥

स निरुद्धेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ॥१०२॥
श्वेतः खड्गमथाकृष्य भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

समस्त महामना पाण्डवोंके अवरुद्ध हो जानेपर श्वेतने तलवार खींचकर भीष्मका धनुष काट दिया ॥ १०२½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं त्वरमाणः पितामहः ॥१०३॥
देवदूतवचः श्रुत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

उस कटे हुए धनुषको फेंककर पितामह भीष्मने देव-दूतके कथनपर ध्यान देकर तुरंत ही श्वेतके वधका निश्चय किया ॥ १०३½ ॥

ततः प्रचरमाणस्तु पिता देवव्रतस्तव ॥१०४॥
अन्यत् कार्मुकमादाय त्वरमाणो महारथः ।
क्षणेन सज्यमकरोच्छक्रचापसमप्रभम् ॥१०५॥

तदनन्तर! आपके पिता महारथी देवव्रतने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर वहाँ विचरण करते हुए ही क्षणभरमें उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । वह इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १०४-१०५ ॥

पिता ते भरतश्रेष्ठ श्वेतं दृष्ट्वा महारथैः ।
वृतं तं मनुजव्याघ्रैर्भीमसेनपुरोगमैः ॥१०६॥
अभ्यवर्तत गाङ्गेयः श्वेतं सेनापतिं द्रुतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पिता गङ्गानन्दन भीष्मने नरश्रेष्ठ भीमसेन आदि महारथियोंसे घिरे हुए सेनापति श्वेतको देखकर उनपर तुरंत धावा किया ॥ १०६½ ॥

आपतन्तं ततो भीष्मो भीमसेनं प्रतापवान् ॥१०७॥
आजघ्ने विशिखैः षष्ट्या सेनान्यं स महारथः।

उस समय सेनानायक भीमसेनको सामने आते देख प्रतापी महारथी भीष्मने उन्हें साठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १०७½ ॥

अभिमन्युं च समरे पिता देवव्रतस्तव ॥१०८॥
आजघ्ने भरतश्रेष्ठस्त्रिभिः संनतपर्वभिः ।

उस समरभूमिमें आपके पिता भरतश्रेष्ठ भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंसे अभिमन्युको चोट पहुँचायी १०८½

सात्यकिं च शतेनाजौ भरतानां पितामहः ॥१०९॥
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या कैकेयं चापि पञ्चभिः ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पिता देवव्रतस्तव ॥११०॥
वारयित्वा शरैर्घोरैः श्वेतमेवाभिदुद्रुवे ।

भरतवंशियोंके उन पितामहने युद्धस्थलमें सौ बाणोंसे सात्यकिको, बीस सायकोंद्वारा धृष्टद्युम्नको और पाँच बाणोंसे केकयराजकुमारको क्षत-विक्षत कर दिया । इस प्रकार आपके पिता भीष्मने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उन सम्पूर्ण महा-धनुर्धरोंको जहाँके तहाँ रोककर पुनः श्वेतपर ही आक्रमण किया ॥ १०९-११०½ ॥

ततः शरं मृत्युसमं भारसाधनमुत्तमम् ॥१११॥
विकृष्य बलवान् भीष्मः समाधत्त दुरासदम् ।
ब्रह्मास्त्रेण सुसंयुक्तं तं शरं लोमवाहिनम् ॥११२॥

तदनन्तर महाबली भीष्मने धनुषको खींचकर उसके ऊपर एक मृत्युके समान भयंकर, भारी-से-भारी लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ, उत्तम और दुःसह पंखयुक्त बाण रक्खा; फिर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया १११-११२

ददृशुर्देवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ॥११३॥
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ।

उस समय देवताओं, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों तथा राक्षसोंने भी देखा, वह बाण महान् वज्रके समान प्रज्वलित हो उठा और अमित बलशाली श्वेतके कवच तथा हृदयको भी छेदकर धरतीमें समा गया ॥ ११३½ ॥

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ।११४।
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ।

जैसे डूबता हुआ सूर्य अपनी प्रभा साथ लेकर शीघ्र ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेतके शरीरसे उसके प्राण लेकर चला गया ॥ ११४½॥

तं भीष्मेण नरव्याघ्रं तथा विनिहतं युधि ॥११५॥
प्रपतन्तमपश्याम गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ।

भीष्मके द्वारा मारे गये नरश्रेष्ठ श्वेतको युद्धस्थलमें हमने देखा । वह टूटकर गिरे हुए पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ११५½ ॥

अशोचन् पाण्डवास्तत्र क्षत्रियाश्च महारथाः ॥११६॥
प्रहृष्टाश्च सुतास्तुभ्यं कुरवश्चापि सर्वशः ।

महारथी पाण्डव तथा उस दलके दूसरे क्षत्रिय श्वेतके लिये शोकमें डूब गये। इधर आपके पुत्र समस्त कौरव हर्षसे उल्लसित हो उठे ॥ ११६½ ॥

ततो दुःशासनो राजञ्श्वेतं दृष्ट्वा निपातितम् ॥११७॥
वादित्रनिनदैर्घोरैर्नृत्यति स्म समन्ततः।

राजन्! श्वेतको मारा गया देख आपका पुत्र दुःशासन बाजे-गाजेकी भयंकर ध्वनिके साथ चारों ओर नाचने लगा ॥ ११७½ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे भीष्मेणाहवशोभिना ॥११८॥
प्रावेपन्त महेष्वासाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः।

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले भीष्मजीके द्वारा महाधनुर्धर श्वेतके मारे जानेपर शिखण्डी आदि महाधनुर्धर रथी भयके मारे काँपने लगे ॥ ११८½ ॥

ततो धनंजयो राजन् वार्ष्णेयश्चापि सर्वशः ॥११९॥
अवहारं शनैश्चक्रुर्निहते वाहिनीपतौ।
ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ॥१२०॥

राजन्! तव सेनापति श्वेतके मारे जानेके कारण अर्जुन और श्रीकृष्णने धीरे-धीरे अपनी सेनाको युद्धभूमिसे पीछे हटा लिया। भारत! फिर आपकी और पाण्डवोंकी सेना भी उस समय युद्धसे विरक्त हो गयी ॥ ११९-१२० ॥

तावकानां परेषां च नर्दतां च मुहुर्मुहुः।
पार्था विमनसो भूत्वा न्यवर्तन्त महारथाः।
चिन्तयन्तो वधं घोरं द्वैरथेन परंतपाः ॥१२१॥

उस समय आपके और शत्रुपक्षके सैनिक भी बारंबार गर्जना कर रहे थे। उस द्वैरथ युद्धमें जो भयंकर संहार हुआ था, उसके लिये चिन्ता करते हुए शत्रुसंतापी पाण्डव महारथी उदास मनसे शिविरमें लौट आये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतवधे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतवधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शङ्खका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

श्वेते सेनापतौ तात संग्रामे निहते परैः।
किमकुर्वन् महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात! सेनापति श्वेतके शत्रुओंद्वारा युद्धस्थलमें मारे जानेपर महान् धनुर्धर पाञ्चालों और पाण्डवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

सेनापतिं समाकर्ण्य श्वेतं युधि निपातितम्।
तदर्थं यततां चापि परेषां प्रपलायिनाम् ॥ २ ॥
मनः प्रीणाति मे वाक्यं जयं संजय शृण्वतः।
प्रत्युपायं चिन्तयतो लज्जां प्राप्नोति मे न हि ॥ ३ ॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च वृद्धः कुरुपतिस्तदा।

संजय! सेनापति श्वेत युद्धमें मारे गये। उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेपर भी शत्रुओंको पलायन करना पड़ा तथा अपने पक्षकी विजय हुई—ये सब बातें सुनकर मेरे मनमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। शत्रुओंके प्रतीकारका उपाय सोचते हुए मुझे अपने पक्षके द्वारा की गयी अनीतिका स्मरण करके भी लज्जा नहीं आती है। वे वृद्ध एवं वीर कुरुराज भीष्म हमपर सदा अनुराग रखते हैं (इस कारण ही उन्होंने श्वेतके साथ ऐसा व्यवहार किया होगा) ॥२-३½॥

कृतं वैरं सदा तेन पितुः पुत्रेण धीमता ॥ ४ ॥
तस्योद्वेगभयाच्चापि संश्रितः पाण्डवान् पुरा।

उस बुद्धिमान् विराटपुत्र श्वेतने अपने पिताके साथ वैर बाँध रक्खा था, इस कारण पिताके द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्वेग एवं भयसे श्वेतने पहले ही पाण्डवोंकी शरण ले ली थी ॥ ४½ ॥

सर्वं बलं परित्यज्य दुर्गं संश्रित्य तिष्ठति ॥ ५ ॥
पाण्डवानां प्रतापेन दुर्गं देशं निवेश्य च।
सपत्नान् सततं बाधन्नार्यवृत्तिमनुष्ठितः ॥ ६ ॥

पहले तो वह समस्त सेनाका परित्याग करके (अकेला ही) दुर्गमें छिपा रहता था। फिर पाण्डवोंके प्रतापसे दुर्गम प्रदेशमें रहकर निरन्तर शत्रुओंको बाधा पहुँचाते हुए सदाचारका पालन करने लगा ॥ ५-६ ॥

आश्चर्यं वै सदा तेषां पुरा राज्ञां सुदुर्मतिः।
ततो युधिष्ठिरे भक्तः कथं संजय सूदितः ॥ ७ ॥

क्योंकि पूर्वकालमें अपने साथ विरोध करनेवाले उन राजाओंके प्रति उसकी बुद्धिमें दुर्भाव था; पर संजय! आश्चर्य तो यह है कि ऐसा शूरवीर श्वेत, जो युधिष्ठिरका बड़ा भक्त था, मारा कैसे गया? ॥ ७ ॥

प्रक्षिप्तः सम्मतः क्षुद्रः पुत्रो मे पुरुषाधमः।
न युद्धं रोचयेद् भीष्मो न चाचार्यः कथंचन ॥ ८ ॥
न कृपो न च गान्धारी नाहं संजय रोचये।

मेरा पुत्र दुर्योधन क्षुद्र स्वभावका है। वह कर्ण आदिका प्रिय तथा चञ्चल बुद्धिवाला है। मेरी दृष्टिमें वह समस्त पुरुषोंमें अधम है (इसीलिये उसके मनमें युद्धके

लिये आग्रह है) । संजय ! मैं, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा गान्धारी-इनमेंसे कोई भी युद्ध नहीं चाहता था ॥८½॥

न वासुदेवो वार्ष्णेयो धर्मराजश्च पाण्डवः ॥ ९ ॥
न भीमो नार्जुनश्चैव न यमौ पुरुषर्षभौ ।

वृष्णिवंशी भगवान् वासुदेव, पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव भी युद्ध नहीं पसंद करते थे ॥ ९½ ॥

वार्यमाणो मया नित्यं गान्धार्या विदुरेण च ॥ १० ॥
जामदग्न्येन रामेण व्यासेन च महात्मना ।
दुर्योधनो युध्यमानो नित्यमेव हि संजय ॥ ११ ॥
कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च पापकृत् ।
दुःशासनस्य च तथा पाण्डवान् नान्वचिन्तयत् ॥ १२॥

मैंने, गान्धारीने और विदुरने तो सदा ही उसे मना किया है, जमदग्निपुत्र परशुरामने तथा महात्मा व्यासजीने भी उसे युद्धसे रोकनेका प्रयत्न किया है; तथापि कर्ण, शकुनि तथा दुःशासनके मतमें आकर पापी दुर्योधन सदा युद्धका ही निश्चय रखता आया है । उसने पाण्डवोंको कभी कुछ नहीं समझा ॥ १०—१२ ॥

तस्याहं व्यसनं घोरं मन्ये प्राप्तं तु संजय ।
श्वेतस्य च विनाशेन भीष्मस्य विजयेन च ॥ १३ ॥
संक्रुद्धः कृष्णसहितः पार्थः किमकरोद् युधि ।

सजय ! मेरा तो विश्वास है कि दुर्योधनपर घोर संकट प्राप्त होनेवाला है । श्वेतके मारे जाने और भीष्मकी विजय होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने युद्ध-स्थलमें क्या किया ? ॥ १३½ ॥

अर्जुनाद्धि भयं भूयस्तन्मे तात न शाम्यति ॥ १४ ॥
स हि शूरश्च कौन्तेयः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
मन्ये शरैः शरीराणि शत्रूणां प्रमथिष्यति ॥ १५ ॥

तात ! अर्जुनसे मुझे अधिक भय बना रहता है और वह भय कभी शान्त नहीं होता; क्योंकि कुन्तीनन्दन अर्जुन शूरवीर तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र संचालन करनेवाला है । मैं समझता हूँ कि वह अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंको मथ डालेगा ॥ १४-१५ ॥

ऐन्द्रिमिन्द्रानुजसमं महेन्द्रसदृशं बले ।
अमोघक्रोधसंकल्पं दृष्ट्वा वः किमभून्मनः ॥ १६ ॥

इन्द्रकुमार अर्जुन भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी और महेन्द्रके समान बलवान् है । उसका क्रोध और संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता । उसे देखकर तुमलोगोंके मनमें क्या विचार उठा था ? ॥ १६ ॥

तथैव वेदविच्छूरो ज्वलनार्कसमद्युतिः ।
इन्द्रास्त्रविदमेयात्मा प्रपतन् समितिंजयः ॥ १७ ॥
वज्रसंस्पर्शरूपाणामस्त्राणां च प्रयोजकः ।
स खड्गाक्षेपहस्तस्तु घोषं चक्रे महारथः ॥ १८ ॥

अर्जुन वेदज्ञ, शौर्यसम्पन्न, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, इन्द्रास्त्रका ज्ञाता, अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, वेग-पूर्वक आक्रमण करनेवाला और बड़े-बड़े संग्रामोंमें विजय पानेवाला है । वह ऐसे-ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है, जिनका हल्का-सा स्पर्श भी वज्रके समान कठोर है । महारथी अर्जुन अपने हाथमें सदा तलवार खींचे ही रहता है और उसका प्रहार करके विकट गर्जना करता है ॥ १७-१८ ॥

स संजय महाप्राज्ञो द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नः किमकरोच्छ्वेते युधि निपातिते ॥ १९ ॥

संजय ! द्रुपदके परम बुद्धिमान् पुत्र बलवान् धृष्टद्युम्नने श्वेतके युद्धमें मारे जानेपर क्या किया ? ॥ १९ ॥

पुरा चैवापराधेन वधेन च चमूपतेः ।
मन्ये मनः प्रजज्वाल पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

पहले भी कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका अपराध हुआ है; उससे तथा सेनापतिके वधसे महामना पाण्डवोंके हृदयमें आग-सी लग गयी होगी, यह मेरा विश्वास है ॥ २० ॥

तेषां क्रोधं चिन्तयंस्तु अहःसु च निशासु च ।
न शान्तिमधिगच्छामि दुर्योधनकृतेन हि ।
कथं चाभून्महायुद्धं सर्वमाचक्ष्व संजय ॥ २१ ॥

दुर्योधनके कारण पाण्डवोंके मनमें जो क्रोध है, उसका चिन्तन करके मुझे न तो दिनमें शान्ति मिलती है, न रात्रिमें ही । संजय ! वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ, यह सब मुझे बताओ ॥ २१ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवापनयनो महान् ।
न च दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ २२ ॥

संजयने कहा—राजन् ! स्थिर होकर सुनिये । इस युद्धके होनेमें सबसे बड़ा अन्याय आपका ही है । इसका सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथे नहीं मढ़ना चाहिये ॥

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृङ्मतिस्तव ।
संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ॥ २३ ॥

जैसे पानीकी बाढ़ निकल जानेपर पुल बाँधनेका प्रयास किया जाय अथवा घरमें आग लग जानेपर उसे बुझानेके लिये कुआँ खोदनेकी चेष्टा की जाय, उसी प्रकार आपकी यह समझ है ॥ २३ ॥

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ॥ २४ ॥

उस भयंकर दिनके पूर्वभागका अधिकांश व्यतीत हो जानेपर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २४ ॥

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम्।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम्॥ २५॥
शङ्खः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव।

विराटके सेनापति श्वेतको मारा गया और राजा शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख शङ्ख क्रोधसे जल उठा, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो॥ २५½॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली॥ २६॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया॥ २६½॥

महता रथसंघेन समन्तात् परिरक्षितः॥ २७॥
सृजन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति।

विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने शल्यके रथपर आक्रमण किया॥ २७½॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम्॥ २८॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजं परीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्॥ २९॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शङ्खको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया॥ २८-२९॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः।
तथा रुक्मरथो राजन् पुत्रः शल्यस्य मानितः॥ ३०॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः॥ ३१॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ॥ ३०-३१॥

नानाधातुविचित्राणि कार्मुकाणि महात्मनाम्।
विस्फारितान्यदृश्यन्त तोयदेष्विव विद्युतः॥ ३२॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूप-रंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे॥

ते तु बाणमयं वर्षं शङ्खमूर्ध्नि न्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम्॥ ३३॥

उन सबने शङ्खके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुद्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों॥ ३३॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः॥ ३४॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शङ्खने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर गर्जना की॥ ३४॥

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शङ्खमभ्यद्रवद् रणे॥ ३५॥

तदनन्तर महाबाहु भीष्मने मेघके समान गर्जना करके चार हाथ लंबा धनुष लेकर रणभूमिमें शङ्खपर धावा किया॥

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम्।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः॥ ३६॥

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्मको युद्धके लिये उद्यत देख पाण्डवसेना वायुके वेगसे डगमग होनेवाली नौकाकी भाँति काँपने लगी॥ ३६॥

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शङ्खस्यासीत् पुरःसरः।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत॥ ३७॥

यह देख अर्जुन तुरंत ही शङ्खके आगे आ गये। उनके आगे आनेका उद्देश्य यह था कि आज भीष्मके हाथसे शङ्खको बचाना चाहिये। फिर तो महान् युद्ध आरम्भ हुआ॥

हाहाकारो महानासीद् योधानां युधि युध्यताम्।
तेजस्तेजसि सम्पृक्तमित्येवं विस्मयं ययुः॥ ३८॥

उस समय रणक्षेत्रमें जूझनेवाले योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर फैल गया। तेजके साथ तेज टक्कर ले रहा है, यह कहते हुए सब लोग बड़े विस्मयमें पड़ गये॥ ३८॥

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात्।
शङ्खस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ॥ ३९॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय राजा शल्यने हाथमें गदा लिये अपने विशाल रथसे उतरकर शङ्खके चारों घोड़ोंको मार डाला॥ ३९॥

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत॥ ४०॥

घोड़े मारे जानेपर शङ्ख तुरंत ही तलवार लेकर रथसे कूद पड़ा और अर्जुनके रथपर चढ़कर उसने पुनः शान्तिकी साँस ली॥ ४०॥

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्त्रिणः।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता॥ ४१॥

तत्पश्चात् भीष्मके रथसे शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षीके समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथ्वी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया॥ ४१॥

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान्।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्त्रिभिः॥ ४२॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरोंको अपने बाणोंसे मार-मारकर गिराने लगे॥ ४२॥

उत्सृज्य समरे राजन् पाण्डवं सव्यसाचिनम्।
अभ्यद्रवत पाञ्चाल्यं द्रुपदं सेनया वृतम्॥ ४३॥
प्रियं सम्बन्धिनं राजञ्शरानवकिरन् बहून्।

राजन्! भीष्मने समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनको छोड़कर सेनासे घिरे हुए पाञ्चालराज द्रुपदपर धावा किया और अपने प्रिय सम्बन्धीपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की॥ ४३½॥

अग्निनेव प्रदग्धानि वनानि शिशिरात्यये॥ ४४॥
शरदग्धान्यदृश्यन्त सैन्यानि द्रुपदस्य ह।

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आग लगनेसे सारे वन दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रुपदकी सारी सेनाएँ भीष्मके बाणोंसे दग्ध दिखायी देने लगीं॥ ४४½॥

अत्यतिष्ठद् रणे भीष्मो विधूम इव पावकः॥ ४५॥
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं तपन्तमिव तेजसा।
न शेकुः पाण्डवेयस्य योधा भीष्मं निरीक्षितुम्॥ ४६॥

उस समय भीष्म रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान खड़े थे। जैसे दुपहरीमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाके सैनिक भीष्मकी ओर दृष्टिपात करनेमें भी असमर्थ हो गये॥ ४५-४६॥

वीक्षांचक्रुः समन्तात् ते पाण्डवा भयपीडिताः।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः शीतार्दिता इव॥ ४७॥

पाण्डव योद्धा भयसे पीड़ित हो सब ओर देखने लगे; परंतु सर्दीसे पीड़ित हुई गौओंकी भाँति उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं मिला॥ ४७॥

सा तु यौधिष्ठिरी सेना गाङ्गेयशरपीडिता।
सिंहेनेव विनिर्भिन्ना शुक्ला गौरिव गोपते॥ ४८॥

राजन्! गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हुई वह युधिष्ठिरकी (श्वेत-परिधानविभूषित) सेना सिंहके द्वारा सतायी हुई सफेद गायके समान प्रतीत होने लगी॥ ४८॥

हते विप्रद्रुते सैन्ये निरुत्साहे विमर्दिते।
हाहाकारो महानासीत् पाण्डुसैन्येषु भारत॥ ४९॥

भारत! पाण्डव-सेनाके सैनिक बहुत-से मारे गये, बहुतेरे भाग गये, कितने रौंद डाले गये और कितने ही उत्साहशून्य हो गये। इस प्रकार पाण्डवदलमें बड़ा हाहाकार मच गया था॥ ४९॥

ततो भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव॥ ५०॥

उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको खींचकर गोल बना देते और उसके द्वारा विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते थे॥ ५०॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्यादिश्य भारत॥ ५१॥

भारत! नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंसे एक रास्ता बना देते और पाण्डव-रथियोंको चुन-चुनकर—उनके नाम ले-लेकर मारते थे॥

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन॥ ५२॥

इस प्रकार सारी सेना मथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया और सूर्य अस्ताचलको चले गये; उस समय अँधेरेमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था॥ ५२॥

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ॥ ५३॥

भरतश्रेष्ठ! इधर, उस महान् युद्धमें भीष्मका वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्तीके पुत्रोंने अपनी सेनाओंको युद्धक्षेत्रसे पीछे हटा लिया॥ ५३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि शङ्खयुद्धे प्रथमदिवसावहारे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें शङ्खका युद्ध तथा प्रथम दिनके युद्धका उपसंहारविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौञ्चारुणव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ।
भीष्मे च युद्धसंरब्धे हृष्टे दुर्योधने तथा॥ १॥
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सर्वैश्चैव जनेश्वरैः॥ २॥
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम्।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम्॥ ३॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! प्रथम दिनके युद्धमें जब पाण्डव-सेना पीछे हटा दी गयी, भीष्मजीका युद्धविषयक उत्साह बढ़ता ही गया और दुर्योधन हर्षातिरेकसे उल्लसित

हो उठा, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों और सम्पूर्ण राजाओंके साथ तुरंत भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और अत्यन्त शोकसे संतप्त हो भीष्मका पराक्रम देखकर अपनी पराजयके लिये चिन्ता करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ १-३ ॥

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम्॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण! देखिये, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणोंद्वारा मेरी सेनाको उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें लगी हुई आग घास-फूँसको जलाकर भस्म कर डालती है॥ ४ ॥

कथमेनं महात्मानं शक्ष्यामः प्रतिवीक्षितुम्।
लेलिह्यमानं सैन्यं मे हविष्मन्तमिवानलम्॥ ५ ॥

'जैसे अग्निदेव प्रज्वलित होकर हविष्यकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये महामना भीष्म अपनी बाणरूपी जिह्वासे मेरी सेनाको चाटते जा रहे हैं। हमलोग कैसे इनकी ओर देख सकेंगे—किस प्रकार इनका सामना कर सकेंगे?॥

एतं हि पुरुषव्याघ्रं धनुष्मन्तं महाबलम्।
दृष्ट्वा विप्रद्रुतं सैन्यं समरे मार्गणाहतम्॥ ६ ॥

'हाथमें धनुष लिये इन महाबली पुरुषसिंह भीष्मको देखकर और समरभूमिमें इनके बाणोंसे आहत होकर मेरी सारी सेना भागने लगती है॥ ६ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे।
वरुणः पाशभृद् वापि कुबेरो वा गदाधरः॥ ७ ॥
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः।

'क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेर भी कदाचित् युद्धमें जीते जा सकते हैं; परंतु महातेजस्वी, महाबली भीष्मको जीतना अशक्य है॥ ७½ ॥

सोऽहमेवंगते मग्नो भीष्मागाधजलेऽप्लवे॥ ८ ॥
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य केशव।

'केशव! ऐसी दशामें मैं तो अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण भीष्मसे टक्कर लेकर भीष्मरूपी अगाध जलराशिमें नावके बिना डूबा जा रहा हूँ॥ ८½ ॥

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम्॥ ९ ॥
न त्वेतान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे।

'वार्ष्णेय! अब मैं वनको चला जाऊँगा। वहीं जीवन बिताना मेरे लिये कल्याणकारी होगा। इन भूपालोंको व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्युको सौंप देनेमें कोई भलाई नहीं है॥ ९½ ॥

क्षपयिष्यति सेनां मे कृष्ण भीष्मो महास्त्रवित्॥ १० ॥

यथानलं प्रज्वलितं पतङ्गाः समभिद्रुताः।
विनाशायोपगच्छन्ति तथा मे सैनिको जनः॥ ११ ॥

'श्रीकृष्ण! भीष्म महान् दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं। वे मेरी सारी सेनाका संहार कर डालेंगे। जैसे पतिंगे मरनेके लिये ही जलती आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे समस्त सैनिक अपने विनाशके लिये ही भीष्मके समीप जाते हैं॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः॥ १२ ॥

'वार्ष्णेय! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं सब प्रकारसे क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भ्राता बाणोंसे पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं॥ १२ ॥

मत्कृते भ्रातृहार्देन राज्याद् भ्रष्टास्तथा सुखात्।
जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम्॥ १३ ॥

'ये बन्धुजनोचित सौहार्दके कारण मेरे लिये राज्य और सुखसे वञ्चित हो दुःख भोग रहे हैं। इस समय मैं इनके और अपने जीवनको ही बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि अब जीवन भी दुर्लभ है॥ १३ ॥

जीवितस्य च शेषेण तपस्तप्स्यामि दुश्चरम्।
न घातयिष्यामि रणे मित्राणीमानि केशव॥ १४ ॥

'केशव! जीवन बच जानेपर मैं दुष्कर तपस्या करूँगा; परंतु रणक्षेत्रमें इन मित्रोंकी व्यर्थ हत्या नहीं कराऊँगा॥

रथान् मे बहुसाहस्रान् दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः।
घातयत्यनिशं भीष्मः प्रवराणां प्रहारिणाम्॥ १५ ॥

'महाबली भीष्म अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा मेरे पक्षके श्रेष्ठ एवं प्रहारकुशल कई सहस्र रथियोंका निरन्तर संहार कर रहे हैं॥ १५ ॥

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव माचिरम्।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम्॥ १६ ॥

'माधव! शीघ्र बताइये, क्या करनेसे मेरा हित होगा? सव्यसाची अर्जुनको तो मैं इस युद्धमें मध्यस्थ (उदासीन)—सा देख रहा हूँ॥ १६ ॥

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ १७ ॥

'एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रिय-धर्मका विचार करता हुआ केवल बाहुबलके भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है॥ १७ ॥

गदया वीरघातिन्या यथोत्साहं महामनाः।
करोत्यसुकरं कर्म रथाश्वनरदन्तिषु॥ १८ ॥

'महामना भीमसेन उत्साहपूर्वक अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंपर अपना दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहा है॥ १८ ॥

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि ॥ १९ ॥

'माननीय वीर श्रीकृष्ण ! यदि इस तरह सरलतापूर्वक ही युद्ध किया जाय तो यह भीमसेन अकेला सौ वर्षोंमें भी शत्रु-सेनाका विनाश नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २० ॥

'केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है, परंतु यह भी महामना भीष्म और द्रोणके द्वारा दग्ध होते हुए हमलोगोंकी उपेक्षा कर रहा है ॥ २० ॥

दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
धक्ष्यन्ति क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः॥ २१ ॥

'महामना भीष्म और द्रोणके दिव्यास्त्र बार-बार प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भस्म कर डालेंगे ॥ २१ ॥

कृष्ण भीष्मः सुसंरब्धः सहितः सर्वपार्थिवैः।
क्षपयिष्यति नो नूनं यादृशोऽस्य पराक्रमः ॥ २२ ॥

'श्रीकृष्ण ! भीष्म क्रोधमें भरकर अपने पक्षके समस्त राजाओंके साथ मिलकर निश्चय ही हमलोगोंका विनाश कर देंगे । जैसा उनका पराक्रम है, उससे यही सूचित होता है ॥ २२ ॥

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम्।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा॥ २३ ॥

'महाभाग योगेश्वर ! आप ऐसे किसी महारथीको ढूँढ निकालिये, जो संग्राममभूमिमें भीष्मको उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानलको बुझा देता है ॥ २३ ॥

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः ॥ २४ ॥

'गोविन्द ! आपकी कृपासे ही पाण्डव अपने शत्रुओंको मारकर स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे'॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थो ध्यायन्नास्ते महामनाः।
चिरमन्तर्मना भूत्वा शोकोपहतचेतनः।
शोकार्तं तमथो ज्ञात्वा दुःखोपहतचेतसम् ॥ २५ ॥
अब्रवीत् तत्र गोविन्दो हर्षयन् सर्वपाण्डवान्।

ऐसा कहकर महामना युधिष्ठिर शोकसे व्याकुलचित्त हो बहुत देरतक मनको अन्तर्मुख करके ध्यानमग्न बैठे रहे । युधिष्ठिरको शोकसे आतुर और दुःखसे व्यथितचित्त जानकर गोविन्दने समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥२५½॥

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः।
अहं च प्रियकृद् राजन् सात्यकिश्च महायशाः॥ २७ ॥
विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम ॥ २८ ॥
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते।

'भरतश्रेष्ठ ! तुम शोक न करो। इस प्रकार शोक करना तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम्हारे शूर-वीर भाई सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात धनुर्धर हैं । राजन् ! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला ही हूँ । नृपश्रेष्ठ ! महायशस्वी सात्यकि, विराट, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसादकी प्रतीक्षा करते हैं । महाराज ! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं ॥

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः ॥ २९ ॥
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः।

'ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं और आपके प्रिय-साधनमें तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापतिका गुरुतर भार ग्रहण किया है ॥२९½ ॥

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल ॥ ३० ॥
(करिष्यति न संदेहो नृपाणां युधि पश्यताम्।)

'महाबाहो ! निश्चय ही इन समस्त राजाओंके देखते-देखते यह शिखण्डी भीष्मका वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है'॥ ३० ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम्।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते ही उस सभामें महारथी धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ३१ ॥

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम् ॥ ३२ ॥

'आदरणीय वीर धृष्टद्युम्न ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। मेरे कहे हुए वचनोंका तुम्हें उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मितः।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा ॥ ३३ ॥
तथा त्वमपि पाण्डूनां सेनानीः पुरुषर्षभ।

'तुम मेरे सेनापति हो, भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी हो । पुरुषरत्न ! पूर्वकालमें भगवान् कार्तिकेय जिस प्रकार देवताओंके सेनापति हुए थे, उसी प्रकार तुम भी पाण्डवोंके सेनानायक होओ' ॥ ३३½ ॥

(तच्छ्रुत्वा जहृषुः पार्थाः पार्थिवाश्च महारथाः।
साधु साध्विति तद्वाक्यमूचुः सर्वे महीक्षितः॥
पुनरप्यब्रवीद् राजा धृष्टद्युम्नं महाबलम् ॥)

युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त पाण्डव और महारथी भूपालगण सब-के-सब 'साधु-साधु' कहकर उनके

इन वचनोंकी सराहना करने लगे । तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने पुनः महाबली धृष्टद्युम्नसे कहा—॥

स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ॥ ३४ ॥
अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष ।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ॥ ३५ ॥
ये चान्ये पृथिवीपालाः प्रधानाः पुरुषर्षभ ।

'पुरुषसिंह ! तुम पराक्रम करके कौरवोंका नाश करो। मारिष ! नरश्रेष्ठ ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अन्य प्रधान-प्रधान भूपाल कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे' ॥ ३४-३५½ ॥

तत उद्धर्षयन् सर्वान् धृष्टद्युम्नोऽभ्यभाषत ॥ ३६ ॥
अहं द्रोणान्तकः पार्थ विहितः शम्भुना पुरा ।
रणे भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव ।

तब धृष्टद्युम्नने सबका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—'पार्थ ! मुझे भगवान् शङ्करने पहलेसे ही द्रोणाचार्यका काल बनाकर उत्पन्न किया है । पृथ्वीपते ! आज समराङ्गणमें मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओंका सामना करूँगा' ॥ ३६-३७½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैः पाण्डवैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ३८ ॥
समुद्यते पार्थिवेन्द्रे पार्षते शत्रुसूदने ।
तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम् ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले महान् धनुर्धर पाण्डवोंने उच्चस्वरमें सिंहनाद किया तथा शत्रुसूदन नृपश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके इस प्रकार युद्धके लिये उद्यत होनेपर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने सेनापति द्रुपदकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः ।
यं बृहस्पतिरिन्द्राय तदा देवासुरेऽब्रवीत् ॥ ४० ॥

'सेनापते ! क्रौञ्चारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है; जिसे बृहस्पतिने देवासुर-संग्रामके अवसर-पर इन्द्रको बताया था ॥ ४० ॥

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम् ।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

'शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले उस क्रौञ्चारुण व्यूहका तुम यथावत् रूपसे निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवोंके साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूहको अपनी आँखोंसे देखें' ॥ ४१ ॥

यथोक्तः स नृदेवेन विष्णुर्वज्रभृता यथा ।
(बार्हस्पत्येन विधिना व्यूहमार्गविचक्षणः ।)
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनंजयम् ॥ ४२॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र भगवान् विष्णुसे कुछ कहते हों, उसी प्रकार नरदेव युधिष्ठिरके पूर्वोक्त बात कहनेपर व्यूहरचनामें कुशल धृष्टद्युम्नने बृहस्पतिकी बतायी हुई विधिसे प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) ही समस्त सेनाओंका व्यूह निर्माण किया; उन्होंने सबसे आगे अर्जुनको खड़ा किया ॥ ४२ ॥

आदित्यपथगः केतुस्तस्याद्भुतमनोरमः ।
शासनात् पुरुहूतस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ॥ ४३ ॥

उनका अद्भुत एवं मनोरम ध्वज सूर्यके पथमें (ऊँचे आकाशमें) फहरा रहा था । इन्द्रके आदेशसे साक्षात् विश्व-कर्माने उसका निर्माण किया था ॥ ४३ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतः ।
आकाशग इवाकाशे गन्धर्वनगरोपमः ॥ ४४ ॥

इन्द्रधनुषके रंगकी पताकाएँ उस ध्वजकी शोभा बढ़ाती थीं । वह ध्वज आकाशमें आकाशचारी पक्षीकी भाँति बिना आधारके ही चलता था । वह दूरसे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

नृत्यमान इवाभाति रथचर्यासु मारिष ।
तेन रत्नवता पार्थः स च गाण्डीवधन्वना ॥ ४५ ॥
बभूव परमोपेतः सुमेरुरिव भानुना ।

आर्य ! रथके मार्गोंपर अर्जुनका वह ध्वज नृत्य करता-सा प्रतीत होता था। उस रत्नयुक्त ध्वजसे अर्जुनकी और गाण्डीव-धारी अर्जुनसे उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती थी, ठीक उसी तरह जैसे मेरु पर्वतसे सूर्यकी और सूर्यसे मेरु पर्वतकी शोभा होती है ॥ ४५½ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः ॥ ४६ ॥
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुर्भ्यां तौ जनेश्वरौ ।
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह ॥ ४७ ॥
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ ।

राजन् ! अपनी विशाल सेनाके साथ राजा द्रुपद उस व्यूहके सिरके स्थानपर थे । कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रोंके स्थानपर प्रतिष्ठित हुए । भरतश्रेष्ठ ! दाशार्णक, दाशेरकसमूहोंके साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दनके स्थानमें खड़े किये गये ॥ ४६-४७½ ॥

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा ॥ ४८ ॥
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४९ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च सात्यकिश्च महारथः ।
पिशाचा दारदाश्चैव पुण्ड्राः कुण्डीविषैः सह ॥ ५० ॥
मारुता धेनुकाश्चैव तङ्गणाः परतङ्गणाः ।
बाह्लिकास्तित्तिराश्चैव चोलाः पाण्ड्याश्च भारत ॥ ५१ ॥
एते जनपदा राजन् दक्षिणं पक्षमाश्रिताः ।

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादोंके साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभागमें स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौञ्चपक्षीके दोनों पंखोंके स्थानपर नियुक्त किये गये। राजन्! द्रौपदीके पुत्र, अभिमन्यु और महारथी सात्यकिके साथ पिशाच, दारद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तङ्गण, परतङ्गण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य—इन जनपदोंके लोग दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े हुए॥ ४८—५१½ ॥

अग्निवेश्यास्तु हुण्डाश्च मालवा दानभारयः ॥ ५२ ॥
शबरा उद्भसाश्चैव वत्साश्च सह नाकुलैः ।
नकुलः सहदेवश्च वामं पक्षं समाश्रिताः ॥ ५३ ॥

अग्निवेश्य, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्भस, वत्स तथा नाकुल जनपदोंके साथ दोनों भाई नकुल और सहदेवने बायें पंखका आश्रय लिया॥ ५२-५३ ॥

रथानामयुतं पक्षौ शिरस्तु नियुतं तथा ।
पृष्ठमर्बुदमेवासीत् सहस्राणि च विंशतिः ॥ ५४ ॥
ग्रीवायां नियुतं चापि सहस्राणि च सप्ततिः ।

उस क्रौञ्चपक्षीके पंखभागमें दस हजार, शिरोभागमें एक[1] लाख, पृष्ठभागमें एक अर्बुद[2] बीस हजार तथा ग्रीवाभागमें एक लाख सत्तर हजार रथ मौजूद थे॥ ५४½ ॥

पक्षकोटिप्रपक्षेषु पक्षान्तेषु च वारणाः ॥ ५५ ॥
जग्मुः परिवृता राजंश्चलन्त इव पर्वताः ।

राजन्! पक्ष[3], कोटि[4], प्रपक्ष[5] तथा पक्षान्त-भागोंमें चलते-फिरते पर्वतोंके समान हाथियोंके झुंड चले। वे सब-के-सब सेनाओंसे घिरे हुए थे॥ ५५½ ॥

जघनं पालयामास विराटः सह केकयैः ॥ ५६ ॥
काशिराजश्च शैब्यश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।

राजा विराट केकय राजकुमारोंके साथ उस व्यूहके जघन (कटिके अग्रभाग) की रक्षा करते थे। काशिराज और शैब्य भी तीस हजार रथियोंके साथ उसीकी रक्षामें तत्पर थे॥

एवमेनं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ॥ ५७ ॥
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौञ्चारुण नामक महाव्यूहकी रचना करके सूर्योदयकी प्रतीक्षा करते हुए युद्धके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये॥ ५७½ ॥

तेषामादित्यवर्णानि विमलानि महान्ति च ।
श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च ॥ ५८ ॥

उनके हाथियों और रथोंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशमान, निर्मल एवं महान् श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि क्रौञ्चव्यूहनिर्माणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें क्रौञ्चव्यूहनिर्माणविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शङ्खध्वनि और सिंहनाद

संजय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो व्यूहमभेद्यं तनयस्तव ।
रक्ष्यमाणं महाघोरं पार्थेनामिततेजसा ॥ १ ॥
आचार्यमुपसंगम्य कृपं शल्यं च पार्थिव ।
सौमदत्तिं विकर्णं च सोऽश्वत्थामानमेव च ॥ २ ॥
दुःशासनादीन् भ्रातॄंश्च सर्वानेव च भारत ।
अन्यांश्च सुबहूञ्शूरान् युद्धाय समुपागतान् ॥ ३ ॥
प्राहेदं वचनं काले हर्षयंस्तनयस्तव ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस अत्यन्त भयंकर अभेद्य क्रौञ्चव्यूहको अमिततेजस्वी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित देखकर आपका पुत्र दुर्योधन आचार्य द्रोण, कृप, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, अश्वत्थामा और दुःशासन आदि सब भाइयों तथा युद्धके लिये आये हुए अन्य बहुतेरे शूर-वीरोंके पास जाकर उन सबका हर्ष बढ़ाता हुआ यह समयोचित वचन बोला—

१. यहाँ 'नियुत' का अर्थ एक लाख किया गया है। किसी-किसीके मतमें उसका अर्थ दस लाख भी होता है। २. दस करोड़की संख्याको अर्बुद कहते हैं। ३. पंख। ४. अग्रभाग। ५. पंखके भीतरके छोटे-छोटे पंख।

'वीरो ! आप सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल तथा युद्धकी कलामें निपुण हैं ॥ १–४ ॥

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥ ५ ॥

'आप सभी महारथी हैं। आपमेंसे प्रत्येक योद्धा रण-क्षेत्रमें सेनासहित पाण्डवोंका वध करनेमें समर्थ हैं। फिर सब लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तमिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ ६ ॥
संस्थानाः शूरसेनाश्च वेत्रिकाः कुकुरास्तथा ।
आरोचकास्त्रिगर्ताश्च मद्रका यवनास्तथा ॥ ७ ॥
शत्रुंजयेन सहितास्तथा दुःशासनेन च ।
विकर्णेन च वीरेण तथा नन्दोपनन्दकैः ॥ ८ ॥
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ॥ ९ ॥

'भीष्मपितामहके द्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है, परंतु भीमसेनके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवों-की यह सेना जीतनेमें सुगम है; अतः मेरी राय है कि संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, मद्रक तथा यवन आदि देशोंके लोग शत्रुंजय, दुःशासन, वीर विकर्ण, नन्द, उपनन्द, चित्रसेन तथा पारिभद्रक वीरोंके साथ जाकर अपनी सेनाको आगे रखते हुए भीष्मकी ही रक्षा करें' ॥ ६–९ ॥

(*संजय उवाच*

दुर्योधनवचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
तथेत्येनं नृपा ऊचुस्तदा द्रोणपुरोगमाः ॥)

संजय कहते हैं—महाराज ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोण आदि सभी महारथियों एवं राजाओंने उस समय 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च तव पुत्राश्च मारिष ।
अव्यूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ॥ १० ॥

आर्य ! तदनन्तर भीष्म, द्रोण तथा आपके पुत्रोंने मिल-कर अपनी सेनाका महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव-सैनिकोंको बाधा पहुँचानेमें समर्थ था ॥ १० ॥

भीष्मः सैन्येन महता समन्तात् परिवारितः ।
ययौ प्रकर्षन् महतीं वाहिनीं सुरराडिव ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत-बड़ी सेनाद्वारा सब ओरसे घिरे हुए भीष्म देवराज इन्द्रकी भाँति विशाल वाहिनी साथ लिये आगे-आगे चले ॥ ११ ॥

तमन्वयान्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
कुन्तलैश्च दशार्णैश्च मागधैश्च विशाम्पते ॥ १२ ॥
विदर्भैर्मेकलैश्चैव कर्णप्रावरणैरपि ।
सहिताः सर्वसैन्येन भीष्ममाहवशोभिनम् ॥ १३ ॥
गान्धाराः सिन्धुसौवीराः शिबयोऽथ वसातयः ।

उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने युद्धके लिये प्रस्थान किया। महाराज ! उस समय कुन्तल, दशार्ण, मागध, विदर्भ, मेकल तथा कर्णप्रावरण आदि देशोंके सैनिकोंके साथ गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिबि तथा वसाति देशोंके वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १२-१३½ ॥

शकुनिश्च स्वसैन्येन भारद्वाजमपालयत् ॥ १४ ॥
ततो दुर्योधनो राजा सहितः सर्वसोदरैः ।
अश्वातकैर्विकर्णैश्च तथा चाम्बष्ठकोसलैः ॥ १५ ॥
दरदैश्च शकैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ।
अभ्यरक्षत संहृष्टः सौबलेयस्य वाहिनीम् ॥ १६ ॥

शकुनिने अपनी सेना साथ लेकर द्रोणाचार्यकी रक्षामें योग दिया। तत्पश्चात् अपने भाइयोंसहित राजा दुर्योधन अत्यन्त हर्षमें भरकर अश्वातक, विकर्ण, अम्बष्ठ, कोसल, दरद, शक, क्षुद्रक तथा मालव आदि देशोंके योद्धाओंके साथ सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संरक्षण करने लगा ॥१४–१६॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ वामं पार्श्वमपालयन् ॥ १७ ॥
सौमदत्तिः सुशर्मा च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च दक्षिणं पक्षमास्थिताः ॥ १८ ॥

भूरिश्रवा, शल, शल्य, आदरणीय राजा भगदत्त तथा अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द उस सारी सेनाके वामभागकी रक्षा कर रहे थे। सोमदत्तपुत्र भूरि, त्रिगर्तराज सुशर्मा, काम्बोजराज सुदक्षिण, श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दक्षिणभागमें स्थित होकर उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
महत्या सेनया सार्धं सेनापृष्ठे व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा अपनी विशाल सेनाके साथ कौरवसेनाके पृष्ठभागमें खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे ॥ १९ ॥

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् नानादेश्या जनेश्वराः ।
केतुमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ २० ॥

केतुमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक देशोंके नरेश सेना पृष्ठके पोषक थे ॥ २० ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत ।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ताः सिंहनादांस्तथोन्नदन् ॥ २१ ॥

भारत ! तदनन्तर आपकी सेनाके समस्त सैनिक हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥

तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २२ ॥

उनका हर्षनाद सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह प्रतापी भीष्मने जोर-जोरसे सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे ।
आनकाश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर शङ्ख, भेरी, नाना प्रकारके पणव और आनक आदि अन्य बाजे सहसा बज उठे और उन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा ॥ २३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने सुवर्णभूषित श्रेष्ठ शङ्खोंको बजाने लगे ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ २५ ॥

हृषीकेशने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥२५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ २६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया ॥२६॥

काशिराजश्च शैब्यश्च शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २७ ॥
पाञ्चाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ॥ २८ ॥

काशिराज, शैब्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, महारथी सात्यकि, पाञ्चालवीर, महाधनुर्धर द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी बड़े-बड़े शङ्खोंको बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २७-२८ ॥

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ॥ २९ ॥

वहाँ उन वीरोंद्वारा प्रकट किया हुआ वह महान् तुमुल घोष पृथ्वी और आकाशको निनादित करने लगा ॥ २९ ॥

एवमेते महाराज प्रहृष्टाः कुरुपाण्डवाः ।
पुनर्युद्धाय संजग्मुस्तापयानाः परस्परम् ॥ ३० ॥

महाराज ! इस प्रकार ये हर्षमें भरे हुए कौरव-पाण्डव एक दूसरेको संताप देते हुए पुनः युद्धके लिये रणक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि कौरवव्यूहरचनायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें कौरव-व्यूह-रचनाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
कथं प्रहरतां श्रेष्ठाः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार मेरे और पाण्डवोंके सैनिकोंकी व्यूह-रचना हो जानेपर उन श्रेष्ठ योद्धाओंने किस प्रकार युद्ध प्रारम्भ किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

(तावकाः पाण्डवैः सार्धं यथायुध्यन्त तच्छृणु ।)
समं व्यूढेष्वनीकेषु संनद्धरुचिरध्वजम् ।
अपारमिव संदृश्य सागरप्रतिमं बलम् ॥ २ ॥
तेषां मध्ये स्थितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् युद्ध्यध्वमिति दंशिताः ॥३॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जिस प्रकार युद्ध किया, वह बताता हूँ, सुनिये । जब सब सेनाओंकी व्यूहरचना हो गयी, तब समस्त सेना एक होकर एक अपार महासागरके समान प्रतीत होने लगी । उसमें सब ओर रथ आदिमें आबद्ध सुन्दर ध्वजा फहराती दिखायी देती थी । उसे देखकर सैनिकोंके बीचमें खड़ा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन आपके सभी योद्धाओंसे इस प्रकार बोला—'कवचधारी वीरो ! युद्ध आरम्भ करो' ॥ २-३ ॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ४ ॥

तब उन सबने मनको कठोर बनाकर प्राणोंका मोह छोड़कर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ ५ ॥

फिर तो आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये थे ॥ ५ ॥

मुक्तास्तु रथिभिर्बाणा रुक्मपुङ्खाः सुतेजसः।
संनिपेतुरकुण्ठाग्रा नागेषु च हयेषु च ॥ ६ ॥

रथियोंके छोड़े हुए सुवर्णमय पंखयुक्त तेजस्वी बाण कहीं भी कुण्ठित न होकर हाथियों और घोड़ोंपर पड़ने लगे ॥ ६ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥
सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे।
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ॥ ८ ॥
एतेषु नरवीरेषु चेदिमत्स्येषु चाभिभूः।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जानेपर भयंकर पराक्रमी एवं कुरुकुलके प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म धनुष उठाये कवच बाँधे सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकय, विराट एवं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन सब नरवीरोंपर और चेदि तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७—९ ॥

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ १० ॥

वीरोंके इस संघर्षमें सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और सभी सैनिकोंका आपसमें महान् सम्मिश्रण हो गया ॥ १० ॥

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ११ ॥

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवोंकी रथसेना पलायन करने लगी ॥

अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम्।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ॥ १२ ॥
एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम्।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ॥ १३ ॥

तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने महारथी भीष्मको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुपित होकर कहा—'वार्ष्णेय! जहाँ पितामह भीष्म हैं, वहाँ चलिये। अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे; क्योंकि इस समय ये दुर्योधनके हितमें तत्पर हैं ॥ १२-१३॥

एष द्रोणः कृपः शल्यो विकर्णश्च जनार्दन।
धार्तराष्ट्राश्च सहिता दुर्योधनपुरोगमाः ॥ १४ ॥
पञ्चालान् निहनिष्यन्ति रक्षिता दृढधन्वना।
सोऽहं भीष्मं वधिष्यामि सैन्यहेतोर्जनार्दन ॥ १५ ॥

'जनार्दन! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीष्मके द्वारा सुरक्षित हो ये द्रोण, कृप, शल्य, विकर्ण तथा दुर्योधन आदि समस्त धृतराष्ट्रपुत्र मिलकर पाञ्चाल योद्धाओंका संहार कर डालेंगे। अतः सेनाकी रक्षाके लिये मैं भीष्मका वध कर डालूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनंजय।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ॥ १६ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'धनंजय! सावधान हो जाओ। अभी तुम्हें भीष्मके रथके समीप पहुँचाये देता हूँ' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम्।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर! ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस विश्वविख्यात रथको भीष्मजीके रथके निकट पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

चलद्बहुपताकेन बलाकावर्णवाजिना।
समुच्छ्रितमहाभीमनदद्वानरकेतुना ॥ १८ ॥
महता मेघनादेन रथेनामिततेजसा।
विनिघ्नन् कौरवानीकं शूरसेनांश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
प्रायाच्छरणदः शीघ्रं सुहृदां हर्षवर्धनः।

उस रथपर बहुत-सी पताकाएँ फहरा रही थीं। उसमें बकपंक्तिके समान श्वेतवर्णवाले चार घोड़े जुते हुए थे। उसके अत्यन्त ऊँचे ध्वजके ऊपर एक वानर भयंकर गर्जना करता था। उस रथके पहियोंकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी तथा वह रथ अनन्त तेज (कान्ति) से सम्पन्न था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो पाण्डुनन्दन अर्जुन, जो सबको शरण देनेवाले और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले थे, कौरवसेना एवं शूरसेनदेशीय योद्धाओंका वध करते हुए शीघ्रतापूर्वक भीष्मके पास गये ॥ १८-१९½ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ २० ॥
त्रासयन्तं रणे शूरान् मर्दयन्तं च सायकैः।
सैन्धवप्रमुखैर्गुप्तः प्राच्यसौवीरकेकयैः ॥ २१ ॥
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम्।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति उन्हें वेगसे आते और रणक्षेत्रमें सायकोंद्वारा शूरवीरोंका मर्दन करके उन्हें भयभीत करते देख जयद्रथ आदि राजाओं तथा पूर्वदेश, सौवीर राज्य और केकय प्रदेशके योद्धाओंसे सुरक्षित शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुनकी ओर बढ़े ॥ २०-२१½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानमन्यः कुरुपितामहात् ॥ २२ ॥
द्रोणवैकर्तनाभ्यां वा रथी संयातुमर्हति।

महाराज! कुरुकुलके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा

कर्णके सिवा दूसरा कौन ऐसा रथी है, जो गाण्डीवधारी अर्जुनका सामना कर सके ॥ २२½ ॥

ततो भीष्मो महाराज सर्वलोकमहारथः ॥ २३ ॥
अर्जुनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समाचिनोत् ।
द्रोणश्च पञ्चविंशत्या कृपः पञ्चाशता शरैः ॥ २४ ॥
दुर्योधनश्चतुःषष्ट्या शल्यश्च नवभिः शरैः ।
सैन्धवो नवभिश्चैव शकुनिश्चापि पञ्चभिः ॥ २५ ॥
विकर्णो दशभिर्भल्लै राजन् विव्याध पाण्डवम् ।

नरेश्वर ! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी भीष्मने अर्जुनपर सतहत्तर बाण चलाये, द्रोणने पचीस, कृपाचार्यने पचास, दुर्योधनने चौसठ, शल्यने नौ, जयद्रथने नौ, शकुनिने पाँच तथा विकर्णने दस भल्ल नामक बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको बींध डाला ॥ २३-२५½ ॥

स तैर्विद्धो महेष्वासः समन्तान्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
न विव्यथे महाबाहुर्भिद्यमान इवाचलः ।

इन समस्त तीखे बाणोंद्वारा चारों ओरसे विद्ध होनेपर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए। ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वतको बाणोंसे बींध दिया हो ॥ २६½ ॥

स भीष्मं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥
द्रोणं षष्ट्या नरव्याघ्रो विकर्णं च त्रिभिः शरैः ।
शल्यं चैव त्रिभिर्बाणै राजानं चैव पञ्चभिः ॥ २८ ॥
प्रत्यविध्यदमेयात्मा किरीटी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुनने भीष्मको पचीस, कृपाचार्यको नौ, द्रोणको साठ, विकर्णको तीन, शल्यको तीन तथा राजा दुर्योधनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २७-२८½

तं सात्यकिर्विराटश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च परिवव्रुर्धनंजयम् ।

उस समय सात्यकि, विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु—इन सबने अर्जुनको उनकी रक्षाके लिये चारों ओरसे घेर लिया ॥ २९½ ॥

ततो द्रोणं महेष्वासं गाङ्गेयस्य प्रिये रतम् ॥ ३० ॥
अभ्यवर्तत पाञ्चाल्यः संयुक्तः सह सोमकैः ।

तदनन्तर गङ्गानन्दन भीष्मका प्रिय करनेमें लगे हुए महाधनुर्धर द्रोणाचार्यपर सोमकोंसहित धृष्टद्युम्नने आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ॥ ३१ ॥
अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ।

राजन् ! तब रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने पाण्डुनन्दन अर्जुनको अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला। यह देखकर आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल करने लगे ॥ ३१½ ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ॥ ३२ ॥
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ।
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनंजयः ॥ ३३ ॥
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ।
ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ।

उन समस्त कौरवोंका हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुनने उनकी सेनाके भीतर प्रवेश किया। राजन् ! उन महारथियोंके भीतर पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने बाणोंका निशाना बनाकर धनुषसे खेल करने लगे। तब प्रजापालक राजा दुर्योधनने अर्जुनके द्वारा युद्धमें अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख भीष्मसे कहा— ॥ ३२-३४½ ॥

एष पाण्डुसुतस्तात कृष्णेन सहितो बली ॥ ३५ ॥
यततां सर्वसैन्यानां मूलं नः परिकृन्तति ।
त्वयि जीवति गाङ्गेय द्रोणे च रथिनां वरे ॥ ३६ ॥

'तात ! ये पाण्डुके बलवान् पुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके साथ आकर समस्त सैन्योंके प्रयत्नशील होनेपर भी हमलोगोंका मूलोच्छेद कर रहे हैं। गङ्गानन्दन ! आपके तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके जीते-जी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं ३५-३६

त्वत्कृते चैव कर्णोऽपि न्यस्तशस्त्रो विशाम्पते ।
न युध्यति रणे पार्थं हितकामः सदा मम ॥ ३७ ॥
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ।

'प्रजानाथ ! आपहीके कारण कर्णने भी हथियार डाल दिया है और वह रणभूमिमें अर्जुनसे युद्ध नहीं कर रहा है। कर्ण मेरा सदा हित चाहनेवाला है। गङ्गानन्दन ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे अर्जुन मार डाले जायँ' ॥ ३७½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ३८ ॥
धिक् क्षात्रं धर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ।

राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके पितृ-तुल्य भीष्म 'क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है' ऐसा कहकर अर्जुनके रथकी ओर चले ॥ ३८½ ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च मारिष ।

महाराज ! उन दोनोंके रथोंमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे। आर्य ! उन्हें एक दूसरेसे भिड़े हुए देख सब राजा जोर-जोरसे सिंहनाद करने और शङ्ख फूँकने लगे ॥ ३९½ ॥

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ॥ ४० ॥
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ।

आर्य ! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपके पुत्र विकर्ण—ये सभी समराङ्गणमें भीष्मको घेरकर युद्धके लिये खड़े थे ॥ ४०½ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ ४१ ॥
स्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनको सब ओरसे घेरकर महायुद्धके लिये वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ४१½ ॥

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ।

गङ्गानन्दन भीष्मने उस रणक्षेत्रमें नौ बाणोंसे अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी। तब अर्जुनने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४२½ ॥

ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः ॥ ४३ ॥
अर्जुनः समरश्लाघी भीष्मस्यावारयद् दिशः ।

तदनन्तर युद्धकी श्लाघा रखनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए एक हजार बाणोंद्वारा भीष्मको सब ओरसे रोक दिया ॥ ४३½ ॥

शरजालं ततस्तत् तु शरजालेन मारिष ॥ ४४ ॥
वारयामास पार्थस्य भीष्मः शान्तनवस्तदा ।

माननीय महाराज ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनके इस बाणसमूहका अपने बाणसमूहसे निवारण कर दिया ॥ ४४½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ॥ ४५ ॥
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्षमें भरकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। दोनों ही दोनोंके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करते हुए समानभावसे युद्ध करने लगे ॥ ४५½ ॥

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ॥ ४६ ॥
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ।

भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायकोंके समूह अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ॥ ४६½ ॥

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ॥ ४७ ॥
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ।

इसी प्रकार अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूह गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर सब ओर पड़े हुए थे ॥ ४७½ ॥

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः॥ ४८ ॥
भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः ।

अर्जुनने पचीस तीखे बाणोंसे मारकर भीष्मको पीड़ित कर दिया। फिर भीष्मने भी समरभूमिमें अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा अर्जुनको बींध दिया ॥ ४८½ ॥

अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा ध्वजौ च सुमहाबलौ॥ ४९॥
रथेषां रथचक्रे च चिक्रीडतुररिंदमौ ।

वे दोनों शत्रुओंका दमन करनेवाले तथा अत्यन्त बलवान् थे। अतः एक दूसरेके घोड़ों, ध्वजाओं, रथके ईषादण्ड तथा पहियोंको बाणोंसे बींधकर खेल-सा करने लगे ४९½

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५० ॥
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

महाराज ! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर तीन बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५०½ ॥

भीष्मचापच्युतैस्तैस्तु निर्विद्धो मधुसूदनः ॥ ५१ ॥
विरराज रणे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ।

राजन् ! भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंसे विद्ध होकर भगवान् मधुसूदन रणभूमिमें रक्तरंजित हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ५१½ ॥

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ॥ ५२ ॥
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ।

श्रीकृष्णको घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकोंद्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्मके सारथिको विदीर्ण कर डाला ॥ ५२½ ॥

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ॥ ५३ ॥
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ।

इस प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे; तथापि वे युद्धभूमिमें परस्पर अभिसंधान (घातक प्रहार) करनेमें सफल न हो सके ॥ ५३½ ॥

तौ मण्डलानि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ ५४ ॥
अदर्शयेतां बहुधा सूतसामर्थ्यलाघवात् ।

वे दोनों अपने सारथिकी शक्ति तथा शीघ्रकारिताके कारण नाना प्रकारके विचित्र मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदिके पैंतरे दिखाने लगे ॥ ५४½ ॥

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ॥ ५५ ॥
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ।

राजन् ! दोनों ही एक दूसरेके प्रहारोंमें छिद्र ढूँढ़नेके लिये सतर्क थे। वे बारंबार छिद्रान्वेषणके मार्गमें स्थित हो छिद्र देखनेमें संलग्न रहते थे ॥ ५५½ ॥

उभौ सिंहरवोन्मिश्रं शङ्खशब्दं च चक्रतुः ॥ ५६ ॥
तथैव चापनिर्घोषं चक्रतुस्तौ महारथौ ।

वे दोनों महारथी सिंहनादसे मिला हुआ शङ्खनाद करते और धनुषकी टंकार फैलाते रहते थे ॥ ५६½ ॥

तयोः शङ्खनिनादेन रथनेमिस्वनेन च ॥ ५७ ॥
दारिता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ।

उनकी शङ्खध्वनि तथा रथके पहियोंकी घरघराहटसे पृथ्वी सहसा विदीर्ण-सी होकर काँपने और आर्तनाद करने लगी ॥ ५७½ ॥

नोभयोरन्तरं कश्चिद् ददृशे भरतर्षभ ॥ ५८ ॥
बलिनौ युद्धदुर्धर्षावन्योन्यसदृशावुभौ ।

भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों वीर बलवान्, युद्धमें दुर्जय तथा एक दूसरेके अनुरूप थे । अतः ढूँढ़नेपर भी कोई उनमेंसे किसीका अन्तर न देख सका ॥ ५८½ ॥

चिह्नमात्रेण भीष्मं तु प्रजज्ञुस्तत्र कौरवाः ॥ ५९ ॥
तथा पाण्डुसुताः पार्थं चिह्नमात्रेण जज्ञिरे ।

उस समय कौरवोंने भीष्मको तालध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पहचाना । इसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंने भी कपिध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पार्थकी पहचान की ॥ ५९½ ॥

तयोर्नृवरयोर्दृष्ट्वा तादृशं तं पराक्रमम् ॥ ६० ॥
विस्मयं सर्वभूतानि जग्मुर्भारत संयुगे ।

भारत ! उस संग्राममें उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके वैसे पराक्रमको देखकर सम्पूर्ण प्राणी बड़े विस्मयमें पड़ गये६०½

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ॥ ६१ ॥
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ।

भरतनन्दन ! जैसे कोई धर्मनिष्ठ पुरुषमें कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रणक्षेत्रमें उन दोनों योद्धाओंका छिद्र नहीं देख पाता था ॥ ६१½ ॥

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ॥ ६२ ॥
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ।

दोनों ही संग्रामभूमिमें एक दूसरेके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकाशमें आ जाते थे ॥ ६२½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाश्चारणाश्चर्षिभिः सह ॥ ६३ ॥
अन्योन्यं प्रत्यभाषन्त तयोर्दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
न शक्यौ युधि संरब्धौ जेतुमेतौ कथञ्चन ॥ ६४ ॥
सदेवासुरगन्धर्वैर्लोकैरपि महारथौ ।

वहाँ आये हुए देवता, गन्धर्व, चारण और महर्षिगण उन दोनोंका पराक्रम देखकर आपसमें कहने लगे कि ये दोनों महारथी वीर रोषावेशमें भरे हुए हैं; अतः ये देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा भी किसी प्रकार जीते नहीं जा सकते ॥ ६३-६४½ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेषु युद्धमेतन्महाद्भुतम् ॥ ६५ ॥
नैतादृशानि युद्धानि भविष्यन्ति कथञ्चन ।
न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ॥ ६६ ॥
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ।

यह अत्यन्त अद्भुत युद्ध सम्पूर्ण लोकोंके लिये आश्चर्यजनक घटना है । भविष्यमें ऐसे युद्ध होनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं है । बुद्धिमान् पार्थ रणभूमिमें भीष्मको कदापि जीत नहीं सकते; क्योंकि वे समरभूमिमें रथ, घोड़े और धनुषसहित उपस्थित हो बाणोंको बीजकी भाँति बो रहे हैं ॥ ६५-६६½ ॥

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ॥ ६७ ॥
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ।
आलोकादपि युद्धं हि सममेतद् भविष्यति ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार भीष्म भी युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय, गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते । यदि ये दोनों लड़ते रहें तो जबतक यह संसार स्थित है, तबतक इन दोनोंका यह युद्ध समानरूपसे ही चलता रहेगा ॥६७-६८॥

इति स्म वाचोऽश्रूयन्त प्रोच्चरन्त्यस्ततस्ततः ।
गाङ्गेयार्जुनयोः संख्ये स्तवयुक्ता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार रणभूमिमें भीष्म और अर्जुनकी स्तुतिप्रशंसासे युक्त बहुत-सी बातें इधर-उधर लोगोंके मुँहसे निकलती और सुनायी देती थीं ॥ ६९ ॥

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ॥ ७० ॥

भारत ! उस समय वहाँ उन दोनों वीरोंके पराक्रम करते समय युद्धस्थलमें आपके और पाण्डवपक्षके योद्धा भी एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ७० ॥

शितधारैस्तथा खड्गैर्विमलैश्च परश्वधैः ।
शरैरन्यैश्च बहुभिः शस्त्रैर्नानाविधैरपि ॥ ७१ ॥
उभयोः सेनयोः शूरा न्यकृन्तन्त परस्परम् ।

तीखी धारवाले खड्गों, चमचमाते हुए फरसों, अन्य अनेक प्रकारके बाणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेको मारते थे ॥ ७१½ ॥

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ॥ ७२ ॥

राजन् ! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक तथा अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भयंकर मुठभेड़ हो रही थी ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनका युद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७२½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाञ्चाल्यश्चापि पार्षतः।
उभौ समीयतुर्यत्तौ तन्ममाचक्ष्व संजय॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ये दोनों वीर किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक आपसमें युद्ध कर रहे थे, वह सब वृत्तान्त मुझसे कहो॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषादिति मे मतिः।
यत्र शान्तनवो भीष्मो नातरद् युधि पाण्डवम्॥ २॥

मैं तो पुरुषार्थसे अधिक प्रबल भाग्यको ही मानता हूँ और इसीपर विश्वास करता हूँ, जिसके अनुसार शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनसे पार न पा सके॥२॥

भीष्मो हि समरे क्रुद्धो हन्याल्लोकांश्चराचरान्।
स कथं पाण्डवं युद्धे नातरत् संजयौजसा॥ ३॥

संजय! भीष्म रणक्षेत्रमें कुपित हो जायँ तो वे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको मार सकते हैं। फिर वे अपने पराक्रमद्वारा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्यों न पार पा सके?॥ ३॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा युद्धमेतत् सुदारुणम्।
न शक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः॥ ४॥

संजयने कहा—राजन्! पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। अब आप इस अत्यन्त भयंकर युद्धका वृत्तान्त स्थिर होकर सुनिये॥ ४॥

द्रोणस्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्॥ ५॥

द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके सारथिको भल्लके द्वारा मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया॥ ५॥

तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः।
पीडयामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष॥ ६॥

आर्य! क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने चार उत्तम सायकोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको भी बहुत पीड़ा दी॥ ६॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः।
विव्याध प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ ७॥

तब धृष्टद्युम्नने हँसकर नब्बे पैने बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥ ७॥

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान्।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम्॥ ८॥

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्यने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे ढक दिया॥८॥

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम्॥ ९॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वितीय कालदण्डके समान एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था॥ ९॥

हाहाकारो महानासीत् सर्वसैन्येषु भारत।
तमिषुं संधितं दृष्ट्वा भारद्वाजेन संयुगे॥ १०॥

भरतनन्दन! युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा उस बाणका संधान होता देख सम्पूर्ण पाण्डवसेनामें महान् हाहाकार मच गया॥

तत्राद्भुतमपश्याम धृष्टद्युम्नस्य पौरुषम्।
यदेकः समरे वीरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ ११॥

उस समय मैंने वहाँ धृष्टद्युम्नका अद्भुत पराक्रम देखा। वह वीर समराङ्गणमें अकेला ही पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा॥ ११॥

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह॥ १२॥

अपने लिये मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाणको देखकर धृष्टद्युम्नने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्यपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ १२॥

तत उच्चुक्रुशुः सर्वे पञ्चालाः पाण्डवैः सह।
धृष्टद्युम्नेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम्॥ १३॥

धृष्टद्युम्नके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर पाण्डवसहित समस्त पाञ्चाल वीर हर्षसे कोलाहल कर उठे॥ १३॥

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम्।
द्रोणस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेप स पराक्रमी॥ १४॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यकी मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्नने उनके ऊपर सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे भूषित अत्यन्त वेगशालिनी शक्ति चलायी॥ १४॥

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम्।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव॥ १५॥

उस सुवर्णभूषित शक्तिको सहसा आती देख द्रोणाचार्यने समरभूमिमें हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये॥ १५॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

जनेश्वर ! अपनी शक्तिको नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ॥ १७ ॥

तब महायशस्वी द्रोणने उस बाण-वर्षाका निवारण करके द्रुपदपुत्रके धनुषको बीचसे ही काट डाला ॥ १७ ॥

स च्छिन्नधन्वा समरे गदां गुर्वीं महायशाः।
द्रोणाय प्रेषयामास गिरिसारमयीं बली ॥ १८ ॥

धनुष कट जानेपर महायशस्वी बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने समरभूमिमें द्रोणाचार्यपर लोहेकी बनी हुई एक भारी गदा चलायी ॥ १८ ॥

सा गदा वेगवन्मुक्ता प्रायाद् द्रोणजिघांसया।
तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य विक्रमम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक छोड़ी हुई वह गदा बड़े जोरसे चली; परंतु वहाँ हमलोगोंने उस समय द्रोणाचार्यका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ १९ ॥

लाघवाद् व्यंसयामास गदां हेमविभूषिताम्।
व्यंसयित्वा गदां तां च प्रेषयामास पार्षतम् ॥ २० ॥
भल्लान् सुनिशितान् पीतान् रुक्मपुंखान् सुदारुणान्।
ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ २१ ॥

उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उस स्वर्णभूषित गदाको व्यर्थ कर दिया। इस प्रकार उस गदाको निष्फल करके द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर सुवर्णमय पंखोंसे युक्त अत्यन्त तीक्ष्ण पानीदार और भयंकर 'भल्ल' नामक बाण चलाये। वे बाण धृष्टद्युम्नका कवच छेदकर रणक्षेत्रमें उनका रक्त पीने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धृष्टद्युम्नो महारथः।
द्रोणं युधि पराक्रम्य शरैर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २२ ॥

तब महारथी धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर युद्धमें पराक्रम-पूर्वक पाँच बाण मारकर द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया॥

रुधिराक्तौ ततस्तौ तु शुशुभाते नरर्षभौ।
वसन्तसमये राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ २३ ॥

राजन् ! उस समय वे दोनों नरश्रेष्ठ लहू-लुहान होकर वसंत ऋतुमें खिले हुए दो पलाश वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

अमर्षितस्ततो राजन् पराक्रम्य चमूमुखे।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य पुनश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब उस सेनाके अग्रभागमें खड़े हो अमर्षमें भरे हुए द्रोणाचार्यने पराक्रम प्रकट करते हुए पुनः धृष्टद्युम्न-का धनुष काट दिया ॥ २४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैः संनतपर्वभिः।
अभ्यवर्षदमेयात्मा वृष्ट्या मेघ इवाचलम् ॥ २५ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने जिसका धनुष कट गया था, उन धृष्टद्युम्नपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ किसी पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो॥

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्।
अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
पातयामास समरे सिंहनादं ननाद च।
ततोऽपरेण भल्लेन हस्ताच्चापमथाच्छिनत् ॥ २७ ॥

साथ ही उन्होंने भल्ल मारकर धृष्टद्युम्नके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी मार गिराया। फिर वे समराङ्गणमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरा बाण मारकर उनके हाथमें स्थित दूसरे धनुषको भी काट डाला ॥ २६-२७ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ॥ २८ ॥
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और घोड़े तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथमें गदा लेकर उतरने लगे। भारत ! इतनेहीमें अपने महान् पौरुषका परिचय देते हुए द्रोणाचार्यने तुरंत ही बाण मारकर रथसे उतरते-उतरते ही उनकी गदाको भी गिरा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ २८-२९ ॥

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत्।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ॥ ३० ॥
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ३१ ॥

तब सुन्दर बाँहोंवाले बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने चन्द्राकार सौ फुल्लियोंसे सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथमें लेकर द्रोणका वध करनेकी इच्छासे उनके ऊपर वेगपूर्वक आक्रमण किया। ठीक उसी तरह, जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वनमें किसी मतवाले हाथी-पर धावा करता है ॥ ३०-३१ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम्।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्यका अद्भुत हस्त-लाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल तथा पुरुषार्थ देखा ॥ ३२ ॥

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम्।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको सहसा आगे बढ़नेसे रोक दिया। अतः वे बलवान् होनेपर भी युद्धमें द्रोणाचार्यके पासतक न पहुँच सके ॥ ३३ ॥

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्यसे रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर पुरुषकी भाँति अपनी ढालसे ही उनके बाण-समूहोंका निवारण करने लगे ॥ ३४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब बलवान् वीर महाबाहु भीम सहसा समरमें महामना धृष्टद्युम्नकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

स द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ॥ ३६ ॥

राजन् ! उन्होंने सात पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तुरंत ही अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३६ ॥

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमचोदयत्।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ॥ ३७ ॥

महाराज ! तब दुर्योधनने विशाल सेनासे युक्त भानुमान्को द्रोणाचार्यकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥ ३७ ॥

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

जनेश्वर ! उस समय आपके पुत्रकी आज्ञासे कलिंगदेशीय वीरोंकी वह विशाल सेना तुरंत ही भीमसेनके सम्मुख आ पहुँची ॥ ३८ ॥

पाञ्चाल्यमथ संत्यज्य द्रोणोऽपि रथिनां वरः।
विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयामास संयुगे ॥ ३९ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी धृष्टद्युम्नको छोड़कर युद्धस्थलमें विराट और द्रुपद इन दोनों वृद्ध नरेशोंको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे धर्मराजानमभ्ययात्।
ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ४० ॥
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः।
जगतः प्रक्षयकरं घोररूपं भयावहम् ॥ ४१ ॥

इधर धृष्टद्युम्न भी उस समराङ्गणमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास चले गये। तत्पश्चात् समरभूमिमें कलिंगदेशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेनका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। जो सम्पूर्ण जगत्का विनाश करनेवाला घोरस्वरूप एवं महान् भयदायक था ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृष्टद्युम्नद्रोणयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृष्टद्युम्न और द्रोणका युद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रतिसमादिष्टः कालिङ्गो वाहिनीपतिः।
कथमद्भुतकर्माणं भीमसेनं महाबलम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! दुर्योधनकी वैसी आज्ञा पाकर सेनापति कलिंगराजने अद्भुत पराक्रमी महाबली भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १ ॥

चरन्तं गदया वीरं दण्डहस्तमिवान्तकम्।
योधयामास समरे कालिङ्गः सह सेनया ॥ २ ॥

वीरवर भीमसेन जब गदा हाथमें लेकर विचरते हैं, तब दण्डधारी यमराजके समान जान पड़ते हैं। उनके साथ समराङ्गणमें सेनासहित कलिंगराजने किस प्रकार युद्ध किया ? ॥

संजय उवाच

पुत्रेण तव राजेन्द्र स तथोक्तो महाबलः।
महत्या सेनया गुप्तः प्रायाद् भीमरथं प्रति ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! आपके पुत्रका उपर्युक्त आदेश पाकर अपनी विशाल सेनासे सुरक्षित हो महाबली कलिंगराज भीमसेनके रथके पास गया ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं महतीं कलिङ्गानां महाचमूम्।
रथाश्वनागकलिलां प्रगृहीतमहायुधाम् ॥ ४ ॥
भीमसेनः कलिङ्गानामार्च्छद् भारत वाहिनीम्।
केतुमन्तं च नैषादिमायान्तं सह चेदिभिः ॥ ५ ॥

भारत ! रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई कलिंगोंकी उस विशाल वाहिनीको हाथोंमें बड़े-बड़े आयुध लिये आती देख चेदिदेशीय सैनिकोंके साथ भीमसेनने उसे बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया। साथ ही युद्धके लिये आते हुए निषादराजपुत्र केतुमान्को भी चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

ततः श्रुतायुः संक्रुद्धो राज्ञा केतुमता सह ।
आससाद रणे भीमं व्यूढानीकेषु चेदिषु ॥ ६ ॥

तब राजा केतुमान्‌के साथ क्रोधमें भरा हुआ श्रुतायु भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके सामने आया । उस समय चेदिदेशीय सैनिकोंकी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर खड़ी थीं ॥ ६ ॥

रथैरनेकसाहस्रैः कलिङ्गानां नराधिप ।
अयुतेन गजानां च निषादैः सह केतुमान् ॥ ७ ॥
भीमसेनं रणे राजन् समन्तात् पर्यवारयत् ।

नरेश्वर ! कलिंगोंके कई सहस्र रथ और दस हजार हाथियों एवं निषादोंके साथ केतुमान् उस रणस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे रोकने लगा ॥ ७½ ॥

चेदिमत्स्यकरूषाश्च भीमसेनपदानुगाः ॥ ८ ॥
अभ्यधावन्त समरे निषादान् सह राजभिः ।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ ९ ॥

तब भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले चेदि, मत्स्य तथा करूषदेशके क्षत्रियोंने समरभूमिमें निषादों एवं उनके राजाओंपर आक्रमण किया । फिर तो दोनों दलोंमें अत्यन्त घोर और भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ८-९ ॥

न प्राजानन्त योधाः स्वान् परस्परजिघांसया ।
घोरमासीत् ततो युद्धं भीमस्य सहसा परैः ॥ १० ॥
यथेन्द्रस्य महाराज महत्या दैत्यसेनया ।

महाराज ! उस समय एक-दूसरोंको मार डालनेकी इच्छा रखकर सब योद्धा अपने और परायेकी पहचान नहीं कर पाते थे । शत्रुओंके साथ भीमसेनका वह युद्ध सहसा उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर हो चला, जैसे विशाल दैत्य सेनाके साथ देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ करता है ॥ १०½ ॥

तस्य सैन्यस्य संग्रामे युध्यमानस्य भारत ॥ ११ ॥
बभूव सुमहाञ्शब्दः सागरस्येव गर्जतः ।

भरतनन्दन ! संग्रामभूमिमें युद्ध करती हुई उस कलिंगसेनाका महान् कोलाहल समुद्रकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

अन्योन्यं स्म तदा योधा विकर्षन्तो विशाम्पते ॥ १२ ॥
महीं चक्रुश्चितां सर्वां शशलोहितसंनिभाम् ।

राजन् ! उस समय सब योद्धाओंने छिन्न-भिन्न होकर परस्पर एक दूसरेको खींचते हुए वहाँकी सारी भूमिको अपनी रक्तरंजित लाशोंसे पाट दिया । वह भूमि खरगोशके रक्तकी भाँति लाल दिखायी देने लगी ॥ १२½ ॥

योधांश्च स्वान् परान् वापि नाभ्यजानञ्जिघांसया १३
स्वानप्याददते स्वाश्च शूराः परमदुर्जयाः ।

परम दुर्जय शूर सैनिक विपक्षीको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर अपने और परायेको भी जान नहीं पाते थे । बहुधा अपने ही पक्षके सैनिक अपने ही योद्धाओंको मारनेके लिये पकड़ लेते थे ॥ १३½ ॥

विमर्दः सुमहानासीदल्पानां बहुभिः सह ॥ १४ ॥
कलिङ्गैः सह चेदीनां निषादैश्च विशाम्पते ।

राजन् ! इस प्रकार वहाँ बहुसंख्यक कलिङ्गों और निषादोंके साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकोंका बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १४½ ॥

कृत्वा पुरुषकारं तु यथाशक्ति महाबलाः ॥ १५ ॥
भीमसेनं परित्यज्य संन्यवर्तन्त चेदयः ।

महाबली चेदि सैनिक यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करके भीमसेनको छोड़कर भाग चले ॥ १५½ ॥

सर्वैः कलिङ्गैरासन्नः संनिवृत्तेषु चेदिषु ॥ १६ ॥
स्वबाहुबलमास्थाय न न्यवर्तत पाण्डवः ।
न चचाल रथोपस्थाद् भीमसेनो महाबलः ॥ १७ ॥

चेदिदेशीय सैनिकोंके पलायन कर जानेपर समस्त कलिङ्ग भीमसेनके निकट जा पहुँचे; तो भी महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन अपने बाहुबलका भरोसा करके पीछे नहीं हटे और न रथकी बैठकसे तनिक भी विचलित हुए ॥

शितैरवाकिरद् बाणैः कलिङ्गानां वरूथिनीम् ।
कालिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः ॥ १८ ॥
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः ।

वे कलिङ्गोंकी सेनापर अपने तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे । महाधनुर्धर कलिङ्गराज और उसका महारथी पुत्र शक्रदेव दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंका प्रहार करने लगे ॥ १८½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विधुन्वन् रुचिरं धनुः ॥ १९ ॥
योधयामास कालिङ्गं स्वबाहुबलमाश्रितः ।

तब महाबाहु भीमने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर सुन्दर धनुषकी टंकार फैलाते हुए कलिङ्गराजसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून् ॥ २० ॥
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः ।

शक्रदेवने समरभूमिमें बहुत-से सायकोंकी वर्षा करते हुए उन सायकोंद्वारा भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला॥२०½॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भीमसेनमरिंदमम् ॥ २१ ॥
शक्रदेवोऽभिदुद्राव शरैरवकिरञ्शितैः ।

शत्रुदमन भीमसेनको वहाँ रथहीन हुआ देख शक्रदेव तीखे बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥२१½॥

भीमस्योपरि राजेन्द्र शक्रदेवो महाबलः ॥ २२ ॥
ववर्ष शरवर्षाणि तपान्ते जलदो यथा ।

राजेन्द्र ! जैसे गर्मीके अन्तमें बादल पानीकी बूँदें

बरसाता है, उसी प्रकार महाबली शक्रदेव भीमसेनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ २२½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए महाबली भीमसेनने शक्रदेवको लक्ष्य करके सम्पूर्णतः लोहके सारतत्त्वकी बनी हुई अपनी गदा चलायी ॥ २३½ ॥

स तया निहतो राजन् कालिङ्गतनयो रथात् ॥ २४ ॥
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ।

राजन् ! उस गदाकी चोट खाकर कलिङ्गराजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वजके साथ ही रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४½ ॥

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः ॥ २५ ॥
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।

अपने पुत्रको मारा गया देख कलिङ्गराजने कई हजार रथोंके द्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ।२५½।

ततो भीमो महावेगां त्यक्त्वा गुर्वीं महागदाम् ॥ २६ ॥
निस्त्रिंशमाददे घोरं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।
चर्म चाप्रतिमं राजन्नार्षभं पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
नक्षत्रैरर्धचन्द्रैश्च शातकुम्भमयैश्चितम् ।

नरश्रेष्ठ ! तब भीमसेनने अत्यन्त वेगशालिनी एवं भारी और विशाल गदाको वहीं छोड़कर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेकी इच्छासे तलवार खींच ली तथा ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई अनुपम ढाल हाथमें ले ली । राजन् ! उस ढालमें सुवर्णमय नक्षत्र और अर्धचन्द्रके आकारकी फूलियाँ जड़ी हुई थीं ॥ २६-२७½ ॥

कालिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥ २८ ॥
प्रगृह्य च शरं घोरमेकं सर्पविषोपमम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकाङ्क्षी जनेश्वरः ॥ २९ ॥

इधर क्रोधमें भरे हुए कलिङ्गराजने धनुषकी प्रत्यञ्चाको रगड़कर सर्पके समान विषैला एक भयंकर बाण हाथमें लिया और भीमसेनके वधकी इच्छासे उनपर चलाया ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम् ।
भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ॥ ३० ॥
उदक्रोशच्च संहृष्टस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।

राजन् ! भीमसेनने अपने विशाल खड्गसे उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाणके दो टुकड़े कर दिये और कलिङ्गोंकी सेनाको भयभीत करते हुए हर्षमें भरकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३०½ ॥

कालिङ्गोऽथ ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे ॥ ३१ ॥
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ।

तब कलिङ्गराजने रणक्षेत्रमें अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर तुरंत ही चौदह तोमरोंका प्रहार किया, जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था ॥ ३१½ ॥

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः ॥ ३२ ॥
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ।

राजन् ! वे तोमर अभी भीमसेनतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि उन महाबाहु पाण्डुकुमारने बिना किसी घबराहटके अपनी अच्छी तलवारसे सहसा उन्हें आकाशमें ही काट डाला ॥ ३२½ ॥

निकृत्य तु रणे भीमस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ३३ ॥
भानुमन्तं ततो भीमः प्राद्रवत् पुरुषर्षभः ।

इस प्रकार पुरुषश्रेष्ठ भीमसेनने रणक्षेत्रमें उन चौदह तोमरोंको काटकर भानुमान्‌पर धावा किया ॥ ३३½ ॥

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन् ॥ ३४ ॥
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ।

यह देख भानुमान्‌ने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको आच्छादित करके आकाशको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३४½ ॥

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे ॥ ३५ ॥
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः ।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ॥ ३६ ॥

भीमसेन उस महासमरमें भानुमान्‌की वह गर्जना न सह सके । उन्होंने और भी अधिक जोरसे सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया । उनकी उस गर्जनासे कलिङ्गोंकी वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी ॥ ३५-३६ ॥

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ ।
ततो भीमो महाबाहुर्नदित्वा विपुलं स्वनम् ॥ ३७ ॥
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम् ।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस सेनाके सैनिकोंने भीमसेनको युद्धमें मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा । आर्य ! तदनन्तर महाबाहु भीमसेन जोर-जोरसे गर्जना करके हाथमें तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराजके दाँतोंके सहारे उसके मस्तकपर चढ़ गये ॥

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा ।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ॥ ३९ ॥

इतनेहीमें कलिङ्गराजकुमारने उनके ऊपर शक्ति चलायी; किंतु भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये और

अपने विशाल खड्गसे भानुमान्‌के शरीरको बीचसे काट डाला॥

सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिंदमः।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत्॥ ४०॥

इस प्रकार गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले कलिङ्ग-राजकुमारको मारकर शत्रुदमन भीमसेनने भार सहनेमें समर्थ अपनी भारी तलवारको उस हाथीके कंधेपर भी दे मारा।४०।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः॥ ४१॥

कंधा कट जानेसे वह गजयूथपति चिग्घाड़ता हुआ समुद्रके वेगसे भग्न होकर गिरनेवाले शिखरयुक्त पर्वतके समान धराशायी हो गया॥ ४१॥

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः॥ ४२॥

भारत! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदारचित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथीसे सहसा कूदकर धरतीपर खड़े हो गये॥ ४२॥

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान्।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत॥ ४३॥

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियोंको गिराते हुए वे अनेक मार्गोंसे विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे सब ओर दिखायी देते थे॥ ४३॥

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नञ्शोणितोक्षितः॥ ४४॥

शक्तिशाली भीमसेन घोड़ों, हाथियों, रथों और पैदलोंके समूहोंमें घुसकर सबका संहार करते हुए रक्तसे भीग गये॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमो रणेऽरिषु बलोत्कटः।
छिन्दंस्तेषां शरीराणि शिरांसि च महाबलः॥ ४५॥

प्रचण्डबलवाले महान् शक्तिशाली भीमसेन शत्रुओंके समूहमें घुसकर उनके शरीर और मस्तक काटते हुए बाज पक्षीकी तरह रणभूमिमें विचरने लगे॥ ४५॥

खड्गेन शितधारेण संयुगे गजयोधिनाम्।
पदातिरेकः संक्रुद्धः शत्रूणां भयवर्धनः॥ ४६॥
सम्मोहयामास स तान् कालान्तकयमोपमः।

उस रण-क्षेत्रमें गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंके मस्तकोंको अपनी तीखी धारवाली तलवारसे काटते हुए वे अकेले ही क्रोधमें भरकर पैदल विचरते और शत्रुओंके भयको बढ़ाते थे। उन्होंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर रूप धारण करके उन सबको भयसे मोहित कर दिया था॥४६½॥

मूढाश्च ते तमेवाजौ विनदन्तः समाद्रवन्॥ ४७॥
सासिमुत्तमवेगेन विचरन्तं महारणे।

वे मूढ़ सैनिक गर्जना करते हुए उन्हींके पास दौड़े चले आते (और मारे जाते) थे। भीमसेन हाथमें तलवार लिये उस महान् संग्राममें बड़े वेगसे विचरण करते थे॥ ४७½॥

निकृत्य रथिनां चाजौ रथेषाश्च युगानि च॥ ४८॥
जघान रथिनश्चापि बलवान् रिपुमर्दनः।

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले बलवान् भीम युद्धमें रथारोहियोंके रथोंके ईषादण्ड और जूए काटकर उन रथियोंका भी संहार कर डालते थे॥ ४८½॥

भीमसेनश्चरन् मार्गान् सुबहून् प्रत्यदृश्यत॥ ४९॥
भ्रान्तमाविद्धमुद्भ्रान्तमाप्लुतं प्रसृतं प्लुतम्।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पाण्डवः॥ ५०॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमसेन अनेक मार्गोंपर विचरते हुए दिखायी देते थे। उन्होंने खड्गयुद्धके भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, प्लुत, सम्पात तथा समुदीर्ण आदि बहुत-से पैंतरे दिखाये* ॥ ४९-५०॥

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः॥ ५१॥

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेनके श्रेष्ठ खड्गकी चोटसे कितने ही हाथियोंके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिग्घाड़ते हुए प्राणशून्य होकर धरतीपर गिर पड़े॥ ५१॥

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। यही अधिक परिश्रमसाध्य होनेपर 'आविद्ध' कहा गया है। 'भ्रान्त' की क्रिया यदि ऊपर उठते हुए की जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहते हैं। तलवार चलाते हुए ऊपर उछलना 'आप्लुत' है। सब दिशाओंमें फैलावका नाम 'प्रसृत' है। तलवार चलाते हुए एक ही दिशामें आगे बढ़ना 'प्लुत' है। वेगको 'सम्पात' कहते हैं। समस्त शत्रुओंको मारने या चोट पहुँचानेके उद्यमको 'समुदीर्ण' कहा गया है।

छिन्नदन्ताग्रहस्ताश्च भिन्नकुम्भास्तथा परे।
वियोधाः स्वान्यनीकानि जघ्नुर्भारत वारणाः ॥ ५२ ॥
निपेतुरुर्व्यां च तथा विनदन्तो महारवान्।

भरतनन्दन ! कुछ गजराजोंके दाँत और सूँडके अग्रभाग कट गये, कुम्भस्थल फट गये और सवार मारे गये। उस अवस्थामें उन्होंने इधर-उधर भागकर अपनी ही सेनाओंको कुचल डाला और अन्तमें जोर-जोरसे चिग्घाड़ते हुए वे पृथ्वीपर गिरे और मर गये ॥ ५२½ ॥

छिन्नांश्च तोमरान् राजन् महामात्रशिरांसि च॥ ५३ ॥
परिस्तोमान् विचित्रांश्च कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः।
ग्रैवेयाण्यथ शक्तीश्च पताकाः कणपांस्तथा ॥ ५४ ॥
तूणीरानथ यन्त्राणि विचित्राणि धनूंषि च।
भिन्दिपालानि शुभ्राणि तोत्राणि चाङ्कुशैः सह॥ ५५॥
घण्टाश्च विविधा राजन् हेमगर्भांस्त्सरूनपि।
पततः पातितांश्चैव पश्यामः सह सादिभिः ॥ ५६ ॥

राजन् ! हमलोगोंने वहाँ देखा, बहुत-से तोमर और महावतोंके मस्तक कटकर गिरे हैं, हाथियोंकी पीठोंपर बिछी हुई विचित्र-विचित्र झूलें पड़ी हुई हैं। हाथियोंको कसनेके उपयोगमें आनेवाली स्वर्णभूषित चमकीली रस्सियाँ गिरी हुई हैं, हाथी और घोड़ोंके गलेके आभूषण, शक्ति, पताका, कणप (अस्त्रविशेष), तरकस, विचित्र यन्त्र, धनुष, चमकीले भिन्दिपाल, तोत्र, अङ्कुश, भाँति-भाँतिके घंटे तथा स्वर्ण-जटित खड्गमुष्टि—ये सब वस्तुएँ हाथीसवारोंसहित गिरी हुई हैं और गिरती जा रही हैं ॥ ५३–५६ ॥

छिन्नगात्रावरकरैर्निहतैश्चापि वारणैः।
आसीद् भूमिः समास्तीर्णा पतितैर्भूधरैरिव ॥ ५७ ॥

कहीं कटे हुए हाथियोंके शरीरके ऊर्ध्वभाग पड़े थे, कहीं अधोभाग पड़े थे। कहीं कटी हुई सूँडें पड़ी थीं और कहीं मारे गये हाथियोंकी लोथें पड़ी थीं। उनसे आच्छादित हुई वह समरभूमि ढहे हुए पर्वतोंसे ढकी-सी जान पड़ती थी ॥

विमृद्यैवं महानागान् ममर्दान्यान् महाबलः।
अश्वारोहवरांश्चैव पातयामास संयुगे ॥ ५८ ॥
तद् घोरमभवद् युद्धं तस्य तेषां च भारत।

भारत ! इस प्रकार महाबली भीमसेनने कितने ही बड़े-बड़े गजराजोंको नष्ट करके दूसरे प्राणियोंका भी विनाश आरम्भ किया। उन्होंने युद्धस्थलमें बहुत-से प्रमुख अश्वारोहियोंको मार गिराया। इस प्रकार भीमसेन और कलिङ्ग सैनिकोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर रूप धारण करता गया।५८½।

खलीनान्यथ योक्त्राणि कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः॥ ५९॥
परिस्तोमाश्च प्रासाश्च ऋष्टयश्च महाधनाः।
कवचान्यथ चर्माणि चित्राण्यास्तरणानि च ॥ ६० ॥
तत्र तत्रापविद्धानि व्यदृश्यन्त महाहवे।

उस महासमरमें घोड़ोंकी लगाम, जोत, सुवर्णमण्डित चमकीली रस्सियाँ, पीठपर कसी जानेवाली गद्दियाँ (जीन), प्रास, बहुमूल्य ऋष्टियाँ, कवच, ढाल तथा भाँति-भाँतिके विचित्र आस्तरण इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ५९-६०½

प्रासैर्यन्त्रैर्विचित्रैश्च शस्त्रैश्च विमलैस्तथा ॥ ६१ ॥
स चक्रे वसुधां कीर्णां शबलैः कुसुमैरिव।

भीमसेनने बहुत-से प्रासों, विचित्र यन्त्रों और चमकीले शस्त्रोंसे वहाँकी भूमिको पाट दिया, जिससे वह चितकबरे पुष्पोंसे आच्छादित-सी प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ॥ ६२ ॥
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः।

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियोंके पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजोंसहित तलवारसे काट गिराते थे ॥ ६२½ ॥

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ॥ ६३ ॥
मार्गांश्च चरतश्चित्रं व्यस्मयन्त रणे जनाः।

वे बार-बार उछलते, सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और युद्धके विचित्र पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरते थे। यशस्वी भीमसेनका यह पराक्रम देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ६३½ ॥

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत्॥ ६४ ॥
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन्।
ऊरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले ॥ ६५ ॥

उन्होंने कितने ही योद्धाओंको पैरोंसे कुचलकर मार डाला, कितनोंको ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनोंको तलवारसे काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओंको अपनी भीषण गर्जनासे डरा दिया और कितनोंको अपने महान् वेगसे पृथ्वीपर दे मारा ॥ ६४-६५ ॥

अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः।
एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम् ॥ ६६ ॥
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत्।

दूसरे बहुत-से योद्धा इन्हें देखते ही भयके मारे निष्प्राण हो गये। इस प्रकार मारी जानेपर भी वेगशाली कलिंग वीरोंकी उस विशाल वाहिनीने रणक्षेत्रमें भीष्मकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर पुनः भीमसेनपर धावा किया ॥

ततः कालिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ ॥ ६७ ॥
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात्।

भरतश्रेष्ठ ! कलिंगसेनाके अग्रभागमें राजा श्रुतायुको देखकर भीमसेन उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कालिङ्गो नवभिः शरैः ॥ ६८ ॥
भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।

उन्हें आते देख अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कलिंगराज श्रुतायुने भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ६८½ ॥

कालिङ्गबाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ६९ ॥
भीमसेनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवेधितः ।

कलिंगराजके बाणोंसे आहत हो भीमसेन अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान क्रोधसे जल उठे, मानो घीकी आहुति पाकर आग प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६९½ ॥

अथाशोकः समादाय रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ७० ॥
भीमं सम्पादयामास रथेन रथसारथिः ।

इसी समय भीमसेनके सारथि अशोकने एक सुवर्णभूषित रथ लेकर उसे भीमके पास पहुँचा कर उन्हें भी रथसे सम्पन्न कर दिया ॥ ७०½ ॥

तमारुह्य रथं तूर्णं कौन्तेयः शत्रुसूदनः ॥ ७१ ॥
कालिङ्गमभिदुद्राव तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

शत्रुसूदन कुन्तीकुमार भीम तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो कलिंगराजकी ओर दौड़े और बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ७१½ ॥

ततः श्रुतायुर्बलवान् भीमाय निशिताञ्शरान्॥ ७२ ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब बलवान् श्रुतायुने कुपित हो अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए बहुत-से पैने बाण भीमसेनपर चलाये ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकवरोत्सृष्टैर्नवभिर्निशितैः शरैः ॥ ७३ ॥
समाहतो महाराज कालिङ्गेन महात्मना ।
संचुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ॥ ७४ ॥

महाराज ! महामना कलिंगराजके द्वारा श्रेष्ठ धनुषसे छोड़े हुए नौ तीखे बाणोंसे घायल हो भीमसेन डंडेकी चोट खाये हुए सर्पकी भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ७३-७४ ॥

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः ।
कालिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥ ७५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमने कुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुषको बलपूर्वक खींचकर लोहेके सात बाणोंद्वारा कलिंगराज श्रुतायुको घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कालिङ्गस्य महाबलौ ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणोंसे कलिंगराजके चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्यको यमलोक पहुँचा दिया ॥७६॥

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः ।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने तीन तीखे नाराचोंद्वारा रणक्षेत्रमें केतुमान्को मारकर उसे यमलोक भेज दिया ॥ ७७ ॥

ततः कलिङ्गाः संनद्धा भीमसेनममर्षणम् ।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥ ७८ ॥

तब कलिंगदेशीय समस्त क्षत्रियोंने कई हजार सैनिकोंके साथ आकर युद्धके लिये उद्यत हो अमर्षशील भीमसेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७८ ॥

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः ।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥ ७९ ॥

राजन् ! उस समय कलिंग-योद्धा भीमसेनपर शक्ति, गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी वर्षा करने लगे ॥

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
गदामादाय तरसा संनिपत्य महाबलः ॥ ८० ॥
भीमः सप्त शतान् वीराननयद् यमसादनम् ।
पुनश्चैव द्विसाहस्रान् कलिङ्गानरिमर्दनः ॥ ८१ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय तदद्भुतमिवाभवत् ।

वहाँ होती हुई उस भयंकर बाण-वर्षाको रोककर महाबली भीमसेन हाथमें गदा ले बड़े वेगसे कलिंग-सेनामें कूद पड़े । उस सेनामें घुसकर शत्रुमर्दन भीमने पहले सात सौ वीरोंको यमलोक पहुँचाया । फिर दो हजार कलिंगोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया । यह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ८०-८१½ ॥

एवं स तान्यनीकानि कलिङ्गानां पुनः पुनः ॥ ८२ ॥
बिभेद समरे तूर्णं प्रेक्ष्य भीष्मं महारथम् ।

इस प्रकार भीमसेनने महारथी भीष्मकी ओर देखते हुए कलिंगोंकी सेनाको बार-बार समर-भूमिमें शीघ्रतापूर्वक विदीर्ण किया ॥ ८२½ ॥

हतारोहाश्च मातङ्गाः पाण्डवेन कृता रणे ॥ ८३ ॥
विप्रजग्मुरनीकेषु मेघा वातहता इव ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि विनदन्तः शरातुराः ॥ ८४ ॥

उस रणभूमिमें पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा सवारोंके मार दिये जानेपर बहुत-से मतवाले हाथी वायुके थपेड़े खाये हुए बादलोंके समान कौरव-सेनामें इधर-उधर भागने तथा अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए बाणोंकी व्यथासे व्याकुल हो चीत्कार करने लगे ॥ ८३-८४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः ।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शङ्खं प्राध्मापयद् बली ॥ ८५ ॥

तदनन्तर महाबली महाबाहु भीमसेनने खड्ग हाथमें लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ॥८५॥

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत् ।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परंतप ॥ ८६ ॥

परंतप ! उस शङ्खनादके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलिंगोंके हृदयमें कम्प मचा दिया और उन सबपर बड़ा भारी मोह छा गया॥

प्राकम्पन्त च सैन्यानि वाहनानि च सर्वशः।
भीमेन समरे राजन् गजेन्द्रेणेव सर्वशः ॥ ८७ ॥
मार्गान् बहून् विचरता धावता च ततस्ततः।
मुहुरुत्पतता चैव सम्मोहः समपद्यत ॥ ८८ ॥

राजन्! उस समराङ्गणमें गजराजके समान अनेक मार्गों-पर विचरते और इधर-उधर दौड़ते हुए भीमसेनके भयसे समस्त सैनिक और वाहन थर-थर काँपने लगे। उनके बार-बार उछलनेसे सबपर मोह छा गया ॥ ८७-८८ ॥

भीमसेनभयत्रस्तं सैन्यं च समकम्पत।
क्षोभ्यमाणमसम्बाधं ग्राहेणेव महत् सरः ॥ ८९ ॥

जैसे महान् तालाब किसी ग्राहके द्वारा मथित होनेपर क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार वह सारी सेना भीमसेनके द्वारा बेरोक-टोक मथित होनेपर भयसे संत्रस्त हो काँपने लगी॥

त्रासितेषु च सर्वेषु भीमेनाद्भुतकर्मणा।
पुनरावर्तमानेषु विद्रवत्सु च सङ्घशः ॥ ९० ॥
सर्वकालिङ्गयोधेषु पाण्डूनां ध्वजिनीपतिः।
अब्रवीत् स्वान्यनीकानि युध्यध्वमिति पार्षतः ॥ ९१ ॥

अद्भुतकर्मा भीमसेनके द्वारा भयभीत कर दिये जानेपर कलिंग देशके समस्त योद्धा जब दल बनाकर भागने और भाग-भागकर पुनः लौटने लगे, तब पाण्डव-सेनापति द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्नने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! (उत्साहके साथ) युद्ध करो' ॥ ९०-९१ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा शिखण्डिप्रमुखा गणाः।
भीममेवाभ्यवर्तन्त रथानीकैः प्रहारिभिः ॥ ९२ ॥

सेनापतिकी बात सुनकर शिखण्डी आदि महारथी प्रहार-कुशल रथियोंकी सेनाओंके साथ भीमसेनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ९२ ॥

धर्मराजश्च तान् सर्वानुपजग्राह पाण्डवः।
महता मेघवर्णेन नागानीकेन पृष्ठतः ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी विशाल सेना साथ लिये पीछेसे आकर उन सबकी सहायता करने लगे ॥ ९३ ॥

एवं संनोद्य सर्वाणि स्वान्यनीकानि पार्षतः।
भीमसेनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने अपनी सारी सेनाओंको युद्धके लिये प्रेरित करके श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ भीमसेनके पृष्ठ-भागकी रक्षाका कार्य हाथमें लिया ॥ ९४ ॥

न हि पञ्चालराजस्य लोके कश्चन विद्यते।
भीमसात्यकयोरन्यः प्राणेभ्यः प्रियकृत्तमः ॥ ९५ ॥

जगत्में पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके लिये भीम और सात्यकि-को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं था, जो प्राणोंसे भी बढ़कर हो ॥ ९५ ॥

सोऽपश्यच्च कलिङ्गेषु चरन्तमरिसूदनः।
भीमसेनं महाबाहुं पार्षतः परवीरहा ॥ ९६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वैरिविनाशक द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने महाबाहु भीमसेनको कलिंगोंकी सेनामें विचरते देखा॥

ननर्द बहुधा राजन् हृष्टश्चासीत् परंतपः।
शङ्खं दध्मौ च समरे सिंहनादं ननाद च ॥ ९७ ॥

राजन्! उन्हें देखते ही परंतप धृष्टद्युम्नके हृदयमें हर्षकी सीमा न रही। वे बारंबार गर्जना करने लगे। उन्होंने समराङ्गणमें शङ्ख बजाया और सिंहनाद किया ॥ ९७ ॥

स च पारावताश्वस्य रथे हेमपरिष्कृते।
कोविदारध्वजं दृष्ट्वा भीमसेनः समाश्वसत् ॥ ९८ ॥

कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जिनके रथमें जोते जाते हैं, उन धृष्टद्युम्नके सुवर्णभूषित रथमें कचनार वृक्षके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती देख भीमसेनको बड़ा आश्वासन मिला॥

धृष्टद्युम्नस्तु तं दृष्ट्वा कलिङ्गैः समभिद्रुतम्।
भीमसेनममेयात्मा त्राणायाजौ समभ्ययात् ॥ ९९ ॥

कलिंगोंने भीमसेनपर धावा किया है, यह देखकर अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न धृष्टद्युम्न भीमसेनकी रक्षाके लिये युद्धस्थलमें उनके पास जा पहुँचे ॥ ९९ ॥

तौ दूरात् सात्यकिं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कलिङ्गान् समरे वीरौ योधयेतां मनस्विनौ ॥१००॥

उस समरभूमिमें मनस्वी वीर धृष्टद्युम्न और भीमसेनने सात्यकिको भी दूरसे आते देखा; अतः वे अधिक उत्साहसे सम्पन्न हो कलिंगोंसे युद्ध करने लगे ॥ १०० ॥

स तत्र गत्वा शैनेयो जवेन जयतां वरः।
पार्थपार्षतयोः पार्ष्णिं जग्राह पुरुषर्षभः ॥१०१॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ पुरुषप्रवर सात्यकिने बड़े वेगसे वहाँ पहुँचकर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पृष्ठपोषणका कार्य सँभाला॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आस्थितो रौद्रमात्मानं कलिङ्गानन्ववैक्षत ॥१०२॥

उन्होंने धनुष हाथमें लेकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेके पश्चात् अपने रौद्र रूपका आश्रय ले कलिंगसेनाकी ओर दृष्टिपात किया ॥ १०२ ॥

कलिङ्गप्रभवां चैव मांसशोणितकर्दमाम्।
रुधिरस्यन्दिनीं तत्र भीमः प्रावर्तयन्नदीम् ॥१०३॥

भीमसेनने वहाँ एक भयंकर नदी प्रकट कर दी, जो कलिंग-सेनारूपी उद्गमस्थानसे निकली थी। उसमें मांस और शोणितकी ही कीच थी। वह नदी रक्तकी ही धारा बहा रही थी ॥ १०३ ॥

अन्तरेण कलिङ्गानां पाण्डवानां च वाहिनीम्।
तां संततार दुस्तारां भीमसेनो महाबलः ॥१०४॥

कलिंग और पाण्डव-सेनाके बीचमें बहनेवाली उस रक्तकी दुस्तर नदीको महाबली भीमसेन अपने पराक्रमसे पार कर गये ॥ १०४ ॥

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ॥१०५॥

राजन्! भीमसेनको उस रूपमें देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेनके रूपमें प्रकट होकर कलिंगोंके साथ युद्ध कर रहा है ॥१०५॥

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ॥१०६॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमिमें उस कोलाहलको सुनकर अपनी सेनाको सब ओरसे व्यूहबद्ध करके तुरंत ही भीमसेनके पास आये ॥ १०६ ॥

तं सात्यकिर्भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
अभ्यद्रवन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥१०७॥

भीष्मके उस सुवर्णभूषित रथपर सात्यकि, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने एक साथ ही धावा किया ॥१०७॥

परिवार्य तु ते सर्वे गाङ्गेयं तरसा रणे।
त्रिभिस्त्रिभिः शरैर्घोरैर्भीष्ममानर्च्छुरोजसा ॥१०८॥

उन सब लोगोंने रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको वेगपूर्वक घेरकर तीन-तीन भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें यथाशक्ति पीड़ा पहुँचायी ॥ १०८ ॥

प्रत्यविध्यत तान् सर्वान् पिता देवव्रतस्तव।
यतमानान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥१०९॥

उस समय आपके पितृतुल्य भीष्मने वहाँ युद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महाधनुर्धर योद्धाओंको सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ॥ १०९ ॥

ततः शरसहस्रेण संनिवार्य महारथान्।
हयान् काञ्चनसंनाहान् भीमस्य न्यहनच्छरैः ॥११०॥

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों महारथियोंको रोककर सोनेके साज-बाज धारण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंको भीष्मने अपने बाणोंसे मार डाला ॥ ११० ॥

हताश्वे स रथे तिष्ठन् भीमसेनः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप तरसा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥१११॥

अश्वोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी भीमसेनने भीष्मजीके रथपर बड़े वेगसे शक्ति चलायी ॥१११॥

अप्राप्तामथ तां शक्तिं पिता देवव्रतस्तव।
त्रिधा चिच्छेद समरे सा पृथिव्यामशीर्यत ॥११२॥

वह शक्ति अभी पासतक पहुँची ही न थी कि आपके पितृतुल्य भीष्मने समरभूमिमें उसके तीन टुकड़े कर डाले और वह भूतलपर बिखर गयी ॥ ११२ ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य बलवान् गदाम्।
भीमसेनस्ततस्तूर्णं पुप्लुवे मनुजर्षभ ॥११३॥

नरश्रेष्ठ! तब बलवान् भीमसेन पूर्णतः लोहेके सारतत्त्व (फौलाद) की बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर तुरंत उस रथसे कूद पड़े ॥ ११३ ॥

सात्यकोऽपि ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ॥११४॥

इधर सात्यकिने भी भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे भीष्मके सारथिको तुरंत ही अपने सायकोंद्वारा मार गिराया॥

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ॥११५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म सारथिके मारे जानेपर हवाके समान भागनेवाले घोड़ोंके द्वारा रणभूमिसे बाहर कर दिये गये॥

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवैधितः ॥११६॥

राजन्! महान् व्रतधारी भीष्मके रणभूमिसे हट जानेपर भीमसेन घास-फूसके ढेरमें लगी हुई आगके समान अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ११६ ॥

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठत।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ॥११७॥

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिंगोंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें ही खड़े थे, परंतु आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उनके पास जानेका साहस न कर सके ॥ ११७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तमारोप्य स्वरथे रथिनां वरः।
पश्यतां सर्वसैन्यानामपोवाह यशस्विनम् ॥११८॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न यशस्वी भीमसेनको अपने रथपर चढ़ाकर सब सैनिकोंके देखते-देखते अपने दलमें ले गये ॥ ११८ ॥

सम्पूज्यमानः पाञ्चाल्यैर्मत्स्यैश्च भरतर्षभ।
धृष्टद्युम्नं परिष्वज्य समेयादथ सात्यकिम् ॥११९॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पाञ्चालों तथा मत्स्यदेशीय नरेशोंसे पूजित हो भीमसेन धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भुजाओंमें भरकर दोनोंसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ११९ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं सात्यकिः सत्यविक्रमः।
प्रहर्षयन् यदुव्याघ्रो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥१२०॥

उस समय सत्यपराक्रमी यदुकुलसिंह सात्यकिने धृष्टद्युम्नके सामने ही भीमसेनका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥

दिष्ट्या कलिङ्गराजश्च राजपुत्रश्च केतुमान्।
शक्रदेवश्च कालिङ्गः कलिङ्गाश्च मृधे हताः ॥१२१॥

'वीरवर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कलिंगराज भानुमान्, राजकुमार केतुमान्, कलिंगवीर शक्रदेव तथा अन्य

बहुसंख्यक कलिंग-सैनिक आपके द्वारा युद्धमें मारे गये ॥

स्वबाहुबलवीर्येण नागाश्वरथसंकुलः ।
महापुरुषभूयिष्ठो धीरयोधनिषेवितः ॥ १२२॥
महाव्यूहः कलिङ्गानामेकेन मृदितस्त्वया ।

'आपने अकेले अपनी ही भुजाओंके बल और पराक्रमसे कलिंगोंके उस महान् व्यूहको रौंदकर मिट्टीमें मिला दिया, जिसमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे। उसके अधिकांश सैनिक संसारके महान् पुरुषोंमें गिने जाने योग्य थे। अगणित धीर-वीर योद्धा उस महान् व्यूहका सेवन करते थे'॥

एवमुक्त्वा शिनेर्नप्ता दीर्घबाहुररिंदम ॥ १२३॥
रथाद् रथमभिद्रुत्य पर्यष्वजत पाण्डवम् ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश! ऐसा कहकर बड़ी भुजाओंवाले सात्यकि अपने रथसे कूदकर भीमसेनके रथपर जा चढ़े और उनको हृदयसे लगा लिया ॥ १२३½ ॥

ततः स्वरथमास्थाय पुनरेव महारथः ।
तावकानवधीत् क्रुद्धो भीमस्य बलमादधत् ॥ १२४॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महारथी सात्यकिने पुनः अपने रथपर बैठकर भीमसेनका बल बढ़ाते हुए आपके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ १२४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसे कलिङ्गराजवधे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय दिनके युद्धमें कलिंगराजका वधविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
रथनागाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ॥ १ ॥
द्रोणपुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना ।
समसज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! उस दूसरे दिन जब पूर्वाह्णका अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, पैदल और सवारोंका महान् संहार होने लगा, उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शल्य तथा महामनस्वी कृपाचार्य इन तीनों महारथियोंके साथ युद्ध करने लगा ॥ १-२ ॥

स लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः ।
द्रौणेः पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ॥ ३ ॥

महाबली पाञ्चाल-राजकुमारने दस शीघ्रगामी पैने बाण मारकर अश्वत्थामाके विश्वविख्यात घोड़ोंको मार डाला ॥

ततः शल्यरथं तूर्णमास्थाय हतवाहनः ।
द्रौणिः पाञ्चालदायादमभ्यवर्षदथेषुभिः ॥ ४ ॥

वाहनोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा तुरंत ही शल्यके रथपर चढ़ गया और वहींसे धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु संयुक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत ।
सौभद्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशिताञ्शरान्॥५॥

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके साथ भिड़ा हुआ देख सुभद्रानन्दन अभिमन्यु भी पैने बाण बिखेरता हुआ तुरंत वहाँ आ पहुँचा ॥ ५ ॥

स शल्यं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।
अश्वत्थामानमष्टाभिर्विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

उस पुरुषरत्न अभिमन्युने शल्यको पचीस, कृपाचार्यको नौ और अश्वत्थामाको आठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ६ ॥

आर्जुनिं तु ततस्तूर्णं द्रौणिर्विव्याध पत्रिणा ।
शल्योऽथ दशभिश्चैव कृपश्च निशितैस्त्रिभिः ॥ ७ ॥

तब अश्वत्थामाने शीघ्र ही एक बाणसे अभिमन्युको घायल कर दिया। तत्पश्चात् शल्यने दस और कृपाचार्यने तीन पैने बाण उसे मारे ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ८ ॥

तदनन्तर आपके पौत्र लक्ष्मणने सुभद्राकुमार अभिमन्युको सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साहमें भरकर उसपर आक्रमण किया। फिर तो दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया ॥

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनके पुत्र लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें (अनेक बाणोंसे) अभिमन्युको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ॥ १० ॥

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! यह देख शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला वीर अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो उठा और अपने भाई लक्ष्मणको उसने पचास बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १० ॥

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ११ ॥

राजन् ! तब लक्ष्मणने भी पुनः एक बाण मारकर उसके धनुषको, जहाँ मुट्ठी रक्खी जाती है, वहींसे काट दिया । यह देख आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ ११ ॥

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ॥ १२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था ॥ १२ ॥

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न वहाँ एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण अथवा प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर युद्धमें संलग्न थे और पैने बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ॥ १४ ॥

तब प्रजाजनोंका स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्रको आपके पौत्र अभिमन्युसे पीड़ित देख वहाँ स्वयं जा पहुँचा ॥ १४ ॥

संनिवृत्ते तव सुते सर्व एव जनाधिपाः ।
आर्जुनिं रथवंशेन समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके उधर लौटनेपर कौरव-पक्षके सभी नरेशोंने विशाल रथसेनाके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो युधि सुदुर्जयैः ।
न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥ १६ ॥

राजन् ! अभिमन्युका पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णके समान था । वह युद्धमें अत्यन्त दुर्जय उन शूरवीरोंसे घिर जानेपर भी व्यथित या चिन्तित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

सौभद्रमथ संसक्तं दृष्ट्वा तत्र धनंजयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ॥ १७ ॥

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमारको वहाँ युद्धमें संलग्न देख अपने पुत्रकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े आये ॥१७॥

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ॥ १८ ॥

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-पक्षीय नरेश रथ, हाथी और घोड़ोंकी सेनासहित एक साथ अर्जुनपर चढ़ आये ॥ १८ ॥

उद्धूतं सहसा भौमं नागाश्वरथपत्तिभिः ।
दिवाकररथं प्राप्य रजस्तीव्रमदृश्यत ॥ १९ ॥

उस समय हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धरतीकी तीव्र धूल सहसा सूर्यके रथतक पहुँचकर सब ओर व्याप्त दिखायी देने लगी ॥ १९ ॥

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥ २० ॥
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों भूमिपाल अर्जुनके बाणोंके पथमें आकर किसी प्रकार आगे न बढ़ सके । समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया ॥ २०½ ॥

कुरूणां चानयस्तीव्रः समदृश्यत दारुणः ॥ २१ ॥
नाप्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमिर्न च भास्करः ।
प्रजज्ञे भरतश्रेष्ठ शरसङ्घैः किरीटिनः ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय कौरवोंको अपने दुःसह एवं भयंकर अन्यायका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा । किरीटधारी अर्जुनके शरसमूहोंसे सब कुछ आच्छादित हो जानेके कारण आकाश, दिशा, पृथ्वी और सूर्य किसीका भी भान नहीं होता था ॥ २१-२२ ॥

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ॥ २३ ॥

उस रणभूमिमें कितने ही रथ टूट गये, बहुतेरे हाथी नष्ट हो गये, कितने ही रथियोंके घोड़े मार डाले गये और कितने ही रथ-यूथपतियोंके रथ भागते दिखायी दिये ॥२३॥

विरथा रथिनश्चान्ये धावमानाः समन्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते सायुधाः साङ्गदैर्भुजैः ॥ २४ ॥

अन्यान्य बहुत-से रथी रथहीन होकर अङ्गदभूषित भुजाओंमें आयुध धारण किये जहाँ-तहाँ चारों ओर दौड़ते देखे जाते थे ॥ २४ ॥

हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥ २५ ॥

महाराज ! अर्जुनके भयसे घुड़सवार घोड़ोंको और हाथीसवार हाथियोंको छोड़कर सब ओर भाग चले ॥२५॥

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ॥ २६ ॥

वहाँ बहुत-से नरेश अर्जुनके सायकोंसे कटकर रथों, हाथियों और घोड़ोंसे गिरे और गिराये जाते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २६ ॥

सगदानुद्यतान् बाहून् सखड्गांश्च विशाम्पते ।
सप्रासांश्च सतूणीरान् सशरान् सशरासनान् ॥ २७ ॥
साङ्कुशान् सपताकांश्च तत्र तत्रार्जुनो नृणाम् ।
निचकर्त शरैरुग्रै रौद्रं वपुरधारयत् ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! अर्जुनने उस रणक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर रूप धारण किया था । उन्होंने अपने उग्र बाणोंद्वारा योद्धाओंकी ऊपर उठी हुई भुजाओंको, जिनमें गदा, खड्ग, प्रास, तूणीर, धनुष-बाण, अङ्कुश और ध्वजा-पताका आदि शोभा पा रहे थे, काट गिराया ॥ २७-२८ ॥

परिघाणां प्रदीप्तानां मुद्गराणां च मारिष ।
प्रासानां भिन्दिपालानां निस्त्रिंशानां च संयुगे ॥ २९ ॥
परश्वधानां तीक्ष्णानां तोमराणां च भारत ।
वर्मणां चापविद्धानां काञ्चनानां च भूमिप ॥ ३० ॥
ध्वजानां चर्मणां चैव व्यजनानां च सर्वशः ।
छत्राणां हेमदण्डानां तोमराणां च भारत ॥ ३१ ॥
प्रतोदानां च योक्त्राणां कशानां चैव मारिष ।
राशयः स्मात्र दृश्यन्ते विनिकीर्णा रणक्षितौ ॥ ३२ ॥

आर्य ! भरतनन्दन ! भूपाल ! उस रणभूमिमें गिरे हुए उद्दीप्त परिघ, मुद्गर, प्रास, भिन्दिपाल, खड्ग, फरसे, तीखे तोमर, सुवर्णमय कवच, ध्वज, ढाल, सोनेके डंडोंसे विभूषित छत्र, व्यजन, चाबुक, जोते, कोड़े और अंकुश ढेर-के-ढेर बिखरे दिखायी देते थे ॥ २९—३२ ॥

नासीत् तत्र पुमान् कश्चित् तव सैन्यस्य भारत ।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथंचन ॥ ३३ ॥

भारत ! उस समय आपकी सेनामें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो समरमें शूरवीर अर्जुनका सामना करनेके लिये किसी प्रकार आगे बढ़ सके ॥ ३३ ॥

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते ।
स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धभूमिमें जो-जो वीर अर्जुनकी ओर बढ़ता था, वही-वही उनके पैने बाणोंद्वारा परलोक पहुँचा दिया जाता था ॥ ३४ ॥

तेषु विद्रवमाणेषु तव योधेषु सर्वशः ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर आपके सब योद्धा सब ओर भागने लगे । यह देख अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रेष्ठ शङ्ख बजाये ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव ।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ॥ ३६ ॥

कौरव-सेनाको इस प्रकार भागती देख समरभूमिमें खड़े हुए आपके ताऊ भीष्मने वीरवर आचार्य द्रोणसे मुसकराते हुए-से कहा—॥ ३६ ॥

एष पाण्डुसुतो वीरः कृष्णेन सहितो बली ।
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद् धनंजयः ॥ ३७ ॥

'यह श्रीकृष्णसहित बलवान् वीर पाण्डुकुमार अर्जुन कौरव-सेनाकी वही दशा कर रहा है, जैसी उसे करनी चाहिये॥

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथंचन ।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ॥ ३८ ॥

'यह किसी प्रकार भी समरभूमिमें जीता नहीं जा सकता; क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलयकालके यमराज-सा दिखायी दे रहा है ॥ ३८ ॥

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः ।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ॥ ३९ ॥

'यह विशाल सेना इस समय पीछे नहीं लौटायी जा सकती । देखिये, सारे सैनिक एक-दूसरेकी देखा-देखी भागे जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते ।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ॥ ४० ॥

'इधर ये भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंकी ज्योति सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलको जा पहुँचे हैं ॥

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ ।
श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथंचन ॥४१॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! मैं इस समय समस्त सैनिकोंको युद्धसे हटा लेना ही उचित समझता हूँ । हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं; अतः इस समय किसी तरह युद्ध नहीं कर सकेंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम् ।
अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ॥ ४२ ॥

आचार्यप्रवर द्रोणसे ऐसा कहकर महारथी भीष्मने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ ४२ ॥

(ततः सरथनागाश्वा जयं प्राप्य ससोमकाः ।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव प्रणेदुश्च पुनः पुनः ॥
प्रययुः शिबिरायैव धनंजयपुरस्कृताः ।
वादित्रघोषैः संहृष्टाः प्रनृत्यन्तो महारथाः ॥)

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित सोमक, पाञ्चाल तथा पाण्डव वीर विजय पाकर बारंबार सिंहनाद करने लगे । वे सभी महारथी विजयसूचक वाद्योंकी ध्वनिके साथ अत्यन्त हर्षमें भरकर नाचने लगे और अर्जुनको आगे करके शिबिरकी ओर चल दिये ॥

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत।
अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् संध्याकाले च वर्तति॥४३॥

भारत ! इस प्रकार सूर्यके अस्ताचलको चले जानेपर संध्याके समय आपकी और पाण्डवोंकी सेनाएँ लौट आयीं ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसावहारे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय युद्धदिवसमें सेनाको लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४५ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत॥ १ ॥

संजयने कहा—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी सेनाओंको युद्धभूमिमें चलनेका आदेश दिया ॥ १ ॥

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा।
पुत्राणां ते जयाकाङ्क्षी भीष्मः कुरुपितामहः॥ २ ॥

उस समय कुरुकुलके पितामह शान्तनुकुमार भीष्मने आपके पुत्रोंको विजय दिलानेकी इच्छासे महान् गरुडव्यूहकी रचना की ॥ २ ॥

गरुडस्य स्वयं तुण्डे पिता देवव्रतस्तव।
चक्षुषी च भरद्वाजः कृतवर्मा च सात्वतः॥ ३ ॥

स्वयं आपके ताऊ भीष्म उस व्यूहके अग्रभागमें चोंचके स्थानपर खड़े हुए। आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रोंके स्थानपर स्थित हुए ॥ ३ ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव शीर्षमास्तां यशस्विनौ।
त्रैगर्तैरथ कैकेयैर्वाटधानैश्च संयुगे॥ ४ ॥

यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरोभागमें खड़े हुए। इनके साथ त्रिगर्त, केकय और वाटधान भी युद्धभूमिमें उपस्थित थे ॥ ४ ॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
मद्रकाः सिन्धुसौवीरास्तथा पञ्चनदाश्च ये॥ ५ ॥
जयद्रथेन सहिता ग्रीवायां संनिवेशिताः।

आर्य ! भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये जयद्रथके साथ ग्रीवाभागमें खड़े किये गये। इन्हींके साथ मद्र, सिंधु, सौवीर तथा पञ्चनद देशके योद्धा भी थे ॥ ५½ ॥

पृष्ठे दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः॥ ६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजाश्च शकैः सह।
पुच्छमासन् महाराज शूरसेनाश्च सर्वशः॥ ७ ॥

अपने सहोदर भाइयों और अनुचरोंके साथ राजा दुर्योधन पृष्ठभागमें स्थित हुआ। महाराज ! अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा कम्बोज, शक एवं शूरसेनदेशके योद्धा उस महाव्यूहके पुच्छ भागमें खड़े हुए ॥ ६-७ ॥

मागधाश्च कलिङ्गाश्च दासेरकगणैः सह।
दक्षिणं पक्षमासाद्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः॥ ८ ॥

मगध और कलिङ्गदेशके योद्धा दासेरकगणोंके साथ कवच धारण करके व्यूहके दायें पंखके स्थानमें स्थित हुए ॥

कारूषाश्च विकुञ्जाश्च मुण्डाः कुण्डीवृषास्तथा।
बृहद्बलेन सहिता वामं पार्श्वमवस्थिताः॥ ९ ॥

कारूष, विकुञ्ज, मुण्ड और कुण्डीवृष आदि योद्धा राजा बृहद्बलके साथ बायें पंखके स्थानमें खड़े हुए ॥ ९ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं सव्यसाची परंतपः।
धृष्टद्युम्नेन सहितः प्रत्यव्यूहत संयुगे॥ १० ॥
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम्।
दक्षिणं शृङ्गमास्थाय भीमसेनो व्यरोचत॥ ११ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने कौरव-सेनाकी वह व्यूहरचना देखकर युद्धभूमिमें उसका सामना करनेके लिये धृष्टद्युम्नको साथ लेकर अपनी सेनाका अत्यन्त भयंकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया। उसके दक्षिण शिखरपर भीमसेन सुशोभित हुए ॥ १०-११ ॥

नानाशस्त्रौघसम्पन्नैर्नानादेश्यैर्नृपैर्वृतः।
तदन्वेव विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ १२ ॥

उनके साथ नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्पन्न विभिन्न देशोंके नरेश भी थे। भीमसेनके पीछे ही राजा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुए ॥ १२ ॥

तदनन्तरमेवासीन्नीलो नीलायुधैः सह।
नीलादनन्तरश्चैव धृष्टकेतुर्महाबलः॥ १३ ॥

उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकोंके साथ राजा नील और नीलके बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुए ॥१३॥

चेदिकाशिकरूषैश्च पौरवैरपि संवृतः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ १४ ॥
मध्ये सैन्यस्य महतः स्थिता युद्धाय भारत ।
तत्रैव धर्मराजोऽपि गजानीकेन संवृतः ॥ १५ ॥

भारत ! धृष्टकेतुके साथ चेदि, काशी, करूष और पौरव आदि देशोंके सैनिक भी थे । धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पाञ्चाल और प्रभद्रकगण उस विशाल सेनाके मध्य-भागमें युद्धके लिये खड़े हुए । हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं थे ॥ १४-१५ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
अभिमन्युस्ततः शूर इरावांश्च ततः परम् ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर सात्यकि और द्रौपदीके पाँचों पुत्र खड़े हुए । इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्युके बाद इरावान् थे ॥ १६ ॥

भैमसेनिस्ततो राजन् केकयाश्च महारथाः ।
ततोऽभूद् द्विपदां श्रेष्ठो वामं पार्श्वमुपाश्रितः ॥ १७ ॥
सर्वस्य जगतो गोप्ता गोप्ता यस्य जनार्दनः ।

नरेश्वर ! इरावान्के बाद भीमसेन-पुत्र घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुए । तत्पश्चात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूहके बायें पार्श्व या शिखरके स्थानमें खड़े हुए, जिनके रक्षक सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ १७½ ॥

एवमेतं महाव्यूहं प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ॥ १८ ॥
वधार्थं तव पुत्राणां तत्पक्षं ये च सङ्गताः ।

इस प्रकार पाण्डवोंने आपके पुत्रों तथा उनके पक्षमें आये हुए अन्यान्य भूपालोंके वधके लिये इस महाव्यूहकी रचना की ॥ १८½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ।

तदनन्तर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ॥ १९½ ॥

हयौघाश्च रथौघाश्च तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २० ॥
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त निघ्नन्तस्ते परस्परम् ।

प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ सब ओर घोड़ों और रथोंके समुदाय एक दूसरेपर टूटते और प्रहार करते दिखायी दे रहे थे ॥ २०½ ॥

धावतां च रथौघानां निघ्नतां च पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
बभूव तुमुलः शब्दो विमिश्रो दुन्दुभिस्वनैः ।
दिवस्पृङ् नरवीराणां निघ्नतामितरेतरम् ।
सम्प्रहारे सुतुमुले तव तेषां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! दौड़ते तथा पृथक्-पृथक् प्रहार करते हुए रथसमूहोंका शब्द दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिलकर और भी भयंकर हो गया । आपके और पाण्डवोंके घमासान युद्धमें परस्पर आघात-प्रत्याघात करनेवाले नरवीरोंका भयानक शब्द आकाशमें व्याप्त हो रहा था ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे परस्परव्यूहरचनायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें परस्पर व्यूहरचनाविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च ।
धनंजयो रथानीकमवधीत् तव भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! आपकी और पाण्डवोंकी पूर्वोक्तरूपसे व्यूहरचना सम्पन्न हो जानेपर अर्जुनने आपके रथियोंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

शरैरतिरथो युद्धे दारयन् रथयूथपान् ।
ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा रणे यत्नात् पाण्डवान् प्रत्ययोधयन् ।

वे अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंद्वारा युद्ध-स्थलमें रथयूथपतियोंको विदीर्ण करके यमलोक भेज दिया । युगान्तमें कालके समान उस युद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा आपके सैनिकोंका भयंकर विनाश हो रहा था, तो भी वे यत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ २½ ॥

प्रार्थयाना यशो दीप्तं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३ ॥
एकाग्रमनसो भूत्वा पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
बभञ्जुर्बहुशो राजंस्ते चासज्जन्त संयुगे ॥ ४ ॥

वे उज्ज्वल यश प्राप्त करना चाहते थे । अतः यह

निश्चय करके कि अब मृत्यु ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकती है, एकाग्रचित्त होकर युद्धमें डटे रहे। राजन्! उन्होंने युद्धमें ऐसी तत्परता दिखायी कि बार-बार पाण्डव-सेनाको तितर-बितर कर दिया ॥ ३-४ ॥

द्रवद्भिरथ भग्नैश्च परिवर्तद्भिरेव च।
पाण्डवैः कौरवेयैश्च न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

तदनन्तर क्षत-विक्षत होकर भागते और पुनः लौटकर सामना करते हुए पाण्डवों तथा कौरवोंके सैनिकोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं छादयानं दिवाकरम्।
न दिशः प्रदिशो वापि तत्र हन्युः कथं नराः ॥ ६ ॥

भूतलसे इतनी धूल उड़ी कि सूर्यदेव आच्छादित हो गये। दिशा और प्रदिशाका कुछ भी पता नहीं चलता था। वैसी दशामें वहाँ युद्ध करनेवाले लोग कैसे किसीपर प्रहार करें ॥ ६ ॥

अनुमानेन संज्ञाभिर्नामगोत्रैश्च संयुगे।
वर्तते च तथा युद्धं तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! उस रणक्षेत्रमें अनुमानसे, संकेतोंसे तथा नाम और गोत्रोंके उच्चारणसे अपने या पराये पक्षका निश्चय करके जहाँ-तहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ७ ॥

न व्यूहो भिद्यते तत्र कौरवाणां कथंचन।
रक्षितः सत्यसंधेन भारद्वाजेन संयुगे ॥ ८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण कौरवसेनाका व्यूह किसी प्रकार भंग न हो सका ॥ ८ ॥

तथैव पाण्डवानां च रक्षितः सव्यसाचिना।
नाभिद्यत महाव्यूहो भीमेन च सुरक्षितः ॥ ९ ॥

इसी तरह सव्यसाची अर्जुन और भीमसे सुरक्षित पाण्डवोंके महाव्यूहका भी भेदन न हो सका ॥ ९ ॥

सेनाग्रादपि निष्पत्य प्रायुध्यंस्तत्र मानवाः।
उभयोः सेनयो राजन् व्यतिषक्तरथद्विपाः ॥ १० ॥

वहाँ सेनाके अग्रभागसे भी निकलकर (व्यूह छोड़कर) वीर सैनिक युद्ध करते थे। राजन्! दोनों सेनाओंके रथ और हाथी परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

हयारोहैर्हयारोहाः पात्यन्ते स्म महाहवे।
ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च प्रासैरपि च संयुगे ॥ ११ ॥

उस महासमरमें घुड़सवार घुड़सवारोंको चमकीली ऋष्टियों और प्रासोंद्वारा मार गिराते थे ॥ ११ ॥

रथी रथिनमासाद्य शरैः कनकभूषणैः।
पातयामास समरे तस्मिन्नतिभयङ्करे ॥ १२ ॥

वह संग्राम अत्यन्त भयानक हो रहा था। उसमें रथी रथियोंके सामने जाकर उन्हें स्वर्णभूषित बाणोंसे मार गिराते थे ॥ १२ ॥

गजारोहा गजारोहान् नाराचशरतोमरैः।
संसक्तान् पातयामासुस्तव तेषां च सर्वशः ॥ १३ ॥

आपके और पाण्डव-पक्षके हाथीसवार अपनेसे भिड़े हुए विपक्षी हाथीसवारोंको सब ओरसे नाराच, बाण और तोमरोंकी मारसे धराशायी कर देते थे ॥ १३ ॥

कश्चिदुत्पत्य समरे वरवारणमास्थितः।
केशपक्षे परामृश्य जहार समरे शिरः ॥ १४ ॥

कोई योद्धा रणक्षेत्रमें उछलकर बड़े-बड़े हाथियोंपर चढ़ जाता और विपक्षी योद्धाके केशोंको पकड़कर उसका सिर काट लेता था ॥ १४ ॥

अन्ये द्विरददन्ताग्रनिर्भिन्नहृदया रणे।
वेमुश्च रुधिरं वीरा निःश्वसन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥

बहुत-से वीर युद्धस्थलमें हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे अपना हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण सब ओर लंबी साँस खींचते हुए मुखसे रक्त वमन कर रहे थे ॥ १५ ॥

कश्चित् करिविषाणस्थो वीरो रणविशारदः।
प्रावेपच्छक्तिनिर्भिन्नो गजशिक्षास्त्रवेदिना ॥ १६ ॥

कोई रणविशारद वीर हाथीके दाँतोंपर खड़ा होकर युद्ध कर रहा था। इतनेहीमें गजशिक्षा और अस्त्रविद्याके ज्ञाता किसी विपक्षी योद्धाने उसके ऊपर शक्ति चला दी। उस शक्तिके आघातसे वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वह मरणोन्मुख वीर वहीं काँपने लगा ॥ १६ ॥

पत्तिसङ्घा रणे पत्तीन् भिन्दिपालपरश्वधैः।
न्यपातयन्त संहृष्टाः परस्परकृतागसः ॥ १७ ॥

हर्ष और उल्लासमें भरकर एक दूसरेका अपराध करनेवाले पैदलसमूह विपक्षके पैदल सैनिकोंको भिन्दिपाल और फरसोंसे मार-मारकर रणभूमिमें गिरा रहे थे ॥ १७ ॥

रथी च समरे राजन्नासाद्य गजयूथपम्।
सगजं पातयामास गजी च रथिनां वरम् ॥ १८ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें कोई रथी किसी गजयूथपतिसे भिड़ जाता और सवार तथा हाथी दोनोंको मार गिराता था। उसी प्रकार गजारोही भी रथियोंमें श्रेष्ठ वीरका वध कर देता था ॥ १८ ॥

रथिनं च हयारोहः प्रासेन भरतर्षभ।
पातयामास समरे रथी च हयसादिनम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस संग्राममें घुड़सवार रथीको तथा रथी घुड़सवारको प्रासद्वारा मारकर धराशायी कर देता था ॥

पदाती रथिनं संख्ये रथी चापि पदातिनम्।
न्यपातयच्छितैः शस्त्रैः सेनयोरुभयोरपि ॥ २० ॥

दोनों ही सेनाओंमें पैदल वीर रथीको और रथी योद्धा पैदल सैनिकको अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें मार गिराता था ॥ २० ॥

गजारोहा हयारोहान् पातयाञ्चक्रिरे तदा।
हयारोहा गजस्थांश्च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

हाथीसवार घुड़सवारोंको और घुड़सवार हाथीसवारोंको युद्धस्थलमें गिरा देते थे। ये घटनाएँ आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती थीं ॥ २१ ॥

गजारोहवरैश्चापि तत्र तत्र पदातयः।
पातिताः समदृश्यन्त तैश्चापि गजयोधिनः ॥ २२ ॥

उस रणक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ गजारोहियोंद्वारा गिराये हुए पैदल और पैदलोंद्वारा गिराये हुए हाथीसवार दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

पत्तिसङ्घा हयारोहैः सादिसङ्घाश्च पत्तिभिः।
पात्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २३ ॥

घुड़सवारोंद्वारा पैदलोंके समूह और पैदलोंद्वारा घुड़सवारोंके समूह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २३ ॥

ध्वजैस्तत्रापविद्धैश्च कार्मुकैस्तोमरैस्तथा।
प्रासैस्तथा गदाभिश्च परिघैः कम्पनैस्तथा ॥ २४ ॥
शक्तिभिः कवचैश्चित्रैः कणपैरङ्कुशैरपि।
निस्त्रिंशैर्विमलैश्चापि स्वर्णपुङ्खैः शरैस्तथा ॥ २५ ॥
परिस्तोमैः कुथाभिश्च कम्बलैश्च महाधनैः।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ स्रग्दामैरिव चित्रिता ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ इधर-उधर गिरे हुए ध्वज, धनुष, तोमर, प्रास, गदा, परिघ, कम्पन, शक्ति, विचित्र कवच, कणप, अङ्कुश, चमचमाते हुए खड्ग, सुवर्णमय पाँखवाले बाण, शूल, गद्दी और बहुमूल्य कम्बलोंद्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि भाँति-भाँतिके पुष्पहारोंसे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थी ॥ २४—२६ ॥

नराश्वकायैः पतितैर्दन्तिभिश्च महाहवे।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ २७ ॥

उस महासमरमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं। मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी। वहाँकी भूमिमें जाना असम्भव हो गया था ॥ २७ ॥

प्रशशाम रजो भौमं व्युक्षितं रणशोणितैः।
दिशश्च विमलाः सर्वाः सम्बभूवुर्जनेश्वर ॥ २८ ॥

जनेश्वर! रणभूमिमें बहे हुए रक्तसे सिंचकर धरतीकी धूल बैठ गयी और सारी दिशाएँ साफ हो गयीं ॥ २८ ॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः।
चिह्नभूतानि जगतो विनाशार्थाय भारत ॥ २९ ॥

भारत! उस समय जगत्के विनाशको सूचित करनेवाले असंख्य कबन्ध चारों ओर उठने लगे ॥ २९ ॥

तस्मिन् युद्धे महारौद्रे वर्तमाने सुदारुणे।
प्रत्यदृश्यन्त रथिनो धावमानाः समन्ततः ॥ ३० ॥

उस अत्यन्त दारुण और महाभयंकर युद्धमें रथी योद्धा चारों ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ ३० ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्धवश्च जयद्रथः।
पुरुमित्रो जयो भोजः शल्यश्चापि ससौबलः ॥ ३१ ॥
एते समरदुर्धर्षाः सिंहतुल्यपराक्रमाः।
पाण्डवानामनीकानि बभञ्जुः स्म पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भीष्म, द्रोण, सिन्धुराज जयद्रथ, पुरुमित्र, जय, भोज, शल्य और शकुनि—ये सिंहतुल्य पराक्रमी रण-दुर्जय वीर पाण्डवोंकी सेनाको बार-बार भंग करने लगे ३१-३२

तथैव भीमसेनोऽपि राक्षसश्च घटोत्कचः।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ३३ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च सहितान् सर्वराजभिः।
द्रावयामासुराजौ ते त्रिदशा दानवानिव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन! इसी प्रकार भीमसेन, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब मिलकर जैसे देवता दानवोंको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त राजाओंसहित आपके पुत्रों और सैनिकोंको रणभूमिमें भगाने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तथा ते समरेऽन्योन्यं निघ्नन्तः क्षत्रियर्षभाः।
रक्तोक्षिता घोररूपा विरेजुर्दानवा इव ॥ ३५ ॥

संग्रामभूमिमें एक दूसरेको मारते हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर रक्तरंजित हो भयानक रूपधारी दानवोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३५ ॥

विनिर्जित्य रिपून् वीराः सेनयोरुभयोरपि।
व्यदृश्यन्त महामात्रा ग्रहा इव नभस्तले ॥ ३६ ॥

दोनों सेनाओंके वीर शत्रुओंको जीतकर आकाशमें फैले हुए विशाल ग्रहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

ततो रथसहस्रेण पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन सहस्रों रथियोंके साथ पाण्डववंशी राक्षस घटोत्कचके साथ युद्ध करनेके लिये वहाँ आया ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे महत्या सेनया सह ।
द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ प्रत्युद्ययुररिंदमौ ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार विशाल सेनाके साथ समस्त पाण्डव भी युद्धके लिये तैयार खड़े हुए शत्रुदमन द्रोणाचार्य और भीष्मसे भिड़नेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान् ।
आर्जुनिः सात्यकिश्चैव ययतुः सौबलं बलम् ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हुए श्रेष्ठ राजाओंका सामना करनेके लिये चले । अभिमन्यु और सात्यकिने शकुनिकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो लोमहर्षणः ।
तावकानां परेषां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार युद्धमें विजय चाहनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ गया ४०

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे संकुलयुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धसम्बन्धी तीसरे दिनका घमासान युद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! तदनन्तर वे समस्त भूपाल समरभूमिमें अर्जुनको देखते ही कुपित हो उठे और उन्होंने अनेक सहस्र रथियोंके साथ उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत ।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! उन राजाओंने रथसमूहद्वारा अर्जुनको सब ओरसे वेष्टित करके उनके ऊपर अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

शक्तीश्च विमलास्तीक्ष्णा गदाश्च परिघैः सह ।
प्रासान् परश्वधांश्चैव मुद्गरान् मुसलानपि ॥ ३ ॥
चिक्षिपुः समरे क्रुद्धाः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

वे क्रोधमें भरकर युद्धमें अर्जुनके रथपर चमचमाती हुई शक्ति, दुःसह गदा, परिघ, प्रास, फरसे, मुद्गर और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम् ॥ ४ ॥
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः ।

शलभोंकी श्रेणीके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी उस वर्षाको अर्जुनने स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा सब ओरसे रोक दिया ॥४½॥

तत्र तल्लाघवं दृष्ट्वा बीभत्सोरतिमानुषम् ॥ ५ ॥
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
साधु साध्विति राजेन्द्र फाल्गुनं प्रत्यपूजयन् ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनकी वह अलौकिक फुर्ती देख देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस साधु-साधु (वाह-वाह) कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५-६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ ।
गान्धारान् समरे शूराञ्जग्मतुः सहसौबलान् ॥ ७ ॥

उधर विशाल सेनासे घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्युने समर-भूमिमें सुबलके पुत्रोंसहित गान्धारदेशीय शूरवीरोंपर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

तत्र सौबलकाः क्रुद्धा वार्ष्णेयस्य रथोत्तमम् ।
तिलशश्चिच्छिदुः क्रोधाच्छस्त्रैर्नानाविधैर्युधि ॥ ८ ॥

वहाँ जाते ही क्रोधमें भरे हुए सुबलपुत्रोंने युद्ध-स्थलमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सात्यकिके श्रेष्ठ रथको रोषपूर्वक तिल-तिल करके काट डाला ॥ ८ ॥

सात्यकिस्तु रथं त्यक्त्वा वर्तमाने भयावहे ।
अभिमन्यो रथं तूर्णमारुरोह परंतपः ॥ ९ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि उस समय छिड़े हुए भयंकर संग्राममें अपने टूटे हुए रथको त्यागकर तुरंत ही अभिमन्युके रथपर जा बैठे ॥ ९ ॥

तावेकरथसंयुक्तौ सौबलेयस्य वाहिनीम् ।
व्यधमेतां शितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥

फिर एक ही रथपर बैठे हुए वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठवाले पैने बाणोंसे तुरंत ही सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १० ॥

द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ धर्मराजस्य वाहिनीम् ।
नाशयेतां शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार एक ओरसे आकर युद्धके लिये सदा उद्यत

रहनेवाले द्रोणाचार्य और भीष्मने कङ्कपक्षीके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ ११ ॥

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
मिषतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेवने समस्त सेनाओंके देखते-देखते द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ १२ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीत् सुदारुणम् ॥ १३ ॥

जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ था, उसी प्रकार वहाँ अत्यन्त भयानक रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ ।
(दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम् ।)
दुर्योधनस्ततोऽभ्येत्य तावुभावप्यवारयत् ॥ १४ ॥

दूसरी ओर भीमसेन और घटोत्कचने महान् पराक्रमका परिचय देते हुए दुर्योधनकी विशाल वाहिनीको खदेड़ना आरम्भ किया । उस समय दुर्योधनने सामने आकर उन दोनोंको रोक दिया ॥ १४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम हैडिम्बस्य पराक्रमम् ।
अतीत्य पितरं युद्धे यदयुध्यत भारत ॥ १५ ॥

भारत ! वहाँ हमने हिडिम्बापुत्र घटोत्कचका अद्भुत पराक्रम देखा । वह रणक्षेत्रमें पितासे भी बढ़कर पुरुषार्थ प्रकट करते हुए युद्ध कर रहा था ॥ १५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो दुर्योधनममर्षणम् ।
हृद्यविध्यत् पृषत्केन प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ १६ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनने हँसते हुए-से एक बाण मारकर अमर्षशील दुर्योधनकी छाती छेद डाली ।१६।

ततो दुर्योधनो राजा प्रहारवरपीडितः ।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ॥ १७ ॥

तब उस बाणके गहरे आघातसे पीड़ित हो राजा दुर्योधन रथकी बैठकमें बैठ गया और उसे मूर्च्छा आ गयी ॥ १७ ॥

तं विसंज्ञं विदित्वा तु त्वरमाणोऽस्य सारथिः।
अपोवाह रणाद् राजंस्ततः सैन्यमभज्यत ॥ १८ ॥

राजन् ! उसे संज्ञाशून्य जानकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया । फिर तो उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ १८ ॥

ततस्तां कौरवीं सेनां द्रवमाणां समन्ततः ।
निघ्नन् भीमः शरैस्तीक्ष्णैरनुवव्राज पृष्ठतः ॥ १९ ॥

तब चारों ओर भागती हुई उस कौरव-सेनापर तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए भीमसेन उसे पीछे-से खदेड़ने लगे ॥ १९ ॥

पार्षतश्च रथश्रेष्ठो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।
द्रोणस्य पश्यतः सैन्यं गाङ्गेयस्य च पश्यतः ॥ २० ॥
जघ्नतुर्विशिखैस्तीक्ष्णैः परानीकविनाशनैः ।

दूसरी ओरसे रथियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य और भीष्मके देखते-देखते कौरव-सेनाको पीडित करते हुए उसका पीछा करने लगे ॥ २०½ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं तव पुत्रस्य संयुगे ॥ २१ ॥
नाशक्नुतां वारयितुं भीष्मद्रोणौ महारथौ ।

महाराज ! उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रकी भागती हुई सेनाको महारथी द्रोण और भीष्म भी रोक न सके ॥२१½॥

वार्यमाणं च भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २२ ॥
विद्रवत्येव तत् सैन्यं पश्यतोर्द्रोणभीष्मयोः ।

महामना भीष्म और द्रोणके रोकनेपर भी उनके सामने ही वह सेना भागती ही चली जा रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रथसहस्रेषु विद्रवत्सु ततस्ततः ॥ २३ ॥
तावास्थितावेकरथं सौभद्रशिनिपुङ्गवौ ।
सौबलीं समरे सेनां शातयेतां समन्ततः ॥ २४ ॥

उधर सहस्रों रथी जब इधर-उधर भाग रहे थे, उसी समय एक रथपर बैठे हुए अभिमन्यु और सात्यकि सुबलपुत्रकी सेनाका संग्रामभूमिमें सब ओरसे संहार करने लगे ॥

शुशुभाते तदा तौ तु शैनेयकुरुपुङ्गवौ ।
अमावास्यां गतौ यद्वत् सोमसूर्यौ नभस्तले ॥ २५ ॥

उस अवसरपर (एक रथमें बैठे हुए) सात्यकि और अभिमन्यु उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे अमावास्या तिथिको आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा एक ही स्थानमें सुशोभित होते हैं ॥ २५ ॥

अर्जुनस्तु ततः क्रुद्धस्तव सैन्यं विशाम्पते ।
ववर्ष शरवर्षेण धाराभिरिव तोयदः ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुन आपकी सेनापर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है ॥ २६ ॥

वध्यमानं ततस्तत्र शरैः पार्थस्य संयुगे ।
दुद्राव कौरवं सैन्यं विषादभयकम्पितम् ॥ २७ ॥

तब पार्थके बाणोंसे संग्राम-भूमिमें पीड़ित हुई कौरवसेना विषाद और भयसे काँपती हुई इधर-उधर भाग चली ।२७।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ॥ २८ ॥

उन योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनका हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे ॥२८॥

ततो दुर्योधनो राजा समाश्वस्य विशाम्पते ।
न्यवर्तयत तत् सैन्यं द्रवमाणं समन्ततः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसी बीचमें राजा दुर्योधनकी मूर्छा दूर हो गयी और उसने आश्वस्त होकर चारों ओर भागती हुई सेनाको पुनः लौटाया ॥ २९ ॥

यत्र यत्र सुतस्तुभ्यं यं यं पश्यति भारत ।
तत्र तत्र न्यवर्तन्त क्षत्रियाणां महारथाः ॥ ३० ॥

भारत ! आपका पुत्र दुर्योधन जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी ओर दृष्टिपात करता, वहीं-वहींसे ऐसे योद्धा भी लौट आते थे जो क्षत्रियोंमें महारथी थे ॥ ३० ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव ततोऽन्येऽपीतरे जनाः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजँल्लज्जया चावतस्थिरे ॥ ३१ ॥

राजन् ! उन सबको लौटते देख दूसरे लोग भी एक दूसरेकी स्पर्धा तथा लज्जाके कारण ठहर गये ॥ ३१ ॥

पुनरावर्ततां तेषां वेग आसीद् विशाम्पते ।
पूर्यतः सागरस्येव चन्द्रस्योदयनं प्रति ॥ ३२ ॥

महाराज ! पुनः लौटते हुए उन योद्धाओंका महान् वेग चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था॥

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ॥ ३३ ॥

तब उन सबको लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरंत ही शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जाकर बोला—॥ ३३ ॥
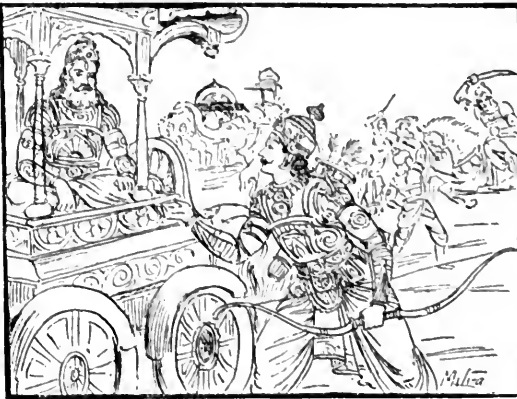
पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ॥ ३४ ॥
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने ।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ॥ ३५ ॥

'पितामह भरतनन्दन ! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये । कुरुनन्दन ! आपके, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके और महाधनुर्धर कृपाचार्यके पुत्रों और सुहृदोंसहित जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं आपलोगोंके योग्य नहीं मानता हूँ ॥ ३४-३५ ॥

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथंचन ।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥ ३६ ॥

'मैं किसी तरह यह नहीं मान सकता कि पाण्डव संग्राममें आपके, द्रोणाचार्यके, कृपाचार्यके और अश्वत्थामाके समान बलवान् हैं ॥ ३६ ॥

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह ।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ॥ ३७ ॥

'वीर पितामह ! निश्चय ही पाण्डव आपके कृपापात्र हैं, तभी तो मेरी सेनाका वध हो रहा है और आप चुपचाप इसकी दुर्दशाको सहते चले जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे ।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ॥३८॥

'महाराज ! यदि पाण्डवोंपर दया ही करनी थी तो आप युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही मुझे यह बता देते कि मैं संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्रोंसे, धृष्टद्युम्नसे और सात्यकिसे भी युद्ध नहीं करूँगा ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तुभ्यमाचार्यस्य कृपस्य च ।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ॥ ३९ ॥

'उस अवस्थामें आपका, आचार्यका तथा कृपका वचन सुनकर मैं कर्णके साथ उसी समय अपने कर्तव्यका निश्चय कर लेता ॥ ३९ ॥

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे ।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ॥ ४० ॥

'यदि युद्धमें आप दोनोंको मेरा परित्याग करना उचित नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये' ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः ।
अब्रवीत् तनयं तुभ्यं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥ ४१ ॥

यह सुनकर भीष्म बारंबार हँसकर क्रोधसे आँखें तरेरते हुए आपके पुत्रसे बोले—॥ ४१ ॥

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः ।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ॥ ४२ ॥

'राजन् ! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और हितकी बात बतायी है कि युद्धमें पाण्डवोंको इन्द्र आदि देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ४२ ॥

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम ।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षेदानीं सबान्धवः ॥ ४३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! तो भी मुझ वृद्धके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा। तुम इस समय अपने भाइयोंसहित देखो ॥ ४३ ॥

अद्य पाण्डुसुतानेकः ससैन्यान् सह बन्धुभिः।
सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४४ ॥

'आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा' ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र आनन्द-मग्न होकर जोर-जोरसे शङ्ख बजाने और डंका पीटने लगे ॥

पाण्डवा हि ततो राजञ्श्रुत्वा तं निनदं महत्।
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च मुरजांश्चाप्यनादयन् ॥ ४६ ॥

राजन् ! उनका वह महान् शङ्खनाद सुनकर पाण्डव वीर शङ्ख बजाने तथा नगारे और ढोल पीटने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तृतीय युद्धदिवसमें भीष्म और दुर्योधनका संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ४६$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरवसेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते ततस्तस्मिन् युद्धे भीष्मेण दारुणे।
क्रोधितो मम पुत्रेण दुःखितेन विशेषतः ॥ १ ॥
भीष्मः किमकरोत् तत्र पाण्डवेयेषु संयुगे।
पितामहे वा पञ्चालास्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस भयंकर युद्धमें जब भीष्मने मेरे विशेष दुखी हुए पुत्रके क्रोध दिलानेपर प्रतिज्ञा कर ली, तब उन्होंने उस युद्धस्थलमें पाण्डवोंके प्रति क्या किया ? तथा पाञ्चाल योद्धाओंने पितामह भीष्मके प्रति क्या किया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
पश्चिमां दिशमास्थाय स्थिते चापि दिवाकरे ॥ ३ ॥
जयं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ॥ ४ ॥
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम्।
महत्या सेनया गुप्तस्तव पुत्रैश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

संजयने कहा—भारत ! उस दिन जब पूर्वाह्णकालका अधिक भाग व्यतीत हो गया, सूर्यदेव पश्चिम दिशामें जाकर स्थित हुए और विजयको प्राप्त हुए महामना पाण्डव खुशी मनाने लगे, उस समय सब धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ भीष्मजीने वेगशाली अश्वोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया। उनके साथ विशाल सेना चली और आपके पुत्र सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३–५ ॥

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ॥ ६ ॥

भारत ! तदनन्तर आपके अन्यायसे हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम होने लगा ॥६॥

धनुषां कूजतां तत्र तलानां चाभिहन्यताम्।
महान् समभवच्छब्दो गिरीणामिव दीर्यताम् ॥ ७ ॥

उस समय वहाँ धनुषोंकी टङ्कार तथा हथेलियोंके आघात-से पर्वतोंके विदीर्ण होनेके समान बड़े जोरसे शब्द होता था॥

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्धयेनं निवर्तस्व स्थिरो भव।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिर भावसे रहो, हाँ-हाँ स्थिरभावसे ही हूँ, तुम प्रहार करो' ऐसे शब्द सब ओर सुनायी पड़ते थे ॥ ८ ॥

काञ्चनेषु तनुत्रेषु किरीटेषु ध्वजेषु च।
शिलानामिव शैलेषु पतितानामभूद् ध्वनिः ॥ ९ ॥

जब सोनेके कवचों, किरीटों और ध्वजोंपर योद्धाओंके अस्त्र-शस्त्र टकराते, तब उनसे पर्वतोंपर गिरकर टकरानेवाली शिलाओंके समान भयानक शब्द होता था ॥ ९ ॥

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

सैनिकोंके सैकड़ों-हजारों मस्तक तथा स्वर्णभूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने और तड़पने लगीं ॥ १० ॥

हृतोत्तमाङ्गाः केचित् तु तथैवोद्यतकार्मुकाः।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ॥ ११ ॥

कितने ही पुरुषशिरोमणि वीरोंके मस्तक तो कट गये, परंतु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये ॥ ११ ॥

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी।
मातङ्गाङ्गशिला रौद्रा मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ॥ १३ ॥

रणक्षेत्रमें बड़े वेगसे रक्तकी नदी बह चली, जो देखनेमें बड़ी भयानक थी। हाथियोंके शरीर उसके भीतर शिलाखण्डों-के समान जान पड़ते थे। खून और मांस कीचड़के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंसे ही वह नदी निकली थी और परलोकरूपी समुद्रकी ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांसकी नदी गीधों और गीदड़ोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी ॥ १२-१३ ॥

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ॥ १४ ॥

भारत! नरेश्वर! पाण्डवों और आपके पुत्रोंका उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ १४ ॥

नासीद् रथपथस्तत्र योधैर्युधि निपातितैः।
गजैश्च पतितैर्नीलैर्गिरिशृङ्गैरिवावृतः ॥ १५ ॥

वहाँ युद्धस्थलमें गिराये हुए योद्धाओं तथा पर्वतके श्याम शिखरोंके समान पड़े हुए हाथियोंसे अवरुद्ध हो जानेके कारण रथोंके आने-जानेके लिये रास्ता नहीं रह गया था ॥ १५ ॥

विकीर्णैः कवचैश्चित्रैः शिरस्त्राणैश्च मारिष।
शुशुभे तद् रणस्थानं शरदीव नभस्तलम् ॥ १६ ॥

माननीय महाराज! इधर-उधर बिखरे हुए विचित्र कवचों तथा शिरस्त्राणों (लोहेके टोपों) से वह रणभूमि शरद्-ऋतुमें तारिकाओंसे विभूषित आकाशकी भाँति शोभा पाने लगी ॥ १६ ॥

विनिर्भिन्नाः शरैः केचिदन्त्रापीडप्रकर्षिणः।
अभीताः समरे शत्रूनभ्यधावन्त दर्पिताः ॥ १७ ॥

कुछ वीर बाणोंसे विदीर्ण होकर आँतोंमें उठनेवाली पीड़ासे अत्यन्त कष्ट पानेपर भी समरभूमिमें निर्भय तथा दर्प-युक्त भावसे शत्रुओंकी ओर दौड़ रहे थे ॥ १७ ॥

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल।
मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ॥ १८ ॥

कितने ही योद्धा रणभूमिमें गिरकर इस प्रकार आर्त-भावसे स्वजनोंको पुकार रहे थे—'तात! भ्रातः! सखे! बन्धो! मेरे मित्र! मेरे मामा! मुझे छोड़कर न जाओ' ॥

अथाभ्येहि त्वमागच्छ किं भीतोऽसि क यास्यसि।
स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ॥ १९ ॥

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—'अरे आओ, मेरे पास आओ, क्यों डरे हुए हो? कहाँ जाओगे? मैं संग्राममें डटा हुआ हूँ। तुम भय न करो' ॥ १९ ॥

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ २० ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको मण्डलाकार करके विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणोंकी निरन्तर वर्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्य भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे व्याप्त करते हुए पाण्डव-पक्षीय रथियोंको अपना नाम सुना-सुनाकर मारने लगे ॥ २१ ॥

स नृत्यन् वै रथोपस्थे दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अलातचक्रवद् राजंस्तत्र तत्र स्म दृश्यते ॥ २२ ॥

राजन्! उस समय भीष्म अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रहे थे। घूमते हुए अलात-चक्रकी भाँति वे यत्र-तत्र सर्वत्र दिखायी देने लगे ॥ २२ ॥

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृंजयैः सह।
अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ॥ २३ ॥

युद्धमें शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयों-सहित पाण्डवोंको वे अपनी फुर्तीके कारण कई लाख व्यक्तियों-के समान दिखायी दिये ॥ २३ ॥

मायाकृतात्मानमिव भीष्मं तत्र स्म मेनिरे।
पूर्वस्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्रतीच्यां ददृशुर्जनाः ॥ २४ ॥

लोगोंको ऐसा मालूम हो रहा था कि रणक्षेत्रमें भीष्मजीने मायासे अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट कर लिया है। जिन लोगोंने उन्हें पूर्वदिशामें देखा था, उन्हीं लोगोंको आँख फिरते ही वे पश्चिममें दिखायी दिये ॥ २४ ॥

उदीच्यां चैवमालोक्य दक्षिणस्यां पुनः प्रभो।
एवं स समरे शूरो गाङ्गेयः प्रत्यदृश्यत ॥ २५ ॥

प्रभो! बहुतोंने उन्हें उत्तर दिशामें देखकर तत्काल ही दक्षिण दिशामें भी देखा। इस प्रकार समरभूमिमें वे शूरवीर गङ्गानन्दन भीष्म सब ओर दिखायी दे रहे थे ॥ २५ ॥

न चैवं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति वीक्षितुम्।
विशिखानेव पश्यन्ति भीष्मचापच्युतान् बहून् ॥ २६ ॥

पाण्डवोंमेंसे कोई भी उन्हें देख नहीं पाता था। सब लोग भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंको ही देखते थे ॥ २६ ॥

कुर्वाणं समरे कर्म सूदयानं च वाहिनीम्।
व्याक्रोशन्त रणे तत्र नरा बहुविधा बहु ॥ २७ ॥
अमानुषेण रूपेण चरन्तं पितरं तव।

उस समय रणक्षेत्रमें अद्भुत कर्म करते हुए आपके ताऊ भीष्म अमानुषरूपसे विचरते तथा पाण्डवसेनाका संहार करते थे। वहाँ अनेक प्रकारके मनुष्य उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥ २७½ ॥

शलभा इव राजानः पतन्ति विधिचोदिताः ॥ २८ ॥
भीष्माग्निमभिसंक्रुद्धं विनाशाय सहस्रशः।

वहाँ विधातासे प्रेरित होकर पतंगोंके समान सहस्रों राजा क्रोधमें भरे हुए भीष्मरूपी प्रचण्ड अग्निमें अपने विनाशके लिये स्वयं ही आ गिरते थे ॥ २८½ ॥

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे ॥ २९ ॥
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः।

युद्धमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके शरीरोंपर चलाया हुआ भीष्मका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं होता था। एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्तीसे चलाते थे ॥२९½॥

(प्रच्छादयञ्शरान् भीष्मो निशितान् कङ्कपत्रिणः।)
भिनत्त्येकेन बाणेन सुमुखेन पतत्त्रिणा ॥ ३० ॥
गजकण्टकसंनद्धं वज्रेणेव शिलोच्चयम्।

भीष्म कंकपत्रसे युक्त बहुसंख्यक तीखे बाणोंको युद्धमें बिखेर रहे थे। वे एक ही पंखयुक्त सीधे बाणसे लोहेकी झूलसे युक्त हाथीको भी विदीर्ण कर डालते थे। जैसे इन्द्र महान् पर्वतको अपने वज्रसे विदीर्ण कर देते हैं ॥३०½॥

द्वौ त्रीनपि गजारोहान् पिण्डितान् वर्मितानपि॥ ३१ ॥
नाराचेन सुमुक्तेन निजघान पिता तव।

आपके ताऊ भीष्म अच्छी तरहसे छोड़े हुए एक ही नाराचके द्वारा एक जगह बैठे हुए दो-तीन हाथीसवारोंको कवच धारण किये होनेपर भी छेद डालते थे ॥

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन ॥ ३२ ॥
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते।

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्मके सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्तमें खड़ा दिखायी देकर उसी क्षण धरतीपर लोटता दिखायी देता था ॥ ३२½ ॥

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः ॥ ३३ ॥
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा।

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्मके द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिरकी वह विशाल वाहिनी सहस्रों भागोंमें बिखर गयी ॥ ३३½ ॥

प्राकम्पत महासेना शरवर्षेण तापिता ॥ ३४ ॥
पश्यतो वासुदेवस्य पार्थस्याथ शिखण्डिनः।

उनकी बाण-वर्षासे संतप्त हो पाण्डवोंकी वह महती सेना श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डीके देखते-देखते काँपने लगी॥

वर्तमानाऽपि ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ ३५ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान्।

वे सब वीर वहाँ मौजूद होते हुए भी भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३५½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ ३६ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः।

महाराज! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मकी मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी एक साथ नहीं भाग सकते थे ॥ ३६½ ॥

आविद्धनरनागाश्वं पतितध्वजकूबरम् ॥ ३७ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम्।

मनुष्य, हाथी और घोड़े सभी बाणोंसे छिद गये थे। रथके ध्वज और कूबर टूटकर गिर चुके थे। इस प्रकार पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ ३८ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः।

इस युद्धमें दैवके वशीभूत होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्रिय मित्रको मार डाला ॥ ३८½ ॥

विमुच्य कवचान्यन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३९ ॥
विमुक्तकेशा धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त भारत।

भारत! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके बहुत-से सैनिक कवच खोलकर बाल बिखेरे इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथयूथपम् ॥ ४० ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा।
प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ४१ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम्।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी वह सेना व्याकुल होकर भटकती हुई गौओंके समूहकी भाँति आर्तस्वरसे हाहाकार करती हुई देखी गयी। कितने ही रथयूथपति भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूम रहे थे। अपनी सेनामें इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कहा— ॥४०-४१½॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकाङ्क्षितः॥ ४२ ॥
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे।

'पुरुषसिंह! जिसकी तुम दीर्घकालसे अभिलाषा करते थे, वही यह अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोहसे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो ॥

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ॥ ४३ ॥
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे॥ ४४॥

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ।
बीभत्सो पश्य सैन्यं स्वं भज्यमानं ततस्ततः ॥ ४५ ॥

'वीर ! पहले राजाओंकी मण्डलीमें तुमने जो यह कहा था कि 'जो मेरे साथ संग्रामभूमिमें उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकोंको मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ।' शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन ! अपनी उस बातको सत्य कर दिखाओ । अर्जुन ! देखो, तुम्हारी सेना इधर-उधर भाग रही है ॥ ४३–४५ ॥

द्रवतश्च महीपालान् पश्य यौधिष्ठिरे बले ।
दृष्ट्वा हि भीष्मं समरे व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ४६ ॥
भयार्ताः प्रपलायन्ते सिंहात् क्षुद्रमृगा इव ।

'समरभूमिमें मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मको देखकर युधिष्ठिरकी सेनामें भागते हुए इन राजाओंकी ओर दृष्टिपात करो । ये सिंहसे डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भाँति भयसे आतुर होकर पलायन कर रहे हैं' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वासुदेवं धनंजयः ॥ ४७ ॥
नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाह्यैतद् बलार्णवम् ।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ४८ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन् ! इन घोड़ोंको हाँककर वहीं ले चलिये, जहाँ भीष्म मौजूद हैं । इस सेनारूपी समुद्रमें प्रवेश कीजिये । आज मैं कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्म-को रथसे नीचे गिरा दूँगा' ॥ ४७-४८ ॥

संजय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः ।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ॥ ४९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके चाँदीके समान सफेद घोड़ोंको उसी दिशाकी ओर हाँका, जिस ओर भीष्मजीका रथ विद्यमान था । सूर्यकी भाँति उस रथकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥ ५० ॥

उस समय महाबाहु अर्जुनको समरभूमिमें भीष्मसे लोहा लेनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ५० ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः ।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीष्म सिंहके समान बारंबार गर्जना करते हुए अर्जुनके रथपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५१ ॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ।
शरवर्षेण महता संछन्नो न प्रकाशते ॥ ५२ ॥

उस महान् बाणवर्षासे एक ही क्षणमें घोड़े और सारथि-सहित आच्छादित होकर अर्जुनका रथ किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्त्ववान् ।
चोदयामास तानश्वान् विचितान् भीष्मसायकैः ॥ ५३ ॥

परंतु शक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण तनिक भी घबराहटमें न पड़कर धैर्यका सहारा ले उन घोड़ोंको हाँकते रहे । यद्यपि भीष्मके बाण उन अश्वोंके सभी अङ्गोंमें धँसे हुए थे ॥५३॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा त्रिभिः शरैः ॥ ५४ ॥

तब अर्जुनने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीन बाणोंसे भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ५४ ॥

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥ ५५ ॥

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्मने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥ ५६ ॥

फिर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुषको दोनों हाथोंसे खींचा । इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट डाला ॥ ५६ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥ ५७ ॥
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनंजय ।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥ ५८ ॥

अर्जुनकी इस फुर्तीको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी प्रशंसा की और कहा—'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम्हें साधुवाद । पाण्डुनन्दन ! धन्यवाद । बेटा ! तुम्हारी इस फुर्तीसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । धनंजय ! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है । तुम मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ५७-५८ ॥

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करके फिर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर वीर भीष्मने युद्धस्थलमें उनके रथकी ओर बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ५९ ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें अपने उत्तम बलका परिचय दिया । वे भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ रथको मण्डलाकार चलाने लगे ॥६०॥

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनंजयौ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ॥ ६१ ॥

भारत ! तथापि भीष्मने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें अपने पैने बाणोंसे गहरे आघात किये ॥ ६१ ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणैर्लिखिताङ्कितौ ॥ ६२ ॥

भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वे नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रोधमें भरे हुए उन दो साँड़ोंके समान सुशोभित हुए, जिनके सम्पूर्ण शरीरमें सींगोंके आघातसे बहुत-से घाव हो गये हों ॥ ६२ ॥

पुनश्चापि सुसंरब्धः शरैः शतसहस्रशः।
कृष्णयोर्युधि संरब्धो भीष्मोऽथावारयद् दिशः॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् रोषावेशमें भरे हुए भीष्मने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित एवं अवरुद्ध कर दिया ॥ ६३ ॥

वार्ष्णेयं च शरैस्तीक्ष्णैः कम्पयामास रोषितः।
मुहुरभ्यर्दयन् भीष्मः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ६४ ॥

इतना ही नहीं, रोषमें भरे हुए भीष्मने जोर-जोरसे हँसकर अपने तीखे बाणोंसे बारंबार पीड़ित करते हुए वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्णको कम्पित-सा कर दिया ॥ ६४ ॥

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम्।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ६५ ॥
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ॥ ६६ ॥
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान्।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने उस समराङ्गणमें भीष्मका पराक्रम देखकर यह विचार किया कि अर्जुन तो कोमलता-पूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म युद्धस्थलमें निरन्तर बाणों-की वर्षा कर रहे हैं। ये दोनों सेनाओंके बीचमें आकर तपते हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित होते और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अच्छे-अच्छे सैनिकोंको चुन-चुनकर मार रहे हैं। युधिष्ठिरकी सेनामें भीष्मने प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है॥

अमृष्यमाणो भगवान् केशवः परवीरहा।
अचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ६८ ॥
एकाह्ना हि रणे भीष्मो नाशयेद् देवदानवान्।
किं नु पाण्डुसुतान् युद्धे सबलान् सपदानुगान्॥ ६९ ॥

यह सब देख और सोचकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने मन ही-मन विचार किया कि युधिष्ठिरकी सेनाका अस्तित्व मिटना चाहता है। भीष्म रणभूमिमें एक ही दिनमें सम्पूर्ण देवताओं और दानवोंका नाश कर सकते हैं। फिर सेना और सेवकोंसहित पाण्डवोंको युद्धमें परास्त करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ६८-६९ ॥

द्रवते च महासैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः।
एते च कौरवास्तूर्णं प्रभग्नान् वीक्ष्य सोमकान् ॥ ७० ॥
प्राद्रवन्ति रणे दृष्ट्वा हर्षयन्तः पितामहम्।
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः ॥ ७१ ॥

महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी यह विशाल सेना भागी जा रही है और ये कौरवलोग रणक्षेत्रमें सोमकोंको शीघ्रता-पूर्वक भागते देख पितामहका हर्ष बढ़ाते हुए उन्हें खदेड़ रहे हैं; अतः आज पाण्डवोंके लिये कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्मको मारे डालता हूँ ॥ ७०-७१ ॥

भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम्।
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ॥ ७२ ॥
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात्।

महामना पाण्डवोंके इस भारी भारको मैं ही दूर करूँगा। अर्जुन इस युद्धमें तीखे बाणोंकी मार खाकर भी भीष्मके प्रति गौरवबुद्धि रखनेके कारण अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहा है ॥ ७२½ ॥

तथा चिन्तयतस्तस्य भूय एव पितामहः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ७३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार चिन्तन करते समय अत्यन्त कुपित हुए पितामह भीष्मने अर्जुनके रथपर पुनः बहुत-से बाण चलाये ॥ ७३ ॥

तेषां बहुत्वात् तु भृशं शराणां
दिशश्च सर्वाः पिहिता बभूवुः।
न चान्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रश्मिमाली।
ववुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वाः क्षुभिता बभूवुः ॥ ७४ ॥

उन बाणोंकी अत्यधिकताके कारण उनसे सम्पूर्ण दिशाएँ आच्छादित हो गयीं। न आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ; न तो भूमि दिखायी देती थी और न मरीचिमाली भगवान् भास्करका ही दर्शन होता था। उस समय धूमयुक्त भयंकर हवा चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाएँ क्षुब्ध हो उठीं॥

द्रोणो विकर्णोऽथ जयद्रथश्च
भूरिश्रवाः कृतवर्मा कृपश्च।
श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
विन्दानुविन्दौ च सुदक्षिणश्च ॥ ७५ ॥
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
वसातयः क्षुद्रकमालवाश्च।
किरीटिनं त्वरमाणाऽभिसस्रु-
र्निदेशगाः शान्तनवस्य राज्ञः ॥ ७६ ॥

तब द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण, पूर्वीय नरेशगण, सौवीरदेशीय क्षत्रियगण, वसाति, क्षुद्रक और मालवगण,—ये सभी शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए तुरंत ही किरीटधारी अर्जुनका सामना करनेके लिये निकट चले आये ॥ ७५-७६ ॥

तं वाजिपादातरथौघजालै-
रनेकसाहस्रशतैर्ददर्श ।
किरीटिनं सम्परिवार्यमाणं
शिनेर्नप्ता वारणयूथपैश्च ॥ ७७ ॥

सात्यकिने दूरसे देखा, किरीटधारी अर्जुन घोड़े, पैदल तथा रथियोंसहित कई लाख सैनिकोंसे घिर गये हैं, गजराज-यूथपतियोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा है ॥ ७७ ॥

ततस्तु दृष्ट्वार्जुनवासुदेवौ
पदातिनागाश्वरथैः समन्तात् ।
अभिद्रुतौ शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
शिनिप्रवीरोऽभिससार तूर्णम् ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् पैदल, हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा चारों ओरसे आक्रान्त हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकि तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥ ७८ ॥

स तान्यनीकानि महाधनुष्मा-
ञ्छिनिप्रवीरः सहसाभिपत्य ।
चकार साहाय्यमथार्जुनस्य
विष्णुर्यथा वृत्रनिषूदनस्य ॥ ७९ ॥

महाधनुर्धर शिनिवीर सात्यकिने सहसा उन सेनाओंके समीप पहुँचकर अर्जुनकी उसी प्रकार सहायता की, जैसे भगवान् विष्णु वृत्रविनाशक इन्द्रकी सहायता करते हैं ॥७९॥

विशीर्णनागाश्वरथध्वजौघं
भीष्मेण वित्रासितसर्वयोधम् ।
युधिष्ठिरानीकमभिद्रवन्तं
प्रोवाच संदृश्य शिनिप्रवीरः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओंके समूह तितर-बितर हो गये थे। भीष्मने उनके सम्पूर्ण योद्धाओंको भयभीत कर दिया था। इस प्रकार युधिष्ठिरके सैनिकोंको भागते देख शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने उनसे कहा—॥

क्व क्षत्रिया यास्यथ नैष धर्मः
सतां पुरस्तात् कथितः पुराणैः ।
मा स्वां प्रतिज्ञां त्यजत प्रवीराः
स्वं वीरधर्मं परिपालयध्वम् ॥ ८१ ॥

'क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो? प्राचीन महापुरुषोंद्वारा यह श्रेष्ठ क्षत्रियोंका धर्म नहीं बताया गया है। वीरो! अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, अपने वीर-धर्मका पालन करो' ॥ ८१ ॥

तान् वासवानन्तरजो निशाम्य
नरेन्द्रमुख्यान् द्रवतः समन्तात् ।
पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च
भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम् ॥ ८२ ॥
अमृष्यमाणः स ततो महात्मा
यशस्विनं सर्वदशार्हभर्ता ।
उवाच शैनेयमभिप्रशंसन्
दृष्ट्वा कुरूनापततः समग्रान् ॥ ८३ ॥

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन श्रेष्ठ राजाओंको सब ओर भागते देखा और इस बातपर भी लक्ष्य किया कि अर्जुन तो कोमलताके साथ युद्ध कर रहा है और भीष्म इस संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते जा रहे हैं। यह सब देखकर सम्पूर्ण यदुकुलका भरण-पोषण करनेवाले महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने समस्त कौरवोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख यशस्वी वीर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ८२-८३ ॥

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु ।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ॥ ८४ ॥

'शिनिवंशके प्रमुख वीर! सात्वतरत्न! जो भाग रहे हैं, वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं इन लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी संग्रामभूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको रथसे मार गिराता हूँ ॥ ८४ ॥

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥ ८५ ॥

'सात्वत वीर! आज कौरवसेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। मैं अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके प्राण हर लूँगा ॥ ८५ ॥

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ॥ ८६ ॥

'सात्यके! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण—इन दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा ॥

निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः ।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ॥ ८७

'धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी श्रेष्ठ नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा' ॥ ८७ ॥

संजय उवाच

(इतीदमुक्त्वा स महानुभावः
सस्मार चक्रं निशितं पुराणम् ।
सुदर्शनं चिन्तितमात्रमेव
तस्याग्रहस्तं स्वयमारुरोह ॥)

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर महानुभाव श्रीकृष्णने अपने पुरातन एवं तीक्ष्ण आयुध सुदर्शनचक्रका स्मरण किया । उनके चिन्तन करने मात्रसे ही वह स्वयं उनके हाथके अग्रभागमें प्रस्तुत हो गया ॥

ततः सुनाभं वसुदेवपुत्रः
सूर्यप्रभं वज्रसमप्रभावम् ।
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान् ॥ ८८ ॥
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।
मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम् ॥ ८९ ॥

उस चक्रकी नाभि बड़ी सुन्दर थी । उसका प्रकाश सूर्यके समान और प्रभाव वज्रके तुल्य था । उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे । वसुदेवनन्दन महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर हाथमें उस चक्रको घुमाते हुए रथसे कूद पड़े और जिस प्रकार सिंह बढ़े हुए घमंडवाले मदान्ध एवं उन्मत्त गजराजको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर झपटे, उसी प्रकार वे भी अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाते हुए युद्धस्थलमें भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ८८-८९ ॥

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी ।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः ॥ ९० ॥

देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते थे । वे उस सेनाके मध्यभागमें कुपित होकर जिस समय भीष्मकी ओर झपटे, उस समय उनके श्याम विग्रहपर लटककर हवाके वेगसे फहराता हुआ पीताम्बरका छोर उन्हें ऐसी शोभा दे रहा था, मानो आकाशमें बिजलीसे आवेष्टित हुआ श्याम मेघ सुशोभित हो रहा हो ॥ ९० ॥

सुदर्शनं चास्य रराज शौरे-
स्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम् ।
यथादिपद्मं तरुणार्कवर्णं
रराज नारायणनाभिजातम् ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णकी सुन्दर भुजारूपी विशाल नालसे सुशोभित वह सुदर्शनचक्र कमलके समान शोभा पा रहा था, मानो भगवान् नारायणके नाभिसे प्रकट हुआ प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाला आदिकमल प्रकाशित हो रहा हो ॥ ९१ ॥

तत् कृष्णकोपोदयसूर्यबुद्धं
क्षुरान्ततीक्ष्णाग्रसुजातपत्रम् ।
तस्यैव देहोरुसरःप्ररूढं
रराज नारायणबाहुनालम् ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्णके क्रोधरूपी सूर्योदयसे वह कमल विकसित हुआ था । उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे । वे ही मानो उसके सुन्दर दल थे । भगवान्‌के श्रीविग्रहरूपी महान् सरोवरमें ही वह बढ़ा हुआ था और नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी बाहुरूपी नाल उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ९२ ॥

तमात्तचक्रं प्रणदन्तमुच्चैः
क्रुद्धं महेन्द्रावरजं समीक्ष्य ।
सर्वाणि भूतानि भृशं विनेदुः
क्षयं कुरूणामिव चिन्तयित्वा ॥ ९३ ॥

महेन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण कुपित हो हाथमें चक्र उठाये बड़े जोरसे गरज रहे थे । उन्हें इस रूपमें देखकर कौरवोंके संहारका विचार करके सभी प्राणी हाहाकार करने लगे ॥ ९३ ॥

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम् ।
अभ्युत्पतल्लँोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः ॥ ९४ ॥

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९४ ॥

तमाद्रवन्तं प्रगृहीतचक्रं
दृष्ट्वा देवं शान्तनवस्तदानीम् ।
असम्भ्रमं तद् विचकर्ष दोर्भ्यां
महाधनुर्गाण्डिवतुल्यघोषम् ॥ ९५ ॥

भगवान्‌को चक्र लिये अपनी ओर वेगपूर्वक आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय तनिक भी भय अथवा घबराहटका अनुभव न करते हुए दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने महान् धनुषको खींचने लगे ॥ ९५ ॥

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ॥ ९६ ॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥

उस समय युद्ध स्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था। वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव ! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये ॥ ९६-९७ ॥

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात्॥ ९८ ॥

'श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर ! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया' ॥ ९८ ॥

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं
बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ॥ ९९ ॥

मोटी, लंबी और उत्तम भुजाओंवाले यदुकुलके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे बढ़ते देख अर्जुन भी बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर उनके पीछे दौड़े और निकट जाकर भगवान्‌की दोनों बाहें पकड़ लीं। अर्जुनकी भुजाएँ भी मोटी और विशाल थीं ॥ ९९ ॥

निगृह्यमाणश्च तदाऽऽदिदेवो
भृशं सरोषः किल चात्मयोगी।
आदाय वेगेन जगाम विष्णु-
र्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ॥१००॥

आदिदेव आत्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण बहुत रोषमें भरे हुए थे। वे अर्जुनके पकड़नेपर भी रुक न सके। जैसे आँधी किसी वृक्षको खींचे लिये चली जाय, उसी प्रकार वे भगवान् विष्णु अर्जुनको लिये हुए ही बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ॥१०१॥

राजन् ! तब किरीटधारी अर्जुनने भीष्मके निकट बड़े वेगसे जाते हुए श्रीहरिके चरणोंको बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदमपर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका॥

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ॥१०२॥

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्णका विचित्र हार पहने हुए अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न हो उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'केशव ! आप अपना क्रोध रोकिये। प्रभो ! आप ही पाण्डवोंके परम आश्रय हैं ॥ १०२ ॥

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं
पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥ १०३ ॥

'केशव ! अब मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कर्तव्यका पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा। यह बात मैं अपने पुत्रों और भाइयोंकी शपथ खाकर कहता हूँ। उपेन्द्र ! आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं समस्त कौरवोंका अन्त कर डालूँगा' ॥ १०३ ॥

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनरारुरोह ॥१०४॥

अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा और कर्तव्य-पालनका यह निश्चय सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका मन प्रसन्न हो गया। वे कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका प्रिय करनेके लिये उद्यत हो पुनः चक्र लिये रथपर जा बैठे ॥ १०४ ॥

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शङ्खं द्विषतां निहन्ता।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ॥१०५॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने पुनः घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और पाञ्चजन्य शङ्ख लेकर उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ १०५ ॥

व्याविद्धनिष्काङ्गदकुण्डलं तं
रजोविकीर्णाञ्चितपद्मनेत्रम्।
विशुद्धदंष्ट्रं प्रगृहीतशङ्खं
विचुक्रुशुः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीराः ॥१०६॥

उस समय उनके कण्ठका हार, भुजाओंके बाजूबन्द और कानोंके कुण्डल हिलने लगे थे। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्रोंपर सेनासे उठी हुई धूल बिखरी थी। उनकी दन्तावली शुद्ध एवं स्वच्छ थी और उन्होंने अपने हाथमें शङ्ख ले रक्खा था। उस अवस्थामें श्रीकृष्णको देखकर कौरवपक्षके प्रमुख वीर कोलाहल कर उठे ॥ १०६ ॥

मृदङ्गभेरीपणवप्रणादा
नेमिस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
ससिंहनादाश्च बभूवुरुग्राः
सर्वेष्वनीकेषु ततः कुरूणाम् ॥१०७॥

तत्पश्चात् कौरवोंके सम्पूर्ण सैन्यदलोंमें मृदंग, भेरी, पणव तथा दुन्दुभिकी ध्वनि होने लगी। रथके पहियोंकी घरघराहट सुनायी देने लगी। वे सभी शब्द वीरोंके सिंहनादसे मिलकर अत्यन्त उग्र प्रतीत हो रहे थे ॥ १०७ ॥

गाण्डीवघोषः स्तनयित्नुकल्पो
जगाम पार्थस्य नभो दिशश्च ।
जग्मुश्च बाणा विमलाः प्रसन्नाः
सर्वा दिशः पाण्डवचापमुक्ताः ॥१०८॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष मेघकी गर्जनाके समान आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया तथा उनके धनुषसे छूटे हुए निर्मल एवं स्वच्छ बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें बरसने लगे ॥ १०८ ॥

तं कौरवाणामधिपो जवेन
भीष्मेण भूरिश्रवसा च सार्धम् ।
अभ्युद्ययावुद्यतबाणपाणिः
कक्षं दिधक्षन्निव धूमकेतुः ॥१०९॥

उस समय कौरवराज दुर्योधन हाथमें धनुष-बाण लिये बड़े वेगसे अर्जुनके सामने आया, मानो घास-फूँसको जलानेके लिये प्रज्वलित आग बढ़ती चली आ रही हो। भीष्म और भूरिश्रवाने भी दुर्योधनका साथ दिया ॥ १०९ ॥

अथार्जुनाय प्रजिघाय भल्लान्
भूरिश्रवाः सप्त सुवर्णपुङ्खान् ।
दुर्योधनस्तोमरमुग्रवेगं
शल्यो गदां शान्तनवश्च शक्तिम् ॥११०॥

तदनन्तर भूरिश्रवाने सोनेके पंखसे युक्त सात भल्ल अर्जुनपर चलाये। दुर्योधनने भयंकर वेगशाली तोमरका प्रहार किया। शल्यने गदा और शान्तनुनन्दन भीष्मने शक्ति चलायी ॥

स सप्तभिः सप्त शरप्रवेकान्
संवार्य भूरिश्रवसा विसृष्टान् ।
शितेन दुर्योधनबाहुमुक्तं
क्षुरेण तत् तोमरमुन्ममाथ ॥१११॥

अर्जुनने सात बाणोंसे भूरिश्रवाके छोड़े हुए सातों भल्लोंको काटकर तीखे छूरेसे दुर्योधनकी भुजाओंसे मुक्त हुए उस तोमरको भी नष्ट कर दिया ॥ १११ ॥

ततः शुभामापततीं स शक्तिं
विद्युत्प्रभां शान्तनवेन मुक्ताम् ।
गदां च मद्राधिपबाहुमुक्तां
द्वाभ्यां शराभ्यां निचकर्त वीरः ॥११२॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुनने शान्तनुनन्दन भीष्मकी छोड़ी हुई बिजलीके समान चमकीली और शोभामयी शक्तिको तथा मद्रराज शल्यकी भुजाओंसे मुक्त हुई गदाको भी दो बाणोंसे काट डाला ॥

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ॥११३॥

तदनन्तर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुषको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक खींचकर अर्जुनने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्रको प्रकट किया। वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्षमें चमक उठा ॥ ११३ ॥

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णै-
र्निवारयामास किरीटमाली ॥११४॥

फिर किरीटधारी महामना महाधनुर्धर अर्जुनने उस उत्तम अस्त्रद्वारा निर्मल एवं अग्निके समान प्रज्वलित बाणोंका जाल-सा बिछाकर कौरवोंके समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११४ ॥

शिलीमुखाः पार्थधनुःप्रमुक्ता
रथान् ध्वजाग्राणि धनूंषि बाहून् ।
निकृत्य देहान् विविशुः परेषां
नरेन्द्रनागेन्द्रतुरङ्गमाणाम् ॥११५॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंके रथ, ध्वजाग्र, धनुष और बाहु काटकर नरेशों, गजराजों तथा घोड़ोंके शरीरोंमें घुसने लगे ॥ ११५ ॥

ततो दिशः सोऽनुदिशश्च पार्थः
शरैः सुधारैः समरे वितत्य ।
गाण्डीवशब्देन मनांसि तेषां
किरीटमाली व्यथयांचकार ॥११६॥

तदनन्तर तीखी धारवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके किरीटधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकारसे कौरवोंके मनमें भारी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥

तस्मिंस्तथा घोरतमे प्रवृत्ते
शङ्खस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
अन्तर्हिता गाण्डिवनिःस्वनेन
बभूवुरुग्राश्वरथप्रणादाः ॥११७॥

इस प्रकारके उस अत्यन्त भयंकर युद्धमें शङ्ख-ध्वनि, दुन्दुभि-ध्वनि तथा घोड़ों और रथके पहियोंके भयंकर शब्द गाण्डीव धनुषकी टंकारके सामने दब गये ॥ ११७॥

गाण्डीवशब्दं तमथो विदित्वा
विराटराजप्रमुखाः प्रवीराः ।
पाञ्चालराजो द्रुपदश्च वीर-
स्तं देशमाजग्मुरदीनसत्त्वाः ॥११८॥

तब उस गाण्डीवके शब्दको पहचानकर राजा विराट आदि प्रमुख वीर और वीरवर पाञ्चालराज द्रुपद—ये सभी उदारचित्त नरेश उस स्थानपर आ गये ॥ ११८ ॥

सर्वाणि सैन्यानि तु तावकानि
यतो यतो गाण्डिवजः प्रणादः ।
ततस्ततः संनतिमेव जग्मु-
र्न तं प्रतीपोऽभिससार कश्चित् ॥११९॥

जहाँ-जहाँ गाण्डीव धनुषकी टंकार होती, वहाँ-वहाँ आपके सारे सैनिक मस्तक टेक देते थे । कोई भी उनके प्रतिकूल आक्रमण नहीं करता था ॥ ११९ ॥

तस्मिन् सुघोरे नृपसम्प्रहारे
हताः प्रवीराः सरथाश्वसूताः ।
गजाश्च नाराचनिपाततप्ता
महापताकाः शुभरुक्मकक्ष्याः ॥१२०॥
परीतसत्त्वाः सहसा निपेतुः
किरीटिना भिन्नतनुत्रकायाः ।
दृढं हताः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन भल्लैर्विमलैः शिताग्रैः ॥१२१॥

राजाओंके उस भयानक संग्राममें रथ, घोड़े और सारथिसहित बड़े-बड़े वीर मारे गये । सुन्दर सुनहरे रस्सोंसे कसे हुए, बड़ी-बड़ी पताकाओंवाले हाथी नाराचोंकी मारसे पीड़ित हो शक्ति और चेतना खोकर सहसा धराशायी हो गये । कुन्तीकुमार अर्जुनके भयंकर वेगवाले तीखे एवं पंखयुक्त निर्मल भल्लोंसे गहरी चोट पड़नेपर कवच और शरीर दोनोंके विदीर्ण हो जानेसे कौरव सैनिक सहसा प्राणशून्य होकर गिर जाते थे ॥ १२०-१२१ ॥

निकृत्तयन्त्रा निहतेन्द्रकीला
ध्वजा महान्तो ध्वजिनीमुखेषु ।
पदातिसङ्घाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनंजयेन ॥१२२॥
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा
विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ।
ऐन्द्रेण तेनास्त्रवरेण राजन्
महाहवे भिन्नतनुत्रदेहाः ॥१२३॥

युद्धके मुहानेपर जिनके यन्त्र कट गये और इन्द्रकील नष्ट हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े ध्वज छिन्न-भिन्न होकर गिरने लगे । उस संग्राममें अर्जुनके बाणोंसे घायल पैदलोंके समूह, रथी, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अङ्गोंको पकड़े हुए पृथ्वीपर गिरने लगे । राजन् ! उस महान् ऐन्द्रास्त्रसे समरभूमिमें सभी सैनिकोंके शरीर और कवच छिन्न-भिन्न हो गये ॥ १२२-१२३ ॥

ततः शरौघैर्निशितैः किरीटिना
नृदेहशस्त्रक्षतलोहितोदा ।
नदी सुघोरा नरमेदफेना
प्रवर्तिता तत्र रणाजिरे वै ॥१२४॥

उस समय समराङ्गणमें किरीटधारी अर्जुनने अपने तीखे बाणसमूहोंद्वारा योद्धाओंके शरीरमें लगे हुए आघातसे निकलनेवाले रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी; जिसमें मनुष्योंके मेदे फेनके समान जान पड़ते थे ॥ १२४ ॥

वेगेन सातीव पृथुप्रवाहा
परेतनागाश्वशरीररोधा ।
नरेन्द्रमज्जोच्छ्रितमांसपङ्का
प्रभूतरक्षोगणभूतसेविता ॥१२५॥

वह नदी बड़े वेगसे बह रही थी । उसका प्रवाह पुष्ट था । मरे हुए हाथी, घोड़ोंके शरीर तटोंके समान प्रतीत होते थे । राजाओंके मज्जा और मांस कीचड़के समान थे । बहुत-से राक्षस और भूतगण उसका सेवन करते थे ॥१२५॥

शिरःकपालाकुलकेशशाद्वला
शरीरसङ्घातसहस्रवाहिनी ।
विशीर्णनानाकवचोर्मिसंकुला
नराश्वनागास्थिनिकृत्तशर्करा ॥१२६॥

मुर्दोंकी खोपड़ियोंके केश सेवारका भ्रम उत्पन्न करते थे । सहस्रों शरीर उसमें जल-जन्तुओंके समान बह रहे थे । छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए कवच लहरोंके समान उसमें सर्वत्र व्याप्त थे । मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी कटी हुई हड्डियाँ छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरोंका काम दे रही थीं ॥ १२६ ॥

श्वकङ्कशालावृकगृध्रकाकैः
क्रव्यादसङ्घैश्च तरक्षुभिश्च ।
उपेतकूलां ददृशुर्मनुष्याः
क्रूरां महावैतरणीप्रकाशाम् ॥१२७॥

उसके दोनों किनारोंपर कुत्ते, कौवे, भेड़िये, गीध, कंक, तरक्षु* तथा अन्यान्य मांसभक्षी जन्तु निवास करते थे । उस भयानक नदीको लोगोंने महावैतरणीके समान देखा ॥१२७॥

प्रवर्तितामर्जुनबाणसङ्घै-
र्मेदोवसासृक्प्रवहां सुभीमाम् ।
हतप्रवीरां च तथैव दृष्ट्वा
सेनां कुरूणामथ फाल्गुनेन ॥१२८॥

* सेई जन्तु, जिसके वदनमें काँटे होते हैं ।

ते चेदिपाञ्चालकरूषमत्स्याः
पार्थाश्च सर्वे सहिताः प्रणेदुः ।
जयप्रगल्भाः पुरुषप्रवीराः
संत्रासयन्तः कुरुवीरयोधान् ॥१२९॥

अर्जुनके बाणसमूहोंसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था। वह चर्बी, मज्जा तथा रक्त बहानेके कारण बड़ी भयंकर जान पड़ती थी। इस प्रकार कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर अर्जुनके द्वारा मारे गये। यह देखकर चेदि, पाञ्चाल, करूष और मत्स्यदेशके क्षत्रिय तथा कुन्तीके पुत्र—ये सभी नर-वीर विजय पानेसे निर्भय हो कौरवयोद्धाओंको भयभीत करते हुए एक साथ सिंहनाद करने लगे ॥ १२८-१२९ ॥

हतप्रवीराणि बलानि दृष्ट्वा
किरीटिना शत्रुभयावहेन ।
वित्रास्य सेनां ध्वजिनीपतीनां
सिंहो मृगाणामिव यूथसङ्घान् ॥१३०॥
विनेदतुस्तावतिहर्षयुक्तौ
गाण्डीवधन्वा च जनार्दनश्च ।

शत्रुओंको भय देनेवाले किरीटधारी अर्जुनके द्वारा कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंको मारे गये देख पाण्डवपक्षके वीरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी। गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण मृगोंके यूथोंको भयभीत करनेवाले सिंहके समान कौरवसेनापतियोंकी सारी सेनाको संत्रस्त करके अत्यन्त हर्षमें भरकर गर्जना करने लगे ॥ १३०½ ॥

ततो रविं संवृतरश्मिजालं
दृष्ट्वा भृशं शस्त्रपरिक्षताङ्गाः ॥१३१॥
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
सद्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च ॥१३२॥
चक्रुर्निशां संधिगतां समीक्ष्य
विभावसोर्लोहितरागयुक्ताम् ।

तदनन्तर शस्त्रोंके आघातसे अत्यन्त क्षत-विक्षत अङ्गोंवाले भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक तथा अन्य कौरवयोद्धाओंने सूर्यदेवको अपनी किरणोंको समेटते देख और उस भयंकर ऐन्द्रास्त्रको प्रलयंकर अग्निके समान सर्वत्र व्याप्त एवं असह्य हुआ जानकर सूर्यकी लालीसे युक्त संध्या एवं निशाके आरम्भकालका अवलोकन कर सेनाको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ १३१–१३२½ ॥

अवाप्य कीर्तिं च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूंश्च धनंजयोऽपि ॥१३३॥
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ।

धनंजय भी शत्रुओंको जीतकर एवं लोकमें सुयश और सुकीर्ति पाकर भाइयों तथा राजाओंके साथ सारा कार्य समाप्त करके निशाके आरम्भमें अपने शिबिरको लौट गये ॥१३३½॥

ततः प्रजज्ञे तुमुलः कुरूणां
निशामुखे घोरतमः प्रणादः ॥१३४॥
रणे रथानामयुतं निहत्य
हता गजाः सप्तशतार्जुनेन ।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
निपातिताः क्षुद्रकमालवाश्च ॥१३५॥
महत् कृतं कर्म धनंजयेन
कर्तुं यथा नार्हति कश्चिदन्यः ।

उस समय रात्रिके आरम्भमें कौरवोंके दलमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा। वे आपसमें कहने लगे—'आज अर्जुनने रणक्षेत्रमें दस हजार रथियोंका विनाश करके सात सौ हाथी मार डाले हैं। प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव सभी क्षत्रियगणोंको मार गिराया है। धनंजयने जो महान् पराक्रम किया है, उसे दूसरा कोई वीर नहीं कर सकता ॥१३४-१३५½ ॥

श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ॥१३६॥
द्रोणः कृपः सैन्धवबाह्लिकौ च
भूरिश्रवाः शल्यशलौ च राजन् ।
अन्ये च योधाः शतशः समेताः
क्रुद्धेन पार्थेन रणस्य मध्ये ॥१३७॥
स्वबाहुवीर्येण जिताः सभीष्माः
किरीटिना लोकमहारथेन ।

'श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, बाह्लिक, भूरिश्रवा, शल्य और शल—ये तथा और भी सैकड़ों योद्धा क्रोधमें भरे हुए लोकमहारथी, किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें अपनी ही भुजाओंके पराक्रमसे भीष्मसहित परास्त किये गये हैं' ॥ १३६–१३७½ ॥

इति ब्रुवन्तः शिबिराणि जग्मुः
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥१३८॥
उल्कासहस्रैश्च सुसम्प्रदीप्तै-
र्विभ्राजमानैश्च तथा प्रदीपैः ।
किरीटिवित्रासितसर्वयोधा
चक्रे निवेशं ध्वजिनी कुरूणाम् ॥१३९ ॥

भारत ! उपर्युक्त बातें कहते हुए आपके समस्त सैनिक

सहस्रों जलती हुई मशालें तथा प्रकाशमान दीपोंके उजालेमें अपने-अपने शिविरमें गये। कौरवसेनाके सम्पूर्ण सैनिकोंपर अर्जुनका त्रास छा रहा था। इसी अवस्थामें उस सेनाने रातमें विश्राम किया ॥ १३८-१३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिन सेनाके विश्रामके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४०½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूहनिर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध

संजय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा ।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियोंकी सेनाके अग्रभागमें स्थित हुए महामना भीष्म समग्रसेनासे घिरकर शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये चले। उस समय उनके मनमें शत्रुओंके प्रति बड़ा क्रोध था ॥ १ ॥

तं द्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ।
जयद्रथश्चातिबलो बलौघै-
र्नृपास्तथान्ये प्रययुः समन्तात् ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक, दुर्मर्षण, चित्रसेन, अत्यन्त बलवान् जयद्रथ तथा अन्य नरेश विशाल वाहिनीको साथ लिये प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

स तैर्महद्भिश्च महारथैश्च
तेजस्विभिर्वीर्यवद्भिश्च राजन् ।
रराज राजा स तु राजमुख्यै-
र्वृतः स देवैरिव वज्रपाणिः ॥ ३ ॥

राजन् ! इन महान्, तेजस्वी, पराक्रमी और महारथी नरपतियोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन देवताओंसहित वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ॥ ३ ॥

तस्मिन्ननीकप्रमुखे विषक्ता
दोधूयमानाश्च महापताकाः ।
सुरक्तपीतासितपाण्डुराभा
महागजस्कन्धगता विरेजुः ॥ ४ ॥

इस सेनाके प्रमुख भागमें बड़े-बड़े गजराजोंके कंधोंपर लगी हुई लाल, पीली, काली और सफेद रंगकी फहराती हुई विशाल पताकाएँ शोभा पा रही थीं ॥ ४ ॥

सा वाहिनी शान्तनवेन गुप्ता
महारथैर्वारणवाजिभिश्च ।
बभौ सविद्युत्स्तनयित्नुकल्पा
जलागमे द्यौरिव जातमेघा ॥ ५ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मसे रक्षित वह विशाल वाहिनी बड़े-बड़े रथों, हाथियों और घोड़ोंसे ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाश बिजली-सहित बादलोंसे सुशोभित हो ॥ ५ ॥

ततो रणायाभिमुखी प्रयाता
प्रत्यर्जुनं शान्तनवाभिगुप्ता ।
सेना महोग्रा सहसा कुरूणां
वेगो यथा भीम इवापगायाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर नदीके भयानक वेगकी भाँति कौरवोंकी वह अत्यन्त भयंकर सेना शान्तनुनन्दन भीष्मसे सुरक्षित हो रणके लिये अर्जुनकी ओर सहसा चली ॥ ६ ॥

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम् ।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ॥ ७ ॥

महामना कपिध्वज अर्जुनने दूरसे देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूहमें आबद्ध होनेके कारण अनेक प्रकारकी दिखायी दे रही है। उसकी शक्ति छिपी हुई है। उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियोंके समूह भरे हुए हैं। सेनाका वह व्यूह महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता है ॥ ७ ॥

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः ।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकोंके वधका संकल्प लेकर श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए ध्वज एवं आवरणसे युक्त रथपर आरूढ़ हो शत्रुसेनाके सामने चले ॥

सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेषं
यत्तं यदूनामृषभेण संख्ये ।
कपिध्वजं प्रेक्ष्य विषेदुराजौ
सहैव पुत्रैस्तव कौरवेयाः ॥ ९ ॥

जिसमें सब सामग्री सुन्दरतासे सजाकर रक्खी गयी थी, अच्छी तरह बँधी होनेके कारण जिसकी ईषा अत्यन्त मनोहर दिखायी देती है तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण जिसका संचालन करते हैं, उस वानरके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथको युद्धभूमिमें उपस्थित देख आपके पुत्रोंसहित समस्त कौरव-सैनिक विषादमग्न हो गये ॥ ९ ॥

प्रकर्षता गुप्तमुदायुधेन
किरीटिना लोकमहारथेन ।
तं व्यूहराजं ददृशुस्त्वदीया-
श्चतुश्चतुर्व्यालसहस्रकर्णम् ॥ १० ॥

लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षितरूपसे अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशामें खड़े किये गये थे, उस व्यूहराजको आपके सैनिकोंने देखा ॥१०॥

यथा हि पूर्वेऽहनि धर्मराज्ञा
व्यूहः कृतः कौरवसत्तमेन ।
तथा न भूतो भुवि मानुषेषु
न दृष्टपूर्वो न च संश्रुतश्च ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पहले दिन जैसा व्यूह बनाया था, वैसा ही वह भी था । वैसा व्यूह इस भूतलपर मनुष्यों-की सेनाओंमें न तो पहले कभी देखा गया था और न कभी सुना ही गया था ॥ ११ ॥

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार यथोचित स्थान-पर पहुँचकर पाञ्चाल और चेदिदेशके प्रमुख वीर खड़े हुए। फिर उस युद्धस्थलमें प्रधानके आदेशानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक साथ बज उठीं ॥ १२ ॥

शङ्खस्वनास्तूर्यरथस्वनाश्च
सर्वेष्वनीकेषु ससिंहनादाः ।
ततः सबाणानि महास्वनानि
विस्फार्यमाणानि धनूंषि वीरैः ॥ १३ ॥

सभी सेनाओंमें शङ्खनाद, तूर्यनाद (वाद्योंकी ध्वनि) तथा वीरोंके सिंहनादसहित रथोंकी घरघराहटके शब्द होने लगे । फिर वीरोंके द्वारा खींचे जानेवाले बाणसहित धनुषके महान् टंकार-शब्द गूँज उठे ॥ १३ ॥

क्षणेन भेरीपणवप्रणादा-
नन्तर्दधुः शङ्खमहास्वनाश्च ।
तच्छङ्खशब्दावृतमन्तरिक्ष-
मुद्धूतभौमाद्भुतरेणुजालम् ॥ १४ ॥

क्षणभरमें भेरी और पणव आदिके शब्दोंको महान् शङ्खनादोंने दबा लिया तथा उस शङ्खध्वनिसे व्याप्त हुए आकाशमें (पृथ्वीसे) उठी हुई धूलोंका भयंकर एवं अद्भुत जाल-सा फैल गया ॥ १४ ॥

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतः ससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेवका प्रकाश देखकर सहसा शत्रुमण्डलीपर टूट पड़े । रथी रथीसे भिड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित मरकर गिरने लगा।१५।

गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
आवर्तमानान्यभिवर्तमानै-
र्घोरीकृतान्यद्भुतदर्शनानि ।
प्रासैश्च खड्गैश्च समाहतानि
सदश्ववृन्दानि सदश्ववृन्दैः ॥ १६ ॥
सुवर्णतारागणभूषितानि
सूर्यप्रभाभानि शरावराणि ।
विदार्यमाणानि परश्वधैश्च
प्रासैश्च खड्गैश्च निपेतुरुर्व्याम् ॥ १७ ॥

हाथी हाथीके आघातसे और पैदल पैदलकी चोटसे धराशायी होने लगे । श्रेष्ठ घोड़ोंके समूहपर उत्तम अश्वोंके समुदाय आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे । ये सवारोंद्वारा किये हुए खड्ग और प्रासोंके आघातसे घायल होकर भयंकर और अद्भुत दिखायी देते थे । स्वर्णमय तारागणोंके चिह्नोंसे विभूषित सूर्यके समान चमकीले कवच फरसों, तलवारों और प्रासोंकी चोटसे विदीर्ण होकर धरतीपर गिर रहे थे॥ १६-१७॥

गजैर्विषाणैर्वरहस्तरुग्णाः
केचित् ससूता रथिनः प्रपेतुः ।
गजर्षभाश्चापि रथर्षभेण
निपातिता बाणहताः पृथिव्याम् ॥ १८ ॥

दन्तार हाथियोंके दाँतों और सूँड़ोंके आघातसे रथ चूर-चूर हो जानेके कारण कितने ही रथी सारथिसहित धरतीपर गिर पड़ते थे । कितने ही श्रेष्ठ रथियोंने बड़े-बड़े हाथियोंको अपने बाणोंसे मारकर धराशायी कर दिया ॥ १८ ॥

गजौघवेगोद्धतसादितानां
श्रुत्वा विषेदुः सहसा मनुष्याः ।

आर्तस्वनं सादिपदातियूनां
विषाणगात्रावरताडितानाम् ॥ १९ ॥

हाथियोंके वेगसे कुचलकर कितने ही घुड़सवार और पैदल युवक मारे गये । वे उनके दाँतों और नीचेके अङ्गसे कुचलकर हताहत हो रहे थे । सहसा उनकी आर्त चीत्कार सुनकर सभी मनुष्योंको बड़ा खेद होता था ॥ १९ ॥

सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
महाक्षये सादिपदातियूनाम् ।
महारथैः सम्परिवार्यमाणो
ददर्श भीष्मः कपिराजकेतुम् ॥ २० ॥

उस मुहूर्तमें जब कि घुड़सवारों और पैदल युवकोंका विकट संहार हो रहा था तथा हाथी, घोड़े और रथ सभी अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे, महारथियोंसे घिरे हुए भीष्मने वानरचिह्नसे युक्त ध्वजवाले अर्जुनको देखा ॥ २० ॥

तं पञ्चतालोच्छ्रिततालकेतुः
सदश्ववेगाद्भुतवीर्ययानः ।
महास्त्रबाणाशनिदीप्तिमन्तं
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ॥ २१ ॥

भीष्मका ध्वज पाँच तालवृक्षोंसे चिह्नित और ऊँचा था । उनके रथमें अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जिनके वेगसे वह रथ अद्भुत शक्तिशाली जान पड़ता था । उसपर आरूढ़ होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने किरीटधारी अर्जुनपर धावा किया, जो बाण और अशनि आदि महान् दिव्यास्त्रोंकी दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ २१ ॥

तथैव शक्रप्रतिमप्रभाव-
मिन्द्रात्मजं द्रोणमुखा विसस्रुः ।
कृपश्च शल्यश्च विविंशतिश्च
दुर्योधनः सौमदत्तिश्च राजन् ॥ २२ ॥

राजन् ! इसी प्रकार इन्द्रतुल्य प्रभावशाली इन्द्रकुमार अर्जुनपर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन तथा भूरिश्रवाने भी आक्रमण किया ॥ २२ ॥

ततो रथानां प्रमुखादुपेत्य
सर्वास्त्रवित् काञ्चनचित्रवर्मा ।
जवेन शूरोऽभिससार सर्वा-
स्तानर्जुनस्यात्मसुतोऽभिमन्युः ॥ २३ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, सोनेके विचित्र कवच धारण करनेवाले शूरवीर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने एक श्रेष्ठ रथके द्वारा वेगपूर्वक वहाँ पहुँचकर उन समस्त कौरव महारथियोंपर धावा किया ॥ २३ ॥

तेषां महास्त्राणि महारथाना-
मसह्यकर्मा विनिहत्य कार्ष्णिः ।
बभौ महामन्त्रहुतार्चिमाली
सदोगतः सन् भगवानिवाग्निः ॥ २४ ॥

अर्जुनकुमारका पराक्रम दूसरोंके लिये असह्य था । वह उन कौरव महारथियोंके बड़े-बड़े अस्त्रोंको नष्ट करके यज्ञमण्डपमें महान् मन्त्रोंद्वारा हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत भगवान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगा ॥ २४ ॥

ततः स तूर्णं रुधिरोदफेनां
कृत्वा नदीमाशु रणे रिपूणाम् ।
जगाम सौभद्रमतीत्य भीष्मो
महारथं पार्थमदीनसत्त्वः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उदार शक्तिशाली भीष्मने रणभूमिमें तुरंत ही शत्रुओंके रक्तरूपी जल एवं फेनसे भरी नदी बहाकर सुभद्राकुमार अभिमन्युको टालकर महारथी अर्जुनपर आक्रमण किया ।२५।

ततः प्रहस्याद्भुतविक्रमेण
गाण्डीवमुक्तेन शिलाशितेन ।
विपाठजालेन महास्त्रजालं
विनाशयामास किरीटमाली ॥ २६ ॥

तब किरीटधारी अर्जुनने हँसकर अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए गाण्डीव धनुषसे छोड़े और शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विपाठ नामक बाणोंके समूहसे शत्रुओंके बड़े-बड़े अस्त्रोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २६ ॥

तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः ।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अप्रतिहत पराक्रमवाले महामना कपिध्वज अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मपर तुरंत ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २७ ॥

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः ।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार आपके सैनिकोंने देखा कि आकाशमें कपिध्वज अर्जुनके बिछाये हुए महान् अस्त्रजालको भीष्मजीने अपने अस्त्रोंके आघातसे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे भगवान् सूर्य अन्धकारराशिको नष्ट कर देते हैं ॥ २८ ॥

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम् ।
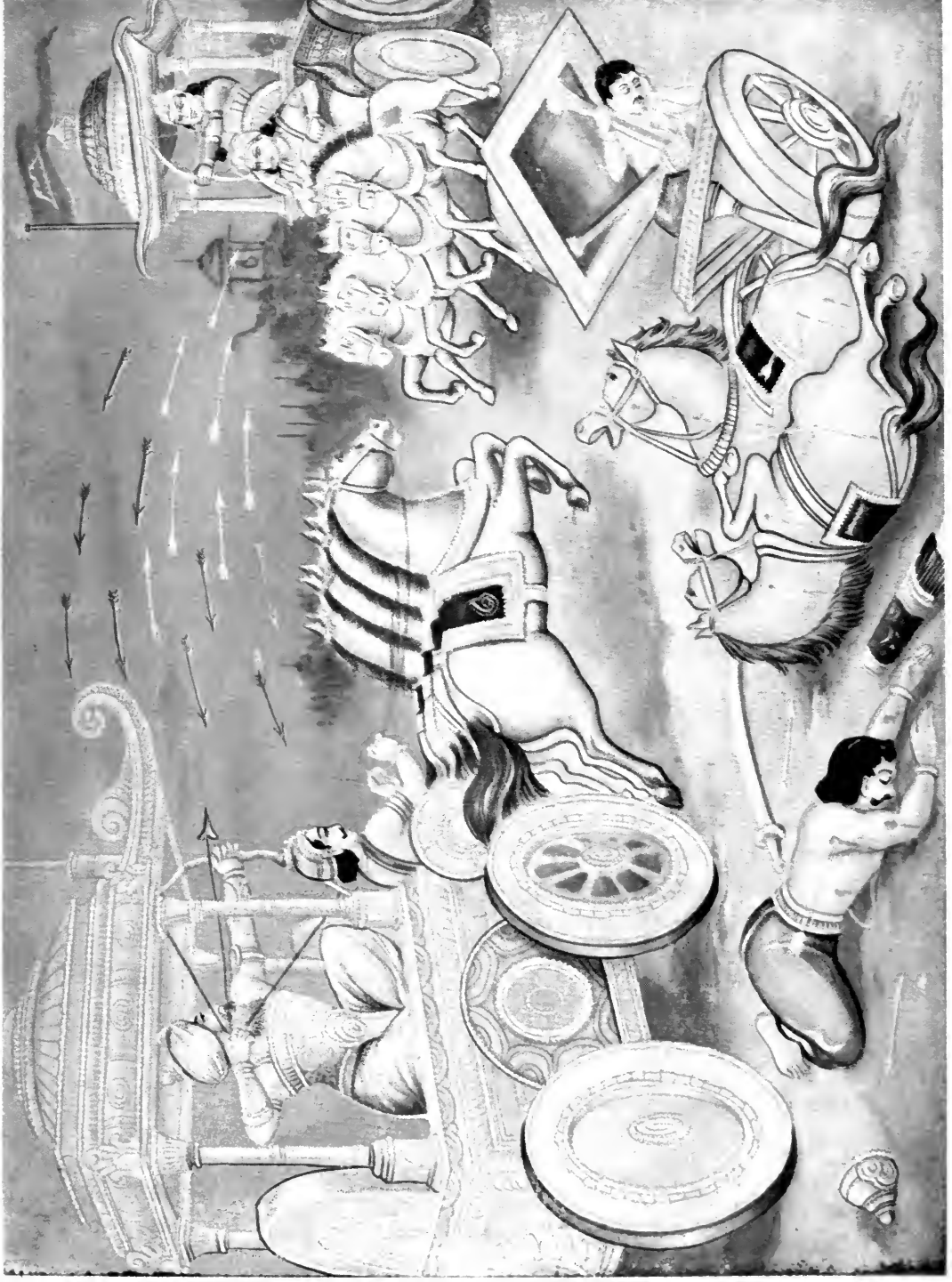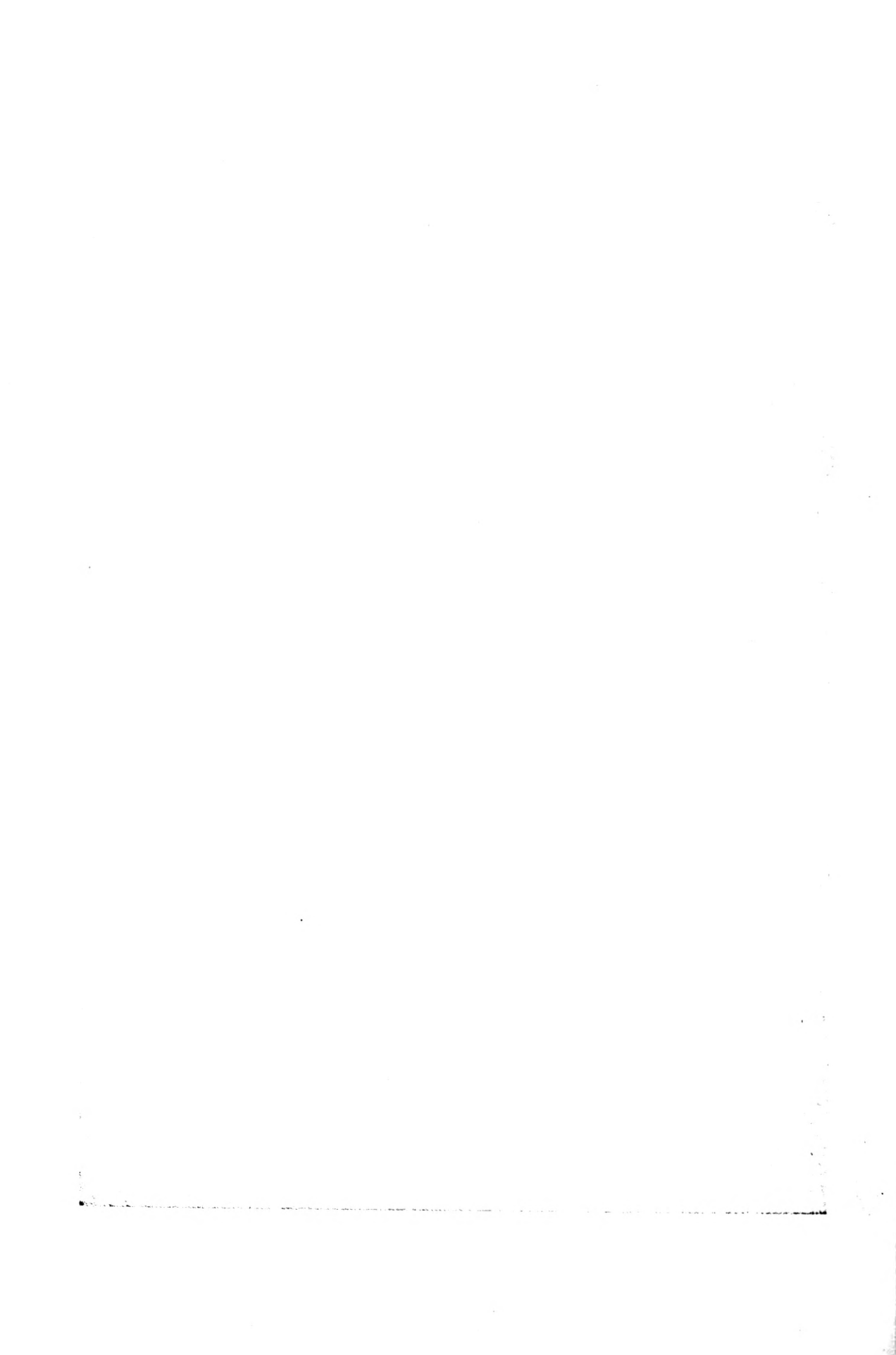
भीष्म और अर्जुनका युद्ध

दद्दर्श लोकः कुरुसृंजयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनंजयाभ्याम् ॥ २९ ॥

इस तरह सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुनमें धनुषोंकी भयंकर टंकारसे युक्त, दैन्यरहित द्वैरथ-युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृञ्जय वीरों तथा दूसरे लोगोंने भी देखा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनद्वैरथे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध

संजय उवाच

द्रौणिर्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष ।
पुत्रः सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—माननीय राजन् ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शलके पुत्रने सुभद्राकुमार अभिमन्युको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १ ॥

संसक्तमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः ।
पञ्चभिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ॥ २ ॥

जैसे सिंहका बच्चा पाँच हाथियोंसे भिड़ा हुआ हो, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पाँच पुरुषसिंहोंसे अकेला ही युद्ध कर रहा था। यह बात वहाँ सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २ ॥

नातिलक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे ।
बभूव सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रे नापि च लाघवे ॥ ३ ॥

लक्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने, अस्त्रज्ञान प्रदर्शित करने तथा हाथोंकी फुर्तीमें कोई भी अभिमन्युकी समानता न कर सका ॥ ३ ॥

तथा तमात्मजं युद्धे विक्रमन्तमरिंदमम् ।
दृष्ट्वा पार्थः सुसंयत्तं सिंहनादमथानदत् ॥ ४ ॥

अपने शत्रुसूदन पुत्र अभिमन्युको युद्धमें इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करते देख कुन्तीपुत्र अर्जुनने सिंहके समान गर्जना की ॥ ४ ॥

पीडयानं तु तत् सैन्यं पौत्रं तव विशाम्पते ।
दृष्ट्वा त्वदीया राजेन्द्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! राजेन्द्र ! आपके पौत्र अभिमन्युको कौरव-सेनाको पीड़ा देते देख आपके ही सैनिकोंने सब ओरसे घेर लिया ॥ ५ ॥

ध्वजिनीं धार्तराष्ट्राणां दीनशत्रुरदीनवत् ।
प्रत्युद्ययौ स सौभद्रस्तेजसा च बलेन च ॥ ६ ॥

अपने शत्रुओंको दीन बना देनेवाले सुभद्राकुमारने दैन्यरहित होकर अपने तेज और बलसे कौरवसेनापर धावा किया ॥ ६ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमादित्यसदृशप्रभम् ।
व्यदृश्यत महच्चापं समरे युध्यतः परैः ॥ ७ ॥

समरभूमिमें शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए अभिमन्युका विशाल धनुष अस्त्रलाघवके पथपर स्थित हो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ७ ॥

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः ।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे ततः ॥ ८ ॥

उसने अश्वत्थामाको एक और शल्यको पाँच बाणोंसे घायल करके शलके ध्वजको आठ बाणोंसे काट डाला ॥८॥

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सौमदत्तिना ।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ॥ ९ ॥

फिर भूरिश्रवाकी चलायी हुई स्वर्णदण्डविभूषित सर्प-सदृश महाशक्तिको तीखे बाणसे छिन्न-भिन्न कर डाला ॥९॥

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान् ।
(धनुश्चिच्छेद भल्लेन तीव्रवेगेन फाल्गुनिः ।)
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ॥ १० ॥

शल्य समरभूमिमें बड़े वेगशाली बाणोंका प्रहार कर रहे थे; किंतु अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीव्र वेगवाले भल्लसे उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उनकी प्रगतिको रोककर पार्थकुमारने चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ १० ॥

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः ।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि (सोमदत्त-पुत्र) शल—ये सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे, तथापि अभिमन्युके बाहुबलकी वृद्धिको रोक न सके ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्ता राजेन्द्र मद्राश्च सह केकयैः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदविदो मुख्या अजेयाः शत्रुभिर्युधि ।
सहपुत्रं जिघांसन्तं परिवव्रुः किरीटिनम् ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! तब आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर त्रिगर्तों तथा केकयोंसहित मद्रदेशके पचीस हजार योद्धाओंने शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले पुत्रसहित किरीटधारी अर्जुनको घेर लिया। वे सब-के-सब धनुर्वेदके प्रधान ज्ञाता और युद्ध-स्थलमें शत्रुओंके लिये अजेय थे ॥ १२-१३ ॥

तौ तु तत्र पितापुत्रौ परिक्षिप्तौ महारथौ।
ददर्श राजन् पाञ्चाल्यः सेनापतिररिंदम ॥ १४ ॥
स वारणरथौघानां सहस्रैर्बहुभिर्वृतः।
वाजिभिः पत्तिभिश्चैव वृतः शतसहस्रशः ॥ १५ ॥
धनुर्विस्फार्य संक्रुद्धो नोदयित्वा च वाहिनीम्।
ययौ तं मद्रकानीकं केकयांश्च परंतप ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश ! पिता-पुत्र महारथी अर्जुन और अभिमन्युको शत्रुओंद्वारा घिरे हुए देख पाञ्चाल-राजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न कई हजार हाथियों और रथों तथा सैकड़ों-हजारों घुड़सवारों एवं पैदलोंसे घिरकर अपनी विशाल वाहिनीको आगे बढ़ाते तथा क्रोधपूर्वक धनुषकी टंकार करते हुए मद्रों और केकयोंकी सेनापर चढ़ आये ॥ १४–१६ ॥

तेन कीर्तिमता गुप्तमनीकं दृढधन्वना।
संरब्धरथनागाश्वं योत्स्यमानमशोभत ॥ १७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले यशस्वी धृष्टद्युम्नसे सुरक्षित हुई वह सेना युद्धके लिये उद्यत हो बड़ी शोभा पाने लगी, उसके रथी, हाथीसवार और घुड़सवार सभी रोषावेशमें भरे हुए थे ॥ १७ ॥

सोऽर्जुनप्रमुखे यान्तं पाञ्चालकुलवर्धनः।
त्रिभिः शारद्वतं बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ॥ १८ ॥

पाञ्चालवंशकी वृद्धि करनेवाले धृष्टद्युम्नने अर्जुनके सामने जाते हुए कृपाचार्यको उनके गलेकी हँसलीपर तीन बाण मारे ॥ १८ ॥

ततः स मद्रकान् हत्वा दशैव दशभिः शरैः।
पृष्ठरक्षं जघानाशु भल्लेन कृतवर्मणः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दस बाणोंसे मद्रदेशीय दस योद्धाओंको मार-कर तुरंत ही एक भल्लके द्वारा कृतवर्माके पृष्ठरक्षकको मार डाला ॥ १९ ॥

दमनं चापि दायादं पौरवस्य महात्मनः।
जघान विमलाग्रेण नाराचेन परंतपः ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवसेनापतिने निर्मल धारवाले नाराचसे महामना पौरवके पुत्र दमनको भी मार डाला ॥ २० ॥

ततः सांयमनेः पुत्रः पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम्।
अविध्यत् त्रिंशता बाणैर्दशभिश्चास्य सारथिम् ॥ २१ ॥

तब शलके पुत्रने तीस बाणोंसे रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको और दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको घायल कर दिया ॥ २१ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन निचकर्तास्य कार्मुकम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे भल्लसे शलके पुत्रका धनुष काट दिया ॥ २२ ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षिप्रमेव समार्पयत्।
अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ॥ २३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही पचीस बाणोंसे शलपुत्रको घायल कर दिया तथा उसके घोड़ों एवं दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी मृत्युके मुखमें डाल दिया ॥ २३ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् ददर्श भरतर्षभ।
पुत्रः सांयमनेः पुत्रं पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिसके घोड़े मार दिये गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शलके पुत्रने महामना धृष्टद्युम्नके पुत्रको देखा ॥

स प्रगृह्य महाघोरं निस्त्रिंशवरमायसम्।
पदातिस्तूर्णमानच्छेद् रथस्थं पुरुषर्षभः ॥ २५ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ शलपुत्र तुरंत ही एक अत्यन्त भयंकर लोहेकी बनी हुई बड़ी तलवार हाथमें ले पैदल ही रथपर बैठे हुए पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चला ॥ २५ ॥

तं महौघमिवायान्तं खात् पतन्तमिवोरगम्।
भ्रान्तावरणनिस्त्रिंशं कालोत्सृष्टमिवान्तकम् ॥ २६ ॥
दीप्यमानमिवादित्यं मत्तवारणविक्रमम्।
अपश्यन् पाण्डवास्तत्र धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २७ ॥

उस युद्धमें पाण्डवों तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने मतवाले गजराजके समान पराक्रमी और सूर्यके समान दीप्तिमान् शल-पुत्रको आते देखा। वह महान् वेगशाली जलप्रवाह, आकाशसे गिरते हुए सर्प तथा कालकी भेजी हुई मृत्युके समान जान पड़ता था। उसके हाथमें नंगी तलवार थी ॥

तस्य पाञ्चालदायादः प्रतीपमभिधावतः।
शितनिस्त्रिंशहस्तस्य शरावरणधारिणः ॥ २८ ॥
बाणवेगमतीतस्य तथाभ्याशमुपेयुषः।
त्वरन् सेनापतिः क्रुद्धो बिभेद गदया शिरः ॥ २९ ॥

वह विरोधभाव लेकर धावा कर रहा था। उसके हाथमें तीखी तलवार थी। उसने अपने अङ्गोंमें कवच धारण कर रक्खा था। वह बाणके वेगको लाँघकर अत्यन्त निकट आ पहुँचा था। उस दशामें पाञ्चालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न-ने तुरंत क्रोधपूर्वक गदासे आघात करके उसके मस्तकको विदीर्ण कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य राजन् सनिस्त्रिंशं सुप्रभं च शरावरम्।
हतस्य पततो हस्ताद् वेगेन न्यपतद् भुवि ॥ ३० ॥

राजन्! उसके मारे जानेपर शरीरसे चमकीला कवच और हाथसे तलवार उसके गिरनेके साथ ही वेगपूर्वक पृथ्वीपर गिरी ॥ ३० ॥

तं निहत्य गदाग्रेण स लेभे परमां मुदम्।
पुत्रः पाञ्चालराजस्य महात्मा भीमविक्रमः ॥ ३१ ॥

पाञ्चालराजका भयानक पराक्रमी पुत्र महामना धृष्टद्युम्न गदाके अग्रभागसे शलपुत्रको मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महारथे।
हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ ३२ ॥

आर्य! उस महाधनुर्धर महारथी राजकुमारके मारे जानेपर आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥ ३२ ॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धो दृष्ट्वा निहतमात्मजम्।
अभिदुद्राव वेगेन पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ॥ ३३ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख संयमनकुमार शलने कुपित होकर रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ३३ ॥

तौ तत्र समरे शूरौ समेतौ युद्धदुर्मदौ।
ददृशुः सर्वराजानः कुरवः पाण्डवास्तथा ॥ ३४ ॥

युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों शूरवीर उस समरभूमिमें एक दूसरेसे भिड़ गये। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके समस्त भूपाल उनका युद्ध देखने लगे ॥३४॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धः पार्षतं परवीरहा।
आजघान त्रिभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ ३५ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शलने जैसे महावत किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंसे मारे, उसी प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ३५ ॥

तथैव पार्षतं शूरं शल्यः समितिशोभनः।
आजघानोरसि क्रुद्धस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यने भी कुद्ध होकर शूरवीर धृष्टद्युम्नकी छातीपर प्रहार किया। फिर तो वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थयुद्धदिवसे सांयमनिपुत्रवधे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनके युद्धमें शल-पुत्रके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये पौरुषादपि संजय।
यत् सैन्यं मम पुत्रस्य पाण्डुसैन्येन बाध्यते ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा भी दैवको ही प्रधान मानता हूँ, जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनकी सेना पाण्डवोंकी सेनासे पीड़ित हो रही है ॥ १ ॥

नित्यं हि मामकांस्तात हतानेव हि शंससि।
अव्यग्रांश्च प्रहृष्टांश्च नित्यं शंससि पाण्डवान् ॥ २ ॥

तात! तुम प्रतिदिन मेरे ही सैनिकोंके मारे जानेकी बात कहते हो और पाण्डवोंको सदा व्यग्रतासे रहित तथा हर्षोल्लाससे परिपूर्ण बताते हो ॥ २ ॥

हीनान् पुरुषकारेण मामकानद्य संजय।
पातितान् पात्यमानांश्च हतानेव च शंससि ॥ ३ ॥

संजय! आजकल मेरे पुत्र और सैनिक पुरुषार्थसे हीन हो रहे हैं और शत्रुओंने उन्हें धराशायी किया एवं मार डाला है। प्रतिदिन वे शत्रुओंके हाथसे मारे ही जा रहे हैं। उनके सम्बन्धमें तुम सदा ऐसे ही समाचार देते हो ॥

युध्यमानान् यथाशक्ति घटमानाञ्जयं प्रति।
पाण्डवा हि जयन्त्येव जीयन्ते चैव मामकाः ॥ ४ ॥

मेरे बेटे विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते और लड़ते हैं, तो भी पाण्डव ही विजयी होते और मेरे पुत्रोंकी ही पराजय होती है ॥ ४ ॥

सोऽहं तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतानि च।
श्रोष्यामि सततं तात दुःसहानि बहूनि च ॥ ५ ॥

तात! ऐसा जान पड़ता है कि मुझे दुर्योधनके कारण सदा अत्यन्त दुःसह एवं तीव्र दुःखकी ही बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी ॥ ५ ॥

तमुपायं न पश्यामि जीयेरन् येन पाण्डवाः।
मामका विजयं युद्धे प्राप्नुयुर्येन संजय ॥ ६ ॥

संजय! मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जिससे पाण्डव हार जायँ और मेरे पुत्रोंको युद्धमें विजय प्राप्त हो ॥ ६ ॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां गजवाजिरथक्षयम्।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवैवापनयो महान् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—राजन्! उस युद्धमें मानवशरीरोंका भारी संहार हुआ है। हाथी, घोड़े और रथोंका भी विनाश देखा गया है। वह सब आप स्थिर होकर सुनिये। यह आपके ही महान् अन्यायका फल है॥ ७॥

धृष्टद्युम्नस्तु शल्येन पीडितो नवभिः शरैः।
पीडयामास संक्रुद्धो मद्राधिपतिमायसैः॥ ८॥

शल्यके बाणोंसे पीड़ित होकर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे मद्रराज शल्यको गहरी पीड़ा पहुँचायी॥ ८॥

तत्राद्भुतमपश्याम पार्षतस्य पराक्रमम्।
न्यवारयत यस्तूर्णं शल्यं समितिशोभनम्॥ ९॥

वहाँ हमलोगोंने धृष्टद्युम्नका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले राजा शल्यको तुरंत ही आगे बढ़नेसे रोक दिया॥ ९॥

नान्तरं दृश्यते तत्र तयोश्च रथिनोस्तदा।
मुहूर्तमिव तद् युद्धं तयोः सममिवाभवत्॥ १०॥

उस समय उन दोनों महारथियोंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। दो घड़ीतक दोनोंमें समान-सा युद्ध होता रहा॥ १०॥

ततः शल्यो महाराज धृष्टद्युम्नस्य संयुगे।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च॥ ११॥

महाराज! तदनन्तर राजा शल्यने युद्धस्थलमें शाणपर तीक्ष्ण किये हुए पीले रंगके भल्ल नामक बाणसे धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया॥ ११॥

अथैनं शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे।
गिरिं जलागमे यद्वज्जलदा जलवृष्टिभिः॥ १२॥

इसके बाद जैसे बादल बरसातमें पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नपर रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया॥ १२॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो धृष्टद्युम्ने च पीडिते।
अभिदुद्राव वेगेन मद्रराजरथं प्रति॥ १३॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नके पीड़ित होनेपर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने मद्रराज शल्यके रथपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥

ततो मद्राधिपरथं कार्ष्णिः प्राप्यातिकोपनः।
आर्तायनिममेयात्मा विव्याध निशितैः शरैः॥ १४॥

मद्रराजके रथके निकट पहुँचकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा ऋतायनपुत्र राजा शल्यको घायल कर दिया॥

ततस्तु तावका राजन् परीप्सन्तोऽर्जुनिं रणे।
मद्रराजरथं तूर्णं परिवार्यावतस्थिरे॥ १५॥

राजन्! तब आपके पुत्र रणभूमिमें अभिमन्युको बन्दी बनानेकी इच्छासे तुरंत वहाँ आये और मद्रराज शल्यके रथको चारों ओरसे घेरकर युद्धके लिये खड़े हो गये॥ १५॥

दुर्योधनो विकर्णश्च दुःशासनविविंशती।
दुर्मर्षणो दुःसहश्च चित्रसेनोऽथ दुर्मुखः॥ १६॥
सत्यव्रतश्च भद्रं ते पुरुमित्रश्च भारत।
एते मद्राधिपरथं पालयन्तः स्थिता रणे॥ १७॥

भारत! आपका भला हो। दुर्योधन, विकर्ण, दुःशासन, विविंशति, दुर्मर्षण, दुःसह, चित्रसेन, दुर्मुख, सत्यव्रत तथा पुरुमित्र—ये आपके पुत्र मद्रराजके रथकी रक्षा करते हुए युद्धभूमिमें डटे हुए थे॥ १६-१७॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ १८॥
धार्तराष्ट्रान् दश रथान् दशैव प्रत्यवारयन्।
नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो विशाम्पते॥ १९॥

आपके इन दस महारथी पुत्रोंको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाँचों भाई द्रौपदीकुमार और अभिमन्यु—इन दस ही महारथियोंने रोका। प्रजानाथ! ये सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार कर रहे थे॥ १८-१९॥

अभ्यवर्तन्त संहृष्टाः परस्परवधैषिणः।
ते वै समेयुः संग्रामे राजन् दुर्मन्त्रिते तव॥ २०॥

राजन्! ये सब एक दूसरेके वधकी इच्छा रखकर हर्ष और उत्साहके साथ क्षत्रियोंका सामना करते थे। आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप ही इन सब योद्धाओंकी आपसमें भिड़न्त हुई थी॥ २०॥

तस्मिन् दशरथे क्रुद्धे वर्तमाने महाभये।
तावकानां परेषां वा प्रेक्षका रथिनोऽभवन्॥ २१॥

जिस समय ये दसों महारथी क्रोधमें भरकर अत्यन्त भयंकर युद्धमें लगे हुए थे, उस समय आपकी और पाण्डवों-की सेनाके दूसरे रथी दर्शक होकर देखते थे॥ २१॥

शस्त्राण्यनेकरूपाणि विसृजन्तो महारथाः।
अन्योन्यमभिनर्दन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे॥ २२॥

किंतु आपके और पाण्डवोंके वे महारथी वीर एक दूसरेपर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए गर्जते और युद्ध करते थे॥ २२॥

ते तदा जातसंरम्भाः सर्वेऽन्योन्यं जिघांसवः।
अन्योन्यमभिमर्दन्तः स्पर्धमानाः परस्परम्॥ २३॥

उस समय उन सबमें क्रोध भरा हुआ था। सभी एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे। सबमें परस्पर लाग-डाँट थी और सभी सबको कुचलनेकी चेष्टा करते थे॥ २३॥

अन्योन्यस्पर्धया राजञ्ज्ञातयः सङ्गता मिथः ।
महास्त्राणि विमुञ्चन्तः समापेतुरमर्षिणः ॥ २४ ॥

महाराज ! वे सब आपसमें कुटुम्बी—भाई-बन्धु थे, परंतु परस्पर स्पर्धा रखनेके कारण लड़ रहे थे। एक दूसरेके प्रति अमर्षमें भरकर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करते हुए आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं महारणे ।
विव्याध निशितैर्बाणैश्चतुर्भिः समरे द्रुतम् ॥ २५ ॥

दुर्योधनने कुपित होकर उस महासंग्राममें अपने चार तीखे बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नको बींध दिया ॥ २५ ॥

दुर्मर्षणश्च विंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ।
दुर्मुखो नवभिर्बाणैर्दुःसहश्चापि सप्तभिः ॥ २६ ॥
विविंशतिः पञ्चभिश्च त्रिभिर्दुःशासनस्तथा ।
तान् प्रत्यविध्यद् राजेन्द्र पार्षतः शत्रुतापनः ॥ २७ ॥
एकैकं पञ्चविंशत्या दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

दुर्मर्षणने बीस, चित्रसेनने पाँच, दुर्मुखने नौ, दुःसहने सात, विविंशतिने पाँच तथा दुःशासनने तीन बाणोंसे उन सबको बींध डाला। राजेन्द्र ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए दुर्योधन आदिमेंसे प्रत्येकको पचीस-पचीस बाणोंसे घायल किया ॥ २६-२७½ ॥

सत्यव्रतं च समरे पुरुमित्रं च भारत ॥ २८ ॥
अभिमन्युरविध्यत् तु दशभिर्दशभिः शरैः ।

भारत ! अभिमन्युने समरभूमिमें सत्यव्रत और पुरुमित्र-को दस-दस बाणोंसे पीड़ित किया ॥ २८½ ॥

माद्रीपुत्रौ तु समरे मातुलं मातृनन्दनौ ॥ २९ ॥
अविध्येतां शरैस्तीक्ष्णैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

माताको आनन्दित करनेवाले माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपने मामा शल्यको पैने बाणोंसे घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९½ ॥

ततः शल्यो महाराज स्वस्रीयौ रथिनां वरौ ॥ ३० ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
छाद्यमानौ ततस्तौ तु माद्रीपुत्रौ न चेलतुः ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर शल्यने किये हुए प्रहारका बदला चुकानेकी इच्छा रखनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अपने दोनों भानजोंको अनेक बाणोंसे पीड़ित किया। उनके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नकुल-सहदेव विचलित नहीं हुए ॥ ३०-३१ ॥

अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
विधित्सुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने दुर्योधनको देखकर झगड़ेका अन्त कर डालनेकी इच्छासे गदा उठा ली॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ३३ ॥

गदा उठाये हुए महाबाहु भीमसेनको एक शिखरसे युक्त कैलास पर्वतके समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भयके मारे भाग गये ॥ ३३ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो मागधं समचोदयत् ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधनने कुपित होकर मगधदेशीय दस हजार हाथियोंकी वेगशाली सेनाको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ३४ ॥

गजानीकेन सहितस्तेन राजा सुयोधनः ।
मागधं पुरतः कृत्वा भीमसेनं समभ्ययात् ॥ ३५ ॥

उस गजसेनाके साथ मागधको आगे करके दुर्योधन-ने भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः ।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इवोन्नदन् ॥ ३६ ॥

उस गजसेनाको आते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर सिंहके समान गर्जना करते हुए रथसे उतर पड़े ॥ ३६ ॥

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यधावद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३७ ॥

लोहेकी उस विशाल एवं भारी गदाको लेकर वे मुँह बाये हुए कालके समान उस गजसेनाकी ओर दौड़े ॥ ३७ ॥

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥ ३८ ॥

बलवान् महाबाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्रके समान गदासे हाथियोंका संहार करते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य नादेन महता मनोहृदयकम्पिना ।
व्यत्यचेष्टन्त संहत्य गजा भीमस्य गर्जतः ॥ ३९ ॥

मन और हृदयको कँपा देनेवाली गर्जते हुए भीमसेनकी उस भीषण गर्जनासे सब हाथी एकत्र हो भयके मारे निश्चेष्ट एवं अचेत-से हो गये ॥ ३९ ॥

ततस्तु द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४० ॥
पृष्ठं भीमस्य रक्षन्तः शरवर्षेण वारणान् ।
अभ्यवर्षन्त धावन्तो मेघा इव गिरीन् यथा ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल-सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा करते हुए हाथियोंपर उसी प्रकार दौड़-दौड़-कर बाणवर्षा करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानीकी बूँदें बरसाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पीतैश्चाञ्जलिकैः शितैः ।
न्यहरन्नुत्तमाङ्गानि पाण्डवा गजयोधिनाम् ॥ ४२ ॥

पाण्डव रथी क्षुर, क्षुरप्र, पीले रंगके भल्ल तथा तीखे आञ्जलिक नामक बाणोंद्वारा हाथीसवार योद्धाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च बाहुभिश्च विभूषितैः ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति पाणिभिश्च सहाङ्कुशैः ॥ ४३ ॥

उनके शिरों, बाजूबन्दविभूषित भुजाओं और अङ्कुशों-सहित हाथोंके गिरनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे ओले और पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ ४३ ॥

हृतोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्ताचलाग्रेषु द्रुमा भग्नशिखा इव ॥ ४४ ॥

मस्तक कट जानेपर भी हाथियोंकी पीठपर टिके हुए गजारोही योद्धाओंके धड़ पर्वतके शिखरोंपर स्थित हुए शिखा-हीन वृक्षोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४४ ॥

धृष्टद्युम्नहतानन्यानपश्याम महागजान् ।
पततः पात्यमानांश्च पार्षतेन महात्मना ॥ ४५ ॥

हमलोगोंने धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये बहुत से हाथियों-को देखा, महामना द्रुपदकुमारकी मार खाकर बहुत-से हाथी गिरे और गिराये जा रहे थे ॥ ४५ ॥

मागधोऽथ महीपालो गजमैरावणोपमम् ।
प्रेषयामास समरे सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ४६ ॥

इसी समय मगधदेशीय भूपालने युद्धस्थलमें अभिमन्युके रथकी ओर ऐरावतके समान एक विशाल हाथीको प्रेरित किया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मागधस्य महागजम् ।
जघानैकेषुणा वीरः सौभद्रः परवीरहा ॥ ४७ ॥

मगधनरेशके उस विशाल गजको आते देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर सुभद्राकुमारने उसे एक ही बाणसे मार डाला॥

तस्यावर्जितनागस्य कार्ष्णिः परपुरंजयः ।
राज्ञो रजतपुङ्खेन भल्लेनापाहरच्छिरः ॥ ४८ ॥

फिर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने मरनेपर भी हाथीको न छोड़नेवाले मगधराजका मस्तक रजत-मय पंखवाले भल्लके द्वारा काट गिराया ॥ ४८ ॥

विगाह्य तद् गजानीकं भीमसेनोऽपि पाण्डवः ।
व्यचरत् समरे मृद्नन् गजानिन्द्रो गिरीनिव ॥ ४९ ॥

उधर पाण्डुनन्दन भीमसेन भी गजसेनामें घुसकर पर्वतों-को विदीर्ण करनेवाले देवेन्द्रके समान हाथियोंको रौंदते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ४९ ॥

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन दन्तिनः ।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ॥ ५० ॥

महाराज ! उस युद्धस्थलमें हमने वज्रके मारे हुए पर्वतों-की भाँति भीमसेनके एक ही प्रहारसे दन्तार हाथियोंको भी मरते देखा था ॥ ५० ॥

भग्नदन्तान् भग्नकरान् भग्नसक्थांश्च वारणान् ।
भग्नपृष्ठत्रिकानन्यान् निहतान् पर्वतोपमान् ॥ ५१ ॥
नदतः सीदतश्चान्यान् विमुखान् समरे गतान् ।
विद्रुतान् भयसंविग्नांस्तथा विशकृतोऽपरान् ॥ ५२ ॥

किन्हींके दाँत टूट गये, किन्हींकी सूँड कट गयी, कितनों-की जाँघें टूट गयीं, किन्हींकी पीठ टूट गयी और कितने ही पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज मारे गये, कुछ चिग्घाड़ रहे थे, कुछ कष्टसे कराह रहे थे, कुछ युद्धभूमिसे विमुख होकर भागने लगे थे और कुछ भयसे व्याकुल होकर मल-मूत्र कर रहे थे। इन सबको मैंने अपनी आँखों देखा था ॥ ५१-५२ ॥

भीमसेनस्य मार्गेषु पतितान् पर्वतोपमान् ।
अपश्यं निहतान् नागान् राजन् निष्ठीवतोऽपरान्॥ ५३॥

भीमसेनके मार्गोंमें उनके द्वारा मारे गये पर्वतोपम हाथी पड़े दिखायी दिये। राजन् ! अन्य बहुत-से हाथियोंको मैंने मुँहसे फेन फेंकते देखा था ॥ ५३ ॥

वमन्तो रुधिरं चान्ये भिन्नकुम्भा महागजाः ।
विह्वलन्तो गता भूमिं शैला इव धरातले ॥ ५४ ॥

कितने ही विशालकाय हाथी खून उगल रहे थे और उनके कुम्भस्थल फट गये थे। बहुत से व्याकुल होकर इस भूतलपर पर्वतोंके समान पड़े थे ॥ ५४ ॥

मेदोरुधिरदिग्धाङ्गो वसामज्जासमुक्षितः ।
व्यचरत् समरे भीमो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ५५ ॥

भीमसेनका सारा शरीर मेदा तथा रक्तसे लिप्त हो रहा था। वे वसा और मज्जासे नहा गये थे और हाथमें गदा लिये दण्डपाणि यमराजके समान उस युद्धभूमिमें विचर रहे थे ॥ ५५ ॥

गजानां रुधिरक्लिन्नां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
घोरः प्रतिभयश्चासीत् पिनाकीव पिनाकधृक् ॥ ५६ ॥

हाथियोंके खूनसे भीगी हुई गदा धारण किये भीमसेन पिनाकधारी भगवान् रुद्रके समान घोर एवं भयंकर दिखायी देते थे ॥ ५६ ॥

सम्मथ्यमानाः क्रुद्धेन भीमसेनेन दन्तिनः ।
सहसा प्राद्रवन् क्लिष्टा मृद्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ५७ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथियोंको मथे डालते थे; अतः वे उनके द्वारा अत्यन्त क्लेश पाकर आपकी सेनाको कुचलते हुए सहसा युद्धस्थलसे भाग चले ॥ ५७ ॥

तं हि वीरं महेष्वासं सौभद्रप्रमुखा रथाः ।
पर्यरक्षन्त युध्यन्तं वज्रायुधमिवामराः ॥ ५८ ॥

जैसे देवता वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार आदि पाण्डव योद्धा युद्धमें तत्पर हुए महाधनुर्धर वीर भीमसेनकी सब ओरसे रक्षा करते थे ॥५८॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः ।
कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ॥ ५९ ॥

खूनमें सनी तथा हाथियोंके रक्तसे भीगी हुई गदा लिये रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराजके समान दिखायी देते थे॥

व्यायच्छमानं गदया दिक्षु सर्वासु भारत ।
अपश्याम रणे भीमं नृत्यन्तमिव शंकरम् ॥ ६० ॥

भारत ! भीमसेन गदा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यायाम-सा कर रहे थे । समरभूमिमें भीमको हमलोगोंने ताण्डव-नृत्य करते हुए भगवान् शङ्करके समान देखा था ॥ ६० ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
अपश्याम महाराज रौद्रां विशसनीं गदाम् ॥ ६१ ॥

महाराज ! भीमसेनकी भारी और भयंकर गदा सबका संहार करनेवाली है । हमें तो वह यमदण्डके समान दिखायी देती थी । प्रहार करनेपर उससे इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ॥ ६१ ॥

विमिश्रां केशमज्जाभिः प्रदिग्धां रुधिरेण च ।
पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ ६२ ॥

रक्तसे भीगी तथा केश और मज्जासे मिली हुई उस गदाको हमने प्रलयकालमें क्रोधसे भरकर समस्त पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाकके समान समझा था ॥ ६२ ॥

यथा पशूनां संघातं यष्ट्या पालः प्रकालयेत् ।
तथा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ॥ ६३ ॥

जैसे चरवाहा पशुओंके झुंडको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंके समूहको अपनी गदासे हाँक रहे थे॥

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ॥ ६४ ॥

महाराज ! चारों ओरसे गदा और बाणोंकी मार पड़नेपर आपकी सेनाके वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए भाग रहे थे ॥ ६४ ॥

महावात इवाभ्राणि विधमित्वा स वारणान् ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमः श्मशान इव शूलभृत् ॥ ६५ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेन उस भयंकर युद्धमें हाथियोंकी सेनाको नष्ट करके श्मशानभूमिमें त्रिशूलधारी भगवान् शंकरके समान खड़े थे ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसे भीमयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिन भीमसेनका युद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़

संजय उवाच

हते तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यचोदयत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! हाथियोंकी उस सेनाके मारे जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि सब मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ १ ॥

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ॥ २ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेनपर टूट पड़ीं ॥ २ ॥

तं बलौघमपर्यन्तं देवैरपि सुदुःसहम् ।
आपतन्तं सुदुष्पारं समुद्रमिव पर्वणि ॥ ३ ॥

सेनाका वह अनन्त वेग देवताओंके लिये भी दुःसह था । पूर्णिमाको बढ़े हुए समुद्रके समान अपार जान पड़ता था॥

रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।
अनन्तरथपादातं रजसा सर्वतो वृतम् ॥ ४ ॥

वह सैन्य-समुद्र रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरा हुआ था । शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे कोलाहलपूर्ण हो रहा था ।

उसमें रथ और पैदलोंकी संख्या नहीं बतायी जा सकती थी तथा उस सेनामें सब ओर धूल व्याप्त हो रही थी ॥ ४ ॥

तं भीमसेनः समरे महोदधिमिवापरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यं वेलेव समवारयत् ॥ ५ ॥

दूसरे महासागरके समान उस अक्षोभ्य सैन्य-समुद्रको युद्धमें भीमसेनने तटप्रदेशकी भाँति रोक दिया ॥ ५ ॥

तदाश्चर्यमपश्याम पाण्डवस्य महात्मनः ।
भीमसेनस्य समरे राजन् कर्मातिमानुषम् ॥ ६ ॥

राजन् ! उस समय संग्राम-भूमिमें हमलोगोंने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनका अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था ॥ ६ ॥

उदीर्णान् पार्थिवान् सर्वान् साश्वान् सरथकुञ्जरान् ।
असम्भ्रमं भीमसेनो गदया समवारयत् ॥ ७ ॥

घोड़े, हाथी तथा रथसहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सबको केवल गदाकी सहायतासे भीमसेनने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ७ ॥

स संवार्य बलौघांस्तान् गदया रथिनां वरः ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमो गिरिर्मेरुरिवाचलः ॥ ८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उस सारे सैन्यसमूहको गदाद्वारा रोककर उस भयंकर युद्धमें मेरु पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रहे ॥ ८ ॥

तस्मिन् सुतुमुले घोरे काले परमदारुणे ।
भ्रातरश्चैव पुत्राश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च शिखण्डी चापराजितः ।
न प्राजहन् भीमसेनं भये जाते महाबलम् ॥ १० ॥

उस महान् भयंकर तथा अत्यन्त दारुण भयके समय महाबली भीमसेनको उनके भाई, पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु और अपराजित वीर शिखण्डी—ये कोई भी छोड़कर नहीं गये ॥ ९-१० ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् पूर्णतः फौलादकी बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथमें लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति आपके सैनिकोंपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

पोथयन् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि चाभिभूः ।
कर्षयन् रथवृन्दानि बाहुवेगेन पाण्डवः ॥ १२ ॥
विनिघ्नन् व्यचरत् संख्ये युगान्ते कालवद् विभुः ।

फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ोंके समूहको नष्ट करके अपनी भुजाओंके वेगसे रथोंके समुदायको खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकालके यमराजकी भाँति संग्रामभूमिमें विचरने लगे ॥ १२½ ॥

ऊरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ॥ १३ ॥
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ।

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेगसे रथसमूहोंको खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेनाको उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी नरकुलके पौधोंको ॥ १३½ ॥

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ॥ १४ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ।
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ॥ १५ ॥
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ।

महाबाहु भीमसेन रथोंसे रथियोंको, हाथियोंसे हाथीसवारोंको, घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारोंको और पृथ्वीपर पैदलोंको मसलते हुए गदासे आपके पुत्रकी सेनाके सब लोगोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥ १४-१५½ ॥

सापि मज्जावसामांसैः प्रदिग्धा रुधिरेण च ॥ १६ ॥
अदृश्यत महारौद्रा गदा नागाश्वपातनी ।

हाथियों और घोड़ोंको मार गिरानेवाली उनकी वह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्तमें सनकर बड़ी भयानक दिखायी देती थी ॥ १६½ ॥

तत्र तत्र हतैश्चापि मनुष्यगजवाजिभिः ॥ १७ ॥
रणाङ्गणं समभवन्मृत्योरावाससंनिभम् ।

जहाँ-तहाँ मरकर गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे वह सारी रणभूमि मृत्युके निवासस्थान-सी प्रतीत होती थी ॥

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ १८ ॥
यमदण्डोपमामुग्रामिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
ददृशुर्भीमसेनस्य रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १९ ॥

भीमसेनकी उस संहारकारिणी भयंकर गदाको लोगोंने प्रलयकालमें पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रके पिनाक और यमदण्डके समान भयंकर देखा । उसकी आवाज इन्द्रके वज्रके समान थी ॥ १८-१९ ॥

आविद्ध्यतो गदां तस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
बभौ रूपं महाघोरं कालस्येव युगक्षये ॥ २० ॥

अपनी गदाको घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीमसेनका रूप युगान्त-कालके यमराजके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ २० ॥

तं तथा महतीं सेनां द्रावयन्तं पुनः पुनः ।
दृष्ट्वा मृत्युमिवायान्तं सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

उस विशाल सेनाको बारंबार भगानेवाले भीमसेनको मौतके समान सामने आते देख समस्त योद्धाओंका मन

उदास हो जाता था ॥ २१ ॥

यतो यतः प्रेक्षते स गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
तेन तेन स दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधरसे सारी सेनाओंमें दरार पड़ जाती थी। (वहाँके सैनिक भागकर स्थान खाली कर देते थे) ॥ २२ ॥

प्रदारयन्तं सैन्यानि बलेनामितविक्रमम् ।
ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ २३ ॥
तं तथा भीमकर्माणं प्रगृहीतमहागदम् ।
दृष्ट्वा वृकोदरं भीष्मः सहसैव समभ्ययात् ॥ २४ ॥

अपने बलसे सेनाको विदीर्ण करनेवाले भीमसेन सम्पूर्ण सैनिकोंको अपना ग्रास बनानेके लिये मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे। उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनको देखकर भीष्मजी सहसा वहाँ पहुँचे ॥२३-२४॥

महता रथघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
छादयञ्शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २५ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा पहियोंके गम्भीर घोषसे युक्त विशाल रथपर आरूढ़ हो बरसते हुए मेघके समान बाणोंकी वर्षासे सबको आच्छादित करते हुए वहाँ आये थे ॥

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
भीष्मं भीमो महाबाहुः प्रत्युदीयादमर्षितः ॥ २६ ॥

मुँह फैलाये हुए यमराजके समान भीष्मजीको आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्षमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २६ ॥

तस्मिन् क्षणे सात्यकिः सत्यसंधः
शिनिप्रवीरोऽभ्यपतत्पितामहम्।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
संकम्पयंस्तव पुत्रस्य सैन्यम् ॥२७॥

उस समय शिनिवंशके प्रमुख वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषसे शत्रुओंका संहार करते और आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए पितामह भीष्मपर चढ़ आये।२७।

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशैः
शरान् वपन्तं निशितान् सुपुङ्खान्।
नाशक्नुवन् धारयितुं तदानीं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥२८॥

भारत ! चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा जाते और सुन्दर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिको उस समय आपके समस्त सैनिकगण रोक न सके ॥ २८ ॥

अविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राक्षसोऽसौ तदानीम्।
शरैश्चतुर्भिः प्रतिविद्ध्य तं च
नप्ता शिनेरभ्यपतद् रथेन ॥२९॥

केवल अलम्बुष नामक राक्षसने उस समय उन्हें दस बाणोंसे घायल किया। तब शिनिके पौत्रने भी उस राक्षसको चार बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया और रथके द्वारा भीष्मपर धावा किया ॥ २९ ॥

अन्वागतं वृष्णिवरं निशम्य
तं शत्रुमध्ये परिवर्तमानम् ।
प्रद्रावयन्तं कुरुपुङ्गवांश्च
पुनः पुनश्च प्रणदन्तमाजौ ॥३०॥
योधास्त्वदीयाः शरवर्षैरवर्षन्
मेघा यथा भूधरमम्बुवेगैः ।
तथापि तं धारयितुं न शेकु-
र्मध्यन्दिने सूर्यमिवातपन्तम् ॥३१॥

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुष सात्यकि आकर शत्रुओंके बीचमें विचर रहे हैं और युद्धस्थलमें कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीरोंको भगाते हुए बारंबार गर्जना कर रहे हैं; यह सुनकर आपके योद्धा उनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, इतनेपर भी वे दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति उन्हें रोक न सके।३०-३१।

न तत्र कश्चिन्नविषण्ण आसी-
दृते राजन् सोमदत्तस्य पुत्रात्।
स वै समादाय धनुर्महात्मा
भूरिश्रवा भारत सौमदत्तिः ॥३२॥
दृष्ट्वा रथान् स्वान् व्यपनीयमानान्
प्रत्युद्ययौ सात्यकिं योद्धुमिच्छन् ॥३३॥

राजन् ! उस समय वहाँ सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवाको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं था, जो विषादग्रस्त न हुआ हो। भारत ! सोमदत्तकुमार महामना भूरिश्रवाने अपने रथियोंको विवश होकर भागते देख धनुष ले युद्ध करनेकी इच्छासे सात्यकिपर चढ़ाई की ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सात्यकिभूरिश्रवःसमागमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिभूरिश्रवा-समागमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो भूरिश्रवा राजन् सात्यकिं नवभिः शरैः ।
प्राविध्यद् भृशसंक्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भूरिश्रवाने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सात्यकिको नौ बाणोंसे उसी प्रकार बींध डाला, जैसे महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा पीड़ित किया जाता है ॥

कौरवं सात्यकिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः ।
अवारयदमेयात्मा सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २ ॥

तब अमेय आत्मबलसम्पन्न सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सब लोगोंके देखते-देखते कुरुवंशी भूरिश्रवा-को रोक दिया ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
सौमदत्तिं रणे यत्तः समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ३ ॥

यह देख भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उद्यत होकर भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षामें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

तं चैव पाण्डवाः सर्वे सात्यकिं रभसं रणे ।
परिवार्य स्थिताः संख्ये समन्तात् सुमहौजसः ॥ ४ ॥

उधर महान् तेजस्वी समस्त पाण्डव भी युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले सात्यकिको सब ओरसे घेरकर समरभूमिमें डट गये ॥ ४ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामुद्यम्य भारत ।
दुर्योधनमुखान् सर्वान् पुत्रांस्ते पर्यवारयत् ॥ ५ ॥

भारत ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने गदा उठाकर आपके दुर्योधन आदि सब पुत्रोंको अकेले ही रोक दिया ॥

रथैरनेकसाहस्रैः क्रोधामर्षसमन्वितः ।
नन्दकस्तव पुत्रस्तु भीमसेनं महाबलम् ॥ ६ ॥
विव्याध विशिखैः षड्भिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।

तब क्रोध और अमर्षमें भरे हुए आपके पुत्र नन्दकने कई हजार रथियोंके साथ आकर शिलापर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त छः बाणोंसे महाबली भीमसेनको बींध डाला ।६½।

दुर्योधनश्च समरे भीमसेनं महारथम् ॥ ७ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो मार्गणैर्नवभिः शितैः ।

कुपित हुए दुर्योधनने भी महारथी भीमसेनको उस युद्धमें उनकी छातीको लक्ष्य करके नौ तीखे बाण मारे ।७½।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ॥ ८ ॥
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत् ।

तब महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गये और सारथि विशोकसे इस प्रकार बोले—।८½।

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ॥ ९ ॥
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि ।

'ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्रपुत्र अत्यन्त कुपित हो युद्धमें मुझे ही मारनेके लिये उद्यत हो यहाँ आये हैं ॥ ९½ ॥

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ॥ १० ॥
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान् ।

'सूत ! मेरे मनमें बहुत वर्षोंसे जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है; क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधनके भाइयोंको एकत्र देख रहा हूँ ॥ १०½ ॥

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ॥ ११ ॥
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे ।
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ॥ १२ ॥

'विशोक ! जहाँ रथके पहियोंसे ऊपर उड़ी हुई धूल बाणसमूहोंके साथ अन्तरिक्ष और दिगन्तमें फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये खड़ा है ॥ ११-१२ ॥

भ्रातरश्चास्य संनद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः ।
एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ॥ १३ ॥
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे ।

'उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं । आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबका विनाश करूँगा, इसमें संशय नहीं है । अतः सारथे ! तुम सावधान होकर संग्राममें मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो' ।१३½।

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ॥ १४ ॥
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः ।
नन्दकं च त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ १५ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर कुन्तीकुमार भीमने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको बींध डाला और नन्दककी छातीमें भी तीन बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी॥

तं तु दुर्योधनः षष्ट्या विद्ध्वा भीमं महाबलम् ।
त्रिभिरन्यैः सुनिशितैर्विशोकं प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

यह देख दुर्योधनने साठ बाणोंसे महाबली भीमसेनको घायल करके अन्य तीन पैने बाणोंसे सारथि विशोकको भी घायल कर दिया ॥ १६ ॥

भीमस्य च रणे राजन् धनुश्चिच्छेद भासुरम्।
मुष्टिदेशे भृशं तीक्ष्णैस्त्रिभिर्भल्लैर्हसन्निव ॥ १७ ॥

राजन्! इसके बाद दुर्योधनने युद्धस्थलमें तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा हँसते हुए-से भीमके तेजस्वी धनुषको भी बीचसे काट दिया ॥ १७ ॥

समरे प्रेक्ष्य यन्तारं विशोकं तु वृकोदरः।
पीडितं विशिखैस्तीक्ष्णैस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १८ ॥
अमृष्यमाणः संरब्धो धनुर्दिव्यं परामृशत्।
पुत्रस्य ते महाराज वधार्थं भरतर्षभ ॥ १९ ॥
समाधत्त सुसंक्रुद्धः क्षुरप्रं लोमवाहिनम्।
तेन चिच्छेद नृपतेर्भीमः कार्मुकमुत्तमम् ॥ २० ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा समराङ्गणमें अपने सारथि विशोकको तीखे बाणोंके आघातसे पीड़ित होता देख भीमसेन सह न सके। उन्होंने कुपित होकर अपना दिव्य धनुष हाथमें लिया। महाराज! भरतश्रेष्ठ! फिर आपके पुत्रके वधके लिये अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने पंखयुक्त क्षुरप्रका संधान किया और उसके द्वारा राजा दुर्योधनके उत्तम धनुषको काट डाला॥

सोऽपविद्ध्य धनुश्छिन्नं पुत्रस्ते क्रोधमूर्च्छितः।
अन्यत् कार्मुकमादत्त सत्वरं वेगवत्तरम् ॥ २१ ॥

राजन्! धनुष कटनेपर आपका पुत्र क्रोधसे मूर्छित हो उठा। उसने उस कटे हुए धनुषको फेंककर तुरंत ही उससे भी अधिक वेगशाली दूसरा धनुष ले लिया ॥ २१ ॥

संदधे विशिखं घोरं कालमृत्युसमप्रभम्।
तेनाजघान संक्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ २२ ॥

फिर उसके ऊपर काल और मृत्युके समान तेजस्वी भयंकर बाण रक्खा और कुपित हो उसके द्वारा भीमसेनकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ २२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितः स्यन्दनोपस्थ आविशत्।
स निषण्णो रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ॥ २३ ॥

उस बाणसे अत्यन्त घायल हो भीमसेन व्यथाके मारे रथकी बैठकमें बैठ गये। वहाँ बैठते ही उन्हें मूर्छा आ गयी॥

तं दृष्ट्वा व्यथितं भीममभिमन्युपुरोगमाः।
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २४ ॥

भीमसेनको प्रहारसे पीड़ित हुआ देख अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर पाण्डव महारथी यह सहन न कर सके ॥ २४ ॥

ततस्तु तुमुलां वृष्टिं शस्त्राणां तिग्मतेजसाम्।
पातयामासुरव्यग्राः पुत्रस्य तव मूर्धनि ॥ २५ ॥

फिर तो सब लोगोंने आपके पुत्रके मस्तकपर निर्भय होकर तेजस्वी शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥२५॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः।
दुर्योधनं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आनेपर महाबली भीमसेनने दुर्योधनको पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल किया ॥

शल्यं च पञ्चविंशत्या शरैर्विव्याध पाण्डवः।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः स विद्धो व्यपयाद् रणात् ॥ २७ ॥

फिर महाधनुर्धर पाण्डुपुत्र भीमने सुवर्णमय पंखसे युक्त पचीस बाणोंद्वारा राजा शल्यको बींध दिया। उन बाणोंसे घायल होकर वे रणभूमिसे भाग गये ॥ २७ ॥

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश।
सेनापतिः सुषेणश्च जलसंधः सुलोचनः ॥ २८ ॥
उग्रो भीमरथो भीमो वीरबाहुरलोलुपः।
दुर्मुखो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ॥ २९ ॥
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः।
भीमसेनमभिद्रुत्य विव्यधुः सहिता भृशम् ॥ ३० ॥

राजन्! तब आपके चौदह पुत्रोंने भीमसेनपर धावा किया। उनके नाम ये हैं—सेनापति, सुषेण, जलसंध, सुलोचन, उग्र, भीमरथ, भीम, वीरबाहु, अलोलुप, दुर्मुख, दुष्प्रधर्ष, विवित्सु, विकट और सम—ये सब क्रोधसे लाल आँखें करके बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनपर टूट पड़े और एक साथ होकर उन्हें अत्यन्त घायल करने लगे॥

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ॥ ३१ ॥
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगितः।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ ३२ ॥

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रोंको देखकर पशुओंके बीचमें खड़े हुए भेड़ियेके समान अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए गरुड़के समान बड़े वेगसे उनके सामने गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकुमारने क्षुरप्र नामक बाणसे सेनापतिका सिर काट लिया ॥ ३१-३२ ॥

सम्प्रहस्य च हृष्टात्मा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः।
जलसंधं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त हो उन महाबाहुने हँसते-हँसते जलसंधको तीन बाणोंसे विदीर्ण करके यमलोक पहुँचा दिया ॥

सुषेणं च ततो हत्वा प्रेषयामास मृत्यवे।
उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि ॥ ३४ ॥
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम्।

तदनन्तर सुषेणको मारकर मौतके घर भेज दिया और उग्रके कुण्डलमण्डित चन्द्रोपम मस्तकको एक भल्लके द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३४½ ॥

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम् ॥ ३५ ॥
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः।

इसके बाद पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेनने समरभूमिमें

घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहुको सत्तर बाणोंसे मारकर परलोक पहुँचा दिया ॥ ३५½ ॥

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव ॥ ३६ ॥
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ।

राजन्! तत्पश्चात् भीमसेनने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथको भी, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया ॥ ३६½ ॥

ततः सुलोचनं भीमः क्षुरप्रेण महामृधे ॥ ३७ ॥
मिषतां सर्वसैन्यानामनयद् यमसादनम् ।

इसके बाद उस महासमरमें भीमसेनने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते क्षुरप्रसे मारकर सुलोचनको भी यमलोकका अतिथि बना दिया ॥ ३७½ ॥

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम् ॥ ३८ ॥
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र ते भीमस्य भयार्दिताः ।
विप्रद्रुता दिशो राजन् वध्यमाना महात्मना ॥ ३९ ॥

राजन्! आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ मौजूद थे, वे भीमसेनका पराक्रम देखकर उनके भयसे पीड़ित हो उन महामना पाण्डुकुमारके बाणकी मार खाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८-३९ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान् ।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥ ४० ॥
यथा प्राग्र्यान् यथा ज्येष्ठान् यथा शूरांश्च संगतान्।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत मान्विरम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने सभी महारथियोंसे कहा—'ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्धमें क्रुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार गिराते हैं। अतः तुम सब लोग मिलकर इन्हें शीघ्र काबूमें करो'॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ॥ ४२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर दुर्योधनके सभी सैनिक कुपित हो महाबली भीमसेनकी ओर दौड़े ॥ ४२ ॥

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते ।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराजपर आरूढ़ हो सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥

आपतन्नेव च रणे भीमसेनं शिलीमुखैः ।
अदृश्यं समरे चक्रे जीमूत इव भास्करम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें आते ही उन्होंने अपने बाणोंसे भीमसेनको अदृश्य कर दिया, मानो सूर्य बादलोंसे ढक गये हों ॥ ४४ ॥

अभिमन्युमुखास्तत् तु नामृष्यन्त महारथाः ।
भीमस्याच्छादनं संख्ये स्वबाहुबलमाश्रिताः ॥ ४५ ॥
त एनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ।
गजं च शरवृष्ट्या तु बिभिदुस्ते समन्ततः ॥ ४६ ॥

उस समय अभिमन्यु आदि महारथी भीमका इस प्रकार बाणोंसे आच्छादित हो जाना सहन न कर सके। वे अपने बाहुबलका आश्रय ले युद्धमें भगदत्तपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें रोकने लगे। उन्होंने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तके हाथीको भी सब ओरसे छेद डाला ॥

स शस्त्रवृष्ट्याभिहतः समस्तैस्तैर्महारथैः ।
प्राग्ज्योतिषगजो राजन् नानालिङ्गैः सुतेजनैः ॥ ४७ ॥
संजातरुधिरोत्पीडः प्रेक्षणीयोऽभवद् रणे ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४८ ॥

राजन्! जो नाना प्रकारके चिह्न धारण करनेवाले और अत्यन्त तेजस्वी थे, उन समस्त महारथियोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे बहुत ही घायल होकर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तका वह हाथी मस्तकपर रक्तसे रंजित हो रणक्षेत्रमें देखने ही योग्य हो रहा था, मानो सूर्यकी अरुण किरणोंसे व्याप्त रँगा हुआ महामेघ हो ॥ ४७-४८ ॥

संचोदितो मदस्रावी भगदत्तेन वारणः ।
अभ्यधावत तान् सर्वान् कालोत्सृष्ट इवान्तकः ॥ ४९ ॥
द्विगुणं जवमास्थाय कम्पयंश्चरणैर्महीम् ।

भगदत्तसे प्रेरित होकर कालके भेजे हुए यमराजकी भाँति वह मदस्रावी गजराज दूने वेगका आश्रय ले अपने पैरोंकी धमकसे इस पृथ्वीको कँपाता हुआ उन सबकी ओर दौड़ा ॥

तस्य तत् सुमहद् रूपं दृष्ट्वा सर्वे महारथाः ॥ ५० ॥
असह्यं मन्यमानाश्च नातिप्रमनसोऽभवन् ।

उसके उस विशाल रूपको देखकर सब महारथी अपने लिये असह्य मानते हुए हतोत्साह हो गये ॥ ५०½ ॥

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ।

महाराज! तत्पश्चात् राजा भगदत्तने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः ॥ ५२ ॥
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ।

राजा भगदत्तसे इस प्रकार अत्यन्त घायल किये गये महाधनुर्धर महारथी भीमसेनने मूर्छासे व्याप्त हो ध्वजका डंडा थाम लिया ॥ ५२½ ॥

तांस्तु भीतान् समालक्ष्य भीमसेनं च मूर्च्छितम्॥५३॥
ननाद बलवन्नादं भगदत्तः प्रतापवान् ।

उन सब महारथियोंको भयभीत और भीमसेनको मूर्छित हुआ देख प्रतापी भगदत्तने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥५३½॥

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम्॥ ५४ ॥

संक्रुद्धो राक्षसो घोरस्तत्रैवान्तरधीयत।

राजन्! तदनन्तर भीमको वैसी अवस्थामें देखकर भयंकर राक्षस घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो वहीं अदृश्य हो गया ॥ ५४½ ॥

स कृत्वा दारुणां मायां भीरूणां भयवर्धिनीम् ॥ ५५ ॥
अदृश्यत निमेषार्धाद् घोररूपं समास्थितः।
ऐरावणं समारूढः स वै मायाकृतं स्वयम् ॥ ५६ ॥
(कैलासगिरिसंकाशं वज्रपाणिरिवाभ्ययात्।)

फिर उसने कायरोंका भय बढ़ानेवाली अत्यन्त दारुण माया प्रकट की। वह आधे निमेषमें ही भयंकर रूप धारण करके दृष्टिगोचर हुआ। घटोत्कच अपनी ही मायाद्वारा निर्मित कैलासपर्वतके समान श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर बैठकर वज्रधारी इन्द्रके समान वहाँ आया था ॥ ५५-५६ ॥

तस्य चान्येऽपि दिङ्नागा बभूवुरनुयायिनः।
अञ्जनो वामनश्चैव महापद्मश्च सुप्रभः ॥ ५७ ॥
त्रय एते महानागा राक्षसैः समधिष्ठिताः।

उसके पीछे अंजन, वामन और उत्तम कान्तिसे युक्त महापद्म—ये तीन दिग्गज और थे, जिनपर उसके साथी राक्षस सवार थे ॥ ५७½ ॥

महाकायास्त्रिधा राजन् प्रस्रवन्तो मदं बहु ॥ ५८ ॥
तेजोवीर्यबलोपेता महाबलपराक्रमाः।

राजन्! वे सभी विशालकाय दिग्गज तीन स्थानोंसे बहुत मद बहा रहे थे और तेज, वीर्य एवं बलसे सम्पन्न तथा महाबली और महापराक्रमी थे ॥ ५८½ ॥

घटोत्कचस्तु स्वं नागं चोदयामास तं तदा ॥ ५९ ॥
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परंतपः।

शत्रुओंको संताप देनेवाले घटोत्कचने अपने हाथीको गजारूढ़ राजा भगदत्तकी ओर बढ़ाया। वह उन्हें हाथीसहित मार डालना चाहता था ॥ ५९½ ॥

ते चान्ये चोदिता नागा राक्षसैस्तैर्महाबलैः ॥ ६० ॥
परिपेतुः सुसंरब्धाश्चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्दिशम्।

महाबली राक्षसोंद्वारा प्रेरित अन्यान्य दिग्गज भी जिनके चार-चार दाँत थे, अत्यन्त कुपित हो चारों दिशाओंमें टूट पड़े॥

भगदत्तस्य तं नागं विषाणैरभ्यपीडयन् ॥ ६१ ॥
स पीड्यमानस्तैर्नागैर्वेदनार्तः शराहतः।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ६२ ॥

वे सब-के-सब भगदत्तके हाथीको अपने दाँतोंसे पीड़ा देने लगे। वह बाणोंसे बहुत घायल हो चुका था; अतः इन हाथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर वेदनासे व्याकुल हो बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी ॥ ६१-६२ ॥

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम्।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम् ॥ ६३ ॥

भयंकर आवाजके साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथीके उस चीत्कारको सुनकर भीष्मने द्रोणाचार्य तथा राजा दुर्योधनसे कहा— ॥ ६३ ॥

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते ॥ ६४ ॥

'ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त युद्धमें दुरात्मा घटोत्कचके साथ जूझ रहे हैं और संकटमें पड़ गये हैं ॥ ६४ ॥

राक्षसश्च महाकायः स च राजातिकोपनः।
एतौ समेतौ समरे कालमृत्युसमावुभौ ॥ ६५ ॥

'वह राक्षस विशालकाय है और वे राजा भी अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हैं। वे दोनों समरमें काल और मृत्युके समान हैं ॥ ६५ ॥

श्रूयते चैव हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः।
हस्तिनश्चैव सुमहान् भीतस्य रुदितध्वनिः ॥ ६६ ॥

'देखो, हर्षमें भरे हुए पाण्डवोंका महान् सिंहनाद सुनायी पड़ता है और भगदत्तके डरे हुए हाथीके रोनेकी ध्वनि भी बड़े जोर-जोरसे कानोंमें आ रही है ॥ ६६ ॥

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम्।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति ॥ ६७ ॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो। हम राजा भगदत्तकी रक्षा करनेके लिये वहाँ चलें; अन्यथा अरक्षित होनेपर वे समर-भूमिमें शीघ्र ही प्राण त्याग देंगे ॥ ६७ ॥

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः ॥ ६८ ॥

'महापराक्रमी वीरो! जल्दी करो। विलम्बसे क्या लाभ? हमें जल्दी चलना चाहिये; क्योंकि वह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी है ॥ ६८ ॥

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युत ॥ ६९ ॥

'राजा भगदत्त कुलीन, शूरवीर, हमारे भक्त और सेनापति हैं। अतः अच्युत! हमें उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये' ॥

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः।
द्रोणभीष्मौ पुरस्कृत्य भगदत्तपरीप्सया ॥ ७० ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत्।

भीष्मका यह वचन सुनकर सभी महारथी द्रोणाचार्य और भीष्मको आगे करके भगदत्तकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ भगदत्त थे ॥ ७०½ ॥

तान् प्रयातान् समालोक्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ७१ ॥
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुययुः परान्।

उन्हें जाते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों तथा पाञ्चालोंने भी शत्रुओंका पीछा किया ॥ ७१½ ॥

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ७२ ॥
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ।

उन सेनाओंको आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो वज्र फट पड़ा हो ॥७२½॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः ॥ ७३ ॥
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ।

घटोत्कचकी वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियोंको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः द्रोणाचार्यसे कहा—॥

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना ॥ ७४ ॥
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ।

'मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कचके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह बल और पराक्रमसे सम्पन्न है और इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं ॥

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ ७५ ॥
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च श्रान्तवाहनाः ।
पाञ्चालैः पाण्डवेयैश्च दिवसं क्षतविक्षताः ॥ ७६ ॥

'ऐसी दशामें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्धमें पराजित नहीं कर सकते । यह प्रहार करनेमें कुशल तथा लक्ष्य भेदनेमें सफल है । इधर हमलोगोंके वाहन थक गये हैं । पाण्डवों और पाञ्चालोंके द्वारा दिनभर क्षत-विक्षत होते रहे हैं ॥ ७५-७६ ॥

तन्न मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ॥ ७७ ॥

'इसलिये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंके साथ इस समय युद्ध करना मुझे पसंद नहीं आता । आज युद्धका विराम घोषित कर दिया जाय । कल सबेरे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ ७७ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स कौरवाः ।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ॥ ७८ ॥

पितामह भीष्मकी यह बात सुनकर कौरवोंने उपायपूर्वक युद्धसे हट जाना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उस समय वे घटोत्कचके भयसे पीड़ित थे ॥ ७८ ॥

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च भारत ॥ ७९ ॥

भारत ! कौरवोंके निवृत्त हो जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बारंबार सिंहनाद करने और शङ्ख बजाने लगे ॥ ७९ ॥

एवं तदभवद् युद्धं दिवसं भरतर्षभ ।
पाण्डवानां कुरूणां च पुरस्कृत्य घटोत्कचम् ॥ ८० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस दिन दिनभर घटोत्कचको आगे करके कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध चलता रहा ॥८०॥

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिबिरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवेयैः पराजिताः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तदनन्तर निशाके प्रारम्भकालमें पाण्डवोंसे पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिबिरको गये ।८१।

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ॥ ८२ ॥

महारथी पाण्डवोंके शरीर भी युद्धमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिबिरको लौटे॥

पुरस्कृत्य महाराज भीमसेनघटोत्कचौ ।
पूजयन्तस्तदान्योन्यं मुदा परमया युताः ॥ ८३ ॥
नदन्तो विविधान् नादांस्तूर्यस्वनविमिश्रितान् ।
सिंहनादांश्च कुर्वन्तो विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ८४ ॥

महाराज ! भीमसेन और घटोत्कचको आगे करके परस्पर एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए पाण्डवसैनिक बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए गये । उनकी उस गर्जनाके साथ विविध वाद्योंकी ध्वनि तथा शङ्खोंके शब्द भी मिले हुए थे ॥ ८३-८४ ॥

विनदन्तो महात्मानः कम्पयन्तश्च मेदिनीम् ।
घट्टयन्तश्च मर्माणि तव पुत्रस्य मारिष ॥ ८५ ॥
प्रयाताः शिबिरायैव निशाकाले परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रेष्ठ नरेश ! महात्मा पाण्डव गर्जते, पृथ्वीको कँपाते और आपके पुत्रके मर्मस्थानोंपर चोट पहुँचाते हुए निशाकालमें शिबिरको ही लौट गये॥ ८५½ ॥

दुर्योधनस्तु नृपतिर्दीनो भ्रातृवधेन च ॥ ८६ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास बाष्पशोकसमाकुलः ।

अपने भाइयोंके मारे जानेसे राजा दुर्योधन अत्यन्त दीन हो रहा था । वह नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़ा रहा ॥ ८६½ ॥

ततः कृत्वा विधिं सर्वं शिबिरस्य यथाविधि ।
प्रदध्यौ शोकसंतप्तो भ्रातृव्यसनकर्शितः ॥ ८७ ॥

वह शिबिरकी यथायोग्य सारी आवश्यक व्यवस्था करके भाइयोंके मारे जानेसे दुखी एवं शोकसंतप्त हो चिन्तामें डूब गया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसावहारे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनका युद्धविराम विषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८७½ श्लोक हैं)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसङ्गमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भयं मे सुमहज्जातं विस्मयश्चैव संजय ।
श्रुत्वा पाण्डुकुमाराणां कर्म देवैः सुदुष्करम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डवोंका देवताओंके लिये भी दुष्कर पराक्रम सुनकर मुझे बड़ा भारी भय और विस्मय हो रहा है ॥ १ ॥

पुत्राणां च पराभावं श्रुत्वा संजय सर्वशः ।
चिन्ता मे महती सूत भविष्यति कथं त्विति ॥ २ ॥

सूत संजय ! अपने पुत्रोंकी सब प्रकारसे पराजयका हाल सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है । सोचता हूँ कैसे उनकी विजय होगी ॥ २ ॥

ध्रुवं विदुरवाक्यानि धक्ष्यन्ति हृदयं मम ।
यथा हि दृश्यते सर्वं दैवयोगेन संजय ॥ ३ ॥

संजय ! निश्चय ही विदुरके वाक्य मेरे हृदयको जलाकर भस्म कर डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, दैवयोगसे वह सब वैसा ही होता दिखायी देता है ॥ ३ ॥

यत्र भीष्ममुखान् सर्वाञ्शस्त्रज्ञान् योधसत्तमान् ।
पाण्डवानामनीकेषु योधयन्ति प्रहारिणः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंकी सेनाओंमें ऐसे-ऐसे प्रहारकुशल योद्धा हैं, जो शस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि समस्त महारथियोंके साथ भी युद्ध कर लेते हैं ॥ ४ ॥

केनावध्या महात्मानः पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
केन दत्तवरास्तात किं वा ज्ञानं विदन्ति ते ॥ ५ ॥

तात ! महाबली महात्मा पाण्डव किस कारणसे अवध्य हैं ? किसने उन्हें वर दिया है अथवा कौन-सा ज्ञान वे जानते हैं ? ॥ ५ ॥

येन क्षयं न गच्छन्ति दिवि तारागणा इव ।
पुनः पुनर्न मृष्यामि हतं सैन्यं तु पाण्डवैः ॥ ६ ॥

जिससे आकाशके तारोंके समान वे नष्ट नहीं हो रहे हैं। मैं पाण्डवोंके द्वारा बारंबार अपनी सेनाके मारे जानेकी बात सुनकर सहन नहीं कर पाता हूँ ॥ ६ ॥

मय्येव दण्डः पतति दैवात् परमदारुणः ।
यथावध्याः पाण्डुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः ॥ ७ ॥
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व याथातथ्येन संजय ।

दैववश मेरे ही ऊपर अत्यन्त भयंकर दण्ड पड़ रहा है । संजय ! क्यों पाण्डव अवध्य हैं और क्यों मेरे पुत्र मारे जा रहे हैं ? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताओ ॥ ७½ ॥

न हि पारं प्रपश्यामि दुःखस्यास्य कथंचन ॥ ८ ॥
समुद्रस्येव महतो भुजाभ्यां प्रतरन् नरः ।

जैसे अपनी भुजाओंसे तैरनेवाला मनुष्य महासागरका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार मैं इस दुःखका अन्त किसी प्रकार नहीं देखता हूँ ॥ ८½ ॥

पुत्राणां व्यसनं मन्ये ध्रुवं प्राप्तं सुदारुणम् ॥ ९ ॥
घातयिष्यति मे सर्वान् पुत्रान् भीमो न संशयः ।

निश्चय ही मेरे पुत्रोंपर अत्यन्त भयंकर संकट प्राप्त हो गया है । मेरा विश्वास है कि भीमसेन मेरे सभी पुत्रोंको मार डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ९½ ॥

न हि पश्यामि तं वीरं यो मे रक्षेत् सुतान् रणे ॥ १० ॥
ध्रुवं विनाशः सम्प्राप्तः पुत्राणां मम संजय ।

मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो रणक्षेत्रमें मेरे पुत्रोंकी रक्षा कर सके । संजय ! अवश्य ही मेरे पुत्रोंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है ॥ १०½ ॥

तस्मान्मे कारणं सूत शक्तिं चैव विशेषतः ॥ ११ ॥
पृच्छतो वै यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

अतः सूत ! मैं तुमसे शक्ति[1] और कारणके[2] विषयमें जो विशेष प्रश्न कर रहा हूँ, वह सब यथार्थरूपसे बताओ ११½

दुर्योधनश्च यच्चक्रे दृष्ट्वा स्वान् विमुखान् रणे ॥ १२ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपश्चैव सौबलश्च जयद्रथः ।
द्रौणिर्वापि महेष्वासो विकर्णो वा महाबलः ॥ १३ ॥
निश्चयो वापि कस्तेषां तदा ह्यासीन्महात्मनाम् ।
विमुखेषु महाप्राज्ञ मम पुत्रेषु संजय ॥ १४ ॥

युद्धमें अपने सैनिकोंको विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या किया ? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, जयद्रथ, महाधनुर्धर अश्वत्थामा और महाबली विकर्णने भी क्या किया ? महाप्राज्ञ संजय ! मेरे पुत्रोंके विमुख होनेपर उन महामना महारथियोंने उस समय क्या निश्चय किया ? ॥ १२—१४ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितः श्रुत्वा चैवावधारय ।
नैव मन्त्रकृतं किंचिन्नैव मायां तथाविधाम् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! सावधान होकर सुनिये और सुनकर स्वयं ही पाण्डवोंकी शक्ति और अपनी पराजयके

१. शक्तिसे तात्पर्य यहाँ पाण्डवोंकी शक्तिसे है ।

२. मेरे पुत्रोंकी बार-बार पराजयका क्या कारण है, यही कारणविषयक प्रश्न है ।

कारणके विषयमें निश्चय कीजिये। पाण्डवोंमें न कोई मन्त्र-का प्रभाव है और न कोई वैसी माया ही वे करते हैं ॥ १५ ॥

न वै विभीषिकां कांचिद् राजन् कुर्वन्ति पाण्डवाः।
युध्यन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे ॥ १६ ॥

राजन्! पाण्डवलोग युद्धमें किसी विभीषिकाका प्रदर्शन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रकारसे भयभीत नहीं होते। वे न्यायपूर्वक युद्ध करते हैं। शक्तिशाली तो वे हैं ही ॥ १६ ॥

धर्मेण सर्वकार्याणि जीवितादीनि भारत।
आरभन्ते सदा पार्थाः प्रार्थयाना महद् यशः ॥ १७ ॥

भारत! कुन्तीके पुत्र जीवन-निर्वाह आदिके सभी कार्य सदा धर्मपूर्वक ही आरम्भ करते हैं। कारण कि वे जगत्में अपना महान् यश फैलाना चाहते हैं ॥ १७ ॥

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता महाबलाः।
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १८ ॥

वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। धर्मबलसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे महाबली और उत्तम समृद्धिसे युक्त हैं। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी विजय होती है ॥ १८ ॥

तेनावध्या रणे पार्था जययुक्ताश्च पार्थिव।
तव पुत्रा दुरात्मानः पापेष्वभिरताः सदा ॥ १९ ॥
निष्ठुरा हीनकर्माणस्तेन हीयन्ति संयुगे।

महाराज! धर्मके ही कारण कुन्तीके पुत्र युद्धमें अवध्य और विजयी हो रहे हैं। इधर आपके दुरात्मा पुत्र सदा पापोंमें ही तत्पर रहते हैं। निर्दय होनेके साथ ही निकृष्ट कर्मोंमें लगे रहते हैं। इसीलिये युद्धस्थलमें उन्हें हानि उठानी पड़ती है ॥ १९½ ॥

सुबहूनि नृशंसानि पुत्रैस्तव जनेश्वर ॥ २० ॥
निकृतानीह पाण्डूनां नीचैरिव यथा नरैः।
सर्वं च तदनादृत्य पुत्राणां तव किल्बिषम् ॥ २१ ॥
सापह्नवाः सदैवासन् पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
न चैतान् बहु मन्यन्ते पुत्रास्तव विशाम्पते ॥ २२ ॥

जनेश्वर! आपके पुत्रोंने नीच मनुष्योंकी भाँति पाण्डवों-के प्रति बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव तथा छल-कपट किये हैं, परंतु आपके पुत्रोंका वह सारा अपराध भुलाकर पाण्डव सदा उन दोषोंपर पर्दा ही डालते आये हैं। पाण्डुके बड़े भाई महाराज! इसपर भी आपके पुत्र इन पाण्डवोंको अधिक आदर नहीं देते हैं ॥ २०—२२ ॥

तस्य पापस्य सततं क्रियमाणस्य कर्मणः।
साम्प्रतं सुमहद् घोरं फलं प्राप्तं जनेश्वर ॥ २३ ॥

जनेश्वर! निरन्तर किये जानेवाले उसी पाप-कर्मका इस समय यह अत्यन्त भयंकर फल प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

स त्वं भुङ्क्ष्व महाराज सपुत्रःससुहृज्जनः।
नावबुध्यसि यद् राजन् वार्यमाणः सुहृज्जनैः ॥ २४ ॥

महाराज! आप सुहृदोंके मना करनेपर भी जो ध्यान नहीं देते हैं, इससे अब स्वयं ही पुत्रों और सुहृदोंसहित अपनी अनीतिका फल भोगिये ॥ २४ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना।
तथा मया चाप्यसकृद् वार्यमाणो न बुध्यसे ॥ २५ ॥

विदुर, भीष्म तथा महात्मा द्रोणने और मैंने भी बार-बार आपको मना किया है; किंतु आप कभी समझ नहीं पाते थे ॥ २५ ॥

वाक्यं हितं च पथ्यं च मर्त्याः पथ्यमिवौषधम्।
पुत्राणां मतमाज्ञाय जितान् मन्यसि पाण्डवान्॥ २६ ॥

जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारी औषधको भी फेंक देते हैं, उसी प्रकार आपने हमलोगोंके कहे हुए लाभकारी और हितकर वचनोंको भी ठुकरा दिया। एवं अब अपने पुत्रोंकी बातमें आकर यह मान रहे हैं कि हमने पाण्डवोंको जीत लिया ॥

शृणु भूयो यथातत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कारणं भरतश्रेष्ठ पाण्डवानां जयं प्रति ॥ २७ ॥
तत् तेऽहं कथयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम।

भरतश्रेष्ठ! आप पाण्डवोंकी विजय और अपनी पराजय-का जो कारण पूछते हैं, उसके विषयमें यथार्थ बातें सुनिये। शत्रुदमन! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वह आपको बताऊँगा ॥ २७½ ॥

दुर्योधनेन सम्पृष्ट एतमर्थं पितामहः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा भ्रातृन् रणे सर्वान् निर्जितांस्तु महारथान्।
शोकसम्मूढहृदयो निशाकाले स कौरवः ॥ २९ ॥
पितामहं महाप्राज्ञं विनयेनोपगम्य ह।
यदब्रवीत् सुतस्तेऽसौ तन्मे शृणु जनेश्वर ॥ ३० ॥

दुर्योधनने यही बात पितामह भीष्मसे पूछी थी। महाराज! युद्धमें अपने समस्त महारथी भाइयोंको पराजित हुआ देख आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनका हृदय शोकसे मोहित हो गया। उसने रातमें महाज्ञानी पितामह भीष्मके पास विनय-पूर्वक जाकर जो कुछ पूछा था, वह बताता हूँ, मुझसे सुनिये ॥ २८—३० ॥

दुर्योधन उवाच

द्रोणश्च त्वं च शल्यश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ ३१ ॥
भूरिश्रवा विकर्णश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ३२ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह! आप, द्रोणाचार्य, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, कम्बोज-राज सुदक्षिण, भूरिश्रवा, विकर्ण तथा पराक्रमी भगदत्त—ये सब महारथी कहे जाते हैं। सभी कुलीन और युद्धमें मेरे लिये अपना शरीर निछावर करनेको तैयार हैं ॥ ३१-३२ ॥

त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।
पाण्डवानां समस्ताश्च नातिष्ठन्त पराक्रमे ॥ ३३ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप सब लोग मिल जायँ तो तीनों लोकोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हो सकते हैं, परंतु पाण्डवोंके पराक्रमके सामने आप सब लोग टिक नहीं पाते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ३३ ॥

तत्र मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
यं समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ॥ ३४ ॥

इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह है; अतः मेरे प्रश्नके अनुसार आप उसका उत्तर दीजिये। किसका आश्रय लेकर ये कुन्तीके पुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगोंपर विजय पा रहे हैं ॥ ३४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् वचो मह्यं यथा वक्ष्यामि कौरव ।
बहुशश्च मयोक्तोऽसि न च मे तत् त्वया कृतम् ॥ ३५ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! नरेश्वर ! मेरी बात सुनो। इस विषयमें जो यथार्थ बात है, उसे बताता हूँ। मैंने अनेक बार पहले भी तुमसे ये बातें कही हैं, परंतु तुमने उन्हें माना नहीं है ॥ ३५ ॥

क्रियतां पाण्डवैः सार्धं शमो भरतसत्तम ।
एतत् क्षेममहं मन्ये पृथिव्यास्तव वा विभो ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। प्रभो ! इसीमें मैं तुम्हारा और भूमण्डलका कल्याण समझता हूँ ॥

भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीं राजन् भ्रातृभिः सहितः सुखी ।
दुर्हृदस्तापयन् सर्वान् नन्दयंश्चापि बान्धवान् ॥ ३७ ॥

राजन् ! तुम अपने सभी शत्रुओंको संताप और बन्धु-बान्धवोंको आनन्द प्रदान करते हुए भाइयोंके साथ मिलकर सुखी रहो और इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ ३७ ॥

न च मे क्रोशतस्तात श्रुतवानसि वै पुरा ।
तदिदं समनुप्राप्तं यत् पाण्डूनवमन्यसे ॥ ३८ ॥

तात ! इस तरहकी बातें मैंने पहले पुकार-पुकारकर कही हैं, परंतु तुमने उन सबको अनसुनी कर दिया है। तुम जो पाण्डवोंका अपमान करते आये हो, आज उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

यश्च हेतुरवध्यत्वे तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तं शृणुष्व महाबाहो मम कीर्तयतः प्रभो ॥ ३९ ॥

महाबाहो ! प्रभो ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंके अवध्य होनेमें जो हेतु है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

नास्ति लोकेषु तद् भूतं भविता नो भविष्यति ।
यो जयेत् पाण्डवान् सर्वान् पालिताञ्छार्ङ्गधन्वना ॥ ४० ॥
(ससुरासुरमर्त्येषु यो विद्यात् तत्त्वतो हरिम् ।)

लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें ऐसा भी कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके ॥ ४० ॥

यत् तु मे कथितं तात मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
पुराणगीतं धर्मज्ञ तच्छृणुष्व यथातथम् ॥ ४१ ॥

तात धर्मज्ञ ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

पुरा किल सुराः सर्वे ऋषयश्च समागताः ।
पितामहमुपासेदुः पर्वते गन्धमादने ॥ ४२ ॥

पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे ॥ ४२ ॥

तेषां मध्ये समासीनः प्रजापतिरपश्यत ।
विमानं प्रज्वलद् भासा स्थितं प्रवरमम्बरे ॥ ४३ ॥

उस समय उनके बीचमें बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ॥ ४३ ॥

ध्यानेनावेद्य तद् ब्रह्मा कृत्वा च नियतोऽञ्जलिम् ।
नमश्चकार हृष्टात्मा पुरुषं परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ४४ ॥

ऋषयस्त्वथ देवाश्च दृष्ट्वा ब्रह्माणमुत्थितम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पश्यन्तो महदद्भुतम् ॥ ४५ ॥

ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े (और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथावच्च तमभ्यर्च्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
जगाद जगतः स्रष्टा परं परमधर्मवित् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की ॥ ४६ ॥

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिर्विश्वेशो
विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च ।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद्
योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ॥ ४७ ॥

प्रभो ! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले, विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं। विश्वमें सब ओर आपकी सेना है। यह विश्व आपका कार्य है। आप सबको अपने

वशमें रखनेवाले हैं । इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं । आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ४७ ॥

जय विश्व महादेव जय लोकहिते रत ।
जय योगीश्वर विभो जय योगपरावर ॥ ४८ ॥

विश्वरूप महादेव ! आपकी जय हो, लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर ! आपकी जय हो । सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर ! आपकी जय हो । योगके आदि और अन्त ! आपकी जय हो ॥ ४८ ॥

पद्मगर्भ विशालाक्ष जय लोकेश्वरेश्वर ।
भूतभव्यभवन्नाथ जय सौम्यात्मजात्मज ॥ ४९ ॥
असंख्येयगुणाधार जय सर्वपरायण ।
नारायण सुदुष्पार जय शार्ङ्गधनुर्धर ॥ ५० ॥

आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो । भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी ! आपकी जय हो । आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ । आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो । शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले नारायण ! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है, आपकी जय हो ॥ ४९-५० ॥

जय सर्वगुणोपेत विश्वमूर्ते निरामय ।
विश्वेश्वर महाबाहो जय लोकार्थतत्पर ॥ ५१ ॥

आप समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो । जगत्‌का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर ! आपकी जय हो ॥ ५१ ॥

महोरग वराहाद्य हरिकेश विभो जय ।
हरिवास दिशामीश विश्ववासामिताव्यय ॥ ५२ ॥

आप महान् शेषनाग और महावाराह-रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं । हरिकेश ! प्रभो ! आपकी जय हो, आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं ॥ ५२ ॥

व्यक्ताव्यक्तामितस्थान नियतेन्द्रिय सत्क्रिय ।
असंख्येयात्मभावज्ञ जय गम्भीर कामद ॥ ५३ ॥

व्यक्त और अव्यक्त—सब आपहीका स्वरूप है, आपके रहनेका स्थान असीम-अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं । आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं । आपकी कोई इयत्ता नहीं है, आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं; आपकी जय हो ॥

अनन्तविदित ब्रह्मन् नित्य भूतविभावन ।
कृतकार्य कृतप्रज्ञ धर्मज्ञ विजयावह ॥ ५४ ॥

ब्रह्मन् ! आप अनन्तबोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं । आपको कुछ करना बाकी नहीं है, आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मका तत्त्व जाननेवाले और विजयप्रदाता हैं ॥ ५४ ॥

गुह्यात्मन् सर्वयोगात्मन् स्फुटं सम्भूतसम्भव ।
भूताद्य लोकतत्त्वेश जय भूतविभावन ॥ ५५ ॥

पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन् ! आपका स्वरूप गूढ होता हुआ भी स्पष्ट है । अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है । आप सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण और लोकतत्त्वके स्वामी हैं । भूतभावन ! आपकी जय हो ॥ ५५ ॥

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर ।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रिय ॥ ५६ ॥

आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है । आप इस कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं । ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्रके प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो ॥ ५६ ॥

निसर्गसर्गनिरत कामेश परमेश्वर ।
अमृतोद्भव सद्भाव मुक्तात्मन् विजयप्रद ॥ ५७ ॥

आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप ही सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं । अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं॥

प्रजापतिपते देव पद्मनाभ महाबल ।
आत्मभूत महाभूत सत्त्वात्मन् जय सर्वदा ॥ ५८ ॥

देव ! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं । आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं । सत्त्वस्वरूप परमेश्वर ! सदा आपकी जय हो ॥ ५८ ॥

पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः ।
मूर्तिस्तेऽहं सुराः कायश्चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी ॥ ५९ ॥

पृथ्वीदेवी आपके चरण हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है । मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं ॥ ५९ ॥

बलं तपश्च सत्यं च कर्म धर्मात्मकं तव ।
तेजोऽग्निः पवनः श्वास आपस्ते स्वेदसम्भवाः ॥ ६० ॥

तप और सत्य आपका बल है तथा धर्म और कर्म आपका स्वरूप है । अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है ॥ ६० ॥

अश्विनौ श्रवणौ नित्यं देवी जिह्वा सरस्वती ।
वेदाः संस्कारनिष्ठा हि त्वयीदं जगदाश्रितम् ॥ ६१ ॥

अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा हैं । वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं । यह जगत् सदा आपहीके आधारपर टिका हुआ है ॥ ६१ ॥

न संख्यानं परीमाणं न तेजो न पराक्रमम् ।
न बलं योगयोगीश जानीमस्ते न सम्भवम् ॥ ६२ ॥

योग-योगीश्वर ! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण । आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है । हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है ॥ ६२ ॥

त्वद्भक्तिनिरता देव नियमैस्त्वां समाश्रिताः ।
अर्चयामः सदा विष्णो परमेशं महेश्वरम् ॥ ६३ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
पिशाचा मानुषाश्चैव मृगपक्षिसरीसृपाः ॥ ६४ ॥
एवमादि मया सृष्टं पृथिव्यां त्वत्प्रसादजम् ।

देव ! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं । आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं । विष्णो ! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं । आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है ॥ ६३-६४½ ॥

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःखप्रणाशन ॥ ६५ ॥
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः ।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ॥ ६६ ॥

पद्मनाभ ! विशाललोचन ! दुःखहारी श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं । देवेश्वर! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी रहते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पृथिवी निर्भया देव त्वत्प्रसादात् सदाभवत् ।
तस्माद् भव विशालाक्ष यदुवंशविवर्धनः ॥ ६७ ॥

देव ! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन ! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये ॥ ६७ ॥

धर्मसंस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो ॥ ६८ ॥

प्रभो ! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्‌की रक्षाके लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ॥६८॥

यत् तत् परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
वासुदेव तदेतत् ते मयोद्गीतं यथातथम् ॥ ६९ ॥

वासुदेव ! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं । आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है ॥ ६९ ॥

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना ।
कृष्ण त्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं चात्मसम्भवम् ॥ ७० ॥

श्रीकृष्ण ! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने आपको ही संकर्षणदेवके रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मज-स्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है ॥ ७० ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् ।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ७१ ॥

प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं । उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है॥

वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मि विनिर्मितः ।
(तस्माद् याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना ।)
विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रज मानुषतां विभो ॥ ७२ ॥

प्रभो ! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है । आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ । लोकेश्वर ! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये ॥

तत्रासुरवधं कृत्वा सर्वलोकसुखाय वै ।
धर्मं प्राप्य यशः प्राप्य योगं प्राप्स्यसि तत्त्वतः ॥ ७३ ॥

वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये । अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो जायँगे ॥ ७३ ॥

त्वां हि ब्रह्मर्षयो लोके देवाश्चामितविक्रम ।
तैस्तैर्हि नामभिर्युक्ता गायन्ति परमात्मकम् ॥ ७४ ॥

अमित पराक्रमी परमेश्वर ! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं ॥ ७४ ॥

स्थिताश्च सर्वे त्वयि भूतसंघाः
कृत्वाऽऽश्रयं त्वां वरदं सुबाहो ।
अनादिमध्यान्तमपारयोगं
लोकस्य सेतुं प्रवदन्ति विप्राः ॥ ७५ ॥

सुबाहो ! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं । ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७६ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन ! तब लोकेश्वरोंके भी ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

विदितं तात योगान्मे सर्वमेतत् तवेप्सितम्।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २ ॥

'तात ! तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा है, वह सब मुझे योगबलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा'—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ ३ ॥

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजीसे कहा—॥ ३ ॥

को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् ॥४॥

'प्रभो ! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे ? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन समस्त देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम् ॥ ६ ॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः ॥ ७ ॥
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ॥ ८ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बातचीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि प्रभो ! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्यलोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों ॥ ६–८ ॥

संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ॥ ९ ॥

'जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्के लिये भयंकर बन बैठे हैं ॥ ९ ॥

तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ॥ १० ॥

'उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे ॥ १० ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती ॥ ११ ॥

'ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे ॥

अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ॥ १२ ॥

'युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे ॥ १२ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण जगत्का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये ॥ १३ ॥

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम्।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः ॥ १५ ॥
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः।

'ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं ॥ १५½ ॥

यत् तत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च ॥ १६ ॥
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा ॥ १७ ॥

'ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं, किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके द्वारा परम सुख, परम तेज और परम सत्य कहे गये हैं ॥ १६-१७ ॥

तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः ॥ १८ ॥

'इसलिये 'ये मनुष्य हैं,' ऐसा समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ १९ ॥

'जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्की अवहेलना करनेके कारण उसे नराधम कहा गया है ॥ १९ ॥

योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीं तनुम्।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः ॥ २० ॥

'भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं ॥ २० ॥

देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम्।
पद्मनाभं न जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः ॥ २१ ॥

'जो चराचरस्वरूप श्रीवत्स-चिह्नभूषित उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं ॥ २१ ॥

किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम्।
अवजानन् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति ॥ २२ ॥

'जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों) को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है ॥२२॥

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः ॥ २३ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये' ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम् ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! देवताओं तथा ऋषियोंसे ऐसा कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये ॥ २४ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थ-चर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ॥ २६ ॥

तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं ॥ २६ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है ॥ २७ ॥

एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ॥ २८ ॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)

भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ ॥२८॥

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।

कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं? ॥

वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः ।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना ॥ ३० ॥
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे ।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः ॥ ३१ ॥

तात ! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो, पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा । मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है ॥ ३०-३१ ॥

यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम्।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः ॥ ३२ ॥

तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो । वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं । तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है ?॥

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं ॥ ३३ ॥

यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥

ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं । सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं ॥ ३४ ॥

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं । जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ ३५ ॥

तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च ।
धृताः पाण्डुसुता राजञ्जयश्चैषां भविष्यति ॥ ३६ ॥

उनके माहात्म्य-योगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे समस्त पाण्डव सुरक्षित हैं । राजन् ! इसीलिये इनकी विजय होगी ॥

श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः ।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति ॥ ३७ ॥

वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं ॥

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः ।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ॥ ३८ ॥

भारत ! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही 'वासुदेव' नामसे जानने योग्य हैं ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभ लक्षणसम्पन्न शूद्र— ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं ॥ ३९ ॥

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै ॥ ४० ॥
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति ।)

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है । ये ही श्रीकृष्णनामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं ॥ ४० ॥

स एष सर्वं सुरमर्त्यलोकं
समुद्रकक्ष्यान्तरितां पुरीं च ।
युगे युगे मानुषं चैव वासं
पुनः पुनः सृजते वासुदेवः ॥ ४१ ॥

ये भगवान् वासुदेव ही युग-युगमें देवलोक, मर्त्यलोक तथा समुद्रसे घिरी हुई द्वारिका नगरीका निर्माण करते हैं और ये ही बारंबार मनुष्यलोकमें अवतार ग्रहण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा

दुर्योधन उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वलोकेषु कथ्यते ।
तस्यागमं प्रतिष्ठां च ज्ञातुमिच्छे पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! वासुदेव श्रीकृष्णको सम्पूर्ण लोकोंमें महान् बताया जाता है; अतः मैं उनकी उत्पत्ति और स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं । वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं । कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥
आपो वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।

मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत बातें कहते हैं । वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही सबके आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं । सृष्टिके आरम्भमें इन्हीं परमात्माने जल, वायु और तेज—इन तीन भूतों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि की थी ॥ ३½ ॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥ ४ ॥
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीदेवीकी सृष्टि करके जलमें शयन किया । वे महात्मा पुरुषोत्तम सर्वतेजोमय देवता योगशक्तिसे उस जलमें सोये ॥ ४-५ ॥

मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ॥ ६ ॥

उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वतीदेवी और वेदोंकी रचना की ॥ ६ ॥

एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ॥ ७ ॥

इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियों-सहित देवताओंकी रचना की थी । ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्युस्वरूप हैं । प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं ॥ ७ ॥

एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयम्प्रभुः ॥ ८ ॥

ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं । ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्व-समर्थ हैं ॥ ८ ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च पूर्वमेतदकल्पयत् ।
उभे संध्ये दिशः खं च नियमांश्च जनार्दनः ॥ ९ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है । इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है ॥ ९ ॥

ऋषींश्चैव हि गोविन्दस्तपश्चैवाभ्यकल्पयत् ।
स्रष्टारं जगतश्चापि महात्मा प्रभुरव्ययः ॥ १० ॥

महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है । जगत्स्रष्टा प्रजापतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है ॥ १० ॥

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥

उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११ ॥

नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ।१२।

नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥

शेषं चाकल्पयद् देवमनन्तं विश्वरूपिणम्।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

ध्यानयोगेन विप्राश्च तं विदन्ति महौजसम्।
कर्णस्रोतोद्भवं चापि मधुं नाम महासुरम् ॥ १४ ॥
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रां बुद्धिं समास्थितम्।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वञ्जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जलशायी नारायणके कानकी मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था। वह मधु बड़े ही उग्र स्वभावका तथा क्रूरकर्मा था। उसने ब्रह्माजीका समादर करते हुए अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय लिया था। इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तमने मधुको मार डाला था ॥ १४-१५ ॥

तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

तात! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको मधुसूदन कहते हैं॥१६॥

वराहश्चैव सिंहश्च त्रिविक्रमगतिः प्रभुः।
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ॥ १७ ॥

वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामनके रूपमें प्रकट हुए हैं। ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं ॥ १७ ॥

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति।
मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा॥१८॥
वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजञ्शूद्रान् वै पादतस्तथा।

इन कमलनयन भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व न हुआ है, न होगा। राजन्! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जंघासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥ १८½ ॥

तपसा नियतो देवं विधानं सर्वदेहिनाम् ॥ १९ ॥
ब्रह्मभूतममावास्यां पौर्णमास्यां तथैव च।
योगभूतं परिचरन् केशवं महदाप्नुयात् ॥ २० ॥

जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका पालन करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारियोंके आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशव[1]की आराधना करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥१९-२०॥

केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं ॥ २१ ॥

एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम्।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २२ ॥

इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है ॥ २२ ॥

यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत्।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है ॥ २३ ॥

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥

जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। जनार्दन महान् भयमें निमग्न भगवान् उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

---

१. केशव नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव जिनके वपु हैं।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज दुर्योधन ! पूर्वकालमें इस भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूत स्तोत्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो—॥ १ ॥

साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी एवं देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है॥

भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ॥ ३ ॥

'मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान स्वरूप बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका भी सारभूत तप बताया करते हैं ॥ ३ ॥

देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ॥ ४ ॥

'भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा है। विष्णो ! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है॥

वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा।
देव देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

'प्रभो ! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित करनेवाले हैं। देव ! आप देवताओंके भी देवता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं॥

पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

'प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्ष प्रजापति कहा गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार अङ्गिरा मुनि आपके विषयमें कहते हैं ॥ ६ ॥

अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम्।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, व्यक्त महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित है तथा सम्पूर्ण देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; ऐसा असित और देवलका कथन है ॥ ७ ॥

शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८ ॥
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ॥ ९ ॥

'आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८-९ ॥

राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम्।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ १० ॥

'मधुसूदन ! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं ॥ १० ॥

इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं' ॥

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ॥ १२ ॥

तात दुर्योधन ! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो ॥ १२ ॥

संजय उवाच

पुण्यं श्रुत्वैतदाख्यानं महाराज सुतस्तव।
केशवं बहु मेने स पाण्डवांश्च महारथान् ॥ १३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीके मुखसे यह पवित्र आख्यान सुनकर तुम्हारे पुत्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी पाण्डवोंको बहुत महत्त्वशाली समझा ॥ १३ ॥

तमब्रवीन्महाराज भीष्मः शान्तनवः पुनः।
माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप।

राजन् ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पुनः दुर्योधनसे कहा—'नरेश्वर ! तुमने महात्मा केशव तथा नरस्वरूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, मुझसे अच्छी तरह सुन लिया ॥ १४½ ॥

यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ॥ १५ ॥
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ।
यथा च पाण्डवा राजन्नवध्या युधि कस्यचित् ॥ १६ ॥

'ऋषि नर और नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें

अवतीर्ण हुए हैं, वे दोनों अपराजित वीर जिस प्रकार युद्धमें अवध्य हैं तथा समस्त पाण्डव भी जिस प्रकार समरभूमिमें किसीके लिये भी वध्य नहीं हैं, वह सब विषय तुमने अच्छी तरह सुन लिया ॥ १५-१६ ॥

प्रीतिमान् हि दृढं कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु।
तस्माद् ब्रवीमि राजेन्द्र शमो भवतु पाण्डवैः॥ १७॥

'राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्ण यशस्वी पाण्डवोंपर बहुत प्रसन्न हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जाय ॥ १७ ॥

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि॥ १८॥

'वे तुम्हारे बलवान् भाई हैं। तुम अपने मनको वशमें रखते हुए उनके साथ मिलकर पृथ्वीका राज्य भोगो। भगवान् नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) की अवहेलना करके तुम नष्ट हो जाओगे ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तव पिता तूष्णीमासीद् विशाम्पते।
व्यसर्जयच्च राजानं शयनं च विवेश ह॥ १९॥

प्रजानाथ! ऐसा कहकर आपके ताऊ भीष्मजी चुप हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने राजा दुर्योधनको विदा किया और स्वयं शयन करने चले गये ॥ १९ ॥

राजा च शिबिरं प्रायात् प्रणिपत्य महात्मने।
शिश्ये च शयने शुभ्रे रात्रिं तां भरतर्षभ॥ २०॥

भरतश्रेष्ठ! राजा दुर्योधन भी महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिबिरमें चला आया और अपनी शुभ्र शय्या पर सो गया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब दोनों ओरकी सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्धके लिये डट गयीं ॥ १ ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः परस्परजिगीषवः।
ते सर्वे सहिता युद्धे समालोक्य परस्परम्॥ २॥
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राजन् दुर्मन्त्रिते तव।
व्यूहौ च व्यूह्य संरब्धाः सम्प्रहृष्टाः प्रहारिणः॥ ३॥

सबने एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर विपक्षी सेनापर आक्रमण किया। राजन्! आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप आपके पुत्र और पाण्डव एक दूसरेको देखकर कुपित हो सब-के-सब अपने सहायकोंके साथ आकर सेनाकी व्यूह-रचना करके हर्ष और उत्साहमें भरकर परस्पर प्रहार करनेको उद्यत हो गये ॥ २-३ ॥

अरक्षन्मकरव्यूहं भीष्मो राजन् समन्ततः।
तथैव पाण्डवा राजन्नरक्षन् व्यूहमात्मनः॥ ४॥

राजन्! भीष्म सेनाका मकरव्यूह बनाकर सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे। इसी प्रकार पाण्डवोंने भी अपने व्यूहकी रक्षा की ॥ ४ ॥

(अजातशत्रुः शत्रूणां मनांसि समकम्पयत्।
श्येनवद् व्यूह्य तं व्यूहं धौम्यस्य वचनात् स्वयम्॥
स हि तस्य सुविज्ञात अग्निचित्येषु भारत।
मकरस्तु महाव्यूहस्तव पुत्रस्य धीमतः॥
स्वयं सर्वेण सैन्येन द्रोणनानुमतस्तदा।
यथाव्यूहं शान्तनवः सोऽन्ववर्तत तत् पुनः॥)
स निर्ययौ महाराज पिता देवव्रतस्तव।
महता रथवंशेन संवृतो रथिनां वरः॥ ५॥

स्वयं अजातशत्रु युधिष्ठिरने धौम्य मुनिकी आज्ञासे श्येनव्यूहकी रचना करके शत्रुओंके हृदयमें कँपकँपी पैदा कर दी। भारत! अग्निचयनसम्बन्धी कर्मोंमें रहते हुए उन्हें श्येनव्यूहका विशेष परिचय था। आपके बुद्धिमान् पुत्रकी सेनाका मकरनामक महाव्यूह निर्मित हुआ था। द्रोणाचार्यकी अनुमति लेकर उसने स्वयं सारी सेनाके द्वारा उस व्यूहकी रचना की थी। फिर शान्तनुनन्दन भीष्मने व्यूहकी विधिके अनुसार निर्मित हुए उस महाव्यूहका स्वयं भी अनुसरण किया था। महाराज! रथियोंमें श्रेष्ठ आपके ताऊ भीष्म विशाल रथसेनासे घिरे हुए युद्धके लिये निकले ॥ ५ ॥

इतरेतरमन्वीयुर्यथाभागमवस्थिताः।
रथिनः पत्तयश्चैव दन्तिनः सादिनस्तथा॥ ६॥

फिर यथाभाग खड़े हुए रथी, पैदल, हाथीसवार और

घुड़सवार सब एक दूसरेका अनुसरण करते हुए चल दिये ॥

तान् दृष्ट्वाभ्युद्यतान् संख्ये पाण्डवा हि यशस्विनः।
श्येनेन व्यूहराजेन तेनाजय्येन संयुगे ॥ ७ ॥
अशोभत मुखे तस्य भीमसेनो महाबलः।
नेत्रे शिखण्डी दुर्धर्षो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ८ ॥

शत्रुओंको युद्धके लिये उद्यत हुए देख यशस्वी पाण्डव युद्धमें अजेय व्यूहराज श्येनके रूपमें संगठित हो शोभा पाने लगे। उस व्यूहके मुखभागमें महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रोंके स्थानमें दुर्धर्ष वीर शिखण्डी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न खड़े थे ॥ ७-८ ॥

शीर्षे तस्याभवद् वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः।
विधुन्वन् गाण्डिवं पार्थो ग्रीवायामभवत् तदा ॥ ९ ॥

शिरोभागमें सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवाभागमें गाण्डीव-धनुषकी टंकार करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन खड़े हुए ॥ ९ ॥

अक्षौहिण्या समं तत्र वामपक्षोऽभवत् तदा।
महात्मा द्रुपदः श्रीमान् सह पुत्रेण संयुगे ॥ १० ॥

पुत्रसहित श्रीमान् महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धमें बायें पंखके स्थानमें खड़े थे ॥ १० ॥

दक्षिणश्चाभवत् पक्षः कैकेयोऽक्षौहिणीपतिः।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चापि वीर्यवान् ॥ ११ ॥

एक अक्षौहिणी सेनाके अधिपति केकय दाहिने पंखमें स्थित हुए। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्यु—ये पृष्ठभागमें खड़े हुए ॥ ११ ॥

पृष्ठे समभवच्छ्रीमान् स्वयं राजा युधिष्ठिरः।
भ्रातृभ्यां सहितो वीरो यमाभ्यां चारुविक्रमः ॥ १२ ॥

उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न स्वयं श्रीमान् वीर राजा युधिष्ठिर भी अपने दो भाई नकुल और सहदेवके साथ पृष्ठभागमें ही सुशोभित हुए ॥ १२ ॥

प्रविश्य तु रणे भीमो मकरं मुखतस्तदा।
भीष्ममासाद्य संग्रामे छादयामास सायकैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर भीमसेनने रणक्षेत्रमें प्रवेश करके मकरव्यूहके मुखभागमें खड़े हुए भीष्मको अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

ततो भीष्मो महास्त्राणि पातयामास भारत।
मोहयन् पाण्डुपुत्राणां व्यूढं सैन्यं महाहवे ॥ १४ ॥

भारत! तब उस महासमरमें पाण्डवोंकी उस व्यूहबद्ध सेनाको मोहित करते हुए भीष्म उसपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ १४ ॥

सम्मुह्यति तदा सैन्ये त्वरमाणो धनंजयः।
भीष्मं शरसहस्रेण विव्याध रणमूर्धनि ॥ १५ ॥

उस समय अपनी सेनाको मोहित होती देख अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ युद्धके मुहानेपर एक हजार बाणोंकी वर्षा करके भीष्मको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि भीष्ममुक्तानि संयुगे।
स्वेनानीकेन हृष्टेन युद्धाय समुपस्थितः ॥ १६ ॥

संग्राममें भीष्मके छोड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करके हर्षमें भरी हुई अपनी सेनाके साथ वे युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजमभाषत।
पूर्वं दृष्ट्वा वधं घोरं बलस्य बलिनां वरः ॥ १७ ॥
भ्रातॄणां च वधं युद्धे स्मरमाणो महारथः।
आचार्य सततं हि त्वं हितकामो ममानघ ॥ १८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी राजा दुर्योधनने पहले जो अपनी सेनाका घोर संहार हुआ था, उसको दृष्टिमें रखते हुए और युद्धमें भाइयोंके वधका स्मरण करते हुए भरद्वाज-नन्दन द्रोणाचार्यसे कहा—'निष्पाप आचार्य! आप सदा ही मेरा हित चाहनेवाले हैं ॥ १७-१८ ॥

वयं हि त्वां समाश्रित्य भीष्मं चैव पितामहम्।
देवानपि रणे जेतुं प्रार्थयामो न संशयः ॥ १९ ॥
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान्।
स तथा कुरु भद्रं ते यथा वध्यन्ति पाण्डवाः ॥ २० ॥

'हमलोग आप तथा पितामह भीष्मकी शरण लेकर देवताओंको भी समरभूमिमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हैं, इसमें संशय नहीं है। फिर जो बल और पराक्रममें हीन हैं, उन पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। आपका कल्याण हो। आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे पाण्डव मारे जायँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्तस्ततो द्रोणस्तव पुत्रेण मारिष।
(उवाच तत्र राजानं संक्रुद्ध इव निःश्वसन्।

आर्य! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्य कुछ कुपित-से हो उठे और लंबी साँस खींचते हुए राजा दुर्योधनसे बोले ॥

द्रोण उवाच

बालिशस्त्वं न जानीषे पाण्डवानां पराक्रमम्।
न शक्या हि यथा जेतुं पाण्डवा हि महाबलाः ॥
यथाबलं यथावीर्यं कर्म कुर्यामहं हि ते।

द्रोणाचार्यने कहा—तुम नादान हो। पाण्डवोंका पराक्रम कैसा है, यह नहीं जानते। महाबली पाण्डवोंको युद्धमें जीतना असम्भव है, तथापि मैं अपने बल और पराक्रमके अनुसार तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा ते सुतं राजन्नभ्यपद्यत वाहिनीम्।)
अभिनत् पाण्डवानीकं प्रेक्षमाणस्य सात्यकेः ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रसे ऐसा कहकर द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनाका सामना करनेके लिये गये। वे सात्यकिके देखते-देखते पाण्डवसेनाको विदीर्ण करने लगे ॥

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं वारयामास भारत।
तयोः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ २२ ॥

भारत ! उस समय सात्यकिने आगे बढ़कर द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २२ ॥

शैनेयं तु रणे क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान्।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्जत्रुदेशे हसन्निव ॥ २३ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्यने युद्धमें कुपित होकर सात्यकिके गलेकी हँसलीमें हँसते हुए-से पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥२३॥

भीमसेनस्ततः क्रुद्धो भारद्वाजमविध्यत।
संरक्षन् सात्यकिं राजन् द्रोणाच्छस्त्रभृतां वरात्॥२४॥

राजन् ! तब भीमसेनने कुपित होकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे सात्यकिकी रक्षा करते हुए आचार्यको अपने बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

ततो द्रोणश्च भीष्मश्च तथा शल्यश्च मारिष।
भीमसेनं रणे क्रुद्धाश्छादयांचक्रिरे शरैः ॥ २५ ॥

आर्य ! तदनन्तर द्रोणाचार्य, भीष्म तथा शल्य तीनोंने कुपित होकर भीमसेनको युद्धस्थलमें अपने बाणोंसे ढक दिया॥

तत्राभिमन्युः संक्रुद्धो द्रौपदेयाश्च मारिष।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः सर्वांस्तानुद्यतायुधान् ॥ २६ ॥

महाराज ! तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंने आयुध लेकर खड़े हुए उन सब कौरव महारथियोंको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

द्रोणभीष्मौ तु संक्रुद्धावापतन्तौ महाबलौ।
प्रत्युद्ययौ शिखण्डी तु महेष्वासो महाहवे ॥ २७ ॥

उस समय कुपित होकर आक्रमण करते हुए महाबली द्रोणाचार्य और भीष्मका उस महासमरमें सामना करनेके लिये महाधनुर्धर शिखण्डी आगे बढ़ा ॥ २७ ॥

प्रगृह्य बलवद् वीरो धनुर्जलदनिःस्वनम्।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं छादयानो दिवाकरम् ॥ २८ ॥

उस वीरने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर बड़ी शीघ्रताके साथ इतने बाणोंकी वर्षा की कि सूर्य भी आच्छादित हो गये ॥ २८ ॥

शिखण्डिनं समासाद्य भरतानां पितामहः।
अवर्जयत संग्रामं स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मरन् ॥ २९ ॥

भरतकुलके पितामह भीष्मने शिखण्डीके सामने पहुँचकर उसके स्त्रीत्वका बारंबार स्मरण करते हुए युद्ध बंद कर दिया ॥

ततो द्रोणो महाराज अभ्यद्रवत तं रणे।
रक्षमाणस्तदा भीष्मं तव पुत्रेण चोदितः ॥ ३० ॥

महाराज ! यह देखकर द्रोणाचार्य युद्धमें आपके पुत्रके कहनेसे भीष्मकी रक्षाके लिये शिखण्डीकी ओर दौड़े ॥

शिखण्डी तु समासाद्य द्रोणं शस्त्रभृतां वरम्।
अवर्जयत संत्रस्तो युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥ ३१ ॥

शिखण्डी प्रलयकालकी प्रचण्ड अग्निके समान शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणका सामना पड़नेपर भयभीत हो युद्ध छोड़कर चल दिया ॥ ३१ ॥

ततो बलेन महता पुत्रस्तव विशाम्पते।
जुगोप भीष्ममासाद्य प्रार्थयानो महद् यशः ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन महान् यश पानेकी इच्छा रखता हुआ अपनी विशाल सेनाके साथ भीष्मके पास पहुँचकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ३२ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् पुरस्कृत्य धनंजयम्।
भीष्ममेवाभ्यवर्तन्त जये कृत्वा दृढां मतिम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डव भी विजय-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय करके अर्जुनको आगे कर भीष्मपर ही टूट पड़े ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं देवानां दानवैरिव।
जयमाकाङ्क्षतां संख्ये यशश्च सुमहाद्भुतम् ॥३४॥

उस युद्धमें विजय तथा अत्यन्त अद्भुत यशकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंका कौरवोंके साथ उसी प्रकार भयंकर युद्ध हुआ, जैसे देवताओंका दानवोंके साथ हुआ था॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धारम्भे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धका आरम्भविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध

संजय उवाच

अकरोत् तुमुलं युद्धं भीष्मः शान्तनवस्तदा।
भीमसेनभयादिच्छन् पुत्रांस्तारयितुं तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रोंको भीमसेनके भयसे छुड़ानेकी इच्छा रखकर उस दिन शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ा भयंकर युद्ध किया ॥ १ ॥

पूर्वाह्णे तन्महारौद्रं राज्ञां युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च मुख्यशूरविनाशनम् ॥ २ ॥

पूर्वाह्णकालमें कौरव-पाण्डव नरेशोंका वह महाभयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो बड़े-बड़े शूरवीरोंका विनाश करनेवाला था ॥ २ ॥

तस्मिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ।
अभवत् तुमुलः शब्दः संस्पृशन् गगनं महत् ॥ ३ ॥

उस अत्यन्त भयानक घमासान युद्धमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा, जिससे अनन्त आकाश गूँज उठा ॥ ३ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं समपद्यत ॥ ४ ॥

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े गजराजों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा भेरी और शङ्खकी ध्वनियोंसे भयंकर कोलाहल छा गया ॥

युयुत्सवस्ते विक्रान्ता विजयाय महाबलाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महर्षभाः ॥ ५ ॥

जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालाओंमें गरजते हुए एक दूसरेसे भिड़ जाते हैं, उसी प्रकार पराक्रमी और महाबली सैनिक विजयके लिये युद्धकी इच्छा रखकर गरजते हुए एक दूसरेके सामने आये ॥ ५ ॥

शिरसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशे बभूव भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें तीखे बाणोंसे गिराये जानेवाले मस्तकोंकी वर्षा होने लगी, मानो आकाशसे पत्थरोंकी वृष्टि हो रही है ॥ ६ ॥

कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपोज्ज्वलानि च ।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतवंशी नरेश ! कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले तथा स्वर्णमय मुकुट आदिसे उद्भासित होनेवाले अगणित मस्तक कटकर धरतीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
सहस्ताभरणैश्चान्यैरभवच्छादिता मही ॥ ८ ॥

सारी पृथ्वी बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई लाशों, धनुष तथा हस्ताभरणोंसहित कटी हुई दोनों भुजाओंसे पट गयी थी ॥

कवचोपहितैर्गात्रैर्हस्तैश्च समलंकृतैः ।
मुखैश्च चन्द्रसंकाशै रक्तान्तनयनैः शुभैः ॥ ९ ॥
गजवाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैश्च भूपते ।
आसीत् सर्वा समास्तीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा ॥ १० ॥

भूपाल ! दो ही घड़ीमें वहाँकी सारी वसुधा कवचसे ढके हुए शरीरों, आभूषणोंसे विभूषित हाथों, चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखों, जिनके अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली थी, ऐसे सुन्दर नेत्रों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण अङ्गोंसे बिछ गयी थी ॥ ९-१० ॥

रजोमेघैश्च तुमुलैः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिभिः ।
आयुधानां च निर्घोषः स्तनयित्नुसमोऽभवत् ॥ ११ ॥

धूलके भयंकर बादल छा रहे थे । उनमें अस्त्र-शस्त्ररूपी विद्युत्‌के प्रकाश देखे जाते थे । धनुष आदि आयुधोंका जो गम्भीर घोष होता था, वह मेघ-गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ११ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः ।
प्रावर्तत कुरूणां च पाण्डवानां च भारत ॥ १२ ॥

भारत ! कौरवों और पाण्डवोंका वह भयानक युद्ध बड़ा ही कटु और रक्तको पानीकी तरह बहानेवाला था ।१२।

तस्मिन् महाभये घोरे तुमुले लोमहर्षणे ।
ववृषुः शरवर्षाणि क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ १३ ॥

उस महान् भयदायक, घोर, रोमाञ्चकारी एवं तुमुल संग्राममें रणदुर्मद क्षत्रिय बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३ ॥

आक्रोशन् कुञ्जरास्तत्र शरवर्षप्रतापिताः ।
तावकानां परेषां च संयुगे भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए आपके और पाण्डवोंके हाथी उस युद्धमें चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ १४ ॥

संरब्धानां च वीराणां धीराणाममितौजसाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

क्रोधावेशमें भरे हुए अमित तेजस्वी धीर-वीरोंके धनुषोंकी टंकारसे वहाँ कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ॥ १५ ॥

उत्थितेषु कबन्धेषु सर्वतः शोणितोदके ।
समरे पर्यधावन्त नृपा रिपुवधोद्यताः ॥ १६ ॥

चारों ओर केवल कबन्ध (बिना सिरके शरीर) खड़े थे । रक्तका प्रवाह पानीके समान बह रहा था । शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हुए नरेशगण समरभूमिमें चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १६ ॥

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः ।
निजघ्नुः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ १७ ॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले अमित तेजस्वी शूरवीर योद्धा बाण, शक्ति और गदाओंद्वारा रणक्षेत्रमें एक दूसरेको मार रहे थे ॥ १७ ॥

बभ्रमुः कुञ्जराश्चात्र शरैर्विद्धा निरङ्कुशाः ।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १८ ॥

जिनके सवार मारे गये थे, वे अङ्कुशरहित गजराज बाणविद्ध होकर वहाँ इधर-उधर चक्कर काट रहे थे । सवारोंके मारे जानेसे घोड़े भी शराघातसे पीड़ित हो चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १८ ॥

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरघातप्रपीडिताः ।
तावकानां परेषां च योधा भरतसत्तम ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके और शत्रुपक्षके कितने ही योद्धा बाणोंके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो उछलकर गिर पड़ते थे ॥ १९ ॥

वाहानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत ।
गदानां परिघाणां च हस्तानां चोरुभिः सह ॥ २० ॥
पादानां भूषणानां च केयूराणां च संघशः ।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते भीष्मभीमसमागमे ॥ २१ ॥

भारत ! भीष्म और भीमके उस संग्राममें मरे हुए वाहनों, कटे हुए मस्तकों, धनुषों, गदाओं, परिघों, हाथों, जाँघों, पैरों, आभूषणों तथा बाजूबन्द आदिके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ॥ २०-२१ ॥

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां चानिवर्तिनाम् ।
संघाताः स्म प्रदृश्यन्ते तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें जहाँ तहाँ घोड़ों, हाथियों तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले रथोंके समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

गदाभिरसिभिः प्रासैर्बाणैश्च नतपर्वभिः ।
जघ्नुः परस्परं तत्र क्षत्रियाः काल आगते ॥ २३ ॥

क्षत्रियगण गदा, खड्ग, प्रास तथा झुकी हुई गाँठ वाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको मार रहे थे; क्योंकि उन सबका काल आ गया था ॥ २३ ॥

अपरे बाहुभिर्वीरा नियुद्धकुशला युधि ।
बहुधा समसज्जन्त आयसैः परिघैरिव ॥ २४ ॥

कितने ही मल्लयुद्धमें कुशल वीर उस युद्धस्थलमें लोहेके परिघोंके समान मोटी भुजाओंसे परस्पर भिड़कर अनेक प्रकारके दाँव-पेंच दिखाते हुए लड़ रहे थे ॥ २४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव तलैश्चैव विशाम्पते ।
अन्योन्यं जघ्निरे वीरास्तावकाः पाण्डवैः सह ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते समय मुक्कों, घुटनों और तमाचोंसे एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ २५ ॥

पतितैः पात्यमानैश्च विचेष्टद्भिश्च भूतले ।
घोरमायोधनं जज्ञे तत्र तत्र जनेश्वर ॥ २६ ॥

जनेश्वर ! कुछ लोग पृथ्वीपर गिरे हुए थे, कुछ गिराये जा रहे थे और कितने ही गिरकर छटपटा रहे थे। इस प्रकार यत्र-तत्र भयंकर युद्ध चल रहा था ॥ २६ ॥

विरथा रथिनश्चात्र निस्त्रिंशवरधारिणः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः परस्परवधैषिणः ॥ २७ ॥

कितने ही रथी रथहीन होकर हाथमें सुदृढ़ तलवार लिये एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे परस्पर टूटे पड़ते थे ॥२७॥

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ २८ ॥

उस समय बहुसंख्यक कलिंगोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनने युद्धमें भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ॥ २९ ॥

इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए समस्त पाण्डवोंने भी भीमसेनको घेरकर भीष्मपर धावा किया। फिर दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल-युद्धविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंको भीष्मके साथ उलझा हुआ देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुनने भी गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं धनुषो गाण्डिवस्य च ।
ध्वजं च दृष्ट्वा पार्थस्य सर्वान् नो भयमाविशत्॥ २ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख और गाण्डीव धनुषका शब्द सुनकर तथा अर्जुनके ध्वजको देखकर हमारे सब सैनिकोंके मनमें भय समा गया ॥ २ ॥

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ॥ ३ ॥
बहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ॥ ४ ॥

महाराज ! अर्जुनका ध्वज सिंहपुच्छके समान वानरकी पूँछसे युक्त था। वह प्रज्वलित पर्वत-सा दिखायी देता था। वृक्षोंमें कहीं भी अटकता नहीं था। आकाशमें उदित हुए धूमकेतु-सा दृष्टिगोचर होता था। वह अनेक रंगोंसे सुशोभित, विचित्र, दिव्य एवं वानरचिह्नसे युक्त था। इस प्रकार हमने गाण्डीवधारी अर्जुनके उस ध्वजको उस समय देखा ३-४

भीमसेन और भीष्मका युद्ध

विद्युतं मेघमध्यस्थां भ्राजमानामिवाम्बरे ।
ददृशुर्गाण्डिवं योधा रुक्मपृष्ठं महामृधे ॥ ५ ॥

उस महान् समरमें हमारे पक्षके योद्धाओंने सुवर्णमय पीठसे युक्त गाण्डीव धनुषको आकाशके भीतर मेघोंकी घटामें चमकती हुई बिजलीके समान देखा ॥ ५ ॥

अशुश्रुम भृशं चास्य शक्रस्येवाभिगर्जतः ।
सुघोरं तलयोः शब्दं निघ्नतस्तव वाहिनीम् ॥ ६ ॥

अर्जुन आपकी सेनाका संहार करते हुए इन्द्रके समान गर्जना कर रहे थे। इस समय हमलोगोंने उनके हस्ततलोंका बड़ा भयंकर शब्द सुना ॥ ६ ॥

चण्डवातो यथा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
दिशः सम्प्लावयन् सर्वाः शरवर्षैः समन्ततः ॥ ७ ॥
समभ्यधावद् गाङ्गेयं भैरवास्त्रो धनंजयः ।

भयंकर अस्त्रवाले अर्जुनने प्रचण्ड आँधी, बिजली तथा गर्जनासे युक्त मेघके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी बाण-वर्षासे आप्लावित करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मपर सब ओर-से धावा किया ॥ ७½ ॥

दिशं प्राचीं प्रतीचीं च न जानीमोऽस्त्रमोहिताः॥ ८ ॥
कांदिग्भूताः श्रान्तपत्रा हताश्वा हतचेतसः ।
अन्योन्यमभिसंश्लिष्य योधास्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥
भीष्ममेवाभ्यलीयन्त सह सर्वैस्तवात्मजैः ।
तेषामार्तायनमभूद् भीष्मः शान्तनवो रणे ॥ १० ॥

उस समय हमलोग उनके अस्त्रोंसे इतने मोहित हो गये थे कि हमें पूर्व और पश्चिमका भी पता नहीं चलता था। भरतश्रेष्ठ ! आपके सभी योद्धा घबराकर यह सोचने लगे कि हम किस दिशामें जायँ। उनके सारे वाहन थक गये थे। कितनोंके घोड़े मार डाले गये थे। उन सबका हार्दिक उत्साह नष्ट हो गया था। वे सब-के-सब एक दूसरेसे सटकर आपके पुत्रोंके साथ भीष्मजीकी ही शरणमें छिपने लगे। उस युद्ध-स्थलमें उन्हें केवल शान्तनुनन्दन भीष्म ही आर्त सैनिकोंको शरण देनेवाले प्रतीत हुए ॥ ८—१० ॥

समुत्पतन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ॥ ११ ॥

वे सभी लोग ऐसे भयभीत हो गये कि रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे गिरने लगे तथा पैदल सैनिक भी पृथ्वीपर लोट-पोट हो गये ॥ ११ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
सर्वसैन्यानि भीतानि व्यवालीयन्त भारत ॥ १२ ॥

भारत ! बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीवका गम्भीर घोष सुनकर हमारे समस्त सैनिक भयभीत हो लुकने-छिपने लगे ॥ १२ ॥

अथ काम्बोजजैरश्वैर्महद्भिः शीघ्रगामिभिः ।
गोपानां बहुसाहस्रैर्बलैर्गोपायनैर्वृतः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् काम्बोजराज सुदक्षिण काम्बोजदेशीय विशाल एवं शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। उनके साथ गोपायन नामवाले कई हजार गोपसैनिक थे ॥ १३ ॥

मद्रसौवीरगान्धारैस्त्रैगर्तैश्च विशाम्पते ।
सर्वकालिङ्गमुख्यैश्च कलिङ्गाधिपतिर्वृतः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! समस्त कलिंगदेशीय प्रमुख वीरोंसे घिरे हुए कलिंगराज भी युद्धके लिये आगे बढ़े। उनके साथ मद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्तदेशीय योद्धा भी मौजूद थे ॥

नानानरगणौघैश्च दुःशासनपुरःसरः ।
जयद्रथश्च नृपतिः सहितः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

इनके सिवा राजा जयद्रथ सम्पूर्ण राजाओंको साथ ले दुःशासनको आगे करके चला। उसके साथ भी अनेक जन-पदोंके लोगोंकी पैदल सेना मौजूद थी ॥ १५ ॥

हयारोहवराश्चैव तव पुत्रेण चोदिताः ।
चतुर्दश सहस्राणि सौबलं पर्यवारयन् ॥ १६ ॥

इसके सिवा आपके पुत्रकी आज्ञासे चौदह हजार अच्छे घुड़सवार सुबलपुत्र शकुनिको घेरकर खड़े हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे विभक्तरथवाहनाः ।
अर्जुनं समरे जघ्नुस्तावका भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पृथक् पृथक् रथ और वाहन लिये आपके पक्षके ये सब महारथी वीर समराङ्गणमें अर्जुनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

(चेदिकाशिपदातैश्च रथैः पाञ्चालसृंजयैः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥
तावकान् समरे जघ्नुर्धर्मपुत्रेण चोदिताः ।)

इधर, चेदि और काशिदेशके पैदलसैनिकोंके तथा पाञ्चाल और सृंजयदेशके रथियोंसहित धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डववीर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समरभूमिमें आपके सैनिकोंका संहार करने लगे ॥

रथिभिर्वारणैरश्वैः पादातैश्च समीरितम् ।
घोरमायोधनं चक्रे महाभ्रसदृशं रजः ॥ १८ ॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलराशिने मेघोंकी भारी घटाके समान आकाशमें व्याप्त होकर उस युद्धको भयंकर बना दिया ॥ १८ ॥

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ॥ १९ ॥

भीष्म तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करने-वाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओंकी विशाल वाहिनीके साथ किरीटधारी अर्जुनसे भिड़ गये ॥१९॥

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ॥ २० ॥
सहपुत्रः सहामात्यः शल्येन समसज्जत ।

फिर, अवन्तीनरेश काशिराजके साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेनके साथ तथा पुत्रों और मन्त्रियोंसहित अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे २०½

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ॥ २१ ॥
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ।
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २२ ॥
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ।

प्रजानाथ ! विकर्ण सहदेवके साथ और चित्रसेन शिखण्डीके साथ भिड़ गये । मत्स्यदेशीय योद्धाओंने दुर्योधन और शकुनिका सामना किया । द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये अश्वत्थामासहित महामना द्रोणसे भिड़ गये ॥ २१-२२½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च धृष्टद्युम्नमभिद्रुतौ ॥ २३ ॥
एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ॥ २४ ॥

कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनोंने धृष्टद्युम्नपर धावा किया । इस प्रकार अपने-अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथोंको घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ॥ २३-२४ ॥

निरभ्रे विद्युतस्तीव्रा दिशश्च रजसाऽऽवृताः ।
प्रादुरासन् महोल्काश्च सनिर्घाता विशाम्पते ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! बिना बादलके ही दुःसह बिजलियाँ चमकने लगीं, सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे भर गयीं और भयंकर वज्रपातकी-सी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ॥

प्रादुर्भूतो महावातः पांसुवर्षं पपात च ।
नभस्यन्तर्दधे सूर्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २६ ॥

बड़े जोरकी आँधी उठ गयी । धूलकी वर्षा होने लगी । सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे आकाशमें सूर्यदेव छिप गये ॥ २६ ॥

प्रमोहः सर्वसत्त्वानामतीव समपद्यत ।
रजसा चाभिभूतानामस्त्रजालैश्च तुद्यताम् ॥ २७ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंपर बड़ा भारी मोह छा गया; क्योंकि वे धूलसे तो दबे ही थे, अस्त्रोंके समुदायसे भी पीड़ित हो रहे थे ॥ २७ ॥

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ॥ २८ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे छूटकर सब प्रकारके आवरणों (कवच आदि) का भेदन करनेवाले बाणसमूहोंके भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ॥ २८ ॥

प्रकाशं चक्रुराकाशमुद्यतानि भुजोत्तमैः ।
नक्षत्रविमलाभानि शस्त्राणि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम भुजाओंद्वारा ऊपर उठाये हुए नक्षत्रोंके समान निर्मल एवं चमकीले अस्त्र आकाशमें प्रकाश फैला रहे थे ॥ २९ ॥

आर्षभाणि विचित्राणि रुक्मजालावृतानि च ।
सम्पेतुर्दिक्षु सर्वासु चर्माणि भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतभूषण ! सोनेकी जालीसे ढकी और ऋषभचर्मकी बनी हुई विचित्र ढालें सम्पूर्ण दिशाओंमें गिर रही थीं ॥ ३० ॥

सूर्यवर्णैश्च निस्त्रिंशैः पात्यमानानि सर्वशः ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ३१ ॥

सूर्यके समान चमकीले खड्गोंसे सब ओर काटकर गिराये जानेवाले शरीर और मस्तक सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३१ ॥

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ॥ ३२ ॥

कितने ही महारथियोंके रथोंके पहिये, धुरे और भीतरकी बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गयीं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गयीं, घोड़े मार दिये गये और वे महारथी स्वयं भी मारे जाकर धरतीपर जहाँ-तहाँ गिर पड़े ॥ ३२ ॥

परिपेतुर्हयाश्चात्र केचिच्छस्त्रकृतव्रणाः ।
रथान् विपरिकर्षन्तो हतेषु रथयोधिषु ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें कितने ही घोड़े अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घायल होकर अपने रथियोंके मारे जानेके बाद भी रथ खींचते हुए भागते और गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

शराहता भिन्नदेहा बद्धयोक्त्रा हयोत्तमाः ।
युगानि पर्यकर्षन्त तत्र तत्र स्म भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! कितने ही उत्तम घोड़ोंके शरीर बाणोंसे आहत होकर क्षत-विक्षत हो गये थे, तो भी रथके साथ रस्सीमें बँधे हुए थे, इसलिये रथके जूओंको इधर-उधर खींचते रहते थे ॥ ३४ ॥

अदृश्यन्त ससूताश्च साश्वाः सरथयोधिनः ।
एकेन बलिना राजन् वारणेन विमर्दिताः ॥ ३५ ॥

राजन् ! कितने ही रथारोही युद्धस्थलमें एक ही महाबली गजराजके द्वारा घोड़ों और सारथियोंसहित कुचले हुए दिखायी पड़ते थे ॥ ३५ ॥

गन्धहस्तिमदस्रावमाघ्राय बहवो रणे ।
संनिपाते बलौघानां वीतमाददिरे गजाः ॥ ३६ ॥

समस्त सेनाओंमें भीषण मार-काट मची हुई थी और बहुत-से हाथी गन्धयुक्त गजराजके मदकी गन्ध सूँघकर उसी-

के भ्रमसे निर्बल हाथीको भी मार गिरानेके लिये पकड़ लेते थे ॥ ३६ ॥

सतोमरैर्महामात्रैर्निपतद्भिर्गतासुभिः ।
बभूवायोधनं छन्नं नाराचाभिहतैर्गजैः ॥ ३७ ॥

तोमरोंसहित प्राणशून्य होकर गिरे हुए महावतों और नाराचोंकी मारसे मरकर गिरनेवाले हाथियोंसे वह रणभूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ३७ ॥

संनिपाते बलौघानां प्रेषितैर्वरवारणैः ।
निपेतुर्युधि सम्भग्नाः सयोधाः सध्वजा गजाः॥ ३८ ॥

सैन्यसमूहोंके उस भीषण संघर्षमें आगे बढ़ाये हुए बड़े-बड़े हाथियोंसे टकराकर युद्धमें कितने ही छोटे-छोटे हाथी अङ्ग-भङ्ग हो जानेके कारण सवारों और ध्वजोंसहित गिर जाते थे ॥ ३८ ॥

नागराजोपमैर्हस्तैर्नागैराक्षिप्य संयुगे ।
व्यदृश्यन्त महाराज सम्भग्ना रथकूबराः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उस युद्धमें कितने ही हाथियोंके द्वारा विशाल सर्पराजके समान सूँड़ोंसे खींचकर फेंके हुए रथोंके ध्वज और कूबर चूर-चूर होकर गिरते देखे जाते थे ॥ ३९ ॥

विशीर्णरथसंघाश्च केशेष्वाक्षिप्य दन्तिभिः ।
द्रुमशाखा इवाविध्य निष्पिष्टा रथिनो रणे ॥ ४० ॥

कितने ही दन्तार हाथी रथसमूहोंको तोड़-फोड़कर उनमें बैठे हुए रथियोंको उनके केश पकड़कर खींच लेते और वृक्षकी शाखाकी भाँति उन्हें घुमाकर धरतीपर दे मारते थे । इस प्रकार उस युद्धमें उन रथियोंकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं ॥ ४० ॥

रथेषु च रथान् युद्धे संसक्तान् वरवारणाः ।
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः॥ ४१ ॥

कितने ही बड़े-बड़े गजराज रथसमूहोंमें घुसकर युद्धमें उलझे हुए रथोंको पकड़ लेते और सब प्रकारके शब्दोंका अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें उन रथोंको खींचे फिरते थे ॥

तेषां तथा कर्षतां तु गजानां रूपमाबभौ ।
सरःसु नलिनीजालं विषक्तमिव कर्षताम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार रथोंसे रथियोंको खींचनेवाले उन हाथियोंका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो वे तालाबमें वहाँ उगे हुए कमलोंका समूह खींच रहे हों ॥ ४२ ॥

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ॥ ४३ ॥

इस तरह सवारों, पैदलों और ध्वजोंसहित महारथियोंके शरीरोंसे वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध

संजय उवाच

शिखण्डी सह मत्स्येन विराटेन विशाम्पते ।
भीष्ममाशु महेष्वासमाससाद सुदुर्जयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! मत्स्यनरेश विराटके साथ मिलकर शिखण्डीने अत्यन्त दुर्जय महाधनुर्धर भीष्मपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ाई की ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं विकर्णं च महेष्वासं महाबलम् ।
राज्ञश्चान्यान् रणे शूरान् बहूनार्च्छद् धनंजयः॥ २ ॥

उस समय अर्जुनने उस रणभूमिमें महाधनुर्धर एवं महाबली द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण तथा अन्यान्य बहुत-से शूरवीर नरेशोंको अपने बाणोंद्वारा पीड़ा पहुँचायी ॥ २ ॥

सैन्धवं च महेष्वासं सामात्यं सह बन्धुभिः ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च भूमिपान् भूमिपर्षभ॥ ३ ॥

पुत्रं च ते महेष्वासं दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःसहं चैव समरे भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मन्त्री और बन्धुओंसहित महाधनुर्धर सिंधुराज जयद्रथपर, पूर्व और दक्षिणके भूमिपालोंपर तथा आपके अमर्षशील पुत्र महाधनुर्धर दुर्योधन एवं दुःसहपर भीमसेनने आक्रमण किया ॥ ३-४ ॥

सहदेवस्तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ।
पितापुत्रौ महेष्वासावभ्यवर्तत दुर्जयौ ॥ ५ ॥

सहदेवने शकुनि और महारथी उलूक—इन दोनों दुर्जय महाधनुर्धर पिता-पुत्रोंपर धावा किया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो महाराज गजानीकं महारथः ।
समवर्तत संग्रामे पुत्रेण निकृतस्तव ॥ ६ ॥

महाराज ! आपके पुत्रद्वारा ठगे गये महारथी राजा

युधिष्ठिरने संग्राममें गजसेनापर आक्रमण किया ॥ ६ ॥

माद्रीपुत्रस्तु नकुलः शूरसंक्रन्दनो युधि ।
त्रिगर्तानां बलैः सार्धं समसज्जत पाण्डवः ॥ ७ ॥

माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल युद्धमें बड़े-बड़े शूरवीरोंको रुलानेवाले थे । उन्होंने त्रिगर्तोंकी सेनाके साथ युद्ध ठाना ॥ ७ ॥

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः समरे शाल्वकेकयान् ।
सात्यकिश्चेकितानश्च सौभद्रश्च महारथः ॥ ८ ॥

सात्यकि, चेकितान और महारथी अभिमन्युने समरभूमिमें कुपित होकर शाल्वों तथा केकयोंपर धावा किया ॥ ८ ॥

धृष्टकेतुश्च समरे राक्षसश्च घटोत्कचः ।
(नाकुलिश्च शतानीकः समरे रथपुङ्गवः ।)
पुत्राणां ते रथानीकं प्रत्युद्याताः सुदुर्जयाः ॥ ९ ॥

धृष्टकेतु, राक्षस घटोत्कच और नकुलपुत्र श्रेष्ठ रथी शतानीक—इन अत्यन्त दुर्जय वीरोंने समराङ्गणमें आपकी रथसेनापर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

सेनापतिरमेयात्मा धृष्टद्युम्नो महाबलः ।
द्रोणेन समरे राजन् समियायोग्रकर्मणा ॥ १० ॥

राजन् ! अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव-सेनापति महाबली धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यसे लोहा लिया ॥ १० ॥

एवमेते महेष्वासास्तावकाः पाण्डवैः सह ।
समेत्य समरे शूराः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ ११ ॥

इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा पाण्डवोंके साथ समरभूमिमें युद्ध करने लगे ॥ ११ ॥

मध्यंदिनगते सूर्ये नभस्याकुलतां गते ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च निजघ्नुरितरेतरम् ॥ १२ ॥

सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये । आकाश तपने लगा । परंतु उस समय भी कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेको मार रहे थे ॥ १२ ॥

ध्वजिनो हेमचित्राङ्गा विचरन्तो रणाजिरे ।
सपताका रथा रेजुर्वैयाघ्रपरिवारणाः ॥ १३ ॥
समेतानां च समरे जिगीषूणां परस्परम् ।
बभूव तुमुलः शब्दः सिंहानामिव नर्दताम् ॥ १४ ॥

जिनपर ध्वजा और पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनका एक-एक अवयव सुवर्णभूषित हो विचित्र शोभा धारण करता था तथा जिनपर व्याघ्रके चर्मका आवरण पड़ा हुआ था, ऐसे अनेक रथ उस समराङ्गणमें विचरते हुए शोभा पा रहे थे । समरमें एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजय पानेकी इच्छावाले शूरवीर सिंहके समान गर्जना कर रहे थे और उनका वह तुमुल नाद सब ओर गूँज रहा था ॥ १३-१४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सम्प्रहारं सुदारुणम् ।
यदकुर्वन् रणे शूराः सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ १५ ॥
नैव खं न दिशो राजन् न सूर्यं शत्रुतापन ।
विदिशो वापि पश्यामः शरैर्मुक्तैः समन्ततः ॥ १६ ॥

राजन् ! हमने वहाँ अत्यन्त भयंकर और अद्भुत संग्राम देखा, जिसे रणवीर सृंजयोंने कौरवोंके साथ किया था । शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! वहाँ चारों ओर इतने बाण छोड़े गये थे कि उनसे आच्छादित हो जानेके कारण हम आकाश, सूर्य, दिशा तथा विदिशाओंको भी नहीं देख पाते थे ॥

शक्तीनां विमलाग्राणां तोमराणां तथास्यताम् ।
निस्त्रिंशानां च पीतानां नीलोत्पलनिभाः प्रभाः ॥ १७ ॥

चमकती हुई धारवाली शक्तियाँ, चलाये जाते हुए तोमरों और पानीदार तलवारोंकी प्रभा नील कमलके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १७ ॥

कवचानां विचित्राणां भूषणानां प्रभास्तथा ।
खं दिशः प्रदिशश्चैव भासयामासुरोजसा ॥ १८ ॥

वे तथा विचित्र कवचों और आभूषणोंके प्रभासमूह आकाश, दिशा एवं कोणोंको अपने तेजसे प्रकाशित कर रहे थे ॥ १८ ॥

वपुर्भिश्च नरेन्द्राणां चन्द्रसूर्यसमप्रभैः ।
विरराज तदा राजंस्तत्र तत्र रणाङ्गणम् ॥ १९ ॥

राजन् ! चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंके शरीरोंसे वह समराङ्गण यत्र-तत्र सर्वत्र शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

रथसङ्घा नरव्याघ्राः समायान्तश्च संयुगे ।
विरेजुः समरे राजन् ग्रहा इव नभस्तले ॥ २० ॥

राजन् ! रथोंके समूह और नरश्रेष्ठ नरेशगण युद्धमें आते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें ग्रह-नक्षत्र सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो भीमसेनं महाबलम् ।
अवारयत संक्रुद्धः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ २१ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर सब सेनाओंके देखते-देखते महाबली भीमसेनको रोक दिया ॥ २१ ॥

ततो भीष्मविनिर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।
अभ्यघ्नन् समरे भीमं तैलधौताः सुतेजनाः ॥ २२ ॥

उस समय पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए, सुवर्णमय पंखसे युक्त और तेलके धोये तीखे बाण भीष्मके हाथोंसे छूटकर समरभूमिमें भीमसेनको चोट पहुँचाने लगे ॥ २२ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भीमसेनो महाबलः ।
क्रुद्धाशीविषसंकाशां प्रेषयामास भारत ॥ २३ ॥

भारत ! तब महाबली भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए

विषधर सर्पके समान भयंकर महावेगशालिनी शक्ति भीष्मपर छोड़ी ॥ २३ ॥

तामापतन्तीं सहसा रुक्मदण्डां दुरासदाम् ।
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसको सह लेना बहुत ही कठिन था। उसे सहसा आते देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें काट गिराया ॥ २४ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
कार्मुकं भीमसेनस्य द्विधा चिच्छेद भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर एक तीखे और पानीदार भल्लसे उन्होंने भीमसेनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥ २५ ॥

(अपास्य तु धनुश्छिन्नं भीमसेनो महाबलः ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीष्मं शान्तनवं युधि ।)

महाबली भीमसेनने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले बहुत-से बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शान्तनुनन्दन भीष्मको अत्यन्त पीड़ा दी ॥

सात्यकिस्तु ततस्तूर्णं भीष्ममासाद्य संयुगे ।
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः ॥ २६ ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् पितरं ते जनेश्वर ।

जनेश्वर ! तत्पश्चात् उस युद्धमें सात्यकिने शीघ्र ही आपके ताऊ भीष्मके पास पहुँचकर धनुषको कानोंतक खींचकर चलाये हुए बहुत-से तीखे एवं तेज सायकोंद्वारा उन्हें बहुत पीड़ा दी॥

ततः संधाय वै तीक्ष्णं शरं परमदारुणम् ॥ २७ ॥
वार्ष्णेयस्य रथाद् भीष्मः पातयामास सारथिम् ।

तब भीष्मने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण बाणका संधान करके सात्यकिके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ॥ २७½ ॥

तस्याश्वाः प्रद्रुता राजन् निहते रथसारथौ ॥ २८ ॥

राजन् ! रथ-सारथिके मारे जानेपर सात्यकिके घोड़े वहाँसे भाग चले ॥ २८ ॥

तेन तेनैव धावन्ति मनोमारुतरंहसः ।
ततः सर्वस्य सैन्यस्य निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ २९ ॥

मन और वायुके समान वेगवाले वे घोड़े जिधर राह मिली, उधर ही दौड़ने लगे। इससे सारी सेनामें कोलाहल मच गया ॥ २९ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अभ्यद्रवत गृह्णीत हयान् यच्छत धावत ॥ ३० ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युयुधानरथं प्रति ।

महात्मा पाण्डवोंके दलमें हाहाकार होने लगा। अरे ! दौड़ो, पकड़ो, घोड़ोंको रोको, भागो। सात्यकिके रथकी ओर इस तरहका शब्द गूँजने लगा ॥ ३०½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३१ ॥
न्यहनत् पाण्डवीं सेनामासुरीमिव वृत्रहा ।

इसी बीचमें शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र आसुरी-सेनाका संहार करते हैं ॥ ३१½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ॥ ३२ ॥
स्थिरां युद्धे मतिं कृत्वा भीष्ममेवाभिदुद्रुवुः ।

भीष्मके द्वारा पीड़ित हुए पाञ्चाल और सोमक युद्धका दृढ़ निश्चय लेकर भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नमुखाश्चापि पार्थाः शान्तनवं रणे ॥ ३३ ॥
अभ्यधावञ्जिगीषन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।

धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव योद्धा आपके पुत्रकी सेनाको जीतनेकी इच्छासे युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मपर ही चढ़ आये ॥ ३३½ ॥

तथैव कौरवा राजन् भीष्मद्रोणपुरोगमाः ॥ ३४ ॥
अभ्यधावन्त वेगेन ततो युद्धमवर्तत ॥ ३५ ॥

राजन् ! इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि कौरव योद्धा भी बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े; फिर तो दोनों दलोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्वयुद्ध

संजय उवाच

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
विव्याध तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महारथी राजा विराटने तीन बाण मारकर महारथी भीष्मको पीड़ित किया और तीन ही बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः ॥ २ ॥

तब महाधनुर्धर महाबली तथा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने सोनेके पंखवाले दस बाण मारकर विराटको भी घायल कर दिया ॥ २ ॥

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः ।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तः स्तनान्तरे ॥ ३ ॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अपने हाथकी दृढ़ताका परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुनकी छातीमें छः बाणोंसे प्रहार किया ॥ ३ ॥

कार्मुकं तस्य चिच्छेद फाल्गुनः परवीरहा ।
अविध्यच्च भृशं तीक्ष्णैः पत्रिभिः शत्रुकर्शनः ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काट दिया और उसे तीन तीखे बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगवान् क्रोधमूर्च्छितः।
अमृष्यमाणः पार्थेन कार्मुकच्छेदमाहवे ॥ ५ ॥
अविध्यत् फाल्गुनं राजन् नवत्या निशितैः शरैः।
वासुदेवं च सप्तत्या विव्याध परमेषुभिः ॥ ६ ॥

राजन् ! युद्धमें अर्जुनके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना अश्वत्थामाको सहन नहीं हुआ । उस वेगशाली वीरने क्रोधसे मूर्च्छित होकर तुरंत ही दूसरा धनुष ले नब्बे पैने बाणोंद्वारा अर्जुनको और सत्तर श्रेष्ठ सायकोंद्वारा श्रीकृष्णको घायल कर दिया ॥ ५–६ ॥

ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कृष्णेन सह फाल्गुनः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य चिन्तयित्वा पुनःपुनः ॥ ७ ॥
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
गाण्डीवधन्वा संक्रुद्धः शितान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥
जीवितान्तकरान् घोरान् समादत्त शिलीमुखान्।
तैस्तूर्णं समरेऽविध्यद् द्रौणिं बलवतां वरः ॥ ९ ॥

तब श्रीकृष्णसहित अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके बारंबार गरम-गरम लंबी साँस खींचकर सोच-विचार करनेके पश्चात् धनुषको बायें हाथसे दबाया । फिर उन शत्रुसूदन गाण्डीवधारी पार्थने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले कुछ भयंकर बाण हाथमें लिये, जो जीवनका अन्त कर देनेवाले थे । बलवानोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन बाणोंद्वारा तुरंत ही समराङ्गणमें अश्वत्थामाको घायल किया ॥ ७–९ ॥

तस्य ते कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
न विव्यथे च निर्भिन्नो द्रौणिर्गाण्डीवधन्वना ॥ १० ॥

वे बाण उसका कवच फाड़कर उस युद्धस्थलसे उसके शरीरका रक्त पीने लगे, किंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ ॥ १० ॥

तथैव च शरान् द्रौणिः प्रविमुञ्चन्नविह्वलः ।
तस्थौ स समरे राजंस्त्रातुमिच्छन् महाव्रतम् ॥ ११ ॥

राजन् ! द्रोणकुमार तनिक भी विह्वल हुए बिना ही पूर्ववत् समरभूमिमें बाणोंकी वर्षा करता रहा और अपने महान् व्रतकी रक्षाकी इच्छासे समराङ्गणमें डटा रहा ॥ ११ ॥

तस्य तत् सुमहत् कर्म शशंसुः कुरुसत्तमाः ।
यत् कृष्णाभ्यां समेताभ्यामभ्यापतत संयुगे ॥ १२ ॥

अश्वत्थामा युद्धभूमिमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका सामना करता रहा, उसके इस महान् कर्मकी श्रेष्ठ कौरवोंने बड़ी प्रशंसा की ॥ १२ ॥

(तथार्जुनोऽपि संहृष्ट अश्वत्थामानमाहवे ।
शशंस सर्वभूतानां शृण्वतामपि भारत ॥)

भारत ! अर्जुनने भी अत्यन्त हर्षमें भरकर रणभूमिमें सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

स हि नित्यमनीकेषु युध्यतेऽभयमास्थितः ।
अस्त्रग्रामं ससंहारं द्रोणात् प्राप्य सुदुर्लभम् ॥ १३ ॥

वह द्रोणाचार्यसे उपसंहारसहित सुदुर्लभ अस्त्र-समुदायकी शिक्षा पाकर निर्भय हो सदा ही पाण्डव-सैनिकोंके साथ युद्ध करता था ॥ १३ ॥

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यापि प्रियः सुतः ।
ब्राह्मणश्च विशेषेण माननीयो ममेति च ॥ १४ ॥
समास्थाय मतिं वीरो बीभत्सुः शत्रुतापनः ।
कृपां चक्रे रथश्रेष्ठो भारद्वाजसुतं प्रति ॥ १५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्यका पुत्र है, द्रोणका लाड़ला बेटा है तथा ब्राह्मण होनेके कारण भी विशेषरूपसे मेरे लिये माननीय है; आचार्यपुत्रपर कृपा की ॥ १४-१५ ॥

द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुनने अश्वत्थामाको वहीं युद्धस्थलमें छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ आपके दूसरे सैनिकोंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १६ ॥

दुर्योधनस्तु दशभिर्गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भीमसेनं महेष्वासं रुक्मपुङ्खैः समार्पयत् ॥ १७ ॥

दुर्योधनने शान चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्र पंखयुक्त अथवा सुवर्णमय पंखवाले दस बाण मारकर महाधनुर्धर भीमसेनको बड़ी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ।
चित्रं कार्मुकमादत्त शरांश्च निशितान् दश ॥ १८ ॥

अभिमन्युका युद्ध-कौशल
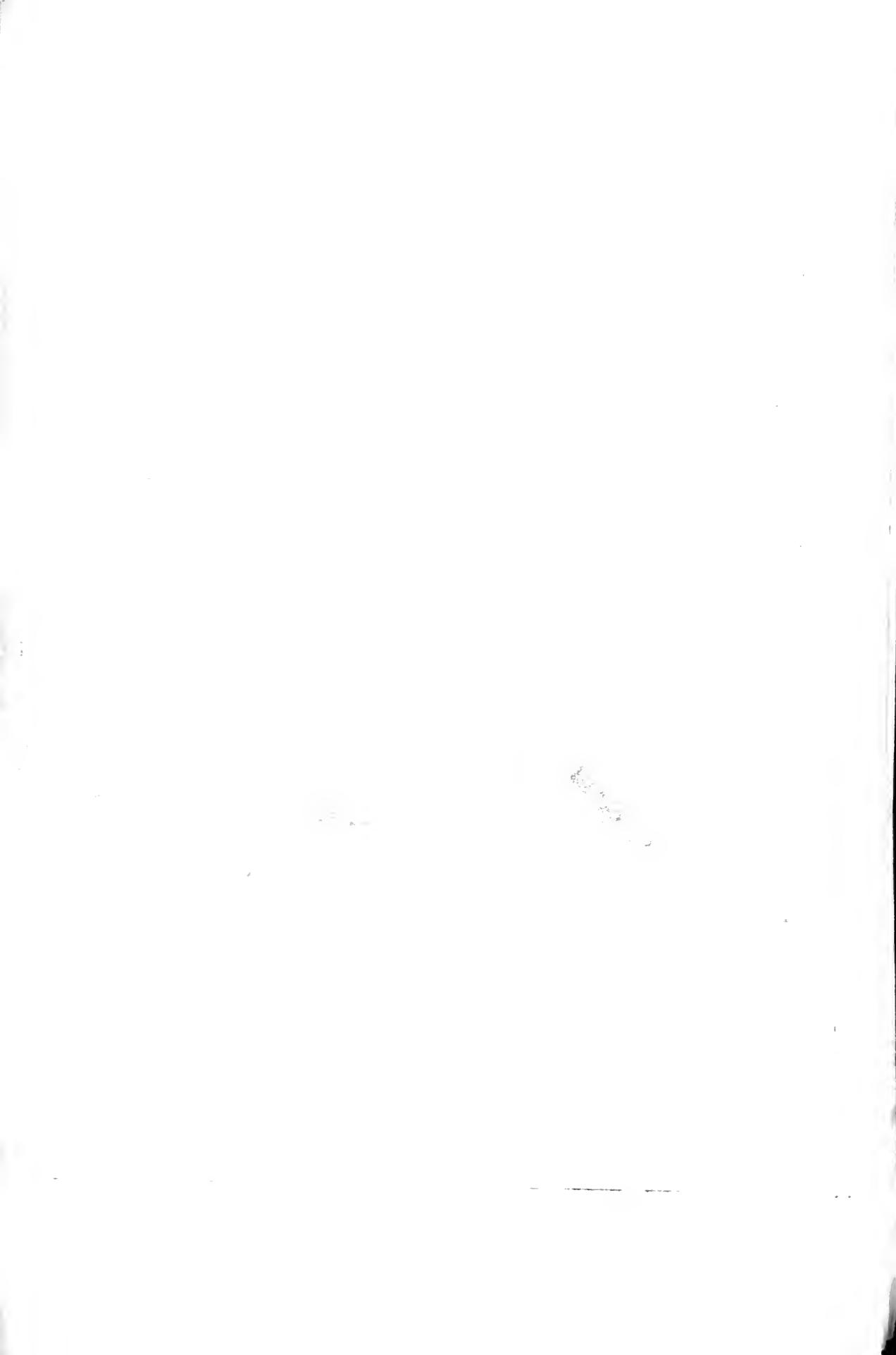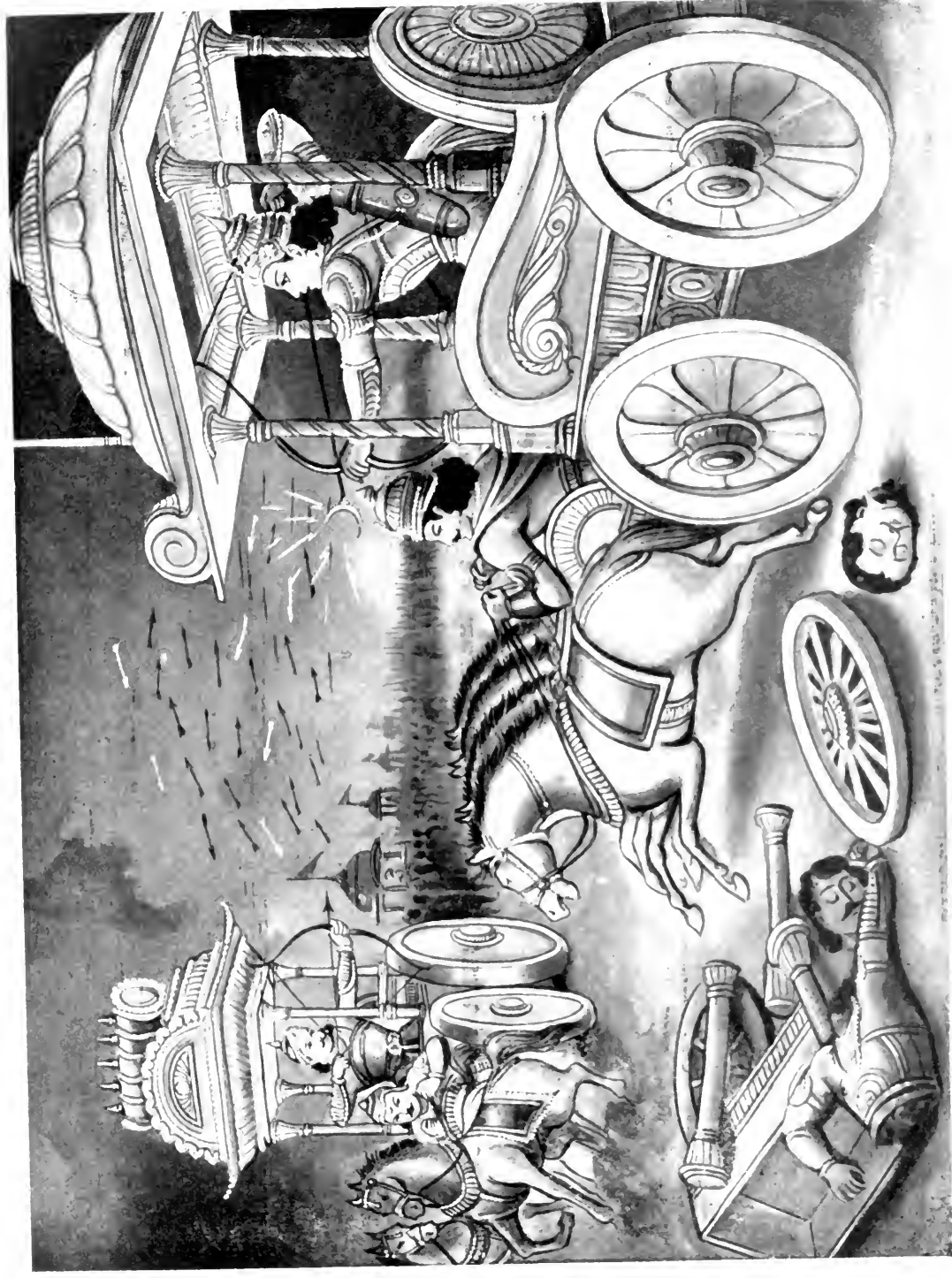
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रः कुरुराजं महोरसि ॥ १९ ॥

इससे भीमसेन अत्यन्त क्रोधसे जल उठे । उन्होंने एक विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त सुदृढ़ और शत्रुओंके प्राण लेनेमें समर्थ था । उसके ऊपर उन्होंने दस तीखे बाण रक्खे; फिर धनुषको कानतक खींचकर वे बाण छोड़ दिये । उन सीधे जानेवाले वेगवान् एवं तीक्ष्ण बाणोंद्वारा भीमने बिना किसी व्यग्रताके तुरंत ही कुरुराज दुर्योधनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८-१९ ॥

तस्य काञ्चनसूत्रस्थः शरैः संछादितो मणिः ।
रराजोरसि खे सूर्यो ग्रहैरिव समावृतः ॥ २० ॥

दुर्योधनकी छातीपर एक मणि शोभा पाती थी, जो सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई थी । वह भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित होकर वैसे ही शोभा पाने लगी, जैसे आकाशमें ग्रहोंसे घिरे हुए सूर्य सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

पुत्रस्तु तव तेजस्वी भीमसेनेन ताडितः ।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं मदोत्कटः ॥ २१ ॥

भीमसेनके बाणोंसे पीड़ित होकर आपका तेजस्वी पुत्र उनके द्वारा किये गये आघातको उसी प्रकार नहीं सह सका, जैसे मतवाला हाथी तालीकी आवाज नहीं सहन करता है ॥

ततः शरैर्महाराज रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
भीमं विव्याध संक्रुद्धस्त्रासयानो वरूथिनीम् ॥ २२ ॥

महाराज ! तदनन्तर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए स्वर्णपंखयुक्त बाणोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने भीमसेनको बींध डाला और पाण्डवसेनाको भयभीत करने लगा ॥

तौ युध्यमानौ समरे भृशमन्योन्यविक्षतौ ।
पुत्रौ ते देवसंकाशौ व्यरोचेतां महाबलौ ॥ २३ ॥

उस समराङ्गणमें परस्पर युद्ध करके अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए आपके दोनों महाबली पुत्र दुर्योधन और भीमसेन देवताओंके समान शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ॥ २४ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने नरश्रेष्ठ चित्रसेनको दस और पुरुमित्रको सात बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

सत्यव्रतं च सप्तत्या विद्ध्वा शक्रसमो युधि ।
नृत्यन्निव रणे वीर आर्तिं नः समजीजनत् ॥ २५ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी वीर अभिमन्युने सत्यव्रतको सत्तर बाणोंसे घायल करके रणाङ्गणमें नृत्य-सा करते हुए हम सब लोगोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ २५ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिश्चित्रसेनः शिलीमुखैः ।
सत्यव्रतश्च नवभिः पुरुमित्रश्च सप्तभिः ॥ २६ ॥

तब चित्रसेनने दस, सत्यव्रतने नौ और पुरुमित्रने सात बाणोंसे मारकर अभिमन्युको घायल कर दिया॥ २६ ॥

स विद्धो विक्षरन् रक्तं शत्रुसंवारणं महत् ।
चिच्छेद चित्रसेनस्य चित्रं कार्मुकमार्जुनिः ॥ २७ ॥

उन दोनोंके द्वारा घायल होकर अपने शरीरसे रक्त बहाते हुए अभिमन्युने चित्रसेनके शत्रुनिवारक महान् एवं विचित्र धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

भित्त्वा चास्य तनुत्राणं शरेणोरस्यताडयत् ।
ततस्ते तावका वीरा राजपुत्रा महारथाः ॥ २८ ॥
समेत्य युधि संरब्धा विव्यधुर्निशितैः शरैः ।
तांश्च सर्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैर्जघान परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

साथ ही चित्रसेनके कवचको विदीर्ण करके उसकी छातीमें भी एक बाण मारा । तदनन्तर आपके वीर एवं महारथी राजकुमार युद्धमें एकत्र हो क्रोधमें भरकर अभिमन्युको तीखे बाणोंसे बेधने लगे; परंतु उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अभिमन्युने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य दृष्ट्वा तु तत् कर्म परिवव्रुः सुतास्तव ।
दहन्तं समरे सैन्यं वने कक्षं यथोल्बणम् ॥ ३० ॥

जैसे वनमें लगी हुई प्रचण्ड आग तृणसमूहको अनायास ही जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अभिमन्यु उस समराङ्गणमें कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था । उसके इस महान् कर्मको देखकर आपके पुत्रोंने उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

अपेतशिशिरे काले समिद्धमिव पावकम् ।
अत्यरोचत सौभद्रस्तव सैन्यानि नाशयन् ॥ ३१ ॥

महाराज ! आपकी सेनाका संहार करता हुआ सुभद्राकुमार अभिमन्यु ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित हुई प्रचण्ड अग्निसे भी बढ़कर शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

तत् तस्य चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत् तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! उसका यह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरंत ही युद्धमें सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः॥३३॥

तब क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने उत्तम लक्षणोंसे युक्त

लक्ष्मणको छः और उसके सारथिको तीन तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ३३ ॥

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३४ ॥

राजन्! इसी प्रकार लक्ष्मणने भी सुभद्राकुमारको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। महाराज! वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३४ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

यह देख महाबली सुभद्राकुमारने लक्ष्मणके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर तीखे बाणोंद्वारा उसपर भी आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले लक्ष्मणने उस अश्वहीन रथपर खड़े-खड़े ही क्रोधमें भरकर अभिमन्युके रथकी ओर एक शक्ति चलायी ॥ ३६ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ॥ ३७ ॥

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणीके समान शक्तिको सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्युने तीखे बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३७ ॥

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा ।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३८ ॥

तब कृपाचार्य सब सैनिकोंके देखते-देखते लक्ष्मणको अपने रथपर बिठाकर युद्धभूमिमें वहाँसे अन्यत्र हटा ले गये॥

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस महाभयंकर संघर्षमें सब योद्धा विपक्षीको मारनेकी इच्छा रखकर एक-दूसरेका वध करनेके लिये परस्पर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः ।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ४० ॥

आपके और पाण्डवपक्षके महाधनुर्धर महारथी वीर समराङ्गणमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ४० ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
बाहुभिः समयुध्यन्त सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

कवच और रथसे रहित हो धनुष कट जानेपर अपने बाल खोले हुए कितने ही सृंजय वीर कौरवोंके साथ केवल भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सेनां जघान संक्रुद्धो दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ॥ ४२ ॥

तब महाबली महाबाहु भीष्म अत्यन्त कुपित हो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा महामना पाण्डवोंकी सेनाका संहार करने लगे॥

हतैरश्वैर्गजैस्तत्र नरैरश्वैश्च पातितैः ।
रथिभिः सादिभिश्चैव समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ४३ ॥

उस समय वहाँ मारे और गिराये गये हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथी और सवारोंद्वारा सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४४ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

अथ राजन् महाबाहुः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
विकृष्य चापं समरे भारसाहमनुत्तमम् ॥ १ ॥
प्रामुञ्चत् पुङ्खसंयुक्ताञ्शरानाशीविषोपमान् ।

संजय कहते हैं—राजन्! महाबाहु सात्यकि युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उन्होंने युद्धमें भार सहन करनेमें समर्थ और परम उत्तम धनुषको बलपूर्वक खींचकर विषधर सर्पके समान भयानक पंखयुक्त बाण छोड़े ॥ १½ ॥

प्रगाढं लघु चित्रं च दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ २ ॥
(यत् तत् सख्युस्तु पूर्वेण अर्जुनादुपशिक्षितम् ।)

बाणोंको छोड़ते समय सात्यकिने अपने उस प्रगाढ़, शीघ्रकारी और विचित्र हस्त-लाघवका परिचय दिया, जिसे उन्होंने पूर्वकालमें अपने सखा अर्जुनसे सीखा था ॥ २ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं शरानन्यांश्च मुञ्चतः।
आददानस्य भूयश्च संदधानस्य चापरान् ॥ ३ ॥
क्षिपतश्च परांस्तस्य रणे शत्रून् विनिघ्नतः।
ददृशे रूपमत्यर्थं मेघस्येव प्रवर्षतः ॥ ४ ॥

जब वे धनुषको खींचते, दूसरे-दूसरे बाण छोड़ते, फिर नये-नये बाण हाथमें लेते, धनुषपर रखते, उन्हें शत्रुओंपर चलाते और उनका संहार करते थे, उस समय वर्षा करनेवाले मेघके समान उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत दिखायी देता था ॥ ३-४ ॥

तमुदीर्यन्तमालोक्य राजा दुर्योधनस्ततः।
रथानामयुतं तस्य प्रेषयामास भारत ॥ ५ ॥

भारत ! उस समय उन्हें युद्धमें बढ़ते देख राजा दुर्योधनने उनका सामना करनेके लिये दस हजार रथियोंकी सेना भेजी ॥५॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सात्यकिः सत्यविक्रमः।
जघान परमेष्वासो दिव्येनास्त्रेण वीर्यवान् ॥ ६ ॥

परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर सत्यपराक्रमी शक्तिशाली सात्यकिने उन समस्त धनुर्धर योद्धाओंको अपने दिव्यास्त्रके द्वारा मार डाला ॥ ६ ॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे ॥ ७ ॥

यह भयंकर कर्म करके फिर धनुष लिये वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

स हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ॥ ८ ॥

सात्यकिने आपकी सेनाको मार गिराया है, यह देखकर कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाला भूरिश्रवा अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा ॥ ८ ॥

इन्द्रायुधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः।
सृष्टवान् वज्रसंकाशाञ्शरानाशीविषोपमान् ॥ ९ ॥
सहस्रशो महाराज दर्शयन् पाणिलाघवम्।

उसका विशाल धनुष इन्द्र-धनुषके समान बहुरंगा था। महाराज ! उसे खींचकर भूरिश्रवाने अपने हस्त-लाघवका परिचय देते हुए वज्रके समान दुःसह और विषैले सर्पोंके तुल्य भयंकर सहस्रों बाण छोड़े ॥ ९½ ॥

शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेश्च पदानुगाः ॥१०॥
न विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
विहाय सात्यकिं राजन् समरे युद्धदुर्मदम् ॥ ११ ॥

उन बाणोंका स्पर्श मृत्युके तुल्य था। राजन् ! उस समय सात्यकिके साथ आये हुए सैनिक उन सायकोंका वेग न सह सके। नरेश्वर ! युद्धभूमिमें वे रण-दुर्मद सात्यकिको वहीं छोड़कर सब ओर भाग निकले॥ १०-११ ॥

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः।
महारथाः समाख्याताश्चित्रवर्मायुधध्वजाः ॥ १२ ॥
समासाद्य महेष्वासं भूरिश्रवसमाहवे।
ऊचुः सर्वे सुसंरब्धा यूपकेतुं महारणे ॥ १३ ॥

सात्यकिके दस महाबलवान् पुत्र थे। उनके कवच, आयुध और ध्वज सभी विचित्र थे। वे सब-के सब महारथी कहे जाते थे। वे युद्धस्थलमें यूपचिह्नित ध्वजवाले महारथी भूरिश्रवाको देखकर उसके पास आये और अत्यन्त क्रोधपूर्वक उससे इस प्रकार बोले—॥ १२-१३ ॥

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा ॥ १४ ॥

'महाबली कौरवपुत्र ! आओ, इस संग्रामभूमिमें हम सब लोगोंके साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक एकके साथ युद्ध करो॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं धास्यामहे पितुः ॥ १५ ॥

'या तो तुम युद्धमें हमें पराजित करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे'॥

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान् ॥ १६ ॥

तब उन शूरवीरोंके ऐसा कहनेपर अपने पराक्रमकी श्लाघा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्धके लिये उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला—॥ १६ ॥

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे ॥ १७ ॥

'वीरो ! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुमलोगोंने यह बड़ी अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमिमें तुम सब लोगोंको मार गिराऊँगा' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिंदमम् ॥ १८ ॥

भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरोंने बड़ी भारी बाण-वर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ १८ ॥

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत्।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे ॥ १९ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें उस समराङ्गणमें एकत्र हुए बहुत-से वीरोंके साथ एक वीरका भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ॥

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन्।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! जैसे मेघ वर्षाकालमें मेरुपर्वतपर जलकी बूँदें

बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ एकमात्र भूरिश्रवापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २० ॥

तैस्तु मुक्ताञ्शरान् घोरान् यमदण्डाशनिप्रभान्।
असम्प्राप्तानसम्भ्रान्तश्चिच्छेदाशु महारथः ॥ २१ ॥

उनके छोड़े हुए यमदण्ड और वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले भयंकर बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही महारथी भूरिश्रवाने बिना किसी घबराहटके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सौमदत्तेः पराक्रमम्।
यदेको बहुभिर्युद्धे समसज्जदभीतवत् ॥ २२ ॥

वहाँ हम सबने सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाका अद्भुत पराक्रम देखा। वह अकेला होनेपर भी बहुत-से वीरोंके साथ निर्भीक-सा युद्ध करता रहा ॥ २२ ॥

विसृज्य शरवृष्टिं तां दश राजन् महारथाः।
परिवार्य महाबाहुं निहन्तुमुपचक्रमुः ॥ २३ ॥

राजन्! उन दस महारथियोंने वह बाणोंकी वर्षा करके महाबाहु भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसे मार डालनेकी तैयारी की ॥ २३ ॥

सौमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ॥ २४ ॥

भरत-वंशीनरेश! उस समय क्रोधमें भरे हुए भूरिश्रवाने उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए ही समरभूमिमें उनके धनुष काट डाले ॥ २४ ॥

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः संनतपर्वभिः।
चिच्छेद समरे राजञ्शिरांसि भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इनके धनुष कट जानेपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे भूरिश्रवाने उनके मस्तक भी समरभूमिमें काट गिराये ॥ २५ ॥

ते हता न्यपतन् राजन् वज्रभग्ना इव द्रुमाः।
तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरो रणे पुत्रान् महाबलान् ॥ २६ ॥
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात्।

राजन्! वे दसों वीर वज्रके मारे हुए वृक्षोंकी भाँति रणभूमिमें मरकर गिर पड़े। उन महाबली पुत्रोंको संग्राममें मारा गया देख वीरवर सात्यकिने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

रथं रथेन समरे पीडयित्वा महाबलौ ॥ २७ ॥
तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ॥ २८ ॥

वे दोनों महाबली समराङ्गणमें अपने रथके द्वारा दूसरेके रथको पीड़ा देने लगे। उन्होंने आपसमें एक दूसरेके रथ और घोड़ोंको नष्ट कर दिया। इस प्रकार रथहीन हुए वे दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ॥ २९ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह हाथमें बड़ी बड़ी तलवारें और सुन्दर ढालें लिये युद्धके लिये उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

(खड्गप्रहारैः सुभृशं जघ्नतुश्च परस्परम्।
पीडितौ खड्गघाताभ्यां स्रवद्रक्तौ क्षितौ भृशम् ॥
शुशुभाते महावीर्यावुभौ समरदुर्जयौ।
असृगुक्षितसर्वाङ्गौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥)

वे तलवारोंकी मारसे एक दूसरेको अत्यन्त घायल करने लगे। खड्गके आघातसे पीड़ित हो दोनों ही पृथ्वीपर रक्त बहाने लगे। उनके सारे अङ्ग रक्तरंजित हो रहे थे। अतः वे रण-दुर्जय महापराक्रमी वीर खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगे ॥

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम्।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ॥ ३० ॥

राजन्! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्यकिके पास पहुँचकर भीमसेनने उस समय तुरंत उन्हें अपने रथपर बिठा लिया ॥ ३० ॥

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥ ३१ ॥

महाराज! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने भी युद्धस्थलमें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भूरिश्रवाको तुरंत अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३१ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम्।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उस युद्धमें महारथी भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनंजयः।
पञ्चविंशतिसाहस्रान् निजघान महारथान् ॥ ३३ ॥

जब सूर्य अस्ताचलके पास पहुँचकर लाल होने लगे, उस समय अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ बाण-वर्षा करके पचीस हजार महारथियोंको मार डाला ॥ ३३ ॥

ते हि दुर्योधनादिष्टास्तदा पार्थनिबर्हणे।
सम्प्राप्यैव गता नाशं शलभा इव पावकम् ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब दुर्योधनकी आज्ञासे अर्जुनका संहार करनेके लिये आये थे। परंतु वे उस समय आगमें गिरे हुए पतंगोंकी भाँति उनके पास आते ही नष्ट हो गये ॥ ३४ ॥

ततो मत्स्याः केकयाश्च धनुर्वेदविशारदाः।
परिवव्रुस्तदा पार्थं सहपुत्रं महारथम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर धनुर्विद्यामें प्रवीण मत्स्य और केकयदेशके वीर अभिमन्यु आदि पुत्रोंसे युक्त महारथी अर्जुनको घेरकर कौरवोंसे युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति ।
सर्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ॥ ३६ ॥

इसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये । तब आपके समस्त सैनिकोंपर मोह छा गया ॥ ३६ ॥

अवहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
संध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ॥ ३७ ॥

महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रतने संध्याके समय अपनी सेनाको पीछे हटा लिया । उनके वाहन बहुत थक गये थे ॥ ३७ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च परस्परसमागमे ।
ते सेने भृशसंविग्ने ययतुः स्वं निवेशनम् ॥ ३८ ॥

पाण्डवों और कौरवोंके पारस्परिक संघर्षमें दोनों ही सेनाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं । अतः वे अपनी-अपनी छावनीको चली गयीं ॥ ३८ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत ।
पाण्डवाः सृंजयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ॥ ३९ ॥

भारत ! तदनन्तर सृंजयोंसहित पाण्डव, और कौरव अपने शिबिरमें जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसावहारे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धकी समाप्तिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवसेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौञ्चव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना

संजय उवाच

ते विश्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रातको विश्राम करनेके अनन्तर जब वह रात बीत गयी, तब कौरव और पाण्डव पुनः युद्धके लिये साथ-साथ निकले ॥ १ ॥

तत्र शब्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
युज्यतां रथमुख्यानां कल्प्यतां चैव दन्तिनाम् ॥ २ ॥
संनह्यतां पदातीनां हयानां चैव भारत ।
शङ्खदुन्दुभिनादश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भारत ! उस समय वहाँ आपके और पाण्डव पक्षके सैनिकोंमें बड़ा कोलाहल मचा । कुछ लोग श्रेष्ठ रथोंको जोत रहे थे, कुछ लोग हाथियोंको सुसज्जित करते थे, कहीं पैदल सैनिक और घोड़े कवच बाँधकर साज-बाज धारण कर तैयार किये जा रहे थे । शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि बड़े जोर-जोरसे हो रही थी । इन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा था ॥ २–३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूहं व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नसे कहा—'महाबाहो ! तुम शत्रुनाशक मकरव्यूहकी रचना करो' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
व्यादिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्नने अपने समस्त रथियोंको मकरव्यूह बनानेके लिये आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदस्तस्य पाण्डवश्च धनंजयः ।
चक्षुषी सहदेवश्च नकुलश्च महारथः ॥ ६ ॥

उसके मस्तकके स्थानपर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खड़े हुए । महारथी नकुल और सहदेव नेत्रोंके स्थानमें स्थित हुए ॥ ६ ॥

तुण्डमासीन्महाराज भीमसेनो महाबलः ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ७ ॥
सात्यकिर्धर्मराजश्च व्यूहग्रीवां समास्थिताः ।

महाराज ! महाबली भीमसेन उसके मुखकी जगह खड़े हुए । सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँच पुत्र, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर—ये उस मकरव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ ७½ ॥

पृष्ठमासीन्महाराज विराटो वाहिनीपतिः ॥ ८ ॥
धृष्टद्युम्नेन सहितो महत्या सेनयावृतः ।

नरेश्वर ! सेनापति विराट विशाल सेनासे घिरकर धृष्टद्युम्न-के साथ उस व्यूहके पृष्ठ भागमें खड़े हुए ॥ ८½ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च वामपार्श्वं समाश्रिताः ॥ ९ ॥
धृष्टकेतुर्नरव्याघ्रश्चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थितौ व्यूहस्य रक्षणे ॥ १० ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार उनके वामपार्श्वमें खड़े थे। नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान—ये व्यूहके दाहिने भागमें स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे ॥ ९-१० ॥

पादयोस्तु महाराज स्थितः श्रीमान् महारथः।
कुन्तिभोजः शतानीको महत्या सेनया वृतः ॥ ११ ॥

महाराज! उसके दोनों पैरोंकी जगह महारथी श्रीमान् कुन्तिभोज और विशाल सेनासहित शतानीक खड़े थे ॥११॥

शिखण्डी तु महेष्वासः सोमकैः संवृतो बली।
इरावांश्च ततः पुच्छे मकरस्य व्यवस्थितौ ॥ १२ ॥

सोमकोंसे घिरा हुआ महाधनुर्धर शिखण्डी और बलवान् इरावान्—ये दोनों उस मकरव्यूहके पुच्छभागमें खड़े थे ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
सूर्योदये महाराज पुनर्युद्धाय दंशिताः ॥ १३ ॥

महाराज! भरतनन्दन! इस प्रकार उस महान् मकर-व्यूहकी रचना करके पाण्डव कवच बाँधकर सूर्योदयके समय पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १३ ॥

कौरवानभ्ययुस्तूर्णं हस्त्यश्वरथपत्तिभिः।
समुच्छ्रितैर्ध्वजैश्छत्रैः शस्त्रैश्च विमलैः शितैः ॥ १४ ॥

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं, छत्रों तथा चमकीले और तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ पाण्डवोंने कौरवोंपर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ॥ १४ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ॥ १५ ॥

राजन्! तब आपके ताऊ देवव्रतने पाण्डवोंका वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिलेमें अपनी सेनाको महान् क्रौञ्च-व्यूहके रूपमें संगठित किया ॥ १५ ॥

तस्य तुण्डे महेष्वासो भारद्वाजो व्यरोचत।
अश्वत्थामा कृपश्चैव चक्षुरासीन्नरेश्वर ॥ १६ ॥

उसकी चोंचके स्थानमें महाधनुर्धर द्रोणाचार्य सुशोभित हुए। नरेश्वर! अश्वत्थामा और कृपाचार्य नेत्रोंके स्थानमें खड़े हुए ॥ १६ ॥

कृतवर्मा तु सहितः काम्बोजवरबाह्लिकैः।
शिरस्यासीन्नरश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १७ ॥

काम्बोज और बाह्लिकदेशके उत्तम सैनिकोंके साथ समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूहके शिरोभागमें स्थित हुए॥

ग्रीवायां शूरसेनश्च तव पुत्रश्च मारिष।
दुर्योधनो महाराज राजभिर्बहुभिर्वृतः ॥ १८ ॥

आर्य! महाराज! राजा शूरसेन तथा आपका पुत्र दुर्योधन—ये दोनों बहुत-से राजाओंके साथ क्रौञ्चव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ १८ ॥

प्राग्ज्योतिषस्तु सहितो मद्रसौवीरकेकयैः।
उरस्यभून्नरश्रेष्ठ महत्या सेनया वृतः ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ! मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओंके साथ विशाल सेनासे घिरे हुए प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त उस व्यूहके वक्षःस्थलमें स्थित हुए ॥ १९ ॥

स्वसेनया च सहितः सुशर्मा प्रस्थलाधिपः।
वामपक्षं समाश्रित्य दंशितः समवस्थितः ॥ २० ॥

प्रस्थलाधिपति (त्रिगर्तराज) सुशर्मा कवच धारण करके अपनी सेनाके साथ व्यूहके वाम-पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य भारत ॥ २१ ॥

भारत! तुषार, यवन, शक और चूचुपदेशके सैनिक व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर स्थित हुए ॥ २१ ॥

श्रुतायुश्च शतायुश्च सौमदत्तिश्च मारिष।
व्यूहस्य जघने तस्थू रक्षमाणाः परस्परम् ॥ २२ ॥

मारिष! श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा-ये परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए व्यूहके जघनप्रदेशमें स्थित हुए ॥ २२ ॥

ततो युद्धाय संजग्मुः पाण्डवाः कौरवैः सह।
सूर्योदये महाराज ततो युद्धमभून्महत् ॥ २३ ॥

महाराज! तत्पश्चात् सूर्योदय-कालमें पाण्डवोंने कौरवोंके साथ युद्धके लिये उनकी सेनापर आक्रमण किया; फिर तो बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २३ ॥

प्रतीयू रथिनो नागा नागांश्च रथिनो ययुः।
हयारोहान् रथारोहा रथिनश्चापि सादिनः ॥ २४ ॥

रथियोंकी ओर हाथी और हाथियोंकी ओर रथी बढ़े। घुड़सवारोंपर रथारोही तथा रथारोहियोंपर घुड़सवार चढ़ आये॥

सादिनश्च हयान् राजन् रथिनश्च महारणे।
हस्त्यारोहान् हयारोहा रथिनः सादिनस्तथा ॥ २५ ॥

राजन्! उस महायुद्धमें घुड़सवार योद्धा घुड़सवारों तथा रथियोंपर भी चढ़ दौड़े। इसी प्रकार अश्वारोही हाथीसवारों तथा रथियोंपर भी टूट पड़े ॥ २५ ॥

रथिनः पत्तिभिः सार्धं सादिनश्चापि पत्तिभिः।
अन्योन्यं समरे राजन् प्रत्यधावन्नमर्षिताः ॥ २६ ॥

रथी और घुड़सवार दोनों ही पैदल सेनाओंर आक्रमण करने लगे। राजन्! इस प्रकार अमर्षमें भरे हुए ये समस्त सैनिक एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ २६ ॥

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ॥ २७ ॥

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्य महारथियोंसे सुरक्षित हुई पाण्डव-सेना नक्षत्रोंसे रात्रिकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तवापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदिसे घिरी हुई आपकी सेना ग्रहोंसे आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ २८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ॥ २९ ॥

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेनने द्रोणाचार्यको देखकर वेगशाली अश्वोंद्वारा द्रोणकी सेनापर धावा किया ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ॥ ३० ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो भीमके मर्मस्थानोंको लोहेके नौ बाणोंसे घायल कर दिया।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥ ३१ ॥

तब युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा अत्यन्त आहत होकर भीमसेनने उनके सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ ३१ ॥

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ॥ ३२ ॥

तब प्रतापी द्रोणाचार्य स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे आग रूईके ढेरको भस्म कर डालती है ॥ ३२ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ॥ ३३ ॥

वे नरश्रेष्ठ सृंजय और केकय द्रोणाचार्य तथा भीष्मकी मार खाकर रणभूमिसे भागने लगे ॥ ३३ ॥

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार भीम और अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना मतवाली स्त्रीकी भाँति जहाँ-तहाँ मूर्छित होने लगी॥

अभिद्येतां ततो व्यूहौ तस्मिन् वीरवरक्षये ।
आसीद् व्यतिकरो घोरस्तव तेषां च भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस युद्धमें दोनों सेनाओंके व्यूह टूट गये और आपके तथा पाण्डवोंके सैनिकोंका भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ३५ ॥

तदद्भुतमपश्याम तावकानां परैः सह ।
एकायनगताः सर्वे यदयुध्यन्त भारत ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन ! हमने आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ अद्भुत पराक्रम देखा था । वे सब-के-सब एक पंक्तिमें खड़े होकर युद्ध कर रहे थे ॥ ३६ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि तेऽन्योन्यस्य विशाम्पते ।
युयुधुः पाण्डवाश्चैव कौरवाश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! महाबली कौरव तथा पाण्डव एक दूसरेके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करते हुए जूझ रहे थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसयुद्धारम्भे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धका आरम्भविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! इस प्रकार हमारी सेना अनेक गुणोंसे सम्पन्न है । अनेक अङ्गोंसे युक्त और अनेक प्रकारसे संगठित है तथा शास्त्रीय विधिसे उसकी व्यूहरचना की गयी है । अतः वह अमोघ (विजय पानेमें विफल न होनेवाली) है ॥ १ ॥

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥ २ ॥

हमारी यह सेना हमलोगोंपर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है । हमारे प्रति सर्वदा विनीतभाव रखती आयी है । यह किसी भी व्यसनमें नहीं फँसी है । पूर्वकालमें इसका पराक्रम देखा जा चुका है ॥ २ ॥

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारयोधमनामयम् ॥ ३ ॥

इसमें न कोई अत्यन्त बूढ़ा है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है। इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कदके लोग हैं। इस सेनाका प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ॥ ३ ॥

आत्तसंनाहशस्त्रं च बहुशस्त्रपरिग्रहम्।
असियुद्धे नियुद्धे च गदायुद्धे च कोविदम् ॥ ४ ॥

यहाँ सबने कवच एवं अस्त्र-शस्त्र धारण कर रक्खा है। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक शस्त्रोंका संग्रह किया गया है। यहाँका एक-एक योद्धा खड्गयुद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्धमें कुशल है ॥ ४ ॥

प्रासर्ष्टितोमरेष्वाजौ परिघेष्वायसेषु च।
भिन्दिपालेषु शक्तीषु मुसलेषु च सर्वशः ॥ ५ ॥
कम्पनेषु च चापेषु कणपेषु च सर्वशः।
क्षेपणीयेषु चित्रेषु मुष्टियुद्धेषु च क्षमम् ॥ ६ ॥

ये सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर, लोहमय परिघ, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, कम्पन, चाप तथा कणप आदि दूसरोंपर चलाने योग्य विचित्र अस्त्रोंका युद्धमें प्रयोग करनेकी कलामें कुशल तथा मुष्टियुद्धमें भी सब प्रकारसे समर्थ हैं ५-६

अपरोक्षं च विद्यासु व्यायामे च कृतश्रमम्।
शस्त्रग्रहणविद्यासु सर्वासु परिनिष्ठितम् ॥ ७ ॥

हमारी इस सेनाको धनुर्वेदका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। इसके सैनिकोंने व्यायाम (अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यास) में भी अधिक परिश्रम किया है। ये शस्त्रग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याओंमें पारंगत हैं ॥ ७ ॥

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तरप्लुते।
सम्यक् प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ॥ ८ ॥

ये हाथी, घोड़े आदि सवारियोंपर चढ़ने, उतरने, आगे बढ़ने, बीचमें ही कूद पड़ने, अच्छी तरह प्रहार करने, चढ़ाई करने और पीछे हटनेमें भी प्रवीण हैं ॥ ८ ॥

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम्।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥ ९ ॥

हाथी, घोड़े, रथ आदिकी सवारियोंद्वारा रणयात्रा करनेमें इस सेनाकी अनेक प्रकार परीक्षा की जा चुकी है। परीक्षा करके प्रत्येक सैनिकको उसकी योग्यताके अनुकूल यथोचित वेतन दे दिया गया है ॥ ९ ॥

न गोष्ठ्या नोपकारेण न च बन्धुनिमित्ततः।
न सौहृदबलैर्वापि नाकुलीनपरिग्रहैः ॥ १० ॥

इनमेंसे किसीको मित्रोंकी गोष्ठीसे लाकर, सामान्य उपकार करके, भाई-बन्धु होनेके कारण, सौहार्दवश अथवा बलप्रयोग करके सेनामें सम्मिलित नहीं किया गया है। जो कुलीन नहीं हैं, ऐसे लोगोंका भी इस सेनामें संग्रह नहीं हुआ है ॥ १० ॥

समृद्धजनमार्यं च तुष्टसम्बन्धिबान्धवम्।
कृतोपकारभूयिष्ठं यशस्वि च मनस्वि च ॥ ११ ॥

हमारी सेनामें जो लोग हैं, वे सब समृद्धिशाली और श्रेष्ठ हैं। उनके सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु भी संतुष्ट हैं। इन सबपर हमारी ओरसे विशेष उपकार किया गया है। ये सभी यशस्वी और मनस्वी हैं ॥ ११ ॥

स्वजनैस्तु नरैर्मुख्यैर्बहुशो दृष्टकर्मभिः।
लोकपालोपमैस्तात पालितं लोकविश्रुतम् ॥ १२ ॥

तात ! जिनके कार्य और व्यवहारको कई बार देखा गया है, ऐसे मुख्य-मुख्य स्वजनोंद्वारा, जो लोकपालके समान पराक्रमी हैं, इस सेनाका पालन-पोषण होता है। यह सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है ॥ १२ ॥

बहुभिः क्षत्रियैर्गुप्तं पृथिव्यां लोकसम्मतैः।
अस्मानभिगतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ॥ १३ ॥

जो अपनी वीरताके लिये भूमण्डलमें विख्यात तथा लोकमें सम्मानित हैं, ऐसे बहुत-से क्षत्रिय अपनी इच्छासे ही सेना और सेवकोंके साथ हमारे पास आये हैं, उनके द्वारा यह कौरवसेना सुरक्षित है ॥ १३ ॥

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैर्नागैश्च संवृतम् ॥ १४ ॥

हमारी यह सेना महासागरके समान सब ओरसे परिपूर्ण है। इसमें बिना पंखके ही पक्षियोंके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथ और हाथी इस प्रकार आकर मिलते हैं, जैसे समुद्रमें सब ओरसे नदियाँ आकर गिरती हैं ॥ १४ ॥

नानायोधजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम्।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्राससमाकुलम् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके योद्धा ही इस सैन्यसागरके जल हैं, वाहन ही उसमें उठती हुई छोटी-बड़ी तरंगें हैं। इसमें क्षेपणी, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र जल-जन्तुओंके समान भरे पड़े हैं ॥ १५ ॥

ध्वजभूषणसम्बाधं रत्नपट्टसुसंचितम्।
परिधावद्भिरश्वैश्च वायुवेगविकम्पितम् ॥ १६ ॥
अपारमिव गर्जन्तं सागरप्रतिमं महत्।

ध्वज और आभूषणोंसे भरी हुई यह सेना रत्नजटित पताकाओंसे व्याप्त है। दौड़ते हुए घोड़ोंसे जो इस सेनाका चञ्चल होना है, वही वायुवेगसे इस समुद्रका कम्पन है। सागरसदृश यह विशाल सेना देखनेमें अपार है और निरन्तर गर्जन करती रहती है ॥ १६½ ॥

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ॥ १७ ॥
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ।
भगदत्तविकर्णाभ्यां द्रौणिसौबलबाह्लिकैः ॥ १८ ॥
गुप्तं प्रवीरैर्लोकैश्च सारवद्भिर्महात्मभिः ।
यदहन्यत संग्रामे दैवमत्र पुरातनम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन, जयद्रथ, भगदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा बाह्लिक आदि प्रमुख वीरों तथा अन्य शक्तिशाली महामनस्वी लोगों-द्वारा मेरी सेना सदा सुरक्षित रहती है । ऐसी सेना भी यदि संग्राममें मारी गयी तो इसमें हमलोगोंका पुरातन प्रारब्ध ही कारण है ॥ १७–१९ ॥

नैतादृशं समुद्योगं दृष्टवन्तो हि मानुषाः ।
ऋषयो वा महाभागाः पुराणा भुवि संजय ॥ २० ॥

संजय ! इस भूतलपर इतनी बड़ी सेनाका जमाव मनुष्योंने कभी नहीं देखा होगा अथवा प्राचीन महाभाग ऋषियोंने भी नहीं देखा होगा ॥ २० ॥

ईदृशोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
वध्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ २१ ॥

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्तिसे संयुक्त होनेपर भी यदि संग्राममें विनष्ट हो रहा है, तो इसमें भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ २१ ॥

विपरीतमिदं सर्वं प्रतिभाति हि संजय ।
यत्रेदृशं बलं घोरं पाण्डवान्नातरद् रणे ॥ २२ ॥

संजय ! यह सब कुछ मुझे विपरीत जान पड़ता है कि ऐसा भयंकर सैन्यसमूह भी वहाँ युद्धमें पाण्डवोंसे पार नहीं पा सका ॥ २२ ॥

पाण्डवार्थाय नियतं देवास्तत्र समागताः ।
युध्यन्ते मामकं सैन्यं यथावध्यत संजय ॥ २३ ॥

संजय ! निश्चय ही पाण्डवोंके लिये देवता आकर मेरी सेनाके साथ युद्ध करते हैं, तभी तो वह प्रतिदिन मारी जा रही है ॥ २३ ॥

उक्तो हि विदुरेणाहं हितं पथ्यं च नित्यशः ।
न च जग्राह तन्मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ २४ ॥
तस्य मन्ये मतिः पूर्वं सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
आसीद् यथागतं तात येन दृष्टमिदं पुरा ॥ २५ ॥

विदुरने नित्य ही हित और लाभकी बातें बतायीं; परंतु मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनने नहीं माना । तात ! मैं समझता हूँ, महात्मा विदुर सर्वज्ञ हैं । इसीलिये पहले ही उनकी बुद्धिमें ये सब बातें आ गयी थीं । आज जो कुछ प्राप्त हुआ है, यह पहले ही उनकी दृष्टिमें आ गया था ॥ २४-२५ ॥

अथवा भाव्यमेवं हि संजयैतेन सर्वथा ।
पुरा धात्रा यथा सृष्टं तत् तथा नैतदन्यथा ॥ २६ ॥

संजय ! अथवा यह सब प्रकारसे ऐसा ही होनेवाला था । विधाताने जो पहलेसे रच रक्खा है, वह उसी रूपमें होता है, उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

आत्मदोषात् त्वया राजन् प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
न हि दुर्योधनस्तानि पश्यते भरतर्षभ ॥ १ ॥
यानि त्वं दृष्टवान् राजन् धर्मसंकरकारिते ।
तव दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपने अपने ही दोषसे यह संकट प्राप्त किया है । भरतश्रेष्ठ ! जिन धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे उत्पन्न दोषोंको आप देखते थे, उन्हें दुर्योधन नहीं देख सका था । प्रजानाथ ! आपके अपराधसे ही पहले द्यूतक्रीड़ाकी घटना घटी थी ॥ १-२ ॥

तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
त्वमेवाद्य फलं भुङ्क्ष्व कृत्वा किल्बिषमात्मना ॥ ३ ॥

तथा आपके ही दोषसे आज पाण्डवोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ । आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप ही भोग रहे हैं ॥ ३ ॥

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते ।
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ॥ ४ ॥

राजन् ! इहलोक अथवा परलोकमें अपने किये हुए कर्मका फल अपने आपको ही भोगना पड़ता है; अतः आप-को जैसेका तैसा प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

तस्माद् राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ॥ ५ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! इस महान् संकटको पाकर भी स्थिरता-पूर्वक युद्धका यथावत् वृत्तान्त जैसा मैं बता रहा हूँ सुनिये ॥

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्त्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ॥ ६ ॥

वीर भीमसेनने तीखे बाणोंसे आपकी विशाल सेनाको विदीर्ण करके दुर्योधनके सभी भाइयोंपर आक्रमण किया ।६।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
जयत्सेनं विकर्णं च चित्रसेनं सुदर्शनम् ॥ ७ ॥
चारुचित्रं सुवर्माणं दुष्कर्णं कर्णमेव च ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान् महारथान् ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।
भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ॥ ९ ॥

दुःशासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय, जयत्सेन, विकर्ण, चित्रसेन, सुदर्शन, चारुचित्र, सुवर्मा, दुष्कर्ण तथा कर्ण—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेनने समरभूमिमें भीष्मके द्वारा सुरक्षित विशाल कौरवसेनामें प्रवेश किया ।७-९।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ॥ १० ॥

भीमसेनको सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशोंने आपसमें कहा कि हमलोग इन्हें जीवित ही पकड़ कर बंदी बना लें ॥ १० ॥

स तैः परिवृतः पार्थो भ्रातृभिः कृतनिश्चयैः ।
प्रजासंहरणे सूर्यः क्रूरैरिव महाग्रहैः ॥ ११ ॥

ऐसा निश्चय करके उन सब भाइयोंने कुन्तीकुमार भीमसेनको घेर लिया, मानो प्रजाके संहारकालमें सूर्यदेवको बड़े-बड़े क्रूर ग्रहोंने घेर रक्खा हो ॥ ११ ॥

सम्प्राप्य मध्यं सैन्यस्य न भीः पाण्डवमाविशत् ।
यथा देवासुरे युद्धे महेन्द्रं प्राप्य दानवान् ॥ १२ ॥

कौरवसेनाके भीतर पहुँच जानेपर भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको तनिक भी भय नहीं हुआ, जैसे देवासुरसंग्राममें दानवोंकी सेनामें घुसनेपर देवराज इन्द्रको भयका स्पर्श नहीं होता है ॥ १२ ॥

ततः शतसहस्राणि रथिनां सर्वशः प्रभो ।
उद्यतानि शरैस्तीव्रैस्तमेकं परिवव्रिरे ॥ १३ ॥

प्रभो ! तदनन्तर एकमात्र भीमसेनको उनपर तीव्र बाणोंकी वर्षा करते हुए सैकड़ों-हजारों रथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर सब ओरसे घेर लिया ॥ १३ ॥

स तेषां प्रवरान् योधान् हस्त्यश्वरथसादिनः ।
जघान समरे शूरो धार्तराष्ट्रानचिन्तयन् ॥ १४ ॥

शूरवीर भीमसेन आपके पुत्रोंकी तनिक भी परवा न करते हुए हाथी, घोड़े एवं रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले कौरवोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंको समरभूमिमें मारने लगे ॥ १४ ॥

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ॥ १५ ॥

राजन् ! उन्हें कैद करनेकी इच्छावाले क्षत्रियोंके उस निश्चयको जानकर महामना भीमसेनने उन सबके वधका विचार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेन हाथमें गदा ले रथको त्यागकर उस विशाल सेनामें घुसकर उस महासागरतुल्य सैन्यसमुदायका विनाश करने लगे ॥ १६ ॥

(गदया भीमसेनेन ताडिता वारणोत्तमाः ।
भिन्नकुम्भा महाकाया भिन्नपृष्ठास्तथैव च ॥
भिन्नगात्राः सहारोहाः शेरते पर्वता इव ।

भीमसेनकी गदाके आघातसे बड़े-बड़े विशालकाय गजराजोंके कुम्भस्थल फट गये, पृष्ठभाग विदीर्ण हो गये तथा उनका एक-एक अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गया और उसी अवस्थामें वे सवारोंसहित धराशायी हो गये, मानो पर्वत ढह गये हों ॥

रथाश्च भग्नास्तिलशः सयोधाः शतशो रणे ॥
अश्वाश्च सादिनश्चैव पदातैः सह भारत ।

भारत ! उन्होंने उस रणक्षेत्रमें सैकड़ों रथोंको उनके सवारोंसहित तिल-तिल करके तोड़ डाला । घोड़ों, घुड़सवारों तथा पैदलोंकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ॥
यदेकः समरे राजन् बहुभिः समयोधयत् ।
अन्तकाले प्रजाः सर्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ॥)

राजन् ! उस युद्धमें हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम देखा, जैसे प्रलयकालमें यमराज हाथमें दण्ड लिये समस्त प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार वे अकेले आपके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ॥ १७ ॥

भीमसेनके कौरवसेनामें प्रवेश करनेपर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्यको छोड़कर बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ॥ १७ ॥

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ॥ १८ ॥

वहाँ आपकी विशाल सेनाको आगे बढ़नेसे रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें भीमसेनके सूने रथके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम्।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ॥ १९ ॥

महाराज! भीमसेनके सारथि विशोकको समरभूमिमें अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुखी और अचेत हो गये ॥ १९ ॥

अपृच्छद् बाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन्।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ॥ २० ॥

वे लंबी साँस खींचते और आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठ-से पूछने लगे—'विशोक! मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीम-सेन कहाँ हैं?' इतना कहते-कहते वे बहुत दुखी हो गये ॥ २० ॥

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवेयः पराक्रमी ॥ २१ ॥
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम्।

तब विशोकने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्नसे कहा—'प्रभो! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवोंके इस सैन्यसागरमें घुस गये हैं ॥ २१½ ॥

मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥ २२ ॥
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम्।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ॥ २३ ॥

'जाते समय पुरुषसिंह भीमसेनने मुझसे प्रेमपूर्वक यह बात कही कि सूत! तुम दो घड़ीतक इन घोड़ोंको रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। जबतक कि ये जो लोग मेरा वध करनेके लिये उद्यत हैं, इन्हें अभी मार न डालूँ ॥ २२-२३ ॥

ततो दृष्ट्वा प्रधावन्तं गदाहस्तं महाबलम्।
सर्वेषामेव सैन्यानां संहर्षः समजायत ॥ २४ ॥

'तदनन्तर गदा हाथमें लिये महाबली भीमसेनको धावा करते देख समस्त सैनिकोंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
भित्त्वा राजन् महाव्यूहं प्रविवेश वृकोदरः ॥ २५ ॥

'राजन्! उस भयंकर एवं तुमुल युद्धमें भीमसेनने इस महाव्यूहका भेदन करके इसके भीतर प्रवेश किया था' ॥

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ॥ २६ ॥

विशोककी यह बात सुनकर महाबली द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उस समराङ्गणमें उनके सारथिसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

न हि मे जीवितेनापि विद्यतेऽद्य प्रयोजनम्।
भीमसेनं रणे हित्वा स्नेहमुत्सृज्य पाण्डवैः ॥ २७ ॥

'सारथे! युद्धस्थलमें भीमसेनको छोड़कर और पाण्डवों-से स्नेह तोड़कर अब मेरे जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २७ ॥

यदि यामि विना भीमं किं मां क्षत्रं वदिष्यति।
एकायनगते भीमे मयि चावस्थिते युधि ॥ २८ ॥

'भीम एकमात्र युद्धके पथपर गये हैं और मैं भी युद्ध-स्थलमें उपस्थित हूँ। ऐसी दशामें यदि भीमसेनके बिना ही लौट जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा? ॥ २८ ॥

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥ २९ ॥

'जो अपने सहायकोंको छोड़कर स्वयं कुशलपूर्वक घरको लौट आता है, उसका इन्द्र आदि देवता अनिष्ट करते हैं ॥

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमांश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ॥ ३० ॥

'महाबली भीम मेरे सखा और सम्बन्धी हैं। वे हम लोगोंके भक्त हैं और मैं भी उन शत्रुसूदन भीमका भक्त हूँ ॥ ३० ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ॥ ३१ ॥

'अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं। देखो जैसे इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शत्रुसेनाका विनाश कर रहा हूँ' ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ॥ ३२ ॥

भारत! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेनके बनाये हुए मार्गोंसे कौरवसेनाके भीतर गये। उन मार्गोंपर गदाके मारे हुए हाथी पड़े थे ॥ ३२ ॥

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम्।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ॥ ३३ ॥

उस समय कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाको दग्ध करते हुए भीमसेनको देखा। जैसे आँधी वृक्षोंको बलपूर्वक तोड़ देती या उखाड़ डालती है, उसी प्रकार भीमसेन भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ते वध्यमानाः समरे रथिनः सादिनस्तथा।
पादाता दन्तिनश्चैव चक्रुरार्तस्वरं महत् ॥ ३४ ॥

समराङ्गणमें भीमसेनके मारे हुए रथी, घुड़सवार, पैदल और सवारोंसहित हाथी बड़े जोरसे आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३४ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे तव सैन्यस्य मारिष।
वध्यतो भीमसेनेन कृतिना चित्रयोधिना ॥ ३५ ॥

आर्य! विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले विद्वान् भीमसेनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥

ततः कृतास्त्रास्ते सर्वे परिवार्य वृकोदरम्।
अभीताः समवर्तन्त शस्त्रवृष्ट्या परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता समस्त कौरव-सैनिक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए बिना किसी भयके उनपर चढ़ आये ॥ ३६ ॥

अभिद्रुतं शस्त्रभृतां वरिष्ठं
समन्ततः पाण्डवं लोकवीरैः ।
सैन्येन घोरेण सुसंहितेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ॥ ३७ ॥
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ।
आश्वासयन् पार्षतो भीमसेनं
गदाहस्तं कालमिवान्तकाले ॥ ३८ ॥

विश्वके विख्यात वीर बलवान् द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने देखा—शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनपर सब ओरसे धावा हो रहा है । अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेनाने उनपर आक्रमण किया है । यह देखकर धृष्टद्युम्न भीमसेनको आश्वासन देते हुए उनके पास गये । उनका प्रत्येक अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था । वे पैदल ही क्रोधरूपी विष उगल रहे थे और गदा हाथमें लिये प्रलयकालके यमराजके समान जान पड़ते थे ॥ ३७-३८ ॥

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा ।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ॥ ३९ ॥

महामना धृष्टद्युम्नने तुरंत ही उन्हें अपने रथपर बिठा लिया और उनके शरीरमें धँसे हुए बाणोंको निकाल दिया । शत्रुओंके बीचमें ही भीमसेनको हृदयसे लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना दी ॥ ३९ ॥

भ्रातॄनथोपेत्य तवापि पुत्र-
स्तस्मिन् विमर्दे महति प्रवृत्ते ।
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ॥ ४० ॥
तं याम सर्वे महता बलेन
मा वो रिपुः प्रार्थयतामनीकम् ।

वह महान् संघर्ष आरम्भ होनेपर आपका पुत्र दुर्योधन भाइयोंके पास आकर बोला—'यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेनसे मिल गया है। हम सबलोग बहुत बड़ी सेनाके साथ इसपर आक्रमण करें, जिससे हमारा और तुम्हारा यह शत्रु हमलोगोंकी इस सेनाको हानि पहुँचानेका विचार न कर सके'।४०½।

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः ॥ ४१ ॥
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ।
प्रगृह्य चास्त्राणि धनूंषि वीरा
ज्यां नेमिघोषैः प्रविकम्पयन्तः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनका यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पुत्र, जो धृष्टद्युम्नका आगमन नहीं सह सके थे, बड़े भाईकी आज्ञासे प्रेरित हो प्रलयकालके भयंकर केतुओंकी भाँति हाथमें आयुध लिये धृष्टद्युम्नके वधके लिये उनपर टूट पड़े । उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण ले रक्खे थे और वे रथके पहियोंकी घरघराहटके साथ-साथ धनुषकी प्रत्यञ्चाको भी कँपाते हुए उसकी टंकार फैला रहे थे ॥४१-४२॥

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः ।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णै-
र्न विव्यथे समरे चित्रयोधी ॥ ४३ ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्रपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे । परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस समराङ्गणमें अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४३ ॥

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे ।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ॥ ४४ ॥

युद्धमें सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रोंको आगे बढ़ते और प्रचण्ड होते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमारने उनके वधके लिये भयंकर प्रमोहनास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४४ ॥

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः ।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ॥ ४५ ॥

राजन् ! जैसे युद्धमें देवराज इन्द्र दैत्योंपर कुपित होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रोंपर धृष्टद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था । उसके मोहनास्त्रके प्रयोगसे अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नरवीर पुत्र रणभूमिमें मोहित हो गये ॥

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात् ।
परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्
मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ॥ ४६ ॥

आपके पुत्रोंको मोहसे युक्त एवं मरे हुएके समान अचेत हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े तथा रथसहित

सब ओर भाग चले ॥ ४६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
द्रुपदं त्रिभिरासाद्य शरैर्विव्याध दारुणैः ॥ ४७ ॥

इसी समय दूसरी ओर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने द्रुपदके पास जाकर उनको तीन भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला॥

सोऽतिविद्धस्ततो राजन् रणे द्रोणेन पार्थिवः ।
अपायाद् द्रुपदो राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ४८ ॥

राजन्! तब रणभूमिमें द्रोणके द्वारा अत्यन्त घायल हो राजा द्रुपद पहलेके वैरका स्मरण करते हुए वहाँसे दूर हट गये ॥ ४८ ॥

जित्वा तु द्रुपदं द्रोणः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।
तस्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा वित्रेसुः सर्वसोमकाः ॥ ४९ ॥

द्रुपदको जीतकर प्रतापी द्रोणाचार्यने अपना शङ्ख बजाया । उस शङ्खनादको सुनकर समस्त सोमक क्षत्रिय अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४९ ॥

अथ शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
प्रमोहनास्त्रेण रणे मोहितानात्मजांस्तव ॥ ५० ॥

तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्यने सुना कि आपके पुत्र रणभूमिमें प्रमोहनास्त्रसे मोहित होकर पड़े हैं ॥ ५० ॥

ततो द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात्।
तत्रापश्यन्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
धृष्टद्युम्नं च भीमं च विचरन्तौ महारणे।
मोहाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ॥ ५२ ॥

महाराज ! यह सुनते ही महाधनुर्धर प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य तुरंत उस युद्धस्थलसे चलकर वहाँ आ पहुँचे । आकर उन महारथीने देखा कि धृष्टद्युम्न और भीमसेन उस महायुद्धमें विचर रहे हैं और आपके पुत्र मोहाविष्ट होकर पड़े हुए हैं ॥ ५१-५२ ॥

ततः प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।
अथ प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ॥ ५३ ॥

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्रका नाश कर दिया । इससे आपके महारथी पुत्रोंमें पुनः चेतनाशक्ति लौट आयी ॥ ५३ ॥

पुनर्युद्धाय समरे प्रययुर्भीमपार्षतौ ।
ततो युधिष्ठिरः प्राह समाहूय स्वसैनिकान् ॥ ५४ ॥
गच्छन्तु पदवीं शक्त्या भीमपार्षतयोर्युधि ।
सौभद्रप्रमुखा वीरा रथा द्वादश दंशिताः ॥ ५५ ॥
प्रवृत्तिमधिगच्छन्तु न हि शुद्ध्यति मे मनः ।

वे समरभूमिमें पुनः युद्धके लिये भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चले । तब राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग पूरी शक्ति लगाकर युद्धस्थलमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पथका अनुसरण करो । अभिमन्यु आदि बारह वीर महारथी कवच आदिसे सुसज्जित हो भीमसेन और धृष्टद्युम्नका समाचार प्राप्त करें । मेरा मन उनके विषयमें निश्चिन्त नहीं हो रहा है' ॥ ५४-५५½ ॥

त एवं समनुज्ञाताः शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ५६ ॥
बाढमित्येवमुक्त्वा तु सर्वे पुरुषमानिनः ।
मध्यन्दिनगते सूर्ये प्रययुः सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरकी ऐसी आज्ञा पाकर पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले वे पुरुषमानी समस्त शूरवीर 'बहुत अच्छा' कहकर दोपहर होते-होते वहाँसे चल दिये ॥ ५६-५७ ॥

केकया द्रौपदेयाश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य महत्या सेनया वृताः ॥ ५८ ॥
ते कृत्वा समरव्यूहं सूचीमुखमरिंदमाः ।
विभिदुर्धार्तराष्ट्राणां तद् रथानीकमाहवे ॥ ५९ ॥

अभिमन्युको आगे करके विशाल सेनासे घिरे हुए पाँच केकयराजकुमार, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु—ये शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर आपके पुत्रोंकी उस सेनाको रणक्षेत्रमें विदीर्ण करने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तान् प्रयातान् महेष्वासानभिमन्युपुरोगमान् ।
भीमसेनभयाविष्टा धृष्टद्युम्नविमोहिता ॥ ६० ॥
न संवारयितुं शक्ता तव सेना जनाधिप ।
मदमूर्च्छान्वितात्मा वै प्रमदेवाध्वनि स्थिता ॥ ६१ ॥

जनेश्वर ! आपकी सेना भीमसेनके भयसे व्याकुल और धृष्टद्युम्नके बाणोंसे मोहित हो रही थी । अतः आक्रमण करनेवाले अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर वीरोंको वह रोकनेमें समर्थ न हो सकी । मद और मूर्छाके वशीभूत हुई मतवाली स्त्रीकी भाँति वह मार्गमें चुपचाप खड़ी रही ॥ ६०-६१ ॥

तेऽभिजाता महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
परीप्सन्तोऽभ्यधावन्त धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ॥ ६२ ॥

सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे महाधनुर्धर कुलीन योद्धा धृष्टद्युम्न और भीमसेनकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े ॥ ६२ ॥

तौ च दृष्ट्वा महेष्वासावभिमन्युपुरोगमान् ।
बभूवतुर्मुदा युक्तौ निघ्नन्तौ तव वाहिनीम् ॥ ६३ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न और भीमसेन भी अभिमन्यु आदि वीरोंको सहायताके लिये आते देख हर्ष और उत्साहमें भर गये और आपकी सेनाका विनाश करने लगे ॥ ६३ ॥

(द्रोणमिष्वस्त्रकुशलं सर्वविद्यासु पारगम् ।)
दृष्ट्वा तु सहसाऽऽयान्तं पाञ्चाल्यो गुरुमात्मनः ।
नाशंसत वधं वीरः पुत्राणां तव भारत ॥ ६४ ॥

भारत! पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने धनुर्वेदमें कुशल और समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् अपने गुरु द्रोणाचार्यको सहसा वहाँ आये देख आपके पुत्रोंके वधकी इच्छा छोड़ दी ॥६४॥

ततो रथं समारोप्य कैकेयस्य वृकोदरम् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो द्रोणमिष्वस्त्रपारगम् ॥ ६५ ॥

फिर भीमसेनको केकयके रथपर बिठाकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नने अस्त्रविद्याके पारगामी विद्वान् द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ६५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
क्रुद्धश्चिच्छेद बाणेन धनुः शत्रुनिबर्हणः ॥ ६६ ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्यने कुपित होकर अपनी ओर आनेवाले धृष्टद्युम्नके धनुषको एक बाणसे तुरंत काट दिया ॥ ६६ ॥

अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते ।
दुर्योधनहितार्थाय भर्तृपिण्डमनुस्मरन् ॥ ६७ ॥

उसके बाद दुर्योधनके हितके लिये स्वामीके अन्नका विचार करते हुए धृष्टद्युम्नपर और भी सैकड़ों बाण चलाये ॥

अथान्यद् धनुरादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः॥ ६८॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सोनेकी पाँखवाले बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ ६८ ॥

तस्य द्रोणः पुनश्चापं चिच्छेदामित्रकर्शनः ।
हयांश्च चतुरस्तूर्णं चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ६९ ॥
वैवस्वतक्षयं घोरं प्रेषयामास भारत ।
सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ७० ॥

तब शत्रुसूदन द्रोणने पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और चार उत्तम सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको तुरंत ही भयानक यमलोकको भेज दिया। भारत ! फिर एक भल्लके द्वारा उनके सारथिको भी मृत्युके हवाले कर दिया ॥६९-७०॥

हताश्वात् स रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
आरुरोह महाबाहुरभिमन्योर्महारथम् ॥ ७१ ॥

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न तुरंत उस रथसे कूद पड़े और अभिमन्युके विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ७१ ॥

ततः सरथनागाश्वा समकम्पत वाहिनी ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्षतस्य च पश्यतः ॥ ७२ ॥

तदनन्तर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके देखते-देखते रथ, हाथी और घुड़सवारोंसहित सारी पाण्डव-सेना काँपने लगी ॥

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेनामिततेजसा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समस्तास्ते महारथाः ॥ ७३ ॥

अमित तेजस्वी आचार्य द्रोणके द्वारा अपनी सेनाका व्यूह भंग हुआ देख वे सम्पूर्ण महारथी प्रयत्न करनेपर भी उसे रोकनेमें सफल न हो सके ॥ ७३ ॥

वध्यमानं तु तत् सैन्यं द्रोणेन निशितैः शरैः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव क्षोभ्यमाण इवार्णवः ॥ ७४ ॥

द्रोणाचार्यके पैने बाणोंसे पीड़ित हुई वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान वहीं चक्कर काटने लगी ॥ ७४ ॥

तथा दृष्ट्वा च तत्सैन्यं जहृषे तावकं बलम् ।
दृष्ट्वाऽऽचार्यं सुसंक्रुद्धं पतन्तं रिपुवाहिनीम् ।
चुक्रुशुः सर्वतो योधाः साधु साध्विति भारत॥ ७५॥

द्रोणाचार्यको अत्यन्त कुपित होकर शत्रुसेनापर टूटते और पाण्डव-सेनाको भागते देख आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ । भारत ! आपके सभी योद्धा सब ओरसे द्रोणाचार्यको साधुवाद देने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे द्रोणपराक्रमे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धमें द्रोणपराक्रमविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ७९½ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा मोहात् प्रत्यागतस्तदा ।
शरवर्षैः पुनर्भीमं प्रत्यवारयदच्युतम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर (मोहनास्त्रजनित) मोहसे जगनेपर राजा दुर्योधनने युद्धभूमिसे पीछे न हटनेवाले भीमसेनको पुनः बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ॥

एकीभूतास्ततश्चैव तव पुत्रा महारथाः।
समेत्य समरे भीमं योधयामासुरुद्यताः॥ २॥

फिर आपके सभी महारथी पुत्र समरभूमिमें एकत्र होकर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे॥ २॥

भीमसेनोऽपि समरे सम्प्राप्य स्वरथं पुनः।
समारुह्य महाबाहुर्ययौ येन तवात्मजः॥ ३॥

महाबाहु भीमसेन भी समरभूमिमें पुनः अपने रथपर सवार हो उधर ही चल दिये, जिस मार्गसे आपका पुत्र दुर्योधन गया था॥ ३॥

प्रगृह्य च महावेगं परासुकरणं दृढम्।
सज्जं शरासनं संख्ये शरैर्विव्याध ते सुतम्॥ ४॥

उन्होंने युद्धस्थलमें मृत्युकी प्राप्ति करानेवाले महान् वेगशाली सुदृढ़ धनुषको लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और अनेक बाणोंद्वारा आपके पुत्रको घायल कर दिया॥ ४॥

ततो दुर्योधनो राजा भीमसेनं महाबलम्।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं मर्मण्यताडयत्॥ ५॥

तब राजा दुर्योधनने महाबली भीमसेनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी॥ ५॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तव पुत्रेण धन्विना।
क्रोधसंरक्तनयनो वेगेनाक्षिप्य कार्मुकम्॥ ६॥
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत्।
स तत्र शुशुभे राजा शिखरैर्गिरिराडिव॥ ७॥

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो महाधनुर्धर भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके वेगपूर्वक धनुषको खींचा और तीन बाणोंसे दुर्योधनकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें चोट पहुँचायी। उन बाणोंद्वारा राजा दुर्योधन तीन शिखरोंसे युक्त गिरिराजकी भाँति शोभा पाने लगा॥ ६-७॥

तौ दृष्ट्वा समरे क्रुद्धौ विनिघ्नन्तौ परस्परम्।
दुर्योधनानुजाः सर्वे शूराः संत्यक्तजीविताः॥ ८॥
संस्मृत्य मन्त्रितं पूर्वं निग्रहे भीमकर्मणः।
निश्चयं परमं कृत्वा निग्रहीतुं प्रचक्रमुः॥ ९॥

क्रोधमें भरे हुए इन दोनों वीरोंको समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करते देख दुर्योधनके सभी शूरवीर छोटे भाई प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनको जीवित पकड़नेके विषयमें की हुई पहली सलाहको याद करके एक दृढ़ निश्चयपर पहुँचकर उन्हें पकड़नेका उद्योग करने लगे॥ ८-९॥

तानापतत एवाजौ भीमसेनो महाबलः।
प्रत्युद्ययौ महाराज गजः प्रतिगजानिव॥ १०॥

महाराज! उन्हें युद्धमें आक्रमण करते देख जैसे हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार महाबली भीमसेन उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़े॥ १०॥

भृशं क्रुद्धश्च तेजस्वी नाराचेन समार्पयत्।
चित्रसेनं महाराज तव पुत्रं महायशाः॥ ११॥

नरेश्वर! महायशस्वी और तेजस्वी भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने आपके पुत्र चित्रसेनपर एक नाराचके द्वारा प्रहार किया॥ ११॥

तथेतरांस्तव सुतांस्ताडयामास भारत।
शरैर्बहुविधैः संख्ये रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः॥ १२॥

भारत! इसी प्रकार रणभूमिमें सोनेकी पाँखवाले अत्यन्त तीखे और बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्होंने आपके अन्य पुत्रोंको भी पीड़ित किया॥ १२॥

ततः संस्थाप्य समरे तान्यनीकानि सर्वशः।
अभिमन्युप्रभृतयस्ते द्वादश महारथाः॥ १३॥
प्रेषिता धर्मराजेन भीमसेनपदानुगाः।
प्रतिजग्मुर्महाराज तव पुत्रान् महाबलान्॥ १४॥

महाराज! तत्पश्चात् अपनी सेनाओंको सब प्रकारसे समरभूमिमें स्थापित करके भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले उन अभिमन्यु आदि बारह महारथियोंने, जिन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने भेजा था, आपके महाबली पुत्रोंपर धावा किया॥

दृष्ट्वा रथस्थांस्ताञ्शूरान् सूर्याग्निसमतेजसः।
सर्वानेव महेष्वासान् भ्राजमानाञ्श्रिया वृतान्॥ १५॥
महाहवे दीप्यमानान् सुवर्णमुकुटोज्ज्वलान्।
तत्यजुः समरे भीमं तव पुत्रा महाबलाः॥ १६॥

वे सब-के-सब रथपर बैठे हुए शूरवीर, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, महाधनुर्धर, उत्तम शोभासे प्रकाशमान, सुवर्णमय मुकुटसे जगमग प्रतीत होनेवाले और अत्यन्त कान्तिमान् थे। उस महासमरमें उन्हें आते देखकर आपके महाबली पुत्र भीमसेनको छोड़कर वहाँसे दूर हट गये॥

तान् नामृष्यत कौन्तेयो जीवमाना गता इति।
अन्वीय च पुनः सर्वांस्तव पुत्रानपीडयत्॥ १७॥

परंतु वे जीवित लौट गये; यह बात भीमसेनसे नहीं सही गयी। उन्होंने पुनः आपके उन सब पुत्रोंका पीछा करके उन्हें अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया॥ १७॥

अथाभिमन्युं समरे भीमसेनेन संगतम्।
पार्षतेन च सम्प्रेक्ष्य तव सैन्ये महारथाः॥ १८॥
दुर्योधनप्रभृतयः प्रगृहीतशरासनाः।
भृशमश्वैः प्रजवितैः प्रययुर्यत्र ते रथाः॥ १९॥

इधर, उस समरभूमिमें अभिमन्युको भीमसेन तथा

धृष्टद्युम्नसे मिला हुआ देख आपकी सेनाके दुर्योधन आदि महारथी हाथोंमें धनुष लिये अत्यन्त वेगशाली अश्वोंद्वारा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे बारह पाण्डव-पक्षीय महारथी विद्यमान थे ॥ १८-१९ ॥

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः ।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ॥ २० ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! तब अपराह्णकालमें आपके और पाण्डव-पक्षके अत्यन्त बलवान् योद्धाओंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २० ॥

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २१ ॥

अभिमन्युने उस महायुद्धमें विकर्णके घोड़ोंको मारकर स्वयं विकर्णको भी पचीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २१ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य विकर्णस्तु महारथः ।
आरुरोह रथं राजंश्चित्रसेनस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतवंशी नरेश ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी विकर्ण अपना रथ छोड़कर चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ २२ ॥

स्थितावेकरथे तौ तु भ्रातरौ कुलवर्धनौ ।
आर्जुनिः शरजालेन च्छादयामास भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युने एक रथपर बैठे हुए उन दोनों वंशवर्धक भ्राताओंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित कर दिया ॥ २३ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च कार्ष्णिं पञ्चभिरायसैः ।
विव्याध तेन चाकम्पत् कार्ष्णिर्मेरुरिव स्थितः॥ २४ ॥

चित्रसेन और विकर्णने भी लोहेके पाँच बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला । उस आघातसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु विचलित नहीं हुआ । मेरु पर्वतकी भाँति अडिग खड़ा रहा ॥ २४ ॥

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष ।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

आर्य ! राजेन्द्र ! दुःशासनने अकेले ही समरभूमिमें पाँच केकयराजकुमारोंके साथ युद्ध किया । वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २५ ॥

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन् ।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! युद्धमें कुपित हुए द्रौपदीके पाँच पुत्रोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले भयंकर बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २६ ॥

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे ।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

राजन् ! तब आपके दुर्धर्ष पुत्रने भी तीखे सायकोंद्वारा रणभूमिमें द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंपर पृथक्-पृथक् प्रहार किया॥

तैश्चापि विद्धः शुशुभे रुधिरेण समुक्षितः ।
गिरिः प्रस्रवणैर्यद्वद् गैरिकादिविमिश्रितैः ॥ २८ ॥

फिर उनके द्वारा भी अत्यन्त घायल किये जानेपर आपका पुत्र रक्तसे नहा उठा और गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरनोंके जलसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पाने लगा॥

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम्।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर बलवान् भीष्म भी संग्रामभूमिमें पाण्डवसेनाको उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे चरवाहा पशुओंको हाँकता है ॥ २९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर शत्रुओंका संहार करते हुए अर्जुन-के गाण्डीव धनुषका घोष सेनाके दक्षिण भागसे प्रकट हुआ॥

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः ।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! वहाँ समरमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंमें चारों ओर कबन्ध उठने लगे ॥ ३१ ॥

शोणितोदं शरावर्तं गजद्वीपं हयोर्मिणम् ।
रथनौभिर्नरव्याघ्राः प्रतेरुः सैन्यसागरम् ॥ ३२ ॥

वह सेना एक समुद्रके समान थी । रक्त ही वहाँ जलके समान था । बाणोंकी भँवर उठती थी । हाथी द्वीपके समान जान पड़ते थे और घोड़े तरंगकी शोभा धारण करते थे । रथरूपी नौकाओंके द्वारा नरश्रेष्ठ वीर उस सैन्यसागरको पार करते थे ॥ ३२ ॥

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः ।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३३ ॥

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ धरतीपर पड़े दिखायी देते थे । उनमेंसे कितनोंके हाथ कट गये थे; कितने ही कवचहीन हो रहे थे और बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ३३ ॥

निहतैर्मत्तमातङ्गैः शोणितौघपरिप्लुतैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ पर्वतैराचिता यथा ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मरकर गिरे हुए मतवाले हाथी खूनसे लथपथ हो रहे थे । उनसे ढकी हुई वहाँकी भूमि पर्वतोंसे व्याप्त-सी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव तेषां च भारत ।
न तत्रासीत् पुमान् कश्चिद् यो युद्धं नाभिकाङ्क्षति॥ ३५॥

भारत ! हमने वहाँ आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंका अद्भुत उत्साह देखा । वहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो युद्ध न चाहता हो ॥ ३५ ॥

एवं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः ।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्क्षन्तो जयं युधि ॥ ३६ ॥

इस प्रकार महान् यशकी अभिलाषा रखते और युद्धमें विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल युद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
संग्रामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर जब सूर्यदेव-पर संध्याकी लाली छाने लगी, उस समय संग्रामके लिये उत्साह रखनेवाले राजा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ १ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम् ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने पक्के बैरी नरवीर दुर्योधनको आते देख भीम-सेनका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे यह वचन बोले—॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः ।
अद्य त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥ ३ ॥

'दुर्योधन ! मैं बहुत वर्षोंसे जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, वही यह अवसर आज प्राप्त हुआ है । यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज तुझे अवश्य मार डालूँगा ॥ ३ ॥

अद्य कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ॥ ४ ॥

'माता कुन्तीको जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने वनवासका जो कष्ट भोगा है और सभामें द्रौपदीको जो अपमानका दुःख सहन करना पड़ा है, उन सबका बदला आज मैं तेरे मारे जानेपर चुका लूँगा ॥ ४ ॥

यत् पुरा मत्सरी भूत्वा पाण्डवानवमन्यसे ।
तस्य पापस्य गान्धारे पश्य व्यसनमागतम् ॥ ५ ॥

'गान्धारीपुत्र ! पूर्वकालमें डाह रखकर तू जो हम पाण्डवोंका तिरस्कार करता आया है, उसी पापके फल-स्वरूप यह संकट तेरे ऊपर आया है । तू आँख खोलकर देख ले ॥ ५ ॥

कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च यत् पुरा ।
अचिन्त्य पाण्डवान् कामाद् यथेष्टं कृतवानसि ॥ ६ ॥
याचमानं च यन्मोहाद् दाशार्हमवमन्यसे ।
उलूकस्य समादेशं यद् ददासि च हृष्टवत् ॥ ७ ॥
तेन त्वां निहनिष्यामि सानुबन्धं सबान्धवम् ।
समीकरिष्ये तत् पापं यत् पुरा कृतवानसि ॥ ८ ॥

'पहले कर्ण और शकुनिके बहकावेमें आकर पाण्डवोंको कुछ भी न गिनते हुए जो तूने इच्छानुसार मनमाना बर्ताव किया है, भगवान् श्रीकृष्ण संधिके लिये प्रार्थना करने आये थे, परंतु तूने मोहवश जो उनका भी तिरस्कार किया और बड़े हर्षमें भरकर उलूकके द्वारा जो तूने यह संदेश दिया था कि तुम मुझे और मेरे भाइयोंको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, उसके अनुसार तुझे भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियों-सहित अवश्य मार डालूँगा । पहले तूने जो-जो पाप किये हैं, उन सबका बदला चुकाकर बराबर कर दूँगा' ॥ ६—८ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत् ।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने भयंकर धनुषको बारंबार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्रके समान तेजस्वी भयंकर बाणोंको उसके ऊपर रक्खा ॥ ९ ॥

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने ।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान् ॥ १० ॥

वे सीधे जानेवाले बाण वज्र तथा प्रज्वलित आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे । उनकी संख्या छब्बीस थी । कुपित हुए भीमसेनने उन सबको शीघ्रतापूर्वक दुर्योधनपर छोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे ।
चतुर्भिरश्वाञ्जवनाननयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने दो बाणोंसे दुर्योधनका धनुष काट दिया, दोसे उसके सारथिको पीड़ित किया और चार

बाणोंसे उसके वेगशाली घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ॥ ११ ॥

द्वाभ्यां च सुविकृष्टाभ्यां शराभ्यामरिमर्दनः ।
छत्रं चिच्छेद समरे राज्ञस्तस्य नरोत्तम ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर शत्रुमर्दन भीमने धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए दो बाणोंद्वारा समरभूमिमें राजा दुर्योधनके छत्रको काट दिया ॥ १२ ॥

षड्भिश्च तस्य चिच्छेद ज्वलन्तं ध्वजमुत्तमम् ।
छित्त्वा तं च ननादोच्चैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

इसके बाद अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उसके उत्तम ध्वजको छः बाणोंसे खण्डित कर दिया । आपके पुत्रके देखते-देखते उस ध्वजको काटकर भीमसेन उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

रथाच्च स ध्वजः श्रीमान् नानारत्नविभूषितात् ।
पपात सहसा भूमौ विद्युज्जलधरादिव ॥ १४ ॥

दुर्योधनके नाना रत्नविभूषित रथसे वह शोभाशाली ध्वज सहसा कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघोंकी घटासे भूमिपर बिजली गिरी हो ॥ १४ ॥

ज्वलन्तं सूर्यसंकाशं नागं मणिमयं शुभम् ।
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ॥ १५ ॥

कुरुराज दुर्योधनके उस सूर्यके समान प्रज्वलित नाग-चिह्नित मणिमय सुन्दर ध्वजको कटकर गिरते समय समस्त राजाओंने देखा ॥ १५ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ॥ १६ ॥

इसके बाद महारथी भीमने मुसकराते हुए-से रणभूमिमें वीरवर दुर्योधनको दस बाणोंसे उसी तरह घायल किया, जैसे महावत अङ्कुशोंसे महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥

ततः स राजा सिन्धूनां रथश्रेष्ठो महारथः ।
दुर्योधनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ सिन्धुराज महारथी जयद्रथने कुछ सत्पुरुषोंके साथ आकर दुर्योधनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १७ ॥

कृपश्च रथिनां श्रेष्ठः कौरव्यममितौजसम् ।
आरोपयद् रथं राजन् दुर्योधनममर्षणम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने अमर्षमें भरे हुए अमित तेजस्वी कुरुवंशी दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे ।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! भीमसेनने उस युद्धमें दुर्योधनको बहुत घायल कर दिया था । अतः उस समय वह व्यथासे व्याकुल होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ १९ ॥

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः ।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् जयद्रथने भीमसेनको जीतनेकी इच्छा रखकर कई हजार रथोंके द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ॥ २० ॥

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान् ।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ॥ २१ ॥

महाराज ! इसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु, पाँच केकयराजकुमार तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २१ ॥

चित्रसेनः सुचित्रश्च चित्राङ्गश्चित्रदर्शनः ।
चारुचित्रः सुचारुश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ २२ ॥
अष्टावेते महेष्वासाः सुकुमारा यशस्विनः ।
अभिमन्युरथं राजन् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

उस युद्धमें चित्रसेन, सुचित्र, चित्राङ्ग, चित्रदर्शन, चारुचित्र, सुचारु, नन्द और उपनन्द—इन आठ यशस्वी सुकुमार एवं महाधनुर्धर वीरोंने अभिमन्युके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २२-२३ ॥

आजघान ततस्तूर्णमभिमन्युर्महामनाः ।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः शितैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उस समय महामना अभिमन्युने तुरंत ही झुकी हुई गाँठवाले पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा प्रत्येकको बींध डाला ॥

वज्रमृत्युप्रतीकाशैर्विचित्रायुधनिःसृतैः ।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सौभद्रं रथसत्तमम् ॥ २५ ॥
ववृषुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेरुमिवाम्बुदाः ।

वे सभी बाण विचित्र धनुषद्वारा छोड़े गये थे और सब-के-सब वज्र एवं मृत्युके तुल्य भयंकर थे । उन बाणोंके आघातको आपके पुत्र सहन न कर सके । उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ सुभद्राकुमार अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, मानो बादल मेरुगिरिपर जलकी वर्षा कर रहे हों ॥ २५½ ॥

स पीड्यमानः समरे कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ॥ २६ ॥
अभिमन्युर्महाराज तावकान् समकम्पयत् ।
यथा देवासुरे युद्धे वज्रपाणिर्महासुरान् ॥ २७ ॥

महाराज ! अभिमन्यु अस्त्रविद्याका ज्ञाता और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है । उसने समरभूमिमें बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी आपके सैनिकोंमें कँपकँपी उत्पन्न कर

भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन

दी । ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें वज्रधारी इन्द्र-ने बड़े-बड़े असुरोंको भयसे पीड़ित कर दिया था २६-२७

विकर्णस्य ततो भल्लान् प्रेषयामास भारत ।
चतुर्दश रथश्रेष्ठो घोरानाशीविषोपमान् ॥ २८ ॥
स तैर्विकर्णस्य रथात् पातयामास वीर्यवान् ।
ध्वजं सूतं हयांश्चैव नृत्यमान इवाहवे ॥ २९ ॥

भारत ! तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी अभिमन्युने विकर्णके ऊपर सर्पके समान आकारवाले चौदह भयंकर भल्ल चलाये और उनके द्वारा विकर्णके रथसे ध्वज, सारथि और घोड़ोंको मार गिराया । उस समय वह युद्धमें नृत्य-सा कर रहा था ॥ २८-२९ ॥

पुनश्चान्याञ्शरान् पीतानकुण्ठाग्राञ्शिलाशितान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो विकर्णाय महाबलः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित हो शान-पर चढ़ाकर तेज किये हुए अप्रतिहत धारवाले दूसरे पानी-दार बाण विकर्णपर चलाये ॥ ३० ॥

ते विकर्णं समासाद्य कङ्कबर्हिणवाससः ।
भित्त्वा देहं गता भूमिं ज्वलन्त इव पन्नगाः ॥ ३१ ॥

उन बाणोंके पुच्छभागमें मोरके पंख लगे हुए थे । वे विकर्णके शरीरको विदीर्ण करके भीतर घुस गये और वहाँसे भी निकलकर प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

ते शरा हेमपुङ्खाग्रा व्यदृश्यन्त महीतले ।
विकर्णरुधिरक्लिन्ना वमन्त इव शोणितम् ॥ ३२ ॥

उन बाणोंके पुच्छ और अग्रभाग सुनहरे थे । वे विकर्ण-के रुधिरमें भीगे हुए बाण पृथ्वीपर रक्त वमन करते हुए-से दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३२ ॥

विकर्णं वीक्ष्य निर्भिन्नं तस्यैवान्ये सहोदराः ।
अभ्यद्रवन्त समरे सौभद्रप्रमुखान् रथान् ॥ ३३ ॥

विकर्णको क्षत-विक्षत हुआ देख उसके दूसरे भाइयोंने समरभूमिमें अभिमन्यु आदि रथियोंपर धावा किया ॥ ३३ ॥

अभियात्वा तथैवान्यान् रथांस्तान् सूर्यवर्चसः ।
अविध्यन् समरेऽन्योन्यं संरम्भाद् युद्धदुर्मदाः ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे । उन्होंने दूसरे-दूसरे रथियोंपर भी, जो अभिमन्युकी ही भाँति सूर्यके समान तेजस्वी थे, आक्रमण किया । फिर वे सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ३४ ॥

दुर्मुखः श्रुतकर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद सारथिं चास्य सप्तभिः ॥ ३५ ॥

दुर्मुखने श्रुतकर्माको सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा बींधकर एकसे उसका ध्वज काट डाला और सात बाणोंसे उसके सारथिको घायल कर दिया ॥ ३५ ॥

अश्वाञ्जाम्बूनदैर्जालैः प्रच्छन्नान् वातरंहसः ।
जघान षड्भिरासाद्य सारथिं चाभ्यपातयत् ॥ ३६ ॥

उसके घोड़े वायुके समान वेगशाली तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित थे । दुर्मुखने उन घोड़ोंको छः बाणोंसे मार डाला और सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३६ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठञ्छ्रुतकर्मा महारथः ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धो महोल्कां ज्वलितामिव ॥ ३७ ॥

महारथी श्रुतकर्मा घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़ा रहा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसने दुर्मुखपर प्रज्वलित उल्काके समान एक शक्ति चलायी ॥ ३७ ॥

सा दुर्मुखस्य विमलं वर्म भित्त्वा यशस्विनः ।
विदार्य प्राविशद् भूमिं दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३८ ॥

वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी । उसने यशस्वी दुर्मुखके चमकीले कवचको फाड़ डाला । फिर वह धरतीको चीरती हुई उसमें समा गयी ॥ ३८ ॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र सुतसोमो महारथः ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ३९ ॥

महारथी सुतसोमने अपने भाई श्रुतकर्माको युद्धमें रथहीन हुआ देख समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३९ ॥

श्रुतकीर्तिस्तथा वीरो जयत्सेनं सुतं तव ।
अभ्ययात् समरे राजन् हन्तुकामो यशस्विनम् ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी प्रकार वीरवर श्रुतकीर्तिने युद्धभूमिमें आपके यशस्वी पुत्र जयत्सेनको मार डालनेकी इच्छासे उसपर आक्रमण किया ॥ ४० ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं श्रुतकीर्तेर्महास्वनम् ।
चिच्छेद समरे तूर्णं जयत्सेनः सुतस्तव ॥ ४१ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन प्रहसन्निव भारत ।

भारत ! श्रुतकीर्ति जब बड़े जोर-जोरसे खींचकर अपने विशाल धनुषकी गम्भीर टंकार फैला रहा था, उसी समय रणभूमिमें आपके पुत्र जयत्सेनने हँसते हुए-से एक तीखे क्षुरप्रद्वारा तुरंत उसका धनुष काट दिया ॥ ४१½ ॥

तं दृष्ट्वा छिन्नधन्वानं शतानीकः सहोदरम् ॥ ४२ ॥
अभ्यपद्यत तेजस्वी सिंहवन्निनदन् मुहुः ।

अपने भाईका धनुष कटा हुआ देख तेजस्वी शतानीक बारंबार सिंहके समान गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ४२½

शतानीकस्तु समरे दृढं विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ४३ ॥

विव्याध दशभिस्तूर्णं जयत्सेनं शिलीमुखैः।
ननाद सुमहानादं प्रभिन्न इव वारणः ॥ ४४ ॥

शतानीकने संग्रामभूमिमें अपने धनुषको जोरसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दस बाण मारकर जयत्सेनको घायल कर दिया। फिर उसने मदवर्षी गजराजके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४३-४४ ॥

अथान्येन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना।
शतानीको जयत्सेनं विव्याध हृदये भृशम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेमें समर्थ दूसरे तीक्ष्ण बाणद्वारा शतानीकने जयत्सेनके वक्षःस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने दुष्कर्णो भ्रातुरन्तिके।
चिच्छेद समरे चापं नाकुलेः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४६ ॥

उसके इस प्रकार करनेपर अपने भाईके पास खड़ा हुआ दुष्कर्ण क्रोधसे व्याकुल हो उठा। उसने समरभूमिमें नकुलपुत्र शतानीकका धनुष काट दिया ॥ ४६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय भारसाहमनुत्तमम्।
समादत्त शरान् घोराञ्शतानीको महाबलः॥ ४७ ॥

तब महाबली शतानीकने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा अत्यन्त उत्तम धनुष लेकर उसपर भयंकर बाणोंका अनुसंधान किया ॥ ४७ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति चामन्त्र्य दुष्कर्णं भ्रातुरग्रतः।
मुमोचास्मै शितान् बाणाञ्ज्वलितान् पन्नगानिव॥४८॥

फिर भाईके सामने ही दुष्कर्णसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उसके ऊपर प्रज्वलित सर्पोंके समान तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य धनुरेकेन द्वाभ्यां सूतं च मारिष।
चिच्छेद समरे तूर्णं तं च विव्याध सप्तभिः ॥ ४९ ॥

आर्य ! तदनन्तर एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया, दोसे उसके सारथिको क्षत-विक्षत कर दिया और सात बाणोंसे उस युद्धस्थलमें स्वयं दुष्कर्णको भी तुरंत घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

अश्वान् मनोजवांस्तस्य कर्बुरान् वातरंहसः।
जघान निशितैस्तूर्णं सर्वान् द्वादशभिः शरैः ॥ ५० ॥

दुष्कर्णके घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। उनका रंग चितकबरा था। शतानीकने बारह तीखे बाणोंसे उन सब घोड़ोंको भी तुरंत मार डाला ॥ ५० ॥

अथापरेण भल्लेन सुयुक्तेनाशुपातिना।
दुष्कर्णं सुदृढं क्रुद्धो विव्याध हृदये भृशम् ॥ ५१ ॥
स पपात ततो भूमौ वज्राहत इव द्रुमः।

तत्पश्चात् लक्ष्यको शीघ्र मार गिरानेवाले एक दूसरे भल्ल नामक बाणका उत्तम रीतिसे प्रयोग करके क्रोधमें भरे हुए शतानीकने दुष्कर्णके हृदयमें अत्यन्त गहरा आघात किया। इससे दुष्कर्ण वज्राहत वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५१½ ॥

दुष्कर्णं व्यथितं दृष्ट्वा पञ्च राजन् महारथाः ॥ ५२ ॥
जिघांसन्तः शतानीकं सर्वतः पर्यवारयन्।

राजन् ! दुष्कर्णको आघातसे पीड़ित देख पाँच महारथियोंने शतानीकको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ५२½ ॥

छाद्यमानं शरव्रातैः शतानीकं यशस्विनम् ॥ ५३ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः केकयाः पञ्च सोदराः।

उनके बाणसमूहोंसे यशस्वी शतानीकको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाँच भाई केकयराजकुमारोंने उन पाँचों महारथियोंपर धावा किया ॥ ५३½ ॥

तानभ्यापततः प्रेक्ष्य तव पुत्रा महारथाः ॥ ५४ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज गजानिव महागजाः।

महाराज ! उन्हें आते देख आपके महारथी पुत्र उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, जैसे हाथी दूसरे हाथियोंसे भिड़नेके लिये आगे बढ़ते हैं ॥ ५४½ ॥

दुर्मुखो दुर्जयश्चैव तथा दुर्मर्षणो युवा ॥ ५५ ॥
शत्रुंजयः शत्रुसहः सर्वे क्रुद्धा यशस्विनः।
प्रत्युद्याता महाराज केकयान् भ्रातरः समम् ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! दुर्मुख, दुर्जय, युवा वीर दुर्मर्षण, शत्रुञ्जय तथा शत्रुसह—ये सब-के-सब यशस्वी वीर क्रोधमें भरकर पाँचों भाई केकयोंका सामना करनेके लिये एक साथ आगे बढ़े ॥

रथैर्नगरसंकाशैर्हयैर्युक्तैर्मनोजवैः।
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतैः ॥ ५७ ॥
वरचापधरा वीरा विचित्रकवचध्वजाः।
विविशुस्ते परं सैन्यं सिंहा इव वनाद् वनम् ॥ ५८ ॥

उनके रथ नगरोंके समान प्रतीत होते थे। उनमें मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। नाना प्रकारके रूप-रंगवाली और विचित्र पताकाएँ उन्हें अलंकृत कर रही थीं। ऐसे रथोंपर आरूढ़ सुन्दर धनुष धारण किये विचित्र कवच और ध्वजोंसे सुशोभित उन वीरोंने शत्रुकी सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे सिंह एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं ॥ ५७-५८ ॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ॥ ५९ ॥

फिर तो एक दूसरेपर प्रहार करते हुए उन सभी महा-

रथियोंमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी भिड़ गये ॥ ५९ ॥

अन्योन्यागस्कृतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम्।
मुहूर्तास्तमिते सूर्ये चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ ६० ॥

राजन्! एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महारथियोंका वह युद्ध यमलोककी वृद्धि करनेवाला था। सूर्यास्तके दो घड़ी बादतक उन सब लोगोंने बड़ा भयंकर युद्ध किया॥

रथिनः सादिनश्चाथ व्यकीर्यन्त सहस्रशः।
ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६१ ॥
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम्।
पञ्चालानां च सैन्यानि शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ६२ ॥

उसमें सहस्रों रथी और घुड़सवार प्राणशून्य होकर बिखर गये। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन महामना वीरोंकी सेनाका विनाश कर डाला; पाञ्चालोंकी सेनाकी कितनी ही टुकड़ियोंको अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ ६१-६२ ॥

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम्।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ॥ ६३ ॥

नरेश्वर! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डवसेनाका संहार करके अपनी समस्त सेनाओंको युद्धसे लौटाकर अपने शिबिरको चले गये ॥ ६३ ॥

(नाशयामासतुर्वीरौ धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कौरवाणामनीकानि शरैः संनतपर्वभिः ॥)

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न और भीमसेन—इन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका विनाश कर डाला ॥

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ॥ ६४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनोंसे मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्षके साथ अपने शिबिरको प्रस्थान किया ॥ ६४ ॥

(अर्जुनो वासुदेवश्च कौरवाणामनीकिनीम्।
हत्वा विद्राव्य च शरैः शिबिरायैव जग्मतुः ॥)

अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण भी कौरवसेनाको बाणोंद्वारा मारकर तथा रणभूमिसे भगाकर शिबिरको ही चल दिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसावहारे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरवसेनाका प्रस्थान

संजय उवाच

अथ शूरा महाराज परस्परकृतागसः।
जग्मुः स्वशिबिराण्येव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! आपसमें एक दूसरेको चोट पहुँचानेवाले वे सभी शूरवीर खूनसे लथपथ हो अपने शिबिरोंको ही चले गये ॥ १ ॥

विश्रम्य च यथान्यायं पूजयित्वा परस्परम्।
संनद्धाः समदृश्यन्त भूयो युद्धचिकीर्षया ॥ २ ॥

यथायोग्य विश्राम करके एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए वे लोग पुनः युद्ध करनेकी इच्छासे तैयार दिखायी देने लगे ॥ २ ॥

ततस्तव सुतो राजंश्चिन्तयाभिपरिप्लुतः।
विस्रवच्छोणिताक्ताङ्गः पप्रच्छेदं पितामहम् ॥ ३ ॥

राजन्! तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनने, जिसका शरीर बहते हुए रक्तसे भीगा हुआ था, चिन्तामग्न होकर पितामह भीष्मके पास जाकर इस प्रकार पूछा—॥ ३ ॥

सैन्यानि रौद्राणि भयानकानि
व्यूढानि सम्यग् बहुलध्वजानि।
विदार्य हत्वा च निपीड्य शूरा-
स्ते पाण्डवानां त्वरिता महारथाः॥ ४ ॥

'दादाजी! हमारी सेनाएँ अत्यन्त भयंकर तथा रौद्ररूप धारण करनेवाली हैं। उनकी व्यूहरचना भी अच्छे ढंगसे की जाती है। इन सेनाओंमें ध्वजोंकी संख्या बहुत अधिक है। तथापि शूरवीर पाण्डव महारथी उनमें प्रवेश करके तुरंत हमारे सैनिकोंको विदीर्ण करते, मारते और पीड़ा देकर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

सम्मोह्य सर्वान् युधि कीर्तिमन्तो
व्यूहं च तं मकरं वज्रकल्पम्।

प्रविश्य भीमेन रणे हतोऽस्मि
घोरैः शरैर्मृत्युदण्डप्रकाशैः ॥ ५ ॥

'वे युद्धमें सबको मोहित करके अपनी कीर्तिका विस्तार करते हैं। देखिये न, भीमसेनने वज्रके समान दुर्भेद्य मकर-व्यूहमें प्रवेश करके मृत्युदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा मुझे युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत कर दिया है ॥ ५ ॥

क्रुद्धं तमुद्वीक्ष्य भयेन राजन्
सम्मूर्च्छितो न लभे शान्तिमद्य।
इच्छे प्रसादात् तव सत्यसंध
प्राप्तुं जयं पाण्डवेयांश्च हन्तुम् ॥ ६ ॥

'राजन्! भीमसेनको कुपित देखकर मैं भयसे व्याकुल हो उठता हूँ। आज मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। सत्य-प्रतिज्ञ पितामह! मैं आपकी कृपासे पाण्डवोंको मारना और उनपर विजय पाना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

तेनैवमुक्तः प्रहसन् महात्मा
दुर्योधनं मन्युगतं विदित्वा।
तं प्रत्युवाचाविमना मनस्वी
गङ्गासुतः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ७ ॥

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर और उसे क्रोधमें भरा हुआ जानकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ मनस्वी महात्मा गङ्गानन्दन भीष्मने जोर-जोरसे हँसते हुए प्रसन्न मनसे उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७ ॥

परेण यत्नेन विगाह्य सेनां
सर्वात्मनाहं तव राजपुत्र।
इच्छामि दातुं विजयं सुखं च
न चात्मानं छादयेऽहं त्वदर्थे ॥ ८ ॥

'राजकुमार! मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर महान् प्रयत्नके साथ पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके तुम्हें विजय और सुख देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिये अपने आपको छिपाकर नहीं रखता हूँ ॥ ८ ॥

एते तु रौद्रा बहवो महारथा
यशस्विनः शूरतमाः कृतास्त्राः।
ये पाण्डवानां समरे सहाया
जितक्लमा रोषविषं वमन्ति ॥ ९ ॥

'जो समरभूमिमें पाण्डवोंके सहायक हुए हैं, उनमें बहुत-से ये महारथी वीर अत्यन्त भयंकर, परम शौर्यसम्पन्न, शस्त्रविद्याके विद्वान् तथा यशस्वी हैं। इन्होंने थकावटको जीत लिया है और ये हमलोगोंपर रोषरूपी विष उगल रहे हैं ॥ ९ ॥

ते नैव शक्याः सहसा विजेतुं
वीर्योद्धताः कृतवैरास्त्वया च।
अहं सेनां प्रतियोत्स्यामि राजन्
सर्वात्मना जीवितं त्यज्य वीर ॥ १० ॥

'ये बल-पराक्रममें प्रचण्ड और तुम्हारे साथ वैर बाँधे हुए हैं। इन्हें सहसा पराजित नहीं किया जा सकता है। राजन्! वीरवर! मैं सम्पूर्ण शरीरसे अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा ॥ १० ॥

रणे तवार्थाय महानुभाव
न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य।
सर्वांस्तवार्थाय सदेवदैत्यान्
घोरान् दहेयं किमु शत्रुसेनाम् ॥ ११ ॥

'महानुभाव! तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये अब युद्धमें मुझे अपने जीवनकी रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ती है। मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताओं-सहित समस्त भयंकर दैत्योंको भी दग्ध कर सकता हूँ; फिर शत्रुओंकी सेनाकी तो बात ही क्या है? ॥ ११ ॥

तान् पाण्डवान् योधयिष्यामि राजन्
प्रियं च ते सर्वमहं करिष्ये।
श्रुत्वैव चैतद् वचनं तदानीं
दुर्योधनः प्रीतमना बभूव ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं उन पाण्डवोंसे भी युद्ध करूँगा और तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य सिद्ध करूँगा।' उस समय भीष्मजीकी यह बात सुनते ही दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया ॥ १२ ॥

सर्वाणि सैन्यानि ततः प्रहृष्टो
निर्गच्छतेत्याह नृपांश्च सर्वान्।
तदाज्ञया तानि विनिर्ययुर्द्रुतं
गजाश्वपादातरथायुतानि ॥ १३ ॥

तदनन्तर दुर्योधनने हर्षमें भरकर सम्पूर्ण राजाओं तथा सारी सेनाओंसे कहा—'युद्धके लिये निकलो।' राजा दुर्योधनकी आज्ञा पाकर सहस्रों हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथोंसे भरी हुई वे सारी सेनाएँ तुरंत रणके लिये प्रस्थित हुईं ॥ १३ ॥

प्रहर्षयुक्तानि तु तानि राजन्
महान्ति नानाविधशस्त्रवन्ति ।
स्थितानि नागाश्वपदातिमन्ति
विरेजुराजौ तव राजन् बलानि ॥ १४ ॥

महाराज ! आपकी वे विशाल सेनाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरी हुई थीं । राजन् ! घोड़े, हाथी और पैदलोंसे युक्त हो रणभूमिमें खड़ी हुई उन सेनाओंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १४ ॥

शस्त्रास्त्रविद्भिर्नरवीरयोधै-
रधिष्ठिताः सैन्यगणास्त्वदीयाः ।
रथौघपादातगजाश्वसंघैः
प्रयाद्भिराजौ विधिवत् प्रणुन्नैः ॥ १५ ॥
समुद्धतं वै तरुणार्कवर्णं
रजो बभौ च्छादयन् सूर्यरश्मीन् ।
रेजुः पताका रथदन्तिसंस्था
वातेरिता भ्राम्यमाणाः समन्तात् ॥ १६ ॥

आपकी सेनाओंके सेनापति अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता एवं नरवीर योद्धा थे । उनसे विधिपूर्वक अनुशासित हो रथसमूह, पैदल, हाथी और घोड़ोंके समुदाय जब युद्धभूमिमें जाने लगे, तब उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सूर्यकी किरणोंको आच्छादित करके प्रातःकालिक सूर्यकी प्रभाके समान कान्तिमती प्रतीत होने लगी । रथों और हाथियोंपर खड़ी की हुई पताकाएँ चारों ओर वायुकी प्रेरणासे फहराती हुई बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ १५-१६ ॥

नानारङ्गाः समरे तत्र राजन्
मेघैर्युता विद्युतः खे यथैव ।
धनुर्भिः स्थिताश्चापि सुसम्प्रयुक्ता-
श्चकाशिरे दन्तिगणाः समन्तात् ॥ १७ ॥

राजन् ! जैसे आकाशमें बादलोंके साथ बिजलियाँ चमक रही हों, उसी प्रकार उस समराङ्गणमें चारों ओर अनेक रंगोंके दन्तार हाथी झुंडके झुंड खड़े हुए शोभा पा रहे थे । उनका संचालन सुन्दर ढंगसे हो रहा था ॥ १७ ॥

धनूंषि विस्फारयतां नृपाणां
बभूव शब्दस्तुमुलोऽतिघोरः ।
विमथ्यतो देवमहासुरौघै-
र्यथार्णवस्यादियुगे तदानीम् ॥ १८ ॥

जैसे आदियुगमें देवताओं और दैत्योंके समूहद्वारा समुद्रके मथे जाते समय अत्यन्त घोर शब्द होता था, उसी प्रकार उस समय युद्धस्थलमें अपने धनुषोंकी टंकार करनेवाले राजाओंका अत्यन्त भयानक तुमुल शब्द प्रकट हो रहा था ॥

तदुग्रनागं बहुरूपवर्णं
तवात्मजानां समुदीर्णमेवम् ।
बभूव सैन्यं रिपुसैन्यहन्तृ
युगान्तमेघौघनिभं तदानीम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंकी वह सेना भयंकर गजराजोंसे भरी थी । वह अनेक रूप-रंगोंकी दिखायी देती थी । उसका वेग बढ़ता ही जा रहा था । वह उस समय प्रलयकालके मेघसमुदायकी भाँति शत्रुसेनाका संहार करनेमें समर्थ प्रतीत होती थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष

संजय उवाच

अथात्मजं तव पुनर्गाङ्गेयो ध्यानमास्थितम् ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठः सम्प्रहर्षकरं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर आपके पुत्रको चिन्तामें निमग्न देख भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने उससे पुनः हर्ष बढ़ानेवाली बात कही—॥ १ ॥

अहं द्रोणश्च शल्यश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च भगदत्तोऽथ सौबलः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
त्रिगर्तराजो बलवान् मागधश्च सुदुर्जयः ॥ ३ ॥
बृहद्बलश्च कौसल्यश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्च बहुसाहस्राः शोभनाश्च महाध्वजाः ॥ ४ ॥
देशजाश्च हया राजन् स्वारूढा हयसादिभिः ।
गजेन्द्राश्च मदोद्धृत्ताः प्रभिन्नकरटामुखाः ॥ ५ ॥
पादाताश्च तथा शूरा नानाप्रहरणध्वजाः ।
नानादेशसमुत्पन्नास्त्वदर्थे योद्धुमुद्यताः ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं, द्रोणाचार्य, शल्य, यदुवंशी कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लिकदेशीय वीरोंके साथ राजा बाह्लीक, बलवान् त्रिगर्तराज, अत्यन्त दुर्जय मगध-

राज, कोसलनरेश बृहद्बल, चित्रसेन, विविंशति तथा विशाल ध्वजाओंवाले परम सुन्दर कई हजार रथ, घुड़सवारोंसे युक्त देशीय घोड़े, गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराज और भाँति-भाँतिके आयुध एवं ध्वज धारण करनेवाले विभिन्न देशोंके शूरवीर पैदल सैनिक तुम्हारे लिये युद्ध करनेको उद्यत हैं ॥ २–६ ॥

एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ।
देवानपि रणे जेतुं समर्था इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से ऐसे सैनिक हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये अपना जीवन निछावर कर दिया है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये सब मिलकर युद्धस्थलमें देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ हैं ॥ ७ ॥

अवश्यं हि मया राजंस्तव वाच्यं हितं सदा ।
अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८ ॥

'राजन्! मुझे सदा तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये; इसीलिये कहता हूँ—पाण्डवोंको इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ८ ॥

वासुदेवसहायाश्च महेन्द्रसमविक्रमाः ।
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र! एक तो वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, दूसरे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं, (अतः उन्हें जीतना असम्भव है तथापि) मैं सर्वथा तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ॥ ९ ॥

पाण्डवांश्च रणे जेष्ये मां वा जेष्यन्ति पाण्डवाः ।
एवमुक्त्वा ददावस्मै विशल्यकरणीं शुभाम् ॥ १० ॥
ओषधीं वीर्यसम्पन्नां विशल्यश्चाभवत् तदा ।

'पाण्डवोंको मैं युद्धमें जीतूँगा अथवा पाण्डव ही मुझे परास्त कर देंगे।' ऐसा कहकर भीष्मजीने दुर्योधनको विशल्यकरणी नामक शुभ एवं शक्तिशालिनी ओषधि प्रदान की। उस समय उसके प्रभावसे दुर्योधनके शरीरमें धँसे हुए बाण आसानीसे निकल गये और वह आघातजनित घाव तथा उसकी पीड़ासे मुक्त हो गया ॥ १०½ ॥

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
अव्यूहत स्वयं व्यूहं भीष्मो व्यूहविशारदः ।
मण्डलं मनुजश्रेष्ठो नानाशस्त्रसमाकुलम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकी बेलामें व्यूहविशारद नरश्रेष्ठ बलवान् भीष्मने अपनी सेनाके द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूहका निर्माण किया, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णं योधमुख्यैश्च तथा दन्तिपदातिभिः ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १३ ॥

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे भरा हुआ था। कई सहस्र रथोंने उसे सब ओरसे घेर रक्खा था॥

अश्ववृन्दैर्महद्भिश्च ऋष्टितोमरधारिभिः ।
नागे नागे रथाः सप्त सप्त चाश्वा रथे रथे ॥ १४ ॥
अन्वश्वं दश धानुष्का धानुष्के दश चर्मिणः ।

वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करनेवाले अश्वारोहियोंके महान् समुदायोंसे भरा था। एक-एक हाथीके पीछे सात-सात रथ, एक-एक रथके साथ सात-सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवारके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ दस-दस ढाल-तलवार लिये रहनेवाले वीर खड़े थे ॥ १४½ ॥

एवं व्यूढं महाराज तव सैन्यं महारथैः ॥ १५ ॥
स्थितं रणाय महते भीष्मेण युधि पालितम् ।

महाराज! इस प्रकार महारथियोंके द्वारा व्यूहबद्ध होकर आपकी सेना महायुद्धके लिये खड़ी थी और भीष्म युद्धस्थलमें उसकी रक्षा करते थे ॥ १५½ ॥

दशाश्वानां सहस्राणि दन्तिनां च तथैव च ॥ १६ ॥
रथानामयुतं चापि पुत्राश्च तव दंशिताः ।
चित्रसेनादयः शूरा अभ्यरक्षन् पितामहम् ॥ १७ ॥

उसमें दस हजार घोड़े, उतने ही हाथी और दस हजार रथ तथा आपके चित्रसेन आदि शूरवीर पुत्र कवच धारण करके पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १६-१७ ॥

रक्ष्यमाणः स तैः शूरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
संनद्धाः समदृश्यन्त राजानश्च महाबलाः ॥ १८ ॥

उन वीरोंसे भीष्म सुरक्षित थे और भीष्मसे उन शूरवीरोंकी रक्षा हो रही थी। वहाँ बहुत-से महाबली नरेश कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार दिखायी देते थे ॥

दुर्योधनस्तु समरे दंशितो रथमास्थितः ।
व्यराजत श्रिया जुष्टो यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ १९ ॥

शोभासम्पन्न राजा दुर्योधन भी युद्धस्थलमें कवच बाँधकर रथपर आरूढ़ हो ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो देवराज इन्द्र स्वर्गमें अपनी दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे हों॥

ततः शब्दो महानासीत् पुत्राणां तव भारत ।
रथघोषश्च विपुलो वादित्राणां च निस्वनः ॥ २० ॥

भारत! तदनन्तर आपके पुत्रोंका महान् सिंहनाद सुनायी देने लगा, साथ ही रथों और वाद्योंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥ २० ॥

भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूढः प्रत्यङ्मुखो युधि ।
मण्डलः स महाव्यूहो दुर्भेद्योऽमित्रघातनः ॥ २१ ॥

अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना
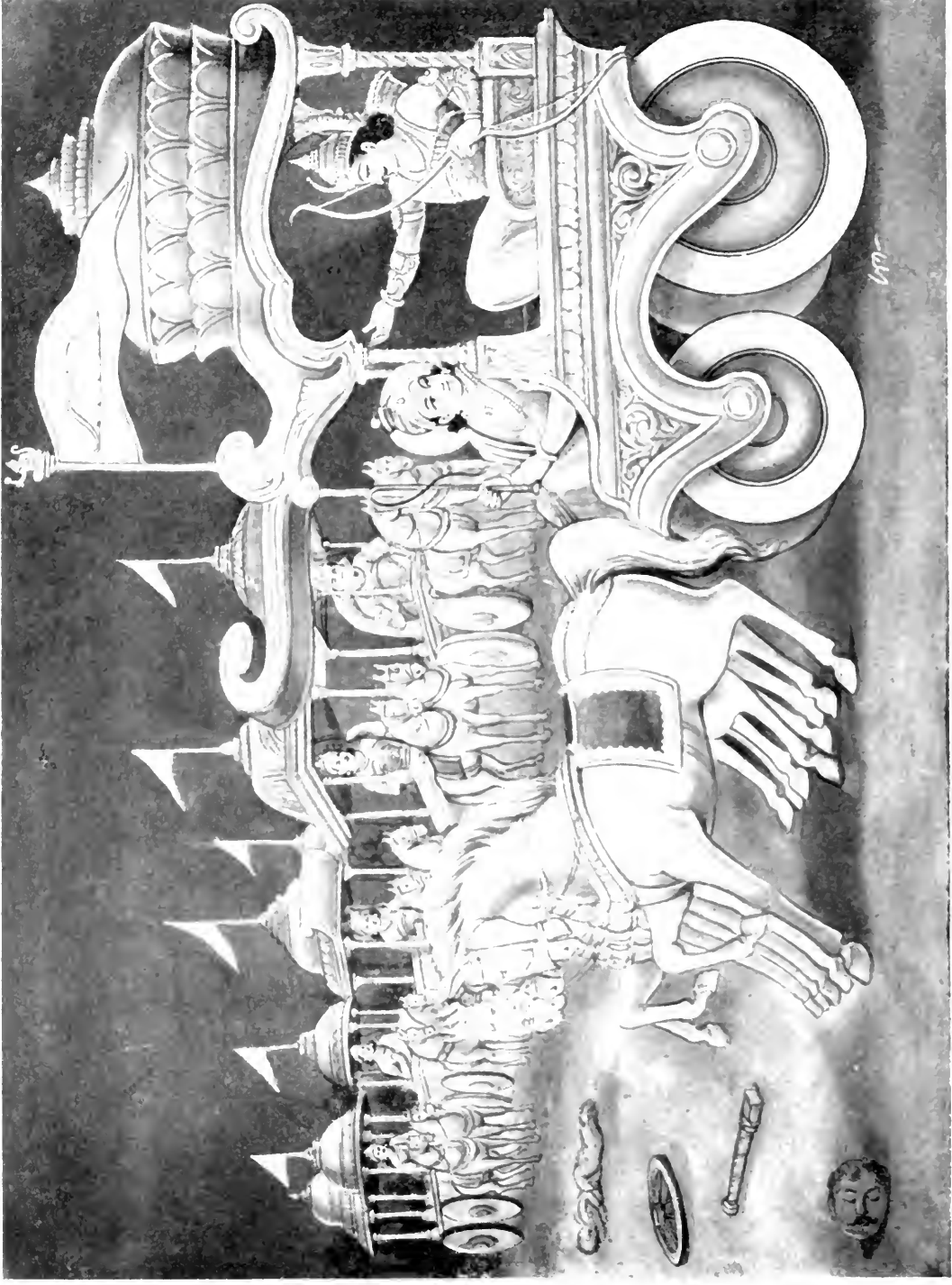
भीष्मने युद्धस्थलमें कौरव सैनिकोंका पश्चिमाभिमुख व्यूह बनाया था। वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेवाला था ॥ २१ ॥

सर्वतः शुशुभे राजन् रणेऽरीणां दुरासदः।
मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ॥ २२ ॥
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत्।

राजन्! उस रणभूमिमें सब ओर उस व्यूहकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्गम था। कौरवोंके परम दुर्जय मण्डलव्यूहको देखकर राजा युधिष्ठिरने स्वयं अपनी सेनाके लिये वज्रव्यूहका निर्माण किया ॥२२½॥

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यथास्थानमवस्थिताः ॥ २३ ॥
रथिनः सादिनः सर्वे सिंहनादमथानदन्।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर यथा-स्थान खड़े हुए रथी और घुड़सवार आदि सब सैनिक सिंहनाद करने लगे ॥ २३½ ॥

बिभित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २४ ॥
इतरेतरतः शूराः सहसैन्याः प्रहारिणः।

तत्पश्चात् प्रहार करनेमें कुशल सभी शूरवीर एक दूसरेका व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे सेनासहित आगे बढ़े ॥ २४½ ॥

भारद्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ॥२५॥
स्वयं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत्।

द्रोणाचार्यने विराटपर और अश्वत्थामाने शिखण्डीपर धावा किया। स्वयं राजा दुर्योधनने द्रुपदपर चढ़ाई की ॥

नकुलः सहदेवश्च मद्रराजानमीयतुः ॥ २६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ ।

नकुल और सहदेवने अपने मामा मद्रराज शल्यपर धावा किया। अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने इरावान्पर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

सर्वे नृपास्तु समरे धनंजयमयोधयन् ॥ २७ ॥
भीमसेनो रणे यान्तं हार्दिक्यं समवारयत्।

समस्त नरेशोंने संग्रामभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध किया। भीमसेनने युद्धमें विचरते हुए कृतवर्माको आगे बढ़नेसे रोका॥

चित्रसेनं विकर्णं च तथा दुर्मर्षणं विभुः ॥ २८ ॥
आर्जुनिः समरे राजंस्तव पुत्रानयोधयत्।

राजन्! शक्तिशाली अर्जुनकुमार अभिमन्युने संग्राम-भूमिमें आपके तीन पुत्र चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षणके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम्।

महाधनुर्धर भगदत्तने राक्षसप्रवर घटोत्कचपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर टूट पड़ा हो ॥ २९½ ॥

अलम्बुषस्तदा राजन् सात्यकिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३० ॥
ससैन्यं समरे क्रुद्धो राक्षसः समुपाद्रवत्।

राजन्! उस समय राक्षस अलम्बुषने युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले सेनासहित सात्यकिपर क्रोधपूर्वक धावा किया ॥३०½॥

भूरिश्रवा रणे यत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ॥ ३१ ॥
श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

भूरिश्रवाने रणभूमिमें प्रयत्नपूर्वक धृष्टकेतुके साथ युद्ध छेड़ दिया। धर्मपुत्र युधिष्ठिरने राजा श्रुतायुपर धावा किया॥

चेकितानश्च समरे कृपमेवान्वयोधयत् ॥ ३२ ॥
शेषाः प्रतिययुर्यत्ता भीष्ममेव महारथम्।

चेकितानने समरमें कृपाचार्यके ही साथ युद्ध छेड़ दिया। शेष योद्धा प्रयत्नपूर्वक महारथी भीष्मका ही सामना करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ३३ ॥
शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः ।

तदनन्तर उन राजसमूहोंने कुन्तीपुत्र धनंजयको सब ओरसे घेर लिया। उन सबके हाथोंमें शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि आयुध शोभा पा रहे थे ॥ ३३½ ॥

अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धो वार्ष्णेयमिदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
पश्य माधव सैन्यानि धार्तराष्ट्रस्य संयुगे।
व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण-से इस प्रकार कहा—'माधव! युद्धस्थलमें दुर्योधनकी इन सेनाओंको देखिये, व्यूहके विद्वान् महात्मा गङ्गानन्दनने इनका व्यूह रचा है ॥ ३४-३५ ॥

युद्धाभिकामाञ्शूरांश्च पश्य माधव दंशितान्।
त्रिगर्तराजं सहितं भ्रातृभिः पश्य केशव ॥ ३६ ॥

'माधव! युद्धकी इच्छासे कवच बाँधकर आये हुए इन शूरवीरोंपर दृष्टिपात कीजिये। केशव! यह देखिये, यह भाइयोंसहित त्रिगर्तराज खड़ा है ॥ ३६ ॥

अद्यैतान् नाशयिष्यामि पश्यतस्ते जनार्दन।
य इमे मां यदुश्रेष्ठ योद्धुकामा रणाजिरे ॥ ३७ ॥

'जनार्दन! यदुश्रेष्ठ! ये जो रणक्षेत्रमें मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, मैं इन सबको आज आपके देखते-देखते नष्ट कर दूँगा' ॥ ३७ ॥

एतदुक्त्वा तु कौन्तेयो धनुर्ज्यामवमृज्य च।
ववर्ष शरवर्षाणि नराधिपगणान् प्रति ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चापर हाथ फेरा और विपक्षी नरेशोंपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३८ ॥

तेऽपि तं परमेष्वासाः शरवर्षैरपूरयन् ।
तडागं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ॥ ३९ ॥

जैसे बादल वर्षा ऋतुमें जलकी धाराओंसे तालाबको भरते हैं, उसी प्रकार वे महाधनुर्धर नरेश भी बाणोंकी वृष्टिसे अर्जुनको भरपूर करने लगे ॥ ३९ ॥

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्ये विशाम्पते ।
छाद्यमानौ रणे कृष्णौ शरैर्दृष्ट्वा महारणे ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! उस महायुद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ ४० ॥

देवा देवर्षयश्चैव गन्धर्वाश्च सहोरगैः ।
विस्मयं परमं जग्मुर्दृष्ट्वा कृष्णौ तथागतौ ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर देवताओं, देवर्षियों, गन्धर्वों और नागोंको महान् आश्चर्य हुआ॥४१॥

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने कुपित होकर इन्द्रास्त्रका प्रयोग किया। उस समय हमलोगोंने अर्जुनका अद्भुत पराक्रम देखा॥

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत् ।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ॥ ४३ ॥

उन्होंने अपने बाणसमूहद्वारा शत्रुओंकी की हुई बाण-वर्षाको रोक दिया। महाराज ! उस समय वहाँ कोई भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हो गया हो ॥ ४३ ॥

तेषां राजसहस्राणां हयानां दन्तिनां तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिः शरैश्चान्यान् पार्थो विव्याध मारिष ॥४४॥

आर्य ! कुन्तीकुमार अर्जुनने उन सहस्रों राजाओंके घोड़ों तथा हाथियोंमेंसे किन्हींको दो-दो और किन्हींको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः ।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी मार खाकर वे सब-के-सब शान्तनुनन्दन भीष्मकी शरणमें गये। उस समय अगाध विपत्ति-समुद्रमें डूबते हुए सैनिकोंके लिये भीष्म जहाज बन गये ॥४५॥

आपतद्भिस्तु तैस्तत्र प्रभग्नं तावकं बलम् ।
संचुक्षुभे महाराज वातैरिव महार्णवः ॥ ४६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंके आक्रमण करनेपर आपकी सेनाका व्यूह भङ्ग हो गया। वह सेना प्रचण्ड वायुके वेगसे समुद्रकी भाँति विक्षुब्ध हो उठी ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनका युद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरवसेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराट-पुत्र शङ्खका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध

संजय उवाच

तथा प्रवृत्ते संग्रामे निवृत्ते च सुशर्मणि ।
भग्नेषु चापि वीरेषु पाण्डवेन महात्मना ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार संग्राम आरम्भ होनेपर महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनसे पराजित हो सुशर्मा युद्धभूमिसे दूर हो गया और अन्यान्य वीर भी भाग खड़े हुए॥

क्षुभ्यमाणे बले तूर्णं सागरप्रतिमे तव ।
प्रत्युद्याते च गाङ्गेये त्वरितं विजयं प्रति ॥ २ ॥

आपकी समुद्र-जैसी विशाल वाहिनीमें तुरंत ही हलचल मच गयी। उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने शीघ्रतापूर्वक अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
त्वरमाणः समभ्येत्य सर्वांस्तानब्रवीन्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने रणभूमिमें अर्जुनका पराक्रम देखकर बड़ी उतावलीके साथ निकट जा उन समस्त नरेशोंसे कहा॥

तेषां तु प्रमुखे शूरं सुशर्माणं महाबलम् ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य भृशं संहर्षयन्निव ॥ ४ ॥

उन नरेशोंके सम्मुख सारी सेनाके बीचमें शूरवीर महाबली सुशर्माको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता हुआ-सा दुर्योधन यों बोला—॥ ४ ॥

एष भीष्मः शान्तनवो योद्धुकामो धनंजयम्।
सर्वात्मना कुरुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ ५ ॥

'वीरो ! ये शान्तनुनन्दन कुरुश्रेष्ठ भीष्म अपना जीवन निछावर करके सम्पूर्ण हृदयसे अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

तं प्रयान्तं रणे वीरं सर्वसैन्येन भारतम्।
संयत्ताः समरे सर्वे पालयध्वं पितामहम् ॥ ६ ॥

'सारी सेनाके साथ युद्धके लिये यात्रा करते हुए मेरे वीर पितामह भरतनन्दन भीष्मकी आप सब लोग प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें' ॥ ६ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु तान्यनीकानि सर्वशः।
नरेन्द्राणां महाराज समाजग्मुः पितामहम् ॥ ७ ॥

महाराज ! 'बहुत अच्छा' कहकर राजाओंकी वे सम्पूर्ण सेनाएँ पितामह भीष्मके पास गयीं ॥ ७ ॥

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम्।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ॥ ८ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमिमें सहसा अर्जुनके सामने गये। भरतवंशी भीष्मको आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे ॥ ८ ॥

महाश्वेताश्वयुक्तेन भीमवानरकेतुना।
महता मेघनादेन रथेनातिविराजता ॥ ९ ॥

वे जिस रथपर आरूढ़ होकर आये थे, वह अत्यन्त शोभायमान था। उसमें श्वेत वर्णके विशाल घोड़े जुते हुए थे। उसपर भयंकर वानरसे उपलक्षित ध्वजा फहरा रही थी और उसके पहियोंसे मेघके समान गम्भीर शब्द हो रहा था॥

समरे सर्वसैन्यानामुपयान्तं धनंजयम्।
अभवत् तुमुलो नादो भयाद् दृष्ट्वा किरीटिनम्॥ १० ॥

किरीटधारी अर्जुनको युद्धमें समीप आते देख भयके मारे समस्त सैनिकोंके मुँहसे भयानक हाहाकार प्रकट होने लगा ॥ १० ॥

अभीषुहस्तं कृष्णं च दृष्ट्वाऽऽदित्यमिवापरम्।
मध्यंदिनगतं संख्ये न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ११ ॥

हाथमें बागडोर लिये मध्याह्नकालके दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको युद्धभूमिमें उपस्थित देख कोई भी योद्धा उन्हें भर आँख देख भी न सके ॥ ११ ॥

तथा शान्तनवं भीष्मं श्वेताश्वं श्वेतकार्मुकम्।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं श्वेतं ग्रहमिवोदितम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार श्वेत घोड़े तथा श्वेत धनुषवाले शान्तनुनन्दन भीष्मको श्वेत ग्रहके समान उदित देख पाण्डवसैनिक उनसे आँख न मिला सके ॥ १२ ॥

स सर्वतः परिवृतस्त्रिगर्तैः सुमहात्मभिः।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च तथान्यैश्च महारथैः ॥ १३ ॥

महामना त्रिगर्तोंने अपने भाइयों, पुत्रों तथा अन्य महारथियोंके साथ उपस्थित होकर भीष्मको सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ॥ १४ ॥

दूसरी ओर द्रोणाचार्यने मत्स्यराज विराटको युद्धमें एक बाणसे बींध डाला तथा एक बाणसे उनका ध्वज और एकसे धनुष काट डाला ॥ १४ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ॥ १५ ॥

सेनापति विराटने वह कटा हुआ धनुष फेंककर वेगपूर्वक दूसरे सुदृढ़ धनुषको हाथमें लिया, जो भार सहन करनेमें समर्थ था ॥ १५ ॥

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः॥ १६ ॥

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति विषैले नागोंकी-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीनसे द्रोणाचार्यको और चार बाणोंसे उनके घोड़ोंको बींध डाला ॥ १६ ॥

ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य पञ्चभिः।
धनुरेकेषुणाविध्यत् तत्राक्रुध्यद् द्विजर्षभः ॥ १७ ॥

फिर एक बाणसे ध्वजको, पाँच बाणोंसे सारथिको और एकसे धनुषको बींध डाला। इससे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १७ ॥

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर द्रोणने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंद्वारा विराटके घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको मार डाला ॥

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ॥ १९ ॥

सारथि और घोड़ोंके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट अपने रथसे तुरंत कूद पड़े और पुत्रके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १९ ॥

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ॥ २० ॥

अब उन दोनों पिता-पुत्रोंने एक ही रथपर बैठकर महान् बाणवर्षाके द्वारा द्रोणाचार्यको बलपूर्वक आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २० ॥

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम् ।
चिक्षेप समरे तूर्णं शङ्खं प्रति जनेश्वर ॥ २१ ॥

जनेश्वर ! तब द्रोणाचार्यने कुपित होकर युद्धिभूमिमें विषधर सर्पके समान एक भयंकर बाण शङ्खपर शीघ्रतापूर्वक चलाया ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे ।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ॥ २२ ॥

वह बाण शङ्खकी छाती छेदकर रणभूमिमें उसका रक्त पीकर धरतीमें समा गया । उसके श्रेष्ठ पंख लोहूमें भीगकर लाल हो रहे थे ॥ २२ ॥

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः ।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल होकर शङ्ख पिताके पास ही धनुष-बाण छोड़कर तुरंत ही रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ २३ ॥

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात् ।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख मुँह बाये हुए कालके समान भयंकर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें छोड़कर विराट भयके मारे भाग गये ॥ २४ ॥

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम् ।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २५ ॥

तब द्रोणाचार्यने संग्रामभूमिमें तुरंत ही पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको विदीर्ण करना आरम्भ किया । सैकड़ों-हजारों योद्धा धराशायी हो गये ॥ २५ ॥

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ॥ २६ ॥

महाराज ! दूसरी ओर शिखण्डीने युद्धभूमिमें अश्वत्थामाके पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उसके भौंहोंके मध्यभागमें आघात किया ॥ २६ ॥

स बभौ रथशार्दूलो ललाटे संस्थितैस्त्रिभिः ।
शिखरैः काञ्चनमयैर्मेरुस्त्रिभिरिवोच्छ्रितैः ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा ललाटमें लगे हुए उन तीनों बाणोंके द्वारा तीन ऊँचे सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त मेरु पर्वतके समान शोभा पाने लगा ॥ २७ ॥

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ॥ २८ ॥
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे ।

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने आधे निमेषमें बहुत-से बाणोंद्वारा शिखण्डीके ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधोंको रणभूमिमें काट गिराया ॥ २८½ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ॥ २९ ॥
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम् ।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ॥ ३० ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुसंतापी शिखण्डी घोड़ोंके मारे जानेपर उस रथसे कूद पड़ा और बहुत तीखी एवं चमकीली तलवार और ढाल हाथमें लेकर कुपित हुए श्येन पक्षीकी भाँति सब ओर विचरने लगा ॥ २९-३० ॥

सखड्गस्य महाराज चरतस्तस्य संयुगे ।
नान्तरं ददृशे द्रौणिस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३१ ॥

महाराज ! तलवार लेकर युद्धमें विचरते हुए शिखण्डीका थोड़ा-सा भी छिद्र अश्वत्थामाको नहीं दिखायी दिया । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३१ ॥

ततः शरसहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
प्रेषयामास समरे द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब परम क्रोधी अश्वत्थामाने समरभूमिमें शिखण्डीपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

तामापतन्तीं समरे शरवृष्टिं सुदारुणाम् ।
असिना तीक्ष्णधारेण चिच्छेद बलिनां वरः ॥ ३३ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीने समरभूमिमें होनेवाली उस अत्यन्त भयंकर बाण-वर्षाको तीखी धारवाली तलवारसे काट डाला ॥ ३३ ॥

ततोऽस्य विमलं द्रौणिः शतचन्द्रं मनोरमम् ।
चर्माच्छिनदसिं चास्य खण्डयामास संयुगे ॥ ३४ ॥

तब अश्वत्थामाने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित शिखण्डीकी परम सुन्दर ढाल और चमकीली तलवारको युद्धस्थलमें टूक-टूक कर दिया ॥ ३४ ॥

शितैस्तु बहुशो राजंस्तं च विव्याध पत्त्रिभिः ।
शिखण्डी तु ततः खड्गं खण्डितं तेन सायकैः॥ ३५ ॥
आविध्य व्यसृजत् तूर्णं ज्वलन्तमिव पन्नगम् ।
तमापतन्तं सहसा कालानलसमप्रभम् ॥ ३६ ॥
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
शिखण्डिनं च विव्याध शरैर्बहुभिरायसैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शिखण्डीको भी बहुत घायल कर दिया । अश्वत्थामाद्वारा सायकोंकी मारसे खण्डित किये हुए उस खड्गको शिखण्डीने घुमाकर तुरंत ही उसके ऊपर चला दिया । वह खड्ग प्रज्वलित सर्प-सा प्रकाशित हो उठा । अपने ऊपर आते हुए प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस खड्गको अश्वत्थामाने युद्धमें अपना हस्त-लाघव दिखाते हुए सहसा काट डाला । तत्पश्चात्

बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा उसने शिखण्डीको भी घायल कर दिया ॥ ३५—३७ ॥

शिखण्डी तु भृशं राजंस्ताड्यमानः शितैः शरैः।
आरुरोह रथं तूर्णं माधवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शिखण्डी तुरंत ही महामना सात्यकिके रथपर चढ़ गया ॥

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे ।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ॥ ३९ ॥

इधर बलवानोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणोंद्वारा संग्रामभूमिमें क्रूर राक्षस अलम्बुषको बींध डाला ॥ ३९ ॥

राक्षसेन्द्रस्ततस्तस्य धनुश्चिच्छेद भारत ।
अर्धचन्द्रेण समरे तं च विव्याध सायकैः ॥ ४० ॥

भारत ! तब राक्षसराज अलम्बुषने रणक्षेत्रमें अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा सात्यकिके धनुषको काट दिया और अनेक सायकोंका प्रहार करके उन्हें भी घायल कर दिया ॥ ४० ॥

मायां च राक्षसीं कृत्वा शरवर्षैरवाकिरत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयस्य पराक्रमम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् उसने राक्षसी माया फैलाकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की । उस समय हमने सात्यकिका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ ४१ ॥

असम्भ्रमस्तु समरे वध्यमानः शितैः शरैः ।
ऐन्द्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो योजयामास भारत ॥ ४२ ॥
विजयाद् यदनुप्राप्तं माधवेन यशस्विना ।

भारत ! वे समरभूमिमें तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी घबराये नहीं । उन यशस्वी यदुकुलरत्न सात्यकिने अर्जुनसे जिसकी शिक्षा प्राप्त की थी, उस ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४२½ ॥

तदस्त्रं भस्मसात् कृत्वा मायां तां राक्षसीं तदा ॥ ४३ ॥
अलम्बुषं शरैरन्यैरभ्याकिरत सर्वतः ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ४४ ॥

उस समय उस दिव्यास्त्रने उस राक्षसी मायाको तत्काल भस्म करके अलम्बुषके ऊपर सब ओरसे दूसरे-दूसरे बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ की, जैसे वर्षाऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ४३-४४ ॥

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना ।
प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे॥४५॥

परमयशस्वी मधुवंशी सात्यकिके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होनेपर वह राक्षस भयसे युद्धस्थलमें उन्हें छोड़कर भाग गया॥

तमजेयं राक्षसेन्द्रं संख्ये मघवता अपि ।
शैनेयः प्राणदज्जित्वा योधानां तव पश्यताम् ॥ ४६ ॥

जिसे इन्द्र भी युद्धमें हरा नहीं सकते थे, उसी राक्षसराज अलम्बुषको आपके योद्धाओंके देखते-देखते परास्त करके सात्यकि सिंहनाद करने लगे ॥ ४६ ॥

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः।
निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा आपके अन्य योद्धाओंको भी मारना आरम्भ किया । उस समय उनके भयसे पीड़ित हो वे सब योद्धा भागने लगे ॥ ४७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ॥ ४८ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

महाराज ! इसी समय द्रुपदके बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्नने आपके पुत्र राजा दुर्योधनको रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स च्छाद्यमानो विशिखैर्धृष्टद्युम्नेन भारत ॥ ४९ ॥
विव्यथे न च राजेन्द्र तव पुत्रो जनेश्वर ।
धृष्टद्युम्नं च समरे तूर्णं विव्याध पत्रिभिः ॥ ५० ॥
षष्ट्या च त्रिंशता चैव तदद्भुतमिवाभवत् ।

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जनेश्वर ! धृष्टद्युम्नके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें व्यथा नहीं हुई । उसने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको तुरंत ही नब्बे बाणोंसे घायल कर दिया । यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४९-५०½ ॥

तस्य सेनापतिः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ५१ ॥
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः ।
शरैश्चैनं सुनिशितैः क्षिप्रं विव्याध सप्तभिः ॥ ५२ ॥

आर्य ! तब महाबली पाण्डव-सेनापतिने भी कुपित होकर दुर्योधनके धनुषको काट दिया और शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ोंको भी मार डाला । तत्पश्चात् अत्यन्त तीखे सात बाणोंद्वारा तुरंत ही दुर्योधनको घायल कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली ।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ॥ ५३ ॥

घोड़े मारे जानेपर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथसे कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्नकी ओर पैदल ही दौड़ा ॥ ५३ ॥

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः ।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ५४ ॥

उस समय महाबली शकुनिने, जो राजाको बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत्के अधिपति दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ५४ ॥

ततो नृपं पराजित्य पार्षतः परवीरहा।
न्यहनत् तावकं सैन्यं वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ५५ ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने राजा दुर्योधन-को पराजित करके आपकी सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं ॥५५॥

कृतवर्मा रणे भीमं शरैराच्छेन्महारथः।
प्रच्छादयामास च तं महामेघो रविं यथा ॥ ५६ ॥

महारथी कृतवर्माने रणमें भीमसेनको अपने बाणोंसे बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनको आच्छादित कर दिया ॥५६॥

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परंतपः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ॥ ५७ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने युद्धमें हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मापर अनेकों सायकोंका प्रहार किया ॥ ५७ ॥

तैरर्द्यमानोऽतिरथः सात्वतः सत्यकोविदः।
नाकम्पत महाराज भीमं चार्च्छच्छितैः शरैः ॥ ५८ ॥

महाराज ! उन सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी अतिरथी एवं सत्यकोविद सात्वतवंशी कृतवर्मा विचलित नहीं हुआ। उसने भीमसेनको पुनः तीखे बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ५८ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः।
सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ॥ ५९ ॥

फिर महारथी भीमसेनने उनके चारों घोड़ोंको मारकर ध्वजसहित सुसज्जित सारथिको भी काट गिराया ॥ ५९ ॥

शरैर्बहुविधैश्चैनमाचिनोत् परवीरहा।
शकलीकृतसर्वाङ्गो हताश्वः प्रत्यदृश्यत ॥ ६० ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीमसेनने अनेक प्रकारके बाणोंसे कृतवर्माके सारे शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। उसके घोड़े मारे जा चुके थे। उस समय भीमसेनके बाणोंसे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न-सा दिखायी देता था॥

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ।
श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ६१ ॥

महाराज ! तब घोड़ोंके मारे जानेपर कृतवर्मा आपके पुत्रके देखते-देखते तुरंत ही आपके शाले वृषकके रथपर सवार हो गया ॥ ६१ ॥

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत्।
निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६२ ॥

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेना-पर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराजकी भाँति उसका संहार करने लगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वैरथे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वैरथयुद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

इरावान्के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स्म संजय।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मैंने तुम्हारे मुखसे अबतक पाण्डवोंके मेरे पुत्रोंके साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना ॥ १ ॥

न चैव मामकं किंचिद्धृष्टं शंससि संजय।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ॥ २ ॥

परंतु सूत ! तुमने अभीतक मेरे पक्षमें घटित हुई कोई हर्षकी बात नहीं कही है; उल्टे पाण्डवोंको प्रतिदिन हर्षसे पूर्ण और अभग्न (अपराजित) बताते हो ॥ २ ॥

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः।
वदसे संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ३ ॥

मेरे पुत्रोंको तेज और बलसे हीन, खिन्नचित्त और युद्धमें पराजित बताते हो। संजय ! यह सब प्रारब्धका ही खेल है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

संजय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

संजय बोले—पुरुषश्रेष्ठ ! आपके पुत्र भी पूरी

शक्तिसे पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साहके अनुसार युद्धमें सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ॥४॥

गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम्।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ॥ ५ ॥
तथा तत् पौरुषं राजंस्तावकानां परंतप।
प्राप्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ॥ ६ ॥

परंतप! नरेश! जैसे देवनदी गङ्गाजीका जल स्वादिष्ट होकर भी महासागरके संयोगसे उसीके गुणका सम्मिश्रण हो जानेके कारण खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंका पुरुषार्थ युद्धमें वीर पाण्डवोंतक पहुँचकर व्यर्थ हो जाता है ॥ ५-६ ॥

घटमानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम्।
न दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर कर्म कर दिखाते हैं। अतः उनके ऊपर आपको दोषारोपण नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

तवापराधात् सुमहान् सपुत्रस्य विशाम्पते।
पृथिव्याः प्रक्षयो घोरो यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ! पुत्रसहित आपके अपराधसे ही यह भूमण्डलका घोर एवं महान् संहार हो रहा है, जो यमलोककी वृद्धि करनेवाला है ॥ ८ ॥

आत्मदोषात् समुत्पन्नं शोचितुं नार्हसे नृप।
न हि रक्षन्ति राजानः सर्वथात्रापि जीवितम् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! अपने ही अपराधसे जो संकट प्राप्त हुआ है, उसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। (आपके अपराधके कारण) राजालोग भी इस भूतलमें सर्वथा अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर पाते हैं ॥ ९ ॥

युद्धे सुकृतिनां लोकानिच्छन्तो वसुधाधिपाः।
चमूं विगाह्य युध्यन्ते नित्यं स्वर्गपरायणाः ॥ १० ॥

वसुधाके नरेश युद्धमें पुण्यात्माओंके लोकोंकी इच्छा करते हुए शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं और सदा स्वर्गको ही परम लक्ष्य मानते हैं ॥ १० ॥

पूर्वाह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः।
तं त्वमेकमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ॥ ११ ॥

महाराज! उस दिन पूर्वाह्णकालमें बड़ा भारी जनसंहार हुआ था। आप एकचित्त होकर देवासुर-संग्रामके समान उस भयंकर युद्धका वृत्तान्त सुनिये ॥ ११ ॥

आवन्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ।
इरावन्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ॥ १२ ॥

अवन्तीके महाबली महाधनुर्धर और विशाल सेनासे युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान्‌को सामने देखकर उसीसे भिड़ गये ॥ १२ ॥

तेषां प्रववृते युद्धं सुमहल्लोमहर्षणम्।
इरावांस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥
विव्याध निशितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः।
तावेनं प्रत्यविध्येतां समरे चित्रयोधिनौ ॥ १४ ॥

उन तीनों वीरोंका युद्ध अत्यन्त रोमाञ्चकारी हुआ। इरावान्‌ने कुपित होकर देवताओंके समान रूपवान् दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया। वे भी समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले थे। अतः उन्होंने भी इरावान्‌को बींध डाला ॥ १३-१४ ॥

युध्यतां हि तथा राजन् विशेषो न व्यदृश्यत।
यततां शत्रुनाशाय कृतप्रतिकृतैषिणाम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर! दोनों ही पक्षवाले अपने शत्रुका नाश करनेके लिये प्रयत्नशील थे। दोनों ही एक दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करनेकी इच्छा रखते थे। अतः युद्ध करते समय उनमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ १५ ॥

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ॥ १६ ॥

राजन्! उस समय इरावान्‌ने अपने चार बाणोंद्वारा अनुविन्दके चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ १६ ॥

भल्लाभ्यां च सुतीक्ष्णाभ्यां धनुः केतुं च मारिष।
चिच्छेद समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

आर्य! राजन्! तदनन्तर दो तीखे भल्लोंद्वारा उन्होंने युद्धस्थलमें उसके धनुष और ध्वज काट डाले। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १७ ॥

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् अनुविन्द अपना रथ त्यागकर विन्दके रथपर जा बैठा और भार वहन करनेमें समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्धके लिये डट गया ॥ १८ ॥

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ॥ १९ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आवन्त्य वीर रणभूमिमें एक ही रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रताके साथ महामना इरावान्‌पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥

ताभ्यां मुक्ता महावेगाः शराः काञ्चनभूषणाः।
दिवाकरपथं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ॥ २० ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए महान् वेगशाली सुवर्णभूषित बाणोंने सूर्यके पथपर पहुँचकर आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ॥ २१ ॥

तब इरावान्ने भी रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी और उनके सारथिको मार गिराया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ॥ २२ ॥

सारथिके प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उस रथके घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगा ॥ २२ ॥

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! इरावान् नागराज-कन्या उलूपीका पुत्र था। उसने विन्द और अनुविन्दको जीतकर अपने पुरुषार्थका परिचय देते हुए तुरंत ही आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

सा वध्यमाना समरे धार्तराष्ट्री महाचमूः।
वेगान् बहुविधांश्चक्रे विषं पीत्वेव मानवः ॥ २४ ॥

युद्धक्षेत्रमें इरावान्से पीड़ित होकर आपकी विशाल सेना विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति नाना प्रकारसे उद्वेग प्रकट करने लगी ॥ २४ ॥

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत्।
रथेनादित्यवर्णेन सध्वजेन महाबलः ॥ २५ ॥

दूसरी ओर राक्षसराज महाबली घटोत्कचने सूर्यके समान तेजस्वी एवं ध्वजयुक्त रथके द्वारा भगदत्तपर आक्रमण किया॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा नागराजं समास्थितः।
यथा वज्रधरः पूर्वं संग्रामे तारकामये ॥ २६ ॥

जैसे पूर्वकालमें तारकामय-संग्रामके अवसरपर वज्रधारी इन्द्र ऐरावत नामक हाथीपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये गये थे, उसी प्रकार इस महायुद्धमें प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा भगदत्त एक गजराजपर चढ़कर आये थे ॥ २६ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च समागताः।
विशेषं न स्म विविदुर्हैडिम्बभगदत्तयोः ॥ २७ ॥

वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंकी भी समझमें यह नहीं आया कि घटोत्कच और भगदत्तमें पराक्रमकी दृष्टिसे क्या अन्तर है ॥ २७ ॥

यथा सुरपतिः शक्रस्त्रासयामास दानवान्।
तथैव समरे राजा द्रावयामास पाण्डवान् ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंको भयभीत किया था, उसी प्रकार भगदत्तने पाण्डव-सैनिकोंको भयभीत करके भगाना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

तेन विद्राव्यमाणास्ते पाण्डवाः सर्वतो दिशम्।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्तः स्वेष्वनीकेषु भारत ॥ २९ ॥

भारत ! भगदत्तके द्वारा खदेड़े हुए पाण्डव-सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए अपनी सेनाओंमें भी कहीं कोई रक्षक नहीं पाते थे ॥ २९ ॥

भैमसेनिं रथस्थं तु तत्रापश्याम भारत।
शेषा विमनसो भूत्वा प्राद्रवन्त महारथाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! उस समय वहाँ हमलोगोंने केवल भीमपुत्र घटोत्कचको ही रथपर स्थिरभावसे बैठा देखा। शेष महारथी खिन्नचित्त होकर वहींसे भाग रहे थे ॥ ३० ॥

निवृत्तेषु तु पाण्डूनां पुनः सैन्येषु भारत।
आसीन्निष्ठानको घोरस्तव सैन्यस्य संयुगे ॥ ३१ ॥

भारत ! जब पाण्डवोंकी सेनाएँ पुनः युद्धभूमिमें लौट आयीं, तब उस युद्धक्षेत्रमें आपकी सेनाके भीतर घोर हाहाकार होने लगा ॥ ३१ ॥

घटोत्कचस्ततो राजन् भगदत्तं महारणे।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ॥ ३२ ॥

राजन् ! उस समय उस महायुद्धमें घटोत्कचने अपने बाणोंद्वारा भगदत्तको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वतको ढक लेता है ॥ ३२ ॥

निहत्य ताञ्शरान् राजा राक्षसस्य धनुश्च्युतान्।
भैमसेनिं रणे तूर्णं सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ ३३ ॥

राक्षस घटोत्कचके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको नष्ट करके राजा भगदत्तने रणक्षेत्रमें तुरंत ही घटोत्कचके सभी मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ ३३ ॥

स ताड्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः।
न विव्यथे राक्षसेन्द्रो भिद्यमान इवाचलः ॥ ३४ ॥

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा आहत होकर भी विदीर्ण किये जानेवाले पर्वतकी भाँति राक्षसराज घटोत्कच व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरांश्च चतुर्दश।
प्रेषयामास समरे तांश्चिच्छेद स राक्षसः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेशने कुपित हो उस राक्षसपर चौदह तोमर चलाये, परंतु उसने समरभूमिमें उन सबको काट दिया ॥ ३५ ॥

स तांश्छित्त्वा महाबाहुस्तोमरान् निशितैः शरैः।
भगदत्तं च विव्याध सप्तत्या कङ्कपत्रिभिः ॥ ३६ ॥

उन तोमरोंको तीखे बाणोंसे काटकर महाबाहु घटोत्कचने कंकपत्रयुक्त सत्तर बाणोंद्वारा भगदत्तको भी घायल कर दिया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत ।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ॥ ३७ ॥

भारत ! तब राजा प्राग्ज्योतिष (भगदत्त) ने हँसते हुए-से उस युद्धमें अपने सायकोंद्वारा घटोत्कचके चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने भगदत्तके हाथीपर बड़े वेगसे शक्तिका प्रहार किया ॥ ३८ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमदण्डां सुवेगिनीम् ।
त्रिधा चिच्छेद नृपतिः सा व्यकीर्यत मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

उस शक्तिमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। वह अत्यन्त वेगशालिनी थी। उसे सहसा आती देख राजा भगदत्तने उसके तीन टुकड़े कर डाले। फिर वह पृथ्वीपर बिखर गयी ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात् ।
यथेन्द्रस्य रणात् पूर्वं नमुचिर्दैत्यसत्तमः ॥ ४० ॥

अपनी शक्तिको कटी हुई देखकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भगदत्तके भयसे उसी प्रकार भाग गया, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रके साथ युद्ध करते समय दैत्यराज नमुचि रणभूमिसे भागा था ॥ ४० ॥

तं विजित्य रणे शूरं विक्रान्तं ख्यातपौरुषम् ।
अजेयं समरे वीरं यमेन वरुणेन च ॥ ४१ ॥
पाण्डवीं समरे सेनां सम्ममर्द स कुञ्जरः ।
यथा वनगजो राजन् मृद्नंश्चरति पद्मिनीम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! घटोत्कच अपने पौरुषके लिये विख्यात, पराक्रमी, शूरवीर था। वरुण और यमराज भी उस वीरको समरभूमिमें परास्त नहीं कर सकते थे। उसीको वहाँ रणक्षेत्रमें जीतकर भगदत्तका वह हाथी समराङ्गणमें पाण्डवसेनाका उसी प्रकार मर्दन करने लगा, जैसे वनैला हाथी सरोवरमें कमलिनीको रौंदता हुआ विचरता है ॥ ४१-४२ ॥

मद्रेश्वरस्तु समरे यमाभ्यां समसज्जत ।
स्वस्रीयौ छादयांचक्रे शरौघैः पाण्डुनन्दनौ ॥ ४३ ॥

दूसरी ओर मद्रराज शल्य युद्धमें अपने भानजे नकुल और सहदेवसे उलझे हुए थे। उन्होंने पाण्डुकुलको आनन्दित करनेवाले भानजोंको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं दृश्य संगतम् ।
अवारयच्छरौघेण मेघो यद्वद् दिवाकरम् ॥ ४४ ॥

सहदेवने समरभूमिमें अपने मामाको युद्धमें आसक्त देखकर जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

छाद्यमानः शरौघेण हृष्टरूपतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यभवत् प्रीतिरतुला मातृकारणात् ॥ ४५ ॥

उनके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर भी शल्य अत्यन्त प्रसन्न ही हुए। माताके नाते नकुल और सहदेवके मनमें भी उनके प्रति अनुपम प्रेमका भाव था ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य समरे नकुलस्य महारथः ।
(ध्वजं चिच्छेद बाणेन धनुश्चैकेन मारिष ।
अथैनं छिन्नधन्वानं छादयन्निव भारत ॥
निजघान रणे तं तु सूतं चास्य न्यपातयत् ॥)
अश्वांश्च चतुरो राजंश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ४६ ॥
प्रेषयामास समरे यमस्य सदनं प्रति ।
हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ॥ ४७ ॥
आरुरोह ततो यानं भ्रातुरेव यशस्विनः ।

आर्य ! तब महारथी शल्यने समरभूमिमें हँसकर एक बाणसे नकुलके ध्वजको और दूसरेसे उनके धनुषको भी काट दिया। भारत ! धनुष कट जानेपर उन्हें बाणोंसे आच्छादित-से करते हुए युद्धस्थलमें उनके सारथिको भी मार गिराया। राजन् ! फिर उन्होंने उस युद्धमें चार उत्तम सायकोंद्वारा नकुलके चारों घोड़ोंको यमराजके घर भेज दिया। घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी नकुल उस रथसे तुरंत ही कूदकर अपने यशस्वी भाई सहदेवके ही रथपर जा बैठे ॥ ४६-४७½ ॥

एकस्थौ तु रणे शूरौ दृढे विक्षिप्य कार्मुके ॥ ४८ ॥
मद्रराजरथं तूर्णं छादयामासतुः क्षणात् ।

तदनन्तर एक ही रथपर बैठे हुए उन दोनों शूरवीरोंने क्षणभरमें अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर रणभूमिमें मद्रराजके रथको तुरंत ही आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स छाद्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥
स्वस्रीयाभ्यां नरव्याघ्रो नाकम्पत यथाचलः ।
प्रहसन्निव तां चापि शस्त्रवृष्टिं जघान ह ॥ ५० ॥

अपने भानजोंके चलाये हुए झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नरश्रेष्ठ शल्य पर्वतकी भाँति अडिगभावसे खड़े रहे; कम्पित या विचलित नहीं हुए। उन्होंने हँसते हुए-से उस शस्त्रवर्षाको भी नष्ट कर दिया ४९-५० ॥

सहदेवस्ततः क्रुद्धः शरमुद्गृह्य वीर्यवान् ।
मद्रराजमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! तब पराक्रमी सहदेवने कुपित होकर एक बाण हाथमें लिया और उसे मद्रराजको लक्ष्य करके चला दिया ॥

स शरः प्रेषितस्तेन गरुडानिलवेगवान् ।
मद्रराजं विनिर्भिद्य निपपात महीतले ॥ ५२ ॥

उनके द्वारा चलाया हुआ वह बाण गरुड और वायुके समान वेगशाली था। वह मद्रराजको विदीर्ण करके पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थे महारथः ।
निषसाद महाराज कश्मलं च जगाम ह ॥ ५३ ॥

महाराज! उसके गहरे आघातसे पीड़ित एवं व्यथित होकर महारथी शल्य रथके पिछले भागमें जा बैठे और मूर्छित हो गये ॥ ५३ ॥

तं विसंज्ञं निपतितं सूतः सम्प्रेक्ष्य संयुगे ।
अपोवाह रथेनाजौ यमाभ्यामभिपीडितम् ॥ ५४ ॥

युद्धस्थलमें नकुल और सहदेवद्वारा पीड़ित होकर उन्हें अचेत हो रथपर गिरा हुआ देख सारथि रथद्वारा रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥ ५४ ॥

दृष्ट्वा मद्रेश्वररथं धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखम् ।
सर्वे विमनसो भूत्वा नेदमस्तीत्यचिन्तयन् ॥ ५५ ॥

मद्रराजके रथको युद्धसे विमुख हुआ देख आपके सभी पुत्र मन-ही-मन दुखी हो सोचने लगे—शायद अब मद्रराजका जीवन शेष नहीं है ॥ ५५ ॥

निर्जित्य मातुलं संख्ये माद्रीपुत्रौ महारथौ ।
दध्मतुर्मुदितौ शङ्खौ सिंहनादं च नेदतुः ॥ ५६ ॥

महारथी माद्रीपुत्र युद्धमें अपने मामाको परास्त करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥५६॥

अभिदुद्रुवतुर्हृष्टौ तव सैन्यं विशाम्पते ।
यथा दैत्यचमूं राजन्निन्द्रोपेन्द्राविवामरौ ॥ ५७ ॥

प्रजानाथ! जैसे इन्द्रदेव और उपेन्द्रदेव दैत्योंकी सेनाको मार भगाते हैं, उसी प्रकार नकुल सहदेव हर्षमें भरकर आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये, तब राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुको देखकर उसकी ओर अपने घोड़ोंको बढ़ाया ॥ १ ॥

अभ्यधावत् ततो राजा श्रुतायुषमरिंदमम् ।
विनिघ्नन् सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ॥ २ ॥

उस समय झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा शत्रुदमन श्रुतायुको घायल करते हुए राजा युधिष्ठिरने उसपर धावा किया ॥ २ ॥

स संवार्य रणे राजा प्रेषितान् धर्मसूनुना ।
शरान् सप्त महेष्वासः कौन्तेयाय समार्पयत् ॥ ३ ॥

तब महाधनुर्धर राजा श्रुतायुने युद्धमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चलाये हुए बाणोंका निवारण करके उन कुन्तीकुमारको सात बाण मारे ॥ ३ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
असूनिव विचिन्वन्तो देहे तस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

संग्राममें वे बाण महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें उनके प्राणोंको ढूँढ़ते हुए-से कवच छेदकर घुस गये और उनका रक्त पीने लगे ॥ ४ ॥

पाण्डवस्तु भृशं क्रुद्धो विद्धस्तेन महात्मना।
रणे वराहकर्णेन राजानं हृद्यविध्यत ॥ ५ ॥

महामना श्रुतायुके बाणोंसे घायल होनेपर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने रणक्षेत्रमें वराहकर्ण नामक एक बाण चलाकर राजा श्रुतायुकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

अथापरेण भल्लेन केतुं तस्य महात्मनः।
रथश्रेष्ठो रथात् तूर्णं भूमौ पार्थो न्यपातयत् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भल्ल नामक दूसरे बाणसे महामना श्रुतायुके ध्वजको काटकर तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६ ॥

केतुं विपतितं दृष्ट्वा श्रुतायुः स तु पार्थिवः।
पाण्डवं विशिखैस्तीक्ष्णै राजन् विव्याध सप्तभिः ॥ ७ ॥

राजन्! ध्वजको गिरा हुआ देख राजा श्रुतायुने अपने सात तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततः क्रोधात् प्रजज्वाल धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
यथा युगान्ते भूतानि दिधक्षुरिव पावकः ॥ ८ ॥

यह देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंको जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ८ ॥

क्रुद्धं तु पाण्डवं दृष्ट्वा देवगन्धर्वराक्षसाः।
प्रविव्यथुर्महाराज व्याकुलं चाप्यभूज्जगत् ॥ ९ ॥

महाराज! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कुपित देख देवता, गन्धर्व और राक्षस व्यथित हो उठे तथा सारा जगत् भी भयसे व्याकुल हो गया ॥ ९ ॥

सर्वेषां चैव भूतानामिदमासीन्मनोगतम्।
त्रीँल्लोकानद्य संक्रुद्धो नृपोऽयं धक्ष्यतीति वै ॥ १० ॥

उस समय समस्त प्राणियोंके मनमें यह विचार उठा कि आज निश्चय ही ये राजा युधिष्ठिर कुपित होकर तीनों लोकोंको भस्म कर डालेंगे ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च चक्रुः स्वस्त्ययनं महत्।
लोकानां नृप शान्त्यर्थं क्रोधिते पाण्डवे तदा ॥ ११ ॥

नरेश्वर! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके कुपित होनेपर उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी शान्तिके लिये देवता तथा ऋषिलोग श्रेष्ठ स्वस्तिवाचन करने लगे ॥ ११ ॥

स च क्रोधसमाविष्टः सृक्किणी परिसंलिहन्।
दधारात्मवपुर्घोरं युगान्तादित्यसंनिभम् ॥ १२ ॥

उन्होंने क्रोधसे व्याप्त हो मुखके दोनों कोनोंको चाटते हुए अपने शरीरको प्रलयकालके सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर बना लिया ॥ १२ ॥

ततः सैन्यानि सर्वाणि तावकानि विशाम्पते।
निराशान्यभवंस्तत्र जीवितं प्रति भारत ॥ १३ ॥

प्रजानाथ! भरतनन्दन! उस समय आपकी सारी सेनाएँ वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गयीं ॥ १३ ॥

स तु धैर्येण तं कोपं संनिवार्य महायशाः।
श्रुतायुषः प्रचिच्छेद मुष्टिदेशे महाधनुः ॥ १४ ॥

परंतु महायशस्वी युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक अपने क्रोधको दबा दिया और श्रुतायुके विशाल धनुषको, जहाँ उसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, उसी जगहसे काट दिया ॥ १४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचेन स्तनान्तरे।
निर्बिभेद रणे राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ १५ ॥
सत्वरं च रणे राजंस्तस्य वाहान् महात्मनः।
निजघान शरैः क्षिप्रं सूतं च सुमहाबलः ॥ १६ ॥

राजन्! धनुष कट जानेपर महाबली राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुकी छातीमें नाराचसे प्रहार किया। फिर उन्होंने समस्त सेनाओंके देखते-देखते रणक्षेत्रमें महामना श्रुतायुके घोड़ोंको तुरंत मार डाला और उसके सारथिको भी शीघ्र ही मौतके मुखमें डाल दिया ॥ १५-१६ ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दृष्ट्वा राज्ञोऽस्य पौरुषम्।
विप्रदुद्राव वेगेन श्रुतायुः समरे तदा ॥ १७ ॥

रथके घोड़े मारे गये, यह देखकर तथा युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पुरुषार्थका भी अवलोकन करके श्रुतायु उस समय बड़े वेगसे रथ छोड़कर भाग गया ॥ १७ ॥

तस्मिञ्जिते महेष्वासे धर्मपुत्रेण संयुगे।
दुर्योधनबलं राजन् सर्वमासीत् पराङ्मुखम् ॥ १८ ॥

राजन्! संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिरद्वारा महाधनुर्धर श्रुतायुके पराजित होनेपर दुर्योधनकी सारी सेना पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ १८ ॥

एतत् कृत्वा महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
व्यात्ताननो यथा कालस्तव सैन्यं जघान ह ॥ १९ ॥

महाराज! ऐसा पराक्रम करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुँह फैलाये कालके समान आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥

चेकितानस्तु वार्ष्णेयो गौतमं रथिनां वरम्।
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां छादयामास सायकैः ॥ २० ॥

उधर वृष्णिवंशी चेकितानने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको सब सेनाओंके देखते देखते अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

संनिवार्य शरांस्तांस्तु कृपः शारद्वतो युधि।
चेकितानं रणे यत्तं राजन् विव्याध पत्रिभिः ॥ २१ ॥

राजन्! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने युद्धमें उन सब

बाणोंको काटकर सावधानीके साथ युद्ध करनेवाले चेकितान-को पंखवाले बाणोंसे बींध डाला ॥ २१ ॥

अथापरेण भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष।
सारथिं चास्य समरे क्षिप्रहस्तो न्यपातयत् ॥ २२ ॥

आर्य ! फिर दूसरे भल्लसे उसका धनुष काट दिया और अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरमें उसके सारथि-को भी मार गिराया ॥ २२ ॥

अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
सोऽवप्लुत्य रथात् तूर्णं गदां जग्राह सात्वतः॥ २३॥

राजन् ! तदनन्तर चेकितानके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी कृपाचार्यने मार डाला। तब सात्वतवंशी चेकितानने रथसे कूदकर तुरंत ही गदा हाथमें ले ली।२३।

स तया वीरघातिन्या गदया गदिनां वरः।
गौतमस्य हयान् हत्वा सारथिं च न्यपातयत् ॥ २४ ॥

गदाधारियोंमें श्रेष्ठ चेकितानने उस वीरघातिनी गदासे कृपाचार्यके घोड़ोंको मारकर उनके सारथिको भी धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

भूमिष्ठो गौतमस्तस्य शरांश्चिक्षेप षोडश।
शरास्ते सात्वतं भित्त्वा प्राविशन् धरणीतलम्॥ २५ ॥

तब कृपाचार्यने भूमिपर ही खड़े होकर चेकितानको सोलह बाण मारे। वे बाण चेकितानको छेदकर धरतीमें समा गये ॥ २५ ॥

चेकितानस्ततः क्रुद्धः पुनश्चिक्षेप तां गदाम्।
गौतमस्य वधाकाङ्क्षी वृत्रस्येव पुरंदरः ॥ २६ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए चेकितानने कृपाचार्यके वधकी इच्छासे उनपर पुनः वैसे ही गदाका प्रहार किया, जैसे इन्द्र वृत्रासुरपर प्रहार करते हैं ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं विमलामश्मगर्भां महागदाम्।
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास गौतमः ॥ २७ ॥

उस निर्मल एवं लोहेकी बनी हुई विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख कृपाचार्यने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा दूर गिरा दिया ॥ २७ ॥

चेकितानस्ततः खड्गं क्रोधादुद्धृत्य भारत।
लाघवं परमास्थाय गौतमं समुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

भारत ! तब चेकितानने क्रोधपूर्वक तलवार खींच ली और बड़ी फुर्तीके साथ कृपाचार्यपर धावा किया ॥ २८ ॥

गौतमोऽपि धनुस्त्यक्त्वा प्रगृह्यासिं सुसंयतः।
वेगेन महता राजंश्चेकितानमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

राजन् ! यह देख कृपाचार्यने भी धनुष फेंककर तलवार हाथमें ले ली और पूरी सावधानीके साथ वे बड़े वेगसे चेकितानकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

तावुभौ बलसम्पन्नौ निस्त्रिंशवरधारिणौ।
निस्त्रिंशाभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यामन्योन्यं संततक्षतुः॥ ३०॥

वे दोनों ही बलवान् थे। दोनोंने ही उत्तम खड्ग धारण कर रखे थे। अतः अपनी उन अत्यन्त तीखी तलवारोंसे वे एक दूसरेको काटने लगे ॥ ३० ॥

निस्त्रिंशवेगाभिहतौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ।
धरणीं समनुप्राप्तौ सर्वभूतनिषेविताम् ॥ ३१ ॥

तलवारकी गहरी चोटसे घायल होकर वे दोनों पुरुष-श्रेष्ठ सम्पूर्ण भूतोंकी निवासभूत पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३१ ॥

मूर्छयाभिपरीताङ्गौ व्यायामेन तु मोहितौ।
ततोऽभ्यधावद् वेगेन करकर्षः सुहृत्तया ॥ ३२ ॥
चेकितानं तथाभूतं दृष्ट्वा समरदुर्मदः।
रथमारोपयच्चैनं सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३३ ॥

उनके सारे अङ्गोंमें मूर्छा व्याप्त हो रही थी। दोनों ही अधिक परिश्रमके कारण अचेत हो गये थे। उस समय युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला करकर्ष चेकितानको वैसी अवस्था-में पड़ा देख सौहार्दके नाते बड़े वेगसे दौड़ा और सम्पूर्ण सेनाके देखते-देखते उसने उन्हें अपने रथपर चढ़ा लिया ॥

तथैव शकुनिः शूरः स्यालस्तव विशाम्पते।
आरोपयद् रथं तूर्णं गौतमं रथिनां वरम् ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार आपके साले शूरवीर शकुनिने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको शीघ्र ही अपने रथपर बैठा लिया॥

सौमदत्तिं तथा क्रुद्धो धृष्टकेतुर्महाबलः।
नवत्या सायकैः क्षिप्रं राजन् विव्याध वक्षसि॥ ३५॥

राजन् ! दूसरी ओर महाबली धृष्टकेतुने क्रोधमें भरकर नब्बे बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक भूरिश्रवाकी छातीमें चोट पहुँचायी॥

सौमदत्तिरुरःस्थैस्तैर्भृशं बाणैरशोभत।
मध्यंदिने महाराज रश्मिभिस्तपनो यथा ॥ ३६ ॥

महाराज ! छातीमें धँसे हुए उन बाणोंसे भूरिश्रवा उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे दोपहरके समय सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अधिक प्रकाशित होता है ॥ ३६ ॥

भूरिश्रवास्तु समरे धृष्टकेतुं महारथम्।
हतसूतहयं चक्रे विरथं सायकोत्तमैः ॥ ३७ ॥

तब भूरिश्रवाने समरभूमिमें उत्तम सायकोंद्वारा महारथी धृष्टकेतुके घोड़ों और सारथिको मारकर उन्हें रथहीन कर दिया ॥ ३७ ॥

विरथं तं समालोक्य हताश्वं हतसारथिम्।
महता शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ॥ ३८ ॥

भूरिश्रवाने धृष्टकेतुको घोड़े और सारथिके मारे जानेसे रथहीन हुआ देख युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके ढक दिया ॥ ३८ ॥

स तु तं रथमुत्सृज्य धृष्टकेतुर्महामनाः ।
आरुरोह ततो यानं शतानीकस्य मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! तत्पश्चात् महामना धृष्टकेतु उस रथको छोड़कर शतानीककी सवारीपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा ।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—इन तीन रथियोंने सोनेके कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्युपर धावा किया ॥ ४० ॥

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तब उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी तरह, जैसे शरीरका वात, पित्त और कफ—इन तीनों धातुओंके साथ युद्ध होता रहता है ॥

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे ।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ॥ ४२ ॥

राजन् ! उस महासमरमें आपके पुत्रोंको रथहीन करके पुरुषसिंह अभिमन्युने उस समय भीमसेनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करके उनका वध नहीं किया ॥ ४२ ॥

ततो राज्ञां बहुशतैर्गजाश्वरथयायिभिः ।
संवृतं समरे भीष्मं देवैरपि दुरासदम् ॥ ४३ ॥
प्रयान्तं शीघ्रमुद्वीक्ष्य परित्रातुं सुतांस्तव ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य बालमेकं महारथम् ॥ ४४ ॥
वासुदेवमुवाचेदं कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।

तदनन्तर हाथी, घोड़े और रथपर यात्रा करनेवाले करोड़ों राजाओंसे घिरे हुए भीष्म, जो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय थे, आपके पुत्रोंको बचानेके लिये एकमात्र बालक महारथी अभिमन्युको लक्ष्य करके तीव्र वेगसे आगे बढ़े। उनको उस ओर जाते देख श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्रैते बहुला रथाः ॥ ४५ ॥
एते हि बहवः शूराः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
यथा हन्युर्न नः सेनां तथा माधव चोदय ॥ ४६ ॥

'हृषीकेश ! जहाँ ये बहुत-से रथ जा रहे हैं, उधर ही अपने घोड़ोंको हाँकिये। माधव ! ये अस्त्र-विद्याके विद्वान् तथा रण-दुर्मद बहुसंख्यक शूरवीर जिस प्रकार हमारी सेनाका विनाश न कर सकें, उसी तरह इस रथको वहाँ ले चलिये' ॥ ४५-४६ ॥

एवमुक्तः स वार्ष्णेयः कौन्तेयेनामितौजसा ।
रथं श्वेतहयैर्युक्तं प्रेषयामास संयुगे ॥ ४७ ॥

अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको आगे बढ़ाया ॥ ४७ ॥

निष्टानको महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।
यदर्जुनो रणे क्रुद्धः संयातस्तावकान् प्रति ॥ ४८ ॥

आर्य ! रणभूमिमें क्रुद्ध हुए अर्जुन आपके सैनिकोंकी ओर जाने लगे, उस समय आपकी सेनामें बड़े जोरसे हाहाकार होने लगा ॥ ४८ ॥

समासाद्य तु कौन्तेयो राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ।
सुशर्माणमथो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुनने भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन राजाओंके पास जाकर सुशर्मासे इस प्रकार कहा—॥

जानामि त्वां युधां श्रेष्ठमत्यन्तं पूर्ववैरिणम् ।
अनयस्याद्य सम्प्राप्तं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ५० ॥
अद्य ते दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।

'वीर ! मैं जानता हूँ, तुम पाण्डवोंके पूर्ववैरी और योद्धाओंमें अत्यन्त उत्तम हो। तुमलोगोंने जो अन्याय किया है, उसका यह अत्यन्त भयंकर फल आज प्राप्त हुआ है, इसे देखो। आज मैं तुम्हें तुम्हारे पहलेके मरे हुए पितामहोंका दर्शन कराऊँगा' ॥ ५०½ ॥

एवं संजल्पतस्तस्य बीभत्सोः शत्रुघातिनः ॥ ५१ ॥
श्रुत्वापि परुषं वाक्यं सुशर्मा रथयूथपः ।
न चैनमब्रवीत् किंचिच्छुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ५२ ॥

ऐसा कहते हुए शत्रुघाती अर्जुनके परुष वचनको सुनकर भी रथयूथपति सुशर्मा उनसे भला या बुरा कुछ भी न बोला ॥ ५१-५२ ॥

अभिगम्यार्जुनं वीरं राजभिर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्तात् पृष्ठतश्चैव पार्श्वतश्चैव सर्वतः ॥ ५३ ॥
परिवार्यार्जुनं संख्ये तव पुत्रैर्महारथः ।
शरैः संछादयामास मेघैरिव दिवाकरम् ॥ ५४ ॥

अनेक राजाओंसे घिरे हुए उस महारथीने आपके पुत्रोंको साथ ले युद्धमें वीर अर्जुनके सामने जाकर उन्हें आगे, पीछे और पार्श्व भाग—सब ओरसे घेर लिया और जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ५३-५४ ॥

ततः प्रवृत्तः सुमहान् संग्रामः शोणितोदकः ।
तावकानां च समरे पाण्डवानां च भारत ॥ ५९ ॥

भारत! तत्पश्चात् रणक्षेत्रमें आपके पुत्रों और पाण्डवोंमें खूनको पानीकी तरह बहानेवाला महान् संग्राम छिड़ गया ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे सुशर्मार्जुनसमागमे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धमें सुशर्मा और अर्जुनकी भिड़ंतसे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ

संजय उवाच

स ताड्यमानस्तु शरैर्धनंजयः
पदा हतो नाग इव श्वसन् बली ।
बाणेन बाणेन महारथानां
चिच्छेद चापानि रणे प्रसह्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शत्रुओंके बाणोंसे आहत होकर बलवान् अर्जुन पैरसे कुचले हुए सर्पकी भाँति क्रोधसे लंबी साँस खींचने लगे। उन्होंने बलपूर्वक पृथक्-पृथक् बाण मारकर युद्धमें सभी महारथियोंके धनुष काट डाले ॥

संछिद्य चापानि च तानि राज्ञां
तेषां रणे वीर्यवतां क्षणेन ।
विव्याध बाणैर्युगपन्महात्मा
निःशेषतां तेष्वथ मन्यमानः ॥ २ ॥

रणक्षेत्रमें उन पराक्रमी नरेशोंके धनुषोंको क्षणभरमें काटकर महामना अर्जुनने उनका पूर्णतः संहार कर देनेकी इच्छासे एक ही साथ सबको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २ ॥

निपेतुराजौ रुधिरप्रदिग्धा-
स्ते ताडिताः शक्रसुतेन राजन् ।
विभिन्नगात्राः पतितोत्तमाङ्गा
गतासवश्छिन्नतनुत्रकायाः ॥ ३ ॥

राजन्! इन्द्रपुत्र अर्जुनके द्वारा ताड़ित होकर वे सभी नरेश खूनसे लथपथ हो युद्धभूमिमें गिर पड़े। उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, मस्तक कटकर दूर जा गिरे थे, कवच और शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और इस अवस्थामें पहुँचकर उन्हें अपने प्राण खो देने पड़े थे ॥ ३ ॥

महीं गताः पार्थबलाभिभूता
विचित्ररूपा युगपद् विनेशुः ।
दृष्ट्वा हतांस्तान् युधि राजपुत्रां-
स्त्रिगर्तराजः प्रययौ रथेन ॥ ४ ॥

पार्थके बलसे अभिभूत होकर वे विचित्ररूपधारी राजकुमार एक साथ ही पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये। उन राजपुत्रोंको युद्धमें मारा गया देख त्रिगर्तराज सुशर्माने रथके द्वारा अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

तेषां रथानामथ पृष्ठगोपा
द्वात्रिंशदन्येऽभ्यपतन्त पार्थम् ।
तथैव ते तं परिवार्य पार्थं
विकृष्य चापानि महारवाणि ॥ ५ ॥
अवीवृषन् बाणमहौघवृष्ट्या
यथा गिरिं तोयधरा जलौघैः ।
सम्पीड्यमानस्तु शरौघवृष्ट्या
धनंजयस्तान् युधि जातरोषः ॥ ६ ॥

उन राजपुत्रोंके रथोंके जो दूसरे दूसरे बत्तीस पृष्ठरक्षक थे, वे भी (सुशर्माके साथ ही) अर्जुनपर टूट पड़े। इसी प्रकार उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर महान् टंकार-ध्वनि करनेवाले अपने धनुष खींचे और जैसे मेघ पर्वतपर जलराशिकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगे। उनके बाणसमूहोंकी वर्षासे पीड़ित होकर युद्धस्थलमें अर्जुनके हृदयमें बड़ा भारी रोष हुआ ॥

षष्ट्या शरैः संयति तैलधौतै-
र्जघान तानप्यथ पृष्ठगोपान् ।
रथांश्च तांस्तानवजित्य संख्ये
धनंजयः प्रीतमना यशस्वी ॥ ७ ॥
अथात्वरद् भीष्मवधाय जिष्णु-
र्बलानि राजन् समरे निहत्य ।

उन्होंने रणक्षेत्रमें तेलके धोये हुए साठ बाण मारकर उन पृष्ठरक्षकोंका भी संहार कर दिया। इस प्रकार युद्धभूमिमें उन सभी रथियोंको जीतकर और कौरव-सेनाओंका समरमें संहार करके प्रसन्नचित्त हुए यशस्वी विजयी अर्जुनने भीष्मके वधके लिये शीघ्रता की ॥ ७½ ॥

त्रिगर्तराजो निहतान् समीक्ष्य
महात्मना तानथ बन्धुवर्गान् ॥ ८ ॥

रणे पुरस्कृत्य नराधिपांस्तान्
जगाम पार्थं त्वरितो वधाय।

महामना अर्जुनके द्वारा अपने बन्धुसमूहोंको मारा गया देख त्रिगर्तराज सुप्रसिद्ध नरपतियोंको युद्धके लिये आगे करके तुरंत ही अर्जुनका वध करनेके लिये उनके सामने आया॥

अभिद्रुतं चास्त्रभृतां वरिष्ठं
धनंजयं वीक्ष्य शिखण्डिमुख्याः॥ ९ ॥
अभ्युद्ययुस्ते शितशस्त्रहस्ता
रिरक्षिषन्तो रथमर्जुनस्य।

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनपर आक्रमण होता देख शिखण्डी आदि महारथी उनके रथकी रक्षा करनेके लिये तीखे अस्त्र-शस्त्र हाथमें लिये आगे बढ़े॥ ९½ ॥

पार्थोऽपि तानापततः समीक्ष्य
त्रिगर्तराज्ञा सहितान् नृवीरान्॥ १० ॥
विध्वंसयित्वा समरे धनुष्मान्
गाण्डीवमुक्तैर्निशितैः पृषत्कैः।
भीष्मं यियासुर्युधि संददर्श
दुर्योधनं सैन्धवादींश्च राज्ञः॥ ११ ॥

इधर धनुर्धर अर्जुन भी त्रिगर्तराजके साथ उन नरवीरोंको आते देख संग्रामभूमिमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े हुए तीखे बाणोंद्वारा उन्हें नष्ट करके भीष्मजीके पास जाना चाहते थे, इतनेहीमें उन्होंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ आदिको देखा॥ १०-११ ॥

संवारयिष्णूनभिवारयित्वा
मुहूर्तमायोध्य बलेन वीरः।
उत्सृज्य राजानमनन्तवीर्यो
जयद्रथादींश्च नृपान् महौजाः॥ १२ ॥
ययौ ततो भीमबलो मनस्वी
गाङ्गेयमाजौ शरचापपाणिः।

दुर्योधन और जयद्रथ आदि योद्धा अर्जुनको रोकनेके प्रयत्नमें लगे थे; अतः उस समय अनन्त पराक्रमी एवं महातेजस्वी वीर अर्जुनने दो घड़ीतक बलपूर्वक युद्ध करके उन सबको रोक दिया। तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और जयद्रथ आदि नरेशोंको वहीं छोड़कर भयंकर बलसे सम्पन्न एवं मनस्वी अर्जुन हाथमें धनुष-बाण ले युद्धस्थलमें गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर चल दिये॥ १२½ ॥

(भीष्मोऽपि दृष्ट्वा समरे कृतास्त्रान्
स पाण्डवानां रथिनो ह्युदारान्।
विहाय संग्राममुखे धनंजयं
जवेन पार्थं पुनराजगाम॥)

भीष्म भी अस्त्र-विद्याके विद्वान् एवं उदार पाण्डव-रथियोंको युद्धस्थलमें अपने सामने देखते हुए भी उन सबको वहीं छोड़कर बड़े वेगसे पुनः अर्जुनके पास आये॥

युधिष्ठिरश्च प्रबलो महात्मा
समाययौ त्वरितो जातकोपः॥ १३ ॥
मद्राधिपं समभित्यज्य संख्ये
स्वभागमाप्तं तमनन्तकीर्तिः।
सार्धं स माद्रीसुतभीमसेनै-
र्भीष्मं ययौ शान्तनवं रणाय॥ १४ ॥

उस समय उत्कृष्ट बलशाली अनन्तकीर्ति महात्मा युधिष्ठिर भी युद्धमें अपने भागके रूपमें प्राप्त हुए मद्रराज शल्यको छोड़कर नकुल, सहदेव और भीमसेनके साथ क्रोधपूर्वक तुरंत वहाँसे चल दिये और युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा पहुँचे॥ १३-१४ ॥

तैः सम्प्रयुक्तैः स महारथाग्र्यै-
र्गङ्गासुतः समरे चित्रयोधी।
न विव्यथे शान्तनवो महात्मा
समागतैः पाण्डुसुतैः समस्तैः॥ १५ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ समस्त पाण्डव संगठित होकर वहाँ आ पहुँचे थे तो भी उनसे समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले गङ्गापुत्र शान्तनुनन्दन महात्मा भीष्मको व्यथा नहीं हुई॥

अथैत्य राजा युधि सत्यसंधो
जयद्रथोऽत्युग्रबलो मनस्वी।
चिच्छेद चापानि महारथानां
प्रसह्य तेषां धनुषा वरेण॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ अत्यन्त भयंकर शक्तिशाली और मनस्वी राजा जयद्रथने रणमें सामने आकर अपने उत्तम धनुषद्वारा बलपूर्वक उन महारथियोंके धनुष काट डाले॥१६॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं यमौ च
पार्थं कृष्णं युधि संजातकोपः।
दुर्योधनः क्रोधविषो महात्मा
जघान बाणैरनलप्रकाशैः॥ १७ ॥

क्रोधरूपी विष उगलनेवाले महामनस्वी दुर्योधनने युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर युद्धमें कुपित हो अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया॥

कृपेण शल्येन शलेन चैव
तथा विभो चित्रसेनेन चाजौ।
विद्धाः शरैस्तेऽतिविवृद्धकोपै-
र्देवा यथा दैत्यगणैः समेतैः॥ १८ ॥

प्रभो! जैसे क्रोधमें भरे हुए दैत्यगण एकत्र हो देवताओंपर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य, शल्य, शल तथा

चित्रसेनने युद्धस्थलमें अत्यन्त क्रोधमें भरकर समस्त पाण्डवोंको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १८ ॥

छिन्नायुधं शान्तनवेन राजा
शिखण्डिनं प्रेक्ष्य च जातकोपः ।
अजातशत्रुः समरे महात्मा
शिखण्डिनं क्रुद्ध उवाच वाक्यम् ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने जब शिखण्डीका धनुष काट दिया,* तब समराङ्गणमें अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिर शिखण्डीकी ओर देखकर कुपित हो उठे और उससे क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

उक्त्वा तथा त्वं पितुरग्रतो मा-
महं हनिष्यामि महाव्रतं तम् ।
भीष्मं शरौघैर्विमलार्कवर्णैः
सत्यं वदामीति कृता प्रतिज्ञा ॥ २० ॥
त्वया च नैनां सफलां करोषि
देवव्रतं यन्न निहंसि युद्धे ।
मिथ्याप्रतिज्ञो भव मात्र वीर
रक्ष स्वधर्मं स्वकुलं यशश्च ॥ २१ ॥

'वीर ! तुमने अपने पिताके सामने प्रतिज्ञापूर्वक मुझसे यह कहा था कि 'मैं महान् व्रतधारी भीष्मको निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी बाणसमूहोंद्वारा अवश्य मार डालूँगा, यह बात मैं सत्य कहता हूँ ।' ऐसी प्रतिज्ञा तुमने की थी; परंतु तुम इस प्रतिज्ञाको सफल नहीं करते हो । कारण कि युद्धमें देवव्रत भीष्मका वध नहीं कर रहे हो । झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला न बनो । अपने धर्म, कुल और यशकी रक्षा करो ॥

प्रेक्षस्व भीष्मं युधि भीमवेगं
सर्वांस्तपन्तं मम सैन्यसंघान् ।
शरौघजालैरतितिग्मवेगैः
कालं यथा कालकृतं क्षणेन ॥ २२ ॥

'देखो ! जैसे यमराज समयानुसार उपस्थित होकर क्षणभरमें देहधारीका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार ये युद्धमें भयंकर वेगशाली भीष्म अत्यन्त प्रचण्ड वेगवाले बाणसमूहोंके द्वारा मेरी समस्त सेनाओंको कितना संताप दे रहे हैं ॥ २२ ॥

निकृत्तचापः समरेऽनपेक्षः
पराजितः शान्तनवेन चाजौ ।
विहाय बन्धूनथ सोदरांश्च
क्व यास्यसे नानुरूपं तवेदम् ॥ २३ ॥

'युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया; फिर भी तुम उनकी ओरसे निरपेक्ष हो रहे हो । अपने सगे भाइयोंको छोड़कर कहाँ जाओगे ? यह कायदा तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा हि भीष्मं तमनन्तवीर्यं
भग्नं च सैन्यं द्रवमाणमेवम् ।
भीतोऽसि नूनं द्रुपदस्य पुत्र
तथा हि ते मुखवर्णोऽप्रहृष्टः ॥ २४ ॥

'द्रुपदकुमार ! अनन्त पराक्रमी भीष्मको तथा उनके डरसे इस प्रकार हतोत्साह होकर भागती हुई मेरी इस सेनाको देखकर निश्चय ही तुम डर गये हो; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्ति कुछ ऐसी ही अप्रसन्न दिखायी देती है ॥ २४ ॥

अज्ञायमाने च धनंजयेऽपि
महाहवे सम्प्रसक्ते नृवीरे ।
कथं हि भीष्मात् प्रथितः पृथिव्यां
भयं त्वमद्य प्रकरोषि वीर ॥ २५ ॥

'वीर ! नरवीर अर्जुन कहीं महायुद्धमें फँसे हुए हैं । उनका इस समय पता नहीं है । ऐसे समयमें तुम आज भूमण्डलके विख्यात वीर होकर भीष्मसे भय कैसे कर रहे हो ?' ॥ २५ ॥

स धर्मराजस्य वचो निशम्य
रूक्षाक्षरं विप्रलापानुबद्धम् ।
प्रत्यादेशं मन्यमानो महात्मा
प्रतत्वरे भीष्मवधाय राजन् ॥ २६ ॥

राजन् ! धर्मराजके इस वचनमें प्रत्येक अक्षर रूखेपनसे भरा हुआ था । उसके द्वारा उन्होंने कितनी ही मनके विपरीत बातें कही थीं, तथापि उस वचनको सुनकर महामना शिखण्डीने इसे अपने लिये आदेश माना और तुरंत ही भीष्मका वध करनेके लिये सचेष्ट हो गया ॥ २६ ॥

तमापतन्तं महता जवेन
शिखण्डिनं भीष्ममभिद्रवन्तम् ।
निवारयामास हि शल्य एन-
मस्त्रेण घोरेण सुदुर्जयेन ॥ २७ ॥

शिखण्डीको बड़े वेगसे आते और भीष्मपर धावा करते देख शल्यने अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर अस्त्रसे उसे रोक दिया!

स चापि दृष्ट्वा समुदीर्यमाण-
मस्त्रं युगान्ताग्निसमप्रकाशम् ।
न सम्मुमोह द्रुपदस्य पुत्रो
राजन् महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ॥ २८ ॥

राजन् ! प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस अस्त्रको प्रकट हुआ देखकर देवराज इन्द्रके समान प्रभाव-

---

* भीष्मपितामहने शिखण्डीको अपने ऊपर प्रहार करनेके लिये आया देखकर ही उसके धनुषको काट दिया था, उसके शरीरपर कोई प्रहार नहीं किया । अतः कोई दोष नहीं है ।

शाली द्रुपदकुमार शिखण्डी घबराया नहीं ॥ २८ ॥

तस्थौ च तत्रैव महाधनुष्मा-
ञ्शरैस्तदस्त्रं प्रतिबाधमानः।
अथाददे वारुणमन्यदस्त्रं
शिखण्ड्यथोग्रं प्रतिघातमस्य ॥ २९ ॥

वह महाधनुर्धर वीर अपने बाणोंद्वारा शल्यके अस्त्रका निवारण करता हुआ वहीं डटा रहा। फिर शिखण्डीने शल्यके अस्त्रका प्रतिघात करनेवाले अन्य भयंकर वारुणास्त्रको हाथमें लिया ॥ २९ ॥

तदस्त्रमस्त्रेण विदार्यमाणं
खस्थाः सुरा ददृशुः पार्थिवाश्च।
भीष्मस्तु राजन् समरे महात्मा
धनुश्च चित्रं ध्वजमेव चापि ॥ ३० ॥
छित्त्वानदत् पाण्डुसुतस्य वीरो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।

आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा रणक्षेत्रमें आये हुए राजाओंने देखा, शिखण्डीके दिव्यास्त्रसे शल्यका अस्त्र विदीर्ण हो रहा है। राजन्! महात्मा एवं वीर भीष्म युद्धस्थलमें अजमीढ़कुलनन्दन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके विचित्र धनुष और ध्वजको काटकर गर्जना करने लगे ॥ ३०½ ॥

ततः समुत्सृज्य धनुः सबाणं
युधिष्ठिरं वीक्ष्य भयाभिभूतम् ॥ ३१ ॥
गदां प्रगृह्याभिपपात संख्ये
जयद्रथं भीमसेनः पदातिः।

तब धनुष-बाण फेंककर भयसे दबे हुए युधिष्ठिरको देखकर भीमसेन गदा लेकर युद्धमें पैदल ही राजा जयद्रथपर टूट पड़े ॥ ३१½ ॥

तमापतन्तं सहसा जवेन
जयद्रथः सगदं भीमसेनम् ॥ ३२ ॥
विव्याध घोरैर्यमदण्डकल्पैः
शितैः शरैः पञ्चशतैः समन्तात्।

इस प्रकार सहसा हाथमें गदा लिये भीमसेनको वेगपूर्वक आते देख जयद्रथने यमदण्डके समान भयंकर पाँच सौ तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

अचिन्तयित्वा स शरांस्तरस्वी
वृकोदरः क्रोधपरीतचेताः ॥ ३३ ॥
जघान वाहान् समरे समन्तात्
पारावतान् सिन्धुराजस्य संख्ये।

वेगशाली भीमसेन उसके बाणोंकी कोई परवा न करते हुए मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे। तत्पश्चात् उन्होंने समरभूमिमें सिन्धुराजके कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला ॥ ३३½ ॥

ततोऽभिवीक्ष्याप्रतिमप्रभाव-
स्तवात्मजस्त्वरमाणो रथेन ॥ ३४ ॥
अभ्याययौ भीमसेनं निहन्तुं
समुद्यतास्त्रः सुरराजकल्पः।

यह देखकर आपका अनुपम प्रभावशाली पुत्र देवराजसदृश दुर्योधन भीमसेनको मारनेके लिये हथियार उठाये बड़ी उतावलीके साथ रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ॥ ३४½ ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया तर्जयानः ॥ ३५ ॥

तब भीमसेन भी सहसा सिंहनाद करके गदाद्वारा गर्जन-तर्जन करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़े ॥ ३५ ॥

(जयद्रथो भग्नवाहो रथं तं
त्यक्त्वा ययौ यत्र राजा कुरूणाम्।
स सौबलः सानुगः सानुजश्च
दृष्ट्वा भीमं मूढचेता भयार्तः ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर जयद्रथ उस रथको छोड़कर जहाँ शकुनि, सेवकवृन्द तथा छोटे भाइयोंसहित कुरुराज दुर्योधन था, वहीं चला गया। भीमसेनको देखकर जयद्रथका मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। वह भयसे पीड़ित हो रहा था॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया हन्तुकामः।
स सौबलं तव पुत्रं निरीक्ष्य
दुर्योधनं सानुजं रोषयुक्तः ॥)

भीमसेन भी शकुनि और भाइयोंसहित आपके पुत्र दुर्योधनको देखकर रोषमें भर गये और सहसा गर्जना करके गदाद्वारा जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े ॥

समुद्यतां तां यमदण्डकल्पां
दृष्ट्वा गदां ते कुरवः समन्तात्।
विहाय सर्वे तव पुत्रमुग्रं
पातं गदायाः परिहर्तुकामाः ॥ ३६ ॥
अपक्रान्तास्तुमुले सम्प्रमर्दे
सुदारुणे भारत मोहनीये।
अमूढचेतास्त्वथ चित्रसेनो
महागदामापतन्तीं निरीक्ष्य ॥ ३७ ॥

यमदण्डके समान भयंकर उस गदाको उठी हुई देख समस्त कौरव आपके पुत्रको वहीं छोड़कर गदाके उग्र आघातसे बचनेके लिये चारों ओर भाग गये। भारत! मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त दारुण एवं भयंकर जनसंहारमें उस महागदाको आती देख केवल चित्रसेनका चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ था ॥ ३६-३७ ॥

रथं समुत्सृज्य पदातिराजौ
प्रगृह्य खड्गं विपुलं च चर्म।

अवप्लुतः सिंह इवाचलाग्रा-
ज्जगामान्यं भूमिप भूमिदेशम् ॥ ३८ ॥

राजन्! वह अपने रथको छोड़कर हाथमें बहुत बड़ी ढाल और तलवार ले पर्वतके शिखरसे सिंहकी भाँति कूद पड़ा और पैदल ही विचरता हुआ युद्धस्थलके दूसरे प्रदेशमें चला गया॥ ३८॥

गदापि सा प्राप्य रथं सुचित्रं
साश्वं ससूतं विनिहत्य संख्ये।
जगाम भूमिं ज्वलिता महोल्का
भ्रष्टाम्बराद् गामिव सम्पतन्ती ॥ ३९ ॥

वह गदा भी चित्रसेनके विचित्र रथपर पहुँचकर उसे घोड़े और सारथिसहित चूर-चूर करके आकाशसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाली जलती हुई विशाल उल्काके समान रणभूमिमें जा गिरी॥ ३९॥

आश्चर्यभूतं सुमहत् त्वदीया
दृष्ट्वैव तद् भारत सम्प्रहृष्टाः।
सर्वे विनेदुः सहिताः समन्तात्
पुपूजिरे तव पुत्रस्य शौर्यम् ॥ ४० ॥

भारत! इस समय आपके समस्त सैनिक चित्रसेनका वह महान् आश्चर्यमय कार्य देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी सब ओरसे एक साथ आपके पुत्रके शौर्यकी प्रशंसा और गर्जना करने लगे॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

**विरथं तं समासाद्य चित्रसेनं यशस्विनम्।
रथमारोपयामास विकर्णस्तनयस्तव ॥ १ ॥**

संजय कहते हैं—राजन्! रथहीन हुए अपने यशस्वी भाई चित्रसेनके पास जाकर आपके पुत्र विकर्णने उसे अपने रथपर चढ़ा लिया॥ १॥

**तस्मिंस्तथा वर्तमाने तुमुले संकुले भृशम्।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ २ ॥**

जब इस प्रकार भयंकर और घमासान युद्ध होने लगा, उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्मने तुरंत ही राजा युधिष्ठिरपर धावा किया॥ २॥

**ततः सरथनागाश्वाः समकम्पन्त सृंजयाः।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मेनिरे च युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥**

यह देख सृंजयवीर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित काँप उठे। उन्होंने युधिष्ठिरको मौतके मुखमें पड़ा हुआ ही समझा॥ ३॥

**युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो यमाभ्यां सहितः प्रभुः।
महेष्वासं नरव्याघ्रं भीष्मं शान्तनवं ययौ ॥ ४ ॥**

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी नकुल और सहदेवके साथ महाधनुर्धर पुरुषसिंह शान्तनुनन्दन भीष्मका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ ४॥

**ततः शरसहस्राणि प्रमुञ्चन् पाण्डवो युधि।
भीष्मं संछादयामास यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५ ॥**

जैसे मेघ सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मको आच्छादित कर दिया॥ ५॥

**तेन सम्यक् प्रणीतानि शरजालानि मारिष।
प्रतिजग्राह गाङ्गेयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥**

आर्य! उनके द्वारा अच्छी तरह चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणोंके समूहको गङ्गानन्दन भीष्मने ग्रहण कर लिया (अपने बाणोंद्वारा विफल कर दिया)॥ ६॥

**तथैव शरजालानि भीष्मेणास्तानि मारिष।
आकाशे समदृश्यन्त खगमानां व्रजा इव ॥ ७ ॥**

आर्य! इसी प्रकार भीष्मके चलाये हुए बाणसमूह भी आकाशमें पक्षियोंके झुंडके समान दिखायी देने लगे॥ ७॥

**निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ॥ ८ ॥**

शान्तनुनन्दन भीष्मने युद्धस्थलमें आधे निमेषमें ही

पृथक्-पृथक् बाणोंका जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको अदृश्य कर दिया ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ॥ ९ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने कुरुवंशी महात्मा भीष्मपर विषधर सर्पके समान नाराचका प्रहार किया ॥ ९ ॥

असम्प्राप्तं ततस्तं तु क्षुरप्रेण महारथः ।
चिच्छेद समरे राजन् भीष्मस्तस्य धनुश्च्युतम् ॥ १० ॥

राजन् ! परंतु महारथी भीष्मने युधिष्ठिरके धनुषसे छूटे हुए उस नाराचको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही समरभूमिमें एक क्षुरप्रद्वारा काट गिराया ॥ १० ॥

तं तु छित्त्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार रणभूमिमें कालके समान भयंकर उस नाराचको काटकर भीष्मने कौरवराज युधिष्ठिरके सुवर्णाभूषणोंसे युक्त घोड़ोंको मार डाला ॥ ११ ॥

(हताश्वे तु रथे तिष्ठञ्शक्तिं चिक्षेप धर्मराट् ।
तामापतन्तीं सहसा कालपाशोपमां शिताम् ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥)

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथमें खड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मपर शक्ति चलायी । कालपाशके समान तीखी एवं भयंकर उस शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे रणभूमिमें काट गिराया ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथको त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही महामना नकुलके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १२ ॥

यमावपि हि संक्रुद्धः समासाद्य रणे तदा ।
शरैः संछादयामास भीष्मः परपुरंजयः ॥ १३ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें नकुल और सहदेवको पाकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मने अत्यन्त कुपित हो उन्हें बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

तौ तु दृष्ट्वा महाराज भीष्मबाणप्रपीडितौ ।
जगाम परमां चिन्तां भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाराज ! नकुल और सहदेवको भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित देख युधिष्ठिर अपने मनमें भीष्मके वधकी इच्छा लेकर गहन विचार करने लगे ॥ १४ ॥

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समचोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ॥ १५ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने वशवर्ती नरेशों तथा सुहृद्गणोंको यह आदेश दिया कि सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्मको मार डालो ॥ १५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ॥ १६ ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त राजाओंने विशाल रथसमूहके द्वारा पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स समन्तात् परिवृतः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ॥ १७ ॥

राजन् ! सब ओरसे घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियोंको धराशायी करते हुए अपने धनुषके द्वारा क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ॥ १८ ॥

जैसे सिंहका बच्चा वनके भीतर मृगोंके झुंडमें घुसकर खेल कर रहा हो, उसी प्रकार कुन्तीकुमारोंने युद्धमें विचरते हुए कुरुवंशी भीष्मको वहाँ देखा ॥ १८ ॥

तर्जयानं रणे वीरांस्त्रासयानं च सायकैः ।
दृष्ट्वा त्रेसुर्महाराज सिंहं मृगगणा इव ॥ १९ ॥

महाराज ! वे रणभूमिमें वीरोंको डाँटते और बाणोंके द्वारा उन्हें त्रास देते थे । जैसे मृगोंके समूह सिंहको देखकर डर जाते हैं, उसी प्रकार सब राजा भीष्मको देखकर भयभीत हो गये ॥ १९ ॥

रणे भारतसिंहस्य ददृशुः क्षत्रिया गतिम् ।
अग्नेर्वायुसहायस्य यथा कक्षं दिधक्षतः ॥ २० ॥

जैसे वायुकी सहायतासे घास-फूसको जलानेकी इच्छावाली अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भरतवंशके सिंह भीष्मके स्वरूपको रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंने अत्यन्त तेजस्वी देखा ॥ २० ॥

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ॥ २१ ॥

भीष्म उस युद्धस्थलमें रथियोंके मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़के वृक्षोंसे पके हुए फलोंको गिरा रहा हो ॥ २१ ॥

पतद्भिश्च महाराज शिरोभिर्धरणीतले ।
बभूव तुमुलः शब्दः पततामश्मनामिव ॥ २२ ॥

महाराज ! भूतलपर पटापट गिरते हुए मस्तकोंका आकाशसे पृथ्वीपर पड़नेवाले पत्थरोंके समान भयंकर शब्द हो रहा था ॥ २२ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके ।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ २३ ॥

उस भयानक तुमुल युद्धके होते समय सभी सेनाओंका आपसमें भारी संघर्ष हो गया ॥ २३ ॥

भिन्नेषु तेषु व्यूहेषु क्षत्रिया इतरेतरम् ।
एकमेकं समाहूय युद्धायैवावतस्थिरे ॥ २४ ॥

उन सबका व्यूह भङ्ग हो जानेपर भी सम्पूर्ण क्षत्रिय परस्पर एक-एकको ललकारते हुए युद्धके लिये डटे ही रहे ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

शिखण्डी भरतवंशके पितामह भीष्मके पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा और बोला—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २५ ॥

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे ।
प्रययौ सृंजयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः॥२६॥

किंतु भीष्मने शिखण्डीके स्त्रीत्वका चिन्तन करके युद्धमें उसकी अवहेलना कर दी और संजयवंशी क्षत्रियोंपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥ २६ ॥

सृंजयास्तु ततो दृष्ट्वा हृष्टं भीष्मं महारणे ।
सिंहनादांश्च विविधांश्चक्रुः शङ्खविमिश्रितान् ॥ २७ ॥

तब संजयगण उस महायुद्धमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए भीष्मको देखकर शङ्खध्वनिके साथ नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो ॥ २८ ॥

प्रभो ! जब सूर्य पश्चिम दिशामें ढलने लगे, उस समय युद्धका रूप और भी भयंकर हो गया । रथसे रथ और हाथी-से हाथी भिड़ गये ॥ २८ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः ॥ २९ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि ये दोनों शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे कौरवसेनाको अत्यन्त पीड़ा देने लगे ॥ २९ ॥

शस्त्रैश्च बहुभी राजञ्जघ्नतुस्तावकान् रणे ।
ते हन्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ॥ ३० ॥
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम् ।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावका रणे ॥ ३१ ॥

राजन् ! उन दोनोंने युद्धमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों-द्वारा आपके सैनिकोंका संहार करना आरम्भ किया । भरत-श्रेष्ठ ! उनके द्वारा समरमें मारे जाते हुए आपके सैनिक युद्ध-विषयक श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर ही संग्राम छोड़कर भाग नहीं रहे थे । आपके योद्धा भी रणक्षेत्रमें पूर्ण उत्साहके साथ शत्रुओंका संहार करते थे ॥ ३०-३१ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तावकानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् पार्षतेन महात्मना ॥ ३२ ॥

राजन् ! महामना धृष्टद्युम्न समराङ्गणमें जब आपके योद्धाओंका वध कर रहे थे, उस समय उन महामनस्वी वीरोंका आर्तक्रन्दन बड़े जोरसे सुनायी देता था ॥ ३२ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां महारथौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पार्षतं प्रत्युपस्थितौ ॥ ३३ ॥

आपके सैनिकोंका वह घोर आर्तनाद सुनकर अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये उपस्थित हुए ॥ ३३॥

तौ तस्य तुरगान् हत्वा त्वरमाणौ महारथौ ।
छादयामासतुरुभौ शरवर्षेण पार्षतम् ॥ ३४ ॥

उन दोनों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्न-के घोड़ोंको मारकर उन्हें भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया॥

अवप्लुत्याथ पाञ्चाल्यो रथात् तूर्णं महाबलः ।
आरुरोह रथं तूर्णं सात्यकेस्तु महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब महाबली धृष्टद्युम्न तुरंत ही अपने रथसे कूदकर महामना सात्यकिके रथपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ गये ॥ ३५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा महत्या सेनया वृतः ।
आवन्त्यौ समरे क्रुद्धावभ्ययात् स परंतपौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको तपानेवाले और क्रोधमें भरे हुए विन्द-अनुविन्दपर आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

तथैव तव पुत्रोऽपि सर्वोद्योगेन मारिष ।
विन्दानुविन्दौ समरे परिवार्यावतस्थिवान् ॥ ३७ ॥

आर्य ! इसी प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन भी सम्पूर्ण उद्योगसे समरभूमिमें विन्द और अनुविन्दकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया ॥ ३७ ॥

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३८ ॥

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित होकर क्षत्रियोंके साथ संग्रामभूमिमें उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंके साथ करते हैं ॥ ३८ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव ।
व्यधमत् सर्वपञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः ॥ ३९ ॥

आपके पुत्रका प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्धमें कुपित

होकर समस्त पाञ्चालोंका विनाश करने लगे, मानो आग रूईके ढेरको जला रही हो ॥ ३९ ॥

दुर्योधनपुरोगास्तु पुत्रास्तव विशाम्पते ।
परिवार्य रणे भीष्मं युयुधुः पाण्डवैः सह ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! आपके दुर्योधन आदि पुत्र रणक्षेत्रमें भीष्मको घेरकर पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वांस्त्वरध्वमिति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, तब राजा दुर्योधनने आपके सभी योद्धाओंसे कहा—जल्दी करो ॥ ४१ ॥

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ॥ ४२ ॥
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।
गोमायुगणसंकीर्णा क्षणेन क्षणदामुखे ॥ ४३ ॥

फिर तो वे सब योद्धा वेगसे युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम प्रकट करने लगे । उसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये और उनका प्रकाश लुप्त हो गया । इस प्रकार संध्या होते-होते क्षणभरमें रक्तके प्रवाहसे परिपूर्ण भयानक नदी बह चली और उसके तटपर गीदड़ोंकी भीड़ जमा हो गयी ॥४२-४३॥

शिवाभिरशिवाभिश्च रुवद्भिर्भैरवं रवम् ।
घोरमायोधनं जज्ञे भूतसंघैः समाकुलम् ॥ ४४ ॥

भैरव रव फैलानेवाली अमङ्गलमयी सियारिनों तथा भूतगणोंसे व्याप्त होकर वह युद्धका मैदान अत्यन्त भयानक हो गया ॥ ४४ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च तथान्ये पिशिताशिनः ।
समन्ततो व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४५ ॥

चारों ओर राक्षस, पिशाच तथा अन्य मांसाहारी जन्तु सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दिखायी देने लगे ॥ ४५ ॥

अर्जुनोऽथ सुशर्मादीन् राज्ञस्तान् सपदानुगान् ।
विजित्य पृतनामध्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर अर्जुन राजा दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सुशर्मा आदिको सेनामें पराजित करके अपने शिविरको चले गये ।४६।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भ्रातृभ्यां सहितस्तथा।
ययौ स्वशिबिरं राजा निशायां सेनया वृतः ॥ ४७ ॥

तथा सेनासे घिरे हुए कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिर भी दोनों भाई नकुल-सहदेवके साथ रातमें अपने शिविरमें पधारे ॥

भीमसेनोऽपि राजेन्द्र दुर्योधनमुखान् रथान् ।
अवजित्य ततः संख्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! तब भीमसेन भी दुर्योधन आदि रथियोंको युद्धमें जीतकर शिविरको लौट गये ॥ ४८ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिः परिवार्य महारणे ।
भीष्मं शान्तनवं तूर्णं प्रयातः शिबिरं प्रति ॥ ४९ ॥

राजा दुर्योधन भी महायुद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको घेरकर तुरंत ही अपने शिविरको लौट गया ॥ ४९ ॥

द्रोणो द्रौणिः कृपः शल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।
परिवार्य चमूं सर्वां प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ५० ॥

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य तथा यदुवंशी कृतवर्मा—ये सारी सेनाको घेरकर अपने शिविरकी ओर चल दिये ॥ ५० ॥

तथैव सात्यकी राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
परिवार्य रणे योधान् ययतुः शिबिरं प्रति ॥ ५१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार सात्यकि और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी युद्धमें अपने योद्धाओंको घेरकर शिविरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५१ ॥

एवमेते महाराज तावकाः पाण्डवैः सह ।
पर्यवर्तन्त सहिता निशाकाले परंतप ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! इस प्रकार रातके समय आपके योद्धा पाण्डवोंके साथ अपने-अपने शिविरमें लौट आये ॥ ५२ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ॥ ५३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् पाण्डव तथा कौरव अपने शिबिरमें जाकर आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ॥ ५३ ॥

रक्षां कृत्वा ततः शूरा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि ।
अपनीय च शल्यानि स्नात्वा च विविधैर्जलैः ॥ ५४ ॥
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे संस्तूयन्तश्च वन्दिभिः ।
गीतवादित्रशब्देन व्यक्रीडन्त यशस्विनः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर उभय पक्षके शूरवीरोंने सब ओर सैनिक गुल्मोंको* नियुक्त करके विधिपूर्वक अपने-अपने शिविरोंकी रक्षाकी व्यवस्था की । फिर अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर भाँति-भाँतिके जलसे स्नान करके स्वस्तिवाचन करानेके अनन्तर बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे सभी यशस्वी वीर गीत और वाद्योंके शब्दोंसे क्रीडा-विनोद करने लगे ॥ ५४-५५ ॥

मुहूर्तादिव तत् सर्वमभवत् स्वर्गसंनिभम् ।
न हि युद्धकथां कांचित् तत्राकुर्वन् महारथाः॥ ५६ ॥

* गुल्मका अर्थ है—प्रधान पुरुषोंसे युक्त रक्षकदल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घुड़सवार और ४५ पैदल सैनिक होते हैं।

दो घड़ीतक वहाँका सब कुछ स्वर्गसदृश जान पड़ा। उस समय वहाँ महारथियोंने युद्धकी कोई बातचीत नहीं की॥

ते प्रसुप्ते बले तत्र परिश्रान्तजने नृप।
हस्त्यश्वबहुले रात्रौ प्रेक्षणीये बभूवतुः॥ ५७॥

नरेश्वर! जिनमें हाथी और घोड़ोंकी अधिकता थी, उन दोनों पक्षकी सेनाओंमें सब लोग परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे। रातके समय जब दोनों सेनाएँ सो गयीं, उस समय वे देखने योग्य हो गयीं॥ ५७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमदिवसयुद्धावहारे षडशीतितमोऽध्यायः॥ ८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धका विरामविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः।
कुरवः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुखका अनुभव करके वह रात बिताकर पुनः युद्धके लिये निकले॥ १॥

ततः शब्दो महानासीत् सैन्ययोरुभयोर्नृप।
निर्गच्छमानयोः संख्ये सागरप्रतिमो महान्॥ २॥

महाराज! वे दोनों सेनाएँ जब युद्धके लिये शिबिरसे बाहर निकलने लगीं, उस समय संग्रामभूमिमें महासागरकी गर्जनाके समान महान् घोष होने लगा॥ २॥

ततो दुर्योधनो राजा चित्रसेनो विविंशतिः।
भीष्मश्च रथिनां श्रेष्ठो भारद्वाजश्च वै नृप॥ ३॥
एकीभूताः सुसंयत्ताः कौरवाणां महाचमूम्।
व्यूहाय विदधू राजन् पाण्डवान् प्रति दंशिताः॥ ४॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन, चित्रसेन, विविंशति, रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तथा द्रोणाचार्य—ये सब संगठित एवं सावधान होकर पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये कवच बाँधकर कौरवोंके विशाल सैन्यकी व्यूह-रचना करने लगे॥ ३-४॥

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम्॥ ५॥

प्रजानाथ! आपके ताऊ भीष्मने समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर महाव्यूहका निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगोंके समान प्रतीत होते थे॥ ५॥

अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः॥ ६॥

शान्तनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण सेनाओंके आगे-आगे चले। उनके साथ मालवा, दक्षिण प्रान्त तथा अवन्तीदेशके योद्धा थे॥

ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान्।
पुलिन्दैः पारदैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः॥ ७॥

उनके पीछे पुलिन्द, पारद, क्षुद्रक तथा मालवदेशीय वीरोंके साथ प्रतापी द्रोणाचार्य थे॥ ७॥

द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान्।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशाम्पते॥ ८॥

प्रजेश्वर! द्रोणके पीछे मागध, कलिंग और पिशाच सैनिकोंके साथ प्रतापी राजा भगदत्त जा रहे थे, जो बड़े सावधान थे॥ ८॥

प्राग्ज्योतिषादनु नृपः कौसल्योऽथ बृहद्बलः।
मेकलैः कुरुविन्दैश्च त्रैपुरैश्च समन्वितः॥ ९॥

प्राग्ज्योतिषपुरनरेशके पीछे कोसलदेशके राजा बृहद्बल थे, जो मेकल, कुरुविन्द तथा त्रिपुराके सैनिकोंके साथ थे॥

बृहद्बलात् ततः शूरस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः।
काम्बोजैर्बहुभिः सार्धं यवनैश्च सहस्रशः॥ १०॥

बृहद्बलके बाद शूरवीर त्रिगर्त थे, जो प्रस्थलाके अधिपति थे। उनके साथ बहुत-से काम्बोज और सहस्रों यवन योद्धा थे॥ १०॥

द्रौणिस्तु रभसः शूरस्त्रैगर्तादनु भारत।
प्रययौ सिंहनादेन नादयानो धरातलम्॥ ११॥

भारत! त्रिगर्तके पीछे वेगशाली वीर अश्वत्थामा चल रहे थे, जो अपने सिंहनादसे समस्त धरातलको निनादित कर रहे थे॥ ११॥

तथा सर्वेण सैन्येन राजा दुर्योधनस्तदा।
द्रौणेरनन्तरं प्रायात् सोदर्यैः परिवारितः॥ १२॥

अश्वत्थामाके पीछे सम्पूर्ण सेना तथा भाइयोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन चल रहा था॥ १२॥

दुर्योधनादनु ततः कृपः शारद्वतो ययौ।
एवमेष महाव्यूहः प्रययौ सागरोपमः॥ १३॥

दुर्योधनके पीछे शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य चल रहे थे। इस प्रकार यह सागरके समान महाव्यूह युद्धके लिये प्रस्थान कर रहा था ॥ १३ ॥

रेजुस्तत्र पताकाश्च श्वेतच्छत्राणि वा विभो।
अङ्गदान्यत्र चित्राणि महार्हाणि धनूंषि च ॥ १४ ॥

प्रभो ! उस सेनामें बहुत-सी पताकाएँ और श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे। विचित्र रंगके बहुमूल्य बाजूबन्द और धनुष सुशोभित होते थे ॥ १४ ॥

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ॥ १५ ॥

राजन्! आपके सैनिकोंका वह महाव्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिरने तुरंत ही सेनापति धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ १५ ॥

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम्।
प्रतिव्यूहं त्वमपि हि कुरु पार्षत सत्वरम् ॥ १६ ॥

'महाधनुर्धर द्रुपदकुमार ! देखो, शत्रुसेनाका व्यूह सागरके समान बनाया गया है। तुम भी उसके मुकाबिलेमें शीघ्र ही अपनी सेनाका व्यूह बना लो' ॥ १६ ॥

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम्।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ॥ १७ ॥

महाराज ! तदनन्तर क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नने अत्यन्त दारुण शृङ्गाटक (सिंघाड़े) के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रुके व्यूहका विनाश करनेवाला था ॥ १७ ॥

शृङ्गाभ्यां भीमसेनश्च सात्यकिश्च महारथः।
रथैरनेकसाहस्रैस्तथा हयपदातिभिः ॥ १८ ॥

उसके दोनों शृङ्गोंके स्थानमें भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंके साथ मौजूद थे ॥ १८ ॥

ताभ्यां बभौ नरश्रेष्ठः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
मध्ये युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १९ ॥

भीमसेन और सात्यकिके बीचमें यानी उस व्यूहके अग्रभागमें नरश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन खड़े हुए, जिनके सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। मध्यदेशमें राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव थे ॥

अथोत्तरे महेष्वासाः सहसैन्या नराधिपाः।
व्यूहं तं पूरयामासुर्व्यूहशास्त्रविशारदाः ॥ २० ॥

इनके बाद सेनासहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्रके पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने उस व्यूहको प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गसे परिपूर्ण किया था ॥ २० ॥

अभिमन्युस्ततः पश्चाद् विराटश्च महारथः।
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ २१ ॥

उस व्यूहके पिछले भागमें अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्षमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे ॥ २१ ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार अपनी सेनाके इस महाव्यूहका निर्माण करके युद्धकी कामना और विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव समरभूमिमें खड़े थे ॥ २२ ॥

भेरीशब्दैश्च विमलैर्विमिश्रैः शङ्खनिःस्वनैः।
क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैर्नादिताः सर्वतो दिशः ॥ २३ ॥

उस समय रणभेरियाँ बज रही थीं। उनके निर्मल शब्दोंसे मिली हुई शङ्ख-ध्वनियों तथा गर्जनसे, ताल ठोंकने और उच्चस्वरसे पुकारने आदिके शब्दोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ २३ ॥

ततः शूराः समासाद्य समरे ते परस्परम्।
नेत्रैरनिमिषै राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर समस्त शूरवीर समरभूमिमें पहुँचकर परस्पर एक-दूसरेको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ २४ ॥

नामभिस्ते मनुष्येन्द्र पूर्वं योधाः परस्परम्।
युद्धाय समवर्तन्त समाहूयेतरेतरम् ॥ २५ ॥

नरेन्द्र ! पहले उन योद्धाओंने एक-दूसरेके नाम ले-लेकर पुकार-पुकारकर युद्धके लिये परस्पर आक्रमण किया ॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम्।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आपके और पाण्डवोंके सैनिक एक-दूसरेपर अस्त्रोंद्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होने लगा ॥ २६ ॥

नाराचा निशिताः संख्ये सम्पतन्ति स्म भारत।
व्यात्तानना भयकरा उरगा इव संघशः ॥ २७ ॥

भारत ! उस समय युद्धमें तीखे नाराच नामक बाण इस प्रकार पड़ते थे, मानो मुख फैलाये हुए भयंकर नाग झुंड-के-झुंड गिर रहे हों ॥ २७ ॥

निष्पेतुर्विमलाः शक्त्यस्तैलधौताः सुतेजनाः।
अम्बुदेभ्यो यथा राजन् भ्राजमानाः शतह्रदाः ॥ २८ ॥

राजन् ! तेलकी धोयी चमचमाती हुई तीखी शक्तियाँ बादलोंसे गिरनेवाली कान्तिमती बिजलियोंके समान सब ओर गिर रही थीं ॥ २८ ॥

गदाश्च विमलैः पट्टैः पिनद्धाः स्वर्णभूषितैः।
पतन्त्यस्तत्र दृश्यन्ते गिरिशृङ्गोपमाः शुभाः ॥ २९ ॥

सुवर्णभूषित निर्मल लोहपत्रसे जड़ी हुई सुन्दर गदाएँ

पर्वत-शिखरोंके समान वहाँ गिरती दिखायी देती थीं ॥२९॥

निस्त्रिंशाश्च व्यदृश्यन्त विमलाम्बरसंनिभाः ।
आर्षभाणि विचित्राणि शतचन्द्राणि भारत ॥ ३० ॥
अशोभन्त रणे राजन् पात्यमानानि सर्वशः ।

भारत! स्वच्छ आकाशके सदृश खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे विभूषित ऋषभचर्मकी विचित्र ढालें दृष्टिगोचर हो रही थीं। राजन्! रणभूमिमें गिरायी जाती हुई वे सब-की-सब तलवारें और ढालें बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३०½ ॥

तेऽन्योन्यं समरे सेने युध्यमाने नराधिप ॥ ३१ ॥
अशोभेतां यथा देवदैत्यसेने समुद्यते ।

नरेश्वर! दोनों पक्षोंकी सेनाएँ समरभूमिमें एक-दूसरीसे जूझ रही थीं। उस समय परस्पर युद्धके लिये उद्यत हुई देवसेना और दैत्यसेनाके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥

अभ्यद्रवन्त समरे तेऽन्योन्यं वै समन्ततः ॥ ३२ ॥

वे कौरव-पाण्डव सैनिक सब ओर समराङ्गणमें एक-दूसरेपर धावा करने लगे ॥ ३२ ॥

रथास्तु रथिभिस्तूर्णं प्रेषिताः परमाहवे ।
युगैर्युगानि संश्लिष्य युयुधुः पार्थिवर्षभाः ॥ ३३ ॥

रथी अपने रथोंको तुरंत ही उस महायुद्धमें दौड़ाकर ले आये। श्रेष्ठ नरेश रथके जुओंसे जुए भिड़ाकर युद्ध करने लगे ॥

दन्तिनां युध्यमानानां संघर्षात् पावकोऽभवत् ।
दन्तेषु भरतश्रेष्ठ सधूमः सर्वतोदिशम् ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण दिशाओंमें परस्पर जूझते हुए दन्तार हाथियोंके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे उनमें धूमसहित अग्नि प्रकट हो जाती थी ॥ ३४ ॥

प्रासैरभिहताः केचिद् गजयोधाः समन्ततः ।
पतमानाः स्म दृश्यन्ते गिरिशृङ्गान्नगा इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथीसवार प्रासोंसे घायल होकर पर्वत-शिखरसे गिरनेवाले वृक्षोंके समान सब ओर हाथियोंकी पीठोंसे गिरते दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

पादाताश्चाप्यदृश्यन्त निघ्नन्तोऽथ परस्परम् ।
चित्ररूपधराः शूरा नखरप्रासयोधिनः ॥ ३६ ॥

बघनखों एवं प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पैदल सैनिक एक दूसरेपर प्रहार करते हुए विचित्र रूपधारी दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

अन्योन्यं ते समासाद्य कुरुपाण्डवसैनिकाः ।
अस्त्रैर्नानाविधैर्घोरै रणे निन्युर्यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव सैनिक रणक्षेत्रमें एक दूसरेसे भिड़कर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्रोंद्वारा विपक्षियोंको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ ३७ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन् ।
अभ्यागमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ॥ ३८ ॥

इतनेहीमें शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते और धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको मूर्च्छित करते हुए समरभूमिमें पाण्डवसैनिकोंपर चढ़ आये ॥

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम् ।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयंकर नाद करते हुए युद्धके लिये संनद्ध होकर उनका सामना करनेको दौड़े ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
नराश्वरथनागानां व्यतिषक्तं परस्परम् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! फिर तो आपके और पाण्डवोंके योद्धाओंमें परस्पर घमासान युद्ध छिड़ गया। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धारम्भे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत

संजय उवाच

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस समरमें कुपित हो सब ओर अपना प्रताप प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डवसैनिक उनकी ओर देख न सके ॥ १ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं मर्दयन्तं शितैः शरैः ॥ २ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ीं, जो अपने तीखे बाणोंसे पाण्डवसेनाका मर्दन कर रहे थे ॥ २ ॥

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सहसृंजयान्।
पञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ॥ ३ ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणोंके द्वारा सोमक, सृंजय और पाञ्चाल महाधनुर्धरोंको रणभूमिमें गिराने लगे ॥ ३ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह।
भीष्ममेवाभ्ययुस्तूर्णं त्यक्त्वा मृत्युकृतं भयम् ॥ ४ ॥

भीष्मके द्वारा घायल किये जाते हुए वे सोमक (सृंजय) और पाञ्चाल भी मृत्युका भय छोड़कर तुरंत भीष्मपर ही टूट पड़े ॥ ४ ॥

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ॥ ५ ॥

राजन्! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धके मैदानमें सहसा उन रथियोंकी भुजाओं और मस्तकोंको काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

विरथान् रथिनश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव।
पतितान्युत्तमाङ्गानि हयेभ्यो हयसादिनाम् ॥ ६ ॥

आपके ताऊ देवव्रतने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया। घोड़ोंसे घुड़सवारोंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ॥

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान्।
अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ॥ ७ ॥

महाराज! हमने देखा, भीष्मके अस्त्रसे मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमिमें पड़े हैं और उनके पास कोई मनुष्य नहीं है ॥ ७ ॥

न तत्रासीत् पुमान् कश्चित् पाण्डवानां विशाम्पते।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ॥ ८ ॥

प्रजानाथ! उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली भीमसेनके सिवा पाण्डवपक्षका कोई भी वीर भीष्मके सामने नहीं ठहर सका ॥ ८ ॥

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे।
ततो निष्टानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ॥ ९ ॥
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ॥ १० ॥

वे ही युद्धमें भीष्मका सामना करते हुए उनपर अपने बाणोंका प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेनमें युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओंमें भयंकर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्षमें भरकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ९-१० ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः।
भीष्मं जुगोप समरे वर्तमाने जनक्षये ॥ ११ ॥

जिस समय युद्धमें वह जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और भीष्मकी रक्षा करने लगा ॥ ११ ॥

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः।
प्रद्रुताश्वे रथे तस्मिन् द्रवमाणे समन्ततः ॥ १२ ॥

इसी समय रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने भीष्मके सारथिको मार डाला। फिर तो उनके घोड़े उस रथको लेकर रणभूमिमें चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ १२ ॥

(चचार युधि राजेन्द्र भीमो भीमपराक्रमः।
सुनाभस्तव पुत्रो वै भीमसेनमुपाद्रवत् ॥
जघान निशितैर्बाणैर्भीमं विव्याध सप्तभिः।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः शरेण नतपर्वणा ॥)
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! भयंकर पराक्रमी भीमसेन युद्धमें सब ओर विचरने लगे। उस समय आपके पुत्र सुनाभने भीमसेनपर धावा किया और उन्हें सात तीखे बाणोंसे बींध डाला। भारत! तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले क्षुरप्रनामक बाणसे शीघ्र ही सुनाभका सिर काट दिया। उस तीखे क्षुरप्रसे मारा जाकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे।
नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ॥ १४ ॥

महाराज! आपके उस महारथी पुत्रके मारे जानेपर उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं मौजूद थे, भीमसेनका यह अपराध सहन न कर सके ॥ १४ ॥

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ॥ १५ ॥
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामारिमर्दनाः ॥ १६ ॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक और अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषासे सुसज्जित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये संग्रामभूमिमें युद्धकी इच्छासे पाण्डुपुत्र भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १५-१६ ॥

महोदरस्तु समरे भीमं विव्याध पत्रिभिः।
नवभिर्वज्रसंकाशैर्नमुचिं वृत्रहा यथा ॥ १७ ॥

जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचि नामक दैत्यपर प्रहार किया था, उसी प्रकार महोदरने समरभूमिमें अपने वज्र-सरीखे नौ बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ॥ १७ ॥

आदित्यकेतुः सप्तत्या बह्वाशी चापि पञ्चभिः।
नवत्या कुण्डधारश्च विशालाक्षश्च पञ्चभिः ॥ १८ ॥

अपराजितो महाराज पराजिष्णुर्महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आदित्यकेतुने सत्तर, बह्वाशीने पाँच, कुण्डधारने नब्बे, विशालाक्षने पाँच और अपराजितने महारथी महाबली भीमसेनको पराजित करनेके लिये उन्हें बहुत-से बाणोंद्वारा पीडित किया ॥ १८-१९ ॥

रणे पण्डितकश्चैनं त्रिभिर्बाणैः समार्पयत् ।
स तन्न ममृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ॥ २० ॥

पण्डितकने उस युद्धमें तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया । तब भीम उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये हुए प्रहारको सहन न कर सके ॥ २० ॥

धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ॥ २१ ॥
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ।

उन शत्रुसूदन वीरने बायें हाथसे धनुषको अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे समर-भूमिमें आपके पुत्र अपराजितका सुन्दर नासिकासे युक्त मस्तक काट डाला ॥

पराजितस्य भीमेन निपपात शिरो महीम् ॥ २२ ॥
अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २३ ॥

भीमसेनसे पराजित हुए अपराजितका मस्तक धरतीपर जा गिरा । तत्पश्चात् भीमसेनने एक दूसरे भल्लके द्वारा सब लोगोंके देखते-देखते महारथी कुण्डधारको यमराजके लोकमें भेज दिया ॥ २२-२३ ॥

ततः पुनरमेयात्मा प्रसंधाय शिलीमुखम् ।
प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने समरमें पुनः एक बाणका संधान करके उसे पण्डितककी ओर चलाया ॥

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम् ।
यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालचोदितः ॥ २५ ॥

जैसे कालप्रेरित सर्प किसी मनुष्यको शीघ्र ही डँसकर लापता हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितककी हत्या करके धरतीमें समा गया ॥ २५ ॥

विशालाक्षशिरश्छित्त्वा पातयामास भूतले ।
त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ॥ २६ ॥

उसके बाद उदार हृदयवाले भीमने अपने पूर्व क्लेशोंका स्मरण करके तीन बाणोंद्वारा विशालाक्षके मस्तकको काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ २६ ॥

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे ।
विव्याध समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने महाधनुर्धर महोदरकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया । उससे मारा जाकर वह युद्धमें धरतीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

आदित्यकेतोः केतुं च छित्त्वा बाणेन संयुगे ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ॥ २८ ॥

भारत ! तदनन्तर भीमने रणक्षेत्रमें एक बाणसे आदित्यकेतुकी ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्लके द्वारा उसका मस्तक भी काट दिया ॥ २८ ॥

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने झुकी हुई गाँठ-वाले बाणसे मारकर बह्वाशीको यमलोक भेज दिया ॥२९॥

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते ।
मन्यमाना हि तत् सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेनके द्वारा सभामें की हुई उस प्रतिज्ञाको सत्य मानकर वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

ततो दुर्योधनो राजा भ्रातृव्यसनकर्शितः ।
अब्रवीत् तावकान् योधान् भीमोऽयं युधि वध्यताम् ३१

भाइयोंके मरनेसे राजा दुर्योधनको बड़ा कष्ट हुआ । अतः उसने आपके समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि इस भीमसेनको युद्धमें मार डालो ॥ ३१ ॥

एवमेते महेष्वासाः पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भ्रातॄन् संदृश्य निहतान् प्रास्मरंस्ते हि तद् वचः ॥ ३२ ॥
यदुक्तवान् महाप्राज्ञः क्षत्ता हितमनामयम् ।
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दिव्यदर्शिनः ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर पुत्र अपने भाइयोंको मारा गया देख उन बातोंकी याद करने लगे, जिन्हें महाज्ञानी विदुरने कहा था । वे सोचने लगे—दिव्यदर्शी विदुरने हमारे कुशल एवं हितके लिये जो बात कही थी, वह आज सिरपर आ गयी ॥ ३२-३३ ॥

लोभमोहसमाविष्टः पुत्रप्रीत्या जनाधिप ।
न बुध्यसे पुरा यत् तत् तथ्यमुक्तं वचो महत् ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! आपने अपने पुत्रोंके प्रति प्रेमके कारण लोभ और मोहके वशीभूत हो, विदुरने पहले जो सत्य एवं हितकी महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी, उसपर ध्यान नहीं दिया ॥३४॥

तथैव च वधार्थाय पुत्राणां पाण्डवो बली ।
नूनं जातो महाबाहुर्यथा हन्ति स्म कौरवान् ॥ ३५ ॥

उनके कथनानुसार ही बलवान् पाण्डुपुत्र महाबाहु भीम आपके पुत्रोंके वधका कारण बनते जा रहे हैं और उसी प्रकार वे कौरवोंका सर्वनाश कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ॥ ३६ ॥

उस समय राजा दुर्योधन युद्धभूमिमें भीष्मके पास जाकर महान् दुःखसे व्याप्त एवं अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप करने लगा—॥ ३६ ॥

निहता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि ।
यतमानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ॥ ३७ ॥

'पितामह ! भीमसेनने युद्धमें मेरे शूरवीर बन्धुओंको मार डाला और दूसरे भी समस्त सैनिक विजयके लिये पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी असफल हो उनके हाथसे मारे जा रहे हैं। ३७।

भवांश्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते ।
सोऽहं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ॥ ३८ ॥

'आप मध्यस्थ बने रहनेके कारण सदा हमलोगोंकी उपेक्षा करते हैं। मैं बड़े बुरे मार्गपर चढ़ आया। मेरे इस दुर्भाग्यको देखिये' ॥ ३८ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ॥ ३९ ॥

यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म अपने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ३९॥

उक्तमेतन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या च यशस्विन्या तत् त्वं तात न बुद्धवान् ॥४०॥

'तात ! मैंने, द्रोणाचार्यने, विदुरने तथा यशस्विनी गान्धारी देवीने भी पहले ही यह सब बात कह दी थी, परंतु तुमने इसपर ध्यान नहीं दिया ॥ ४० ॥

समयश्च मया पूर्वं कृतो वै शत्रुकर्शन ।
नाहं युधि नियोक्तव्यो नाप्याचार्यः कथंचन ॥ ४१ ॥

'शत्रुसूदन ! मैंने पहले ही यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि तुम्हें मुझे या द्रोणाचार्यको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं लगाना चाहिये (क्योंकि हमलोगोंका कौरवों तथा पाण्डवोंके प्रति समान स्नेह है) ॥ ४१ ॥

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे ।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४२ ॥

'मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे जिस-जिसको युद्धमें (अपने सामने आया हुआ) देख लेंगे, उसे प्रतिदिनके संग्राममें अवश्य मार डालेंगे।४२।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम्।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ ४३ ॥

'अतः राजन् ! तुम स्थिर होकर युद्धके विषयमें अपना दृढ़ निश्चय बना लो और स्वर्गको ही अन्तिम आश्रय मान-कर रणभूमिमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ ४३ ॥

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युद्ध्यस्व भारत ॥४४॥

'भारत ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवोंको जीत नहीं सकते । अतः युद्धके लिये पहले अपनी बुद्धिको स्थिर कर लो । उसके बाद युद्ध करो'॥४४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सुनाभादिधृतराष्ट्रपुत्रवधे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सुनाभ आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वधविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार

धृतराष्ट्र उवाच

दृष्ट्वा मे निहतान् पुत्रान् बहूनेकेन संजय ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव किमकुर्वत संयुगे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! एकमात्र भीमसेनके द्वारा युद्धमें मेरे बहुत-से पुत्रोंको मारा गया देख भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यने क्या किया ? ॥ १ ॥

अहन्यहनि मे पुत्राः क्षयं गच्छन्ति संजय ।
मन्येऽहं सर्वथा सूत दैवेनोपहता भृशम् ॥ २ ॥

मेरे पुत्र प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। सूत ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि हमलोग सर्वथा अत्यन्त दुर्भाग्यके मारे हुए हैं ॥ २ ॥

यत्र मे तनयाः सर्वे जीयन्ते न जयन्त्युत ।
यत्र भीष्मस्य द्रोणस्य कृपस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
सौमदत्तेश्च वीरस्य भगदत्तस्य चोभयोः ।
अश्वत्थाम्नस्तथा तात शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ४ ॥
अन्येषां चैव शूराणां मध्यगास्तनया मम ।
यदहन्यन्त संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ ५ ॥

दुर्भाग्यके अधीन होनेके कारण ही मेरे पुत्र हारते जा रहे हैं; विजयी नहीं हो रहे हैं । जहाँ भीष्म, द्रोण, महामना कृपाचार्य, वीरवर भूरिश्रवा, भगदत्त, अश्वत्थामा तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य शूरवीरोंके बीचमें रहकर भी मेरे पुत्र प्रतिदिन संग्राममें मारे जाते हैं, वहाँ दुर्भाग्यके

सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३–५ ॥

न हि दुर्योधनो मन्दः पुरा प्रोक्तमबुध्यत ।
वार्यमाणो मया तात भीष्मेण विदुरेण च ॥ ६ ॥
गान्धार्या चैव दुर्मेधाः सततं हितकाम्यया ।
नाबुध्यत पुरा मोहात् तस्य प्राप्तमिदं फलम् ॥ ७ ॥
यद् भीमसेनः समरे पुत्रान् मम विचेतसः ।
अहन्यहनि संक्रुद्धो नयते यमसादनम् ॥ ८ ॥

मूर्ख दुर्योधनने पहले मेरी कही हुई बातोंपर ध्यान नहीं दिया । तात ! मैंने, भीष्मने, विदुरने तथा गान्धारीने भी सदा हितकी इच्छासे दुर्बुद्धि दुर्योधनको बार-बार मना किया; परंतु मोहवश पूर्वकालमें हमारी ये बातें उसके समझमें नहीं आयीं । उसीका यह फल अब प्राप्त हुआ है, जिससे भीमसेन समराङ्गणमें कुपित होकर मेरे मूर्ख पुत्रोंको प्रतिदिन यमलोक भेज रहा है ॥ ६–८ ॥

संजय उवाच

इदं तत् समनुप्राप्तं क्षत्तुर्वचनमुत्तमम् ।
न बुद्धवानसि विभो प्रोच्यमानं हितं तदा ॥ ९ ॥

संजयने कहा—प्रभो ! उस समय आपने जो विदुरजीके कहे हुए उत्तम एवं हितकारक वचनको नहीं सुना (सुनकर भी उसपर ध्यान नहीं दिया), उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥

निवारय सुतान् द्यूतात् पाण्डवान् मा द्रुहेति च ।
सुहृदां हितकामानां ब्रुवतां तत् तदेव च ॥ १० ॥
न शुश्रूषसि तद् वाक्यं मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ।
तदेव त्वामनुप्राप्तं वचनं साधुभाषितम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था कि 'आप अपने पुत्रोंको जूआ खेलनेसे रोकिये । पाण्डवोंसे द्रोह न कीजिये ।' आपका हित चाहनेवाले अन्यान्य सुहृदोंने भी आपसे वे ही बातें कही थीं; परंतु जैसे मरणासन्न पुरुषको हितकारक ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आप उन हितकर वचनोंको सुनना भी नहीं चाहते थे । अतः श्रेष्ठ विदुरने जैसा बताया था, वैसा ही परिणाम आपके सामने आया है ॥ १०-११ ॥

विदुरद्रोणभीष्माणां तथान्येषां हितैषिणाम् ।
अकृत्वा वचनं पथ्यं क्षयं गच्छन्ति कौरवाः ॥ १२ ॥

विदुर, द्रोण, भीष्म तथा अन्य हितैषियोंके हितकर वचनोंको न माननेके कारण इन कौरवोंका विनाश हो रहा है ॥

तदेतत् समनुप्राप्तं पूर्वमेव विशाम्पते ।
तस्मात् त्वं शृणु तत्त्वेन यथा युद्धमवर्तत ॥ १३ ॥

प्रजापालक नरेश ! यह सब तो पहलेसे ही प्राप्त है । अब आप जिस प्रकार युद्ध हुआ, उसका यथावत् समाचार सुनिये ॥ १३ ॥

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

राजन् ! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जो सम्पूर्ण जगत्के योद्धाओंका विनाश करनेवाला था । वह सब मैं कह रहा हूँ, सुनिये ॥ १४ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
संरब्धान्यभ्यवर्तन्त भीष्ममेव जिघांसया ॥ १५ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे क्रोधमें भरी हुई उनकी सारी सेनाएँ भीष्मपर ही टूट पड़ीं । वे भीष्मको मार डालना चाहती थीं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा महारथी सात्यकि—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥

विराटो द्रुपदश्चैव सहिताः सर्वसोमकैः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीष्ममेव महारथम् ॥ १७ ॥

राजा विराट और सम्पूर्ण सोमकोंसहित द्रुपदने संग्राममें महारथी भीष्मपर ही चढ़ाई की ॥ १७ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! केकय, धृष्टकेतु और कवचधारी कुन्तिभोज—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही धावा किया ॥ १८ ॥

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ॥ १९ ॥

अर्जुन, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी चेकितान—ये दुर्योधनके भेजे हुए समस्त राजाओंपर चढ़ आये ॥ १९ ॥

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ॥ २० ॥

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोधमें भरे हुए भीमसेन—इन सबने कौरवोंपर धावा किया ॥ २० ॥

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवै राजन्नवध्यन्त परे रणे ॥ २१ ॥

राजन् ! पाण्डवोंने तीन दलोंमें विभक्त होकर कौरवोंका वध आरम्भ किया । इसी प्रकार कौरव भी रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करने लगे ॥ २१ ॥

द्रोणस्तु रथिनः श्रेष्ठान् सोमकान् सृंजयैः सह ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥ २२ ॥

द्रोणाचार्यने श्रेष्ठ रथी सोमकों और सृञ्जयोंको यमलोक भेजनेके लिये क्रोधपूर्वक उनके ऊपर धावा बोल दिया ॥ २२ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् सृंजयानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् भारद्वाजेन धन्विना ॥ २३ ॥

राजन् ! धनुर्धर द्रोणाचार्यके द्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए महामना सृञ्जयोंका महान् आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ २३ ॥

द्रोणेन निहतास्तत्र क्षत्रिया बहवो रणे।
विचेष्टन्तो ह्यदृश्यन्त व्याधिक्लिष्टा नरा इव ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्यके मारे हुए बहुत-से क्षत्रिय रणभूमिमें व्याधि-ग्रस्त मनुष्योंकी भाँति छटपटाते हुए दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

कूजतां क्रन्दतां चैव स्तनतां चैव भारत।
अनिशं शुश्रुवे शब्दः क्षुत्क्लिष्टानां नृणामिव ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! भूखसे पीडित मनुष्योंकी भाँति कूजते, क्रन्दन करते और गरजते हुए योद्धाओंका शब्द निरन्तर सुनायी देता था ॥ २५ ॥

तथैव कौरवेयाणां भीमसेनो महाबलः।
चकार कदनं घोरं क्रुद्धः काल इवापरः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन क्रोधमें भरे हुए दूसरे कालके समान कौरव सैनिकोंका घोर संहार करने लगे ॥ २६ ॥

वध्यतां तत्र सैन्यानामन्योन्येन महारणे।
प्रावर्तत नदी घोरा रुधिरौघप्रवाहिनी ॥ २७ ॥

उस महायुद्धमें परस्पर मारकाट करनेवाले सैनिकोंकी रक्तराशिको प्रवाहित करनेवाली एक भयंकर नदी बह चली ॥

स संग्रामो महाराज घोररूपोऽभवन्महान्।
कुरूणां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ २८ ॥

महाराज ! कौरवों और पाण्डवोंका वह घोर महासंग्राम यमलोककी वृद्धि करनेवाला था ॥ २८ ॥

ततो भीमो रणे क्रुद्धो रभसश्च विशेषतः।
गजानीकं समासाद्य प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २९ ॥

तब युद्धमें विशेष वेगशाली भीमसेनने कुपित हो हाथियों-की सेनामें प्रवेशकर उन्हें कालके गालमें भेजना आरम्भ किया ॥

तत्र भारत भीमेन नाराचाभिहता गजाः।
पेतुर्नेदुश्च सेदुश्च दिशश्च परिबभ्रमुः ॥ ३० ॥

भारत ! वहाँ भीमके नाराचोंसे पीडित हुए हाथी गिरते, चिग्घाड़ते, बैठ जाते अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगाने लगते थे ॥ ३० ॥

छिन्नहस्ता महानागाश्छिन्नगात्राश्च मारिष।
क्रौञ्चवद् व्यनदन् भीताः पृथिवीमधिशेरते ॥ ३१ ॥

आर्य ! सूँड़ तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंके कट जानेसे हाथी भयभीत हो क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते और धराशायी हो जाते थे ॥ ३१ ॥

नकुलः सहदेवश्च हयानीकमभिद्रुतौ।
ते हयाः काञ्चनापीडा रुक्मभाण्डपरिच्छदाः ॥ ३२ ॥
वध्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः।

नकुल और सहदेवने घुड़सवारोंकी सेनापर आक्रमण किया। राजन् ! उन घोड़ोंने सोनेकी कलँगी तथा सोनेके ही अन्यान्य आभूषण धारण किये थे। वे सब सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें मरकर गिरते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

पतद्भिस्तुरगै राजन् समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ३३ ॥
निर्जिह्वैश्च श्वसद्भिश्च कूजद्भिश्च गतासुभिः।
हयैर्बभौ नरश्रेष्ठ नानारूपधरैर्धरा ॥ ३४ ॥

राजन् ! वहाँ गिरते हुए घोड़ोंकी लाशोंसे सारी पृथ्वी पट गयी। किन्हींकी जीभ निकल आयी थी, कोई लंबी साँस खींच रहे थे, कोई धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करते और कितनों-के प्राण निकल गये थे। नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार विभिन्न रूपधारी घोड़ोंसे आच्छादित होनेके कारण इस पृथ्वीकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

अर्जुनेन हतैः संख्ये तथा भारत राजभिः।
प्रबभौ वसुधा घोरा तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ३५ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ अर्जुनके द्वारा युद्धमें मारे गये राजाओंसे भरी हुई वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥

रथैर्भग्नैर्ध्वजैश्छिन्नैर्निकृत्तैश्च महायुधैः।
चामरैर्व्यजनैश्चैव छत्रैश्च सुमहाप्रभैः ॥ ३६ ॥
हारैर्निष्कैः सकेयूरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः।
उष्णीषैरपविद्धैश्च पताकाभिश्च सर्वशः ॥ ३७ ॥
अनुकर्षैः शुभै राजन् योक्त्रैश्चैव सरश्मिभिः।
संकीर्णा वसुधा भाति वसन्ते कुसुमैरिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! टूटे हुए रथ, कटे हुए ध्वज, छिन्न-भिन्न हुए बड़े-बड़े आयुध, चवँर, व्यजन, अत्यन्त प्रकाशमान छत्र, सोनेके हार, केयूर, कुण्डलमण्डित मस्तक, गिरे हुए शिरोभूषण (पगड़ी आदि), पताका, सुन्दर अनुकर्ष,* जोत और बागडोर आदिसे आच्छादित हुई वह संग्रामभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो वसन्त ऋतुमें उसपर भाँति-भाँतिके फूल गिरे हुए हों ॥ ३६-३८ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डूनामपि भारत।
क्रुद्धे शान्तनवे भीष्मे द्रोणे च रथसत्तमे ॥ ३९ ॥
अश्वत्थाम्नि कृपे चैव तथैव कृतवर्मणि।
तथेतरेषु क्रुद्धेषु तावकानामपि क्षयः ॥ ४० ॥

भारत ! शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—इनके कुपित होनेसे पाण्डव सैनिकोंका भी इस प्रकार यह संहार हुआ था। साथ ही पाण्डवोंके कुपित होनेसे आपके योद्धाओंका भी ऐसा ही विकट विनाश हुआ था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

---

* रथके नीचे रहनेवाली लकड़ीको अनुकर्ष कहते हैं, जिसके सहारे पहिये रहते हैं।

नवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध

संजय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये।
शकुनिः सौबलः श्रीमान् पाण्डवान् समुपाद्रवत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! जिस समय बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय सुबलपुत्र श्रीमान् शकुनिने पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

तथैव सात्वतो राजन् हार्दिक्यः परवीरहा।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानां वरूथिनीम्॥ २॥

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले सात्वतवंशी कृतवर्माने उस संग्राममें पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥२॥

ततः काम्बोजमुख्यानां नदीजानां च वाजिनाम्।
आरट्टानां महीजानां सिन्धुजानां च सर्वशः॥ ३॥
वनायुजानां शुभ्राणां तथा पर्वतवासिनाम्।
वाजिनां बहुभिः संख्ये समन्तात् परिवारयन्॥ ४॥
ये चापरे तित्तिरिजा जवना वातरंहसः।
सुवर्णालंकृतैरेतैर्वर्मवद्भिः सुकल्पितैः॥ ५॥
हयैर्वातजवैर्मुख्यैः पाण्डवस्य सुतो बली।
अभ्यवर्तत तत् सैन्यं हृष्टरूपः परंतपः॥ ६॥

तत्पश्चात् काम्बोज देशके अच्छे घोड़े, दरियाई घोड़े, मही, सिन्धु, वनायु, आरट्ट तथा पर्वतीय प्रान्तोंमें होनेवाले सुन्दर घोड़े—इन सबकी बहुत बड़ी सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ शत्रुओंको संताप देनेवाला पाण्डुनन्दन अर्जुनका बलवान् पुत्र इरावान् हर्षमें भरकर रणभूमिमें कौरवोंकी उस सेनापर चढ़ आया। उसके साथ तित्तिर प्रदेशके शीघ्रगामी घोड़े भी मौजूद थे, जो वायुके समान वेगशाली थे। वे सबके सब सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके शरीरोंमें कवच बँधे हुए थे और उन्हें सुन्दर साज-बाजसे सजाया गया था। वे सभी घोड़े अच्छी जातिके तथा वायुके तुल्य शीघ्रगामी थे॥

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान् नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥ ७॥

अर्जुनका पराक्रमी पुत्र श्रीमान् इरावान् नागराज कौरव्यकी पुत्रीके गर्भसे बुद्धिमान् अर्जुनद्वारा उत्पन्न किया गया था॥७॥

ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥ ८॥
भार्यार्थे तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्।
एवमेष समुत्पन्नः परक्षेत्रेऽर्जुनात्मजः॥ ९॥

नागराजकी वह पुत्री संतानहीन थी। उसके मनोनीत पतिको* गरुड़ने मार डाला था, जिससे वह अत्यन्त दीन एवं दयनीय हो रही थी। ऐरावतवंशी कौरव्यनागने उसे अर्जुनको अर्पित किया और अर्जुनने कामके अधीन हुई उस नागकन्याको भार्यारूपमें ग्रहण किया था। इस प्रकार यह अर्जुनपुत्र उत्पन्न हुआ था। वह सदा मातृकुलमें ही रहा॥८-९॥

स नागलोके संवृद्धो मात्रा च परिरक्षितः।
पितृव्येण परित्यक्तः पार्थद्वेषाद् दुरात्मना॥ १०॥

वह नागलोकमें ही माताद्वारा पाल-पोसकर बड़ा किया गया और सब प्रकारसे वहीं उसकी रक्षा की गयी थी। उस बालकके किसी दुरात्मा वयोवृद्ध सम्बन्धीने अर्जुनके प्रति द्वेष होनेके कारण इनके उस पुत्रको त्याग दिया था॥१०॥

रूपवान् बलसम्पन्नो गुणवान् सत्यविक्रमः।
इन्द्रलोकं जगामाशु श्रुत्वा तत्रार्जुनं गतम्॥ ११॥

इरावान् भी रूपवान्, बलवान्, गुणवान् और सत्यपराक्रमी था, बड़े होनेपर जब उसने सुना कि मेरे पिता अर्जुन इस समय इन्द्रलोकमें गये हुए हैं, तब वह शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचा॥११॥

सोऽभिगम्य महाबाहुः पितरं सत्यविक्रमः।
अभ्यवादयदव्यग्रो विनयेन कृताञ्जलिः॥ १२॥
न्यवेदयत चात्मानमर्जुनस्य महात्मनः।
इरावानस्मि भद्रं ते पुत्रश्चाहं तव प्रभो॥ १३॥
मातुः समागमो यश्च तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
तच्च सर्वं यथावृत्तमनुसस्मार पाण्डवः॥ १४॥

उस सत्यपराक्रमी महाबाहु वीरने अपने पिताके पास पहुँचकर शान्तभावसे उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक हाथ जोड़ महामना अर्जुनके समक्ष अपना परिचय देते हुए

---

* यहाँ मूलमें 'पतौ' पाठ है। व्याकरणके अनुसार 'पति' शब्दका सप्तमीके एक वचनमें 'पत्यौ' रूप होता है। अतः जहाँ 'पतौ' पदका प्रयोग है, वहाँ मुख्य 'पति' का वाचक पति शब्द नहीं है। 'पतिरिवाचरतीति पतिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आचारक्विबन्त 'पति' शब्दका यहाँ प्रयोग है, जिसका अर्थ है—पतिसदृश। तात्पर्य यह कि जिसके लिये कन्याका वाग्दान किया गया है, वह मनोनीत पति ही विवाहके पहलेतक 'पतितुल्य' है। विवाहके बाद साक्षात् 'पति' होता है। इस नागकन्याके मनोनीत पतिको गरुड़ने मार डाला था, इसीलिये 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पाराशर-वचनके अनुसार उसका अर्जुनके साथ सम्बन्ध हुआ और धर्मात्मा अर्जुनने उसे पत्नीरूपसे ग्रहण किया।

बोला—'प्रभो ! आपका कल्याण हो। मैं आपका ही पुत्र इरावान् हूँ।' उसकी माताके साथ अर्जुनका जो समागम हुआ था, वह सब उसने निवेदन किया। पाण्डुनन्दन अर्जुनको वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे स्मरण हो आया॥१२—१४॥

परिष्वज्य सुतं चापि आत्मनः सदृशं गुणैः।
प्रीतिमाननयत् पार्थो देवराजनिवेशने॥१५॥

गुणोंमें अपने ही समान उस पुत्रको हृदयसे लगाकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे देवराजके भवनमें ले गये॥

सोऽर्जुनेन समाज्ञप्तो देवलोके तदा नृप।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः स्वकार्यं प्रति भारत॥१६॥

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! उन दिनों देवलोकमें अर्जुनने प्रेमपूर्वक अपने महाबाहु पुत्रको अपना सब कार्य बताते हुए कहा—॥१६॥

युद्धकाले त्वयास्माकं साह्यं देयमिति प्रभो।
बाढमित्येवमुक्त्वा तु युद्धकाल इहागतः॥१७॥

'शक्तिशाली पुत्र ! युद्धके अवसरपर तुम हमलोगोंको सहायता देना।' तब बहुत अच्छा कहकर इरावान् चला गया और अब युद्धके अवसरपर यहाँ आया है॥१७॥

कामवर्णजवैरश्वैर्बहुभिः संवृतो नृप।
ते हयाः काञ्चनापीडा नानावर्णा मनोजवाः॥१८॥

नरेश्वर ! इरावान्‌के साथ इच्छानुसार रूप-रंग और वेगवाले बहुत-से घोड़े मौजूद थे। वे सब-के-सब सोनेके शिरोभूषण धारण करनेवाले तथा मनके समान वेगशाली थे। उनके रंग अनेक प्रकारके थे॥१८॥

उत्पेतुः सहसा राजन् हंसा इव महोदधौ।
ते त्वदीयान् समासाद्य हयसंघान् मनोजवान्॥१९॥
क्रोडैः क्रोडानभिघ्नन्तो घोणाभिश्च परस्परम्।
निपेतुः सहसा राजन् सुवेगाभिहता भुवि॥२०॥

राजन् ! वे घोड़े महासागरमें उड़नेवाले हंसोंके समान सहसा उछले और आपके मनके समान वेगशाली अश्वोंके समुदायमें पहुँचकर छातीसे उनकी छातीमें तथा नासिकासे एक दूसरेकी नासिकापर चोट करने लगे। वे सहसा वेगपूर्वक टकराकर पृथ्वीपर गिरते थे॥१९-२०॥

निपतद्भिस्तथा तैश्च हयसंघैः परस्परम्।
शुश्रुवे दारुणः शब्दः सुपर्णपतने यथा॥२१॥

वे अश्वोंके समुदाय परस्पर टकराकर जब गिरते थे, उस समय गरुडके वेगपूर्वक उतरनेके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था॥२१॥

तथैव तावका राजन् समेत्यान्योन्यमाहवे।
परस्परवधं घोरं चक्रुस्ते हयसादिनः॥२२॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके और पाण्डवोंके घुड़सवार युद्धमें एक दूसरेसे भिड़कर आपसमें भयंकर मार-काट करते थे॥२२॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम्।
उभयोरपि संशान्ता हयसङ्घाः समन्ततः॥२३॥

इस प्रकार अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध छिड़ जानेपर दोनों पक्षोंके अश्वसमूह चारों ओर नष्ट हो गये॥२३॥

प्रक्षीणसायकाः शूरा निहताश्वाः श्रमातुराः।
विलयं समनुप्राप्तास्तक्षमाणाः परस्परम्॥२४॥

शूरवीर योद्धाओंके पास बाण समाप्त हो गये। उनके घोड़े मारे गये। वे परिश्रमसे पीड़ित हो परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए विनष्ट हो गये॥२४॥

ततः क्षीणे हयानीके किंचिच्छेषे च भारत।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि॥२५॥

भारत ! इस प्रकार जब घुड़सवारोंकी सेना नष्ट हो गयी और उसका अल्पभाग ही अवशिष्ट रह गया; उस अवस्थामें शकुनिके शूरवीर भाई युद्धके मुहानेपर निकले॥

वायुवेगसमस्पर्शाञ्जवे वायुसमांश्च ते।
आरुह्य बलसम्पन्नान् वयःस्थांस्तुरगोत्तमान्॥२६॥
गजो गवाक्षो वृषभश्चर्मवानार्जवः शुकः।
षडेते बलसम्पन्ना निर्ययुर्महतो बलात्॥२७॥

जिनका स्पर्श वायुवेगके समान दुःसह था, जो वेगमें वायुकी समानता करते थे, ऐसे बलसम्पन्न नयी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंपर सवार हो गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान्, आर्जव और शुक—ये छः बलवान् वीर अपनी विशाल सेनासे बाहर निकले॥२६-२७॥

वार्यमाणाः शकुनिना तैश्च योधैर्महाबलैः।
संनद्धा युद्धकुशला रौद्ररूपा महाबलाः॥२८॥

यद्यपि शकुनिने उन्हें मना किया, अन्यान्य महाबली योद्धाओंने भी उन्हें रोका, तथापि वे युद्धकुशल, महाबली रौद्ररूपधारी क्षत्रिय कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े॥२८॥

तदनीकं महाबाहो भित्त्वा परमदुर्जयम्।
बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः॥२९॥
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः।

महाबाहो ! उस समय उन युद्धदुर्मद गान्धारदेशीय वीरोंने विजय अथवा स्वर्गकी अभिलाषा लेकर विशाल सेनाके साथ पाण्डव-वाहिनीके परम दुर्जयव्यूहका भेदन करके हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो उसके भीतर प्रवेश किया॥२९½॥

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान्॥३०॥

अब्रवीत् समरे योधान् विचित्रान् दारुणायुधान्।
यथैते धार्तराष्ट्रस्य योधाः सानुगवाहनाः ॥ ३१ ॥
हन्यन्ते समरे सर्वे तथा नीतिर्विधीयताम्।

तब उन्हें सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान्‌ने भी समरभूमिमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रवाले अपने विचित्र योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुम सब लोग संग्राममें ऐसी नीति बना लो, जिससे दुर्योधनके ये समस्त योद्धा अपने सेवकों और सवारियोंसहित मार डाले जायँ' ॥ ३०-३१½ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा ते सर्वे योधा इरावतः ॥ ३२ ॥
जघ्नुस्तेषां बलानीकं दुर्जयं समरे परैः।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इरावान्‌के समस्त सैनिकोंने उन छहों वीरोंके सैन्यसमूहको, जो समराङ्गणमें दूसरोंके लिये दुर्जय था, मार डाला ॥ ३२½ ॥

तदनीकमनीकेन समरे वीक्ष्य पातितम् ॥ ३३ ॥
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सुबलस्यात्मजा रणे।
इरावन्तमभिद्रुत्य सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३४ ॥

अपनी सेनाको समरभूमिमें शत्रुकी सेनाद्वारा मार गिरायी गयी देख सुबलके सभी पुत्र इसे सह न सके। उन्होंने इरावान्‌पर धावा करके उसे सब ओरसे घेर लिया॥ ३३-३४ ॥

ताडयन्तः शितैः प्रासैश्चोदयन्तः परस्परम्।
ते शूराः पर्यधावन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ३५ ॥

वे छहों शूर तीखे प्रासोंसे मारते और एक दूसरेको बढ़ावा देते हुए इरावान्‌पर टूट पड़े तथा उसे अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ३५ ॥

इरावानथ निर्भिन्नः प्रासैस्तीक्ष्णैर्महात्मभिः।
स्रवता रुधिरेणाक्तस्तोत्रैर्विद्ध इव द्विपः ॥ ३६ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके तीखे प्रासोंसे क्षत-विक्षत होकर इरावान् बहते हुए रक्तसे नहा उठा। अङ्कुशोंसे घायल हुए हाथीके समान व्याकुल हो गया ॥ ३६ ॥

पुरतोऽपि च पृष्ठे च पार्श्वयोश्च भृशाहतः।
एको बहुभिरत्यर्थं धैर्याद् राजन् न विव्यथे ॥ ३७ ॥

राजन् ! वह अकेला था और उसपर प्रहार करनेवालों-की संख्या बहुत थी। वह आगे-पीछे और अगल-बगल-में अत्यन्त घायल हो गया था; तो भी धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

इरावानपि संक्रुद्धः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः।
मोहयामास समरे विद्ध्वा परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

अब इरावान्‌को भी बड़ा क्रोध हुआ। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उस वीरने समरमें तीखे बाणोंद्वारा बींधकर उन सबको मूर्छित कर दिया ॥ ३८ ॥

प्रासानुद्धृत्य तरसा स्वशरीरादरिंदमः।
तैरेव ताडयामास सुबलस्यात्मजान् रणे ॥ ३९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले इरावान्‌ने अपने शरीरसे वेगपूर्वक प्रासोंको निकालकर उन्हींके द्वारा रणभूमिमें सुबल-पुत्रोंपर प्रहार किया ॥ ३९ ॥

विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम्।
पदातिर्द्रुतमागच्छज्जिघांसुः सौबलान् युधि ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् तीखी तलवार और ढाल निकालकर इरावान्‌ने युद्धमें सुबलपुत्रोंको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत उनके ऊपर पैदल ही धावा किया ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यागतप्राणाः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
भूयः क्रोधसमाविष्टा इरावन्तमभिद्रुताः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्रोंमें प्राणशक्ति पुनः लौट आयी। अतः वे सबके सब सचेत होनेपर पुनः क्रोधमें भर गये और इरावान्‌पर दौड़े ॥ ४१ ॥

इरावानपि खड्गेन दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अभ्यवर्तत तान् सर्वान् सौबलान् बलदर्पितः ॥ ४२ ॥

इरावान् भी बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने हाथों-की फुर्ती दिखाता हुआ खड्गके द्वारा उन समस्त सुबलपुत्रोंका सामना करने लगा ॥ ४२ ॥

लाघवेनाथ चरतः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
अन्तरं नाभ्यगच्छन्त चरन्तः शीघ्रगैर्हयैः ॥ ४३ ॥

वह अकेला बड़ी फुर्तीसे पैतरे बदल रहा था और वे सभी सुबलपुत्र शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा विचर रहे थे, तो भी वे अपनेमें उसकी अपेक्षा कोई विशेषता न ला सके ॥४३॥

भूमिष्ठमथ तं संख्ये सम्प्रदृश्य ततः पुनः।
परिवार्य भृशं सर्वे ग्रहीतुमुपचक्रमुः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर इरावान्‌को भूमिपर स्थित देख वे सभी सुबलपुत्र युद्धमें उसे पुनः भलीभाँति घेरकर बन्दी बनानेकी तैयारी करने लगे ॥ ४४ ॥

अथाभ्याशगतानां स खड्गेनामित्रकर्शनः।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ॥ ४५ ॥

तब शत्रुसूदन इरावान्‌ने निकट आनेपर कभी दाहिने और कभी बायें हाथसे तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओंके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४५ ॥

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान्।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ॥ ४६ ॥

उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओंको भी उसने काट डाला। इस प्रकार अङ्ग-अङ्ग कट जानेसे वे प्राणशून्य हो मरकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

वृषभस्तु महाराज बहुधा विपरिक्षतः।
अमुच्यत महारौद्रात् तस्माद् वीरावकर्तनात् ॥ ४७ ॥

महाराज ! वृषभ बहुत घायल हो गया था तो भी वीरोंका उच्छेद करनेवाले उस महाभयंकर संग्रामसे उसने अपने आपको किसी प्रकार मुक्त कर लिया ॥ ४७ ॥

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ४८ ॥
आर्ष्यश्रृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिंदमम्।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ॥ ४९ ॥

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा और वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर दीखनेवाले राक्षस ऋष्यश्रृङ्गपुत्र (अलम्बुष) के पास दौड़ा गया। वह राक्षस शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था। पूर्वकालमें किये गये बकासुरवधके कारण वह भीमसेनका वैरी बन बैठा था ॥ ४८-४९ ॥

पश्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली।
मायावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ॥ ५० ॥

उसके पास जाकर दुर्योधनने कहा—'वीर ! देखो, अर्जुनका यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है। इसने मेरा अप्रिय करनेके लिये मेरी सेनाका संहार कर डाला है ॥५०॥

त्वं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः।
कृतवैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ॥ ५१ ॥

'तात ! तुम इच्छानुसार चलनेवाले तथा मायामय अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल हो। कुन्तीकुमार भीमने तुम्हारे साथ वैर भी किया है। अतः तुम युद्धमें इस इरावान्‌को अवश्य मार डालो' ॥ ५१ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः।
प्रययौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ॥ ५२ ॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भयानक दिखायी देनेवाला राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुनकुमार इरावान् था, उस स्थानपर गया ॥ ५२ ॥

आरूढैर्युद्धकुशलैर्विमलप्रासयोधिभिः।
वीरैः प्रहारिभिर्युक्तैः स्वैरनीकैः समावृतः ॥ ५३ ॥
हतशेषैर्महाराज द्विसाहस्रैर्हयोत्तमैः।
निहन्तुकामः समरे इरावन्तं महाबलम् ॥ ५४ ॥

उसके साथ निर्मल प्रास नामक अस्त्रसे युद्ध करनेवाले संग्रामकुशल तथा प्रहार करनेमें समर्थ वीरोंसे युक्त बहुत-सी सेनाएँ थीं। उसके सभी सैनिक सवारियोंपर बैठे हुए थे। उन सबसे घिरा हुआ वह समरभूमिमें महाबली इरावान्‌को मार डालनेकी इच्छासे युद्धस्थलमें गया। महाराज ! मरनेसे बचे हुए दो हजार उत्तम घोड़े उसके साथ थे ॥ ५३-५४ ॥

इरावानपि संक्रुद्धस्त्वरमाणः पराक्रमी।
हन्तुकाममभित्रघ्नो राक्षसं प्रत्यवारयत् ॥ ५५ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाला पराक्रमी इरावान् भी क्रोधमें भरा हुआ था। उसने उसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले उस राक्षसका बड़ी उतावलीके साथ निवारण किया ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसः सुमहाबलः।
त्वरमाणस्ततो मायां प्रयोक्तुमुपचक्रमे ॥ ५६ ॥

इरावान्‌को आते देख उस महाबली राक्षसने शीघ्रतापूर्वक मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

तेन मायामयाः सृष्टा हयास्तावन्त एव हि।
स्वारूढा राक्षसैर्घोरैः शूलपट्टिशधारिभिः ॥ ५७ ॥

उसने मायामय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिनपर शूल और पट्टिश धारण करनेवाले भयंकर राक्षस सवार थे॥

ते संरब्धाः समागम्य द्विसाहस्राः प्रहारिणः।
अचिराद् गमयामासुः प्रेतलोकं परस्परम् ॥ ५८ ॥

वे दो हजार प्रहारकुशल योद्धा क्रोधमें भरे हुए आकर इरावान्‌के सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे। इस प्रकार दोनों ओरके योद्धाओंने परस्पर प्रहार करके शीघ्र ही एक दूसरेको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५८ ॥

तस्मिंस्तु निहते सैन्ये तावुभौ युद्धदुर्मदौ।
संग्रामे समतिष्ठेतां यथा वै वृत्रवासवौ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जब दोनों ओरकी सेनाएँ मार डाली गयीं, तब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों वीर इरावान् तथा अलम्बुष राक्षस ही युद्धभूमिमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान डटे रहे ॥ ५९ ॥

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम्।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ॥ ६० ॥

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुषको अपने ऊपर धावा करते देख महाबली इरावान् भी क्रोधमें भरकर उसके ऊपर टूट पड़ा॥

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ॥ ६१ ॥

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान्‌ने अपने खड्गसे उसके देदीप्यमान धनुष और भाथेको शीघ्र ही काट डाला ॥ ६१ ॥

स निकृत्तं धनुर्दृष्ट्वा खं जवेन समाविशत्।
इरावन्तमभिक्रुद्धं मोहयन्निव मायया ॥ ६२ ॥

धनुषको कटा हुआ देख वह राक्षस क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌को अपनी मायासे मोहित-सा करता हुआ बड़े वेगसे आकाशमें उड़ गया ॥ ६२ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य इरावानपि राक्षसम्।
विमोहयित्वा मायाभिस्तस्य गात्राणि सायकैः ॥ ६३ ॥

चिच्छेद सर्वमर्मज्ञः कामरूपो दुरासदः।
तथा स राक्षसश्रेष्ठः शरैः कृत्तः पुनः पुनः ॥ ६४ ॥
सम्बभूव महाराज समवाप च यौवनम्।
माया हि सहजा तेषां वयो रूपं च कामजम् ॥ ६५ ॥

तब इरावान् भी आकाशमें उछलकर उस राक्षसको अपनी मायाओंसे मोहित करके उसके अङ्गोंको सायकों द्वारा छिन्न-भिन्न करने लगा। वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानोंको जाननेवाला और दुर्जय था। वह बाणोंसे कटनेपर भी पुनः ठीक हो जाता था। महाराज! वह नयी जवानी प्राप्त कर लेता था; क्योंकि राक्षसोंमें माया-का बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप तथा अवस्था धारण कर लेते हैं॥ ६३—६५॥

एवं तद् राक्षसस्याङ्गं छिन्नं छिन्नं बभूव ह।
इरावानपि संक्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ॥ ६६ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन चिच्छेद च पुनः पुनः।

इस प्रकार उस राक्षसका जो-जो अङ्ग कटता, वह पुनः नये सिरेसे उत्पन्न हो जाता था। इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षसको बारंबार तीखे फरसेसे काटने लगा॥ ६६½॥

स तेन बलिना वीरश्छिद्यमान इरावता ॥ ६७ ॥
राक्षसोऽप्यनदद् घोरं स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।

बलवान् इरावान्के फरसेसे छिन्न-भिन्न हुआ वह वीर राक्षस घोर आर्तनाद करने लगा। उसका वह शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था॥ ६७½॥

परश्वधक्षतं रक्षः सुस्राव बहु शोणितम् ॥ ६८ ॥
ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे।
आर्ष्यशृङ्गिस्तथा दृष्ट्वा समरे शत्रुमूर्जितम् ॥ ६९ ॥
कृत्वा घोरं महद् रूपं ग्रहीतुमुपचक्रमे।
अर्जुनस्य सुतं वीरमिरावन्तं यशस्विनम् ॥ ७० ॥

फरसेसे बारंबार छिदनेके कारण राक्षसके शरीरसे बहुत-सा रक्त बह गया। इससे राक्षस ऋष्यशृंगके बलवान् पुत्र अलम्बुषने समरभूमिमें अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया। उसने युद्धस्थलमें अपने शत्रुको प्रबल हुआ देख अत्यन्त भयंकर एवं विशाल रूप धारण करके अर्जुनके वीर एवं यशस्वी पुत्र इरावान्को कैद करनेका प्रयत्न आरम्भ किया॥

संग्रामशिरसो मध्ये सर्वेषां तत्र पश्यताम्।
तां दृष्ट्वा तादृशीं मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ ७१ ॥
इरावानपि संक्रुद्धो मायां स्रष्टुं प्रचक्रमे।

युद्धके मुहानेपर समस्त योद्धाओंके देखते-देखते वह इरावान्को पकड़ना चाहता था। उस दुरात्मा राक्षसकी वैसी माया देखकर क्रोधमें भरे हुए इरावान्ने भी मायाका प्रयोग आरम्भ किया॥ ७१½॥

तस्य क्रोधाभिभूतस्य समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ७२ ॥
योऽन्वयो मातृकस्तस्य स एनमभिपेदिवान्।

संग्राममें पीठ न दिखानेवाला इरावान् जब क्रोधमें भरकर युद्ध कर रहा था, उसी समय उसके मातृकुलके नागोंका समुदाय उसकी सहायताके लिये वहाँ आ पहुँचा॥

स नागैर्बहुभी राजन्निरावान् संवृतो रणे ॥ ७३ ॥
दधार सुमहद् रूपमनन्त इव भोगवान्।

राजन्! रणभूमिमें बहुतेरे नागोंसे घिरे हुए इरावान्ने विशाल शरीरवाले शेषनागकी भाँति बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया॥ ७३½॥

ततो बहुविधैर्नागैश्छादयामास राक्षसम् ॥ ७४ ॥
छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर उसने बहुत-से नागोंद्वारा राक्षसको आच्छादित कर दिया। नागोंद्वारा आच्छादित होनेपर उस राक्षसराजने कुछ सोच-विचारकर गरुड़का रूप धारण कर लिया और समस्त नागोंको भक्षण करना आरम्भ किया॥ ७४-७५॥

मायया भक्षिते तस्मिन्नन्वये तस्य मातृके।
विमोहितमिरावन्तं न्यहनद् राक्षसोऽसिना ॥ ७६ ॥

जब उस राक्षसने इरावान्के मातृकुलके सब नागोंको भक्षण कर लिया, तब मोहित हुए इरावान्को तलवारसे मार डाला॥ ७६॥

सकुण्डलं समुकुटं पद्मेन्दुसदृशप्रभम्।
इरावतः शिरो रक्षः पातयामास भूतले ॥ ७७ ॥

इरावान्के कमल और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा कुण्डल एवं मुकुटसे मण्डित मस्तकको काटकर राक्षसने धरतीपर गिरा दिया॥ ७७॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार राक्षसद्वारा अर्जुनके वीर पुत्र इरावान्के मारे जानेपर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोक-रहित हो गये॥ ७८॥

तस्मिन् महति संग्रामे तादृशे भैरवे पुनः।
महान् व्यतिकरो घोरः सेनयोः समपद्यत ॥ ७९ ॥

फिर तो उस भयंकर एवं महान् संग्राममें दोनों सेनाओंका अत्यन्त भयंकर सम्मिश्रण हो गया॥ ७९॥

गजा हयाः पदाताश्च विमिश्रा दन्तिभिर्हताः।
रथाश्वा दन्तिनश्चैव पत्तिभिस्तत्र सूदिताः ॥ ८० ॥

तथा पत्तिरथौघाश्च हयाश्च बहवो रणे।
रथिभिर्निहता राजंस्तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

राजन् ! आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंके उस संकुल युद्धमें दोनों पक्षोंके मिले हुए हाथी, घोड़े और पैदल दन्तार हाथियोंद्वारा मारे गये। रथ, घोड़े और हाथियोंको पैदल योद्धाओंने मार गिराया तथा बहुत-से पैदल, रथियोंके समूह और घुड़सवार रथी योद्धाओंके द्वारा मार डाले गये ॥

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ॥ ८२ ॥

अर्जुनको अपने औरस पुत्र इरावान्के मारे जानेका पता नहीं लगा था। वे समराङ्गणमें भीष्मकी रक्षा करनेवाले शूरवीर नरेशोंका संहार कर रहे थे ॥ ८२ ॥

तथैव तावका राजन् सृंजयाश्च सहस्रशः।
जुह्वतः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ८३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक तथा सहस्रों सृंजय वीर समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ८३ ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः।
बाहुभिः समयुध्यन्त समवेताः परस्परम् ॥ ८४ ॥

कवच, रथ और धनुषके नष्ट हो जानेपर बाल बिखेरे हुए बहुतेरे योद्धा परस्पर भिड़कर भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ८४ ॥

तथा मर्मातिगैर्भीष्मो निजघान महारथान्।
कम्पयन् समरे सेनां पाण्डवानां परंतपः ॥ ८५ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले भीष्म समराङ्गणमें अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्डव-सेनाको कम्पित करते हुए उसके बड़े-बड़े रथियोंको मार रहे थे ॥ ८५ ॥

तेन यौधिष्ठिरे सैन्ये बहवो मानवा हताः।
दन्तिनः सादिनश्चैव रथिनोऽथ हयास्तथा ॥ ८६ ॥

उन्होंने युधिष्ठिरकी सेनाके बहुत-से पैदलों, सवारोंसहित हाथियों, रथारोहियों और घुड़सवारोंको मार डाला ॥८६॥

तत्र भारत भीष्मस्य रणे दृष्ट्वा पराक्रमम्।
अत्यद्भुतमपश्याम शक्रस्येव पराक्रमम् ॥ ८७ ॥

भारत ! हमने उस युद्धमें भीष्मका इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत पराक्रम देखा था ॥ ८७ ॥

तथैव भीमसेनस्य पार्षतस्य च भारत।
रौद्रमासीद् रणे युद्धं सात्यकस्य च धन्विनः ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा धनुर्धर सात्यकिका भयानक युद्ध चल रहा था ॥

दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रान्तं पाण्डवान् भयमाविशत्।
एक एव रणे शक्तो निहन्तुं सर्वसैनिकान् ॥ ८९ ॥

किं पुनः पृथिवीशूरैर्योधव्रातैः समावृतः।
इत्यब्रुवन् महाराज रणे द्रोणेन पीडिताः ॥ ९० ॥

द्रोणाचार्यका पराक्रम देखकर तो पाण्डवोंके मनमें भय समा गया। महाराज ! वे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यसे पीड़ित होकर कहने लगे कि 'रणभूमिमें अकेले द्रोणाचार्य ही समस्त सैनिकोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। फिर जब ये भूमण्डलके सुविख्यात शूरवीर योद्धाओंके समुदायोंसे घिरे हुए हैं, तब तो इनकी विजयके लिये कहना ही क्या है ?' ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे भरतर्षभ।
उभयोः सेनयोः शूरा नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ९१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस भयंकर संग्राममें दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सके ॥ ९१ ॥

आविष्टा इव युध्यन्ते रक्षोभूता महाबलाः।
तावकाः पाण्डवेयाश्च संरब्धास्तात धन्विनः ॥ ९२ ॥

तात ! आपके और पाण्डव पक्षके महाबली धनुर्धर वीर भूतोंसे आविष्ट-से होकर राक्षसोंके समान बनकर क्रोधपूर्वक एक दूसरेसे जूझ रहे थे ॥ ९२ ॥

न स्म पश्यामहे कंचित् प्राणान् यः परिरक्षति।
संग्रामे दैत्यसंकाशे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ९३ ॥

बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस दैत्योंके तुल्य संग्राममें हमने किसीको ऐसा नहीं देखा, जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर रहा हो ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि इरावद्वधे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें इरावान्का वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

इरावन्तं तु निहतं दृष्ट्वा पार्था महारथाः।
संग्रामे किमकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इरावान्को संग्राममें मारा गया देख महारथी कुन्तीपुत्रोंने क्या किया ? यह मुझसे कहो।' १ ॥

संजय उवाच

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः॥ २॥

संजय बोले—राजन्! इरावान्‌को युद्धभूमिमें मारा गया देख भीमसेनका पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा॥ २॥

नदतस्तस्य शब्देन पृथिवी सागराम्बरा।
सपर्वतवना राजंश्चचाल सुभृशं तदा॥ ३॥
अन्तरिक्षं दिशश्चैव सर्वाश्च प्रदिशस्तथा।

नरेश्वर! उस राक्षसकी गर्जनासे समुद्र, आकाश, पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी जोर-जोरसे हिलने लगी। अन्तरिक्ष, दिशाएँ तथा समस्त कोणोंके प्रदेश भी काँपने लगे॥ ३½॥

तं श्रुत्वा सुमहानादं तव सैन्यस्य भारत॥ ४॥
ऊरुस्तम्भः समभवद् वेपथुः स्वेद एव च।

भारत! घटोत्कचका महान् सिंहनाद सुनकर आपके सैनिकोंकी जाँघें अकड़ गयीं, शरीर काँपने लगा और सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना निकलने लगा॥ ४½॥

सर्व एव महाराज तावका दीनचेतसः॥ ५॥
सर्वतः समचेष्टन्त सिंहभीता गजा इव।

महाराज! आपके सभी सैनिक सब ओरसे दीनचित्त हो सिंहसे डरे हुए हाथियोंकी भाँति भयपूर्ण चेष्टाएँ करने लगे॥ ५½॥

नर्दित्वा सुमहानादं निर्घातमिव राक्षसः॥ ६॥
ज्वलितं शूलमुद्यम्य रूपं कृत्वा विभीषणम्।
नानारूपप्रहरणैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः॥ ७॥
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः।

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर गर्जना करके काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए उस राक्षसने भीषणरूप बना प्रज्वलित त्रिशूल हाथमें ले भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े राक्षसोंके साथ आकर आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया॥ ६—७½॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम्॥ ८॥
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम्।

अत्यन्त क्रोधमें भरे भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको आक्रमण करते देख उसके भयसे अपनी सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग चली॥ ८½॥

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत्॥ ९॥
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः।

तब राजा दुर्योधनने विशाल धनुष लेकर बारंबार सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ घटोत्कचपर धावा किया॥

पृष्ठतोऽनुययौ चैनं स्रवद्भिः पर्वतोपमैः॥ १०॥
कुञ्जरैर्दशसाहस्रैर्वङ्गानामधिपः स्वयम्।

उसके पीछे मदकी धारा बहानेवाले पर्वताकार दस हजार गजराजोंकी सेना लिये स्वयं वङ्गदेशका राजा भी गया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम्॥ ११॥
पुत्रं तव महाराज चुकोप स निशाचरः।

महाराज! हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए आपके पुत्र दुर्योधनको आते हुए देख वह निशाचर कुपित हो उठा॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्॥ १२॥
राक्षसानां च राजेन्द्र दुर्योधनबलस्य च।

राजेन्द्र! फिर तो दुर्योधनकी सेना तथा राक्षसोंमें भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा॥ १२½॥

गजानीकं च सम्प्रेक्ष्य मेघवृन्दमिवोदितम्॥ १३॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा राक्षसाः शस्त्रपाणयः।

घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी सेनाको देखकर क्रोधमें भरे हुए राक्षस हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उसकी ओर दौड़े॥ १३½॥

नदन्तो विविधान् नादान् मेघा इव सविद्युतः॥ १४॥
शरशक्त्यृष्टिनाराचैर्निघ्नन्तो गजयोधिनः।
भिन्दिपालैस्तथा शूलैर्मुद्गरैः सपरश्वधैः॥ १५॥
पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च निजघ्नुस्ते महागजान्।

वे भाँति-भाँतिकी गर्जना करते हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पाते थे। बाण, शक्ति, ऋष्टि, नाराच, भिन्दिपाल, शूल, मुद्गर, फरसों, पर्वत-शिखर तथा वृक्षोंका प्रहार करके वे गजारोहियों तथा विशाल गजोंका वध करने लगे॥ १४-१५½॥

भिन्नकुम्भान् विरुधिरान् भिन्नगात्रांश्च वारणान्॥ १६॥
अपश्याम महाराज वध्यमानान् निशाचरैः।

महाराज! निशाचरोंद्वारा मारे जानेवाले गजराजोंको हमने देखा था। उनके कुम्भस्थल फट गये थे, शरीर रक्त-हीन हो गये और उनके भिन्न-भिन्न अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे॥ १६½॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु भग्नेषु गजयोधिषु॥ १७॥
दुर्योधनो महाराज राक्षसान् समुपाद्रवत्।
अमर्षवशमापन्नस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः॥ १८॥

महाराज! इस प्रकार गजारोहियोंके भग्न एवं नष्ट हो जानेपर दुर्योधनने अमर्षके वशीभूत हो अपने जीवनका मोह छोड़कर उन राक्षसोंपर धावा किया॥ १७-१८॥

मुमोच निशितान् बाणान् राक्षसेषु परंतप।
जघान च महेष्वासः प्रधानांस्तत्र राक्षसान्॥ १९॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाधनुर्धर दुर्योधनने राक्षसोंपर तीखे बाणोंका प्रहार किया और उनमेंसे प्रधान-प्रधान राक्षसोंको मार डाला ॥ १९ ॥

संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव।
वेगवन्तं महारौद्रं विद्युज्जिह्वं प्रमाथिनम् ॥ २० ॥
शरैश्चतुर्भिश्चतुरो निजघान महाबलः।

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने वेगवान्, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी—इन चार राक्षसोंको चार बाणोंसे मार डाला ॥ २०½ ॥

ततः पुनरमेयात्मा शरवर्षं दुरासदम् ॥ २१ ॥
मुमोच भरतश्रेष्ठो निशाचरबलं प्रति।

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने उस निशाचर-सेनाके ऊपर दुर्धर्ष बाणोंकी वर्षा आरम्भ की॥

तत् तु दृष्ट्वा महत् कर्म पुत्रस्य तव मारिष ॥ २२ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल भैमसेनिर्महाबलः।

आर्य ! आपके पुत्रका वह महान् कर्म देखकर भीमसेनका महाबली पुत्र घटोत्कच क्रोधसे जल उठा ॥ २२½ ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ॥ २३ ॥
अभिदुद्राव वेगेन दुर्योधनमरिंदमम्।

उसने इन्द्रके वज्रके समान कान्तिमान् विशाल धनुषको खींचकर शत्रुदमन दुर्योधनपर बड़े वेगसे धावा किया ॥

तमापतन्तमुद्वीक्ष्य कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ २४ ॥
न विव्यथे महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव।

महाराज ! कालप्रेरित मृत्युके समान उस घटोत्कचको आते देख आपका पुत्र दुर्योधन तनिक भी व्यथित नहीं हुआ॥

अथैनमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः ॥ २५ ॥
अद्यानृण्यं गमिष्यामि पितॄणां मातुरेव च।
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः ॥ २६ ॥
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः।
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ॥ २७ ॥
सभामानीय दुर्बुद्धे बहुधा क्लेशिता त्वया।
तव च प्रियकामेन आश्रमस्था दुरात्मना ॥ २८ ॥
सैन्धवेन परामृष्टा परिभूय पितॄन् मम।
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम ॥ २९ ॥
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम्।

तदनन्तर क्रूर घटोत्कच क्रोधसे लाल आँखें करके दुर्योधनसे बोला—'ओ दुष्ट ! आज मैं अपने उन पितरों और माताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घकालतक वनमें रहनेके लिये विवश कर दिया था। तू बड़ा क्रूर है। दुर्बुद्धि नरेश ! तूने जो पाण्डवोंको द्यूतमें छलपूर्वक हराया था और जो एक ही वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाको रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर ले जाकर नाना प्रकारके क्लेश दिये थे तथा तेरा ही प्रिय करनेकी इच्छावाले दुरात्मा सिन्धुराजने मेरे पितरोंकी अवहेलना करके आश्रममें रहनेवाली द्रौपदीका अपहरण किया था, कुलाधम ! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो इन अपमानोंका और अन्य सब अत्याचारोंका भी आज मैं बदला चुका लूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ३० ॥
संदश्य दशनैरोष्ठं सृक्किणी परिसंलिहन्।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत्।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर हिडिम्बाकुमारने दाँतोंसे ओठ चबाते और जीभसे मुँहके कोनोंको चाटते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर दुर्योधनपर बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि की। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा ऋतुमें मेघ पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कच-युद्धविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध

संजय उवाच

ततस्तद् बाणवर्षं तु दुःसहं दानवैरपि।
दधार युधि राजेन्द्रो यथा वर्षं महाद्विपः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दानवोंके लिये भी दुःसह उस बाणवर्षाको राजाधिराज दुर्योधनने युद्धमें उसी प्रकार धारण किया, जैसे महान् गजराज जलकी वर्षाको अपने ऊपर धारण करता है ॥ १ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षाको लेकर भारी संशयमें पड़ गया ॥ २ ॥

मुमोच निशितांस्तीक्ष्णान् नाराचान् पञ्चविंशतिम्।

तेऽपतन् सहसा राजंस्तस्मिन्राक्षसपुङ्गवे ॥ ३ ॥
आशीविषा इव क्रुद्धाः पर्वते गन्धमादने ।

उसने अत्यन्त तीखे पचीस नाराच छोड़े । महाराज ! वे सब सहसा उस राक्षसराज घटोत्कचपर जाकर गिरे, मानो गन्धमादन पर्वतपर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प कहींसे आ पड़े हों ॥ ३½ ॥

स तैर्विद्धः स्रवन् रक्तं प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ४ ॥
दध्रे मतिं विनाशाय राज्ञः स पिशिताशनः ।

उन बाणोंसे घायल होकर वह राक्षस कुम्भस्थलसे मद-की धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति अपने शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित करने लगा । उसने राजा दुर्योधनका विनाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ४½ ॥

जग्राह च महाशक्तिं गिरीणामपि दारिणीम् ॥ ५ ॥
सम्प्रदीप्तां महोल्काभामशनिं ज्वलितामिव ।

तत्पश्चात् उसने पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालनेवाली प्रज्वलित उल्का एवं वज्रके समान प्रकाशित होनेवाली एक महाशक्ति हाथमें ली ॥ ५½ ॥

समुद्यच्छन् महाबाहुर्जिघांसुस्तनयं तव ॥ ६ ॥
तामुद्यतामभिप्रेक्ष्य वङ्गानामधिपस्त्वरन् ।
कुञ्जरं गिरिसंकाशं राक्षसं प्रत्यचोदयत् ॥ ७ ॥

महाबाहु घटोत्कच आपके पुत्रको मार डालनेकी इच्छा-से वह शक्ति ऊपरको उठा रहा था । उसे उठी हुई देख वंगदेशके राजाने बड़ी उतावलीके साथ अपने पर्वताकार गजराजको उस राक्षसकी ओर बढ़ाया ॥ ६-७ ॥

स नागप्रवरेणाजौ बलिना शीघ्रगामिना ।
यतो दुर्योधनरथस्तं मार्गं प्रत्यवर्तत ॥ ८ ॥

वे वंगनरेश उस शीघ्रगामी महाबली गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके मैदानमें उसी मार्गपर चले, जहाँ दुर्योधनका रथ खड़ा था ॥ ८ ॥

रथं च वारयामास कुञ्जरेण सुतस्य ते ।
मार्गमावारितं दृष्ट्वा राज्ञा वङ्गेन धीमता ॥ ९ ॥
घटोत्कचो महाराज क्रोधसंरक्तलोचनः ।

उन्होंने अपने हाथीके द्वारा आपके पुत्रका मार्ग रोक दिया । महाराज ! बुद्धिमान् वंगनरेशके द्वारा दुर्योधनके रथका मार्ग रुका हुआ देख घटोत्कचके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ॥ ९½ ॥

उद्यतां तां महाशक्तिं तस्मिंश्चिक्षेप वारणे ॥ १० ॥
स तयाभिहतो राजंस्तेन बाहुप्रमुक्तया ।
संजातरुधिरोत्पीडः पपात च ममार च ॥ ११ ॥

उसने उस उठायी हुई महाशक्तिको उस हाथीपर ही चला दिया । राजन् ! घटोत्कचकी भुजाओंसे छूटी हुई उस शक्तिके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और उससे रक्तका स्रोत बहने लगा । फिर वह तत्काल ही भूमिपर गिरा और मर गया ॥ १०-११ ॥

पतत्यथ गजे चापि वङ्गानामीश्वरो बली ।
जवेन समभिद्रुत्य जगाम धरणीतलम् ॥ १२ ॥

हाथीके गिरते समय बलवान् वंगनरेश उसकी पीठसे वेगपूर्वक कूदकर धरतीपर आ गये ॥ १२ ॥

दुर्योधनोऽपि सम्प्रेक्ष्य पतितं वरवारणम् ।
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा जगाम परमां व्यथाम् ॥ १३ ॥

उस श्रेष्ठ गजराजको गिरा हुआ देख सारी कौरवसेना भाग खड़ी हुई । यह सब देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १३ ॥

(अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम् ।)
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य आत्मनश्चाभिमानिताम् ।
प्राप्तेऽपक्रमणे राजा तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

वह घटोत्कचके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसका सामना करनेमें असमर्थ हो गया । क्षत्रियधर्म तथा अपने अभिमान-को सामने रखकर पलायनका अवसर प्राप्त होनेपर भी राजा दुर्योधन पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ १४ ॥

संधाय च शितं बाणं कालाग्निसमतेजसम् ।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उसने प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी एवं तीखे बाणको धनुषपर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचरपर छोड़ दिया ॥ १५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बाणमिन्द्राशनिप्रभम् ।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ॥ १६ ॥

इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कचने अपनी फुर्तीके कारण अपने आपको उससे बचा लिया ॥ १६ ॥

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ॥ १७ ॥

इसके बाद क्रोधसे आँखें लाल करके वह पुनः भयंकर गर्जना करने लगा । जैसे प्रलयकालमें संवर्तक मेघकी गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरवसेनाको दहला दिया ॥ १७ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तस्य भीमस्य रक्षसः ।
आचार्यमुपसङ्गम्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

यथैष निनदो घोरः श्रूयते राक्षसेरितः।
हैडिम्बो युध्यते नूनं राज्ञा दुर्योधनेन ह ॥ १९ ॥

उस भयानक राक्षसकी वह घोर गर्जना सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने द्रोणाचार्यके पास जाकर इस प्रकार कहा—'आचार्य ! यह राक्षसके मुखसे निकली हुई जैसी घोरगर्जना सुनायी दे रही है, उससे अनुमान होता है कि अवश्य ही हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच राजा दुर्योधनके साथ जूझ रहा है॥

नैष शक्यो हि संग्रामे जेतुं भूतेन केनचित्।
तत्र गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ २० ॥

'इसे कोई भी प्राणी संग्राममें जीत नहीं सकता, अतः आपका कल्याण हो, वहाँ जाइये और राजा दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

अभिद्रुतो महाभागो राक्षसेन महात्मना।
एतद्धि वः परं कृत्यं सर्वेषां नः परंतपाः ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है महाभाग दुर्योधन उस महाकाय राक्षसके आक्रमणका शिकार हो रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो ! आपके तथा हम सब लोगोंके लिये यही सर्वोत्तम कृत्य है' ॥ २१ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र कौरवः ॥ २२ ॥

भीष्मकी यह बात सुनकर सब महारथी उत्तम वेगका आश्रय ले बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ कुरुराज दुर्योधन मौजूद था ॥ २२ ॥

द्रोणश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः।
कृपो भूरिश्रवाः शल्य आवन्त्यः सबृहद्बलः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः।
रथाश्चानेकसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ॥ २४ ॥
अभिद्रुतं परीप्सन्तः पुत्रं दुर्योधनं तव।
तदनीकमनाधृष्यं पालितं तु महारथैः ॥ २५ ॥

द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अवन्तीका राजकुमार, बृहद्बल, अश्वत्थामा, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा उनके अनुयायी अनेक सहस्र रथी—ये सब लोग राक्षसके द्वारा आक्रान्त हुए आपके पुत्र दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये गये। उन महारथियोंसे पालित होकर वह सेना अजेय हो गयी ॥ २३—२५ ॥

आततायिनमायान्तं प्रेक्ष्य राक्षससत्तमः।
नाकम्पत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ॥ २६ ॥

युद्धमें आततायी दुर्योधनको आते देख राक्षसशिरोमणि महाबाहु घटोत्कच मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ २६ ॥

प्रगृह्य विपुलं चापं ज्ञातिभिः परिवारितः।
शूलमुद्गरहस्तैश्च नानाप्रहरणैरपि ॥ २७ ॥

उसके जाति-बन्धु हाथोंमें शूल, मुद्गर आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उसे सब ओरसे घेरे हुए थे और उसने एक विशाल धनुष ले रक्खा था ॥ २७ ॥

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
राक्षसानां च मुख्यस्य दुर्योधनबलस्य च ॥ २८ ॥

तदनन्तर राक्षसशिरोमणि घटोत्कच तथा दुर्योधनकी सेनामें रोमाञ्चकारी एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २८ ॥

धनुषां कूजतां शब्दः सर्वतस्तुमुलो रणे।
अश्रूयत महाराज वंशानां दह्यतामिव ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें सब ओर बाँसोंके दग्ध होनेके समान धनुषोंकी टंकारका भयंकर शब्द सुनायी देने लगा ॥

अस्त्राणां पात्यमानानां कवचेषु शरीरिणाम्।
शब्दः समभवद् राजन् गिरीणामिव भिद्यताम् ॥ ३० ॥

राजन् ! देहधारियोंके कवचोंपर पड़नेवाले अस्त्रोंका ऐसा शब्द होता था, मानो पर्वत विदीर्ण हो रहे हों ॥ ३० ॥

वीरबाहुविसृष्टानां तोमराणां विशाम्पते।
रूपमासीद् वियत्स्थानां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! वीरोंकी भुजाओंसे छोड़े गये तोमर जब आकाशमें आते, उस समय उनका स्वरूप तीव्र गतिसे उड़नेवाले सर्पोंके समान जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो विस्फार्य सुमहद् धनुः।
राक्षसेन्द्रो महाबाहुर्विनदन् भैरवं रवम् ॥ ३२ ॥
आचार्यस्यार्धचन्द्रेण क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम्।
सोमदत्तस्य भल्लेन ध्वजं चोन्मथ्य चानदत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाबाहु राक्षसराज घटोत्कचने अत्यन्त क्रुद्ध हो भैरव गर्जना करते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर अर्धचन्द्राकार बाणसे द्रोणाचार्यके धनुषको काट डाला। फिर एक भल्लके द्वारा सोमदत्तके ध्वजको खण्डित करके सिंहनाद किया ॥ ३२-३३ ॥

बाह्लीकं च त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
कृपमेकेन विव्याध चित्रसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे बाह्लीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। एक बाणसे कृपाचार्यको और तीनसे चित्रसेनको भी बींध डाला ॥ ३४ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
जत्रुदेशे समासाद्य विकर्णं समताडयत् ॥ ३५ ॥

इसके बाद उसने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उसपर उत्तम रीतिसे बाणोंका संधान करके विकर्णके गलेकी हँसलीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

न्यषीदत् स्वरथोपस्थे शोणितेन परिप्लुतः ।
ततः पुनरमेयात्मा नाराचान् दश पञ्च च ॥ ३६ ॥
भूरिश्रवसि संक्रुद्धः प्राहिणोद् भरतर्षभ ।

इससे विकर्ण अपने रथके पिछले भागमें व्याकुल होकर बैठ गया, उसका सारा शरीर रक्तसे नहा उठा था। भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न घटोत्कचने क्रुद्ध होकर भूरिश्रवापर पंद्रह नाराच चलाये ॥ ३६½ ॥

ते वर्म भित्त्वा तस्याशु विविशुर्धरणीतलम् ॥ ३७ ॥
विविंशतेश्च द्रौणेश्च यन्तारौ समताडयत् ।
तौ पेततू रथोपस्थे रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ॥ ३८ ॥

वे नाराच उसके कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही धरतीमें समा गये। साथ ही घटोत्कचने विविंशति और अश्वत्थामाके सारथियोंपर गहरा आघात किया। वे दोनों घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर रथकी बैठकमें गिर पड़े ३७-३८

सिंधुराज्ञोऽर्धचन्द्रेण वाराहं स्वर्णभूषितम् ।
उन्ममाथ महाराज द्वितीयेनाच्छिनद् धनुः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उसने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सिन्धुराज जयद्रथकी वाराहचिह्नसे युक्त सुवर्णभूषित ध्वजा काट डाली और दूसरे बाणसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।३९।

चतुर्भिरथ नाराचैरावन्त्यस्य महात्मनः ।
जघान चतुरो वाहान् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ४० ॥

इसके बाद क्रोधसे लाल आँखें करके घटोत्कचने चार नाराचोंद्वारा महामना अवन्तीनरेशके चारों घोड़ोंको मार डाला॥

पूर्णायतविसृष्टेन पीतेन निशितेन च ।
निर्बिभेद महाराज राजपुत्रं बृहद्बलम् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये पानीदार तीखे बाणसे उसने राजकुमार बृहद्बलको विदीर्ण कर दिया ॥ ४१ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
भृशं क्रोधेन चाविष्टो रथस्थो राक्षसाधिपः ॥ ४२ ॥

उस बाणसे वह गहराईतक बिंध गया और व्यथित होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा। इधर राक्षसराज घटोत्कच अत्यन्त क्रोधसे आविष्ट हो रथपर बैठा रहा॥

चिक्षेप निशितांस्तीक्ष्णाञ्छरानाशीविषोपमान् ।
बिभिदुस्ते महाराज शल्यं युद्धविशारदम् ॥ ४३ ॥

महाराज ! रथपर बैठे-ही-बैठे उसने विषधर सर्पोंके समान अत्यन्त तीखे बाण चलाये। उन बाणोंने युद्धविशारद राजा शल्यको पूर्णरूपसे घायल कर दिया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कचका युद्धविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलायन

संजय उवाच

विमुखीकृत्य सर्वांस्तु तावकान् युधि राक्षसः ।
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ दुर्योधनमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! वह राक्षस युद्धस्थलमें आपके समस्त सैनिकोंको संग्रामसे विमुख करके दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसकी ओर दौड़ा ॥ १ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राजानं प्रति वेगितम् ।
अभ्यधावञ्जिघांसन्तस्तावका युद्धदुर्मदाः ॥ २ ॥

उसे राजा दुर्योधनकी ओर बड़े वेगसे आते देख आपके रणदुर्मद पुत्र और सैनिक मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥ २ ॥

तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः ।
तमेकमभ्यधावन्त नदन्तः सिंहसंघवत् ॥ ३ ॥

उन सभी महारथियोंने चार-चार हाथके धनुष खींचते और सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करते हुए उस एकमात्र योद्धा घटोत्कचपर धावा किया ॥ ३ ॥

अथैनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवाकिरन् ।
पर्वतं वारिधाराभिः शरदीव बलाहकाः ॥ ४ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार उन सब कौरव वीरोंने चारों ओरसे घटोत्कचपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स गाढविद्धो व्यथितस्तोत्रार्दित इव द्विपः ।
उत्पपात तदाऽऽकाशं समन्ताद् वैनतेयवत् ॥ ५ ॥
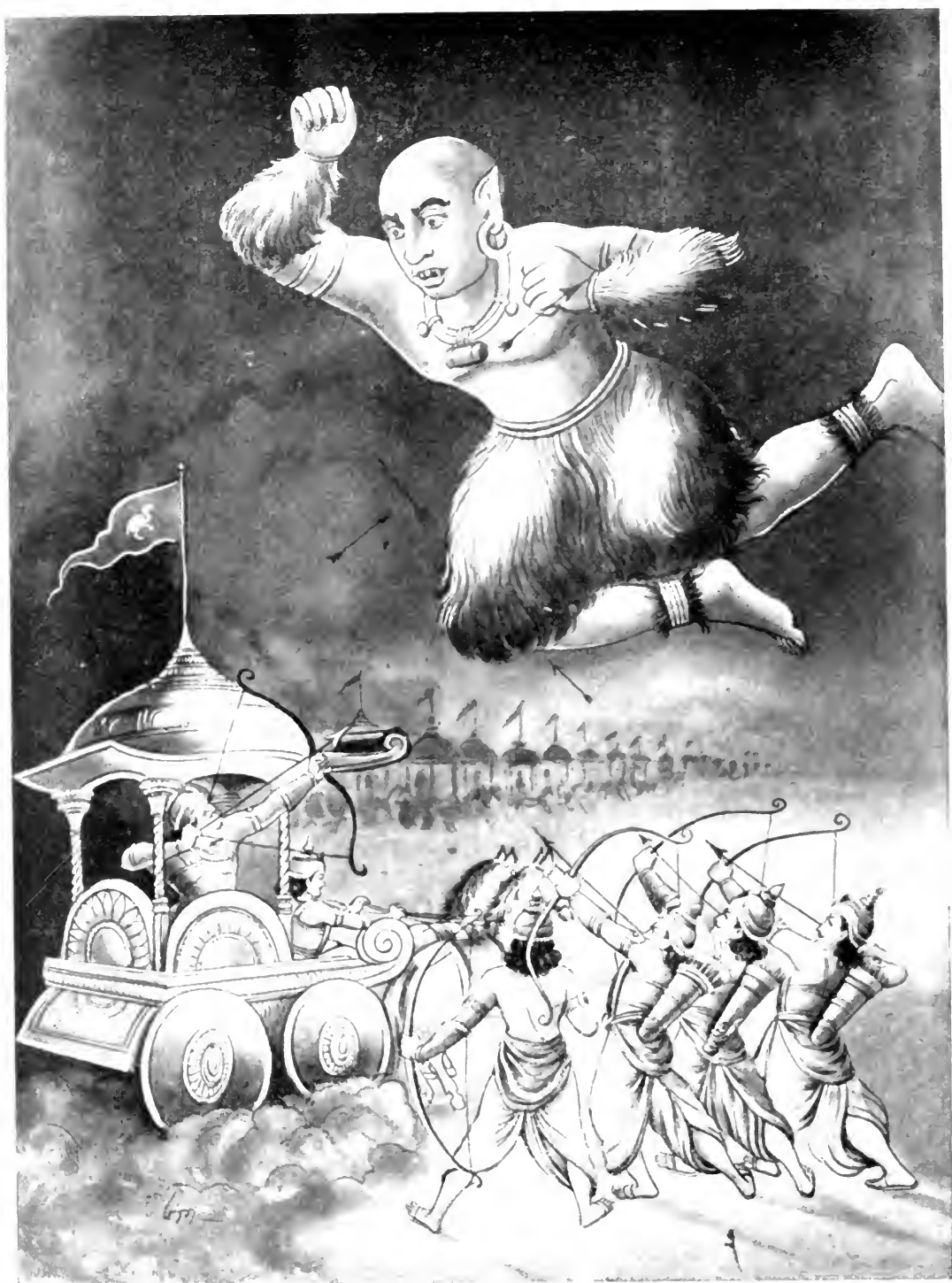
आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध

उस समय उन बाणोंके गहरे आघातसे वह अङ्कुशकी मार खाये हुए हाथीकी भाँति व्यथित हो उठा और तुरंत ही गरुड़के समान आकाशमें सब ओर उड़ने लगा ॥ ५ ॥

व्यनदत् सुमहानादं जीमूत इव शारदः ।
दिशः खं विदिशश्चैव नादयन् भैरवस्वनः ॥ ६ ॥

आकाशमें स्थित होकर शरद्‌ऋतुके बादलकी भाँति वह अपने भयंकर स्वरसे अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओंको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ६ ॥

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिंदमम् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षस घटोत्कचकी उस गर्जनाको सुनकर राजा युधिष्ठिरने शत्रुदमन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ॥ ८ ॥

'राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियोंसे निश्चय ही युद्ध कर रहा है । भैरवनाद करते हुए उस राक्षसका जैसा शब्द सुनायी देता है, उससे यही जान पड़ता है ॥ ८ ॥

अतिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।
पितामहश्च संक्रुद्धः पञ्चालान् हन्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥

'मैं उस राक्षसशिरोमणिपर बहुत बड़ा भार देख रहा हूँ । उधर पितामह भीष्म भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर पाञ्चालोंको मार डालनेके लिये उद्यत हैं ॥ ९ ॥

तेषां च रक्षणार्थाय युध्यते फाल्गुनः परैः ।
एतज्ज्ञात्वा महाबाहो कार्यद्वयमुपस्थितम् ॥ १० ॥
गच्छ रक्षस्व हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ।

'उनकी रक्षाके लिये अर्जुन शत्रुओंसे युद्ध करते हैं । महाबाहो ! अपने ऊपर दो कार्य उपस्थित हैं, ऐसा जानकर तुम जाओ और अत्यन्त संशयमें पड़े हुए हिडिम्बाकुमारकी रक्षा करो' ॥ १०½ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ॥ ११ ॥
प्रययौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ।

भाईकी यह आज्ञा मानकर भीमसेन सिंहनादसे सम्पूर्ण नरेशोंको भयभीत करते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे चल दिये ॥ ११½ ॥

वेगेन महता राजन् पर्वकाले यथोदधिः ॥ १२ ॥
तमन्वगात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ १३ ॥
अभिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ।
क्षत्रदेवश्च विक्रान्तः क्षत्रधर्मा तथैव च ॥ १४ ॥
अनूपाधिपतिश्चैव नीलः स्वबलमास्थितः ।
महता रथवंशेन हैडिम्बं पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पूर्णिमाको समुद्र बड़े वेगसे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन अत्यन्त वेगसे आगे बढ़े । उनके पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू, अभिमन्यु आदि योद्धा, द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र, पराक्रमी क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा, अनूपदेशके राजा नील, जिन्हें अपने बलका पूरा भरोसा था—इन सब वीरोंने विशाल रथसेनाके साथ हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको सब ओरसे घेर लिया ॥ १२–१५ ॥

कुञ्जरैश्च सदा मत्तैः षट्सहस्रैः प्रहारिभिः ।
अभ्यरक्षन्त सहिता राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥ १६ ॥

सदा उन्मत्त रहनेवाले, प्रहारकुशल छः हजार गजराजोंके साथ आकर उपर्युक्त वीरोंने एक साथ ही राक्षसराज घटोत्कचकी रक्षा की ॥ १६ ॥

सिंहनादेन महता नेमिघोषेण चैव ह ।
खुरशब्दनिपातैश्च कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १७ ॥

वे महान् सिंहनाद, रथके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टाप पड़नेसे होनेवाले महान् शब्दके द्वारा वसुधाको कम्पित कर रहे थे ॥ १७ ॥

तेषामापततां श्रुत्वा शब्दं तं तावकं बलम् ।
भीमसेनभयोद्विग्नं विवर्णवदनं तथा ॥ १८ ॥

उन सबके आनेसे जो कोलाहल हुआ, उसे सुनकर भीमसेनके भयसे उद्विग्न हुए आपके सैनिकोंका मुख उदास हो गया ॥ १८ ॥

परिवृत्तं महाराज परित्यज्य घटोत्कचम् ।
ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।

महाराज ! उस समय रक्षकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए घटोत्कचको छोड़कर संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्षके उन महामनस्वी योद्धाओंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ १९½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ २० ॥
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए उभय पक्षके महारथी भीषण युद्ध करने लगे ॥ २०½ ॥

व्यतिषक्तं महारौद्रं युद्धं भीरुभयावहम् ॥ २१ ॥
हया गजैः समाजग्मुः पादाता रथिभिः सह ।

धीरे-धीरे अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो भीरु मनुष्योंको डरानेवाला था । घुड़सवार हाथीसवारोंके और पैदल रथियोंके साथ भिड़ गये ॥ २१½ ॥

अन्योन्यं समरे राजन् प्रार्थयानाः समभ्ययुः ॥ २२ ॥
सहसा चाभवत् तीव्रं संनिपातान्महद् रजः ।
गजाश्वरथपत्तीनां पदनेमिसमुद्धतम् ॥ २३ ॥

राजन् ! वे समराङ्गणमें एक दूसरेको ललकारते हुए जूझ रहे थे। उस समय उस भीषण संघर्षसे सहसा बड़े जोरकी धूल उठी, जो हाथी, घोड़े और पैदलोंके पैरों तथा रथके पहियोंके धक्केसे उठायी गयी थी ॥ २२-२३ ॥

धूम्रारुणं रजस्तीव्रं रणभूमिं समावृणोत् ।
नैव स्वे न परे राजन् समजानन् परस्परम् ॥ २४ ॥

महाराज ! काले और लाल रंगकी उस दुःसह धूलने समस्त रणभूमिको ढक लिया। उस समय अपने और शत्रु-पक्षके योद्धा एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रं न जानीते पुत्रो वा पितरं तथा ।
निर्मर्यादे तथाभूते वैशसे लोमहर्षणे ॥ २५ ॥

उस मर्यादाशून्य रोमाञ्चकारी जनसंहारमें पिता पुत्रको और पुत्र पिताको नहीं पहचान पाता था ॥ २५ ॥

शस्त्राणां भरतश्रेष्ठ मनुष्याणां च गर्जताम् ।
सुमहानभवच्छब्दः प्रेतानामिव भारत ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! शस्त्रोंके आघात और मनुष्योंकी गर्जनाका महान् शब्द भूत-प्रेतोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥

गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरङ्गिणी ।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला ॥ २७ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रक्त और आँतोंकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसमें केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे ॥ २७ ॥

नराणां चैव कायेभ्यः शिरसां पततां रणे ।
शुश्रुवे सुमहाञ्छब्दः पतताम‌श्मनामिव ॥ २८ ॥

मनुष्योंके शरीरोंसे रणभूमिमें कटकर गिरते हुए मस्तकोंका महान् शब्द पत्थरोंकी वर्षाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च छिन्नगात्रैश्च वारणैः ।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ॥ २९ ॥

बिना सिरके मनुष्यों, कटे हुए अङ्गोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ोंसे वहाँकी सारी भूमि पट गयी थी ॥

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥

नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए महारथी सर्वथा युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ३० ॥

हया हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः ।
समाहत्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ॥ ३१ ॥

घुड़सवारोंद्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ोंसे भिड़कर आपसमें टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्रमें गिर पड़ते थे ॥ ३१ ॥

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ॥ ३२ ॥

मनुष्य मनुष्योंपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोधसे लाल आँखें किये छातीसे छाती भिड़ाकर एक दूसरेको मारने लगे ॥

प्रेषिताश्च महामात्रैर्वारणाः परवारणैः ।
अभ्यघ्नन्त विषाणाग्रैर्वारणानेव संयुगे ॥ ३३ ॥

महावतोंके द्वारा आगे बढ़ाये हुए हाथी विपक्षी हाथियोंसे टक्कर लेकर युद्धस्थलमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे हाथियों-पर ही चोट करते थे ॥ ३३ ॥

ते जातरुधिरोत्पीडाः पताकाभिरलंकृताः ।
संसक्ताः प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

उस समय उनके मस्तकसे रक्तकी धारा बहने लगती थी। परस्पर भिड़े हुए वे हाथी पताकाओंसे अलंकृत होनेके कारण विद्युत्सहित मेघोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

केचिद् भिन्ना विषाणाग्रैर्भिन्नकुम्भाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त गर्जमाना घना इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथी दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण हो रहे थे। कितनोंके कुम्भस्थल तोमरोंकी मारसे फट गये थे और वे गर्जते हुए बादलोंके समान चीत्कार करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ३५ ॥

केचिद्धस्तैर्द्विधा च्छिन्नैश्छिन्नगात्रास्तथापरे ।
निपेतुस्तुमुले तस्मिंश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३६ ॥

किन्हींकी सूँड़ोंके दो टुकड़े हो गये थे, किन्हींके सभी अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे हाथी पंख कटे पर्वतोंके समान उस भयानक युद्धमें धड़ाधड़ गिर रहे थे ॥ ३६ ॥

पार्श्वैस्तु दारितैरन्ये वारणैर्वरवारणाः ।
मुमुचुः शोणितं भूरि धातूनिव महीधराः ॥ ३७ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ हाथी हाथियोंके आघातसे ही अपना पार्श्व-भाग विदीर्ण हो जानेके कारण उसी प्रकार प्रचुरमात्रामें अपना रक्त बहा रहे थे, जैसे पर्वत गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरने बहाते हों ॥ ३७ ॥

नाराचनिहतास्त्वन्ये तथा विद्धाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त विशृंगा इव पर्वताः ॥ ३८ ॥

कुछ हाथी नाराचोंसे घायल किये गये थे, कितनोंके शरीरोंमें तोमर धँसे हुए थे और वे सबके सब घोर चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस समय वे शृङ्गहीन पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

केचित् क्रोधसमाविष्टा मदान्धा निरवग्रहाः ।
रथान् हयान् पदातींश्च ममृदुः शतशो रणे ॥ ३९ ॥

कितने ही मदान्ध गजराज क्रोधमें भरे होनेके कारण काबूमें नहीं आते थे। उन्होंने रणभूमिमें सैकड़ों रथों, घोड़ों और पैदल सिपाहियोंको पैरों तले रौंद डाला ॥ ३९ ॥

तथा हया हयारोहैस्ताडिताः प्रासतोमरैः।
तेन तेनाभ्यवर्तन्त कुर्वन्तो व्याकुला दिशः ॥ ४० ॥

इसी प्रकार घुड़सवारोंद्वारा प्रास और तोमरोंकी मारसे घायल किये हुए घोड़े सम्पूर्ण दिशाओंको व्याकुल करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ४० ॥

रथिनो रथिभिः सार्धं कुलपुत्रास्तनुत्यजः।
परां शक्तिं समास्थाय चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ४१ ॥

कितने ही कुलीन रथी अपने शरीरोंको निछावर करके भारी-से-भारी शक्ति लगाकर विपक्षी रथियोंके साथ निर्भयकी भाँति महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥ ४१ ॥

स्वयंवर इवामर्दे प्रजह्रुरितरेतरम्।
प्रार्थयाना यशो राजन् स्वर्गं वा युद्धशालिनः ॥ ४२ ॥

राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले वीर स्वर्ग अथवा यश पानेकी इच्छा रखकर स्वयंवरकी भाँति उस युद्धमें एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे।
धार्तराष्ट्रं महत् सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमाञ्चकारी संग्राममें दुर्योधनकी विशाल सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेनाको मारी गयी देख क्रोधमें भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधनने शत्रुदमन भीमसेनपर धावा किया ॥ १ ॥

प्रगृह्य सुमहच्चापमिन्द्राशनिसमस्वनम्।
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत् ॥ २ ॥

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंकी भारी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

अर्धचन्द्रं च संधाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम्।
भीमसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ॥ ३ ॥

इतना ही नहीं, उसने कुपित होकर पंखयुक्त अत्यन्त तीखे अर्धचन्द्राकार बाणका प्रयोग करके भीमसेनके धनुषको काट दिया ॥ ३ ॥

तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः।
प्रसंदधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥ ४ ॥

फिर उसीको उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ एक तीखे बाणका संधान किया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था ॥ ४ ॥

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत्।
स गाढविद्धो व्यथितः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५ ॥
समाललम्बे तेजस्वी ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।

महाराज! उस बाणके द्वारा दुर्योधनने भीमसेनकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी। उससे अत्यन्त घायल होकर तेजस्वी भीमसेन व्यथित हो उठे और मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए उन्होंने अपने सुवर्णभूषित ध्वजका सहारा ले लिया ॥ ५½ ॥

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ॥ ६ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः।

भीमसेनको इस प्रकार व्यथितचित्त देखकर घटोत्कच जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवकी भाँति क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ६½ ॥

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ॥ ७ ॥
समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः।

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेगसे राजा दुर्योधनको ललकारते हुए उसकी ओर दौड़े ॥ ७½ ॥

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ॥ ८ ॥
भारद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं तावकानां महारथान्।
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ ९ ॥
संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे।

क्रोधमें भरे हुए इन समस्त योद्धाओंको वेगपूर्वक धावा

करते देख द्रोणाचार्यने आपके महारथियोंसे कहा—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो। शीघ्र जाओ और संकटके समुद्रमें डूबकर महान् प्राणसंशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनकी रक्षा करो ॥ ८–९½ ॥

एते क्रुद्धा महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १० ॥
भीमसेनं पुरस्कृत्य दुर्योधनमुपाद्रवन् ।
नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो जये धृताः ॥ ११ ॥
नदन्तो भैरवान् नादांस्त्रासयन्तश्च भूमिपान् ।

'ये महाधनुर्धर पाण्डव महारथी कुपित हो भीमसेनको आगे करके दुर्योधनपर धावा कर रहे हैं और विजयका दृढ़ संकल्प ले नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भैरव गर्जना करते तथा भूमिपालोंको त्रास पहुँचाते हैं' ।१०-११½।

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ॥ १२ ॥
तावकाः समवर्तन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ।

आचार्यका यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओंने पाण्डवसेनापर आक्रमण किया॥१२½॥

कृपो भूरिश्रवाः शल्यो द्रोणपुत्रो विविंशतिः ॥ १३ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च सैन्धवोऽथ बृहद्बलः ।
आवन्त्यौ च महेष्वासौ कौरवं पर्यवारयन् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, सिंधुराज जयद्रथ, बृहद्बल तथा अवन्तीके राजकुमार महाधनुर्धर विन्द और अनुविन्द—इन सबने दुर्योधनको उसकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर लिया।१३-१४।

ते विंशतिपदं गत्वा सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

वे बीस कदम आगे बढ़कर प्रहार करने लगे, फिर तो पाण्डव तथा कौरव योद्धा एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ १६ ॥

कौरव महारथियोंसे पूर्वोक्त बात कहनेके पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने अपने विशाल धनुषको खींचकर भीमसेनको छब्बीस बाण मारे ॥ १६ ॥

भूयश्चैनं महाबाहुः शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ १७ ॥

साथ ही उन महाबाहुने उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो वर्षाऋतुमें मेघ पर्वत-शिखरपर जलकी धारा गिरा रहा हो ॥ १७ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
त्वरमाणो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ॥ १८ ॥

तब महाबली महाधनुर्धर भीमसेनने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यकी बायीं पसलीमें दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! उन बाणोंसे उन्हें गहरा आघात लगा। वे वयोवृद्ध तो थे ही, सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ॥ १९ ॥

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ॥ २० ॥

आचार्य द्रोणको व्यथासे पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर टूट पड़े ।२०।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य कालान्तकयमोपमौ ।
भीमसेनो महाबाहुर्गदामादाय सत्वरम् ॥ २१ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर उन दोनों महारथियोंको आक्रमण करते देख महाबाहु भीमसेनने तुरंत ही गदा हाथमें ले ली और वे रथसे कूदकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २१½ ॥

समुद्यम्य गदां गुर्वीं यमदण्डोपमां रणे ॥ २२ ॥
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ॥ २३ ॥

उन्होंने हाथमें जो भारी गदा उठायी थी, वह रणभूमिमें यमदण्डके समान भयानक जान पड़ती थी। शृङ्गधारी कैलास पर्वतके समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेनको देखकर दुर्योधन और अश्वत्थामाने एक साथ उनपर धावा किया ॥ २२–२३ ॥

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों वीरोंको एक साथ शीघ्रतापूर्वक आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ॥ २५ ॥

क्रोधमें भरकर भयंकर दिखायी देनेवाले भीमसेनको देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

भारद्वाजमुखाः सर्वे भीमसेनजिघांसया ।
नानाविधानि शस्त्राणि भीमस्योरस्यपातयन् ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्य आदि सभी योद्धा भीमसेनके वधकी इच्छासे

उनकी छातीपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ॥ २७ ॥
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥

वे सब एक साथ होकर चारों ओरसे पाण्डुकुमार भीमसेनको पीड़ा देने लगे । महारथी भीमसेनको पीड़ित और उनके प्राणोंको संकटमें पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी रक्षाके लिये दौड़ आये ॥ २७–२८ ॥

अनूपाधिपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
नीलो नीलाम्बुदप्रख्यः संक्रुद्धो द्रौणिमभ्ययात्॥ २९ ॥

अनूप देशका शूरवीर राजा नील भीमसेनका प्रिय सखा था । उसकी अङ्गकान्ति श्याम मेघके समान सुन्दर थी । उसने अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामापर आक्रमण किया।२९।

स्पर्धते हि महेष्वासो नित्यं द्रोणसुतेन सः ।
स विस्फार्य महच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्रिणा॥ ३० ॥
यथा शक्रो महाराज पुरा विव्याध दानवम् ।
विप्रचित्तिं दुराधर्षं देवतानां भयंकरम् ॥ ३१ ॥
येन लोकत्रयं क्रोधात् त्रासितं स्वेन तेजसा ।

वह महाधनुर्धर वीर प्रतिदिन द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ स्पर्धा रखता था । महाराज ! उसने अपने विशाल धनुषको खींचकर एक पंखयुक्त बाणसे अश्वत्थामाको उसी प्रकार घायल कर दिया, जैसे इन्द्रने पूर्वकालमें देवताओंके लिये भयंकर विप्रचित्ति नामक दुर्धर्ष दानवको घायल किया था, उस दानवने अपने क्रोध एवं तेजसे तीनों लोकोंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ३०-३१½ ॥

तथा नीलेन निर्भिन्नः सुमुक्तेन पतत्त्रिणा ॥ ३२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो द्रौणिः क्रोधसमन्वितः ।

नीलके छोड़े हुए उस पंखयुक्त बाणसे विदीर्ण होकर अश्वत्थामाके शरीरसे रक्तका प्रवाह बह चला । इससे अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३२½ ॥

स विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ३३ ॥
दध्रे नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ।

तदनन्तर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर टंकार करनेवाले अपने विचित्र धनुषको खींचकर नीलको मार डालनेका विचार किया ॥ ३३½ ॥

ततः संधाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ॥
जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ।
सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उसने लोहारके माँजे हुए सात चमकीले भल्लों-को धनुषपर रखकर चलाया । उनमेंसे चारके द्वारा उसने नीलके चारों घोड़ोंको और पाँचवेंसे सारथिको मार डाला । छठेसे ध्वजको काट गिराया और सातवें भल्लसे नीलकी छातीमें प्रहार किया ॥३४–३५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
मोहितं वीक्ष्य राजानं नीलमभ्रचयोपमम् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचोऽभिसंक्रुद्धो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ ३७ ॥
तथेतरे चाभ्यधावन् राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।

उस बाणसे अधिक घायल हो जानेके कारण वे व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये । नील मेघसमूहके समान श्याम वर्णवाले राजा नीलको अचेत हुआ देख अपने भाई-बन्धुओंसे घिरा हुआ घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा । उसके साथ ही दूसरे-दूसरे रणदुर्मद राक्षसोंने भी उसपर धावा किया ॥ ३६–३७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ३८ ॥
अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ।

देखनेमें अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कचको धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ उसपर आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

निजघान च संक्रुद्धो राक्षसान् भीमदर्शनान् ॥ ३९ ॥
येऽभवन्नग्रतः क्रुद्धा राक्षसस्य पुरःसराः ।

उसने कुपित हो उन भयंकर राक्षसोंको मारना आरम्भ किया, जो घटोत्कचके आगे खड़े होकर क्रोधपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ३९½ ॥

विमुखांश्चैव तान् दृष्ट्वा द्रौणिचापच्युतैः शरैः ॥ ४० ॥
अक्रुद्ध्यत महाकायो भैमसेनिर्घटोत्कचः ।

अश्वत्थामाके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल हो उन राक्षसोंको भागते देख विशालकाय भीमसेनकुमार घटोत्कच कुपित हो उठा ॥ ४०½ ॥

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ॥ ४१ ॥
मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ।

तत्पश्चात् उस मायावी राक्षसराजने समराङ्गणमें अश्वत्थामाको मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर माया प्रकट की ॥ ४१½ ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ॥ ४२ ॥
अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ।
विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ॥ ४३ ॥
द्रोणं दुर्योधनं शल्यमश्वत्थामानमेव च ।
प्रायशश्च महेष्वासा ये प्रधानाः स्म कौरवाः ॥ ४४ ॥
विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ।
हयाश्चैव हयारोहाः संनिकृत्ताः सहस्रशः ॥ ४५ ॥

तब उस मायासे डरकर आपके सभी सैनिक युद्धसे विमुख हो गये । उन्होंने एक दूसरेको तथा द्रोण, दुर्योधन, शल्य और अश्वत्थामाको भी इस प्रकार देखा—सबके सब छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिरकर छटपटा रहे हैं और खूनसे लथपथ होकर दयनीय दशाको पहुँच गये हैं । कौरवोंमें जो महान् धनुर्धर एवं प्रधान वीर हैं, प्रायः वे सभी रथी विध्वंसको प्राप्त हो गये हैं । सब राजा मार गिराये गये हैं तथा हजारों घोड़े और घुड़सवार टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं ॥४२–४५॥

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।
मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ॥ ४६ ॥
युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।
घटोत्कचप्रमुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ॥ ४७ ॥

यह सब देखकर आपकी सेना शिबिरकी ओर भाग चली । राजन् ! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'वीरो ! युद्ध करो । भागो मत । रणभूमिमें तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कचद्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है ।' परंतु वे अचेत होनेके कारण ठहर न सके ॥ ४६–४७ ॥

नैव ते श्रद्दधुर्भीता वदतोरावयोर्वचः ।
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ॥ ४८ ॥
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे ।

वे इतने डर गये थे कि हम दोनोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते थे । उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कचके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ४८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः समन्तान्नेदिरे भृशम् ॥ ४९ ॥
एवं तव बलं सर्वं हैडिम्बेन दुरात्मना ।
सूर्यास्तमनवेलायां प्रभग्नं विद्रुतं दिशः ॥ ५० ॥

चारों ओर शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे जोर-जोरसे बजने लगे । इस प्रकार सूर्यास्तके समय दुरात्मा घटोत्कचसे खदेड़ी गयी आपकी सारी सेना सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमयुद्धदिवसे घटोत्कचयुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें घटोत्कचका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डवसेनाके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा ।
(पराजयं राक्षसेन नामृष्यत परंतपः ।)
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ॥ १ ॥
तस्य सर्वं यथावृत्तमाख्यातुमुपचक्रमे ।
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम् ॥ २ ॥
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।

संजय कहते हैं—महाराज ! शत्रुओंको संताप देनेवाला राजा दुर्योधन उस महान् युद्धमें एक राक्षसके द्वारा प्राप्त हुई अपनी पराजयको नहीं सह सका । उसने गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर उन्हें विनीतभावसे प्रणाम करनेके पश्चात् सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे कह सुनाया । उस दुर्धर्ष वीरने बारंबार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कचकी विजय और अपनी पराजयकी कथा कही ॥ १-२½ ॥

अब्रवीच्च तदा राजन् भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ३ ॥
भवन्तं समुपाश्रित्य वासुदेवं यथा परैः ।
पाण्डवैर्विग्रहो घोरः समारब्धो मया प्रभो ॥ ४ ॥

राजन् ! फिर उसने कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मसे कहा—'प्रभो ! जैसे मेरे शत्रु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका सहारा लेकर पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध छेड़ा है ॥३-४॥

एकादश समाख्याता अक्षौहिण्यश्च या मम ।
निदेशे तव तिष्ठन्ति मया सार्धं परंतप ॥ ५ ॥

'परंतप ! मेरे साथ ही मेरी ये प्रसिद्ध ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपकी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं भरतशार्दूल भीमसेनपुरोगमैः ।
घटोत्कचं समाश्रित्य पाण्डवैर्युधि निर्जितः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! ऐसा शक्तिशाली होनेपर भी मुझे भीमसेन आदि पाण्डवोंने घटोत्कचका सहारा लेकर युद्धमें परास्त कर दिया है ॥ ६ ॥

तन्मे दहति गात्राणि शुष्कवृक्षमिवानलः ।
यदिच्छामि महाभाग त्वत्प्रसादात् परंतप ॥ ७ ॥
राक्षसापसदं हन्तुं स्वयमेव पितामह ।
त्वां समाश्रित्य दुर्धर्षं तन्मे कर्तुं त्वमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाभाग ! जैसे आग सूखे पेड़को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह अपमान मेरे अङ्ग-अङ्गको दग्ध कर रहा है । शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह ! मैं आपकी कृपासे स्वयं ही उस नीच एवं दुर्धर्ष राक्षसको मारना चाहता हूँ । आपका सहारा लेकर उसपर विजयी होना चाहता हूँ । अतः आप मेरे इस मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ७-८ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञो भरतसत्तम ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनका यह वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने उससे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
यथा त्वया महाराज वर्तितव्यं परंतप ॥ १० ॥

'राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! तुम्हें जिस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, वह सुनो ॥ १० ॥

आत्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिंदम ।
धर्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ॥ ११ ॥

'तात ! शत्रुदमन ! तुम युद्धमें सदा अपनी रक्षा करो । अनघ ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिरसे ही संग्राम करना चाहिये ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः ।
राजधर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ॥ १२ ॥

'अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेनके साथ भी तुम युद्ध कर सकते हो । राजधर्मको सामने रखकर यह बात कही गयी है । राजा राजासे ही युद्ध करता है ॥ १२ ॥

(न तु कार्यस्त्वया राजन् हैडिम्बेन दुरात्मना ॥)
अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः ।
शल्यश्च सौमदत्तिश्च विकर्णश्च महारथः॥ १३ ॥
तव च भ्रातरः श्रेष्ठा दुःशासनपुरोगमाः ।
त्वदर्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ॥ १४ ॥

'राजन् ! तुम्हें दुरात्मा घटोत्कचके साथ कदापि युद्ध नहीं करना चाहिये । मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा, शल्य, भूरिश्रवा, महारथी विकर्ण तथा दुःशासन आदि तुम्हारे अच्छे भ्राता—ये सब लोग तुम्हारे लिये उस महाबली राक्षससे युद्ध करेंगे ॥ १३-१४ ॥

रौद्रे तस्मिन् राक्षसेन्द्रे यदि तेऽनुशयो महान् ।
अयं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः ॥ १५ ॥
भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ।

'यदि उस भयंकर राक्षसराज घटोत्कचपर तुम्हारा अधिक रोष है तो उस दुष्टके साथ युद्ध करनेके लिये राजा भगदत्त जायँ; क्योंकि युद्धमें ये इन्द्रके समान पराक्रमी हैं' ॥ १५½ ॥

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥
समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

इतना कहकर बोलनेमें कुशल भीष्मने राजाधिराज दुर्योधनके सामने ही राजा भगदत्तसे यह बात कही—॥ १६½ ॥

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम् ॥ १७ ॥
वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'महाराज ! तुम रणदुर्मद घटोत्कचका सामना करनेके लिये शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्रमें आगे बढ़नेसे रोको ॥ १७½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं यथेन्द्रस्तारकं पुरा ॥ १८ ॥
तव दिव्यानि चास्त्राणि विक्रमश्च परंतप ।
समागमश्च बहुभिः पुराभूदमरैः सह ॥ १९ ॥

'पूर्वकालमें इन्द्रने जैसे तारकासुरकी प्रगति रोक दी थी, उसी प्रकार तुम भी उस क्रूरकर्मा राक्षसको रोक दो । परंतप ! तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं । तुममें पराक्रम भी महान् है और पूर्वकालमें बहुत-से देवताओंके साथ तुम्हारा युद्ध भी हो चुका है ॥ १८-१९ ॥

त्वं तस्य नृपशार्दूल प्रतियोद्धा महाहवे ।
स्वबलेनोच्छ्रितो राजञ्जहि राक्षसपुङ्गवम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें घटोत्कचका सामना करनेवाले योद्धा केवल तुम्हीं हो । राजन् ! तुम अपने ही बलसे उत्कर्षको प्राप्त होकर राक्षस-शिरोमणि घटोत्कचको मार डालो' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः ।
प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ॥ २१ ॥

सेनापति भीष्मका यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरंत ही शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ २१ ॥

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम् ।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २२ ॥
भीमसेनोऽभिमन्युश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
द्रौपदेयाः सत्यधृतिः क्षत्रदेवश्च भारत ॥ २३ ॥
चेदिपो वसुदानश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।

भारत ! गर्जते हुए मेघके समान राजा भगदत्तको धावा करते देख भीमसेन, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सत्यधृति, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु, वसुदान

और दशार्णराज—ये सभी पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोधमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आये ॥ २२-२३½ ॥

सुप्रतीकेन तांश्चापि भगदत्तोऽप्युपाद्रवत् ॥ २४ ॥
ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ २५ ॥

भगदत्तने भी सुप्रतीक नामक हाथीपर आरूढ़ होकर उनपर धावा किया । फिर तो पाण्डवोंका भगदत्तके साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ २४-२५ ॥

प्रयुक्ता रथिभिर्बाणा भीमवेगाः सुतेजनाः ।
ते निपेतुर्महाराज नागेषु च रथेषु च ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंद्वारा प्रयुक्त हुए भयंकर वेगशाली तेज बाण हाथियों और रथोंपर गिरने लगे ॥ २६ ॥

प्रभिन्नाश्च महानागा विनीता हस्तिसादिभिः ।
परस्परं समासाद्य संनिपेतुरभीतवत् ॥ २७ ॥

जिनके मस्तकसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे बड़े-बड़े गजराज गजारोहियोंद्वारा प्रेरित हो एक दूसरेके पास पहुँचकर निर्भीक हो परस्पर भिड़ जाते थे ॥ २७ ॥

मदान्धा रोषसंरब्धा विषाणाग्रैर्महाहवे ।
बिभिदुर्दन्तमुसलैः समासाद्य परस्परम् ॥ २८ ॥

उस महायुद्धमें रोषपूर्ण मदान्ध हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे अथवा दाँतरूपी मूसलोंसे परस्पर भिड़कर एक दूसरेको विदीर्ण करने लगे ॥ २८ ॥

हयाश्च चामरापीडाः प्रासपाणिभिरास्थिताः ।
चोदिताः सादिभिः क्षिप्रं निपेतुरितरेतरम् ॥ २९॥

चामरभूषित अश्व प्रासधारी सवारोंसे संचालित हो तुरंत ही एक दूसरेपर टूट पड़ते थे ॥ २९ ॥

पादाताश्च पदात्योघैस्ताडिताः शक्तितोमरैः ।
न्यपतन्त तदा भूमौ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३० ॥

उस समय पैदल सिपाही पैदलोंद्वारा ही शक्ति और तोमरोंसे घायल हो सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें धराशायी हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथै राजन् कर्णिनालीकसायकैः ।
निहत्य समरे वीरान् सिंहनादान् विनेदिरे ॥ ३१ ॥

राजन् ! रथी लोग रथोंपर आरूढ़ हो कर्णी, नालीक और सायकोंद्वारा समरमें वीरोंका वध करके सिंहनाद कर रहे थे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।
भगदत्तो महेष्वासो भीमसेनमथाद्रवत् ॥ ३२ ॥

जब इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय महाधनुर्धर भगदत्तने भीमसेनपर धावा किया ॥ ३२ ॥

कुञ्जरेण प्रभिन्नेन सप्तधा स्रवता मदम् ।
पर्वतेन यथा तोयं स्रवमाणेन सर्वशः ॥ ३३ ॥

वे जिस हाथीपर आरूढ़ थे, उसके कुम्भस्थलसे मदकी सात धाराएँ गिर रही थीं । वह सब ओरसे जलके झरने बहानेवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

किरञ्छरसहस्राणि सुप्रतीकशिरोगतः ।
ऐरावतस्थो मघवान् वारिधारा इवानघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप नरेश ! भगदत्त सुप्रतीककी पीठपर बैठकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो देवराज इन्द्र ऐरावतपर आरूढ़ हो जलकी धारा गिरा रहे हों ॥ ३४ ॥

स भीमं शरधाराभिस्ताडयामास पार्थिवः ।
पर्वतं वारिधाराभिस्तपान्ते जलदो यथा ॥ ३५ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार राजा भगदत्त भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः पादरक्षान् परःशतान् ।
निजघान महेष्वासः संरब्धः शरवृष्टिभिः ॥ ३६ ॥

तब महाधनुर्धर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो अपने बाणोंकी बौछारसे हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैकड़ों योद्धाओंको मार गिराया ॥ ३६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् क्रुद्धो भगदत्तः प्रतापवान् ।
चोदयामास नागेन्द्रं भीमसेनरथं प्रति ॥ ३७ ॥

उन सबको मारा गया देख प्रतापी भगदत्तने कुपित हो उस गजराजको भीमसेनके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३७ ॥

स नागः प्रेषितस्तेन बाणो ज्याचोदितो यथा ।
अभ्यधावत वेगेन भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

उनके द्वारा प्रेरित होकर वह गजराज धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए बाणकी भाँति शत्रुदमन भीमसेनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ ३८ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त वेगेन भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस हाथीको आते देख भीमसेन आदि पाण्डव महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥ ३९॥

केकयाश्चाभिमन्युश्च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
दशार्णाधिपतिः शूरः क्षत्रदेवश्च मारिष ॥ ४० ॥
चेदिपश्चित्रकेतुश्च संरब्धाः सर्व एव ते ।
उत्तमास्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महाबलाः ॥ ४१ ॥
तमेकं कुञ्जरं क्रुद्धाः समन्तात् पर्यवारयन् ।

आर्य ! केकयराजकुमार, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शूरवीर दशार्णराज, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु तथा

चित्रकेतु—ये सभी महाबली वीर रोषावेषमें भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए उस एकमात्र हाथीको क्रोधपूर्वक चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४०-४१½ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्व्यरोचत महाद्विपः ॥ ४२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो धातुचित्र इवाद्रिराट् ।

अनेक बाणोंसे घायल हुआ वह महान् गज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाले गिरिराजके समान सुशोभित हुआ ॥ ४२½ ॥

दशार्णाधिपतिश्चापि गजं भूमिधरोपमम् ॥ ४३ ॥
समास्थितोऽभिदुद्राव भगदत्तस्य वारणम् ।

तदनन्तर दशार्णदेशके राजा भी एक पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो भगदत्तके हाथीकी ओर बढ़े ॥ ४३½ ॥

तमापतन्तं समरे गजं गजपतिः स च ॥ ४४ ॥
दधार सुप्रतीकोऽपि वेलेव मकरालयम् ।

समरभूमिमें अपनी ओर आते हुए उस हाथीको गजराज सुप्रतीकने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोके रहती है ॥ ४४½ ॥

वारितं प्रेक्ष्य नागेन्द्रं दशार्णस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥
साधु साध्विति सैन्यानि पाण्डवेयान्यपूजयन् ।

महामना दशार्णनरेशके गजराजको रोका गया देख समस्त पाण्डव सैनिक भी साधु-साधु कहकर सुप्रतीककी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५½ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ४६ ॥
प्राहिणोत् तस्य नागस्य प्रमुखे नृपसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेशने कुपित होकर दशार्णनरेशके हाथीको सामनेसे चौदह तोमर मारे ॥ ४६½ ॥

वर्म मुख्यं तनुत्राणं शातकुम्भपरिष्कृतम् ॥ ४७ ॥
विदार्य प्राविशन् क्षिप्रं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे तोमर हाथीपर पड़े हुए सुवर्णभूषित श्रेष्ठ कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही उसके शरीरमें घुस गये ॥ ४७½ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो नागो भरतसत्तम ॥ ४८ ॥
उपावृत्तमदः क्षिप्रमभ्यवर्तत वेगितः ।

भरतश्रेष्ठ ! उन तोमरोंसे अत्यन्त घायल हो वह हाथी व्यथित हो उठा । उसका सारा मद उतर गया और वह बड़े वेगसे पीछेकी ओर लौट पड़ा ॥ ४८½ ॥

स प्रदुद्राव वेगेन प्रणदन् भैरवं रवम् ॥ ४९ ॥
सम्मर्दयानः स्वबलं वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

जैसे वायु अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार वह हाथी भयानक स्वरमें चिग्घाड़ता और अपनी ही सेनाको रौंदता हुआ बड़े वेगसे भाग चला ४९½

तस्मिन् पराजिते नागे पाण्डवानां महारथाः ॥ ५० ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैर्युद्धायैवावतस्थिरे ।

उस हाथीके पराजित हो जानेपर भी पाण्डव महारथी उच्च स्वरसे सिंहनाद करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ॥ ५०½ ॥

ततो भीमं पुरस्कृत्य भगदत्तमुपाद्रवन् ॥ ५१ ॥
किरन्तो विविधान् बाणाञ्शस्त्राणि विविधानि च ।

तत्पश्चात् पाण्डवसैनिक भीमसेनको आगे करके नाना प्रकारके बाणों तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भगदत्तपर टूट पड़े ॥ ५१½ ॥

तेषामापततां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम् ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा स निनदं घोरममर्षाद् गतसाध्वसः ।
भगदत्तो महेष्वासः स्वनागं प्रत्यचोदयत् ॥ ५३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरकर आक्रमण करनेवाले, अमर्षशील उन पाण्डवोंका वह घोर सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर भगदत्तने अमर्षवश बिना किसी भयके अपने हाथीको उनकी ओर बढ़ाया ॥ ५२-५३ ॥

अङ्कुशाङ्गुष्ठनुदितः स गजप्रवरो युधि ।
तस्मिन् क्षणे समभवत् सांवर्तक इवानलः ॥ ५४ ॥

उस समय उनके अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो वह गजराज युद्धस्थलमें संवर्तक[1] अग्निकी भाँति भयंकर हो उठा ॥ ५४ ॥

रथसंघांस्तथा नागान् हयांश्च हयसादिभिः ।
पादातांश्च सुसंक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५५ ॥
अमृद्नात् समरे नागः सम्प्रधावंस्ततस्ततः ।

उस हाथीने अत्यन्त कुपित होकर रथके समूहों, हाथियों, घुड़सवारोंसहित घोड़ों तथा सैकड़ों-हजारों पैदल सिपाहियोंको भी समराङ्गणमें इधर-उधर दौड़ते हुए रौंद डाला ॥ ५५½ ॥

तेन संलोड्यमानं तु पाण्डवानां बलं महत् ॥ ५६ ॥
संचुकोच महाराज चर्मेवाग्नौ समाहितम् ।

महाराज ! उस हाथीके द्वारा आलोडित होकर पाण्डवोंकी वह विशाल सेना आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो गयी ॥ ५६½ ॥

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता ॥ ५७ ॥
घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ।

बुद्धिमान् भगदत्तके द्वारा अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी

१. प्रलयकालकी अग्निका नाम संवर्तक है ।

हुई देख घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर धावा किया ॥ ५७½ ॥

विकटः परुषो राजन् दीप्तास्यो दीप्तलोचनः ॥ ५८ ॥
रूपं विभीषणं कृत्वा रोषेण प्रज्वलन्निव ।

राजन् ! उस समय वह अत्यन्त भयानक रूप बनाकर रोषसे प्रज्वलित-सा हो उठा । उसकी आकृति विकट एवं निष्ठुर दिखायी देती थी तथा मुख और नेत्र उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८½ ॥

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम् ॥ ५९ ॥
नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ।

उस महाबली निशाचरने हाथीको मार डालनेकी इच्छासे एक निर्मल त्रिशूल हाथमें लिया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था । फिर सहसा उसे चला दिया ।५९½।

स विस्फुलिङ्गमालाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥ ६० ॥
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः ।
चिक्षेप रुचिरं तीक्ष्णमर्धचन्द्रं सुदारुणम् ॥ ६१ ॥

वह त्रिशूल चारों ओरसे आगकी चिनगारियोंके समूहसे घिरा हुआ था । उसे सहसा अपने ऊपर आते देख प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश भगदत्तने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण और सुन्दर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया ॥ ६०-६१ ॥

चिच्छेद तन्महच्छूलं तेन बाणेन वेगवान् ।
उत्पपात द्विधा च्छिन्नं शूलं हेमपरिष्कृतम् ॥ ६२ ॥
महाशनिर्यथा भ्रष्टा शक्रमुक्ता नभोगता ।

उन वेगवान् नरेशने उक्त बाणके द्वारा उस महान् त्रिशूलको काट डाला । वह सुवर्णभूषित त्रिशूल दो टुकड़ोंमें कटकर ऊपरकी ओर उछला । उस समय वह इन्द्रके हाथसे छूटकर आकाशसे गिरते हुए महान् वज्रके समान सुशोभित हुआ ॥ ६२½ ॥

शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः ॥ ६३ ॥
रुक्मदण्डां महाशक्तिं जग्राहाग्निशिखोपमाम् ।
चिक्षेप तां राक्षसस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

त्रिशूलको दो टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ देख राजा भगदत्तने आगकी लपटोंसे वेष्टित तथा सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक महाशक्ति हाथमें ली और उसे राक्षसपर चला दिया । फिर वे बोले—खड़ा रह, खड़ा रह ॥ ६३-६४ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव ।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ॥ ६५ ॥

आकाशमें प्रकाशित होनेवाली अशनि (वज्र) के समान उस महाशक्तिको गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कचने उछलकर तुरंत ही उसे पकड़ लिया और सिंहके समान गर्जना की ॥ ६५ ॥

बभञ्ज चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत ।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६६ ॥

भारत ! फिर उसने तुरंत ही राजा भगदत्तके देखते-देखते उस शक्तिको घुटनेपर रखकर तोड़ डाला । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ६६ ॥

तदवेक्ष्य कृतं कर्म राक्षसेन बलीयसा ।
दिवि देवाः सगन्धर्वा मुनयश्चापि विस्मिताः ॥ ६७ ॥

महाबली राक्षसके द्वारा किये गये इस महान् कर्मको देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और मुनि बड़े विस्मित हुए ॥ ६७ ॥

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः ।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ॥ ६८ ॥

महाराज ! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवोंने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनादसे पृथ्वीको गुँजा दिया ॥६८॥

तं तु श्रुत्वा महानादं प्रहृष्टानां महात्मनाम् ।
नामृष्यत महेष्वासो भगदत्तः प्रतापवान् ॥ ६९ ॥

हर्षमें भरे हुए उन महामना वीरोंका महान् सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर एवं प्रतापी राजा भगदत्त न सह सके ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।
तर्जयामास वेगेन पाण्डवानां महारथान् ॥ ७० ॥

उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचकर पाण्डव महारथियोंको वेगपूर्वक डाँट बतायी ॥ ७० ॥

विसृजन् विमलांस्तीक्ष्णान् नाराचाञ्ज्वलनप्रभान् ।
भीममेकेन विव्याध राक्षसं नवभिः शरैः ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले निर्मल और तीखे नाराचोंका प्रहार करते हुए एकके द्वारा भीमसेनको घायल किया और नौ बाणोंसे राक्षस घटोत्कचको बींध डाला ॥ ७१ ॥

अभिमन्युं त्रिभिश्चैव केकयान् पञ्चभिस्तथा ।
पूर्णायतविसृष्टेन शरेणानतपर्वणा ॥ ७२ ॥
बिभेद दक्षिणं बाहुं क्षत्रदेवस्य चाहवे ।
पपात सहसा तस्य सशरं धनुरुत्तमम् ॥ ७३ ॥

फिर तीन बाणोंसे अभिमन्युको और पाँचसे केकय-राजकुमारोंको घायल किया । तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा उन्होंने युद्धमें क्षत्रदेवकी दाहिनी बाँह काट डाली । उसके कटनेके साथ ही सहसा उनका बाणसहित उत्तम धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७२-७३ ॥

द्रौपदेयांस्ततः पञ्च पञ्चभिः समताडयत् ।
भीमसेनस्य च क्रोधान्निजघान तुरङ्गमान् ॥ ७४ ॥

इसके बाद भगदत्तने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और क्रोधपूर्वक भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७४ ॥

ध्वजं केसरिणं चास्य चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः।
निर्बिभेद त्रिभिश्चान्यैः सारथिं चास्य पत्रिभिः॥ ७५ ॥

फिर तीन बाणोंसे उनके सिंहचिह्नित ध्वजको काट दिया और अन्य तीन पंखयुक्त बाण मारकर उनके सारथिको भी विदीर्ण कर डाला ॥ ७५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत्।
विशोको भरतश्रेष्ठ भगदत्तेन संयुगे ॥ ७६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगदत्तके द्वारा युद्धमें अधिक घायल होकर भीमसेनका सारथि विशोक व्यथित हो उठा और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ॥ ७६ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विरथो रथिनां वरः।
गदां प्रगृह्य वेगेन प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रथहीन होनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन हाथमें गदा लेकर उस उत्तम रथसे वेगपूर्वक कूद पड़े॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम्।
तावकानां भयं घोरं समपद्यत भारत ॥ ७८ ॥

भारत ! शृङ्गयुक्त पर्वतके समान उन्हें गदा उठाये आते देख आपके सैनिकोंके मनमें घोर भय समा गया॥७८॥

एतस्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः।
आजगाम महाराज निघ्नञ्शत्रून् समन्ततः ॥ ७९ ॥
यत्र तौ पुरुषव्याघ्रौ पितापुत्रौ महाबलौ।
प्राग्ज्योतिषेण संयुक्तौ भीमसेनघटोत्कचौ ॥ ८० ॥

महाराज ! इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे पाण्डुनन्दन अर्जुन सब ओरसे शत्रुओंका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों पुरुषसिंह महाबली पिता-पुत्र भीमसेन और घटोत्कच भगदत्तके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ७९-८० ॥

दृष्ट्वा च पाण्डवो भ्रातॄन् युध्यमानान् महारथान्।
त्वरितो भरतश्रेष्ठ तत्रायुध्यत् किरञ्छरान् ॥ ८१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन अर्जुन अपने महारथी भाइयोंको युद्ध करते देख स्वयं भी बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही युद्धमें प्रवृत्त हो गये ॥ ८१ ॥

ततो दुर्योधनो राजा त्वरमाणो महारथः।
सेनामचोदयत् क्षिप्रं रथनागाश्वसंकुलाम् ॥ ८२ ॥

तब महारथी राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको शीघ्र ही युद्धके लिये प्रेरित किया॥ ८२ ॥

तामापतन्तीं सहसा कौरवाणां महाचमूम्।
अभिदुद्राव वेगेन पाण्डवः श्वेतवाहनः ॥ ८३ ॥

कौरवोंकी उस विशाल वाहिनीको आती देख श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥ ८३ ॥

भगदत्तश्च समरे तेन नागेन भारत।
विमृद्नन् पाण्डवबलं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ८४ ॥

भारत ! भगदत्तने भी समरभूमिमें उस हाथीके द्वारा पाण्डवसेनाको कुचलते हुए युधिष्ठिरपर धावा किया ॥८४॥

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष।
पञ्चालैः पाण्डवेयैश्च केकयैश्चोद्यतायुधैः ॥ ८५ ॥

आर्य ! उस समय हथियार उठाये हुए पाञ्चालों, पाण्डवों तथा केकयोंके साथ भगदत्तका बड़ा भारी युद्ध हुआ॥

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ॥ ८६ ॥

भीमसेनने भी समरभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको इरावान्‌के वधका यथावत् वृत्तान्त अच्छी तरह सुना दिया ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

षण्णवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनंजयः।
दुःखेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन् पन्नगो यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्र इरावान्‌के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वे सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः।
इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा ॥ २ ॥

नरेश्वर ! तब उन्होंने समरभूमिमें भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! निश्चय ही महाज्ञानी विदुरने पहले ही यह सब देख लिया था ॥ २ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च क्षयं घोरं महामतिः ।
स ततो निवारितवान् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ३ ॥

'कौरवों और पाण्डवोंका यह भयंकर विनाश परम बुद्धिमान् विदुरकी दृष्टिमें पहले ही आ गया था । इसलिये उन्होंने राजा धृतराष्ट्रको मना किया था ॥ ३ ॥

अन्ये च बहवो वीराः संग्रामे मधुसूदन ।
निहताः कौरवैः संख्ये तथास्माभिश्च कौरवाः ॥ ४ ॥

'मधुसूदन ! और भी बहुत-से वीरोंको संग्राममें कौरवोंने मारा और हमने कौरव सैनिकोंका संहार किया ॥ ४ ॥

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम् ।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! धनके लिये यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है । धिक्कार है उस धनको, जिसके लिये इस प्रकार जाति-भाइयोंका विनाश किया जाता है ॥ ५ ॥

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम् ।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ॥६॥

'मनुष्यका निर्धन रहकर मर जाना अच्छा है, परंतु जाति-भाइयोंके वधसे धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है । कृष्ण ! हम वहाँ आये हुए इन जाति-भाइयोंको मारकर क्या प्राप्त कर लेंगे ॥ ६ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
क्षत्रिया निधनं यान्ति कर्णदुर्मन्त्रितेन च ॥ ७ ॥

'दुर्योधनके अपराधसे और सुबलपुत्र शकुनि तथा कर्णकी कुमन्त्रणासे ये क्षत्रिय मारे जा रहे हैं ॥ ७ ॥

इदानीं च विजानामि सुकृतं मधुसूदन ।
कृतं राज्ञा महाबाहो याचता च सुयोधनम् ॥ ८ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! राजा युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पहले जो याचना की थी, वही उत्तम कार्य था; यह बात अब मेरी समझमें आ रही है ॥ ८ ॥

राज्यार्धं पञ्च वा ग्रामान् नाकार्षीत् स च दुर्मतिः ।
दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूराञ्शयानान् धरणीतले ॥ ९ ॥
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।

'युधिष्ठिरने आधा राज्य अथवा पाँच गाँव माँगे थे, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधनने उनकी माँग पूरी नहीं की । आज क्षत्रिय वीरोंको रणभूमिमें सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूँ । क्षत्रियोंकी इस जीविकाको धिक्कार है।९½।

अशक्तमिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ॥ १० ॥
युद्धं तु मे न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन ।

'मधुसूदन ! रणक्षेत्रमें मेरे मुखसे ऐसी बात सुनकर ये क्षत्रिय मुझे असमर्थ समझेंगे, परंतु इन जाति-भाइयोंके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ १०½ ॥

संचोदय हयाञ्शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ॥ ११ ॥
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम् ।

(तथापि मैं आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा; अतः) 'आप शीघ्र ही अपने घोड़ोंको दुर्योधनकी सेनाकी ओर हाँकिये, जिससे इन दोनों भुजाओंद्वारा अपार सैन्यसागरको पार करूँ ॥ ११½ ॥

नायं यापयितुं कालो विद्यते माधव कर्हिचित् ॥ १२ ॥
एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा ।
चोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥ १३ ॥

'माधव ! यह समयको व्यर्थ वितानेका अवसर नहीं है ।' अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले केशवने वायुके समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ोंको आगे बढ़ाया १२-१३

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ १४ ॥

भारत ! तदनन्तर जैसे पूर्णिमाको वायुकी प्रेरणासे समुद्रका वेग बढ़ जानेसे उसकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हुआ॥

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत ।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ॥ १५ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें पाण्डवोंके साथ भीष्मका भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष हो रहा था ॥ १५ ॥

ततो राजंस्तव सुता भीमसेनमुपाद्रवन् ।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ॥ १६ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्रके सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिमें भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः कृपश्च रथिनां वरः ।
भगदत्तः सुशर्मा च धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, भगदत्त और सुशर्माने अर्जुनपर धावा किया ॥ १७ ॥

हार्दिक्यो बाह्लिकश्चैव सात्यकिं समभिद्रुतौ ।
अम्बष्ठकस्तु नृपतिरभिमन्युमवस्थितः ॥ १८ ॥

कृतवर्मा और बाह्लीक सात्यकिपर टूट पड़े । राजा अम्बष्ठने अभिमन्युका सामना किया ॥ १८ ॥

शेषास्त्वन्ये महाराज शेषानेव महारथान् ।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! शेष अन्य महारथियोंने शत्रुपक्षके शेष

महारथियोंपर आक्रमण किया। फिर तो उनमें घोर एवं भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १९ ॥

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ॥ २० ॥

जनेश्वर! जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें आपके पुत्रोंको देखकर भीमसेन क्रोधसे जल उठे ॥ २० ॥

पुत्रास्तु तव कौन्तेयं छादयाञ्चक्रिरे शरैः।
प्रावृषीव महाराज जलदा इव पर्वतम् ॥ २१ ॥

परंतु महाराज! आपके पुत्रोंने कुन्तीनन्दन भीमको अपने बाणोंसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षाऋतुमें बादल पर्वतको जलकी धाराओंसे ढक लेते हैं ॥ २१ ॥

स च्छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते।
सृक्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ॥ २२ ॥
व्यूढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ! भरतनन्दन! आपके पुत्रोंद्वारा बारंबार बाणोंकी वर्षासे आच्छादित किये जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँह-के कोनोंको चाटते हुए सिंहके समान शौर्यका अभिमान रखने-वाले वीर भीमसेनने एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा आपके पुत्र व्यूढोरस्कको मार गिराया। उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी ॥ २२-२३ ॥

अपरेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन तु।
अपातयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् जैसे सिंह छोटे-से मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भीमने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे आपके पुत्र कुण्डलीको धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

ततः सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान्।
ससर्ज त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ॥ २५ ॥

आर्य! इसके बाद भीमने बड़ी उतावलीके साथ बहुत-से तीखे और पानीदार बाण हाथमें लिये और आपके पुत्रों-को लक्ष्य करके छोड़ दिये ॥ २५ ॥

प्रेषिता भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना।
अपातयन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ॥ २६ ॥

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उन बाणोंने आपके बहुत-से महारथी पुत्रोंको मारकर रथोंसे नीचे गिरा दिया ॥ २६ ॥

अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम्।
दीर्घबाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ॥ २७ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ॥ २७ ॥

प्रपतन्त स्म वीरास्ते विरेजुर्भरतर्षभ।
वसन्ते पुष्पशबलाश्चूताः प्रपतिता इव ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे सभी वीर वहाँ गिरकर वसन्त ऋतुमें धराशायी हुए पुष्पयुक्त आम्रवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ॥ २९ ॥

तब उस महायुद्धमें आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेन-को कालके समान समझकर वहाँसे भाग चले ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे वीरं निर्दहन्तं सुतांस्तव।
यथाद्रिं वारिधाराभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ॥ ३० ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंको दग्ध करते हुए वीर भीमसेनपर द्रोणाचार्यने सब ओरसे उसी प्रकार बाणों-की वर्षा आरम्भ की, जैसे बादल पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं ॥ ३० ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम्।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ॥ ३१ ॥

महाराज! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीमका अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाणोंकी वर्षा करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रोंको मार डाला ॥ ३१ ॥

यथा गोवृषभो वर्षं संधारयति खात् पतत्।
भीमस्तथा द्रोणमुक्तं शरवर्षमदीधरत् ॥ ३२ ॥

जैसे साँड़ आकाशसे गिरती हुई जल-वर्षाको अपने शरीरपर शान्त भावसे धारण और सहन करता है, उसी प्रकार भीमसेन द्रोणाचार्यकी छोड़ी हुई बाण-वर्षाको धारण कर रहे थे ॥ ३२ ॥

अद्भुतं च महाराज तत्र चक्रे वृकोदरः।
यत् पुत्रांस्तेऽवधीत् संख्ये द्रोणं चैव न्यवारयत् ॥ ३३ ॥

महाराज! भीमसेनने उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध तो किया ही, द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था। यह उन्होंने अद्भुत पराक्रम किया ॥ ३३ ॥

पुत्रेषु तव वीरेषु चिक्रीडार्जुनपूर्वजः।
मृगेष्विव महाराज चरन् व्याघ्रो महाबलः ॥ ३४ ॥

राजन्! जैसे महाबली व्याघ्र मृगोंके झुंडमें विचरता हो, उसी प्रकार भीमसेन आपके वीर पुत्रोंके समुदायमें खेल रहे थे ॥ ३४ ॥

यथा हि पशुमध्यस्थो द्रावयेत पशून् वृकः।
वृकोदरस्तव सुतांस्तथा व्यद्रावयद् रणे ॥ ३५ ॥

जैसे भेड़िया पशुओंके बीचमें रहकर भी उन्हें विदीर्ण

कर डालता है, उसी प्रकार भीमसेन रणभूमिमें आपके पुत्रोंको भगा रहे थे ॥ ३५ ॥

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ॥ ३६ ॥

दूसरी ओर गङ्गानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य— ये तीनों महारथी युद्धमें वेगसे आगे बढ़नेवाले पाण्डुकुमार अर्जुनका निवारण कर रहे थे ॥ ३६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ३७ ॥

परंतु अतिरथी वीर अर्जुनने रणभूमिमें उनके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके आपकी सेनाके प्रमुख वीरोंको यमराजके पास भेज दिया ॥ ३७ ॥

अभिमन्युस्तु राजानमम्बष्ठं लोकविश्रुतम् ।
विरथं रथिनां श्रेष्ठं वारयामास सायकैः ॥ ३८ ॥

अभिमन्युने रथियोंमें श्रेष्ठ लोकविख्यात राजा अम्बष्ठको सायकोंद्वारा रथहीन करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३८ ॥

विरथो वध्यमानस्तु सौभद्रेण यशस्विना ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णमम्बष्ठो वसुधाधिपः ॥ ३९ ॥
असिं चिक्षेप समरे सौभद्रस्य महात्मनः ।
आरुरोह रथं चैव हार्दिक्यस्य महाबलः ॥ ४० ॥

यशस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युसे पीड़ित एवं रथहीन होकर राजा अम्बष्ठ अपने रथसे कूद पड़े और महामना सुभद्राकुमारपर उन्होंने रणक्षेत्रमें तलवार चलायी । फिर वे महाबली नरेश कृतवर्माके रथपर जा बैठे ॥ ३९-४० ॥

आपतन्तं तु निस्त्रिंशं युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवाद् व्यंसयामास सौभद्रः परवीरहा ॥ ४१ ॥

युद्धके पैतरोंको जाननेमें कुशल तथा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने अपनी ओर आती हुई अम्बष्ठकी तलवारको अपनी फुर्तीके कारण निष्फल कर दिया ॥ ४१ ॥

व्यंसितं वीक्ष्य निस्त्रिंशं सौभद्रेण रणे तदा ।
साधु साध्विति सैन्यानां प्रणादोऽभूद् विशाम्पते ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय रणक्षेत्रमें अम्बष्ठकी चलायी हुई तलवारको सुभद्राकुमारद्वारा निष्फल की गयी देख समस्त सैनिकोंके मुखसे निकली हुई 'साधु-साधु' (वाह-वाह) की ध्वनि गूँज उठी ॥ ४२ ॥

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेनाके साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
(पाण्डवानां च राजेन्द्र सैनिकानां सुदारुणः ।)
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ॥ ४४ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! एक दूसरेपर सुदृढ़ प्रहार और दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर महान् संग्राम होने लगा ॥ ४४ ॥

अन्योन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ॥ ४५ ॥

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्रमें एक दूसरेके केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनोंसे प्रहार करते हुए लड़ रहे थे ॥ ४५ ॥

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ॥ ४६ ॥

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओं-द्वारा भी एक दूसरेको यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ४६ ॥

न्यहनच्च पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
व्याकुलीकृतसर्वाङ्गा युयुधुस्तत्र मानवाः ॥ ४७ ॥

उस युद्धमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला । सबके सभी अङ्ग व्याकुल हो गये थे, तो भी सब लोग युद्ध कर रहे थे ॥ ४७ ॥

रणे चारूणि चापानि हेमपृष्ठानि मारिष ।
हतानामपविद्धानि कलापाश्च महाधनाः ॥ ४८ ॥

आर्य ! उस रणक्षेत्रमें मारे गये नरेशोंके सुवर्णमय पृष्ठसे विभूषित सुन्दर धनुष तथा बहुमूल्य तरकस जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे ॥ ४८ ॥

जातरूपमयैः पुङ्खै राजतैर्निशिताः शराः ।
तैलधौता व्यराजन्त निर्मुक्तभुजगोपमाः ॥ ४९ ॥

सोने अथवा चाँदीके पंखोंसे युक्त तथा तेलके धोये हुए तीखे बाण केचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ४९ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मचित्राणि धन्विनाम् ॥ ५० ॥

हमने देखा कि रणभूमिमें धनुर्धर वीरोंकी तलवारें और ढालें फेंकी पड़ी हैं । तलवारोंमें हाथीके दाँतकी मूँठें लगी थीं और उनमें यथास्थान सुवर्ण जड़ा हुआ था । इसी प्रकार ढालोंमें सुवर्णमय विचित्र तारक चिह्न दिखायी देते थे ॥ ५० ॥

सुवर्णविकृतप्रासान् पट्टिशान् हेमभूषितान् ।
जातरूपमयाश्चर्ष्टीः शक्तीश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५१ ॥

सुवर्णभूषित प्रास, स्वर्णजटित पट्टिश, सोनेकी बनी हुई ऋष्टियाँ तथा स्वर्णभूषित चमकीली शक्तियाँ यत्र-तत्र पड़ी हुई थीं ॥ ५१ ॥

सुसंनाहाश्च पतिता मुसलानि गुरूणि च ।
परिघान् पट्टिशांश्चैव भिन्दिपालांश्च मारिष ॥ ५२ ॥

आर्य ! वहाँ सुन्दर कवच पड़े थे । भारी मुसल, परिघ, पट्टिश और भिन्दिपाल भी इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे ॥

पतितान् विविधांश्चापांश्चित्रान् हेमपरिष्कृतान् ।
कुथा बहुविधाकाराश्चामरान् व्यजनानि च ॥ ५३ ॥

नाना प्रकारके विचित्र एवं स्वर्णभूषित धनुष गिरे हुए थे । हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले भाँति-भाँतिके कम्बल तथा चँवर और व्यजन भी यत्र-तत्र गिरे दिखायी देते थे ॥

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ॥ ५४ ॥

भाँति भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको हाथोंमें लेकर पृथ्वीपर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखायी देते थे ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ॥ ५५ ॥

किन्हींके शरीर गदाकी चोटसे चूर-चूर हो गये थे, किन्हींके मस्तक मुसलोंकी मारसे फट गये थे तथा कितने ही मनुष्य घोड़े, हाथी एवं रथोंसे कुचल गये थे । ये सभी वहाँ पृथ्वीपर प्राणहीन होकर सो गये थे ॥ ५५ ॥

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ॥ ५६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्योंके मृत शरीरोंसे सारी वसुधा आच्छादित हो उस समय पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ५६ ॥

समरे पतितैश्चैव शक्त्यृष्टिशरतोमरैः ।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैरयस्कुन्तैः परश्वधैः ॥ ५७ ॥
परिघैर्भिन्दिपालैश्च शतघ्नीभिश्च मारिष ।
शरीरैः शस्त्रनिर्भिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ५८ ॥

आर्य ! समरभूमिमें गिरे हुए बाण, तोमर, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, पट्टिश, प्रास, लोहेके भाले, फरसे, परिघ, भिन्दिपाल तथा शतघ्नी (तोप)—इन अस्त्र-शस्त्रों तथा इनके द्वारा विदीर्ण हुए मृत शरीरोंसे सारी पृथ्वी पट गयी थी ॥ ५७-५८ ॥

विशब्दैरल्पशब्दैश्च शोणितौघपरिप्लुतैः ।
गतासुभिरमित्रघ्न विबभौ निचिता मही ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज ! वहाँ पृथ्वीपर कुछ ऐसे लोग गिरे थे, जिनके मुखसे शब्द नहीं निकल पाता था । कुछ ऐसे थे, जो बहुत थोड़ा बोल पाते थे । प्रायः सभी लोग खूनसे लथपथ हो रहे थे और बहुत-से ऐसे शरीर पड़े थे, जो सर्वथा प्राणहीन हो चुके थे । इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि मानो चुन दी गयी थी ॥ ५९ ॥

सतलत्रैः सकेयूरैर्बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ॥ ६० ॥
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
पतितैर्ऋषभाक्षाणां बभौ भारत मेदिनी ॥ ६१ ॥

भारत ! रणभूमिमें गिरे हुए बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंकी दस्तानों और केयूरोंसे युक्त चन्दनचर्चित भुजाओंसे, हाथीकी सूँडके समान प्रतीत होनेवाली छिन्न-भिन्न हुई जाँघोंसे तथा उत्तम चूड़ामणि (मुकुट) से आबद्ध कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ ६०-६१ ॥

कवचैः शोणितादिग्धैर्विप्रकीर्णैश्च काञ्चनैः ।
रराज सुभृशं भूमिः शान्तार्चिभिरिवानलैः ॥ ६२ ॥

रक्तमें सनकर इधर-उधर बिखरे हुए सुवर्णमय कवचोंसे वह युद्धभूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो वहाँ जिसकी लपटें शान्त हो गयी हैं, ऐसी आग जगह-जगह पड़ी हो ॥

विप्रविद्धैः कलापैश्च पतितैश्च शरासनैः ।
विप्रकीर्णैः शरैश्चैव रुक्मपुङ्खैः समन्ततः ॥ ६३ ॥

चारों ओर तरकस फेंके पड़े थे, धनुष गिरे थे और सोनेके पंखवाले बाण बिखरे हुए थे ॥ ६३ ॥

रथैश्च सर्वतो भग्नैः किङ्किणीजालभूषितैः ।
वाजिभिश्च हतैर्बाणैः स्रस्तजिह्वैः सशोणितैः ॥ ६४ ॥

सब ओर क्षुद्रघण्टिकाओंके जालसे विभूषित टूटे-फूटे रथ पड़े थे । बाणोंसे मारे गये घोड़े खूनसे लथपथ हो जीभ निकाले ढेर हो रहे थे ॥ ६४ ॥

अनुकर्षैः पताकाभिरुपासङ्गैर्ध्वजैरपि ।
प्रवीराणां महाशङ्खैर्विप्रकीर्णैश्च पाण्डुरैः ॥ ६५ ॥

अनुकर्ष, पताका, उपासङ्ग, ध्वज तथा बड़े-बड़े वीरोंके श्वेत महाशङ्ख बिखरे पड़े थे ॥ ६५ ॥

स्रस्तहस्तैश्च मातङ्गैः शयानैर्विबभौ मही ।
नानारूपैरलंकारैः प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ ६६ ॥

जिनकी सूँड़ें कट गयी थीं, ऐसे मतवाले हाथी धराशायी हो रहे थे । उन सबके द्वारा वह रणभूमि भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत युवतीके समान सुशोभित हो रही थी ॥

दन्तिभिश्चापरैस्तत्र सप्रासैर्गाढवेदनैः ।
करैः शब्दं विमुञ्चद्भिः शीकरं च मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥

कुछ दन्तार हाथी प्रास धँस जानेके कारण गहरी व्यथासे युक्त सूँड़ोंद्वारा बारंबार शब्द करते और पानीके कण फेंकते थे ॥

विबभौ तद् रणस्थानं स्यन्दमानैरिवाचलैः ।
नानारागैः कम्बलैश्च परिस्तोमैश्च दन्तिनाम् ॥ ६८ ॥
वैदूर्यमणिदण्डैश्च पतितैरङ्कुशैः शुभैः ।

उनके कारण वह युद्धस्थल जलके स्रोत बहानेवाले

पर्वतोंसे युक्त-सा प्रतीत होता था। वहाँ नाना प्रकारके रंगवाले कम्बल, हाथियोंके झूल तथा वैदूर्यमणिके दण्डवाले सुन्दर अङ्कुश गिरे हुए थे ॥ ६८½ ॥

घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां पतिताभिः समन्ततः ॥ ६९ ॥
विपाटितविचित्राभिः कुथाभिरङ्कुशैस्तथा ।
ग्रैवेयैश्चित्ररूपैश्च रुक्मकक्ष्याभिरेव च ॥ ७० ॥

चारों ओर गजराजोंके घंटे पड़े हुए थे। हाथियोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले फटे हुए विचित्र कम्बल और अङ्कुश सब ओर गिरे हुए थे। गलेके विचित्र आभूषण और सुनहरे रस्से भी जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे ॥ ६९-७० ॥

यन्त्रैश्च बहुधाच्छिन्नैस्तोमरैश्चापि काञ्चनैः ।
अश्वानां रेणुकपिलै रुक्मच्छन्नैरुरश्छदैः ॥ ७१ ॥
सादिनां भुजगैश्छिन्नैः पतितैः साङ्गदैस्तथा ।
प्रासैश्च विमलैस्तीक्ष्णैर्विमलाभिस्तथर्ष्टिभिः ॥ ७२ ॥

अनेक टुकड़ोंमें कटे हुए यन्त्र, सुवर्णमय तोमर, धूलसे कपिल वर्णके दिखायी देनेवाले अश्वोंकी छातीको ढकनेवाले सुनहरे कवच, बाजूबंदसहित घुड़सवारोंके हाथोंमें धारण किये हुए तीखे और चमकीले प्रास तथा चमचमाती हुई ऋष्टियाँ छिन्न-भिन्न होकर यत्र-तत्र पड़ी थीं ॥ ७१-७२ ॥

उष्णीषैश्च तथा चित्रैर्विप्रविद्धैस्ततस्ततः ।
विचित्रैर्बाणवर्षैश्च जातरूपपरिष्कृतैः ॥ ७३ ॥
अश्वास्तरपरिस्तोमै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
नरेन्द्रचूडामणिभिर्विचित्रैश्च महाधनैः ॥ ७४ ॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए विचित्र उष्णीष (पगड़ी आदि), पानीकी तरह बरसाये गये सुवर्णभूषित नाना प्रकारके बाण, घोड़ोंकी जीन, झूल और उनकी पीठपर बिछाने योग्य रंकु-नामक मृगोंके कोमल चर्ममय आसन, जो पैरोंसे कुचलकर धूलमें सन गये थे तथा नरेशोंके मुकुटमें आबद्ध बहुमूल्य एवं विचित्र मणिरत्न सब ओर बिखरे पड़े थे ॥ ७३-७४ ॥

छत्रैस्तथापविद्धैश्च चामरैर्व्यजनैरपि ।
पद्मेन्दुद्युतिभिश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः ॥ ७५ ॥
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः ।
अपविद्धैर्महाराज सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलैः ॥ ७६ ॥
ग्रहनक्षत्रशबला द्यौरिवासीद् वसुन्धरा ।

इधर-उधर गिरे हुए राजाओंके छत्र, चँवर, व्यजन, वीर योद्धाओंके मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित, कमल एवं चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा मूँछोंसे युक्त और अत्यन्त अलंकृत कटे हुए मस्तक, जिनमें सोनेके सुन्दर कुण्डल जगमगा रहे थे, फेंके हुए-से पड़े थे। महाराज! इन सब वस्तुओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशके समान विचित्र शोभा धारण कर रही थी।७५-७६½।

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत ॥ ७७ ॥
परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे ।

भारत! इस प्रकार आपकी और पाण्डवोंकी वे दोनों विशाल सेनाएँ एक दूसरीसे भिड़कर युद्धस्थलमें रौंदी जा रही थीं ॥ ७७½ ॥

तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत ॥ ७८ ॥
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान् ।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः ॥ ७९ ॥

भरतनन्दन! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रम-से चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे और बहुतेरे योद्धा रौंद डाले गये थे, रात हो गयी थी एवं हमें अपने सेवक नहीं दिखायी दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्धभूमिसे लौटनेका आदेश दे दिया ॥

रजनीमुखे सुरौद्रे तु वर्तमाने महाभये ।
अवहारं ततः कृत्वा सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
न्यविशन्त यथाकालं गत्वा स्वशिबिरं तदा ॥ ८० ॥

फिर उस महाभयानक तथा अत्यन्त रौद्र रूपवाले प्रदोष-कालमें कौरव तथा पाण्डव एक साथ अपनी सेनाओंको लौटाकर यथासमय शिबिरमें जा पहुँचे और विश्राम करने लगे ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धावहारे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरमें लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मसे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः ॥ १ ॥
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम्।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण—ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्यके विषयमें गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणाका मुख्य विषय यह था कि पाण्डवोंको दल-बलसहित युद्धमें कैसे जीता जा सकता है ?॥१-२

ततो दुर्योधनो राजा सर्वांस्तानाह मन्त्रिणः।
सूतपुत्रं समाभाष्य सौबलं च महाबलम् ॥ ३ ॥

उस समय राजा दुर्योधनने सूतपुत्र कर्ण तथा महाबली शकुनिको सम्बोधित करके उन सब मन्त्रियोंसे कहा—॥ ३ ॥

द्रोणो भीष्मः कृपः शल्यः सौमदत्तिश्च संयुगे।
न पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम् ॥ ४ ॥

'मित्रो ! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य तथा भूरिश्रवा—ये लोग युद्धमें कुन्तीके पुत्रोंको कभी कोई बाधा नहीं पहुँचाते हैं। इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता॥

अवध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम।
सोऽस्मि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे ॥ ५ ॥

'वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेनाका संहार कर रहे हैं। कर्ण ! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रोंका युद्धमें क्षय होता चला जा रहा है ॥ ५ ॥

(त्वयि युद्धविमुखे चापि जितश्चास्मि हि पाण्डवैः।
द्रोणस्य प्रमुखे वीरा हतास्ते भ्रातरो मम ॥
भीमसेनेन राधेय मम चैवानुपश्यतः।)

'राधानन्दन ! तुम युद्धसे मुँह मोड़कर बैठ रहे हो, इसलिये पाण्डवोंने मुझे परास्त कर दिया। द्रोणाचार्यके सामने ही मेरे देखते-देखते भीमसेनने मेरे वीर भाइयोंको मार डाला ॥

निकृतः पाण्डवैः शूरैरवध्यैर्दैवतैरपि।
सोऽहं संशयमापन्नः प्रहरिष्ये कथं रणे ॥ ६ ॥

'पाण्डव शूरवीर और देवताओंके लिये भी अवध्य हैं। उनके द्वारा पराजित होकर मैं जीवनके संशयमें पड़ गया हूँ। ऐसी दशामें रणक्षेत्रमें मैं कैसे युद्ध करूँगा ?' ॥ ६ ॥

(एवमुक्तस्तु राधेयो दुर्योधनमरिंदमम्।)
तमब्रवीन्महाराजं सूतपुत्रो नराधिपम्।

यह सुनकर सूतपुत्र कर्णने शत्रुदमन नरनाथ महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ६½ ॥

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव ॥ ७ ॥
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात्।

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा, परंतु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्धसे हट जायँ ॥ ७½ ॥

निवृत्ते युधि गाङ्गेये न्यस्तशस्त्रे च भारत ॥ ८ ॥
अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः।
पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप ॥ ९ ॥

भरतवंशी नरेश ! जब युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्म हथियार डाल देंगे और उससे सर्वथा निवृत्त हो जायँगे, उस समय मैं युद्धमें भीष्मके देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको एक साथ मार डालूँगा, यह मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ॥

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान् ॥ १० ॥

भीष्म सदा ही पाण्डवोंपर दया करते हैं; अतः युद्धमें वे इन महारथियोंको जीतनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ।१०।

अभिमानी रणे भीष्मो नित्यं चापि रणप्रियः।
स कथं पाण्डवान् युद्धे जेष्यते तात संगतान् ॥ ११ ॥

तात ! भीष्म युद्धमें अभिमान रखनेवाले तथा सदा युद्धको प्रिय माननेवाले हैं; तथापि पाण्डवोंपर दया रखनेके कारण वे उन सबको संग्राममें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ११ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत ॥ १२ ॥

भारत ! अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे भीष्मजीके शिविरमें जाकर अपने उन पूजनीय वृद्ध पितामहको राजी करके उनसे हथियार रखवा दो ॥ १२ ॥

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान्।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ १३ ॥

राजन् ! भीष्मके हथियार डाल देनेपर पाण्डवोंको केवल मेरे द्वारा युद्धमें सुहृदों और बान्धवोंसहित मारा गया समझो ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अब्रवीद् भ्रातरं तत्र दुःशासनमिदं वचः ॥ १४ ॥
अनुयात्रं यथा सर्वं सज्जीभवति सर्वशः।
दुःशासन तथा क्षिप्रं सर्वमेवोपपादय ॥ १५ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने वहाँ अपने भाई दुःशासनसे इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! तुम शीघ्र सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करो, जिससे यात्रासम्बन्धी सब आवश्यक तैयारी सम्पन्न हो जाय' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् कर्णमाह जनेश्वरः।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ॥ १६ ॥
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिंदम।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ॥ १७ ॥

राजन् ! दुःशासनसे ऐसा कहकर जनेश्वर दुर्योधनने कर्णसे कहा, 'शत्रुदमन ! मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीष्मको युद्धसे हटनेके लिये राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्मके हट जानेपर तुम युद्धके मैदानमें शत्रुओंपर प्रहार करना' ॥ १६-१७ ॥

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन तुरंत ही अपने भाइयोंके साथ शिबिरसे बाहर निकला, मानो देवताओं-के साथ इन्द्र अपने भवनसे बाहर आये हों ॥ १८ ॥

ततस्तं नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम्।
आरोहयद्धयं तूर्णं भ्राता दुःशासनस्तदा ॥ १९ ॥

उस समय भाई दुःशासनने अपने ज्येष्ठ भ्राता सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको घोड़ेपर चढ़ाया ॥ १९ ॥

अङ्गदी बद्धमुकुटो हस्ताभरणवान् नृप।
धार्तराष्ट्रो महाराज विबभौ स पथि व्रजन् ॥ २० ॥

नरेश्वर ! महाराज ! माथेपर मुकुट, भुजाओंमें अङ्गद तथा हाथोंमें वलय आदि आभूषण धारण किये मार्गपर जाता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी शोभा पा रहा था ॥

भण्डीपुष्पनिकाशेन तपनीयनिभेन च।
अनुलिप्तः परार्ध्येन चन्दनेन सुगन्धिना ॥ २१ ॥

उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्णके समान पीतवर्णका बहु-मूल्य सुगन्धित चन्दन लगा रक्खा था ॥ २१ ॥

अरजोऽम्बरसंवीतः सिंहखेलगतिर्नृप।
शुशुभे विमलार्चिष्मान् नभसीव दिवाकरः ॥ २२ ॥

राजन् ! उसके सारे अङ्ग निर्मल वस्त्रसे ढके हुए थे। वह सिंहके समान मस्तानी चालसे चलता था और अपनी निर्मल प्रभाके कारण आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २२ ॥

तं प्रयान्तं नरव्याघ्रं भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः सर्वलोकस्य धन्विनः ॥ २३ ॥
भ्रातरश्च महेष्वासास्त्रिदशा इव वासवम्।

भीष्मके शिबिरकी ओर जाते हुए पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे सारे जगत्के महाधनुर्धर कौरवपक्षीय नरेश तथा विशाल धनुष धारण करनेवाले उसके भाई उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे इन्द्रके पीछे देवता चलते हैं ॥ २३½ ॥

हयानन्ये समारुह्य गजानन्ये च भारत ॥ २४ ॥
रथानन्ये नरश्रेष्ठं परिवव्रुः समन्ततः।

भारत ! कुछ लोग घोड़ोंपर और कुछ लोग हाथियोंपर चढ़े थे। दूसरे लोग रथोंपर आरूढ़ हो सब ओरसे नरश्रेष्ठ दुर्योधनको घेरे हुए थे ॥ २४½ ॥

आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः ॥ २५ ॥
प्रादुर्बभूवुः सहिताः शक्रस्येवामरा दिवि।

राजा दुर्योधनकी रक्षाके लिये समस्त सुहृद् अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ हो गये थे, जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रकी रक्षाके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २५½ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः कौरवाणां महाबलः ॥ २६ ॥
प्रययौ सदनं राजा गाङ्गेयस्य यशस्विनः।
अन्वीयमानः सततं सोदरैः परिवारितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कौरवोंसे पूजित हो महाबली कौरवराज दुर्योधन यशस्वी भीष्मके शिबिरमें गया। उसके भाई उसे घेरकर निरन्तर उसीके साथ-साथ रहे ॥ २६-२७ ॥

दक्षिणं दक्षिणः काले सम्भृत्य स्वभुजं तदा।
हस्तिहस्तोपमं शैक्षं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥ २८ ॥
प्रगृह्णन्नञ्जलीन् नृणामुद्यतान् सर्वतो दिशः।
शुश्राव मधुरा वाचो नानादेशनिवासिनाम् ॥ २९ ॥

उदार स्वभाववाले राजा दुर्योधनने उस समय सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ, हाथीकी सूँड़के समान विशाल तथा अस्त्र-प्रहारकी शिक्षामें निपुणताको प्राप्त हुई अपनी दाहिनी भुजाको ऊपर उठाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उठी हुई विभिन्न देशके निवासी मनुष्योंकी प्रणामाञ्जलियोंको स्वीकार करते हुए उनकी मधुर बातें सुनीं ॥ २८-२९ ॥

संस्तूयमानः सूतैश्च मागधैश्च महायशाः।
पूजयानश्च तान् सर्वान् सर्वलोकेश्वरेश्वरः ॥ ३० ॥
(एवं स प्रययौ राजा सर्वसैन्यसमावृतः।)

सम्पूर्ण जगत्का अधीश्वर महायशस्वी राजा दुर्योधन सम्पूर्ण सेनाओंसे घिरकर सूतों और मागधोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता और सब लोगोंका समादर करता हुआ (भीष्मके शिबिरकी ओर) आगे बढ़ता गया ॥ ३० ॥

प्रदीपैः काञ्चनैस्तत्र गन्धतैलावसेचितैः।
परिवव्रुर्महाराजं प्रज्वलद्भिः समन्ततः ॥ ३१ ॥

सुगन्धित तेलसे भरे हुए सोनेके जलते दीपक लिये बहुत-से सेवक महाराज दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहे थे ॥ ३१ ॥

स तैः परिवृतो राजा प्रदीपैः काञ्चनैर्ज्वलन् ।
शुशुभे चन्द्रमा युक्तो दीप्तैरिव महाग्रहैः ॥ ३२ ॥

उन सुवर्णमय प्रदीपोंसे घिरकर प्रकाशित होनेवाला राजा दुर्योधन दीप्तिमान् महाग्रहोंसे संयुक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३२ ॥

काञ्चनोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः ।
प्रोत्सारयन्तः शनकैस्तं जनं सर्वतो दिशम् ॥ ३३ ॥

सुनहरी पगड़ी धारण करके हाथोंमें बेंत और झर्झर लिये बहुतेरे सिपाही धीरे-धीरे सब ओरसे लोगोंकी भीड़को हटाते हुए चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सम्प्राप्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम् ।
अवतीर्य हयाच्चापि भीष्मं प्राप्य जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
अभिवाद्य ततो भीष्मं निषण्णः परमासने ।
काञ्चने सर्वतोभद्रे स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन भीष्मके सुन्दर निवासस्थानके निकट पहुँचकर घोड़ेसे उतर पड़ा और भीष्मजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त सर्वतोभद्रनामक सर्वोत्तम स्वर्णमय सिंहासनपर बैठ गया ॥ ३४-३५ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्भीष्मं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।
त्वां वयं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन ॥ ३६ ॥
उत्सहेम रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ।
किमु पाण्डुसुतान् वीरान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ३७ ॥
तस्मादर्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो ।
जहि पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ॥ ३८ ॥

इसके बाद नेत्रोंमें आँसू भरकर हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठसे वह भीष्मसे इस प्रकार बोला—'शत्रुसूदन ! हम लोग आपका आश्रय लेकर युद्धके मैदानमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंको भी जीतनेका उत्साह रखते हैं; फिर मित्रों और बान्धवोंसहित वीर पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है । अतः प्रभो ! गङ्गानन्दन ! आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये । जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप वीर पाण्डवोंको मार डालिये ॥ ३६–३८ ॥

अहं सर्वान् महाराज निहनिष्यामि सोमकान् ।
पञ्चालान् केकयैः सार्धं करूषांश्चेति भारत ॥ ३९ ॥
त्वद्वचः सत्यमेवास्तु जहि पार्थान् समागतान् ।
सोमकांश्च महेष्वासान् सत्यवाग् भव भारत ॥ ४० ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! मैं केकयोंसहित सम्पूर्ण सोमकों, पाञ्चालों और करूषोंको मार डालूँगा—आपकी यह बात सत्य हो । भारत ! आप युद्धमें सामने आये हुए कुन्तीपुत्रों और महाधनुर्धर सोमकोंका वध कीजिये और ऐसा करके अपने वचनको सत्य कीजिये ॥ ३९-४० ॥

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ॥ ४१ ॥
अनुजानीहि समरे कर्णमाहवशोभिनम् ।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ४२ ॥

'शक्तिशाली राजन् ! यदि पाण्डवोंके प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेषभाव रखनेके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं तो समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णको युद्धके लिये आज्ञा दे दीजिये । वह सुहृदों और बान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रोंको अवश्य जीत लेगा' ॥ ४१-४२ ॥

स एवमुक्त्वा नृपतिः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
नोवाच वचनं किञ्चिद् भीष्मं सत्यपराक्रमम् ॥ ४३ ॥

सत्यपराक्रमी भीष्मसे ऐसा कहकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन और कुछ नहीं बोला ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मं प्रति दुर्योधनवाक्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मके प्रति दुर्योधनका वचनविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था

संजय उवाच

वाक्शल्यैस्तव पुत्रेण सोऽतिविद्धो महामनाः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो नोवाचाप्रियमण्वपि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रद्वारा वाग्बाणोंसे अत्यन्त विद्ध होकर महामना भीष्मको महान् दुःख हुआ; तथापि उन्होंने उससे कोई किञ्चिन्मात्र भी अप्रिय वचन नहीं कहा ॥ १ ॥

स ध्यात्वा सुचिरं कालं दुःखरोषसमन्वितः ।
श्वसमानो यथा नागः प्रणुन्नो वाक्शलाकया ॥ २ ॥

वे दुःख और रोषसे युक्त होकर दीर्घकालतक कुछ सोचते हुए लंबी साँस खींचते रहे । वाणीरूपी अङ्कुशसे पीड़ित होकर वे हाथीके समान व्यथाका अनुभव करने लगे ॥

उद्वृत्य चक्षुषी कोपान्निर्दहन्निव भारत ।
सदेवासुरगन्धर्वं लोकं लोकविदां वरः ॥ ३ ॥

भारत ! फिर क्रोधसे दोनों आँखें चढ़ाकर लोकवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्म इस प्रकार देखने लगे, मानो देवताओं, असुरों और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालेंगे ॥

अब्रवीत् तव पुत्रं स सामपूर्वमिदं वचः ।
किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि ॥ ४ ॥
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम् ।
जुह्वानं समरे प्राणांस्तव वै प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥

फिर आपके पुत्रको सान्त्वना देते हुए वे उससे इस प्रकार बोले—'बेटा दुर्योधन ! तुम इस प्रकार वाग्बाणोंसे मुझे क्यों छेद रहे हो ? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओंपर विजय पानेकी चेष्टा करता हूँ और तुम्हारे प्रिय साधनमें लगा हुआ हूँ । इतना ही नहीं, तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं समराग्निमें अपने प्राणोंको होम देनेके लिये भी तैयार हूँ ४-५

यदा तु पाण्डवः शूरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
पराजित्य रणे शक्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

'परंतु तुम्हें याद होगा, जब शूरवीर पाण्डुनन्दन अर्जुनने युद्धमें देवराज इन्द्रको परास्त करके खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था, वही उनकी अजेयताका पूरा प्रमाण है ॥ ६॥

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा ।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! जब गन्धर्वलोग तुम्हें बलपूर्वक पकड़ ले गये थे, उस समय भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने ही तुम्हें छुड़ाया था । उनके अनन्त पराक्रमको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ ७ ॥

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो ।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ८ ॥

'प्रभो ! उस अवसरपर तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे । यह अर्जुनकी अद्भुत शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ८ ॥

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा ।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥

'उन दिनों विराटनगरमें हम सब लोग एक साथ युद्धके लिये डटे हुए थे, परंतु अर्जुनने अकेले ही हमलोगोंपर आक्रमण किया । यह उनकी अपरिमित शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ९ ॥

द्रोणं च युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे ।
वासांसि स समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १० ॥

'अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यको तथा मुझे भी युद्धमें परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे । यह उनकी अजेयताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ १० ॥

तथा द्रौणिं महेष्वासं शारद्वतमथापि च ।
गोग्रहे जितवान् पूर्वं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ११ ॥

'पूर्वकालमें उसी गोग्रहके अवसरपर पाण्डुकुमारने महाधनुर्धर अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यको भी परास्त कर दिया था । यह दृष्टान्त उन्हें समझनेके लिये पर्याप्त है ॥ ११॥

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम् ।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १२ ॥

'उन दिनों सदा अपने पुरुषार्थका अभिमान रखनेवाले कर्णको भी जीतकर अर्जुनने उसके वस्त्र छीनकर उत्तराको अर्पित किये थे । यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १२ ॥

निवातकवचान् युद्धे वासवेनापि दुर्जयान् ।
जितवान् समरे पार्थः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १३ ॥

'जिन्हें परास्त करना इन्द्रके लिये भी कठिन था, उन निवातकवचोंको अर्जुनने युद्धमें परास्त कर दिया था । उनकी अलौकिक शक्तिको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं तदा ।
यस्य गोप्ता जगद्गोप्ता शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥
वासुदेवोऽनन्तशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः ।
सर्वेश्वरो देवदेवः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥

'विश्वरक्षक, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले अनन्तशक्ति, सृष्टि और संहारके एकमात्र कर्ता देवाधिदेव सनातन परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव जिनकी रक्षा करनेवाले हैं, उन वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धके मैदानमें कौन जीत सकता है ॥ १४-१५ ॥

उक्तोऽसि बहुशो राजन् नारदाद्यैर्महर्षिभिः ।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ॥ १६ ॥

'राजन् ! सुयोधन ! यह बात नारद आदि महर्षियोंने तुमसे कई बार कही है, परंतु तुम मोहवश कहने और न कहने योग्य बातको समझते ही नहीं हो ॥ १६ ॥

मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान् ।
तथा त्वमपि गान्धारे विपरीतानि पश्यसि ॥ १७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जैसे मरणासन्न मनुष्य सभी वृक्षोंको सुनहरे रंगका देखता है, उसी प्रकार तुम भी सब कुछ विपरीत ही देख रहे हो ॥ १७ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृंजयैः ।
युद्ध्यस्व तानद्य रणे पश्यामः पुरुषो भव ॥ १८ ॥
(अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।)

'तुमने स्वयं ही पाण्डवों तथा सृञ्जयोंके साथ महान् वैर ठाना है । अतः अब तुम्हीं युद्ध करो । हम सब लोग देखते हैं । तुम स्वयं पुरुषत्वका परिचय दो । पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥

अहं तु सोमकान् सर्वान् पञ्चालांश्च समागतान् ।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ॥ १९ ॥

'किंतु पुरुषसिंह ! मैं केवल शिखण्डीको छोड़कर युद्धमें आये हुए समस्त सोमकों और पाञ्चालोंको भी मार डालूँगा ॥१९॥

तैर्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम् ।
तान् वा निहत्य समरे प्रीतिं दास्याम्यहं तव ॥ २० ॥

'या तो उन्हींके हाथों युद्धमें मारा जाकर मैं यमलोकका रास्ता लूँगा अथवा उन्हींको समराङ्गणमें मारकर मैं तुम्हें हर्ष प्रदान करूँगा ॥ २० ॥

पूर्वं हि स्त्री समुत्पन्ना शिखण्डी राजवेश्मनि ।
वरदानात् पुमाञ्जातः सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी॥ २१ ॥

'शिखण्डी पहले राजभवनमें स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ था; फिर वरदानसे पुरुष हो गया, अतः मेरी दृष्टिमें तो यह स्त्रीरूपा शिखण्डिनी ही है ॥ २१ ॥

तमहं न हनिष्यामि प्राणत्यागेऽपि भारत ।
यासौ प्राङ्निर्मिता धात्रा सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ॥२२॥

'भारत ! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी मैं उसे नहीं मारूँगा। जिसे विधाताने पहले स्त्री बनाया था, वह शिखण्डिनी आज भी मेरी दृष्टिमें स्त्री ही है ॥ २२ ॥

सुखं स्वपिहि गान्धारे श्वोऽपि कर्ता महारणम् ।
यं जनाः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ॥२३॥

'गान्धारीनन्दन ! अब तुम सुखसे जाकर सो रहो। कल मैं बड़ा भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक करते रहेंगे, जबतक कि यह पृथ्वी बनी रहेगी' ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर ।
अभिवाद्य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुर्योधन अपने उन गुरुजनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके पश्चात् अपने शिबिरको चला गया ॥ २४ ॥

आगम्य तु ततो राजा विसृज्य च महाजनम् ।
प्रविवेश ततस्तूर्णं क्षयं शत्रुक्षयङ्करः ॥ २५ ॥

वहाँ आकर शत्रुओंका विनाश करनेवाले राजा दुर्योधन-ने लोगोंके उस महान् समुदायको तुरंत विदा कर दिया और स्वयं शिबिरके भीतर प्रवेश किया ॥ २५ ॥

प्रविष्टः स निशां तां च गमयामास पार्थिवः ।
प्रभातायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः ॥ २६ ॥
राज्ञः समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ।
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान् ॥ २७ ॥

भूपाल ! वहाँ जाकर राजाने सुखसे रात बितायी और सवेरा होनेपर उसने प्रातःकाल उठकर राजाओंको यह आज्ञा दी— 'राजसिंहो ! तुम सब लोग सेनाको युद्धके लिये तैयार करो, आज पितामह भीष्म रणभूमिमें कुपित होकर सोमकोंका संहार करेंगे' ॥ २६-२७ ॥

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा रात्रौ विलपितं बहु ।
मन्यमानः स तं राजन् प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥ २८ ॥

राजन् ! रातमें दुर्योधनके अनेक प्रकारके विलापको सुनकर भीष्मने यह समझ लिया कि अब दुर्योधन मुझे युद्धसे हटाना चाहता है ॥ २८ ॥

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।
दीर्घं दध्यौ शान्तनवो योद्धुकामोऽर्जुनं रणे ॥ २९ ॥

इससे उनके मनमें बड़ा खेद हुआ। भीष्मने पराधीनताकी भूरि-भूरि निन्दा करके रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेका संकल्प लेकर दीर्घकालतक विचार किया ॥२९॥

इङ्गितेन तु तज्ज्ञात्वा गाङ्गेयेन विचिन्तितम् ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमचोदयत् ॥ ३० ॥

महाराज ! गङ्गानन्दन भीष्मने क्या सोचा है ? इस बातको संकेतसे समझकर दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
द्वाविंशतिमनीकानि सर्वाण्येवाभिचोदय ॥ ३१ ॥

'दुःशासन ! तुम शीघ्र ही भीष्मकी रक्षा करनेवाले रथोंको जोतकर तैयार कराओ। अपने पास कुल बाईस सेनाएँ हैं। उन सबको भीष्मकी रक्षामें ही नियुक्त कर दो॥

इदं हि समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।
पाण्डवानां ससैन्यानां वधो राज्यस्य चागमः ॥ ३२ ॥

'आज वह अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम बहुत वर्षोंसे विचार करते आ रहे हैं। आज सेनासहित समस्त पाण्डवोंका वध तथा राज्यका लाभ होगा ॥ ३२ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
स नो गुप्तः सहायः स्याद्धन्यात् पार्थांश्च संयुगे॥ ३३ ॥

'इस विषयमें मैं भीष्मकी रक्षाको ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ। वे सुरक्षित रहनेपर हमारे सहायक होंगे और संग्राम-भूमिमें कुन्तीकुमारोंका वध कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ॥ ३४ ॥

'विशुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा भीष्मने मुझसे कहा है कि 'राजन् ! मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता; क्योंकि वह पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हुआ था और इसीलिये युद्धमें मुझे उसका परित्याग कर देना है ॥ ३४ ॥

लोकस्तद् वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
राज्यं स्फीतं महाबाहो स्त्रियश्च त्यक्तवान् पुरा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! सारा संसार यह जानता है कि मैंने पूर्वकालमें पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे समृद्धिशाली राज्य तथा स्त्रियोंका परित्याग कर दिया था ॥ ३५ ॥

नैवं चाहं स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कथंचन ।
हन्यां युधि नरश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं कभी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी किसी प्रकार युद्धमें मार नहीं सकता; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ३६ ॥

अयं स्त्रीपूर्वको राजञ्छिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
उद्योगे कथितं यत्तत् तथा जाता शिखण्डिनी ॥ ३७ ॥
कन्या भूत्वा पुमाञ्जातः स च मां योधयिष्यति ।
तस्याहं प्रमुखे बाणान् न मुञ्चेयं कथंचन ॥ ३८ ॥

'राजन् ! तुमने भी सुना होगा, यह शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें पैदा हुआ था । यह बात मैंने तुमसे युद्धकी तैयारीके समय बता दी थी । इस प्रकार कन्यारूपमें उत्पन्न हुई शिखण्डिनी पहले स्त्री होकर अब पुरुष हो गयी है । वह पुरुष बना हुआ शिखण्डी यदि मुझसे युद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर किसी प्रकार भी बाण नहीं चलाऊँगा ॥ ३७-३८ ॥

युद्धे हि क्षत्रियांस्तात पाण्डवानां जयैषिणः ।
सर्वानन्यान् हनिष्यामि सम्प्राप्तान् रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

'तात ! पाण्डव-पक्षके दूसरे जो जो विजयाभिलाषी क्षत्रिय युद्धके मुहानेपर मेरे सामने आयेंगे, उन सबका मैं वध करूँगा' ॥

एवं मां भरतश्रेष्ठ गाङ्गेयः प्राह शास्त्रवित् ।
तत्र सर्वात्मना मन्ये गाङ्गेयस्यैव पालनम् ॥ ४० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुःशासन ! शास्त्रोंके ज्ञाता गङ्गानन्दन भीष्मने इस प्रकार मुझसे कहा है । अतः युद्धभूमिमें सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षाको ही मैं अपना मुख्य कर्तव्य मानता हूँ ॥ ४० ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे ।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ॥ ४१ ॥

'यदि महायुद्धमें सिंहकी रक्षा नहीं की जाय तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परंतु हम भेड़ियेके सदृश शिखण्डीके हाथसे सिंहके समान भीष्मका वध नहीं होने देंगे ॥ ४१ ॥

मातुलः शकुनिः शल्यः कृपो द्रोणो विविंशतिः ।
यत्ता रक्षन्तु गाङ्गेयं तस्मिन् गुप्ते ध्रुवो जयः ॥ ४२ ॥

'(अतः उनकी रक्षाके लिये सारी आवश्यक व्यवस्था करो ।) मामा शकुनि, शल्य, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और विविंशति—ये सब लोग सावधान होकर गङ्गानन्दन भीष्मकी रक्षा करें । उनके सुरक्षित रहनेपर हमारी विजय निश्चित है' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा ।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ॥ ४३ ॥

उस समय दुर्योधनकी यह बात सुनकर उन सब वीरोंने रथकी विशाल सेनाद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४३ ॥

पुत्राश्च तव गाङ्गेयं परिवार्य ययुर्मुदा ।
कम्पयन्तो भुवं द्यां च क्षोभयन्तश्च पाण्डवान् ॥ ४४ ॥

आपके सब पुत्र भी भीष्मको चारों ओरसे घेरकर प्रसन्नतापूर्वक चले । वे उस समय भूलोक और स्वर्गलोकको भी कँपाते हुए पाण्डवोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे ॥

ते रथैः सुसम्प्रयुक्तैर्दन्तिभिश्च महारथाः ।
परिवार्य रणे भीष्मं दंशिताः समवस्थिताः ॥ ४५ ॥

वे समस्त कौरव महारथी सुशिक्षित रथों और हाथियोंसे भीष्मको घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथा देवासुरे युद्धे त्रिदशा वज्रधारिणम् ।
सर्वे ते स्म व्यतिष्ठन्त रक्षन्तस्तं महारथम् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार देवासुर-संग्रामके समय देवताओंने वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सब कौरव योद्धा महारथी भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पुनर्भ्रातरमब्रवीत् ।
सव्यं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ॥ ४७ ॥
गोप्तारावर्जुनस्यैतावर्जुनोऽपि शिखण्डिनः ।
रक्ष्यमाणः स पार्थेन तथास्माभिर्विवर्जितः ॥ ४८ ॥
यथा भीष्मं न नो हन्याद् दुःशासन तथा कुरु ।

तब राजा दुर्योधनने अपने भाईसे पुनः इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! अर्जुनके रथके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिने पहियेकी रक्षा उत्तमौजा करते हैं । इस प्रकार अर्जुनके ये दो रक्षक हैं और अर्जुन भी शिखण्डीकी रक्षा करते हैं । अर्जुनसे सुरक्षित और हमलोगोंसे उपेक्षित होकर शिखण्डी हमारे भीष्मको जिस प्रकार मार न सके, ऐसी व्यवस्था करो' ॥

भ्रातुस्तद् वचनं श्रुत्वा पुत्रो दुःशासनस्तव ॥ ४९ ॥
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।

बड़े भाईकी यह बात सुनकर आपका पुत्र दुःशासन भीष्मको आगे करके सेनाके साथ युद्धके मैदानमें गया ॥

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम् ॥ ५० ॥
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ।

भीष्मको रथोंके समूहसे घिरा हुआ देख रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ५०½ ॥

शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप ।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ॥ ५१ ॥

'नरेश्वर ! पाञ्चालराजकुमार ! आज तुम पुरुषसिंह शिखण्डीको भीष्मके सामने उपस्थित करो । मैं उसकी रक्षा करूँगा' ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

भीष्मपितामहकी सेवामें श्रीकृष्णसहित पाण्डव
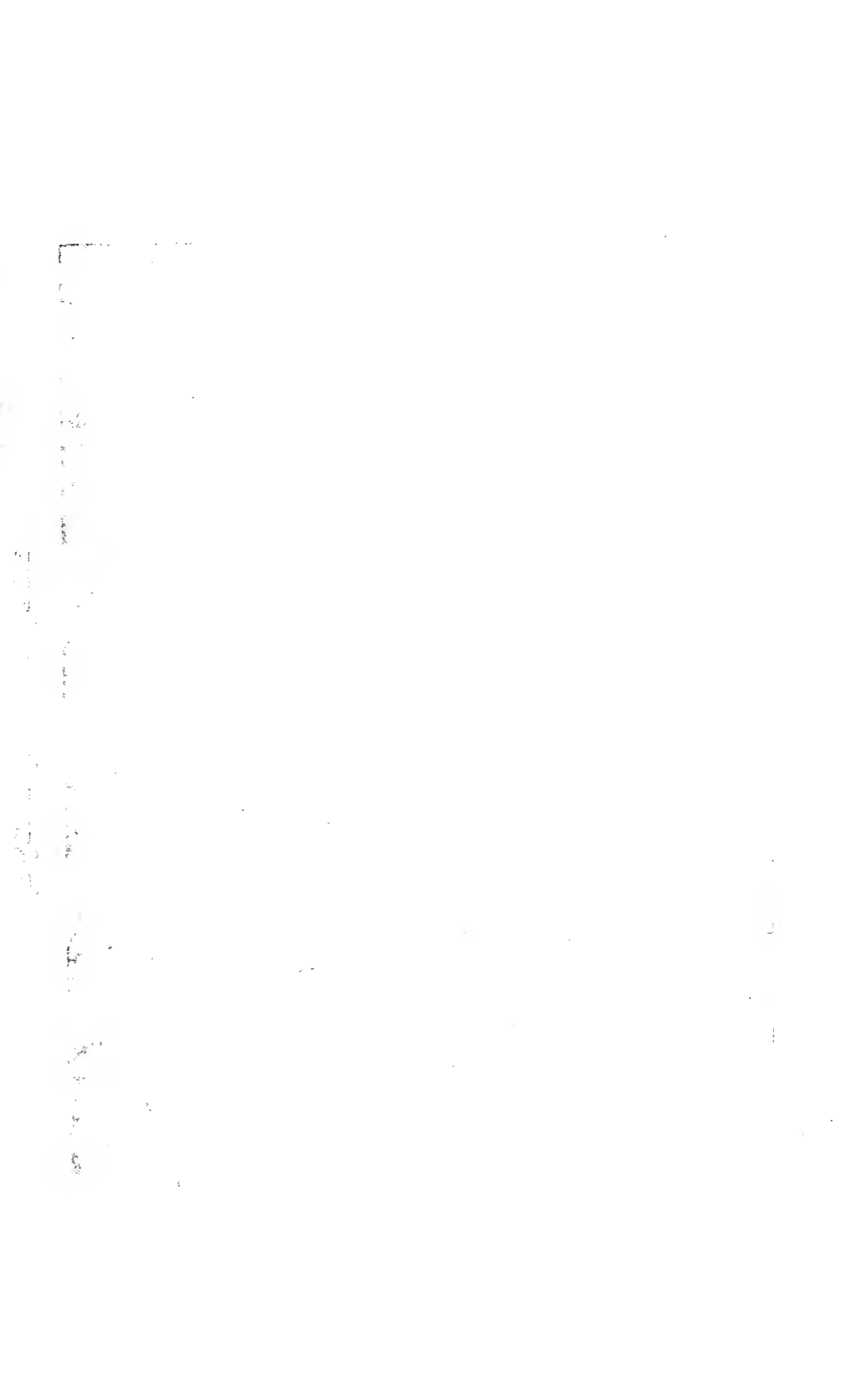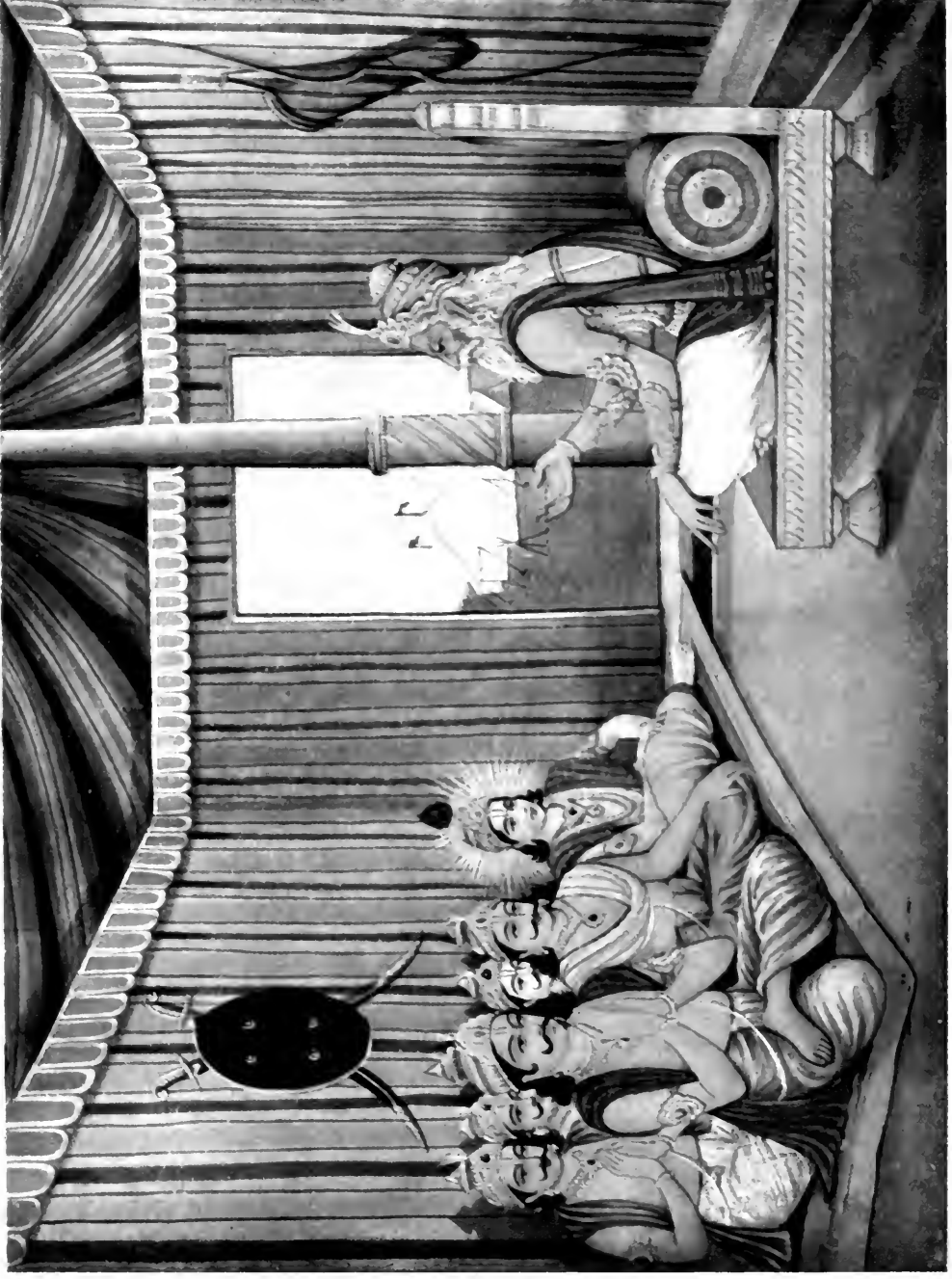
एकोनशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धके लिये उभयपक्षकी सेनाओंकी व्यूहरचना और उनके घमासान युद्धका आरम्भ तथा विनाशसूचक उत्पातोंका वर्णन

संजय उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो निर्ययौ सह सेनया ।
व्यूहं चाव्यूहत महत् सर्वतोभद्रमात्मनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म सेनाके साथ शिबिरसे बाहर निकले । उन्होंने अपनी सेनाको सर्वतोभद्रनामक महान् व्यूहके रूपमें संगठित किया॥

कृपश्च कृतवर्मा च शैब्यश्चैव महारथः ।
शकुनिः सैन्धवश्चैव काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २ ॥
भीष्मेण सहिताः सर्वे पुत्रैश्च तव भारत ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां व्यूहस्य प्रमुखे स्थिताः ॥ ३ ॥

भारत ! कृपाचार्य, कृतवर्मा, महारथी शैब्य, शकुनि, सिन्धुराज जयद्रथ तथा काम्बोजराज सुदक्षिण—ये सब नरेश भीष्म तथा आपके पुत्रोंके साथ सम्पूर्ण सेनाके आगे तथा व्यूहके प्रमुख भागमें खड़े हुए थे ॥ २-३ ॥

द्रोणो भूरिश्रवाः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ॥ ४ ॥

आर्य ! द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य तथा भगदत्त—ये कवच बाँधकर व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

अश्वत्थामा सोमदत्तश्चावन्त्यौ च महारथौ ।
महत्या सेनया युक्ता वामं पक्षमपालयन् ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा अवन्तीके दोनों राजकुमार महारथी विन्द और अनुविन्द—ये विशाल सेनाके साथ व्यूहके वाम पक्षका संरक्षण कर रहे थे ॥ ५ ॥

दुर्योधनो महाराज त्रिगर्तैः सर्वतो वृतः ।
व्यूहमध्ये स्थितो राजन् पाण्डवान् प्रति भारत ॥ ६ ॥

महाराज ! भरतवंशी नरेश ! त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ दुर्योधन पाण्डवोंका सामना करनेके लिये व्यूहके मध्यभागमें खड़ा हुआ ॥ ६ ॥

अलम्बुषो रथश्रेष्ठः श्रुतायुश्च महारथः ।
पृष्ठतः सर्वसैन्यानां स्थितौ व्यूहस्य दंशितौ ॥ ७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अलम्बुष और महारथी श्रुतायु—ये दोनों कवच धारण करके सम्पूर्ण सेनाओं तथा व्यूहके पृष्ठभागमें खड़े थे॥

एवं च तं तदा व्यूहं कृत्वा भारत तावकाः ।
संनद्धाः समदृश्यन्त प्रतपन्त इवाग्नयः ॥ ८ ॥

भारत ! इस प्रकार व्यूहरचना करके उस समय आपके पुत्र कवच आदिसे सुसज्जित हो प्रज्वलित अग्नियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ ९ ॥
अग्रतः सर्वसैन्यानां स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ।

उधर राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, माद्रीके दोनों पुत्र नकुल और सहदेव सब सेनाओं तथा व्यूहके अग्रभागमें कवच बाँधकर खड़े हुए ॥ ९½ ॥

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ १० ॥
स्थिताः सैन्येन महता परानीकविनाशनाः ।

धृष्टद्युम्न, राजा विराट और महारथी सात्यकि—ये शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले वीर भी विशाल सेनाके साथ व्यूहमें यथास्थान स्थित थे ॥ १०½ ॥

शिखण्डी विजयश्चैव राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ११ ॥
चेकितानो महाबाहुः कुन्तिभोजश्च वीर्यवान् ।
स्थिता रणे महाराज महत्या सेनया वृताः ॥ १२ ॥

महाराज ! शिखण्डी, अर्जुन, राक्षस घटोत्कच, महाबाहु चेकितान तथा पराक्रमी कुन्तिभोज—ये विशाल सेनासे घिरे हुए वीर युद्धभूमिमें यथायोग्य स्थानपर खड़े थे ॥ ११-१२ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासो द्रुपदश्च महाबलः ।
युयुधानो महेष्वासो युधामन्युश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
केकया भ्रातरश्चैव स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

महाधनुर्धर अभिमन्यु, महाबली द्रुपद, विशाल धनुष धारण करनेवाले युयुधान, पराक्रमी युधामन्यु और पाँचों भाई केकय-राजकुमार—ये कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १३½ ॥

एवं तेऽपि महाव्यूहं प्रतिव्यूह्य सुदुर्जयम् ॥ १४ ॥
पाण्डवाः समरे शूराः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

इस प्रकार शूरवीर पाण्डव भी समराङ्गणमें अत्यन्त दुर्जय महाव्यूहकी रचना करके कवच बाँध युद्धके लिये तैयार थे ॥ १४½ ॥

तावकास्तु रणे यत्ताः सहसेना नराधिपाः ॥ १५ ॥
अभ्युद्ययू रणे पार्थान् भीष्मं कृत्वाग्रतो नृप ।
तथैव पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ १६ ॥

राजन् ! आपकी सेनाके नरेश अपनी-अपनी सेनाओंके साथ युद्धके लिये उद्यत हो भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ आये । नरेश्वर ! उसी प्रकार भीमसेन आदि पाण्डवोंने भी आपकी सेनापर आक्रमण किया ॥ १५-१६ ॥

भीष्मं योद्धुमभीप्सन्तः संग्रामे विजयैषिणः ।
क्ष्वेडाः किलकिलाः शङ्खान् क्रकचान् गोविषाणिकाः ॥
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयन्तश्च पुष्करान् ।
पाण्डवा अभ्यवर्तन्त नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १८ ॥

संग्राममें भीष्मके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले विजयाभिलाषी पाण्डव सिंहनाद, किल-किल शब्द, शङ्खध्वनि, क्रकच, गोशृंग, भेरी, मृदंग, पणव तथा पुष्कर आदि बाजोंको बजाते तथा भैरव-गर्जना करते हुए कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १७-१८ ॥

भेरीमृदङ्गशङ्खानां दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
उत्कृष्टसिंहनादैश्च वल्गितैश्च पृथग्विधैः ॥ १९ ॥
वयं प्रतिनदन्तस्तानगच्छाम त्वरान्विताः ।
सहसैवाभिसंक्रुद्धास्तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ॥ २० ॥

भेरी, मृदंग, शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि एवं उच्चस्वरसे सिंहनाद करते तथा अनेक प्रकारसे अपनी शेखी बघारते हुए हमलोगोंने भी बड़ी उतावलीके साथ अत्यन्त क्रुद्ध हो सहसा उनपर आक्रमण किया और उनकी गर्जनाका उत्तर हम भी अपनी गर्जनाद्वारा ही देने लगे । उस समय उभय पक्षके सैनिकोंमें महान् युद्ध होने लगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽन्योन्यं प्रधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
ततः शब्देन महता प्रचकम्पे वसुन्धरा ॥ २१ ॥

दोनों पक्षके योद्धा एक दूसरेपर धावा करते हुए अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे । उस समय जो महान् कोलाहल हुआ, उससे सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ २१ ॥

पक्षिणश्च महाघोरं व्याहरन्तो विबभ्रमुः ।
सप्रभश्चोदितः सूर्यो निष्प्रभः समपद्यत ॥ २२ ॥

पक्षी अत्यन्त घोर शब्द करते हुए आकाशमें चक्कर काटने लगे । सूर्य यद्यपि तेजस्वी रूपमें उदित हुआ था, तथापि उस समय निस्तेज हो गया ॥ २२ ॥

ववुश्च वातास्तुमुलाः शंसन्तः सुमहद् भयम् ।
घोराश्च घोरनिर्ह्रादाः शिवास्तत्र ववाशिरे ॥ २३ ॥

महान् भयकी सूचना देनेवाली भयंकर वायु बड़े वेगसे बहने लगी । घोर वज्रपातके-से भयानक शब्द सुनायी देने लगे । सियारिनें अशुभ बोली बोलने लगीं ॥ २३ ॥

वेदयन्त्यो महाराज महद् वैशसमागतम् ।
दिशः प्रज्वलिता राजन् पांसुवर्षं पपात च ॥ २४ ॥
रुधिरेण समुन्मिश्रमस्थिवर्षं तथैव च ।
रुदतां वाहनानां च नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ २५ ॥

महाराज ! वे गीदड़ियाँ सिरपर आये हुए विकट विनाशकी सूचना दे रही थीं । राजन् ! दिशाएँ जलती प्रतीत होने लगीं । सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी । रक्तमिश्रित हड्डियाँ बरसने लगीं । रोते हुए वाहनोंके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे ॥ २४-२५ ॥

सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रं प्रध्यायन्तो विशाम्पते ।
अन्तर्हिता महानादाः श्रूयन्ते भरतर्षभ ॥ २६ ॥
रक्षसां पुरुषादानां नदतां भैरवान् रवान् ।

प्रजानाथ ! वे सारे वाहन भारी चिन्तामें पड़कर मल-मूत्र करने लगे । भरतश्रेष्ठ ! भयंकर गर्जना करनेवाले नरभक्षी राक्षसोंके महान् शब्द सुनायी पड़ते थे; परंतु उनके बोलनेवाले अदृश्य थे ॥ २६½ ॥

सम्पतन्तश्च दृश्यन्ते गोमायुबलवायसाः ॥ २७ ॥
श्वानश्च विविधैर्नादैर्वाशन्तस्तत्र मारिष ।

चारों ओरसे गीदड़ और बलशाली कौए वहाँ टूटे पड़ते थे । आर्य ! वहाँ कुत्ते भी नाना प्रकारकी आवाजमें भूँकते देखे जाते थे ॥ २७½ ॥

ज्वलिताश्च महोल्का वै समाहत्य दिवाकरम् ।
निपेतुः सहसा भूमौ वेदयन्त्यो महद् भयम् ॥ २८ ॥

बड़ी-बड़ी प्रज्वलित उल्काएँ सूर्यदेवसे टकराकर महान् भयकी सूचना देती हुई सहसा पृथ्वीपर गिर रही थीं ॥ २८ ॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
ततस्तयोः पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः ।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ २९ ॥
नरेन्द्रनागाश्वसमाकुलाना-
मभ्यायतीनामशिवे मुहूर्ते ।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ३० ॥

उस महान् संग्राममें पाण्डव तथा कौरव-पक्षकी विशाल सेनाएँ शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंसे उसी प्रकार काँप रही थीं, जैसे वायुके वेगसे समूचा वनप्रान्त हिलने लगता है । उस अमङ्गलजनक मुहूर्तमें नरेशों, हाथियों और अश्वोंसे परिपूर्ण हो परस्पर आक्रमण करती हुई उभय पक्षकी उन विशाल सेनाओंका भयंकर शब्द वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि परस्परव्यूहरचनायामुत्पातदर्शने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें परस्पर व्यूह-रचनाके पश्चात् उत्पातदर्शनविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और अभिमन्युका राक्षस अलम्बुषके साथ घोर युद्ध एवं अभिमन्युके द्वारा नष्ट होती हुई कौरवसेनाका युद्धभूमिसे पलायन

संजय उवाच

अभिमन्यू रथोदारः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
अभिदुद्राव तेजस्वी दुर्योधनबलं महत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रथियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी अभिमन्यु पिङ्गल वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथद्वारा दुर्योधनकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ॥ १ ॥

विकिरञ्शरवर्षाणि वारिधारा इवाम्बुदः ।
न शेकुः समरे क्रुद्धं सौभद्रमरिसूदनम् ॥ २ ॥
(क्रोडरूपं हरिमिव प्रविशन्तं महार्णवम् ।)
शस्त्रौघिणं गाहमानं सेनासागरमक्षयम् ।
निवारयितुमप्याजौ त्वदीयाः कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

जैसे बादल जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार वह बाणोंकी वृष्टि कर रहा था। जैसे वाराहरूपधारी भगवान् विष्णुने महासागरमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार शत्रुसूदन सुभद्राकुमार समरमें कुपित हो शस्त्रोंके प्रवाहसे युक्त कौरवोंके अक्षय सैन्यसमुद्रमें प्रवेश कर रहा था। कुरुनन्दन ! उस समय आपके सैनिक उसे युद्धमें रोक न सके ॥ २-३ ॥

तेन मुक्ता रणे राजञ्शराः शत्रुनिबर्हणाः ।
क्षत्रियाननयञ्शूरान् प्रेतराजनिवेशनम् ॥ ४ ॥

राजन् ! रणक्षेत्रमें अभिमन्युके छोड़े हुए शत्रुनाशक बाणोंने बहुत-से शूरवीर क्षत्रियोंको यमराजके लोकमें पहुँचा दिया ॥ ४ ॥

यमदण्डोपमान् घोराञ्ज्वलिताशीविषोपमान् ।
सौभद्रः समरे क्रुद्धः प्रेषयामाससायकान् ॥ ५ ॥

सुभद्राकुमार समराङ्गणमें क्रुद्ध होकर यमदण्डके समान घोर तथा प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पोंके समान भयंकर सायकोंका प्रहार कर रहा था ॥ ५ ॥

सरथान् रथिनस्तूर्णं हयांश्चैव ससादिनः ।
गजारोहांश्च सगजान् दारयामास फाल्गुनिः ॥ ६ ॥

अर्जुनकुमारने रथोंसहित रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंसहित गजारोहियोंको तुरंत ही विदीर्ण कर डाला ॥ ६ ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म महत् संख्ये महीभृतः ।
पूजयांचक्रिरे हृष्टाः प्रशशंसुश्च फाल्गुनिम् ॥ ७ ॥

युद्धमें ऐसा महान् पराक्रम करते हुए अभिमन्यु और उसके कर्मकी सभी राजाओंने प्रसन्न होकर भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७ ॥
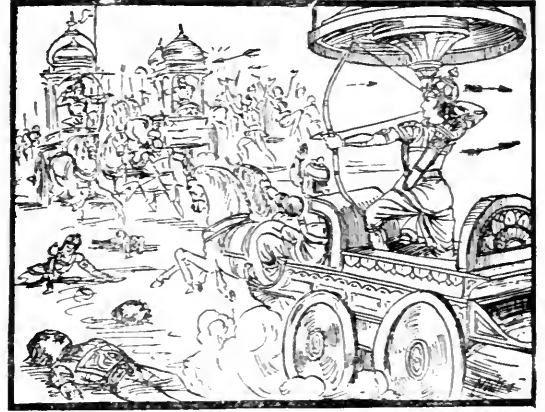
तान्यनीकानि सौभद्रो द्रावयामास भारत ।
तूलराशीनिवाकाशे मारुतः सर्वतो दिशम् ॥ ८ ॥

भारत ! जैसे हवा रूईके ढेरको आकाशमें उड़ा देती है, उसी प्रकार सुभद्राकुमारने सम्पूर्ण सेनाओंको चारों दिशाओंमें भगा दिया ॥ ८ ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि भारत ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्के मग्ना इव द्विपाः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युके द्वारा खदेड़ी जाती हुई आपकी सेनाएँ कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके समान किसीको अपना रक्षक न पा सकीं ॥ ९ ॥

विद्राव्य सर्वसैन्यानि तावकानि नरोत्तम ।
अभिमन्युः स्थितो राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! आपकी सम्पूर्ण सेनाओंको खदेड़ कर अभिमन्यु धूमरहित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥ १० ॥

न चैनं तावका राजन् विषेहुररिघातिनम् ।
प्रदीप्तं पावकं यद्वत् पतङ्गाः कालचोदिताः ॥ ११ ॥

राजन् ! आपके सैनिक शत्रुघाती अभिमन्युका वेग नहीं सह सके। जैसे कालप्रेरित फतिंगे प्रज्वलित अग्निकी आँच नहीं सह पाते (उसीमें झुलस कर मर जाते हैं), वही दशा आपके सैनिकोंकी थी ॥ ११ ॥

प्रहरन् सर्वशत्रुभ्यः पाण्डवानां महारथः ।
अदृश्यत महेष्वासः सवज्र इव वासवः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंपर प्रहार करता हुआ पाण्डव-महारथी महाधनुर्धर अभिमन्यु वज्रधारी इन्द्रके समान दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ १२ ॥

हेमपृष्ठं धनुश्चास्य ददृशे विचरद् दिशः ।
तोयदेषु यथा राजन् राजमाना शतह्रदा ॥ १३ ॥

राजन् ! अभिमन्युके धनुषका पृष्ठभाग सुवर्णसे जटित था, वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करता हुआ बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीके समान सुशोभित होता था ॥ १३ ॥

शराश्च निशिताः पीता निश्चरन्ति स्म संयुगे ।
वनात् फुल्लद्रुमाद् राजन् भ्रमराणामिव व्रजाः ॥१४॥

युद्धके मैदानमें उसके धनुषसे तीखे और चमचमाते बाण इस प्रकार छूटते थे, मानो विकसित वृक्षावलियोंसे भरे हुए वनप्रान्तसे भ्रमरोंके समूह निकल रहे हों ॥ १४ ॥

तथैव चरतस्तस्य सौभद्रस्य महात्मनः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन ददृशुर्नान्तरं जनाः ॥ १५ ॥

महामना सुभद्राकुमार अभिमन्यु सुवर्णमय रथके द्वारा पूर्ववत् रणभूमिमें विचरता रहा; लोगोंने उसकी गतिमें कोई अन्तर नहीं देखा ॥ १५ ॥

मोहयित्वा कृपं द्रोणं द्रौणिं च सबृहद्बलम् ।
सैन्धवं च महेष्वासो व्यचरल्लघु सुष्ठु च ॥ १६ ॥

महाधनुर्धर अभिमन्यु कृपाचार्य, द्रोणाचार्य,अश्वत्थामा, बृहद्बल और सिन्धुराज जयद्रथ--सबको मोहित करके सुन्दर और शीघ्र गतिसे सब ओर विचरता रहा ॥ १६ ॥

मण्डलीकृतमेवास्य धनुः पश्याम भारत ।
सूर्यमण्डलसंकाशं दहतस्तव वाहिनीम् ॥ १७ ॥

भारत ! आपकी सेनाको भस्म करते हुए उस अभिमन्युके धनुषको हम सदा सूर्यमण्डलके सदृश मण्डलाकार हुआ ही देखते थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः प्रतपन्तं तरस्विनम् ।
द्विफाल्गुनमिमं लोकं मेनिरे तस्य कर्मभिः ॥ १८ ॥

सबको संताप देते हुए उस वेगशाली वीरको देखकर समस्त शूरवीर क्षत्रिय उसके कर्मोंद्वारा यह मानने लगे कि इस लोकमें दो अर्जुन हो गये हैं ॥ १८ ॥

तेनार्दिता महाराज भारती सा महाचमूः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ॥ १९ ॥

महाराज ! अभिमन्युसे पीडित हुई भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना मदोन्मत्त युवतीकी भाँति वहीं चक्कर काट रही थी ॥ १९ ॥

द्रावयित्वा महासैन्यं कम्पयित्वा महारथान् ।
नन्दयामास सुहृदो मयं जित्वेव वासवः ॥ २० ॥

मयासुरपर विजय पानेवाले इन्द्रकी भाँति अभिमन्युने उस विशाल सेनाको भगाकर, महारथियोंको कँपाकर अपने सुहृदोंको आनन्दित किया ॥ २० ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि संयुगे ।
चक्रुरार्तस्वनं घोरं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ २१ ॥

उसके द्वारा युद्धमें खदेड़े हुए आपके सैनिक मेघोंकी गर्जनाके समान घोर आर्तनाद करने लगे ॥ २१ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धूतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ २२ ॥
दुर्योधनस्तदा राजन्नार्ष्यशृङ्गिमभाषत ।
एष कार्ष्णिर्महाबाहो द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पूर्णिमाके दिन वायुके थपेड़ोंसे उद्वेलित हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आपकी सेनाका वह भयंकर चीत्कार सुनकर उस समय दुर्योधनने राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र अलम्बुषसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! यह अर्जुनका पुत्र द्वितीय अर्जुनके समान पराक्रमी है ॥ २२-२३ ॥

चमूं द्रावयते क्रोधाद् वृत्रो देवचमूमिव ।
तस्य चान्यन्न पश्यामि संयुगे भेषजं महत् ॥ २४ ॥
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं सर्वविद्यासु पारगम् ।

'जैसे वृत्रासुर देवताओंकी सेनाको मार भगाता था, उसी प्रकार वह भी क्रोधपूर्वक मेरी सेनाको खदेड़ रहा है । मैं युद्धस्थलमें सम्पूर्ण विद्याओंके पारंगत तथा राक्षसोंमें सर्वश्रेष्ठ तुम-जैसे वीरको छोड़कर दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो उस रोगकी सबसे उत्तम दवा हो सके ॥ २४½ ॥

स गत्वा त्वरितं वीरं जहि सौभद्रमाहवे ॥ २५ ॥
वयं पार्थं हनिष्यामो भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।

'अतः तुम तुरंत जाकर युद्धके मैदानमें वीर सुभद्राकुमारका वध करो और हमलोग भीष्म तथा द्रोणाचार्यको आगे करके अर्जुनको मार डालेंगे' ॥ २५½ ॥

स एवमुक्तो बलवान् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ २६ ॥
प्रययौ समरे तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ।
नर्दमानो महानादं प्रावृषीव बलाहकः ॥ २७ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर उसकी आज्ञासे बलवान् एवं प्रतापी राक्षसराज अलम्बुष तुरंत ही वर्षाकालके मेघकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करता हुआ समर-भूमिमें गया ॥ २६-२७ ॥

तस्य शब्देन महता पाण्डवानां बलं महत् ।
प्राचलत् सर्वतो राजन् वातोद्धूत इवार्णवः ॥२८॥

राजन् ! उसके महान् गर्जनसे वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रके

समान पाण्डवोंकी विशाल सेनामें सब ओर हलचल मच गयी ॥ २८ ॥

बहवश्च महाराज तस्य नादेन भीषिताः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य निपेतुर्धरणीतले ॥ २९ ॥

महाराज ! उसके सिंहनादसे भयभीत हो बहुत-से सैनिक अपने प्यारे प्राणोंको त्यागकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे तद् रक्षः समुपाद्रवत् ॥ ३० ॥

अभिमन्यु भी हर्ष और उत्साहमें भरकर हाथमें धनुष-बाण लिये रथकी बैठकमें नृत्य-सा करता हुआ उस राक्षसकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः सम्प्राप्यैवार्जुनिं रणे ।
नातिदूरे स्थितां तस्य द्रावयामास वै चमूम् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरा हुआ वह राक्षस युद्धमें अभिमन्युके समीप पहुँचकर पास ही खड़ी हुई उसकी सेनाको भगाने लगा ॥ ३१ ॥

तां वध्यमानां च तथा पाण्डवानां महाचमूम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे रक्षो देवसेनां यथा बलः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पीड़ित हुई पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीपर उस राक्षसने युद्धमें उसी प्रकार धावा किया, जैसे बल नामक दैत्यने देवसेनापर आक्रमण किया था ॥ ३२ ॥

विमर्दः सुमहानासीत् तस्य सैन्यस्य मारिष ।
रक्षसा घोररूपेण वध्यमानस्य संयुगे ॥ ३३ ॥

आर्य ! युद्धस्थलमें भयंकर राक्षसके द्वारा मारी जाती हुई उस सेनाका महान् संहार होने लगा ॥ ३३ ॥

ततः शरसहस्रैस्तां पाण्डवानां महाचमूम् ।
व्यद्रावयद् रणे रक्षो दर्शयन् स्वपराक्रमम् ॥ ३४ ॥

उस समय राक्षसने अपना पराक्रम दिखाते हुए रणक्षेत्रमें सहस्रों बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ३४ ॥

सा वध्यमाना च तथा पाण्डवानामनीकिनी ।
रक्षसा घोररूपेण प्रदुद्राव रणे भयात् ॥ ३५ ॥

उस घोर राक्षसके द्वारा उस प्रकार मारी जाती हुई वह पाण्डवसेना भयके मारे रणभूमिसे भाग चली ॥ ३५ ॥

प्रमृद्य च रणे सेनां पद्मिनीं वारणो यथा ।
ततोऽभिदुद्राव रणे द्रौपदेयान् महाबलान् ॥ ३६ ॥

जैसे हाथी कमलमण्डित सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार रणभूमिमें पाण्डवसेनाको रौंदकर अलम्बुषने महाबली द्रौपदीपुत्रोंपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ।
राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पञ्च रविं यथा ॥ ३७ ॥

द्रौपदीके पाँचों पुत्र महान् धनुर्धर तथा प्रहार करनेमें कुशल थे । उन्होंने संग्रामभूमिमें कुपित हो उस राक्षसपर उसी प्रकार धावा किया, मानो पाँच ग्रह सूर्यदेवपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ३७ ॥

वीर्यवद्भिस्ततस्तैस्तु पीडितो राक्षसोत्तमः ।
यथा युगक्षये घोरे चन्द्रमाः पञ्चभिर्ग्रहैः ॥ ३८ ॥

उस समय उन पराक्रमी द्रौपदीपुत्रोंद्वारा वह श्रेष्ठ राक्षस उसी प्रकार पीड़ित होने लगा, जैसे भयानक प्रलयकाल आनेपर चन्द्रमा पाँच ग्रहोंद्वारा पीड़ित होते हैं ॥ ३८ ॥

प्रतिविन्ध्यस्ततो रक्षो बिभेद निशितैः शरैः ।
सर्वपारशवैस्तूर्णैरकुण्ठाग्रैर्महाबलः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् महाबली प्रतिविन्ध्यने पूर्णतः लोहेके बने हुए अप्रतिहत धारवाले शीघ्रगामी तीखे बाणोंद्वारा उस राक्षसको विदीर्ण कर डाला ॥ ३९ ॥

स तैर्भिन्नतनुत्राणः शुशुभे राक्षसोत्तमः ।
मरीचिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४० ॥

वे बाण उसके कवचको छेदकर शरीरमें धँस गये । उनके द्वारा राक्षसराज अलम्बुषकी वैसी ही शोभा हुई, मानो महान् मेघ सूर्यकी किरणोंसे ओतप्रोत हो रहा हो ॥ ४० ॥

विषक्तैः स शरैश्चापि तपनीयपरिच्छदैः ।
आर्ष्यशृङ्गिर्बभौ राजन् दीप्तशृङ्ग इवाचलः ॥ ४१ ॥

राजन् ! शरीरमें धँसे हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा राक्षस अलम्बुष चमकीले शिखरोंवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः पञ्च राक्षसेन्द्रं महाहवे ।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैस्तपनीयविभूषितैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन पाँचों भाइयोंने उस महासमरमें सुवर्णभूषित तीक्ष्ण बाणोंद्वारा राक्षसराज अलम्बुषको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२ ॥

स निर्भिन्नः शरैर्घोरैर्भुजगैः कोपितैरिव ।
अलम्बुषो भृशं राजन् नागेन्द्र इव चुक्रुधे ॥ ४३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए सर्पोंके समान उन घोर सायकोंद्वारा अत्यन्त घायल हुआ अलम्बुष अङ्कुशविद्ध गजराजकी भाँति कुपित हो उठा ॥ ४३ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज मुहूर्तमथ मारिष ।
प्रविवेश तमो दीर्घं पीडितस्तैर्महारथैः ॥ ४४ ॥

महाराज ! उन महारथियोंके बाणोंसे अत्यन्त आहत और पीड़ित हो अलम्बुष दो घड़ीतक भारी मोह (मूर्छा) में डूबा रहा ॥ ४४ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां क्रोधेन द्विगुणीकृतः ।
चिच्छेद सायकांस्तेषां ध्वजांश्चैव धनूंषि च ॥ ४५ ॥

तदनन्तर होशमें आकर वह दूने क्रोधसे जल उठा । फिर उसने उनके सायकों, ध्वजों और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४५ ॥

एकैकं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्मयन्निव ।
अलम्बुषो रथोपस्थे नृत्यन्निव महारथः ॥ ४६ ॥

इसके बाद रथकी बैठकमें नृत्य-सा करते हुए महारथी अलम्बुषने मुसकराते हुए उनमेंसे एक-एकको पाँच-पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ४६ ॥

त्वरमाणः सुसंरब्धो हयांस्तेषां महात्मनाम् ।
जघान राक्षसः क्रुद्धः सारथींश्च महाबलः ॥ ४७ ॥

फिर अत्यन्त उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे हुए उस महाबली राक्षसने कुपित हो उन महामनस्वी पाँचों भाइयोंके घोड़ों और सारथियोंको भी मार डाला ॥ ४७ ॥

बिभेद च सुसंरब्धः पुनश्चैनान् सुसंशितैः ।
शरैर्बहुविधाकारैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

इसके बाद पुनः कुपित हो भाँति-भाँतिके सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंद्वारा उन सबको गहरी चोट पहुँचायी।४८।

विरथांश्च महेष्वासान् कृत्वा तत्र स राक्षसः ।
अभिदुद्राव वेगेन हन्तुकामो निशाचरः ॥ ४९ ॥

उन महाधनुर्धर वीरोंको रथहीन करके युद्धमें उन्हें मार डालनेकी इच्छासे निशाचर अलम्बुषने बड़े वेगसे उनपर धावा किया ॥ ४९ ॥

तानर्दितान् रणे तेन राक्षसेन दुरात्मना ।
दृष्ट्वार्जुनसुतः संख्ये राक्षसं समुपाद्रवत् ॥ ५० ॥

उन पाँचों भाइयोंको रणक्षेत्रमें दुरात्मा राक्षसके द्वारा अत्यन्त पीड़ित देख अर्जुनकुमार अभिमन्युने पुनः उसके ऊपर आक्रमण किया ॥ ५० ॥

तयोः समभवद् युद्धं वृत्रवासवयोरिव ।
ददृशुस्तावकाः सर्वे पाण्डवाश्च महारथाः ॥ ५१ ॥

फिर उन दोनोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर युद्ध होने लगा । आपके और पाण्डवपक्षके सभी महारथी उस युद्धको देखने लगे ॥ ५१ ॥

तौ समेतौ महायुद्धे क्रोधदीप्तौ परस्परम् ।
महाबलौ महाराज क्रोधसंरक्तलोचनौ ॥ ५२ ॥
परस्परमवेक्षेतां कालानलसमौ युधि ।
तयोः समागमो घोरो बभूव कटुकोदयः ॥ ५३ ॥
यथा देवासुरे युद्धे शक्रशम्बरयोः पुरा ॥ ५४ ॥

महाराज ! उस महायुद्धमें क्रोधसे उद्दीप्त हो आँखें लाल-लाल करके एक दूसरेसे भिड़े हुए वे दोनों महाबली वीर युद्धमें काल और अग्निके समान परस्पर देखने लगे । उनका वह घोर संग्राम अत्यन्त कटु परिणामको प्रकट करनेवाला था । पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्र और शम्बरासुरमें जैसा भयंकर युद्ध हुआ था, वैसा ही उनमें भी हुआ ॥ ५२–५४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युसमागमे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका संग्रामविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५४½ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, अर्जुनके साथ भीष्मका तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोणाचार्यके साथ सात्यकिका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

आर्जुनिं समरे शूरं विनिघ्नन्तं महारथान् ।
अलम्बुषः कथं युद्धे प्रत्ययुध्यत संजय ॥ १ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं कथं चैव सौभद्रः परवीरहा ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन यथावृत्तं स्म संयुगे ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! समरमें बड़े-बड़े महारथियोंका संहार करते हुए शूरवीर अर्जुनकुमार अभिमन्युके साथ राक्षस अलम्बुषने किस प्रकार युद्ध किया ? इसी प्रकार शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सुभद्राकुमारने राक्षस अलम्बुषके साथ कैसे युद्ध किया ? युद्धस्थलमें उन दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी वृत्तान्त हो, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १-२ ॥

धनंजयश्च किं चक्रे मम सैन्येषु संयुगे ।
भीमो वा रथिनां श्रेष्ठो राक्षसो वा घटोत्कचः ॥ ३ ॥
नकुलः सहदेवो वा सात्यकिर्वा महारथः ।
एतदाचक्ष्व मे सत्यं कुशलो ह्यसि संजय ॥ ४ ॥

उस युद्धके मैदानमें अर्जुनने मेरी सेनाओंके साथ क्या किया ? रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा राक्षस घटोत्कच या नकुल-सहदेव एवं महारथी सात्यकिने क्या किया ? संजय ! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताओ; क्योंकि तुम इन बातोंके बतानेमें कुशल हो ॥ ३-४ ॥

संजय उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि संग्रामं लोमहर्षणम् ।

यथाभूद् राक्षसेन्द्रस्य सौभद्रस्य च मारिष ॥ ५ ॥
अर्जुनश्च यथा संख्ये भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च रणे चक्रुः पराक्रमम् ॥ ६ ॥
तथैव तावकाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अद्भुतानि विचित्राणि चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—आर्य ! मैं बड़े दुःखके साथ उस रोमाञ्चकारी संग्रामका वर्णन करूँगा, जो राक्षसराज अलम्बुष और सुभद्राकुमार अभिमन्युमें हुआ था तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेवने युद्धमें किस प्रकार पराक्रम किया और उसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि आपके सभी योद्धाओंने निर्भीक-से होकर अद्भुत और विचित्र कर्म किये—यह सब भी मुझसे सुनिये ॥ ५—७ ॥

अलम्बुषस्तु समरे अभिमन्युं महारथम् ।
विनद्य सुमहानादं तर्जयित्वा मुहुर्मुहुः ॥ ८ ॥
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

अलम्बुषने समरभूमिमें महारथी अभिमन्युको जोर-जोरसे गर्जना करके बारंबार डाँट बतायी और 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर बड़े वेगसे उसपर धावा किया ॥ ८½ ॥

अभिमन्युश्च वेगेन सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ९ ॥
आर्ष्यश्रृङ्गिं महेष्वासं पितुरत्यन्तवैरिणम् ।

इसी प्रकार वीर अभिमन्युने भी बारंबार सिंहनाद करते हुए अपने पितृव्य भीमसेनके अत्यन्त वैरी महाधनुर्धर अलम्बुषपर वेगसे आक्रमण किया ॥ ९½ ॥

ततः समीयतुः संख्ये त्वरितौ नरराक्षसौ ॥ १० ॥
रथाभ्यां रथिनौ श्रेष्ठौ यथा वै देवदानवौ ।

फिर तो वे मनुष्य तथा राक्षस दोनों वीर तुरंत ही युद्धस्थलमें एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे, अतः देवता और दानवकी भाँति रथोंद्वारा एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥ १०½ ॥

मायावी राक्षसश्रेष्ठो दिव्यास्त्रश्चैव फाल्गुनिः ॥ ११ ॥

राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष मायावी था और अर्जुनकुमार अभिमन्युको दिव्यास्त्रोंका ज्ञान था ॥ ११ ॥

ततः कार्ष्णिर्महाराज निशितैः सायकैस्त्रिभिः ।
आर्ष्यश्रृङ्गिं रणे विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीन तीखे सायकोंसे रणक्षेत्रमें अलम्बुषको बींधकर पुनः पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १२ ॥

अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः कार्ष्णिं नवभिराशुगैः ।
हृदि विव्याध वेगेन तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अलम्बुषने भी नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनपुत्र अभिमन्युकी छातीमें उसी प्रकार वेगपूर्वक प्रहार किया, जैसे अङ्कुशद्वारा गजराजपर प्रहार किया जाता है ॥ १३ ॥

ततः शरसहस्रेण क्षिप्रकारी निशाचरः ।
अर्जुनस्य सुतं संख्ये पीडयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक सारे कार्य करनेवाले निशाचरने एक हजार बाण मारकर युद्धस्थलमें अर्जुनके पुत्रको पीड़ित कर दिया ॥ १४ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः ।
बिभेद निशितैर्बाणै राक्षसेन्द्रं महोरसि ॥ १५ ॥

इससे क्रुद्ध होकर अभिमन्युने राक्षसराज अलम्बुषकी चौड़ी छातीमें झुकी हुई गाँठवाले नौ पैने बाण मारे ॥ १५ ॥

ते तस्य विविशुस्तूर्णं कायं निर्भिद्य मर्मसु ।
स तैर्विभिन्नसर्वाङ्गः शुशुभे राक्षसोत्तमः ॥ १६ ॥
पुष्पितैः किंशुकै राजन् संस्तीर्ण इव पर्वतः ।

वे बाण राक्षसके शरीरको विदीर्ण करके उसके मर्मस्थानोंमें धँस गये । राजन् ! उन बाणोंसे सम्पूर्ण अङ्गोंके क्षत-विक्षत हो जानेपर राक्षसराज अलम्बुष खिले हुए पलाशके वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतकी भाँति सुशोभित होने लगा ।१६½।

संधारयाणश्च शरान् हेमपुङ्खान् महाबलः ॥ १७ ॥
विबभौ राक्षसश्रेष्ठः सज्वाल इव पर्वतः ।

सुवर्णमय पंखसे युक्त उन बाणोंको अपने अङ्गोंमें धारण किये महाबली राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष अग्निकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ १७½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज आर्ष्यश्रृङ्गिरमर्षणः ॥ १८ ॥
महेन्द्रप्रतिमं कार्ष्णिं छादयामास पत्रिभिः ।

महाराज ! तब अमर्षशील अलम्बुषने कुपित होकर देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनकुमारको पंखवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १८½ ॥

तेन ते विशिखा मुक्ता यमदण्डोपमाः शिताः ॥ १९ ॥
अभिमन्युं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसके द्वारा छोड़े हुए यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे बाण अभिमन्युके शरीरको छेदकर धरतीमें समा गये ॥

तथैवार्जुनिना मुक्ताः शराः कनकभूषणाः ॥ २० ॥
अलम्बुषं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसी प्रकार अभिमन्युके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण भी अलम्बुषको विदीर्ण करके पृथ्वीमें समा गये ॥ २०½ ॥

सौभद्रस्तु रणे रक्षः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥
चक्रे विमुखमासाद्य मयं शक्र इवाहवे ।

जैसे इन्द्र युद्धस्थलमें मयासुरको विमुख कर देते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्युने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा मारकर उस राक्षसको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २१½ ॥

विमुखं च ततो रक्षो वध्यमानं रणेऽरिणा ॥ २२ ॥

प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापनाम् ।

फिर समराङ्गणमें शत्रुसे पीड़ित एवं विमुख हुए राक्षसने शत्रुओंको तपानेवाली अपनी (अन्धकारमयी) तामसी महामाया प्रकट की ॥ २२½ ॥

ततस्ते तमसा सर्वे वृताश्चासन् महीपते ॥ २३ ॥
नाभिमन्युमपश्यन्त नैव स्वान् न परान् रणे ।

महीपते ! तब वे समस्त पाण्डव सैनिक अन्धकारसे आच्छादित हो गये । अतः न तो रणक्षेत्रमें अभिमन्युको देख पाते थे और न अपने तथा शत्रुपक्षके सैनिकोंको ही ॥

अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः ॥ २४ ॥
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दनः ।
ततः प्रकाशमभवज्जगत् सर्वं महीपते ॥ २५ ॥

यह भयंकर एवं महान् अन्धकार देखकर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अभिमन्युने अत्यन्त उग्र भास्करास्त्रको प्रकट किया । राजन् ! इससे सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश छा गया॥

तां चाभिजघ्निवान् मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ।
संक्रुद्धश्च महावीर्यो राक्षसेन्द्रं नरोत्तमः ॥ २६ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

इस प्रकार महापराक्रमी नरश्रेष्ठ अभिमन्युने उस दुरात्मा राक्षसकी मायाको नष्ट कर दिया और अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे समरभूमिमें आच्छादित कर दिया ॥ २६½ ॥

बह्वीस्तथान्या मायाश्च प्रयुक्तास्तेन रक्षसा ॥ २७ ॥
सर्वास्त्रविदमेयात्मा वारयामास फाल्गुनिः ।

उस राक्षसने और भी बहुत-सी जिन-जिन मायाओंका प्रयोग किया, उन सबको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अभिमन्युने नष्ट कर दिया ॥ २७½ ॥

हतमायं ततो रक्षो वध्यमानं च सायकैः ॥ २८ ॥
रथं तत्रैव संत्यज्य प्राद्रवन्महतो भयात् ।

अपनी माया नष्ट हो जानेपर सायकोंकी मार खाता हुआ राक्षस अलम्बुष अत्यन्त भयके कारण अपने रथको वहीं छोड़कर भाग गया ॥ २८½ ॥

तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे ॥ २९ ॥
आर्जुनिः समरे सैन्यं तावकं सम्ममर्द ह ।
मदान्धो गन्धनागेन्द्रः सपद्मां पद्मिनीमिव ॥ ३० ॥

मायाद्वारा युद्ध करनेवाले उस राक्षसके पराजित हो जानेपर अर्जुनकुमार अभिमन्युने तुरंत ही रणक्षेत्रमें आपकी सेनाका उसी प्रकार मर्दन आरम्भ किया, जैसे गन्धयुक्त मदान्ध गजराज कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणीको मथ डालता है ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः सैन्यं दृष्ट्वाभिविद्रुतम् ।
महता शरवर्षेण सौभद्रं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको भागती हुई देख शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी भारी बाण-वर्षा करके सुभद्राकुमार अभिमन्युको रोक दिया ॥ ३१ ॥

कोष्ठीकृत्य च तं वीरं धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
एकं सुबहवो युद्धे ततक्षुः सायकैर्दृढम् ॥ ३२ ॥

फिर आपके महारथी पुत्रोंने वीर अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया और युद्धस्थलमें उस अकेलेको बहुत-से योद्धाओंने सायकोंद्वारा जोर-जोरसे घायल करना आरम्भ किया॥

स तेषां रथिनां वीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
सदृशो वासुदेवस्य विक्रमेण बलेन च ॥ ३३ ॥
उभयोः सदृशं कर्म स पितुर्मातुलस्य च ।
रणे बहुविधं चक्रे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वीर अभिमन्यु अपने पिता अर्जुनके समान पराक्रमी था । बल और विक्रममें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी समानता करता था । सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ उस वीरने रणक्षेत्रमें उन कौरव रथियोंके साथ अपने पिता और मामा दोनोंके सदृश अनेक प्रकारका शौर्यपूर्ण कार्य किया ॥ ३३-३४ ॥

ततो धनंजयो वीरो विनिघ्नंस्तव सैनिकान् ।
आससाद रणे भीष्मं पुत्रप्रेप्सुरमर्षणः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुन समराङ्गणमें आपके सैनिकोंका संहार करते हुए अपने पुत्रकी रक्षाके लिये अमर्षमें भरकर भीष्मके पास आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

तथैव समरे राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
आससाद रणे पार्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसे सूर्यपर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार आपके पितृव्य देवव्रत भीष्मने समरभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ततः सरथनागाश्वाः पुत्रास्तव जनेश्वर ।
परिवव्रू रणे भीष्मं जुगुपुश्च समन्ततः ॥ ३७ ॥

जनेश्वर ! उस समय आपके पुत्र रथ, हाथी, घोड़ोंकी सेना साथ लेकर युद्धस्थलमें भीष्मको घेरकर खड़े हो गये और सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवार्य धनंजयम् ।
रणाय महते युक्ता दंशिता भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! उसी प्रकार पाण्डव अर्जुनको सब ओरसे घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो महायुद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३८ ॥

शारद्वतस्ततो राजन् भीष्मस्य प्रमुखे स्थितम् ।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ॥ ३९ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके सामने खड़े हुए अर्जुनको कृपाचार्यने पचीस बाण मारे ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्गम्याथ विव्याध सात्यकिस्तं शितैः शरैः।
पाण्डवप्रियकामार्थं शार्दूल इव कुञ्जरम् ॥ ४० ॥

तब जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार सात्यकिने आगे बढ़कर पाण्डुनन्दन अर्जुनका प्रिय करनेके लिये कृपाचार्यको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥

गौतमोऽपि त्वरायुक्तो माधवं नवभिः शरैः।
हृदि विव्याध संक्रुद्धः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ४१ ॥

यह देख कृपाचार्यने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी उतावलीके साथ सात्यकिकी छातीमें कङ्कपत्रविभूषित नौ बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ ४१ ॥

शैनेयोऽपि ततः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान्।
गौतमान्तकरं तूर्णं समाधत्त शिलीमुखम् ॥ ४२ ॥

तब वेगशाली सात्यकिने भी क्रोधमें भरकर अपने धनुषको झुकाया और तुरंत ही उसपर कृपाचार्यका अन्त करनेवाला बाण रक्खा ॥ ४२ ॥

तमापतन्तं वेगेन शक्राशनिसमद्युतिम्।
द्विधा चिच्छेद संक्रुद्धो द्रौणिः परमकोपनः ॥ ४३ ॥

उस बाणका प्रकाश इन्द्रके वज्रके समान था। उसे वेगसे आते देख परम क्रोधी अश्वत्थामाने अत्यन्त कुपित हो उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ४३ ॥

समुत्सृज्याथ शैनेयो गौतमं रथिनां वरः।
अभ्यद्रवद् रणे द्रौणिं राहुः खे शशिनं यथा ॥ ४४ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने कृपाचार्यको छोड़कर जैसे आकाशमें राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अश्वत्थामापर धावा किया ॥ ४४ ॥

तस्य द्रोणसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद भारत।
अथैनं छिन्नधन्वानं ताडयामास सायकैः ॥ ४५ ॥

भारत ! उस द्रोणपुत्रने सात्यकिके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें सायकोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शत्रुघ्नं भारसाधनम्।
द्रौणिं षष्ट्या महाराज बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४६ ॥

महाराज ! तब सात्यकिने भार-साधनमें समर्थ एवं शत्रु-विनाशक दूसरा धनुष हाथमें लेकर साठ बाणोंद्वारा अश्वत्थामाकी भुजाओं तथा छातीको छेद डाला ॥ ४६ ॥

स विद्धो व्यथितश्चैव मुहूर्तं कश्मलायुतः।
निषसाद रथोपस्थे ध्वजयष्टिं समाश्रितः ॥ ४७ ॥

इससे अत्यन्त घायल और व्यथित होकर मूर्छित हो ध्वजका सहारा ले वह दो घड़ीतक रथके पिछले भागमें बैठा रहा ॥ ४७ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
वार्ष्णेयं समरे क्रुद्धो नाराचेन समार्पयत् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् प्रतापी द्रोणपुत्रने होशमें आकर कुपित हो समरभूमिमें सात्यकिको नाराचसे घायल कर दिया ॥ ४८ ॥

शैनेयं स तु निर्भिद्य प्राविशद् धरणीतलम्।
वसन्तकाले बलवान् बिलं सर्पशिशुर्यथा ॥ ४९ ॥

वह नाराच सात्यकिको छेदकर उसी प्रकार धरतीमें समा गया, जैसे वसन्त ऋतुमें बलवान् सर्प-शिशु बिलमें घुसता है ॥ ४९ ॥

अथापरेण भल्लेन माधवस्य ध्वजोत्तमम्।
चिच्छेद समरे द्रौणिः सिंहनादं मुमोच ह ॥ ५० ॥

इसके बाद दूसरे भल्लसे समरभूमिमें अश्वत्थामाने सात्यकिके उत्तम ध्वजको काट डाला और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५० ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैश्छादयामास भारत।
निदाघान्ते महाराज यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५१ ॥

भारत ! महाराज ! तदनन्तर जैसे वर्षा ऋतुमें बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने पुनः अपने भयंकर बाणोंद्वारा सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥

सात्यकोऽपि महाराज शरजालं निहत्य तत्।
द्रौणिमभ्यकिरत् तूर्णं शरजालैरनेकधा ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! उस समय सात्यकिने भी उस बाण-समूहको नष्ट करके तुरंत ही अश्वत्थामाके ऊपर अनेक प्रकारके बाणोंका जाल-सा बिछा दिया ॥ ५२ ॥

तापयामास च द्रौणिं शैनेयः परवीरहा।
विमुक्तो मेघजालेन यथैव तपनस्तथा ॥ ५३ ॥

फिर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले युयुधानने मेघोंकी घटासे मुक्त हुए सूर्यकी भाँति द्रोणपुत्रको संताप देना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

शराणां च सहस्रेण पुनरेव समुद्यतः।
सात्यकिश्छादयामास ननाद च महाबलः ॥ ५४ ॥

महाबली सात्यकिने पुनः एक हजार बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया और बड़े जोरसे गर्जना की॥

दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं राहुणेव निशाकरम्।
अभ्यद्रवत शैनेयं भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥

जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रस लेता है, उसी प्रकार सात्यकिके द्वारा अपने पुत्रपर ग्रहण लगा हुआ देख प्रतापी द्रोणाचार्यने उनके ऊपर धावा किया ॥ ५५ ॥

विव्याध च सुतीक्ष्णेन पृषत्केन महामृधे।
परीप्सन् स्वसुतं राजन् वार्ष्णेयेनाभिपीडितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! उस महायुद्धमें सात्यकिद्वारा पीड़ित हुए

अपने पुत्रकी रक्षा करनेके लिये आचार्यने तीखे बाणसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ५६ ॥

सात्यकिस्तु रणे हित्वा गुरुपुत्रं महारथम्।
द्रोणं विव्याध विंशत्या सर्वपारशवैः शरैः ॥ ५७ ॥

तब सात्यकिने रणक्षेत्रमें गुरुपुत्र महारथी अश्वत्थामाको छोड़कर पूर्णतः लोहेके बने हुए बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींध डाला ॥ ५७ ॥

तदन्तरममेयात्मा कौन्तेयः शत्रुतापनः।
अभ्यद्रवद् रणे क्रुद्धो द्रोणं प्रति महारथः ॥ ५८ ॥

इसी समय शत्रुओंको संताप देनेवाले अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धस्थलमें कुपित हो द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ॥ ५८ ॥

ततो द्रोणश्च पार्थश्च समेयातां महामृधे।
यथा बुधश्च शुक्रश्च महाराज नभस्तले ॥ ५९ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्य और अर्जुन उस महासमरमें एक दूसरेसे भिड़ गये, मानो आकाशमें बुध और शुक्र एक दूसरेपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युयुद्धे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका युद्धविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ १०१

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सुशर्माके साथ अर्जुनका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाण्डवश्च धनंजयः।
समीयतू रणे यत्तौ तावुभौ पुरुषर्षभौ ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! महाधनुर्धर द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुन—इन दोनों पुरुषसिंहोंने रणक्षेत्रमें किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेका सामना किया ? ॥ १ ॥

प्रियो हि पाण्डवो नित्यं भारद्वाजस्य धीमतः।
आचार्यश्च रणे नित्यं प्रियः पार्थस्य संजय ॥ २ ॥

सूत ! युद्धस्थलमें बुद्धिमान् द्रोणाचार्यको पाण्डुपुत्र अर्जुन सदा ही प्रिय लगते हैं और अर्जुनको भी आचार्य रणक्षेत्रमें सदा ही प्रिय रहे हैं ॥ २ ॥

तावुभौ रथिनौ संख्ये हृष्टौ सिंहाविवोत्कटौ।
कथं समीयतुर्यत्तौ भारद्वाजधनंजयौ ॥ ३ ॥

उस दिन संग्रामभूमिमें दो प्रचण्ड सिंहोंकी भाँति हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वे दोनों रथी द्रोणाचार्य और धनंजय किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेसे युद्ध करते थे ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

न द्रोणः समरे पार्थं जानीते प्रियमात्मनः।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य पार्थो वा गुरुमाहवे ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! समरभूमिमें द्रोणाचार्य अर्जुनको अपना प्रिय नहीं समझते हैं और अर्जुन भी क्षत्रियधर्मको आगे रखकर युद्धस्थलमें गुरुको अपना प्रिय नहीं मानते हैं ॥ ४ ॥

न क्षत्रिया रणे राजन् वर्जयन्ति परस्परम्।
निर्मर्यादं हि युध्यन्ते पितृभिर्भ्रातृभिः सह ॥ ५ ॥

राजन् ! क्षत्रियलोग रणक्षेत्रमें आपसमें किसीको नहीं छोड़ते हैं । वे पिता और भाइयोंके साथ भी मर्यादा[1]-शून्य होकर युद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

रणे भारत पार्थेन द्रोणो विद्धस्त्रिभिः शरैः।
नाचिन्तयच्च तान् बाणान् पार्थचापच्युतान् युधि ॥ ६ ॥

भारत ! उस रणक्षेत्रमें अर्जुनने द्रोणाचार्यको तीन बाणोंसे घायल किया; परंतु अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने कुछ भी नहीं समझा ॥

शरवृष्ट्या पुनः पार्थश्छादयामास तं रणे।
स प्रजज्वाल रोषेण गहनेऽग्निरिवोर्जितः ॥ ७ ॥

तब अर्जुनने समरभूमिमें अपने बाणोंकी वर्षासे पुनः द्रोणाचार्यको ढक दिया । यह देख वे रोषसे जल उठे, मानो वनमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो ॥ ७ ॥

ततोऽर्जुनं रणे द्रोणः शरैः संनतपर्वभिः।
छादयामास राजेन्द्र नचिरादेव भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! तब द्रोणाचार्यने युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अर्जुनको शीघ्र ही आच्छादित कर दिया ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत्।
द्रोणस्य समरे राजन् पार्ष्णिग्रहणकारणात् ॥ ९ ॥

राजन् ! तब राजा दुर्योधनने सुशर्माको समरभूमिमें द्रोणाचार्यके पृष्ठभागकी रक्षाके लिये प्रेरित किया ॥ ९ ॥

त्रिगर्तराडपि क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम्।
छादयामास समरे पार्थं बाणैरयोमुखैः ॥ १० ॥

उसकी आज्ञा पाकर त्रिगर्तराज सुशर्माने भी समरमें

---

१. यहाँपर 'मर्यादा' शब्द सम्बन्धकी मर्यादाके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

क्रोधपूर्वक धनुषको अत्यन्त खींचकर लोहमुख बाणोंके द्वारा अर्जुनको ढक दिया ॥ १० ॥

ताभ्यां मुक्ताः शरा राजन्नन्तरिक्षे विरेजिरे ।
हंसा इव महाराज शरत्काले नभस्तले ॥ ११ ॥

महाराज ! जैसे शरद् ऋतुके आकाशमें हंस उड़ते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंके छोड़े हुए बाण आकाशमें सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शराः प्राप्य कौन्तेयं समन्ताद् विविशुः प्रभो ।
फलभारनतं यद्वत् स्वादुवृक्षं विहङ्गमाः ॥ १२ ॥

प्रभो ! वे बाण सब ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुनके ऊपर पड़कर उनके शरीरमें धँसने लगे, मानो फलोंके भारसे झुके स्वादिष्ट वृक्षपर चारों ओरसे पक्षी टूटे पड़ते हों ॥ १२ ॥

अर्जुनस्तु रणे नादं विनद्य रथिनां वरः ।
त्रिगर्तराजं समरे सपुत्रं विव्यधे शरैः ॥ १३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने सिंहनाद करके समराङ्गणमें पुत्रसहित त्रिगर्तराज सुशर्माको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
पार्थमेवाभ्यवर्तन्त मरणे कृतनिश्चयाः ॥ १४ ॥

जैसे प्रलयकालमें साक्षात् काल सबको मार डालता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मार खाकर त्रिगर्तदेशीय सैनिक मरनेका निश्चय करके पुनः उन्हींपर टूट पड़े ॥ १४ ॥

मुमुचुः शरवृष्टिं च पाण्डवस्य रथं प्रति ।
शरवृष्टिं ततस्तां तु शरवर्षैः समन्ततः ॥ १५ ॥
प्रतिजग्राह राजेन्द्र तोयवृष्टिमिवाचलः ।

उन्होंने पाण्डुनन्दन अर्जुनके रथपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी । राजेन्द्र ! अर्जुनने सब ओरसे होनेवाली उस बाण-वर्षाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे पर्वत जलकी वर्षाको धारण करता है ॥ १५½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम बीभत्सोर्हस्तलाघवम् ॥ १६ ॥
विमुक्तां बहुभिर्योधैः शस्त्रवृष्टिं दुरासदाम् ।
यदेको वारयामास मारुतोऽभ्रगणानिव ॥ १७ ॥

उस युद्धमें हमने अर्जुनके हाथोंकी अद्भुत फुर्ती देखी, जैसे हवा बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार बहुत-से योद्धाओंद्वारा की हुई उस दुःसह बाण-वर्षाका उन्होंने अकेले ही निवारण कर दिया ॥ १६-१७ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य तुतुषुर्देवदानवाः ।
अथ क्रुद्धो रणे पार्थस्त्रिगर्तान् प्रति भारत ॥ १८ ॥
मुमोचास्त्रं महाराज वायव्यं पृतनामुखे ।
प्रादुरासीत् ततो वायुः क्षोभयाणो नभस्तलम् ॥ १९ ॥
पातयन् वै तरुगणान् विनिघ्नंश्चैव सैनिकान् ।

महाराज ! अर्जुनके उस पराक्रमसे देवता और दानव सभी संतुष्ट हुए । भारत ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने युद्धके मुहानेपर त्रिगर्त-सेनाओंको लक्ष्य करके वायव्यास्त्रका प्रयोग किया; फिर तो आकाशको विक्षुब्ध कर देनेवाली वायु प्रकट हुई, जो वृक्षोंको गिराने और सैनिकोंको नष्ट करने लगी ॥ १८-१९½ ॥

ततो द्रोणोऽभिवीक्ष्यैव वायव्यास्त्रं सुदारुणम् ॥ २० ॥
शैलमन्यन्महाराज घोरमस्त्रं मुमोच ह ।

महाराज ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अत्यन्त भयंकर वायव्यास्त्रको देखकर उसका निवारण करनेके लिये भयानक पर्वतास्त्रका प्रयोग किया ॥ २०½ ॥

द्रोणेन युधि निर्मुक्ते तस्मिन्नस्त्रे नराधिप ॥ २१ ॥
प्रशशाम ततो वायुः प्रसन्नाश्च दिशो दश ।

नरेश्वर ! द्रोणाचार्यके द्वारा युद्धमें पर्वतास्त्रका प्रयोग होनेपर वायु शान्त और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥

ततः पाण्डुसुतो वीरस्त्रिगर्तस्य रथव्रजान् ॥ २२ ॥
निरुत्साहान् रणे चक्रे विमुखान् विपराक्रमान् ।

तब वीरवर पाण्डुपुत्र अर्जुनने त्रिगर्तराजके रथसमूहोंको उत्साहरहित एवं पराक्रमशून्य करके उन्हें युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २२½ ॥

ततो दुर्योधनश्चैव कृपश्च रथिनां वरः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा तथा शल्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लिकः सह बाह्लिकैः ॥ २४ ॥
महता रथवंशेन पार्थस्यावारयन् दिशः ।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा, शल्य, काम्बोजराज सुदक्षिण, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ राजा बाह्लीक इन सबने रथियोंकी विशाल सेना साथ लेकर उसके द्वारा पार्थकी सम्पूर्ण दिशाओंको अर्थात् उनके सभी मार्गोंको रोक दिया ॥

तथैव भगदत्तश्च श्रुतायुश्च महाबलः ॥ २५ ॥
गजानीकेन भीमस्य ताववारयतां दिशः ।

उसी प्रकार भगदत्त तथा महाबली श्रुतायुने हाथियोंकी सेनाद्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ॥ २५½ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव सौबलश्च विशाम्पते ॥ २६ ॥
शरौघैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्माद्रीपुत्राववारयन् ।

प्रजानाथ ! भूरिश्रवा, शल और शकुनिने तीखे और चमकीले बाण-समूहोंकी वर्षा करके माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको रोका ॥ २६½ ॥

भीष्मस्तु संहतः संख्ये धार्तराष्ट्रैः ससैनिकैः ॥ २७ ॥
युधिष्ठिरं समासाद्य सर्वतः पर्यवारयत् ।

भीष्मने सैनिकोंसहित आपके पुत्रोंके साथ संगठित होकर युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ २७½ ॥

आपतन्तं गजानीकं दृष्ट्वा पार्थो वृकोदरः ॥ २८ ॥
लेलिहन् सृक्किणी वीरो मृगराडिव कानने ।

हाथियोंकी सेनाको आते देख वीर कुन्तीकुमार भीमसेन जैसे वनमें सिंह अपने जबड़ोंको चाटता है, उसी प्रकार मुँहके दोनों कोनोंको चाटने लगे ॥ २८½ ॥

भीमस्तु रथिनां श्रेष्ठो गदां गृह्य महाहवे ॥ २९ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तव सैन्यान्यभीषयत् ।

तत्पश्चात् उस महासमरमें रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन गदा लेकर तुरंत रथसे कूद पड़े और आपकी सेनाओंको भयभीत करने लगे ॥ २९½ ॥

तमुद्वीक्ष्य गदाहस्तं ततस्ते गजसादिनः ॥ ३० ॥
परिवव्रू रणे यत्ता भीमसेनं समन्ततः ।

गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको देखकर उन गजारोही सैनिकोंने उन्हें यत्नपूर्वक चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३०½ ॥

गजमध्यमनुप्राप्तः पाण्डवः स व्यराजत ॥ ३१ ॥
मेघजालस्य महतो यथा मध्यगतो रविः ।

उस गजसेनाके बीचमें पड़े हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन महान् मेघ-समूहके मध्यमें स्थित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ३१½ ॥

व्यधमत् स गजानीकं गदया पाण्डवर्षभः ॥ ३२ ॥
महाभ्रजालमतुलं मातरिश्वेव संततम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेनने अपनी गदाकी चोटसे सारी गज-सेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु महान् मेघोंकी सब ओर फैली हुई अनुपम घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥

ते वध्यमाना बलिना भीमसेनेन दन्तिनः ॥ ३३ ॥
आर्तनादं रणे चक्रुर्गर्जन्तो जलदा इव ।

महाबली भीमसेनकी गदासे आहत हुए दन्तार हाथी युद्ध-स्थलमें गरजते हुए मेघोंके समान आर्तनाद करने लगे ॥

बहुधा दारितश्चैव विषाणैस्तत्र दन्तिभिः ॥ ३४ ॥
फुल्लाशोकनिभः पार्थः शुशुभे रणमूर्धनि ।

हाथियोंके दाँतोंसे अनेक बार विदीर्ण हुए भीमसेन युद्धके मुहानेपर खिले हुए अशोकके समान शोभा पा रहे थे ॥

विषाणे दन्तिनं गृह्य निर्विषाणमथाकरोत् ॥ ३५ ॥
विषाणेन च तेनैव कुम्भेऽभ्याहत्य दन्तिनम् ।
पातयामास समरे दण्डहस्त इवान्तकः ॥ ३६ ॥

उन्होंने किसी दन्तार हाथीका दाँत पकड़कर उखाड़ लिया और उस हाथीको दन्तहीन बना दिया। फिर उसी दाँतके द्वारा उसके कुम्भस्थलमें प्रहार करके दण्डधारी यमराज-की भाँति समराङ्गणमें उसे मार गिराया ॥ ३५-३६ ॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रन्मेदोमज्जाकृतच्छविः ।
कृताभ्यङ्गः शोणितेन रुद्रवत् प्रत्यदृश्यत ॥ ३७ ॥

खूनसे रँगी हुई गदा लेकर मेदा और मज्जाके लेपसे अपनी शोभा बिगाड़कर रक्तका उबटन लगाये हुए भीमसेन भगवान् रुद्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ३७ ॥

एवं ते वध्यमानाश्च हतशेषा महागजाः ।
प्राद्रवन्त दिशो राजन् विमृद्नन्तः स्वकं बलम् ॥ ३८ ॥

राजन्! इस प्रकार भीमसेनकी मार खाकर मरनेसे बचे हुए महान् गज अपनी ही सेनाको रौंदते हुए सम्पूर्ण दिशाओं-में भागने लगे ॥ ३८ ॥

द्रवद्भिस्तैर्महानागैः समन्ताद् भरतर्षभ ।
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ! सब ओर भागते हुए उन महान् गजराजोंके साथ ही दुर्योधनकी सारी सेना युद्धभूमिसे विमुख हो चली ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमपराक्रमविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और रक्तमयी रणनदीका वर्णन

संजय उवाच

मध्यन्दिने महाराज संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो रौद्रो भीष्मस्य सह सोमकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! दोपहर होते-होते भीष्म-का सोमकोंके साथ लोकविनाशक भयंकर संग्राम होने लगा॥

गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
व्यधमन्निशितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको नष्ट करना आरम्भ किया ॥ २ ॥

सम्ममर्द च तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा इव ॥ ३ ॥

राजन् ! जैसे बैलोंके समुदाय कटे हुए धानके बोझोंका मर्दन करते हैं, उसी प्रकार आपके ताऊ देवव्रतने उस सेनाको रौंद डाला ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च विराटो द्रुपदस्तथा।
भीष्ममासाद्य समरे शरैर्जघ्नुर्महारथम् ॥ ४ ॥

तब धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, विराट और द्रुपदने समरभूमिमें महारथी भीष्मके पास पहुँचकर उन्हें बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा विराटं च शरैस्त्रिभिः।
द्रुपदस्य च नाराचं प्रेषयामास भारत ॥ ५ ॥

भारत ! तदनन्तर भीष्मने विराट और धृष्टद्युम्नको तीन बाणोंसे घायल करके द्रुपदपर नाराचका प्रहार किया ॥ ५ ॥

तेन विद्धा महेष्वासा भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
चुक्रुधुः समरे राजन् पादस्पृष्टा इवोरगाः॥ ६ ॥

राजन् ! शत्रुसूदन भीष्मके द्वारा घायल हुए वे महाधनुर्धर वीर पैरोंसे कुचले हुए सर्पोंकी भाँति समराङ्गणमें अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ६ ॥

शिखण्डी तं च विव्याध भरतानां पितामहम्।
स्त्रीमयं मनसा ध्यात्वा नास्मै प्राहरदच्युतः॥ ७ ॥

शिखण्डीने भरतवंशियोंके पितामह भीष्मको बींध डाला; परंतु मन-ही-मन उसे स्त्रीरूप मानकर अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले भीष्मने उसपर प्रहार नहीं किया ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे क्रोधेनाग्निरिव ज्वलन्।
पितामहं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ८ ॥

धृष्टद्युम्न रणक्षेत्रमें क्रोधसे अग्निकी भाँति जल उठे। उन्होंने तीन बाणोंसे पितामह भीष्मको उनकी छाती और भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ८ ॥

द्रुपदः पञ्चविंशत्या विराटो दशभिः शरैः।
शिखण्डी पञ्चविंशत्या भीष्मं विव्याध सायकैः॥ ९ ॥

द्रुपदने पचीस, विराटने दस और शिखण्डीने पचीस सायकोंद्वारा भीष्मको घायल कर दिया ॥ ९ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज शोणितौघपरिप्लुतः।
वसन्ते पुष्पशबलो रक्ताशोक इवाबभौ ॥ १० ॥

महाराज ! उनके सायकोंसे अत्यन्त घायल होनेके कारण वे रक्तप्रवाहसे नहा उठे और वसन्त ऋतुमें पुष्पोंसे भरे हुए रक्ताशोककी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १० ॥

तान् प्रत्यविध्यद् गाङ्गेयस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
द्रुपदस्य च भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ११ ॥

आर्य ! उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने उन सबको तीन-तीन सीधे जानेवाले बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्लके द्वारा द्रुपदका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मं विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैः सुशितै रणमूर्धनि ॥ १२ ॥

तब उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर युद्धके मुहानेपर पाँच तीखे बाणोंद्वारा भीष्मको और तीन बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ १२ ॥

तथा भीमो महाराज द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
केकया भ्रातरः पञ्च सात्यकिश्चैव सात्वतः ॥ १३ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं युधिष्ठिरपुरोगमाः।
रिरक्षिषन्तः पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ १४ ॥

महाराज ! भीम, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाँचों भाई केकयराजकुमार, सात्वतवंशी सात्यकि, युधिष्ठिर आदि पाण्डव-सैनिक तथा धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चाल सैनिक द्रुपदकी रक्षाके लिये गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ १३-१४ ॥

तथैव तावकाः सर्वे भीष्मरक्षार्थमुद्यताः।
प्रत्युद्ययुः पाण्डुसेनां सहसैन्या नराधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक भीष्मकी रक्षाके लिये सेनासहित उद्यत हो पाण्डवसेनापर चढ़ आये ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तव तेषां च संकुलम्।
नराश्वरथनागानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १६ ॥

तब वहाँ उन सबके पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवारोंमें अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १६ ॥

रथी रथिनमासाद्य प्राहिणोद् यमसादनम्।
तथेतरान् समासाद्य नरनागाश्वसादिनः ॥ १७ ॥

रथीने रथीका सामना करके उसे यमलोक पहुँचा दिया। पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारोंने भी एक दूसरेसे भिड़कर ऐसा ही किया ॥ १७ ॥

अनयन् परलोकाय शरैः संनतपर्वभिः।
शरैश्च विविधैर्घोरैस्तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ सब योद्धा झुकी हुई गाँठवाले नाना प्रकारके भयंकर बाणोंद्वारा अपने विपक्षियोंको परलोकके अतिथि बनाने लगे ॥ १८ ॥

रथास्तु रथिभिर्हीना हतसारथयस्तथा।
विप्रद्रुताश्वाः समरे दिशो जग्मुः समन्ततः ॥ १९ ॥

कितने ही रथ रथियों और सारथियोंसे शून्य हो भागते हुए घोड़ोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे ॥

मृद्नन्तस्ते नरान् राजन् हयांश्च सुबहून् रणे।
वातायमाना दृश्यन्ते गन्धर्वनगरोपमाः ॥ २० ॥

राजन् ! वे रथ उस रणक्षेत्रमें आपके बहुत-से पैदल

मनुष्यों तथा घोड़ोंको कुचलते हुए हवाके समान तीव्र गतिसे भाग रहे थे और गन्धर्वनगरके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथैर्हीना वर्मिणस्तेजसा युताः ।
कुण्डलोष्णीषिणः सर्वे निष्काङ्गदविभूषणाः ॥ २१ ॥
देवपुत्रसमाः सर्वे शौर्ये शक्रसमा युधि ।
ऋद्ध्या वैश्रवणं चाति नयेन च बृहस्पतिम् ॥ २२ ॥
सर्वलोकेश्वराः शूरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।
विप्रद्रुता व्यदृश्यन्त प्राकृता इव मानवाः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! कितने ही रथी रथोंसे हीन हो गये थे । वे कवच, कुण्डल और पगड़ी धारण किये बड़े तेजस्वी दिखायी देते थे । उन सबने कण्ठमें स्वर्णमय पदक और भुजाओंमें बाजूबंद धारण कर रक्खे थे । वे देखनेमें देवकुमारोंके समान सुन्दर और युद्धमें इन्द्रके समान शौर्यसम्पन्न थे । वे समृद्धिमें कुबेर और नीतिज्ञतामें बृहस्पतिजीसे भी बढ़कर थे । ऐसे सर्वलोकेश्वर शूरवीर भी रथहीन हो गँवार मनुष्योंकी भाँति जहाँ-तहाँ भागते दिखायी देते थे ॥ २१—२३ ॥

दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ हीनाः परमसादिभिः ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि निपेतुः सर्वशब्दगाः ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ ! कितने ही दन्तार हाथी अपने श्रेष्ठ सवारोंसे रहित हो अपनी ही सेनाको कुचलते हुए प्रत्येक शब्दके पीछे दौड़ते थे ॥ २४ ॥

चर्मभिश्चामरैश्चित्रैः पताकाभिश्च मारिष ।
छत्रैः सितैर्हेमदण्डैश्चामरैश्च समन्ततः ॥ २५ ॥
विशीर्णैर्विप्रधावन्तो दृश्यन्ते स्म दिशो दश ।
नवमेघप्रतीकाशा जलदोपमनिःस्वनाः ॥ २६ ॥

माननीय महाराज ! ढाल, विचित्र चँवर, पताका, श्वेत छत्र, सुवर्णदण्डभूषित चामर—ये चारों ओर बिखरे पड़े थे और (इन्हींके ऊपरसे) नूतन मेघोंकी घटाके सदृश हाथी मेघों-के समान भयंकर गर्जना करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २५-२६ ॥

तथैव दन्तिभिर्हीना गजारोहा विशाम्पते ।
प्रधावन्तोऽन्वदृश्यन्त तव तेषां च संकुले ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार हाथियोंसे रहित हाथीसवार भी आपके और पाण्डवोंके भयानक युद्धमें इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २७ ॥

नानादेशसमुत्थांश्च तुरगान् हेमभूषितान् ।
वातायमानानद्राक्षं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २८ ॥

अनेक देशोंमें उत्पन्न, सुवर्णभूषित और वायुके समान वेगशाली सैकड़ों और हजारों घोड़ोंको हमने रणभूमिसे भागते देखा है ॥ २८ ॥

अश्वारोहान् हतैरश्वैर्गृहीतासीन् समन्ततः ।
द्रवमाणानपश्याम द्राव्यमाणांश्च संयुगे ॥ २९ ॥

हमने युद्धमें बहुत-से घुड़सवारोंको देखा, जो घोड़ोंके मारे जानेपर हाथमें तलवार लिये सब ओर भागते और शत्रुओंद्वारा खदेड़े जाते थे ॥ २९ ॥

गजो गजं समासाद्य द्रवमाणं महाहवे ।
ययौ प्रमृद्य तरसा पादातान् वाजिनस्तथा ॥ ३० ॥

उस महायुद्धमें एक हाथी भागते हुए दूसरे हाथीके पास पहुँचकर अपने वेगसे बहुतेरे पैदल सिपाहियों तथा घोड़ोंको कुचलता हुआ उसका अनुसरण करता था ॥३०॥

तथैव च रथान् राजन् प्रममर्द रणे गजः ।
रथाश्चैव समासाद्य पतितांस्तुरगान् भुवि ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें एक हाथी बहुत-से रथोंको रौंद डालता था और रथ पृथ्वीपर पड़े हुए घोड़ोंको कुचलकर भागते जाते थे ॥ ३१ ॥

व्यमृद्नन् समरे राजंस्तुरगाश्च नरान् रणे ।
एवं ते बहुधा राजन् प्रत्यमृद्नन् परस्परम् ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! समराङ्गणमें बहुत-से घोड़ोंने पैदल मनुष्योंको कुचल दिया । राजन् ! इस प्रकार वे सैनिक अनेक बार एक दूसरेको कुचलते रहे ॥ ३२ ॥

तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे वर्तमाने महाभये ।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितान्त्रतरङ्गिणी ॥ ३३ ॥

उस महाभयंकर घोर युद्धमें रक्त, आँत और तरंगोंसे युक्त एक भयानक नदी बह चली ॥ ३३ ॥

अस्थिसंघातसम्बाधा केशशैवलशाद्वला ।
रथह्रदा शरावर्ता हयमीना दुरासदा ॥ ३४ ॥

वह हड्डियोंके समूहरूपी शिलाखण्डोंसे भरी थी । केश ही उसमें सेवार और घासके समान जान पड़ते थे । रथ कुण्ड और बाण भँवरके समान प्रतीत होते थे । घोड़े ही उस दुर्गम नदीके मत्स्य थे ॥ ३४ ॥

शीर्षोपलसमाकीर्णा हस्तिग्राहसमाकुला ।
कवचोष्णीषफेनौघा धनुर्वेगासिकच्छपा ॥ ३५ ॥

कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान बिखरे थे । हाथी ही उसमें विशाल ग्राहके समान जान पड़ते थे, कवच और पगड़ी फेनराशिके समान थे, धनुष ही उसका वेगयुक्त प्रवाह और खड्ग ही वहाँ कच्छपके समान प्रतीत होते थे ॥ ३५ ॥

पताकाध्वजवृक्षाढ्या मर्त्यकूलापहारिणी ।
क्रव्यादहंससंकीर्णा यमराष्ट्रविवर्धनी ॥ ३६ ॥

पताका और ध्वजाएँ किनारेके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं । मनुष्योंकी लाशें ही उसके कगारें थीं, जिन्हें वह अपने वेगसे तोड़-तोड़कर बहा रही थी । मांसाहारी पक्षी ही उसके आस-पास हंसोंके समान भरे हुए थे । वह नदी यमके राज्यको बढ़ा रही थी ॥ ३६ ॥

तां नदीं क्षत्रियाः शूरा रथनागहयप्लवैः ।
प्रतेरुर्बहवो राजन् भयं त्यक्त्वा महारथाः ॥ ३७ ॥

राजन्! बहुत-से शूरवीर महारथी क्षत्रिय नौकाके समान घोड़े, रथ, हाथी आदिपर चढ़कर भयसे रहित हो उस नदीके पार जा रहे थे ॥ ३७ ॥

अपोवाह रणे भीरून् कश्मलेनाभिसंवृतान् ।
यथा वैतरणी प्रेतान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ३८ ॥

जैसे वैतरणी नदी मरे हुए प्राणियोंको प्रेतराजके नगरमें पहुँचाती है, उसी प्रकार वह रक्तमयी नदी डरपोक और कायरोंको मूर्छित-से करके रणभूमिसे दूर हटाने लगी ॥ ३८ ॥

प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र दृष्ट्वा तद् वैशसं महत् ।
दुर्योधनापराधेन गच्छन्ति क्षत्रियाः क्षयम् ॥ ३९ ॥

वहाँ खड़े हुए क्षत्रिय वह अत्यन्त भयंकर मारकाट देखकर यह पुकार-पुकारकर कह रहे थे कि दुर्योधनके अपराधसे ही सारे क्षत्रिय विनाशको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ३९ ॥

गुणवत्सु कथं द्वेषं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
कृतवान् पाण्डुपुत्रेषु पापात्मा लोभमोहितः ॥ ४० ॥

पापात्मा राजा धृतराष्ट्रने लोभसे मोहित होकर गुणवान् पाण्डवोंसे द्वेष क्यों किया? ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचः श्रूयन्ते स्म परस्परम् ।
पाण्डवस्तवसंयुक्ताः पुत्राणां ते सुदारुणाः ॥ ४१ ॥

महाराज! इस प्रकार वहाँ परस्पर कही हुई पाण्डवोंकी प्रशंसा तथा आपके पुत्रोंकी अत्यन्त भयंकर निन्दासे युक्त नाना प्रकारकी बातें सुनायी पड़ती थीं ॥ ४१ ॥

ता निशम्य ततो वाचः सर्वयोधैरुदाहृताः ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ४२ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं चैव शल्यं चोवाच भारत ।
युध्यध्वमनहंकाराः किं चिरं कुरुथेति च ॥ ४३ ॥

भारत! तब सम्पूर्ण योद्धाओंके मुखसे निकली हुई उन बातोंको सुनकर सम्पूर्ण लोकोंका अपराध करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे कहा—'आपलोग अहंकार छोड़कर युद्ध करें; विलम्ब क्यों कर रहे हैं?' ॥ ४२-४३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
अक्षद्यूतकृतं राजन् सुघोरं वैशसं तदा ॥ ४४ ॥

राजन्! तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवोंके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा, जो कपटपूर्ण द्यूतके कारण सम्भव हुआ था और जिसमें बड़ी भारी मारकाट मच रही थी ॥

यत् पुरा न निगृह्णासि वार्यमाणो महात्मभिः ।
वैचित्रवीर्य तस्येदं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ४५ ॥

विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र! पूर्वकालमें महात्मा पुरुषोंके मना करनेपर भी जो आपने उनकी बातें नहीं मानीं, उसीका यह भयंकर फल प्राप्त हुआ है, इसे देखिये ॥ ४५ ॥

न हि पाण्डुसुता राजन् ससैन्याः सपदानुगाः ।
रक्षन्ति समरे प्राणान् कौरवा वापि संयुगे ॥ ४६ ॥

राजन्! सेना और सेवकोंसहित पाण्डव अथवा कौरव समरभूमिमें अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं करते हैं—प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

एतस्मात् कारणाद् घोरो वर्तते स्वजनक्षयः ।
दैवाद् वा पुरुषव्याघ्र तव चापनयान्नृप ॥ ४७ ॥

पुरुषसिंह! नरेश्वर! इस कारणसे अथवा दैवकी प्रेरणासे या आपके ही अन्यायसे होनेवाले इस युद्धमें स्वजनोंका घोर संहार हो रहा है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घमासान युद्धविषयक एक सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय, कौरव-पाण्डव सैनिकोंका घोर युद्ध, अभिमन्युसे चित्रसेनकी, द्रोणसे द्रुपदकी और भीमसेनसे बाह्लीककी पराजय तथा सात्यकि और भीष्मका युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तान् नरव्याघ्रः सुशर्मानुचरान् नृपान् ।
अनयत् प्रेतराजस्य सदनं सायकैः शितैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! पुरुषसिंह अर्जुन अपने तीखे बाणोंसे सुशर्माके अनुगामी नरेशोंको यमलोक भेजने लगे ॥ १ ॥

सुशर्मापि ततो बाणैः पार्थं विव्याध संयुगे ।
वासुदेवं च सप्तत्या पार्थं च नवभिः पुनः ॥ २ ॥

तब सुशर्माने भी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल कर दिया। फिर उसने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सत्तर और अर्जुनको नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तं निवार्य शरौघेण शक्रसूनुर्महारथः ।

सुशर्मणो रणे योद्धान् प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ३ ॥

यह देख इन्द्रपुत्र महारथी अर्जुनने अपने बाणसमूहोंके द्वारा सुशर्माको रोककर रणक्षेत्रमें उसके योद्धाओंको यमलोक पहुँचाना आरम्भ किया ॥ ३ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
व्यद्रवन्त रणे राजन् भये जाते महारथाः ॥ ४ ॥

राजन् ! जैसे युगान्तमें साक्षात् कालके द्वारा सारी प्रजा मारी जाती है, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए सारे महारथी युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ॥ ४ ॥

उत्सृज्य तुरगान् केचिद् रथान् केचिच्च मारिष ।
गजानन्ये समुत्सृज्य प्राद्रवन्त दिशो दश ॥ ५ ॥

आर्य ! कुछ लोग घोड़ोंको, कुछ दूसरे लोग रथोंको और इसी प्रकार कुछ लोग हाथियोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५ ॥

अपरे तु तदाऽऽदाय वाजिनागरथान् रणे ।
त्वरया परया युक्ताः प्राद्रवन्त विशाम्पते ॥ ६ ॥
पादाताश्चापि शस्त्राणि समुत्सृज्य महारणे ।
निरपेक्षा व्यधावन्त तेन तेन स्म भारत ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! दूसरे लोग उस समय बड़ी उतावलीके साथ अपने हाथी, घोड़े एवं रथको साथ ले रणभूमिसे भाग निकले । भारत ! उस महायुद्धमें पैदल सिपाही भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको फेंककर उनकी कोई अपेक्षा न रखकर जिधरसे राह मिली, उधरसे ही भागने लगे ॥ ६-७ ॥

वार्यमाणाः सुबहुशस्त्रैगर्तेन सुशर्मणा ।
तथान्यैः पार्थिवश्रेष्ठैर्न व्यतिष्ठन्त संयुगे ॥ ८ ॥

यद्यपि त्रिगर्तराज सुशर्मा तथा अन्य श्रेष्ठ नरेशोंने भी बारंबार रोकनेका प्रयत्न किया, तथापि वे सैनिक युद्धमें ठहर न सके ॥ ८ ॥

तद् बलं प्रद्रुतं दृष्ट्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं सर्वसैन्यपुरस्कृतः ॥ ९ ॥
सर्वोद्योगेन महता धनंजयमुपाद्रवत् ।
त्रिगर्ताधिपतेरर्थे जीवितस्य विशाम्पते ॥ १० ॥

उस सेनाको भागती देख आपके पुत्र दुर्योधनने रणभूमिमें भीष्मको आगे करके सम्पूर्ण सेनाओंके साथ महान् प्रयत्नपूर्वक धनंजयपर धावा किया । प्रजानाथ ! उसके आक्रमणका उद्देश्य था त्रिगर्तराजके जीवनकी रक्षा ॥ ९-१० ॥

स एकः समरे तस्थौ किरन् बहुविधाञ्शरान् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः शेषा हि प्रद्रुता नराः ॥ ११ ॥

केवल दुर्योधन ही अपने समस्त भाइयोंके साथ नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करता हुआ समरभूमिमें खड़ा रहा । शेष सब मनुष्य भाग गये ॥ ११ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सर्वोद्योगेन दंशिताः ।
प्रययुः फाल्गुनार्थाय यत्र भीष्मो व्यतिष्ठत ॥ १२ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डव भी कवच बाँधकर सम्पूर्ण उद्योगके साथ अर्जुनकी रक्षाके लिये उसी स्थानपर गये, जहाँ भीष्म स्थित थे ॥ १२ ॥

ज्ञायमाना रणे वीर्यं घोरं गाण्डीवधन्वनः ।
हाहाकारकृतोत्साहा भीष्मं जग्मुः समन्ततः ॥ १३ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके भयंकर पराक्रमको जाननेके कारण वे लोग उत्साहके साथ कोलाहल और सिंहनाद करते हुए सब ओरसे भीष्मपर आक्रमण करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तालध्वजः शूरः पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १४ ॥

तदनन्तर तालचिह्नित ध्वजावाले शूरवीर भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युद्धमें पाण्डवसेनाको आच्छादित कर दिया ॥ १४ ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कुरवः सह पाण्डवैः ।
अयुध्यन्त महाराज मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ १५ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् समस्त कौरव एकत्र संगठित होकर दोपहर होते-होते पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १६ ॥

शूरवीर सात्यकि कृतवर्माको पाँच बाणोंसे घायल करके समरभूमिमें सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए खड़े रहे ॥१६॥

तथैव द्रुपदो राजा द्रोणं विद्ध्वा शितैः शरैः ।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं चास्य पञ्चभिः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार राजा द्रुपदने द्रोणाचार्यको तीखे बाणोंसे एक बार घायल करके सत्तर बाणोंद्वारा पुनः घायल किया और पाँच बाणोंसे उनके सारथिको भी भारी चोट पहुँचायी॥

भीमसेनस्तु राजानं बाह्लीकं प्रपितामहम् ।
विद्ध्वा नदन्महानादं शार्दूल इव कानने ॥ १८ ॥

भीमसेनने अपने प्रपितामह राजा बाह्लीकको बाणोंद्वारा घायल करके वनमें सिंहके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥१८॥

आर्जुनिश्चित्रसेनेन विद्धो बहुभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १९ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको चित्रसेनने बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया था, तो भी शूरवीर अभिमन्यु सहस्रों बाणोंकी वर्षा करता हुआ युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ १९ ॥

चित्रसेनं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध समरे भृशम् ।
समागतौ तौ तु रणे महामात्रौ व्यरोचताम् ॥ २० ॥

यथा दिवि महाघोरौ राजन् बुधशनैश्चरौ ।

उसने तीन बाणोंसे समराङ्गणमें चित्रसेनको अत्यन्त घायल कर दिया। राजन्! जैसे आकाशमें दो महाघोर ग्रह बुध और शनैश्चर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार दो महान् वीर चित्रसेन और अभिमन्यु रणभूमिमें शोभा पा रहे थे।२०½।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं च नवभिः शरैः ॥ २१ ॥
ननाद बलवन्नादं सौभद्रः परवीरहा ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने चित्रसेनके चारों घोड़ोंको मारकर नौ बाणोंसे उसके सारथिको भी नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २१½ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्ण सोऽवप्लुत्य महारथः॥ २२ ॥
आरुरोह रथं तूर्णं दुर्मुखस्य विशाम्पते ।

प्रजानाथ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी चित्रसेन तुरंत ही रथसे कूद पड़े और दुर्मुखके रथपर आरूढ़ हो गये ॥२२½॥

द्रोणश्च द्रुपदं भित्त्वा शरैः संनतपर्वभिः ॥ २३ ॥
सारथिं चास्य विव्याध त्वरमाणः पराक्रमी ।

पराक्रमी द्रोणाचार्यने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे द्रुपदको घायल करके बड़ी उतावलीके साथ उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ २३½॥

पीड्यमानस्ततो राजा द्रुपदो वाहिनीमुखे ॥ २४ ॥
अपायाज्जवनैरश्वैः पूर्ववैरमनुस्मरन् ।

इस प्रकार युद्धके मुहानेपर द्रोणाचार्यसे पीड़ित हो राजा द्रुपद पूर्व वैरका स्मरण करते हुए शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग गये ॥ २४½ ॥

भीमसेनस्तु राजानं मुहूर्तादिव बाह्लिकम् ॥ २५ ॥
व्यश्वसूतरथं चक्रे सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

भीमसेनने दो ही घड़ीमें सारी सेनाके देखते-देखते राजा बाह्लीकको घोड़े, सारथि तथा रथसे शून्य कर दिया ॥२५½॥

ससम्भ्रमो महाराज संशयं परमं गतः ॥ २६ ॥
अवप्लुत्य ततो वाहाद् बाह्लीकः पुरुषोत्तमः ।
आरुरोह रथं तूर्णं लक्ष्मणस्य महारणे ॥ २७ ॥

महाराज! नरश्रेष्ठ बाह्लीक बड़ी घबराहटमें पड़ गये। उनका जीवन अत्यन्त संशयमें पड़ गया। उस अवस्थामें वे रथसे कूदकर शीघ्र ही उस महायुद्धमें लक्ष्मणके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ २६-२७ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं वारयित्वा महारणे ।
शरैर्बहुविधै राजन्नाससाद पितामहम् ॥ २८ ॥

राजन्! दूसरी ओर उस महायुद्धमें सात्यकिने कृतवर्माको रोककर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए पितामह भीष्मपर धावा किया ॥ २८ ॥

स विद्ध्वा भारतं षष्ट्या निशितैर्लोमवाहिभिः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे विधुन्वानो महद् धनुः ॥२९॥

उन्होंने अपने विशाल धनुषकी टंकार फैलाते तथा रथकी बैठकमें नृत्य करते हुए-से पंखयुक्त साठ तीखे बाणोंद्वारा भरतवंशी पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तस्यायसीं महाशक्तिं चिक्षेपाथ पितामहः ।
हेमचित्रां महावेगां नागकन्योपमां शुभाम् ॥ ३० ॥

पितामहने सात्यकिपर लोहेकी बनी हुई एक विशाल शक्ति चलायी, जो सुवर्णजटित, अत्यन्त वेगशालिनी तथा सर्पिणीके समान आकारवाली एवं सुन्दर थी ॥ ३० ॥

तामापतन्तीं सहसा मृत्युकल्पां सुदुर्जयाम्।
व्यंसयामास वार्ष्णेयो लाघवेन महायशाः ॥ ३१ ॥

उस अत्यन्त दुर्जय मृत्युस्वरूपा शक्तिको सहसा आती देख महायशस्वी सात्यकिने अपनी फुर्तीके कारण उसको असफल कर दिया ॥ ३१ ॥

अनासाद्य तु वार्ष्णेयं शक्तिः परमदारुणा ।
न्यपतद् धरणीपृष्ठे महोल्केव महाप्रभा ॥ ३२ ॥

वह परम भयंकर शक्ति सात्यकितक न पहुँचकर अत्यन्त तेजस्विनी बड़ी भारी उल्काके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥३२॥

वार्ष्णेयस्तु ततो राजन्
स्वां शक्तिं कनकप्रभाम् ।
वेगवद् गृह्य चिक्षेप
पितामहरथं प्रति ॥ ३३ ॥

राजन्! तब सात्यकिने भी अपनी सुनहरी प्रभावाली शक्ति लेकर उसे भीष्मके रथपर बड़े वेगसे चलाया ॥ ३३ ॥

वार्ष्णेयभुजवेगेन प्रणुन्ना सा महाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन कालरात्रिर्यथा नरम् ॥ ३४ ॥

उस महासमरमें सात्यकिकी भुजाओंके वेगसे चलायी हुई वह शक्ति अत्यन्त वेगपूर्वक भीष्मकी ओर चली, मानो कालरात्रि मनुष्यकी ओर जा रही हो ॥ ३४ ॥

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारतः ।
क्षुरप्राभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यां सा व्यशीर्यत मेदिनीम्॥ ३५॥

परंतु भरतवंशी भीष्मने अपने अत्यन्त तीखे दो क्षुरप्रोंसे उस सहसा आती हुई शक्तिको दो जगहसे काट दिया। वह छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः प्रहसञ्छत्रुकर्शनः॥ ३६ ॥

शक्तिको काटकर हँसते हुए शत्रुसूदन गङ्गानन्दन भीष्मने कुपित हो सात्यकिकी छातीमें नौ बाण मारे ॥३६॥

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
परिवव्रू रणे भीष्मं माधवत्राणकारणात् ॥ ३७ ॥

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र ! उस समय मधुवंशी सात्यकिको बचानेके लिये पाण्डवोंने रथ, घोड़े और हाथियों-की सेनाके साथ आकर युद्धभूमिमें भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३७ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् युद्धमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कौरवों तथा पाण्डवोंमें परस्पर घोर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि वार्ष्णेययुद्धे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिका युद्धविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये आदेश, युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवके द्वारा शकुनिकी घुड़सवार-सेनाकी पराजय तथा शल्यके साथ उन सबका युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मं रणे क्रुद्धं पाण्डवैरभिसंवृतम् ।
यथा मेघैर्महाराज तपान्ते दिवि भास्करम् ॥ १ ॥
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमभाषत ।

संजय कहते हैं—महाराज ! ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें (वर्षारम्भ होनेपर) जैसे मेघ आकाशमें सूर्यदेवको ढक लेते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने युद्धभूमिमें क्रुद्ध हुए भीष्मको सब ओरसे घेर लिया है। यह देखकर आपके पुत्र दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥ १½ ॥

एष शूरो महेष्वासो भीष्मः शूरनिषूदनः ॥ २ ॥
छादितः पाण्डवैः शूरैः समन्ताद् भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! ये शूरवीरोंका नाश करनेवाले महाधनुर्धर शौर्यसम्पन्न भीष्म पराक्रमी पाण्डवोंद्वारा चारों ओरसे घेर लिये गये हैं ॥ २½ ॥

तस्य कार्यं त्वया वीर रक्षणं सुमहात्मनः ॥ ३ ॥
रक्ष्यमाणो हि समरे भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
निहन्यात् समरे यत्तान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह ॥४॥

'वीर ! तुम्हें उन महात्मा भीष्मकी रक्षा करनी चाहिये। युद्धमें सुरक्षित रहनेपर हमारे पितामह भीष्म समराङ्गणमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले पाण्डवोंसहित पाञ्चालोंका संहार कर डालेंगे ॥ ३-४ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
गोप्ता ह्येष महेष्वासो भीष्मोऽस्माकं महाव्रतः ॥ ५ ॥

'अतः इस अवसरपर मैं भीष्मजीकी रक्षाको ही प्रधान कार्य समझता हूँ; क्योंकि ये महाव्रती महाधनुर्धर भीष्म हमलोगोंके रक्षक हैं ॥ ५ ॥

स भवान् सर्वसैन्येन परिवार्य पितामहम् ।
समरे कर्म कुर्वाणं दुष्करं परिरक्षतु ॥ ६ ॥

'अतः तुम सम्पूर्ण सेनाके साथ समरभूमिमें दुष्कर कर्म करनेवाले पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करो' ॥ ६ ॥

स एवमुक्तः समरे पुत्रो दुःशासनस्तव ।
परिवार्य स्थितो भीष्मं सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥
(पालयामास महता यत्नेन च सुसंयतः ।)

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुःशासन समरभूमिमें अपनी विशाल सेनाके साथ जा भीष्मको सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया और बड़े यत्नसे सावधान रहकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ७ ॥

ततः शतसहस्राणां हयानां सुबलात्मजः ।
विमलप्रासहस्तानामृष्टितोमरधारिणाम् ॥ ८ ॥
दर्पितानां सुवेशानां बलस्थानां पताकिनाम् ।
शिक्षितैर्युद्धकुशलैरुपेतानां नरोत्तमैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि एक लाख घुड़सवारोंकी सेनाके साथ युद्धके लिये आ पहुँचा। वे सभी सैनिक अपने हाथोंमें चमकते हुए प्रास, ऋष्टि और तोमर लिये हुए थे। सबको अपने शौर्यका अभिमान था। सभी बलवान्, सुन्दर वेशभूषासे सुसज्जित और ध्वजा-पताकासे सुशोभित थे। अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाये हुए युद्धकुशल श्रेष्ठ पैदल सिपाहियोंकी भी बहुत बड़ी संख्या उन घुड़सवारोंके साथ थी॥

(एवं बहुसहस्रैश्च योधानां युद्धशालिनाम् ।
संवृतः शकुनिस्तस्थौ युद्धायैव सुदंशितः ॥)

इस प्रकार युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले कई हजार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि कवच धारण करके युद्धके लिये ही वहाँ खड़ा हो गया ॥

नकुलं सहदेवं च धर्मराजं च पाण्डवम् ।
न्यवारयन्नरश्रेष्ठान् परिवार्य समन्ततः ॥ १० ॥

राजन्! शकुनि नकुल, सहदेव तथा धर्मराज युधिष्ठिर—इन तीनों श्रेष्ठ पुरुषोंको सब ओरसे घेरकर इन्हें आगे बढ़नेसे रोकने लगा॥ १०॥

ततो दुर्योधनो राजा शूराणां हयसादिनाम्।
अयुतं प्रेषयामास पाण्डवानां निवारणे॥ ११॥

तदनन्तर राजा दुर्योधनने पाण्डवोंकी प्रगतिको रोकनेके लिये दस हजार घुड़सवार सैनिक और भेजे॥ ११॥

तैः प्रविष्टैर्महावेगैर्गरुत्मद्भिरिवाहवे।
(शुशुभे स महातेजाः शकुनिः सुबलात्मजः।
तैरश्वैः सुमहावेगैर्मरुद्भिरिव वासवः॥)

गरुड़के समान अत्यन्त वेगशाली वे अश्व रणभूमिमें यथास्थान पहुँच गये। जैसे मरुद्गणोंसे महातेजस्वी इन्द्रकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन अत्यन्त वेगशाली अश्वोंके द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सुबलपुत्र शकुनि सुशोभित होने लगा॥

खुराहता धरा राजंश्चकम्पे च ननाद च॥ १२॥

राजन्! उन घोड़ोंकी टापसे आहत होकर यह पृथ्वी काँपने और भयंकर शब्द करने लगी॥ १२॥

खुरशब्दश्च सुमहान् वाजिनां शुश्रुवे तदा।
महावंशवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते॥ १३॥

उस समय घोड़ोंकी टापोंका महान् शब्द सब ओर उसी प्रकार सुनायी देने लगा, मानो पर्वतपर जलते हुए बड़े-बड़े बाँसोंके जंगलमें उनके पोरोंके फटनेका शब्द हो रहा हो॥ १३॥

उत्पतद्भिश्च तैस्तत्र समुद्धूतं महद् रजः।
दिवाकररथं प्राप्य छादयामास भास्करम्॥ १४॥

वहाँ घोड़ोंके उछलने-कूदनेसे जो बड़े जोरकी धूलि ऊपरको उठी, उसने मानो सूर्यके रथके समीप पहुँचकर उन्हें आच्छादित कर दिया॥ १४॥

वेगवद्भिर्हयैस्तैस्तु क्षोभिता पाण्डवी चमूः।
निपतद्भिर्महावेगैर्हंसैरिव महत् सरः॥ १५॥

उन वेगशाली अश्वोंने पाण्डव-सेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध कर दिया, जैसे महान् वेगसे उड़नेवाले हंस किसी विशाल जलाशयमें पड़कर उसे मथ डालते हैं॥ १५॥

(तुरगैर्वायुवेगैश्च तत् सैन्यं व्याकुलीकृतम्।)
हेषतां चैव शब्देन न प्राज्ञायत किञ्चन।

वायुके समान वेगवाले उन अश्वोंने पाण्डव-सेनाको व्याकुल कर दिया। उनके हिनहिनानेकी आवाजसे दबकर दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था॥ १५½॥

ततो युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ १६॥
प्रत्यघ्नंस्तरसा वेगं समरे हयसादिनाम्।
उद्वृत्तस्य महाराज प्रावृट्कालेऽतिपूर्यतः॥ १७॥
पौर्णमास्यामम्बुवेगं यथा वेला महोदधेः।

महाराज! तब राजा युधिष्ठिर तथा पाण्डुपुत्र माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवने समरभूमिमें उन घुड़सवारोंका वेग नष्ट कर दिया॥ ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाऋतुमें अधिक जलसे परिपूर्ण होकर मर्यादा तोड़नेवाले समुद्रके पूर्णिमा तिथिमें बढ़े हुए वेगको तटकी भूमि रोक देती है॥ १६-१७½॥

ततस्ते रथिनो राजञ्छरैः संनतपर्वभिः॥ १८॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि कायेभ्यो हयसादिनाम्।

राजन्! तत्पश्चात् वे रथी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा घुड़सवारोंके मस्तक काटने लगे॥ १८½॥

ते निपेतुर्महाराज निहता दृढधन्विभिः॥ १९॥
नागैरिव महानागा यथावद् गिरिगह्वरे।

महाराज! उन सुदृढ़ धनुर्धरोंद्वारा मारे गये वे घुड़सवार रणभूमिमें उसी प्रकार गिरते थे, जैसे पर्वतोंकी कन्दरामें बड़े-बड़े हाथी हाथियोंसे ही मारे जाकर गिरते हैं॥ १९½॥

तेऽपि प्रासैः सुनिशितैः शरैः संनतपर्वभिः॥ २०॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि विचरन्तो दिशो दश।

वे घुड़सवार भी दसों दिशाओंमें विचरते हुए झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणों तथा प्रासोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंके मस्तक काट गिराते थे॥ २०½॥

अभ्याहता हयारोहा ऋष्टिभिर्भरतर्षभ॥ २१॥
अत्यजन्नुत्तमाङ्गानि फलानीव महाद्रुमाः।

भरतश्रेष्ठ! ऋष्टियोंद्वारा मारे गये घुड़सवार अपने मस्तकोंको उसी प्रकार गिराते थे, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष अपने पके हुए फलोंको गिराते हैं॥ २१½॥

ससादिनो हया राजंस्तत्र तत्र निषूदिताः॥ २२॥
पतिताः पात्यमानाश्च प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः।

राजन्! सवारोंसहित वहाँ मारे गये बहुत-से घोड़े सब ओर गिरे और गिराये जाते हुए दिखायी देते थे॥ २२½॥

वध्यमाना हयाश्चैव प्राद्रवन्त भयार्दिताः॥ २३॥
यथा सिंहं समासाद्य मृगाः प्राणपरायणाः।

जैसे सिंहका सामना पड़ जानेपर मृग भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये भागते हैं, उसी प्रकार मारे जाते हुए घोड़े भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे॥ २३½॥

पाण्डवाश्च महाराज जित्वा शत्रून् महामृधे॥ २४॥
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च ताडयामासुराहवे।

महाराज! पाण्डव उस महासमरमें शत्रुओंको जीतकर शङ्ख फूँकने और नगाड़े पीटने लगे॥ २४½॥

ततो दुर्योधनो दीनो दृष्ट्वा सैन्यं पराजितम्॥ २५॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठ मद्रराजमिदं वचः।

भरतश्रेष्ठ! तब अपनी सेनाको पराजित देख दुर्योधनने दीन होकर मद्रराज शल्यसे इस प्रकार कहा—॥ २५½

एष पाण्डुसुतो ज्येष्ठो यमाभ्यां सहितो रणे ॥ २६ ॥
पश्यतां वो महाबाहो सेनां द्रावयति प्रभो ।
तं वारय महाबाहो वेलेव मकरालयम् ॥ २७ ॥
त्वं हि संश्रूयसेऽत्यर्थमसह्यबलविक्रमः ।

'महाबाहो ! ये ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर नकुल और सहदेवको साथ लेकर रणभूमिमें आपलोगोंके देखते-देखते मेरी सेनाको खदेड़ रहे हैं । प्रभो ! महाबाहो ! जैसे तटप्रान्त समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकता है, उसी प्रकार आप भी युधिष्ठिरको आगे बढ़नेसे रोकिये; क्योंकि आपका बल और पराक्रम अत्यन्त असह्य सुना जाता है' ॥ २६-२७½ ॥

पुत्रस्य तव तद् वाक्यं श्रुत्वा शल्यः प्रतापवान् ॥ २८ ॥
स ययौ रथवंशेन यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

राजन् ! आपके पुत्रकी यह बात सुनकर प्रतापी राजा शल्य रथसमूहके साथ उसी स्थानपर गये, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ २८½ ॥

तदापतद् वै सहसा शल्यस्य सुमहद् बलम् ॥ २९ ॥
महौघवेगं समरे वारयामास पाण्डवः ।
मद्रराजं च समरे धर्मराजो महारथः ॥ ३० ॥

उस समय सहसा अपनी ओर आती हुई राजा शल्यकी उस विशाल वाहिनी तथा स्वयं मद्रराजको भी पाण्डुपुत्र महारथी धर्मराज युधिष्ठिरने महान् जल-प्रवाहके समान समर-भूमिमें रोक दिया ॥ २९-३० ॥

दशभिः सायकैस्तूर्णमाजघान स्तनान्तरे ।
नकुलः सहदेवश्च तं सप्तभिरजिह्मगैः ॥ ३१ ॥

उन्होंने शल्यकी छातीमें तुरंत ही दस बाण मारे तथा नकुल और सहदेवने भी सीधे जानेवाले सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३१ ॥

मद्रराजोऽपि तान् सर्वानाजघान त्रिभिस्त्रिभिः ।
युधिष्ठिरं पुनः षष्ट्या विव्याध निशितैः शरैः ॥ ३२ ॥

तब मद्रराज शल्यने भी उनको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया । फिर युधिष्ठिरको उन्होंने साठ तीखे बाण मारे ॥

माद्रीपुत्रौ च सम्भ्रान्तौ द्वाभ्यां द्वाभ्यामताडयत् ।
(पुनः स बहुभिर्बाणैराजघान युधिष्ठिरम् ।)

इसके बाद दो-दो बाणोंसे उन्होंने उत्तम कुलमें उत्पन्न माद्रीकुमारोंको घायल किया तथा अनेक बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको भी पुनः चोट पहुँचायी ॥ ३२½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्दृष्ट्वा राजानमाहवे ॥ ३३ ॥
मद्रराजरथं प्राप्तं मृत्योरास्यगतं यथा ।
अभ्यपद्यत संग्रामे युधिष्ठिरममित्रजित् ॥ ३४ ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें राजा युधिष्ठिरको मृत्युके मुखमें पड़े हुएके समान मद्रराजके रथके समीप पहुँचा हुआ देखकर युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥

(आपतन्नेव भीमस्तु मद्रराजमताडयत् ।
सर्वपारशवैस्तीक्ष्णैर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥
ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्येन महता वृतौ ।
राजानमभ्यपद्येतामञ्जसा शरवर्षिणौ ॥)

भीमसेनने आते ही पूर्णतः लोहेके बने हुए और मर्मस्थानों-को विदीर्ण करनेमें समर्थ तीखे नाराचोंसे मद्रराज शल्यको गहरी चोट पहुँचायी । तब भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी विशाल सेनाके साथ अनायास ही बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ राजा शल्यकी रक्षाके लिये आ पहुँचे ॥

ततो युद्धं महाघोरं प्रावर्तत सुदारुणम् ।
अपरां दिशमास्थाय पतमाने दिवाकरे ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जब सूर्यदेव पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर अस्ताचलको जा रहे थे, उसी समय दोनों सेनाओंमें अत्यन्त दारुण महाघोर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा पराजित पाण्डवसेनाका पलायन और भीष्मको मारनेके लिये उद्यत हुए श्रीकृष्णको अर्जुनका रोकना

संजय उवाच

ततः पिता तव क्रुद्धो निशितैः सायकोत्तमैः ।
आजघान रणे पार्थान् सहसेनान् समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रत कुपित हो रणभूमिमें अपने तीखे एवं श्रेष्ठ सायकोंद्वारा सेना-सहित कुन्तीकुमारोंको सब ओरसे घायल करने लगे ॥ १ ॥

भीमं द्वादशभिर्विद्ध्वा सात्यकिं नवभिः शरैः ।
नकुलं च त्रिभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ॥२॥

युधिष्ठिरं द्वादशभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

उन्होंने भीमसेनको बारह, सात्यकिको नौ, नकुलको तीन और सहदेवको सात बाणोंसे घायल करके राजा युधिष्ठिरकी दोनों भुजाओं और छातीमें बारह बाण मारे ॥ २½ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा ननाद सुमहाबलः ॥ ३ ॥
तं द्वादशाख्यैर्नकुलो माधवश्च त्रिभिः शरैः ।
धृष्टद्युम्नश्च सप्तत्या भीमसेनश्च सप्तभिः ॥ ४ ॥
युधिष्ठिरो द्वादशभिः प्रत्यविध्यत् पितामहम् ।

तदनन्तर धृष्टद्युम्नको भी अपने बाणोंद्वारा बींधकर महाबली भीष्मने सिंहके समान गर्जना की । तब नकुलने बारह, सात्यकिने तीन, धृष्टद्युम्नने सत्तर, भीमसेनने सात तथा युधिष्ठिरने बारह बाण मारकर पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ ३–४½ ॥

द्रोणस्तु सात्यकिं विद्ध्वा भीमसेनमविध्यत ॥ ५ ॥
एकैकं पञ्चभिर्बाणैर्यमदण्डोपमैः शितैः ।

द्रोणाचार्यने यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे पाँच-पाँच बाणोंद्वारा सात्यकि और भीमसेनमेंसे प्रत्येकको घायल किया । पहले सात्यकिको चोट पहुँचाकर फिर भीमसेनपर गहरा आघात किया ॥ ५½ ॥

तौ च तं प्रत्यविध्येतां त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥ ६ ॥
तोत्रैरिव महानागं द्रोणं ब्राह्मणपुङ्गवम् ।

तब उन दोनोंने भी अङ्कुशोंसे महान् गजराजके समान सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ॥ ६½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः॥७॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिवयोऽथ वसातयः ।
संग्रामे नाजहुर्भीष्मं वध्यमानाः शितैः शरैः ॥ ८ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि और वसाति देशके योद्धा शत्रुओंके तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी संग्रामभूमिमें भीष्मको छोड़कर नहीं भागे ॥ ७-८ ॥

तथैवान्ये महीपाला नानादेशसमागताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त विविधायुधपाणयः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार विभिन्न देशोंसे आये हुए अन्य भूपाल भी हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये पाण्डवोंपर आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवव्रुः पितामहम् ।
स समन्तात् परिवृतो रथौघैरपराजितः ॥ १० ॥
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः प्रजज्वाल दहन् परान् ।

राजन् ! पाण्डवोंने भी पितामह भीष्मको घेर लिया । चारों ओरसे रथसमूहोंद्वारा घिरे हुए अपराजित वीर भीष्म गहन वनमें लगायी हुई आगके समान शत्रुओंको दग्ध करते हुए प्रज्वलित हो उठे ॥ १०½ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ॥ ११ ॥
शरस्फुलिङ्गो भीष्माग्निर्ददाह क्षत्रियर्षभान् ।

रथ ही उनके लिये अग्निशालाके समान था, धनुष ज्वालाओंके समान प्रकाशित होता था, खड्ग, शक्ति और गदा आदि अस्त्र-शस्त्र समिधाका काम कर रहे थे । बाण चिनगारियोंके समान थे । इस प्रकार भीष्मरूपी अग्नि वहाँ क्षत्रिय-शिरोमणियोंको दग्ध करने लगी ॥ ११½ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्गार्ध्रपक्षैः सुतेजनैः ॥ १२ ॥
कर्णिनालीकनाराचैश्छादयामास तद् बलम् ।
अपातयद् ध्वजांश्चैव रथिनश्च शितैः शरैः ॥ १३ ॥

उन्होंने स्वर्णभूषित गृध्र-पंखयुक्त तेज बाणों तथा कर्णी, नालीक और नाराचोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनाको आच्छादित कर दिया । तीखे बाणोंसे ध्वजोंको काट डाला और रथियोंको भी मार गिराया ॥ १२-१३ ॥

मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ।
निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे॥१४॥
अकरोत् स महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

ध्वजाएँ काटकर उन्होंने रथ-समूहोंको मुण्डित ताल-वनोंके समान कर दिया । राजन् ! युद्धस्थलमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीष्मने बहुत-से रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे रहित कर दिया ॥ १४½ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ १५ ॥
निशम्य सर्वभूतानि समकम्पन्त भारत ।
अमोघा ह्यपतन् बाणाः पितुस्ते भरतर्षभ ॥ १६ ॥

उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी । भारत ! उसे सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे । भरतश्रेष्ठ ! आपके ताऊ भीष्मके बाण कभी खाली नहीं जाते थे ॥ १५-१६ ॥

नासज्जन्त तनुत्रेषु भीष्मचापच्युताः शराः ।
हतवीरान् रथान् राजन् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ॥१७॥
अपश्याम महाराज ह्रियमाणान् रणाजिरे ।

राजन् ! भीष्मके धनुषसे छूटे हुए बाण कवचोंमें नहीं अटकते थे (उन्हें छिन्न-भिन्न करके भीतर घुस जाते थे) । महाराज !

हमने समराङ्गणमें ऐसे बहुत-से रथ देखे, जिनके रथी और सारथि तो मार दिये गये थे; परंतु वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए होनेके कारण वे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे ॥ १७½ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ १८ ॥
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।
अपरावर्तिनः सर्वे सुवर्णविकृतध्वजाः ॥ १९ ॥
संग्रामे भीष्ममासाद्य व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
निमग्नाः परलोकाय सवाजिरथकुञ्जराः॥ २० ॥

चेदि, काशि और करूष देशके चौदह हजार विख्यात महारथी थे । वे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर पाण्डवोंके लिये अपना शरीर निछावर कर चुके थे । उनमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखानेवाला नहीं था । उन सबकी ध्वजाएँ सोनेकी बनी हुई थीं । मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मजीके सामने पहुँचकर वे सब-के-सब महारथी युद्धरूपी समुद्रमें डूब गये । भीष्मजीने घोड़े, रथ और हाथियोंसहित उन सबको परलोकका पथिक बना दिया ॥ १८—२० ॥

भग्नाक्षोपस्करान् कांश्चिद् भग्नचक्रांश्च भारत ।
अपश्याम महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! हमने वहाँ सैकड़ों और हजारों ऐसे रथ देखे, जिनके धुरे आदि सामान टूट गये थे और पहियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ॥ २१ ॥

सवरूथै रथैर्भग्नै रथिभिश्च निपातितैः ।
शरैः सुकवचैश्छिन्नैः पट्टिशैश्च विशाम्पते ॥ २२ ॥
गदाभिर्भिन्दिपालैश्च निशितैश्च शिलीमुखैः ।
अनुकर्षैरुपासङ्गैश्चक्रैर्भग्नैश्च मारिष ॥ २३ ॥
बाहुभिः कार्मुकैः खड्गैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
तलत्रैरङ्गुलित्रैश्च ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ २४ ॥
चापैश्च बहुधा च्छिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।

माननीय प्रजानाथ ! वरूथोंसहित टूटे हुए रथ, मारे गये रथी, कटे हुए बाण, कवच, पट्टिश, गदा, भिन्दिपाल, तीखे सायक, छिन्न-भिन्न हुए अनुकर्ष, उपासंग, पहिये, कटी हुई बाँह, धनुष, खड्ग, कुण्डलोंसहित मस्तक, तलत्राण, अङ्गुलित्राण, गिराये गये ध्वज और अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए चाप—इन सबके द्वारा वहाँकी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी॥

हतारोहा गजा राजन् हयाश्च हतसादिनः ॥ २५ ॥
न्यपतन्त गतप्राणाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! जिनके सवार मार दिये गये थे, ऐसे हाथी और घोड़े सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें निष्प्राण होकर पड़े थे ॥ २५½ ॥

यतमानाश्च ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ २६ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

पाण्डव वीर बहुत प्रयत्न करनेपर भी भीष्मके बाणोंसे पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोक नहीं पा रहे थे ॥ २६½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ २७ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज ! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मजीके द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेनामें भगदड़ मच गयी थी । दो आदमी भी एक साथ नहीं भागते थे ॥ २७½ ॥

आविद्धरथनागाश्वं पतितध्वजसंकुलम् ॥ २८ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी । उसके रथ, हाथी और घोड़े बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे । ध्वजाएँ कटकर धराशायी हो गयी थीं ॥ २८½ ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ २९ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात् कृतः ।

उस भीषण मारकाटमें दैवसे प्रेरित होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्यारे मित्रको मार डाला ॥ २९½ ॥

विमुच्य कवचानन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३० ॥
प्रकीर्य केशान् धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके दूसरे सैनिक कवच उतारकर केश बिखेरे हुए सब ओर भागते दिखायी देते थे ॥ ३०½ ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथकूबरम् ॥ ३१ ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सारी सेना (सिंहसे डरी हुई) गौओंके समुदायकी भाँति घबराहटमें पड़ गयी थी । रथके कूबर उलट-पलट हो गये थे और समस्त सैनिक आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ३२ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस सेनामें भगदड़ पड़ी देख यादवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको रोककर कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—॥ ३२½ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यः काङ्क्षितस्तव ॥ ३३ ॥
प्रहरास्मिन् नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पार्थ ! तुम्हें जिस अवसरकी अभिलाषा और प्रतीक्षा थी, वह आ पहुँचा । पुरुषसिंह ! यदि तुम मोहसे मोहित नहीं हो रहे हो तो इन भीष्मपर प्रहार करो ॥ ३३½ ॥

यत् पुरा कथितं वीर राज्ञां तेषां समागमे ॥ ३४ ॥
विराटनगरे तात संजयस्य समीपतः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ॥ ३५॥
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संगरे।

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्ममनुस्मृत्य युध्यस्व विगतज्वरः ।

'वीर ! तात ! पूर्वकालमें विराटनगरके भीतर जब सम्पूर्ण राजा एकत्र हुए थे, उनके सामने और संजयके समीप जो तुमने यह कहा था कि 'मैं युद्धमें, जो मेरा सामना करने आयेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण सैनिकोंको सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ।' शत्रुदमन कुन्तीनन्दन ! अपने उस कथनको सत्य कर दिखाओ । तुम क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करके सारी चिन्ताएँ छोड़कर युद्ध करो' ॥ ३४—३६½ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ॥ ३७ ॥
अकाम इव बीभत्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने मुँह नीचे किये तिरछी दृष्टिसे देखते हुए अनिच्छुककी भाँति उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३७½ ॥

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम् ॥ ३८ ॥
दुःखानि वनवासे वा किं नु मे सुकृतं भवेत् ।

'प्रभो ! अवध्य महापुरुषोंका वध करके नरकसे भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवासमें रहकर कष्ट भोगूँ—इन दोनोंमें कौन मेरे लिये पुण्यदायक होगा ? ३८½ ।

चोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्ये वचनं तव ॥ ३९ ॥
पातयिष्यामि दुर्धर्षं भीष्मं कुरुपितामहम् ।

'अच्छा, जहाँ भीष्म हैं, उसी ओर घोड़ोंको बढ़ाइये । आज मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको मार गिराऊँगा' । ३९½ ।

स चाश्वान् रजतप्रख्यांश्चोदयामास माधवः ॥ ४० ॥
यतो भीष्मस्ततो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ।

राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने चाँदीके समान श्वेत वर्णवाले घोड़ोंको उसी ओर हाँका, जहाँ अंशुमाली सूर्यके समान दुर्निरीक्ष्य भीष्म युद्ध कर रहे थे ॥ ४०½ ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ॥ ४१ ॥
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ।

महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनको भीष्मके साथ युद्ध करनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह भागती हुई विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ४१½ ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठः सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ४२ ॥
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ।

तब बारंबार सिंहनाद करते हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने धनंजयके रथपर शीघ्र ही बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥४२½॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ॥ ४३ ॥
शरवर्षेण महता न प्राज्ञायत भारत ।

भारत ! एक ही क्षणमें बाणोंकी उस भारी वर्षाके कारण सारथि और घोड़ोंसहित उनका वह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता था ॥ ४३½ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्वरः ॥ ४४ ॥
चोदयामास तानश्वान् वितुन्नान् भीष्मसायकैः ।

भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी घबराहटके धैर्य धारणकर भीष्मके सायकोंसे क्षत-विक्षत हुए उन घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँक रहे थे ॥ ४४½ ॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ॥ ४५ ॥
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा शितैः शरैः ।

तब कुन्तीकुमारने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीखे बाणोंद्वारा भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ४५½ ॥

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ॥ ४६ ॥
निमेषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ।

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुकुलरत्न भीष्मने पुनः दूसरा धनुष हाथमें ले पलक मारते-मारते उसके ऊपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ४६½ ॥

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ॥ ४७ ॥
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ।

तदनन्तर मेघोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस धनुषको उन्होंने दोनों हाथोंसे खींचा । इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट दिया ॥ ४७½ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ॥ ४८ ॥
गाङ्गेयस्त्वब्रवीत् पार्थं धन्विश्रेष्ठमरिंदम ।

शत्रुदमन नरेश ! उस समय शान्तनुकुमार गङ्गानन्दन भीष्मने धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनकी उस फुर्तीके लिये उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस प्रकार कहा—॥४८½॥

साधु साधु महाबाहो साधु कुन्तीसुतेति च ॥ ४९ ॥
समाभाष्यैवमपरं प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
मुमोच समरे भीष्मः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५० ॥

'महाबाहो ! कुन्तीकुमार ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, तुम्हें साधुवाद ।' ऐसा कहकर भीष्मने पुनः दूसरा सुन्दर धनुष लेकर समराङ्गणमें अर्जुनके रथकी ओर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४९-५० ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलानि निदर्शयन् ॥५१॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंके हाँकनेकी कलामें अपनी अद्भुत शक्ति दिखायी । वे भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते जा रहे थे ॥ ५१ ॥

(सारथ्यं निपुणं कुर्वन् प्रत्यदृश्यत संयुगे ।
भीष्मस्तावत् सुसंक्रुद्धः पुनर्बाणान् मुमोच ह ॥

पार्थाय युधि राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत्।
अर्जुनस्तु सुसंक्रुद्धः पितामहमरिंदमः।
अवर्षद् बाणवर्षेण योद्धुं ह्यभिमुखे स्थितम्॥
तावुभौ युधि दुर्धर्षौ युयुधाते परस्परम्।)

युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्ण कुशलतापूर्वक सारथ्यकर्म करते दिखायी दिये। राजेन्द्र! भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धमें पार्थके ऊपर बारंबार बाणोंकी वर्षा करते रहे। यह अद्भुत-सी बात थी। फिर शत्रुदमन अर्जुनने भी क्रोधमें भरकर युद्धके लिये अपने सामने खड़े हुए भीष्मपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। वे दोनों रण-दुर्जय वीर एक दूसरेसे युद्ध कर रहे थे॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणोल्लिखिताङ्कितौ॥ ५२॥

उस समय पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो सींगोंके आघातसे घायल हुए दो रोषभरे साँड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे॥ ५२॥

(भीष्मोऽतीव सुसंक्रुद्धः पृषत्कैरर्जुनं बलात्।
जघान समरे मूर्ध्नि सिंहवद् विनदन् मुहुः॥)

तत्पश्चात् भीष्मने भी रणक्षेत्रमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक अर्जुनके मस्तकपर आघात किया। उसके बाद वे बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे॥

वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य पार्थस्य मृदुयुद्धताम्।
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि॥ ५३॥
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः।
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान्॥५४॥
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे भीष्मके प्रति कोमलता दिखा रहे हैं और उधर भीष्म युद्धमें सेनाके मध्यभागमें खड़े हो निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हुए दोपहरके सूर्यके समान तप रहे हैं। पाण्डव-सेनाके चुने हुए उत्तमोत्तम वीरोंको मार रहे हैं और युधिष्ठिर-सेनामें प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहे हैं॥ ५३-५४½॥

नामृष्यत महाबाहुर्माधवः परवीरहा॥ ५५॥
उत्सृज्य रजतप्रख्यान् हयान् पार्थस्य मारिष।
वासुदेवस्ततो योगी प्रचस्कन्द महारथात्॥ ५६॥
अभिदुद्राव भीष्मं स भुजप्रहरणो बली।
प्रतोदपाणिस्तेजस्वी सिंहवद् विनदन् मुहुः॥ ५७॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महाबाहु माधवको यह सहन नहीं हुआ। आर्य! वे योगेश्वर भगवान् वासुदेव चाँदीके समान सफेद रंगवाले अर्जुनके घोड़ोंको छोड़कर उस विशाल रथसे कूद पड़े और केवल भुजाओंका ही आयुध लिये हाथोंमें चाबुक उठाये बारंबार सिंहनाद करते हुए बलवान् एवं तेजस्वी श्रीहरि भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े॥ ५५-५७॥

दारयन्निव पद्भ्यां स जगतीं जगदीश्वरः।
क्रोधताम्रेक्षणः कृष्णो जिघांसुरमितद्युतिः॥ ५८॥

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधसे लाल आँखें करके भीष्मको मार डालनेकी इच्छा लेकर पैरोंकी धमकसे वसुधाको विदीर्ण-सी कर रहे थे॥५८॥

ग्रसन्तमिव चेतांसि तावकानां महाहवे।
दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे भीष्मायोद्यतमन्तिके॥ ५९॥
हतो भीष्मो हतो भीष्मस्तत्र तत्र वचो महत्।
अश्रूयत महाराज वासुदेवभयात् तदा॥ ६०॥

भगवान् श्रीकृष्ण उस महायुद्धमें आपके पुत्रों और सैनिकोंकी चेतनाको मानो अपना ग्रास बनाये ले रहे थे। महाराज! उस मारकाटमें माधवको समीप आकर भीष्मके वधके लिये उद्यत हुआ देख उस समय उन वासुदेवके भयसे चारों ओर यह महान् कोलाहल सुनायी देने लगा कि 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये'॥ ५९-६०॥

पीतकौशेयसंवीतो मणिश्यामो जनार्दनः।
शुशुभे विद्रवन् भीष्मं विद्युन्माली यथाम्बुदः॥ ६१॥

रेशमी पीताम्बर धारण किये इन्द्रनीलमणिके समान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भीष्मकी ओर दौड़ते समय ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो विद्युन्मालासे अलंकृत श्याममेघ जा रहा हो।६१।

स सिंह इव मातङ्गं यूथर्षभ इवर्षभम्।
अभिदुद्राव वेगेन विनदन् यादवर्षभः॥ ६२॥

यादवशिरोमणि बारंबार गर्जना करते हुए भीष्मके ऊपर उसी प्रकार वेगसे धावा कर रहे थे, जैसे सिंह गजराजपर और गोयूथका स्वामी साँड़ दूसरे साँड़पर आक्रमण करता है॥ ६२॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पुण्डरीकाक्षमाहवे।
असम्भ्रमं रणे भीष्मो विचकर्ष महद् धनुः॥ ६३॥

उस महासमरमें कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख भीष्म उस रणक्षेत्रमें तनिक भी भयभीत न होकर अपने विशाल धनुषको खींचने लगे॥ ६३॥

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते॥ ६४॥

साथ ही व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके बोले—'आइये, आइये, कमलनयन! देवदेव! आपको नमस्कार है॥ ६४॥

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ॥ ६५॥

श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।

'सात्वतशिरोमणे ! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये । देव ! निष्पाप श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा ।६५½।

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।

'गोविन्द ! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया । अनघ ! मैं आपका दास हूँ । आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझपर प्रहार कीजिये' ॥ ६६½ ॥

अन्वगेव ततः पार्थः समभिद्रुत्य केशवम् ॥ ६७ ॥
निजग्राह महाबाहुर्बाहुभ्यां परिगृह्य वै ।

इधर महाबाहु अर्जुन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें पकड़कर काबूमें कर लिया ॥ ६७½ ॥

निगृह्यमाणः पार्थेन कृष्णो राजीवलोचनः ॥ ६८ ॥
जगामैवैनमादाय वेगेन पुरुषोत्तमः ।

अर्जुनके द्वारा पकड़े जानेपर भी कमलनयन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें लिये-दिये ही वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ ६८½ ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलाच्चरणौ परवीरहा ॥ ६९ ॥
निजग्राह हृषीकेशं कथंचिद् दशमे पदे ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने बलपूर्वक भगवान्‌के चरणोंको पकड़ लिया और इस प्रकार दसवें कदमतक जाते-जाते वे किसी प्रकार हृषीकेशको रोकनेमें सफल हो सके।६९½।

तत एवमुवाचार्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणम् ॥ ७० ॥
निःश्वसन्तं यथा नागमर्जुनः प्रणयात् सखा ।
निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ॥ ७१ ॥

उस समय श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे व्याप्त हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे । उनके सखा अर्जुन आर्तभावसे प्रेमपूर्वक बोले—'महाबाहो ! लौटिये, अपनी प्रतिज्ञाको झूटी न कीजिये ॥ ७०-७१ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ॥७२॥

'केशव ! आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' उस वचनकी रक्षा कीजिये । अन्यथा माधव ! लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे ॥ ७२ ॥

ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ॥ ७३ ॥

'केशव ! यह सारा भार मुझपर है । मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और सुकृतकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पितामह भीष्मका वध करूँगा ॥ ७३ ॥

अन्तं यथा गमिष्यामि शत्रूणां शत्रुसूदन ।
अद्यैव पश्य दुर्धर्षं पात्यमानं महारथम् ॥ ७४ ॥
तारापतिमिवापूर्णमन्तकाले यदृच्छया ।

'शत्रुसूदन ! मैं सब शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा । देखिये, आज ही मैं पूर्ण चन्द्रमाके समान दुर्जय वीर महारथी भीष्मको उनके अन्तिम समयमें इच्छानुसार मार गिराता हूँ' ।७४½।

माधवस्तु वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ॥ ७५ ॥
(अभवत् परमप्रीतो ज्ञात्वा पार्थस्य विक्रमम् ।)
न किंचिदुक्त्वा सक्रोध आरुरोह रथं पुनः ।

महामना अर्जुनका यह वचन सुनकर उनके पराक्रमको जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऊपरसे कुछ भी न बोलकर पुनः क्रोधपूर्वक ही रथपर जा बैठे ॥ ७५½ ॥

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ भीष्मः शान्तनवः पुनः ॥ ७६ ॥
ववर्ष शरवर्षेण मेघो वृष्ट्या यथाचलौ ।

पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथपर बैठे देख शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा गिरा रहा हो।७६½।

प्राणानादत्त योधानां पिता देवव्रतस्तव ॥ ७७ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तेजांसि शिशिरात्यये ।

राजन् ! आपके ताऊ देवव्रत उसी प्रकार पाण्डव योद्धाओंके प्राण लेने लगे, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य अपनी किरणोंद्वारा सबके तेज हर लेते हैं ॥ ७७½ ॥

यथा कुरूणां सैन्यानि बभञ्जुर्युधि पाण्डवाः ॥ ७८ ॥
तथा पाण्डवसैन्यानि बभञ्ज युधि ते पिता ।

महाराज ! जैसे पाण्डवोंने युद्धमें कौरव-सेनाओंको खदेड़ा था, उसी प्रकार आपके ताऊ भीष्मने भी पाण्डव-सेनाओंको मार भगाया ॥ ७८½ ॥

हतविद्रुतसैन्यास्तु निरुत्साहा विचेतसः ॥ ७९ ॥
निरीक्षितुं न शेकुस्ते भीष्ममप्रतिमं रणे ।
मध्यंगतमिवादित्यं प्रतपन्तं स्वतेजसा ॥ ८० ॥

घायल होकर भागे हुए सैनिक उत्साहशून्य और अचेत हो रहे थे । वे रणक्षेत्रमें अनुपम वीर भीष्मजीकी ओर आँख उठाकर देख भी न सके, ठीक उसी तरह, जैसे दोपहरमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर कोई भी देख नहीं पाता ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण शतशोऽथ सहस्रशः ।
कुर्वाणं समरे कर्माण्यतिमानुषविक्रमम् ॥ ८१ ॥
वीक्षांचक्रुर्महाराज पाण्डवा भयपीडिताः ।

महाराज ! भीष्मके द्वारा मारे जाते हुए सैकड़ों और हजारों पाण्डव सैनिक समरमें अलौकिक पराक्रम प्रकट करनेवाले भीष्मको भयसे पीड़ित होकर देख रहे थे ॥८१½॥

तथा पाण्डवसैन्यानि द्राव्यमाणानि भारत ॥ ८२ ॥
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः पङ्कगता इव ।
पिपीलिका इव क्षुण्णा दुर्बला बलिना रणे ॥ ८३ ॥

भारत ! भागती हुई पाण्डव-सेनाएँ कीचड़में फँसी हुई गायोंकी भाँति किसीको अपना रक्षक नहीं पाती थीं। समर-भूमिमें बलवान् भीष्मने उन दुर्बल सैनिकोंको चींटियोंकी भाँति मसल डाला ॥ ८२-८३ ॥

महारथं भारत दुष्प्रकम्पं
शरौघिणं प्रतपन्तं नरेन्द्रान् ।
भीष्मं न शेकुः प्रतिवीक्षितुं ते
शरार्चिषं सूर्यमिवातपन्तम् ॥ ८४ ॥

भारत ! महारथी भीष्म अविचलभावसे खड़े होकर बाणोंकी वर्षा करते और पाण्डव-पक्षीय नरेशोंको संताप देते थे। बाणरूपी किरणावलियोंसे सुशोभित और सूर्यकी भाँति तपते हुए भीष्मकी ओर वे देख भी नहीं पाते थे ॥ ८४ ॥

विमृद्नतस्तस्य तु पाण्डुसेना-
मस्तं जगामाथ सहस्ररश्मिः ।
ततो बलानां श्रमकर्शितानां
मनोऽवहारं प्रति सम्बभूव ॥ ८५ ॥

भीष्म पाण्डव-सेनाको जब इस प्रकार रौंद रहे थे, उसी समय सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये। उस समय परिश्रमसे थकी हुई समस्त सेनाओंके मनमें यही इच्छा हो रही थी कि अब युद्ध बंद हो जाय ।८५।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसयुद्धसमाप्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धकी समाप्तिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ। १०६।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धकी समाप्ति, रातमें पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंका भीष्मसे मिलकर उनके वधका उपाय जानना

संजय उवाच

युध्यतामेव तेषां तु भास्करेऽस्तमुपागते ।
संध्या समभवद् घोरा नापश्याम ततो रणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंके युद्ध करते समय ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और भयंकर संध्याकाल आ गया। फिर हमलोगोंने युद्ध नहीं देखा ॥१॥

ततो युधिष्ठिरो राजा संध्यां संदृश्य भारत ।
वध्यमानं च भीष्मेण त्यक्तास्त्रं भयविह्वलम् ॥ २ ॥
(निरुत्साहं बलं दृष्ट्वा पीडितं शरविक्षतम् ।)
स्वसैन्यं च परावृत्तं पलायनपरायणम् ।
भीष्मं च युधि संरब्धं पीडयन्तं महारथम् ॥ ३ ॥
सोमकांश्च जितान् दृष्ट्वा निरुत्साहान् महारथान् ।
(निशामुखं च सम्प्रेक्ष्य घोररूपं भयानकम् ।)
चिन्तयित्वा ततो राजा अवहारमरोचयत् ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने देखा कि संध्या हो गयी। भीष्मके द्वारा गहरी चोट खाकर मेरी सेनाने भयसे व्याकुल हो हथियार डाल दिया है। किसीमें लड़नेका उत्साह नहीं रह गया है। सारी सेना बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अत्यन्त पीड़ित हो गयी है। कितने ही सैनिक युद्धसे विमुख हो भागने लग गये हैं। उधर महारथी भीष्म क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें सबको पीड़ा दे रहे हैं। सोमकवंशी महारथी पराजित होकर अपना उत्साह खो बैठे हैं और घोररूप भयानक प्रदोषकाल आ पहुँचा है। इन सब बातोंपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने सेनाको युद्धसे लौटा लेना ही ठीक समझा ॥ २-४ ॥

(कथं जयेम भीष्मं वै महाबलपराक्रमम् ।
बुद्धिं स्वशिबिरं गन्तुं चक्रे राजा युधिष्ठिरः ॥)

महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीष्मको हम किस प्रकार जीत सकेंगे, यही सोचते हुए राजा युधिष्ठिरने अपने शिबिरमें जानेका विचार किया ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
तथैव तव सैन्यानामवहारो ह्यभूत् तदा ॥ ५ ॥

इसके बाद महाराज युधिष्ठिरने अपनी सेनाको पीछे लौटा लिया। इसी प्रकार आपकी सेना भी उस समय युद्धस्थलसे शिबिरकी ओर लौट चली ॥ ५ ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां कृत्वा तत्र महारथाः ।
न्यविशन्त कुरुश्रेष्ठ संग्रामे क्षतविक्षताः ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार संग्राममें क्षत-विक्षत हुए वे सब महारथी सेनाको लौटाकर शिबिरमें विश्राम करने लगे ॥६॥

भीष्मस्य समरे कर्म चिन्तयानास्तु पाण्डवाः ।
नालभन्त तदा शान्तिं भीष्मबाणप्रपीडिताः ॥ ७ ॥

पाण्डव भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्हें समराङ्गणमें भीष्मके पराक्रमका चिन्तन करके तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ७ ॥

भीष्मोऽपि समरे जित्वा पाण्डवान् सहसृंजयान् ।
पूज्यमानस्तव सुतैर्वन्द्यमानश्च भारत ॥ ८ ॥

न्यविशत् कुरुभिः सार्धं हृष्टरूपैः समन्ततः ।

भारत ! भीष्म भी समरभूमिमें सृंजयों तथा पाण्डवोंको जीतकर आपके पुत्रोंद्वारा प्रशंसित और अभिवन्दित हो अत्यन्त हर्षमें भरे हुए कौरवोंके साथ शिविरमें गये ॥ ८½ ॥

ततो रात्रिः समभवत् सर्वभूतप्रमोहिनी ॥ ९ ॥
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।
सृंजयाश्च दुराधर्षा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण भूतोंको मोहमयी निद्रामें डालनेवाली रात्रि आ गयी । उस भयंकर रात्रिके आरम्भकालमें वृष्णि-वंशियोंसहित दुर्धर्ष सृंजय और पाण्डव गुप्तमन्त्रणाके लिये एक साथ बैठे ॥ ९-१० ॥

आत्मनिःश्रेयसं सर्वे प्राप्तकालं महाबलाः ।
मन्त्रयामासुरव्यग्रा मन्त्रनिश्चयकोविदाः ॥ ११ ॥

उस समय वे समस्त महाबली वीर समयानुसार अपनी भलाईके प्रश्नपर स्वस्थचित्तसे विचार करने लगे । वे सभी लोग मन्त्रणा करके किसी निश्चयपर पहुँच जानेमें कुशल थे ॥ ११ ॥

(हनिष्याम यथा भीष्मं जयेम पृथिवीमिमाम् ॥)
ततो युधिष्ठिरो राजा मन्त्रयित्वा चिरं नृप ।
वासुदेवं समुद्वीक्ष्य वचनं चेदमाददे ॥ १२ ॥

उनमें यह विचार होने लगा कि हम भीष्मको कैसे मार सकेंगे और किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय प्राप्त करेंगे । नरेश्वर ! उस समय राजा युधिष्ठिरने दीर्घकालतक गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १२ ॥

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
गजं नलवनानीव विमृद्नन्तं बलं मम ॥ १३ ॥

'श्रीकृष्ण ! देखिये, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेनाका उसी प्रकार विनाश कर रहे हैं, जैसे हाथी सरकंडोंके जंगलोंको रौंद डालते हैं ॥ १३ ॥

(मम माधव सैन्येषु वध्यमानेषु तेन वै ।
कथं योत्स्याम दुर्धर्ष श्रेयो मेऽत्र विधीयताम् ॥
त्वमेव गतिरस्माकं नान्यां गतिमुपास्महे ।
न युद्धं रोचते मह्यं भीष्मेण सह माधव ।
हन्ति भीष्मो महावीरो मम सैन्यं च संयुगे ॥)

'माधव ! इनके द्वारा जब हमारी सेनाएँ मारी जा रही हैं, उस अवस्थामें इन दुर्धर्ष वीर भीष्मके साथ हमलोग कैसे युद्ध करें ? यहाँ जिस प्रकार हमारा भला हो, वह उपाय कीजिये । माधव ! आप ही हमारे आश्रय हैं । हम दूसरे किसीका सहारा नहीं लेते । हमें भीष्मजीके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता है । इधर महावीर भीष्म युद्धस्थलमें हमारी सेनाका संहार करते चले जा रहे हैं ।

न चैवैनं महात्मानमुत्सहामो निरीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्येषु प्रवृद्धमिव पावकम् ॥ १४ ॥

'ये प्रज्वलित अग्निके समान बाणोंकी लपटोंसे हमारी सेनामें सबको चाटते (भस्म करते) जा रहे हैं, हमलोग इन महात्माकी ओर देख भी नहीं पा रहे हैं ॥ १४ ॥

यथा घोरो महानागस्तक्षको वै विषोल्बणः ।
तथा भीष्मो रणे क्रुद्धस्तीक्ष्णशस्त्रः प्रतापवान् ॥ १५ ॥
गृहीतचापः समरे प्रमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।

'जैसे महानाग तक्षक अपने प्रचण्ड विषके कारण भयंकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीष्म युद्धस्थलमें जब हाथमें धनुष लेकर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगते हैं, उस समय अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंके कारण बड़े भयानक जान पड़ते हैं ॥ १५½ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च देवराट् ॥ १६ ॥
वरुणः पाशभृच्चापि सगदो वा धनेश्वरः ।
न तु भीष्मः सुसंक्रुद्धः शक्यो जेतुं महाहवे ॥ १७ ॥

'समरभूमिमें क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेरको भी जीता जा सकता है; परंतु इस महासमरमें कुपित भीष्मको पराजित करना असम्भव है ॥ १६-१७ ॥

सोऽहमेवंगते कृष्ण निमग्नः शोकसागरे ।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य संयुगे ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण ! ऐसी स्थितिमें मैं अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण युद्धस्थलमें भीष्मको सामने देखकर शोकके समुद्रमें डूबा जा रहा हूँ ॥ १८ ॥

वनं यास्यामि दुर्धर्ष श्रेयो वै तत्र मे गतम् ।
न युद्धं रोचते कृष्ण हन्ति भीष्मो हि नः सदा ॥ १९ ॥

'दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण ! अब मैं वनको चला जाऊँगा । मेरे लिये वनमें जाना ही कल्याणकारी होगा । मुझे युद्ध अच्छा नहीं लग रहा है; क्योंकि उसमें भीष्म सदा ही हमारे सैनिकोंका विनाश करते आ रहे हैं ॥ १९ ॥

यथा प्रज्वलितं वह्निं पतङ्गः समभिद्रवन् ।
एकतो मृत्युमभ्येति तथाहं भीष्ममीयिवान् ॥ २० ॥

'जैसे पतंग प्रज्वलित आगकी ओर दौड़ा जाकर एक-मात्र मृत्युको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमने भी भीष्म-पर आक्रमण करके मृत्युका ही वरण किया है ॥ २० ॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे शूराः सायकैर्भृशपीडिताः ॥ २१ ॥

'वार्ष्णेय ! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं क्षीण होता जा रहा हूँ । मेरे शूरवीर भाई बाणोंकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

मत्कृते भ्रातृसौहार्दाद् राज्यभ्रष्टा वनं गताः ।
परिक्लिष्टा तथा कृष्णा मत्कृते मधुसूदन ॥ २२ ॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये भ्रातृस्नेहवश ये भाई राज्यसे वञ्चित हुए और वनमें भी गये । मेरे ही कारण कृष्णाको भरी सभामें अपमानका कष्ट भोगना पड़ा ॥ २२ ॥

जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ।
जीवितस्याद्य शेषेण चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ २३ ॥

'इस समय मैं जीवनको ही बहुत मानता हूँ । आज तो जीवन भी दुर्लभ हो रहा है । अबसे जीवनके जितने दिन शेष हैं, उनके द्वारा मैं उत्तम धर्मका ही आचरण करूँगा ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सह केशव ।
स्वधर्मस्याविरोधेन हितं व्याहर केशव ॥ २४ ॥

'केशव ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो मुझे स्वधर्मके अनुकूल कोई हितकारक सलाह दीजिये' २४

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य कारुण्याद् बहुविस्तरम् ।
प्रत्युवाच ततः कृष्णः सान्त्वयानो युधिष्ठिरम् ॥ २५ ॥

करुणासे प्रेरित होकर कहे हुए युधिष्ठिरके ये विस्तृत वचन सुनकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए कहा ॥

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर ।
यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ॥ २६ ॥

'धर्मपुत्र ! सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीकुमार ! विषाद न कीजिये, आपके भाई बड़े ही शूरवीर, दुर्जय तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २६ ॥

अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ॥ २७ ॥

'अर्जुन और भीमसेन वायु तथा अग्निके समान तेजस्वी हैं । माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रममें दो इन्द्रोंके समान हैं ॥ २७ ॥

मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद् योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव ।
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महाराज ! आप सौहार्दवश मुझे भी आज्ञा दीजिये । मैं भीष्मके साथ युद्ध करूँगा । भला आपकी आज्ञा मिल जानेपर मैं इस महासमरमें क्या नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥ २९ ॥

'यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते हैं तो मैं युद्धमें पुरुषप्रवर भीष्मको ललकारकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ २९ ॥

यदि भीष्मे हते वीरे जयं पश्यसि पाण्डव ।
हन्तास्म्येकरथेनाद्य कुरुवृद्धं पितामहम् ॥ ३० ॥

'पाण्डुनन्दन ! यदि भीष्मके मारे जानेपर ही आपको अपनी विजय दिखायी दे रही है तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे आज कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्मको मार डालूँगा॥

पश्य मे विक्रमं राजन् महेन्द्रस्येव संयुगे ।
विमुञ्चन्तं महास्त्राणि पातयिष्यामि तं रथात् ॥ ३१ ॥

'राजन् ! कल युद्धमें इन्द्रके समान मेरा पराक्रम देखियेगा। मैं बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले भीष्मको रथसे मार गिराऊँगा ॥ ३१ ॥

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥ ३२ ॥

'जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें संदेह नहीं है । जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं ॥ ३२ ॥

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥ ३३ ॥

'राजन् ! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं । मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा।

एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥ ३४ ॥

'ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकते हैं । तात ! हमलोगोंमें यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक दूसरेको संकटसे उबारेंगे ॥ ३४ ॥

स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम् ।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत् तत् पार्थेन पूर्वतः ॥ ३५ ॥
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य संनिधौ ।
परिरक्ष्यमिदं तावद् वचः पार्थस्य धीमतः ॥ ३६ ॥

'राजेन्द्र ! आप मुझे युद्धके काममें नियुक्त कीजिये । मैं आपका योद्धा बनूँगा । युद्धके पहले उपप्लव्यनगरमें सब लोगोंके सामने अर्जुनने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं गङ्गानन्दन भीष्मका वध करूँगा, बुद्धिमान् पार्थके उस वचनका पालन करना मेरे लिये आवश्यक है ॥ ३५-३६ ॥

अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः ।
अथवा फाल्गुनस्यैष भारः परिमितो रणे ॥ ३७ ॥

'अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा की हो, उसकी पूर्ति करना मेरा कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है अथवा रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये यह बहुत थोड़ा भार है ॥ ३७ ॥

स हनिष्यति संग्रामे भीष्मं परपुरञ्जयम् ।
अशक्यमपि कुर्याद्धि रणे पार्थः समुद्यतः ॥ ३८ ॥

'वे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मको युद्धमें अवश्य मार डालेंगे । कुन्तीपुत्र अर्जुन उद्यत हो जायँ तो युद्धमें असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ॥ ३८ ॥

त्रिदशान् वा समुद्युक्तान् सहितान् दैत्यदानवैः ।
निहन्यादर्जुनः संख्ये किमु भीष्मं नराधिप ॥ ३९ ॥

'नरेश्वर ! दैत्यों और दानवोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी अर्जुन युद्धमें मार सकते हैं; फिर भीष्मको मारना कौन बड़ी बात है ॥ ३९ ॥

विपरीतो महावीर्यो गतसत्त्वोऽल्पजीवनः ।
भीष्मः शान्तनवो नूनं कर्तव्यं नावबुध्यते ॥ ४० ॥

'महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म तो हमारे विपरीत

पक्षका आश्रय लेनेवाले और बलहीन हैं। इनके जीवनके दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं, तथापि यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं' ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव।
सर्वे ह्येते न पर्याप्तास्तव वेगविधारणे ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! माधव ! आप जैसा कहते हैं, ठीक ऐसी ही बात है। ये समस्त कौरव आपका वेग धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४१ ॥

नियतं समवाप्स्यामि सर्वमेतद् यथेप्सितम्।
यस्य मे पुरुषव्याघ्र भवान् पक्षे व्यवस्थितः ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! जिसके पक्षमें आप खड़े हैं, वह मैं यह सब अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण कर लूँगा ॥ ४२ ॥

सेन्द्रानपि रणे देवाञ्जयेयं जयतां वर।
त्वया नाथेन गोविन्द किमु भीष्मं महारथम् ॥ ४३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ गोविन्द ! आपको अपना रक्षक पाकर मैं युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी जीत सकता हूँ; फिर महारथी भीष्मपर विजय पाना कौन बड़ी बात है ॥ ४३ ॥

न तु त्वामनृतं कर्तुमुत्सहे स्वात्मगौरवात्।
अयुध्यमानः साहाय्यं यथोक्तं कुरु माधव ॥ ४४ ॥

माधव ! परंतु मैं अपनी गुरुताका प्रभाव डालकर आपको असत्यवादी नहीं बना सकता। आप युद्ध किये बिना ही पूर्वोक्त सहायता करते रहिये ॥ ४४ ॥

समयस्तु कृतः कश्चिन्मम भीष्मेण संयुगे।
मन्त्रयिष्ये तवार्थाय न तु योत्स्ये कथञ्चन ॥ ४५ ॥
दुर्योधनार्थं योत्स्यामि सत्यमेतदिति प्रभो।

मेरी भीष्मजीके साथ एक शर्त हो चुकी है। उन्होंने कहा है कि 'मैं युद्धमें तुम्हारे हितके लिये सलाह दे सकता हूँ, परंतु तुम्हारी ओरसे किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। युद्ध तो मैं केवल दुर्योधनके लिये ही करूँगा।' प्रभो ! यह बिल्कुल सच्ची बात है ॥ ४५½ ॥

स हि राज्यस्य मे दाता मन्त्रस्यैव च माधव ॥ ४६ ॥
तस्माद् देवव्रतं भूयो वधोपायार्थमात्मनः।
भवता सहिताः सर्वे प्रयाम मधुसूदन ॥ ४७ ॥

अतः माधव ! भीष्मजी मुझे राज्य और मन्त्र (हितकर सलाह) दोनों देंगे। इसलिये मधुसूदन ! हम सब लोग पुनः आपके साथ देवव्रत भीष्मके पास उन्हींसे उनके वधका उपाय पूछने चलें ॥ ४६-४७ ॥

तद् वयं सहिता गत्वा भीष्ममाशु नरोत्तमम्।
नचिरात् सर्वे वार्ष्णेय मन्त्रं पृच्छाम कौरवम् ॥ ४८ ॥

वृष्णिनन्दन ! हम सब लोग शीघ्र ही एक साथ कुरुवंशी नरश्रेष्ठ भीष्मके पास चलें और उनसे सलाह लें ॥ ४८ ॥

स वक्ष्यति हितं वाक्यं सत्यमस्माञ्जनार्दन।
यथा च वक्ष्यते कृष्ण तथा कर्तास्मि संयुगे ॥ ४९ ॥

जनार्दन ! पूछनेपर वे हमें सत्य और हितकर बात बतायेंगे। श्रीकृष्ण ! वे जैसा कहेंगे, युद्धमें वैसा ही करूँगा ॥ ४९ ॥

स नो जयस्य दाता स्यान्मन्त्रस्य च दृढव्रतः।
बालाः पित्रा विहीनाश्च तेन संवर्धिता वयम् ॥ ५० ॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले भीष्मजी हमारे लिये विजय और सलाहके भी दाता हो सकते हैं। बाल्यावस्थामें जब हम पितृहीन हो गये थे, उस समय उन्होंने ही हमारा पालन-पोषण किया था ॥ ५० ॥

तं चेत् पितामहं वृद्धं हन्तुमिच्छामि माधव।
पितुः पितरमिष्टं च धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५१ ॥

माधव ! यद्यपि वे हमारे पिताके भी पिता और प्रिय हैं, तो भी उन बूढ़े पितामह भीष्मको भी मैं मारना चाहता हूँ। क्षत्रियकी इस जीविकाको धिक्कार है ! ॥ ५१ ॥

संजय उवाच

ततोऽब्रवीन्महाराज वार्ष्णेयः कुरुनन्दनम्।
रोचते मे महाप्राज्ञ राजेन्द्र तव भाषितम् ॥ ५२ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब भगवान् श्रीकृष्णने कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'महामते राजेन्द्र ! आपका कथन मुझे ठीक जान पड़ता है ॥ ५२ ॥

देवव्रतः कृती भीष्मः प्रेक्षितेनापि निर्दहेत्।
गम्यतां स वधोपायं प्रष्टुं सागरगासुतः ॥ ५३ ॥

'देवव्रत भीष्म पुण्यात्मा पुरुष हैं। वे दृष्टिपातमात्रसे सबको दग्ध कर सकते हैं; अतः गङ्गानन्दन भीष्मसे उनके वधका उपाय पूछनेके लिये आप अवश्य उनके पास चलें ॥

वक्तुमर्हति सत्यं स त्वया पृष्टो विशेषतः।
ते वयं तत्र गच्छामः प्रष्टुं कुरुपितामहम् ॥ ५४ ॥
गत्वा शान्तनवं वृद्धं मन्त्रं पृच्छाम भारत।
स वो दास्यति मन्त्रं यं तेन योत्स्यामहे परान् ॥ ५५ ॥

'विशेषतः आपके पूछनेपर वे अवश्य सच्ची बात बतायेंगे। अतः हम सब लोग मिलकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मसे अभीष्ट प्रश्न पूछनेके लिये साथ-साथ वहाँ चलें और भारत ! चलकर उनसे हितकारक मन्त्रणा पूछें। वे आपको ऐसी मन्त्रणा देंगे, जिससे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ५४-५५ ॥

एवमामन्त्र्य ते वीराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वजम्।
जग्मुस्ते सहिताः सर्वे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ५६ ॥

वे वीर पाण्डव इस प्रकार सलाह करके सब एक साथ

मिलकर अपने पिता पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मपितामहके पास गये; उनके साथ पराक्रमी भगवान् वासुदेव भी थे ।५६।

विमुक्तशस्त्रकवचा भीष्मस्य सदनं प्रति ।
प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रणिपेदिरे ॥ ५७ ॥

उन सबने अस्त्र-शस्त्र और कवच रख दिये थे। वे भीष्मके शिबिरकी ओर गये और उसके भीतर प्रवेश करके उन्होंने भीष्मको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ५७ ॥

पूजयन्तो महाराज पाण्डवा भरतर्षभम् ।
प्रणम्य शिरसा चैनं भीष्मं शरणमभ्ययुः ॥ ५८ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने भरतश्रेष्ठ भीष्मकी पूजा करते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हींकी शरण ली ॥ ५८ ॥

तानुवाच महाबाहुर्भीष्मः कुरुपितामहः ।
स्वागतं तव वार्ष्णेय स्वागतं ते धनंजय ॥ ५९ ॥
स्वागतं धर्मपुत्राय भीमाय यमयोस्तथा ।
किं वा कार्यं करोम्यद्य युष्माकं प्रीतिवर्धनम् ॥ ६० ॥
(युद्धादन्यत्र हे वत्साः व्रियन्तां मा विशङ्कथ ।)
सर्वात्मनापि कर्तास्मि यदपि स्यात् सुदुष्करम् ।

उस समय कुरुकुलके पितामह महाबाहु भीष्मने उन सब लोगोंसे कहा—'वृष्णिनन्दन ! आपका स्वागत है । धनंजय ! तुम्हारा भी स्वागत है । धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन और नकुल-सहदेव सबका स्वागत है । आज मैं तुम सब लोगोंकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ । पुत्रो ! युद्धके अतिरिक्त जो चाहो, माँग लो, संकोच न करो । तुम्हारी माँग अत्यन्त दुष्कर हो तो भी मैं उसे सब प्रकारसे पूर्ण करूँगा' ॥ ५९-६०½ ॥

तथा ब्रुवाणं गाङ्गेयं प्रीतियुक्तं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
उवाच राजा दीनात्मा प्रीतियुक्तमिदं वचः ।

गङ्गानन्दन भीष्म जब बारंबार इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक कह रहे थे, उस समय राजा युधिष्ठिरने दीन हृदयसे प्रेमपूर्वक यह बात कही-॥ ६१½ ॥

कथं जयेम सर्वज्ञ कथं राज्यं लभेमहि ॥ ६२ ॥

'सर्वज्ञ ! युद्धमें हमारी जीत कैसे हो ? हम किस प्रकार राज्य प्राप्त करें ? ॥ ६२ ॥

प्रजानां संशयो न स्यात् कथं तन्मे वद प्रभो ।
भवान् हि नो वधोपायं ब्रवीतु स्वयमात्मनः ॥ ६३ ॥

'प्रभो ! हमारी प्रजाका जीवन संकटमें न पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कृपया यह सब मुझे बताइये । आप स्वयं ही हमें अपने वधका उपाय बताइये ॥ ६३ ॥

भवन्तं समरे वीर विषहेम कथं वयम् ।
न हि ते सूक्ष्ममप्यस्ति रन्ध्रं कुरुपितामह ॥ ६४ ॥

'वीर ! समरभूमिमें हमलोग आपका वेग कैसे सह सकते हैं ? कुरुकुलके वृद्ध पितामह ! आपमें कोई छोटा-सा भी छिद्र (दोष) नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६४ ॥

मण्डलेनैव धनुषा दृश्यसे संयुगे सदा ।
आददानं संदधानं विकर्षन्तं धनुर्न च ॥ ६५ ॥
पश्यामस्त्वां महाबाहो रथे सूर्यमिवापरम् ।

'आप युद्धमें सदा मण्डलाकार धनुषके साथ ही परिलक्षित होते हैं । महाबाहो ! आप रथपर दूसरे सूर्यके समान विराजमान होकर कब बाण हाथमें लेते हैं, कब धनुषपर रखते हैं और कब उसकी डोरीको खींचते हैं, यह सब हमलोग नहीं देख पाते हैं ॥ ६५½ ॥

रथाश्वनरनागानां हन्तारं परवीरहन् ॥ ६६ ॥
कोऽथ वोत्सहते जेतुं त्वां पुमान् भरतर्षभ ।

'शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! आप रथ, अश्व, पैदल मनुष्य और हाथियोंका भी संहार करनेवाले हैं। कौन पुरुष आपको जीतनेका साहस कर सकता है ? ॥ ६६½ ॥

वर्षता शरवर्षाणि संयुगे वैशसं कृतम् ॥ ६७ ॥
क्षयं नीता हि पृतना संयुगे महती मम ।

'आपने युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षा करके भारी संहार मचा रखा है । रणक्षेत्रमें मेरी विशाल सेना आपके द्वारा नष्ट हो चुकी है ॥ ६७½ ॥

यथा युधि जयेम त्वां यथा राज्यं भृशं मम ॥ ६८ ॥
मम सैन्यस्य च क्षेमं तन्मे ब्रूहि पितामह ।

'पितामह ! हमलोग युद्धमें जिस प्रकार आपको जीत सकें, जिस प्रकार हमें विपुल राज्यकी प्राप्ति हो सके और जिस प्रकार मेरी सेना भी सकुशल रह सके, वह उपाय मुझे बताइये' ॥ ६८½ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः पाण्डवान् पाण्डुपूर्वजः॥ ६९ ॥
न कथञ्चन कौन्तेय मयि जीवति संयुगे ।
जयो भवति सर्वज्ञ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७० ॥

तब पाण्डुके पितृतुल्य शान्तनुकुमार भीष्मजीने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'कुन्तीकुमार ! मेरे जीते-जी युद्धमें किसी प्रकार तुम्हारी विजय नहीं हो सकती । सर्वज्ञ ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ ६९-७० ॥

निर्जिते मयि युद्धेन रणे जेष्यथ पाण्डवाः ।
क्षिप्रं मयि प्रहरध्वं यदीच्छथ रणे जयम् ॥ ७१ ॥

'पाण्डवो ! यदि युद्धके द्वारा मैं किसी प्रकार जीत लिया जाऊँ, तभी तुमलोग रणक्षेत्रमें विजयी हो सकोगे । यदि युद्धमें विजय चाहते हो तो मुझपर शीघ्र ही (घातक) प्रहार करो ॥ ७१ ॥

अनुजानामि वः पार्थाः प्रहरध्वं यथासुखम् ।
एवं हि सुकृतं मन्ये भवतां विदितो ह्यहम् ॥ ७२ ॥
हते मयि हतं सर्वं तस्मादेवं विधीयताम् ।

'कुन्तीकुमारो ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम सुखपूर्वक मेरे ऊपर प्रहार करो। मैं तुम्हारे लिये यह पुण्यकी बात मानता हूँ कि तुम्हें मेरे इस प्रभावका ज्ञान हो गया कि मेरे मारे जानेपर सारी कौरव-सेना मरी हुई ही हो जायगी; अतः ऐसा ही करो (मुझे मार डालो)' ॥ ७२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तस्मादुपायं नो यथा युद्धे जयेमहि ॥ ७३ ॥
भवन्तं समरे क्रुद्धं दण्डहस्तमिवान्तकम्।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! हमलोग युद्धमें दण्डधारी यमराजकी भाँति क्रोधमें भरे हुए आपको जिस प्रकार जीत सकें, वैसा उपाय हमें आप ही बताइये ॥ ७३½ ॥

शक्यो वज्रधरो जेतुं वरुणोऽथ यमस्तथा ॥ ७४ ॥
न भवान् समरे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।

वज्रधारी इन्द्र, वरुण और यम—इन सबको जीता जा सकता है; परंतु आपको तो समरभूमिमें इन्द्र आदि देवता और असुर भी नहीं जीत सकते ॥ ७४½ ॥

भीष्म उवाच

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ॥ ७५ ॥
नाहं जेतुं रणे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ॥ ७६ ॥

भीष्मने कहा—महाबाहो ! पाण्डुनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, यह सत्य है। जबतक मेरे हाथमें शस्त्र होगा, जबतक मैं श्रेष्ठ धनुष लेकर युद्धके लिये सावधान एवं प्रयत्नशील रहूँगा, तबतक इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें मुझे जीत नहीं सकते ॥ ७५-७६ ॥

ततो मां न्यस्तशस्त्रं तु एते हन्युर्महारथाः।
निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे ॥ ७७ ॥
द्रवमाणे च भीते च तवास्मीति च वादिनि।
स्त्रियां स्त्रीनामधेये च विकले चैकपुत्रके ॥ ७८ ॥
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम।

जब मैं अस्त्र-शस्त्र डाल दूँ, उस अवस्थामें ये महारथी मुझे मार सकते हैं। जिसने शस्त्र नीचे डाल दिया हो, जो गिर पड़ा हो, जो कवच और ध्वजसे शून्य हो गया हो, जो भयभीत होकर भागता हो, अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह रहा हो, जो स्त्री हो, स्त्रियों-जैसा नाम रखता हो, विकल हो, जो अपने पिताका इकलौता पुत्र हो, अथवा जो नीच जातिका हो, ऐसे मनुष्यके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ७७-७८½ ॥

इमं मे शृणु राजेन्द्र संकल्पं पूर्वचिन्तितम् ॥ ७९ ॥
अमङ्गल्यध्वजं दृष्ट्वा न युध्येयं कदाचन।

राजेन्द्र ! मेरे पहलेसे सोचे हुए इस संकल्पको सुनो, जिसकी ध्वजामें कोई अमङ्गलसूचक चिह्न हो, ऐसे पुरुषको देखकर मैं कभी उसके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥७९½॥

य एष द्रौपदो राजंस्तव सैन्ये महारथः ॥ ८० ॥
शिखण्डी समरामर्षी शूरश्च समितिंजयः।
यथाभवच्च स्त्री पूर्वं पश्चात् पुंस्त्वं समागतः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो यह द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समरभूमिमें अमर्षशील, शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी है। वह पहले स्त्री था, फिर पुरुषभावको प्राप्त हुआ है ॥ ८०-८१ ॥

जानन्ति च भवन्तोऽपि सर्वमेतद् यथातथम्।
अर्जुनः समरे शूरः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ ८२ ॥
मामेव विशिखैस्तीक्ष्णैरभिद्रवतु दंशितः।

ये सारी बातें जैसे हुई हैं, वह सब तुमलोग भी जानते हो। शूरवीर अर्जुन समराङ्गणमें कवच धारण करके शिखण्डीको आगे रखकर मुझपर तीखे बाणोंद्वारा आक्रमण करे ॥

अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् स्त्रीपूर्वे च विशेषतः ॥ ८३ ॥
न प्रहर्तुमभीप्सामि गृहीतेषुः कथञ्चन।

शिखण्डीकी ध्वजा अमाङ्गलिक चिह्नसे युक्त है तथा विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है; इसलिये मैं हाथमें बाण लिये रहनेपर भी किसी प्रकार उसके ऊपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥ ८३½ ॥

तदन्तरं समासाद्य पाण्डवो मां धनंजयः ॥ ८४ ॥
शरैर्घातयतु क्षिप्रं समन्ताद् भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! इसी अवसरका लाभ लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओरसे शीघ्रतापूर्वक बाणोंद्वारा मार डालनेका प्रयत्न करे ॥ ८४½ ॥

न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम् ॥ ८५ ॥
ऋते कृष्णान्महाभागात् पाण्डवाद् वा धनञ्जयात्।

मैं महाभाग भगवान् श्रीकृष्ण अथवा पाण्डुपुत्र धनंजयके सिवा दूसरे किसीको जगत्‌में ऐसा नहीं देखता, जो युद्धके लिये उद्यत होनेपर मुझे मार सके ॥ ८५½ ॥

एष तस्मात् पुरोधाय कञ्चिदन्यं ममाग्रतः ॥ ८६ ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः।
मां पातयतु बीभत्सुरेवं तव जयो ध्रुवम् ॥ ८७ ॥

इसलिये यह अर्जुन श्रेष्ठ धनुष तथा दूसरे अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्धमें सावधानीके साथ प्रयत्नशील हो और उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त किसी पुरुषको अथवा शिखण्डीको मेरे सामने खड़ा करके स्वयं बाणोंद्वारा मुझे मार गिरावे। इसी प्रकार तुम्हारी निश्चितरूपसे विजय हो सकती है ॥ ८६-८७ ॥

एतत् कुरुष्व कौन्तेय यथोक्तं मम सुव्रत।
संग्रामे धार्तराष्ट्रांश्च हन्याः सर्वान् समागतान् ॥ ८८ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! तुम

मेरे ऊपर जैसे मैंने बतायी है, वैसी ही नीतिका प्रयोग करो। ऐसा करके ही तुम रणक्षेत्रमें आये हुए सम्पूर्ण धृतराष्ट्रपुत्रों एवं उनके सैनिकोंको मार सकते हो ॥ ८८ ॥

संजय उवाच

ते तु ज्ञात्वा ततः पार्था जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ।
अभिवाद्य महात्मानं भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ८९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! यह सब जानकर कुन्तीके सभी पुत्र कुरुकुलके वृद्ध पितामह महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिबिरकी ओर चले गये ॥ ८९ ॥

तथोक्तवति गाङ्गेये परलोकाय दीक्षिते ।
अर्जुनो दुःखसंतप्तः सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥ ९० ॥

गङ्गानन्दन भीष्म परलोककी दीक्षा ले चुके थे। उन्होंने जब पूर्वोक्त बात बतायी, तब अर्जुन दुःखसे संतप्त एवं लज्जित होकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ९० ॥

गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता ।
पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव ॥ ९१ ॥

'माधव! कुरुकुलके वृद्ध गुरुजन विशुद्ध-बुद्धि, मतिमान् पितामह भीष्मसे मैं रणक्षेत्रमें कैसे युद्ध करूँगा ॥ ९१ ॥

क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः ।
पांसुरूषितगात्रेण महात्मा परुषीकृतः ॥ ९२ ॥

'वासुदेव! बचपनमें खेलते समय मैंने अपने धूलि-धूसर शरीरसे उन महामनस्वी महात्माको सदा दूषित किया है ॥

यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज ।
तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः ॥ ९३ ॥
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत ।
इति मामब्रवीद् बाल्ये यः स वध्यः कथं मया ॥ ९४ ॥

'गदाग्रज! कहते हैं, मैं बचपनमें अपने पिता महात्मा पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मजीकी गोदमें चढ़कर जब उन्हें तात कहकर पुकारता था, उस समय उस बाल्यावस्थामें ही वे मुझसे इस प्रकार कहते थे—'भरतनन्दन! मैं तुम्हारा तात नहीं, तुम्हारे पिताका तात हूँ।' वे ही वृद्ध पितामह मेरे द्वारा मारने योग्य कैसे हो सकते हैं? ॥ ९३-९४ ॥

कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना ।
जयो वास्तु वधो वा मे कथं वा कृष्ण मन्यसे ॥ ९५ ॥

'भले ही वे मेरी सेनाका नाश कर डालें, मेरी विजय हो अथवा मृत्यु; परंतु मैं उन महात्मा भीष्मके साथ युद्ध नहीं करूँगा; अथवा श्रीकृष्ण! आप कैसा ठीक समझते हैं? ॥

(कथमस्मद्विधः कृष्ण जानन् धर्मं सनातनम् ।
न्यस्तशस्त्रे च वृद्धे च प्रहरेद्धि पितामहे ॥)

'श्रीकृष्ण! अपने सनातन धर्मको जाननेवाला मेरे-जैसा पुरुष हथियार डालकर बैठे हुए अपने बूढ़े पितामहपर प्रहार कैसे करेगा?' ॥

वासुदेव उवाच

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे ।
क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि ॥ ९६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—विजयी कुन्तीकुमार! तुम क्षत्रियधर्ममें स्थित हो। युद्धमें तुम पहले भीष्मके वधकी प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे? ॥ ९६ ॥

पातयैनं रथात् पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम् ।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति ॥ ९७ ॥

पार्थ! तुम युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्मको रथसे मार गिराओ। रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको मारे बिना तुम्हारी विजय नहीं होगी ॥ ९७ ॥

दृष्टमेतत् पुरा देवैर्गमिष्यति यमक्षयम् ।
यद् दृष्टं हि पुरा पार्थ तत् तथा न तदन्यथा ॥ ९८ ॥

इस बातको देवताओंने पहलेसे ही देख रक्खा है। भीष्म इसी प्रकार यमलोकको जायँगे। पार्थ! जिसे देवताओं-ने देखा है, वह उसी प्रकार होगा। उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ ९८ ॥

न हि भीष्मं दुराधर्षं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
त्वदन्यः शक्नुयाद् योद्धुमपि वज्रधरः स्वयम् ॥ ९९ ॥

दुर्धर्ष वीर भीष्म मुँह फैलाये हुए कालके समान प्रतीत होते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई, भले ही वह साक्षात् वज्र-धारी इन्द्र ही क्यों न हो, उनके साथ युद्ध नहीं कर सकता॥

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम ।
यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः ॥ १०० ॥

अर्जुन! तुम स्थिर होकर भीष्मको मारो और मेरी यह बात सुनो, जिसे पूर्वकालमें महाबुद्धिमान् बृहस्पतिजीने देवराज इन्द्रको बताया था ॥ १०० ॥

ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम् ।
आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः ॥ १०१ ॥

कोई बड़े-से-बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुणसम्पन्न पुरुष ही क्यों न हों, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करनेके लिये आ रहे हों तो उस आततायीको अवश्य मार डालना चाहिये॥

शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः क्षत्रियाणां धनंजय ।
योद्धव्यं रक्षितव्यं च यष्टव्यं चानसूयुभिः ॥ १०२ ॥

धनंजय! यह क्षत्रियोंका निश्चित सनातन धर्म है। उन्हें किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओंकी रक्षा और यज्ञ करते रहने चाहिये ॥ १०२ ॥

अर्जुन उवाच

शिखण्डी निधनं कृष्ण भीष्मस्य भविता ध्रुवम् ।
दृष्ट्वैव हि सदा भीष्मः पाञ्चाल्यं विनिवर्तते ॥ १०३ ॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! शिखण्डी निश्चय ही

भीष्मकी मृत्युका कारण होगा; क्योंकि भीष्म उस पाञ्चाल-राजकुमारको देखते ही सदा युद्धसे निवृत्त हो जाते हैं।१०३।

ते वयं प्रमुखे तस्य पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
गाङ्गेयं पातयिष्याम उपायेनेति मे मतिः ॥१०४॥

अतः हम सब लोग उनके सामने शिखण्डीको खड़ा करके शस्त्रप्रहाररूप उपायद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको मार गिरायेंगे, यही मेरा विचार है ॥ १०४ ॥

अहमन्यान् महेष्वासान् वारयिष्यामि सायकैः ।
शिखण्ड्यपि युधां श्रेष्ठं भीष्ममेवाभियोधयेत् ॥१०५॥

मैं बाणोंद्वारा अन्य महाधनुर्धरोंको रोकूँगा । शिखण्डी भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मके साथ ही युद्ध करे ॥ १०५ ॥

श्रुतं हि कुरुमुख्यस्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
कन्या ह्येषा पुरा भूत्वा पुरुषः समपद्यत ॥१०६॥

कुरुकुलके प्रधान वीर भीष्मका यह निश्चय है कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ है ॥ १०६ ॥

(अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीष्मस्य वधसंयुतम् ।
जहृषुर्हृष्टरोमाणः सकृष्णाः पाण्डवास्तदा ॥)

अर्जुनका भीष्मके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला यह वचन सुनकर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उस समय हर्षातिरेकके कारण उनके शरीरोंमें रोमाञ्च हो आया ॥

इत्येवं निश्चयं कृत्वा पाण्डवाः सहमाधवाः ।
अनुमान्य महात्मानं प्रययुर्हृष्टमानसाः ।
शयनानि यथास्वानि भेजिरे पुरुषर्षभाः ॥१०७॥

ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्णसहित पाण्डव मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो महात्मा भीष्मसे विदा लेकर चले गये और उन पुरुषशिरोमणियोंने अपनी-अपनी शय्याओंका आश्रय लिया ॥ १०७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसावहारोत्तरमन्त्रे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धके समाप्त होनेके पश्चात् परस्पर गुप्तमन्त्रणाविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ११४½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

दसवें दिन उभय पक्षकी सेनाका रणके लिये प्रस्थान तथा भीष्म और शिखण्डीका समागम एवं अर्जुनका शिखण्डीको भीष्मका वध करनेके लिये उत्साहित करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यवर्तत संयुगे ।
पाण्डवांश्च कथं भीष्मस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! शिखण्डीने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार आक्रमण किया और भीष्मने भी पाण्डवोंपर किस तरह चढ़ाई की? यह सब मुझे बताओ॥१॥

संजय उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सूर्यस्योदयनं प्रति ।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेष्वानकेषु च ॥ २ ॥
ध्मायत्सु दधिवर्णेषु जलजेषु समन्ततः ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य निर्याताः पाण्डवा युधि ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर रणभेरियाँ बज उठीं, मृदङ्ग और ढोल पीटे जाने लगे, दहीके समान श्वेतवर्णवाले शङ्ख सब ओर बजाये जाने लगे । उस समय समस्त पाण्डव शिखण्डीको आगे करके युद्धके लिये शिविरसे बाहर निकले ॥ २-३ ॥

कृत्वा व्यूहं महाराज सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
शिखण्डी सर्वसैन्यानामग्र आसीद् विशाम्पते ॥ ४ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! उस दिन शिखण्डी समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाले व्यूहका निर्माण करके स्वयं सब सेनाके सामने खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

चक्ररक्षौ ततस्तस्य भीमसेनधनंजयौ ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चैव वीर्यवान् ॥ ५ ॥

उस समय भीमसेन और अर्जुन शिखण्डीके रथके पहियोंके रक्षक बन गये। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्युने उसके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला॥

सात्यकिश्चेकितानश्च तेषां गोप्ता महारथः ।
धृष्टद्युम्नस्ततः पश्चात् पञ्चालैरभिरक्षितः ॥ ६ ॥

सात्यकि और चेकितान भी उन्हींके साथ थे। पाञ्चाल वीरोंसे सुरक्षित महारथी धृष्टद्युम्न उन सबके पीछे रहकर सबकी रक्षा करते रहे ॥ ६ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमाभ्यां सहितः प्रभुः ।
प्रययौ सिंहनादेन नादयन् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर नकुल-सहदेवके साथ अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये चले ॥ ७ ॥

विराटस्तु ततः पश्चात् स्वेन सैन्येन संवृतः ।
द्रुपदश्च महाबाहो ततः पश्चादुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

उनके पीछे अपनी सेनाके साथ राजा विराट चलने लगे। महाबाहो! विराटके पीछे द्रुपदने धावा किया ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान्।
जघनं पालयामासुः पाण्डुसैन्यस्य भारत ॥ ९ ॥

भारत! इसके बाद पाँचों भाई केकय तथा पराक्रमी धृष्टकेतु—ये पाण्डवसेनाके जघनभागकी रक्षा करने लगे ॥ ९ ॥

एवं व्यूह्य महासैन्यं पाण्डवास्तव वाहिनीम्।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

इस प्रकार पाण्डवोंने अपनी विशाल सेनाके व्यूहका निर्माण करके संग्राममें अपने जीवनका मोह छोड़कर आपकी सेनापर धावा किया ॥ १० ॥

तथैव कुरवो राजन् भीष्मं कृत्वा महारथम्।
अग्रतः सर्वसैन्यानां प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ ११ ॥

राजन्! इसी प्रकार कौरवोंने भी महारथी भीष्मको सब सेनाओंके आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ाई की ॥ ११ ॥

पुत्रैस्तव दुराधर्षो रक्षितः सुमहाबलैः।
(प्रययौ पाण्डवानीकं भीष्मः शान्तनुनन्दनः।)
ततो द्रोणो महेष्वासः पुत्रश्चास्य महाबलः ॥ १२ ॥

दुर्धर्ष वीर शान्तनुनन्दन भीष्म आपके महाबली पुत्रोंसे सुरक्षित हो पाण्डवोंकी सेनाकी ओर बढ़े। उनके पीछे महाधनुर्धर द्रोणाचार्य और महाबली अश्वत्थामा चले ॥ १२ ॥

भगदत्तस्ततः पश्चाद् गजानीकेन संवृतः।
कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तमनुव्रतौ ॥ १३ ॥

इन दोनोंके पीछे हाथियोंकी विशाल सेनासे घिरे हुए राजा भगदत्त चले। कृपाचार्य और कृतवर्माने भगदत्तका अनुसरण किया ॥ १३ ॥

काम्बोजराजो बलवांस्ततः पश्चात् सुदक्षिणः।
मागधश्च जयत्सेनः सौबलश्च बृहद्बलः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् बलवान् काम्बोजराज सुदक्षिण, मगधदेशीय जयत्सेन तथा सुबलपुत्र बृहद्बल चले ॥ १४ ॥

तथैवान्ये महेष्वासाः सुशर्मप्रमुखा नृपाः।
जघनं पालयामासुस्तव सैन्यस्य भारत ॥ १५ ॥

भारत! इसी प्रकार सुशर्मा आदि अन्य महाधनुर्धर राजाओंने आपकी सेनाके जघनभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १५ ॥

दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवो युधि।
आसुरानकरोद् व्यूहान् पैशाचानथ राक्षसान्॥ १६ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें प्रतिदिन असुर, पिशाच तथा राक्षसव्यूहोंका निर्माण किया करते थे ॥ १६ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत।
अन्योन्यं निघ्नतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १७ ॥

भारत! (उस दिन भी व्यूह-रचनाके बाद) आपके और पाण्डवोंकी सेनामें युद्ध आरम्भ हुआ। राजन्! परस्पर घातक प्रहार करनेवाले उन वीरोंका युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १७ ॥

अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
भीष्मं युद्धेऽभ्यवर्तन्त किरन्तो विविधाञ्छरान् ॥१८॥

अर्जुन आदि कुन्तीकुमारोंने शिखण्डीको आगे करके युद्धमें नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ भीष्मपर चढ़ाई की ॥ १८ ॥

तत्र भारत भीमेन ताडितास्तावकाः शरैः।
रुधिरौघपरिक्लिन्नाः परलोकं ययुस्तदा ॥ १९ ॥

भारत! वहाँ भीमसेनके द्वारा बाणोंसे ताड़ित हुए आपके सैनिक खूनसे लथपथ होकर परलोकगामी होने लगे ॥१९॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः।
तव सैन्यं समासाद्य पीडयामासुरोजसा ॥ २० ॥

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने आपकी सेनापर धावा करके उसे बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ २० ॥

ते वध्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ।
नाशक्नुवन् वारयितुं पाण्डवानां महद् बलम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! आपके सैनिक समरभूमिमें मारे जाने लगे। वे पाण्डवोंकी विशाल सेनाको रोक न सके ॥ २१ ॥

ततस्तु तावकं सैन्यं वध्यमानं समन्ततः।
सुसम्प्राप्तं दश दिशः काल्यमानं महारथैः ॥ २२ ॥

उन महारथी वीरोंद्वारा सब ओरसे मारी और खदेड़ी जाती हुई आपकी सेना सब दिशाओंमें भाग खड़ी हुई।२२।

त्रातारं नाध्यगच्छन्त तावका भरतर्षभ।
वध्यमानाः शितैर्बाणैः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ! पाण्डवों और सृंजयोंके तीखे बाणोंसे घायल होनेवाले आपके सैनिकोंको कोई रक्षक नहीं मिलता था।२३।

धृतराष्ट्र उवाच

पीड्यमानं बलं दृष्ट्वा पार्थैर्भीष्मः पराक्रमी।
यदकार्षीद् रणे क्रुद्धस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! कुन्तीकुमारोंके द्वारा अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख युद्धमें क्रुद्ध हुए पराक्रमी भीष्मने क्या किया? यह मुझे बताओ ॥ २४ ॥

कथं वा पाण्डवान् युद्धे प्रत्युद्यातः परंतपः ।
विनिघ्नन् सोमकान् वीरस्तदाचक्ष्व ममानघ ॥ २५ ॥

अनघ ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर भीष्मने युद्धस्थलमें सोमकोंका संहार करते हुए उस समय पाण्डवोंपर किस प्रकार आक्रमण किया ? वह सब भी मुझे बताओ ॥ २५ ॥

संजय उवाच

आचक्षे ते महाराज यदकार्षीत् पिता तव ।
पीडिते तव पुत्रस्य सैन्ये पाण्डवसृंजयैः ॥ २६ ॥

संजयने कहा—महाराज ! पाण्डवों तथा सृंजयोंद्वारा आपके पुत्रकी सेनाके पीड़ित होनेपर आपके ताऊ भीष्मने जो कुछ किया था, वह सब आपको बता रहा हूँ ॥ २६ ॥

प्रहृष्टमनसः शूराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अभ्यवर्तन्त निघ्नन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ २७ ॥

पाण्डुके बड़े भैया ! शूरवीर पाण्डव मनमें हर्ष और उत्साह भरकर आपके पुत्रकी सेनाका संहार करते हुए आगे बढ़े ॥ २७ ॥

तं विनाशं मनुष्येन्द्र नरवारणवाजिनाम् ।
नामृष्यत तदा भीष्मः सैन्यघातं रणे परैः ॥ २८ ॥

नरेन्द्र ! उस समय मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके उस विनाशको—रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये जानेवाले अपनी सेनाके संहारको भीष्मजी नहीं सह सके ॥ २८ ॥

स पाण्डवान् महेष्वासः पञ्चालांश्चैव सृंजयान् ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च शितैरञ्जलिकैस्तथा ॥ २९ ॥
अभ्यवर्षत दुर्धर्षस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।

वे महाधनुर्धर दुर्धर्ष वीर भीष्म अपने जीवनका मोह छोड़कर पाण्डवों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंपर तीखे नाराच, वत्सदन्त और अञ्जलिक आदि बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २९½ ॥

स पाण्डवानां प्रवरान् पञ्च राजन् महारथान् ॥ ३० ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्नाद् वारयामास सायकैः ।

राजन् ! वे अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवपक्षके पाँच श्रेष्ठ महारथियोंका रणक्षेत्रमें बाणोंद्वारा यत्नपूर्वक निवारण करने लगे ॥ ३०½ ॥

नानाशस्त्रास्त्रवर्षैस्तान् वीर्यामर्षप्रवेरितैः ॥ ३१ ॥
निजघ्ने समरे क्रुद्धो हस्त्यश्वं चामितं बहु ।

उन्होंने बल और क्रोधसे चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाद्वारा समराङ्गणमें उन पाँचों महारथियोंको मार डाला और कुपित होकर असंख्य हाथी-घोड़ोंका भी संहार कर डाला ॥ ३१½ ॥

रथिनोऽपातयद् राजन् रथेभ्यः पुरुषर्षभः ॥ ३२ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यः पादातांश्च समागतान् ।
गजारोहान् गजेभ्यश्च परेषां जयकारिणः ॥ ३३ ॥

राजन् ! पुरुषश्रेष्ठ भीष्मने कितने ही रथियोंको रथोंसे, घुड़सवारोंको घोड़ोंकी पीठोंसे, शत्रुओंपर विजय पानेवाले हाथीसवारोंको हाथियोंसे तथा सामने आये हुए पैदल सिपाहियोंको भी मार गिराया ॥ ३२-३३ ॥

तमेकं समरे भीष्मं त्वरमाणं महारथम् ।
पाण्डवाः समवर्तन्त वज्रहस्तमिवासुराः ॥ ३४ ॥

समरभूमिमें फुर्ती दिखानेवाले एकमात्र महारथी भीष्मपर समस्त पाण्डवोंने उसी प्रकार धावा किया, जैसे असुर वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करते हैं ॥ ३४ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शान् विमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।
दिक्ष्वदृश्यत सर्वासु घोरं संधारयन् वपुः ॥ ३५ ॥

भीष्म इन्द्रके वज्रके समान दुःसह स्पर्शवाले पैने बाणोंकी वर्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण दिशाओंमें भयंकर स्वरूप धारण किये दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

मण्डलीभूतमेवास्य नित्यं धनुरदृश्यत ।
संग्रामे युद्ध्यमानस्य शक्रचापोपमं महत् ॥ ३६ ॥

संग्रामभूमिमें युद्ध करते हुए भीष्मका इन्द्रधनुषके समान विशाल धनुष सदा मण्डलाकार ही दिखायी देता था ॥

तद् दृष्ट्वा समरे कर्म पुत्रास्तव विशाम्पते ।
विस्मयं परमं गत्वा पितामहमपूजयन् ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! रणक्षेत्रमें आपके पुत्र पितामहके उस कर्मको देखकर अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३७ ॥

पार्था विमनसो भूत्वा प्रैक्षन्त पितरं तव ॥ ३८ ॥
युध्यमानं रणे शूरं विप्रचित्तिमिवामराः ।

उस समय कुन्तीके पुत्र खिन्नचित्त होकर रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए आपके ताऊ शूरवीर भीष्मकी ओर उसी प्रकार देखने लगे, जैसे देवता विप्रचित्ति नामक दानवको देखते हैं ॥ ३८½ ॥

न चैनं वारयामासुर्व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ३९ ॥
दशमेऽहनि सम्प्राप्ते रथानीकं शिखण्डिनः ।
अदहन्निशितैर्बाणैः कृष्णवर्त्मेव काननम् ॥ ४० ॥

वे मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मको रोक न सके । दसवाँ दिन आनेपर भीष्म जैसे दावाग्नि वनको जला देती है, उसी प्रकार शिखण्डीकी रथसेनाको तीखे बाणोंकी आगमें भस्म करने लगे ॥ ३९-४० ॥

तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
आशीविषमिव क्रुद्धं कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ ४१ ॥

तब शिखण्डीने तीन बाणोंसे भीष्मकी छातीमें प्रहार किया । उस समय वे कालप्रेरित मृत्यु तथा क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान जान पड़ते थे ॥ ४१ ॥

स तेनातिभृशं विद्धः प्रेक्ष्य भीष्मः शिखण्डिनम् ।
अनिच्छन्निव संक्रुद्धः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

शिखण्डीके द्वारा अत्यन्त घायल हो भीष्म उसकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो बिना इच्छाके ही हँसते हुए इस प्रकार बोले —॥ ४२ ॥

काममभ्यस वा मा वा न त्वां योत्स्ये कथंचन ।
यैव हि त्वं कृता धात्रा सैव हि त्वं शिखण्डिनी ॥ ४३ ॥

'अरे, तू इच्छानुसार प्रहार कर या न कर। मैं तेरे साथ किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा। विधाताने जिस रूपमें तुझे उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है' ॥ ४३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिखण्डी क्रोधमूर्छितः ।
उवाचैनं तथा भीष्मं सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४४ ॥

उनकी यह बात सुनकर शिखण्डी क्रोधसे मूर्छित-सा हो गया और अपने मुँहके कोनोंको चाटता हुआ भीष्मसे इस प्रकार बोला—॥ ४४ ॥

जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रियाणां क्षयंकर ।
मया श्रुतं च ते युद्धं जामदग्न्येन वै सह ॥ ४५ ॥

'क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले महाबाहु भीष्म ! मैं भी आपको जानता हूँ। मैंने सुना है कि आपने जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ॥ ४५ ॥

दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं मया च बहुशः श्रुतः ।
जानन्नपि प्रभावं ते योत्स्येऽद्याहं त्वया सह ॥ ४६ ॥

'आपका यह दिव्य प्रभाव बहुत बार मेरे सुननेमें आया है। आपके उस प्रभावको जानकर भी मैं आज आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ४६ ॥

पाण्डवानां प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च नरोत्तम ।
अद्य त्वां योधयिष्यामि रणे पुरुषसत्तम ॥ ४७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर! आज पाण्डवोंका और अपना भी प्रिय करनेके लिये रणक्षेत्रमें खूब डटकर आपका सामना करूँगा ॥ ४७ ॥

ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि शपे सत्येन तेऽग्रतः ।
एतच्छ्रुत्वा च मद्वाक्यं यत् कृत्यं तत् समाचर॥ ४८ ॥

'मैं आपके सामने सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज आपको निश्चय ही मार डालूँगा। मेरी यह बात सुनकर आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये ॥ ४८ ॥

काममभ्यस वा मा वा न मे जीवन् प्रमोक्ष्यसे ।
सुदृष्टः क्रियतां भीष्म लोकोऽयं समितिंजय ॥ ४९ ॥

'युद्धविजयी भीष्मजी ! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार कीजिये या न कीजिये; परंतु आज आप मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेंगे। अब इस संसारको अच्छी तरह देख लीजिये' ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।
अविध्यत रणे भीष्मं प्रणुन्नं वाक्यसायकैः ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर शिखण्डीने जिन्हें पहले वचनरूपी बाणोंसे पीडित किया था, उन्हीं भीष्मको झुकी हुई गाँठवाले पाँच सायकोंद्वारा घायल कर दिया ।५०।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सव्यसाची महारथः ।
कालोऽयमिति संचिन्त्य शिखण्डिनमचोदयत्॥ ५१ ॥

उसके उस कथनको सुनकर महारथी सव्यसाची अर्जुनने यह सोचकर कि यही इसके उत्साह बढ़ानेका अवसर है, शिखण्डीसे इस प्रकार कहा—॥ ५१ ॥

अहं त्वामनुयास्यामि परान् विद्रावयञ्शरैः ।
अभिद्रव सुसंरब्धो भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ ५२ ॥

'वीर ! मैं बाणोंद्वारा शत्रुओंको भगाता हुआ सदा तुम्हारा साथ दूँगा। अतः तुम भयंकर पराक्रमी भीष्मपर रोषपूर्वक आक्रमण करो ॥ ५२ ॥

न हि ते संयुगे पीडां शक्तः कर्तुं महाबलः ।
तस्मादद्य महाबाहो यत्नाद् भीष्ममभिद्रव ॥ ५३ ॥

'महाबाहो ! युद्धमें महाबली भीष्म तुम्हें पीड़ा नहीं दे सकते, इसलिये आज यत्नपूर्वक इनके ऊपर धावा करो।५३।

अहत्वा समरे भीष्मं यदि यास्यसि मारिष ।
अवहास्योऽस्य लोकस्य भविष्यसि मया सह ॥ ५४ ॥

'आर्य ! यदि समरभूमिमें भीष्मको मारे बिना लौट जाओगे तो मेरेसहित तुम इस लोकमें उपहासके पात्र बन जाओगे ॥ ५४ ॥

नावहास्या यथा वीर भवेम परमाहवे ।
तथा कुरु रणे यत्नं साधयस्व पितामहम् ॥ ५५ ॥

'वीर ! इस महायुद्धमें जैसे भी हमलोग हँसीके पात्र न बनें, वैसा प्रयत्न करो। रणक्षेत्रमें पितामह भीष्मको अवश्य मार डालो ॥ ५५ ॥

अहं ते रक्षणं युद्धे करिष्यामि महाबल ।
वारयन् रथिनः सर्वान् साधयस्व पितामहम् ॥ ५६ ॥

'महाबली वीर ! इस युद्धमें मैं सब रथियोंको रोककर सदा तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। तुम पितामहको मारनेका कार्य सिद्ध कर लो ॥ ५६ ॥

द्रोणं च द्रोणपुत्रं च कृपं चाथ सुयोधनम् ।
चित्रसेनं विकर्णं च सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ ५७ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम्।
भगदत्तं तथा शूरं मागधं च महाबलम् ॥ ५८ ॥
सौमदत्तिं तथा शूरमार्ष्यश‍ृङ्गिं च राक्षसम् ।
त्रिगर्तराजं च रणे सह सर्वैर्महारथैः ॥ ५९ ॥
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।

'मैं द्रोणाचार्य, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुर्योधन, चित्रसेन, विकर्ण, सिन्धुराज जयद्रथ, अवन्तीके राजकुमार

भीष्मजीका शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करना

विन्द-अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण, शूरवीर भगदत्त, महाबली मगधराज, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, राक्षस अलम्बुष तथा त्रिगर्तराज सुशर्माको रणक्षेत्रमें सब महारथियोंके साथ उसी प्रकार रोक रक्खूँगा, जैसे तटभूमि समुद्रको आगे बढ़ने नहीं देती है ॥ ५७–५९½ ॥

कुरूंश्च सहितान् सर्वान् युध्यमानान् महाबलान् ।
निवारयिष्यामि रणे साधयस्व पितामहम् ॥ ६० ॥

'युद्धमें एक साथ लगे हुए समस्त महाबली कौरवोंको भी मैं युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दूँगा । तुम पितामह भीष्मके वधका कार्य सिद्ध करो' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मशिखण्डीसमागमे अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और शिखण्डीका समागमविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ १०८

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और दुर्योधनका संवाद तथा भीष्मके द्वारा लाखों सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यधावत् पितामहम् ।
पाञ्चाल्यः समरे क्रुद्धो धर्मात्मानं यतव्रतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीने समरभूमिमें कुपित होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा पितामह गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार धावा किया ?

केऽरक्षन् पाण्डवानीके शिखण्डिनमुदायुधाः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले जिगीषन्तो महारथाः ॥ २ ॥

पाण्डवोंकी सेनाके किन-किन वीर महारथियोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर विजयकी अभिलाषासे उस शीघ्रताके समय अपनी शीघ्रकारिताका परिचय देते हुए शिखण्डीका संरक्षण किया ? २

कथं शान्तनवो भीष्मः स तस्मिन् दशमेऽहनि ।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ ३ ॥

महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने दसवें दिन पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ ३ ॥

न मृष्यामि रणे भीष्मं प्रत्युद्यातं शिखण्डिना ।
कच्चिन्न रथभङ्गोऽस्य धनुर्वाशीर्यतास्यतः ॥ ४ ॥

रणक्षेत्रमें शिखण्डीने भीष्मपर आक्रमण किया, यह मुझसे सहन नहीं हो रहा है । कहीं उनका रथ तो नहीं टूट गया था अथवा बाणोंका प्रहार करते-करते उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो गये थे ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

नाशीर्यत धनुश्चास्य रथभङ्गो न चाप्यभूत् ।
युध्यमानस्य संग्रामे भीष्मस्य भरतर्षभ ॥ ५ ॥
निघ्नतः समरे शत्रूञ्शरैः संनतपर्वभिः ।

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! संग्राममें युद्ध करते समय भीष्मके न तो धनुषके ही टुकड़े-टुकड़े हुए थे और न उनका रथ ही टूटा था। वे समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते जा रहे थे ॥ ५½ ॥

अनेकशतसाहस्रास्तावकानां महारथाः ॥ ६ ॥
तथा दन्तिगणा राजन् हयाश्चैव सुसज्जिताः ।
अभ्यवर्तन्त युद्धाय पुरस्कृत्य पितामहम् ॥ ७ ॥

राजन् ! आपके कई लाख महारथी, हाथी और घोड़े सुसज्जित हो पितामह भीष्मको आगे करके युद्धके लिये बढ़ रहे थे॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्य स चापि समितिञ्जयः ।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम् ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! युद्धविजयी भीष्म अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमारोंके सैनिकोंका निरन्तर संहार कर रहे थे ८

युध्यमानं महेष्वासं विनिघ्नन्तं पराञ्शरैः ।
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं सर्वे ते नाभ्यवारयन् ॥ ९ ॥

बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारते हुए युद्धपरायण महाधनुर्धर भीष्मको पाण्डवोंसहित सारे पाञ्चाल योद्धा भी आगे बढ़नेसे रोक न सके ॥ ९ ॥

दशमेऽहनि सम्प्राप्ते ततस्तां रिपुवाहिनीम् ।
कीर्यमाणां शितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

दसवें दिन शत्रुकी सेनापर भीष्मके द्वारा सैकड़ों और हजारों पैने बाणोंकी वर्षा की जाने लगी परंतु पाण्डव इसे रोक न सके ॥

न हि भीष्मं महेष्वासं पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अशक्नुवन् रणे जेतुं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र ! पाशधारी यमराजके समान महाधनुर्धर भीष्मको युद्धमें जीतनेके लिये पाण्डव कभी समर्थ न हो सके ॥ ११ ॥

अथोपायान्महाराज सव्यसाची धनंजयः ।
त्रासयन् रथिनः सर्वान् बीभत्सुरपराजितः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और बायें हाथसे भी बाण चलानेमें समर्थ धनंजय अर्जुन समस्त रथियोंको भयभीत करते हुए उनके निकट आये ॥ १२ ॥

सिंहवद् विनदन्नुच्चैर्धनुर्ज्यां विक्षिपन् मुहुः ।
शरौघान् विसृजन् पार्थो व्यचरत् कालवद् रणे॥ १३ ॥

वे कुन्तीकुमार सिंहके समान उच्च स्वरसे गर्जना करते हुए बारंबार अपने धनुषकी डोरी खींचते और बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें कालके समान विचरते थे।१३।

तस्य शब्देन वित्रस्तास्तावका भरतर्षभ।
सिंहस्येव मृगा राजन् व्यद्रवन्त महाभयात्॥ १४॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! जैसे सिंहके शब्दसे अत्यन्त भयभीत होकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनके सिंहनादसे संत्रस्त हुए आपके सैनिक महान् भयके कारण भागने लगे।१४।

जयन्तं पाण्डवं दृष्ट्वा त्वत्सैन्यं चाभिपीडितम्।
दुर्योधनस्ततो भीष्ममब्रवीद् भृशपीडितः॥ १५॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनको जीतते और आपकी सेनाको पीड़ित होती देख दुर्योधन अत्यन्त पीड़ित होकर भीष्मसे बोला—।१५।

एष पाण्डुसुतस्तात श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
दहते मामकान् सर्वान् कृष्णवर्त्मेव काननम्॥ १६॥

'तात! ये श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, मेरे सारे सैनिकोंको उसी प्रकार दग्ध करते हैं, जैसे दावानल वनको॥ १६॥

पश्य सैन्यानि गाङ्गेय द्रवमाणानि सर्वशः।
पाण्डवेन युधां श्रेष्ठ काल्यमानानि संयुगे॥ १७॥

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन! देखिये, मेरी सेनाएँ सब ओर भाग रही हैं और अर्जुन युद्धस्थलमें खड़े हो उन्हें खदेड़ रहे हैं॥ १७॥

यथा पशुगणान् पालः संकालयति कानने।
तथेदं मामकं सैन्यं काल्यते शत्रुतापन॥ १८॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह! जैसे चरवाहा जंगलमें पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार मेरी यह सेना अर्जुनके द्वारा हाँकी जा रही है॥ १८॥

धनंजयशरैर्भग्नं द्रवमाणं ततस्ततः।
भीमोऽप्येवं दुराधर्षो विद्रावयति मे बलम्॥ १९॥

'धनंजयके बाणोंसे आहत हो व्यूह भंग करके इधर-उधर भागनेवाली मेरी सेनाको ये दुर्धर्ष वीर भीमसेन भी पीछेसे खदेड़ रहे हैं॥ १९॥

सात्यकिश्चेकितानश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
अभिमन्युः सुविक्रान्तो वाहिनीं द्रवते मम॥ २०॥

'सात्यकि, चेकितान, पाण्डु और माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव और पराक्रमी अभिमन्यु भी मेरी सेनाको भगा रहे हैं॥ २०॥

धृष्टद्युम्नस्तथा शूरो राक्षसश्च घटोत्कचः।
व्यद्रावयेतां सहसा सैन्यं मम महारणे॥ २१॥

'धृष्टद्युम्न तथा शूरवीर राक्षस घटोत्कचने भी सहसा इस महासमरमें आकर मेरी सेनाको मार भगाया है॥ २१॥

वध्यमानस्य सैन्यस्य सर्वैरेतैर्महारथैः।
नान्यां गतिं प्रपश्यामि स्थाने युद्धे च भारत॥ २२॥
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र देवतुल्यपराक्रम।
पर्याप्तस्तु भवाञ्शीघ्रं पीडितानां गतिर्भव॥ २३॥

'भारत! इन सब महारथियोंद्वारा मारी जाती हुई अपनी सेनाको मैं युद्धमें ठहरानेके लिये आपके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं देखता। देवतुल्य पराक्रमी पुरुषसिंह! केवल आप ही उसकी रक्षामें समर्थ हैं। अतः हम पीड़ितोंके लिये आप शीघ्र ही आश्रयदाता होइये'॥ २२-२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज पिता देवव्रतस्तव।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु कृत्वा निश्चयमात्मनः॥ २४॥
तव संधारयन् पुत्रमब्रवीच्छान्तनोः सुतः।
दुर्योधन विजानीहि स्थिरो भूत्वा विशाम्पते॥ २५॥

संजय कहते हैं—महाराज! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके ताऊ शान्तनुनन्दन देवव्रतने दो घड़ीतक कुछ चिन्तन करनेके पश्चात् अपना एक निश्चय करके आपके पुत्र दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—'प्रजानाथ दुर्योधन! सुस्थिर होकर इधर ध्यान दो॥ २४-२५॥

पूर्वकालं तव मया प्रतिज्ञातं महाबल।
हत्वा दशसहस्राणि क्षत्रियाणां महात्मनाम्॥ २६॥
संग्रामाद् व्यपयातव्यमेतत् कर्म ममाह्निकम्।
इति तत् कृतवांश्चाहं यथोक्तं भरतर्षभ॥ २७॥

'महाबली नरेश! पूर्वकालमें मैंने तुम्हारे लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि दस हजार महामनस्वी क्षत्रियोंका वध करके ही मुझे संग्रामभूमिसे हटना होगा और यह मेरा दैनिक कर्म होगा। भरतश्रेष्ठ! जैसा मैंने कहा था, वैसा अबतक करता आया हूँ॥ २६-२७॥

अद्य चापि महत् कर्म प्रकरिष्ये महाबल।
अहं वाद्य हतः शेष्ये हनिष्ये वाद्य पाण्डवान्॥ २८॥

'महाबली वीर! आज भी मैं महान् कर्म करूँगा। या तो आज मैं ही मारा जाकर रणभूमिमें सो जाऊँगा या पाण्डवोंका ही संहार करूँगा॥ २८॥

अद्य ते पुरुषव्याघ्र प्रतिमोक्ष्ये ऋणं तव।
भर्तृपिण्डकृतं राजन् निहतः पृतनामुखे॥ २९॥

'पुरुषसिंह! नरेश! तुम स्वामी हो, मुझपर तुम्हारे अन्नका ऋण है; आज युद्धके मुहानेपर मारा जाकर मैं तुम्हारे उस ऋणको उतार दूँगा'॥ २९॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठ क्षत्रियान् प्रवपञ्छरैः।
आससाद दुराधर्षः पाण्डवानामनीकिनीम्॥ ३०॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर दुर्धर्ष वीर भीष्मने क्षत्रियोंपर अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया।।

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं गाङ्गेयं भरतर्षभ ।
आशीविषमिव क्रुद्धं पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ३१ ॥

सेनाके मध्यभागमें स्थित हुए विषधर सर्पके समान कुपित भीष्मको पाण्डव सैनिक रोकने लगे ॥ ३१ ॥

दशमेऽहनि भीष्मस्तु दर्शयञ्शक्तिमात्मनः ।
राजञ्छतसहस्राणि सोऽवधीत् कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥

किंतु राजन् ! कुरुनन्दन ! दसवें दिन भीष्मने अपनी शक्तिका परिचय देते हुए लाखों पाण्डव-सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ३२ ॥

पञ्चालानां च ये श्रेष्ठा राजपुत्रा महारथाः ।
तेषामादत्त तेजांसि जलं सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा धरतीका जल सोख लेते हैं, उसी प्रकार भीष्मजीने पाञ्चालोंमें जो श्रेष्ठ महारथी राजकुमार थे, उन सबके तेज हर लिये ॥ ३३ ॥

हत्वा दश सहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
सारोहाणां महाराज हयानां चायुतं तथा ॥ ३४ ॥
पूर्णे शतसहस्रे द्वे पादातानां नरोत्तमः ।
प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥ ३५ ॥

महाराज ! सवारोंसहित दस हजार वेगशाली हाथियों, उतने ही घोड़ों और घुड़सवारों तथा दो लाख पैदल सैनिकोंको नरश्रेष्ठ भीष्मने रणभूमिमें धूमरहित अग्निकी भाँति फूँक डाला ॥ ३४-३५ ॥

न चैनं पाण्डवेयानां केचिच्छेकुर्निरीक्षितुम् ।
उत्तरं मार्गमास्थाय तपन्तमिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

उत्तरायणका आश्रय लेकर तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रतापी भीष्मकी ओर पाण्डवोंमेंसे कोई देखनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३६ ॥

ते पाण्डवेयाः संरब्धा महेष्वासेन पीडिताः ।
वधायाभ्यद्रवन् भीष्मं सृंजयाश्च महारथाः ॥ ३७ ॥

महाधनुर्धर भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव तथा सृंजय महारथी भीष्मके वधके लिये उनपर टूट पड़े ॥ ३७ ॥

संयुद्ध्यमानो बहुभिर्भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
अवकीर्णो महामेरुः शैलो मेघैरिवावृतः ॥ ३८ ॥

बहुत-से योद्धाओंके साथ अकेले युद्ध करते हुए शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय बाणोंसे आच्छादित हो मेघोंके समूहसे आवृत हुए महान् पर्वत मेरुकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३८ ॥

पुत्रास्तु तव गाङ्गेयं समन्तात् पर्यवारयन् ।
महत्या सेनया सार्धं ततो युद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥

राजन् ! आपके पुत्रोंने विशाल सेनाके साथ आकर गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया । तत्पश्चात् वहाँ विकट युद्ध होने लगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधन-संवादविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१०९।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके प्रोत्साहनसे शिखण्डीका भीष्मपर आक्रमण और दोनों सेनाओंके प्रमुख वीरोंका परस्पर युद्ध तथा दुःशासनका अर्जुनके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।
शिखण्डिनमथोवाच समभ्येहि पितामहम् ॥ १ ॥
न चापि भीस्त्वया कार्या भीष्मादद्य कथंचन ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्ये रथोत्तमात् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रणभूमिमें भीष्मका पराक्रम देखकर अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम पितामहका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो । आज भीष्मजीसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये । मैं स्वयं अपने पैने बाणोंद्वारा इनको उत्तम रथसे मार गिराऊँगा' ॥ १-२ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब अर्जुनने शिखण्डीसे ऐसा कहा, तब उसने पार्थके उस कथनको सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा राजन् सौभद्रश्च महारथः ।
हृष्टावाद्रवतां भीष्मं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ४ ॥

राजन् ! पार्थका वह भाषण सुनकर धृष्टद्युम्न तथा सुभद्राकुमार महारथी अभिमन्यु—ये दोनों वीर हर्ष और उत्साहमें भरकर भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं पुत्रस्य तव पश्यतः ॥ ५ ॥

दोनों वृद्ध नरेश विराट और द्रुपद तथा कवचधारी कुन्तिभोज भी आपके पुत्रके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ ५ ॥

नकुलः सहदेवश्च धर्मराजश्च वीर्यवान्।
तथेतराणि सैन्यानि सर्वाण्येव विशाम्पते॥ ६॥
समाद्रवन्त गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम्।

प्रजानाथ! नकुल, सहदेव, पराक्रमी धर्मराज युधिष्ठिर तथा दूसरे समस्त सैनिक अर्जुनका उपर्युक्त वचन सुनकर भीष्मजीकी ओर बढ़ने लगे॥ ६½॥

प्रत्युद्ययुस्तावकाश्च समेतांस्तान् महारथान्॥ ७॥
यथाशक्ति यथोत्साहं तन्मे निगदतः शृणु।

इस प्रकार एकत्र हुए पाण्डव महारथियोंपर आपके पुत्रोंने भी जिस प्रकार अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार आक्रमण किया, वह सब बताता हूँ, सुनिये॥ ७½॥

चित्रसेनो महाराज चेकितानं समभ्ययात्॥ ८॥
भीष्मप्रेप्सुं रणे यान्तं वृषं व्याघ्रशिशुर्यथा।

महाराज! चित्रसेनने भीष्मके पास पहुँचनेकी इच्छासे रणमें जाते हुए चेकितानका सामना किया, मानो बाघका बच्चा बैलका सामना कर रहा हो॥ ८½॥

धृष्टद्युम्नं महाराज भीष्मान्तिकमुपागतम्॥ ९॥
त्वरमाणं रणे यत्तं कृतवर्मा न्यवारयत्।

राजन्! कृतवर्माने भीष्मजीके निकट पहुँचकर युद्धके लिये उतावलीपूर्वक प्रयत्न करनेवाले धृष्टद्युम्नको रोका॥ ९½॥

भीमसेनं सुसंक्रुद्धं गाङ्गेयस्य वधैषिणम्॥ १०॥
त्वरमाणो महाराज सौमदत्तिर्न्यवारयत्।

महाराज! भीमसेन भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर गङ्गानन्दन भीष्मका वध करना चाहते थे; परंतु सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाने तुरंत आकर उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया।१०½।

तथैव नकुलं शूरं किरन्तं सायकान् बहून्॥ ११॥
विकर्णो वारयामास इच्छन् भीष्मस्य जीवितम्।

इसी प्रकार शूरवीर नकुल बहुतसे सायकोंकी वर्षा कर रहे थे, परंतु भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विकर्णने उन्हें रोक दिया॥ ११½॥

सहदेवं तथा राजन् यान्तं भीष्मरथं प्रति॥ १२॥
वारयामास संक्रुद्धः कृपः शारद्वतो युधि।

राजन्! युद्धस्थलमें भीष्मके रथकी ओर जाते हुए सहदेवको कुपित हुए शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने रोक दिया॥१२½॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं भैमसेनिं महाबलम्॥ १३॥
भीष्मस्य निधनं प्रेप्सुं दुर्मुखोऽभ्यद्रवद् बली।

भीष्मकी मृत्यु चाहनेवाले क्रूरकर्मा राक्षस महाबली भीमसेनकुमार घटोत्कचपर बलवान् दुर्मुखने आक्रमण किया॥

सात्यकिं समरे यान्तं तव पुत्रो न्यवारयत्॥ १४॥
(भीष्मस्य वधमिच्छन्तं पाण्डवप्रीतिकाम्यया।)

पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका वध चाहनेवाले सात्यकिको युद्धके लिये जाते देख आपके पुत्र दुर्योधनने रोका॥

अभिमन्युं महाराज यान्तं भीष्मरथं प्रति।
सुदक्षिणो महाराज काम्बोजः प्रत्यवारयत्॥ १५॥

महाराज! भीष्मके रथकी ओर अग्रसर होनेवाले अभिमन्युको काम्बोजराज सुदक्षिणने रोका॥ १५॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ समेतावरिमर्दनौ।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो वारयामास भारत॥ १६॥

भारत! एक साथ आये हुए शत्रुमर्दन बूढ़े नरेश विराट और द्रुपदको क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाने रोक दिया॥

तथा पाण्डुसुतं ज्येष्ठं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
भारद्वाजो रणे यत्तो धर्मपुत्रमवारयत्॥ १७॥

भीष्मके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव धर्मपुत्र युधिष्ठिरको युद्धमें द्रोणाचार्यने यत्नपूर्वक रोका॥ १७॥

अर्जुनं रभसं युद्धे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
भीष्मप्रेप्सुं महाराज भासयन्तं दिशो दश॥ १८॥
दुःशासनो महेष्वासो वारयामास संयुगे।

महाराज! दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए वेगशाली वीर अर्जुन युद्धमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको मारना चाहते थे। उस समय महाधनुर्धर दुःशासनने युद्धके मैदानमें आकर उन्हें रोका॥ १८½॥

अन्ये च तावका योधाः पाण्डवानां महारथान्॥१९॥
भीष्मस्याभिमुखान् यातान् वारयामासुराहवे।

राजन्! इसी प्रकार आपके अन्य योद्धाओंने भीष्मके सम्मुख गये हुए पाण्डव महारथियोंको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया॥ १९½॥

धृष्टद्युम्नस्तु सैन्यानि प्राक्रोशत पुनः पुनः॥ २०॥
अभिद्रवत संरब्धा भीष्ममेकं महाबलम्।
एषोऽर्जुनो रणे भीष्मं प्रयाति कुरुनन्दनः॥ २१॥
अभिद्रवत मा भैष्ट भीष्मो हि प्राप्स्यते न वः।
अर्जुनं समरे योद्धुं नोत्सहेतापि वासवः॥ २२॥
किमु भीष्मो रणे वीरा गतसत्त्वोऽल्पजीवितः।

धृष्टद्युम्न अपने सैनिकोंसे बारंबार पुकार-पुकारकर कहने लगे—'वीरो! तुम सब लोग उत्साहित होकर एकमात्र महाबली भीष्मपर आक्रमण करो। ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अर्जुन रणक्षेत्रमें भीष्मपर चढ़ाई करते हैं। तुम भी उनपर टूट पड़ो। डरो मत। भीष्म तुमलोगोंको नहीं पा सकेंगे। इन्द्र भी समराङ्गणमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर ये धैर्य और शक्तिसे शून्य भीष्म रणक्षेत्रमें उनका सामना कैसे कर सकते हैं? अब इनका जीवन थोड़ा ही शेष रहा है'॥ २०-२२½॥

इति सेनापतेः श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ २३ ॥
अभ्यद्रवन्त संहृष्टा गाङ्गेयस्य रथं प्रति।

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डव महारथी अत्यन्त हर्षमें भरकर गङ्गानन्दन भीष्मके रथपर टूट पड़े ॥२३½॥

आगच्छमानान् समरे वार्योघान् प्रलयानिव ॥ २४ ॥
अवारयन्त संहृष्टास्तावकाः पुरुषर्षभाः।

युद्धमें प्रलयकालीन जलप्रवाहके समान आते हुए उन वीरोंको आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने हर्ष और उत्साहमें भरकर रोका ॥ २४½ ॥

दुःशासनो महाराज भयं त्यक्त्वा महारथः ॥ २५ ॥
भीष्मस्य जीविताकाङ्क्षी धनंजयमुपाद्रवत्।

महाराज ! महारथी दुःशासनने भय छोड़कर भीष्मकी जीवन-रक्षाके लिये धनंजयपर धावा किया ॥ २५½ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥ २६ ॥
अभ्यद्रवन्त संग्रामे तव पुत्रान् महारथाः।

इसी प्रकार शूरवीर महारथी पाण्डवोंने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मके रथकी ओर खड़े हुए आपके पुत्रोंपर आक्रमण किया॥

तत्राद्भुतमपश्याम चित्ररूपं विशाम्पते ॥ २७ ॥
दुःशासनरथं प्राप्य यत् पार्थो नात्यवर्तत।

प्रजानाथ ! वहाँ हमने सबसे अद्भुत और विचित्र बात यह देखी कि अर्जुन दुःशासनके रथके पास पहुँचकर वहाँसे आगे न बढ़ सके ॥ २७½ ॥

यथा वारयते वेला क्षुब्धतोयं महार्णवम् ॥ २८ ॥
तथैव पाण्डवं क्रुद्धं तव पुत्रो न्यवारयत्।

जैसे तटकी भूमि विक्षुब्ध जलराशिवाले महासागरको रोके रहती है, उसी प्रकार आपके पुत्रने क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको रोक दिया था ॥ २८½ ॥

उभौ तौ रथिनां श्रेष्ठावुभौ भारत दुर्जयौ ॥ २९ ॥
उभौ चन्द्रार्कसदृशौ कान्त्या दीप्त्या च भारत।
तथा तौ जातसंरम्भावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३० ॥
(दुःशासनार्जुनौ वीरौ वृत्रेन्द्रसमतेजसौ।)
समीयतुर्महासंख्ये मयशक्रौ यथा पुरा।

भारत ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और दुर्जय वीर थे। दोनों ही कान्ति और दीप्तिमें चन्द्रमा और सूर्यके समान जान पड़ते थे और भारत ! दुःशासन तथा अर्जुन दोनों वीर वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे दोनों क्रोधमें भरकर एक दूसरेके वधकी अभिलाषा रखते थे। उस महा-युद्धमें वे उसी प्रकार एक दूसरेसे भिड़े हुए थे, जैसे पूर्व-कालमें मयासुर और इन्द्र आपसमें लड़ते थे॥२९-३०½॥

दुःशासनो महाराज पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ॥ ३१ ॥
वासुदेवं च विंशत्या ताडयामास संयुगे।

महाराज ! दुःशासनने तीन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको और बीस बाणोंसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको युद्धमें घायल किया ॥ ३१½ ॥

ततोऽर्जुनो जातमन्युर्वार्ष्णेयं वीक्ष्य पीडितम् ॥ ३२ ॥
दुःशासनं शतेनाजौ नाराचानां समार्पयत्।

भगवान् श्रीकृष्णको बाणोंसे पीड़ित हुआ देख अर्जुन-का क्रोध उमड़ आया और उन्होंने दुःशासनको युद्धमें सौ नाराचोंसे घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ ३३ ॥
(यथैव पन्नगा राजंस्तटाकं तृषितास्तथा।)

वे नाराच रणक्षेत्रमें दुःशासनका कवच विदीर्ण करके उसका रक्त पीने लगे, मानो प्यासे सर्प तालाबमें घुस गये हों॥

दुःशासनस्त्रिभिः क्रुद्धः पार्थं विव्याध पत्रिभिः।
ललाटे भरतश्रेष्ठ शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब दुःशासनने कुपित होकर अर्जुनके ललाटमें झुकी हुई गाँठवाले तीन पंखयुक्त बाण मारे ॥३४॥

ललाटस्थैस्तु तैर्बाणैः शुशुभे पाण्डवो रणे।
यथा मेरुर्महाराज शृङ्गैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ॥ ३५ ॥

ललाटमें लगे हुए उन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन युद्धमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे मेरुपर्वत अपने तीन अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित होता है ॥ ३५ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः पुत्रेण तव धन्विना।
व्यराजत रणे पार्थः किंशुकः पुष्पवानिव ॥ ३६ ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा युद्धमें अधिक घायल किये जानेपर महाधनुर्धर अर्जुन खिले हुए पलाश वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ३६ ॥

दुःशासनं ततः क्रुद्धः पीडयामास पाण्डवः।
पर्वणीव सुसंक्रुद्धो राहुः पूर्णं निशाकरम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कुपित हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन दुःशासनको उसी प्रकार पीड़ा देने लगे, जैसे पूर्णिमाके दिन अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ राहु पूर्ण चन्द्रमाको पीड़ा देता है ॥३७॥

पीड्यमानो बलवता पुत्रस्तव विशाम्पते।
विव्याध समरे पार्थं कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! बलवान् अर्जुनके द्वारा पीड़ित होनेपर आप-के पुत्रने शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त बाणों-द्वारा समरभूमिमें उन कुन्तीकुमारको बींध डाला ॥ ३८ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा रथं चास्य त्रिभिः शरैः।
आजघान ततः पश्चात् पुत्रं ते निशितैः शरैः ॥ ३९ ॥

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे दुःशासनके रथ और धनुषको छिन्न-भिन्न करके आपके उस पुत्रको पैने बाणोंद्वारा अच्छी तरह घायल किया ॥ ३९ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मस्य प्रमुखे स्थितः।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४० ॥

तब दुःशासनने दूसरा धनुष ले भीष्मके सामने खड़े होकर अर्जुनकी दोनों भुजाओं और छातीमें पचीस बाण मारे ॥ ४० ॥

तस्य क्रुद्धो महाराज पाण्डवः शत्रुतापनः।
अप्रैषीद् विशिखान् घोरान् यमदण्डोपमान् बहून् ॥ ४१ ॥

महाराज ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो दुःशासनपर यमदण्डके समान भयंकर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४१ ॥

अप्राप्तानेव तान् बाणांश्चिच्छेद तनयस्तव।
यतमानस्य पार्थस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४२ ॥

परंतु आपके पुत्रने अर्जुनके प्रयत्नशील होते हुए भी उन बाणोंको अपने पास आनेके पहले ही काट डाला। वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४२ ॥

पार्थं च निशितैर्बाणैरविध्यत् तनयस्तव।
ततः क्रुद्धो रणे पार्थः शरान् संधाय कार्मुके ॥ ४३ ॥
प्रेषयामास समरे स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान्।

बाणोंको काटनेके पश्चात् आपके पुत्रने कुन्तीकुमार अर्जुनको तीखे बाणोंद्वारा बींध डाला, तब रणक्षेत्रमें अर्जुनने कुपित होकर अपने धनुषपर स्वर्णमय पंखसे युक्त एवं शिलापर रगड़कर तेज किये हुए बाणोंका संधान किया और उन्हें दुःशासनपर चलाया ॥ ४३½ ॥

न्यमज्जंस्ते महाराज तस्य काये महात्मनः ॥ ४४ ॥
यथा हंसा महाराज तडागं प्राप्य भारत।

महाराज ! भरतनन्दन ! जैसे हंस तालाबमें पहुँचकर उसके भीतर गोते लगाते हैं, उसी प्रकार वे बाण महामना दुःशासनके शरीरमें धँस गये ॥ ४४½ ॥

पीडितश्चैव पुत्रस्ते पाण्डवेन महात्मना ॥ ४५ ॥
हित्वा पार्थं रणे तूर्णं भीष्मस्य रथमाव्रजत्।
अगाधे मज्जतस्तस्य द्वीपो भीष्मोऽभवत् तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनके द्वारा पीड़ित होकर आपका पुत्र दुःशासन युद्धमें अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही भीष्मके रथपर जा बैठा। उस समय अगाध समुद्रमें डूबते हुए दुःशासनके लिये भीष्मजी द्वीप हो गये ॥४५-४६॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां पुत्रस्तव विशाम्पते।
अवारयत् ततः शूरो भूय एव पराक्रमी ॥ ४७ ॥
शरैः सुनिशितैः पार्थं यथा वृत्रं पुरंदरः।
निर्बिभेद महाकायो विव्यथे नैव चार्जुनः ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर होश-हवास ठीक होनेपर आपके पराक्रमी एवं शूरवीर पुत्र दुःशासनने पुनः अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको रोका, मानो इन्द्रने वृत्रासुरकी गतिको अवरुद्ध कर दिया हो। महाकाय दुःशासनने अर्जुनको अपने बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया; परंतु वे तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अर्जुनदुःशासनसमागमे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अर्जुन और दुःशासनका युद्धविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ११०

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव पक्षके प्रमुख महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन

संजय उवाच

सात्यकिं दंशितं युद्धे भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।
आर्ष्यशृङ्गिर्महेष्वासो वारयामास संयुगे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धस्थलमें कवचधारी सात्यकिको भीष्मसे युद्ध करनेके लिये उद्यत देख महाधनुर्धर राक्षस अलम्बुषने आकर उन्हें रोका ॥ १ ॥

माधवस्तु सुसंक्रुद्धो राक्षसं नवभिः शरैः।
आजघान रणे राजन् प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! यह देख सात्यकिने अत्यन्त कुपित हो उस रणक्षेत्रमें राक्षस अलम्बुषको हँसते हुए-से नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तथैव राक्षसो राजन् माधवं नवभिः शरैः।
अर्दयामास राजेन्द्र संक्रुद्धः शिनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! तब उस राक्षसने भी अत्यन्त कुपित होकर मधुवंशी सात्यकिको नौ बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ३ ॥

शैनेयः शरसंघं तु प्रेषयामास संयुगे।
राक्षसाय सुसंक्रुद्धो माधवः परवीरहा ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी सात्यकिका क्रोध बहुत बढ़ गया और समरभूमिमें उन्होंने राक्षसपर बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

ततो रक्षो महाबाहुं सात्यकिं सत्यविक्रमम्।
विव्याध विशिखैस्तीक्ष्णैः सिंहनादं ननाद च ॥ ५ ॥

तदनन्तर राक्षसने सत्यपराक्रमी महाबाहु सात्यकिको तीखे सायकोंसे बींध डाला और सिंहके समान गर्जना की ॥

माधवस्तु भृशं विद्धो राक्षसेन रणे तदा।
वार्यमाणश्च तेजस्वी जहास च ननाद च ॥ ६ ॥

उस समय राक्षसके द्वारा रणक्षेत्रमें रोके जाने और अत्यन्त घायल होनेपर भी मधुवंशी तेजस्वी सात्यकि हँसने और गर्जना करने लगे ॥ ६ ॥

भगदत्तस्ततः क्रुद्धो माधवं निशितैः शरैः।
ताडयामास समरे तोत्रैरिव महागजम् ॥ ७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए भगदत्तने पैने बाणोंद्वारा मधुवंशी सात्यकिको समरभूमिमें उसी प्रकार पीड़ित किया, जैसे महावत अंकुशोंद्वारा महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥७॥

विहाय राक्षसं युद्धे शैनेयो रथिनां वरः।
प्राग्ज्योतिषाय चिक्षेप शरान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने युद्धमें उस राक्षसको छोड़कर प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तपर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाण चलाये ॥ ८ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषो राजा माधवस्य महद् धनुः।
चिच्छेद शतधारेण भल्लेन कृतहस्तवत् ॥ ९ ॥

यह देख प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तने सात्यकिके विशाल धनुषको एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति सौ धारवाले भल्लके द्वारा काट डाला ॥ ९ ॥

अथान्यद् धनुरादाय वेगवत् परवीरहा।
भगदत्तं रणे क्रुद्धं विव्याध निशितैः शरैः ॥ १० ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सात्यकिने दूसरा वेग-वान् धनुष लेकर पैने बाणोंद्वारा युद्धमें क्रुद्ध हुए भगदत्तको बींध डाला ॥ १० ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
शक्तिं कनकवैदूर्यभूषितामायसीं दृढाम् ॥ ११ ॥
यमदण्डोपमां घोरां चिक्षेप परमाहवे।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भगदत्त अपने मुँहके दोनों कोने चाटने लगे। फिर उन्होंने उस महायुद्धमें कनक और वैदूर्य मणियोंसे विभूषित लोहेकी बनी हुई सुदृढ़ एवं यमदण्डके समान भयंकर शक्ति चलायी ११½

तामापतन्तीं सहसा तस्य बाहुबलेरिताम् ॥ १२ ॥
सात्यकिः समरे राजन् द्विधा चिच्छेद सायकैः।

उनके बाहुबलसे प्रेरित होकर समरभूमिमें सहसा अपने ऊपर गिरती हुई उस शक्तिके सात्यकिने बाणोंद्वारा दो टुकड़े कर दिये ॥ १२½ ॥

ततः पपात सहसा महोल्केव हतप्रभा ॥ १३ ॥
शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते।
महता रथवंशेन वारयामास माधवम् ॥ १४ ॥

तब वह शक्ति प्रभाहीन हुई बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ी। प्रजानाथ! भगदत्तकी शक्तिको नष्ट हुई देख आपके पुत्रने विशाल रथसेनाके साथ आकर सात्यकिको रोका ॥ १३–१४ ॥

तथा परिवृतं दृष्ट्वा वार्ष्णेयानां महारथम्।
दुर्योधनो भृशं क्रुद्धो भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ॥ १५ ॥

वृष्णिवंशी महारथी सात्यकिको रथसेनासे घिरा हुआ देख दुर्योधनने अत्यन्त कुपित होकर अपने समस्त भाइयोंसे कहा—॥ १५ ॥

तथा कुरुत कौरव्या यथा वः सात्यकिर्युधि।
न जीवन् प्रतिनिर्याति महतोऽस्माद् रथव्रजात् ॥ १६ ॥

'कौरवो! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इस समराङ्गणमें आये हुए सात्यकि हमारे इस महान् रथसमुदायसे जीवित न निकलने पावें ॥ १६ ॥

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डवानां महद् बलम्।
तथेति च वचस्तस्य परिगृह्य महारथाः ॥ १७ ॥
शैनेयं योधयामासुर्भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।

'सात्यकिके मारे जानेपर मैं पाण्डवोंकी विशाल सेनाको मरी हुई ही मानता हूँ।' दुर्योधनकी इस बातको मानकर कौरव महारथियोंने रणभूमिमें भीष्मका सामना करनेके लिये उद्यत हुए सात्यकिसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १७½ ॥

(अभिमन्युं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्याभ्युद्यतं वधे।)
काम्बोजराजो बलवान् वारयामास संयुगे ॥ १८ ॥

इसी प्रकार भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत होकर आते हुए अर्जुनकुमार अभिमन्युको बलवान् काम्बोजराजने युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १८ ॥

आर्जुनिं नृपतिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः।
पुनरेव चतुःषष्ट्या राजन् विव्याध तं नृप ॥ १९ ॥

राजन्! नरेश्वर! काम्बोजराजने झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाणोंद्वारा अभिमन्युको घायल करके पुनः चौसठ बाणोंसे मारकर उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १९ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य नवभिरिच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ॥ २० ॥

तदनन्तर समराङ्गणमें भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहने-वाले काम्बोजराज सुदक्षिणने अभिमन्युको पुनः पाँच बाण मारे और नौ बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ २० ॥

तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे।
यदाभ्यधावद् गाङ्गेयं शिखण्डी शत्रुकर्शनः ॥ २१ ॥

जब शत्रुसूदन शिखण्डीने गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया था, उस समय उन दोनों (अभिमन्यु और सुदक्षिण) के संघर्षमें वहाँ बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २१ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयन्तौ महाचमूम्।
भीष्मं च युधि संरब्धावाद्रवन्तौ महारथौ ॥ २२ ॥

बूढ़े राजा महारथी विराट और द्रुपद दुर्योधनकी उस

विशाल सेनाको रोकते हुए अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें भीष्मपर चढ़ आये ॥ २२ ॥

अश्वत्थामा रणे क्रुद्धः समायाद्रथसत्तमः।
ततः प्रववृते युद्धं तयोस्तस्य च भारत ॥ २३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा रणभूमिमें कुपित होकर आया। भारत ! फिर अश्वत्थामाका विराट और द्रुपदके साथ भारी युद्ध छिड़ गया ॥ २३ ॥

विराटो दशभिर्भल्लैराजघान परंतप।
यतमानं महेष्वासं द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ २४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! राजा विराटने संग्राममें शोभा पानेवाले प्रयत्नशील एवं महाधनुर्धर अश्वत्थामाको भल्ल नामक दस बाणोंसे घायल किया ॥ २४ ॥

द्रुपदश्च त्रिभिर्बाणैर्विव्याध निशितैस्तदा।
गुरुपुत्रं समासाद्य प्रहरन्तौ महाबलौ ॥ २५ ॥
अश्वत्थामा ततस्तौ तु विव्याध बहुभिः शरैः।
विराटद्रुपदौ वीरौ भीष्मं प्रति समुद्यतौ ॥ २६ ॥

उस समय द्रुपदने भी तीन तीखे बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको घायल कर दिया। इस प्रकार प्रहार करते हुए उन दोनों महाबली नरेशोंको अश्वत्थामाने अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला। विराट और द्रुपद दोनों वीर भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत थे ॥ २५–२६ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम वृद्धयोश्चरितं महत्।
यद् द्रौणिसायकान् घोरान् प्रत्यवारयतां युधि ॥ २७ ॥

राजन् ! वहाँ उन दोनों बूढ़े नरेशोंका हमने अद्भुत एवं महान् पराक्रम यह देखा कि वे युद्धमें अश्वत्थामाके भयंकर बाणोंका निवारण करते जा रहे थे ॥ २७ ॥

सहदेवं तथा यान्तं कृपः शारद्वतोऽभ्ययात्।
यथा नागो वने नागं मत्तो मत्तमुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्मपर चढ़ाई करनेवाले सहदेवको शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने सामने आकर रोका, मानो वनमें किसी मतवाले हाथीपर मदोन्मत्त गजराजने आक्रमण किया हो ॥ २८ ॥

कृपश्च समरे शूरो माद्रीपुत्रं महारथम्।
आजघान शरैस्तूर्णं सप्तत्या रुक्मभूषणैः ॥ २९ ॥

शूरवीर कृपाचार्यने समरभूमिमें महारथी माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित सत्तर बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तस्य माद्रीसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद सायकैः।
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध नवभिः शरैः ॥ ३० ॥

तब माद्रीकुमार सहदेवने भी अपने सायकोंद्वारा उनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे भारसाधनम्।
माद्रीपुत्रं सुसंहृष्टो दशभिर्निशितैः शरैः ॥ ३१ ॥
आजघानोरसि क्रुद्ध इच्छन् भीष्मस्य जीवितम्।

तदनन्तर भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले कृपाचार्यने समराङ्गणमें भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर अत्यन्त हर्षके साथ सहदेवकी छातीमें क्रोधपूर्वक दस तीखे बाण मारे ॥ ३१½ ॥

तथैव पाण्डवो राजञ्छारद्वतममर्षणम् ॥ ३२ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो भीष्मस्य वधकाङ्क्षया।
तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं भयावहम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डुकुमार सहदेवने भी कुपित हो भीष्मके वधकी इच्छासे अमर्षशील कृपाचार्यकी छातीमें अपने बाणोंद्वारा प्रहार किया। उन दोनोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर एवं भयंकर हो चला ॥ ३२-३३ ॥

नकुलं तु रणे क्रुद्धो विकर्णः शत्रुतापनः।
विव्याध सायकैः षष्ट्या रक्षन् भीष्मं महाबलम् ॥ ३४ ॥

दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी विकर्णने युद्धके मैदानमें महाबली भीष्मकी रक्षामें तत्पर हो साठ बाणोंद्वारा नकुलको घायल कर दिया ॥ ३४ ॥

नकुलोऽपि भृशं विद्धस्तव पुत्रेण धीमता।
विकर्णं सप्तसप्तत्या निर्बिभेद शिलीमुखैः ॥ ३५ ॥

आपके बुद्धिमान् पुत्र विकर्णद्वारा अत्यन्त घायल होकर नकुलने भी सतहत्तर बाणोंसे विकर्णको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तत्र तौ नरशार्दूलौ भीष्महेतोः परंतपौ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ गोष्ठे गोवृषभाविव ॥ ३६ ॥

जैसे गोशालामें दो साँड़ आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों पुरुषसिंह वीर विकर्ण और नकुल भीष्मकी रक्षाके लिये एक दूसरेपर घातक प्रहार कर रहे थे ॥

घटोत्कचं रणे यान्तं निघ्नन्तं तव वाहिनीम्।
दुर्मुखः समरे प्रायाद् भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ३७ ॥

उसी समय पराक्रमी दुर्मुखने समरभूमिमें भीष्मकी रक्षाके लिये राक्षस घटोत्कचपर आक्रमण किया, जो युद्धके मैदानमें आपकी सेनाका संहार करता हुआ आगे बढ़ रहा था ॥ ३७ ॥

हैडिम्बस्तु रणे राजन् दुर्मुखं शत्रुतापनम्।
आजघानोरसि क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा ॥ ३८ ॥

राजन् ! उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले दुर्मुखको क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३८ ॥

भीमसेनसुतं चापि दुर्मुखः सुमुखैः शरैः।
षष्ट्या वीरो नदन् हृष्टो विव्याध रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

तब वीर दुर्मुखने हर्षपूर्वक गर्जना करते हुए अपने तीखी नोकवाले बाणोंद्वारा भीमसेनके पुत्र घटोत्कचको युद्धके मुहानेपर साठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
हार्दिक्यो वारयामास रथश्रेष्ठं महारथः ॥ ४०॥

इसी प्रकार भीष्मके वधकी इच्छासे आते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको महारथी कृतवर्माने रोक दिया ॥ ४० ॥

हार्दिक्यः पार्षतं चापि विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः।
पुनः पञ्चाशता तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ४१ ॥

कृतवर्माने द्रुपदकुमारको लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे बींधकर फिर तुरंत ही पचास बाणोंसे घायल किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

आजघान महाबाहुः पार्षतं तं महारथम्।
तं चैव पार्षतो राजन् हार्दिक्यं नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
विव्याध निशितैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः।

इस प्रकार महाबाहु कृतवर्माने महारथी धृष्टद्युम्नको गहरी चोट पहुँचायी। राजन्! तब धृष्टद्युम्नने भी कंकपत्र-विभूषित सीधे जानेवाले तीखे एवं पैने नौ बाणोंसे कृतवर्मा-को क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२½ ॥

तयोः समभवद् युद्धं भीष्महेतोर्महाहवे ॥ ४३ ॥
अन्योन्यातिशये युक्तं यथा वृत्रमहेन्द्रयोः।

उस समय भीष्मजीके निमित्त उस महान् संग्राममें वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनों वीरोंका घोर युद्ध होने लगा, जिसमें वे एक दूसरेसे आगे बढ़ जानेके प्रयत्नमें लगे थे ॥ ४३½ ॥

भीमसेनं तथाऽऽयान्तं भीष्मं प्रति महारथम् ॥ ४४ ॥
भूरिश्रवाभ्ययात् तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

इसी तरह महारथी भीष्मकी ओर आते हुए भीमसेन-पर भूरिश्रवाने तुरंत आक्रमण किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४४½ ॥

सौमदत्तिरथो भीममाजघान स्तनान्तरे ॥ ४५ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन रुक्मपुङ्खेन संयुगे।

तदनन्तर सोमदत्तकुमारने युद्धस्थलमें सुवर्णमय पंखसे युक्त अत्यन्त तीखे नाराचद्वारा भीमसेनकी छातीमें प्रहार किया ॥ ४५½ ॥

उरःस्थेन बभौ तेन भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
स्कन्दशक्त्या यथा क्रौञ्चः पुरा नृपतिसत्तम।

नृपश्रेष्ठ! छातीमें लगे हुए उस बाणसे प्रतापी भीमसेन वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पूर्वकालमें कार्तिकेयकी शक्तिसे आविद्ध होनेपर क्रौञ्च पर्वतकी शोभा हुई थी ॥ ४६½ ॥

तौ शरान् सूर्यसंकाशान् कर्मारपरिमार्जितान् ॥ ४७ ॥
अन्योन्यस्य रणे क्रुद्धौ चिक्षिपाते नरर्षभौ।

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों नरश्रेष्ठ युद्धमें एक दूसरेपर लोहारके द्वारा माँजकर साफ किये हुए सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार कर रहे थे ॥ ४७½ ॥

भीमो भीष्मवधाकाङ्क्षी सौमदत्तिं महारथम् ॥ ४८ ॥
तथा भीष्मजये गृध्नुः सौमदत्तिस्तु पाण्डवम्।
कृतप्रतिकृते यत्तौ योधयामासतू रणे ॥ ४९ ॥

भीमसेन भीष्मके वधकी इच्छा रखकर महारथी भूरिश्रवा-पर चोट करते थे और भूरिश्रवा भीष्मकी विजय चाहता हुआ पाण्डुकुमार भीमसेनपर प्रहार करता था। वे दोनों युद्धमें एक दूसरेके अस्त्रोंका प्रतीकार करते हुए लड़ रहे थे ४८-४९

युधिष्ठिरं तु कौन्तेयं महत्या सेनया वृतम्।
भीष्माभिमुखमायान्तं भारद्वाजो न्यवारयत् ॥ ५० ॥
(तत्र युद्धमभूद् घोरं तयोः पुरुषसिंहयोः।)

दूसरी ओर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको विशाल सेनाके साथ भीष्मके सम्मुख आते देख द्रोणाचार्यने रोक दिया; वहाँ उन दोनों पुरुषसिंहोंमें घोर युद्ध हुआ ॥ ५० ॥

द्रोणस्य रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम्।
श्रुत्वा प्रभद्रका राजन् समकम्पन्त मारिष ॥ ५१ ॥

राजन्! द्रोणाचार्यके रथकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। आर्य! उसे सुनकर प्रभद्रक वीर काँप उठे ॥ ५१ ॥

सा सेना महती राजन् पाण्डुपुत्रस्य संयुगे।
द्रोणेन वारिता यत्ता न चचाल पदात् पदम् ॥ ५२ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना द्रोणके द्वारा जब रोक दी गयी, तब प्रयत्न करनेपर भी वह एक पग भी आगे न बढ़ सकी ॥ ५२ ॥

चेकितानं रणे यत्तं भीष्मं प्रति जनेश्वर।
चित्रसेनस्तव सुतः क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ५३ ॥

जनेश्वर! दूसरी ओर भीष्मके प्रति प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करनेवाले क्रोधमें भरे हुए चेकितानको रणभूमिमें आपके पुत्र चित्रसेनने रोक दिया ॥ ५३ ॥

भीष्महेतोः पराक्रान्तश्चित्रसेनः पराक्रमी।
चेकितानं परं शक्त्या योधयामास भारत ॥ ५४ ॥
तथैव चेकितानोऽपि चित्रसेनमवारयत्।
तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे ॥ ५५ ॥

पराक्रमी चित्रसेन भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम दिखा रहा था। भारत! उसने पूरी शक्ति लगाकर चेकितानके साथ युद्ध किया। इसी प्रकार चेकितानने भी चित्रसेनकी गति रोक दी। उन दोनोंकी मुठभेड़में वहाँ महान् युद्ध होने लगा ॥ ५४-५५ ॥

अर्जुनो वार्यमाणस्तु बहुशस्तत्र भारत।
विमुखीकृत्य पुत्रं ते सेनां तव ममर्द ह ॥ ५६ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ बारंबार रोके जानेपर भी अर्जुनने आपके पुत्रको युद्धसे विमुख करके आपकी सेनाको रौंद डाला ॥

दुःशासनोऽपि परया शक्त्या पार्थमवारयत्।
कथं भीष्मं न नो हन्यादिति निश्चित्य भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! उस समय दुःशासन भी यह निश्चय करके कि ये किसी प्रकार हमारे भीष्मको मार न सकें, पूरी शक्ति लगाकर अर्जुनको रोकनेका प्रयत्न करता रहा ॥ ५७ ॥

(पार्थोऽपि समरे राजन् दुःशासनमताडयत्।
ताडिते बहुधा पुत्रे पार्थबाणैरजिह्मगैः ॥
बभूव व्यथिता सेना दृष्ट्वा पार्थपराक्रमम्।
पुनश्च ताडिता तेन पार्थेनामिततेजसा ॥)

राजन् ! अर्जुनने भी समरमें दुःशासनको अपने बाणोंसे बहुत घायल किया। सीधे जानेवाले अर्जुनके बाणोंसे आपके पुत्रके बार-बार घायल होनेपर पार्थके उस पराक्रमको देखकर आपकी सारी सेना व्यथित हो उठी। अमित तेजस्वी अर्जुनने उसे बारंबार पीड़ित किया ॥

सा वध्यमाना समरे पुत्रस्य तव वाहिनी।
लोड्यते रथिभिः श्रेष्ठैस्तत्र तत्रैव भारत ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! उस संग्राममें आपके पुत्रकी सारी सेनाको जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ रथियोंने बाणोंसे विद्ध करके मथ डाला था ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका अश्वत्थामाको अशुभ शकुनोंकी सूचना देते हुए उसे भीष्मकी रक्षाके लिये धृष्टद्युम्नसे युद्ध करनेका आदेश देना

संजय उवाच

अथ वीरो महेष्वासो मत्तवारणविक्रमः।
समादाय महच्चापं मत्तवारणवारणम् ॥ १ ॥
विधुन्वानो नरश्रेष्ठो द्रावयाणो वरूथिनीम्।
पृतनां पाण्डवेयानां गाहमाना महाबलः ॥ २ ॥
निमित्तानि निमित्तज्ञः सर्वतो वीक्ष्य वीर्यवान्।
प्रतपन्तमनीकानि द्रोणः पुत्रमभाषत ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महाधनुर्धर, मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, वीर, नरश्रेष्ठ, महाबली तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता एवं अद्भुत शक्तिशाली द्रोणाचार्य मतवाले हाथियोंकी गतिको कुण्ठित कर देनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर उसे खींचने और विपक्षी सेनाको भगाने लगे। उन्होंने पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करते समय सब ओर बुरे निमित्त (शकुन) देखकर शत्रुसेनाको संताप देते हुए पुत्र अश्वत्थामासे इस प्रकार कहा—॥ १—३ ॥

अयं हि दिवसस्तात यत्र पार्थो महाबलः।
जिघांसुः समरे भीष्मं परं यत्नं करिष्यति ॥ ४ ॥

'तात ! यही वह दिन है, जब कि महाबली अर्जुन समरभूमिमें भीष्मको मार डालनेकी इच्छासे महान् प्रयत्न करेंगे॥

उत्पतन्ति हि मे बाणा धनुः प्रस्फुरतीव च।
योगमस्त्राणि गच्छन्ति क्रूरे मे वर्तते मतिः ॥ ५ ॥

'मेरे बाण तरकससे उछले पड़ते हैं, धनुष फड़क उठता है, अस्त्र स्वयं ही धनुषसे संयुक्त हो जाते हैं और मेरे मनमें क्रूरकर्म करनेका संकल्प हो रहा है ॥ ५ ॥

दिक्ष्वशान्तानि घोराणि व्याहरन्ति मृगद्विजाः।
नीचैर्गृध्रा निलीयन्ते भारतानां चमूं प्रति ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण दिशाओंमें पशु और पक्षी अशान्तिपूर्ण भयंकर बोली बोल रहे हैं। गीध नीचे आकर कौरव-सेनामें छिप रहे हैं॥

नष्टप्रभ इवादित्यः सर्वतो लोहिता दिशः।
रसते व्यथते भूमिः कम्पतीव च सर्वशः ॥ ७ ॥

'सूर्यकी प्रभा मन्द-सी पड़ गयी है। सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो रही हैं। पृथिवी सब ओरसे कोलाहलपूर्ण, व्यथित और कम्पित-सी हो रही है ॥ ७ ॥

कङ्का गृध्रा बलाकाश्च व्याहरन्ति मुहुर्मुहुः।
शिवाश्चैवाशिवा घोरा वेदयन्त्यो महद् भयम्॥ ८ ॥
(ववाशिरे भयकरा दीप्तास्याभिमुखे रवेः।)

'कंक, गीध और बगले बारंबार बोल रहे हैं। अमङ्गलमयी घोररूपवाली गीदड़ियाँ महान् भयकी सूचना देती हुई सूर्यकी ओर मुँह करके भयानक बोली बोला करती हैं और उनका मुँह प्रज्वलित-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलात्।
सकबन्धश्च परिघो भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

'सूर्यमण्डलके मध्यभागसे बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरी हैं। कबन्धयुक्त परिघ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ॥

परिवेषस्तथा घोरश्चन्द्रभास्करयोरभूत् ।
वेदयानो भयं घोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १० ॥

'चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर भयंकर घेरा पड़ने लगा है, जो क्षत्रियोंके शरीरका विनाश करनेवाले घोर भयकी सूचना दे रहा है ॥ १० ॥

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः ।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च ॥ ११ ॥

'कौरवराज धृतराष्ट्रके देवालयोंकी देवमूर्तियाँ हिलती, हँसती, नाचती तथा रोती जान पड़ती हैं ॥ ११ ॥

अपसव्यं ग्रहाश्चक्रुरलक्ष्माणं दिवाकरम् ।
अवाक्शिराश्च भगवानुपातिष्ठत चन्द्रमाः ॥ १२ ॥

'ग्रहोंने सूर्यकी वामावर्त परिक्रमा करके उन्हें अशुभ लक्षणोंका सूचक बना दिया है, भगवान् चन्द्रमा अपने दोनों कोनोंके सिरे नीचे करके उदित हुए हैं ॥ १२ ॥

वपूंषि च नरेन्द्राणां विगताभानि लक्षये ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु न च भ्राजन्ति दंशिताः ॥ १३ ॥

'राजाओंके शरीरोंको मैं श्रीहीन देख रहा हूँ । दुर्योधनकी सेनाओंमें जो लोग कवच धारण करके स्थित हैं, उनकी शोभा नहीं हो रही है ॥ १३ ॥

सेनयोरुभयोश्चापि समन्ताच्छ्रूयते महान् ।
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो गाण्डीवस्य च निःस्वनः ॥ १४ ॥

'दोनों ही सेनाओंमें चारों ओर पाञ्चजन्य शङ्खका गम्भीर घोष और गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनि सुनायी देती है ॥

ध्रुवमास्थाय बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि संयुगे ।
अपास्यान्यान् रणे योधानभ्येष्यति पितामहम् ॥ १५ ॥

'इससे यह निश्चय जान पड़ता है कि अर्जुन युद्धस्थलमें उत्तम अस्त्रोंका आश्रय ले दूसरे योद्धाओंको दूर हटाकर रणभूमिमें पितामह भीष्मके पास पहुँच जायँगे ॥ १५ ॥

हृष्यन्ति रोमकूपाणि सीदतीव च मे मनः ।
चिन्तयित्वा महाबाहो भीष्मार्जुनसमागमम् ॥ १६ ॥

'महाबाहो ! भीष्म और अर्जुनके युद्धका विचार करके मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं और मन शिथिल-सा होता जा रहा है ॥ १६ ॥

तं चेह निकृतिप्रज्ञं पाञ्चाल्यं पापचेतसम् ।
पुरस्कृत्य रणे पार्थो भीष्मस्यायोधनं गतः ॥ १७ ॥

'शठताके पूरे पण्डित उस पापात्मा पाञ्चाल-राजकुमार शिखण्डीको यहाँ रणमें आगे करके कुन्तीकुमार अर्जुन भीष्मसे युद्ध करनेके लिये गये हैं ॥ १७ ॥

अब्रवीच्च पुरा भीष्मो नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्री ह्येषा विहिता धात्रा दैवाच्च स पुनः पुमान् ॥ १८ ॥

'भीष्मने पहले ही यह कह दिया था कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि विधाताने इसे स्त्री ही बनाया था । फिर भाग्यवश यह पुरुष हो गया ॥ १८ ॥

अमङ्गल्यध्वजश्चैव याज्ञसेनिर्महाबलः ।
न चामङ्गलिके तस्मिन् प्रहरेदापगासुतः ॥ १९ ॥

'इसके सिवा द्रुपदका यह महाबली पुत्र अपनी ध्वजामें अमङ्गलसूचक चिह्न धारण करता है । अतः इस अमाङ्गलिक शिखण्डीपर गङ्गानन्दन भीष्म कभी प्रहार नहीं करेंगे॥१९॥

एतद् विचिन्तयानस्य प्रज्ञा सीदति मे भृशम् ।
अभ्युद्यतो रणे पार्थः कुरुवृद्धमुपाद्रवत् ॥ २० ॥

'इन सब बातोंपर जब मैं विचार करता हूँ, तब मेरी बुद्धि अत्यन्त शिथिल हो जाती है । आज अर्जुनने पूरी तैयारीके साथ रणभूमिमें कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीपर धावा किया है ॥ २० ॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधो भीष्मश्चार्जुनसङ्गतः ।
मम चास्त्रसमारम्भः प्रजानामशिवं ध्रुवम् ॥ २१ ॥

'युधिष्ठिरका क्रोध करना, भीष्म और अर्जुनका संघर्ष होना और मेरा अपने विविध अस्त्रोंके प्रयोगके लिये उद्योग करना—ये तीनों बातें निश्चय ही प्रजाजनोंके अमङ्गलकी सूचना देनेवाली हैं ॥ २१ ॥

मनस्वी बलवाञ्छूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः ।
दूरपाती दृढेषुश्च निमित्तज्ञश्च पाण्डवः ॥ २२ ॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुन मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्र-विद्याके पण्डित, शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले, दूर-तकका लक्ष्य वेधनेवाले, सुदृढ़ बाणोंका संग्रह रखनेवाले तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता हैं ॥ २२ ॥

अजेयः समरे चापि देवैरपि सवासवैः ।
बलवान् बुद्धिमांश्चैव जितक्लेशो युधां वरः ॥ २३ ॥

'इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उन्हें युद्धमें पराजित नहीं कर सकते । वे बलवान्, बुद्धिमान्, क्लेशोंपर विजय पानेवाले और योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥

विजयी च रणे नित्यं भैरवास्त्रश्च पाण्डवः ।
तस्य मार्गं परिहरन् द्रुतं गच्छ यतव्रत ॥ २४ ॥

'उन्हें युद्धमें सदा विजय प्राप्त होती है । पाण्डुनन्दन अर्जुनके अस्त्र बड़े भयंकर हैं । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र ! इसलिये तुम उनका रास्ता छोड़कर शीघ्र भीष्मजीकी रक्षाके लिये चले जाओ ॥ २४ ॥

पश्याद्यैतन्महाघोरे संयुगे वैशसं महत् ।
हेमचित्राणि शूराणां महान्ति च शुभानि च ॥ २५ ॥
कवचान्यवदीर्यन्ते शरैः संनतपर्वभिः ।
छिद्यन्ते च ध्वजाग्राणि तोमराश्च धनूंषि च ॥ २६ ॥

'देखो, इस महाघोर संग्राममें आज यह कैसा महान् जन-संहार हो रहा है ? शूरवीरोंके स्वर्णजटित, शुभ एवं महान् कवच अर्जुनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा विदीर्ण किये जा रहे हैं। ध्वजके अग्रभाग, तोमर और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं ॥ २५-२६ ॥

प्रासाश्च विमलास्तीक्ष्णाः शक्तयश्च कनकोज्ज्वलाः ।
वैजयन्त्यश्च नागानां संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ २७ ॥

'चमकीले प्रास, सुवर्णजटित होनेके कारण सुनहरी कान्तिसे प्रकाशित होनेवाली तीखी शक्तियाँ और हाथियोंपर फहराती हुई वैजयन्ती पताकाएँ क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जा रही हैं॥ २७ ॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणान् पुत्रोपजीविभिः ।
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे विजयाय च ॥ २८ ॥

'बेटा ! आश्रित रहकर जीविका चलानेवाले पुरुषोंके लिये यह अपने प्राणोंकी रक्षाका अवसर नहीं है । तुम स्वर्गको सामने रखकर यश और विजयकी प्राप्तिके लिये भीष्मजीके पास जाओ ॥ २८ ॥

रथनागहयावर्तां महाघोरां सुदुर्गमाम् ।
रथेन संग्रामनदीं तरत्येष कपिध्वजः ॥ २९ ॥

'यह युद्ध एक महाघोर और अत्यन्त दुर्गम नदीके समान है । उसमें रथ, हाथी और घोड़े भँवर हैं, कपिध्वज अर्जुन रथरूपी नौकाके द्वारा इसे पार कर रहे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मण्यता दमो दानं तपश्च चरितं महत् ।
इहैव दृश्यते पार्थे भ्राता यस्य धनंजयः ॥ ३० ॥
भीमसेनश्च बलवान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
वासुदेवश्च वार्ष्णेयो यस्य नाथो व्यवस्थितः ॥ ३१ ॥

'यहाँ केवल कुन्तीकुमार युधिष्ठिरमें ही ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, इन्द्रियसंयम, दान, तप और श्रेष्ठ सदाचार आदि सद्गुण दिखायी देते हैं, जिनके फलस्वरूप उन्हें अर्जुन, बलवान् भीम तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल और सहदेव-जैसे भाई मिले हैं एवं वृष्णिनन्दन भगवान् वासुदेव उनके रक्षक और सहायक बनकर सदा साथ रहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

तस्यैष मन्युप्रभवो धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
तपोदग्धशरीरस्य कोपो दहति भारतीम् ॥ ३२ ॥

'इस दुर्बुद्धि दुर्योधनका शरीर उन्हींकी तपस्यासे दग्धप्राय हो गया है और इसकी भारती सेनाको उन्हींकी क्रोधाग्नि जलाकर भस्म किये देती है ॥ ३२ ॥

एष संदृश्यते पार्थो वासुदेवव्यपाश्रयः ।
दारयन् सर्वसैन्यानि धार्तराष्ट्राणि सर्वशः ॥ ३३ ॥

'देखो, भगवान् वासुदेवकी शरणमें रहनेवाले ये अर्जुन कौरवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंको सब ओरसे विदीर्ण करते हुए इधर ही आते दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

एतदालोक्यते सैन्यं क्षोभ्यमाणं किरीटिना ।
महोर्मिनद्धं सुमहत् तिमिनेव महाजलम् ॥ ३४ ॥

'जैसे तिमि नामक महामत्स्य उत्ताल-तरंगोंसे युक्त महासागरके जलको मथ डालता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मथित हो यह कौरव-सेना विक्षुब्ध होती दिखायी देती है ॥ ३४ ॥

हाहाकिलकिलाशब्दाः श्रूयन्ते च चमूमुखे ।
याहि पाञ्चालदायादमहं यास्ये युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥

'सेनाके प्रमुख भागमें हाहाकार और किलकिलाहटके शब्द सुनायी देते हैं । तुम द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये जाओ और मैं युधिष्ठिरपर चढ़ाई करूँगा॥ ३५॥

दुर्गमं ह्यन्तरं राज्ञो व्यूहस्यामिततेजसः ।
समुद्रकुक्षिप्रतिमं सर्वतोऽतिरथैः स्थितैः ॥ ३६ ॥

'अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके व्यूहके भीतर प्रवेश करना समुद्रके अंदर प्रवेश करनेके समान बहुत कठिन है; क्योंकि उनके चारों ओर अतिरथी योद्धा खड़े हैं ॥ ३६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
पर्यरक्षन्त राजानं यमौ च मनुजेश्वरम् ॥ ३७ ॥

'सात्यकि, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, भीमसेन और नकुल, सहदेव नरेश्वर राजा युधिष्ठिरकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपेन्द्रसदृशः श्यामो महाशाल इवोद्गतः ।
एष गच्छत्यनीकाग्रे द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ ३८ ॥

'यह देखो, भगवान् विष्णुके समान श्याम और महान् शाल वृक्षके समान ऊँचा अभिमन्यु द्वितीय अर्जुनके समान सेनाके आगे-आगे चल रहा है ॥ ३८ ॥

उत्तमास्त्राणि चाधत्स्व गृहीत्वा च महद् धनुः ।
पार्षतं याहि राजानं युध्यस्व च वृकोदरम् ॥ ३९ ॥

'तुम अपने उत्तम अस्त्रोंको धारण करो और विशाल धनुष लेकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा भीमसेनके साथ युद्ध करो ॥ ३९ ॥

को हि नेच्छेत् प्रियं पुत्रं जीवन्तं शाश्वतीः समाः ।
क्षत्रधर्मं तु सम्प्रेक्ष्य ततस्त्वां नियुनज्म्यहम् ॥ ४० ॥

'अपना प्यारा पुत्र नित्य-निरन्तर जीवित रहे, यह कौन नहीं चाहता है तथापि क्षत्रिय-धर्मपर दृष्टि रखकर मैं तुम्हें इस कार्यमें नियुक्त कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

एष चातिरणे भीष्मो दहते वै महाचमूम् ।
युद्धेषु सदृशस्तात यमस्य वरुणस्य च ॥ ४१ ॥

'तात ! ये भीष्म रणक्षेत्रमें यमराज और वरुणके समान पराक्रम दिखाते हुए पाण्डवोंकी विशाल सेनाको अत्यन्त दग्ध कर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

(पुत्रं समनुशास्यैवं भारद्वाजः प्रतापवान्।
महारणे महाराज धर्मराजमयोधयत्॥)

महाराज! अपने पुत्रको इस प्रकार आदेश देकर प्रतापी द्रोणाचार्य इस महायुद्धमें धर्मराजके साथ युद्ध करने लगे॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्रोणाश्वत्थामसंवादे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्रोण और अश्वत्थामाका संवादविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके दस प्रमुख महारथियोंके साथ अकेले घोर युद्ध करते हुए भीमसेनका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

**भगदत्तः कृपः शल्यः कृतवर्मा तथैव च।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्धवश्च जयद्रथः॥ १॥
चित्रसेनो विकर्णश्च तथा दुर्मर्षणादयः।
दशैते तावका योधा भीमसेनमयोधयन्॥ २॥**

संजय कहते हैं—राजन्! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—ये दस योद्धा भीमसेनके साथ युद्ध कर रहे थे॥ १–२॥

**महत्या सेनया युक्ता नानादेशसमुत्थया।
भीष्मस्य समरे राजन् प्रार्थयाना महद् यशः॥ ३॥**

नरेश्वर! इनके साथ अनेक देशोंसे आयी हुई विशाल सेना मौजूद थी। ये समरभूमिमें भीष्मके महान् यशकी रक्षा करना चाहते थे॥ ३॥

**शल्यस्तु नवभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत्।
कृतवर्मा त्रिभिर्बाणैः कृपश्च नवभिः शरैः॥ ४॥**

शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। फिर कृतवर्माने तीन और कृपाचार्यने उन्हें नौ बाण मारे॥

**चित्रसेनो विकर्णश्च भगदत्तश्च मारिष।
दशभिर्दशभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयन्॥ ५॥**

आर्य! फिर लगे हाथ चित्रसेन, विकर्ण और भगदत्तने भी दस-दस बाण मारकर भीमसेनको घायल कर दिया॥

**सैन्धवश्च त्रिभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः॥ ६॥
दुर्मर्षणस्तु विंशत्या पाण्डवं निशितैः शरैः।**

फिर सिन्धुराज जयद्रथने तीन, अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने पाँच-पाँच तथा दुर्मर्षणने बीस तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन भीमसेनको चोट पहुँचायी॥ ६½॥

**स तान् सर्वान् महाराज राजमानान् पृथक्पृथक्॥ ७॥
प्रवीरान् सर्वलोकस्य धार्तराष्ट्रान् महारथान्।
जघान समरे वीरः पाण्डवः परवीरहा॥ ८॥**

महाराज! तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार वीर भीमसेनने सम्पूर्ण जगत्‌के उन समस्त राजाओं, प्रमुख वीरों तथा आपके महारथी पुत्रोंको पृथक्-पृथक् बाण मारकर समराङ्गणमें घायल कर दिया॥ ७-८॥

**सप्तभिः शल्यमाविध्यत् कृतवर्माणमष्टभिः।
कृपस्य सशरं चापं मध्ये चिच्छेद भारत॥ ९॥**

भारत! भीमसेनने शल्यको सात और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बींध डाला। फिर कृपाचार्यके बाणसहित धनुषको बीचसे ही काट दिया॥ ९॥

**अथैनं छिन्नधन्वानं पुनर्विव्याध सप्तभिः।
विन्दानुविन्दौ च तथा त्रिभिस्त्रिभिरताडयत्॥ १०॥**

धनुष कट जानेपर उन्होंने पुनः सात बाणोंसे कृपाचार्यको घायल किया। फिर विन्द और अनुविन्दको तीन-तीन बाण मारे॥ १०॥

**दुर्मर्षणं च विंशत्या चित्रसेनं च पञ्चभिः।
विकर्णं दशभिर्बाणैः पञ्चभिश्च जयद्रथम्॥ ११॥
विद्ध्वा भीमोऽनदद्धृष्टः सैन्धवं च पुनस्त्रिभिः।**

तत्पश्चात् दुर्मर्षणको बीस, चित्रसेनको पाँच, विकर्णको दस तथा जयद्रथको पाँच बाणोंसे बींधकर भीमसेनने बड़े हर्षके साथ सिंहनाद किया और जयद्रथको पुनः तीन बाणोंसे बींध डाला॥ ११½॥

**अथान्यद् धनुरादाय गौतमो रथिनां वरः॥ १२॥
भीमं विव्याध संरब्धो दशभिर्निशितैः शरैः।**

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष लेकर क्रोधपूर्वक चलाये हुए दस तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला॥ १२½॥

**स विद्धो दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपः॥ १३॥
(व्यनदत् समरे शूरः सिंहवद् रणमूर्धनि।)**

जैसे महान् गजराज अङ्कुशोंसे पीड़ित होनेपर चिग्घाड़ उठता है, उसी प्रकार उन दस बाणोंसे घायल होनेपर शूरवीर भीमसेनने युद्धके मुहानेपर सिंहके समान गर्जना की॥ १३॥

**ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान्।
गौतमं ताडयामास शरैर्बहुभिराहवे॥ १४॥**

महाराज! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने रणक्षेत्रमें कृपाचार्यको अनेक बाणोंद्वारा घायल किया॥ १४॥

सैन्धवस्य तथाश्वांश्च सारथिं च त्रिभिः शरैः।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय कालान्तकसमद्युतिः ॥ १५ ॥

इसके बाद प्रलयकालीन यमराजके समान तेजस्वी भीमसेनने तीन बाणोंद्वारा सिन्धुराज जयद्रथके घोड़ों तथा सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ १५ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः।
शरांश्चिक्षेप निशितान् भीमसेनस्य संयुगे ॥ १६ ॥

तब उस अश्वहीन रथसे तुरंत ही कूदकर महारथी जयद्रथने युद्धस्थलमें भीमसेनके ऊपर बहुत-से तीखे बाण चलाये ॥ १६ ॥

तस्य भीमो धनुर्मध्ये द्वाभ्यां चिच्छेद मारिष।
भल्लाभ्यां भरतश्रेष्ठ सैन्धवस्य महात्मनः ॥१७॥

माननीय भरतश्रेष्ठ ! उस समय भीमसेनने दो भल्ल मारकर महामना सिन्धुराजके धनुषको बीचसे ही काट दिया १७

स छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
चित्रसेनरथं राजन्नारुरोह त्वरान्वितः ॥ १८ ॥

राजन् ! धनुषके कटने तथा घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुआ जयद्रथ तुरंत ही चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ १८ ॥

अत्यद्भुतं रणे कर्म कृतवांस्तत्र पाण्डवः।
महारथाञ्शरैर्विद्ध्वा वारयित्वा च मारिष ॥ १९ ॥
विरथं सैन्धवं चक्रे सर्वलोकस्य पश्यतः।

आर्य ! वहाँ पाण्डुनन्दन भीमसेनने रणक्षेत्रमें यह अद्भुत कर्म किया कि सब महारथियोंको बाणोंसे घायल करके रोक दिया और सब लोगोंके देखते-देखते सिन्धुराजको रथहीन कर दिया ॥ १९½ ॥

तदा न ममृषे शल्यो भीमसेनस्य विक्रमम् ॥ २० ॥
स संधाय शरांस्तीक्ष्णान् कर्मारपरिमार्जितान्।
भीमं विव्याध समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ २१ ॥

उस समय राजा शल्य भीमसेनके उस पराक्रमको न सह सके। उन्होंने लोहारके माँजे हुए पैने बाणोंका संधान करके समरभूमिमें भीमसेनको बींध डाला और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २०—२१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ चित्रसेनश्च संयुगे ॥ २२ ॥
दुर्मर्षणो विकर्णश्च सिन्धुराजश्च वीर्यवान्।
भीमं ते विव्यधुस्तूर्णं शल्यहेतोररिंदमाः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा, पराक्रमी भगदत्त, अवन्तीके विन्द और अनुविन्द, चित्रसेन, दुर्मर्षण, विकर्ण और पराक्रमी सिन्धुराज जयद्रथ शत्रुओंका दमन करनेवाले इन वीरोंने राजा शल्यकी रक्षाके लिये भीमसेनको तुरंत ही घायल कर दिया २२-२३

स च तान् प्रतिविव्याध पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः।
शल्यं विव्याध सप्तत्या पुनश्च दशभिः शरैः ॥ २४ ॥

फिर भीमसेनने भी उन सबको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके तुरंत ही बदला लिया। इसके बाद उन्होंने शल्यको पहले सत्तर और फिर दस बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

तं शल्यो नवभिर्भित्त्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य भल्लेन गाढं विव्याध मर्मणि ॥ २५ ॥

यह देख शल्यने भीमसेनको पहले नौ बाणोंसे विदीर्ण करके फिर पाँच बाणोंद्वारा घायल किया। साथ ही एक भल्लके द्वारा उनके सारथिके भी मर्मस्थानोंमें अधिक चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

विशोकं प्रेक्ष्य निर्भिन्नं भीमसेनः प्रतापवान्।
मद्रराजं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २६ ॥

उस समय प्रतापी भीमसेनने अपने सारथि विशोकको अत्यन्त क्षत-विक्षत हुआ देख तीन बाणोंसे मद्रराज शल्यकी भुजाओं तथा छातीमें प्रहार किया ॥ २६ ॥

(भगदत्तं तथा वीरं कृतवर्माणमाहवे।)
तथेतरान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
ताडयामास समरे सिंहवद् विननाद च ॥ २७ ॥

भगदत्त, वीरवर कृतवर्मा तथा अन्य महाधनुर्धर वीरोंको उन्होंने तीन-तीन सीधे जानेवाले सायकोंद्वारा समरभूमिमें मारा और सिंहके समान गर्जना की ॥ २७ ॥

ते हि यत्ता महेष्वासाः पाण्डवं युद्धकोविदम्।
त्रिभिस्त्रिभिरकुण्ठाग्रैर्भृशं मर्मस्वताडयन् ॥ २८ ॥

तब उन सभी महाधनुर्धरोंने एक साथ प्रयत्न करके तीखे अग्रभागवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा युद्धकुशल पाण्डुपुत्र भीमके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २८ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो भीमसेनो न विव्यथे।
पर्वतो वारिधाराभिर्वर्षमाणैरिवाम्बुदैः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा अत्यन्त घायल होनेपर भी महाधनुर्धर भीमसेन बादलोंकी बरसायी हुई जल-धाराओंसे पर्वतकी भाँति तनिक भी व्यथित एवं विचलित नहीं हुए ॥ २९ ॥

स तु क्रोधसमाविष्टः पाण्डवानां महारथः।
मद्रेश्वरं त्रिभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा महायशाः ॥ ३० ॥
कृपं च नवभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा समन्ततः।
प्राग्ज्योतिषं शतैराजौ राजन् विव्याध सायकैः ॥ ३१ ॥

राजन् ! तब क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंके महारथी महायशस्वी भीमसेनने मद्रराज शल्यको तीन और कृपाचार्यको नौ बाणोंद्वारा सब ओरसे अत्यन्त घायल करके प्राग्ज्योतिष-

नरेश भगदत्तको सैकड़ों बाणोंद्वारा समरभूमिमें बींध डाला ॥ ३०–३१ ॥

ततस्तु सशरं चापं सात्वतस्य महात्मनः ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति भीमसेनने अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा महामना कृतवर्माके बाणसहित धनुषको काट डाला ॥ ३२ ॥

तथान्यद् धनुरादाय कृतवर्मा वृकोदरम् ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचेन परंतपः ॥ ३३ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले कृतवर्माने दूसरा धनुष लेकर भीमसेनकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें नाराचके द्वारा प्रहार किया ॥ ३३ ॥

भीमस्तु समरे विद्ध्वा शल्यं नवभिरायसैः ।
भगदत्तं त्रिभिश्चैव कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु विव्याध गौतमप्रभृतीन् रथान् ।
तेऽपि तं समरे राजन् विव्यधुर्निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने समराङ्गणमें लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे राजा शल्यको बेधकर तीन बाणोंसे भगदत्तको, आठसे कृतवर्माको और दो-दो बाणोंद्वारा कृपाचार्य आदि रथियोंको बींध डाला । राजन् ! फिर उन्होंने भी अपने तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ३४–३५ ॥

स तथा पीड्यमानोऽपि सर्वशस्त्रैर्महारथैः ।
मत्वा तृणेन तांस्तुल्यान् विचचार गतव्यथः ॥ ३६ ॥

उन महारथियोंद्वारा सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित किये जानेपर भी भीमसेन उन्हें तिनकोंके समान मानकर व्यथारहित हो विचरण करने लगे ॥ ३६ ॥

ते चापि रथिनां श्रेष्ठा भीमाय निशिताञ्छरान् ।
प्रेषयामासुरव्यग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ उन वीरोंने भी व्यग्रतारहित हो भीमसेनपर सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें तीखे बाण चलाये ॥ ३७ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भगदत्तो महारथः ।
चिक्षेप समरे वीरः स्वर्णदण्डां महामते ॥ ३८ ॥

महामते ! उस समरभूमिमें वीर महारथी भगदत्तने भीमसेनपर स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एक महावेगशालिनी शक्ति चलायी ॥ ३८ ॥

तोमरं सैन्धवो राजा पट्टिशं च महाभुजः ।
शतघ्नीं च कृपो राजञ्छरं शल्यश्च संयुगे ॥ ३९ ॥

सिन्धुदेशके राजा महाबाहु जयद्रथने तोमर और पट्टिश चलाया । राजन् ! कृपाचार्यने शतघ्नीका प्रयोग किया तथा राजा शल्यने युद्धस्थलमें एक बाण मारा ॥ ३९ ॥

अथेतरे महेष्वासाः पञ्च पञ्च शिलीमुखान् ।
भीमसेनं समुद्दिश्य प्रेषयामासुरोजसा ॥ ४० ॥

इनके सिवा दूसरे धनुर्धर वीरोंने भी भीमसेनको लक्ष्य करके बलपूर्वक पाँच-पाँच बाण चलाये ॥ ४० ॥

तोमरं च द्विधा चक्रे क्षुरप्रेणानिलात्मजः ।
पट्टिशं च त्रिभिर्बाणैश्चिच्छेद तिलकाण्डवत् ॥ ४१ ॥

परंतु वायुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रसे जयद्रथके चलाये हुए तोमरके दो टुकड़े कर दिये; फिर तीन बाण मारकर पट्टिशको तिलके डंटलके समान टूक-टूक कर डाला ॥ ४१ ॥

स बिभेद शतघ्नीं च नवभिः कङ्कपत्रिभिः ।
मद्रराजप्रयुक्तं च शरं छित्त्वा महारथः ॥ ४२ ॥
शक्तिं चिच्छेद सहसा भगदत्तेरितां रणे ।

तत्पश्चात् कंकपत्रयुक्त नौ बाणोंद्वारा शतघ्नीको छिन्न-भिन्न कर दिया । इसके बाद महारथी भीमसेनने मद्रराज शल्यके चलाये हुए बाणको काटकर रणक्षेत्रमें भगदत्तकी चलायी हुई शक्तिके भी सहसा टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।४२½।

तथेतराञ्छरान् घोरान् शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४३ ॥
भीमसेनो रणश्लाघी त्रिधैकैकं समाच्छिनत् ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा अन्यान्य योद्धाओंके चलाये हुए भयंकर शरसमूहोंको भी युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने काटकर एक-एकके तीन-तीन टुकड़े कर दिये । इस प्रकार शत्रुओंके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करके भीमसेनने उन सभी महाधनुर्धर वीरोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

ततो धनंजयस्तत्र वर्तमाने महारणे ।
आजगाम रथेनाजौ भीमं दृष्ट्वा महारथम् ॥ ४५ ॥
निघ्नन्तं समरे शत्रून् योधयानं च सायकैः ।

तब उस महासमरमें महारथी भीमसेनको, जो समरभूमिमें सायकोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध कर रहे थे, देखकर रथके द्वारा अर्जुन भी वहाँ आ पहुँचे ।४५½।

तौ तु तत्र महात्मानौ समेतौ वीक्ष्य पाण्डवौ ॥ ४६ ॥
न शशंसुर्जयं तत्र तावकाः पुरुषर्षभाः ।

उन दोनों महामनस्वी पाण्डव बन्धुओंको एकत्र हुआ देख आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने वहाँ अपनी विजयकी आशा त्याग दी ॥ ४६½ ॥

अथार्जुनो रणे भीमं योधयन्तं महारथान् ॥ ४७ ॥
भीष्मस्य निधनाकाङ्क्षी पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
आससाद रणे वीरांस्तावकान् दश भारत ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! उस रणक्षेत्रमें भीम जिनके साथ युद्ध कर रहे थे, आपके पक्षके उन दस महारथी वीरोंके सामने भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले अर्जुन भी शिखण्डीको आगे किये आ पहुँचे ॥ ४७-४८ ॥

ये स्म भीमं रणे राजन् योधयन्तो व्यवस्थिताः ।
बीभत्सुस्तानथाविध्यद् भीमस्य प्रियकाम्यया ॥ ४९ ॥

राजन् ! जो लोग रणक्षेत्रमें भीमसेनके साथ युद्ध करते हुए खड़े थे, उन सबको अर्जुनने भीमका प्रिय करनेकी इच्छासे अच्छी तरह घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
अर्जुनस्य वधार्थाय भीमसेनस्य चोभयोः ॥ ५० ॥

तब राजा दुर्योधनने अर्जुन और भीमसेन दोनोंके वधके लिये सुशर्माको भेजा ॥ ५० ॥

सुशर्मन् गच्छ शीघ्रं त्वं बलौघैः परिवारितः ।
जहि पाण्डुसुतावेतौ धनंजयवृकोदरौ ॥ ५१ ॥

भेजते समय उसने कहा—'सुशर्मन् ! तुम विशाल सेनाके साथ शीघ्र जाओ और अर्जुन तथा भीमसेन इन दोनों पाण्डु-कुमारोंको मार डालो' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य त्रैगर्तः प्रस्थलाधिपः ।
अभिद्रुत्य रणे भीममर्जुनं चैव धन्विनौ ॥ ५२ ॥
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयत् ।
ततः प्रववृते युद्धमर्जुनस्य परैः सह ॥ ५३ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रस्थलाके स्वामी त्रिगर्तराज सुशर्माने रणक्षेत्रमें धावा करके भीमसेन और अर्जुन दोनों धनुर्धर वीरोंको अनेक सहस्र रथोंद्वारा सब ओरसे घेर लिया। उस समय अर्जुनका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध होने लगा ।५२-५३।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंके साथ युद्धमें भीमसेन और अर्जुनका अद्भुत पुरुषार्थ

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे शल्यं यतमानं महारथम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय रणक्षेत्रमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले महारथी शल्यको अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा करके ढक दिया ॥ १ ॥

सुशर्माणं कृपं चैव त्रिभिस्त्रिभिरविध्यत ।
प्राग्ज्योतिषं च समरे सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ २ ॥
चित्रसेनं विकर्णं च कृतवर्माणमेव च ।
दुर्मर्षणं च राजेन्द्र ह्यावन्त्यौ च महारथौ ॥ ३ ॥
एकैकं त्रिभिरानर्च्छत् कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

उसके बाद सुशर्मा और कृपाचार्यको भी तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला । राजेन्द्र ! फिर समराङ्गणमें प्राग्ज्योतिष-नरेश भगदत्त, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण, कृतवर्मा, दुर्मर्षण तथा महारथी विन्द और अनुविन्द—इनमेंसे प्रत्येकको गीधकी पाँखसे युक्त तीन-तीन बाणोंद्वारा विशेष पीड़ा दी ॥ २–३½ ॥

शरैरतिरथो युद्धे पीडयन् वाहिनीं तव ॥ ४ ॥
जयद्रथो रणे पार्थं विद्ध्वा भारत सायकैः ।
भीमं विव्याध तरसा चित्रसेनरथे स्थितः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अतिरथी वीर अर्जुनने युद्धमें आपकी सेनाको बाणसमूहोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया । भारत ! चित्रसेन-के रथपर बैठे हुए जयद्रथने रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल करके भीमसेनको भी बहुत-से सायकोंद्वारा वेगपूर्वक बींध डाला ॥ ४–५ ॥

शल्यश्च समरे जिष्णुं कृपश्च रथिनां वरः ।
विव्यधाते महाराज बहुधा मर्मभेदिभिः ॥ ६ ॥

महाराज ! फिर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य तथा शल्यने भी समराङ्गणमें मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले बाणोंद्वारा अर्जुनको बारंबार घायल किया ॥ ६ ॥

चित्रसेनादयश्चैव पुत्रास्तव विशाम्पते ।
पञ्चभिः पञ्चभिस्तूर्णं संयुगे निशितैः शरैः ॥ ७ ॥
आजघ्नुरर्जुनं संख्ये भीमसेनं च मारिष ।

माननीय प्रजानाथ ! चित्रसेन आदि आपके पुत्रोंने भी युद्धस्थलमें तुरंत ही पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा अर्जुन और भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ७½ ॥

तौ तत्र रथिनां श्रेष्ठौ कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ८ ॥
अपीडयेतां समरे त्रिगर्तानां महद् बलम् ।

उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण कुन्ती-कुमार भीमसेन और अर्जुनने समरभूमिमें त्रिगर्तोंकी विशाल सेनाको पीड़ित कर दिया ॥ ८½ ॥

सुशर्मापि रणे पार्थं शरैर्नवभिराशुगैः ॥ ९ ॥
ननाद बलवन्नादं त्रासयानो महद् बलम् ।

इधर सुशर्माने भी रणक्षेत्रमें नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा

अर्जुनको घायल करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ९½ ॥

अन्ये च रथिनः शूरा भीमसेनधनंजयौ ॥ १० ॥
विव्यधुर्निशितैर्बाणै रुक्मपुङ्खैरजिह्मगैः ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर महारथियोंने भीमसेन और अर्जुनको सुवर्णपंखयुक्त, सीधे जानेवाले पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १०½ ॥

तेषां च रथिनां मध्ये कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ११ ॥
क्रीडमानौ रथोदारौ चित्ररूपौ व्यदृश्यताम् ।

उन समस्त रथियोंके बीचमें खड़े होकर खेल-से करते हुए भरतभूषण उदार महारथी कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन विचित्र दिखायी देते थे ॥ ११½ ॥

आमिषेप्सू गवां मध्ये सिंहाविव मदोत्कटौ ॥ १२ ॥

जैसे मांसकी इच्छा रखनेवाले दो मदोन्मत्त सिंह गौओंके झुंडमें खड़े हुए हों, उसी प्रकार भीमसेन और अर्जुन उस रणभूमिमें सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

छित्त्वा धनूंषि शूराणां शरांश्च बहुधा रणे ।
पातयामासतुर्वीरौ शिरांसि शतशो नृणाम् ॥ १३ ॥

उन दोनों वीरोंने रणक्षेत्रमें सैकड़ों शूरवीर मनुष्योंके धनुष और बाणोंको बारंबार छिन्न-भिन्न करके उनके मस्तकोंको भी काट गिराया ॥ १३ ॥

रथाश्च बहवो भग्ना हयाश्च शतशो हताः ।
गजाश्च सगजारोहाः पेतुरुर्व्यां महाहवे ॥ १४ ॥

उस महासमरमें बहुत-से रथ टूट गये, सैकड़ों घोड़े मारे गये तथा कितने ही हाथी और हाथीसवार धराशायी हो गये १४

रथिनः सादिनश्चापि तत्र तत्र निषूदिताः ।
दृश्यन्ते बहवो राजन् वेपमानाः समन्ततः ॥ १५ ॥

राजन् ! बहुत-से रथी और घुड़सवार जहाँ-तहाँ चारों ओर मारे जाकर काँपते और छटपटाते हुए दिखायी देते थे १५

हतैर्गजपदात्योघैर्वाजिभिश्च निषूदितैः ।
रथैश्च बहुधा भग्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १६ ॥

वहाँ मरकर गिरे हुए हाथियों, पैदल सिपाहियों, घोड़ों तथा टूटे हुए बहुत-से रथोंद्वारा पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ १६ ॥

छत्रैश्च बहुधा छिन्नैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।
(चामरैर्हेमदण्डैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
अङ्कुशैरपविद्धैश्च परिस्तोमैश्च भारत ॥ १७ ॥
(घण्टाभिश्च कशाभिश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)

भारत ! अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए छत्रों, ध्वजाओं, स्वर्णमय दण्डसे विभूषित चामरों, फेंके हुए अङ्कुशों, चाबुकों, घण्टों और झूलोंसे वहाँकी भूमि ढक गयी थी ॥ १७ ॥

केयूरैरङ्गदैर्हारै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
(कुण्डलैर्मणिचित्रैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
उष्णीषैर्ऋष्टिभिश्चैव चामरव्यजनैरपि ॥ १८ ॥

केयूर, अङ्गद, हार तथा मणिजटित कुण्डल आदि आभूषणों, रंकु मृगके कोमल चर्म, वीरोंकी पगड़ियों, ऋष्टि आदि अस्त्रों तथा चामर और व्यजन आदिसे भी वहाँकी धरती आच्छादित हो गयी थी ॥ १८ ॥

तत्र तत्रापविद्धैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १९ ॥

जहाँ-तहाँ गिरी हुई राजाओंकी चन्दनचर्चित भुजाओं और जाँघोंसे वह रणभूमि पट गयी थी ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
शरैः संवार्य तान् वीरान् यज्जघान महाबलः ॥ २० ॥

महाराज ! मैंने उस रणक्षेत्रमें अर्जुनका अद्भुत पराक्रम यह देखा कि उन महाबली वीरने शत्रुपक्षके उन सब प्रमुख वीरोंको बाणोंद्वारा रोककर अनेकों वीरोंको मार डाला था ॥

पुत्रस्तु तव तं दृष्ट्वा भीमार्जुनपराक्रमम् ।
गाङ्गेयस्य रथाभ्याशमुपजग्मे महाबलः ॥ २१ ॥

आपका पुत्र महाबली दुर्योधन भीमसेन और अर्जुनका वह पराक्रम देखकर स्वयं भी गङ्गानन्दन भीष्मके रथके समीप जा पहुँचा ॥ २१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ नाजहुः संयुगं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कृपाचार्य, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ तथा अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने भी युद्धको नहीं छोड़ा ॥

ततो भीमो महेष्वासः फाल्गुनश्च महारथः ।
कौरवाणां चमूं घोरां भृशं दुद्रुवतू रणे ॥ २३ ॥

तदनन्तर महाधनुर्धर भीमसेन तथा महारथी अर्जुन रणक्षेत्रमें कौरवोंकी उस भयंकर सेनाको जोर-जोरसे खदेड़ने लगे॥

ततो बर्हिणवाजानामयुतान्यर्बुदानि च ।
धनंजयरथे तूर्णं पातयन्ति स्म भूमिपाः ॥ २४ ॥

तब बहुत-से भूमिपाल मिलकर तुरंत ही अर्जुनके रथपर मोरपंखयुक्त अनेक अयुत एवं अर्बुद बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

ततस्ताञ्शरजालेन संनिवार्य महारथान् ।
पार्थः समन्तात् समरे प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २५ ॥

तब अर्जुनने सब ओरसे बाणोंका जाल-सा बिछाकर उन महारथी भूमिपालोंको रोक दिया और तुरंत ही उन्हें मृत्युके लोकमें पहुँचा दिया ॥ २५ ॥

शल्यस्तु समरे जिष्णुं क्रीडन्निव महारथः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥

तब महारथी शल्यने क्रीड़ा करते हुए-से कुपित हो समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा अर्जुनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २६ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा हस्तावापं च पञ्चभिः ।
अथैनं सायकैस्तीक्ष्णैर्भृशं विव्याध मर्मणि ॥ २७ ॥

यह देख अर्जुनने पाँच बाणोंसे उनके धनुष और दस्तानेको काटकर तीखे सायकोंद्वारा उनके मर्मस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय समरे भारसाधनम् ।
मद्रेश्वरो रणे जिष्णुं ताडयामास रोषितः ॥ २८ ॥
त्रिभिः शरैर्महाराज वासुदेवं च पञ्चभिः ।
भीमसेनं च नवभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २९ ॥

महाराज ! फिर मद्रराजने भी भार-साधनमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें अर्जुनपर रोषपूर्वक तीन बाणोंद्वारा प्रहार किया । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पाँच बाणोंसे घायल करके उन्होंने भीमसेनकी भुजाओं तथा छातीमें नौ बाण मारे॥

ततो द्रोणो महाराज मागधश्च महारथः ।
दुर्योधनसमादिष्टौ तं देशमुपजग्मतुः ॥ ३० ॥
यत्र पार्थो महाराज भीमसेनश्च पाण्डवः ।
कौरव्यस्य महासेनां जघ्नतुः सुमहारथौ ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर दुर्योधनकी आज्ञा पाकर द्रोण तथा महारथी मगधनरेश उसी स्थानपर आये, जहाँ पाण्डुकुमार अर्जुन और भीमसेन—ये दोनों महारथी दुर्योधनकी विशाल सेनाका संहार कर रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

जयत्सेनस्तु समरे भीमं भीमायुधं युधि ।
विव्याध निशितैर्बाणैरष्टभिर्भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मगधराज जयत्सेन[1]ने युद्धके मैदानमें भयानक अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भीमसेनको आठ पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३२ ॥

तं भीमो दशभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ३३ ॥

तब भीमसेनने जयत्सेनको दस बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्ल मारकर उसके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ३३ ॥

उद्भ्रान्तैस्तुरगैः सोऽथ द्रवमाणैः समन्ततः ।
मागधोऽपसृतो राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३४ ॥

फिर तो उसके घबराये हुए घोड़े चारों ओर भागने लगे और इस प्रकार वह मगधदेशका राजा सारी सेनाके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा दिया गया ॥ ३४ ॥

द्रोणश्च विवरं दृष्ट्वा भीमसेनं शिलीमुखैः ।
विव्याध बाणैर्निशितैः पञ्चषष्टिभिरायसैः ॥ ३५ ॥

इसी समय द्रोणाचार्यने अवसर देखकर लोहेके बने हुए पैंसठ पैने बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ ३५ ॥

तं भीमः समरश्लाघी गुरुं पितृसमं रणे ।
विव्याध पञ्चभिर्भल्लैस्तथा षष्ट्या च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने भी रणक्षेत्रमें पिताके समान पूजनीय गुरु द्रोणाचार्यको पैंसठ भल्लोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३६ ॥

अर्जुनस्तु सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
व्यधमत् तस्य तत्सैन्यं महाभ्राणि यथानिलः॥ ३७ ॥

इधर अर्जुनने लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा सुशर्माको घायल करके जैसे वायु महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उसकी सेनाकी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥३७॥

ततो भीष्मश्च राजा च कौसल्यश्च बृहद्बलः ।
समवर्तन्त संक्रुद्धा भीमसेनधनंजयौ ॥ ३८ ॥

तब भीष्म, राजा दुर्योधन और कोशलनरेश बृहद्बल—ये तीनों अत्यन्त कुपित होकर भीमसेन और अर्जुनपर चढ़ आये ॥ ३८ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
अभ्यद्रवन् रणे भीष्मं व्यादितास्यमिवान्तकम्॥ ३९ ॥

इसी प्रकार शूरवीर पाण्डव तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न-ये रणक्षेत्रमें मुँह फैलाये हुए यमराजके समान प्रतीत होनेवाले भीष्मपर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभ्यद्रवत संहृष्टो भयं त्यक्त्वा महारथात् ॥ ४० ॥

शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके निकट पहुँचकर उन महारथी भीष्मसे सम्भावित भयको त्यागकर बड़े हर्षके साथ उनपर धावा किया ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
अयोधयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृंजयैः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र रणभूमिमें शिखण्डीको आगे करके समस्त सृंजयोंको साथ ले भीष्मके साथ युद्ध करने लगे॥

तथैव तावकाः सर्वे पुरस्कृत्य यतव्रतम् ।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे॥ ४२ ॥

इसी प्रकार आपके समस्त योद्धा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले भीष्मको युद्धमें आगे रखकर शिखण्डी आदि पाण्डव महारथियोंका सामना करने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कौरवाणां भयावहम् ।
तत्र पाण्डुसुतैः सार्धं भीष्मस्य विजयं प्रति ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वहाँ भीष्मकी विजयके उद्देश्यसे कौरवोंका पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४३ ॥

तावकानां जये भीष्मो ग्लह आसीद् विशाम्पते ।
तत्र हि द्यूतमासक्तं विजयायेतराय वा ॥ ४४ ॥

[1] जयत्सेन नामके दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं, एक पाण्डव-पक्षमें और दूसरे कौरवपक्षमें रहे होंगे ।

प्रजानाथ ! उस युद्धरूपी जूएमें आपके पुत्रोंकी ओरसे विजयके लिये भीष्मको ही दाँवपर लगाया था। इस प्रकार वहाँ विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत उपस्थित हो गया॥

धृष्टद्युम्नस्तु राजेन्द्र सर्वसैन्यान्यचोदयत्।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं मा भैष्ट रथसत्तमाः॥ ४५॥

राजेन्द्र ! उस समय धृष्टद्युम्नने अपनी समस्त सेनाओंको प्रेरणा देते हुए कहा—'श्रेष्ठ रथियो ! गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा करो। उनसे तनिक भी भय न मानो' ॥ ४५ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा पाण्डवानां वरूथिनी।
भीष्मं समभ्ययात् तूर्णं प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४६॥

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी उस महासमरमें प्राणोंका मोह छोड़कर तुरंत ही भीष्मकी ओर बढ़ चली ॥ ४६ ॥

भीष्मोऽपि रथिनां श्रेष्ठः प्रतिजग्राह तां चमूम्।
आपतन्तीं महाराज वेलामिव महोदधिः॥ ४७॥

महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने भी अपने ऊपर आती हुई उस विशाल सेनाको युद्धके लिये उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे तटभूमिको महासागर ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमार्जुनपराक्रमे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेन और अर्जुनका पराक्रमविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके आदेशसे युधिष्ठिरका उनपर आक्रमण तथा कौरव-पाण्डव-सैनिकोंका भीषण युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शान्तनवो भीष्मो दशमेऽहनि संजय।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः॥ १॥
कुरवश्च कथं युद्धे पाण्डवान् प्रत्यवारयन्।
आचक्ष्व मे महायुद्धं भीष्मस्याहवशोभिनः॥ २॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! दसवें दिन महापराक्रमी शान्तनुकुमार भीष्मने पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया तथा कौरवोंने पाण्डवोंको युद्धमें किस प्रकार रोका ? रणक्षेत्रमें शोभा पानेवाले भीष्मके उस महायुद्धका वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

कुरवः पाण्डवैः सार्धं यदयुध्यन्त भारत।
यथा च तदभूद् युद्धं तत् तु वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥ ३॥

संजयने कहा—भारत ! कौरवोंने पाण्डवोंके साथ जो युद्ध किया और जिस प्रकार वह युद्ध हुआ, वह सब इस समय बताता हूँ ॥ ३ ॥

गमिताः परलोकाय परमास्त्रैः किरीटिना।
अहन्यहनि संक्रुद्धास्तावकानां महारथाः॥ ४॥

किरीटधारी अर्जुनने प्रतिदिन अपने उत्तम अस्त्रोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए आपके महारथियोंको परलोकमें पहुँचाया है॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्यः स चापि समितिंजयः।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम्॥ ५॥

इसी प्रकार युद्धविजयी कुरुकुलनन्दन भीष्मने भी सदा अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धमें कुन्तीपुत्रोंके सैनिकोंका संहार किया है ॥ ५ ॥

कुरुभिः सहितं भीष्मं युध्यमानं परंतप।
अर्जुनं च सपाञ्चाल्यं संशयो विजयेऽभवत्॥ ६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! एक ओरसे कौरवोंसहित भीष्म युद्ध कर रहे थे और दूसरी ओरसे पाञ्चालदेशीय वीरोंके सहित अर्जुन उनका सामना कर रहे थे, यह देखकर सबके मनमें संशय हो गया कि किस पक्षकी विजय होगी ॥ ६ ॥

दशमेऽहनि तस्मिंस्तु भीष्मार्जुनसमागमे।
अवर्तत महारौद्रः सततं समितिक्षयः॥ ७॥

दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके उस युद्धमें निरन्तर महाभयंकर जनसंहार होने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन्नयुतशो राजन् भूयशश्च परंतपः।
भीष्मः शान्तनवो योधाञ्जघान परमास्त्रवित्॥ ८॥

राजन् ! उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उस युद्धमें कई अयुत योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ८ ॥

येषामज्ञातकल्पानि नामगोत्राणि पार्थिव।
ते हतास्तत्र भीष्मेण शूराः सर्वेऽनिवर्तिनः॥ ९॥

भूपाल ! जिनके नाम और गोत्र प्रायः अज्ञात थे तथा जो सभी युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते थे, वे शूरवीर वहाँ भीष्मके हाथों मारे गये ॥ ९ ॥

दशाहानि ततस्तप्त्वा भीष्मः पाण्डववाहिनीम्।
निरविद्यत धर्मात्मा जीवितेन परंतप॥ १०॥

परंतप ! इस प्रकार दस दिनोंतक धर्मात्मा भीष्म पाण्डवसेनाको संतप्त करके अन्ततोगत्वा अपने जीवनसे ही ऊब गये ॥ १० ॥

स क्षिप्रं वधमन्विच्छन्नात्मनोऽभिमुखो रणे।
न हन्यां मानवश्रेष्ठान् संग्रामे सुबहूनिति ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वा महाबाहुः पिता देवव्रतस्तव।
अभ्याशस्थं महाराज पाण्डवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अब वे रणक्षेत्रमें सम्मुख रहकर शीघ्र ही अपने वधकी इच्छा करने लगे। महाराज ! आपके ताऊ महाबाहु देवव्रतने यह सोचकर कि अब मैं संग्राममें बहुसंख्यक श्रेष्ठ मानवोंका वध न करूँ, अपने निकटवर्ती पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शृणुष्व वचनं तात धर्म्यं स्वर्ग्यं च जल्पतः ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, महाज्ञानी तात युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें धर्मके अनुकूल तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली एक बात बता रहा हूँ, तुम मेरे उस वचनको सुनो ॥ १३ ॥

निर्विण्णोऽस्मि भृशं तात देहेनानेन भारत।
घ्नतश्च मे गतः कालः सुबहून् प्राणिनो रणे ॥ १४ ॥

'तात भरतनन्दन ! अब मैं इस देहसे ऊब गया हूँ; क्योंकि रणभूमिमें बहुत-से प्राणियोंका वध करते हुए ही मेरा समय बीता है ॥ १४ ॥

तस्मात् पार्थं पुरोधाय पञ्चालान् सृंजयांस्तथा।
मद्वधे क्रियतां यत्नो मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १५ ॥

'इसलिये यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अर्जुन तथा पाञ्चालों और सृंजयोंको आगे करके मेरे वधके लिये प्रयत्न करो' ॥ १५ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय पाण्डवः सत्यदर्शनः।
भीष्मं प्रति ययौ राजा संग्रामे सह सृंजयैः ॥ १६ ॥

भीष्मके इस अभिप्रायको जानकर सत्यदर्शी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर रणभूमिमें सृंजयवीरोंको साथ ले भीष्मकी ओर आगे बढ़े ॥ १६ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजन् पाण्डवश्च युधिष्ठिरः।
श्रुत्वा भीष्मस्य तां वाचं चोदयामासतुर्बलम् ॥ १७ ॥
अभिद्रवध्वं युध्यध्वं भीष्मं जयत संयुगे।
रक्षिताः सत्यसंधेन जिष्णुना रिपुजिष्णुना ॥ १८ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मजीका वह वचन सुनकर धृष्टद्युम्न और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपनी सेनाको आज्ञा दी—'वीरो ! आगे बढ़ो। युद्ध करो और संग्राममें भीष्मपर विजय पाओ। तुम सब लोग शत्रुविजयी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हो ॥ १७-१८ ॥

अयं चापि महेष्वासः पार्षतो वाहिनीपतिः।
भीमसेनश्च समरे पालयिष्यति वो ध्रुवम् ॥ १९ ॥

'ये महाधनुर्धर सेनापति धृष्टद्युम्न तथा भीमसेन भी समराङ्गणमें निश्चय ही तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे ॥१९॥

मा वो भीष्माद् भयं किञ्चिदस्त्वद्य युधि सृंजयाः।
ध्रुवं भीष्मं विजेष्यामः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्॥ २० ॥

'सृंजय वीरो ! आज तुम युद्धमें भीष्मजीसे तनिक भी भय न करो। हम शिखण्डीको आगे करके भीष्मपर अवश्य ही विजय पायेंगे' ॥ २० ॥

ते तथा समयं कृत्वा दशमेऽहनि पाण्डवाः।
ब्रह्मलोकपरा भूत्वा संजग्मुः क्रोधमूर्छिताः ॥ २१ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य पाण्डवं च धनंजयम्।
भीष्मस्य पातने यत्नं परमं ते समास्थिताः ॥ २२ ॥

तब वे पाण्डव सैनिक दसवें दिन वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मलोकको अपना लक्ष्य बनाकर क्रोधसे मूर्छित हो शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनको आगे करके आगे बढ़े और भीष्मको मार गिरानेका महान् प्रयत्न करने लगे २१-२२

ततस्तव सुतादिष्टा नानाजनपदेश्वराः।
द्रोणेन सहपुत्रेण सहसेना महाबलाः ॥ २३ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञा पाकर नाना देशोंके स्वामी महाबली नरेशगण अपनी विशाल सेनासहित द्रोण तथा अश्वत्थामाके साथ अग्रसर हुए ॥ २३ ॥

दुःशासनश्च बलवान् सह सर्वैः सहोदरैः।
भीष्मं समरमध्यस्थं पालयाञ्चक्रिरे तदा ॥ २४ ॥

उस समय वे सब वीर और समस्त भाइयोंसहित बलवान् दुःशासन समरभूमिमें खड़े हुए भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥

ततस्तु तावकाः शूराः पुरस्कृत्य महाव्रतम्।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे ॥२५॥

तदनन्तर आपके पक्षके शूरवीर सैनिक महाव्रती भीष्मको आगे करके रणक्षेत्रमें शिखण्डी आदि पाण्डवसैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २५॥

चेदिभिस्तु सपञ्चालैः सहितो वानरध्वजः।
ययौ शान्तनवं भीष्मं पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ २६ ॥

वानरचिह्नित ध्वजासे विभूषित अर्जुनने चेदि तथा पाञ्चालदेशके वीरोंके साथ शिखण्डीको आगे करके शान्तनुनन्दन भीष्मपर चढ़ाई की॥ २६ ॥

द्रोणपुत्रं शिनेर्नप्ता धृष्टकेतुस्तु पौरवम्।
अभिमन्युः सहामात्यं दुर्योधनमयोधयत् ॥ २७ ॥

सात्यकि अश्वत्थामाके साथ, धृष्टकेतु पौरवके साथ तथा मन्त्रियोंसहित दुर्योधनके साथ अभिमन्यु युद्ध करने लगे ॥

विराटस्तु सहानीकः सहसेनं जयद्रथम्।
वृद्धक्षत्रस्य दायादमाससाद परंतप ॥ २८ ॥

परंतप ! सेनासहित विराटने सैनिकोंसहित वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथपर आक्रमण किया ॥ २८ ॥

मद्रराजं महेष्वासं सहसैन्यं युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽभिगुप्तस्तु नागानीकमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने महाधनुर्धर मद्रराज शल्य तथा उनकी सेनापर धावा किया। सब ओरसे सुरक्षित हुए भीमसेन हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यमनावार्यं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
द्रौणिं प्रति ययौ यत्तः पाञ्चाल्यः सह सोदरैः ॥ ३० ॥

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अनिवार्य और दुर्धर्ष वीर अश्वत्थामापर भाइयोंसहित धृष्टद्युम्नने प्रयत्नपूर्वक आक्रमण किया ॥

कर्णिकारध्वजं चैव सिंहकेतुररिंदमः ।
प्रत्युज्जगाम सौभद्रं राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३१ ॥

कर्णिकारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युपर सिंहचिह्नित ध्वजावाले शत्रुदमन राजकुमार बृहद्बलने आक्रमण किया ॥ ३१ ॥

शिखण्डिनं च पुत्रास्ते पाण्डवं च धनंजयम् ।
राजभिः समरे पार्थमभिपेतुर्जिघांसवः ॥ ३२ ॥

शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनपर आपके पुत्रोंने समस्त राजाओंको साथ लेकर युद्धस्थलमें आक्रमण किया । वे उन दोनोंको मार डालना चाहते थे ॥ ३२ ॥

तस्मिन्नतिमहाभीमे सेनयोर्वै पराक्रमे ।
सम्प्रधावत्स्वनीकेषु मेदिनी समकम्पत ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उन दोनों सेनाओंके वीर जब अत्यन्त भयानक पराक्रम प्रकट करने लगे और समस्त सैनिक इधर-उधर दौड़ने लगे; उस समय यह सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ ३३ ॥

तान्यनीकान्यनीकेषु समसज्जन्त भारत ।
तावकानां परेषां च दृष्ट्वा शान्तनवं रणे ॥ ३४ ॥

भारत ! आपके और शत्रुपक्षके सब सैनिक युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको देखकर विरोधी सैनिकोंके साथ जमकर युद्ध करने लगे ॥ ३४ ॥

ततस्तेषां प्रतप्तानामन्योन्यमभिधावताम् ।
प्रादुरासीन्महाशब्दो दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ३५ ॥

भरतनन्दन ! एक दूसरेपर धावा करनेवाले उन संतप्त सैनिकोंका महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥ ३५ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषश्च वारणानां च बृंहितैः ।
सिंहनादश्च सैन्यानां दारुणः समपद्यत ॥ ३६ ॥

शङ्खों और दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष तथा हाथियोंकी गर्जनाके साथ सैनिकोंका सिंहनाद बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३६ ॥

सा च सर्वनरेन्द्राणां चन्द्रार्कसदृशी प्रभा ।
वीराङ्गदकिरीटेषु निष्प्रभा समपद्यत ॥ ३७ ॥

समस्त राजाओंकी चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली प्रभा वीरोंके अङ्गद और किरीटोंके सामने अत्यन्त फीकी पड़ गयी ॥ ३७ ॥

रजोमेघास्तु संजज्ञुः शस्त्रविद्युद्भिरावृताः ।
धनुषां चापि निर्घोषो दारुणः समपद्यत ॥ ३८ ॥

धूल मेघोंकी घटा-सी छा गयी । उसमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक बिजलीकी प्रभाके समान व्याप्त हो रही थी, धनुषोंकी टङ्कारध्वनि अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ३८ ॥

बाणशङ्खप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
रथघोषश्च संजज्ञे सेनयोरुभयोरपि ॥ ३९ ॥

बाणों, शङ्खों तथा भेरियोंके सम्मिलित शब्द जोर-जोरसे सुनायी देने लगे । साथ ही दोनों सेनाओंमें रथोंकी घरघराहट भी दूरतक फैलने लगी ॥ ३९ ॥

प्रासशक्त्यृष्टिसङ्घैश्च बाणौघैश्च समाकुलम् ।
निष्प्रकाशमिवाकाशं सेनयोः समपद्यत ॥ ४० ॥

दोनों सेनाओंके प्रास, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंके समुदायोंसे भरा हुआ वहाँका आकाश प्रकाशहीन-सा जान पड़ता था ॥ ४० ॥

अन्योन्यं रथिनः पेतुर्वाजिनश्च महाहवे ।
कुञ्जरान् कुञ्जरा जघ्नुः पादातांश्च पदातयः ॥ ४१ ॥

उस महासमरमें रथी और घोड़े एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे । हाथी हाथियोंको और पैदल पैदल सिपाहियोंको मार रहे थे ॥ ४१ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
भीष्महेतोर्नरव्याघ्र श्येनयोरामिषे यथा ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये दो श्येन पक्षी आपसमें लड़ते हैं, उसी प्रकार वहाँ भीष्मके लिये कौरवोंका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हो रहा था ॥ ४२ ॥

तेषां समागमो घोरो बभूव युधि संगतः ।
अन्योन्यस्य वधार्थाय जिगीषूणां महाहवे ॥ ४३ ॥

उस महासमरमें एक दूसरेके वधके लिये एकत्र हुए विजयाभिलाषी सैनिकोंका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपदेशे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मका उपदेशविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन तथा भीष्मका पराक्रम

संजय उवाच

अभिमन्युर्महाराज तव पुत्रमयोधयत् ।
महत्या सेनया युक्तं भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीको पराजित करनेके लिये पराक्रमी अभिमन्युने विशाल सेनासहित आये हुए आपके पुत्रके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १ ॥

दुर्योधनो रणे कार्ष्णिं नवभिर्नतपर्वभिः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः पुनश्चैनं त्रिभिः शरैः ॥ २ ॥

दुर्योधनने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे अभिमन्युकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । फिर कुपित होकर उसने उन्हें तीन बाण और मारे ॥ २ ॥

तस्य शक्तिं रणे कार्ष्णिर्मृत्योर्घोरां स्वसामिव ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो दुर्योधनरथं प्रति ॥ ३ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने रणक्षेत्रमें दुर्योधनके रथपर एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युकी बहिन-सी प्रतीत होती थी ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां विशाम्पते ।
द्विधा चिच्छेद ते पुत्रः क्षुरप्रेण महारथः ॥ ४ ॥
तां शक्तिं पतितां दृष्ट्वा कार्ष्णिः परमकोपनः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! उस भयंकर शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख आपके महारथी पुत्र दुर्योधनने एक क्षुरप्रके द्वारा उसके दो टुकड़े कर डाले । उस शक्तिको गिरी हुई देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अर्जुनकुमारने दुर्योधनकी छाती तथा भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैराजघान स्तनान्तरे ।
दशभिर्भरतश्रेष्ठ भरतानां महारथः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भरतकुलके महारथी वीर अभिमन्युने पुनः दुर्योधनकी छातीमें दस भयानक बाण मारे ॥ ६ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं चित्ररूपं च भारत ।
इन्द्रियप्रीतिजननं सर्वपार्थिवपूजितम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंका वह भयंकर युद्ध विचित्र एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला था । समस्त भूपाल उस युद्धकी प्रशंसा करते थे ॥ ७ ॥

भीष्मस्य निधनार्थाय पार्थस्य विजयाय च ।
युयुधाते रणे वीरौ सौभद्रकुरुपुङ्गवौ ॥ ८ ॥

भीष्मके वध और अर्जुनकी विजयके लिये उस युद्धके मैदानमें सुभद्राकुमार अभिमन्यु और कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन—ये दोनों वीर युद्ध कर रहे थे ॥ ८ ॥

सात्यकिं रभसं युद्धे द्रौणिर्ब्राह्मणपुङ्गवः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो नाराचेन परंतपः ॥ ९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले ब्राह्मणशिरोमणि द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कुपित हो युद्धमें अत्यन्त वेगशाली सात्यकिको लक्ष्य करके उनकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया ॥ ९ ॥

शैनेयोऽपि गुरोः पुत्रं सर्वमर्मसु भारत ।
अताडयदमेयात्मा नवभिः कङ्कवाजितैः ॥ १० ॥

भारत ! तब अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न सात्यकिने भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें नौ कंकपत्रयुक्त बाण मारे ॥ १० ॥

अश्वत्थामा तु समरे सात्यकिं नवभिः शरैः ।
त्रिंशता च पुनस्तूर्णं बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ११ ॥

अश्वत्थामाने समरभूमिमें सात्यकिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर तुरंत ही तीस बाणोंद्वारा उनकी भुजाओं तथा छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो द्रोणपुत्रेण सात्वतः ।
द्रोणपुत्रं त्रिभिर्बाणैराजघान महायशाः ॥ १२ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अत्यन्त घायल होकर महायशस्वी महाधनुर्धर सात्यकिने तीन बाणोंसे उसे भी घायल कर दिया ॥

पौरवो धृष्टकेतुं च शरैराच्छाद्य संयुगे ।
बहुधा दारयांचक्रे महेष्वासं महारथः ॥ १३ ॥

महारथी पौरवने युद्धमें महाधनुर्धर धृष्टकेतुको बाणोंद्वारा आच्छादित करके उन्हें बारंबार घायल किया ॥ १३ ॥

तथैव पौरवं युद्धे धृष्टकेतुर्महारथः ।
त्रिंशता निशितैर्बाणैर्विव्याधाशु महाभुजः ॥ १४ ॥

उसी प्रकार महारथी महाबाहु धृष्टकेतुने युद्धस्थलमें तीस पैने बाणोंद्वारा पौरवको भी तुरंत ही घायल कर दिया ।१४।

पौरवस्तु धनुश्छित्त्वा धृष्टकेतोर्महारथः ।
ननाद बलवन्नादं विव्याध च शितैः शरैः ॥ १५ ॥

तब महारथी पौरवने धृष्टकेतुके धनुषको काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उसे तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पौरवं निशितैः शरैः ।
आजघान महाराज त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टकेतुने दूसरा धनुष लेकर तिहत्तर तीखे शिलीमुख बाणोंद्वारा पौरवको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

तौ तु तत्र महेष्वासौ महामात्रौ महारथौ ।
महता शरवर्षेण परस्परमविध्यताम् ॥ १७ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर, महाबली और महारथी वीर एक दूसरेको युद्धमें भारी बाणवर्षाद्वारा घायल कर रहे थे ॥१७॥

अन्योन्यस्य धनुश्छित्त्वा हयान् हत्वा च भारत ।
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ ॥ १८ ॥

भारत ! दोनोंने एक दूसरेका धनुष काटकर घोड़ोंको भी मार डाला और रथहीन हो दोनों ही एक दूसरेपर कुपित हो परस्पर खड्गयुद्धके लिये आमने-सामने आये ॥ १८ ॥

आर्षभे चर्मणी चित्रे शतचन्द्रपुरस्कृते ।
तारकाशतचित्रे च निस्त्रिंशौ सुमहाप्रभौ ॥ १९ ॥

उनके हाथोंमें सौ-सौ चन्द्र और तारकाके चिह्नोंसे युक्त ऋषभके चर्मकी बनी हुई ढालें और चमकीले खड्ग शोभा पाते थे ॥ १९ ॥

प्रगृह्य विमलौ राजंस्तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।
वासितासंगमे यत्तौ सिंहाविव महावने ॥ २० ॥

राजन् ! जैसे महान् वनमें एक सिंहनीके लिये दो सिंह लड़ते हों, उसी प्रकार चमकीले खड्ग लेकर धृष्टकेतु और पौरव दोनों विजयके लिये प्रयत्नशील हो एक दूसरेपर टूट पड़े ॥ २० ॥

मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।
चेरतुर्दर्शयन्तौ च प्रार्थयन्तौ परस्परम् ॥ २१ ॥

वे आगे बढ़ने और पीछे हटने आदि विचित्र पैंतरे दिखाते एवं एक दूसरेको ललकारते हुए रणभूमिमें विचरते थे ॥ २१ ॥

पौरवो धृष्टकेतुं तु शङ्खदेशे महासिना ।
ताडयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २२ ॥

पौरवने अपने महान् खड्गसे धृष्टकेतुकी कनपटीपर क्रोधपूर्वक प्रहार किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

चेदिराजोऽपि समरे पौरवं पुरुषर्षभम् ।
आजघान शिताग्रेण जत्रुदेशे महासिना ॥ २३ ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने भी समरमें पुरुषरत्न पौरवके गलेकी हँसलीपर तीखी धारवाले महान् खड्गसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ २३ ॥

तावन्योन्यं महाराज समासाद्य महाहवे ।
अन्योन्यवेगाभिहतौ निपेततुररिंदमौ ॥ २४ ॥

महाराज ! शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर उस महायुद्धमें परस्पर भिड़कर एक दूसरेके वेगपूर्वक किये हुए आघातसे अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

ततः स्वरथमारोप्य पौरवं तनयस्तव ।
जयत्सेनो रथेनाजावपोवाह रणाजिरात् ॥ २५ ॥

तब आपके पुत्र जयत्सेनने पौरवको अपने रथपर बिठा लिया और उस रथके द्वारा ही वह उसे समराङ्गणसे बाहर हटा ले गया ॥ २५ ॥

धृष्टकेतुं तु समरे माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ।
अपोवाह रणे क्रुद्धः सहदेवः पराक्रमी ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रतापी एवं पराक्रमी माद्रीकुमार सहदेव कुपित हो धृष्टकेतुको अपने रथपर चढ़ाकर समरभूमिसे बाहर हटा ले गये ॥ २६ ॥

चित्रसेनः सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
पुनर्विव्याध तं षष्ट्या पुनश्च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥

चित्रसेनने पाण्डवदलके सुशर्मा नामक राजाको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके पुनः साठ तथा नौ सायकोंद्वारा उन्हें पीड़ित कर दिया ॥ २७ ॥

सुशर्मा तु रणे क्रुद्धस्तव पुत्रं विशाम्पते ।
दशभिर्दशभिश्चैव विव्याध निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! तब सुशर्माने रणभूमिमें कुपित होकर आपके पुत्र चित्रसेनको दस-दस तीखे बाणोंद्वारा दो बार घायल किया ॥ २८ ॥

चित्रसेनश्च तं राजंस्त्रिंशता नतपर्वभिः ।
आजघान रणे क्रुद्धः स च तं प्रत्यविध्यत ॥ २९ ॥
भीष्मस्य समरे राजन् यशो मानं च वर्धयन् ।

राजन् ! चित्रसेनने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले तीस बाणोंसे रणक्षेत्रमें सुशर्माको गहरी चोट पहुँचायी । महाराज ! उसने समरमें भीष्मके यश और सम्मान दोनोंको बढ़ाया २९½

सौभद्रो राजपुत्रं तु बृहद्बलमयोधयत् ॥ ३० ॥
पार्थहेतोः पराक्रान्तो भीष्मस्यायोधनं प्रति ।

राजन् ! भीष्मजीके साथ युद्ध करनेमें अर्जुनकी सहायताके लिये पराक्रम करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने राजकुमार बृहद्बलके साथ युद्ध किया ॥ ३०½ ॥

आर्जुनिं कोसलेन्द्रस्तु विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः ॥ ३१ ॥
पुनर्विव्याध विंशत्या शरैः संनतपर्वभिः ।

कोसलनरेशने लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे अर्जुनकुमारको घायल करके पुनः झुकी हुई गाँठवाले बीस बाणोंद्वारा उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३१½ ॥

सौभद्रः कोसलेन्द्रं तु विव्याधाष्टभिरायसैः ॥ ३२ ॥
नाकम्पयत संग्रामे विव्याध च पुनः शरैः ।

तब सुभद्राकुमारने कोसलनरेशको लोहेके आठ बाणोंसे बींध डाला तो भी संग्राममें उसे विचलित न कर सका । इसके बाद उसने फिर अनेक बाणोंद्वारा बृहद्बलको घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

कौसल्यस्य धनुश्चापि पुनश्चिच्छेद फाल्गुनिः ॥ ३३ ॥
आजघान शरैश्चापि त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ।

तदनन्तर अर्जुनकुमारने कोसलनरेशका धनुष भी काट दिया और कंकपत्रयुक्त तीस सायकोंद्वारा उनपर गहरा प्रहार किया ॥ ३३½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३४ ॥
फाल्गुनिं समरे क्रुद्धो विव्याध बहुभिः शरैः ।

तब राजकुमार बृहद्बलने दूसरा धनुष लेकर समरभूमिमें कुपित हो अर्जुनकुमार अभिमन्युको बहुतेरे बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३४½ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् भीष्महेतोः परंतप ॥ ३५ ॥
संरब्धयोर्महाराज समरे चित्रयोधिनोः ।
यथा देवासुरे युद्धे बलिवासवयोरभूत् ॥ ३६ ॥

परंतप ! महाराज ! इस प्रकार समराङ्गणमें क्रोधपूर्वक विचित्र युद्ध करनेवाले उन दोनों वीरोंमें भीष्मके लिये बड़ा

भारी युद्ध हुआ, मानो देवासुरसंग्राममें राजा बलि और इन्द्र-में द्वन्द्वयुद्ध हो रहा हो ॥ ३५-३६ ॥

भीमसेनो गजानीकं योधयन् बह्वशोभत ।
यथा शक्रो वज्रपाणिर्दारयन् पर्वतोत्तमान् ॥ ३७ ॥

तथा जैसे वज्रधारी इन्द्र बड़े-बड़े पर्वतोंको विदीर्ण कर डालते हैं, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंकी सेनाके साथ युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३७ ॥

ते वध्यमाना भीमेन मातङ्गा गिरिसंनिभाः ।
निपेतुरुर्व्यां सहिता नादयन्तो वसुन्धराम् ॥ ३८ ॥

भीमसेनके द्वारा मारे जाते हुए वे पर्वत सरीखे बहुसंख्यक गजराज (अपने चीत्कारसे) इस पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एक साथ ही धराशायी हो जाते थे ॥ ३८ ॥

गिरिमात्रा हि ते नागा भिन्नाञ्जनचयोपमाः ।
विरेजुर्वसुधां प्राप्ता विकीर्णा इव पर्वताः ॥ ३९ ॥

कटे हुए कोयलेकी राशिके समान काले और गिरिराजके समान ऊँचे शरीरवाले वे हाथी पृथ्वीपर गिरकर इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरो महेष्वासो मद्रराजानमाहवे ।
महत्या सेनया गुप्तं पीडयामास संगतम् ॥ ४० ॥

महाधनुर्धर युधिष्ठिरने विशाल सेनासे सुरक्षित मद्रराज शल्यको उस युद्धमें सामने पाकर बाणोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ४० ॥

मद्रेश्वरश्च समरे धर्मपुत्रं महारथम् ।
पीडयामास संरब्धो भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ४१ ॥

भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम करनेवाले मद्रराज शल्यने भी युद्धमें कुपित हो महारथी धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ित किया ॥

विराटं सैन्धवो राजा विद्ध्वा संनतपर्वभिः ।
नवभिः सायकैस्तीक्ष्णैस्त्रिंशता पुनरार्पयत् ॥ ४२ ॥

सिन्धुराज जयद्रथने झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकों-द्वारा राजा विराटको घायल करके पुनः उन्हें तीस बाण मारे॥

विराटश्च महाराज सैन्धवं वाहिनीपतिः ।
त्रिंशद्भिर्निशितैर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ४३ ॥

महाराज ! सेनापति विराटने भी सिन्धुराज जयद्रथकी छातीमें तीस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥४३॥

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशौ चित्रवर्मायुधध्वजौ ।
रेजतुश्चित्ररूपौ तौ संग्रामे मत्स्यसैन्धवौ ॥ ४४ ॥

उस संग्राममें मत्स्यराज और सिन्धुराज दोनोंके ही धनुष और खड्ग विचित्र थे । दोनोंने विचित्र कवच, आयुध और ध्वज धारण किये थे । वे दोनों ही विचित्र रूप धारण करके बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४४ ॥

द्रोणः पाञ्चालपुत्रेण समागम्य महारणे ।
महासमुदयं चक्रे शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४५ ॥

द्रोणाचार्यने उस महासमरमें पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न-से भिड़कर झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बड़ा भारी युद्ध किया ॥ ४५ ॥

ततो द्रोणो महाराज पार्षतस्य महद् धनुः ।
छित्त्वा पञ्चाशतेषूणां पार्षतं समविध्यत ॥ ४६ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके विशाल धनुषको काटकर पचास बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ॥४६॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणस्य मिषतो युद्धे प्रेषयामास सायकान् ॥ ४७ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनके ऊपर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४७ ॥

तान्छरान्छरघातेन चिच्छेद स महारथः ।
द्रोणो द्रुपदपुत्राय प्राहिणोत् पञ्च सायकान् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर महारथी द्रोणने अपने बाणोंके आघातसे धृष्टद्युम्नके सारे बाणोंको काट दिया और द्रुपदपुत्रपर पाँच बाण चलाये ॥ ४८ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणाय चिक्षेप गदां यमदण्डोपमां रणे ॥ ४९ ॥

महाराज ! तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने कुपित हो द्रोणाचार्यपर गदा चलायी, जो रणभूमिमें यम-दण्डके समान भयंकर थी ॥ ४९ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमपट्टविभूषिताम् ।
शरैः पञ्चाशता द्रोणो वारयामास संयुगे ॥ ५० ॥

उस स्वर्णपत्रविभूषित गदाको सहसा अपनी ओर आती देख द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें पचासों बाण मारकर उसे दूर गिरा दिया ॥ ५० ॥

सा छिन्ना बहुधा राजन् द्रोणचापच्युतैः शरैः ।
चूर्णीकृता विशीर्यन्ती पपात वसुधातले ॥ ५१ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा नाना प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुई वह गदा चूर-चूर होकर पृथ्वीपर बिखर गयी ॥ ५१ ॥

गदां विनिहतां दृष्ट्वा पार्षतः शत्रुतापनः ।
द्रोणाय शक्तिं चिक्षेप सर्वपारशवीं शुभाम् ॥ ५२ ॥

अपनी गदाको निष्फल हुई देख शत्रुओंको संताप देने-वाले धृष्टद्युम्नने द्रोणके ऊपर पूर्णतः लोहेकी बनी हुई सुन्दर शक्ति चलायी ॥ ५२ ॥

तां द्रोणो नवभिर्बाणैश्चिच्छेद युधि भारत ।
पार्षतं च महेष्वासं पीडयामास संयुगे ॥ ५३ ॥

भारत ! द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें नौ बाण मारकर उस

शक्तिके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नको भी उस रणक्षेत्रमें बहुत पीड़ित किया ॥ ५३ ॥

एवमेतन्महायुद्धं द्रोणपार्षतयोरभूत् ।
भीष्मं प्रति महाराज घोररूपं भयानकम् ॥ ५४ ॥

महाराज ! इस प्रकार द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भीष्मके लिये यह घोररूप एवं भयानक महायुद्ध हुआ ॥ ५४ ॥

अर्जुनः प्राप्य गाङ्गेयं पीडयन् निशितैः शरैः ।
अभ्यद्रवत संयत्तो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ५५ ॥

अर्जुनने गङ्गानन्दन भीष्मके निकट पहुँचकर उन्हें तीखे बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए बड़ी सावधानीके साथ उनपर चढ़ाई की । ठीक वैसे ही, जैसे वनमें कोई मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर आक्रमण कर रहा हो ॥

प्रत्युद्ययौ च तं राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
त्रिधा भिन्नेन नागेन मदान्धेन महाबलः ॥ ५६ ॥

तब प्रतापी एवं महाबली राजा भगदत्तने मदान्ध गजराजपर आरूढ़ हो अर्जुनके ऊपर धावा किया । उस हाथीके कुम्भस्थलमें तीन जगहसे मदकी धारा चू रही थी ॥

तमापतन्तं सहसा महेन्द्रगजसंनिभम् ।
परं यत्नं समास्थाय बीभत्सुः प्रत्यपद्यत ॥ ५७ ॥

देवराज इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान उस गजराजको सहसा आते देख अर्जुनने बड़ा यत्न करके उसका सामना किया॥

ततो गजगतो राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
अर्जुनं शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ५८ ॥

तब हाथीपर बैठे हुए प्रतापी राजा भगदत्तने युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ।५८।

अर्जुनस्तु ततो नागमायान्तं रजतोपमैः ।
विमलैरायसैस्तीक्ष्णैरविध्यत महारणे ॥ ५९ ॥

अर्जुनने भी अपने सामने आते हुए उस हाथीको चाँदीके समान चमकीले लोहमय तीखे बाणोंद्वारा उस महासमरमें बींध डाला ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनं च कौन्तेयो याहियाहीत्यचोदयत् ।
भीष्मं प्रति महाराज जह्येनमिति चाब्रवीत् ॥ ६० ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार अर्जुन शिखण्डीको बार-बार यह प्रेरणा देते और कहते थे कि तुम भीष्मकी ओर बढ़ो और इन्हें मार डालो ॥ ६० ॥

प्राग्ज्योतिषस्ततो हित्वा पाण्डवं पाण्डुपूर्वज ।
प्रययौ त्वरितो राजन् द्रुपदस्य रथं प्रति ॥ ६१ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता महाराज ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त पाण्डुनन्दन अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही द्रुपदके रथकी ओर चल दिये ॥ ६१ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज भीष्ममभ्यद्रवद् द्रुतम् ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य ततो युद्धमवर्तत ॥ ६२ ॥

महाराज ! तब अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके बड़े वेगसे भीष्मपर धावा किया । फिर तो भारी युद्ध छिड़ गया॥

ततस्ते तावकाः शूराः पाण्डवं रभसं युधि ।
समभ्यधावन् क्रोशन्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर युद्धमें आपके शूरवीर सैनिक कोलाहल करते और ललकारते हुए वेगशाली पाण्डुकुमार अर्जुनकी ओर दौड़ पड़े । वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ६३ ॥

नानाविधान्यनीकानि पुत्राणां ते जनाधिप ।
अर्जुनो व्यधमत् काले दिवीवाभ्राणि मारुतः ॥ ६४ ॥

जनेश्वर ! जैसे आकाशमें फैले हुए बादलोंको हवा छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने उस अवसरपर आपके पुत्रोंकी विविध सेनाओंको विनष्ट कर दिया ॥ ६४ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
इषुभिस्तूर्णमव्यग्रो बहुभिः स समाचिनोत् ॥ ६५ ॥

उसी समय शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके सामने पहुँचकर स्वस्थचित्तसे अनेक बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें आच्छादित कर दिया ॥ ६५ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ।
शरसंघमहाज्वालः क्षत्रियान् समरेऽदहत् ॥ ६६ ॥

वे अग्निके समान प्रज्वलित हो समरभूमिमें क्षत्रियोंको दग्ध कर रहे थे । रथ ही अग्निशाला थी, धनुष लपटके समान प्रतीत होता था, खड्ग, शक्ति और गदाएँ ईंधनका काम दे रही थीं, बाणोंका समुदाय ही उस अग्निकी महाज्वाला थी ॥ ६६ ॥

यथाग्निः सुमहानिद्धः कक्षे चरति सानिलः ।
तथा जज्वाल भीष्मोऽपि दिव्यान्यस्त्राण्युदीरयन् ६७

जैसे प्रज्वलित अग्नि वायुका सहारा पाकर घास-फूँसके जंगलमें विचरती है, इसी प्रकार दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए भीष्मजी भी शत्रुसेनामें प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

सोमकांश्च रणे भीष्मो जघ्ने पार्थपदानुगान् ।
न्यवारयत तत् सैन्यं पाण्डवस्य महारथः ॥ ६८ ॥

भीष्मने युद्धमें अर्जुनका अनुसरण करनेवाले सोमकवंशियोंको भी बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी । साथ ही उन महारथी वीरने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनाको भी आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६८ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः शितैः संनतपर्वभिः ।
नादयन् स दिशो भीष्मः प्रदिशश्च महाहवे ॥ ६९ ॥

झुकी हुई गाँठवाले, सुवर्णपंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारकर भीष्म उस महायुद्धमें सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको भी शब्दायमान करने लगे ॥ ६९ ॥

पातयन् रथिनो राजन् हयांश्च सहसादिभिः।
मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ॥ ७० ॥

राजन्! रथियोंको गिराकर और सवारोंसहित घोड़ोंको मारकर उन्होंने रथोंके समुदायको मुण्डित ताड़वनके समान कर दिया ॥ ७० ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे।
चकार समरे भीष्मः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७१ ॥

नरेश्वर! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उस समराङ्गणमें रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे शून्य कर दिया ॥ ७१ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वतो राजन् समकम्पन्त सैनिकाः ॥ ७२ ॥

राजन्! वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकारध्वनि सुनकर सब ओरके सैनिक काँपने लगे॥

अमोघा न्यपतन् बाणाः पितुस्ते मनुजेश्वर।
नासज्जन्त शरीरेषु भीष्मचापच्युताः शराः ॥ ७३ ॥

मनुजेश्वर! आपके ताऊके द्वारा चलाये हुए बाण कभी खाली नहीं जाते थे। भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायक मनुष्योंके शरीरोंमें नहीं अटकते थे ॥ ७३ ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् सुयुक्ताञ्जवनैर्हयैः।
वातायमानानद्राक्षं ह्रियमाणान् विशाम्पते ॥ ७४ ॥

प्रजानाथ! हमने तेज घोड़ोंसे जुते हुए बहुत-से ऐसे रथ देखे, जिनमें कोई मनुष्य नहीं था और वे रथ वायुके समान शीघ्र गतिसे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ७५ ॥

वहाँ चेदि, काशि और करूष देशोंके चौदह हजार महारथी मौजूद थे, जिनकी बड़ी ख्याति थी, जो कुलीन होनेके साथ ही पाण्डवोंके लिये प्राणोंका परित्याग करनेको उद्यत थे ॥ ७५ ॥

अपरावर्तिनः शूराः सुवर्णविकृतध्वजाः।
संग्रामे भीष्ममासाद्य सवाजिरथकुञ्जराः ॥ ७६ ॥
जग्मुस्ते परलोकाय व्यादितास्यमिवान्तकम्।

वे युद्धसे पीठ न दिखानेवाले, शौर्यसम्पन्न तथा सुवर्णमय ध्वज धारण करनेवाले थे। वे सब-के-सब युद्धमें मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मके पास पहुँचकर घोड़े, रथ और हाथियोंसहित परलोकके पथिक हो गये ॥ ७६½ ॥

न तत्रासीद् रणे राजन् सोमकानां महारथः ॥ ७७ ॥
यः सम्प्राप्य रणे भीष्मं जीविते स्म मनो दधे।

राजन्! उस समय सोमकोंमें एक भी महारथी ऐसा नहीं था, जो युद्धभूमिमें भीष्मके पास पहुँचकर अपने मनमें जीवन-रक्षाकी आशा रखता हो ॥ ७७½ ॥

तांश्च सर्वान् रणे योधान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ७८ ॥
नीतानमन्यन्त जना दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम्।

उस समय लोगोंने भीष्मका अद्भुत पराक्रम देखकर यह मान लिया कि युद्धके मैदानमें जितने योद्धा उपस्थित हैं, वे सब यमराजके लोकमें गये हुएके ही समान हैं॥ ७८½ ॥

न कश्चिदेनं समरे प्रत्युद्याति महारथः ॥ ७९ ॥
ऋते पाण्डुसुतं वीरं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
शिखण्डिनं च समरे पाञ्चाल्यममितौजसम् ॥ ८० ॥

उस समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे और श्वेत घोड़े जिनके रथमें जुते हुए थे, उन पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनको तथा अमित तेजस्वी पाञ्चालराजपुत्र शिखण्डीको छोड़कर दूसरा कोई महारथी ऐसा नहीं था, जो समराङ्गणमें भीष्मके सामने जानेका साहस करता ॥ ७९–८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११६॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका युद्ध, दुःशासनका पराक्रम तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मका मूर्च्छित होना

संजय उवाच

शिखण्डी तु रणे भीष्ममासाद्य पुरुषर्षभम्।
दशभिर्निशितैर्भल्लैराजघान स्तनान्तरे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! शिखण्डीने रणक्षेत्रमें पुरुषरत्न भीष्मजीके सामने पहुँचकर उनकी छातीमें दस तीखे भल्ल नामक बाण मारे ॥ १ ॥

शिखण्डिनं तु गाङ्गेयः क्रोधदीप्तेन चक्षुषा।
सम्प्रैक्षत कटाक्षेण निर्दहन्निव भारत ॥ २ ॥

भारत! गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे प्रज्वलित हुई दृष्टि एवं कनखियोंसे शिखण्डीकी ओर इस प्रकार देखा, मानो वे उसे भस्म कर डालेंगे ॥ २ ॥

स्त्रीत्वं तस्य स्मरन् राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः।
नाजघान रणे भीष्मः स च तन्नावबुद्धवान् ॥ ३ ॥

राजन्! किंतु उसके स्त्रीत्वका विचार करके भीष्मजीने युद्धस्थलमें उसपर कोई आघात नहीं किया। इस बातको सब लोगोंने देखा; पर शिखण्डी इस बातको नहीं समझ सका॥

अर्जुनस्तु महाराज शिखण्डिनमभाषत ।
अभिद्रवस्व त्वरितं जहि चैनं पितामहम् ॥ ४ ॥

महाराज ! उस समय अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम झटपट आगे बढ़ो और इन पितामह भीष्मका वध कर डालो ॥ ४ ॥

किं ते विवक्षया वीर जहि भीष्मं महारथम् ।
न ह्यन्यमनुपश्यामि कञ्चिद् यौधिष्ठिरे बले ॥ ५ ॥
यः शक्तः समरे भीष्मं प्रतियोद्धुमिहाहवे ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

'वीर ! इस विषयमें बार-बार विचारने या संदेह निवारणके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम महारथी भीष्मको शीघ्र मार डालो। युधिष्ठिरकी सेनामें तुम्हारे सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो समरभूमिमें भीष्मका सामना कर सके। पुरुषसिंह ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५-६ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पितामहमवाकिरत् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर शिखण्डी तुरंत ही पितामह भीष्मपर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥

अचिन्तयित्वा तान् बाणान् पिता देवव्रतस्तव ।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं वारयामास सायकैः ॥ ८ ॥

परंतु आपके पितृतुल्य देवव्रतने उन बाणोंकी कुछ भी परवा न करके समरमें कुपित हुए अर्जुनको अपने बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ ८ ॥

तथैव च चमूं सर्वां पाण्डवानां महारथः ।
अप्रैषीत् स शरैस्तीक्ष्णैः परलोकाय मारिष ॥ ९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार महारथी भीष्मने पाण्डवोंकी उस सारी सेनाको (जो उनके सामने मौजूद थी) अपने तीखे बाणोंद्वारा मारकर परलोक भेज दिया ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सैन्येन महता वृताः ।
भीष्मं संछादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १० ॥

राजन् ! फिर विशाल सेनासे घिरे हुए पाण्डवोंने अपने बाणोंद्वारा भीष्मको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे बादल सूर्यदेवको आच्छादित कर देते हैं ॥ १० ॥

स समन्तात् परिवृतो भारतो भरतर्षभ ।
निर्ददाह रणे शूरान् वने वह्निरिव ज्वलन् ॥ ११ ॥

भरतभूषण ! उस रणक्षेत्रमें सब ओरसे घिरे हुए भीष्म वनमें प्रज्वलित हुए दावानलके समान शूरवीरोंको दग्ध करने लगे ॥ ११ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ।
अयोधयच्च यत् पार्थं जुगोप च पितामहम् ॥ १२ ॥

उस समय वहाँ हमने आपके पुत्र दुःशासनका अद्भुत पराक्रम देखा ! एक तो वह अर्जुनके साथ युद्ध कर रहा था और दूसरे पितामह भीष्मकी रक्षामें भी तत्पर था ॥ १२ ॥

कर्मणा तेन समरे तव पुत्रस्य धन्विनः ।
दुःशासनस्य तुतुषुः सर्वे लोका महात्मनः ॥ १३ ॥

राजन् ! युद्धमें आपके धनुर्धर महामनस्वी पुत्र दुःशासनके उस पराक्रमसे सब लोग बड़े संतुष्ट हुए ॥ १३ ॥

यदेकः समरे पार्थान् सार्जुनान् समयोधयत् ।
न चैनं पाण्डवा युद्धे वारयामासुरुल्बणम् ॥ १४ ॥

वह समरभूमिमें अकेला ही अर्जुनसहित समस्त कुन्तीकुमारोंसे युद्ध कर रहा था; किंतु वहाँ पाण्डव उस प्रचण्ड पराक्रमी दुःशासनको रोक नहीं पाते थे ॥ १४ ॥

दुःशासनेन समरे रथिनो विरथीकृताः ।
सादिनश्च महेष्वासा हस्तिनश्च महाबलाः ॥ १५ ॥
विनिर्भिन्नाः शरैस्तीक्ष्णैर्निपेतुर्वसुधातले ।

दुःशासनने वहाँ युद्धके मैदानमें कितने ही रथियोंको रथहीन कर दिया। उसके तीखे बाणोंसे विदीर्ण होकर बहुत-से महाधनुर्धर घुड़सवार और महाबली गजारोही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १५½ ॥

शरातुरास्तथैवान्ये दन्तिनो विद्रुता दिशः ॥ १६ ॥
यथाग्निरिन्धनं प्राप्य ज्वलेद् दीप्तार्चिरुल्बणम् ।
तथा जज्वाल पुत्रस्ते पाण्डुसेनां विनिर्दहन् ॥ १७ ॥

उसके बाणोंसे आतुर होकर बहुत-से दन्तार हाथी भी चारों दिशाओंमें भागने लगे । जैसे आग ईंधन पाकर दहकती हुई लपटोंके साथ प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाको दग्ध करता हुआ आपका पुत्र दुःशासन अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था॥१६-१७॥

तं भारतमहामात्रं पाण्डवानां महारथः ।
जेतुं नोत्सहते कश्चिन्नाभ्युद्यातुं कथंचन ॥ १८ ॥
ऋते महेन्द्रतनयाच्छ्वेताश्वात् कृष्णसारथेः ।

कृष्णसारथि, श्वेतवाहन महेन्द्रकुमार अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई भी पाण्डव महारथी भरतकुलके उस महाबली वीरको जीतने या उसके सामने जानेका साहस किसी प्रकार न कर सका ॥ १८½ ॥

स हि तं समरे राजन् निर्जित्य विजयोऽर्जुनः ॥ १९ ॥
भीष्ममेवाभिदुद्राव सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजन् ! विजयी अर्जुनने समरभूमिमें दुःशासनको जीतकर समस्त सेनाओंके देखते-देखते भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥ १९½ ॥

विजितस्तव पुत्रोऽपि भीष्मबाहुव्यपाश्रयः ॥ २० ॥
पुनः पुनः समाश्वस्य प्रायुध्यत मदोत्कटः ।

अर्जुनस्तु रणे राजन् योधयन् संव्यराजत ॥ २१ ॥

भीष्मकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवाला आपका मदोन्मत्त पुत्र दुःशासन पराजित होनेपर भी बार-बार सुस्ताकर बड़े वेगसे युद्ध करता था। राजन्! अर्जुन उस रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २०-२१ ॥

शिखण्डी तु रणे राजन् विव्याधैव पितामहम्।
शरैरशनिसंस्पर्शैस्तथा सर्पविषोपमैः ॥ २२॥

महाराज! उस समय रणक्षेत्रमें शिखण्डी वज्रके समान स्पर्शवाले तथा सर्पविषके समान भयंकर बाणोंद्वारा पितामह भीष्मको घायल करने लगा ॥ २२ ॥

न च स्म ते रुजं चक्रुः पितुस्तव जनेश्वर।
स्मयमानस्तु गाङ्गेयस्तान् बाणाञ्जगृहे तदा ॥२३ ॥

परंतु जनेश्वर! उसके चलाये हुए वे बाण आपके ताऊके शरीरमें कोई घाव या वेदना नहीं उत्पन्न कर पाते थे। गङ्गानन्दन भीष्म उस समय मुसकराते हुए उन बाणोंकी चोट सह रहे थे ॥

उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जलधाराः प्रतीच्छति।
तथा जग्राह गाङ्गेयः शरधाराः शिखण्डिनः ॥ २४ ॥

जैसे गर्मीसे कष्ट पानेवाला मनुष्य अपने ऊपर जलकी धारा ग्रहण करता है, उसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्म शिखण्डीकी बाणधाराको ग्रहण कर रहे थे ॥ २४ ॥

तं क्षत्रिया महाराज ददृशुर्घोरमाहवे।
भीष्मं दहन्तं सैन्यानि पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें समस्त क्षत्रियोंने देखा, भयंकर रूपधारी भीष्म महामना पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध कर रहे थे ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत्तव सुतः सर्वसैन्यानि मारिष।
अभिद्रवत संग्रामे फाल्गुनं सर्वतो रणे ॥ २६ ॥

आर्य! उस समय आपके पुत्रने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! तुमलोग समरभूमिमें अर्जुनपर चारों ओरसे धावा करो ॥ २६ ॥

भीष्मो वः समरे सर्वान् पालयिष्यति धर्मवित्।
ते भयं सुमहत् त्यक्त्वा पाण्डवान् प्रति युध्यत ॥२७ ॥

'धर्मज्ञ भीष्म समराङ्गणमें तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे। अतः तुमलोग महान् भयका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ २७ ॥

हेमतालेन महता भीष्मस्तिष्ठति पालयन्।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणां समरे शर्म वर्म च ॥ २८ ॥

'सुवर्णमय तालचिह्नसे युक्त विशाल ध्वजसे सुशोभित होनेवाले भीष्मजी हम सबकी रक्षा करते हुए युद्धके मैदानमें खड़े हैं। हम सभी धृतराष्ट्रपुत्रोंके लिये ये ही कल्याणकारी आश्रय और कवच हैं ॥ २८ ॥

त्रिदशाऽपि समुद्युक्ता नालं भीष्मं समासितुम्।
किमु पार्था महात्मानं मर्त्यभूता महाबलाः ॥ २९ ॥

'यदि सम्पूर्ण देवता भी एकत्र हो युद्धके लिये उद्योग करें तो वे भी भीष्मका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर कुन्तीके महाबली पुत्र तो मरणधर्मा मनुष्य ही हैं। वे उन महात्मा भीष्मका सामना क्या कर सकते हैं? ॥ २९ ॥

तस्माद् द्रवत मा योधाः फाल्गुनं प्राप्य संयुगे।
अहमद्य रणे यत्तो योधयिष्यामि पाण्डवम् ॥ ३० ॥
सहितः सर्वतो यत्तैर्भवद्भिर्वसुधाधिपैः।

'अतः योद्धाओ! युद्धभूमिमें अर्जुनको सामने पाकर पीछे न भागो। मैं स्वयं समराङ्गणमें प्रयत्नपूर्वक आज पाण्डुकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। तुम सब नरेश सब ओरसे सावधान होकर मेरे साथ रहो' ॥ ३०½ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजंस्तव पुत्रस्य धन्विनः ॥ ३१ ॥
सर्वे योधाः सुसंरब्धा बलवन्तो महाबलाः।

राजन्! आपके धनुर्धर पुत्रकी ये जोशभरी बातें सुनकर वे सभी महाबली और शक्तिशाली योद्धा रोषमें भर गये ॥ ३१½ ॥

ते विदेहाः कलिङ्गाश्च दासेरकगणाश्च ह ॥ ३२ ॥
अभिपेतुर्निषादाश्च सौवीराश्च महारणे।
बाह्लीका दरदाश्चैव प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ३३ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः।
शाल्वाः शकास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ३४ ॥
अभिपेतू रणे पार्थं पतङ्गा इव पावकम्।

वे विदेह, कलिंग, दासेरक, निषाद, सौवीर, बाह्लीक, दरद, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिवि, वसाति, शाल्व, शक, त्रिगर्त, अम्बष्ठ और केकयदेशोंके नरेशगण उस महायुद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर उसी प्रकार धावा करने लगे, जैसे पतंग प्रज्वलित आगपर टूटे पड़ते हैं ॥ ३२-३४½ ॥

शलभा इव राजेन्द्र पार्थमप्रतिमं रणे।
एतान् सर्वान् सहानीकान् महाराज महारथान् ॥ ३५॥
दिव्यान्यस्त्राणि संचिन्त्य प्रसंधाय धनंजयः।
स तैरस्त्रैर्महावेगैर्ददाह सुमहाबलः ॥ ३६ ॥
शरप्रतापैर्बीभत्सुः पतङ्गानिव पावकः।

राजेन्द्र! उस रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन अप्रतिम तेजस्वी वीर थे और पूर्वोक्त नरेश उनके सामने पतंगोंके समान दौड़े चले आ रहे थे। महाराज! महाबली धनंजयने दिव्यास्त्रोंका चिन्तन करके उनका धनुषपर संधान किया और उन महावेगशाली अस्त्रोंद्वारा सेनासहित इन समस्त महारथियोंको जलाकर भस्म कर डाला। जैसे आग पतंगोंको जलाती है, उसी प्रकार अर्जुनने अपने बाणोंके प्रतापसे उन सबको दग्ध कर दिया ॥ ३५-३६½ ॥

तस्य बाणसहस्राणि सृजतो दृढधन्विनः ॥ ३७ ॥
दीप्यमानमिवाकाशे गाण्डीवं समदृश्यत ।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुन जब सहस्रों बाणों-की सृष्टि करने लगे, उस समय उनका गाण्डीव धनुष आकाशमें प्रज्वलित-सा दिखायी देने लगा ॥ ३७½ ॥

ते शरार्ता महाराज विप्रकीर्णमहाध्वजाः ॥ ३८ ॥
नाभ्यवर्तन्त राजानः सहिता वानरध्वजम् ।

महाराज ! वे सब नरेश बाणोंसे पीड़ित हो गये थे । उनके विशाल ध्वज छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये थे । वे सब राजा एक साथ मिलकर भी कपिध्वज अर्जुनके सामने टिक न सके ॥ ३८½ ॥

सध्वजा रथिनः पेतुर्हयारोहा हयैः सह ॥ ३९ ॥
सगजाश्च गजारोहाः किरीटिशरताडिताः ।
ततोऽर्जुनभुजोत्सृष्टैरावृताऽऽसीद् वसुन्धरा ॥ ४० ॥
विद्रवद्भिश्च बहुधा बलै राज्ञां समन्ततः ।

किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो रथी अपने ध्वजोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े, घुड़सवार घोड़ोंके साथ ही धराशायी हो गये और हाथियोंसहित हाथीसवार भी ढह गये । अर्जुनकी भुजाओंसे छूटे हुए बाणोंसे एवं अनेक भागोंमें विभक्त होकर चारों ओर भागती हुई राजाओंकी सेनाओंसे वहाँकी सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही थी ॥ ३९-४०½ ॥

अथ पार्थो महाराज द्रावयित्वा वरूथिनीम् ॥ ४१ ॥
दुःशासनाय सुबहून् प्रेषयामास सायकान् ।

महाराज ! उस समय अर्जुनने आपकी सेनाको भगाकर दुःशासनपर बहुत-से सायकोंका प्रहार किया ॥ ४१½ ॥

ते तु भित्त्वा तव सुतं दुःशासनमयोमुखाः ॥ ४२ ॥
धरणीं विविशुः सर्वे वल्मीकमिव पन्नगाः ।

वे समस्त लोहमुख बाण आपके पुत्र दुःशासनको विदीर्ण करके उसी प्रकार धरतीमें समा गये, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं ॥ ४२½ ॥

हयांश्चास्य ततो जघ्ने सारथिं च न्यपातयत्॥ ४३ ॥
विविंशतिं च विंशत्या विरथं कृतवान् प्रभुः ।
आजघान भृशं चैव पञ्चभिर्नतपर्वभिः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली अर्जुनने दुःशासनके घोड़ों तथा सारथिको भी मार गिराया और विविंशतिको भी बीस बाणों-से मारकर उसे रथहीन कर दिया । इसके बाद पुनः झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा उसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

कृपं विकर्णं शल्यं च विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
चकार विरथांश्चैव कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन कुन्तीकुमार अर्जुनने कृपाचार्य, विकर्ण तथा शल्यको भी लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा रथहीन कर दिया ॥ ४५ ॥

एवं ते विरथाः सर्वे कृपः शल्यश्च मारिष ।
दुःशासनो विकर्णश्च तथैव च विविंशतिः ॥ ४६ ॥
सम्प्राद्रवन्त समरे निर्जिताः सव्यसाचिना ।

माननीय नरेश ! इस प्रकार रथहीन हुए वे सब महारथी कृपाचार्य, शल्य, विकर्ण, दुःशासन तथा विविंशति अर्जुनसे परास्त हो उस समरभूमिमें इधर-उधर भाग गये ४६½

पूर्वाह्णे भरतश्रेष्ठ पराजित्य महारथान् ॥ ४७ ॥
प्रजज्वाल रणे पार्थो विधूम इव पावकः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार दसवें दिनके पूर्वाह्णकालमें उन महारथियोंको पराजित करके कुन्तीकुमार अर्जुन रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ४७½ ॥

तथैव शरवर्षेण भास्करो रश्मिवानिव ॥ ४८ ॥
अन्यानपि महाराज तापयामास पार्थिवान् ।

महाराज ! इसी प्रकार अंशुमाली सूर्यके समान अन्यान्य राजाओंको भी वे अपने बाणोंकी वर्षासे संतप्त करने लगे ४८½

पराङ्मुखीकृत्य तथा शरवर्षैर्महारथान् ॥ ४९ ॥
प्रावर्तयत संग्रामे शोणितोदां महानदीम् ।
मध्येन कुरुसैन्यानां पाण्डवानां च भारत ॥ ५० ॥

और भारत ! उन सब महारथियोंको बाण-वर्षाद्वारा विमुख करके अर्जुनने संग्रामभूमिमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच रक्तकी बहुत बड़ी नदी बहा दी ॥ ४९-५० ॥

गजाश्च रथसङ्घाश्च बहुधा रथिभिर्हताः ।
रथाश्च निहता नागैर्हयाश्चैव पदातिभिः ॥ ५१ ॥

रथियोंद्वारा बहुत-से हाथी तथा रथसमूह नष्ट कर दिये गये । हाथियोंने कितने ही रथ चौपट कर दिये और पैदल सिपाहियोंने सवारोंसहित बहुतसे घोड़े मार गिराये ॥ ५१ ॥

अन्तराच्छिद्यमानानि शरीराणि शिरांसि च ।
निपेतुर्दिक्षु सर्वासु गजाश्वरथयोधिनाम् ॥ ५२ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथोंपर बैठकर युद्ध करनेवाले सैनिकोंके शरीर और मस्तक बीच-बीचसे कटकर सब दिशाओंमें गिर रहे थे ॥ ५२ ॥

छन्नमायोधनं राजन् कुण्डलाङ्गदधारिभिः ।
पतितैः पात्यमानैश्च राजपुत्रैर्महारथैः ॥ ५३ ॥

राजन् ! वहाँ गिरे और गिराये जाते हुए कुण्डल और अङ्गदधारी महारथी राजकुमारोंके मृत शरीरोंसे सारी युद्धभूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ५३ ॥

रथनेमिनिकृत्तैश्च गजैश्चैवावपोथितैः ।
पादाताश्चाप्यधावन्त साश्वाश्च हययोधिनः॥ ५४ ॥

उनमेंसे कितने ही रथोंके पहियोंसे कट गये थे और कितनोंहीको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे पकड़कर धरतीपर दे मारा था एवं कितने ही पैदल सैनिक तथा अपने अश्वोंसहित घुड़सवार योद्धा वहाँसे भाग गये थे ॥ ५४ ॥

गजाश्च रथयोधाश्च परिपेतुः समन्ततः ।
विकीर्णाश्च रथा भूमौ भग्नचक्रयुगध्वजाः ॥ ५५ ॥

वहाँ सब ओर हाथी तथा रथयोद्धा धराशायी हो रहे थे। पहिये, जूए और ध्वजोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे बहुसंख्यक रथ धरतीपर बिखरे पड़े थे ॥ ५५ ॥

तद् गजाश्वरथौघानां रुधिरेण समुक्षितम् ।
छन्नमायोधनं रेजे रक्ताभ्रमिव शारदम् ॥ ५६ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथियोंके समुदायके रक्तसे ढकी और भीगी हुई वह सारी युद्धभूमि शरद्ऋतुकी संध्याके लाल बादलोंके समान शोभा पा रही थी ॥ ५६ ॥

श्वानः काकाश्च गृध्राश्च वृका गोमायुभिः सह ।
प्रणेदुर्भक्ष्यमासाद्य विकृताश्च मृगद्विजाः ॥ ५७ ॥

कुत्ते, कौए, गीध, भेड़िये तथा गीदड़ आदि विकराल पशु-पक्षी वहाँ अपना आहार पाकर हर्षनाद करने लगे ।५७।

ववुर्बहुविधाश्चैव दिक्षु सर्वासु मारुताः ।
दृश्यमानेषु रक्षःसु भूतेषु च नदत्सु च ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक प्रकारकी वायु प्रवाहित हो रही थी। सब ओर राक्षस और भूतगण गरजते दिखायी देते थे ॥ ५८ ॥

काञ्चनानि च दामानि पताकाश्च महाधनाः ।
धूयमाना व्यदृश्यन्त सहसा मारुतेरिताः ॥ ५९ ॥

सोनेके हार बिखरे पड़े थे, बहुमूल्य पताकाएँ सहसा वायुसे प्रेरित होकर फहराती दिखायी देती थीं ॥ ५९ ॥

श्वेतच्छत्रसहस्राणि सध्वजाश्च महारथाः ।
विकीर्णाः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६० ॥

सहस्रों सफेद छत्र इधर-उधर गिरे थे, ध्वजोंसहित सैकड़ों और हजारों महारथी सब ओर बिखरे दिखायी देते थे ॥

सपताकाश्च मातङ्गा दिशो जग्मुः शरातुराः ।
क्षत्रियाश्च मनुष्येन्द्र गदाशक्तिधनुर्धराः ॥ ६१ ॥
समन्ततश्च दृश्यन्ते पतिता धरणीतले ।

बाणोंकी वेदनासे आतुर हो पताकाओंसहित बड़े-बड़े हाथी चारों दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे। नरेन्द्र! गदा, शक्ति और धनुष धारण किये हुए बहुत-से क्षत्रिय सब ओर पृथ्वीपर पड़े दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ६१½ ॥

ततो भीष्मो महाराज दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ॥ ६२ ॥
अभ्यधावत कौन्तेयं मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

महाराज! तदनन्तर भीष्मने दिव्य अस्त्र प्रकट करते हुए वहाँ समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ६२½ ॥

तं शिखण्डी रणे यान्तमभ्यद्रवत दंशितः ॥ ६३ ॥
ततः समाहरद् भीष्मस्तदस्त्रं पावकोपमम् ।

उस समय कवचधारी शिखण्डीने युद्धके लिये आगे बढ़ते हुए भीष्मपर आक्रमण किया। शिखण्डीको सामने देख भीष्मने अपने अग्निके समान तेजस्वी उस दिव्यास्त्रको समेट लिया ॥ ६३½ ॥

त्वरितः पाण्डवो राजन् मध्यमः श्वेतवाहनः ।
निजघ्ने तावकं सैन्यं मोहयित्वा पितामहम् ॥ ६४ ॥

राजन्! इसी बीचमें मध्यम पाण्डव श्वेतवाहन अर्जुन तुरंत ही पितामह भीष्मको मूर्छित करके आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका अद्भुत पराक्रम करते हुए पाण्डवसेनाका भीषण संहार

संजय उवाच

समं व्यूढेष्वनीकेषु भूयिष्ठेष्वनिवर्तिनः ।
ब्रह्मलोकपराः सर्वे समपद्यन्त भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतनन्दन! दोनों पक्षकी सेनाओंको समानरूपसे व्यूहबद्ध करके खड़ा किया गया था। अधिकांश सैनिक उस व्यूहमें ही स्थित थे। वे सब-के-सब युद्धमें पीठ न दिखानेवाले तथा ब्रह्मलोकको ही अपना परम लक्ष्य मानकर युद्धमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १ ॥

न ह्यनीकमनीकेन समसज्जत संकुले ।
रथा न रथिभिः सार्धं पादाता न पदातिभिः ॥ २ ॥

परंतु उस घमासान युद्धमें (सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और युद्धके निश्चित नियमोंका उल्लङ्घन होने लगा) सेना सेनाके साथ योग्यतानुसार नहीं लड़ती थी, न रथी रथियोंके साथ युद्ध करते थे, न पैदल पैदलोंके साथ ॥ २ ॥

अश्वा नाश्वैरयुध्यन्त गजा न गजयोधिभिः ।
उन्मत्तवन्महाराज युध्यन्ते तत्र भारत ॥ ३ ॥

घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ और हाथीसवार हाथीसवारोंके साथ नहीं लड़ते थे। भरतवंशी महाराज! सब लोग उन्मत्त-से

होकर वहाँ योग्यताका विचार किये बिना सबके साथ युद्ध करते थे ॥ ३ ॥

महान् व्यतिकरो रौद्रः सेनयोः समपद्यत।
नरनागगणेष्वेवं विकीर्णेषु च सर्वशः ॥ ४ ॥

उन दोनों सेनाओंमें अत्यन्त भयंकर घोलमेल हो गया। इसी तरह मनुष्य और हाथियोंके समूह सब ओर बिखर गये थे ॥ ४ ॥

क्षये तस्मिन् महारौद्रे निर्विशेषमजायत।
ततः शल्यः कृपश्चैव चित्रसेनश्च भारत ॥ ५ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च रथानास्थाय भास्वरान्।
पाण्डवानां रणे शूरा ध्वजिनीं समकम्पयन् ॥ ६ ॥

उस महाभयंकर युद्धमें किसीकी कोई विशेष पहचान नहीं रह गयी थी । भारत ! तदनन्तर शल्य, कृपाचार्य, चित्रसेन, दुःशासन और विकर्ण—ये कौरववीर चमचमाते हुए रथोंपर बैठकर पाण्डवोंपर चढ़ आये और रणक्षेत्रमें उनकी सेनाको कँपाने लगे ॥ ५-६ ॥

सा वध्यमाना समरे पाण्डुसेना महात्मभिः।
भ्राम्यते बहुधा राजन् मारुतेनेव नौर्जले ॥ ७ ॥

राजन् ! जैसे वायुके थपेड़े खाकर नौका जलमें चक्कर काटने लगती है, उसी प्रकार उन महामनस्वी वीरोंद्वारा समराङ्गणमें मारी जाती हुई पाण्डवसेना बहुधा इधर-उधर भटक रही थी ॥ ७ ॥

यथा हि शैशिरः कालो गवां मर्माणि कृन्तति।
तथा पाण्डुसुतानां वै भीष्मो मर्माणि कृन्तति ॥ ८ ॥

जैसे शिशिरकाल गौओंके मर्मस्थानोंका उच्छेद करने लगता है, उसी प्रकार भीष्म पाण्डवोंके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करने लगे ॥ ८ ॥

तथैव तव सैन्यस्य पार्थेन च महात्मना।
नवमेघप्रतीकाशाः पातिता बहुधा गजाः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार महात्मा अर्जुनने आपकी सेनाके नूतन मेघके समान काले रंगवाले बहुत-से हाथी मार गिराये ॥ ९ ॥

मृद्यमानाश्च दृश्यन्ते पार्थेन नरयूथपाः।
इषुभिस्ताड्यमानाश्च नाराचैश्च सहस्रशः ॥ १० ॥
पेतुरार्तस्वरं घोरं कृत्वा तत्र महागजाः।

अर्जुनके द्वारा बहुत-से पैदलोंके यूथपति मिट्टीमें मिलते दिखायी दे रहे थे। नाराचों और बाणोंसे पीड़ित हुए सहस्रों महान् गज घोर आर्तनाद करके पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ १०½ ॥

आनद्धाभरणैः कायैर्निहतानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥
छन्नमायोधनं रेजे शिरोभिश्च सकुण्डलैः।

मारे गये महामनस्वी वीरोंके आभरणभूषित शरीरों और कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे आच्छादित हुई वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ११½ ॥

तस्मिन्नेव महाराज महावीरवरक्षये ॥ १२ ॥
भीष्मे च युधि विक्रान्ते पाण्डवे च धनंजये।
ते पराक्रान्तमालोक्य राजन् युधि पितामहम् ॥ १३ ॥
अभ्यवर्तन्त ते पुत्राः सर्वे सैन्यपुरस्कृताः।
इच्छन्तो निधनं युद्धे स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ १४ ॥
पाण्डवानभ्यवर्तन्त तस्मिन् वीरवरक्षये।

महाराज ! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महायुद्धमें जब एक ओर भीष्म और दूसरी ओर पाण्डुनन्दन धनंजय पराक्रम प्रकट कर रहे थे, उस समय पितामह भीष्मको महान् पराक्रममें प्रवृत्त देख आपके सभी पुत्र सेनाओंके साथ स्वर्गको अपना परम लक्ष्य बनाकर युद्धमें मृत्यु चाहते हुए पाण्डवोंपर चढ़ आये ॥ १२–१४½ ॥

पाण्डवाऽपि महाराज स्मरन्तो विविधान् बहून् ॥ १५ ॥
क्लेशान् कृतान् सपुत्रेण त्वया पूर्वं नराधिप।
भयं त्यक्त्वा रणे शूरा ब्रह्मलोकाय तत्पराः ॥ १६ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च योधयन्ति प्रहृष्टवत्।

राजन् ! नरेश्वर ! शूरवीर पाण्डव भी पुत्रोंसहित आपके दिये हुए नाना प्रकारके अनेक क्लेशोंका स्मरण करके युद्धमें भय छोड़कर ब्रह्मलोक जानेके लिये उत्सुक हो बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके सैनिकों और पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे १५-१६½

सेनापतिस्तु समरे प्राह सेनां महारथः ॥ १७ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं सोमकाः सृञ्जयैः सह।

उस समय समरभूमिमें पाण्डव-सेनापति महारथी धृष्टद्युम्नने अपनी सेनासे कहा—'सोमको ! तुम सृंजय वीरोंको साथ लेकर गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ो' ॥ १७½ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा सोमकाः सृञ्जयाश्च ते ॥ १८ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं शरवृष्ट्या समाहताः।

सेनापतिकी यह बात सुनकर सोमक और सृंजय वीर बाणोंकी भारी वर्षासे घायल होनेपर भी गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ १८½ ॥

वध्यमानस्ततो राजन् पिता शान्तनवस्तव ॥ १९ ॥
अमर्षवशमापन्नो योधयामास सृञ्जयान्।

राजन् ! तब आपके पितृतुल्य शान्तनुनन्दन भीष्म बाणोंकी मार खाकर अमर्षमें भर गये और सृंजयोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १९½ ॥

तस्य कीर्तिमतस्तात पुरा रामेण धीमता ॥ २० ॥
सम्प्रदत्तास्त्रशिक्षा वै परानीकविनाशनी।
स तां शिक्षामधिष्ठाय कुर्वन् परबलक्षयम् ॥ २१ ॥
अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भीष्मो दश सहस्राणि जघान परवीरहा ॥ २२ ॥

तात ! पूर्वकालमें परम बुद्धिमान् परशुरामजीने उन

यशस्वी भीष्मको शत्रुसेनाका विनाश करनेवाली जो अस्त्र-शिक्षा प्रदान की थी, उसका आश्रय लेकर पाण्डव-पक्षीय शत्रुसेनाका संहार करते हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह एवं शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भीष्म नित्यप्रति दस हजार मुख्य योद्धाओंका वध करते आ रहे थे ॥ २०–२२ ॥

तस्मिंस्तु दशमे प्राप्ते दिवसे भरतर्षभ।
भीष्मेणैकेन मत्स्येषु पञ्चालेषु च संयुगे ॥ २३ ॥
गजाश्वममितं हत्वा हताः सप्त महारथाः।
हत्वा पञ्च सहस्राणि रथानां प्रपितामहः ॥ २४ ॥
नराणां च महायुद्धे सहस्राणि चतुर्दश।
दन्तिनां च सहस्राणि हयानामयुतं पुनः ॥ २५ ॥
शिक्षाबलेन निहतं पित्रा तव विशाम्पते।

भरतश्रेष्ठ ! उस दसवें दिनके आनेपर एकमात्र भीष्मने युद्धमें मत्स्य और पाञ्चालदेशकी सेनाओंके अगणित हाथी, घोड़ोंको मारकर सात महारथियोंका वध कर डाला। प्रजानाथ ! फिर पाँच हजार रथियोंका वध करके आपके पितृतुल्य भीष्मने अपने अस्त्र-शिक्षाबलसे उस महायुद्धमें चौदह हजार पैदल सिपाहियों, एक हजार हाथियों और दस हजार घोड़ोंका संहार कर डाला ॥ २३–२५½ ॥

ततः सर्वमहीपानां क्षपयित्वा वरूथिनीम् ॥ २६ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीको निपातितः।
शतानीकं च समरे हत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ २७ ॥
सहस्राणि महाराज राज्ञां भल्लैरपातयत्।

तदनन्तर समस्त भूमिपालोंकी सेनाका उच्छेद करके राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकको मार गिराया। महाराज! शतानीकको रणक्षेत्रमें मारकर प्रतापी भीष्मने भल्ल नामक बाणोंद्वारा एक हजार नरेशोंको धराशायी कर दिया।२६-२७½।

उद्विग्नाः समरे योधा विक्रोशन्ति धनंजयम् ॥ २८ ॥
ये च केचन पार्थानामभियाता धनंजयम्।
राजानो भीष्ममासाद्य गतास्ते यमसादनम्॥ २९ ॥

उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा भीष्मके भयसे उद्विग्न हो अर्जुनको पुकारने लगे। पाण्डवपक्षके जो कोई नरेश अर्जुनके साथ गये थे, वे भीष्मके सामने पहुँचते ही यमलोकके पथिक हो गये ॥ २८-२९ ॥

एवं दश दिशो भीष्मः शरजालैः समन्ततः।
अतीत्य सेनां पार्थानामवतस्थे चमूमुखे ॥ ३० ॥

इस प्रकार भीष्मने दसों दिशाओंमें सब ओर अपने बाणोंका जाल-सा बिछा दिया और कुन्तीकुमारोंकी सेनाको परास्त करके वे सेनाके प्रमुख भागमें स्थित हो गये ॥ ३० ॥

स कृत्वा सुमहत् कर्म तस्मिन् वै दशमेऽहनि।
सेनयोरन्तरे तिष्ठन् प्रगृहीतशरासनः ॥ ३१ ॥

दसवें दिन यह महान् पराक्रम करके हाथमें धनुष लिये वे दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

न चैनं पार्थिवाः केचिच्छक्ता राजन् निरीक्षितुम्।
मध्यं प्राप्तं यथा ग्रीष्मे तपन्तं भास्करं दिवि ॥ ३२ ॥

राजन् ! जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आकाशके मध्यभागमें पहुँचे हुए दोपहरके तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार उस समय कोई राजा भीष्मकी ओर आँख उठाकर देखनेका भी साहस न कर सके ॥ ३२ ॥

यथा दैत्यचमूं शक्रस्तापयामास संयुगे।
तथा भीष्मः पाण्डवेयांस्तापयामास भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने संग्रामभूमिमें दैत्योंकी सेनाको संतप्त किया था, उसी प्रकार भीष्मजी पाण्डव-योद्धाओंको संताप दे रहे थे ॥ ३३ ॥

तथा चैनं पराक्रान्तमालोक्य मधुसूदनः।
उवाच देवकीपुत्रः प्रीयमाणो धनंजयम् ॥ ३४ ॥

उन्हें इस प्रकार पराक्रम करते देख मधु दैत्यको मारनेवाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ३४ ॥

एष शान्तनवो भीष्मः सेनयोरन्तरे स्थितः।
संनिहत्य बलादेनं विजयस्ते भविष्यति ॥ ३५ ॥

'अर्जुन ! ये शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हैं। यदि तुम बलपूर्वक इन्हें मार सको तो तुम्हारी विजय हो जायगी ॥ ३५ ॥

बलात् संस्तम्भयस्वैनं यत्रैषा भिद्यते चमूः।
न हि भीष्मशरानन्यः सोढुमुत्सहते विभो ॥ ३६ ॥

'जहाँ ये इस सेनाका संहार कर रहे हैं, वहीं पहुँचकर इन्हें बलपूर्वक स्तम्भित कर दो (जिससे ये आगे या पीछे किसी ओर हट न सकें)। विभो ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो भीष्मके बाणोंकी चोट सह सके' ॥ ३६ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे राजंश्चोदितो वानरध्वजः।
सध्वजं सरथं साश्वं भीष्ममन्तर्दधे शरैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌से प्रेरित होकर कपिध्वज अर्जुनने उसी क्षण अपने बाणोंद्वारा ध्वज, रथ और घोड़ों-सहित भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

स चापि कुरुमुख्यानामृषभः पाण्डवेरितान्।
शरव्रातैः शरव्रातान् बहुधा विदुधाव तान् ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ वीरोंमें प्रधान भीष्मने भी अपने बाणसमूहों-द्वारा अर्जुनके चलाये हुए बाणसमुदायके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

(तथा पुनर्जघानाशु पाण्डवानां महारथान्।
शरैरशनिकल्पैश्च शिताग्रैश्च सुपर्वभिः ॥)

तत्पश्चात् उत्तम गाँठ और तीखी धारवाले वज्रतुल्य बाणोंद्वारा वे पुनः पाण्डव महारथियोंका शीघ्रतापूर्वक वध करने लगे ॥

ततः पञ्चालराजश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान्।
पाण्डवो भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः॥ ३९॥
यमौ च चेकितानश्च केकयाः पञ्च चैव ह।
सात्यकिश्च महाबाहुः सौभद्रोऽथ घटोत्कचः॥ ४०॥
द्रौपदेयाः शिखण्डी च कुन्तिभोजश्च वीर्यवान्।
सुशर्मा च विराटश्च पाण्डवेया महाबलाः॥ ४१॥
एते चान्ये च बहवः पीडिता भीष्मसायकैः।
समुद्धृताः फाल्गुनेन निमग्नाः शोकसागरे॥ ४२॥

इसी समय पाञ्चालराज द्रुपद, पराक्रमी धृष्टकेतु, पाण्डुनन्दन भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, चेकितान, पाँच केकयराजकुमार, महाबाहु सात्यकि, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शिखण्डी, पराक्रमी कुन्तिभोज, सुशर्मा तथा विराट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली पाण्डव सैनिक भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो शोकके समुद्रमें डूब रहे थे; परंतु अर्जुनने उन सबका उद्धार कर दिया॥ ३९—४२॥

ततः शिखण्डी वेगेन प्रगृह्य परमायुधम्।
भीष्ममेवाभिदुद्राव रक्ष्यमाणः किरीटिना॥ ४३॥

तब शिखण्डी अपने उत्तम अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर बड़े वेगसे भीष्मकी ही ओर दौड़ा। उस समय किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे॥ ४३॥

ततोऽस्यानुचरान् हत्वा सर्वान् रणविभागवित्।
भीष्ममेवाभिदुद्राव बीभत्सुरपराजितः॥ ४४॥

तत्पश्चात् युद्धविभागके अच्छे ज्ञाता और किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुनने भीष्मके पीछे चलनेवाले समस्त योद्धाओंको मारकर स्वयं भी भीष्मपर ही धावा किया॥४४॥

सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
विराटो द्रुपदश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ ४५॥
दुद्रुवुर्भीष्ममेवाजौ रक्षिता दृढधन्वना।

इनके साथ सात्यकि, चेकितान, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवने भी युद्धमें भीष्मपर ही आक्रमण किया। ये सब-के-सब सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुनसे सुरक्षित थे॥४५½॥

अभिमन्युश्च समरे द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः॥ ४६॥
दुद्रुवुः समरे भीष्मं समुद्यतमहायुधाः।

द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु भी महान् अस्त्र-शस्त्र लिये उस समराङ्गणमें भीष्मकी ही ओर दौड़े॥४६½॥

ते सर्वे दृढधन्वानः संयुगेष्वपलायिनः॥ ४७॥
बहुधा भीष्ममानर्छुर्मार्गणैः क्षतमार्गणैः।

ये सभी वीर सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले थे। इन्होंने शत्रुओंके बाणोंको नष्ट करनेवाले सायकोंद्वारा भीष्मको बारंबार पीड़ित किया।४७½।

विधूय तान् बाणगणान् ये मुक्ताः पार्थिवोत्तमैः॥ ४८॥
पाण्डवानामदीनात्मा व्यगाहत वरूथिनीम्।

परंतु उदारचेता भीष्म उन श्रेष्ठ राजाओंके छोड़े हुए समस्त बाणसमूहोंका नाश करके पाण्डवोंकी विशाल सेनामें घुस गये॥ ४८½॥

चक्रे शरविघातं च क्रीडन्निव पितामहः॥ ४९॥
नाभिसंधत्त पाञ्चाल्ये स्मयमानो मुहुर्मुहुः।
स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मृत्य भीष्मो बाणाञ्छिखण्डिने॥५०॥

वहाँ पितामह भीष्म खेल-सा करते हुए अपने बाणोंद्वारा पाण्डवसैनिकोंके अस्त्र-शस्त्रोंका विनाश करने लगे। परंतु शिखण्डीके स्त्रीत्वका स्मरण करके वे बारंबार मुसकराकर रह जाते थे; उसपर बाण नहीं चलाते थे॥ ४९-५०॥

जघान द्रुपदानीके रथान् सप्त महारथः।
ततः किलकिलाशब्दः क्षणेन समभूत् तदा॥ ५१॥
मत्स्यपाञ्चालचेदीनां तमेकमभिधावताम्।

महारथी भीष्मने द्रुपदकी सेनाके सात रथियोंको मार डाला। तब एकमात्र भीष्मपर धावा करनेवाले मत्स्य, पाञ्चाल और चेदिदेशके योद्धाओंका महान् कोलाहल क्षणभरमें वहाँ गूँज उठा॥ ५१½॥

ते नराश्वरथव्रातैर्मार्गणैश्च परंतप॥ ५२॥
तमेकं छादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम्।
भीष्मं भागीरथीपुत्रं प्रतपन्तं रणे रिपून्॥ ५३॥

परंतप! जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार उन वीरोंने पैदल, घुड़सवार तथा रथियोंके समुदायसे एवं बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भीष्मको आच्छादित कर दिया। उस समय गङ्गानन्दन भीष्म अकेले युद्धके मैदानमें शत्रुओंको अत्यन्त संतप्त कर रहे थे॥ ५२-५३॥

ततस्तस्य च तेषां च युद्धे देवासुरोपमे।
किरीटी भीष्ममागच्छत् पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्॥५४॥

तदनन्तर भीष्म तथा उन योद्धाओंमें देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध होने लगा। इसी बीचमें किरीटधारी अर्जुन शिखण्डीको आगे करके भीष्मके समीप जा पहुँचे॥५४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मपराक्रमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मपराक्रमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंद्वारा सुरक्षित होनेपर भी अर्जुनका भीष्मको रथसे गिराना, शरशय्यापर स्थित भीष्मके समीप हंसरूपधारी ऋषियोंका आगमन एवं उनके कथनसे भीष्मका उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए प्राण धारण करना

संजय उवाच

एवं ते पाण्डवाः सर्वे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
विव्यधुः समरे भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शिखण्डीको आगे करके सभी पाण्डवोंने समरभूमिमें भीष्मको सब ओरसे घेरकर बींधना आरम्भ किया ॥ १ ॥

शतघ्नीभिः सुघोराभिः परिघैश्च परश्वधैः ।
मुद्गरैर्मुसलैः प्रासैः क्षेपणीयैश्च सर्वशः ॥ २ ॥
शरैः कनकपुङ्खैश्च शक्तितोमरकम्पनैः ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च भुशुण्डीभिश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
अताडयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृञ्जयाः ।

समस्त सृंजय वीर एक साथ संगठित हो भयंकर शतघ्नी, परिघ, फरसे, मुद्गर, मुसल, प्रास, गोफन, स्वर्णमय पंखवाले बाण, शक्ति, तोमर, कम्पन, नाराच, वत्सदन्त और भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें भीष्मको सब ओरसे पीड़ा देने लगे ॥ २-३½ ॥

स विशीर्णतनुत्राणः पीडितो बहुभिस्तदा ॥ ४ ॥
न विव्यथे तदा भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

उस समय बहुसंख्यक योद्धाओंके द्वारा अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे पीड़ित होनेके कारण भीष्मका कवच छिन्न-भिन्न हो गया । उनके मर्मस्थान विदीर्ण होने लगे, तो भी उनके मनमें व्यथा नहीं हुई ॥ ४½ ॥

संदीप्तशरचापाग्निरस्त्रप्रसृतमारुतः ॥ ५ ॥
नेमिनिर्ह्रादसंतापो महास्त्रोदयपावकः ।
चित्रचापमहाज्वालो वीरक्षयमहेन्धनः ॥ ६ ॥
युगान्ताग्निसमप्रख्यः परेषां समपद्यत ।

वे शत्रुओंके लिये प्रलयकालकी अग्निके समान अद्भुत तेजसे प्रज्वलित हो उठे । धनुष और बाण ही धधकती हुई आग थे । अस्त्रोंका प्रसार ही वायुका सहारा था । रथोंके पहियोंकी घरघराहट उस आगकी आँच थी । बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्राकट्य अंगारके समान था । विचित्र चाप ही उस आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान था । बड़े-बड़े वीर ही ईंधनके समान उसमें गिरकर भस्म हो रहे थे ॥ ५-६½ ॥

विवृत्य रथसङ्घानामन्तरेण विनिःसृतः ॥ ७ ॥
दृश्यते स नरेन्द्राणां पुनर्मध्यगतश्चरन् ।

पितामह भीष्म एक ही क्षणमें रथकी पंक्ति तोड़कर घेरेसे बाहर निकल आते और पुनः राजाओंकी सेनाके मध्यभागमें प्रवेश करके वहाँ विचरते दिखायी देते थे ॥ ७½ ॥

ततः पञ्चालराजं च धृष्टकेतुमचिन्त्य च ॥ ८ ॥
पाण्डवानीकिनीमध्यमाससाद विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! तत्पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपद तथा धृष्टकेतुकी कुछ भी परवा न करके वे पाण्डवसेनाके भीतर घुस आये ।८½।

ततः सात्यकिभीमौ च पाण्डवं च धनंजयम् ॥ ९ ॥
द्रुपदं च विराटं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
भीमघोषैर्महावेगैर्मर्मावरणभेदिभिः ॥ १० ॥
षडेतान् निशितैर्भीष्मः प्रविव्याधोत्तमैः शरैः ।

फिर भयंकर शब्द करनेवाले, महान् वेगशाली, मर्मस्थानों और कवचोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले, तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा उन्होंने सात्यकि, भीमसेन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, विराट, द्रुपद तथा उनके पुत्र धृष्टद्युम्न—इन छः महारथियोंको अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ९-१०½ ॥

तस्य ते निशितान् बाणान् संनिवार्य महारथाः॥ ११ ॥
दशभिर्दशभिर्भीष्ममर्दयामासुरोजसा ।

तब उन महारथी वीरोंने भीष्मके उन तीखे बाणोंका निवारण करके पुनः दस-दस बाणोंद्वारा भीष्मको बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ ११½ ॥

शिखण्डी तु महाबाणान् यान् मुमोच महारथः॥ १२ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने जिन महान् बाणोंका प्रयोग किया था, वे सब सुवर्णमय पंखसे युक्त और शिलापर रगड़कर तेज किये गये थे, तो भी भीष्मजीके शरीरमें घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ॥ १२½ ॥

ततः किरीटी संरब्धो भीष्ममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तब किरीटधारी अर्जुनने कुपित हो शिखण्डीको आगे किये हुए ही भीष्मपर धावा किया और उनके धनुषको काट डाला ॥ १३½ ॥

भीष्मस्य धनुषश्छेदं नामृष्यन्त महारथाः ॥ १४ ॥
द्रोणश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तस्तथैव च ॥ १५ ॥
सप्तैते परमक्रुद्धाः किरीटिनमभिद्रुताः ।
तत्र शस्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महारथाः ॥ १६ ॥

अभिपेतुर्भृशं क्रुद्धाश्छादयन्तश्च पाण्डवम् ।

भीष्मके धनुषका काटा जाना कौरव महारथियोंको सहन नहीं हुआ । द्रोण, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये सात महारथी अत्यन्त क्रुद्ध हो किरीटधारी अर्जुनकी ओर दौड़े तथा अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाणोंसे आच्छादित करने लगे ॥ १४–१६½ ॥

तेषामापततां शब्दः शुश्रुवे फाल्गुनं प्रति ॥ १७ ॥
उद्वृत्तानां यथा शब्दः समुद्राणां युगक्षये ।

अर्जुनके प्रति आक्रमण करते हुए उन वीरोंका सिंहनाद उसी प्रकार सुनायी पड़ा, जैसे प्रलयकालमें अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़नेवाले समुद्रोंकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है ॥ १७½ ॥

घ्नतानयत गृह्णीत विद्ध्यध्वमवकर्तत ॥ १८ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

अर्जुनके रथके समीप 'मार डालो, ले आओ, पकड़ लो, बींध डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो' इस प्रकार भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ १८½ ॥

तं शब्दं तुमुलं श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ १९ ॥
अभ्यधावन् परीप्सन्तः फाल्गुनं भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उस भयानक शब्दको सुनकर पाण्डव महारथी अर्जुनकी रक्षाके लिये दौड़े ॥ १९½ ॥

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २० ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ राक्षसश्च घटोत्कचः ।
अभिमन्युश्च संक्रुद्धः सप्तैते क्रोधमूर्च्छिताः ॥ २१ ॥
समभ्यधावंस्त्वरिताश्चित्रकार्मुकधारिणः ।

सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, राक्षस घटोत्कच और अभिमन्यु—ये सात वीर क्रोधसे मूर्छित हो तुरंत ही विचित्र धनुष धारण किये वहाँ दौड़े आये २०-२१½

तेषां समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २२ ॥
संग्रामे भरतश्रेष्ठ देवानां दानवैरिव ।

भरतभूषण ! उनका वह भयंकर युद्ध देवासुर-संग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २२½ ॥

शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठो रक्ष्यमाणः किरीटिना ॥ २३ ॥
अविध्यद् दशभिर्भीष्मं छिन्नधन्वानमाहवे ।
सारथिं दशभिश्चास्य ध्वजं चैकेन चिच्छिदे ॥ २४ ॥
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो वेगवत्तरम् ।
(जघान निशितैर्बाणैरर्जुनं परवीरहा ।)
तदप्यस्य शितैर्बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद फाल्गुनः ॥ २५ ॥

भीष्मजीका धनुष कट गया था । उसी अवस्थामें अर्जुनसे सुरक्षित शिखण्डीने दस बाणोंसे उन्हें और दस बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया । तत्पश्चात् एक बाणसे ध्वजको काट गिराया । तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तीखे बाणोंसे अर्जुनको घायल करना आरम्भ किया । यह देख अर्जुनने उस धनुषको भी तीन पैने बाणोंद्वारा काट डाला । २३–२५ ।

एवं स पाण्डवः क्रुद्ध आत्तमात्तं पुनः पुनः ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य सव्यसाची परंतपः ॥ २६ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी, सव्यसाची पाण्डुनन्दन अर्जुन जो-जो धनुष भीष्म लेते, उसी-उसीको काट डालते थे ॥ २६ ॥

स छिन्नधन्वा संक्रुद्धः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शक्तिं जग्राह तरसा गिरीणामपि दारणीम् ॥ २७ ॥

धनुष कट जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए भीष्मने बलपूर्वक एक शक्ति हाथमें ली, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाली थी ॥ २७ ॥

तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ २८ ॥
समादत्त शितान् भल्लान् पञ्च पाण्डवनन्दनः ।
तस्य चिच्छेद तां शक्तिं पञ्चधा पञ्चभिः शरैः ॥ २९ ॥
संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ भीष्मबाहुप्रवेरिताम् ।

भरतश्रेष्ठ ! फिर उसे क्रोधपूर्वक उन्होंने अर्जुनके रथकी ओर चला दिया । प्रज्वलित वज्रके समान उस शक्तिको आती देख पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुनने अपने हाथमें भल्लनामक पाँच तीखे बाण लिये और कुपित हो उन पाँच बाणोंद्वारा भीष्मकी भुजाओंसे प्रेरित हुई उस शक्तिके पाँच टुकड़े कर दिये ॥ २८-२९½ ॥

सा पपात तथा छिन्ना संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ ३० ॥
मेघवृन्दपरिभ्रष्टा विच्छिन्नेव शतह्रदा ।

क्रोधमें भरे हुए अर्जुनद्वारा काटी हुई वह शक्ति मेघोंके समूहसे निर्मुक्त होकर गिरी हुई बिजलीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३०½ ॥

छिन्नां तां शक्तिमालोक्य भीष्मः क्रोधसमन्वितः ॥ ३१ ॥
अचिन्तयद् रणे वीरो बुद्ध्या परपुरंजयः ।

अपनी उस शक्तिको छिन्न-भिन्न हुई देख भीष्मजी क्रोधमें निमग्न हो गये और शत्रुनगरविजयी उन वीरशिरोमणिने रण-क्षेत्रमें अपनी बुद्धिके द्वारा इस प्रकार विचार किया—॥ ३१½ ॥

शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् ॥ ३२ ॥
यद्येषां न भवेद् गोप्ता विष्वक्सेनो महाबलः ।

'यदि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण उन पाण्डवोंकी रक्षा न करते तो मैं इन सबको केवल एक धनुषके ही द्वारा मार सकता था ॥ ३२½ ॥

(अजय्यश्चैव लोकानां सर्वेषामिति मे मतिः ।)
कारणद्वयमास्थाय नाहं योत्स्यामि पाण्डवान् ॥ ३३ ॥
अवध्यत्वाच्च पाण्डूनां स्त्रीभावाच्च शिखण्डिनः ।

'भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके लिये अजेय हैं; ऐसा मेरा विश्वास है । इस समय मैं दो कारणोंका आश्रय लेकर पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करूँगा । एक तो ये पाण्डुकी संतान होनेके कारण मेरे लिये अवध्य हैं और दूसरे मेरे सामने शिखण्डी आ गया है, जो पहले स्त्री था ॥ ३३½ ॥

पित्रा तुष्टेन मे पूर्वं यदा कालीमुदावहम् ॥ ३४ ॥
स्वच्छन्दमरणं दत्तमवध्यत्वं रणे तथा ।
तस्मान्मृत्युमहं मन्ये प्राप्तकालमिवात्मनः ॥ ३५ ॥

'पूर्वकालमें जब मैंने माता सत्यवतीका विवाह पिताजीके साथ कराया था, उस समय मेरे पिताने संतुष्ट होकर मुझे दो वर दिये थे—'जब तुम्हारी इच्छा होगी, तभी तुम मरोगे तथा युद्धमें कोई भी तुम्हें मार न सकेगा ।' ऐसी दशामें मुझे स्वेच्छासे ही मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिये । मैं समझता हूँ कि अब उसका अवसर आ गया है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं ज्ञात्वा व्यवसितं भीष्मस्यामिततेजसः ।
ऋषयो वसवश्चैव वियत्स्था भीष्ममब्रुवन् ॥ ३६ ॥

अमिततेजस्वी भीष्मके इस निश्चयको जानकर आकाशमें खड़े हुए ऋषियों और वसुओंने उनसे इस प्रकार कहा—॥

यत् ते व्यवसितं तात तदस्माकमपि प्रियम् ।
तत् कुरुष्व महाराज युद्धे बुद्धिं निवर्तय ॥ ३७ ॥

'तात ! तुमने जो निश्चय किया है, वह हमलोगोंको भी बहुत प्रिय है । महाराज ! अब तुम वही करो । युद्धकी ओरसे अपनी चित्तवृत्ति हटा लो' ॥ ३७ ॥

अस्य वाक्यस्य निधने प्रादुरासीच्छिवोऽनिलः ।
अनुलोमः सुगन्धी च पृषतैश्च समन्वितः ॥ ३८ ॥

यह बात समाप्त होते ही जलकी बूंदोंके साथ सुखद, शीतल, सुगन्धित एवं मनके अनुकूल वायु चलने लगी ॥ ३८ ॥

देवदुन्दुभयश्चैव सम्प्रणेदुर्महास्वनाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च भीष्मस्योपरि मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! देवताओंकी दुन्दुभियाँ जोर-जोरसे बज उठीं । भीष्मके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३९ ॥

न च तच्छुश्रुवे कश्चित् तेषां संवदतां नृप ।
ऋते भीष्मं महाबाहुं मां चापि मुनितेजसा ॥ ४० ॥

राजन् ! उस समय उपर्युक्त बातें कहनेवाले ऋषियोंका शब्द महाबाहु भीष्म तथा मुझको छोड़कर और कोई नहीं सुन सका । मुझे तो महर्षि व्यासके प्रभावसे ही वह बात सुनायी पड़ी ॥ ४० ॥

सम्भ्रमश्च महानासीत् त्रिदशानां विशाम्पते ।
पतिष्यति रथाद् भीष्मे सर्वलोकप्रिये तदा ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय भीष्म रथसे गिरना चाहते हैं, यह जानकर उस समय सम्पूर्ण देवताओंको भी महान् आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥

इति देवगणानां च वाक्यं श्रुत्वा महातपाः ।
ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ४२ ॥
भिद्यमानः शितैर्बाणैः सर्वावरणभेदिभिः ।

देवताओंकी वह बात सुनकर महातपस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा विदीर्ण होनेपर भी अर्जुनको जीतनेका प्रयत्न न कर सके ॥ ४२½ ॥

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम् ॥ ४३ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः ।

महाराज ! उस समय शिखण्डीने कुपित होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीकी छातीमें नौ पैने बाण मारे ॥ ४३½ ॥

स तेनाभिहतः संख्ये भीष्मः कुरुपितामहः ॥ ४४ ॥
नाकम्पत महाराज क्षितिकम्पे यथाचलः ।

नरेश्वर ! युद्धमें शिखण्डीके द्वारा आहत होकर भी कुरुवंशियोंके पितामह भीष्म उसी प्रकार कम्पित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होनेपर भी पर्वत नहीं हिलता ॥ ४४½ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ॥ ४५ ॥
गाङ्गेयं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तदनन्तर अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मको पचीस बाण मारे ॥ ४५½ ॥

पुनः पुनः शतैरेनं त्वरमाणो धनंजयः ॥ ४६ ॥
सर्वगात्रेषु संक्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ।

तत्पश्चात् पुनः उन्होंने अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक सौ बाणोंद्वारा भीष्मके सम्पूर्ण अङ्गों और सभी मर्मस्थानोंमें आघात किया ॥ ४६ ॥

एवमन्यैरपि भृशं विद्ध्यमानः सहस्रशः ॥ ४७ ॥
तानप्याशु शरैर्भीष्मः प्रविव्याध महारथः ।

इसी प्रकार दूसरे लोगोंने भी सहस्रों बाणोंद्वारा भीष्मजीको घायल किया । तब महारथी भीष्मने भी तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा उन सबको बींध डाला ॥ ४७½ ॥

तैश्च मुक्ताञ्छरान् भीष्मो युधि सत्यपराक्रमः ॥ ४८ ॥
निवारयामास शरैः समं संनतपर्वभिः ।

सत्यपराक्रमी भीष्म युद्धस्थलमें अन्य सब राजाओंद्वारा छोड़े हुए बाणोंका झुकी हुई गाँठवाले अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही निवारण कर देते थे ॥ ४८½ ॥

शिखण्डी तु रणे बाणान् यान् मुमोच महारथः ॥ ४९ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने रणक्षेत्रमें जिनका प्रयोग किया था, वे शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखयुक्त बाण भीष्मजीके शरीरमें कोई घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके॥

ततः किरीटी संक्रुद्धो भीष्ममेवाभ्यवर्तत ॥ ५० ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुन शिखण्डीको आगे रखकर पुनः भीष्मकी ही ओर बढ़े। उन्होंने भीष्मजीके धनुषको काट दिया॥ ५०½ ॥

अथैनं नवभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ॥ ५१ ॥
सारथिं विशिखैश्चास्य दशभिः समकम्पयत् ।

तदनन्तर नौ बाणोंसे उन्हें घायल करके एक बाणसे उनके ध्वजको भी काट डाला। फिर दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको कम्पित कर दिया ॥ ५१½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो बलवत्तरम् ॥ ५२ ॥
तदप्यस्य शितैर्भल्लैस्त्रिधा त्रिभिरघातयत् ।

तब गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त प्रबल धनुष हाथमें लिया; परंतु अर्जुनने तीन तीखे भल्लोंद्वारा मारकर उसे भी तीन जगहसे खण्डित कर दिया ॥ ५२½ ॥

निमेषार्धेन कौन्तेय आत्तमात्तं महारणे ॥ ५३ ॥
एवमस्य धनूंष्याजौ चिच्छेद सुबहून्यथ ।

उस महायुद्धमें भीष्म जो-जो धनुष हाथमें लेते थे कुन्तीकुमार अर्जुन उसे आधे निमेषमें काट डालते थे। इस प्रकार उन्होंने रणक्षेत्रमें उनके बहुत-से धनुष खण्डित कर दिये॥

ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ५४ ॥
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनपर हाथ उठाना बंद कर दिया। फिर भी अर्जुनने उन्हें पचीस बाण मारे ॥५४½॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो दुःशासनमभाषत ॥ ५५ ॥
एष पार्थो रणे क्रुद्धः पाण्डवानां महारथः ।
शरैरनेकसाहस्रैर्मामेवाभ्यहनद् रणे ॥ ५६ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भीष्मने दुःशासनसे कहा—'ये पाण्डव महारथी अर्जुन युद्धमें क्रुद्ध होकर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा मुझे घायल कर चुके हैं॥

न चैष समरे शक्यो जेतुं वज्रभृता अपि ।
न चापि सहिता वीरा देवदानवराक्षसाः ॥ ५७ ॥
मां चापि शक्ता निर्जेतुं किमु मर्त्या महारथाः ।

'इन्हें वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें जीत नहीं सकते। इसी प्रकार समस्त देवता, दानव तथा राक्षस वीर एक साथ आ जायँ तो मुझे भी वे युद्धमें परास्त नहीं कर सकते; फिर दूसरे मानव महारथियोंकी तो बात ही क्या है?'॥ ५७½ ॥

एवं तयोः संवदतोः फाल्गुनो निशितैः शरैः ॥ ५८ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य भीष्मं विव्याध संयुगे ।

इस प्रकार दुःशासन और भीष्ममें जब बातचीत हो रही थी, उसी समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

ततो दुःशासनं भूयः स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ५९ ॥
अतिविद्धः शितैर्बाणैर्भृशं गाण्डीवधन्वना ।
वज्राशनिसमस्पर्शा अर्जुनेन शरा युधि ॥ ६० ॥
मुक्ताः सर्वेऽव्यवच्छिन्ना नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।

तब वे पुनः दुःशासनसे मुसकराते हुए-से बोले—'गाण्डीवधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें ऐसे बाण छोड़े हैं, जिनका स्पर्श वज्र और विद्युत्के समान असह्य है। उनके तीखे बाणोंसे मैं अत्यन्त घायल हो गया हूँ। ये अविच्छिन्न रूपसे छूटनेवाले समस्त बाण शिखण्डीके नहीं हो सकते; ॥ ५९-६०½ ॥

निकृन्तमाना मर्माणि दृढावरणभेदिनः ॥ ६१ ॥
मुसला इव मे घ्नन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
वज्रदण्डसमस्पर्शा वज्रवेगदुरासदाः ॥ ६२ ॥

'क्योंकि ये मेरे सुदृढ़ कवचको छेदकर मर्मस्थानोंमें आघात कर रहे हैं, ये बाण मेरे शरीरपर मुसलके समान चोट करते हैं। इनका स्पर्श वज्र और यमदण्डके समान असह्य है। इनका वेग वज्रके समान होनेके कारण निवारण करना कठिन है। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं ॥ ६१-६२ ॥

मम प्राणानारुजन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
नाशयन्तीव मे प्राणान् यमदूता इवाहिताः ॥ ६३ ॥

'ये मेरे प्राणोंमें व्यथा उत्पन्न कर देते हैं। अहितकारी यमदूतोंके समान मेरे प्राणोंका विनाश-सा कर रहे हैं। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

गदापरिघसंस्पर्शा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
भुजगा इव संक्रुद्धा लेलिहाना विषोल्बणाः ॥ ६४ ॥

'इनका स्पर्श गदा और परिघकी चोटके समान प्रतीत होता है, ये क्रोधमें भरे हुए प्रचण्ड विषवाले सर्पोंके समान डसे लेते हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं ॥ ६४ ॥

समाविशन्ति मर्माणि नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ॥ ६५ ॥
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमासे गवा इव ।

'ये बाण मेरे मर्मस्थानोंमें प्रवेश कर रहे हैं, अतः शिखण्डीके नहीं हैं। ये अर्जुनके बाण हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं। जैसे केंकड़ीके बच्चे अपनी माताका उदर विदीर्ण करके बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार ये बाण मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको छेदे डालते हैं ॥ ६५½ ॥

सर्वे ह्यपि न मे दुःखं कुर्युरन्ये नराधिपाः ॥ ६६ ॥
वीरं गाण्डीवधन्वानमृते जिष्णुं कपिध्वजम् ।

'गाण्डीवधारी वीर कपिध्वज अर्जुनको छोड़कर अन्य सभी नरेश अपने प्रहारोंद्वारा मुझे इतनी पीड़ा नहीं दे सकते' ॥ ६६½ ॥

इति ब्रुवञ्छान्तनवो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ॥ ६७ ॥
शक्तिं भीष्मः स पार्थाय ततश्चिक्षेप भारत।
तामस्य विशिखैश्छित्त्वा त्रिधा त्रिभिरपातयत् ॥ ६८ ॥

भारत! ऐसा कहते हुए शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालेंगे। फिर उन्होंने अर्जुनपर एक शक्ति चलायी; परंतु अर्जुनने तीन बाणोंद्वारा उनकी उस शक्तिको तीन जगहसे काट गिराया ॥ ६७-६८ ॥

पश्यतां कुरुवीराणां सर्वेषां तव भारत।
चर्माथादत्त गाङ्गेयो जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ६९ ॥
खड्गं चान्यतरप्रेप्सुर्मृत्योरग्रे जयाय वा।

भरतनन्दन! समस्त कौरव वीरोंके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मने मृत्यु अथवा विजय इन दोमेंसे किसी एकका वरण करनेके लिये अपने हाथमें सुवर्णभूषित ढाल और तलवार ले ली ॥ ६९½ ॥

तस्य तच्छतधा चर्म व्यधमत् सायकैस्तथा ॥ ७० ॥
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत्।

परंतु वे अभी अपने रथसे उतर भी नहीं पाये थे कि अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उनकी ढालके सौ टुकड़े कर दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ७०½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वान्यनीकान्यचोदयत् ॥ ७१ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं मा वोऽस्तु भयमण्वपि।

इसी समय राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी—'वीरो! गङ्गानन्दन भीष्मपर आक्रमण करो। उनकी ओरसे तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये' ॥ ७१½ ॥

अथ ते तोमरैः प्रासैर्बाणौघैश्च समन्ततः ॥ ७२ ॥
पट्टिशैश्च सुनिस्त्रिंशैर्नाराचैश्च तथा शितैः।
वत्सदन्तैश्च भल्लैश्च तमेकमभिदुद्रुवुः ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे पाण्डव सैनिक सब ओरसे तोमर, प्रास, बाणसमुदाय, पट्टिश, खड्ग, तीखे नाराच, वत्सदन्त तथा भल्लोंका प्रहार करते हुए एकमात्र भीष्मकी ओर दौड़े ॥

सिंहनादस्ततो घोरः पाण्डवानामभूत् तदा।
तथैव तव पुत्राश्च नेदुर्भीष्मजयैषिणः ॥ ७४ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंकी सेनामें घोर सिंहनाद हुआ। इसी प्रकार भीष्मकी विजय चाहनेवाले आपके पुत्र भी उस समय गर्जना करने लगे ॥ ७४ ॥

तमेकमभ्यरक्षन्त सिंहनादांश्च चक्रिरे।
तत्रासीत् तुमुलं युद्धं तावकानां परैः सह ॥ ७५ ॥

आपके सैनिक एकमात्र भीष्मकी रक्षा और सिंहनाद करने लगे। वहाँ आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ भयंकर युद्ध हुआ ॥ ७५ ॥

दशमेऽहनि राजेन्द्र भीष्मार्जुनसमागमे।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधेरिव ॥ ७६ ॥

राजेन्द्र! दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके संघर्षमें दो घड़ीतक ऐसा दृश्य दिखायी दिया, मानो समुद्रमें गङ्गाजीके गिरते समय उनके जलमें भारी भँवर उठ रही हो ॥ ७६ ॥

सैन्यानां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम्।
असौम्यरूपा पृथिवी शोणिताक्ताभवत् तदा ॥ ७७ ॥

उस समय एक दूसरेको मारनेवाले युद्धपरायण सैनिकोंके रक्तसे रंजित हो वहाँकी सारी पृथ्वी भयानक हो गयी थी ॥

समं च विषमं चैव न प्राज्ञायत किंचन।
योधानामयुतं हत्वा तस्मिन् स दशमेऽहनि ॥ ७८ ॥
अतिष्ठदाहवे भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु।

वहाँ ऊँची और नीची भूमिका भी कुछ ज्ञान नहीं हो पाता था, दसवें दिनके उस युद्धमें अपने मर्मस्थानोंके विदीर्ण होते रहनेपर भी भीष्मजी दस हजार योद्धाओंको मारकर वहाँ खड़े हुए थे ॥ ७८½ ॥

ततः सेनामुखे तस्मिन् स्थितः पार्थो धनुर्धरः ॥ ७९ ॥
मध्येन कुरुसैन्यानां द्रावयामास वाहिनीम्।

उस समय सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए धनुर्धर अर्जुनने कौरवसेनाके भीतर प्रवेश करके आपके सैनिकोंको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ७९½ ॥

(तथा च तव सैन्यानि तापयामासुरोजसा।
शरैरशनिसंकाशैः पाण्डवाश्चेतरे नृपाः ॥
तत्राद्भुतमपश्याम पाण्डवानां पराक्रमम्।
द्रावयामासुरिषुभिः सर्वान् भीष्मपदानुगान् ॥)

पाण्डवों तथा अन्य राजाओंने वज्रके समान बाणोंद्वारा आपकी सेनाओंको बलपूर्वक पीड़ित किया। वहाँ हमने पाण्डवोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे भीष्मका अनुगमन करनेवाले समस्त योद्धाओंको मार भगाया ॥

वयं श्वेतहयाद् भीताः कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ८० ॥
पीड्यमानाः शितैः शस्त्रैः प्राद्रवाम रणे तदा।

राजन्! उस समय श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर उनके तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो हम सभी लोग रणभूमिसे भागने लगे थे ॥ ८०½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ८१ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः।
शाल्वाश्रयास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ८२ ॥
सर्व एते महात्मानः शरार्ता व्रणपीडिताः।
संग्रामे न जहुर्भीष्मं युध्यमानं किरीटिना ॥ ८३ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्वाश्रय, त्रिगर्त,

अम्बष्ठ और केकय—इन सभी देशोंके ये सारे महामनस्वी वीर बाणोंसे घायल और घावोंसे पीड़ित होनेपर भी अर्जुनके साथ युद्ध करनेवाले भीष्मको संग्राममभूमिमें छोड़ न सके ॥

ततस्तमेकं बहवः परिवार्य समन्ततः ।
परिकाल्य कुरून् सर्वाञ्शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ८४ ॥

तदनन्तर एकमात्र भीष्मको पाण्डव-पक्षीय बहुत-से योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया और समस्त कौरवोंको सब ओर खदेड़कर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ८४ ॥

निपातयत गृह्णीत युध्यध्वमवकृन्तत ।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो राजन् भीष्मरथं प्रति ॥ ८५ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके रथके समीप 'मार गिराओ, पकड़ लो, युद्ध करो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो' इत्यादि भयंकर शब्द गूँज रहे थे ॥ ८५ ॥

निहत्य समरे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ८६ ॥

महाराज ! समरमें भीष्म सैकड़ों और हजारों वीरोंका वध करके स्वयं इस स्थितिमें पहुँच गये थे कि उनके शरीरमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया था, जो बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ ८६ ॥

एवंभूतस्तव पिता शरैर्विशकलीकृतः ।
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद् रथात् ।८७।
किंचिच्छेषे दिनकरे पुत्राणां तव पश्यताम् ।

इस प्रकार आपके ताऊ भीष्म युद्धस्थलमें अर्जुनके तीखे बाणोंसे अत्यन्त विद्ध हो गये थे—उनका शरीर छिद-कर छलनी हो रहा था । वे उसी अवस्थामें, जब कि दिन थोड़ा ही शेष था, आपके पुत्रोंके देखते-देखते पूर्व दिशाकी ओर मस्तक किये रथसे नीचे गिर पड़े ॥ ८७½ ॥

हाहेति दिवि देवानां पार्थिवानां च भारत ॥ ८८ ॥
पतमाने रथाद् भीष्मे बभूव सुमहास्वनः ।

भारत ! रथसे भीष्मके गिरते समय आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा भूतलवर्ती राजाओंमें बड़े जोरसे हाहाकार मच गया ॥ ८८½ ॥

सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य महात्मानं पितामहम् ॥ ८९ ॥
सह भीष्मेण सर्वेषां प्रापतन् हृदयानि नः ।

महाराज ! महात्मा पितामह भीष्मको रथसे नीचे गिरते देखकर हम सब लोगोंके हृदय भी उनके साथ ही गिर पड़े॥

स पपात महाबाहुर्वसुधामनुनादयन् ॥ ९० ॥
इन्द्रध्वज इवोत्सृष्टः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
धरणीं न स पस्पर्श शरसंघैः समावृतः ॥ ९१ ॥

वे महाबाहु भीष्म सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे । वे कटी हुई इन्द्रकी ध्वजाके समान पृथ्वीको शब्दायमान करते हुए गिर पड़े । उनके सारे अङ्गोंमें सब ओर बाण बिंधे हुए थे । इसलिये गिरनेपर भी उनका धरतीसे स्पर्श नहीं हुआ ॥

शरतल्पे महेष्वासं शयानं पुरुषर्षभम् ।
रथात् प्रपतितं चैनं दिव्यो भावः समाविशत् ॥ ९२ ॥

रथसे गिरकर बाणशय्यापर सोये हुए पुरुषप्रवर महाधनुर्धर भीष्मके भीतर दिव्यभावका आवेश हुआ ॥९२॥

अभ्यवर्षच्च पर्जन्यः प्राकम्पत च मेदिनी ।
पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम् ॥ ९३ ॥

आकाशसे मेघ वर्षा करने लगा, धरती काँपने लगी, गिरते-गिरते उन्होंने देखा, अभी सूर्य दक्षिणायनमें हैं (यह मृत्युके लिये उत्तम समय नहीं है) ॥ ९३ ॥

संज्ञां चोपालभद् वीरः कालं संचिन्त्य भारत ।
अन्तरिक्षे च शुश्राव दिव्या वाचः समन्ततः ॥ ९४ ॥

भारत ! समयका विचार करके वीरवर भीष्मने अपने होश-हवाशको ठीक रक्खा । उस समय आकाशमें सब ओर-से यह दिव्य वाणी सुनायी दी ॥ ९४ ॥

कथं महात्मा गाङ्गेयः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
कालकर्ता नरव्याघ्रः सम्प्राप्ते दक्षिणायने ॥ ९५ ॥

महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा कालपर भी प्रभुत्व रखनेवाले थे । इन्होंने दक्षिणायनमें मृत्यु क्यों स्वीकार की ? ॥

स्थितोऽस्मीति च गाङ्गेयस्तच्छ्रुत्वा वाक्यमब्रवीत् ।
धारयामास च प्राणान् पतितोऽपि महीतले ॥ ९६ ॥
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः ।
तस्य तन्मतमाज्ञाय गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ९७ ॥
महर्षीन् हंसरूपेण प्रेषयामास तत्र वै ।

उनकी यह बात सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मने कहा—'मैं अभी जीवित हूँ ।' कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म पृथ्वी-पर गिरकर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणोंको रोके हुए हैं । उनके इस अभिप्रायको जानकर हिमालयनन्दिनी गङ्गादेवीने महर्षियोंको हंसरूपसे वहाँ भेजा ॥ ९६–९७½ ॥

ततः सम्पातिनो हंसास्त्वरिता मानसौकसः ॥ ९८ ॥
आजग्मुः सहिता द्रष्टुं भीष्मं कुरुपितामहम् ।
यत्र शेते नरश्रेष्ठः शरतल्पे पितामहः ॥ ९९ ॥

वे मानससरोवरमें निवास करनेवाले हंसरूपधारी महर्षि एक साथ उड़ते हुए बड़ी उतावलीके साथ कुरुकुल-के वृद्धपितामह भीष्मका दर्शन करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे नरश्रेष्ठ बाणशय्यापर सो रहे थे ॥ ९८-९९ ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य ऋषयो हंसरूपिणः ।
अपश्यञ्छरतल्पस्थं भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ॥१००॥

उन हंसरूपधारी ऋषियोंने वहाँ पहुँचकर कुरुकुलधुरन्धर वीर भीष्मको बाणशय्यापर सोये हुए देखा ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
गाङ्गेयं भरतश्रेष्ठं दक्षिणेन च भास्करम् ॥१०१॥
इतरेतरमामन्त्र्य प्राहुस्तत्र मनीषिणः ।

उन भरतश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन भीष्मका दर्शन करके ऋषियोंने उनकी प्रदक्षिणा की । फिर दक्षिणायन—युक्त सूर्यके सम्बन्धमें परस्पर सलाह करके वे मनीषी मुनि इस प्रकार बोले— ॥ १०१½ ॥

भीष्मः कथं महात्मा सन् संस्थाता दक्षिणायने ॥१०२॥
इत्युक्त्वा प्रस्थिता हंसा दक्षिणामभितो दिशम् ।

'भीष्मजी महात्मा होकर दक्षिणायनमें कैसे अपनी मृत्यु स्वीकार करेंगे' ऐसा कहकर वे हंसगण दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १०२½ ॥

सम्प्रेक्ष्य वै महाबुद्धिश्चिन्तयित्वा च भारत ॥१०३॥
तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथंचन ।
दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ॥१०४॥

भारत ! हंसोंके जाते समय उन्हें देखकर परम बुद्धिमान् भीष्मने कुछ चिन्तन करके उनसे कहा—'मैं सूर्यके दक्षिणायन रहते किसी प्रकार यहाँसे प्रस्थान नहीं करूँगा । यह मेरे मनका निश्चित विचार है ॥ १०३-१०४ ॥

गमिष्यामि स्वकं स्थानमासीद् यन्मे पुरातनम् ।
उदगायन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः ॥१०५॥

'हंसो ! सूर्यके उत्तरायण होनेपर ही मैं उस लोककी यात्रा करूँगा, जो मेरा पुरातन स्थान है । यह मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ १०५ ॥

धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकाङ्क्षया ।
ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गो हि यतो मम ॥१०६॥

'मैं उत्तरायणकी प्रतीक्षामें अपने प्राणोंको धारण किये रहूँगा; क्योंकि मैं जब इच्छा करूँ, तभी अपने प्राणोंको छोड़ूँ, यह शक्ति मुझे प्राप्त है ॥ १०६ ॥

तस्मात् प्राणान् धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ।
यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना ॥१०७॥
छन्दतो मृत्युरित्येवं तस्य चास्तु वरस्तथा ।
धारयिष्ये ततः प्राणानुत्सर्गे नियते सति ॥१०८॥

'अतः उत्तरायणमें मृत्यु प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं अपने प्राणोंको धारण करूँगा । मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वर दिया था कि तुम्हें अपनी इच्छा होनेपर ही मृत्यु प्राप्त होगी, उनका वह वरदान सफल हो । मैं प्राणत्यागका नियत समय आनेतक अवश्य इन प्राणोंको रोक रक्खूँगा' ॥ १०७–१०८ ॥

इत्युक्त्वा तांस्तदा हंसान् स शेते शरतल्पगः ।
एवं कुरूणां पतिते शृङ्गे भीष्मे महौजसि ॥१०९॥
पाण्डवाः सृंजयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ।

उस समय उन हंसोंसे ऐसा कहकर वे बाणशय्यापर पूर्ववत् सोये रहे । इस प्रकार कुरुकुलशिरोमणि महापराक्रमी भीष्मके गिर जानेपर पाण्डव और सृंजय हर्षसे सिंहनाद करने लगे ॥ १०९½ ॥

तस्मिन् हते महासत्त्वे भरतानां पितामहे ॥११०॥
न किंचित् प्रत्यपश्यन्त पुत्रास्ते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उन महान् शक्तिशाली एवं भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ११०½ ॥

सम्मोहश्चैव तुमुलः कुरूणामभवत् तदा ॥१११॥
कृपदुर्योधनमुखा निःश्वस्य रुरुदुस्ततः ।

उस समय कौरवोंपर बड़ा भयंकर मोह छा गया । कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब लोग सिसक-सिसककर रोने लगे ॥ १११½ ॥

विषादाच्च चिरं कालमतिष्ठन् विगतेन्द्रियाः ॥११२॥
दध्युश्चैव महाराज न युद्धे दधिरे मनः ।
ऊरुग्राहगृहीताश्च नाभ्यधावन्त पाण्डवान् ॥११३॥

वे सब लोग विषादके कारण दीर्घकालतक ऐसी अवस्थामें पड़े रहे, मानो उनकी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हों । महाराज ! वे भारी चिन्तामें डूब गये । युद्धमें उनका मन नहीं लगता था । वे पाण्डवोंपर धावा न कर सके, मानो किसी महान् ग्राहने उन्हें पकड़ लिया हो ॥ ११२-११३ ॥

अवध्ये शन्तनोः पुत्रे हते भीष्मे महौजसि ।
अभावः सहसा राजन् कुरुराजस्य तर्कितः ॥११४॥

राजन् ! महातेजस्वी शान्तनुपुत्र भीष्म अवध्य थे, तो भी मारे गये । इससे सहसा सब लोगोंने यही अनुमान किया कि कुरुराज दुर्योधनका विनाश भी अवश्यम्भावी है ॥११४॥

हतप्रवीरास्तु वयं निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।
कर्तव्यं नाभिजानीमो निर्जिताः सव्यसाचिना ॥११५॥

सव्यसाची अर्जुनने हम सब लोगोंपर विजय पायी । उनके तीखे बाणोंसे हमलोग क्षत-विक्षत हो रहे थे और हमारे प्रमुख वीर उनके हाथों मारे गये थे । उस अवस्थामें हमें अपना कर्तव्य नहीं सूझता था ॥ ११५ ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा परत्र च परां गतिम् ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खाञ्शूराः परिघबाहवः ॥११६॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले शूरवीर पाण्डवोंने इहलोकमें विजय पाकर परलोकमें भी उत्तम गति निश्चित कर ली । वे सब-के-सब बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे ॥११६॥

सोमकाश्च सपञ्चालाः प्राहृष्यन्त जनेश्वर।
ततस्तूर्यसहस्रेषु नदत्सु स महाबलः ॥११७॥
आस्फोटयामास भृशं भीमसेनो ननाद च।

जनेश्वर! पाञ्चालों और सोमकोंके तो हर्षकी सीमा न रही। सहस्रों रणवाद्य बजने लगे। उस समय महाबली भीमसेन जोर-जोरसे ताल ठोकने और सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥ ११७½ ॥

सेनयोरुभयोश्चापि गाङ्गेये निहते विभौ ॥११८॥
संन्यस्य वीराः शस्त्राणि प्राध्यायन्त समन्ततः।

शक्तिशाली गङ्गानन्दन भीष्मके मारे जानेपर सब ओर दोनों सेनाओंके सब वीर अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥ ११८½ ॥

प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये जग्मुर्मोहं तथापरे ॥११९॥

कुछ फूट-फूटकर रोने-चिल्लाने लगे, कुछ इधर-उधर भागने लगे और कुछ वीर मोहको प्राप्त (मूर्छित) हो गये ॥ ११९ ॥

क्षत्रं चान्येऽभ्यनिन्दन्त भीष्मं चान्येऽभ्यपूजयन्।
ऋषयः पितरश्चैव प्रशशंसुर्महाव्रतम् ॥१२०॥

कुछ लोग क्षात्रधर्मकी निन्दा कर रहे थे और कुछ भीष्मजीकी प्रशंसा कर रहे थे। ऋषियों और पितरोंने महान् व्रतधारी भीष्मकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १२० ॥

भरतानां च ये पूर्वे ते चैनं प्रशशंसिरे।
महोपनिषदं चैव योगमास्थाय वीर्यवान् ॥१२१॥
जपञ्शान्तनवो धीमान् कालाकाङ्क्षी स्थितोऽभवत्१२२

भरतवंशके पूर्वजोंने भी भीष्मजीकी बड़ी बड़ाई की। परम पराक्रमी एवं बुद्धिमान् शान्तनुनन्दन भीष्म महान् उपनिषदोंके सारभूत योगका आश्रय ले प्रणवका जप करते हुए उत्तरायणकालकी प्रतीक्षामें बाणशय्यापर सोये रहे ॥ १२१–१२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मनिपातने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मजीके रथसे गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १२५ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीकी महत्ता तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मको तकिया देना एवं उभय पक्षकी सेनाओंका अपने शिविरमें जाना और श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

कथमासंस्तदा योधा हीना भीष्मेण संजय।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! भीष्मजी बलवान् और देवताके समान थे। उन्होंने अपने पिताके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था। उस दिन उनके रथसे गिर जानेके कारण उनके सहयोगसे वञ्चित हुए मेरे पक्षके योद्धाओंकी क्या दशा हुई? ॥ १ ॥

तदैव निहतान् मन्ये कुरूनन्यांश्च पाण्डवैः।
न प्राहरद् यदा भीष्मो घृणित्वाद् द्रुपदात्मजम्॥ २ ॥

भीष्मजीने अपनी दयालुताके कारण जब द्रुपदकुमार शिखण्डीपर प्रहार करनेसे हाथ खींच लिया, तभी मैंने यह समझ लिया था कि अब पाण्डवोंके हाथसे अन्य कौरव भी अवश्य मारे जायँगे ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं मन्ये किमन्यत् प्रभविष्यति।
अद्याहं पितरं श्रुत्वा निहतं स्म सुदुर्मतिः ॥ ३ ॥

मेरी समझमें इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि आज अपने ताऊ भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनकर भी जीवित हूँ। मेरी बुद्धि बहुत ही खोटी है ॥ ३ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम संजय।
श्रुत्वा विनिहतं भीष्मं शतधा यन्न दीर्यते ॥ ४ ॥

संजय! निश्चय ही मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है; क्योंकि आज भीष्मजीके मारे जानेका समाचार सुनकर भी यह सैकड़ों टुकड़ोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ४ ॥

यदन्यन्निहतेनाजौ भीष्मेण जयमिच्छता।
चेष्टितं कुरुसिंहेन तन्मे कथय सुव्रत ॥ ५ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले संजय! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कुरुकुलसिंह भीष्म जब युद्धमें मारे गये, उस समय उन्होंने दूसरी कौन-कौन-सी चेष्टाएँ की थीं? वह सब मुझसे कहो ॥ ५ ॥

पुनःपुनर्न मृष्यामि हतं देवव्रतं रणे।
न हतो जामदग्न्येन दिव्यैरस्त्रैरयं पुरा ॥ ६ ॥
स हतो द्रौपदेयेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।

रणभूमिमें देवव्रत भीष्मका मारा जाना मुझे बारंबार असह्य हो उठता है। जो भीष्म पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामके दिव्यास्त्रोंद्वारा भी नहीं मारे जा सके, वे ही

द्रुपदकुमार पाञ्चालदेशीय शिखण्डीके हाथसे मारे गये; यह कितने दुःखकी बात है ॥ ६½ ॥

संजय उवाच

सायाह्ने निहतो भूमौ धार्तराष्ट्रान् विषादयन् ॥ ७ ॥
पञ्चालानां ददौ हर्षं भीष्मः कुरुपितामहः ।

संजयने कहा—महाराज! कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्म सायंकालमें जब रणभूमिमें गिरे, उस समय उन्होंने आपके पुत्रोंको बड़े विषादमें डाल दिया और पाञ्चालोंको हर्ष मनानेका अवसर दे दिया ॥ ७½ ॥

स शेते शरतल्पस्थो मेदिनीमस्पृशंस्तदा ॥ ८ ॥
भीष्मे रथात् प्रपतिते प्रच्युते धरणीतले ।
हाहेति तुमुलः शब्दो भूतानां समपद्यत ॥ ९ ॥

वे पृथ्वीका स्पर्श किये बिना ही उस समय बाणशय्यापर सो रहे थे। भीष्मके रथसे गिरकर धरतीपर पड़ जानेपर समस्त प्राणियोंमें भयंकर हाहाकार मच गया ॥ ८-९ ॥

सीमावृक्षे निपतिते कुरूणां समितिंजये ।
सेनयोरुभयो राजन् क्षत्रियान् भयमाविशत् ॥ १० ॥

राजन्! कुरुकुलके युद्धविजयी वीर भीष्म दोनों दलोंके लिये सीमावर्ती वृक्षके समान थे। उनके गिर जानेसे उभय पक्षकी सेनाओंमें जो क्षत्रिय थे, उनके मनमें भारी भय समा गया ॥ १० ॥

भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा विशीर्णकवचध्वजम् ।
कुरवः पर्यवर्तन्त पाण्डवाश्च विशाम्पते ॥ ११ ॥

प्रजानाथ! जिनके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मजीको उस अवस्थामें देखकर कौरव और पाण्डव दोनों ही उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥

खं तमःसंवृतमभूदासीद् भानुर्गतप्रभः ।
ररास पृथिवी चैव भीष्मे शान्तनवे हते ॥ १२ ॥

उस समय आकाशमें अन्धकार छा गया। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी भयानक शब्द करने लगी ॥ १२ ॥

अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ह्ययं ब्रह्मविदां वरः ।
इत्यभाषन्त भूतानि शयानं पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥

वहाँ सोये हुए पुरुषप्रवर भीष्मको देखकर कुछ दिव्य प्राणी कहने लगे, 'ये ब्रह्मज्ञानियोंके शिरोमणि हैं, ये ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १३ ॥

अयं पितरमाज्ञाय कामार्तं शान्तनुं पुरा ।
ऊर्ध्वरेतसमात्मानं चकार पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥

'इन्हीं पुरुषसिंहने पूर्वकालमें अपने पिता शान्तनुको कामासक्त जानकर अपने आपको ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) बना लिया' ॥ १४ ॥

इति स्म शरतल्पस्थं भरतानां महत्तमम् ।
ऋषयस्त्वभ्यभाषन्त सहिताः सिद्धचारणैः ॥ १५ ॥

इस प्रकार सिद्धों और चारणोंसहित ऋषिगण भरतकुलके महापुरुष भीष्मको बाणशय्यापर स्थित देख पूर्वोक्त बातें कहते थे ॥ १५ ॥

हते शान्तनवे भीष्मे भरतानां पितामहे ।
न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्तव हि मारिष ॥ १६ ॥

आर्य! भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी नहीं सूझता था ॥ १६ ॥

विषण्णवदनाश्चासन् हतश्रीकाश्च भारत ।
अतिष्ठन् व्रीडिताश्चैव ह्रिया युक्ता ह्यधोमुखाः ॥ १७ ॥

भारत! उनके मुखपर विषाद छा गया था। वे श्रीहीन और लज्जित हो नीचेकी ओर मुँह लटकाये खड़े थे ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा संग्रामशिरसि स्थिताः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् हेमजालपरिष्कृतान् ॥ १८ ॥

पाण्डव विजय पाकर युद्धके मुहानेपर खड़े थे और सब-के-सब सोनेकी जालियोंसे विभूषित बड़े-बड़े शङ्खोंको बजा रहे थे ॥ १८ ॥

हर्षात् तूर्यसहस्रेषु वाद्यमानेषु चानघ ।
अपश्याम महाराज भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥
विक्रीडमानं कौन्तेयं हर्षेण महता युतम् ।
निहत्य तरसा शत्रुं महाबलसमन्वितम् ॥ २० ॥

निष्पाप महाराज! जब हर्षातिरेकसे सहस्रों बाजे बज रहे थे, उस समय हमने कुन्तीकुमार महाबली भीमसेनको देखा। वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शत्रुको वेगपूर्वक मार देनेके कारण अत्यन्त हर्षके साथ नाच रहे थे १९-२०

सम्मोहश्चापि तुमुलः कुरूणामभवत् ततः ।
कर्णदुर्योधनौ चापि निःश्वसेतां मुहुर्मुहुः ॥ २१ ॥

उस समय कौरवोंपर भयंकर मोह छा गया था। कर्ण और दुर्योधन भी बारंबार लंबी साँसें खींच रहे थे ॥ २१ ॥

तथा निपतिते भीष्मे कौरवाणां पितामहे ।
हाहाभूतमभूत् सर्वं निर्मर्यादमवर्तत ॥ २२ ॥

कौरवपितामह भीष्मके इस प्रकार रथसे गिर जानेपर सर्वत्र हाहाकार मच गया। कहीं कोई मर्यादा नहीं रह गयी ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च पतितं भीष्मं पुत्रो दुःशासनस्तव ।
उत्तमं जवमास्थाय द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥
भ्रात्रा प्रस्थापितो वीरः स्वेनानीकेन दंशितः ।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रः स्वसैन्यं स विषादयन् ॥ २४ ॥

भीष्मजीको रणभूमिमें गिरा देख आपका वीर पुत्र पुरुषसिंह दुःशासन अपने भाईके भेजनेपर अपनी ही सेनासे

घिरा हुआ बड़े वेगसे द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर दौड़ा गया। उस समय वह कौरव-सेनाको विषादमें डाल रहा था ॥२३-२४॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कुरवः पर्यवारयन्।
दुःशासनं महाराज किमयं वक्ष्यतीति च ॥ २५ ॥

महाराज ! दुःशासनको आते देख समस्त कौरवसैनिक उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये कि देखें, यह क्या कहता है ॥ २५ ॥

ततो द्रोणाय निहतं भीष्ममाचष्ट कौरवः।
द्रोणस्तत्राप्रियं श्रुत्वा मुमोह भरतर्षभ ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दुःशासनने द्रोणाचार्यसे भीष्मके मारे जानेका समाचार बताया। वह अप्रिय बात सुनते ही द्रोणाचार्य मूर्छित हो गये ॥ २६ ॥

स संज्ञामुपलभ्याशु भारद्वाजः प्रतापवान्।
निवारयामास तदा स्वान्यनीकानि मारिष ॥ २७ ॥

आर्य ! सचेत होनेपर प्रतापी द्रोणाचार्यने शीघ्र ही अपनी सेनाओंको युद्धसे रोक दिया ॥ २७ ॥

विनिवृत्तान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवाऽपि स्वसैनिकान्।
दूतैः शीघ्राश्वसंयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

कौरवोंको युद्धसे लौटते देख पाण्डवोंने भी शीघ्रगामी अश्वोंपर चढ़े हुए दूतोंद्वारा सब ओर आदेश भेजकर अपने सैनिकोंका भी युद्ध बंद करा दिया ॥ २८ ॥

निवृत्तेषु च सैन्येषु पारम्पर्येण सर्वशः।
निर्मुक्तकवचाः सर्वे भीष्ममीयुर्नराधिपाः ॥ २९ ॥

बारी-बारीसे सब सेनाओंके युद्धसे निवृत्त हो जानेपर सब राजा कवच खोलकर भीष्मके पास आये ॥ २९ ॥

व्युपरम्य ततो युद्धाद् योधाः शतसहस्रशः।
उपतस्थुर्महात्मानं प्रजापतिमिवामराः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लाखों योद्धा युद्धसे विरत होकर जैसे देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार महात्मा भीष्मके पास आये ॥ ३० ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य शयानं भरतर्षभम्।
अभिवाद्यावतिष्ठन्त पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३१ ॥

वे पाण्डव तथा कौरव बाणशय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ भीष्मकी सेवामें पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये ॥

अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव प्रणिपत्याग्रतः स्थितान्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३२ ॥

पाण्डव तथा कौरव जब प्रणाम करके उनके सामने खड़े हुए, तब शान्तनुनन्दन धर्मात्मा भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३२ ॥

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वो महारथाः।
तुष्यामि दर्शनाच्चाहं युष्माकममरोपमाः ॥ ३३ ॥

'महाभाग नरेशगण ! आपलोगोंका स्वागत है। देवोपम महारथियो ! आपका स्वागत है। मैं आपलोगोंके दर्शनसे बहुत संतुष्ट हूँ' ॥ ३३ ॥

अभिमन्त्र्याथ तानेवं शिरसा लम्बताब्रवीत्।
शिरो मे लम्बतेऽत्यर्थमुपधानं प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उन सब लोगोंसे स्वागत-भाषण करके अपने लटकते हुए शिरके द्वारा ही वे बोले—'राजाओ ! मेरा शिर बहुत लटक रहा है। इसके लिये आपलोग मुझे तकिया दें' ॥ ३४ ॥

ततो नृपाः समाजह्रुस्तनूनि च मृदूनि च।
उपधानानि मुख्यानि नैच्छत् तानि पितामहः ॥ ३५ ॥

तब राजालोग तत्काल बढ़िया, कोमल और महीन वस्त्रके बने हुए बहुत-से तकिये ले आये; परंतु पितामह भीष्मने उन्हें लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३५ ॥

अथाब्रवीन्नरव्याघ्रः प्रहसन्निव तान् नृपान्।
नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीष्मने हँसते हुए-से उन राजाओंसे कहा—'भूमिपालो ! ये तकिये वीरशय्याके अनुरूप नहीं हैं'॥

ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठमभ्यभाषत पाण्डवम्।
धनंजयं दीर्घबाहुं सर्वलोकमहारथम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद वे सम्पूर्ण लोकोंके विख्यात महारथी नरश्रेष्ठ महाबाहु पाण्डुपुत्र धनंजयकी ओर देखकर इस प्रकार बोले— ॥३७ ॥

धनंजय महाबाहो शिरो मे तात लम्बते।
दीयतामुपधानं वै यद् युक्तमिह मन्यसे ॥ ३८ ॥

'महाबाहु धनंजय ! मेरा शिर लटक रहा है। बेटा ! यहाँ इसके अनुरूप जो तकिया तुम्हें ठीक जान पड़े, वह ला दो'॥

संजय उवाच

समारोप्य महच्चापमभिवाद्य पितामहम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब अर्जुनने पितामह भीष्मको प्रणाम करके अपना विशाल धनुष चढ़ा लिया और आँसूभरे नेत्रोंसे देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

आज्ञापय कुरुश्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वर।
प्रेष्योऽहं तव दुर्धर्ष क्रियतां किं पितामह ॥ ४० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें अग्रगण्य कुरुश्रेष्ठ ! दुर्जय वीर पितामह ! मैं आपका सेवक हूँ; आज्ञा दीजिये; क्या सेवा करूँ ?' ॥ ४० ॥

तमब्रवीच्छान्तनवः शिरो मे तात लम्बते।
उपधानं कुरुश्रेष्ठ फाल्गुनोपदधत्स्व मे ॥ ४१ ॥

तब शान्तनुनन्दनने उनसे कहा—'तात ! मेरा शिर

लटक रहा है। कुरुश्रेष्ठ फाल्गुन! तुम मेरे लिये तकिया लगा दो ॥ ४१ ॥

शयनस्यानुरूपं वै शीघ्रं वीर प्रयच्छ मे।
त्वं हि पार्थ समर्थो वै श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ४२ ॥
क्षत्रधर्मस्य वेत्ता च बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः।

'वीर कुन्तीकुमार! इस शय्याके अनुरूप शीघ्र मुझे तकिया दो। तुम्हीं उसे देनेमें समर्थ हो; क्योंकि सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें तुम्हारा बहुत ऊँचा स्थान है। तुम क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता तथा बुद्धि और सत्त्व आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥४२½॥

फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा व्यवसायमरोचयत्॥ ४३॥
गृह्यानुमन्त्र्य गाण्डीवं शरान् संनतपर्वणः।
अनुमान्य महात्मानं भरतानां महारथम् ॥ ४४ ॥
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णाच्छिरः शरैः।

अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर इस कार्यके लिये प्रयत्न करना स्वीकार किया और गाण्डीव धनुष ले उसे अभिमन्त्रित करके झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंको धनुषपर रक्खा। तत्पश्चात् भरतकुलके महात्मा महारथी भीष्मकी अनुमति ले उन अत्यन्त वेगशाली तीन तीखे बाणोंद्वारा उनके मस्तकको अनुगृहीत किया (कुछ ऊँचा करके स्थिर कर दिया)॥

अभिप्राये तु विदिते धर्मात्मा सव्यसाचिना ॥ ४५ ॥
अतुष्यद् भरतश्रेष्ठो भीष्मो धर्मार्थतत्त्ववित्।

सव्यसाची अर्जुनने उनके अभिप्रायको समझकर जब ठीक तकिया लगा दिया, तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मात्मा भरतश्रेष्ठ भीष्म बहुत संतुष्ट हुए॥४५½॥

उपधानेन दत्तेन प्रत्यनन्दद् धनंजयम् ॥ ४६ ॥
प्राह सर्वान् समुद्वीक्ष्य भरतान् भारतं प्रति।
कुन्तीपुत्रं युधां श्रेष्ठं सुहृदां प्रीतिवर्धनम् ॥ ४७ ॥

उन्होंने वह तकिया देनेसे अर्जुनकी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया और समस्त भरतवंशियोंकी ओर देखकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ, सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले, भरतकुल-भूषण, कुन्तीपुत्र अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ ४६–४७ ॥

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ॥ ४८ ॥

'पाण्डुनन्दन! तुमने मेरी शय्याके अनुरूप मुझे तकिया प्रदान किया है। यदि इसके विपरीत तुमने और कोई तकिया दिया होता तो मैं कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता ॥ ४८ ॥

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥ ४९ ॥

'महाबाहो! अपने धर्ममें स्थित रहनेवाले क्षत्रियको युद्धस्थलमें इसी प्रकार बाणशय्यापर शयन करना चाहिये' ॥

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं सर्वांस्तानब्रवीद् वचः।
राज्ञश्च राजपुत्रांश्च पाण्डवानभिसंस्थितान्॥ ५० ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर भीष्मने पाण्डवोंके पास खड़े हुए उन समस्त राजाओं और राजपुत्रोंसे कहा—॥ ५० ॥

पश्यध्वमुपधानं मे पाण्डवेनाभिसंधितम्।
शिश्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्तनं रवेः ॥ ५१ ॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुनने मेरे शिरमें यह तकिया लगाया है, उसे आपलोग देखें। मैं इस शय्यापर तबतक शयन करूँगा, जबतक कि सूर्य उत्तरायणमें नहीं लौट आते हैं ॥

ये तदा मां गमिष्यन्ति ते च प्रेक्ष्यन्ति मां नृपाः।
दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदाऽऽगन्ता दिवाकरः॥ ५२ ॥
नूनं सप्ताश्वयुक्तेन रथेनोत्तमतेजसा।
विमोक्ष्येऽहं तदा प्राणान् सुहृदः सुप्रियानिव ॥ ५३ ॥

'सात घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम तेजस्वी रथके द्वारा जब सूर्य कुबेरकी निवासभूत उत्तर दिशाके पथपर आ जायँगे, उस समय जो राजा मेरे पास आयेंगे, वे मेरी ऊर्ध्व गतिको देख सकेंगे। निश्चय ही उसी समय मैं अत्यन्त प्रियतम सुहृदोंकी भाँति अपने प्यारे प्राणोंका त्याग करूँगा।५२-५३।

परिखा खन्यतामत्र ममावसदने नृपाः।
उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शरशताचितः ॥ ५४ ॥

'राजाओ! मेरे इस स्थानके चारों ओर खाई खोद दो। मैं यहीं इसी प्रकार सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त शरीरके द्वारा भगवान् सूर्यकी उपासना करूँगा ॥ ५४ ॥

उपारमध्वं संग्रामाद् वैरमुत्सृज्य पार्थिवाः।

'भूपालगण! अब आपलोग आपसका वैरभाव छोड़-कर युद्धसे विरत हो जायँ' ॥ ५४½ ॥

संजय उवाच

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः ॥५५॥
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर शरीरसे बाण-को निकाल फेंकनेकी कलामें कुशल वैद्य भीष्मजीकी सेवामें उपस्थित हुए। वे समस्त आवश्यक उपकरणोंसे युक्त और कुशल पुरुषोंद्वारा भलीभाँति शिक्षा पाये हुए थे ॥ ५५½ ॥

तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव ॥५६॥
धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः।
एवंगते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम् ॥५७॥

उन्हें देखकर गङ्गानन्दन भीष्मने आपके पुत्र दुर्योधनसे कहा—'वत्स! इन चिकित्सकोंको धन देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दो। मुझे यहाँ इस अवस्थामें अब इन वैद्योंसे क्या काम है?

क्षत्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम्।
नैष धर्मो महीपालाः शरतल्पगतस्य मे ॥५८॥
एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः।

'क्षत्रिय-धर्ममें जिसकी प्रशंसा की गयी है, उस उत्तम गतिको मैं प्राप्त हुआ हूँ। भूपालो! मैं बाणशय्यापर सोया

हुआ हूँ। अब मेरा यह धर्म नहीं है कि इन बाणोंको निकालकर चिकित्सा कराऊँ। नरेश्वरो! मेरे इस शरीरको इन बाणोंके साथ ही दग्ध कर देना चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥५९॥
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः।

भीष्मकी यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधनने यथायोग्य सम्मान करके वैद्योंको विदा किया ॥ ५९½ ॥

ततस्ते विस्मयं जग्मुर्नानाजनपदेश्वराः ॥६०॥
स्थितिं धर्मे परां दृष्ट्वा भीष्मस्यामिततेजसः।

तदनन्तर विभिन्न जनपदोंके स्वामी नरेशगण अमिततेजस्वी भीष्मकी यह धर्मविषयक उत्तम निष्ठा देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ६०½ ॥

उपधानं ततो दत्त्वा पितुस्ते मनुजेश्वराः ॥६१॥
सहिताः पाण्डवाः सर्वे कुरवश्च महारथाः।
उपगम्य महात्मानं शयानं शयने शुभे ॥६२॥
तेऽभिवाद्य ततो भीष्मं कृत्वा च त्रिः प्रदक्षिणम्।
विधाय रक्षां भीष्मस्य सर्व एव समन्ततः ॥६३॥
वीराः स्वशिबिराण्येव ध्यायन्तः परमातुराः।
निवेशायाभ्युपागच्छन् सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥६४॥

राजन्! आपके पितृतुल्य भीष्मको उपर्युक्त तकिया देकर उन नरेश, पाण्डव तथा महारथी कौरव सभीने एक साथ सुन्दर बाणशय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की और सब ओरसे भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था करके सभी वीर अपने शिबिरको ही चल दिये। वे अत्यन्त आतुर होकर भीष्मका ही चिन्तन कर रहे थे। सायंकालमें खूनसे लथपथ हुए वे सब लोग अपने निवासस्थानपर गये ॥ ६१—६४ ॥

निविष्टान् पाण्डवांश्चैव प्रीयमाणान् महारथान्।
भीष्मस्य पतने हृष्टानुपगम्य महाबलः ॥६५॥
उवाच माधवः काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दिष्ट्या जयसि कौरव्य दिष्ट्या भीष्मो निपातितः।६६।

पाण्डव महारथी भीष्मके गिर जानेसे बहुत प्रसन्न थे और हर्षमें भरकर विश्राम कर रहे थे। उस समय महाबली भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उनके पास पहुँचकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'कुरुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीत रहे हो। यह भी भाग्यकी ही बात है कि भीष्म रथसे गिरा दिये गये ॥ ६५-६६ ॥

अवध्यो मानुषैरेव सत्यसंधो महारथः।
अथवा दैवतैः सार्धं सर्वशास्त्रस्य पारगः ॥६७॥
त्वां तु चक्षुर्हणं प्राप्य दग्धो घोरेण चक्षुषा।

'ये सत्यप्रतिज्ञ महारथी भीष्म सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् थे। इन्हें मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता मिलकर भी मार नहीं सकते थे। आप दृष्टिपातमात्रसे ही दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं। आपके पास पहुँचकर भीष्म आपकी घोर दृष्टिसे ही नष्ट हो गये हैं' ॥ ६७½ ॥

एवमुक्तो धर्मराजः प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥६८॥
तव प्रसादाद् विजयः क्रोधात् तव पराजयः।
त्वं हि नः शरणं कृष्ण भक्तानामभयंकरः ॥६९॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! आप हमारे आश्रय हैं तथा आप ही भक्तोंको अभय दान करनेवाले हैं। आपके ही कृपा-प्रसादसे विजय होती है और आपके ही रोषसे पराजय प्राप्त होती है ॥ ६८-६९ ॥

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां त्वमसि केशव।
रक्षिता समरे नित्यं नित्यं चापि हिते रतः ॥७०॥
सर्वथा त्वां समासाद्य नाश्चर्यमिति मे मतिः।

'केशव! आप समरभूमिमें सदा जिनकी रक्षा करते हैं और नित्यप्रति जिनके हितमें तत्पर रहते हैं, उनकी विजय हो तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी शरण लेनेपर सर्वथा विजयकी प्राप्ति कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, ऐसा मेरा निश्चय है' ॥ ७०½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच स्मयमानो जनार्दनः।
तवैवैतद् युक्तरूपं वचनं पार्थिवोत्तम ॥७१॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ! आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है' ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपधानदाने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मको तकिया देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२०

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका दिव्य जल प्रकट करके भीष्मजीकी प्यास बुझाना तथा भीष्मजीका अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

व्युष्टायां तु महाराज शर्वर्यां सर्वपार्थिवाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च उपातिष्ठन् पितामहम् ॥ १ ॥
तं वीरशयने वीरं शयानं कुरुसत्तम।
अभिवाद्योपतस्थुर्वै क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब रात बीती और

सबेरा हुआ, उस समय सब राजा, पाण्डव तथा आपके पुत्र पुनः वीर-शय्यापर सोये हुए वीर पितामह भीष्मकी सेवामें उपस्थित हुए। कुरुश्रेष्ठ ! वे सब क्षत्रिय क्षत्रिय-शिरोमणि भीष्मजीको प्रणाम करके उनके समीप खड़े हो गये॥

कन्याश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैर्माल्यैश्च सर्वशः।
अवाकिरञ्छान्तनवं तत्र गत्वा सहस्रशः॥ ३॥

सहस्रों कन्याएँ वहाँ जाकर चन्दन-चूर्ण, लाजा (खील) और माला-फूल आदि सब प्रकारकी शुभ सामग्री शान्तनु-नन्दन भीष्मके ऊपर बिखेरने लगीं॥ ३॥

स्त्रियो वृद्धास्तथा बालाः प्रेक्षकाश्च पृथग्जनाः।
समभ्ययुः शान्तनवं भूतानीव तमोनुदम्॥ ४॥

स्त्रियाँ, बूढ़े, बालक तथा अन्य साधारण जन शान्तनु-कुमार भीष्मजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये, मानो समस्त प्रजा अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यकी उपासनाके लिये उपस्थित हुई हो॥ ४॥

तूर्याणि शतसंख्यानि तथैव नटनर्तकाः।
शिल्पिनश्च तथाऽऽजग्मुः कुरुवृद्धं पितामहम्॥ ५॥

सैकड़ों बाजे और बजानेवाले, नट, नर्तक और बहुत-से शिल्पी कुरुवंशके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मके पास आये॥

उपारम्य च युद्धेभ्यः संनाहान् विप्रमुच्य ते।
आयुधानि च निक्षिप्य सहिताः कुरुपाण्डवाः॥ ६॥
अन्वासन्त दुराधर्षं देवव्रतमरिंदमम्।
अन्योन्यं प्रीतिमन्तस्ते यथापूर्वं यथावयः॥ ७॥

कौरव तथा पाण्डव युद्धसे निवृत्त हो कवच खोलकर अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर पहलेकी भाँति परस्पर प्रेमभाव रखते हुए अवस्थाकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार यथोचित क्रमसे शत्रुदमन दुर्जय वीर देवव्रत भीष्मके समीप एक साथ बैठ गये॥ ६-७॥

सा पार्थिवशताकीर्णा समितिर्भीष्मशोभिता।
शुशुभे भारती दीप्ता दिवीवादित्यमण्डलम्॥ ८॥

सैकड़ों राजाओंसे भरी और भीष्मसे सुशोभित हुई वह भरतवंशियोंकी दीप्तिशालिनी सभा आकाशमें सूर्यमण्डलकी भाँति उस रणभूमिमें शोभा पाने लगी॥ ८॥

विबभौ च नृपाणां सा गङ्गासुतमुपासताम्।
देवानामिव देवेशं पितामहमुपासताम्॥ ९॥

गङ्गानन्दन भीष्मके पास बैठी हुई राजाओंकी वह मण्डली देवेश्वर ब्रह्माजीकी उपासना करनेवाले देवताओंके समान सुशोभित हो रही थी॥ ९॥

भीष्मस्तु वेदनां धैर्यान्निगृह्य भरतर्षभ।
अभितप्तः शरैश्चैव निःश्वसन्नुरगो यथा॥१०॥
शराभितप्तकायोऽपि शस्त्रसम्पातमूर्छितः।
पानीयमिति सम्प्रेक्ष्य राज्ञस्तान् प्रत्यभाषत॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मजी बाणोंसे संतप्त होकर सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे। वे अपनी वेदनाको धैर्यपूर्वक सह रहे थे। बाणोंकी जलनसे उनका सारा शरीर जल रहा था। वे शस्त्रोंके आघातसे मूर्छित-से हो रहे थे। उस समय उन्होंने राजाओंकी ओर देखकर केवल इतना ही कहा 'पानी'॥१०-११॥

ततस्ते क्षत्रिया राजन्नुपाजह्रुः समन्ततः।
भक्ष्यानुच्चावचान् राजन् वारिकुम्भांश्च शीतलान्॥१२॥

राजन् ! तब वे क्षत्रियनरेश चारों ओरसे भोजनकी उत्तमोत्तम सामग्री और शीतल जलसे भरे हुए घड़े ले आये॥ १२॥

उपानीतं तु पानीयं दृष्ट्वा शान्तनवोऽब्रवीत्।
नाद्यातीता मया शक्या भोगाः केचन मानुषाः॥१३॥
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः शरशय्यां गतो ह्यहम्।
प्रतीक्षमाणस्तिष्ठामि निवृत्तिं शशिसूर्ययोः॥१४॥

उनके द्वारा लाये हुए उस जलको देखकर शान्तनु-नन्दन भीष्मने कहा—'अब मैं मनुष्यलोकके कोई भी भोग अपने उपयोगमें नहीं ला सकता, मैं उन्हें छोड़ चुका हूँ। यद्यपि यहाँ बाणशय्यापर सो रहा हूँ, तथापि मनुष्यलोकसे ऊपर उठ चुका हूँ। केवल सूर्य-चन्द्रमाके उत्तरपथपर आनेकी प्रतीक्षामें यहाँ रुका हुआ हूँ'॥ १३-१४॥

एवमुक्त्वा शान्तनवो निन्दन् वाक्येन पार्थिवान्।
अर्जुनं द्रष्टुमिच्छामीत्यभ्यभाषत भारत॥१५॥

भारत ! ऐसा कहकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी वाणीद्वारा अन्य राजाओंकी निन्दा करते हुए कहा—'अब मैं अर्जुनको देखना चाहता हूँ'॥ १५॥

अथोपेत्य महाबाहुरभिवाद्य पितामहम्।
अतिष्ठत् प्राञ्जलिः प्रह्वः किं करोमीति चाब्रवीत्॥१६॥

तब महाबाहु अर्जुन पितामह भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े हो गये और विनयपूर्वक बोले—'मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं कौन-सी सेवा करूँ?'॥ १६॥

तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन्नभिवाद्याग्रतः स्थितम्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः प्रीतो धनंजयम्॥१७॥

राजन् ! प्रणाम करके आगे खड़े हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको देखकर धर्मात्मा भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ १७॥

दह्यतीव शरीरं मे संवृतस्य तवेषुभिः।
मर्माणि परिदूयन्ते मुखं च परिशुष्यति॥१८॥
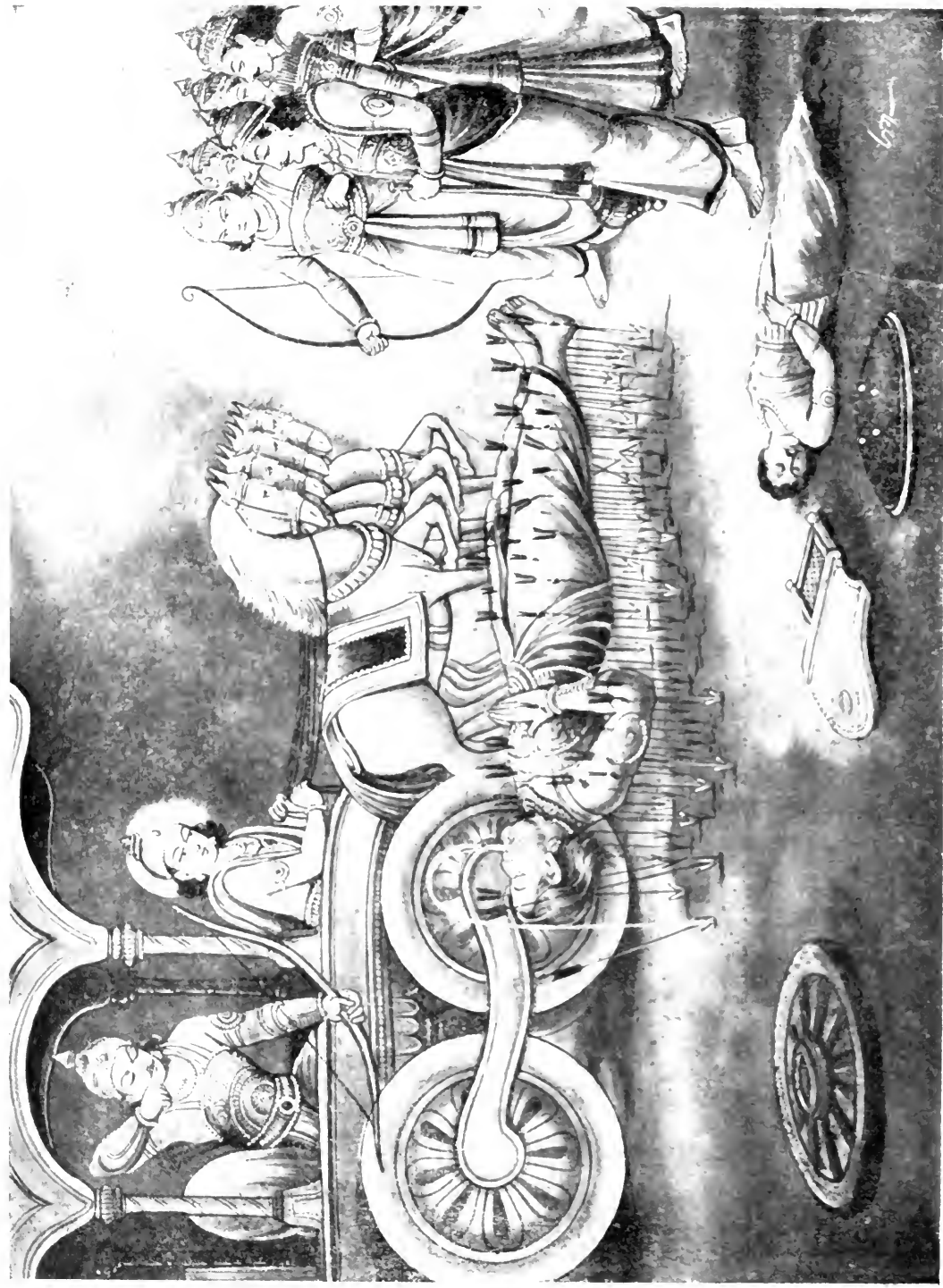
अर्जुनका बाणद्वारा पृथ्वीसे जल प्रकट करके भीष्मजीको पिलाना

'अर्जुन ! तुम्हारे बाणोंसे मेरे सम्पूर्ण अङ्ग बिंधे हुए हैं; अतः मेरा यह शरीर दग्ध-सा हो रहा है। सारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। मुँह सूखता जा रहा है ॥ १८ ॥

वेदनार्तशरीरस्य प्रयच्छापो ममार्जुन।
त्वं हि शक्तो महेष्वास दातुमापो यथाविधि ॥१९॥

'महाधनुर्धर अर्जुन ! वेदनासे पीड़ित शरीरवाले मुझ वृद्धको तुम पानी लाकर दो। तुम्हीं विधिपूर्वक मेरे लिये दिव्य जल प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १९ ॥

अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारुह्य वीर्यवान्।
अधिज्यं बलवत् कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः॥२०॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर पराक्रमी अर्जुन रथपर आरूढ़ हो गये और गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसे खींचने लगे ॥ २० ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
वित्रेसुः सर्वभूतानि सर्वे श्रुत्वा च पार्थिवाः ॥२१॥

उनके धनुषकी टंकारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर सभी प्राणी और समस्त भूपाल डर गये ॥ २१ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा रथेन रथिनां वरः।
शयानं भरतश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥२२॥
संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः।
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः ॥२३॥
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र अर्जुनने शरशय्यापर सोये हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम भरतशिरोमणि भीष्मकी रथद्वारा ही परिक्रमा करके अपने धनुषपर एक तेजस्वी बाणका संधान किया और सब लोगोंके देखते-देखते मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस बाणको पर्जन्यास्त्रसे संयुक्त करके भीष्मके दाहिने पार्श्वमें पृथ्वीपर उसे चलाया ॥ २२-२३½ ॥

उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा ॥२४॥
शीतस्यामृतकल्पस्य दिव्यगन्धरसस्य च।
अतर्पयत् ततः पार्थः शीतया जलधारया ॥२५॥
भीष्मं कुरूणामृषभं दिव्यकर्मपराक्रमम्।

फिर तो शीतल, अमृतके समान मधुर तथा दिव्य सुगन्ध एवं दिव्यरससे संयुक्त जलकी सुन्दर स्वच्छ धारा ऊपरकी ओर उठ (कर भीष्मके मुखमें पड़) ने लगी। उस शीतल जलधारासे अर्जुनने दिव्यकर्म एवं पराक्रमवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्मको तृप्त कर दिया ॥ २४-२५½ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य शक्रस्येव विकुर्वतः ॥२६॥
विस्मयं परमं जग्मुस्ततस्ते वसुधाधिपाः।

इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके उस अद्भुत कर्मसे वहाँ बैठे हुए समस्त भूपाल बड़े विस्मयको प्राप्त हुए ॥ २६½ ॥

तत् कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोरतिमानुषविक्रमम् ॥२७॥
सम्प्रावेपन्त कुरवो गावः शीतार्दिता इव।

अर्जुनका वह अलौकिक कर्म देखकर समस्त कौरव सर्दीकी सतायी हुई गौओंके समान थर-थर काँपने लगे ॥ २७½ ॥

विस्मयाच्चोत्तरीयाणि व्याविध्यन् सर्वतो नृपाः ॥२८॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषस्तुमुलः सर्वतोऽभवत्।

वहाँ बैठे हुए नरेशगण आश्चर्यसे चकित हो सब ओर अपने दुपट्टे हिलाने लगे। चारों ओर शङ्ख और नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि गूँज उठी ॥ २८½ ॥

तृप्तः शान्तनवश्चापि राजन् बीभत्सुमब्रवीत् ॥२९॥
सर्वपार्थिववीराणां संनिधौ पूजयन्निव।

राजन् ! उस जलसे तृप्त होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनसे समस्त वीरनरेशोंके समीप उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २९½ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ॥३०॥
कथितो नारदेनासि पूर्वर्षिरमितद्युते।
वासुदेवसहायस्त्वं महत् कर्म करिष्यसि ॥३१॥
यन्नोत्सहति देवेन्द्रः सह देवैरपि ध्रुवम्।

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुममें ऐसे पराक्रमका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। अमिततेजस्वी वीर ! मुझे नारदजीने पहले ही बता दिया था कि तुम पुरातन महर्षि नर हो और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे इस भूतलपर ऐसे-ऐसे महान् कर्म करोगे, जिन्हें निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओंके साथ देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते। ३०-३१½।

विदुस्त्वां निधनं पार्थ सर्वक्षत्रस्य तद्विदः ॥३२॥
धनुर्धराणामेकस्त्वं पृथिव्यां प्रवरो नृषु ॥३३॥

'पार्थ ! जानकार लोग तुम्हें सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी मृत्युरूप जानते हैं। तुम भूतलपर मनुष्योंमें श्रेष्ठ और धनुर्धरोंमें प्रधान हो ॥ ३२-३३ ॥

मनुष्या जगति श्रेष्ठाः पक्षिणां पतगेश्वरः।
सरितां सागरः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥३४॥

'जंगम प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं, पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ श्रेष्ठ माने जाते हैं, सरिताओंमें समुद्र श्रेष्ठ है और चौपायोंमें गौ उत्तम मानी गयी है ॥ ३४ ॥

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः।
जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम्॥३५॥

'तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, पर्वतोंमें हिमालय महान्

है, जातियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है और तुम सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हो ॥ ३५ ॥

न वै श्रुतं धार्तराष्ट्रेण वाक्यं मयोच्यमानं विदुरेण चैव ।
द्रोणेन रामेण जनार्दनेन मुहुर्मुहुः संजयेनापि चोक्तम् ॥ ३६ ॥

'मैंने, विदुरने, द्रोणाचार्यने, परशुरामजीने, भगवान् श्रीकृष्णने तथा संजयने भी बारंबार युद्ध न करनेकी सलाह दी है; परंतु दुर्योधनने हमलोगोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ ३६ ॥

परीतबुद्धिर्हि विसंज्ञकल्पो दुर्योधनो न च तच्छ्रद्दधाति ।
स शेष्यते वै निहतश्चिराय शास्त्रातिगो भीमबलाभिभूतः ॥ ३७ ॥

'दुर्योधनकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, वह अचेत-सा हो रहा है; इसलिये हमलोगोंकी बातपर विश्वास नहीं करता है। वह शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहा है। इसलिये भीमसेनके बलसे पराजित हो मारा जाकर रणभूमिमें दीर्घकाल-के लिये सो जायगा' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तद्वचः कौरवेन्द्रो दुर्योधनो दीनमना बभूव ।
तमब्रवीच्छान्तनवोऽभिवीक्ष्य निबोध राजन् भव वीतमन्युः ॥ ३८ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर कौरवराज दुर्योधन मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने उसकी ओर देखकर कहा—'राजन्! मेरी बातपर ध्यान दो और क्रोधशून्य हो जाओ ॥ ३८ ॥

दृष्टं दुर्योधनैतत् ते यथा पार्थेन धीमता ।
जलस्य धारा जनिता शीतस्यामृतगन्धिनः ॥३९॥

'दुर्योधन! बुद्धिमान् अर्जुनने जिस प्रकार शीतल, अमृतके समान मधुर गन्धयुक्त जलकी धारा प्रकट की है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है ॥ ३९ ॥

एतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् नान्यः कश्चन विद्यते ।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ॥ ४० ॥
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा ॥ ४१ ॥
सर्वस्मिन् मानुषे लोके वेत्त्येको हि धनंजयः ।
कृष्णो वा देवकीपुत्रो नान्यो वेदेह कश्चन ॥ ४२ ॥

'इस संसारमें ऐसा पराक्रम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंको इस समस्त मानव-जगत्में एकमात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं। दूसरा कोई यहाँ इन अस्त्रोंको नहीं जानता है॥४०–४२॥

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथंचन ।
अमानुषाणि कर्माणि यस्यैतानि महात्मनः ॥ ४३ ॥
तेन सत्त्ववता संख्ये शूरेणाहवशोभिना ।
कृतिना समरे राजन् संधिर्भवतु मा चिरम् ॥ ४४ ॥

'तात! पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धमें किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है। जिन महामनस्वी पुरुषके ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं; जो धैर्यवान्, युद्धमें शूरता दिखाने-वाले तथा संग्राममें सुशोभित होनेवाले हैं, राजन्! उन अस्त्र-विधाके विद्वान् अर्जुनके साथ इस समरभूमिमें तुम्हारी शीघ्र संधि हो जानी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो।४३-४४।

यावत् कृष्णो महाबाहुः स्वाधीनः कुरुसत्तम ।
तावत् पार्थेन शूरेण संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४५ ॥

'तात! कुरुश्रेष्ठ! जबतक महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोगोंके प्रेमके अधीन हैं, तभीतक शूरवीर अर्जुनके साथ तुम्हारी संधि हो जाय तो ठीक है ॥ ४५ ॥

यावन्न ते चमूः सर्वाः शरैः संनतपर्वभिः ।
नाशयत्यर्जुनस्तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४६ ॥

'तात! जबतक अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा तुम्हारी सारी सेनाका विनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक उनके साथ तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये ॥ ४६ ॥

यावत् तिष्ठन्ति समरे हतशेषाः सहोदराः ।
नृपाश्च बहवो राजंस्तावत् संधिः प्रयुज्यताम् ॥ ४७ ॥

'राजन्! इस समरभूमिमें मरनेसे बचे हुए तुम्हारे सहोदर भाई जबतक मौजूद हैं और जबतक बहुत-से नरेश भी जीवन धारण कर रहे हैं, तभीतक तुम अर्जुनके साथ संधि कर लो ॥ ४७ ॥

न निर्दहति ते यावत् क्रोधदीप्तेक्षणश्चमूम् ।
युधिष्ठिरो रणे तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४८ ॥

'तात! जबतक युधिष्ठिर रणभूमिमें क्रोधसे प्रज्वलितनेत्र होकर तुम्हारी सारी सेनाको भस्म नहीं कर डालते हैं, तभी-तक उनके साथ तुम्हें संधि कर लेनी चाहिये ॥ ४८ ॥

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
यावच्चमूं महाराज नाशयन्ति न सर्वशः ॥ ४९ ॥
तावत् ते पाण्डवैर्वीरैः सौहार्दं मम रोचते ।
युद्धं मदन्तमेवास्तु तात संशाम्य पाण्डवैः ॥ ५० ॥

'महाराज! नकुल-सहदेव तथा पाण्डुपुत्र भीमसेन—ये सब मिलकर जबतक तुम्हारी सेनाका सर्वनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक पाण्डववीरोंके साथ तुम्हारा सौहार्द स्थापित हो जाय, यही मुझे अच्छा लगता है। तात! मेरे साथ ही इस युद्धका

भी अन्त हो जाय। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो।४९-५०।

एतत् तु रोचतां वाक्यं यदुक्तोऽसि मयानघ।
एतत् क्षेममहं मन्ये तव चैव कुलस्य च ॥ ५१ ॥

'अनघ ! मैंने जो बातें तुमसे कही हैं, वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत हों। मैं संधिको ही तुम्हारे तथा कौरवकुलके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ॥ ५१ ॥

त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व पार्थैः
पर्याप्तमेतद् यत् कृतं फाल्गुनेन।
भीष्मस्यान्तादस्तु वः सौहृदं च
जीवन्तु शेषाः साधु राजन् प्रसीद ॥ ५२ ॥

'राजन् ! तुम क्रोध छोड़कर कुन्तीकुमारोंके साथ संधि स्थापित कर लो। अर्जुनने आजतक जो कुछ किया है, उतना ही बहुत है। मुझ भीष्मके जीवनका अन्त होनेसे (तुम्हारे वैरका भी अन्त हो जाय) तुमलोगोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो और जो लोग मरनेसे बचे हैं, वे अच्छी तरह जीवित रहें। इसके लिये तुम प्रसन्न हो जाओ ॥ ५२ ॥

राज्यस्यार्धं दीयतां पाण्डवाना-
मिन्द्रप्रस्थं धर्मराजोऽभियातु।
मा मित्रध्रुक् पार्थिवानां जघन्यः
पापां कीर्तिं प्राप्स्यसे कौरवेन्द्र ॥ ५३ ॥

'तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। कौरवराज! ऐसा करनेसे तुम राजाओंमें मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओगे तथा तुम्हें पापपूर्ण अपयश नहीं प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

ममावसानाच्छान्तिरस्तु प्रजानां
संगच्छन्तां पार्थिवाः प्रीतिमन्तः।
पिता पुत्रं मातुलं भागिनेयो
भ्राता चैव भ्रातरं प्रैतु राजन् ॥ ५४ ॥

'राजन् ! मेरे जीवनका अन्त होनेसे प्रजाओंमें शान्ति हो जाय। सब राजा प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरेसे मिलें। पिता पुत्रसे, भानजा मामासे और भाई भाईसे मिले ॥ ५४ ॥

न चेदेवं प्राप्तकालं वचो मे
मोहाविष्टः प्रतिपत्स्यस्यबुद्ध्या।
तप्स्यस्यन्ते एतदन्ताः स्थ सर्वे
सत्यामेतां भारतीमीरयामि ॥ ५५ ॥

'दुर्योधन ! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खताके कारण मेरे इस समयोचित वचनको नहीं मानोगे तो अन्तमें पछताओगे और इस युद्धमें ही तुम सब लोगोंका अन्त हो जायगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५५ ॥

एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो
मध्ये राज्ञां भारतं श्रावयित्वा।
तूष्णीमासीच्छल्यसंतप्तमर्मा
योज्यात्मानं वेदनां संनियम्य ॥ ५६ ॥

गङ्गानन्दन भीष्म समस्त राजाओंके बीच सौहार्दवश दुर्योधनको यह बात सुनाकर मौन हो गये। बाणोंसे उनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। उन्होंने उस व्यथाको किसी प्रकार काबूमें करके अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगा दिया ॥ ५६ ॥

संजय उवाच

धर्मार्थसहितं वाक्यं श्रुत्वा हितमनामयम्।
नारोचयत पुत्रस्ते मुमूर्षुरिव भेषजम् ॥ ५७ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई दवा अच्छी नहीं लगती है, उसी प्रकार महात्मा भीष्मका वह धर्म और अर्थसे युक्त परम हितकर और निर्दोष वचन भी आपके पुत्रको पसंद नहीं आया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि दुर्योधनं प्रति भीष्मवाक्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दुर्योधनके प्रति भीष्मका कथनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२१

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और कर्णका रहस्यमय संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे जग्मुः स्वानालयान् पुनः।
तूष्णीम्भूते महाराज भीष्मे शान्तनुनन्दने ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! शान्तनुनन्दन भीष्मके चुप हो जानेपर सब राजा वहाँसे उठकर अपने-अपने विश्राम-स्थानको चले गये ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं राधेयः पुरुषर्षभः।
ईषदागतसंत्रासस्त्वरयोपजगाम ह ॥ २ ॥

भीष्मजीको रथसे गिराया गया सुनकर पुरुषप्रवर राधानन्दन कर्णके मनमें कुछ भय समा गया। वह बड़ी उतावलीके साथ उनके पास आया ॥ २ ॥

स ददर्श महात्मानं शरतल्पगतं तदा।

जन्मशय्यागतं वीरं कार्तिकेयमिव प्रभुम् ॥ ३ ॥

उस समय उसने देखा, महात्मा भीष्म शरशय्यापर सो रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे वीरवर भगवान् कार्तिकेय जन्म-कालमें शरशय्या (सरकण्डोंके बिछावन) पर सोये थे ॥३॥

निमीलिताक्षं तं वीरं साश्रुकण्ठस्तदा वृषः ।
भीष्म भीष्म महाबाहो इत्युवाच महाद्युतिः ॥ ४ ॥
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र इति चैनमुवाच ह ॥ ५ ॥

वीर भीष्मके नेत्र बंद थे। उन्हें देखकर महातेजस्वी कर्ण-की आँखोंमें आँसू छलक आये और अश्रुगद्गदकण्ठ होकर उसने कहा—'भीष्म ! भीष्म ! महाबाहो ! कुरुश्रेष्ठ ! मैं वही राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा आपकी आँखोंमें गड़ा रहता था और जिसे आप सर्वत्र द्वेषदृष्टिसे देखते थे।' कर्णने यह बात उनसे कही ॥ ४-५ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुवृद्धो हि बली संवृतलोचनः ।
शनैरुद्वीक्ष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
रहितं धिष्ण्यमालोक्य समुत्सार्य च रक्षिणः ।
पितेव पुत्रं गाङ्गेयः परिरभ्यैकपाणिना ॥ ७ ॥

उसकी बात सुनकर बंद नेत्रोंवाले बलवान् कुरुवृद्ध भीष्मने धीरेसे आँखें खोलकर देखा और उस स्थानको एकान्त देख पहरेदारोंको दूर हटाकर एक हाथसे कर्णका उसी प्रकार सस्नेह आलिङ्गन किया, जैसे पिता अपने पुत्रको गलेसे लगाता है। तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा—॥६-७॥

एह्येहि मे विप्रतीप स्पर्धसे त्वं मया सह ।
यदि मां नाधिगच्छेथा न ते श्रेयो ध्रुवं भवेत् ॥ ८ ॥

'आओ, आओ, कर्ण ! तुम सदा मुझसे लाग-डाँट रखते रहे। सदा मेरे साथ स्पर्धा करते रहे। आज यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण नहीं होता ॥८॥

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
सूर्यजस्त्वं महाबाहो विदितो नारदान्मया ॥ ९ ॥

'वत्स ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं। महाबाहो ! तुम सूर्यके पुत्र हो। मैंने नारदजीसे तुम्हारा परिचय प्राप्त किया था ॥ ९ ॥

कृष्णद्वैपायनाच्चैव तच्च सत्यं न संशयः ।
न च द्वेषोऽस्ति मे तात त्वयि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे भी तुम्हारे जन्मका वृत्तान्त ज्ञात हुआ था और जो कुछ ज्ञात हुआ, वह सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें द्वेष नहीं है; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

तेजोवधनिमित्तं तु परुषं त्वाहमब्रुवम् ।
अकस्मात् पाण्डवान् सर्वानवाक्षिपसि सुव्रत ॥ ११ ॥
येनासि बहुशो राज्ञा चोदितः सूतनन्दन ।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वीर ! मैं कभी-कभी तुमसे जो कठोर वचन बोल दिया करता था, उसका उद्देश्य था, तुम्हारे उत्साह और तेजको नष्ट करना; क्योंकि सूत-नन्दन ! तुम राजा दुर्योधनके उकसानेसे अकारण ही समस्त पाण्डवोंपर बहुत बार आक्षेप किया करते थे ॥ ११½ ॥

जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ॥ १२ ॥
नीचाश्रयान्मत्सरेण द्वेषिणी गुणिनामपि ।
तेनासि बहुशो रूक्षं श्रावितः कुरुसंसदि ॥ १३ ॥

'तुम्हारा जन्म (कन्यावस्थामें ही कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण) धर्मलोपसे हुआ है; इसीलिये नीच पुरुषोंके आश्रयसे तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणवान् पाण्डवों-से भी द्वेष रखनेवाली हो गयी है और इसीके कारण कौरव-सभामें मैंने तुम्हें अनेक बार कटुवचन सुनाये हैं ॥१२-१३॥

जानामि समरे वीर्यं शत्रुभिर्दुःसहं भुवि ।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम् ॥ १४ ॥

'मैं जानता हूँ, तुम्हारा पराक्रम समरभूमिमें शत्रुओंके लिये दुःसह है। तुम ब्राह्मण-भक्त, शूरवीर तथा दानमें उत्तम निष्ठा रखनेवाले हो ॥ १४ ॥

न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम ।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ॥ १५ ॥

'देवोपम वीर ! मनुष्योंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। मैं सदा अपने कुलमें फूट पड़नेके डरसे तुम्हें कटुवचन सुनाता रहा ॥ १५ ॥

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा ।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ॥ १६ ॥

'बाण चलाने, दिव्यास्त्रोंका संधान करने, फुर्ती दिखाने तथा अस्त्र-बलमें तुम अर्जुन तथा महात्मा श्रीकृष्णके समान हो ॥ १६ ॥

कर्ण काशिपुरं गत्वा त्वयैकेन धनुष्मता ।
कन्यार्थे कुरुराजस्य राजानो मृदिता युधि ॥ १७ ॥

'कर्ण ! तुमने कुरुराज दुर्योधनके लिये कन्या लानेके निमित्त अकेले काशीपुरमें जाकर केवल धनुषकी सहायतासे वहाँ आये हुए समस्त राजाओंको युद्धमें परास्त कर दिया था ॥

तथा च बलवान् राजा जरासंधो दुरासदः ।
समरे समरश्लाघिन् न त्वया सदृशोऽभवत् ॥ १८ ॥

'युद्धकी श्लाघा रखनेवाले वीर ! यद्यपि राजा जरासंध

दुर्जेय एवं बलवान् था, तथापि वह रणभूमिमें तुम्हारी समानता न कर सका ॥ १८ ॥

ब्रह्मण्यः सत्त्वयोधी च तेजसा च बलेन च ।
देवगर्भसमः संख्ये मनुष्यैरधिको युधि ॥ १९ ॥

'तुम ब्राह्मणभक्त, धैर्यपूर्वक युद्ध करनेवाले तथा तेज और बलसे सम्पन्न हो । संग्राम-भूमिमें देवकुमारोंके समान जान पड़ते हो और प्रत्येक युद्धमें मनुष्योंसे अधिक पराक्रमी हो॥

व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे यस्त्वां प्रति पुरा कृतः ।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २० ॥

'मैंने पहले जो तुम्हारे प्रति क्रोध किया था, वह अब दूर हो गया है; क्योंकि प्रारब्धके विधानको कोई पुरुषार्थद्वारा नहीं टाल सकता ॥ २० ॥

सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन ।
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ २१ ॥

'शत्रुसूदन! वीर पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं । महाबाहो ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने उन भाइयोंसे मिल जाओ ॥ २१ ॥

मया भवतु निर्वृत्तं वैरमादित्यनन्दन ।
पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः ॥ २२ ॥

'सूर्यनन्दन! मेरी मृत्युके द्वारा ही यह वैरकी आग बुझ जाय और भूमण्डलके समस्त नरेश अब दुःख-शोकसे रहित एवं निर्भय हो जायँ' ॥ २२ ॥

कर्ण उवाच

जानाम्येव महाबाहो सर्वमेतन्न संशयः ।
यथा वदसि मे भीष्म कौन्तेयोऽहं न सूतजः ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—महाबाहो ! भीष्म ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे मैं भी जानता हूँ । यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है । वास्तवमें मैं कुन्तीका ही पुत्र हूँ, सूतपुत्र नहीं हूँ ॥ २३ ॥

अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या सूतेन च विवर्धितः ।
(पुरा दुर्योधनेनाहं स्नेहं वै कृतवान् मुदा ।
तव कार्यं करिष्यामि यद् यत् सर्वं दुरासदम् ॥
इत्येवं वै प्रतिज्ञातं वचनं वै सुयोधने ।)
भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे ॥ २४ ॥

परंतु माता कुन्तीने तो मुझे पानीमें बहा दिया और सूतने मुझे पाल-पोषकर बड़ा किया । पूर्वकालसे ही मैं दुर्योधनके साथ स्नेह करता आया हूँ और प्रसन्नतापूर्वक रहा हूँ । दुर्योधनसे मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि तुम्हारा जो-जो दुष्कर कार्य होगा, वह सब मैं पूरा करूँगा । दुर्योधनका ऐश्वर्य भोगकर मैं उसे निष्फल नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः ।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ॥ २५ ॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण ।
मा चैतद् व्याधिमरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ॥ २६ ॥
कोपिताः पाण्डवा नित्यं समाश्रित्य सुयोधनम् ।

जैसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुनकी सहायताके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उसी प्रकार मेरे धन, शरीर, स्त्री, पुत्र तथा यश सब कुछ दुर्योधनके लिये निछावर हैं । यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरुनन्दन भीष्म ! मैंने दुर्योधनका आश्रय लेकर पाण्डवोंका क्रोध सदा इसलिये बढ़ाया है कि यह क्षत्रिय-जाति रोगोंका शिकार होकर न मरे (युद्धमें वीर गति प्राप्त करे) ॥ २५-२६½ ॥

अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं यो न शक्यो निवर्तितुम्॥ २७ ॥
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ।

यह युद्ध अवश्यम्भावी है । इसे कोई टाल नहीं सकता । भला, दैवको पुरुषार्थके द्वारा कौन मिटा सकता है ॥२७½॥

पृथिवीक्षयशंसीनि निमित्तानि पितामह ॥ २८ ॥
भवद्भिरुपलब्धानि कथितानि च संसदि ।

पितामह ! आपने भी तो ऐसे निमित्त (लक्षण) देखे थे, जो भूमण्डलके विनाशकी सूचना देनेवाले थे । आपने कौरव-सभामें उनका वर्णन भी किया था ॥ २८½ ॥

पाण्डवा वासुदेवश्च विदिता मम सर्वशः ॥ २९ ॥
अजेयाः पुरुषैरन्यैरिति तांश्चोत्सहामहे ।
विजयिष्ये रणे पाण्डूनिति मे निश्चितं मनः ॥ ३० ॥

पाण्डवों तथा भगवान् वासुदेवको मैं सब प्रकारसे जानता हूँ, वे दूसरे पुरुषोंके लिये सर्वथा अजेय हैं, तथापि मैं उनसे युद्ध करनेका उत्साह रखता हूँ और मेरे मनका यह निश्चित विश्वास है कि मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा ॥

न च शक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
धनंजयेन योत्स्येऽहं स्वधर्मप्रीतमानसः ॥ ३१ ॥

पाण्डवोंके साथ हमलोगोंका यह वैर अत्यन्त भयंकर हो गया है । अब इसे दूर नहीं किया जा सकता । मैं अपने धर्मके अनुसार प्रसन्नचित्त होकर अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा ॥

अनुजानीष्व मां तात युद्धाय कृतनिश्चयम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्ध्येयमिति मे मतिः ॥ ३२ ॥

तात ! मैं युद्धके लिये निश्चय कर चुका हूँ । वीर ! मेरा विचार है कि आपकी आज्ञा लेकर युद्ध करूँ; अतः आप मुझे इसके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें॥ ३२ ॥

दुरुक्तं विप्रतीपं वा रभसाच्चापलात् तथा ।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३३ ॥

मैंने क्रोधके आवेगसे अथवा चपलताके कारण यहाँ जो कुछ आपके प्रति कटुवचन कहा हो या आपके प्रतिकूल आचरण किया हो, वह सब आप कृपापूर्वक क्षमा कर दें ॥

भीष्म उवाच

न चेच्छक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
अनुजानामि कर्ण त्वां युद्धयस्व स्वर्गकाम्यया ॥ ३४ ॥

भीष्मने कहा—कर्ण ! यदि यह भयंकर वैर अब नहीं छोड़ा जा सकता तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करो ॥ ३४ ॥

निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा रणे स ह ।
यथाशक्ति यथोत्साहं सतां वृत्तेषु वृत्तवान् ॥ ३५ ॥

दीनता और क्रोध छोड़कर अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार सत्पुरुषोंके आचारमें स्थित रहकर युद्ध करो । तुम रणक्षेत्रमें पराक्रम कर चुके हो और आचारवान् तो हो ही ॥

अहं त्वामनुजानामि यदिच्छसि तदाप्नुहि ।
क्षत्रधर्मजिताँल्लोकानवाप्स्यसि धनंजयात् ॥ ३६ ॥

कर्ण ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ । तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त करो । धनंजयके हाथसे मारे जानेपर तुम्हें क्षत्रियधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी उपलब्धि होगी ॥ ३६ ॥

युध्यस्व निरहङ्कारो बलवीर्यव्यपाश्रयः ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३७ ॥

तुम अभिमानशून्य होकर बल और पराक्रमका सहारा ले युद्ध करो, क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं है ॥ ३७ ॥

प्रशमे हि कृतो यत्नः सुमहान् सुचिरं मया ।
न चैव शकितः कर्तुं कर्ण सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३८ ॥

कर्ण ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ । मैंने कौरवों और पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये दीर्घकालतक महान् प्रयत्न किया था; किंतु मैं उसमें कृतकार्य न हो सका ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

इत्युक्तवति गाङ्गेये अभिवाद्योपमन्त्र्य च ।
राधेयो रथमारुह्य प्रायात् तव सुतं प्रति ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! गङ्गानन्दन भीष्मके ऐसा कहनेपर राधानन्दन कर्ण उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्र दुर्योधनके पास चला गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-कर्णसंवादविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

भीष्मपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	५६१०॥	(२९९॥)	४११।॥-	६०२२।-
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	७१॥	(४॥)	६≡	७७॥≡
भीष्मपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				६१००

श्रवणमहिमा

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् बहुवृत्तान्तं भीष्मपर्वाखिलं मया ।
शृण्वते ते महाराज प्रोक्तं पापहरं शुभम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! बहुत से वृत्तान्तोंसे भरा हुआ यह सम्पूर्ण भीष्मपर्व मैंने तुमसे कहा है और तुमने श्रोता बनकर सुना है । यह पर्व सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और शुभ है ॥ १ ॥

यः श्रावयेत् सदा राजन् ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
श्रद्धावन्तश्च ये चापि श्रोष्यन्ति मनुजा भुवि ॥ २ ॥
विधूय सर्वपापानि विहायान्ते कलेवरम् ।
प्रयान्ति तत् पदं विष्णोर्यत् प्राप्य न निवर्तते ॥ ३ ॥

राजन् ! जो सदा वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पर्वकी कथा सुनायेगा और जो मनुष्य इस भूतलपर श्रद्धापूर्वक इस पर्वको सुनेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके अन्तमें यह शरीर छोड़कर भगवान् विष्णुके उस परमपदको प्राप्त कर लेंगे, जहाँ जाकर जीव इस जगत्में नहीं लौटता है ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भारतं भरतर्षभ ।
शृणुयात् सिद्धिमन्विच्छन्निह वामुत्र मानवः ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अतः इस लोक या परलोकमें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य पूर्ण प्रयत्नपूर्वक महाभारतको अवश्य सुने ॥ ४ ॥

भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।
भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दद्यात् पानीयमुत्तमम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! भीष्मपर्व सुन लेनेपर मनुष्य ब्राह्मणोंको गन्ध और माल्य आदिसे अलङ्कृत करके उत्तम भोजन कराये तथा पवित्र जलका दान करे ॥ ५ ॥